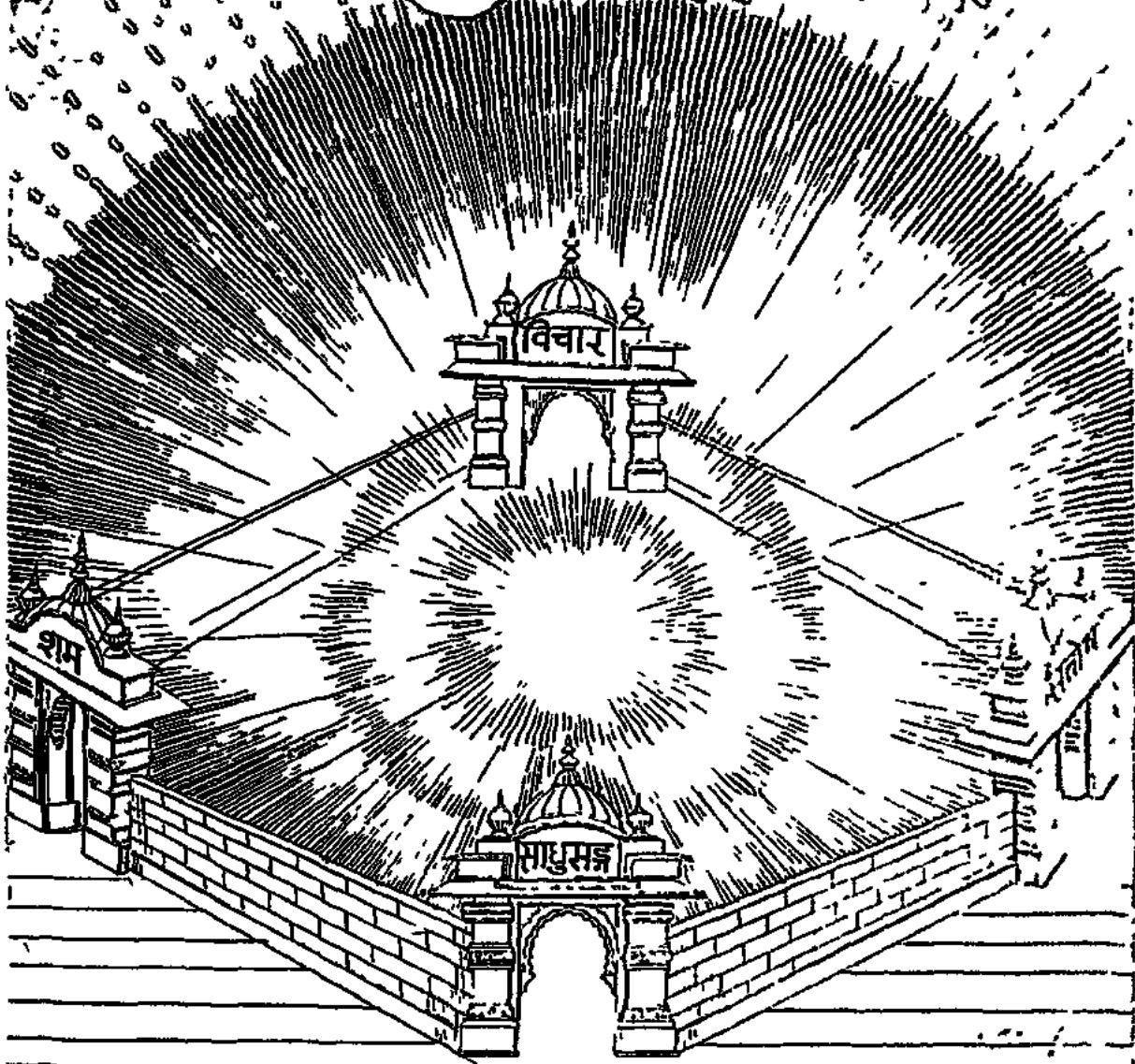


संक्षिप्त

# योगवासिष्ठ



# श्री विचार



वर्ष  
३५

स्वेतोष योगवासिष्ठ-अङ्क

संख्या  
१

दुर्गति-नाशिनि दुर्गा जय जय, काल-विनाशिनि काली जय जय ।

उमा रमा ब्रह्माणी जय जय, राधा सीता रुक्मिणि जय जय ॥

साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, जय शंकर ।

हर हर शंकर दुखहर सुखकर अघ-तम-हर हर हर शंकर ॥

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

जय-जय दुर्गा, जय मा तारा । जय गणेश, जय शुभ-आगाम ॥

जयति शिवा-शिव जानकि-राम । गौरी-शंकर सीता-राम ॥

जय रघुनन्दन जय सिया-राम । ब्रज-गोपी-प्रिय राघेश्याम ॥

रघुपति राधव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥

सं० २०५० द्वितीय संस्करण

५,०००

## मूल्य—पैंसठ रुपये

कोई सज्जन विज्ञापन भेजनेका कष्ट न उठावें ।  
कल्याणमें बाहरके विज्ञापन नहीं छपते ।

समालोचनार्थ पुस्तके कृपया न भेजें ।  
कल्याणमें समालोचनाका स्वभ नहीं है ।

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत्-चित्-आनन्द भूमा जय जय ॥

जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥

जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

---

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्धार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम० ए०, शास्त्री

केशोराम अव्वालद्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशि

॥ श्रीहरिः ॥

संक्षिप्त

योगावासिष्ठाङ्क



श्रीराम तीर्थयत्राके लिये पिता दशरथसे आज्ञा माँग रहे हैं (वैराग्य-प्रकारण, सर्ग ३) (पञ्च-संख्या १)



दशरथकी सभामें दिव्य महर्षियोंका अवतरण (दैराण्य-प्रकरण, नं ३३) (पृष्ठ-मञ्ज १५)



लीलापर देवी सरस्वतीकी कृपा (दत्तती-प्रकरण, सर्ग १५) (पृष्ठ-संख्या १६)



ब्रह्माजी और बालक वसिष्ठमें बातचीत (मुमुक्षु-प्रकरण, सर्ग १०) (पृष्ठ-नं. १२२)



ब्रह्माका राजहंसोपर दस ब्रह्माओंको देखना (उत्पत्ति-प्रकरण, सर्ग ८५) (पृष्ठ-संख्या ३०४)



प्रद्वादके द्वारा भगवान् विष्णुकी पूजा (उपशम-प्रकरण, सर्ग ३२) (पृष्ठ-संख्या ३८)



# संक्षिप्त योगवासिष्ठाङ्ककी विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
१—महर्षि वसिष्ठजीको नमस्कार ( सुतीक्ष्ण, नि० प्र० उ० २१६ । २६ )	१	३—जीवन्मुक्तके स्वरूपपर विचार, इगत् दे मिट्टाल्प तथा द्विविध वासनाका निरूपण तथा भगवान् भीरामकी तीर्थ-यात्राका वर्णन	२३
२—भगवान् श्रीरामको नमस्कार ( वसिष्ठ, नि० प्र० पू० २ । ६० )	१	४—तीर्थ यात्रासे लैटे हुए श्रीरामकी दिनचर्यां एवं प्रियाके घरमें निवास, राजा दशरथके यदौं विश्वामित्रका आश्रम और राज्याद्वारा उनका सल्लार	२५
३—योगवासिष्ठमें भगवान् श्रीरामके स्वरूप तथा माहात्म्यका प्रतिपादन	१	५—विश्वामित्रका अपने यशकी रक्षाके लिये श्रीरामको मौगला और राजा दशरथका उड़े देनेमें अनन्ती अभयर्थता दिखाना	२८
४—कल्पाण ( 'शिव' )	१	६—विश्वामित्रका रोप, वसिष्ठजीका राजा दशरथको समराज्ञा, राजा दशरथका श्रीरामको बुलानेके लिये द्वारपालके भेजना तथा श्रीरामके सेवकोंका महायज्ञसे श्रीरामकी वैताय्यपूर्ण वित्तिका वर्णन करना	३०
५—एकदलेखी योगवासिष्ठ ( तत्त्वविनाशक स्वामीजी श्रीअनिष्टदाचार्यजी वैकटाचार्यजी महाराज )	१	७—विश्वामित्र आदिकी प्रेरणासे राजा दशरथका श्रीरामको सभामें बुलाकर उनका मस्तक दैर्घ्यमा और पुनिके पूछनेपर श्रीरामका अपने विचार- मूलक वैताय्यका कारण बताना	३३
६—वासिष्ठ-नोष-सार [ कविता ] ( पाण्डेय श्रीरामनारायणदत्तनी शास्त्री शर्मा )	४	८—वन सम्पत्ति संथा आयुक्ती निस्तारता एवं दुःखरूपताका वर्णन	३६
७—योगवासिष्ठकी भेष्टता और समीक्षीनता ( पण्डित श्रीब्रह्मनकीनारायणी शर्मा )	५	९—आहार और चित्तके दोष	३८
८—योगवासिष्ठकी आजके आत्मशान्ति, विष्य- शान्तिके इच्छुक विश्वको खुनौती तथा इच्छु क्षणका ज्ञान-बन्धुत्व एवं ज्ञानभाव ( श्रीरामनिवासी शर्मा )	९	१०—तृणाकी निन्दा	४०
९—भगवान् वसिष्ठकी जय ( श्रीसूरजचंद्रजी साध्यप्रेमी 'ज्ञानीची' )	१०	११—शरीर-निन्दा	४२
१०—योग शासिष्ठका साम्य-साधन	११	१२—शाल्यावस्थाके दोष	४६
११—योगवासिष्ठका उद्घोषण नहीं होना चाहिये, ( भक्त श्रीरामशारणदासी )	१५	१३—तुवाचस्थाके दोष	४७
१२—श्रीगुरुबर-वसिष्ठ-साधन [ कविता ] ( प० श्रीरामनारायणजी विप्राठी 'विष्य' शास्त्री )	१६	१४—स्त्री-शरीरकी रमणीयताका निगरण	४९
१३—सुतीक्ष्ण और अगस्ति, कारुण्य और अविनिवेद्य, सुचन्चित्तता देववृत्त और अविनिवेद्य एवं शाल्मीकिके संयोगका उल्लेख करते हुए भगवान्के श्रीरामायतारमें वृत्तियोंके शापके कारण बताना	१७	१५—सृद्धावस्थाकी दुःखरूपता	५०
१४—इह शास्त्रके अधिकारीका निरूपण, शमायणके शत्रुशीर्षकी महिमा, भरद्वाजको ब्रह्माचार्यका वरदान तथा ब्रह्माचार्यी आशासे शाल्मीकिका भरद्वाजको साधार-दुःखसे छुटकारा पानेके निमित्त उपदेश देनेके लिये प्रशृत्त होना	२१	१६—कालके स्वरूपका विवेचन	५१
		१७—कालका प्रभाव और मानव-जीवनकी व्यनियता	५३
		१८—सांतारिक वस्तुओंकी निस्तारता, हण्डमहुरण और दुःखरूपताका तथा सपुरुषोंकी दुर्दमनारा प्रतिपादन	५५

१९—जागतिक पदार्थोंकी परिवर्तनशीलता एवं अस्थिरताका वर्णन	... ...	५८	६७—हेतुभूत वैराग्य आदि, गुणोंका तथा भगवान् विशेषरूपसे निरूपण	... ...	८९
२०—श्रीरामकी प्रश्न वैराग्यपूर्ण विज्ञाना तथा तत्त्वज्ञानके उपदेशके लिये प्रार्थना	... ...	६९	६८—विचार, संतोष और सलमानगमका विशेषरूपसे वर्णन तथा चारों गुणोंमेंसे एक ही गुणके सेवनसे सद्गतिका कथन	... ...	९७
२१—श्रीरामचन्द्रबीजका भाषण मुनकर सदवका आश्रय-चकित होना, आकाशसे फूलोंकी वर्याँ, तिद्द पुरुषोंके उद्दगर, राजसभामें लिङ्गों और महर्षियोंका आगमन तथा उन सबके द्वारा श्रीरामके वचनोंकी प्रशंसा	... ...	६२	६९—प्रकरणोंके क्रमसे ग्रन्थ-संस्थाना वर्णन, ग्रन्थकी प्रशंसा, शान्ति, नृश, द्रष्टा और हृष्यका विवेचन, परस्पर सहायक प्रशंसा और सदाचारका वर्णन	... ...	९०
२२—मुमुक्षु-व्यवहार-प्रकरण			७०—उत्पत्ति-प्रकरण		
२—विश्वमित्रबीजका श्रीरामको तत्त्वज्ञानसम्पन्न बताते हुए उनके सामने शुक्रदेवबीजका हास्यन्त उपसिस करना, शुक्रदेवबीजका तत्त्वज्ञान ग्राह करके परमात्मामें भीन होना	... ...	६५	७—हृष्य चगत्के मिथ्यात्वका निरूपण, हृष्य ही बन्धन है और उसका निवारण होनेसे ही मोक्ष होता है, इसका प्रतिपादन तथा द्रृष्टाके हृदयमें ही हृष्यकी स्थितिका कथन	... ...	९६
३—विश्वमित्र जी जा बंसुड़ीसे श्रीरामको उपवेश करनेके लिये अनुरोध करना और बंसुड़ीबीजा उसे खो लार कर लेना	... ...	६८	८—त्रिज्ञाकी मनोरूपता और उसके उंकलसम्य चगत्की असत्ता तथा चाताके दैवत्यकी ही मोक्षरूपताका प्रतिपादन	... ...	९७
४—जगत् दी भ्रगरूपता एवं मिथ्यात्वका निरूपण, सदेह और दिदेह मुकिकी समानता तथा शास्त्र-नियन्त्रित पौरुषकी भद्रताका वर्णन	... ...	६९	९—मनके स्वरूपका विवेचन, मन एवं मनःकालित् हृष्य चगत्की असत्ता का निरूपण तथा महाप्रलय-कालमें सुमल चगत्को अपनेमें भीन करके एकमात्र परमात्मा ही दोष रहते हैं और वे ही सबके भूल हैं, इसका प्रतिपादन	... ...	९९
५—शास्त्रके अनुसार सत्कर्म करनेकी प्रेरणा, पुरुषार्थसे पिण्ड ग्रावध्वादक्ष खण्डन तथा पौरुषकी प्रधानताका प्रतिपादन	... ...	७१	१०—ज्ञानसे ही परासिद्धि या परमात्मप्राप्तिका प्रतिपादन तथा ज्ञानके उपायोंमें सन्तुष्ट एवं सत्-शास्त्रोंके साध्यार्थकी प्रशंसा	... ...	१०२
६—ऐहिक पुरुषार्थकी श्रेष्ठता और दैवतादका निराकरण	... ...	७३	११—परमात्माके ज्ञानकी महिमा, उसके स्वरूपमें विवेचन, हृष्य चगत् दी असत्ताभाव एवं ब्रह्मरूपताका निरूपण तथा आवश्यानकी प्राप्तिके लिये योगवासि छ ही सर्वोत्तम शास्त्र है—इसका प्रतिपादन	... ...	१०३
७—विश्व मुकियोद्धारा दैवतकी तुर्बलता और पुरुषार्थकी प्रधानताका समर्थन	... ...	७४	१२—श्रीवन्मुकिका लक्षण, चगत्की असत्ता तथा ब्रह्मसे उसकी अमिन्नताका प्रतिपादन, परब्रह्म परमात्माके स्वरूपका वर्णन	... ...	१०५
८—पुरुषार्थकी प्रवलता बताते हुए दैवतके स्वरूपका विवेचन तथा शुभ वासनासे युक्त होकर सत्कर्म करनेकी प्रेरणा	... ...	७५	१३—चगत्की ब्रह्मणे अमिन्नता, परमार्थ-सत्त्वका लक्षण, महाप्रलयकालमें चगत्के अधिष्ठानका विचार तथा चगत्की ब्रह्मरूपताका प्रतिपादन	... ...	१०६
९—श्रीविष्णुबीजारा ब्रह्माद्वारके और अपने अन्यका वर्णन, ज्ञानप्राप्तिका विस्तार श्रीरामबीजके वैराग्यकी प्रवासा, वक्ता और प्रस्तकर्ताके लक्षण आदिका विशेषरूपसे सर्वन	... ...	७७			
१०—रंवरप्राप्तिकी अनर्थलपता, ज्ञानका उत्तम माहात्म्य, श्रीराममें प्रस्तकर्ताके गुणोंकी अधिकताका वर्णन, श्रीवन्मुकिरूप फलके					

८—ज्ञानमें ज्ञातका अध्यारोप, चौप एवं जगत्के रूपमें ब्रह्मकी ही अखण्ड सत्ताका वर्णन ... ... १०९	वहाँ युद्धका आयोजन देखना; यहूँ लड़न नहीं हिमाद्रीपरि भाषा ... ... ११०
९—भेदके निराकरणपूर्वक एकमात्र ब्रह्मकी ही अखण्ड सत्ताका वर्णन तथा ज्ञातकी पृथक उत्ताका खण्डन ... ... १११	२०—लीला और सरस्वतीका आनन्दमें विमानपर स्थित हो युद्धका दृष्ट्य देखना ... १११
१०—जगत्के अस्थन्ताभाषका प्रतिपादन, मण्डपोपाख्यानका आरम्भ, राजा पड़ा तथा रानी लीलाका परस्पर अनुशाग, लीलाका सरस्वतीकी व्याख्यानना घरके बाहे पाना और रणभूमिमें पतिके मारे जानेसे अस्थन्त ज्ञानुकृत हना ... ... ११४	२१—युद्धका वर्णन तथा उभयपक्षजो सहायना देनेवाले विभिन्न जनपदों और स्थानोंका उन्नेश्य ... १४१
११—सरस्वतीकी व्याख्यासे पतिके शब्दको फूलोंकी द्वेरीमें रखकर नग्नाखिसित हुई लीलाका पतिके वांगनामय स्वरूप एवं राजवैभवको देखना तथा समाख्यसे उठकर पुनः राजदण्डमें समाप्तदोंका दर्शन करना ... ... ११६	२२—युद्धका उपस्थान, राजा विद्युरथके दायनामात्रमें गवाहकरन्तसे लीला और सरस्वतीका प्रवेश तथा सूसम चिन्मय द्वारीरकी उर्द्धव्र गमनशक्तिका प्रतिपादन ... ... १४३
१२—लीलाका सरस्वतीसे कुत्रिम और अकृतिम सुष्ठिके विषयमें पूछना और सरस्वतीका इस विषयको समझानेके लिये लीलके जीवनसे मिलते-जुलते एक आकृष्ण-दम्पतीके जीवनका वृच्छान्त सुनाना ... ... १२१	२३—राजा पश्चके भवनमें सरस्वती और लीलाका प्रवेश और राजाद्वारा उनका पूजन, मन्त्रीद्वारा राजा का अम्भूत्तान्त-वर्णन, राजा विद्युरथ और सरस्वती देवीकी बातचीत, बन्धितीद्वारा आशानावस्थामें जगत् और स्वप्नही सत्यताका वर्णन, सरस्वतीद्वारा विद्युरथको धर्शनदान, नगरपर शाशुका आक्रमण और नगरकी दुर्घ- स्थाका कथन, भयभीत हुई राजमहिलीवाराजाकी शरणमें आना, लीलाको दूसरे बरूप राजा पश्ची प्राप्ति ... ... १४४
१३—लीला और सरस्वतीका सवाद-जगत्की असत्ता एवं अज्ञातवादकी स्थायना ... ... १२४	२४—राजा विद्युरथका विद्याल सेनाके साथ युद्धके लिये प्रयाप, युद्धारम्भ, लीलाके पूर्णनेपर उत्तरवी- द्वारा यज्ञ लिखुके विवरी देनेमें हेतु-प्रयत्न, विद्युरथ और राजा लिखुके दिव्याक्षोद्वारा लिये गये युद्धका सवित्तर वर्णन, राजा विद्युरथकी परावर्य और देशपर राजा लिखुके अधिकारका कथन १५१
१४—लीला और सरस्वतीका संवाद—सप कुछ विनाश-ब्रह्म ही है, इसका प्रतिपादन ... ... १२६	२५—राजा विद्युरथकी मृत्यु, संसारकी अवधता और द्वितीय लीलाकी वासनारूपताका वर्णन, लीलाके गमनमार्ग और स्वामी पश्ची प्राप्तिका कथन, पश्चीर्योंकी नियति, मरणक्रम, भोग और कर्म, गुण एवं भास्त्रके अनुसार अनुसुके मानवा वर्णन, व्यादि-सुष्ठिसे देशर जीवकी विच्छिप्र गतियों तथा ईश्वरकी स्थितिका निरूपण ... १५१
१५—ज्ञानार्थके क्षयका उपाय और ब्रह्मचिन्तनके अभ्यासका निरूपण ... ... १२९	२६—राजा विद्युरथका वासनाभय यमपुरीमें गमन-दैर्घ्य और सरस्वतीद्वारा उनका अनुगमन और पूर्व- शरीरकी प्राप्तिका वर्णन, लीलाये द्वारीरकी असत्ताका कथन, समाधिमें स्थित हैंद्वाके शरीरका विनाश, लीलाके साथ शर्तान्तर और राजा पश्चके पुनरुद्धीर्णका कथन, गमन-जी
१६—सरस्वती और लीलाका ज्ञानदेहने हुए राजा आकाशमें गमन और उसका वर्णन ... ... १३०	
१७—लीलाका भूतलमें प्रवेश और उसके हुए राजा अपने पूर्वजन्मके स्वजनोंके दर्शन, ज्येष्ठशमांको माताके रूपमें लीलाका दर्शन न होनेका कारण ... ... १३२	
१८—लीलाकी सत्य-सकलता, उसे अपने अनेक अभ्यासकी हम्मति, लीला और सरस्वतीका आकाशमें भ्रमण तथा परम व्योम—परमात्माकी अनादि- अनन्त सत्ताका प्रतिपादन ... ... १३३	
१९—लीलाद्वारा ब्रह्माण्डोंका निरीक्षण, दोनों देवियोंका भारतवर्षमें लीलाके पतिके राज्यमें जाना और	

उठनेसे नगर और अन्तःपुरमे उत्तम; छीलो-				
पाल्यानके प्रयोजनका विकारसे कथन ...	१६७			
१७—सुष्टिकी अस्तवा तथा सबकी ब्रह्मरूपताका				
प्रतिपादन ... " " ... १७५				
२८—आगतकी अस्ता या ब्रह्मरूपताका प्रतिपादन तथा				
नियति, और वौद्धका विवेचन ... १७७				
२९—ब्रह्मकी स्वरूपता तथा उसमें मेदका अमाव,				
परमात्मासे छीवकी उत्पत्ति और उसके स्वरूपका				
विवेचन, परमात्मासे ही मनकी उत्पत्ति, मनका				
भ्रम ही जगत् है—इसका प्रतिपादन तथा छीव-				
स्थिति आदिकी एकता ... " " १७८				
३०—चित्तका विलास ही हैत है, त्याग और ज्ञानसे				
ही अशानसहित मनका क्षय होता है—इसका				
प्रतिपादन तथा भोक्ता छीवके स्वरूपका वर्णन १७९				
३१—परमात्मसत्ताका विवेचन, छीवमें बृहस्पती भौति				
परमात्मामें बगतकी ब्रेकालिक स्थितिका				
निरूपण तथा ब्रह्मसे पृथक् उसकी उत्ता नहीं				
है—इसका प्रतिपादन ... " " १८१				
३२—आगतकी ब्रह्मसे पृथक् उत्ताका खण्डन, मेदकी				
आशहारिकता तथा चित्तकी ही दृश्यरूपताका				
प्रतिपादन ... " " " १८५				
३३—यह दृश्य-प्रपञ्च मनका विअसमाज है, इसका				
ब्रह्मात्मीके द्वारा अपने अनुभवके अनुसार प्रति-				
पादन ... " " " १८६				
३४—शूल-शारीरकी निन्दा, मनोभय शारीरकी विशेषता,				
उसे सकर्ममें छागानेकी घेरणा, ब्रह्म और उसके				
द्वारा निर्भित बगतकी मनोमयता, छीवका स्वरूप				
और उसकी विविध तात्परिक गतितथा सुष्टिके				
द्वारा एवं प्रियात्मका दृपदेश ... " १८८				
३५—छीवोंकी चौदह अंगियों तथा परजाह परमात्मासे				
ही उत्पन्न होनेके कारण सबकी ब्रह्मरूपता ... १९०				
३६—कर्ता और कर्मकी सहोत्पत्ति एवं अभिज्ञता तथा				
स्थित और कर्मकी एकत्ताका प्रतिपादन ... १९२				
३७—मनका स्वरूप तथा उसकी शिभिन्न सज्जाओंपर				
विचार ... " " " १९३				
३८—मनके द्वारा बगतके विकार तथा अज्ञ नीके				
उपदेशके लिये कल्पित विविध आकृताका				
निरूपण एवं मनको परमात्मचिन्तनमें छागानेकी				
आवश्यकता ... " " " १९५				
३९—मनकी परमात्मरूपता, ब्रह्मकी विविध शक्ति,				
सबकी ब्रह्मरूपता, मनके संकल्पसे ही सुष्टि-				
विकार तथा वासना एवं मनके नाशसे ही				
भ्रेयकी ग्रासिका प्रतिपादन ... " " १९६				
४०—बगतकी चित्तरूपता, वासनायुक्त मनके दोष,				
मनका महान् धैर्य तथा उसे बद्धमें करनेका				
उपाय ... " " " १९८				
४१—चित्तरूपी रोगकी चिकित्साके उपाय तथा मनो-				
निग्रहसे छाग ... " " " २०१				
४२—मनोनाशके उपायभूत वासना-स्थागका उपदेश,				
अविद्या-वासनाके दोष तथा इसके विनाशके				
उपायकी विकासा ... " " २०२				
४३—अविद्याके विनाशके हेतुभूत आत्मदर्शनका,				
विशुद्ध परमात्मस्वरूपका उपाय अवकल्पसे वासना				
क्षयका प्रतिपादन ... " " " २०४				
४४—अविद्याकी बब्लनकारितापर आधर्यः चेद्य देहमें				
नहीं, देहमें है—इसका प्रतिपादन तथा अशानकी				
सात भूमिकाओंका वर्णन ... " " २०६				
४५—ज्ञानकी सात भूमिकाओंका विश्वाद विवेचन २०७				
४६—मायिक रूपका निराकरण करके सन्मानत्वका				
प्रदर्शन, अविद्याके स्वरूपका निरूपण,				
संक्षेपमें ज्ञानभूमिका एवं छीवात्माके वास्तविक				
स्वरूपका वर्णन ... " " " २१५				
				स्थिति-प्रकरण
१—चित्तरूपते बगतका वर्णन, बगतकी स्थितिका				
खण्डन करके पूर्णानन्दस्वरूप सन्मानकी स्थिति-				
का कथन, मनको ही बगतका कारण बताकर				
उसके नाश होनेपर बगतकी शून्यताका कथन २१८				
२—स्वरूपकी विस्तृतिसे ही भेदभ्रमकी अनुभूति,				
चित्तशुद्धि एवं आग्रह आदि अवस्थाओंके				
शोधनसे ही भ्रम-निवारणपूर्वक आत्मशोधकी				
ग्रासि तथा वैगम्यमूलक विवेषसे ही सोकालाभ-				
का वर्णन ... " " " २२०				
३—उपासनाओंके अनुसार फलकी ग्रासि तथा				
आग्रह-स्वरूप अवस्थाओंका वर्णन, मनको सत्य				
आत्मामें छागानेका आदेश, मनको मोक्षनाके				
अनुसार रूप और फलकी ग्रासि तथा भावनाके				
स्थागसे विचारद्वारा ब्रह्ममात्रकी ग्रासिका प्रति-				
पादन ... " " " २२२				

४	८—हनु बोध हेनेपर सम्पूर्ण दोषोंके विवाद, अन्तः करणकी शुद्धि और विशुद्ध आत्मतत्त्वके साक्षात्कारमें महिमाका प्रतिपादन                    *** २१४	१६—विरक पद्वं विवेकमुक्त जानी तथा भोगालक मूढ़की स्थितिमें अस्तर; बगतको मिथ्या मानकर उत्तमें आस्था न रखने, देहभिगानको छोड़ने और अपने विशुद्ध स्वरूप (परमात्मपद) में स्थित होनेका उपदेश                                    ***     *** २४३
५	९—शरीररूपी नगरीके सप्ताह जानीके रागरहित स्थितिका वर्णन    ***     *** २१५	१७—जालना, अभिमान और एपणाका स्वाग करके परमात्मपदमें प्रतिष्ठित हेनेकी ग्रेणा तथा सच्चानी महात्माकी महत्तम स्थितिका वर्णन २४४
६	१०—मन और इन्द्रियोंकी प्रबलता तथा उनको छीतने- से खाम, अस्थन्त अशानी और जानीके लिये उपदेशकी व्यर्थता तथा ज्ञान और ब्रह्मके स्वरूपका प्रतिपादन                                    ***     *** २१६	१८—परमात्मभाष्यमें स्थित हुए कचके द्वारा सर्वतोम- स्वका बोध करनेवाली गायारोंका गान, मोगोंसे वैराग्यका उपदेश तथा सबकी परमा- त्मामें स्थितिका कथन                                    ***     *** २४६
७	११—वास्त्रचिन्तन, शाळीय सदाचारके सेवन तथा शाळचिन्पीत आचारके स्वागते खाम            *** २१८	१९—एषस-सात्त्विकी कर्मोपादनसे भूतब्रह्मपर उत्तम हुए पुरुषोंकी स्थितिका वर्णन, जगत्की अनित्यता एव परमात्माकी सर्वध्यापकताकी मावनाके लिये उपदेश, शीरमके आदर्श गुणोंको अपनाने एवं पौरुष-ग्राम करनेसे जीवन्मुक्त पदकी प्राप्तिका कथन                    *** २४७
८	१२—शानी और अशानीका अन्तर जालनके कारण ही कर्तुलका प्रतिपादन, तत्त्वज्ञानीके अकर्त्तापन एव बन्धनाभावका निरूपण                            *** २१९	उपशम-प्रकारण
९	१३—उर्ध्वशक्तिमान् ब्रह्मसे ही दृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और लय होनेसे सबकी परब्रह्मलूपताका प्रतिपादन; अस्थन्त मूढ़को नहीं, विवेची विकाश- को ही सर्व ब्रह्म' का उपदेश देनेकी आवश्यकता तथा बायीगरके दिखाये हुए सेलकी भोगि मायामय ब्रह्मके मिथ्यात्मका वर्णन    *** २२४	२—भीषणिषुक्तीका मन्त्राहकालमें प्रबचन उपाय करके सबको विद्य देनेके पश्चात् अपने आभ्रम- में जाना और ऐनिक कर्मोंके अनुष्ठानमें उत्तर होना    ***     *** २४९
१०	१४—हृशी असत्ता और सबकी ब्रह्मलूपताका प्रतिपादन, मायाके दोष तथा आत्मज्ञानसे ही उत्तम निवारण                                    *** २२६	३—श्रीराम आदि राजकुमारोंकी तात्कालिक दिन- चर्चा, बन्धुष्टी तथा अन्य समाजदोंका पुनः समाजमें प्रवेश, यज्ञ दशरथद्वाय मुनिके उपदेशादी प्रशासा तथा श्रीरामकी उनसे पुनः उपदेश देनेके लिये प्रार्थना                            *** २५०
११	१५—चेनतवासका ही क्षेत्रफल, अहङ्कार व्यादिके रूपमें विद्वार तथा अनिदित्यके कारण जीवोंके कर्म- नुसार नाना योनियोंमें जन्मोंका वर्णन            *** २२७	४—सासारणा मायाका मिथ्यात्म, साधनाका ग्रन्थ, आत्माके अशानसे दुख और ज्ञानसे ही सुखका कथन, आत्माकी निलेपता और जगत्की असत्ताका प्रतिपादन                                    ***     *** २५१
१२	१६—परमात्मनिष्ठ जानीकी हृषिमें सतारका मिथ्यात्म, मनोमय होनेके कारण जगत्की असत्ता तथा जानीकी हृषिमें सबकी ब्रह्मलूपताका प्रतिपादन २२८	५—कर्त्तव्य-कुदिसे अनालक्ष एवं सम रहस्य कर्म करनेकी ग्रेणा, नकाम कर्मोंकी तुर्गति और आत्मज्ञानीकी शेषताका प्रतिपादन तथा राजा जनकके द्वारा उद्घोताका अवण                            *** २५५
१३	१७—साधारिक वस्तुओंसे वैराग्य एवं जीवन्मुक्त महात्माओंके उत्तम गुणोंका उपदेश, बारम्बार होनेवाले ब्रह्म, ब्रह्मण्ड एवं विविध भूतोंकी सृष्टिपरम्परा तथा ब्रह्ममें उत्तम अस्थन्ता- भावका कथन    *** २४१	६—मिदोंके उपदेशके सुनकर यज्ञ जनकका एकान्तमें स्थित हो रहारखी नस्तरता एवं

आत्माके विवेक-विज्ञानको सूचित करनेवाले अपने आन्तरिक उद्गार एवं निष्पत्यको प्रकट करना	... ...	२५७
६—रात्रा अनकद्दारा संसारकी स्थितिपर विचार और उनका अपने विचारके समझाना	... ...	२५९
७—रात्रा अनककी जीवभूक्तस्पते स्थिति तथा विशुद्ध विचार एवं प्रश्नके अनुत्त माहात्म्यका वर्णन	... ...	२६१
८—विचारकी शान्तिके उपायोंका उकियोंद्वारा वर्णन	... ...	२६३
९—अभिविकारीकी दिये गये उपदेशकी व्यर्थता, मनके जीतने या शान्त करनेकी प्रेरणा तथा तत्त्वज्ञोंसे ही मनके उपरामका कथन; तुष्णाके दोष, वासनास्थ और जीवन्मुक्तके स्वरूपक वर्णन	... ...	२६५
१०—जीवमुकिकी प्राप्ति करनेवाले विभिन्न प्रकारके निष्पत्यों तथा सब कुछ प्रका ही है इस पारमार्थिक स्थितिका वर्णन	... ...	२६६
११—महापुरुषोंके स्वभावका वर्णन तथा अनासक भावसे सुसारमें विचरनेका उपदेश	... ...	२६७
१२—पिता-माताके शोकसे ज्याकुल हुए अपने माँ पावनको पुण्यक उपराम—जात् और उसके सम्बन्धकी व्यवस्थाका प्रतिपादन	... ...	२६९
१३—पुण्यक पावनको उपदेश—अनेक अन्योंमें प्राप्त हुए असंख्य सम्बन्धियोंकी ओरसे ममता हठाकर उन्हें आत्मस्वरूप परमात्मासे ही संतोष प्राप्त करनेका आदेश, पुण्य और पावनको निर्वाण- पदकी प्राप्ति, तुष्णा और विषय-चिन्तनके स्थागसे मनके क्षीण हो जानेपर परमपदकी प्राप्ति- का कथन	... ...	२७०
१४—रात्रा शिलिके अन्तःकरणमें द्वैगुण्य एवं विचारका उदय तथा उनका अपने स्तितिसे पहलेके पूछे हुए प्रश्नोंका सरण करना	... ...	२७२
१५—विरोचनका शिलिको मोर्गोंसे दैरायत्यतथा विचार- पूर्वक परमात्मसाक्षात्कारके लिये उपदेश	... ...	२७४
१६—शिलिका पिताके दिये हुए जानेपदेशके सरणसे संतोष तथा पहलेकी अशानमयी स्थितिको याद करके सेदग्रकृत करते हुए शुक्राचार्यका चिन्तन करना; शुक्राचार्यका आना और शिलिसे पूर्वित		

होकर उन्हें सारभूत चिदान्तका उपदेश देकर चला जाना	... ...	२७६
१७—रात्रा शिलिका शुक्राचार्यके दिये हुए उपदेशपर विचारकरते-करते समाप्तिस्थ हो जाना, दानवोंके सरण करनेसे आये हुए दैस्यगुरुका शिलिकी चिदान्तस्थानके बताकर उनकी चिन्ता दूर करना	२७८	
१८—उमाधिसे खगे हुए बलिका विचारपूर्वक सम- भावसे स्थित होना, भीहरिका उन्हें बिलोकीके राष्ट्रसे हटाकर पातालका ही रात्रा बनाना, उस अवसानमें भी उनकी समरापूर्ज स्थिति तथा भीशमके चिन्मय स्वरूपका वर्णन	... ...	२८१
१९—ग्रहादका उपायज्ञान—ग्रगवान् त्रुसिंहकी क्लेशमि- से हिरण्यकशिषु आदि देवत्योंका उहर तथा ग्रहादका विचारद्वारा अपने आपके ग्रगवान् विष्णुसे अभिन्न अनुभव करना	... ...	२८३
२०—ग्रहादके द्वाया भगवान् विष्णुकी मानसिक एवं वास पूजा, उसके प्रभावसे समस्त देवत्योंको दैव्यम हुआ देख विश्वमें पढ़े हुए देवताओंका भगवान्से इसके विश्वमें पूछना; ग्रगवान्का देवताओंको सान्त्वना दे अहस्य हो ग्रहादके दैव्यपूजा-रूपमें प्रकट होना और ग्रहादद्वारा उनकी स्तुति	... ...	२८५
२१—ग्रहादके ग्रगवान्द्वारा वर-ग्रासि, ग्रहादका ध्यात्मविन्दन करते हुए परमात्माका साक्षात्कार करना और उनका साधन करते हुए उमाधिस्थ हो जाना, तत्त्वधार् पातालकी आराजकताका वर्णन और ग्रगवान् विष्णुका ग्रहादको समाधि- से विरत करनेका विचार	... ...	२८८
२२—ग्रगवान् विष्णुका पातालमें जाना और शङ्ख- चानिसे ग्रहादको प्रशुद्ध करके उन्हें तत्त्वज्ञानका उपदेश देना, ग्रहादद्वारा भगवान्का पूजन, भगवान्का ग्रहादको दैत्यराज्यपर अभिषिक्त करके कर्तव्यका उपदेश देकर क्षीरसागरको लौट जाना, आख्यानका उत्तम फल, जीवन्मुक्तोंके च्युत्यानका हेतु और पुरुषार्थकी शक्तिका कथन	... ...	२९४
२३—ग्रायाचक्रका निरूपण, विचारितेष्वकी प्रशासा, ग्रगवान्सिकी महिमा, उनकी सर्प और विषहृष्टसे दुःखना, उद्धालक मुनिका परमार्थ- चिन्तन	... ...	२९८

२४—महर्षि उदात्ककी साधना, वपवया और परमात्मग्रासिका कथन, सत्ता-सामाज्य, समाजिक और सामाजिक लक्षण ... ... ३०६	विभवणका वर्णनः जीवन्मुक्त महात्माओंके गुण, लक्षण और महिमा ... ... ३३७
२५—किरातराज सुखुका शृंखला—महर्षि माण्डवेशक सुखुके महामें पधासना और उत्तरेश देखन अपने आश्रमको लौट आना, सुखुके आस्म-विषयक चिन्तनका वर्णन तथा उसे परमपदवी प्राप्ति ... ... ३१०	२६—चित्तके स्थन्दनसे होनेवाली जगत्की भ्रान्ति, चित्त और प्राण-स्थन्दनका स्वरूप तथा उसके निरोधरूप योगजी तिदिके अनेक उपाय ... ... ३३९
२६—किरातराज सुखु और राजर्षि पर्वद ( परिच ) का संबंध ... ... ३१४	२७—चित्तके स्थन्दनसे होनेवाली जगत्की भ्रान्ति, चित्त और प्राण-स्थन्दनका स्वरूप तथा उसके निरोधरूप योगजी तिदिके अनेक उपाय ... ... ३४१
२७—आस्माका ससार-हुःससे उदार करनेके उपायोंका कथन तथा भाव और विलास नामक तपस्त्रियोंके शृंखलान्तका आरम्भ ... ... ३१८	२८—चित्तके स्थन्दनसे होनेवाली जगत्की भ्रान्ति, चित्त और प्राण-स्थन्दनसे परमात्माकी प्राप्ति ... ... ३४२
२८—भाष और विलासकी परस्पर बातचीत और तस्वीरानन्दादारा उन्हें गोकुकी प्राप्ति; वेह और आस्माका उम्बन्ध नहीं है तथा आत्मकी ही अव्यवनका हेतु है—इसका निलम्ब ... ... ३२१	२९—चित्तके स्थन्दनसे होनेवाली जगत्की भ्रान्ति और उससे जगना, छः चारितक पुनः समाधि, चिरकालतक जीवन्मुक्त स्थिति, उनके द्वारा हुःस-हुःहृत आदिको नमस्कर और उनका परमात्मामें विलीन हो जाना ... ... ३४४
२९—संसकि और अत्तरकिका लक्षण, आसक्तिके भूलके उपरांत शान्ति और फलका वर्णन, आसक्तिके व्यावसे जीवात्मा कर्म-फलसे सम्बद्ध नहीं होता—इसका कथन ... ... ३२४	३०—चित्तके स्थन्दनसे होनेवाली जगत्की भ्रान्ति और उससे जगना, छः चारितक पुनः समाधि, चिरकालतक जीवन्मुक्त स्थिति, उनके द्वारा हुःस-हुःहृत आदिको नमस्कर और उनका परमात्मामें विलीन हो जाना ... ... ३४४
३०—असद्गु सुखमें परम शान्तिको प्राप्त पुरुषके अवश्यक-कालमें भी दुखी न होनेका प्रतिपादन, जानीकी 'तुर्यावस्था तथा वेह और आस्माके अन्तररक्त वर्णन ... ... ३२७	३१—महामुनि वीतहृष्टकी बैंकारकी अन्तिम भागाका अवलम्बन करके परमात्मग्रासिरूप मुक्तवस्याका तथा मुक्त होनेपर उनके द्वारा ग्राहों और नव धर्मांगोंका अपने-अपने डपादान कारणमें विलीन होकर मूल-प्रकृतिमें लीन होनेवाल वर्णन ३५०
३१—वेदादिके संयोग-विभेदादिमें राग-द्वेष और हर्ष-शोकसे रहित शुद्ध आस्माके स्वरूपका विवेचन ३२९	३२—जानी महात्माओंके लिये आकाश-गमन आदि तिदियोंकी अनावश्यकताका कथन ... ... ३५१
३२—दो प्रकारके मुक्तिहृषक अहकारका और एक प्रकारके बन्धनकारक अहंकारका एव परमात्माके स्वरूपका वर्णन ... ... ३११	३३—जीवन्मुक्त और विदेश-मुक्त पुरुषोंके चित्तनाशका वर्णन ... ... ३५२
३३—मन, अहकार, वासना और अविद्याके नाशसे मुक्ति तथा जीवन्मुक्त पुरुषके लक्षण और महिमाका प्रतिपादन ... ... ३१२	३४—हारीरका कारण मन है तथा भनके कारण प्राण-स्थन्द और जासना इनका कारण विषय, विषयका कारण जीवात्मा और जीवात्माका कारण परमात्मा है—हस तस्वका प्रतिपादन ३५४
३४—मनुष्य, अहुर, देव आदि योनियोंमें होनेवाले हर्ष-शोकादिसे रहित जीवन्मुक्त महात्माओंका वर्णन ... ... ३१५	३५—तत्त्वज्ञान, वासनाशुद्ध और भनोनाशसे परमपदवी प्राप्ति तथा भनके वशमें करनेके उपायोंका वर्णन ... ... ३५७
३५—खीरूप तरड़से मुक्त स्वारक्षी समुद्र, उससे तरनेके उपाय और तरनेके अनन्तर मुख्यूर्धक	३६—विचारकी ग्राहता, वैराग्य एव उत्तुणोंसे तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति और जीवन्मुक्त महात्माओंकी स्थितिका वर्णन ... ... ३५९ ३७—विचारकी ग्राहता, वैराग्य एव उत्तुणोंसे तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति और जीवन्मुक्त महात्माओंकी स्थितिका वर्णन
	३८—भीवस्त्रियोंके कहनेपर भोताओंका उपाय उठाकर दैनिक किया करना तथा सुने गये विषयोंका विनाश करना ... ... ३६२

२—भीरामचन्द्र आदिका महाराज वर्णापुणीको समामें लाना तथा महर्षि वसिष्ठजीके द्वारा उपदेशका आरम्भ, चित्तके विनाशका और श्रीरामचन्द्रजीकी ब्रह्मस्फुटाका निरूपण	३६३	अमावश्यका प्रतिपादन	३०१
३—व्रह्मकी जातकारणता और जानदार भाग्यके विनाशका तथा श्रीविष्णुजीके द्वारा श्रीरामजी की महिमा एवं श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा अपने परमार्थस्वरूपका वर्णन	३६५	१३—ग्राण-अपानकी गतिको तत्त्वतः जननेसे मुक्ति ३८७	
४—देह और आत्माके विवेकका एवं अकानीको देहमें आत्मसुद्धि व्यार विषयोंमें सुख-सुद्धि करनेसे दुःखकी प्राप्तिका प्रतिपादन	३६६	१४—पूरक, रेखक, कुम्भक ग्राणायामका तत्त्व जानकर अन्यात जननेसे मुक्ति और नर्वाक्तिमाल परमात्माकी उपासनाकी महिमा	३८८
५—अकानीकी महिमा और विभूतियोंका सविस्तर वर्णन ३६८		१५—मुशुण्डकी वास्तविक स्थितिका निरूपण, वसिष्ठजी-द्वारा मुशुण्डकी प्रबंधन, मुशुण्डद्वारा विनिष्ठुरीका पूजन तथा आकाशमार्गसे वसिष्ठजीकी स्वलोकप्राप्ति ३९०	
६—अविद्याके कार्य सत्तारूप विष-कृता, विद्या एवं अविद्याके स्वरूप तथा उन दोनों रहित परमार्थ-स्तुतुका वर्णन	३६९	१६—शरीर और ससारकी अनिश्चितता तथा श्रान्ति-स्वरूपका वर्णन	३९२
७—अविद्यामूलक स्थावरयोनिके जीवोंके स्वरूपका तथा विवेकपूर्वक विचारसे अविद्याके नाशका प्रतिपादन	३७१	१७—संसार-नक्कले अवशेषका उपाय, शरीरकी नभ्रता और आत्माकी अविनाशिता एवं अहकारम्पी चित्तके स्थानका वर्णन तथा श्रीमहादेवजीके द्वारा श्रीविष्णुजीके प्रति निर्गुण-निराकार परमात्माकी पूजाका प्रतिपादन	३९४
८—परमात्मा सर्वात्मक और नर्वातीत है—इनका प्रतिपादन एवं महात्मा पुरुषोंके लक्षण तथा आत्मकस्यामके लिये परमात्मविक्षयक यथार्थ ज्ञान और प्राण निरोचरूप योगका वर्णन	३७२	१८—चेतन परमात्माकी सर्वात्मता	३९८
९—देव-समामें वायुसराज भुशुण्डका द्वृतान्त सुनकर महर्षि वसिष्ठका उसे देखनेके लिये मेहमिशिएर जाना, मेरु-विस्तर तथा ‘चूत’ नामक कस्तुररुका वर्णन, वसिष्ठजीका मुशुण्डसे पिलना। मुशुण्डद्वारा उनका आतिथ्य-मत्कार, वसिष्ठजीका मुशुण्डसे उनका दृत-त्वपूछना और उनके गुणोंका वर्णन करना	३७५	१९—शुद्धचेतन भास्मा और जीवात्माके स्वरूपका विवेचन	३९९
१०—मुशुण्डका वसिष्ठजीसे अपने जन्मवृत्तान्तके प्रसन्नमें महादेवजी तथा ग्रानुकाओंका वर्णन करते हुए अपनी उत्पत्ति, जानप्राप्ति और उस धौसलेमें आनेका दृतान्त कहना	३७९	२०—सदस्य-स्थागसे द्वैतमायनाकी निवृत्ति और परम पदव्यरूप परमात्माकी प्राप्तिका प्रसिपादन	४००
११—‘तुम्हारी कितनी आयु है व्यार हम किन-किन हृतान्तोंका सरण करते हो ?’ वसिष्ठजीद्वारा शुचि हुए इन प्रश्नोंका मुशुण्डद्वारा समाधान	३८२	२१—सदके परम कारण परम पूजनीय परमात्माका वर्णन	४०२
१२—किसे शुचि नहीं भार सकती, उस निर्दोष भास्माकी स्थितिका, परमत्वकी उपासनाका तथा तीनों लोकोंके पदार्थोंमें सुख-शान्तिके		२२—परमात्माकी अपानी विनाशको जाना, आसक्ति और अहानके नाशसे मनके विनाशका वर्णन	४०४
		२३—गिलाके समयें ब्रह्मके स्वरूपका प्रतिपादन	४११
		२४—परमात्माके स्वरूपका और अविद्याके अस्तन्त अभावका निरूपण	४११

२९—जीवात्माका अपनी भावनासे लिखदेशम्			गुरु श्रिकल्पके साथ निवास, भगविरथके पुनः राज्यप्राप्ति और ब्रह्मा, राद्र आदिकी आराधना करनेसे गङ्गाचीका भूतलपर अवतरण ४३५
३०—पुरुषक बने हुए जीवात्माको तत्पश्चानसे परन्तु परमात्माकी प्राप्ति होनेका कथन ३० ४१५			४५—शिलिष्टब और चूडालाके आत्मानका आरम्भ, शिलिष्टबके गुणोंका तथा चूडालाके साथ विवाह और श्रीदाका वर्णन ३० ४१७
३१—श्रीकृष्णार्जुन-आत्मानका आरम्भ—अर्जुनके प्रति भगवान्, श्रीकृष्णद्वारा आत्माकी निलक्षणका प्रतिपादन ३१ ४१७			४६—कमसे उन दोनोंकी वैराग्य एवं अथात्- शानमें निष्ठा तथा चूडालाको यथार्थ जानने परमात्माकी प्राप्ति ३१ ४१९
३२—कर्त्तृत्वाभिमानसे रहित पुरुषके कर्मोंसे लिप्त न होनेका निरूपण एवं सञ्चल्पण, ब्रह्मार्थ ईश्वरार्पण, उन्नास, शान और योगकी परिपादन ३२ ४१८			४७—चूडालाके अपूर्व शोभातम्बन्ध देखकर राजा शिलिष्टबका प्रसन्न होना और उससे चारोंलाप करना ३२ ४१८
३३—श्रीकृष्णके द्वारा अर्जुनके प्रति कर्म और ज्ञानके तत्त्व-प्रस्तुत्यका प्रतिपादन ३३ ४२१			४८—राजा शिलिष्टबका चूडालाके बचनोंको भयुक बतलाना, चूडालाका एकान्तमें योगस्थाप करना एवं श्रीरामचन्द्रकीके पूजने- पर श्रीबतिष्ठबीके द्वारा कुण्डलिनीशक्तिका तथा विभिन्न शरीरोंमें जीवात्माकी स्थितिका वर्णन ३३ ३३ ३३ ४२२
३४—श्रीकृष्णके द्वारा अर्जुनके प्रति जीवन्मुक्त अवस्था और ज्ञानपूर्वक चित्रका वैज्ञ एवं बासनारहित और ब्रह्मात्मक्य होकर स्थित रहनेका उपदेश तथा इस उपदेशको सुनकर तत्पश्चानके द्वारा अर्जुनकी अविद्यारहित बासनका और योगका नाम हो जाना ३४ ४२४			४९—आधि और व्याधिके नाशका तथा शिद्धिका और लिङ्गोंके दर्शनका उपाय ३४ ४२५
३५—परमात्माकी निलक्षण, जगत्की अवस्था एवं जीवन्मुक्त अवस्थाका निरूपण ३५ ४२६			५०—शानतयाग वस्तु और योगियोंकी परकाय- प्रवेश-शिद्धिका वर्णन ३५ ४२७
३६—परमात्माके सत्त्व-सामान्य स्वरूपका प्रतिपादन ३६ ४२७			५१—चूडालाकी शिद्धिका वैयाप, गुरुमदेशकी सफलतामें फिराटका आत्मान, शिलिष्टबका वैराग्य, चूडालाका उर्हे उमसाना, राजा शिलिष्टबका आधी रातके समय राजमहलमें निष्कलकर चल देना और मन्दराचलके कामनमें कुटिया बनाकर निवास करना ३६ ४२८
३७—सवारके मिथ्यात्मका दिव्यर्गन तथा मेहसे जीवके पठनका कथन ३७ ४२८			५२—सोकर उठी हुई चूडालाके द्वारा राजाकी खोल, वनमें राजाके दर्शन और शजाके भविष्यका विचार करके चूडालाका लौटना, नगरमें आकर राज्य-शासन करना, तदनन्तर कुछ समय बाद राजाको ज्ञानोपदेश देनेके लिये ग्रामणकुमारके बैठमें उनके पात जाना, राजाद्वारा उसका सलकर और परस्पर चारोंलाप- के प्रसङ्गमें कुम्भद्वारा कुम्भकी उत्पत्ति, हृषि- और ब्रह्मात्मीके साथ उसके समाप्तम् वर्णन ५२ ४२९
३८—चार प्रकारका मौन और उनमेंसे जीवन्मुक्त ज्ञानीके सुखस मौनकी भेषजता ३८ ४२९			५३—राजा शिलिष्टबद्वारा कुम्भकी प्रशासा, कुम्भका प्रशासनीके द्वारा किये हुए जान-और कर्मके
३९—तांख्ययोग और अद्वाक्ययोगके द्वारा परमपदकी प्राप्ति ३९ ४२९			
४०—तांख्ययोग और अद्वाक्ययोगके द्वारा परमपदकी प्राप्ति ४० ४२९			
४१—जेताल और राजाका संवाद ४१ ४३१			
४२—जेतालकृत छः प्रश्नोंका राजाद्वारा उमाधान ४२ ४३१			
४३—मरीरथके गुण, उनका विवेकपूर्वक वैराग्य और अपने गुरु शितलके साथ संवाद ४३ ४३१			
४४—राजा मरीरथका सर्वतत्त्वस्थान, भिक्षाण और			

विवेचनको सुनाना; राजाद्वारा कुम्भका विषयस्त्रीकार	...	...	४५७
५४—चिरकालकी उपलासे प्राप्त हुए विन्द्यामणिका स्थाग करके भणिशुद्धिसे कौचको ग्रहण करनेकी कथा सथा विन्द्यगिरिनिवासी हाथीका आख्यान ४५९			
५५—कुम्भद्वारा चिन्तामणि और कौचके आख्यानके सथा विन्द्यगिरिनिवासी हाथीके उपाख्यानके रहस्यका वर्णन	...	...	४६१
५६—कुम्भकी बातें सुनकर सर्वत्यागके लिये उद्यत हुए राजा शिखिष्वजनक्षारा अपनी सारी उपयोगी वस्त्राभोग अभिन्ने छोड़ना, पुनः देहस्थागके लिये उद्यत हुए राजाको कुम्भद्वारा विन्द्यस्थागका उपदेश	...	...	४६३
५७—चित्तस्थी बृक्षको घूलसहित उत्साह फैलनेका उपय और अविद्यारूप कारणके अभावसे देह आदि कार्यके अभावका वर्णन	...	...	४६५
५८—अग्रहके अत्यन्तामावधका, राजा शिखिष्वजनके परम शान्तिकी प्राप्तिका सथा जाननेयोग्य परमात्माके स्वरूपका ग्रतिपादन	...	...	४६९
५९—चित्त और संकरके अत्यन्त अभावका सथा परमात्माके मावका निरूपण	...	...	४७२
६०—ज्ञानसे अग्रहकी पृथक् सत्ताका निषेध तथा चम्भ आदि विकारोंसे रहित ज्ञानी स्वतः सत्ताका विचार	...	...	४७४
६१—राजा शिखिष्वजनकी जानमें हुए स्थिति तथा शीवमुक्तिमें चित्तराहित्य एवं सत्त्वस्थितिका वर्णन	...	...	४७५
६२—कुम्भके अन्तर्हित हो जानेपर राजा शिखिष्वजनका कुछ काल्पक विचार करनेके पश्चात् उमाधिस्य होना, चूडालाका धर जाकर तीन दिनके बाद पुनः लौटना, राजाके दृष्टिरें प्रेषण करके उन्हें जाना और राजाके साथ उसका बारांलाय	...	...	४७७
६३—कुम्भ और शिखिष्वजनका परस्पर वैहार्द, चूडालाका राजासे आशा लेकर अपने नगरमें आना और उदास-मन होकर पुनः राजाके पास लौटना, राज्यके हारा उदासीका कारण पूछनेपर चूडालाद्वारा दुर्चारीके शासका कथन और चूडालाका दिनमें कुम्भमासे और रातमें श्रीसूर्यसे राजा शिखिष्वजनके साथ विद्यरण ४८०			

- ६४—महेन्द्रपर्वतपर अग्निके साथमें भद्रनिका ( चूडाला ) और शिखिष्वजनका विवाह, एक उद्दर कन्दरमें पुष्प-जात्यापर दोनोंका समागम, शिखिष्वजनकी परीक्षाके लिये चूडालाद्वारा मायाके बलसे इन्द्रका प्राकृत्य, इन्द्रका राजासे स्वीं चलनेका अनुरोध, राजाके अस्तीकार करनेपर परिवारसहित इन्द्रका अन्तर्धान होना ४८३
- ६५—राजा शिखिष्वजनके क्रोधकी परीक्षा करनेके लिये चूडालाका मायाद्वारा राजाको ज्ञातसमाप्त दिलाना और अन्तमें राजाके निकारद्युक न होनेपर अग्ना असली रूप प्रकट करना \*\*\* ४८५
- ६६—ज्ञानसे सब कुछ जानकर राजा शिखिष्वजनका अधर्यचकित होना और प्रशंसापूर्वक चूडालाका आलिङ्गन करना तथा उसके साथ रात निराना, ग्रातङ्काल संकल्पबनित 'सेनाके साथ दोनोंका नगरमें आना और उस द्वार बर्षोंतक राज्य करके विदेहमुक्त होना \*\*\* ४८८
- ६७—जूहस्त्रिपुणि कल्पकी सर्वत्याग-साक्षनसे शीवमुक्ति, मिथ्या पुरुषकी आख्यायिका और उसका सात्यर्य \*\*\* \*\*\* ४९१
- ६८—सब कुछ ज्ञान ही है—इसका ग्रतिपादन \*\*\* ४९६
- ६९—भूदीयके प्रति महादेवजीके हारा महाकर्ता, महामोक्ष और महात्मागीके लक्षणोंका निरूपण ४९७
- ७०—उर्बन्या विलीन हुए या विलीन होते हुए अदंकार-स्त्र चित्तके लक्षण \*\*\* \*\*\* ४९८
- ७१—महाराज मनुका इहलाकुके प्रति, ऐं कौन हूँ, यह क्या है—यह बताते हुए देहमें आप्तमुद्धिका परिस्थापन कर परमात्ममावधमें स्थित होनेका उपदेश \*\*\* \*\*\* ४९९
- ७२—सात भूमिकाओंका, शीवमुक्त महात्मा पुरुषके लक्षणोंका एवं शीवके संदर्भमें फँसानेवाली और संसारसे उद्धार करनेवाली भवनाओंका वर्णन करके मनु महाराजका ब्रह्मलोकमें जाना \*\*\* ५००
- ७३—शीवसिष्ठजीके हारा शीरामचन्द्रजीके प्रति शीवमुक्त पुरुषकी विशेषता, रागसे बन्धन और वैराग्यसे मुक्ति तथा त्रुट्यपद और ब्रह्मके स्वरूपका प्रतिपादन \*\*\* \*\*\* ५०१
- ७४—गोगकी सात भूमिकाओंका अभ्यासक्रम और लक्षण, योगभ्रष्ट पुरुषकी गति एवं महान्

अनर्थकारिणी क्षयिनीस्त्रप इच्छाके स्वरूप और उसके नाशके उपाय ... ... ... ५०५
७५—परदात्र मुलिके उत्कृष्टापूर्वक प्रश्न करनेपर भीवालीकिंबीके द्वारा जगतकी असता और परमात्मकी सत्ताका प्रतिपादन करते हुए कल्याणकारक उपदेश ... ... ... ५०९
७६—भीवालीकिंबीके द्वारा उत्कृष्टापूर्वक और परदात्रीके द्वारा अपनी स्थितिका वर्णन; वालीकिंबीद्वारा मुक्तिके उपायोंका कथन; भीविश्वामित्रबीद्वारा भगवान् भीरामके अवतार प्रश्न करनेका प्रतिपादन एवं प्रश्नभवणकी महिमा ... ... ... ५११
<b>सिर्वाग्र-प्रकरण ( उत्तरार्थ )</b>
१—कल्पना या संकल्पके स्वागतम् स्वरूप, कामना या संकल्पते शूल्य हेतु कर्म करनेकी प्रेरणा; इस्यकी असता सथा सत्सङ्घानसे मोक्षम् प्रतिपादन ... ... ... ५१६
२—समूह कर्मणाके स्वरूपका विवेचन ... ... ५१७
३—संसारके मूलशूल अहंभावका आत्मबोधके द्वारा उच्छेद करके परमात्मस्वरूपसे खित होनेका उपदेश ... ... ... ५१८
४—उपदेशके अधिकारीका निरूपण करते हुए किंबीके द्वारा शुद्धांश्च और विद्याधरके संवादका उत्तेज—विद्याधरका इनिर्दियोंकी विषयपरावरणाके कारण प्राप्त हुए दुर्लभोंका वर्णन करके उनसे अपने उद्घारके लिये प्रार्थना करना ... ... ... ५१९
५—शुद्धांश्चीद्वारा विद्याधरको उपदेश—इस्य- प्रपञ्चकी असता जाते हुए संसार-दूसरका निरूपण ... ... ... ५२१
६—संसार-दूसरके उच्छेदके उपाय, प्रतीयमान जगतकी असता, व्रजमें ही जगतकी प्रतीति सथा सर्वज्ञ प्रह्लादी सत्ताका प्रतिपादन ... ५२३
७—चिन्मय परमात्मके सिवा अन्य वस्तुकी सत्ताका निराकरण, जगतकी निःसारता सथा सत्सङ्ग, सत्त्वाज्ञ-विचार और आत्मप्रवर्णके द्वारा अविद्याके नाशक प्रतिपादन ... ५२४
८—प्रदरेणुके उद्दरमें इन्द्रका निवास और उनके गह, नगर, देश, लोक एवं किलोंके सामाजिकी कल्पनाका विस्तार ... ५२५

९—इन्द्र-कुलमें उत्पन्न हुए एक हनुमका विचार- द्वितीये परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार करके इत शिष्योंके इन्द्रपदम् प्रतीक्षित होना तथा अहंभावनाके निवृत्त होनेसे संवार-भ्रमके मूलोच्छेदका कथन ... ... ... ५२६
१०—शुद्ध चित्तमें योहेसे ही उपदेशसे महान् प्रभाव पद्धता है यह बतानेके लिये कहे गये शुद्धांश्चवर्गित विद्याधरके प्रसङ्गका उपचाहर; भीकम्भुक या विदेशमुक्तके अहंकारका नाश हो जानेसे उसे संवारकी प्राप्ति न होनेका कथन ... ... ... ५२७
११—मृत्यु युद्धके ग्राणोंमें स्थित जगतके आकाशमें भ्रमणका वर्णन सथा परमात्ममें जगतकी असत्ताका प्रतिपादन ... ... ... ५२८
१२—जीवके स्वरूप, स्वभाव तथा विश्व-पुरुषका वर्णन ... ... ... ५२९
१३—जगतकी सकल्पस्तप्ता, अन्यथादर्दनस्य शीघ्र मात्र तथा अहंभावनास्य महाप्राप्तिके भेदनसे ही मोक्षकी प्राप्तिका कथन और जातकम्भुके छम्भाणोंका वर्णन ... ... ... ५३०
१४—जानीके छंश्वर, जीवके बन्धन और मोक्षका स्वरूप, जानी और अजानीकी स्थितिमें अन्तर; इस्यकी असता सथा परमात्मकी सत्ताका प्रतिपादन ... ... ... ५३१
१५—प्रदद्वयिके मर्त्यमें मिले हुए महान् बन्धमें महर्षि विठ्ठल और भार्हुका समागम एवं संवाद ... ... ... ५३२
१६—भार्हुके द्वारा संसार लैकिंग सुख, मन, बुद्धि और दृष्टि आदिके देवों तथा उनसे होनेवाले कर्त्तव्यका वर्णन और विठ्ठलीसे उपदेश देनेके लिये प्रार्थना ... ... ... ५३५
१७—संसारके चार धीरोंका वर्णन और परमात्मके दत्तव्यानसे ही इन धीरोंके किनारांश्चक मोक्षम् प्रतिपादन ... ... ... ५३६
१८—मावना और वासनाके कारण संसार-दूसरकी प्राप्ति सथा विवेचते उल्लकी शान्ति, सर्वत्र ग्रहसत्ताका प्रतिपादन एवं महिंके मोहन निवारण ... ... ... ५३७

१९—आत्मा या ब्रह्मकी समता, सर्वस्पता तथा द्वैतशून्यताका प्रतिपादन, बीवात्माकी ब्रह्म- भावनासे उंसार-निषुक्तिका वर्णन	५३८	३२—बैराम्यके दृढ़ हो जानेपर पुरुषकी स्थिति, आत्माद्वारा विवेक नामक दूतका मेना जाना; विवेकशानसम्बन्ध पुरुषकी महिमा तथा बीवके सात रूपोंका वर्णन	*** ५६४
२०—परमार्थ-तत्त्वका उपदेश और स्वरूपभूत परमात्म- पदमें प्रतिष्ठित रहते हुए अव्यवहार करते रहनेका आदेश देते हुए वसिष्ठजीका भीरामके प्रमोक्ष उच्चर देना तथा सासारी मनुष्योंको आत्माज्ञान एवं मोक्षके लिये ग्रेरिन करना *** ५३९			
२१—निर्वाणकी स्थितिका तथा 'मोक्ष स्वाधीन है' इस विषयका सुयुक्तिका वर्णन *** ५४२			
२२—बीवकी बहिर्भूतताके निवारणसे आनन्दिकल्पना- के निवारक उपाय तथा परलोककी चिकित्साका वर्णन *** *** .. ५४४			
२३—बगत्के स्वरूपका विवेचन और ब्रह्मके स्वरूपका सविस्तर वर्णन *** *** ५४६			
२४—बीबन्मुकिकी प्रशंसा तथा इच्छा ही बन्धन है और इच्छाका त्याग ही मुक्ति है; इसका सविस्तर वर्णन और उससे छूटनेके उपायका निरूपण *** *** ५४८			
२५—तत्त्वज्ञन हो जानेपर इच्छा उत्पन्न होती ही नहीं और यदि कहीं उत्पन्न होती-सी दीखे • तो वह ब्रह्मस्वरूप होती है—इसका सुयुक्तिका वर्णन *** *** ५५०			
२६—वेतन हीं बात है—इसका तथा तत्त्वज्ञानी और बगत्के स्वरूपका वर्णन *** ५५२			
२७—बीबन्मुक्तके द्वारा बगत्के स्वरूपका ज्ञान, स्वभावका उक्खण तथा विष और विश्वेष्टरकी एकता और स्वात्मभूत परमेश्वरकी पूजाका वर्णन ५५३			
२८—बगत्की असारताका निरूपण करके सत्त्वज्ञनसे उसके विनाशका वर्णन *** *** ५५५			
२९—ग्राणियोंके आन्त हुए मनस्ती मृगके विभागके लिये समाधिरूपी कल्पद्रुमकी उपयोगिताका वर्णन *** *** ५५७			
३०—बीबन्माके ध्यान-बृहस्पत चढ़नेका और वास्तविक सुखकी प्राप्तिका वर्णन *** ५६०			
३१—ज्यानस्ती कल्पद्रुमके भज्जे भास्वादनसे मनकी स्थितिका तथा मुक्तिके विभिन्न साधनोंका वर्णन *** *** ५६१			
		३२—बैराम्यके दृढ़ हो जानेपर पुरुषकी स्थिति, आत्माद्वारा विवेक नामक दूतका मेना जाना; विवेकशानसम्बन्ध पुरुषकी महिमा तथा बीवके सात रूपोंका वर्णन *** *** ५६४	
		३३—दृश्य अगत्की असत्ता, सबकी एकमात्र ब्रह्म- स्पता तथा तत्त्वज्ञनसे होनेवाले लाभका वर्णन ५६६	
		३४—सुष्ठिकी असत्यता और एकमात्र अव्यष्ट ब्रह्म- सत्ताका प्रतिपादन *** *** ५६७	
		३५—परमात्मामें सुष्ठिभ्रमकी असम्बवता, पूर्णब्रह्मके स्वरूपका निरूपण तथा सबकी ब्रह्मस्ताका प्रतिपादन *** *** ५६८	
		३६—ब्रह्ममें ही अगत्की कल्पना तथा अगत्का ब्रह्मरे अमेद, पापाणोपात्मानका आत्मभ—सुष्ठिजीवीका लेकलातिसे विरक हो जाये एकान्तमें कुठी बनाकर त्यै वर्णोत्तक समाधि लगाना *** ५६९	
		३७—अहंकाररूपी पिद्धाचक्री शान्तिका उपाय— सुष्ठिके कारणका अभाव होनेसे उसकी असत्ता तथा चिन्मय ब्रह्मकी ही सुष्ठिरूपताका प्रतिपादन *** *** ५७१	
		३८—समाधिकालमें वसिष्ठजीके द्वारा अनन्त चेतनाकाशमें असंख्य ब्रह्माण्डोंका अबलोकन *** ५७२	
		३९—बीवसिष्ठजीका रमाधिकालमें अपनी लक्षि करनेवाली जीका अबलोकन और उसकी उपेक्षा करके अनेक विचित्र बगत्का दर्शन करना तथा महाप्रलयके तमय तथ जीवोंके प्रकृति-लीन हो जानेपर पुनः किसके सुष्ठिका ज्ञान होता है, श्रीगुरुके इस प्रकृतका उच्चर देना *** ५७३	
		४०—बीवसिष्ठजीके द्वारा विद्वाकाशरूपसे देखे गये जगतोकी अपनेसे अभिज्ञताका कथन, आर्यपाठ करनेवाली जीके कार्य तथा सम्भाषण आदिके विषयमें भीरामके प्रश्न और श्रीवसिष्ठजीके उच्चर- का वर्णन *** *** ५७५	
		४१—स्वप्नबगत्की भी ब्रह्मस्ता एव सत्यताका प्रतिपादन *** *** ५७७	
		४२—बीवसिष्ठजीके पूछनेपर विद्याभरीके द्वारा अपने बीवन-बृहस्पताका वर्णन, अपनी युवावस्थाके व्यर्थ बीतनेका उल्लेख *** *** ५७८	
		४३—विद्याभरीका दैराय्य और अपने तथा पतिके लिये सत्त्वज्ञनका उपदेश देनेके द्वेष उसकी वसिष्ठ मुनिसे ग्रार्थना *** *** ५८०	

४४—भीषणिष्ठजीवन विद्याधरीके साथ लोकलोक पर्वतपर पाषाणशिलाके पास पहुँचना, उस शिलामें उन्हें विद्याधरीमी जतायी हुई दृष्टिका दर्शन न होना, विद्याधरीका इसमें उनके अभ्यासाभावको कारण बताकर अभ्यासकी महिमाका वर्णन करना .. .	५८१	परमात्मसचाकी ही सूर्यिका प्रतिपादन तथा संविदानन्दधनका विलास ही रुद्रदेवका नृत्य है—इसका कथन .. .	५९९
४५—भीषणिष्ठजीवनके द्वारा आतिथाहिक जरीरमें आविग्नीतिकताके भ्रमका नियन्करण	५८४	५५—गिर और अकिके यथार्थ स्वरूपका विवेचन .. .	६००
४६—विद्याधरीका पाषाण-कागजके ब्रह्माचीको ही अपना पति जताना और उन्हें समाचिसे बगाना, उनके और देवतादिके द्वारा विष्णुजीका स्वामत-संस्कार, विष्णुजीके पूछनेपर ब्रह्माचीका उन्हें अपने यथार्थ स्वरूपका परिचय देना और उस कुमारी नारीको वास्तवाकी देवी जताना .. .	५८५	५६—प्रकृतिरूप कालरात्रिके परमतत्त्व विवेचनमें छीन होनेका वर्णन .. .	६०२
४७—पाषाण-कागजके ब्रह्माद्वारा वास्तवाकी क्षयोन्मुखता एवं आत्मदर्शनकी इच्छा जताकर शिलाकी चितिरूपता तथा कागजकी परमात्मसचासे अभिनवताका प्रतिपादन करके विष्णुजीको अपने कागजमें जानेके लिये प्रेरित करना .. .	५८७	५७—रुद्रदेवका ब्रह्माण्डजटको निगलकर निरुक्त- चिदानन्दधनसे स्थित होना तथा विष्णुजीका उस पाषाण शिलाके अन्य भागमें भी नृत्य जगत्को देखना और पृथ्वीकी धारणाके द्वारा पर्यायव जगत्का भनुभव करना .. .	६०३
४८—पाषाण-शिलाके भीतर उसे हुए ब्रह्माण्डके महाप्रलयका वर्णन तथा ब्रह्माके सकल्यके उपसंहारमें सम्पूर्ण कागजका संहार द्वारा होता है इसका विवेचन .. .	५८८	५८—भीषणिष्ठजीवनके द्वारा जल और देश-तत्त्वकी भरणासे प्राप्त हुए अनुभवका उस्तेज .. .	६०४
४९—ब्रह्मा और कागजकी एकत्राका स्थापन तथा द्वादश सूर्योंके हुदयसे जातके प्रलयका प्रेमाज्ञानी वर्णन .. .	५९०	५९—घरण-द्वारा वायुरूपसे स्थित हुए विष्णुजीका अनुभव .. .	६०५
५०—प्रकृत्यकालके मेघोद्वारा भयानक हुए होनेसे एकार्णवकी ब्रह्म तथा प्रलयानिका जुश जाना .. .	५९२	६०—कुटीमें लैटेनेपर विष्णुजीके अपने जरीरकी बगह एक व्यानस्थ सिद्धका दर्शन, उनके सकल्यकी निवृत्तिसे कुटीका उपसंहार, सिद्धका नीचे गिरना और विष्णुजीसे उसका अपने वैराग्यपूर्ण शीघ्रनका वृत्तान्त जताना .. .	६०७
५१—बहुते हुए एकार्णवका तथा परिवारसहित ब्रह्माके निवृत्तिका वर्णन .. .	५९३	६१—भीषणिष्ठजीवी और सिद्धका आकाशमें अभीष्ट स्थानोंको जाना, विष्णुजीका भनोमय देहसे स्मिदाद लोकोंमें भ्रमण करना, भीषणिष्ठजीवीका अपनी स्व सकल्यताके कारण सबके हातिपथमें आना, व्यवहारपरायण होना तथा 'पर्याय विष्णु' आदि संसाधोंको प्राप्त करना, पाषाणोपाद्यानकी समाप्ति और सबकी चिन्मय ब्रह्मलूपताका प्रतिपादन .. .	६११
५२—ब्रह्मलोकवासियों तथा द्वादश सूर्योंका निर्णय, अहकारभिमानी रुद्रदेवका आविर्भाव, उनके अवध्यों तथा आशुवका विवेचन, उनके द्वारा एकार्णवके बलका पान तथा शून्य ब्रह्माण्डकी चेतनाकाशस्त्रियोंका प्रतिपादन .. .	५९५	६२—परमपदके विषयमें विभिन्न मतवादियोंके कथनकी सत्यताका प्रतिपादन .. .	६१४
५३—रुद्रकी छायालपिण्डी कालरात्रिके स्वरूप तथा ताण्डव-नृत्यका वर्णन .. .	५९७	६३—तत्त्वज्ञानी संतोंके शील-स्वभावका वर्णन तथा मात्रहृका महत्व .. .	६१५
५४—रुद्र और स्त्री आविदेशके रूपमें चिन्मय		६४—सत्तका विवेचन और देहात्मादियोंके गतका निराकरण .. .	६१६
		६५—तत्त्वकी चिन्मात्रस्वपत्ताका निरूपण तथा जानी महात्माके लक्षणोंका वर्णन .. .	६१७
		६६—इस शास्त्रके विचारकी आवश्यकता तथा इससे होनेवाले लाभका प्रतिपादन, वैराग्य	

और आत्मवोधके लिये प्रेरणा तथा चिचारदारा		
बानानको कीण करनेका उपदेश	... ...	६२०
६७—मोक्षके स्वरूप तथा ज्ञान और स्वननकी		
समझाका निरूपण	... ...	६२१
६८—चिदाकाशके स्वरूपका प्रतिपादन तथा		
जगत्की चिदाकाशरूपताका वर्णन	... ...	६२२
६९—एक विपश्चित्के सामनोंका वध, उत्तर		
दिशाके सेनापतिका शयल होकर आना तथा		
शमुखोंके अक्षमसे राजपरिवार और		
प्रलाभे वरवाह	... ...	६२३
७०—राजा विपश्चित्का अपने मस्तककी आड़ुतिसे		
आभिनवेको संतुष्ट करके चार दिव्य रूपोंमें		
प्रकट होना	... ...	६२५
७१—जारी विपश्चितोंका शमुखोंके साथ गुद,		
आगती हुई शमुखेनाका पीछा करते हुए उनका		
समुद्र-तटक जाना	... ...	६२६
७२—विपश्चित्के अनुचरोंका उन्हें आकाश, पर्वत,		
पर्वतीय ग्राम, भेष, कुचे, कौट और कोकिल		
आदिको दिखाकर अप्योक्तियोदारा विशेष		
अभिप्राय सूचित करना	... ...	६२७
७३—सुरेश, भ्रमर और हसविष्यक अन्योक्तियाँ	... ...	६२९
७४—कुण्डे, छालकक, भोर और चातकसे सम्बन्ध		
रखनेवाली अन्योक्तियाँ	... ...	६३२
७५—वासु, ताढ़, पलाश, कनेर, कल्पकृष्ण, बनसली		
और चम्पकननका वर्णन करते हुए सहचरोंका		
महाराजसे राजाभोंकी भेट स्वीकार करके		
उन्हें विभिन्न मण्डलोंकी जासनव्यवस्था		
सौपनेके लिये अनुरोध करना तथा विपश्चितों-		
का अभिनवे वरदान प्राप्त करके हृश्यकी अवित्तम		
सीमा देखनेके लिये उद्घात होना	.. ..	६३३
७६—चारों विपश्चितोंका समुद्रमें प्रवेश और प्रत्येक		
दिशामें उनकी पृथक्-पृथक् यात्राका वर्णन	... ...	६३५
७७—विपश्चितोंके विशारका तथा जीवन्मुक्तोंकी		
सर्वात्मरूप स्थितिका वर्णन	.. ..	६३६
७८—मेरे हुए विपश्चितोंके संसार-भ्रमणका तथा		
उत्तर दिशागमी विपश्चित्के भ्रमणका विशेष		
रूपसे वर्णन	... ...	६३८
७९—दोष द्वे विपश्चितोंके दुचान्तक का वर्णन तथा		
मृगरूपमें श्रीरामचन्द्रजीको प्राप्त हुए एक		
विपश्चित्का राजसमायमें लाया जाना	... ...	६४०

८०—श्रीविष्णुजीके आनंदे उत्पन्न हुई धनियें मृगके		
प्रवेशका तथा उसके विपश्चित्तदेहकी प्राप्तिका		
वर्णन	... ...	६४१
८१—ग्राणियोंकी उत्पत्तिके दो भेद, मच्छरके मृग-		
घोनिसे छूटकर व्याघरसे उत्पन्न होनेपर उसे		
एक मुनिका जानोपदेश	... ...	६४३
८२—पाण्डित्यकी प्रशासा, चित् ही काल है—इसका		
युक्तिपूर्वक समर्थन	... ...	६४५
८३—मुनिका व्याघरके प्रति बहुतसे प्राणियोंको		
एक साथ सुख-खुशकी ग्राप्तिके निरूपण करना	... ...	६४६
८४—मुनिके उपदेशसे आपशानकी प्राप्ति, पूर्वदेहमें		
गमनकी असमर्थताके विवरमें प्रज्ञ ज्ञानेपर देह		
आदिके भस्म होनेके प्रसङ्गमें मुनिके आश्रम और		
दोनों शरीरोंके लड़ने तथा वासुदारा उस अनिके		
शान्त होनेका वर्णन	... ...	६४८
८५—व्याघ और उस मुनिके वार्तालापके प्रसङ्गमें		
जीवन्मुक्त शानीके स्वरूपका वर्णन तथा अभ्यास-		
की प्रशंसा	.. ..	६५०
८६—मुनिके परमपदकी ग्राप्ति, व्याघके महाशब्दका वर्णन,		
अनिका स्वर्गलोक-गमन, भासदारा आत्मक्या-		
का वर्णन तथा बहुतसे आक्षयोंका वर्णन करके		
आत्मतत्त्वका निरूपण	... ...	६५२
८७—एक दशरथका विपश्चित्को पुरस्कार देनेकी		
आज्ञा देते हुए सभाने विसर्वित करना, दूसरे		
दिन सभामें बलिष्ठ जीहारा कथाका आरम्भ,		
ब्रह्मके वर्णनदारा अविद्याके निराकरणके उपाय,		
विदेशियकी प्रांती और इन्द्रियोंपर विजय पाने-		
की युक्तियाँ	... ...	६५४
८८—हृषीगत्की जैतन्यरूपता, अनिवृच्चनीयता,		
असत्ता तथा ब्रह्मसे अभिज्ञाताका प्रतिपादन	... ...	६५७
८९—जीवन्मुक्त तथा परमात्मामे विश्वान्त पुरुषके		
लक्षण तथा आत्मशानीके सुखपूर्वक शयनका कथन	६५८	
९०—जीवन्मुक्तके स्वर्ग नामक मिथ्रके ली, पुनः		
आदि परिवारका परिचय तथा उस मिथ्रके साथ		
रहनेवाले उस महात्मके स्वभावित गुणोंका		
उल्लेख, तत्त्वशानीकी स्थिति, जगत्की ब्रह्मरूपता		
तथा समस्तवादियोंके हारा ब्रह्मके ही प्रति-		
पादनका कथन	... ...	६५९

११—निर्वाच वथवा परमपदका सुख्य, ब्रह्ममें जगत्- की उत्तमता स्थापन, चिदाकाशके ही जगत्सूपसे सुरित होनेवाल कथन, ब्रह्मके उन्मेष और निमेष ही सुष्ठि और प्रात्य हैं, मन जिसमें रस छेता है देख ही भनता है; चिदाकाश अपनेको ही हस्य- सूपसे देखता है तथा अशानसे ही परमात्मामें जगत्की स्थिति प्रतीत होती है—इसका प्रतिपादन	६६१	१०३—कठोरोंके साग और ग्रहणसे कोई प्रयोक्ता न रहते हुए भी शीघ्रनुक पुरुषोंकी स्थापत्तः सत्कर्मोंमें ही प्रवृत्तिका प्रतिपादन	६८०
१२—सुष्ठिकी त्राप्तलभवताका प्रतिपादन	६६२	१०४—स्त्रियों और सभासदोंद्वारा शीघ्रतिष्ठबीको साझु- बाद, देव-गुन्दुमियोंका नाद, दिव्य पुरुषोंकी वर्णा, गुरु-पूजन-महोत्सव, शीदशशब्दी और शीरामबीके द्वारा गुरुदेवका सत्कार, सम्बोध और स्त्रियोंद्वारा पुनः शीघ्रतिष्ठबीकी सुति	६८२
१३—शीरामका कुन्ददन्त नामक ब्राह्मणके आगमनका प्रसङ्ग उपस्थित करना और वसिष्ठबीके पूछनेपर, कुन्ददन्तका अपने संशयकी निवृत्ति तथा तत्त्व- शानकी प्राप्तिको स्वीकार करते हुए अपना अनुभव बताना	६६३	१०५—गुरुके पूछनेपर शीरामचन्द्रबीका पुनः अपनी परमानन्दगमी स्थितिको बताना तथा वसिष्ठबी- का उन्हें कुत्तक्षय कराकर विशामित्रबीकी वाजा पद्म भूमण्डलके पालनके लिये कहना, शीरामद्वारा अपनी कृतार्थताका प्रकाशन	६८५
१४—सब कुछ ब्रह्म है, जगत् बहुता असद् है, वह ब्रह्मका संकल्प होनेसे सबसे भिन्न नहीं है, वीचात्माको अशानके कारण ही जगत्की प्रतीति होती है—इसका प्रतिपादन	६६५	१०६—मध्याह्नकालमें रात्रासे सम्मानित हो सका आवश्यक कृत्यके लिये उठ जाना और दूरे दिन ग्रातःकाल सदके सधामें आनेपर शीरामका गुरुके समक्ष अपनी कृतकृत्या प्रकट करना	६८६
१५—शीरामबीके विविध प्रश्न और शीघ्रतिष्ठबीके द्वारा उनके उत्तर	६६६	१०७—शीघ्रतिष्ठ और शीरामका सदाद, इसका परि- मार्जन, सबकी चिदाकाशरूपताका प्रतिपादन, शीरामका प्रश्न और उसके उत्तरमें शीघ्रतिष्ठ- द्वारा प्रश्निके उपाख्यानका आरम्भ	६८८
१६—अशानसे जगत्का ही जगत्सूपसे भान होता है वास्तवमें जगत्का अस्तनामाव है और एकमात्र ब्रह्म ही विराजमान है, इस तत्त्वका प्रतिपादन	६७२	१०८—यह जगत् ब्रह्मका संकल्प होनेसे ब्रह्म ही है, इसका विवेचन	६८९
१७—शीरामचन्द्रबीके मुख्से बानी महात्माकी स्थिति- का एवं अपने परजापत्यस्त्रपत्तका वर्णन	६७२	१०९—राजा ग्रामितिके प्रश्नोंपर शीघ्रतिष्ठबीका विचार एवं लिङ्गय	६९१
१८—शीरामचन्द्रबीके द्वारा जगत्की असत्ता एवं भूमि ब्रह्म के लिङ्गात्मका प्रतिपादन	६७४	११०—सिद्ध आदिके लोकोंकी संकल्पस्त्रता बताते हुए इस जगत्को भी देखा ही बताना और ब्रह्ममें अहमावका सुरुण ही द्विष्ट्यार्थ है, उसका संकल्प होनेके कारण लिङ्गोंकी भी ब्रह्म ही है इसका प्रतिपादन	६९२
१९—शीरामचन्द्रबीके प्रभके अनुसार उत्तम लोकवी प्राप्तिमें शाश्वत आदि केसे कारण बनते हैं, यह बतानेके लिये शीघ्रतिष्ठबीका उन्हें कीरणे- पाल्यान सुनाना—लकड़ीके लिये किये गये उत्थोगसे कीरणोंका मुख्सी होना	६७६	१११—समालद्वेषका कृतार्थता-प्रकाशन तथा शीघ्रतिष्ठबीकी आज्ञासे महाराज दशरथका ब्राह्मणोंको मोक्षन करना और सात दिनोंतक दान-मालसे सम्पन्न उत्तम भनाना	६९४
१०१—कीरणोपाल्यानके स्पष्टीकरणपूर्वक आत्मशानकी प्राप्तिमें शाश्वत एवं गुरुपदेश आदिको कारण बताना	६७७	११२—शीघ्रतिष्ठबीकी-भृद्वाज-संदादका उपसद्वरः इस ग्रन्थकी महिमा तथा शोतुके लिये दान, भान आदिका उपदेश	६९६
१०२—शीघ्रतिष्ठबीके द्वारा समता एवं समर्दिताकी भूरि-भूरि प्रश्नांता	६७८		

११३-अरिष्टनेमि, सुशन्ति, कारुण्य तथा सुतीष्ण-  
की कृतकृत्यताका प्रकाशन, शिर्जोंका  
गुरुर्वनोंके प्रति आलमनिवेदन तथा ब्रह्मके एवं  
ब्रह्मभूत वसिष्ठजीके नमस्कार

... ६९७

१३-क्षमा प्रार्थना और नम निवेदन  
( हनुमानप्रसाद पोद्धार चिभमनछाल  
गोसामी ) ... ... ... ... ६९९

१४-जीवन्मुक्तका सरूप और आचार (कविता) ... ७००

## चित्र-सूची

### सादे

१-तीर्थयात्रासे लौटनेपर श्रीरमचन्द्रजीका स्वागत ( प्रसंग वैराग्य-प्रकरण सर्ग ४ )	... ४८
२-सुखचि और देवदूत ( प्रांग वैराग्य-प्रकरण सर्ग १ )	... ... ११२
३-राजा सिंहुका राज्याभिषेक ( प्रसंग उत्पत्ति- प्रकरण सर्ग ५१ )	... ... १७६
४-दोनों लीलाओंके साथ राजा पद्मका राज्याभिषेक ( प्रसंग उत्पत्ति-प्रकरण सर्ग ५१ )	... २८०
५-जनकका समालूपी जाड़ीमें छिपे सिंहोंके गीत- अवण ( प्रसंग उपशम-प्रकरण सर्ग ८ )	... ३३६
६-श्रीरामारामें शैषणशब्दापर विश्वामित्रका राजा दशरथद्वारा ध्यातकी शितिके देखना ( प्रसंग उपशम- प्रकरण सर्ग ६८ )	... ... ४१६
७-भगवानुके द्वारा प्रह्लादका अभिषेक ( प्रसंग उपशम-प्रकरण सर्ग ४१ )	... ४८०
८-शैषणनागपर भगवान् विष्णु, स्वर्गमें इन्द्र और पातालमें प्रह्लाद ( प्रसंग उपशम-प्रकरण सर्ग ४२ )	५४८
९-राजा बहु और शुक्राचार्य ( प्रसंग उपशम- प्रकरण सर्ग ४५-४६ )	... ... ६१२
१०-गार्वों और विद्याधरियोंके द्वारा भीगोंका ग्रहोभन देनेपर भी उद्दालकका उनकी ओर ध्यान न देना ( प्रसंग उपशम-प्रकरण सर्ग ५४ )	६८२

### रेखा-चित्र

१-वसिष्ठजीके द्वारा शानोपदेश	... १
२-अगस्तिहारा सुतीष्ण ब्राह्मणते मोहके कारणका प्रतिपादन	... ... १७
३-अनिवेश्यका अपने उदास पुन कारण्यको समझाना	... ... १८
४-चाल्मीकिके व्याख्यपर देवदूतके साथ राजा अरिष्टनेमिका बाना और उनसे संसार-धन्धनके दुःखकी पीड़ासे छूटनेका उपाय पूछना	... २०
५-मेषपर्वतपर भरहालकी छोक-भत्तामह ब्रह्मसे वर-न्याचना	... ... २१

६-राजा दशरथसे श्रीरामद्वारा तीर्थयात्राके लिये आशा मॉगना	... ... २४
७-तीर्थयात्रासे लौटे हुए श्रीरामका राजसमाजमें आशा	... ... ... २५
८-श्रीरामकी विजयाके सम्बन्धमें राजा दशरथका श्रीविष्णुसे प्रश्न	... २६
९-मुनिभेष्ठ विश्वामित्रका राजा दशरथद्वारा ठोकीपर खागत	... ... २७
१०-विश्वामित्रका रोष	... ... ३०
११-विश्वामित्रको वसिष्ठका समझाना	... ३१
१२-श्रीरामके सेवकका राज्याभासमें आना	... ३२
१३-श्रीरामका पिता दशरथके चरणमें प्रणाम करना	... ... ३४
१४-श्रीरामका अपने भाइयोंसहित पूर्खीपर आपन श्रहण करना	... ... ३४
१५-श्रीरामकी धास्य, शुदा और हुदावस्था	... ५६
१६-विश्वामित्रका श्रीरामको तत्त्वज्ञान-सम्पद वापते हुए उनके सामने शुकदेवजीका हृत्यान्त उपस्थित करना	... ६५
१७-मेषगिरिपर एकान्तमें बैठे शुकदेवको आत्मजानी व्यासद्वारा उपवेश	... ६६
१८-राजा जनकके अन्तःपुरमें शुकदेवका शुवतियों- के द्वारा सकार	... ... ६६
१९-विश्वामित्रजीका वसिष्ठजीसे श्रीरामको उपदेश देनेका अनुरोध	... ६८
२०-अपने पिता ब्रह्माजीसे उत्तम होते ही वसिष्ठजीका अभिशत होना	... ७८
२१-ब्रह्माजीकी सुनकारिको और नारदको मारतवर्षमें जाकर वहेंके विवासियोंका उद्धार करनेकी प्रेरणा	... ... ७९
२२-वसिष्ठजीके द्वारा राजा पद और उनकी	... ८१

पंजी लीलाका उपस्थिति-कथन	... ११५	लीलाका सरस्वतीके साथ आकाशगंगारी राजा-द्वारा उपस्थिति किया गया तंगाम-हस्त देखना १३८
२३—रानी लीलाद्वारा विद्वान्, शानी और अमरस्त्र-ग्रासिक्ष साक्ष पूछा जाना ... ११६	४०—लीला और सरस्वतीका आकाशमें विमानपर स्थित होकर युद्धका अवधारण करना ... १३९	
२४—लीलाद्वारा सरस्वती देवीकी आराधना ... ११७	४१—युद्धका बंद होना ... १४४	
२५—अन्तःपुरमें मृतपति के शवके सम्मुख विदेश-विहृत रानी लीला ... ११८	४२—राजा विद्युत्यके शशनामारमें गवाहकरन्त्वसे लीला और सरस्वतीका प्रवेश ... १४४	
२६—सरस्वतीका आकाशगंगारीके रूपमें पतिके शवको फूलसे ढकनेका लीलाको आदेश देना ११८	४३—राजा पश्चके भवनमें सरस्वती और लीलाका प्रवेश और राजाद्वारा उनका दूजन ... १४६	
२७—आधी रातके समय लीलाके आवाहनपर सरस्वतीका प्रकट होकर उसे दर्शन देना ... ११९	४४—राजा पश्चका सरस्वतीसे अपने जीवनके अनेक तृत्तान्तोंके सारणका कारण पूछना ... १४७	
२८—निर्विकल्प समाधिद्वारा रानी लीलाका राज्य प्राप्तादके आकाशमें सिंहासनालीन राजा पश्चका देखा जाना ... ११९	४५—राजा विद्युत्यद्वारा युद्धकी प्रज्ञानिमें भव्य नगरमें श्रस्त प्राणियोंका कल्पनन्दन भव्य ... १५१	
२९—आकाशस्वरूपा लीलाद्वारा समाधि-अवस्थामें आकाशगंगारी प्राप्तसमाप्तमें पतिके बासनामय स्वरूप और राजसैभवका दर्शन ... १२०	४६—लीला और सरस्वतीसे आदेश लेकर राजा विद्युत्यका युद्धके लिये प्रसान ... १५१	
३०—लीलाका सरस्वतीसे कृतिम और अकृतिम सुहितेके विषयमें पूछना और सरस्वतीद्वारा एक ग्राहण-सम्पत्तिके जीवन-तृत्तान्तका निरूपण ... १२१	४७—द्वितीय लीलाकी सरस्वती देवीसे वर याचना ... १५३	
३१—वरिष्ठनाम-धारी ग्राहणका पर्वतशिवरप्त बैठकर एक राजको सपत्निवार विकार खेलनेकी इच्छासे आते देखकर निचारमग्र होना ... १२२	४८—युद्धस्थलमें परामित राजा विद्युत्यके गलेपर राजा सिन्धुका अस्त्रप्रहार और विद्युत्यका रथचाहित राजघासादमें प्रवेश ... १५८	
३२—विष्णु नामधारी नाशणकी पंजी अकृत्यती-की सरस्वती-आराधना और पतिके अमरस्त्र-सम्बन्धी धरकी ग्राति ... १२३	४९—लीलाका अपने बासनामय शरीरसे पति पश्चसे मिलनेके लिये आकाशगंगासे कपर आना और माझमें सरस्वतीद्वारा प्रेषित अपनी कल्यासे मिलना ... १६१	
३३—विष्णुहनसधारी ग्राहणकी विलोक्यित्यी नरेण-पदकी ग्राति ... १२४	५०—लीलाका अपने मृतपति पश्चका मुख देखना और अपनी प्रतिभाके प्रभावसे इस सत्पको उमड़ाना कि संग्राममें राजा सिन्धुद्वारा गरे गये ये मेरे पति ही हैं ... १६२	
३४—रानी लीला और सरस्वतीका संवाद ... १२४	५१—संकल्परूपिणी देखियाँ लीला और सरस्वतीका जीवत्तमाके साथ राजा पश्चके नगरमें प्रवेश ... १६८	
३५—स्त्रीकाम और सत्यकंकल्पसे युक्त लीला और सरस्वती देवीका ज्वेष्टशर्मा आदिको साधारण जीके रूपमें दर्शन ... १२५	५२—लीला और सरस्वतीद्वारा शबमण्डपमें राजा विद्युत्यकी शवशम्पाके पार्वत्यागमें स्थित लीलाका देखा जाना जो पहले शुल्कोंप्राप्त हो चुकी थी और पहले ही बहाँ आ गयी थी ... १६९	
३६—लीला और सरस्वतीका आकाशमें अमण ... १२६	५३—राजा पश्चकी सरस्वतीसे अभीष्ट धरकी ग्राति ... १७३	
३७—लीलाका सरस्वतीसे अपने पूर्वजन्मके तृत्तान्तका निरूपण ... १२४	५४—वालीकि और मरदाब ... २४९	
३८—लीलाका गृहमण्डपमें प्रवेश कर सरस्वतीके साथ आकाशमें उड़ जाना ... १२५	५५—राजा दशरथका सुनिस्तुदायका सत्कारकर उनसे विदा लेना ... २५०	
३९—जन्मद्वीपमें भारतवर्षमें अपने पतिके राज्यमें		

५६—विंडीद्वारा पञ्चमहायश-अनुष्ठानका सम्पादन २५०	७४—शुक्राचार्यद्वारा बलिके समाधि-अवस्थाते न ठडनेतककी अवधिमें कार्य करनेका दानबोंको आदेश *** *** *** २८०
५७—भीराम, राजा दशरथ तथा विंडी आदिके द्वारा द्राक्षर्णोंके गौ, सूर्य, तिळ, सुवर्ण, शश्वा, आसन, घोष और बत्तन आदिका दान *** २५१	७५—सनुष्म, नागराज, ग्रह, देवकुन्त, पर्वत और दिवपाल तथा बन-बीबोंका यथास्थान गमन *** २८०
५८—भीरामद्वारा विष्णु, शंकर अग्नि और सूर्य आदि देवताओंका पूजन *** *** २५१	७६—समाधिसे जगनेपर देत्यराज बलिका अस्मेष- अनुष्ठान *** *** *** २८१
५९—विंडीबीको उनके निवासस्थानपर अपना कन्चा छुकाकर भीरामका ग्रणाम करना *** २५१	७७—भीहरिद्वारा पैरोंसे चिलोको नापना और बलिको वैभव-भोगसे बक्षित करना *** २८२
६०—विश्वामित्र तथा अन्य मुनियोंके ताथ रथपर आरुद होकर विंडीबीका गाजा दशरथकी समामें प्रवेश *** *** *** २५२	७८—ग्रहादद्वारा भगवान् विष्णुकी मानसिक एवं वाहापूजा *** *** *** २८३
६१—राजा जनकका अपने केंचे महलपर चढ़कर एकान्तमें स्थित होकर संसारकी नक्षत्रता और आत्माके विवेक-विज्ञानको सृचित करनेवाले अनेक आन्तरिक उद्धार और निष्पत्य ग्रन्थ करना *** *** *** २५७	७९—इन्द्र आदि देवता और भूखंडोंका शीर- सागरमें शेपनागकी शश्वात् विराजमान भगवान् श्रीहरिके पास गमन *** २८४
६२—राजा जनकद्वारा संसारकी विचित्र स्थितिपर विचार *** *** *** २६०	८०—ग्रहादद्वारा पूज्यगृहमें ग्रत्यक्ष विराजमान भगवान् श्रीहरिका रुचन *** *** २८५
६३—राजा जनककी जीवन्मुक्तरमें स्थिति *** २६१	८१—ग्रहादका आत्मचिन्तन *** *** २८६
६४—दीर्घतमा मुनिका अपनी जी तथा दोनों पुत्र पुण्य और पापनके साथ अपने गङ्गासंदीय आश्रममें निवास *** *** २६९	८२—पातालमें आत्मचिन्तनलीन ग्रहादके समाधिसे ज्ञानेका प्रयत्न *** *** २९३
६५—दीर्घतपाका शरीर-स्थान *** *** २६९	८३—उद्धालक मुनिका परमार्थ-किन्तन *** १०१
६६—माता-पिताका और्वदेहिक कर्म समाप्तकर पुण्यकर अपने शोकाकुल बन्धु पाकनके पाल आगमन *** २७०	८४—उद्धालक मुनिका गन्धमादन पर्वतकी रसीय गुहामें प्रविष्ट होकर निर्विकल्प समाधिमें स्थित होनेका प्रयत्न *** *** १०२
६७—पुण्यके समाप्तानेपर पाकनके उस्तुद बोधकी प्राप्ति और दोनोंका बन-प्रदेशमें विचरण *** २७१	८५—महर्षि माण्डव्यका किंत्रराज सुखुके महलमें पवारना *** *** १११
६८—दैत्यराज बलि *** *** २७२	८६—सुखद्वारा परमपदकी प्राप्ति *** *** ११४
६९—राजा बलिके अन्तर्करणमें वैराग्य एवं विचार- का उदय *** *** २७३	८७—किंत्रराज सुखु और रावणी पर्णादका संवाद ११५
७०—विंदेचनका बलिको भोगोंसे वैराग्य तथा विचारपूर्वक परमात्मसाक्षात्कारके लिये उपदेश २७४	८८—पिताओंकी और्वदेहिक जियाकी समाप्तिके पश्चात् भास और बिलालका विलाप *** १२१
७१—शुक्राचार्यका ग्रहसमुदायसे भरे व्याकरण-मार्गसे देवलोकके लिये ग्रस्तान ३०० २७८	८९—वृद्धावस्थाको प्रात् भास और विलासकी परस्पर मैट *** *** १२२
७२—दैत्यराज बलिका समाधिस्थ होना *** २७९	९०—दीर्घतमा मुनिका एकाग्रताकी सिद्धिके लिये इन्द्रिय और मनको बोधित करना *** १४९
७३—समाधिमें मन दैत्यराज बलिके दर्शनके लिये असुरों आदिका आगमन *** *** २७९	९१—दीर्घतमा महामुनिकी समाधि *** १४८
	९२—महामुनि दीर्घतमी उँचाकरकी अस्तिम मात्राका अवलम्बनकर परमात्मप्राप्तिस्थंग मुक्ता- वसाका निरूपण *** *** १५१
	९३—दैत्यराजकी समागमे मुनिवर आतातपद्मारा

वायसराव भुशुप्पकी कथाका वृत्तान्वयन... <sup>००</sup>	३७६	दिनोंतक सोब करनेवाले किराटके चिन्हामणिकी ग्रासि	...	...	४४९	
१४—वसिष्ठजीका भुशुप्पके निवास-स्थान मेहरिपिर बाना	...	...	३७७	११५—राजा शिखिष्वजी की बढ़ती वैराग्य-मुसि	...	४५०
१५—वसिष्ठजी और भुशुप्पका संवाद—कुल-आषु आदिके सम्बन्धमें	...	...	३७८	११६—राजा शिखिष्वजी चूडालासे अपने वैराग्य-कथन	...	४५१
१६—वसिष्ठजीके सम्मुख तुगुणद्वारा महादेवजीके रूप और मातृकाभौमक वर्णन	...	३७९	११७—राजा शिखिष्वजीका यह-स्थान...	...	४५२	
१७—मातृकाभौमके महोत्तरमें ब्राह्मी देवीके रथमें चुनानेवाली हसियों और अमृतादेवीके बाहन चण्ड नामक कौपका वृत्त	...	३८०	११८—चूडालाका आकाश-मार्गसे उड़ाकर अपने परिका अन्वेषण	...	४५४	
१८—उमाधिसे विरत होनेपर ब्राह्मीदेवीकी अपनी माता हसियोंके साथ भुशुप्प आदिशरा आराधना	...	३८०	११९—आकाशकुमारके रूपमें चूडालाका शिखिष्वजीद्वारा पूजन-सकार	...	४५५	
१९—वसिष्ठजीसे भुशुप्पका भेदभावतपर कल्पहुक्की शास्त्रमें स्थित अपने बोचलेका वर्णन करना...	३८१	१२०—राजा शिखिष्वजी देवपुत्रके वैषमें चूडालासे बातचीत	...	४५६		
२००—भुशुप्पद्वारा वसिष्ठज्ञ पूजन और आकाश- मार्गसे गमन	...	३८१	१२१—कुम्म ( चूडाला ) की बात मुनकर सर्वस- त्वागके लिये उथत शिखिष्वज	...	४५६	
२०१—कैलास पर्वतपर गङ्गातटस्य आधमसमें तप करते हुए वसिष्ठजीको पार्वतीबीसहित मातान् महादेवजीका दर्शन	...	३८२	१२२—कुम्म ( चूडाला ) के अन्तर्हित हो जानेपर राजा शिखिष्वजीका विचार	...	४५७	
२०२—वसिष्ठजीद्वारा भावान् नीलकण्ठ शक्तिको पुष्पाक्षुलि-समर्पण	...	३८३	१२३—कुम्मके वैषमें चूडालाका कन्तुलीमें उड़ाकर निर्विकल्प समाधिमें स्थित राजा शिखिष्वजीको देखना	...	४५८	
२०३—बेताळ और राजा का संवाद	...	३८३	१२४—राजा शिखिष्वजीपर कुम्मसे पुष्पाक्षुलि- उपरेक्षा	...	४५९	
२०४—अपने हुए पितलके साथ राजा मगीरथकी बातचीत	...	३८४	१२५—सहेजपर्वतपर अग्निके सास्त्रमें भद्रनिका ( चूडाला ) और शिखिष्वजीका विचार	...	४६०	
२०५—राजा मगीरथका सर्वस-स्थान...	...	३८५	१२६—चूडालाद्वारा शिखिष्वजीकी परीक्षाके हेतु अपनी मध्याके बलसे बनस्तुलीमें देवगणों और अपन्नाओंके साथ एवरे हुए इन्द्रके उन्हें दिलाना और राजा शिखिष्वजीद्वारा देवराजकी विधिवत् पूजा	...	४६१	
२०६—राजा मगीरथका अन्य देशमें विद्यान उत्तम नगरमें राज्याभियेक	...	३८६	१२७—चूडालाका भद्रनिका वैषमें ही अपने अपली रूपमें ग्राकृद्य और राजा शिखिष्वजीका आस्वर्यचकित होना	...	४६२	
२०७—सूतलपर गङ्गालीके लानेके लिये राजा मगीरथकी उपस्था	...	३८७	१२८—अपनी पली चूडालाको देखकर राजा शिखिष्वजीका प्रश्न होना	...	४६३	
२०८—चूडालपर गङ्गालीके लानेके लिये राजा शिखिष्वजी उपस्था	...	३८८	१२९—चूडालसहित शिखिष्वजीका अपने नगरमें प्रवेश और स्थान	...	४६४	
२०९—राजा शिखिष्वजी और चूडालाका विचार	...	३८८	१३०—कृचका अपने पिता वृद्धतिसे बीवन्मुक्तिके विषयमें प्रश्न करना	...	४६५	
२१०—राजा शिखिष्वजीद्वारा चूडालके रूप-सौन्दर्य- की प्रवृत्ति	...	३८९	१३१—वसिष्ठजीद्वारा मृदुबुद्धि आत्मशानद्वय	...	४६६	
२११—चूडालकी सिन्नता	...	३९०				
२१२—चूडालका एकान्तमें योगात्मास	...	३९१				
२१३—चूडालकी योगसिद्धि	...	३९१				
२१४—चिन्ध्याक्षलके जगाली प्रदेशमें पक्ष कौड़ीकी दीन						

चिरजीव पुरुषके सरणके विषयमें मुश्याष्टसे		और मंडिका समागम सथा संबाद	... ५३४
प्रज्ञन	... ... ५२०	१३५—मुन्दरी लीदारा अपनी स्त्री को सुनकर	
१३२—विद्याधरकी मुश्याष्टसे पावनपदविशयक		वसिष्ठजीका उत्तर रमणीकी उपेक्षा करना ... ५७५	
उपदेश देनेकी प्रार्थना	... ... ५२०	१३६—विद्याधरीके पूछनेपर विद्याधरीके द्वारा अपने	
१३३—मुश्याष्टके उपदेशसे विद्याधरकी समाधि	... ५२७	लीबन-मुत्तान्तकम् वर्णन ... ... ५७९	
१३४—मरमूमिके मार्गमें मिले हुए महर्षि वसिष्ठ			

---

### ‘कल्याण’के पंद्रहवर्षीय ग्राहक भी बनाये जाते हैं

पंद्रहवर्षीय सदस्यता-मुल्क रु ५००.०० (समिल्द विशेषाघूका रु ६००.००) है। इस योजनाके अन्तर्गत फर्म, प्रतिष्ठान आदि सम्बन्धित ग्राहक भी बन सकते हैं। अगवददस्तोके प्रधार-प्रसारके ‘कल्याण’-प्रैगी सभी सम्बन्ध स्थय ग्राहक बने एवं अपने हङ्ग-मित्रोंको भी प्रोत्साहित कर अधिकाधिक सदस्यमें ग्राहक बनाकर इस योजनासे लाभ उठायें।

—व्यवस्थापक—‘कल्याण’

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिद् पूर्णात् पूर्णमुद्भवते । पूर्णस्य पूर्णमादा



यतः सर्वाणि भूतानि प्रतिभान्ति लितानि च । यत्रैवोपज्ञम् यान्ति  
यत्सर्वं खलिवदं ब्रह्म तजलानिति च स्फुटम् । अन्त्वा हुदीयते स

वर्ष ३५ } गोरखपुर, सौर माघ २०१७, जनवरी १९६४

### महर्षि वसिष्ठजीको नमस्कार

प्राप्ताक्षरं परमसुखदं केवलं शानमूर्ति  
दृग्भातीर्थं गतानसप्तां तत्त्वमस्ताचिद्व्यवस् ।  
एषं नित्यं विमलमचकं सर्वधीसक्षिमूर्तं  
भावातीर्थं विगुणरहितं अविविष्टं नताः स ॥  
—सुदीश ( निं० प्र० ड० २१६ । २६ )

भगवान्

आत्मत्वविनियोगी  
सम्पीडिति  
स्वयो  
स्त्रीकाण्डिति

## योगवासिष्ठमें भगवान् श्रीरामके स्वरूप तथा माहात्म्यका प्रतिपादन

महर्षि वसिष्ठकी प्रेरणासे दशरथके दशरथमें समस्त विश्वरूपवान् हैं। यही भगवान् इन विश्वों अपने सकलसे भगवान् श्रीरामके स्वरूपका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

अन्नैव कुरु विश्वासमयं स पुरुषः परः ।  
विश्वार्थमधिवाम्भोदिगाम्भीरागमगोचरः ॥  
परिपूर्णपरामन्दः समः श्रीवस्त्राम्भुगः ।  
सर्वेयां प्राणिनां रामः प्रदाता सुप्रसाकृतः ॥  
अथं निहितं कुपितः स्वत्यथमस्तस्तक्तन् ।  
विश्वादिविश्वजनको धाता भर्ता महासत्तः ॥

( निः प्र० पूर्वार्ध १२८ । ८१-८३ )

सबनो ! आप सब लोग यह विश्वाम कीकिये कि ये श्रीरामचन्द्रकी ही परम पुरुष परमात्मा हैं। इन्होंने ही विश्वहितके लिये विष्णुरूपसे क्षीरसागरका भन्धन किया था। गम्भीर रहस्यसे भरे उपनिषदादि शास्त्रोंके सत्त्वगोचर भाषात् परब्रह्म ये ही हैं। परिपूर्ण परमानन्द, सम-स्वरूप, श्रीवत्सके चिह्नसे मुश्किल भगवान् श्रीरामचन्द्र जब भलीमोत्ति प्रसन्न हो जाते हैं, तब अपनी हृषिकेसे सर्व्यां प्राणियोंको गोक्ष प्रदान कर देते हैं। यही भगवान् श्रीरामचन्द्री कुपित होकर रक्षरूपसे जगत्का सहार करते हैं, यही ब्रह्मारूपसे इन विनाशी जगत्का सुखन करते हैं। यही विश्वके आदि, विश्वके उत्पादक, विश्वके भाता, पालनकर्ता और महान् सखा भी हैं।

अथं श्रीमत्योऽप्य देवद्वैगुण्यगच्छातिगः ।  
जगत्यज्ञरूपं षड्भिर्देवाभ्या पुरुषोऽनुतः ॥  
अथं चतुर्भावुरूपं विश्वसहा चातुर्दुर्लः ।  
अथमेव महादेवः संहर्ता च शिलोचनः ॥  
अजोऽर्थं जायते योगान्वागारुकः सदा महान् ।  
विभित्ति भगवानेतद्विद्वर्ती विश्वरूपवाम् ॥

( निः प्र० पूर्वार्ध १२८ । ८६-८८ )

यही भगवान् श्रीराम श्रुक्यज्ञुसामवेदमय हैं, तीनों गुणोंसे अतीत अतिगहन यही है और छः अझोंसे सुक वेदात्मा अद्भुत पुरुष मी यही है। विश्वका पालन करनेवाले चतुर्मुख विष्णु यही है, विश्वके सहा चतुर्मुख ब्रह्म यही है और समस्त विश्वका संहार करनेवाले विलोचन भगवान् महादेव मी यही है। ये अजन्मा रहते हुए ही अपनी योग-माया—लीलाते अवतार लेते हैं, ये उर्धवा सबसे महान् हैं, ये सदा जागते रहते हैं, विगुणात्मकरूपसे रहित हुए भी ये

विश्वरूपवान् हैं। यही भगवान् इन विश्वों अपने सकलसे धारण करते हैं।

अयं दशरथो धन्या सुतो यस परः पुमान् ।  
धन्यः स दशकण्ठोऽपि विश्वविश्वेन योऽमृता ॥  
राम इत्यवत्सीर्णेऽभ्यर्थवान्तःक्षणः पुमान् ।  
चिद्रामन्दद्वनो रामः परमात्मायमन्धथ ॥  
निरुहीतेभित्रयश्चामा रामं आनन्दित योगिनः ।  
वयं स्ववरमेवात्म रूपं रूपयितुं क्षमाः ॥

( निर्वाण-ग्रन्थरूप पूर्वार्ध १२८ । ९०, ९२, ९३ )

ये महाराज दशरथ धन्य हैं, जिनके पुत्र परमपुरुष परमात्मा स्वयं हुए। यह दशकण्ठ रावण भी धन्य है, जिसका ये भगवान् अपने विच्छिन्नता करते हैं। श्रीरामागरमें अयन करनेवाले श्रीविष्णु भगवान् ही श्रीरामचन्द्रके रूपमें अवतीर्ण हैं। ये श्रीराम साक्षात् सचिदानन्दद्वन अविनाशी परमात्मा हैं। भन इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त किये हुए योगीजन ही इन श्रीरामजीको यथार्थरूपमें जानते हैं। हमलोग तो इनके बाहरी स्वरूपके निरूपणकी ही अमरा रखते हैं।

इसके पहले भगवान् विश्वामित्रजीने भगवान् श्रीरामकी भावी लीलाओंका वर्णन करते हुए समस्त श्रूप-सुनि, लिङ्ग-देवताओंसे वर्णेतक कह दिया था—

यैर्द्वौ चापि यैः स्मृतो वोचितस्तु यैः ।

सर्वावस्थावातामां तु जीवस्मुक्ति प्रदास्यति ॥

×      ×      ×

अनेन रामकन्द्रेण मुख्येण महात्मना ।

नमोऽस्मै जितमेवैते कोऽप्येवं विरमेष्वताम् ॥

( निर्वाण-ग्रन्थरूप पूर्वार्ध १२८ । ७४-७६ )

बो लोग भगवान् श्रीरामका दर्जन करेंगे, उनके लीला-चरित्रका सरण या अवण करेंगे और जो लोग इनके स्वरूप तथा लीलाचरित्रोंका परस्पर बोध करायेंगे, उन सम्मूर्खताओंमें शित पुरुषोंको भगवान् श्रीराम वीक्ष्मुक्ति प्रदान करेंगे।

×      ×      ×

सबनो ! आप सब लोग इन भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको नमस्कार कीजिये। इनके नमस्कारसे ही आपलोग अनावास ही समस्त अज्ञानजनित जगत्पर विजय प्राप्त करेंगे। किसी भी दूसरे साधनकी धावश्यकता नहीं होगी। आपलोग चिरकालतक प्रगति करें !

## कल्याण

याद रखो—मैं, हम, वह, उहि, लहर आदि सुपसे यो हृष्यप्रक्ष दिखायी दे रहा है, वह एकमात्र अद्वितीय नित्य नियंत्रण शान्त चिन्मय ब्रह्मकी ही अभिव्यक्ति है। इन समस्त सत्-रूपसे दीखनेवाले असत् पदार्थोंमें एकमात्र लक् परमात्मा ही प्रकट है। वह सचिदानन्दधन ब्रह्म ही यह सम्पूर्ण जगत् है। उसके अतिरिक्त जगत् नामकी कोई सत् वस्तु कमी न थी, न है।

याद रखो—आकाशकी शून्यता आकाश ही है, जलकी जलता जल ही है, प्रकाशकी आमा प्रकाश ही है, वायुका स्पन्दन वायु ही है, समुद्रकी तरहें समुद्र ही हैं, वर्षकी दीतलता वर्ष ही है, काढ़की कालिमा काढ़ ही है—ठीक ऐसे ही ऐसे ब्रह्ममें दीखनेवाला यह समस्त जगत् भी ब्रह्म ही है।

याद रखो—जैसे स्वर्णमें दीखनेवाले हृष्य, वालकमें दीखनेवाले वेताल, रस्तुमें दीखनेवाला सर्प, स्वर्णमें दीखनेवाले कड़े-बाजूबद, प्रशान्त महासागरमें उठनेवाली तरहें और व्याघरी, मिट्टीमें दीखनेवाले छड़े-मिट्टेरे और आकाशमें दीखनेवाले नगर-धर आदि सब उपाधिमात्र हैं, अममात्र हैं। ऐसे ही ब्रह्ममें दीखनेवाला यह सम्पूर्ण जगत् भ्रममात्र है। वस्तुतः उसकी कोई भिन्न भवा है ही नहीं।

याद रखो—यह समस्त जगत् वस्तुतः ज्ञानिते ही जगद्गूप दीखता है। यथार्थ तत्त्वका आन होनेपर यह जगद्गूप ऐसे ही नष्ट हो जाता है ऐसे रस्तीका शान होनेपर सर्वकी भ्रान्ति नष्ट हो जाती है। अथवा आकार तथा नामकी व्यावहारिक विभिन्नता प्रतीत होते हुए भी ऐसे स्वर्णका शान होनेपर सर्व-भूणोंके नाम-रूपके कारण होनेवाली विभिन्नता तथा भिन्नरूपता नष्ट हो जाती है—एकमात्र स्वर्ण ही दीखने लगता है, ऐसे ही ब्रह्मका शान होनेपर विभिन्न नामरूपरूपक यह विशाल विश्व ब्रह्मरूप ही दीखने लगता है, कहीं भी कोई भिन्न सत्ता रहती ही नहीं।

ब्राह्ममें तो सचिदानन्दधन परमात्माके अतिरिक्त और कुछ ही ही नहीं।

याद रखो—यह समक्षा हृष्य जगत् तथा इसमें होनेवाली सभी जित्याएँ सचिदानन्दधन ब्रह्मका ही सकल है। वह ब्रह्म भी ब्रह्म ही है। ब्रह्म जगत्का कारण नहीं है; क्योंकि जगत्-लक्षी कार्य सर्वथा असत् ही है। नित्य सत्य ब्रह्मसे अनित्य असत् जगत्-लक्षी उत्पत्ति, नित्य निरतिग्राम दिव्य परमानन्दधन परमात्मासे दुःखपूर्ण जगत्-की उत्पत्ति, प्रकाशमय परब्रह्मसे तमोमय जगत्-की उत्पत्ति सम्भव ही नहीं। अतएव वह तथा जगत्-में कारण-कार्यभाव नहीं है, ब्रह्म ही जगत्-रूपमें भासित हो रहा है। उस सचिदानन्दधनमें ही विद्याकाशसे यह सब सेल हो रहे हैं। उसके अतिरिक्त अन्य कुछ ही नहीं।

याद रखो—जब एक ब्रह्मके अतिरिक्त कोई सत्ता ही नहीं रह जाती, तब भिन्न अहकार कहों रहेगा और अहकारका अमाव होते ही राग-द्वैष, ममता-मोह, मेरा-तेरा आदि सभ यित्या विकार मिट जाते हैं ऐसे स्वर्णसे शागसे ही स्वर्णका लाला सत्तार सर्वथा मिट जाता है। फिर जगत्-में रहता हुआ भी हस शानको प्राप्त जीवमुक्त पुरुष नित्य निरन्तर ब्रह्ममें ही स्थित रहता है। वह जगत्-के आदि, मध्य, अन्त सभी अवस्थाओंमें समाचित्त रहता है; क्योंकि तथा उसका वित्त ही नहीं रह जाता। अतएव वह न तो प्राप्त हुई प्रिय कालानेवाली वस्तुका अभिनन्दन करता है, न अभिप्तसे द्वैष करता है, न नष्ट हुई प्रिय वस्तुके लिये योक करता है और न अग्रात वस्तुकी इच्छा ही करता है।

याद रखो—ऐसा परमतत्त्वको प्राप्त—परमस्वरूपमें अभिन्नभाषसे स्थित पुरुष जगत्-की धरणभेदग्र अशस्याको अग्नी प्रशान्त त्रासी स्थितिके असर हैन्ता हुआ देखता है। उसके लिये न कुछ पाना होश रह जाता है, न कुछ करना रह जाता है। वह सर्वव्यापी परब्रह्म परमात्मस्वरूप ही बन जाता है यही योग्यासिष्ठकी डिक्षा है।

‘यित्र’

## एकश्लोकी योगवासिष्ठ

( लेखक—तत्त्वनिन्दक म्यामीडी भीमनिरुद्धाचार्यजी वैकटाचार्यजी महाराज )

एक बार भगवान् रामने महर्षि वसिष्ठने पृथा कि सार्थक एव मफल दीवनकाले मानवकी पहचान क्या है ? इसके उत्तरमें रघुकृलगुरु ब्रह्मणिष्ठ ब्रह्मर्पि वसिष्ठने जो अल्पाक्षरा किंतु अर्थवहूला, एकश्लोकी वाणी, जिसमें ‘चौंजे शुभमित्र’ यारा योगवासिष्ठ<sup>३</sup> भरा हुआ है, समुच्चारित की थी, वह सचमुच गागरमें सागरकी तरह योगवासिष्ठज्ञा समग्र उपादेय तत्त्व निचोड़कर एक भ्रोकंपे भर डेती है। महर्षि-प्रवरकी अर्थ-भावती वह वाणी इस प्रकार है—

तत्त्वोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति सूर्यपक्षिणः ।

स जीवति अनो यस्य मननेनोपकीवति ॥

( योगवासिष्ठ )

महर्षि वसिष्ठका अनुभूत कथन है कि जीवनतत्त्व, ( प्राणशक्ति ) जिसे ‘वैशेषिकदर्ढन’ ने ‘सूर्याकर्म त्वसद्विजिष्टाना लिङ्गम्’ इस सूश्रद्धाया ‘अच्यात्म वास्तु’ और सार्थने ‘सामान्यकरणशृण्यिः प्राणाद्या वायवः पञ्च’ कहकर ‘अन्तः-करण-क्षिया’ की सज्जा दी है, मानव, पशु-पक्षी आदि सबमें साधारणतया समान है। किंतु मनुष्यको मुगादि पशु-पक्षियोंसे विभक्तकर उपर्योगीमें समासीन करनेवाली मनन-शक्ति ही

है, जिसके विकसित होनेपर ही ग्रामी ‘मानव’ कहला सकता है। महर्षि यास्तकने भी निरुक्तमें ‘पत्ता कर्माणि सीम्यन्ति इति मनुष्यः’ कहकर वासिष्ठी उक्तिका समर्थन किया है।

वेदके मतमें जीवनका अर्थ है—भ्राण। यह प्राणिमात्रमें सामान्य है। केवल इसीका विकास अवतक मानवमें है, तथतक मानव जन्मा ही है। सस्तुत माणाने ‘मानव और माणव’ के भेदको अक्त करते हुए कहा है कि केवल प्राण-शक्तिका विकास-स्थल ‘माणव’ ( बन्तु-विशेष ) और प्राणशक्ति तथा मनन-शक्ति दोनोंका विकासकेन्द्र मानव है। मानवको हिंपादी जन्मविशेषकी हीन कक्षासे निकालकर मानवताकी उपर्योगीमें पहुँचानेवाली सो मननशक्ति ही है। वेदने भी मननशक्तिको ही ‘मानवता’ माना है। अतः ‘योगवासिष्ठ’ के मतसे मानवता-पालनशूर्यक जीवन-यापन करनेवाला ही मानव है। इसी विशिष्ठ उपदेशको आस्तस्त करनेके उद्देश्यसे समग्र ‘योगवासिष्ठ’ प्रवृत्त हुआ है। प्रस्तुत विशिष्ठ उपदेशको विश्वाहितके लिये प्रसारित करनेके कारण ही ग्रन्थका नाम ‘वासिष्ठ’ रखा गया है। वैदिक भाषणमें विशिष्ठका शोधक वसिष्ठ शब्द है।

### वासिष्ठ-बोध-सार

जग कहते हो जिसे जगभग ब्रह्म ही है,  
जन्मका जगत्के न कारण है क्रम है ।  
चित्तसे अचित्तके विकासकी हो यास किसे,  
होता कहीं प्रकट प्रकाशसे भी तम है ?  
कैसे बना, किसने बनाया, किससे है बना—  
यह सब आननेका उद्यर्थ सभी भ्रम है ।  
मिथ्या कल्पनाका एक नूतन निकेतन है,  
चेतन आकाशमें अचेतनका भ्रम है ॥  
—प्राणदेय रामनारायणदत्त आड्डी ‘राम’



## योगवासिष्ठकी श्रेष्ठता और समीचीनता

( ऐसह—प० भीमानन्दीनाम् वी शार्या )

योगवासिष्ठके अन्येता तथा मननकर्ताओंसे यह बहु छिपी नहीं है कि यह ग्रन्थ भारत ही नहीं, विश्वाहित्यमें ज्ञानात्मक, सूक्ष्मविचार-तत्त्वविश्लेषक तथा ऐष्ट शुद्धिकौर्ण ग्रन्थोंमें सर्व-भेद है। यह भगवान्मातृण, वासिष्ठरामायण आदि नामोंसे भी विख्यात है। स्वयं भगवान् वसिष्ठने ही कहा है कि 'सत्तार-सर्पके विषसे विकल्प तथा विषयविषुचिकासे पीड़ित मृतप्राय प्राणियोंके लिये योगवासिष्ठ परम पवित्र अमोघ गारुद-मन्त्र है। इसे सुन लेनेपर वीक्ष्मुक्ति सुखका अनुभव होता है।' \* स्वामी रामतीर्थ कहा करते थे कि 'योगवासिष्ठ मेरे लिये नर्वाधिक आधर्य एवं चमलकारपूर्ण ग्रन्थ है।' † डा० भगवन्दासने 'मिस्टिक एज्ञापितियन्सेक्स' पुस्तकमें प्रस्तावनामें लिखा है 'योगवासिष्ठ सिद्धावस्थाका ग्रन्थ है। इसके विचार, दर्शन, रहस्य, निरूपण-प्रणाली, भाषा, अलंकार—सब एक-से-एक आधर्यकर है।' डाला वैज्ञानिकीने इसके हिंदी-भाषात्तरकी भूमिकमें लिखा था कि 'वेदान्त-ग्रन्थोंमें योगवासिष्ठकी कोटिका कोई भी ग्रन्थ नहीं है' ( माग २ की भूमिका )। पिछले दिनों स्वामी भूमनन्दस्मी ( काशगुरु आध्रम चट्टग्राम, बगल ) डा० भीक्ष्मनलालबी आश्रेय, भीक्ष्मीशचन्द्रनी चक्रवर्ती आदि महान् विद्वानोंने इसकी यही प्रशंसा की तथा इसपर पर्याप्त मनन-अनुसंधान कर सतत्प्र पुस्तकें लिखी हैं।

तथापि आजके अगत्यमें कुछ ऐसे मतवादी भी हैं, किनकी योगवासिष्ठके विवर स्वामाविक उपेक्षा है। वे लेग कहते हैं कि योगवासिष्ठ २७ वीं शतीमें रचना है। कर्द लागाकर मत है कि यह स्वामी विद्यारथनीकी कृति है। कुछ भावुक वैष्णवोंका कथन है कि इसमें भीरामचन्द्रको शोकविकल दिखलाया

\* ( क ) दुस्ता राम सत्तारविषयविषुक्तिः ।  
व्यक्तिगत्यस्तम्भेण पावनेन प्रशान्त्यन्ति ॥  
( २ । १३ । १० )

( च ) वीक्ष्मुक्तस्वमिलस्तु भुवे समनुभूयते ।  
स्ववदेष वसा पीरे नीरोगत्य वरोपये ॥  
( ३ । ८ । २५ )

† One of the greatest books and the most wonderful according to me ever written under the sun is 'Toga Vasista'  
( In the Woods of God-Realisation, Delhi edition, Vol. III, p 295 )

गया है, शिष्यरूपमें दिखलाया गया है; इसमें नक्षिकी महिमा नहीं है अतः सर्वथा उपेक्षणीय है। जो एन० फर्क्यूरहका मत था कि 'योगवासिष्ठ ईशानी १३ वीं तथा १४वीं शतीके शीनमें दिखा गया था।' ( Religious Lectures of India pp 228) ग्रोहेतर शिवप्रणाल मद्रासार्यका मत है कि यह १० से १२ वीं शतीके मध्यकी कृति है ( The Proceedings of the Madras Oriental Conference P 345 )। जर्मन विद्वान् डा० विंटर्नीगके मतानुसार 'यह शक्ताचार्यके अनुगायियोंकी कृति है और उसे ८ शतीतककी रचना है।' † डा० भीक्ष्मनलाल आश्रेय हसे ईशाकी ६ ठी शतीकी रचना मानते हैं। उनका कथन है कि मर्तुरहरिके वाक्यादीयमें तथा योगवासिष्ठमें कुछ भ्याम पद हैं। इनमें योगवासिष्ठ ही पुराना हो सकता है। अतः योगवासिष्ठ कालिदासके बाद और मर्तुरहरिके पहलेकी रचना है; इनमिये लाभग ६ ठी शतीमें ही इनको रखना युक्तिगत होगा। ‡

### शक्ताओंका सम्मुचित समाधान

ब्रह्मतः ये सब शक्ताएं आज्ञाय ( योगवासिष्ठको तथा अन्य ग्रन्थोंको देखनेका कष्ट न करने ) प्रमाद, मानविक मतभेद तथा पाश्चात्योंके प्रभावके कारण ही हैं। ये सब कथन एक प्रकारसे असुक्षिप्तीयमान भी हैं। जो लोग कहते हैं कि योगवासिष्ठ १७वीं शतीकी रचना है, उन्हें देखना चाहिये कि १७वीं शतीके आस-पासकी आनन्दोपेन्द्र सरस्वतीकी वासिष्ठरामायण-तात्त्व-प्रकाश नामकी टीका है। इसीके आसपासकी अन्य-ग्रन्थ, अत्मसुख, अनन्दवर्ण, गङ्गाघोरेन्द्र, माधव-सरस्वती तथा सदानन्द यतिकी टीकाएँ हैं। १६ वीं शतीकी आचार्य श्रीमधुसदन सरस्वतीने अपने ग्रन्थ विदान्तविन्दु, अद्वैतराज-

‡ As Shankara does not mention the work, it is probably written by one of his contemporaries. ( Geschichte der Indischen Literatur - Vol. III, pp 44 )

§ Hence we may place it after Kalidas and before Bhāskrīshāri, somewhere in the 6th century A.D. ( Vasitha Darshana, the Probable Date of Composition of Yoga Vasista, p 18 )

१. शतुरलक्षणमही ( १७६६ ) शक्तिविद्यारिण्यमरत्तरस दिग्दिलों , ( तात्पर्यप्रसादोपसंहार )

२. यह टीका १४ वीं शतीमें होनी चाहिये; यदोकि इनकी रामाचन्द्रचन्द्रसामाजिक चर्चेश निर्णयविष्टुआदिने शरन्बार हुआ है।

रक्षण, वेदान्तकल्पतिका, संखेपशारीरक-व्याख्या तथा गीताकी भूद्यार्थदीपिका' व्याख्यामें—ग्रायः सर्वत्र योगवासिष्ठके हजारें वचन उद्धृत किये हैं। केवल गीताके ६। ३२ तथा ३६ वें श्लोकोंकी व्याख्यामें ही इन्होंने योगवासिष्ठके वचनों श्लोकोंको उद्धृत किया है। इनसे भी पूर्व चौदहवीं श्लोकान्वी-के सर्वोपरि विद्वान् वेदान्ताचार्य श्रीविद्यारथ्य स्वामीने अपने 'जीवन्मुक्ति-विवेक' तथा 'पञ्चदर्शी' ग्रन्थोंमें योगवासिष्ठके श्लोकोंको बढ़ाया है। इनके गुरु श्रीकृष्णनन्द भी 'श्रद्धिभिर्द्वया गीतम्' (गीता १३।४) की व्याख्यामें लिखते हैं—'वासिष्ठविष्णुपुराणाविषु श्रद्धिभिर्विष्ठ-पराशारमिभिर्वद्युपकारं प्रतिपावितम्'। 'यहाँ वरिष्ठनिर्मित

६. (क) अत पवाह पसिष्ठ—'ठी कर्मी निरानग्रस्य योगे शान च राघव ।' (५।३३। पर मधुसूदनी )

(ख) वासिष्ठविष्णुपुराणाविषु गदेव नस्त्वाज्ञ भनोमाशो चासना-क्षमव्येति त्रयमस्यसनीयम् । शुकु भाषिष्ठे—  
नन्दिवत्तन तत्कथनमन्वोन्य तत्प्रवीचनम् ।  
एवंदेवपरस्य च ज्ञान्वासु विदुवाः ॥  
( गीता ३।३३ पर मधुसूदन )

७. परास्त शक्तिविष्य किंवाजानफलाभिमा ।

(क) एवं वेदवचः प्राह वसिष्ठश तत्प्रवीद् ।  
सर्वक्षक्तिपर ब्रह्म नित्यमापूर्णमद्यग्नः ॥  
यतोत्तस्त्वं ज्ञानात्मी प्रकाशमभिगच्छति ।  
चिष्ठक्तिर्वद्यानो राम अरीरेषुपक्षते ॥  
स आरम्भ सर्वग्ने राम नित्योदित्वपुर्वहम् ।  
यमनाद् मनोनी शर्वं भर्ते तमन चच्चते ॥

इत्यादि (पञ्चदशी १।४८से २८वें श्लोकका सब योगवासिष्ठके ही श्लोक है)  
वसिष्ठ तथाज्ञीता भी व्याख्यामें रामकृष्णपण्डित लिखते हैं—'वामिषाभिषे अन्वे ।'

(ख) वसिष्ठः—अतएव हि राम त्वं अये प्राप्नोपि ज्ञानम् ।  
व्यप्त्यपोपनीतेन पौर्वेणैव नान्यथा ॥

( जीवन्मुक्तिविष्य पृष्ठ ३५ )

यह श्लोक योगवासिष्ठ, मुशुक्ष-न्यवहरप्रकारमङ्ग है।

सभी जाति तो वह है कि 'जीवन्मुक्तिविष्य' वामिषाभिष ही आधारित है। इसमें योगवासिष्ठके चार्याक्षिलिखिन भी बनलाया है—'वासनामेदो वालीकिंता दर्शिणः वासिष्ठ—वासना द्विविष्य प्रोक्ता शुद्ध च मलिना नया' इत्यादि । ये सब योगवासिष्ठके ही श्लोक हैं। इसमें प्रायः आपे ग्रन्थमें योगवासिष्ठके श्लोक ही हैं।

५. उमः श्रीकृष्णनन्दुपादाम्बुद्धमने । (पञ्चदशी १।१ )

'योगवासिष्ठ' का मुख्यष्ट उल्लेख है। इनसे भी बहुत पहलेके १२ वीं शताब्दीके विद्वान् श्रीश्रीधर स्वामीने अपनी मुख्यविष्णी नामक गीता-व्याख्यामें योगवासिष्ठके श्लोकोंको कई बार उद्धृत किया है। इससे भी पूर्व गौड़ अभिमन्द नामक काश्मीरी विद्वान्ने किसका समय १०वीं शतीका मध्यकाल माना जाता है—'योगवासिष्ठनार' नामका ग्रन्थ लिखा था। इसमें उसने ग्रायः ६। सहस्र श्लोकोंमें ही द्वार्चिगतसहस्राम्बक (३००० वार्ते) योगवासिष्ठ ग्रन्थके सारभूत श्लोकोंका संग्रह किया है। इससे सिद्ध है कि योगवासिष्ठ इससे भी बहुत पहलेका ग्रन्थ है।

### श्रीकृंकराचार्य और योगवासिष्ठ

जो लोग कहते हैं कि श्रकृष्णाचार्यके अनुयायियोंमें से ही किसी एकने 'योगवासिष्ठ' का दिया, वह भी केवल उनका अविच्चारित निर्णयमात्र है। जिस प्रकार शंकरानन्द, नीलकृष्ण, श्रीधरस्त्रामी, मधुसूदन सरस्त्वी आदिने गीताके १३।४।४ श्लोकके 'श्रद्धिभिर्द्वया गीतम्' की व्याख्यामें 'वासिष्ठादिभिः प्रतिपादितम्' लिखा है, उसी प्रकार शंकराचार्य भी लिखते हैं—'श्रद्धिभिर्विष्ठसिष्ठादिभिर्वद्युपकारं गीतं कथितम् ।' मधुसूदन सरस्त्वी तथा भाष्योत्तरार्दीपिकाकारने इन्हीं शब्दोंकी व्याख्या करते हुए लिखा है—'वासिष्ठाभिषे योगवासिष्ठे'

इतना ही नहीं, 'ज्ञेताश्वतरेपनिषद्' (१।८) के माध्यमें वे मुख्यष्ट शब्दोंमें लिखते हैं—

तथा च वासिष्ठे योगवासिष्ठे ग्रहसूर्यकं दर्शितम्—  
वयाऽऽस्मा निर्णयः शुद्धः सदानन्दोऽज्ञातोऽमरः ॥  
संस्तुतिः कस्य तात् स्वाम्भोक्तो वा विद्या विभो ।

और लगातार दो श्लोकोंमें प्रक्षम करके पुनः 'वासिष्ठः' लिखकर 'तस्यैव नित्यसुदूरस्य सदानन्दमध्यात्मनः' आदि योगवासिष्ठके दो श्लोकोंको उच्चरणमें लिखते हैं। इसी प्रकार वे 'मनसुजातीयमात्य' (१।१५) में भी लिखते हैं—तथा चाह भगवान् वसिष्ठः—

६. (क) तदुक्त वसिष्ठेन—

प्राणे गते यथा देह शुद्धतु से न विन्दति ।  
यथा वेद प्राणसुक्षेत्रे त कैवल्याभ्ये वसेत् ॥

( ५।३३ गीता-व्याख्या )

(ख) वसिष्ठेन चाकम्—'न कर्माणि त्वज्जेत् योगी कर्म-मित्तस्यते इसी ।' ( गीता १८।२ की व्याख्या )

(ग) श्रद्धिभिर्विष्ठसिष्ठादिभिर्योगशास्त्रेषु निरूपितम्

( गीता ११।४ की व्याख्या )

चतुर्वेदोऽपि यो विषः सूर्यं त्रयं न विन्दति ।  
वेदभारभशक्त्वात् स वै ब्राह्मणगद्यनः ॥  
वे पुनः इसी प्रन्थके इसी अध्यायके ३१ वै श्लोकके  
माध्यमे लिखते हैं—सथा चाह भगवान् वसिष्ठः—

यत्र सत्त्वं न चासत्त्वं चाकृतं न चक्षुत्वम् ।

न सुष्टुतं न कुरुतं वेद कथित् स ब्राह्मणः ॥

यह भी नहीं कहा जा सकता कि ये ग्रन्थ शक्तराचार्यकृत  
नहीं हैं, क्योंकि 'शक्तरिविच्छयकार' ने भी लिखा है—  
सप्तसुखातीत्यस्तस्य दूरं ततो नृसिंह च तापनीयम् ।

स्वामी भूमानन्दस्मीने Influence of the Yoga-  
vasistha on Shankaracharya नामकी पुस्तिकामें  
मुलनात्मक अध्ययनद्वारा यह भी दिखलाया है कि शक्तराचार्यकी  
विवेचन्त्रामणि, सारतस्योपदेश, लघुकायवृत्ति, प्रबोधानुभूति,  
प्रबोधसुधाकर आदि वृत्तियोपर योगवासिष्ठके किन-किन  
श्लोकोंकी छाप या प्रभाव है । उदाहरणार्थ—‘ग्राहस्यस्त्रिमि-  
रोधात् सप्तस्यात् वासनास्यात्पाद् । हरिवस्यभक्तियोगाभ्यमः  
स्ववेगं वहासि शानैः ॥’ इस प्रबोधसुधाकर ( ७७ ) के श्लोक  
पर ‘अभ्यास्यविद्याविग्रहः साकुसंगम एव च । वासना-  
सम्परित्यागः प्राणस्यस्त्रिमिरोधनम् ॥ पृष्ठात्त्वा शुचयः पुष्टाः  
सञ्जित वित्तजये किञ्च ।’ योगवासिष्ठ ( ५ । १२ । ३५ ) इस  
श्लोककी छाप है । इससे मिल है कि योगवासिष्ठ शक्तराचार्यके  
समय इस समयसे कहीं अविक निर्वान्त सथा समादरणीय  
ग्रन्थ था । यह सतरणाहै है कि शक्तराचार्यका समय आजसे  
२३ सौ कर्वं पूर्व है । देखिये ‘कल्प्याण’ नं० ११, अङ्क ८,  
'सिद्धान्त' ७ । २७ ।

### श्रीरामका तिरस्कार नहीं

कुछ वैष्णवनामोंको यह आपत्ति है कि श्रीरामका इसमें  
ओकाकुल हेना-कोकसे पीला पड़ना बनलाया गया है, परमात्मा  
शोकसुक या गिर्ज नहीं बनता । इसके उत्तरमें नम्र विवेदन  
है कि श्रीरामका ओक जैमा वालीकि आदि रामायणोंमें  
सीताहरण या लक्ष्मणमूर्छा आदिके बाद है, वैसी तो  
योगवासिष्ठमें कोइं बात भी नहीं है । योगवासिष्ठमें राम समारूप  
स्थित होकर लाना-पीना छोड़ रहे हैं, एकान्तवास करते हैं ।  
यह भोजनोंसे बैराग्य उत्तम अधिकारीका लक्षण है । भोजन  
छोड़नेसे उनका पीला हो जाना स्वामार्थिक है । वाल्यावस्थामें  
विद्याग्रहणार्थ उनके हाथ भगवान् वसिष्ठका त्रिव्यत्व सीकार करना  
सभी रामायणोंमें वर्णित है, उसी वाल्यावस्थामें विश्वामित्रके  
वाग्वर्तक्षणके पूर्व ही इनका योगवासिष्ठका ग्रहण, तदुप्रित

अधिकारसम्पादन, सम्पूर्ण विषयके एकदम चक्रित कर देनेवाले  
प्रस्तु-भाषण योगवासिष्ठद्वारा नवाग्रिसया रामके बाह्याभ्यासितके  
प्रतिपादक तथा साधक ही हैं, साधक नहीं ।

### योगवासिष्ठमें श्रीरामका महाविष्णुत्व-निरूपण

योगवासिष्ठमें महर्षि वालीकिने शास्त्र-वार श्रीरामको महा-  
विष्णु घोषया है । कुछ योहे प्रस्तु यहाँ उदाहरणस्वरूप  
उपस्थित किये जा रहे हैं—

विद्यानन्दस्वरूपे हि रामे वैतन्यविग्रहे ।

( ११३ । ५६ )

शापम्याभवशादेव राजवेशाद्धरो हरि ।

( ११४ । ५५ )

हृष्णया शापितो विष्णुस्तेन मानुपत्तं गतः ।

( ११५ । ६५ )

अहं वैष्ण बहामानं रामं राजीदलोचनम् ।

वसिष्ठाम् महासेना ये चान्ये दीर्घद्विष्टिः ॥

( ११६ । १०१ )

बालक रामके ज्ञानपूर्ण भाषण सुनकर सभी भुग्नि अनेक-  
नेक लोकोंसे दोष पहुते हैं और आश्र्यन्वित होकर कहने  
लग जाते हैं—

न रामेण समोऽस्तीह रथे ओकेषु कशन ।

विवेकवाङुदारामा न भावी चैसि नो भरिः ॥

( योग० २ । ३३ । ४५ )

अर्थात् तीनों लोकोंमें श्रावक श्रीरामके समाज जानी एवं  
उदार अविक न तो कोई हुआ और न भविष्यमें होनेवाला है  
ऐसी हमलेगोंकी बुझि कहती है,—इमारा निश्चय है ।

इतना ही नहीं, श्रीरामके असूत्रमय प्रश्वचनको सुनकर  
योहे चाप लाना छोड़ देते हैं, रानियों गवाखने देखती हुरं  
चित्तलिहित-सी झड़ी रह जाती हैं, देरठक लगातार पुष्पवृष्टि  
होती रहती है, सभी मन्त्री, सामन्त, नगरिक, राजकुमार  
एकटक देखते रह जाते हैं । विंदेके पक्षी, रानवहलके  
प्रेतामृग भी काल रहे करके ध्यानसे सुनते रह जाते हैं ।  
सिद्धमुनियोंकी परम्परा सभाभवनमें सुदूरते दोष पहुती है—

सामन्तैः रामपुत्रैः ग्राहणैश्वरवादिभिः ।

तथा शूल्यैरसत्यैः पञ्चरस्यैः पक्षिभिः ॥

क्रीढासूरीर्गतस्पर्यैसुरैस्त्वर्त्तवर्द्धैः ।

क्षेत्रस्याप्रसुद्धैश्वैव निगदातायनस्तिवैः ॥

संशान्तस्यैपणायवैरसन्दैर्षमित्तागैः ।

दिदैनभक्तरैश्चैव तथा गन्धर्वकिन्नरैः ।  
रामस्य सा किञ्चित्रार्थं महोदारा गिरः श्रुतः ॥

( २ । ३२ । ७—१२ )

श्रीरामके शिष्यत्वका भी उत्तर है । योग अधिकारी श्रीरामसे दूसरा कौन मिलता ? अतः स्वयं प्रकल्प करके वसिष्ठके हृदयमें प्रविष्ट होकर उन्होंने यह ज्ञान प्रकट किया । देखिये वासिद्वारारामायण-सात्यर्थीकाका उपोद्घात, श्लोक १—  
आविश्यकास्तर्वसिष्ठं बहिरपि कलयन् शिष्यभावं विसेने ।  
यः संवादेन शाशान्मृतमङ्गिमसुं रामचन्द्रं प्रपये ॥  
योगवासिष्ठके अन्यमें भी 'ज्ञानायण' कहकर श्रीरामके नमस्कार किया गया है ।

### योगवासिष्ठमें भक्ति

योगवासिष्ठमें भक्तिकी बात भी बहुत है । यों सो उपरिनिर्दिष्ट प्रकरण भी, जिसकी छाया सम्प्रबद्ध भागवतकारके वेणुगीतपर यहती है और जिसमें कहा गया है कि 'श्रीकृष्णके वेणुगीतको अवणकर वष्टु दूध पीना भूल जाते हैं, नदियोंका वेग भन्न ही जाता है, गोरे क्षमल नहीं देती, कम भक्ति-रससे ओतप्रोत नहीं है । तथापि इस तरहके अन्य भी कई प्रसङ्ग योगवासिष्ठमें हैं । उपराम-प्रकरणके ३ ४ वें अध्यायकी प्राह्लादकृत विष्णुस्तुति मस्तुनसादित्यकी अद्भुत निधि है । वह सद सुतियोंको एक यार मात कर देती है । श्रीवासिष्ठकी भगवान् भक्तसे भिलनेके वादकी प्रार्थना भी अत्यद्भुत भक्ति-रससे परिपूर्ण है । कई स्थानोंपर भगवस्सारणकी यही महिमा है । ज्ञानकी प्रगता तो सर्वत्र ही है ।

भक्तिरोमणि त्रुल्लीदासजीको भी योगवासिष्ठ मान्य था । उनके उत्तरकाण्डके भुग्निष्ठचरित्रपर भुग्नुण्डोपस्थयन ( योग-वासिष्ठ-निर्वाणप्रकरण पूर्वार्द्द १४ से २८ अध्याय ) की छाया है । भुग्नुण्डके दीर्घनीयित्वका क्रम, कारणादि यहाँ बड़े विस्तारसे निरूपित है । विनयपत्रिकाके २०५ वें पदमें वे लिखते हैं—

जौ मन भक्त्यो चहै हरि सुरतन ।

सम, संतोष, विचार, विमल भक्ति सत्त्वसंगति, ये आरि छ करि भक्त

इसपर योगवासिष्ठके 'शमो विचारः संतोषस्तुर्यः साधु-

-संगमः ।' ( २ । ११ । ६० ) 'तथा संतोषः साधुसङ्गम'

विचारोऽथ शमसत्त्वा ।' ( २ । १६ । १८ ) आरि सुसमु-  
भ्यवहार-प्रकरणके १२ से १६ वें अध्यायके उपदेशोंका ही प्रभाव है । 'वेद पुराण वसिष्ठ वसानहिं । सुनहिं राम जायति  
सब जानहिं ॥' आदिसे भी इसका समर्थन-सा होता है ।

### योगवासिष्ठ किसकी रचना ?

यों योगवासिष्ठको वास्त्वीकिती रचना बतलाया गया है । कई लोग इसमें 'उचाच्च' आदि अलकारैंकी भरमार देखकर अन्यकी कृति समझते हैं । पर जो हो, यह तो उन्हे भी मानना पड़ेगा कि पदमाधुर्य, भाक्षगामीर्य, निरूपणैली, तत्त्वप्रदर्शन, सूक्ष्मेभिका, प्रखरविचार, सर्वत्र नवीनता तथा अमृतोपम पवित्रतम साधु उपदेशोंकी शूद्धला देखते हुए यह वास्त्वीकिरणायण या विश्वके किसी भी ग्रन्थसे निम्नकोटिका नहीं है । अतः इसका रचयिता जो भी हो, साक्षात् ईश्वर है या ईश्वरप्राप्त है । ग्रन्थ सर्वाय निर्दोष है । कई प्रकरण तो वास्त्वीकिसे मिलते भी हैं । विश्वमित्र-दशरथ-सदादर्थे ग्रायः वास्त्वीकिके ही श्लोक हैं । जो अधिक हैं, वे रम्यतर हैं । 'उचाच्च' आदि लिखना—भिज जैली अफ्नाना भी एक छेषकद्वारा सम्भव है । अतः वास्त्वीकिरचित् गानना युक्तिसंगत ही है ।

### उपसंहार

ज्ञानसे देखा जाय तो भगवत्, वास्त्वीकिरणायण तथा अन्य पुराणोंसे योगवासिष्ठका वर्णन अधिक ही मिलता है । वस्तुतः भाषा, छन्दवचना तथा विचार-प्रवत्तताकी दृष्टिसे योग-वासिष्ठ सर्वोत्तम ग्रन्थ प्रतीत होता है । इसलिये शेष साधक इसके कालनिर्णयके चक्रमें न पड़कर इससे वस्तविक लाभ उठानेके प्रयत्नमें लग जाते हैं । यही होना भी चाहिये । किंतु साधारण अक्ति इसमें विकृत न रह जायें तथा व्यापक भ्रान्त धारणा शान्त हो जाय, इनीलिये यह यत्किंचित् प्रयास किया गया है ।

वस्तुतः योगवासिष्ठ भारतीय शानदारकी एक अनुपम रसिम है । इसमें लखर, उत्तरके तरनेके उपाय, देव, पुरुषार्थ, तत्त्वानन एव उसके साधनोंके प्रत्येक अङ्गपर इतना क्रम-क्रमसे विचार किया गया है कि देखते हुए अक्षर्यचकित यह जाना पड़ता है । कल्याणकामी मनुष्योंके इससे अवश्य लाभ उठाना चाहिये यही प्रार्थना है ।

## योगवासिष्ठकी आजके आत्मशान्ति, विश्व-शान्तिके इच्छुक विश्वको चुनौती तथा इस क्षणका ज्ञान-बन्धुत्व एवं ज्ञानभास

( ऐक्षक—प० वीरभनिवालजी लघां )

याक रहते हैं जानके बिना मुक्ति नहीं । आधुनिक  
विद्वान् भी प्रज्ञानन्तरसे यही रहते हैं—

**Knowledge is power**

परंतु ज्ञान और ज्ञान-शक्तिमें अन्तर है । ज्ञानसे शक्ति  
मी प्राप्त होती है जब कि मनुष्य ज्ञानार्थमें ढक जाता है ।  
ज्ञेयाहीन ज्ञान तो शक्तिहीन ही होता है । यह भी न मुलाना  
वाहिये कि ज्ञानसे शक्ति और मुक्ति दोभी प्राप्त होती है, जब  
के वह अस्त्राल्प हो । आजकल ज्ञान तो—

१—भौतिक है

२—रक्षणात्र है

३—सिद्धिवद है

४—अवासानिक है

५—केवल प्रवृत्तप्राण है

६—यथा और जीवशक्ति साधन है

आजकल ऐसा सारहीन अनात्म-ज्ञान योगवासिण्डके भ्रतसे  
ज्ञानभास है और ऐसे ज्ञानका धनी व्यक्ति ज्ञानबन्धु है तथा  
प्रानशिल्पी । वह वासानिक ज्ञानी नहीं, उससे तो अज्ञानी ही  
भ्रम्छा है—

आत्मस्थानं विद्युर्ज्ञानं ज्ञानान्व्यव्याप्ति यानि द्वा ।

तानि ज्ञानावभासानि सारसाभवदोक्तनाम ॥

( यो० वा० ३ । २१ । ७ )

अज्ञातारं धरं भव्ये न युन्हानवन्मनुसाम् ॥

व्याख्यादेव यः पठति च ज्ञानमोगाय सिद्धिवदत् ॥

( यो० वा० ३ । २१ । १३ )

इस देखते हैं आज मारत भी ज्ञान-बन्धुता और ज्ञान-  
भासका दिक्कार हो रहा है । राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति दोनोंके  
ही भ्रतसे वह चरित्रहीन होता जा रहा है । भारतेतर देशोंकी दशा  
तो इससे भी बुरी है । वे तो इस दिशाके गुरु ही हैं, अतः  
उनका शीघ्रन एकमात्र प्रवृत्ति-प्रधान है एवं समधिक योगप्रधान ।

योगवासिण्डकरके भ्रतसे तो ज्ञानी वही है जो ज्ञानने  
योग्य वस्तुओं ज्ञानकर ज्ञानामुक्त तथा कर्मतंत्र होता है—

ज्ञानश्च सम्यग्नुज्ञानं इत्यते येऽनि कर्मसु ।

निर्वासनाभ्यं ज्ञानं स ज्ञानीत्यभिजीयते ॥

( यो० वा० ३ । २१ । ९ )

योगवासिण्डकर यह भी कहते हैं कि विद्वां इच्छाएँ ज्ञान  
हो गयी हों एवं विद्वीं शीतलता कृत्रिम न होकर वात्सिक  
हो तथा विद्वां पुनर्बन्मका लटका मिट गया हो, वही ज्ञानी  
है, अन्यथा ज्ञाना-पहनना और लेना-देना आदि तो गिर्वीकी  
बीमिकामार्ग है—

अस्ताशीतिरुतेहातु ग्राहैर्यस्यावलोक्यते ।

अङ्गाश्रेमैक्षण्यस्य स ज्ञानीस्यभिजीयते ॥

( यो० वा० ३ । २१ । १ )

अपुनर्बन्मने यः स्याद्वैषः स ज्ञानशब्दभास् ।

वसन्नाशनदा दोषा व्यवस्था शिव्यजीविका ॥

( यो० वा० ३ । १० । ४ )

योगवासिण्डकरका यह भी मत है कि जो मनुष्य कामना  
तथा संकल्प-विकल्पसे मुक्त होकर ज्ञानवित्तसे अवसरानुसार  
कार्य करता है वही परिषद है—

प्रवाहयतिरे क्षर्ये कामसंकल्पवर्जितः ।

तिष्ठत्याकाशाद्यो यः स परिषद उच्यते ॥

( यो० वा० ३ । १२६ । ५५ )

योगवासिण्डके भ्रतसे सधा आर्यपुरुष वही है जो कर्त्तव्यका  
पालन करता है और अकर्तव्यसे बचता है एवं प्रकृत  
आचारविचारमें सलग्न रहता है—

कर्त्तव्यमात्मरूप् काममर्कर्त्तव्यमनात्मरूपः ।

तिष्ठति प्राङ्गतावारो यः स आर्य इति स्मृतः ॥

( यो० वा० ३ । १२६ । ५५ )

योगवासिण्डकरकी आर्यपुरुषलक्षण-विषयक यह भी  
समुद्घोषणा है कि जो व्यक्ति शास्त्र-सदाचार एवं परिविनि-  
सम्बत तथा गन्धःपूत व्यवहार करता है वही आर्य है—

यथाचारं यथाशास्त्रं यथावित्तं यथासितम् ।

व्यवहारसुपादसे यः स आर्य इति स्मृतः ॥

( यो० वा० ३ । १२६ । ५० )

किस विश्वसे वह चात छिपी हुई है कि आदरा भानव  
आर्योचित योगवासिण्ड-अभिमत व्यक्तित्वसे सर्वथा दूर होना  
ज्य रहा है अपिनु वह गानशोचित व्यक्तित्वसे न पहचाना जान्नर  
विद्वान् प्रशास्ता, वायु, हाक्षिम, चक्री आदि विशेषज्ञोंसे  
पहचाना और पुकारा जाता है । पाश्चात्य देशोंमें भी वाइदलके  
इस वास्तविक सम्बान द्विष्ठेन्द्र नहीं होता—

Man it does not mean this or that but humanity.

ऐसा क्यों हो रहा है। इसका एकमात्र कारण यही है कि हमारे विभिन्नियालयोंका आमूल-चूल परिवर्तन नहीं हो पाता। सभी मुधास्थीजनाओंपर भी अमल नहीं किया जाता और न भर और बाहर बालकोंकी शिक्षा-दीक्षापर ही समुचित व्याज दिया जाता है। ऐसी दशामें तथाकथित आर्थ-व्यक्तित्व बालकोंमें कैसे उत्पन्न हो सकता है? इसी सत्यपर प्रकारन्तरसे राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसादजीके ये शब्द पूर्णतः चरितार्थ होते हैं—

इस अपने सामने कितने भी महान् व सब आदर्शोंके लेकर निःकिंती सहकी राज-व्यवस्था क्यों न स्थापित कर लें, हमारी आर्थिक व सामाजिक विचारजाता कितनी भी समान व सदाचार क्यों न हो, पर बक्तक हमारी अगली पीढ़ीका शारीरिक एवं मानसिक सौषधव व गठन शिशु-कीवनमें ही ठीक न होगा, तबक्तक देशमें हम सुख व शान्ति स्थापित करनेमें उफल नहीं हो सकते।

यहाँ योगवासिष्ठसमत यह बात भी विचारणीय है कि जान-विकास और आत्म-शान्तिनामें न केवल शास्त्र और गुरु-वचन-साध्य ही है प्रत्युत स्वानुभवका भी विषय है—

शास्त्रार्थं शुद्धते नास्ता गुरुवचनस्तो न च।  
शुद्धते स्वयमेवैष स्वयोधवशातस्तुः ॥

( वो० चा० )

इस समय हम देखते हैं हमारे विद्यार्थी आत्मनिर्भर नहीं हो पाते। वे केवल पुस्तक-कीट और परपर्यायनेय भवि ही बने रहते हैं। वे यह भी नहीं समझते कि पेह भीतरसे बढ़ता है, माली और उपकरण तो उसके विमिच्छामात्र होते हैं। वे

प्रायः इति वैदिक सत्यसे भी अनभिज्ञ-से ही रहते हैं—  
आत्मानाऽऽमानमुद्देश् ।

पतद्विषयक योगवासिष्ठकी तो यह सम्भवि है कि आत्म-शान्ति और विष-शान्ति आत्म-विकास और आत्म-शान्ति से ही प्राप्त होती है, दूसरे किसी उपायसे नहीं। अतएव सर्वेषुऽत्म-हरां आत्मावलोकनमें ही भूति-विभूतिके इच्छुक व्यक्ति उगा रहे—

करोहु शुचने शञ्च विषात्मन्मीदमनुवर्त् ।  
आत्मावलोकने जन्मते जन्मत्विद्विषमधिगच्छति ॥

( वो० चा० ५।५।३४ )

आत्मावलोकने यत्वः कर्तव्यो शूतिमिष्ठता ।  
सर्वेषुऽत्मावलोकने जापते ॥

( वो० चा० ५।३५।४५ )

योगवासिष्ठसमत आत्मावलोकनसे न केवल आत्म-शान्ति प्राप्त होती है अपितु योगवासिष्ठके बास्त्वाके पाठ और व्यवलोकनसे विश्वकन्तुता—प्राणस्तुतीय नामारिकता भी प्राप्त होती है, जो आजकी अत्यधिक वाङ्मनीय वस्तु है—

पूतच्छाक्षवशात्मासाद् यौवः पुम्नेन वीक्षणात् ।  
परा जागरतोदेषि महस्तुगुणकालिनी ॥

( वो० चा० २।६६।६६; ८ )

योगवासिष्ठकारके मतसे योगवासिष्ठ-ग्रन्थावलोकनका एकान्त फल यह भी है—

बोधसापि परं कोऽन् शुद्धिरेति च संशयः ।  
जीवन्मुक्त्वामस्मिन्स्तु शुद्धि समनुमूर्ते ॥

( वो० चा० ३।८।१३।१५ )

## भगवान् वसिष्ठकी जय

( लेखक—प० शीरुदासदली जलप्रेमी ( डॉगोली ) )

योगवासिष्ठके प्रवक्ता भगवान् वसिष्ठकी परिचय कराना अस्यत कठिन है, फिर भी उनके पारमार्थिक स्वरूपका मनन करना हो तो उनका भगवान्के अवतारोंके साथ क्या सम्बन्ध है? उसे सारण किया जाना अनिवार्य आवश्यक है।

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामके गुरु, भगवान् परशुरामके पिता भगविं जमदग्नि और भगवान् दत्तात्रेयके गौतम, एवं सिद्ध भगवान् कपिल और परमहस नवयोगीकर तथा ऋष-भगवतके पिता भगवान् ऋषभदेवके दादा, राजविं श्रावीन्द्रकं यहनोर्ह, भगवान् मनुके पुत्र, आदि नरेन्द्र प्रियजनकी कहन

देवी देवहृतिके आमाता भगवान् वसिष्ठकी सदा काळ जय हो, विजय हो, जिन्होंने संसार-चक्रको छेदन करनेके लिये पुण्य-कर्मका चक्र जाताया और पुण्यकर्मके चक्रको भग करनेके लिये चर्मचक्र जाताया और फिर गुरुचक्रका प्रवर्तन करके विद्वचक्रमें प्रवेश करा दिया—अद्वानवादके परम रहस्यमय निष्ठ न्तके अ.च. प्रणेता भगवान् वसिष्ठ ही है।

इस अद्वैत, तुरीय और अब नस्वमें भी परं तृतीयानीन, द्वैतादेवतातीत और अनावश्यकमानीत श्रमतत्त्वके प्रणेता भगवान् वसिष्ठ सर्वत्र सर्वथा, सर्वदा सम्पूर्ण आराध्य बनें।

## योगवासिष्ठका साध्य-साधन

योगवासिष्ठ महारामायणका प्राचीन होता है—देवरात्रि-हन्दके द्वारा, महर्षि वास्त्रीकिंके पास राजा अरिष्ठेनिके मैजे आनेके प्रस्तुत्से । अरिष्ठेनिमि महर्षि वास्त्रीकिंसे मोक्षका साधन प्राप्त है । उसके उत्तरमें वास्त्रीकिंवी महाराज अपने शिष्य भरद्वाजके साथ हुए संवादका वर्णन करते हुए मगधान्-रामके प्राकृत्यकी बात मुनाते हैं । तदनन्तर महर्षि विश्वमित्र-के दशरथ-दरबारमें आकर यशस्वार्थ रामको मौगनेका प्रसङ्ग मुनाकर गमके वैराघ्य तथा राम-वसिष्ठ-सवादके रूपमें छः प्रकरणोंमें, 'योगवामिष्ठ' नामक विद्याल ग्रन्थका भवण करते हैं ।

योगवासिष्ठ अवातार या केवल ब्रह्मवादका ग्रन्थ है । इसके निर्दानानुसार एकमात्र चेतनतत्त्व परमात्मा के अतिरिक्त कोई अस्य सत्ता ही नहीं है । ऐसे समुद्रमें अनन्त तरहें उठती-गिरती रहती है, वे भस्तुत्से भिज नहीं हैं, इसी प्रकार नित्य समरूप आनादि अनन्त सक्षिदानन्दशन परमात्म-चैतन्यरूप कमुदमें जाना प्रकारके अनन्त ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति, लिति और विनाशकी लीला-तरहें दीखती रहती है । वित या अहंकार—जो वास्तवमें चेतन-ब्रह्मसे अभिज्ञ तथा ब्रह्मरूप ही है—इस दृष्ट-प्रणश्यका—सूहि, शिरि-विनाशका करण है । अहंकारका नाश होते ही, जो अहंकारकी उत्ता न माननेसे ही नाश हो जाता है, केवल एक ब्रह्म-चैतन्य ही यह जाता है । इनी एक तत्त्वका विभिन्न आकृतियों, डिशाओं, कथाओंके द्वारा इस विशाल ग्रन्थमें प्रतिपादन किया गया है । यह ग्रन्थ पुनरुक्तिपूर्ण है । एक ही स्वयं तत्त्वमें दृढ़ता-पूर्वक हृदयमें जमा देनेके लिये, एक ही स्वयं तत्त्वकी अनुभूति या प्राप्ति करा देनेके लिये वार-चार विभिन्न रूपोंसे एक-मी ही युक्तियों तथा उपमायोंका उल्लेख किया गया है ।

सुहि न कभी शूहं, न है—एकमात्र ब्रह्म ही है । इन प्रकार सुहिका अप्राप्त प्राप्तिपादन करनेपर भी इस ग्रन्थमें कही भी यथेच्छाचार जाग्निविष्ठ व्यष्टिर, वाग्देव-कामकोशादि-विनित अनांतार, व्रातान्तर, दुष्ट-महां आदिका नमर्थन नहीं किया गया है, वर वही कदम्बके भाग शास्त्राशापालन-रूप सदाचारपरायणता एवं स्पामय पुण्यमय वीवनकी आवश्यकता बनायो गयी है । राग, ममता, कामना, तुष्णा,

इच्छा और इनके मूल अहंकारके स्थानकी महत्ता स्थान-स्थानपर बतायी गयी है । इन्द्रियमोर्चामें केंत्रे हुए मनुष्योंकी ओर दुर्दशाका वर्णन करते हुए वैराग्यकी अत्यन्त प्रयोग्यनीयताका प्रतिपादन किया गया है । साधक पुरुषको अहमावनारूप ग्रन्थिका यथार्थ ब्रह्मशनके द्वारा भेदन करके सदा जानी करनेका उपर्येका दिया गया है, केवल जानका कथनमात्र करनेवाले 'जानवन्नु' ( नकली जानी ) धननेता नहीं । महर्षि वसिष्ठने यहोंतर कहा है कि 'वे जानवन्नु' ( नकली जानी ) से तो अजानीको अच्छा समझते हैं ( क्योंकि वह बैचारे अपनेको तथा दूसरोंके धोखा तो नहीं देते । ) महर्षि कहते हैं—

ज्ञानिनेव सदा भास्यं राम न ज्ञानवन्नुमा ।

अजानारं वरं गम्ये न पुम्हानवन्नुमाम् ॥

( निर्बाण-प्रकाश च० ३१ १ )

फिर मरावत् भीरामके प्राचीनेपर नकली जानी ( जान-वन्नु ) के लक्षण बताते हैं ।

व्याख्येऽयः पठति च शास्त्रं भोगाद शिल्पिवद् ।

यतते न स्वनुदाने ज्ञानवन्नुः स उच्यते ॥

कर्मस्पन्देत्तु नो चोषः फलितो यस्य इद्यते ।

शोधिष्येष्योपलीवित्वान्नज्ञानवन्नुः स उच्यते ॥

वस्त्रावान्मात्रेण मुहाः शास्त्रफलानि ये ।

ज्ञानस्ति ज्ञानवन्नस्तान्विद्याच्याकार्यं विद्यिमः ॥

( निर्बाण-प्रकाश च० ११ १-५ )

‘ऐसे गिर्वाणी वीविकाके लिये ही दिव्यदला सीखता है । ऐसे ही जो मनुष्य केवल भोगप्राप्तिके लिये ही ज्ञानयोग-पटा और उठकी व्याख्या करता है, सब शास्त्रके अनुसार आचरणके लिये प्रयत्न नहीं फरता, वह ज्ञानवन्नु बहुदाता है । जाग्नायनसे गिर्वाणी शास्त्रिक योग ही गया है, परन् उस शोषका फल जो विनाशकी भोगो—व्यवहारमें बराय होना चाहिये, सा नहीं हुआ तो उसका यह शास्त्रशान शिल्पमात्र ? —तत्त्वज्ञानकी योग्यता यनाकर दुसरोंके उग्नेके लिये ज्ञानुर्यपूर्ण कलामात्र है । उस कलासे केवल वीविका चलानेवाला होनेके कारण वह मनुष्य ज्ञानवन्नु बदलता है । जो नेत्रल मांजन-वस्त्रमें ही संतुष्ट रहकर भोजनादिकी प्राप्तिको ही शास्त्राभ्यन्धनका फल समझते हैं, वे शास्त्रोंके अर्थको एक

शिल्पकला ही मानते हैं। ऐसे लोगोंके शानदार शानना चाहिये।' जिस कहते हैं—

अपुनजैमने य खाद् बोधः स शानशब्दभाष् ।  
शस्त्राशनदा दीपा व्यवस्था शिश्पवीचिका ॥

( निर्वाण-प्रकरण ४० २२ । ५ )

'मिसेस मोक्षकी प्राप्ति होती है, पुनर्जन्मकी नहीं, उसके माम जान है। उसके अतिरिक्त दूसरा जो शब्दशानका चक्षुर्य है, वह सो रोटी-कपड़ा प्राप्त करनेकी कलामात्र है। उसे केवल भोजन-बछ शुद्धनेवाली व्यवस्था नमकना चाहिये।'

इस परम शानकी प्राप्तिके लिये शम ( मनकी स्वयम्भाव ), दम ( हन्दिनिग्रह ), शाल्मीय सदाचारका देवन, दीपी सम्पत्ति-के गुणोंका अर्जन तथा भोग-वैराघ्यपूर्वक शान-प्राप्तिकी इच्छासे सहृदके शरणमें जाना आवश्यक है। सद्गृह वही है, जो शिष्यके अहानान्वकारको अपने निमेल स्प्रक्षण शानकी विमल झोटिसे हर छे और शिष्य वही है, जो विनय तथा सेवापरमण होकर शानी गुरुसे प्रवन करे और उनके आश-नुग्रह अपना जीवन निर्माण करे। महर्षि बसिष्ठ कहते हैं—

अतत्प्रदृग्मनदेववचनं वाचिदोवर ।  
य शुद्धते नरं सत्याकाशिति भूदतरोऽपरः ॥  
प्रामाणिकस तत्त्वस्य वक्तुः पृष्ठस्य वस्त्राः ।  
नानुसिद्धते यो वाक्यं नान्यनुसाप्तराज्ञमः ॥

( मुमुक्षु-प्रकरण ११ । ४५-४६ )

'वाम्बेत्तायोंमें थेषु राम ! जो तत्का शान नहीं रखता, उसके बचन मानने योग्य नहीं है। ऐसे तत्त्वज्ञानीन मनुष्यसे जो तत्त्वविषयक प्रश्न करता है, उससे बढ़कर दूसरा कोई 'मूर्ख' नहीं है।' ( साय ही, जो मनुष्य किसी सच्चे शानी महात्मासे ) 'पूछकर भी उस प्रमाणकृद्याल तथा सत्यशानी बकाके उपदेशके अनुसार यत्नपूर्वक आचरण नहीं करता, उससे बढ़कर 'नराघम' भी दूसरा कोई नहीं है।'

अतएव न सो बिना जाने-नमझे किसीसे गूठना चाहिये तथा न सत्त्वस महात्माका उपदेश प्राप्त करके उसकी अवहेलना ही करनी चाहिये। साय ही तत्त्व युद्धको भी चाहिये कि वे यथार्थ अधिकारीके ही तत्का उपदेश हैं। महर्षि कहते हैं—

पूर्वापरसमाधानकामयुद्धावग्निदते ।  
पूर्वं प्राणेन वक्ष्यत्वं नाथमे पशुधर्मिनी ॥  
प्रामाणिकवर्ययोन्यत्वं पृष्ठकलसाविचार्य च ।  
यो वसित तमिह प्राणः प्राणुर्भूदतरं नरम् ॥

( मुमुक्षु-प्रकरण ११ । ४९-५० )

'शानी महात्माके चाहिये कि पूर्वापरका विचार करके यथार्थ निश्चय करनेमें विषयकी दुष्किं उमर्थ हो, जिसके आचरण निन्दनीय न हों, ऐसे ही पुरुषको उसके पूछे हुए तत्का उपदेश दे। जो आहार-निधा, भय-नैयुन आदि पशुधर्मसे संयुक्त है, ऐसे अधमको उपदेश न दे। प्रस्तुतकामें श्रुति आदि प्रमाणोंके हारा निर्णय किये हुए तत्त्व-पदार्थको ग्रहण करनेकी योग्यता है या नहीं, इसका विचार किये बिना ही जो बक्ता उसे उपदेश देता है, उसको शानीका इस लोकमें महान् मूढ़ बतलाते हैं।'

इसीलिये महर्षि बसिष्ठ आदर्ण गुरु है तथा भगवान् रामचन्द्र आदर्ण शिष्य है। गुरु-शिष्यको इन्हींका अनुसारण करनेवाले होना चाहिये।

मुमुक्षुके जीवनमें सहज ही शास्त्रानुकूल आचरण, सत्यम्, सत्य, शम, दम, विषय-वैराग्य और मोक्षकी तीव्र इच्छा होनी ही चाहिये। महर्षि बसिष्ठ तो शम, दम, सत्यादि गुणोंसे रहित मनुष्यको मनुष्य ही नहीं मानते। वे कहते हैं—

येषां गुणेभ्यसंतोषो रागो येषां शुतं प्रति ।

सत्यव्यसानिनो ये च से नरः पश्चादोऽपरे ॥

( सिद्धि-प्रकरण १२ । ४३ )

जिनका ( इन शम-दमादि ) गुणोंके विवरमें संतोष नहीं है ( इनके जो बढ़ाना ही चाहते हैं ), जिनका शास्त्रके प्रति अनुरोग है तथा जिनके सत्यके आचरणका ही व्यवसन है, वे ही वात्तव्यमें मनुष्य हैं, दूसरे तो पशु ही हैं।'

अतएव सच्चे कल्याणकामी पुरुषोंको इन शास्त्रानु-मोदितं गुणोंसे सम्पन्न होकर परमात्माके यथार्थ शानकी प्राप्तिके लिये पूर्णव्यवसे साधनाम्यात करना चाहिये। इसके लिये सच्चे महात्मा पुरुषोंका सङ्ग तथा सेवन ( उनके कथनानुसार जीवन-निर्माण ) आवश्यक है। इसके बिना कोरे तप, तीर्थ या शास्त्राध्ययनसे सफलता नहीं मिलती। पर महात्मा सच्चे होने चाहिये। और कुछ न हो तो इतना अवश्य देख ले कि हम जिनका सङ्ग करते हैं, उनकी संगरिसे दुर्गुणों-दुराकारोंका

नाश होता है या नहीं। उनके बीचनगत सहब जालप्रतिपादित आचरणोंसे हमें युद्धचार-द्वुर्गणोंके स्थान और सदाचार-सदृशोंके ग्रहणके लिये प्रेरणा मिलती है या नहीं। महर्षि बलिष्ठ कहते हैं—

छोमसीहृषीं परस सदुताकुदिर्ण भवेष।  
यथासाक्षं विहरति सकर्मसु स सम्बनः ॥

( खिति-प्रकरण ३ । १५ )

‘बिलके सफ्टसे लोम, गोह और क्रोध प्रतिदिन क्षीण होते हैं और वो शाशके अनुसार अपने कर्मोंका आचरण करनेमें क्षमा रहता है, वह सद् पुरुष है।’

भोक्तके द्वारपर निवास करनेवाले ये चार द्वारपाल बतलाये गये हैं—क्रम, विचार, संतोष और साधुसङ्ग। इन चारोंकी भलीभौंति सेवा की जाती है तो ये भोक्तुर्ली यज्ञ-प्राप्तिका द्वार खोल देते हैं।

ऐसे सैकड़ों, हजारों वर्चन इस महान् ग्रन्थमें हैं, जिनमें शास्त्रोक आचरण, संयम, नियम आदि साधनोंकी उपायेयता और नितान्त प्रयोजनीयताका उपदेश भरा है।

योगवाचिष्ठमें देवकी वही निवा सथा पौरुषकी प्रशस्त की गयी है। एवं निष्काममायसे सावधानीके साथ शाश्वानुकूल सकर्म करनेपर बहुत बोर दिया गया है। महर्षि बलिष्ठ कहते हैं—

यस्तद्वारत्यमत्कारः सदाचारविहारवान् ।  
स लिंगाति लग्नमोहान्दुर्गमः पञ्चरात्रिः ॥

( सुखुम-प्रकरण ३ । २६ )

अवहारत्यज्ञाणि याम्बुपायामिति शम्भिः च ।  
यथासाक्षं विहरत्यं तेषु स्यस्त्वा भुक्षामुखे ॥  
यथासाक्षमनुषिष्ठन्नां मर्यादा सामनुज्ञतः ।  
उपादिष्ठमिति सर्वाणि रसायनमनुनिष्ठादित त  
स्वार्थप्राप्तक्षम्यंकर्मयत्परता तुच्छैः ।  
ओक्तं पौरुषव्यवेदं सर्वं लिंगैः साक्षयनित्यतः ॥

( सुखुम-प्रकरण ३ । १००-१२ )

‘को पुरुष उदार-स्वभाव तथा सकर्मके सम्बन्धमें कुशल है, उदाचार ही जिनका चिह्न है, वह बगतके मोह-पाशसे सं० खो० अ० २—

वैसे ही निकल जाता है, जैसे पिंकरेसे लिंग। सउरमें आने-जानेवाले स्वर्णों अवहार हैं। उनमें दुख-मुदितका स्थान करके शाश्वानुकूल आचरण करना चाहिये। शाश्वाके अनुकूल और कभी उन्निष्ठन न होनेवाली अपनी मर्यादाका बो स्थान नहीं करता; उस पुरुषको समस्त अर्थीष्ट वस्तुएँ वैसे ही प्राप्त हो जाती हैं, जैसे सागरमें गोता लगानेवालेको रक्तोंका समूह। जिसमें अपना मानव-बीचनका प्रधान कर्म—स्वार्थ सधारा हो; उस स्वार्थकी प्राप्ति करनेवाले साधनोंमें ही तत्त्व हो रहनेको विद्वान्लोग ‘पौरुष’ कहते हैं।’

ये समुद्घोगमुत्सव्य स्थिता दैवपरमणाः ।  
ते धर्ममर्थं कामं च नाशयन्मयात्मविद्विषः ॥

( द्विषुम-प्रकरण ७ । ८ )

‘को लोग उद्योगका स्थान करके केवल दैवके भरोसे भेटे रहते हैं, वे अपने धर्म, अर्थ, काम और भोक्त—चारों पुरुषवार्योंका नाश कर आज्ञते हैं। वे आलसी भनुप्य आप ही अपने बाधु हैं।’

अमुमेषु समाविष्टं शुभेन्देवावत्तारयेत् ।  
प्रशस्तजाविष्टमित्येपं सर्वशास्त्रार्थसंप्रहः ॥  
यद्वैयो यद्गुण्डं च यदपायविवर्जितम् ।  
तत्प्राप्तर श्लेषं पुत्रैति पुरुषः स्थिताः ॥

( द्विषुम-प्रकरण ७ । १२-१३ )

‘अमुमेषु कर्मोंमें लो हुए मनको बहुसे हटाकर प्रयत्नवैरुक्त शुभ कर्मोंमें लगाना चाहिये। यह उच शास्त्रोंके शरत्न सम्रद है। को वस्तु कल्याणकारी है, वह त्रुच्छ नहो है ( वही सबसे भेष्ट है )। तथा बिलक कभी नाश नहीं होता, उडीन यज्ञालूपीक आचरण करना चाहिये—गुरुजन यही उपदेश देते हैं।’

जीवनमुक्तके लक्षण बतलाते हुए महर्षि बलिष्ठ कहते हैं—  
यथासितमिदं परम अवहारत्योऽपि च ।  
अस्ति गतं स्थितं ष्योम जीवन्मुक्तः स उत्पत्ते ॥  
कोर्जिकलिष्ठर्णा यातो जाग्रत्येव द्विषुमवद् ।  
य आस्ते अवहारैव जीवन्मुक्तः स उत्पत्ते ॥  
नोदेति जालमायाति भुजे हुये भुजमभा ।  
यथामासस्थितेष्यं जीवन्मुक्तः स उत्पत्ते ॥

यो भ्रागति सुपुषुस्यो यस्य जाग्रन्न विचारे ।  
यस्य निरांमनो बोधो जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥  
यस्य नाहंकृतो भावो यस्य बुद्धिर्न लिप्यते ।  
कुर्वत्सोऽकुर्वत्सो वापि स जीवन्मुक्त उच्यते ॥  
यस्योम्भेषिमेशाहौद्विदः प्रलयसम्बन्धौ ।  
पश्येत् त्रिलोक्याः न्यसमः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥  
यस्या दोद्विजते लोको लोकव्याहृतिः च यः ।  
हर्षामर्पभग्नन्मुक्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥  
वामसंवरकल्पः कलावामपि लिप्यतः ।  
यः सचिनोऽपि निक्षिप्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥

( बत्परिम्परण ९ । ४-५, ९-१२ )

अथायेन्द्र अवहार करते हुए भी विट पुरुषकी दृष्टियें यह जगत् ज्यों-का-ल्यों बना हुआ ही विलीन हो जाता है और श्याकाशके समान शृङ्ख प्रतीत होने लगता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है । जो अवहारमें लगा हुआ ही एकमात्र वोषनिष्ठा-ज्ञे ग्राह होकर वामद-अवस्थामें भी सुषुप्त पुरुषकी भोक्ति राग-द्वेष, हर्ष-शोकदिसे रहित हो जाता है, उसे जीवन्मुक्त कहते हैं । विसुके मुखकी कान्ति सुखमें उद्दित नहीं होती—जगमगती नहीं और हुःखमें अस्त—पीकी नहीं हो जाती और जो कुछ मिल जाय उसीमें संतोषपूर्वक जो जीवन-निर्वाह करता है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है । जो निर्विकार आत्माये सुपुत्रिकी तरह स्थित रहता हुआ भी अविद्याल्प निद्राका निवारण हो जानेसे सदा जागता रहता है, पर जो जाग्रत् भी नहीं है, भोग-जगत्में सदा सोया हुआ है अर्थात् भोगबुद्धिसे जो किसी भी पदार्थका उपयोग नहीं करता और जिसका ज्ञान धारनारहित है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है । जिसमें अहङ्कारका भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि कर्म करते समय कर्तृत्वके और कर्म न करते समय अकर्तृत्वके अभिमानसे छिन नहीं होती, वह जीवन्मुक्त कहलाता है । जो जानस्वरूप परमात्माके किञ्चित् उन्मेष तथा निमेषमें ही सीनों लोक्योंकी प्रलय तथा उत्पन्न देखता है और जिसका सबके प्रति समान आत्मपात्र है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है । न तो जिससे लोगोंको उद्गेग होता है और न लोगोंसे जिसको उद्गेग होता है तथा जो हर्ष, अमर्त और भयसे रहित है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है । जिसकी सुखरक्ते प्रति सत्पता-बुद्धि नहीं रही है, जो अवयवयुक्त दीन्यनेपर भी बहुतः अवयव-

रहित है । जो विस्तयुक्त होकर मी वास्तवमें चित्तसे रहित है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है ।<sup>३</sup> जीवन्मुक्तकी इस स्वरूप-व्याख्यामें पतत लगता है कि यथार्थ ज्ञान ही जीवन्मुक्तका स्वरूप होता है । केवल भौतिक ज्ञान से प्रदर्शनमात्र तथा भोगेकी जीव है ।

योगधारिषुमें योगके साधन तथा योगसिद्धियोक्ता एवं योगभूमिकाओंका भी महारपूर्ण प्रतिपादन है । उनका मर्म यिन्हा अनुभवी योगसिद्ध गुरुके समझमें आना बहुत कठिन है । योगधारिषुमें दर्शन तथा योगसम्बन्धी ऐसे-ऐसे ग्रन्द व्यापे हैं, जिनका अर्थ समझना केवल भाषाज्ञानसाध्य नहीं, परतु साधन-साध्य है ।

योगवासिष्ठुमें कर्म और भक्तिका कहीं निशेष नहीं है । कर्मकी तो परमावस्थकर्ता ही बतलायी है । पौरुष कर्ममय ही होता है । अवश्य ही वह कर्म होना चाहिये कामना, आसक्ति तथा अहंकारसे रहित । यद्यपि भक्तिका वैष्णवज्ञानों-जैसा वर्णन नहीं है, तथापि मदान्नार-सस्तङ्गमूलक उपासनाका बगह-जगह प्रतिपादन है । प्रह्लादके प्रभमङ्गसे भक्तिकी भी बहुत बातें आयी हैं । भगवान् श्रीरामचन्द्रको पूर्णव्रत बतलकर स्वयं विलिष्ठने नमस्कार किया है । महर्षि भरद्वाजने अपने तथा भगवान् श्रीरामचन्द्रजीमें भेद बतलाते हुए महर्षि वासीकिजीसे कहा है—

श्रीरामचन्द्रजी तो परम योगी, समस्त विद्यके कन्दनीय,  
देवताओंके ईश्वर, अवन्मा, अविनाशी, विशुद्ध ज्ञान-स्वभाव,  
समख्य गुणोंके निधान, सम्पूर्ण ऐश्वर्योंके आधार एवं सीनों  
लोकोंके उभाडन, संरक्षण और अनुग्रह करनेवाले हैं—

स खलु परमयोगी विश्ववन्धा: सुरेक्षो

जगन्मरणाहीनः शुद्धबोधस्वभावः ।

सकलगुणमिधानं सक्षिधानं रमाया-

जिग्नादुत्तरक्षानुग्रहायामधीशः ॥

नि० प्र० पूर्वार्थ० १२७ । ० )

महर्षि-विश्वमित्रने भगवान् श्रीरामचन्द्रकी बहुत वही महिमाका गात्र किया है और ज्ञानिष्ठादि भग्नी उसे सुनकर अपन्त आहारित हुए हैं ।

उही श्रीरामचन्द्रजीका अशानी बनकर ज्ञान प्राप्त करनेकी

बाल, सो लीलामय भगवान्‌के लिये इसमें कौन-भी दोषकी बात है। सो भगवान् श्रीरामचन्द्र विद्यार्थीं बनकर गुरु वसिष्ठसे विद्यार्थ्यन करते हैं, विश्वामित्रसे अज्ञ-शिक्षा प्राप्त करते हैं, सच्चे पतिके रूपमें श्रीताकु दुःखसे महान् दुःखी होते हैं, स्वैयं तथा अकर्मी भोगि नीनके लिये बन-बन रोते फिरते और जिन किनीमें श्रीताका पना पूछते हैं, इसमें के लिये विलाप-प्रलाप अतते हैं, वे भगवान् यदि न्यैक-न्यग्रहके स्विये अशानी, वैराघ्यवान्, तथा मुमुक्षु भजन्तु आदर्श भिन्न लीलामें प्रवृत्त होकर महार्पि वसिष्ठको शानशालके प्रतिपादन-में प्रवृत्त करते हैं और उसे सुनकर अपनेको कृतार्थ मानते हैं तो इससे उनकी परापरता, परजाहालपता, विश्वदशानस्तुपता, ईमरता आदिमें कहीं कुछ कमी आ जाती है। यह नो मानना ही भूल है।

कुछ सवालोंका कथन है कि योगवासिष्ठमें बहुत अनुचित रूपसे नारी-मिन्दा की गयी है, पर वस्तुतः ऐसी भी बात नहीं है।

यों सो योगवासिष्ठसे जो कुछ भी आगकि-कामना चढ़ानेवाली चीजें हैं, परमार्थ क्षेत्रमें वे सभी निन्दनीय तथा स्पष्ट हैं— नारी, घन, राज्य, इन्द्रियोंके प्रत्येक विषय। पर योगवासिष्ठमें भारी-जीरक भी प्रतिष्ठा है। निखिलधर्मजैसे राजनायणी वरव्यक्तियां तथा भूति पुरस्कारों खुड़ाला नारी ही विश्वदशानका उपरोक्त करके उन्हें परमपद प्राप्त बनाती है तथा अहोरात्रन्य होकर राजकर्मके प्रतिषाळनमें प्रवृत्त करती है। चूटाल-जैसी योगविद्वा, शान-विद्वा, नमग्रजा, ब्रह्मकृष्ण ब्रह्मवृत्तपा नारीना किम ग्रन्थमें विजाह वर्णन हो और नारी हत्ती उच्च मरतन पहुंच भक्ती है; इसका जिसमें प्रतिपादन हो, उस ग्रन्थको नारी-निन्दक भानना कभी चुकिसगत नहीं है।

योगवासिष्ठमें सुन्दर-सुन्दर आख्यानों, इतिहासोंके द्वारा बही ही सुन्दर रीतिसे ब्रह्मकृतज्ञका प्रतिपादन हुआ है, जो प्रक महान् कार्य है। इसमें दोषद्विन फूरके मर्मोंसे वासी दक्षि तथा भावके अनुसार वयामार्थ लाभ उठाना चाहिये।

## योगवासिष्ठका दुरुपयोग नहीं होना चाहिये

( लेखक—भक्त श्रीरामशरणदासी )

‘करुपाण’का विशेषाङ्क योगवासिष्ठका निकल रहा है, यह वहे ही आनन्दकी बात है। यह वहा ही उपादेश सुविशेष शानप्रतिपादक महान् प्रन्थ है। इसमें आराम-परमार्था, जीव-जगत्, वन्धन-भोक्त आदि दुरुपयोगका बहुत ही सुन्दर रूपस्तीकरण किया गया है। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डमायक स्थानें परमात्मा भगवान् श्रीराघवेन्द्र और परम पूज्य शानस्वरूप महर्षि वसिष्ठके संवादक्रममें यह निःसंदेह अस्युत्कृष्ट रचना है। इसलिये इसका प्रकाशन बहुत ही आदरणीय है। परंतु वहे जेदके साथ निवेदन करते हुए मैं यह अन्नकाके साथ चेतावनी देता हूँ कि इसका दुरुपयोग नहीं होना चाहिये। मैंने देखा है कि ढोंगी लोग संतोषका बेष बनाकर ‘योगवासिष्ठ’ और ‘विश्वारसागर’लिये गाँध-गाँध छूमते हैं, चेला-चेली बनाते हैं। शालीय बगो-प्रमधर्म, लालचार, शम, दम, ईश्वरभक्ति, भगवत्पूजन, जामजाप-कीर्तन, संध्या-अर्चवा, आह-तर्पण आदिका द्वारा विरोध करके लोगोंको उच्छ्वासल बनाते हैं। उनको मनमादा भावरण करनेके लिये प्रेरणा देने हैं और भयना उहूँ सीधा करनेके लिये जगत्-को तथा जागतिक उच्छ्वासोंको मिथ्या धकाकर ‘अहं ग्राहासि’ की टड छाकर ‘एक ग्रह’ बने हुए ये अनविकारी कलियुगी पाखण्डीलोग खुले-आम द्वाक्षाचारके सर्वथा विश्वदशानके भागपर नरकामलमें होकरने हैं। ऐसे स्लोगोंके द्वारा इसका दुरुपयोग नहीं होना चाहिये। यही मेरा नम निवेदन है।

## श्रीगुरुवर-वसिष्ठ-स्तोत्र

( रचयिता—प० श्रीरामनारायणजी निषाठी 'मिश्र' शास्त्री )

सप-तेज-पुंज  
गुरुवर वसिष्ठ । तुमको प्रणाम ॥

खाटौं वेदोक्ता रस वरिष्ठ ।  
वेदान्त विषय जो था गविष्ठ ॥  
कर सरल कथामौं में गविष्ठ ।  
कर विद्या उसे लघुतम सुमिष्ठ ॥

यह ऐस तुम्हारा कलित काम ।  
गुरुवर वसिष्ठ ! तुमको प्रणाम ॥

यह गुकि दिखाकर तुम न्यारी ।  
बन गये विश्वके हितकारी ॥  
अरण्य शानके अधिकारी ।  
हैं सभी तुम्हारे आभारी ॥

ग रहे तुम्हारे गुणप्राम ।  
गुरुवर वसिष्ठ ! तुमको प्रणाम ॥

जिस समय सूर्यवंशी नरेश ।  
संचालित करते थे जदेश ॥  
उस समय उन्हें दे सतुपदेश ।  
हरते थे तुम मामसिक कलेश ॥

पाते थे वे जगसे विराम ।  
गुरुवर वसिष्ठ ! तुमको प्रणाम ॥

श्रीरामचन्द्रको पात्र जान ।  
जो दिया उन्हें था महाशान ॥  
सुनि चालमीकिसे असृत मान ।  
वह भर चुष्ठन्दोंमें निशान ॥

रच प्रम्य योगवासिष्ठ नाम ।  
गुरुवर वसिष्ठ ! तुमको प्रणाम ॥

यह प्रम्य मिद्य विष-विषय चाव ।  
आध्यात्म ओर करता लुक्ष्य ॥  
हर अीक ग्रहका भेदभाव ।  
बन एहा भवान्मुषि हेतु चाव ॥

यह ऐस तुम्हीको है ललाम ।  
गुरुवर वसिष्ठ ! तुमको प्रणाम ॥

हैं इसमें बर्णित वे सुयोग ।  
हरते हैं जो अवजानित दोग ॥  
जिसका समयोचित कर प्रयोग ।  
पाते हैं तुम्हगति लाजु लोग ॥

खण्डित कर माया मोह दाम ।  
गुरुवर वसिष्ठ ! तुमको प्रणाम ॥

उपदेश तुम्हारा है विविज ।  
जो करता है हियको पवित्र ॥  
जिससे जन बनकर सखरिज ।  
हो जाते हैं ग्रहण 'मिश्र' ॥

मिलता है उमको परम धाम ।  
गुरुवर वसिष्ठ ! तुमको प्रणाम ॥

# संक्षिप्त योगवासिष्ठ

## वैराग्य-प्रकरण

सुतीक्ष्ण और अगस्ति, कारुण्य और अधिवेश्य, सुरुचि तथा देवदूत और अरिष्टनेमि  
एवं वाल्मीकिके संवादका उल्लेख करते हुए भगवान्के भीरामावतारमें

### श्रवियोंके शापको कारण बताना

यतः सर्वोणि भूतानि प्रतिभान्ति शितानि च ।  
यत्रैवोपदामं यान्ति तस्मै सत्यात्मने नमः ॥

सृष्टिके आरम्भमें सम्पूर्ण भूत जिनसे प्रकट होकर  
प्रतीतिके विषय होते हैं, खिंचिकालमें जिनमें ही शित  
होते हैं और प्रलयकाल आनेपर जिनमें ही लीन हो जाते  
हैं, उन सत्यखलूप परमात्माको नमस्कार है ।

ज्ञाता ज्ञानं सथा हेयं द्रष्टा दर्शनस्थम् ।  
कर्ता हेतुः क्रिया यज्ञात् तस्मै कृप्यात्मने नमः ॥

ज्ञाता, ज्ञान और हेय; द्रष्टा, दर्शन और हस्य तथा  
कर्ता, कारण और क्रिया—इन सबका जिनसे ही  
आनि भर्त दोता है, उन ज्ञानखलूप पर मात्माको नमस्कार है।

स्फुरित सौकरा यसादानन्दस्याभ्यरेऽवनौ ।  
सर्वेषां जोवनं तस्मै द्रष्टामन्द्यात्मने नमः ॥

जिनसे स्वर्ग और मूर्त्ति आदि सभी लोकोंमें आनन्द-  
खलूपी जलके कण स्फुरित होते हैं—प्राणियोंके अनुभवमें  
आते हैं तथा जो समस्त जीवोंके जीवनाधार हैं, उन  
पूर्ण विभ्यप आनन्दके महासागरखलूप परब्रह्म परमात्माको  
नमस्कार है । ✓

पूर्वकालमें सुतीक्ष्ण नामसे प्रसिद्ध कोई ग्राहण थे,  
जिनके मनमें संशय छा गया था; अतः उन्होंने महर्षि  
आगस्तिके बाश्रममें जाकर उन महासुनिसे आदर्शवर्क  
पूछा—‘मगवन्’। आप धर्मके तत्त्वको जानते हैं । आपको  
सम्पूर्ण शास्त्रोंके सिद्धान्तका सुनिखित ज्ञान है । मेरे  
१. अगस्ति और अगस्त्य एक ही महर्षिके नाम हैं ।

इदयमें एक महान् संदेह है, आप कृपापूर्वक इसका  
समाधान कीजिये । मोक्षका साधन कर्म है या ज्ञान है  
अथवा दोनों ही हैं ? इन दोनों पक्षोंमेंसे किसी एकका  
निष्क्रिय करके जो वाल्मीकिमें मोक्षका कारण हो, उसका  
प्रतिपादन कीजिये ।



अगस्तिने कहा—महान् । जैसे दोनों ही पक्षोंसे  
पक्षियोंका आकाशमें उड़ना सम्भव होता है, उसी ग्रन्थार  
ज्ञान और निष्काम कर्म दोनोंसे ही एमपदकी प्राप्ति  
होती है । इस विषयमें एक प्राचीन इतिहास है, जिसका

मैं तुम्हारे समझ बर्णन करता हूँ । पहलेकी बात है, कारुण्य नामसे प्रसिद्ध एक ग्राहण थे, जो अभिवेश्यके पुत्र थे । उन्होंने समूर्ण नेदोंका अध्ययन किया था तथा वे वेद-वेदाङ्गोंके पारंगत विद्वान् थे । गुरुके यहाँसे विद्या पढ़कर अपने घर लौटनेके बाद वे संध्या-वन्दन आदि कोई भी कर्म न करते हुए तुपचाप बैठे रहने लगे । उनके मनमें संशय भरा हुआ था । पिता अभिवेश्यने देखा कि मेरा पुत्र शास्त्रोक्त कर्मोंका परिव्याग करके निन्दनीय हो गया है, तब वे उसके हितके लिये इस प्रकार बोले ।

अभिवेश्यने कहा—बेटा ! यह क्या बात है ? तुम अपने कर्तव्य-कर्मोंका पालन कपों नहीं करते ? बताओ तो सही । यदि सकर्मोंके अनुष्ठानमें नहीं लगोगे तो तुम्हें परम प्रियि कैसे पास होगी ! तुम जो इस कर्तव्य-कर्मसे निवृत्त हो रहे हो, इसमें क्या कारण है ? यह मुझसे कहो ।



कारुण्य बोले—पिताजी ! आजीशन अभिवेश्य और

प्रतिदिन संघोपासना करे—इस प्रवृत्तिरूप धर्मका श्रुति और स्मृतिने विद्यान अथवा प्रतिपादन किया है । साथ ही एक दूसरी श्रुति भी है, जिसके अनुसार न भनसे, न कर्मसे और न संतानके उत्पादनसे ही मोक्ष प्राप्त होना है । मुख्य-मुख्य यतियोंने एकमात्र त्य गसे ही अमृतस्फूर्प मोक्ष सुखका अनुभव किया है । पूज्य पिनाजी ! इन दो प्रकारकी श्रुतियोंमेंसे मुझे किसके आदेशका पालन करना चाहिये ? इस संशयमें पड़कर मैं कर्मकी ओरसे उदासीन हो गया हूँ ।

अगस्ति कहते हैं—तात सुतीक्ष्ण ! पिता से यो कहकर वे ग्राहण कारुण्य त्रुप हो गये । पुत्रको इस प्रकार कर्मसे उदासीन हुआ देख पिताने पुनः उससे कहा ।

अभिवेश्य शोले—बेटा ! मैं तुमसे एक कथा कहता हूँ, उसे सुनो और उसके समूर्ण तार्पणका अपने दृढ़व्यामें निश्चय कर लेनेके पश्चात् तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा करो ।

सुरुचि नामसे प्रसिद्ध कोई देवलोककी ली थी, जो असराधोंमें श्रेष्ठ समझी जाती थी । एक दिन वह मयूरोंके छुड़से भिरे हुए हिमालयके एक शिखरपर बैठी थी । उसी समय उसने अन्तरिक्षमें इन्द्रके एक पूतको कही जाते देखा । उसे देखकर असराधोंमें श्रेष्ठ महाभागा सुक्ष्मिने इस प्रकार पूछा—‘महाभाग देवदूत ! आप कहाँसे आ रहे हैं और इस समय कहाँ जायेंगे ? यह सब कृपा करके मुझे बताइये ।’

देवदूतने कहा—मद्दे ! सुनो; जो वृत्तान्त जैसे घटित हुआ है, वह सब मैं तुम्हें विस्तारसे बता रहा हूँ । सुन्दर भैंहोवाली सुन्दरी । धर्मार्था राजा अरिष्ठनेमि अपने पुत्रको राज्य देकर खयं गीतराग हो तपस्याके लिये बनमें चले गये और अब गन्धमादन पर्वतपर वे तपस्या

१. न कर्मणा न प्रकृत्या धनेन त्यगेनैके अन्तर्गतमानशुः ।  
( कैवल्य० २ तथा महानारायणोपनिषद् १०१ ५ )

कर रहे हैं। वहाँ बनमें ज्यों ही उन्होंने दुखर तपस्या आरम्भ की, त्यों ही देवराज इन्हने मुझे आदेश दिया—‘दूत। तुम यह विमान लेकर शीघ्र वहाँ जाओ। इस विमानमें अस्तराओंके समुदायको भी साथ ले लो। नाना प्रकारके वाष इसकी शोभा बढ़ाते रहें। गन्धर्व, सिद्ध, यज्ञ और किंनर आदिसे भी यह सुशोभित होना चाहिये। इसमें ताल, बेणु और मृदग आदि भी रख लो। इस प्रकार भौति मौतिके वृक्षोंसे भरे हुए सुन्दर गच्छमाझन पर्वतपर पहुँचकर तुम राजा अरिष्टनेमिको इस विमानपर चढ़ा लो और उन्हें खर्गका सुख भोगनेके लिये अमरावती नगरीमें ले जाओ।’

देवराज इन्द्रकी यह आङ्गा पाकर मैं सामग्रियोंसे संयुक्त विमान ले उस पर्वतपर गया। वहाँ पहुँचकर राजा अरिष्टनेमिके आश्रमपर गया; फिर मैंने देवराज इन्द्रकी सारी आङ्गा राजसे कह सुनायी। छुमे! वे मेरी बात सुनकर संदेहमें पड़ गये और इस प्रकार बोले—‘देवदूत! मैं आपसे एक बात पूछना चाहता हूँ, आप मेरे इस प्रश्नका उत्तर दें। खर्गमें कौन-कौन-से गुण हैं और कौन-कौन-से दोष? आप मेरे सामने उनका सुस्पष्ट वर्णन दीजिये। खर्गलोकमें रहनेके गुग-दोषको जाननेके पश्चात् मेरी जैसी रुचि होगी, वैसा कहँगा।’

मैंने कहा—‘राजन्! खर्गलोकमें जीव अपने पुण्यकी सामग्रीके अनुमार उत्तम सुखका उपभोग करता है। उत्तम पुण्यसे उत्तम खर्गकी प्राप्ति होनी है, मध्यम पुण्यसे मध्यम खर्ग मिलता है और इनकी अपेक्षा निम्न श्रेणीके पुण्यमें उसके अनुरूप खर्ग सुखम ढोता है। इसके विपरीन कुछ नहाँ होना। खर्गमें भी दूसरोंको अपनेसे कई स्थितिमें देखकर लोगोंके लिये उनका उल्कर्ष असद्ग हो ड़ठना है। जो लोग समान स्थितिमें होते हैं, वे भी अपने वरावरवान्नोंके साथ स्पर्धा ( लागडोट ) रखते हैं तथा जो खर्गवासी अपनेसे हीन स्थितिमें होते हैं, उनको अपनी अपेक्षा अल्पसुखी देखकर अधिक

सुखवालोंको सतोष होता है। इस प्रकार उसहिण्ठाता, स्पर्धा और संतोषका अनुभव करते हुए पुण्यात्मा पुहर तभीतक खर्गमें रहने हैं, जबतक उनके पुण्योंका भोग समाप्त नहीं हो जाता। पुण्योंका क्षय हो जीनेपर वे जीव पुनः इस मर्त्यलोकमें प्रवेश करते हैं और परिंव-शरीर धारण करते रहते हैं। राजन्! खर्गमें इसी तरहके गुण और दोष विवरण हैं।’

भड़े! मेरी यह बात सुनकर राजाने इस प्रकार उत्तर दिया—‘देवदूत! जहाँ ऐसा फल प्राप्त होता है, उस खर्गलोकमें नहीं जाना चाहता। आप इस विमानको लेकर जैसे आये थे, वैसे ही देवराज इन्द्रके पास चले जाइये। आपको नमस्कार है।’

भड़े! जब राजाने मुझसे ऐसी बात कही, तब मैं इन्द्रके समक्ष यह बृत्तान्त निवेदन करनेके लिये लौट गया। वहाँ जब मैंने सब बातें ज्यों-की-त्यों कह सुनायी, तब देवराज इन्द्रको महान् आश्र्य हुआ और वे जिग्ध एवं मधुर वाणीमें मुझसे पुनः बोले।

इन्हने कहा—‘दूत! तुम फिर वहों जाओ और उस विरक्त राजाको आत्महानकी प्राप्तिके लिये तरुण महर्षि वाल्मीकिके आश्रममें ले जाओ। वहाँ महर्षि वाल्मीकिमे भेरा यह सदेश कह देना—‘महामुने! इन विनयशील, शीतराग तथा खर्गकी भी हृष्टा न रखनेकाले नरेशको आप तत्त्वज्ञानका उपदेश दीजिये। ये जन्म-मरणरूप संसार-दुःखसे पीड़ित हैं; अतः आपने दिये हुए तत्त्व-ज्ञानके उपदेशसे इन्हें मोक्ष प्राप्त होगा।’

यों कहकर देवराजने भुजं राजा अरिष्टनेमिके गास भेजा। तब मैंने पुन वहाँ जाकर राजाको वाल्मीकिजीनके पास पहुँचाया, उनसे देवराज इन्द्रका संदेश कहा तथा राजाने उन महर्षिसे मोक्षका साधन पूछा। तदनन्तर वाल्मीकिजीने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक कुशलप्रभकी दान आरम्भ करते हुए राजासे उनके आरोग्यका नमाचार पूछा।

राजाने कहा—भगवन् ! आपको धर्मके तत्त्वका ज्ञान है । जाननेयोग्य जितनी भी बातें हैं, वे सब आपको ज्ञात हैं । विद्वानोंमें श्रेष्ठ महर्षे । आपके दर्शनसे मैं कृतार्थ हो गया । यही मेरी कुशल है । भगवन् ! मैं आपसे कुछ पूछना चाहता हूँ । आप इना किसी विषयाधारके में शहाका समाधान करें । संसार-वन्धनके दुःखसे मुझे जो पीड़ा हो रही है, उससे किस प्रकार मेरा छुटकारा होगा ? यह बताइये ।



श्रीवाल्मीकिजीने कहा—राजन् ! मैं तुमसे अखण्ड शामयणकी कथा कहूँगा । उसे सुनकर यत्पूर्वक हृदयमें धारण कर लेनेपर तुम नीवन्मुक्त हो जाओगे । राजेन्द्र ! यह गमयण महर्षि वसिष्ठ और श्रीरामके संवादरूपमें वर्णित है । वह मोक्षप्राप्तिके उपायकी मङ्गलमयी कथा है । मैंने तुम्हारे समावको समझ लिया है; अतः तुम्हें अधिकारी मानकर मैं तुमसे वह कथा कहूँगा । विद्वान् गरेश ! मुनो ।

राजाने पूछा—तखानियोंमें श्रेष्ठ महामुने ! श्रीराम कौन है ? उनका खरूप कैसा है ? वे किसके वंशज

थे ? वे बद्ध थे या मुक्त ? पहले आप मुझे इन्हीं बातोंका जिज्ञान ज्ञान प्रदान कीजिये ।

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—स्वयं भगवान् श्रीहरि ही शाप-के पालनके बहाने राजा श्रीरामके रूपमें अवतीर्ण हुए थे । वे प्रथम सर्वज्ञ होनेपर भी ( अपने भक्त महर्षियोंकी बाणीको सत्य करनेके लिये ही ) आरोपित अथवा स्वेच्छासे गृहीत अज्ञानसे युक्त हो सधारण मनुष्योंकी भोगि अल्पज्ञ-से हो गये ।

राजाने पूछा—महर्षे ! श्रीराम तो सञ्चिदानन्द-स्वरूप चैतन्यधनविप्र हे । उन्हें शाप प्राप्त होनेका क्या कारण था ? यह बताइये । साप ही यह भी कहिये कि उन्हें शाप देनेवाला कौन था ?

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—राजन् ! ( ब्रह्माजीके मानस पुत्र ) सनस्कुमार, जो सर्वथा निष्काम थे, ब्रह्मलोकमें निवास करते थे । एक दिन त्रिलोकीनाथ सर्वशक्तिमान् भगवान् विष्णु ब्रैकुण्ठलोकसे वहों पथारे । उस समय ब्रह्माजीने वहों उनका पूजन किया । सत्यलोकमें निवास करनेवाले दूसरे-दूसरे महात्माओंने भी उनका खागल-सत्कार किया । केवल सनस्कुमारने उनके आदर-सत्कारमें कोई भाग नहीं लिया—वे चुपचाप बैठे ही रह गये । तब उनकी ओर देवकर सर्वेश्वर भगवान् श्रीहरिने कहा—‘सनस्कुमार ! तुम अपनेको निष्काम समझकर बहंकारी हो गये हो, इसीलिये जबवत् स्तब्ध बने बैठे हो । इस गर्वयुक्त चेष्टाके कारण तुम शाप या दण्ड पानेके योग्य हो, अतः शरजन्मा कुमारके नामसे विल्पयात हो दूसरा शरीर धारण करो ।’ यह सुनकर सनस्कुमारने भी भगवान् विष्णुको शाप दिया—‘देवकर ! आप भी अपनी सर्वज्ञताको कुछ कालके लिये छोड़कर अज्ञानी जीवके समान हो जायेंगे ।’ एक समय अपनी पत्नीको श्रीहरिके चक्रसे मारी गयी देख महर्षि युगुका क्रोध बहुत बढ़ गया । वे उन्हें शाप देते हुए बोले—‘विष्णो !

आपको भी कुछ कालके लिये अपनी पक्षीसे वियोगका कष्ट सहना पड़ेगा ।' इस प्रकार सन्तकुमार और शृंगके शाप देनेपर ( उनकी बाणी सत्य करनेके लिये ) मगवान् अनुसार अन्य सारी शार्तें भी बता रहा हूँ । तुम साक्षधान विष्णु उम शापसे मनुष्यरूपमें अवतीर्ण हुए । राजन् । होकर दूनो । ( सर्ग १ )

इस शास्त्रके अधिकारीका निरूपण, रामायणके अनुशीलनकी महिमा, भरद्वाजको  
ब्रह्माजीका वरदान तथा ब्रह्माजीकी आज्ञासे वाल्मीकिका भरद्वाजको  
संसार-दुःखसे कुटकारा पानेके निमित्त उपदेश

देनेके लिये प्रवृत्त होना

दिवि भूमौ तथा इकाशे बहिरन्तरज्ज्वले विमुः ।  
यो विभात्यवभासाभ्या तस्मै सर्वात्मने लभः ॥

जो प्रकाश ( शान् ) खरूप सर्वव्यापी परमात्मा सर्वगमें, भूतलमें, आकाशमें तथा हमारे अदर और बाहर —सर्वत्र प्रकाशित हो रहे हैं, उन सर्वात्माको नमस्कार है ।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं— राजन् । मैं संसाररूपी बन्धनमें बैठा हुआ हूँ, किंतु इससे मुक्त हो सकता हूँ— ऐसा जिसका निरूपण है तथा जो न तो अस्तन्त अज्ञानी है और न तत्त्वज्ञानी ही है, वही इस शास्त्रको बुनने अथवा पढ़नेका अधिकारी है । जो पहले कथारूपी उपायसे युक्त रामायणके बाल, अयोध्या आदि भवी काण्डोका विचार ( परिशीलन ) करके भोक्षके उपायमूल इन वैराग्य आदि छः प्रकरणोंका विचार ( अनुशीलन ) करता है, वह विद्वान् पुरुष फिर इस संसारमें जन्म नहीं लेता ( वह यहाँके जन्म आदि दुःखोंसे सदा के लिये कुटकारा पा जाता है ) । शत्रुओंका मर्दन करनेवाले नरेश । वह रामायण पूर्व और उत्तर—दो खण्डोंसे युक्त है । इसमें राग-द्वेष आदि दोषोंको दूर करनेके लिये रामकथारूपी प्रबल उपाय बताये गये हैं । पहले इन बाल आदि सात काण्डोंकी रचना करके मैंने एकाप्रचित्त हो अपने बुद्धिमान् एवं विनयशील शिष्य भरद्वाजको इसका शान प्रदान किया; ठीक उसी तरह,

मगवान् विष्णुको शापका बहाना क्यों लेना पड़ा, इसका सब कारण मैंने तुम्हें बता दिया, अब तुम्हारे प्रश्नके अनुसार अन्य सारी शार्तें भी बता रहा हूँ । तुम साक्षधान विष्णु उम शापसे मनुष्यरूपमें अवतीर्ण हुए । राजन् । होकर दूनो । ( सर्ग १ )

जैसे समुद्र मणि या रक्षकी इच्छा रखनेवाले याचकको मणि प्रदान करता है । बुद्धिमान् भरद्वाजने मुझसे कथारूपी उपायकाले इन सात काण्डोंका अध्ययन करनेके पश्चात् मेरुपर्वतके किसी गहन बम्भे ब्रह्माजीके सामने इनका वर्णन किया । इससे महान् आशयशाले लोकप्रियमह मगवान् ब्रह्मा भरद्वाजके ऊपर बहुत संतुष्ट हुए और उनसे बोले— 'वेदा ! तुम मुझसे कोई वर माँग को ।'



भरद्वाजने कहा—भगवन् ! भूत, भविष्य और वर्तमानके सामी पितामह ! जिस लपायसे यह समस्त मानव-समुदाय सम्पूर्ण दुःखसे हृष्टकारा पा जाय, वह मुझे बताइये । आज मुझे यही वर अच्छा लगता है ।

श्रीकृष्णाजीने कहा—वत्स ! तुम इस विषयमें शीघ्र ही प्रयत्नपूर्वक अपने गुरु वाल्मीकिजीसे प्रार्थना करो । इन्होंने जिस निर्दोष रामायणकी रचना आरम्भ की है, उसका श्रवण कर लेनेपर मनुष्य सम्पूर्ण मोहसे पार हो जाएँगे ।

श्रीकृष्णाजीकी कहते हैं—भरद्वाजसे यो कहकर सम्पूर्ण भूतोंके साथ भगवान् ब्रह्मा उनके साथ ही मेरे आश्रमपर आये । उस समय मैंने शीघ्र ही अर्थ, पाथ आदिके द्वारा उन भगवान् ब्रह्माजीका पूजन किया । तत्पश्चात् समस्त ग्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले ब्रह्माजीने मुझसे कहा—‘प्रेष्ठ महर्षे ! श्रीरामचन्द्रजीके समाध एवं स्तुत्यका वर्णन करनेवाले इस निर्दोष रामायणका आरम्भ करके जबतक इसकी समाप्ति न हो जाय, तबतक कितना ही उद्देश न क्यों न हो, तुम इसका परिव्याग न करना । इस ग्रन्थके अनुशीलनसे यह जगत् इस संसाररूपी कलेशसे उसी प्रकार शीघ्र पार हो जायगा, जैसे जहाजके द्वारा लोग अधिलम्ब समुद्रसे पार हो जाते हैं । तुम लोकहितके लिये इस रामायण नामक शास्त्रकी रचना करो । इसी बातको कहनेके लिये मैं खयं यहाँतक आया हूँ ।’ तत्पश्चात् वे मेरे उस पवित्र आश्रमसे उसी क्षण अदृश्य हो गये । तब भरद्वाजने कहा—‘भगवन् ! महामना श्रीरामचन्द्रजी, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, यशस्विनी मीतादेवी तथा श्रीरामचन्द्रजीका अनुसरण करनेवाले परम बुद्धिमान् मन्त्रिपुत्र—इन सबने इस संसाररूपी संकटमें पश्चकर कैसा व्यवहार किया था, वह बात मुझे बताइये । इसे सुनकर अन्य लोगोंके साथ मैं भी वैसा ही वर्तव करूँगा ।’

राजेन्द्र ! जब भरद्वाजने आदरपूर्वक मुझसे पूर्वोक्त विषयका प्रतिपादन करनेके लिये अनुरोध किया, तब मैं भगवान् ब्रह्माजीकी आङ्गाका पालन करनेके लिये उक्त विषयके वर्णनमें प्रवृत्त हुआ और बोला—‘वत्स भरद्वाज ! सुनो; तुमने जैसा पूछा है, उसके अनुसार तुम्हें सब कुछ बताता हूँ । मेरे उपदेशको सुननेसे तुम अपना सारा मोह दूर कर सकोगे । बुद्धिमान् भरद्वाज ! तुम वैसा ही व्यवहार करो, जैसा कि आनन्दस्त्रूप कमलनयन भगवान् श्रीरामने समस्त सासारमें अनासक्तभावसे रह-कर किया था ।’

महामना भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, कौसल्या, सुमित्रा, सीता, राजा दशरथ, श्रीरामसाखा कुताक्ष और अक्षिरोध, पुरोहित वसिष्ठ, वामदेव तथा अन्यान्य आठ मन्त्री—ये सभी ज्ञानमें पारंगत थे । धृष्टि, जयन्त, भास, सत्यशारी विजय, शिरीषण, सुपंण, हनुमान् और इन्द्रजित्—ये श्रीरामके आठ मन्त्री बताये गये हैं । ये सब-के-पब समदर्शी थे । इनका चित्त विषयमें आसक्त नहीं था । ये सभी जीशन्मुक्त महात्मा थे और प्रारब्ध-वश जो कुछ प्राप्त होता, उसीमें सतुष्ट रहकर तदनुकूल व्यवहार करते थे । बेटा ! इन ज्ञोगोंने जिस प्रकार होम, दान और आदान-प्रदान किया था, इन्होंने जगत्-में जिस प्रकार निवास किया था और जिस प्रकार स्मरण-चिन्तन अथवा श्रीत-स्मार्त कर्मोंका पालन किया था, उसी प्रकार यदि तुम भी वर्तव करते हो तो संसार-रूपी संकटसे छूटे हुए ही हो । उदार एवं सत्त्वगुणसे सम्पूर्ण पुरुष अपार संसार-समुद्रमें गिरनेपर भी यदि उपर्युक्त उक्तसाधनको अपना ले तो उसे न तो शोक प्राप्त होता है और न वह दीनता अथवा दुःखमें ही पड़ता है । सब प्रकारकी चिन्ताओंसे मुक्त हो वह परमानन्द-सुधाका पान करके सदाके लिये परम तृप्त हो जाता है ।

( सर्ग २ )

## जीवन्मुक्तके सख्तपर विचार, जगत्‌के मिथ्यात्म तथा द्विविध वासनाका निरूपण तथा भगवान् श्रीरामकी तीर्थ-यात्राका वर्णन

भरद्वाज बोले—ब्रह्मन् ! आप श्रीरामचन्द्रजीकी कथासे आसम्भ करके क्रमशः जीवन्मुक्तकी स्थितिका मुझसे वर्णन कीजिये त्रितमेमैं सदाके लिये परम सूखी हो जाऊँ ।

श्रीकाल्मीकिंजीने कहा—साषु पुरुष भरद्वाज ! जैसे खगरहिन ग्रामाशमें नील-पीत आदि वर्णोंका भ्रम होना है उसी प्रकार निर्गुण निराकार प्रकृत्यमें अहानवश जगत्‌की सत्ताका भ्रम होना है । यह जो जगत्सम्बन्धी भ्रम उत्पन्न हो गया है, इसे इस तरह भुला दिया जाय कि फिर कभी इसका स्परण ही न हो—इसीको मैं उसम ज्ञान मानता हूँ । इस दृढ़-प्रपञ्चका अत्यन्त अभाव है—यह बिना हुए ही भासित हो रहा है, जबतक ऐमा बोध नहीं होता, तबनक कोई कभी भी उस उत्कृष्ट आत्मज्ञानका अनुभव नहीं कर सकता; इसलिये आत्मज्ञानका अन्वेषण—उसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिये । इस ( योग-वासिष्ठरूप ) शासकका ज्ञान होनेपर इसी जीवनमें उस आत्मतत्त्वका बोध हो जाय—यह सर्वथा सम्भव ही है—यह होकर ही रहेगा । इसी उद्देश्यसे इस शासकका विस्तार ( प्रचार-प्रसार ) किया जाता है । यदि त्रुम ( अद्वा-भक्तिके साथ ) इस शासकका श्रवण करोगे तो निष्क्रय ही जुन्हें उस आत्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त हो जायगा; अन्यथा उसकी प्राप्ति असम्भव है ।

निष्पाप भरद्वाज ! यह जगत्‌रूपी भ्रम यथापि प्रत्यक्ष दिखायी देता है, तो भी इस शासकके विचारसे अनायास ही ऐसा अनुभव हो जाना है कि 'यह है ही नहीं'—ठीक उसी तरह जैसे आकाशमें नील आदि वर्ण प्रत्यक्ष दीखनेपर भी विचार करनेसे बिना परिअमके ही यह समझमें आ जाना है कि इसका अस्तित्व नहीं है । यह दृश्य-जगत् वास्तवमें है ही नहीं, ऐसा बोध होनेपर जब मनसे दृश्य-प्रपञ्चका मार्जन ( निचारण या अभाव ) हो जाय,

तब परमनिर्वाणरूप शान्तिका खत अनुभव होने लगता है । ब्रह्मन् ! सम्पूर्णरूपसे वासनाओंका जो परिस्थाप ( अत्यन्त अभाव ) है, वही उत्तम मोक्ष कहलाता है । उसे अविद्यारूपी मलसे रहित ज्ञानी ही प्राप्त थर सकते हैं । विप्रवर ! जैसे जीतके नष्ट होनेपर हिमकण तुरत गल जाते हैं, उसी प्रकार वासनाओंके क्षीण हो जानेपर ( वासना-पुण्यरूप ) वित यी शीघ्र ही गल जाता है ( उसका अभाव-सा हो जाता है ) ।

वासना दो प्रकारकी बतायी गयी है—एक शुद्ध वासना और दूसरी मलिन वासना । मलिन वासना जन्मकी हेतुभूत है—उसके द्वारा जीव जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़ता है और शुद्ध वासना जन्मका नाश करनेवाली ( अर्थात् मोक्षकी साधिका ) है । बिदानोंने मलिन वासनाको पुनर्जन्मकी प्राप्ति करनेवाली बताया है । अहान ही उसकी घनीभूत आकृति है तथा वह वहे हुए अहकारसे सुशोभित होती है । जो भुने हुए शीजके समान पुनर्जन्मरूपी अङ्गुरको उत्तम करनेकी शक्तिको त्यागकर केवल शरीरधारण भावके लिये स्थित रहती है, वह वासना 'शुद्ध' कही गयी है । जो लोग शुद्ध वासनासे युक्त हैं, वे फिर जन्मरूप अनर्थके भाजन नहीं होते । जानने योग्य परमामाके तत्त्वको जाननेवाले वे परम बुद्धिमान् पुरुष 'जीवन्मुक्त' कहलाने हैं ।

महामते भरद्वाज ! अब तुम श्रीरामचन्द्रजीकी जीवन-चरितसे सम्बन्ध रखनेवाली इस भद्रकारिणीकथाकाक्षमश अव्रण करो । मैं उसका वर्णन करूँगा, उसीके द्वारा तुम सदाके लिये सम्पूर्ण तत्त्वका ज्ञान प्राप्त कर लोगो । बत्स ! जिन्हें कहींसे भी कोई भय नहीं है, वे कमल-नयन भगवान् श्रीराम जब अध्ययनके पश्चात् विद्याल्यसे निकलकर घरस्तो लौटे, तब भौति-भौतिकी लीन, ऐं करते हुए उन्होंने राजभवनमें युछ दिन व्यनीत किये । तदनन्तर

कुछ समय बीतनेपर, जब कि राजा दशरथ भूमण्डलके पाञ्चनमें लगे थे और प्रजाधर्मके लोग रोग-शोकसे रहित हो गडे सुखसे दिन विता रहे थे, एक दिन अनन्त कल्याणमय गुणोंसे सुशोभित होनेवाले श्रीरामचन्द्रजीके मनमें तीर्थों तथा पुण्यमय आश्रमोंके दर्शनकी अत्यन्त उत्स्फृष्टा जाग उठी। तब श्रीरामने पिताके पास जाकर उनके चरण-कम्बलोंमें प्रणाम किया और इस ग्रकार कहा।



श्रीराम शोले—पिताजी ! मेरे स्वामी महाराज ! मेरे मनमें तीर्थों, देवमन्दिरों, बनों तथा आश्रमोंका दर्शन करनेके लिये वही उत्कंठा हो रही है। आपके समक्ष मेरी यह पहचान याचना है, आप इसे सफल करने योग्य हैं। नाथ ! संसारमें ऐसा कोई याचक नहीं है, जिसे अभीष्ट वस्तु देकर आपने उसका आदर न किया हो।

श्रीराम पहली बार प्रार्थी होकर राजाके समक्ष उपस्थित हुए थे। उनके इस ग्रकार प्रार्थना करनेपर राजा दशरथने वसिष्ठजीके साथ विचार करके उन्हें तीर्थ-

दर्शनके लिये आशा दे दी। उस समय शुभ नक्षत्र और शुभ दिनमें ब्राह्मणोंने आकर उनके लिये स्वस्तिवाचन किया। उनके शरीरको माङ्गलिक वेष-भूषा से अल्पकृत किया गया। माताओंने उन्हें हृदयसे लगा-लगाकर आशीर्वाद दिये और आभूषण पहनाये। फिर वे खुनाधजी तीर्थ-यात्राके लिये उथत हो लक्षण और शत्रुघ्न—इन दो भाइयों, वसिष्ठजीके मेजे हुए शारदा ब्राह्मणों तथा अपने ऊपर स्नेह रखनेवाले कुछ इन-गिने राजकुमारोंके साथ अपने उस राजमवनसे बाहर निकले। श्रीरामचन्द्रजी दान-मान आदिसे ब्राह्मणोंको अपने अनुकूल बनाते, सब घोरसे ग्रजाओंके आशीर्वाद सुनते और सम्पूर्ण दिशाओंके दृश्योंपर दृष्टिपात करते कन्य-प्रदेशोंमें भ्रमण करने लगे। उन्होंने अपने निवास-स्थान उस कोसल जनपदसे आरम्भ करके स्नान, दान, तप और ध्यानपूर्वक क्रमशः समस्त तीर्थ-स्थानोंका दर्शन किया। नदियोंके पवित्र तट, पुष्य बन, पावन आश्रम, जंगल, जनपदोंकी सीमाओंमें स्थित समुद्र और पर्वतोंके तट, चन्द्रमाके समान उज्ज्वल आभावाली गङ्गा, नील कमलकी-सी कान्तिवाली निर्मल कलिङ्गमन्दिनी यमुना, सरस्वती, शत्रू (सत्रज), चन्द्रमाग (चिनाव), हारवती (रावी), वेणी, कृष्णवेणी, निर्विन्द्या, सरयू, चर्मणवती (चन्द्रल), वित्ता (शेलम), विपाशा (व्यास), बाहुदा, प्रयाग, नैमित्तिरण्य, धर्मारण्य, गया, वाराणसी (काशीपुरी), श्रीशैल, केदारनाथ, पुष्कर, क्रमप्राप्त मानस सरोवर, उत्तरमानस, बहवामुख, अन्य तीर्थसमुदाय, अग्नितीर्थ, महातीर्थ, इन्द्रसुख सरोवर आदि पुण्यतीर्थ, सरोवर, सरिताएँ, नद, ताढाब या कुण्ड—इन सबका उन्होंने आदरपूर्वक दर्शन किया।

१. वेणी नदी कृष्णामें मिलनेसे पहले केवल वेणी कहलाती है, कृष्णामें संगम होनेके पश्चात् उसका नाम कृष्णवेणी हो जाता है।

२. कुण्ड लोगोंकी मान्यताके अनुसार काहुदा सुप्रसिद्ध रासी नदीकी एक सहायक नदी है।

खासी काहिंकेय, शालग्रामस्वरूप श्रीविष्णु, भगवान् विष्णु और शिवके चौसठ स्थान, नाना प्रकारके आश्चर्य-बनक इश्योंसे विनिव्र शोभा घरण करनेवाले चारों समुद्रोंके तट, शिंच्यर्पत और मन्दराचलके कुज, हिमालय आदि सात कुह-पर्वतोंके स्थान तथा बड़े-बड़े गणविंयों, ग्रामविंयों, देवताओं और शाश्वतोंके महालक्ष्मी पावन आश्रमोंका भी श्रीरामचन्द्रजीने श्रद्धापूर्वक दर्शन किया । दूसरोंको मान देनेवाले श्रीरघुनाथजी अपने

माझ्योंके साथ बारंबार खारों दिशाओंके प्रान्तम तथा भूमण्डलके सभी छोरोंमें घूमते फिरे । जैसे देव आदिसे सम्मानित भगवान् रंकर सम्पूर्ण दिशाओं विहार करके पुनः शिवलोकमें लौट आते हैं, वसी प्रक रघुनन्दन श्रीराम देवताओं, किन्तु तथा मनुष्योंसे सम्मानित हो इस सम्पूर्ण भूमण्डलका अवलोकन करके फिर आ घर लौट आये । ( सर्ग ३

## तीर्थ-यात्रासे लौटे हुए श्रीरामकी दिनचर्या एवं पिताके घरमें निवास; राजा दशरथके यहाँ विश्वामित्रका आगमन और राजाद्वारा उनका सत्कार

श्रीवात्सीकिंजी कहते हैं—मरदाज ! जब श्रीमान् रामचन्द्र नगरको लौटे, उस समय ( उनका स्वागत करते हुए ) पुरवासीजन उनके ऊपर राशि-राशि पुण विसरने लगे । उस अवस्थामें, जैसे इन्द्र-पुष्ट्र जयन्त अपने स्वर्गीय भवनमें प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार उन्होंने अपने महलमें प्रवेश किया । वहाँ पहुँचकर रघुनाथजीने पहले पिताको प्रणाम किया, फिर क्रमशः कुलगुरु

द्वयसे लगाया और श्रीरामने भी उनके प्रति अभिवाएं प्रिय-भाषण आदि यथोचित आचार व्यवहार निर्वाह किया । उस समय श्रीरघुनाथजी आनन्दोला छले नहीं समाते थे । अयोध्यामें श्रीरामचन्द्र शुभागमनके उपलक्ष्यमें लगातार आठ दिनोंतक आनन्दोलन मनाया गया । उस समय हर्षसे भवताली जनताके पहले पिताको प्रणाम किये गये गीत-वाद आदिका मधुर कोल

सब और व्यास ही गया था । त श्रीरघुनाथजी विभिन्न देशोंमें प्रचलित प्रकारके रहन-सहनका जहाँ-तहाँ वर्णन हुए घरमें ही सुखपूर्वक रहने लगे ।

श्रीरामचन्द्रजी प्रतिदिन सबरे उ ( ज्ञान आदिके पक्षात् ) निषिद्धक द कन्दन करके राजसभामें बैठे हुए इन्द्रतुल्यतेजस्वी पिता महाराज दशरथक किया करते थे । वहाँ एक पहरतक आदिके साथ बैठकर आदरपूर्वक ह



वसिष्ठजीको, बड़े वन्यु-जानवरोंको, ग्राहणोंको तथा कुल-के बड़े-बड़े लोगोंकी मस्तक छुकाया । फिर सुहदों, बन्धुओं, पिता के घरमें सुखपूर्वक रहते थे । निष्पाप भर

कथा-वार्ता सुना करते थे । माझ्योंके साथ तीर्थयात्रासे व पर श्रीरघुनाथजी प्रायः ऐसी ही दिनचर्याको अपिता के घरमें सुखपूर्वक रहते थे । निष्पाप भर

श्रीरामचन्द्रजीकी ग्रत्येक चेष्टा राजोचित अवधारके कारण वही मनोहर प्रतीत होती थी; वह सभुरुद्धोंके वित्तमें चन्द्रमाकी चाँदनीके समान आहाद उत्पन्न करती थी। सभी उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे तथा वह अमृत-रसके समान मधुर, सुन्दर एवं कोमल होती थी। ऐसी ही चेष्टाके द्वारा वे दिन अयतीत करते थे।

भरद्वाज ! तदनन्तर जब श्रीरघुनाथजीकी अवस्था सोलह वर्षोंसे कुछ ही कम थी, शशुभ्र और लक्ष्मण श्रीरामचन्द्रजीका निरन्तर अनुसरण करते थे, भरत सुख-पूर्वक अपने नानाके यहाँ विराज रहे थे, महाराज दशरथ इस सारी पृथीका यथोचित रूपसे पालन कर रहे थे तथा वे महाप्राङ्ग नरेश प्रनिदिन मन्त्रियोंके साथ वैठकर अपने पुत्रोंके विवाहके लिये भी परामर्श करने लगे थे, उन्हीं दिनों तीर्थयात्रा पूरी करके अपने घरमें रहते हुए श्रीराम दिन-पर-दिन कृश होने लगे।

भरद्वाज ! महाराज दशरथ श्रीरामसे वारंवार स्नेह-युक्त ग्रन्थवाणीमें पूछते—‘वेदा ! तुम्हारे मनमें कैसी वही भारी विन्दा पैदा हो गयी है ?’ वे उत्तर देने—‘पिताजी ! सुझे कोई कष्ट नहीं है !’ इतना ही कहकर कमलनयन श्रीराम पिताजीकी गोदमें तुपचाप बैठ जाते थे।

तदनन्तर एक दिन राजा दशरथने समस्त कार्योंका ज्ञान रहनेवाले, वक्ताओंमें श्रेष्ठ वसिष्ठजीसे पूछा—‘गुह्यदेव ! श्रीराम क्यों खिल हैं ?’ उनके इस प्रकार पूछनेपर वसिष्ठ मुनिने कुछ सोचकर राजासे कहा—‘श्रीमन् ! महाराज ! इसमें कुछ कारण है; किंतु इसके लिये आपके मनमें दुःख नहीं होना चाहिये।’

इसी समय महर्षि विश्वामित्र अयोध्यानरेश दशरथसे मिलनेके लिये वहाँ आये। उन दिनों वर्षकायमें तत्पर रहनेवाले उन बुद्धिमान् महर्षिके यहाँ एक यज्ञ हो रहा था। माया, बल और वीर्यसे उन्मत्त रहनेवाले राक्षसोंने एक साथ आक्रमण करके उनके उस यज्ञका विभ्रंस कर डाला। उस यज्ञकी रक्षाके लिये ही उन्होंने महाराज



दशरथसे मिलनेकी इच्छा की थी; क्योंकि राक्षसोंवे उत्पातके कारण वे मुनि अपने उस बड़को विना किर्ति विज्ञ-वाधाके पूर्ण नहीं कर पाने थे। तब उन निशाचरों के विनाशके लिये उथत हो वे तयोनिधि महातेजस्वी विश्वामित्र मुनि अयोध्यापुरीमें आये। वहाँ पहुँचकर राजासे मिलनेकी अभिलाघा लिये वे द्वारपालोंसे बोले—‘तुमलोग शीघ्र जाकर महाराजको मेरे आनेकी सूखन दो। उनसे कहना—गाधिके पुत्र कुशिकन्तरी विश्वामित्र आये हैं।’

मुनिका यह बधन सुनकर राजद्वारपर रहनेवां पहरेदारोंने राजमहलमें जाकर अपने सामी छँडीदार बताया—‘प्रभो ! महर्षि विश्वामित्र पधारे हैं। तब उन छँडीदारने सभामण्डपमें राजाओंकी मण्डलीसे किरे वै हुए महाराजके पास तुरंत जाकर सूचना दी—‘देख राजद्वारपर नवोदित सूर्यके समान महातेजस्वी त अग्निकी ज्वालाके सदृश अरुण जटाजटधारी एक दीक्षिण पुरुष आकर खड़े हैं। वे महामुनि विश्वामित्र हैं।’ राजाकी ओर देखकर छँडीदारने नम्रता-

वचनोंमें उयों ही यह बात कही, उसकी उस बातको सुनते ही मन्त्री और सामन्तोंसहित वे राजशिरोमणि दशरथ तत्काल सोनेके सिंहासनसे उठकर खड़े हो गये।

राजाओंके समुदायसे विरे तथा सामन्तोंसे प्रशंसित होते हुए वे नरेश वसिष्ठ और वामदेवजीके साथ सहसा पैदल ही उस स्थानकी ओर चल दिये, जहाँ महामुनि



विश्वामित्र खड़े थे। राजाने द्योदीपर खड़े हुए उन मुनिश्रेष्ठको देखा। वे ब्राह्मणोचित तेज तथा महान् क्षात्र-बलसे भी सम्पन्न थे। कृद्धावस्थाके कारण अधिक पक्षी हुई और नपस्यामें ही लगे रहनेसे रुखी जटावल्लीके द्वारा उनके कबे ढके हुए थे। उन्होंने शान्त (सौम्य), कान्तिमान्, उदीस, प्रतिवातरहित, विनयशील, हृष्ट-मुष्ट अवश्योंसे युक्त तथा तेजस्वी शरीर धारण कर रखा था। उनका तेज मुन्दर होनेके साथ ही अत्यन्त भयंकर था, प्रसादगुणसे युक्त तथा दूरनक फैला हुआ था, गम्भीर एवं अतिशय पूर्णताको प्राप्त था। उस तेजसे ऋषिकी अङ्ग-कान्ति अनुरुद्धित थी। उन्होंने अपने हाथोंमें एक कुण्डी (कमण्डले) ले रखी थी, जो चिकनी, निर्दोष एवं

उत्तम थी। वह उनके कल्पानास्थायी जीवनकालकी सभी अवस्थाओंमें सहजरीकी भौति उनका साथ देती थी। मुनिका अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल था। उनके वित्तमें करुणा भरी थी, इसलिये उनकी शाणी बड़ी मधुर एवं प्रसन्नतासूचक होती थी। वे अपनी स्नेहपूर्ण दृष्टिसे इस प्रकार देखते थे, मानो सामने खड़ी हुई जनताको अमृतसे सींच रहे हों। उनके अङ्गमें मुन्दर यज्ञोपवीत शोभा पा रहा था। वे दर्शकोंके मनमें अत्यन्त आश्चर्यका संचार-सा कर रहे थे। उन महर्षिको दूरसे ही देखकर राजाका शरीर विनयसे छुक गया और उन्होंने मुकुलमण्डित मस्तकसे उनके चरणोंमें प्रगाम किया। मुनिने भी, जैसे सूर्यदेव इन्द्रका प्रत्यमिशादन करते हैं, उसी प्रकार मधुर एवं उद्धरतपूर्ण वचनोंद्वारा आशीर्वाद देकर पृथ्वीनाथ दशरथका प्रत्यमिशादन किया। तत्पश्चात् वसिष्ठ आदि सभी ब्राह्मणोंने खागत आदिके क्रमसे विश्वामित्रजीका सत्कार किया।

दशरथने कहा—महामन्। जैसे मगवान् सूर्य अपने तेजस्वी स्वरूपका दर्शन देकर कमलोंसे भरे हुए सरोवरों-पर अनुग्रह करते हैं, उसी प्रकार आज आपका जो यह असम्मानित तेजोमय दर्शन प्राप्त हुआ है, इससे हम सब लोग अत्यन्त अनुग्रहित हैं।

मुनिके प्रति ऐसी ही बातें कहते हुए अन्य राजा तथा महर्षि, सब लोग राजसमामें आकर यथायोग्य आसनोंपर बैठ गये। राजा दशरथने स्वयं ही मुनिको अर्थ निवेदन किया।

राजाके अर्धको स्त्रीकार करके महर्षिने शाखोक्त विधिसे प्रदक्षिणा करते हुए नरेशकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। राजा दशरथद्वारा शूलित हो विश्वामित्र वहे प्रसन्न हुए। उनका मुखारविन्द छिल उठा। उन्होंने राजासे उनकी कुशल पूछी। तदनन्तर मुनिवर विश्वामित्र हँसकर वसिष्ठजीसे मिले और यथायोग्य स्वकार करके उनके आरोग्यका समाचार पूछने लगे। क्षणभरमें एक दूसरेसे

मिलकर यथायोग्य आदर-सत्कार करके वे सब लोग प्रसन्न-  
चित्त हो महाराजके महङ्गमें यथायोग्य आसनोंपर बैठ  
गये । एक दूसरेके सम्पर्कमें आनेसे उन सबके तेज बढ़  
गये थे । वे सब आदरपूर्वक आपसमें एक दूसरेकी कुशल  
पूछने लगे । तदनन्तर प्रसन्नचित्त एवं पवित्र राजा  
दशरथने द्वाय जोड़कर मुनिसे कहा—

“विग्रह ! आप परम धर्मरिता तथा दानके उत्तम  
पात्र हैं और सौभाग्यवश यहाँ पवार गये हैं । बताइये  
आपकी सत्रोंतम अभिलाषा क्या है ? मैं आपकी कौन-सी  
सेवा करूँ ? मगवन् । पहले आप ‘राजर्णि’ कहे जाते  
थे, किंतु तपस्याने आपके ग्राहतेजको प्रकाशित कर  
दिया । आपने ‘राजर्णि’का पद प्राप्त कर लिया, अतः  
आप मेरे द्वारा सर्वथा पूजनीय हैं । जैसे गङ्गाजीके जलमें  
ज्ञान करनेसे मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है, उसी प्रकार  
आपके दर्शनसे भी हो रही है । वह प्रसन्नता मेरे  
हीतङ्को शीतल-साकिये देती है । मगवन् । आपके अन्तः-  
करणसे इच्छा, भय और क्रोध निकल गये हैं, राग-द्वेष  
दूर हो गये हैं, आप सर्वथा रोगरहित हैं; तो भी मेरे पास

आये, यह अत्यन्त अमृत बात है । यहाँ पवारे हुए आप-  
का दर्शन, पूजन और वन्दन करके मैं अपनेमें ही फूल  
नहीं समाता—जैसे ही, जैसे समुद्र अपने ही भीतर पूर्ण  
चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब देखकर अपने आपमें नहीं समाता,  
तटकी सीमाको लौंधकर आगे बढ़ आता है । मुनिवर !  
आपका जो कार्य हो, जिस प्रयोजनसे आप यहाँ पवारे  
हों, उसे आप सिद्ध हुआ ही समझिये; क्योंकि आप  
सर्वदा मेरे माननीय हैं । कुशिक-कुलनन्दन ! आप कोई  
विचार न कीजिये । मगवन् । आपके लिये मुझे कुछ भी  
अदेय नहीं है; क्योंकि दी हुई वस्तु आप-जैसे सत्पात्रको  
प्राप्त होकर ही सार्थक होती है । मैं आपका सारा कार्य  
पूर्ण करूँगा । आप मेरे परम देवता हैं ।”

आत्मज्ञानी महाराज दशरथके द्वारा विनयपूर्वक  
कहे हुए इस अत्यन्त मधुर, श्रवणसुखद एवं गुणविशिष्ट  
वचनको मुनकर विल्यातगुण और प्रख्यात यशवाले  
मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रको बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई ।

( सर्ग-४—६ )

### विश्वामित्रका अपने यज्ञकी रक्षाके लिये श्रीरामको माँगना और राजा दशरथका उन्हें देनेमें अपनी असमर्थता दिखाना

श्रीकाल्पीकिंची कहते हैं—भरदाव । तदनन्तर  
महातेजस्ती विश्वामित्रजीने पुलकित होकर कहा—  
‘नृपश्रेष्ठ ! आप महान् कुलमें उत्पन्न हुए हैं और  
महार्णि वसिष्ठ जीकी आङ्गके अधीन रहते हैं; अतः आपके  
मुखसे जो बात निकली है, वह इस भूतलपर आपके  
ही योग्य है । महाराज ! अब मैं अपना हार्दिक अभिग्राय  
आपसे निवेदन करता हूँ । जब-जब मैं यज्ञके द्वारा  
देवसमूहोंका पूजन करता हूँ, तब-तब कुछ निशाचर  
आकर मेरे उस यज्ञको नष्ट कर देते हैं । मैंने अनेक बार  
यज्ञका अनुष्ठान आरम्भ किया, किंतु राक्षसनायकोंने  
उस यज्ञ-मण्डपकी भूमिमें रक्षा और मांस बिलेर दिये ।  
मैं यज्ञके लिये परिश्रम करके भी उसमें सफल नहीं हो

रहा हूँ, इसलिये विन-निवारणके उद्देश्यको लेकर मैं  
उस स्थानसे यहाँ आपके पास आया हूँ । पृथ्वीनाथ !  
मेरे मनमें यह विचार नहीं होता कि मैं क्रोध करके  
उन्हें शाप दे दूँ । मैं चाहता हूँ, आपके ग्रसादसे उस  
यज्ञको विना किसी विघ्न-वाधाके पूर्ण करके उसके  
महान् पुण्य-फलका भागी होऊँ । अतः आर्त होकर  
शरण पानेकी इच्छासे आपके पास आया हूँ, आप  
( उस यज्ञकी रक्षाद्वारा ) मेरा संकटसे उद्धार करनेके  
योग्य हैं । आपके पुत्र श्रीमान् शम मत्तवाले सिंहके समान  
पराक्रमी हैं । उनका बल-विक्रम देवराज इन्द्रके तुल्य  
है । वे उन राक्षसोंको विदीर्ण करनेमें पूर्ण समर्थ हैं ।  
अतः राजसिंह ! आपके जो अयेष्ठ पुत्र काक्षपक्षधारी

सत्पराक्रमी, शूरबीर श्रीराम हैं उनको मुहे सौंप दीजिये। ये मुहसे बुरक्षित रहकर अपने दिव्य तेजसे उन यज्ञ-विष्वंसक एवं समस्त संसारका अपकार करनेवाले राज्यसोंका मख्तक काटनेमें समर्थ होंगे। मैं इन श्रीरामको ( धर्म-विद्या प्रदान करके ) अनेक प्रकारसे अनन्त कल्याणका मार्गी बनाऊँगा, जिससे ये तीनों लोकोंके पूत्रनीय होंगे।

\* वे पापी राज्यस युद्धमें कालकूटके समान भयानक हैं, उन्हें अपने बल और पराक्रमपर बड़ा गर्व है, वे खर और दृष्टिके भूत्य हैं तथा कुपित होनेपर यमराजके समान जान पड़ते हैं। किंतु राजसिंह ! वे श्रीरामके सायकोंको उसी प्रकार नहीं सह सकते, जैसे धूलिकण निरन्तर शिरती हुई भेषकी जलधाराको नहीं सह सकते। महाराज ! मैं अपनी तपश्चित्तसे इस बातको निश्चित रूपसे जानता हूँ, आप भी मेरे कथनानुसार उन राज्यसोंको मरा हुआ ही समझिये; क्योंकि हम तथा हमारे-जैसे दूसरे विद्व पुरुष संदिग्ध विषयमें नहीं प्रवृत्त होते। कमलनयन श्रीराम कोई साधारण पुरुष नहीं, साक्षात् परमात्मा हैं; इन्हें मैं जानता हूँ, महाराजस्वी वसिष्ठजी जानते हैं तथा दूसरे-दूसरे दीर्घदर्शी महार्षि भी जानते हैं। \* यदि आपके हृदयमें धर्म, महत्ता और धर्मके लिये विशेष स्थान है तो अपने ग्रिय पुत्र श्रीरामको आप मुझे दे दीजिये। मेरा वह यज्ञ, जिसमें श्रीरामको र्यज्ञदोही, विनाकर्ता राज्यसोंका धर्म करना है, दस दिनोंमें पूरा हो जायगा। काकुस्त्य। इसके लिये भी आपके वसिष्ठ आदि सभी मन्त्री आपको अवश्य अनुमति दे देंगे, अतः आप श्रीरामको मेरे साथ भेज दीजिये। ठीक समयपर किया हुआ योद्धा-सामीकार्य बहुत

उपकारी होता है और समय बीतनेपर किया हुआ महान् उपकारी भी व्यर्थ हो जाता है। +

इस प्रकार धर्म और अर्थसे युक्त बात कहकर धर्मात्मा, महाराजेजस्वी मुनीश्वर विश्वामित्र चुप हो गये। मुनिकर विश्वामित्रका बचन सुनकर उन्हें युक्तियुक्त उत्तर देनेके लिये कुछ सोचते हुए महानुभाव राजा दशरथ योद्धी द्वेरका चुपचाप बैठे रहे; क्योंकि जिसका मनोरथ पूर्ण न किया गया हो, वह बुद्धिमान् पुरुष युक्तिसंगत उत्तर पाये बिना संतुष्ट नहीं होता है।

मरदाज ! विश्वामित्रबीका वह माषण सुनकर(वात्सल्य-मालापन) नुपत्रेष्ट दशरथ दो धर्मीतक मिथेष्ट बैठे रहे, जिर हस प्रकार दीनतार्पण बचन बोले—‘मुनीश्वर ! कमलनयन श्रीरामकी अवस्था अभी सोलह वर्षसे भी कम है। ये राज्यसोंके साथ युद्ध कर सकें, ऐसी योग्यता मैं इनमें नहीं देखता। प्रभो ! मेरे पास यह दूरी एक अद्भूतिहीनी सेना है, जिसका मैं ही स्वामी हूँ। इस सेनाके साथ बलकर मैं ही उन पिशाचोंके साथ युद्ध करूँगा। ये सभी दैनिक मेरे भूत्य हैं—मेरे द्वारा पोषित हुए हैं। ये शूरबीर, पराक्रमी और उद्दित सलाह देनेमें भी चतुर हैं। मैं युद्धके मुहानेपर द्वायमें धनुष लेकर इन संघकी रक्षा करूँगा। इनके साथ रहकर मैं महेन्द्रसे भी बड़े-चड़े बीरोंको उसी तरह युद्धका अवसर दूँगा, जैसे सिंह मतवाले हाणियोंको देता है। श्रीराम अभी बालक है। इन्हें न तो उत्तम शास्त्रोंका ज्ञान है और न ये युद्धकी कलामें ही निपुण हुए हैं। समराक्षणमें कौटि-कौटि शूरबीरोंके साथ अजोहारा कैसे युद्ध किया जाना है, इसका भी इनको ज्ञान नहीं है। बेवफा फुलशाहियोंमें, नगरके उपर्यन्तोंमें तथा उचानवर्ती बनकुञ्जोंमें इनका

+ कर्यमण्डपि कले द्व रुद्रमेत्युपकरताम्।

महान्त्युपकरेऽपि

रिक्तमेत्यकलतः॥

( वो० वै० ७ । २१ )

\* अह वेदि महात्मान राम राज्यव्यवस्थान् ।

विनिष्ठ भवते राजा ये चान्ये दीर्घदर्शिनः ॥

बूमना-फिरना होता है। ये राजकुमारोंके साथ औंगनकी श्रीरामको आप यहाँसे न ले जायें। मुने। यदि आपको उस भूमिमें विचरण करना जानते हैं, जिसपर फूल निशाचर-सेनाका नाश ही अभीष्ट है तो मेरे साथ मेरी चतुरझिणी सेनाको ले चलियें। सुना जाता है कि राष्ट्र नामसे प्रसिद्ध एक महापराकर्मी राक्षस है, जो साक्षात् कुवेरका भाई और विश्वा मुनिका पुत्र है। यदि वही दुर्विद्धि राक्षस आपके यहाँमें विश्व दान्ता है, तब तो हमलोग उस दुरात्माके साथ युद्ध करनेमें असमर्थ हैं।'

'राजन् ! आजकल तो मेरे भाग्यके उलट-फेरसे ये उसी तरह अस्फूर्त कृश और पाण्डु वर्णके हो गये हैं, जैसे पाला पद्मनेसे कमल पीला पद्मकर गलने लगता है। अपने चारों पुत्रोंमें मेरा सबसे अधिक प्रेम इन श्रीरामपर ही है। अतः मेरे धर्मत्वा ज्येष्ठ पुत्र

'अहम् ! आजकल तो मेरे भाग्यके उलट-फेरसे किंविद्धि नामसे प्रसिद्ध एक महापराकर्मी राक्षस है, जो साक्षात् कुवेरका भाई और विश्वा मुनिका पुत्र है। यदि वही दुर्विद्धि राक्षस आपके यहाँमें विश्व दान्ता है, तब तो हमलोग उस दुरात्माके साथ युद्ध करनेमें असमर्थ हैं।' ( सर्ग ७८ )

—◆◆◆—

विश्वामित्रका रोष, वसिष्ठजीका राजा दशरथको समझाना, राजा दशरथका श्रीरामको बुलानेके लिये द्वारपालको भेजना तथा श्रीरामके सेवकोंका महाराजसे

श्रीरामकी वैराग्यपूर्ण

स्थितिका वर्णन करना

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भगवाज ! स्नेहवश नेत्रोंमें औंसू भरकर राजाके द्वारा कही गयी इस बातको सुनकर विश्वामित्र कुपित हो उठे और उन भूपालसे इस प्रकार बोले—‘राजन् ! मैं आपकी मौग शूरी

करूँगा’ ऐसी प्रतिश्वासकरके आप उसे लोड रहे हैं। इसका मतलब यह हुआ कि आप सिंह होकर अब सियार बनना चाहते हैं। रघुवंशियोंके लिये यह व्यवहार अनुचित है। इससे तो इस कुलकी मर्यादा ही उन्नत जायगी। शीतरसिम चन्द्रमासे कमी उष्ण किरणें नहीं प्रकट होती ( आपसे ऐसे व्यवहारकी कदापि आशा नहीं की जाती थी )। राजन् ! यदि आप अपनी प्रतिज्ञाकी पूर्ति करनेमें असमर्थ हैं तो मैं जैसे आया था, उसी तरह लौट जाऊँगा। ककुत्स्थर्वदी नरेश ! आप अपनी प्रतिज्ञासे भ्रष्ट होकर वन्धु-ज्ञानध्योंके साथ सुखी होइये ।’



महामुनि विश्वामित्रको क्रोधसे आक्रम्त जान उत्तम ब्रतका पालन करनेवाले धैर्यवान् और बुद्धिमान् वसिष्ठजी बोले—‘राजन् ! आप इक्षवाक्युकुलमें साक्षात् दूसरे धर्मके समान उत्पन्न हुए हैं। आप श्रीमान् दशरथ तीनों लोकोंमें सज्जनोचित सहृदोंसे विमूर्खित हैं। धैर्यवान् तथा उत्तम ब्रतके पालक हैं। आपको धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये। आप धर्म और यशसे सम्पन्न होकर ही तीनों लोकोंमें विद्यमात हुए हैं।

देवाभ्य-ग्रन्थ ] # विश्वामित्रका रोष, वसिंहजीका राजा दशरथको समझाना #

अपने धर्मको समझिये । उसका परित्याग न कीजिये ।



ये मुनि नींवों लोकोंका शासन करनेमें समर्थ हैं, आप को हवकी आकाशका पालन करना चाहिये । राजन् । 'करुणा' ऐसी प्रतिक्षा करके यदि आप उसका पालन नहीं करते तो यह भिष्याभावण आपके इष्ट और आपूर्ण ( यज्ञ-यागादि तथा वापी, कूप आदिके निर्माणसे होनेवाले पुण्य ) को हर लेगा । इसलिये श्रीरामको विश्वामित्रजीके हाथमें सौंप दीजिये । आप इस्वाकुर्वशमें उपर द्वारा हुए और स्वयं विस्पात राजा दशरथ हैं । यदि आप अपने वधुवाका पालन नहीं करते तो दूसरा कौन करेगा ? ये विश्वामित्रजी धर्मके मूर्तिमान् सरूप हैं । ये बल और पगङ्गमसे सम्बन्धी श्रीरुद्रजीमें भ्रष्ट हैं । संसारमें सबसे अधिक बुद्धिमान् हैं तथा तपस्याके परम आश्रय हैं । चराचर प्राणियोंसहित खिलोक्तीमें यह प्रसिद्ध है कि ये विश्वामित्रजी नाना प्रकारके अद्वितीय जानते हैं । जिन अन्नोंका इन्हें ज्ञान है, उन्हें दूसरा कोई पुण्य न तो जानता है और न भविष्यमें जान

सकेगा । देवता, शृंखि, अमृत, राक्षस, नाग, यक्ष गच्छार्व — ये सब एक साथ मिलकर आ जायें, तो वे विश्वामित्र मुनिकी समानता नहीं कर सकते । इन दिनों ये विश्वामित्रजी एव्य करते थे, उन दिनों इनकी तपस्यासे संतुष्ट द्वारा लददेवने कृशाश्वद्वारा उपरिये गये अन्नोंका दान किया था । वे अब दूसरे लिये अत्यन्त दुर्जय हैं । उन अन्नोंके अभियानी देव शृंखालके पुत्र हैं और संहार करनेमें प्रजापतिके लददेवकी समानता फरते हैं । उन कान्तिम भावातेजसी और बल-विकसमाली अव-देवताओंने इनका अनुसरण किया है ( क्योंकि इन्होंने अपनी तपस्या के प्रभावसे उन्हें सदाके लिये वशमें कर लिया है ये विश्वविष्णवात महातेजसी विश्वामित्र ऐसे मारकशक्तिशाली हैं, अतः श्रीरामको इनके साथ भेजनेमें अपने दूर्जयको व्याकुल न होने दें । ये महामुनी भावान् प्रभावशाली हैं । साझे समावेशीले नरेश जिस पुरुषके समीप लड़े हों, वह भूत्युके आ जान भी अपरत्यक्तो ही प्राप्त होगा । अतः आप यह महामुनी की भौति अपने मनमें दीनताको स्थान न दीजिये ।

भरदाज ! जब वसिंहजी ऐसी बातें कहकर समझो, तब राजा दशरथका चित्त असन्त हो गया । उन्होंने अपने पुत्र श्रीराम तथा लक्ष्मणबो छुला लिये हारपालको पुकारा — 'प्रतीक्षा ! तुम सत्य-परा ! महाबाहु श्रीराम और लक्ष्मणको विश्वामित्रके पुण्य यहाँकी निर्विघ्न सिद्धिके लिये शीघ्र यहाँ छुला ले आओ ।

महाराजके इस प्रकार आक्षा देनेपर वह हार अन्तःपुरके श्रीराम-मन्दिरमें गया और दो ही शब्दोंसे लैटकर उन भूपालसे बोला — 'देव ! व बहुकालसे समृद्ध शक्तिदल्लभा दर्प दलन करने भरदाज । जैसे भरत दातको कमलमें बंद होकर उन बैठ रहता है, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्रजी भी उनकलमें अनमने होकर बैठे द्वारा है ।'

द्वारपालके यह कहनेपर उसके साथ आये हुए श्रीरामके समस्त सेवकोंको महाराजने आशासन दिया और क्रमशः उनका समाचार पूछा—‘राम कैसे हैं? उनकी ऐसी अवस्था कैसे हो गयी है?’ भूपालके इस तरह पूछनेपर श्रीरामके सेवकोंने दुखी होकर उनसे कहा—“देव! आपके पुत्र श्रीरामका शरीर अत्यन्त कृश



हो गया है। उनके खेदसे हमलोग भी इतने खिल हो गये हैं कि हमलोगोंका शरीर भी गलकर छड़ीके समान पतला हो गया है और हम किसी तरह इसे ढोये जा रहे हैं। कमलनयन श्रीराम जबसे ब्राह्मणोंके साथ तीर्थयात्रासे लौटकर आये हैं, तभीसे उनका मन बहुत उदास रहता है। जो वस्तु उपयोगमें लानेके योग्य, स्वादिष्ठ, सुन्दर और मनोहर है, उसीसे वे इस तरह खिल हो उठते हैं, मानो उनके नेत्रोंमें आँसू भर आये हों। भोजन, शश्या, सचारी, विलास, स्नान, आसन आदि उत्तम कार्य या वस्तुके प्रस्तुत होनेपर भी वे उसका अभिनन्दन नहीं करते (उसकी ओरसे विरक्त हो जाते हैं)। ‘सम्पत्तिसे, विपर्तिसे, घरसे अथवा

विभिन्न चेष्टाओंसे क्या होने-जानेवाला है? क्योंकि सब कुछ मिथ्या है।’ यह कहकर वे चुप हो जाते हैं और अकेले बैठे रहते हैं। परिहास होनेपर वे प्रसन्न नहीं होते। भोगोंमें उनकी आसक्ति नहीं है। किंतु प्रकारके कार्योंमें उनकी प्रवृत्ति नहीं होती। वे सदा मौनमाध्यका ही अवलम्बन किये रहते हैं। एकान्तमें, विभिन्न दिशाओंमें, नदियोंके तटोंपर, जंगलोंमें तथा गहन वनोंमें उन्हें सुख मिलता है—वहीं उनका मन लगता है। भूपाल! वे पहननेके बख तथा खाने-धीनेकी वस्तुएँ न लेकर सदा उनकी ओरसे विमुख ही रहते हैं तथा उस विमुखता या विरक्तिके द्वारा सन्ध्यासी या तपसीके आचारका अनुसरण करते हैं। जनेश्वर! श्रीरामचन्द्रजी निर्बन्ध स्थानमें अकेले ही रहकर न कभी इंसते हैं न गाते हैं और न रोते ही हैं। सदा पश्चासन लगाये शत्यविचर ( संकल्परहित ) हो केवल बैठे रहते हैं। ज किसी बातका अभिगान करते हैं न राजा होनेकी अभिलाषा रखते हैं, न सुख प्राप्त होनेपर प्रसन्न होते हैं और न दुःख मिलनेपर वियाद ही करते हैं। हम नहीं समझ पाते कि वे कहाँ जाते हैं, क्या करते हैं, क्या चाहते हैं, किसका ध्यान करते हैं, कहाँ आते हैं और किस तरह किसका अनुसरण करते हैं। वे प्रतिदिन दुबले हो रहे हैं। रोज़-रोज़ पीले पश्चरे चले जा रहे हैं और नित्यप्रति उनका वैराग्य बढ़ता ही जाता है। राजन्! सदा श्रीरामचन्द्रजीका अनुसरण करनेवाले ये शत्रुघ्न और लक्ष्मणजी भी उन्हींके समान दुर्बल होते जा रहे हैं। श्रीराम अपने पास रहनेवाले सुदृश्यनों—मित्रोंको यह उपदेश देते हैं कि वे भोग ऊपर-ऊपरसे मनोरम दिखायी देते हैं, वास्तवमें नश्वर हैं। अतः इनमें हमलोग अपना मन न लगांओ। हमलोगोंने आयासरहित परम पदकी प्राप्तिसे दूर दृटानेवाली चेष्टाओंद्वारा ही अपनी सारी आशु व्यर्थ बितानी।’ इस प्रकार मधुर और सुन्दर वाणी-

द्वारा वे बारंबार गुनगुनाते रहते हैं। यहि पास बैठा दुखा कोई सेवक उनका अभिनन्दन करते हुए यह कहे कि 'आप समाट हों तो वे उसके इस कथनको उन्मत्त प्रलाप-सा समाप्तकर अन्यमनस्क हों इसने लगते हैं तथा सदा सुनिष्ठितसे रहते हैं। म तो किसीकी कहीं हुई बातको सुनते हैं और न सामने पकी हुई वस्तुकी ओर दृष्टिपात ही करते हैं। सुन्दर-से-सुन्दर वस्तु प्राप्त होनेपर मी सर्वत्र उसकी अवहेलना ही करते हैं। जैसे मेवहारा बरसाये गये जलकी धाराएँ किसी बड़े मारी दुर्मय पत्थरका भेदन नहीं कर सकतीं, उसी प्रकार कामदेवके बाण कान्तिमती विनिताओंके बीचमें रहते हुए भी श्रीरामचन्द्रजीके मनका

भेदन नहीं कर पाते। 'वन आपत्तियोंका एकमात्र स्थान है। दृढ़सकी इच्छा क्यों करता है?' श्रीरामचन्द्रजी सबको ऐसी ही शिक्षा देते हैं और अपना सारा धन उसकी इच्छा रखनेवाले दीन याचकोंको बोट देते हैं। 'यह आपत्ति है, यह सम्पत्ति है—इस प्रकारकी कल्पनाओंके रूपमें केवल मनका मोह ( अक्षान ) ही प्रकट होता है।' इस तरहके लोकोंका वे सदा गान किया करते हैं। 'धाय। मैं मारा गया, मैं अनाप हो गया—इस प्रकार सब लोग चीखते-चिलते रहते हैं, तो भी किसीको इस संसारसे वैराग्य नहीं होता—यह कितने आश्चर्यकी बात है।' श्रीराम प्रायः ऐसी ही बातें कहा करते हैं। ( सर्ग ९-१० )

### विश्वामित्र आदिकी प्रेरणासे राजा दशरथका श्रीरामको समांगे बुलाकर उनका मस्तक सुँबना और मुनिके पुछनेपर श्रीरामका अपने विचारमूलक वैराग्यका कारण बताना

तब विश्वामित्रजीने कहा—परम बुद्धिमान् प्रसुपुरुषो! यदि ऐसी बात है तो जैसे दृगोंका छुंड अपने यूथपतिको के जाता है, उसी प्रकार आपलोग मी रघुकुलनन्दन श्रीरामको शीत्र यहाँ बुला लाइये। श्रीरामचन्द्रजीको यह मोह न तो किसी आपत्तिसे हुआ है और न आसक्तिसे ही। वे विवेक और वैराग्यसे सम्पन्न हैं अतः उन्हें मोह नहीं, बोध ही प्राप्त हुआ है, जो महान् अमृदयकारक है। इस विचारमूलक मोहका युक्तिद्वारा निवारण कर देनेपर रघुकुलनन्दन श्रीराम हमलोगोंकी ही भौति परम पदमें प्रतिष्ठित हो जायेंगे। हमारे उपदेशसे वास्तविक बोधका उदय हो जानेपर श्रीरामचन्द्रजी अमृत पीये हुए पुरुषकी भौति संरक्षता ( त्रिकालाचावित ग्रस्तरूपता ), मुदिता ( परमानन्दस्तरूपता ), प्रह्ला ( अपरिच्छिन्न ज्ञानरूपता ) को प्राप्त होकर विश्रान्ति-सुखसे सम्पन्न,

१—३.अमृत पीये हुए पुरुषके पक्षमें उत्तराकां अर्थं वैराग्य स्वर्गमुख, मुदिताका अर्थं आनन्द तथा प्रवापक अर्थं उत्तम बुद्धि समक्षना चाहिये। अन्य शब्दोंके अर्थं उत्तम पक्षमें समान ही हैं।

संतापशून्य, शरीरसे छृ-पुष्ट और उत्तम क्रान्तिसे युक्त हो जायेंगे। फिर तो मनमें अपनी पूर्णताका अनुभव करते हुए मामनीय श्रीरामचन्द्रजी अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार प्राप्त होनेवाली व्यवहार-परम्पराका निर्वाचितरूपसे पालन करने लगेंगे। वे महान् सत्यगुणसे युक्त तथा लोकज्यापी निर्मुण-संगुणरूप परमात्माके ज्ञानसे सम्पन्न हो जायेंगे। उन्हें सुख-दुःखकी दशाएँ नहीं प्राप्त होंगी। वे मिहीके देले, पथर और सुकर्णमें कोई अन्तर नहीं देखेंगे—इन सबको समान समझने लगेंगे।

मुनीश्वर विश्वामित्रके यों कहनेपर राजा दशरथ बढ़े प्रसन्न हुए, मानो उनका सारा मनोरथ पूर्ण हो गया। उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीको बुला लानेके लिये बारंबार दूत-पर-दूत मैजमा आरम्भ किया। जब राजा और मुनिका संवाद हो रहा था, उसी समय श्रीरामचन्द्रजी अपने योद्धे-से सेवकों और दोनों भाई लक्ष्मण तथा शत्रुघ्नके साथ अपने पिताके पवित्र स्थान—राजसमामें गये। श्रीरामने दूरसे ही महाराज दशरथको देखा। जैसे इन्द्र देवसमूहसे

विरकर बैठते हैं, उसी प्रकार वे भी राजाओंकी मण्डलीसे प्रिये हुए बैठे थे। उनके दोनों ओर महर्षि वसिष्ठ और विश्वामित्रजी विराजमान थे। सम्पूर्ण शाश्वते के अर्थका ह्यान रखनेवाले मन्त्रीगण मालाकी भाँति उन्हें सब ओरसे बैरकर बैठे थे। इधर वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि ऋत्तियों तथा दशरथ आदि राजाओंने भी कुमार कार्तिकेयके समान सुन्दर श्रीरामचन्द्रजीको दूरसे ही अपने पास आते देखा। वे सौम्य और समदर्शी थे। उनकी आकृति महङ्गलमयी थी। उनका हृदय विनीतभावसे युक्त और उदार था। शरीर कान्तिमान् और शान्त ( सौम्य ) दिखायी देता तथा वे परम पुरुषार्थके भाजन ( परमार्थखरूप ) थे। पवित्र गुणवाले पुरुषोंके आश्रय थे। समस्त सद्गुणोंने मानो एकमात्र महान् सत्त्वगुणके लोभसे उनका आश्रय ले रखा था।

मुनीधर विश्वामित्र जब राजासे पूर्वोक्त बात-चीत करते हुए श्रीरामको छुलानेका अनुरोध कर रहे थे, उसी समय कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी पिताके चरणोंमें प्रणाम करनेके लिये उनके सामने आये। सबके सुहृद् श्रीरामने

पहले पिताके चरणोंमें मस्तक हुकाया। तदनन्तर मानवीय पुरुषोंहारा भी मुख्यरूपसे सम्मानित होनेवाले दोनों मुनि वसिष्ठ और विश्वामित्रजीको प्रणाम किया। इसके बाद अन्य ग्राहणों, बन्धु-बाध्यों तथा गुरुजनोंका अभिवादन किया। तत्पश्चात् राजाओंके समूहहारा की जानेवाली प्रणाम-परम्पराको उन्होंने प्रसन्न दृष्टिसे उनकी ओर देखकर अपने मस्तकको किंचित् छुकाकर तथा मधुर वाणीके द्वारा कुछ बोलकर स्वीकार किया।

इसके बाद दोनों महर्षियोंने श्रीरामचन्द्रजीको आशीर्वाद दिया। तदनन्तर जिनके हृदयमें अत्यन्त समताका भाव भरा हुआ था, वे देवोपम सुन्दर श्रीराम अपने पिताकी पवित्र संलिङ्घियमें आये। उस समय भूपाल दशरथने अपनी चरण-कम्बला करनेवाले पुत्रको हृदयसे लगाकर उनका मस्तक सूँचा। इसी तरह शत्रुघ्नीरोंका संहार करनेवाले यजा दशरथने बनीभूत स्नेहसे युक्त हो लहृण और शत्रुघ्नको भी हृदयसे लगाया ( और उनके मस्तक सूँधे )। फिर श्रीरामचन्द्रजी पृथ्वीपर ही परिजनों-द्वारा बिछाये गये बखाके ऊपर बैठ गये।



तत्पश्चात् राजा बोले—बेटा ! तुम्हें विवेक प्राप्त हो

गया है । तुम विविध कल्याणमय गुणोंके भाजन हो । तुम्हारे-जैसे पुरुष बड़े-बड़े लोगों, शास्त्रों तथा गुह्यज्ञोंकी आज्ञाका पालन करते हुए ही पवित्र परमपद प्राप्त कर लेते हैं । जो लोग मोहका अनुसरण करते हैं, उन्हें वह पद नहीं प्राप्त होता । बत्स । तभीतक आपत्तियों द्वारा एवं तुम्हे होकर दूर ही रहती है ( पास नहीं कट्टने पाती ) जबतक कि मोहको फैलनेका अवसर नहीं दिया जाता ।

इसके बाद श्रीविश्वामित्रजीने कहा—महाबाहुराजकुमार ! तुम थड़े शूरवीर हो । तुमने उन विषयरूपी शक्तियोंपर भी विजय पा ली है, जो दुःखकी परम्पराके उत्पादक तथा वड़ी कठिनाईसे नष्ट होनेवाले हैं ऐसे प्रभावशाली होनेपर भी तुम अज्ञानी मनुष्योंके योग्य विक्षेपरूपी अगणित तरफ़पालाओंसे शुक्त तथा आवरणरूपी जड़ता ( जलरूपता ) से सुशोभित होनेवाले व्यामोहके समुद्रमें आत्मज्ञानशून्य पुरुषकी भौति क्यों छूवे जा रहे हो ?

श्रीविश्वामित्रजीने कहा—राजकुमार ! हिलते हुए नील कमलोंके समूहकी भौति जो तुम्हारे नेत्र चञ्चल हो रहे हैं, इसमें तुम्हारे विश्वकी व्यग्रता ही कारण है । इस अग्रताजनित नेत्रोंकी चञ्चलताको त्यागकर बताओ, क्यों मोहिन हो रहे हो ? तुम्हारे इस मोह अथवा भ्रमका क्या कारण है ? निष्पाप श्रीराम ! तुम्हारे मनमें जो अभिलाषा हो, उसे शोन्ह बताओ । तुम्हे वह सब मनोरथ प्राप्त होगा, जिससे मानसिक व्यथाएँ फिर तुम्हे कष्ट नहीं पहुँचायेंगी ।

उत्तम बुद्धिवाले विश्वामित्रजीका यह बचन, जिसके भीनर अपनी अभिलाषाके अनुरूप अर्थका प्रकाश निहित था, सुनकर रघुकुलकेतु श्रीरामने खेद स्थाग दिया ।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरहान ! मुनीश्वर विश्वामित्रके इस प्रकार पूछनेपर श्रीरामचन्द्रजीने वैर्य धारण करके परिपूर्ण अर्थके गौरवसे दबी हुई-सी मन्द-मन्द मनोहर वार्षीमें कहा—

श्रीराम बोले—मुनीश्वर ! मैं अपने पिताजीके इस महलमें उत्पन्न हुआ, क्रमशः बढ़ा और फिर मैंने विद्या भी प्राप्त की । तत्पश्चात् सदाचारके पालनमें तत्पर रहकर तीर्थयात्राके उद्देश्यसे समुद्रोद्धारा घिरी हुई सती पुष्पीपर भ्रमण किया । इतने समयमें मेरे मनमें जो विचार उत्पन्न हुआ, वह इस ससारविषयक आस्थाको उठा देनेवाला है । तीर्थयात्रा करनेके अनन्तर मेरा मन विषेषसे पूर्ण हो गया, जिससे मेरी बुद्धि भोगोंकी ओरसे नीरस ( विरक्त ) हो गयी और उसके द्वारा मैंने इस प्रकार विचारना आरम्भ किया—

‘यह जो ससारका विस्तार है, इसमें क्या सुख है ? ( कुछ भी तो नहीं है । ) चर और अचर प्राणियोंकी चेष्ठाओंके विश्व तथा केवल वैमवकालमें ही रहनेवाले ये जितने भोगके साधनमूल पदार्थ हैं, सब-के-मध्य अस्थिर ( क्षणममूर ), आपत्तियोंके साम्री ( अर्थात् केवल विपरितमें ही उल्लेखनाले ) तथा पापखल्प हैं । जैसे मरीचिकामें जल न होनेपर भी भ्रमसे उसे जल समझकर उसके द्वारा मोहित हुए मृग बनमें बड़ी दूसरक दिनेच चले जाते हैं, उसी प्रकार मूँहबुद्धि हुए लोग संसारके पदार्थोंमें सुख न होनेपर भी उनमें सुख मानते हैं और उसीके लोभसे आकृष्ट होकर इधर-उधर मटकते रहते हैं । यद्यपि वहाँ लोग किसीके द्वारा बेचे नहीं गये हैं तथापि विके हुएके समान परवश हो रहे हैं । इस बातभो जानते हुए भी कि यह सब कुछ मायाका खेल है, हम सब लोग मूँह बने बैठे हैं ( इस मायासे सुक्त होनेवाल प्रयत्न नहीं करते ), यह कितने खेटकी बात है !

संसारके इस प्रपञ्चमें जो अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण भोग दिखायी देते हैं, ये क्या है—इसपर विचार करना चाहिये । सब लोग व्यर्थ ही उनके मोहमें पड़कर भ्रान्तिवश अपनेको बद्ध मामकर बैठे हुए हैं । जैसे बनमें किसी गड्ढेके भीतर गिरे हुए, मूँह मृग दीर्घकालके पश्चात् यह जान पाते हैं कि हम गड्ढमें पड़े हैं, उसी प्रकार लोगोंने

बहुत समयके बाद यह जाना है कि हम मूढ़ जीव व्यर्थ ही मोहमें पड़े हुए हैं। मुझे राज्यसे क्या लेना है और भोगोंसे भी क्या प्रयोजन है? मैं कौन हूँ? यह दृश्य-प्रपञ्च क्या है और किस लिये सामने आया है? जो मिथ्या है, वह मिथ्या ही रहे। उसके मिथ्या होनेसे किसकी क्या हानि होनेवाली है। ब्रह्मन्। जैसे यत्र-तत्र अमण फरनेवाले पथिकों भूमिसे विरक्त हो जाती है, वैसे ही इस प्रकार विचार करते-करते सभी भोग्य पदार्थोंसे मेरी असुचि हो गयी है।

मुनीश्वर! देखिये, भिज-भिज रूपोंमें उपलब्ध होनेवाले उन तुच्छ भोगोंने हमको उसी प्रकार जर्जर बना दिया है, जैसे प्रचण्ड बायु एकतीय शूक्ष्मोंको जर्जर कर देती है। सब लोग अचेतन-से होकर प्राणनामधारी पवनसे प्रेरित हो व्यर्थ ही शब्दोच्चारण कर रहे हैं, जैसे कीचक नामक बौंस अपने छेदोंमें हवा भर जानेसे बौंसुरीकी-सी धूनि करने लगते हैं। संसारकी सम्पदाएँ सदा सबकी बद्धना करती रहती हैं। ये मनुष्योंकी मनोवृत्तिको मोह लेती हैं, उनकी सद्गुण-राशिका नाश कर देती हैं और तरह-तरहके दुःख दिया

करती हैं। दुःखोंका जाल-सा विछाती रहती हैं। ये धन-वैभव चिन्ताओंके चक्ररमें डालनेवाले हैं, इसलिये मुझे आनन्द नहीं देते तथा बृहोवाली लियोंसे भरे हुए घर भी भयानक विपत्तियोंके आवास-स्थानकी भौति मुझे दुःख ही प्रदान करते हैं, सुख नहीं। मुने। जैसे बौंस और तिनकोंसे आच्छादित गर्तमें गिरनेके कारण प्रात होनेवाले क्षुधा, पिपासा आदि दोषोंका तथा बन्धन आदि दुर्दशाओंका विचार करते रहनेसे वैचे हुए हाथीको कभी सुख नहीं मिलता, उसी प्रकार देह आदि पदार्थोंकी क्षणभद्रताके कारण उनमें अनेक प्रकारके दोषों और दुर्दशाओंका स्मरण करके मेरे मनको भी शान्ति नहीं मिल रही है। अज्ञानरूपी रात्रिमें तीव्र मोहरूपी कुहरेसे लोगोंकी ज्ञानरूपी ज्योतिके नेष्ठ हो जानेपर दूसरोंको दुःख देनेमें परम चतुर विषयरूपी सैकड़ों चोर हर समय और प्रत्येक दिशामें विवेकरूपी श्रेष्ठ रक्तका अग्नहरण करनेके लिये जी-जानसे लगे हुए हैं। पुद्धमें उन्हें मार भगानेके लिये तत्त्वज्ञानी मुरुषोंको छोड़कर दूसरे कौन-से सुभट समर्थ हो सकते हैं ( तत्त्वज्ञानी ही उनको नष्ट करनेमें समर्थ हैं, दूसरे नहीं )। ( सर्ग ११-१२ )

### धन-सम्पत्ति तथा आयुकी निस्सारता एवं दुःखरूपताका वर्णन

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—मुने! यह लक्ष्मी, यह धन-सम्पत्ति संसारमें यदि स्थिर होकर रहे तो बहुत-से मुखोंकी साधनभूत होनेके कारण वह सबसे उत्कृष्ट वस्तु है—यह मूढ़ मनुष्योंकी ही कल्पना है। वास्तवमें न तो वह कभी स्थिर रहती है और न उत्कृष्ट ही कहलाने योग्य है; क्योंकि वह सबको व्यापोहमें ही ढाढ़ती रहती है। अतः ( विषयोंकी भौति ) वह भी निष्क्रिय ही अनर्थकी प्राप्ति करनेवाली है। जैसे नदीसे असंख्य चश्मल तरङ्गे प्रकट होती और वायुकी सहायतासे बढ़ती रहती हैं, उसी प्रकार इस श्री अथवा सम्पत्तिसे बहुत-सी चिन्तारूपिणी, पुक्रियों उत्पन्न होती हैं, और विविध

दुश्चेष्ठाओंद्वारा हृदिको प्राप्त होती रहती है। यह सम्पत्ति शास्त्रोक्त सदाचारसे रहित पुरुषको पाकर इधर-उधर दौड़ती रहती है, कहीं एक जगह पैर जमाकर स्थिर नहीं रहती। यह मूढ़ सम्पत्ति किसी गुणवान् पुरुषके द्वारा बड़े दुःखसे उपार्जित होनेपर भी प्राप्तः उसके उपभोगमें नहीं आती और राजाओंकी प्रकृतिके समान ( श्रेष्ठ पुरुषकी उपेक्षा करके मी ) गुण-अवश्यका विचार किये विना ही जो कोई भी अपने पास रहता है, उसीका अधलम्बन कर लेती है। लोग तभीतक अपने और पराये जनोंके प्रति शीतल-मृदुल ( दया, उदारता और स्नेह आदिसे सम्पूर्ण ) बने रहते हैं जबतक कि वे प्रबल

आशुके बेगसे वर्फकी भौति धन-सम्पत्तिके द्वारा कठोर एवं दुर्सह नहीं बना हिये जाते। जैसे मुट्ठीभर घूल मणियोंको मलिन कर देती है, उसी प्रकार धन-सम्पत्तिने बड़े-बड़े विद्वान्, शर्वीर, कृतज्ञ, मुन्द्र और कोमल-खगवाले पुरुषोंको भी मलिन ( कलंकित ) कर दिया है। मात्रान्। धन-सम्पत्ति मुख देनेके लिये नहीं, दुःख देनेके लिये ही बढ़ती है; जैसे विषकी बैल द्वारा क्षित रक्षी जाय तो वह मौत ही देती है, उसी प्रकार धन-सम्पत्तिकी रक्षा करनेपर भी वह विनाशका ही कारण होती है।

जो धन-सम्पत्तिसे युक्त होकर भी जनताकी निन्दाका पात्र न हो, शर्वीर होकर भी अपने ही मुँहसे अपनी बड़ा-चड़ाकर प्रशंसा न करता हो तथा खामी होकर भी समस्त सेवकों अथवा प्रजा-जनोंपर समान दृष्टि रखना हो—ये तीन तरहके पुरुष संसारमें हुर्दम हैं। यह धन-सम्पत्ति दुःखरूपी सर्पोंके रहनेके लिये विषम ( भवेकर ) और गहन ( दुर्गम ) गुण है तथा महान् मोहरूपी गजराजोंके निशासके लिये विन्ध्याचलकी विशाल तटभूमि है। अर्थात् यह महान् दुःख देनेवाली और महान् मोहसे आकृत करनेवाली है। सत्कर्मरूपी कमलोंको संकुचित करनेके लिये यह रात्रिके समान है। दुःखरूपी कुमुदोंके विकासके लिये चौंदनीका काम करनेवाली है तथा उत्तम दृष्टि ( श्रेष्ठ बुद्धि ) रूपी 'दीपकक्ष' वृश्चानेके लिये आशुके तुल्य है। धन-सम्पत्ति मय और आनितरूपी बादलोंकी उत्थानि तथा दृष्टि करनेवाली है, विषादरूपी विषको बढ़ानेवाली है, विकल्प ( संशय ) रूपी खेतीकी उपजके लिये क्यारीके समान है तथा खेद या कष्ट प्रदान करनेके लिये भयंकर सर्पिणीके तुल्य है। वैराग्यरूपी लताओंको नष्ट करनेके लिये छोलेके समान है। काम आदि मनोविकाररूपी उल्लुओंको सबल बनानेके लिये वैचरी रात्रिके तुल्य है। विवेकरूपी चन्द्रमाको प्रस लेनेके लिये राहुकी दाढ़ है और सौजन्यरूपी कमलको संकुचित कर देनेके लिये

चन्द्रमाकी चौंदनी है। इतना ही नहीं, यह इन्द्र-धनुषके समान क्षणसाथी विविध रंगों ( रागों )के कारण मनोहर जान पहेती है तथा विजलीके समान चपल तथा डरम द्वारे ही नष्ट हो जानेवाली है। प्रायः जैड ही इसके आश्रय हैं। यह एक रूपसे कहीं क्षणभर भी नहीं ठहरती। पानीकी लहर और दीपककी छौके समान चञ्चल हैं तथा जिन्हें जानना अस्यात् कठिन है, ऐसी असल्य दुर्दशाओंकी प्राप्ति करानेवाली है। यह धन-सम्पत्ति मनोरम होनेके कारण चिच्चनुसिंहों अपनी ओर खांच लेती है। प्रायः अमर्यकारी कमोंसे इसकी प्राप्ति होती है और प्राप्त होकर भी यह क्षणभरमें नष्ट हो जानेवाली है।

मुने। जीवकी आशु पत्तेके सिरेपर लटकते हुए जल-बिन्दुके समान अस्तिर हैं। वह उन्मत्तके समान असमर्थमें ही इस कुत्सित शरीरको छोशकर घल देती है। जिनका वित्त विषयरूपी विवधर सर्पोंके संसारसे सर्वथा जर्जर हो गया है और जिनमें प्रौढ़ आरम्भ-विवेकका अभाव है, उन लोगोंकी आशु उन्हें क्लेश देनेवाली ही है। जो जानने योग्य वस्तु ( परशुराम परमात्मा ) को जान चुके हैं और उस व्यपरिष्ठुन ब्रह्मपदमें प्रतिष्ठित हैं, ऐसे महापुरुषोंकी आशु लाभ-हानि एवं मुख-दुःखमें वित्तको समानभावसे छुस्तिर रखनेवाली होनेके कारण सुखदायिनी है। महर्ये! हमलोग नपे-नुले आकाराले शरीरमें ही 'यह आमा है' ऐसा निष्पत्ति किये बैठे हैं। अतः संसाररूपी मेवमें विजलीके समान चमककर विलुप्त हो जानेवाली इस क्षणभूमूर आशुमें हम सुखी नहीं हैं। शरद-शूषुके छिटफुट बादल, तेलरहित दीपक तथा जलकी तरफके समान चञ्चल आशु गयी हुई ही देखी जाती है। तरफको, जल आदिमें प्रतिविवित चन्द्रमाको, विषुद्ध-मुक्तको और आकृशकमलको हाथसे पकड़नेका तो मैं विश्वास रख सकता हूँ; परंतु इस अस्तिर आशुपर भेरा कोई भौमसा

१. यहों जलके दो अर्थ हैं—जल और मूर्ज। विजलीका आश्रय जल होता है और धन-सम्पत्तिका आश्रय मूर्ज।

नहीं है ( असम्भव बातें भी मले ही सम्भव हो जायें, पर आयुको पकड़े रखना असम्भव है ) । जैसे खबरी दुःख भोगनेके लिये ही गर्भ-धारणकी इच्छा करती है, उसी प्रकार जिसका भन विश्रान्त ( तृष्णाधोंसे अथन्त उपरत ) नहीं है, ऐसा मूर्ख मनुष्य कष्ट उठानेके लिये ही व्यर्थ आयुका विस्तार ( अधिक कालतक जीना ) चाहता है । ब्रह्मन् ! इस संसार-वक्रमें जो देहरूपी लता है, यह सूष्टिरूपी समुद्रके जलका विकारभूत फैल ही है ( क्योंकि उसीके समान अथन्त अस्थिर है ) । अतः इसमें अधिक कालतक जीवित रहना मुझे अच्छा नहीं लगता । वास्तवमें वही जीवन उत्तम जीवन कहलाता है, जिससे अवश्य पाने योग्य वस्तु ( परमाम-ज्ञान ) की प्राप्ति होती है, जिससे फिर शोक नहीं करना पड़ता तथा जो परम निर्वाणरूप मुखका स्थान है । यों तो बृक्ष भी जीते हैं, पशु और पक्षी भी जीवित रहते हैं; परंतु वास्तवमें उसी पुरुषका जीवन सफल है, जिसका भन मननके द्वारा जीवित न रहे—अमनीभावको प्राप्त हो जाय । संसारमें उन्हीं जीवोंका जन्म लेना सफल है और उन्हींका जीवन श्रेष्ठ है, जो फिर यहाँ जन्म नहीं लेते । शेष प्राणी तो बूढ़े गदहोंके समान हैं ( जैसे गदहे अधिक कालतक जीनेपर भी उत्तम जीवन नहीं दिताते, उसी प्रकार उन प्राणियोंका भी जीवन है, जो इस अपवित्र देहको ही आत्मा माने बैठे है ) ।

अविवेकी मनुष्यके लिये शास्त्रोंका अध्ययन भाररूप है । रागी ( विषयासङ्ग ) पुरुषके लिये तत्त्वज्ञान भार है । अशान्त-

मनुष्यके लिये भन भार है तथा जो आत्मज्ञानसे शून्य है, उसके लिये शरीर भार है । जिसकी बुद्धि दूषित है, उस पुरुषके लिये रूप, आयु, भन, बुद्धि, अहंकार तथा चेष्टा,—ये सबके-सब उसी प्रकार दुःखदायक होता है । आयु कठोर परिश्रम एवं सुदृढ़ कष्टको ही देनेवाली है । इसमें श्रमकी निवृत्ति कभी नहीं होती, कामनाधोंकी पूर्तिका भी अमात्र ही रहता है । यह आपत्तियोंका परम आश्रय और रोगरूपी पक्षियोंका धौसला है । जैसे विलमें विश्राम करनेवाले तथा विषके द्वारा संताप देनेवाले भयंकर सर्प वनकी वायुका पा । करते हैं, उसी प्रकार शरीररूपी विलमें रहकर विपत्तुस्य दाह पैदा करनेवाले भीषण रोगरूपी सर्प जीवकी आयुका पान करते हैं । जैसे काठके छोटे-छोटे कीड़े उसके भीतर रहकर पुराने घेहको सदा काटते और उससे धूल-सी गिराते रहते हैं, उसी प्रकार सदा पीथ, रक्त और मल बहानेवाले तथा देहके भीतर नियास करनेवाले दुष्ट रोग आदि दुःख निरन्तर आयुका उच्छेद करते रहते हैं । जैसे बिछु चूहेको शीघ्र निगल जानेके लिये उत्कट अभिलापाके साथ निरन्तर उसकी ओर ताकती रहती है, उसी प्रकार मृत्यु भी आयुको अपना ग्रास बनानेके लिये ही सदा उसकी ताकमें बैठी रहती है । इस संसारमें यह आयु जिस प्रकार स्थिरता और मुखके द्वारा सदाके लिये परित्यक्त, अथन्त तुष्टि, गुणहीन तथा मृत्युकी भाजन है, वैसी दूसरी कोई वस्तु नहीं है । ( सर्ग १३-१४ )

### अहंकार और चित्तके दोष

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—मुनिश्रेष्ठ ! यह अनेक रूप-वालासंसार दीनोंसे भी दीन विषयलम्पट लोगोंको अहंकार-के वशीभूत, होनेके कारण ही निर्णतर राग-द्रेप आदि दोषोंके कोशरूप अनर्थकी प्राप्ति कराता रहता है । अहंकारके वशमें होनेसे ही मनुष्यपर आपत्ति आती है—

उसे शारीरिक कष्ट भोगने पड़ते हैं । अहंकारसे ही अनेक दुःखद मानसिक व्यथाएँ होती हैं तथा अहंकारसे ही राग अथवा दुःखेष्टाएँ होती हैं । जैसे बहेलियेके द्वारा मृगोंको, पकड़नेके लिये बहुत बड़ा जाल विछाया जाता है, उसी प्रकार अहंकाररूपी दोषके कारण

संसारखण्डी अँचेठी रातमें जीवोंके मनको मोहित करनेवाली विशाल माया छिड़ी हुई है। अहंकार शान्तिखण्डी चन्द्रमाको निगलनेके लिये राहुका मुख है, पुण्यखण्डी कमलोंका विनाश करनेके लिये हिमखण्डी करता है। और सब मूलोंमें समदर्शिताखण्डी मेघका विष्वसं करनेके लिये शरद् अत्तु है। ऐसे अहंकारका मैं त्याग करता हूँ। न मैं अमुक नामवाला हूँ, न विषयोंमें मेरी रुचि है और न मन ही मेरा है। मैं शान्त होकर मनको बीतनेवाले महारथा पुरुषकी भाँति अपने-आपमें ही स्थित रहना चाहता हूँ। महान्। यदि अहंकार रहता है तो आपसिकालमें मुझे हुःख होता है और यदि नहीं रहता तो मैं निरन्तर मुखका अनुभव करता हूँ। इसलिये अहंकाररहित होना ही चैष्ट है।

मुने ! मैं अहंकारका त्याग करके शान्तिविद्व हो उद्देश्यन्य होकर वैद्य रहता हूँ; क्योंकि भोगोंके समूहका आधार ही क्षणभक्षुर है। इस देहरूपी विशाल धनमें जो धनीमूढ़ अहंकारखण्डी मोटा-ताजा सिंह है, उसीने इस जगत्का विस्तार किया है ( ऐसे अपनी क्रीडासाक्षी बनाया है )। मुने ! जैसे शत्रु किसीको मारनेके लिये मन्त्रनन्त्रके द्वारा मारण-उच्चाटन आदिका जाल फैलता है, उसी प्रकार इस अहंकारखण्डी महाद् रश्मि ने संसारमें जीवका पतन करनेके लिये विना मन्त्र-तन्त्रके ही ली। पुत्र, मित्र आदिके जाल फैल रखते हैं। इस अहंकारका मूलोंछेदपूर्वक निराकरण कर देनेपर ये सभी मानविक दृश्यन्नारें तुरत अपने-आप विलीन हो जानी हैं। अहंकारखण्डी बादलके फट जानेपर जानितका विनाश करनेवाला एवं हृदयाकाशमें छाया हुआ महान् मोहरूपी कुहासा धीरे-धीरे न जाने कहाँ

\* जैसे चन्द्रमाको यहु निगल जाता है, कमलोंको हिम या घोलोंकी बर्पाँ नह कर देती है और शरद् अँच मेर्वेष विष्वसं कर डालती है, उसी प्रकार अहंकार धाँसित, अमा, दया तथा प्राणिमात्रमें सममावको नह कर देता है।

विलीन हो जाता है। महारुप मुनीश्वर ! जो समूर्ध आपसियोंका घर, शान्ति आदि उत्तम गुणोंसे रहित तथा हृदयके भीतर निवास करनेवाला है, उस अनिय अहंकारका मैं आश्रय लेना नहीं चाहता ( उसके अधीन होना नहीं चाहता )। अपने मुद्द विवेकके द्वारा मैं अच्छी तरह समझ गया हूँ कि यह अहंकार नामक कल्प सब औरसे अतिशय हुःखरूप ही है। असः अब मेरे लिये जो कुछ भी कर्तव्य शेष रह गया हो, उसे बताते हुए आप मुझे अव्याप्तिविषयक उपदेश दीजिये।

मुनीश्वर ! जैसे वायुके प्रधाहनमें पठकर मोर-पेंडका अप्रमाण बेगसे विलीन रहता है, उसी प्रकार यह चक्षु चित्त भी अस्यन्त व्यप्र होकर व्यर्थ ही इवर-उधर दौड़ता रहता है। जैसे कुछा अपना पेट भरनेके लिये अ्यकुल हो गाँवमें दूर-से-दूरतकके जर्यों या स्थानोंका चक्कर लगाया करता है, वही दशा इस चक्षु भनकरी है। इसे कहीं भी कोई अनुकूल बरुज नहीं प्राप्त होती। इसलिये यह दीन बना रहता है। यदि इसे कभी विशाल धनका भेदार प्राप्त हो जाय, तो भी यह भीतरसे उस नहीं होता। जैसे ब्रांस या बेतकी धनी हुई पिटारी कभी बलसे नहीं भरती, उसी प्रकार धनसे भरुष्यका जी नहीं भरता। मुने ! जैसे अपने मुंदसे विलुप्तकर जालमें जकड़े हुए मृगको कभी उत्त नहीं मिलता, उसी प्रकार समस्त साधनोंसे शून्य ( एवं सत्सङ्गरहित ) मन सदा दुर्बासिनाओंके जालमें जकड़ा रहता है। इसलिये उसे कभी मुख और संतोष नहीं प्राप्त होता। मुने ! तरङ्गोंके समान चक्षु बृत्तिको धारण करनेवाला यह मन अपने स्थूल-सुखम जवयव-विभागको छोड़कर एक क्षणके लिये भी हृदयमें स्तिर नहीं रहता। विषयोंके चिन्तनसे क्षोभको प्राप्त हुआ यह मन मन्दरचलके आवातसे उड़लती हुई क्षीरसागर-की दुग्धराशिके समान दसों दिवाओंमें दौड़ता था

प्रदृढ़ दिग्म है, जिन् दलों भी इन्हिन्हों नहीं पड़ता ।  
**अन्तः !** जैसे यह गौड़े लिखेसी करें चिन्ना  
 = जाने हरी-बुरी दूर चारोंनी इच्छासे ब्रेति हो  
 दूर दूर दूर दूर नाना रहना है, उसी प्रकार यह  
 एवं भावहै जहाँमें गिरनेवाँ पड़ा न करके भोग-  
 आज्ञा अज्ञामें वही दूरक चार नाना रहना है  
 ( अविवेकनाथकृष्णदेव नन्दमूर्द्धे वैभवा रहना है ) । जैसे  
 लिखेंमें एवं किया दूआ सिद्ध विनाके कारण एक  
 राह लिया होकर नहीं रहना, उसी तरह नाना  
 प्रकारकी विनाक्षेमे अयनन नन्दम दुखा मन अपनी  
 वद्वारा दूषिके वारग कही सिर नहीं रह पाता ।  
 ऐसे हम जलमे दूषणे निजात लेना है, जैसे ही  
 अद्वैतानी रप्तर आमद दुखा यह मन भी हम शरीरसे  
 उद्देश्यन्य समनाके सुखका अपहरण कर लेता है ।  
**अन्तः !** मनस्यों प्रह लाग्निसे भी अधिक उष्ण है ।  
 उसके ऊपर अहना पर्वनपर चढ़नेसे भी अधिक कठिन  
 है तथा एवं यससे भी बढ़कर कठोर है । उसको  
 दरमें लाना दून ही कठिन है । जैसे मांसमधी  
 दक्षी मामधर दृट पड़ता है, उसी प्रकार मन भी  
 अविवेक्य दृष्टव्य होनेवाले विद्योक्ता और दौड़  
 रहना है । परंतु जैसे बाल्क पइले तो खिन्नैनेकी  
 ओर अग्नना है, जिसे पाकर योही ही देखें उससे  
 दूर नैह नैना है, उसी नगह यह मन प्राप्त हुए

लियमे भगवरमें ही रित हो जाता है ( और  
 नन्दनये विद्यकी दोन करने लगता है ) ।

सुन्दरको पीजाना, सुन्दर पर्वनमो जड़से उत्ताङ फैकला  
 तथा अग्निका ही आहार करना—ये महान् एवं दृश्याम्य  
 कार्य हैं । परंतु चबूत्र चित्तको वशमें कर लेना इनसे भी  
 महान् एवं कठिन कार्य है । सर्पर्ग पदार्थोक्ता कारण चित्त  
 ही है । जबतक चित्त है, तभीतक तीनों लोकोंकी  
 सत्ता है, उसके क्षीण होते ही जगत् क्षीण हो जाता  
 है । इसलिये इस विचरणपी रोगकी यज्ञरूपक चिकित्सा  
 करनी चाहिये । मुने ! जैसे महान् पर्वनसे अनेकानेक  
 वनों एवं काननोंकी उपस्थि होती है, उसी प्रकार  
 मनसे ये संकरों सुख-दुःख पैदा हुए हैं—इसमें संशय  
 नहीं है । अप्यात्मविश्वपक विवेकसे जब यह मन दृढ़त  
 हो जाता है, तब ये सारे सुख-दुःख निश्चय ही  
 पूर्णरूपसे गच जाते हैं—ऐसा मेरा विचास है । महान्  
 सुमुकु पुरुष जिसके जैसे जानेपर शम, दम, क्षमा,  
 दया, समता, शान्ति, संतोष, क्षरलना आदि समस्त  
 सद्गुणोंके लाभीन होनेकी आशा करते रहे हैं, उसशब्दुरूप  
 चित्तको जीनेके लिये मैं सब प्रकारसे उघात हुआ  
 हूँ । अनेक जैसे चन्द्रमा मेवमान्दका अमिनन्दन नहीं  
 करना, उसी प्रकार मैं तीव्र वैराग्य-सम्पत्तिसे युक्त  
 होनेके कारण जड और मणिन विनासवाली लक्षीका  
 अभिनन्दन नहीं करता । ( सर्ग १५-१६ )

### तृष्णाकी लिन्दा

अग्नमन्दजी करने हैं—मुनीश्वर ! चेनन जीवम्हर्या  
 जाम्हनमे दृद्युते अहनान्धकरने परिवर्ग दुन्नर  
 नन्दमहर्यों गतिका महाग पक्ष साना प्रकारके  
 दोन्हर्यों हन्दुओंकी उम्हने शिवालीउ हो दट्टी हैं ।  
 जैसे इन्हें अंदूके दून्हेमे अभिनिक नया असुन्यामुके  
 दृग्मनेहे जिसे दृद वाहन पुण ( घट्टोंके छन )

की उज्ज्वल शोभामे सुशोभित चनेकी फलियाँ निश्चय  
 ही अधिक विकासको प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार  
 अनेक तरहके दृष्टव्यमय विद्यर्थियोंसे प्रकट हुए  
 अशुक्लिन्दुओंसे आई नथा निकटवर्ना सुर्य आदिकी  
 अभिन्नगदारा उज्ज्वल हुई चिन्ता या तृष्णा अवश्य  
 अधिकदिक बदने लगती है । जैसे समुद्रके भीनर

मंबर एवं हलचल उत्पन्न करनेके लिये ही तरङ्गे उठा करती हैं, उसी तरह हृदयको चक्रल बना देनेवाली तुष्णा अन्तःकरणमें ध्रुम एवं धाकुज्ज्ञा पैदा करनेके लिये ही उस सीमातक था पहुँचती है, जहाँ वह घनादिकी प्रासिके लिये कष्टप्रद उत्साहको बढ़ावा देती है। यथापि तुष्णाके वेगको रोकनेके लिये वह चित्तरूपी चातक नाना प्रकारकी चेष्टाएँ करता है, तथापि जैसे आँधी सडे-गले तिनकोको न जाने कहाँ-से-कहाँ उड़ा ले जानी है, उसी प्रकार कलहिनी तुष्णाने हसे न जाने कहाँ-किस अयोग्य अवस्थामें पहुँचा दिया। जैसे जालमें फँसे हुए पक्षी अपने बोंसलेमें जानेकी शक्तिसे वशित हो वहाँ शोक-दुःखसे मोहित हो जाते हैं, जैसे ही हमलोग विन्ता या तुष्णाके जालमें फँसकर अपने पारमार्थिक त्वरूपको प्राप्त करनेमें असमर्थ हो मोहमें हूँधे रहते हैं।

तुष्णा एक पागल बोझीके समान है, जो यहाँसे दूर-दूर जाकर आरं बार लौट आती और फिर तुरंत ही सम्पूर्ण दिशाओंमें चक्रर काटने लगती है। जैसे घटीयन्त्र ( रहट ) के ऊपर लगी हुई रसी घटके साथ सदा ऊपर-नीचे आती रहती है, जह या बलसे सम्बन्ध रखती है, अपने भीतर गोठे रखती है और चक्रल बनी रहती है, उसी तरह यह तुष्णा धर्म और धर्मके अनुसार सदा स्वर्ग और नरकमें गमनागमन कराती, खेतन और बड़की ग्रन्थिसे छुड़ी रहती, जह पदार्थोंसे सम्बन्ध रखती और सदा विशुद्ध बनी रहती है। जो देहके भीतर मनमें गुणी हुई है, जिसका छेदन करना ग्रायः सभीके लिये अस्ति कठिन है, उस तुष्णाके द्वारा मनुष्य उसी प्रकार शीघ्र भारवाही बना लिया जाता है, जैसे रासकी रसी बैलको तत्काल भार ढोनेके लिये विकार कर देती है। जैसे बहेलियेकी क्षी पक्षियोंको फँसानेके लिये जाल बनाती है, उसी प्रकार सदा आकर्षणशील स्वभवालों तुष्णा लोगोंकी फँसानेके लिये क्षी, पुत्र और मित्र और्दिकी

परम्परा रखती रहती है। यथापि मैं धीर हूँ, तथापि भयानक काली रतके समान तुष्णा मुझे भयमीत-सा कर देती है। विवेकरूपी नेत्रसे सम्पन्न हूँ, तो भी वह मुझे अंधा-सा बना देती है और सचिदानन्दभनरूप होनेपर भी मुझे वह मानो खेदमें डाल देती है।

तुष्णाको काली नागिनके समान समझना चाहिये। वह सहजों कुठिल्लताओंसे भरी हुई है। विषयमोग-मुख ही उसका कोमल स्पर्श है। वह विषमतारूपी विकको ही उगलती है और तनिक-सा स्पर्श हो जानेपर भी दैंस लेती है ( अपने मध्यर्कमें आये हुए प्राणीका नाश कर देती है\* )। इतना ही नहीं, तुष्णा काली-कछुटी राक्षसीके समान भी बतायी गयी है। वह पुरुषोंके हृदयस्त मेदन करनेवाली तथा मायामय जगत्को रचनेवाली है। दुर्माण्य प्रदान करनेवाली तथा दीनताकी प्रतिमृति है। पर्वतकी गुफामें एक प्रकारकी बता होती है, जो सूर्यकिरणोंके न मिलनेसे सदा अपन्त मलिन रहती है। वह खानेमें कड़वी और परिणाममें उन्मादका रोग पैदा करनेवाली है। उसकी बेल बहुत लंबी होती है और उसमें रसकी मात्रा अधिक रहती है। यह तुष्णा भी उसी बताके समान निरन्तर अपन्त मलिन, परिणाममें हुःखसे पागल बना देनेवाली, वासनारूपी विशाल तौतोंसे युक्त तथा विषयोंमें गहरा स्नेह पैदा करनेवाली है। जैसे ऊँचे छुक्कोंकी शाखाके अप्रभागमें स्थित सूखी हुई मङ्गरी पुष्पशूल्य, निष्फल तथा कष्टकर्कर्ण होनेके कारण आनन्ददायिनी नहीं होती, उसी प्रकार तुष्णा सर्वथा सूनी, निष्फल, व्यर्थ विस्तारको प्राप्त होनेवाली, अमङ्गलकारिणी और क्लूर है। यह कभी सुखदायिनी नहीं होती। संसाररूपी विशाल बनमें तुष्णारूपिणी विषकी बेल फैली हुई है। जग-भृत्य आदि ही इसके फूल तथा

\* नागिनकी भी चाल देटी और स्वर्ग कोमल होता है तथा वह योद्धा-सा छू जाय तो भी छूनेवालेको दैंसपर मार डालती है।

निनिपात और उत्पान ( अवःपतन और उफ्फद्र ) ही कल हैं ।

मुने ! चिन्ता ( तृष्णा ) चञ्चल मोरनीके समान है । मोरनी वर्षाकी बूँदे पढ़नेपर बारंबार तृष्ण करती है, शरद-ऋतुका प्रकाश आ जानेपर शान्त हो जाती है और दुर्गम-स्थानोंमें भी पैर रखती है, इसी तरह तृष्णा भी कुछरेके समान मोहके आवरणमें स्फुरित होती है—नाच उठती है, विवेकका प्रकाश छा जानेपर शान्त हो जाती है और असाध्य वस्तुओंमें भी पौध रख देती है । केशल वर्षा कालमें इतरकर बहनेवाली छोटी नदी और तृष्णामें बहुत कुछ समानता है । वह नदी वर्षके अतिरिक्त समयमें चिरकालतक जलशून्य पढ़ी रहती है । वर्षा-ऋतुमें भी बीच-बीचमें जब शूष्टि रुक जाती है, वह जलसे खाली हो जाती है; परंतु पानी बरसनेपर उसमें क्षणमरमें बाद आ जाती है और जलकी बहुत-सी उत्ताल तरङ्गे उठने लगती हैं । इसी प्रकार तृष्णा भी चिरकालतक फलशून्य ही रहनी है, कभी-कभी सफळ होनेपर भी बीच-बीचमें फलशून्य हो जाती है । जड़ पदार्थोंमें ही इसे अधिक आनन्द मिलता है और क्षणमरमें ही यह उत्तालित हो उठती है । घारेके लोमसे चञ्चल हुई चिह्निया जैसे फलशून्य खड़े हुए बृक्षको छोड़कर दूसरे-दूसरे फलयुक्त शृङ्खपर चली जाती है, उसी प्रकार तृष्णा भी विवेकी एवं विरक्त पुरुषको छोड़कर विषयासङ्ग पुरुषके पास चली जाती है ।

तृष्णा और चञ्चल बैदरिया दोनोंका लभाव एक-जैसा है । वे अनन्धस्थानमें भी पैर रख देती हैं, तृष्ण हो जानेपर भी नये-नये फलकी इच्छा करती हैं और विषयरूप एक स्थानपर अधिक कालतक नहीं ठहरती । तृष्णा छद्यरुपी कमलमें निवास करनेवाली भ्रमती है । यह क्षणमरमें पातालको चली जाती है, फिर दूसरे ही क्षण आकाशकी सैर करने लगती है और क्षण-मरमें ही दिग्भूतरूपी निकुञ्जमें मरहाती दिखायी देती

है । संसारमें जितने दोष हैं, उन सबमें एकमात्र तृष्णा ही ऐसी है, जो दीर्घकालतक दुःख देती रहती है । वह अन्तःपुरमें रहनेवाले मनुष्यको भी भीषण संकटमें डाल देती है । तृष्णारूपिणी मेघमाला मोहरूपी नीहार-मुखसे धनीभूत होकर परम ज्ञानरूपी सूर्यके प्रकाशको ढक देती है और जगत्को केशल जड़ता ( जल अथवा अज्ञान ) ही प्रदान करती है । तृष्णा सांसारिक व्यवहारमें फँसे हुए समस्त प्राणियोंको बौधनेके लिये एक मजबूत रस्तीके समान है । उसने सबके मनको बौध रक्षा है । इन्द्र-धनुष जिन लक्षणों अथवा धर्मोंसे युक्त दिखायी देता है; वे ही तृष्णाके भी लक्षण अथवा धर्म हैं । वह इन्द्र-धनुषकी ही भाँति बहुरंगी, गुणहीन, विशाल, मन्त्रिन ( भैष अथवा अशुद्ध अन्तःकरणवाले ग्राणीके ) आधारपर स्थित, शून्यरूप और शून्यमें ही पैर रखनेवाली है । तृष्णा गुणरूपी हरी-भरी खेतीको नष्ट करनेके लिये ब्रजपातके समान है । आपत्तियोंको बढ़ानेके लिये उस शरद-ऋतुके तुल्य है, जिसके आनेपर धान आदिकी सेती पकी हुई बालोंसे सम्पन्न हो जाती है । तत्त्व-ज्ञानरूपी कमलोंका विर्घस करनेके लिये ओलेके सदृश और अशानरूपी अन्वकारकी बृद्धिके लिये वह हेमन्तकी लंबी रातके समान है ।

तृष्णा इस संसाररूपी नाटकी नटी है, प्रशुतिरूप नीडमें निवास करनेवाली पक्षिणी है, मनोरथ-रूपी महान् वनमें विचरनेवाली हरिणी है और कामरूपी संगीतको उद्भवूद करनेवाली वीणा है । वह व्यवहाररूपी समुद्रकी लहर है । मोहरूपी मतवाले गजराजको बौधि रखनेके लिये सौकाल है, सृष्टिरूपी बटवृक्षकी सुन्दर बोहे है और दुःखरूपी कुमुदोंको विकसित करनेवाली चौदमी है । हत्ता ही नहीं, तृष्णा जरा-मूस्यरूप दुःखमय रस्तोंका संग्रह करनेके लिये एकमात्र रजन-पेटिका है तथा आधि-व्याधिरूप विलासोंका निष्प विस्तार करनेवाली मदमत्त विलासिनी है । तृष्णाको व्योमधीयी ( आकाश )

के समान समझना चाहिये । जैसे ज्ञाकाश कभी सूर्यके प्रकाशसे निर्मल हो जाता है, कभी मेवोंकी बटा विर आनेसे वहाँ कुछ क्षणोंके लिये कुछ-कुछ अंधेरा छा जाता है और कभी वह कुहरेसे ढक जाता है, उसी प्रकार तृष्णा भी कभी किंचित् विवेकका प्रकाश पाकर निर्मल हो जाती है, विवेक न होनेपर अज्ञानसे मलिन रहती है और कभी कुहरेके समान मोहसे आदृत हो जाती है । जबतक विष-विशेषके डङ्डवसे प्रकट होनेवाले विसृचिका ( हैंजा ) नामक रोगके समान मृत्युकी हेतुभूता तृष्णा पीछे लगी रहती है, तभीतक यह चश्चल-चित्त मूढ़ जन-समुदाय मोहको प्राप्त होता रहता है ।

लेग विषयोंका विन्तन स्थाग देनेसे ही अपने सम्बूद्ध हुःखको दूर कर सकते हैं । विषय-विन्तनका स्थाग ही तृष्णालूपिणी विसृचिकाके निवारणका मन्त्र कहा गया है । तृष्णा बेणुलता ( बौस ) बतायी जाती है । जैसे बौस भीतरसे खोखला, बीच-बीचमें गाँठोंसे युक्त और कोंपलरूपी बड़े-बड़े कॉटोंसे भरा होता है तथा उसमें सबको प्रिय लगनेवाले भोती डपलचम होते हैं, उसी प्रकार तृष्णा भी भीतरसे खोखली, कण्ठ-दुराग्रह आदि गाँठोंसे भरी, चिन्ता और दुःखरूपी कट्टकोंसे परिपूर्ण तथा मोती-मणि आदि धन-सम्पत्तिमें अधिक ग्रेम

रखनेवाली है । फिर भी यह थड़े आकर्षकी बात है कि परम बुद्धिमान् ज्ञानीजन विवेककी चमचमाती हुई तलवारसे उस-दुखेष चिन्ताको भी काट ढालते हैं । ब्रह्मन् ! जीवोंके हृदयमें रहनेवाली यह तृष्णा जैसी तीखी है, वैसी तीखी न तो तदवारकी धार है न कजासिकी लपटें हैं और न आगमें तपाये हुए लोहकणोंकी चिनगारियों ही हैं । तृष्णा दीप-शिखाके समान कही गयी है । जैसे दीपककी शिखा बीचमें उज्ज्वल, अन्तमें काली होती है, उसका अग्रभाग तीखा होता है, उसमें तेल और लंबी-सी बर्ती होती है, वह प्रकाशमान होती है, और दाहके कारण उसका स्पर्श दुस्तह होता है, उसी प्रकार तृष्णा भी बीचमें भोग-वैभवसे उज्ज्वल और अन्तमें दुःख एवं मृत्यु देनेवाली होनेके कारण काली होती है, उसका अग्रभाग या आरम्भ भी असश्व होता है । वह सी-पुत्र आदिके स्नेहसे पूर्ण तथा बाल्य, यौवन, बुद्धापा नामक अवस्था-विशेषरूपी बनियोंसे युक्त होती है, इसका सबको प्रस्तु अनुभव होता है तथा इष्ट वस्तुके विषेग-मनित अन्तर्दाह उत्पन्न करनेके कारण यह सबके लिये असश्व हो उठती है । महर्षे ! मेषपर्वतके समान परम उक्त, विद्वान्, शूरीर, मुसिर और श्रेष्ठ मनुष्यको भी यह एकमात्र तृष्णा ही पलभरमें याचक बनाकर तिनकोके समान हल्का कर देती है । ( सर्ग १७ )

### शरीर-निन्दा

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—महामुने ! गीली ओतों ( मन्त्र-मूत्र आदिकी यैलियों ) और नाडियोंसे भरा हुआ, नाना प्रकारके विकारोंसे युक्त तथा अन्तमें पतमशील ( मरणधर्मा ) जो शरीर ससारमें सबके सामने प्रकाशित हो रहा है, वह भी केवल दुःख भोगनेके लिये ही है । यह योद्धे-से खान-पान आदिके द्वारा ही आनन्दित हो रहता है और योद्धे-से ही शीत, धाम आदिसे खिल हो जाता है; अनः इस शरीरके समान

गुणहीन, शोचनीय और अधम दूसरा कोई नहीं है । यह शरीर दृष्टके तुल्य है । दोनों मुजाहें इसकी दो शाखाएँ हैं, परिपुष्ट कधा तना है । दो नेत्र इसके छिल या खोदर हैं । मस्तकका स्थान इसका बद्ध भारी फल है । यह दौतरूपी श्रेणीवद्द पश्चियोंके बैठनेके लिये स्तम्भके समान मुन्द्र आधार है । दोनों कान शब्दरूपी कठफोरवा पक्षियोंके प्रवेश करनेके लिये खोखले हैं । हाथ और पैरोंकी अंगुलियों

इसके मुन्द्र पछाब हैं। गुल्म नामक ( पेटका ) रोग ही इसपर कैसी हुई लगाएँ अथवा जाक्षियाँ हैं। यह कर्म करनेके लिये पञ्चभूतोंके समूहसे संगठित हुआ है। जीव तथा ईश्वररूप पक्षियोंने इसपर अपने धोंसले बना रखे हैं। दौतरुपी केसरोंसे मुश्तिमित, उत्पत्ति-विनाश-शील तथा मन्द हासमय विकाससे युक्त हर्षरूपी छड़ों-द्वारा यह शरीर-वृक्ष सदा अलंकृत होता रहता है। मुन्द्र कान्ति ही इसकी आया है। यह देहरूपी वृक्ष जीवरूपी पक्षियोंका विश्वाम-स्थान है। इसे किसका आत्मीय कहा जाय और किसका पराया ? इसके ऊपर आस्था और अमास्था ही क्या हो सकती है ? तात ! भवसागर तथा नदी आदिको पार करनेके लिये बारंबार अपनायी गयी देहलता एवं नौकामें कौन आत्मीयताकी भावना कर सकता है ? जहाँ रोमरूपी असंख्य वृक्ष उगे हुए हैं, जो इन्द्रियरूपी बहुसंख्यक गड्ढोंसे भरा हुआ है, उस देहरूपी निर्जन बनमें कौन विश्वरूप ( निर्भय ) होकर रह सकता है ?

जो सासाररूपी बनमें उगा और बढ़ा है, जिसपर चित्तरूपी चश्चल बानर उछल्मा-कूदता रहता है, जिसका प्रत्येक अवयव विषय-विन्दनरूपी मङ्गरीसे अलंकृत है, महान् दुःखरूपी धुनोंके लग जानेसे जिसमें सब और छेद या घाव हो गये हैं, जो तृष्णारूपिणी सर्पिणीका घर है, जिसपर कोपरूपी कौएने धोंसला बना रखा है, जिसमें मन्द मुमुक्षानरूपी पुष्प प्रकट होते और खिलते हैं, इसीलिये जिसकी बक्षी होमा होती है, शुभ और अशुभ ( सुख और दुःख ) जिसके महान् फल हैं, मुन्द्र कंधे और बौहं जिसकी शाखाएँ हैं, अङ्गुलियोंसे युक्त हायरूपी पुष्प-गुच्छोंके कारण जो बढ़ा मुन्द्र जान पड़ता है, प्राणवायुरूपी पवनके स्पन्दनसे जिसके सम्पूर्ण अवयवरूपी पछव हिलते रहते हैं, जो समक्षा इन्द्रियरूपी पक्षियोंका आधार है, मुन्द्र छुट्टोंसे युक्त शरीरका निवला भाग जिसका तना है, जो बहुत

जँचा है, यौवनकी कान्तिरूपी छायासे युक्त होनेके कारण जो सरस प्रतीत होता है, कामरूपी पश्चिम जिसका सेवन करता है, मस्तकपर उगे हुए बड़े-बड़े केश-कलाप जिसपर जमे हुए तिनकोंके समुदाय हैं, अहंकाररूपी गीव जिसपर धोंसला बनाकर रहता है, जो भीतरसे खोला ( छिद्रयुक्त ) है, नाना प्रकारकी वासनारूपिणी जटाओंके बालका उद्धम-स्थान होनेके कारण जिसे काटना अत्यन्त कठिन है तथा परिश्रमरूपी शाखा-विस्तारके कारण जो विरस ( रखा ) दिखायी देता है, वह शरीररूपी वृक्ष मुद्दे सुखद नहीं प्रतीत होता ।

मुने ! शरीर अहंकाररूपी गृहस्थका विशाल गृह है। यह गिरकर सदाके लिये भरतीपर लेट जाय अथवा चिरकालतक स्थिर बना रहे, इससे मेरा क्या प्रयोगन है ? जहाँ इन्द्रियरूपी पशु कतार धोंधकर खड़े रहते हैं, तृष्णारूपिणी गृहखामिनी बारंबार ( घर-आँगनमें ) डोलती-फिरती है तथा जिसके समस्त अवयवोंको आसक्तिरूपी गैर आदिके रंगसे रंगा गया है, वह शरीररूपी गृह मुझे अभीष्ट नहीं है। पीठकी हड्डी ( रीढ़ ) रूपी शहतीरोंके परस्पर मिलनेसे जिसके भीतर खाली स्थान बहुत योदा रह गया है तथा जो आँतकी रस्सियोंसे बौधकर खड़ा किया गया है, वह देहरूपी घर मुझे प्रिय नहीं है। जिसमें सब और नस नाड़ी और आँतोंकी रस्सियों फैली हुई हैं, जिसे रक्तरूपी झलसे बनाये गये गारेके द्वारा लीपा गया है तथा बुद्धापा-रूपी चूनेसे जिसपर सफेदी की गयी है, वह देहरूपी घर मुझे अभीष्ट नहीं है। चित्तरूपी भूत्यने नाना प्रकारकी अनन्त चेष्टाओंद्वारा जिसकी स्थिति अत्यन्त सुदृढ़ कर दी है तथा मिथ्या और भोइ ( असत्य और अज्ञान )—ये दो जिसके बड़े-बड़े खंभे हैं, वह देहरूपी गृह मुझे प्रिय नहीं है। दुःखरूपी छोटे-छोटे बच्चोंने जहाँ रोनेकर कोल्पद्रुल मचा रखा है,

गाढ़ निष्ठारूपी सुख-शब्द्याके कारण जो मनोरम प्रतीत होता है तथा जिसमें दुश्चेष्टारूपिणी दग्धे दासी निवास करती है, वह देहरूपी घर मुझे प्रिय नहीं है। मुनीषर। जो मठ आदि दोषोंसे युक्त विषय-समृद्धरूपी व्यतीनों तथा अन्यान्य उपकरणोंसे ठसाठस भरा हुआ है तथा जिसमें अकानरूपी नोनडा लगा हुआ है, वह देहरूपी गेह मुझे अभीष्ट नहीं है। गुरुल्लूपी आधार-काष्ठपर स्थित जो पिंडलियाँ हैं, वे मानो खेमे हैं। धूटना उनका मस्तक है, वह मी जिसके ऊरुसम्बन्धका आधार है तथा दोनों बढ़ी-बढ़ी झुजाएँ दो आढ़ी लकड़ियोंके समान जिसे दृढ़तापूर्वक धारण करती हैं, वह देहरूपी घर मुझे इष्ट नहीं है।

अहम् ! जहाँ छानेन्द्रियरूपी शरोखोंके भीतर प्रश्नारूपिणी गृहस्थामिनी क्रीडा कर रही है तथा विन्ता-रूपिणी पुत्रियाँ खेल रही हैं, वह देह-गेह मुझे प्रिय नहीं है। जो सिरके केशरूपी छाजनसे छाया हुआ है, कानरूपी शोभाशाली चन्द्रशालाओंसे दृश्योभित है तथा कुछ लड़ी अहुलियप काष्ठकिनोंसे सुसज्जित है, वह शरीररूपी गृह मुझे प्रिय नहीं है। जिसके समस्त अहुरूपी भित्तियोंके समूहमें रोमरूपी घने जौके अहुर डगे हैं और जहाँ पेटका गड़ा कभी भरता नहीं, ऐसा देहरूपी गेह मुझे नहीं चाहिये। जिसमें नखरूपी मकड़ियोंका निवास है, जहाँ भूखरूपी कुतिया निरन्तर शोर मचाये रहती है तथा जिसमें भयानक क्षम्भ कलेशाली प्राणवायु सदा चलती रहती है, ऐसे देह-गेहकी प्राप्ति मुझे प्रिय नहीं है। जहाँ शास-ग्रामासके रूपमें बायुके देगका निरन्तर भीतर-बाहर आना-जाना लगा रहता है और जिसकी इन्द्रियरूपी लिङ्कियाँ सदा खुली रहती हैं, वह देहरूपी घर मुझे कभी इष्ट नहीं है। जिसके मुखरूपी दरवाजेपर जिहारूपिणी बाजरी सदा

ढटी रहती है, अतएव जो भयहर दिखायी देता है तथा जिसके दौतरूपी हड्डियोंके टुकडे स्पष्टतः दृष्टिगोचर होते हैं, वह शरीररूपी घर मुझे नहीं चाहिये। यह देह गेह त्वचारूपी चूनेके लेप ( या पलस्तर ) से चिकला किया हुआ है। नाथीरूप यन्त्रोंके संचारसे यह चञ्चल बना रहता है और मनरूपी सुन्दर चूहेने इसमें सब और बिल खोद रखते हैं; इसलिये यह मुझे प्रिय नहीं है। जो मन्द मुसकानरूपी दीपककी प्रमासे क्षणमरके लिये उद्ग्रासित हो रहता है, एक ही क्षणमें आनन्दोलाससे मुन्द्र दिखायी देता है और फिर क्षणमात्रमें ही अशाना-अधकारसे व्याप्त हो जाता है, वह शरीररूपी घर मुझे प्रिय नहीं है। जो समस्त रोगोंका घर है, त्वारियों तथा पके बालोंका नगर है और समस्त मानसिक चिन्ताओंका दुर्गम बन है, वह देह-गेह मुझे प्रिय नहीं है।

यह शरीर एक भयानक बन है। इन्द्रियों ही इस जंगलके मालू हैं, जो अपने रोपके कारण हसे दुर्गम बनाये हुए हैं। यह भीतरसे सूना है तथा अनेकानेक निस्सार खोड़ोंसे युक्त है। इसकी दिशारूपी कुर्जे और अशानान्धकारसे व्याप्त होनेके कारण गहन जान पद्धती हैं; अतः यह मुझे कदायि प्रिय नहीं है। यहाँ धन-सम्पत्ति, राज्य, शरीर, नाना प्रकारकी वेष्टाओं और मनोरथोंसे क्षय लेना-देना है; क्योंकि काल कुछ ही दिनोंमें इन सबको अपना ग्रास बना लेता है। मुने। यह शरीर केवल रक और मांसका ही बना हुआ है। इसका एक ही धर्म है—विनाश। फिर इसके बाहरी और भीतरी स्तरूपपर विचार करके बताइये, इसमें कौन-सी रमणीयता है :

तात ! जो शरीर मरनेके समय जीवका अनुसरण नहीं करते—उसका साथ छोड़ देते हैं, वे कितने बड़े कृतन हैं। फिर आप ही कहिये, उनपर बुद्धिमान् पुरुषोंकी क्षय आस्था हो सकती है ! यह शरीर उस क्षेत्रल पश्चिमके समान है, जो तनिकस्ती बायुका संचार

१. दाह और घासे पीड़ित ।

२. एकीके ऊपरकी गोड़ ।

होते ही जोर-जोरसे हिलने लगता है, यह आधिव्याधिरूपी सैकड़ों कण्ठकोंसे क्षत-विक्षत होनेके कारण जर्जर हो जाता है। इसका खभाव क्षुद्र है तथा यह कलश और नीरस है; अतएव मुझे प्रिय नहीं है। चिरकालतक यन्त्रपूर्वक खाद्यी लेनेके बाद भी नूतन पल्लवोंके समान कोमल कुशताको प्राप्त हो यह बारंबार विनाशकी ओर ही दौड़ता है। दीर्घकालतक लोगोंपर अपना प्रमुख स्थापित करके धन-सम्पत्तिका सेवन करनेके बाद भी मौतों यह ऊँचे उठता है और न स्थिरताको ही प्राप्त होता है, फिर इस शरीरका किसलिये पाइम किया जाता है। कोई मोग-नैभ्रसे सम्पन्न हो या दरिद्र—दोनोंका शरीर समान ही होता है, बुद्धापेके समय बूढ़ा होता और मृत्युकालमें मर जाता है। उसे अपनेमें किसी विशेषताका अनुभव नहीं होता। जो लोग इन नाशवान् शरीरोंमें आसा रखते हैं—इन्हें नित्य स्थिर रहनेवाला मानते हैं तथा जो संसारकी स्थिरतापर भी विश्वास करते हैं, वे मोहरूपी मदिराका पान करके उम्मत हो गये हैं। उन्हें बारंबार विकार है।

मुने। 'मैं न तो इस शरीरका कोई सम्बन्धी हूँ और मैं शरीर हूँ। न यह शरीर मेरा है और न मैं ही यह शरीर हूँ।' ऐसा विचार करके जिनका चित्त परमात्मामें विश्राम ले रहा है, वे ही लोग पुरुषोंमें उत्तम हैं। जो मान और अपमानसे बुद्धिको प्राप्त हुई है और प्रचुर लाभसे मनोरम प्रतीत होती हैं, वे दोषपूर्ण दृष्टियों के बन गया हूँ।

शरीरमें नित्यतन्त्रका विश्वास रखनेवाले मनुष्यको नष्ट कर देती हैं। जो शरीररूपी गङ्गामें सोती है और अहंकारका अमलकारपूर्ण कार्य है, उस मनोहर अङ्गवाली ( मोगतृष्णा-मर्यादी दोषदृष्टिरूपिणी ) पिशाचीने छलसे हमारा सर्वसंघर लिया है। शरीरमें ही नित्यतन्त्रका विश्वास रखनेवाली इस मिथ्या-ज्ञानरूपिणी द्वारा राक्षसीने अकेली ( असहाय ) दीन-क्षीन प्रज्ञा ( छुबुद्धि ) को पूर्णरूपसे ठग लिया, यह कितने दुःखकी बात है।

कुछ ही दिनोंमें जीर्णताकी प्राप्त होकर यह शरीररूपी पल्लव झारनेके जलकी बूँदोंके समान विना किसी अन्तके अपने आप गिर पड़ता है। समुद्रमें उत्पन्न हुए पानीके बुलबुलोंकी तरह इस शरीरका बहुत शीघ्र विनाश हो जाता है। श्रक्षन्। यह शरीर मिथ्याभूत अङ्गवालका विकार है और स्थापरूपी भान्तियोंका भंडार है। इसका विनाश बहुत स्पष्ट दिखायी देता है। इसलिये इसमें मेरा क्षण-मरके किये भी विश्वास नहीं है। जिस पुरुषने विजली, शरद् ऋतुके बादल और गन्धर्व-नगरके चिरस्यायी होनेवा निर्णय कर लिया है, वही इस शरीरकी नित्यतापर विश्वास करे ( मैं तो नहीं कर सकता )। शीघ्रतापूर्वक नष्ट हो जानेमें हठपूर्वक अपना उत्कर्ष जतानेके लिये जो होश लगाकर प्रशुर हुए हैं, उन सतत विनाशशील पदार्थोंकी अपेक्षा भी जो अधिक क्षणभूर है, उस प्रबल दोषयुक्त शरीरकी निनकेके समान उपेक्षा करके मैं सुखी हो गया हूँ।

( सर्ग १८ )

### बाल्यावस्थाके दोष

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—मुनीश्वर ! असमर्थता, आपत्तियाँ, तृष्णा, मूकता ( बोल न सकना ), मृदु-बुद्धिता ( बुद्धिके द्वारा कुछ जान न पाना ), खिलौने आदिकी अभिलापा, चश्चलता और दीनता आदि सारे दोष बाल्यावस्थामें ही प्रकट होते हैं। बाल्यावस्थामें पञ्चपक्षियोंकी-सी चेष्टा होती है। बालक सभी लोगोंके

द्वारा तिरस्कृत होता है। बालकोंकी चपल चेष्टा गृह्यसे भी बढ़कर दुःख देनेवाली होती है। बाल्यावस्थामें अङ्गानवश जड़, अग्नि और वायुसे निरन्तर उत्पन्न होनेवाले भयके कारण पग-पगपर जो दुःख प्राप्त होता है, वह आपत्तिकोलमें भी किसको होता होगा ? बालक भौति-भौतिकी लीलाओं, दुर्विलासों, दुखवेष्टाओं तथा दूषित

अग्रिमायमें हठात् प्रवृत्त होकर बड़े भारी मोहमें पढ़ जाता है। बाल्यावस्थामें बाल्क जिस किसीके भी कहनेसे निष्फल कार्यमें प्रवृत्त हो जाते हैं, अनेक प्रकारकी दुर्जन्में रहते हैं तथा किसी प्रकार भी प्रतिष्ठाकी प्राप्ति उनके लिये दुर्लभ है। इस तरह मनुष्यका शैशवकाल केवल गुरुजनोंका सासन खीकार करनेके लिये ही है, सुख और शान्ति प्रदान करनेके लिये नहीं। जैसे उल्लङ्घनमें अन्धकारसे भरे हुए दूषित गङ्गामें छिपे रहते हैं, उसी प्रकार जो-जो दोष, जितने हुराचार तथा जो-जो दुर्लभ दुष्कृत्ताएँ हैं, वे सब-को-सब बाल्यावस्थामें ही जीवके हृदयमें छिपकर बैठे रहते हैं।

महान्। जो लोग 'बाल्यावस्था बड़ी रमणीय है' ऐसी कहन्मा करते हैं, उन सबकी बुद्धि व्यर्थ है। उन हत्यिक मूढ़बुद्धि लोगोंको बारंबार विकार है। जहाँ शूलेके समान चश्चल मन विविध विषयोंके आकारको प्राप्त होता है तबा जो तीनों लोकोंमें अमङ्गल्लरूप है, वह बाल्यावस्था कैसे संतोषदायक हो सकती है? मुने। सभी ग्राणियोंका मन अन्य सब अवस्थाओंकी अपेक्षा बाल्यावस्थामें ही इसगुना चश्चल हो उठता है। मन खामोखसे ही चश्चल है और बाल्यावस्था सम्पूर्ण चश्चल पदार्थोंमें सबसे बढ़कर है। जहाँ उन दोनोंका संयोग हो, वहाँ अन्त-करणमें चपलताबनित अनर्थसे बचानेवाला कौन है! बचपन और मन—ये दोनोंसभी शृतियों ( व्यवहारों ) में सदा दो सहोदर भाइयोंके समान दृष्टिगोचर होते हैं। इन दोनोंकी ही स्थिति क्षणमङ्गुर है। बाल्क कुरतेके समान घोड़ा-सा ही खाना देने या पुरुषकारनेसे वशमें हो जाता है और घोड़ा-सा ही छुड़कने या छड़ी आदि

दिखानेसे बिगड़ जाता या ढर जाता है। वह सदा अपमित्र स्थानमें ही रहता या खेलता है।

बाल्यावस्थामें ग्राणी केवल दूसरोंसे डरता और खाता-पीता रहता है। वह सदा दीन रहता है, देखी और विश्वा देखी सभी वस्तुओंकी इच्छा करता है। उसकी बुद्धि और शरीर दोनों चश्चल होते हैं। ऐसी बाल्यावस्थाको मनुष्य केवल हुःख मोगनेके लिये ही धारण करता है। निर्बल बाल्क अपने मानविक संकल्पसे जिन पदार्थोंको पानेकी इच्छा करता है, उन्हें न पाकर उसकी बुद्धि सदा संतप्त होती रहती है और उसे इतना हुःख होता है मानो किसीने उसके हृदयमें धाव कर दिया है, जबतक बाल्यावस्था रहती है, तबतक असत्य पदार्थोंमें ही सत्यताकी बुद्धि बनी रहती है, हृदयमें नाना प्रकारके मनोरथ उद्दित होते होते हैं तथा अन्तःकरण भवा कोमल होता है। अतः बाल्यकाल अन्यत दीर्घ हुःख प्रदान करनेके लिये ही होता है, सुख देनेके लिये नहीं। परम बुद्धिमान् मुनीभर। जिसके अन्तःकरणमें सर्दी, गरमीका अनुभव तो होता है, परंतु जो उनका निवारण करनेमें समर्थ नहीं होता, उस बाल्क और इक्षुमें क्या अन्तर है! बाल्यकालमें गुरुसे, माता-पितासे, अन्य लोगोंसे तथा अपनी अपेक्षा बड़े बाल्कोंसे भी भय प्राप्त होता है। अतः बाल्यावस्था भयका मन्दिर ही है। महामुने। बाल्यावस्थामें समस्त दोषपूर्ण दशाओंद्वारा अन्तःकरण दूषित होता है और बाल्यकाल अविवेक-नामधारी विलासीका विलासभवन है। इसलिये इस वगतमें यह बाल्यावस्थाकिसीके लिये भी पूर्ण संतोषदायक नहीं है।

( सर्ग १९ )

### युवावस्थाके दोष

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—महर्णे ! बचपनके बाद मनुष्य बाल्यावस्थाके अन्योंका त्याग कर भोग भोगनेके उत्साह, आन्ति अष्टवा कामरूप पिशाचसे दूषित-चित्त

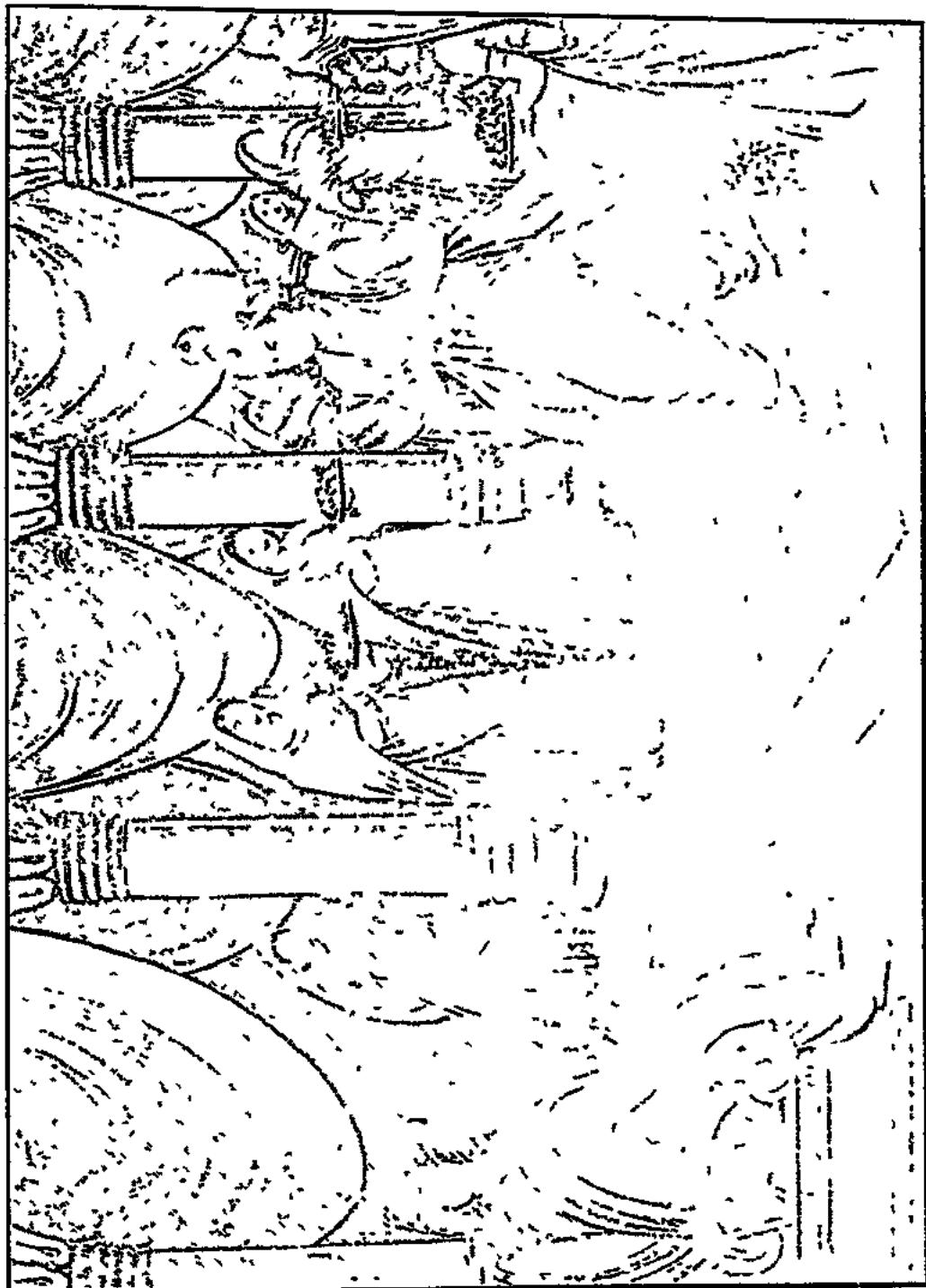
होकर मरकमें गिरनेके लिये ही योक्तारूढ होता है। योक्तावस्थामें मूर्ख मनुष्य अनन्त विलास ( चेष्टा ) बाले अपने चश्चल वित्तकी राग-द्वेषादि वृत्तियोंका अनुभव

करता हुआ एक दुःखसे दूसरे दुःखसे प्राप्त होता है। अपने चित्तरूपी बिलमें स्थित हो नाना प्रकारकी भ्रान्ति पैदा करनेवाला कामरूपी पिशाच अपने वशमें हुए पुरुषका बल्पूर्वक तिरस्कार करता है। मुने ! युवावस्थामें स्त्री, घूत और कन्ध आदि दुर्ब्यसनोंको उत्पन्न करनेवाले वे राग-लोभ आदि प्रसिद्ध एवं दृष्ट दोष जैसे ( काम, चिन्ता आदिके वशीभूत ) अन्तःकरणवाले पुरुषको, जो काम आदिमें तन्मय हो रहा है, यौवनके ही सहारे जष्ट कर डालते हैं। जो महान् नरकका बीज है और सदा भ्रान्ति पैदा करनेवाला है, उस यौवनके द्वारा जिनका नाश नहीं हुआ, वे मनुष्य दूसरे किसीसे नष्ट नहीं हो सकते। शृङ्खार आदि नाना प्रकारके रसोंसे पूर्ण और अनेक प्रकारके आर्थ्यवृनक वृत्तान्तोंसे युक्त भीशण यौवनरूपा भूमिको जिसने पार कर लिया, वही पुरुष धीर कहलाता है। जो क्षणभरके लिये प्रकाशमान, चक्षु भेदोंकी गम्भीर गर्जना ( अभिमान-पूर्ण वचन ) से व्याप्त और बिजलीकी तरह चमककर छुप्त हो जानेवाला है वह अमङ्गलमय यौवन मुझे अच्छा नहीं लगता। जो भोगके समय मधुर अतएव सादिष्ठ ( मनोरम ) और अन्तमें दुःखदायी होनेके कारण तिक्त प्रतीत होता है, बिसमें दोष-ही-दोष भरे हैं, जो सब दोषोंका आभूषण तथा प्रदिवके मद-विलासके समान मोहक है, वह यौवन मुझे कदापि अच्छा नहीं लगता। जो असत्य होकर भी सत्य-सा प्रतीत होता है, शीघ्र ही धोखा देनेवाला है तथा खप्नावस्थामें किये गये स्त्री-सह-वासके समान है, वह यौवन मुझे अच्छा नहीं लगता। यह क्षणभरके लिये सुन्दर प्रतीन होनेवाली सधूर्ण वस्तुओंमें अग्रगण्य है। सारी आशु शीत जानेपर दिखायी देनेवाले गम्भीरनगरके समान हैं। यह सब लोगोंको क्षणभात्रके लिये मनोहर प्रतीत होता है। अतः यह मुझे अच्छा नहीं लगता।

यह यौवन ऊपरसे तो रमणीय प्रतीत होता है, किन्तु भीतरसे सद्मावश्नून्य है। अतः वेश्या स्त्रीके

समान घृणित होनेके कारण मुझे रुचिकर नहीं जाम पड़ता। जैसे प्रलयकालमें सबको दुःख देनेवाले बड़े-बड़े उत्पात सब औरसे उमड़ उठते हैं, उसी प्रकार युवावस्थामें सबको कष्ट प्रदान करनेवाले जो कोई भी अयोजन हैं, वे सब निकट आ आते हैं। युवावस्थाका मोह मङ्गलमय आचारको मुछा देनेवाले और बुद्धिको कुण्ठित कर देनेवाले भ्रमका अतिशय मात्रामें उत्पादन करता है। जैसे दावाग्नि वृक्षको जला देती है, उसी प्रकार युवावस्थामें जीव प्रियतमाके वियोगजनित दुर्सह शोकाग्निसे मन-ही-मन बहुत रहता है। जैसे अस्त्वं निर्मल, विस्तृत एवं पवित्र नदी भी कर्ष शून्यमें मलिन हो जाती है, उसी प्रकार परम निर्मल, विशाल एवं शुद्ध शुद्धि भी युवावस्थामें कहुणित हो जाती है। बहुत-सी उत्ताप्तरक्षमोंसे युक्त भयानक नदी लोधी जा सकती है, परंतु भोगतुष्णाकी अपलतासे युक्त युवावस्था नहीं लोधी जा सकती। वह प्राणवस्तुमा, उसके बे मोटे-मोटे स्तान, वे मनोहर विलास और वह सुन्दर मुख किनना मनोरम है।' युवावस्थामें इसी तरह-की चिन्ताओंसे मनुष्य जर्नर हो जाता है। रजोगुण और तमोगुणसे पूर्ण यह विषम यौवनरूप वर्णी सम्पूर्ण सद्गुणोंकी स्थिरताको जष्ट करनेमें दक्ष है। मनुष्योंके यौवनका उल्लास ( विकास ) दोष-समूहोंको जगाता और सद्गुण-समुदायका मूलोच्छेद करता है अतएव उसे पाप-वैभवका विलास कहा गया है। शरीररूपी उपचनमें उत्पन्न हुई यौवनकी बेल बढ़ी रमणीय है। वह ज्यों-ज्यों बढ़ती या ऊँचे चढ़ती है, त्यों-ही-त्यों अपनेसे सटे हुए मनरूपी भ्रमरको उन्मत्त बना देती है। शरीररूपी महसूमिमें कामरूपी धामके तापसे ग्रकट हो भान्तिरूपमें प्रतीत होनेवाली जो यौवनरूपिणी सृगतुष्णा है, उसकी ओर दौड़ते-हुए मनरूपी मृग विशयोंके-गड्ढमें गिर जाते हैं। यह युवावस्था देहरूपी जंगलमें कुछ दिनोंके लिये प्रकाशित होनेवाली शरद-ऋतुके समान है।

तीर्थयात्रे सोनेपाल श्रीपदनन्दजीका विवाह





लोगो ! हुम इस ग्रन्थ में विश्वास न करो ।

जब-जब यौवन अपनी चरम सीमाएँ केवल विनाशके लिये ही बढ़ाने या नुस्ख करने लगती हैं । ये शरद्देष्ट्रहीनी पिशाच तभीतक विशेषरूपमे नाचते भित्ते हैं, जबकि कि यह यौवनरूपिणी रात्रि पूर्णरूपसे नए नहीं हो जाती । जो महामुख पुरुष मोहवश क्षणभूत यौवनसे हर्षको प्राप्त होता है, वह मनुष्य होता हूँआ भी निरा पड़ा ही माना गया है । जो मनुष्य अभिमान या अज्ञानके कारण मदोन्मत्त यौवनावस्थाकी अभिलाषा करता है, उस दुर्वुद्धिको शीघ्र ही पश्चात्तापका भागी होना पड़ता है । साधो !

इस भूतलपर वे ही पुरुष पूजनीय और महात्मा हैं, जो यौवनरूपी संकटसे सुखरूपक पार हो गये हैं । बड़े-बड़े मगरोंसे भरे हुए महासागरको सुखरूपक पार किया जा सकता है, किंतु ग्रिपथ-चिन्तन आदि महातरहोके कारण उमड़े हुए और दुर्गुण दुगचारहृष्य अनेक दोषोंसे भरे हुए हृद निन्दनीय यौवनके पार जाना चहुत ही कठिन है । ब्रह्मन् । विनयसे अलकृत, श्रेष्ठ पुरुषोंको आश्रय देनेवाला, करुणासे प्रकाशिततथा शम, दम, क्षमा, दया, शार्निति, संतोष, सरलता आदि विविध गुणोंसे युक्त उत्तम यौवन इस संसारमें उसी तरह दुर्लभ है, जैसे आकाशमें बने । ( सर्ग २० )

### स्त्री-शरीरकी रमणीयताका निराकरण

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—मुनीश्वर ! इधर केश हैं, इधर रक्त और मास है, यही तो युवती स्त्रीका शरीर है । जिसका हृदय विवेकसे विशाल हो गया है, उस व्यानी पुरुषको इस निन्दित नारी-शरीरसे क्या काम ! आदरणीय मुने ! बहुमूल्य बछ और केसर-कस्तुरी आदिके लेपसे जिन्हे बारबार सजाकर दुल्हनगा गया था, समस्त देहधारियोंके उन्हीं अङ्गोंको किसी समय गीव और सिधार आदि मासाहारी जीव ने बते और घसीउते हैं । जिस स्त्रीमण्डलपर मेहु पर्वतके शिखप्रान्तसे सोलास प्रवाहित होनेवाली गङ्गा-जीके जलकी धाराके समान भोलियोंके द्वारकी शोभा देखी गयी थी, मृत्युके पश्चात् सम्पूर्ण दिशाओंकी दृश्यान्-मूर्मियोंमें भागीके उसी स्त्रीका कुते अनके छोड़े-से पिण्ड-की भोलि आस्ताइन करते हैं । जैसे बनमें चरनेशले गदहे या कँचके अङ्ग रक्त-मास और इहियोंसे सम्पन्न हैं, उसी प्रकार कामिनियोंके अङ्ग भी उन्हीं उपकरणोंसे युक्त हैं । पिर नारीके प्रति ही न्योगोंका इतना आप्रह या आकर्षण क्यों है ?

मुने ! लोग केवल स्त्रीके शरीरमें जिस आपात-रमणीयताकी कल्पना करते हैं, ऐसी मान्यताके अनुमार वह भी उसमें है नहीं । उसमें जो रमणीयताकी प्रतीर्ति होती है, उसका एकमात्र कारण मोह ही है । मनमें विकार उत्पन्न करनेवाली मस्तिरामें और युवती लीमें क्या अन्तर है ? एक जहाँ मद ( नशे ) के द्वारा मनुष्यको प्रबुर उत्तमस प्रदान करती है, वहाँ दूसरी कामका भाव जगाकर पुरुषके लिये आमन्दायिनी बनती है ( अतः अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषके लिये तोनों ही सामान्यरूपसे स्थान्ति हैं ) । जैसे धूमकाँ ही केशके रूपमें धारण करनेवाली प्रज्ञालित अरितशिष्या, जो देखनेवं सुन्दर किंतु दूरनेमें दुर्सह है, तिनकोंको जला दालनी है, उसी प्रकार देश और कानून वरण करनेवाली तथा नेत्रोंकी प्रिय लगनेवाली नारियाँ, जिनका स्पर्श परिणाम-में दुःख देनेवाला है, पुरुषको वासनाकी आगसे जलती रहती हैं ।

जैसे विषकी लता सुन्दर फूलोंमें ननोहर लाती, नये-नये पल्लवोंसे सुशोभित होती, अमरोंकी कीड़ास्थली

बनती, पुण्य-गुच्छ धारण करती, झूलोंके केसरसे पीले रंगकी प्रतीत होती, अपना सेवन करनेवाले मनुष्यको मार डालती या पागड बना देती है, उसी प्रकार कमनीया कामिनी झूलोंका शृङ्खल धारण करनेके कारण मनोहारिणी लगती, करपछोंसे सुशोभित होती, भ्रमरोंके समान चक्षु नेत्रोंके कटाक्ष-विलासका प्रदर्शन करती, पुण्य-गुच्छोंके समान झूलोंको वक्षपर धारण करती, झूलोंके केसरकी भौति सुनहरी गौर-कान्तिसे प्रकाशित होती, मनुष्योंके विनाशके लिये तत्पर रहती और काम-मावसे अपना सेवन करनेवालोंको उन्माद एवं मृत्यु आदिके अधीन कर देती है। सुनिश्चेष्ट ! कामरूपी किंवद्ध ( बहेत्रिय ) ने मूढ़-वेत्र मानवरूपी पक्षियोंको फँस नेके लिये खीरूपी जालको फैला रखा है। जन्म-स्थान-रूप छोटे-छोटे जलाशयोंमें उत्पन्न हो घनरूपी पक्षियोंसे विचरनेवाले पुण्यरूपी मस्त्योंको फँसानेके लिये नारी बंसोंके कौटेमें ऊंगी हुई अटेकी गोलीके समान है और दुर्वासना ही उस बसीकी ओर है।

नारीके स्तनसे, नेत्रसे, नितम्बसे अथवा भौंहसे, जिसमें सार वस्तुके नामपर केवल मांस है, ऐतएव जो किसी कामकी वस्तु नहीं है, मेरा क्या प्रयोजन है ? मैं वह सब लेकर क्या करूँगा ? ब्रह्मन् । इधर मांन, इधर रक्त और इधर हृदियाँ हैं; यही नारीका शरीर है, जो कुछ ही दिनोंमें जीर्ण-शीर्ण हो जाता है। संसारके मनुष्यों ! नारीके झूलोंका योड़े ही समयमें होनेवाला यह परिणाम मैंने तुम्हें बताया है, मिर तुम क्यों भ्रमके पीछे दौड़ रहे हो ? पाँच भूतोंके सम्मिश्रणसे बना हुआ अझोंका संगठन ही नारी नामसे प्रसिद्ध हो रहा है; अतः विवेक-बुद्धिसे सम्पन्न कोई भी पुलग आसक्तिसे प्रेरित होकर क्यों उसकी ओर टूट पड़ेगा ? जैसे हथिनीके लिये चक्षु द्वारा हाथी किन्ध्याचल पर्वतपर उसे फँसानेके लिये बनाये हुए गड्ढमें गिरकर बँध जाता और परम शोचनीय अवस्थाको पहुँच जाता है, यही दशा तरुणी जीके मोहमें फँसे हुए तरुण पुरुषकी होती है। ( सर्ग २१ )

### बृद्धावस्थाकी दुःखरूपता

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—महर्वें । जैसे हिमरूपी वज्र कमलको, औंधी औसकणको और नदी तटवर्ती दृश्यको नष्ट कर देती है, उसी प्रकार बृद्धावस्था शरीर-का भाश कर डालती है। जैसे लेशमात्र विषका भक्षण शरीरको शीघ्र ही कुरुप बना देता है, उसी प्रकार बुद्धिया जरावस्था मनुष्यके सारे अङ्गोंको जर्जर करके शीघ्र ही कुरुप कर देती है। जिनके सारे अङ्ग शिथिल होकर छुरियोंसे भर गये हैं और जरावस्थाने जिनके सारे अङ्गोंको जर्जर बना दिया है, उन समस्त पुरुषोंको कामिनियाँ ऊँटके समान समझती हैं। बृद्धावस्थाके कारण जिसके अङ्ग कौपने रहते हैं, ऐसे मनुष्यको नौकर-चाकर, श्री-पुत्र, बाढ़-वान्धव तथा बृहदगग भी उन्मत्तके समान समझकर उसकी हँसी उड़ाते हैं। जो दोनतारूपी दोषसे परिपूर्ण, छद्यमें

संताप पहुँचनेवाली तथा समस्त आपत्तियोंकी एकमात्र सहचरी है, वह विशाल तृष्णा बृद्धावस्थामें बढ़ती ही जाती है। ‘हाय ! बडे खेदकी बात है, मैं परलोकमें क्या करूँगा ?’ इस प्रकारका अत्यन्त दारुण भय, जो प्रतीकारके योग्य नहीं है, बृद्धावस्थामें बढ़ता जाता है। बुद्धापेमें ‘मैं वेचारा कौन हूँ ? मेरी हस्ता ही क्या है ? मैं किस प्रकार क्या करूँ ? अच्छा, मैं चुप ही रहता हूँ !’ इस प्रकारकी दीनताका उदय होता है। ‘मुझे किसी खजनसे कब, क्या और किस प्रकारका खादिष्ट भोजन प्राप्त हो सकता है ?’ इस प्रकार चिन्तारूपिणी दूसरी जरावस्था बुद्धापेमें निरन्तर चित्तको जलाती रहती है। बृद्धावस्थामें मनुष्य अपनी शक्तिका संतुलन खो बैठता है—कभी खानेकी शक्ति होनेपर पचानेकी शक्ति नहीं रहती और कभी पचानेकी

शक्ति होनेपर खानेकी ही शक्ति नहीं रहती । इस प्रकार शक्तिहासके कारण भोगकी इच्छा तो बड़ी प्रबल हो उठती है, परंतु उपभोग किया नहीं जा सकता । उस दशामें निश्चय ही हृदय जड़ता रहता है । मुने ! शरीरखनी बृहुत्तके सिरेपर बैठी हुई जरावस्थाखण्डिणी बृहुत्ता बगुची, जो नाना प्रकारके क्लेशोंसे शरीरका अपकार करनेमाली है, रोगखण्डी सर्पेंसे आक्रान्त होकर ज्यों ही चें-वें करने लगती है, त्यों ही मूर्छाखण्डी गहरे अन्तकारकी इच्छा रखनेशाला बृहुत्तखण्डी तल्लू कहींसे छठपट आया हुआ ही दिखायी देना है ।

जैसे सायंकालकी संध्याके प्रकट होते ही अन्धकार दौड़ पड़ता है, उसी प्रकार शरीरमें जरावस्थाको देखते ही बृहुत्त दौड़ी चली आती है । सूना नगर, जिसकी लताएँ कट गयी हों वह बृहुत्त तथा जहों वर्षा न हुई हो, वह देश भी कुछ-कुछ शोभित होता है, किन्तु बरासे जर्जर हुए शरीरकी तनिक भी शोभा महा होती । बृहुत्तवस्थाकी मार खाकर जर्जर हुआ शरीर हिमसमूहसे आक्रान्त हो सुझाये हुए कमलकी-सी शोभाको धारण करता है ।

मर्साकल्पी पर्वतके शिखपर उगी हुई यह बृहुत्तवस्थाखण्डिणी चाँदमी बानरोग और खाँसीखण्डिणी-को पलाशूर्क विकसित कर देती है । यह बृहुत्ताखण्डिणी बैगवती गङ्गा आशुके समाप्त होनेपर शरीरखण्डी तटवर्ती बृहुत्तकी जड़ोंको तुरेत ही काट गिरती है । तात ! जैसे इवेत पत्रवाली और छल्लोंसे लदी हुई पतली लता कुछ टेढ़ी हो जाती है, उसी प्रकार जिसके सारे अवयव सफेद हो गये हैं, मनुष्योंका यह दुबाजा-पतला शरीर बृहुत्तवस्थासे टेढ़ा हो जाता है—कमानकी तरह झुक जाता है । मुने । जैसे कपूरसे सफेद हुए केलेके पेड़को हाथी क्षणभरमें उखाड़ फेंकता है, उसी प्रकार बृहुत्तखण्डी गजराज बृहुत्तवस्थासे कपूरखण्डी भोंति सफेद हुई देहको निश्चय ही क्षणभरमें उखाड़ फेंकता है । तात ! जो बृहुत्तवस्थाको ग्रास होकर भी जीता है, उस दुष्ट जीवनके लिये दुराप्रह रखनेसे क्या लाभ ! भूतन्धर किसीसे परावित न होनेवाली यह जरावस्था मनुष्योंकी समस्त एषणाओंका तिऱकार कर देती है—उनकी किसी भी इच्छाको सफल नहीं होने देती । ( सर्ग २२ )

### कालके सरूपका विवेचन

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—मुनीश्वर । 'यह सेरी भोग्य बस्तु है । मैं इसका भोक्ता हूँ । ये भोगके साधन हैं । इस साधनसे इस तरह भोग्य बस्तुको प्राप्त करके मैं चिकालतक इसका उपभोग करूँगा । आम यह बस्तु मैंने प्राप्त कर ली और अब इस मनोरथको प्राप्त करूँगा' इत्यादि असंख्य मानसिक संकल्प-विकल्पोंद्वारा जो अनन्त व्यावहारिक बचनोंका प्रयोग करते हैं नथा अञ्ज ( तुच्छ ) शरीरमें महस्त-बुद्धि ( आत्मभाव ) रखते हैं, उन मूँह जनोंने हेतोपादेय, शत्रु-मित्र तथा राग-द्वेषादि भेदोंद्वारा इस संसारखण्डी गुरुमें भ्रमको अस्पत्त गौरवपूर्ण ( दुरुच्छेष ) बना दिया

है । जैसे वइवासि उमडे हुए समुद्रको सोखती है, उसी प्रकार यह सर्वभक्षी काल भी उत्पन्न हुए जगत्को अपना ग्रास बना लेता है । भयंकर कालखण्डी महेश्वर इस सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्चको निगल जानेके लिये सदा उत्थन रहते हैं; क्योंके सारी बस्तुएँ उनके लिये सामान्यरूपसे ग्रास बना लेनेके योग्य हैं । मुग, धर्म और कहाँके रूपमें काल ही प्रकट है । इसका वास्तविक रूप कोई देख नहीं सकता । यह सब सासारको अपने वशमें करके बैठा है । सासारमें जो रमणीय, झुम कर्म करनेवाले तथा उत्थता या गैरवमें सुमेरु पर्वतके भी गुरु थे, उन सबको कालने उसी तात

निगल लिया है, जैसे गरुड़ सर्पोंको निगल जाते हैं। यह काल वज्रा निर्दय, कठोर, कूर, कर्कश, कृपण और अध्रम है। संसारमें अवतक ऐसी कोई वस्तु नहीं हुई, जिसे यह काल उदरभ्य न कर सके। इस कालका विचार सदा सबको निगल जानेका ही रहता है। यह एकको निगलता हुआ भी दूसरेको चबा जाता है। अवतक असंख्य लोग इसकी उदर-दरीमें प्रवेश कर जुके हैं, तो भी यह महाखात काल तृप्त नहीं होता। यह गत्रिल्लपी भौंरोंसे भी भी हुई और दिनरूपी महारियोंमें सुशोभित वर्ष, कल्प और कल्परूपिणी लनाओंको निरन्तर सुष्ठि करता रहता है, किन्तु कभी धक्कता नहीं।

मुने। यह काल धूतोंका शिरोमणि है। इसे कितना ही तोड़ा जाय, दूढ़ता नहीं। जलनेपर भी जलता नहीं और दृश्य होनेपर भी दीखता नहीं। यह मनोरञ्जकी भौंति फैला हुआ है। एक ही निमेषमें किसी वस्तुको उत्पन्न कर देता है और पलभरमें किसी भी वस्तुका पूर्णतः विनाश कर डालता है। काल केवल अपना ही पेट भलेमें संलग्न रहनेके कारण तिनका, धूल, इन्द्र, सुभेद्र, पत्ता और समुद्र—सबको अपने अधीन करने—निगल जानेके लिये उद्यत रहता है। केवल इस कालमें ही पर्याप्त क्रूरता भी है, लेकिन भी इसीके भीतर ढेर ढाले हुए है। सारा-का-सारा दुर्भाग्य भी इसीमें निवास करता है तथा दुर्सह चपलता भी इसीमें उपलब्ध होती है। यह काल महाकल्प नामक वृक्षोंसे देशता, मनुष्य और अनुर आदि प्राणिसमूहरूपी फलोंके मारेंको गिराता हुआ-सा खड़ा है। सैकड़ों महाकल्प और जानेपर भी यह काल न तो खिल होता है, न किसीके द्वारा समाधृत होता है, न कहीं आता है न जाता है, न अस्त होता है और न इसका उदय ही होता है। यौवनरूपी कर्मणिनीको

संकुचित करनेके लिये यह चन्द्रमाके समान है, आयुर्लपी गजराजका मस्तक विदीर्घ करनेके लिये सिंहके सदृश है। इस संसारमें तुष्ण्य या महान् कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे यह कालरूपी चोर चुरा न ले जाता हो; यह काल ही ज्यावदातिक अवस्थामें संसारका कर्ता, भोक्ता, संहारकरनेवाला और स्मरणकर्ता आदि सभी पश्चेपर प्रतिष्ठित होता है। किसीने भी बुद्धिकौशलद्वारा इस कालके रहस्यका निष्पत्य नहीं किया है। पुण्य और पापके फलभोगके अनुसार सुन्दर और कुरुप रूप धारण करनेवाले समस्त शरीरोंको काल ही उत्पन्न करता, काल ही उनकी रक्षा करता और काल ही सहसा उनका संहार कर देता है।

इस प्रकार इस जगतमें सर्वत्र कालका विलास देखा जाता है। मनुष्योंमें तो कालका वल प्रसिद्ध ही है।

इस कालकी पत्ती है—चण्डी ( अथन्त कोपवती कालरात्रि ), जो बड़ी चतुराईसे चलती है। इसे कालने संसाररूपी बनमें विहार करनेके लिये नियुक्त किया है, इसके साथ सारी मात्रिकाएँ ( ढाकिनी, शाकिनी आदि ) रहनी हैं। यह कालरात्रि वाविनके समान प्राणिसमूहका विनाश करनेवाली है। कालके धनुषपका नाम है—अमाव या संहार। वह निरन्तर ठंकार करता रहता है, उससे दुःखरूपी बाणोंकी शड़ी लगी ही रहती है। वह धनुष सब और स्फुरित होता रहता है। ब्रह्मन्। यह कालरूपी राजकुमार संसारमें दौड़ते हुए प्राणियोंके पीछे दौड़ता है और उनको बाणोंसे विदीर्घ करता रहता है। इस कालसे बढ़कर शक्तिशाली दूसरा कोई नहीं है। यही सबसे अधिक विलास करनेमें प्रवीण है और समस्त लक्ष्यमेदियोंसे उपर उठकर अनुपमं शोभा पाता है।

यह जो शुल्ष भी विस्तृत जगन्मण्डल दिखायी देता है, वह उस कालकी नृथशाला है। इसमें वह सूर्य

जी भक्त कर दृश्य करता है। जैसे बालक गीली मिट्ठी को लेकर नाना प्रकार के खिलौने बनाते हैं, उसी प्रकार कल भी बारंबार चौदह मुनन, विभिन्न घन, लोक-लोकान्तर, जीव-समुदाय तथा उनके नाना प्रकार के

आचार-विचारों की सृष्टि करता है। उन आचार-विचारों की प्रशृति सत्ययुग और ब्रेतामें अवश्यक तथा धापर और कलिमें चल होती है। इन सबकी सृष्टि करनेमें काल कभी थकता नहीं। ( सर्ग २३—२५ )

### कालका प्रभाव और मानव-जीवनकी अनित्यता

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—महासुने। जब जगत् में काल आदि के अस्त्र ऐसे हैं, तब आप ही बताए इस संसार-नामधारी प्रपञ्चमें भेरे—जैसे लोगोंकी क्या आस्था हो सकती है। मुने। इन दैव ( प्रारब्धकर्त्त ) आदिके द्वारा की हुई सुख-दुःख आदिरूप प्रपञ्च-रचनाओंसे मोहित हुए हमलोग किसीके हाथ बिके हुए दासों तथा बनके मृगोंकी भौंति परालीन हो रहे हैं। जैसे सर्व वायुको पीता है, उसी प्रकार यह क्रूर आचरण करनेवाला काल तरुण शरीरको बुद्धापेमें पहुँचाकर समस्त प्राणि-समुदायको निरन्तर अपना प्रास बगाता रहता है। काल निर्दयोंका राजा है। वह किसी भी आर्त प्राणीके ऊपर देया नहीं करता। सम्मूर्ण भूतोंपर देया करनेवाला उदार पुरुष तो इस संसारमें दुर्लभ हो गया है। मुने। जगत् में जितनी भी प्राणियोंकी जातियाँ हैं, उन सबका वैभव अत्य एव तुच्छ है तथा जितने भी भोगके स्थान हैं, वे सभी भर्यकर और परिणाममें दुरन्त दुःखकी ही प्राप्ति करनेवाले हैं। प्राणियोंकी आयु अत्यन्त अफल ( अस्थिर ) है, मृत्यु बहुत ही निर्दय है। जवानी भी अधिक चञ्चल होती है और बाल्यावस्था भोइमें ही बीत जाती है। संसारी मनुष्य गाने-बजानेकी कलाके रस ( अथवा विषया-नुसंधान ) से कठिन है। बन्धु-बान्धव संसारमें जौधनेके क्रिये रसीके समान हैं। भोग इस जगत् के महान् रोग हैं तथा सुख आदिकी दृष्ट्याएँ भुगतृष्णाके समान हैं। यिना जीती हुई इन्द्रियों ही शक्ति हैं। सत्यस्तरुप आत्मा असत्य-सा हो गया अर्थात् जीवात्मा अज्ञानके कारण देहको ही अपना स्तरुप मानने लग

गया। यिना जीता हुआ मन बन्धनका हेतु होनेसे आत्माका शक्ति है एवं अज्ञानवश यह जीवात्मा स्थं ही अपने-आपपर उस मनके क्षारा प्रहार करता है। अहंकार ही कलहृका कारण है। बुद्धियों अत्यन्त क्षेमल ( आत्म-निष्ठासे रहित ) हैं। कियर्दै शास्त्रविद्वानेसे दुःखस्तरुप कल देनेवाली हैं और लीलाएँ ( शरीर और मनकी वेष्टाएँ ) जीकी प्राप्तिमें ही केन्द्रित हैं, केवल विषयों ही उभका विषय हो गयी हैं। इष्टाएँ विषयोंमें ही जोभा पाती हैं—वे भोगोंकी ओर ही दौड़ती हैं। परमात्म-स्तरुप चमकान नष्ट हो गये हैं। लियों दोपोंकी सेनाएँ हैं तथा सम्पूर्ण विषय-परस्पर वास्तवमें नीरस हैं।

महात्मन्। दूषित बुद्धिने सबके अन्तःकरणको व्याकुल कर रखा है। अज्ञानके कारण सभी सत्त्व हो रहे हैं। रागलपी रोग दिनोंदिन बढ़ रहा है और वैराग्य दुर्लभ हो रहा है। आत्मदर्शनकी शक्तिरजोगुणसे नष्ट हो गयी है। अतः सत्त्वरुण नहीं प्राप्त होता, केवल तमोगुण बढ़ रहा है। इसलिये तत्त्व ( सच्चिदानन्दधन परमात्मा ) अत्यन्त दूर है। जीवन अस्थिर हो गया है। मृत्यु जल्दी ही आनेके लिये उत्पुक है। धैर्य शिपिल ही गया है और तुच्छ विषय-भोगोंके प्रति लोगोंकी आसक्ति प्रस्तुतिन बढ़ रही है। बुद्धि मृदतासे मलिन हो गयी है। शरीरका अन्तिम परिणाम एकमात्र पतन ( विनाश ) ही है। देहमें जरावस्था प्रज्जलित हो रही है और पापकी ही बारंबार स्फुरणा होती है। जवानी यत्पूर्वक मार्गी जा रही है। सत्सङ्ग दुर्लभ हो गया है।

कभी कोई उत्तम आश्रय नहीं मिलता और सत्यमावका उदय तो कहीं हो ही नहीं रहा है। मन मोहसे आच्छन्सा हो रहा है। बूसरेको सुखी देखकर होनेवाला आस्मसंतोष मानो दूर चला गया है। उच्छ्वल करुणाका उदय नहीं हो रहा है और नीचता दूरसे मिकट चढ़ी आ रही है। धीरता अधीरतामें परिणत हो रही है। जीर्णोका काम केवल आवागमन—जन्मना-मरना रह गया है। दुष्टोंका सङ्ग पद-पदपर मुलब्द है; परंतु सत्पुरुषोंका सङ्ग अत्यन्त दुर्लभ हो गया है। समूर्ण पदार्थ उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं। वासना संसारमें बोधनेवाली है और काल प्राणियोंकी परम्पराको नित्य कहीं अज्ञात स्थानमें लिये जाता है। दिशाएँ भी नहीं दिखायी देतीं।

देश भी विदेश-सा हो जाता है और पर्वत भी विद्वर-कर वह जाते हैं; फिर मेरे-जैसे मनुष्यकी स्थिरतामें क्या विश्वास है। सत्तामात्र ही जिसका खरूप है, वह काल आकाशको भी खा जाता है। चौदहों भुवनोंको भी अपना भोजन बना लेता है। पृथ्वी भी विनाशको प्राप्त हो जाती है। फिर मेरे-जैसे मनुष्यकी स्थिरतापर क्या विश्वास किया जा सकता है। कालवश समुद्र भी सूख जाते हैं, तारे भी दूटकर विलुप्त जाते हैं, मिहू भी नष्ट हो जाते हैं; फिर मेरे-जैसे मनुष्यकी स्थिरतापर क्या आस्था हो सकती है? बड़े-बड़े दानव भी विदीर्ण हो जाते हैं। भूत भी अध्युतजीवी बन जाते हैं और अमर भी मरणको प्राप्त होते हैं; फिर मेरे-जैसे मनुष्यकी स्थिरतापर क्या विश्वास हो सकता है? काल अपने अगणित मुखोंसे इन्द्रको भी चढ़ा जाता है, यमराजको भी वशमें कर लेता है और उसीके प्रभावसे वायु भी अवायु हो जाता है—अपना अस्तित्व खो देता है; फिर मुझ-जैसे मनुष्यकी स्थिरतापर क्या विश्वास हो सकता है?

सौम ( चन्द्रमा ) भी कालवश व्योम ( आकाश )में विलीन हो जाता है। मार्त्तिष्ठ ( सूर्य )के भी खण्ड-खण्ड

हो जाते हैं और अग्नि भी भग्नता ( विनाश ) को प्राप्त हो जाती है; फिर मुझ-जैसे मनुष्यकी 'स्थरतापर क्या आस्था की जा सकती है? जो काल ( मृत्यु ) 'को भी क्वलित कर लेता है, नियतिको भी टाल देता है और अमन्त आकाशको भी अपने आपमें विलीन कर लेता है, उस महाकालके होते हुए मुझ जैसे मनुष्यकी स्थिरतापर क्या विश्वास किया जा सकता है? जिसका कल्पनेसे अवण, वाणीसे वर्णन और नेत्रोंसे दर्शन नहीं होता, ऐसे अज्ञातखरूप एवं मायाके उत्पादक किसी सूक्ष्म तत्त्वके द्वारा चौदहों भुवन अपने-आपमें ही मायाद्वारा दिखाये जा रहे हैं। वह तत्त्व निर्गुण-निराकार सचिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही है। समष्टि अहंकाररूप कल्पको प्राप्त होकर सबके भीतर निश्वास करनेवाला वह कालका भी कालरूप परमात्मतस्त्र सबसे महान् है। तीनों लोकोंमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं, जो उसके द्वारा नष्ट न किया जा सके। स्वर्गमें देवता, भूतलपर मनुष्य और पातालमें सर्पोंकी सुष्टि उसीने की है। वही अपने संकल्पमात्रसे इन सष्को जर्जर दशामें पहुँचा देता है। अनुरागयुक्त कामिनियोंने अपने चक्रवल लोचनोंद्वारा कटाक्षपूर्वक जिसकी ओर देखा है, उस पुरुषके मनको महान् विचेक भी स्वस्य नहीं कर पाता। जो दूसरोंका उपकार करनेवाली है और दूसरोंकी पीड़ा देखकर संतप्त हो उठती है, अपनी आत्माको शान्ति प्रदान करनेवाली उस शीतल बुद्धिसे युक्त ज्ञानी महात्मा ही सुखी है—ऐसा मेरा विश्वास है। जैपे समुद्रमें उत्पन्न हो बड़वाग्निके मुँहमें गिरकर नष्ट होनेवाली असूख लहरोंको कोई शिन नहीं सकता, उसी तरह सत्तारमें उत्पन्न हो कालके मुँहमें पड़नेवाले अनन्त प्राणियोंकी गणना कौन कर सकता है। जैसे आदियोंमें बैठे हुए मृग या पश्ची अपनी जिज्ञासी लोलुपताके कारण मोहक्षा जलमें पड़कर नष्ट हो जाते हैं, उसी तरह दुराशा-पाशमें बैठे हुए सभी मनुष्य दोषरूपी जादियोंके मृग बने हुए हैं। सब-के-सब मोह-जालमें

फँसकर पुनर्जन्मरूपी जंगलमें नष्ट हो जाते हैं। इस समारम्भे में लोगोंकी आयु विभिन्न बन्धोंमें किये गये कुकमोसे नष्ट हो रही है। यदि आकाशमें वृक्ष हो, उस वृक्षमें लता हो और उस लतासे गलेमें फौसी लगाकर मनुष्यको लटका दिया जाय तो उससे जो दुःख होग, वैसा ही दुःखमय फँड उन कुकमोका भी बताया गया है। उस दुःखकी निवृत्तिके लिये उपाय करना तो दूरकी बात है, उस उपायका विवार करनेवाले लोग भी यहाँ हैं या नहीं,

इसे इसीका पता नहीं है। मुनीश्वर ! इस संसारमें लोगोंकी मुद्रित अवश्य और मृदु है। उसी त्रुदिसे युक्त मनुष्य ध्यर्थ ही अनेक संकल्प-विकल्पोंका जान रखते हुए कहते हैं—‘आज उत्सव है।’ यह वही मुद्रावर्णी श्रद्धा है, इसमें यात्रा करनी चाहिये, वे लोग हमारे मार्द-धर्म हैं और यह मुख विशिष्ट भोगोंसे युक्त है, इन्हीं संकल्पोंमें पढ़े-पढ़े वे सब लोग एक दिन कालके गालमें चले जाते हैं।

( संग २६ )

## सांसारिक वस्तुओंकी निस्सारता, क्षणभक्तरता और दुःखरूपताका सथा

### सत्पुरुषोंकी दुर्लभताका प्रतिपादन

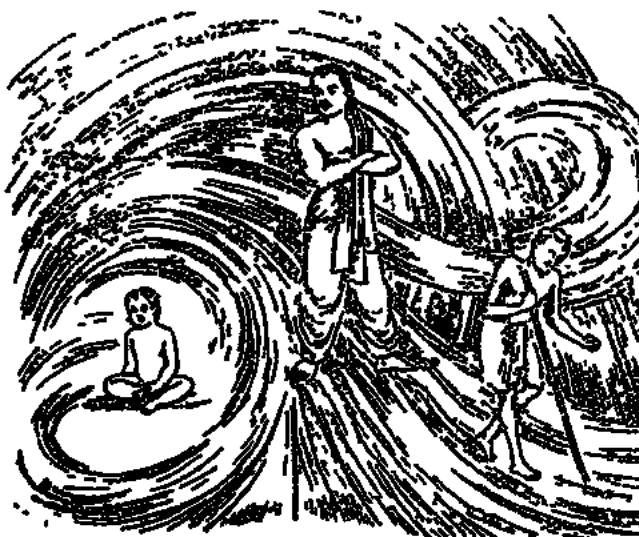
श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—तात ! मुनीश्वर ! इस बातका खलूप अत्यन्त अरमणीय ( अभद्र ) है, तो भी यह ऊपरसे मनोरम प्रतीत होता है। इसमें कोई ऐसा पदार्थ मेरी हाथिमें नहीं आता, जिसके प्राप्त होनेसे चित्त-को अत्यन्त विश्राम ( परम सुख ) मिल सके। बाल्यावस्था विविध प्रकारसे कहिंत क्रोडा-कौटुकमें ही चपलता-पूर्वक बीन जाती है। युवावस्था आनेपर मनरूपी मृग श्वीरूपिणी गुफाओंमें ही रमता हुआ जीर्ण हो जाता है; फिर वृद्धावस्था प्राप्त होनेपर जब यह शरीर जर्बर हो जाता है, उस समय जनसमुदाय केवल दुःख-ही-दुःख मोगता रहता है ( उसे कहाँ कभी भी सुख-शास्ति-का लेश भी प्राप्त नहीं होता )। बुढापारूपी हिमकी बरसे जब देहरूपिणी कमलिनी नष्ट हो जाती है, उस समय प्राणरूपी अमर इसे छोड़कर दूर, छहुत दूर चला जाता है। उस दशामें उस मनुष्यके लिये यह संसार-रूपी सरोकर शुक्ष ( नष्ट ) हो जाता है। इस संसारमें तृष्णा जामकी नदी निरन्तर बहती रहती है, जिसने अपने प्रबल प्रवाहके बैगसे यहाँके समस्त अवनन्त पदार्थोंको प्रस लिया है ( नष्ट कर दिया है )। यह संतोष-रूपी तत्त्वता वृक्षकी जड़ खोदनेमें बड़ी दक्ष है। संसाररूपी समुद्रमें चमडेसे गढ़ी हुई शरीरूपिणी भौका क्षुधा, पिपासा आदि विविध तरहोंसे जाहत हो हिलनी-बोलती हुई इच्छ-उधर घूम रही है। पाँच इन्द्रिय

नामक ग्राह इसे टक्कर पारकर हुआनेके लिये उपत रहते हैं। इस तरह यह नौका क्रमशः नीचे जा रही है— दूबना चाहती है। इसमें धैर्य और वैराग्यसे मुश्योभित होनेवाले त्रिवेकी नीव नहीं ढेठे हैं। नहाँ सुष्णारूपिणी लताओंका ही प्रावान्य है, ऐसे संसाररूपी वर्णोंमें विचरनेवाले ये मनरूपी बंदर कामरूपी वृक्षोंकी सैंकड़ों शाखाओंपर मटकते हुए अपनी आयु नष्ट करते हैं, परतु कभी मनोधार्डित फल नहीं पाते। महर्षे ! आपत्तियोंकी ग्रामि होनेपर भी हुँख और मोह जिसे दूर ही रहते हैं, सास्य और सम्पत्तिमें भी जो अहंकार-शून्य मनसे मुश्योभित होते हैं तथा सुन्दरीरमणियों जिनके अन्तःकरणमें चोट नहीं पहुँचातीं ( चिकार नहीं उत्पन्न करती ), ऐसे महात्मा पुरुष इस समय अत्य त हुर्लेन हैं। जो हायियोंकी सेनारूपी तरहोंसे दद्वेन्द्रिय होनेवाले समर-भागरको अपने बन्ध-बिक्रमके द्वारा पार कर जाते हैं, मेरी हाथियोंमें वे शूरवीर नहीं हैं। मैं तो उन्हींको शूरवीर मानता हूँ, जो मनरूपी उत्ताल तरहोंसे पूर्ण इस देह और इद्रिय-रूपी समुद्रको विनेक, वैराग्य आदिके द्वारा र्वेष जाते हैं।

\* हृष्णेषु दूरात्म विग्रहमोहः स्वास्थ्येषु नोलिक्षम्नोऽभिरामः ।  
मुद्दर्भाः सम्पत्ति सुन्दरीभिरुतात्मान्तः करणं भद्रान्तः ॥  
तरन्ति गात्रद्वयात्मरङ्ग रणम्भुषि ये भवि ते न शूराः ।  
शूरात्म एवेद मनस्तरङ्ग देहेन्द्रियम्भोधिमिम् तरन्ति ॥

( वैराग्य २७ । ८३ )

जो कीर्ति से जगत्को, प्रताप से समूर्ध दिशाओं के प्रदेशों को, सम्पत्ति से याचकों के घरों को और सात्त्विक बल ( क्षमा, विनय, उदारता आदि ) से लहमी को परिपूर्ण करते हैं तथा जिनके वैर्यका बन्धन कभी दूटता नहीं, वे महापुरुष इस पृथ्वी पर द्वुलभ नहीं हैं ( परम दुर्लभ हैं ) । \* कोई पर्वत की प्रस्तरमयी दीवार के भीतर ( गहन गुफाये ) निवास करता हो या बज्रनिर्मित अमेष दुर्गमें रहता हो, सभी मनुष्यों के पास प्रारब्ध के अनुसार पुण्य के फल-खलूप सम्पत्तियों अणिमा आदि सिद्धियों को साथ लिये सदा वेगपूर्वक चली आती हैं और पाप के फलखलूप आपत्तियों भी निरन्तर अपने-आप आ जाती हैं । तात ! पुत्र, स्त्री और धन—इन सबको मनुष्य भगवश अपनी बुद्धि के द्वारा रसायन के समान द्वुखद मान लेता है; परंतु मृत्युकाल आनेपर वे सब के-सब कोई उपकार नहीं करते, अपिनु अत्यन्त रमणीय भोग भी उस समय विषपान करने से होनेवाली मृणके समान दुःखदायी ही सिद्ध होते हैं । शारीरकी बाल्य और युवावस्थाओं के अन्त में चुड़ापेक्षी विषम अवस्थाको पहुँचा हुआ जराजीर्ण



\* कीर्त्यां चगदिकुहरं प्रतापैः भिया यहं सच्चवलेन लक्षीय् ।

ये पूर्यन्त्यक्षतरैर्यक्षन्त्या न ते चगत्यां सुलभा महात्मः ॥

( कैत्यम् २७ । ११ )

शरीरवाला जीव विपादमग्न हो इस लोकमें अपने संचित किये हुए धर्मशून्य ( पापपूर्ण ) मायों ( कर्मों एवं निचारों ) का सरण करके दुर्सह अन्तर्ज्ञालासे जलता रहता है । जीवनके प्रारम्भमें केवल काम, अर्ध और सकाम धर्मकी प्राप्तिके लिये ही जिन्होंने द्वदयमें स्थान बना रखा है, उन क्रियाओंद्वारा ही अपने दिन विताकर वृद्धावस्थाको पहुँचे हुए उन भनुप्योका हिलते हुए मोरपंखके समान चञ्चल विच किस उपायसे विश्राम ( सुख-शान्ति ) लाभ करे । ( अर्थात् निष्काम धर्म या परमार्थ-साधनके बिना सुख-शान्तिका मिलना कठिन है ) । इनको अभी करना है और उन्हें बादमें—इस प्रकार जिनके लिये चिन्ता की जाती है, वे आपत्त-रमणीय एवं परिणाममें अनर्थरूप सिद्ध होनेवाले कार्य कियों तथा अन्य लोगोंका मनोरक्षनमात्र करते हुए वृद्ध-वस्थाके अन्ततक लोगोंके विचको वेगपूर्वक जीर्ण-शीर्ण ( विवेकभृष्ट ) करते रहते हैं । जैसे हुक्कोंके पत्ते उत्पन्न होकर थोड़े ही दिनोंमें पीले पद्धकर झड़ जाते या नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार आत्मविवेकसे रहित मनुष्य इस लोकमें जन्म ले एक दूसरे से मिलकर बुझ ही दिनोंमें साथ छोड़कर चल देते हैं ।

भला, कौन समझदार मनुष्य दिनमें दूर-दूरतक व्यर्थ इधर-उधर दूमता हुआ ज्ञानी महापुरुषोंका सङ्ग एवं सत्कर्मका अनुष्ठान न करके सायंकाल धरमें छौटनेपर रातमें सुखकी नीद सो सकेगा ? समस्त शत्रुओंको मार भगानेपर जब चारों ओरसे धन-सम्पत्ति प्राप्त होने लगती है, उस समय पुरुष, जबतक इन विषयमुद्भावोंके सेवनमें लगता है, तबतक ही मृत्यु कहाँसे सहसा आ धमकती है । जो किसी कारणसे दुद्धिको प्राप्त होकर भी क्षणमरमें ही नष्ट होते देखे गये हैं, उन अत्यन्त हुँच विषय-भोगोद्वारा इधर-उधर मटकायी जाती हुई जनता इस भूतलपर अपने निकट आयी हुई मृत्युको नहीं जान

पाती, यह कितने आवश्यकी बात है। समुद्रकी धगभग्हुर छहरोंके समान यह अपल जनता इस भूतलपर निरन्तर कहाँसे वेगपूर्वक आती और फिर सदा वेगसे ही चली जाती है। जैसे चम्बल अमरतुली नेत्रों और लाल पलुवरुली अवरोधाली तथा विष-बृक्षपर चढ़कर फैली हुई चम्बल विष-लताएं देखनेमें अति सुन्दर होनेके कारण पहले भनको हर लेती हैं, पीछे सेवन करनेपर प्राणोंका नाश कर देती हैं, उसी प्रकार लाल अधरों और अमरतुली अम्बल नेत्रोंसे सुशोभित होनेवाली सुन्दरी कियाँ मनोहारिणी होनेके कारण पहले तो मनुष्योंके चित्रको तुराती हैं, फिर सर्वथा उनके प्राणोंका अपहरण करनेवाली बन जाती हैं। जैसे तीर्थयात्रा अथवा देवोत्सवमें बहुत-से मनुष्योंका मेला जुट जाता है, उसी प्रकार इस लोक और परलोकसे व्यर्थ ही आये हुए और अमुक स्थानपर हमलोगोंकी मैट होगी, इस तरह आपस-के संकेतयुक अभिप्रायसे एकत्र हुए लोगोंका जो छी, पुत्र और मित्र आदिके रूपमें यहाँ मिलन होता है, यह अवहार भायामय ही है। यह संसार वेगपूर्वक धूमनेवाले कुकालैफक्से समान है। यथामि यह वर्षा अद्युके पानीके झुल्मुलोंके समान क्षणभग्हुर है, तथामि असावधान मनुष्योंकी बुखिमें अपनी विरस्थपिताकी ही प्रतीति करता है।

जहाँ दैवतश वारदार जन्म लेकर अपने शरीरको धारण करके छाया, पत्र और पुण्य आदिके द्वारा निरन्तर प्राणियोंका उपकार करनेवाला वृक्ष भी कुलहारीसे काट दिया जाता है, उस संसारमें मनुष्य-जैसा अपराधी और उपकारशूल्य प्राणी सदा जीवित ही रहेगा, ऐसा विश्वास करनेके लिये कौन-सा कारण है? विषका वृक्ष और विषयासूज मनुष्य होनों ऊपरसे वहे मनोहर लगते हैं, किंतु उनके भीतर बड़ा भारी दोष भरा रहता है। एक ( विषहृष्ट ) हृदयस्थित प्राणोंके विनाशके लिये खड़ा है तो दूसरा ( विषयासूज मनुष्य )

१. कुरुक्षेत्रका चाक।

आन्तरिक शान्तिके विद्वातके लिये तैयार रहता है। इनके सहस्रे तत्काल मूर्ढा या मूढ़ता ही प्राप्त होती है। संसारमें ऐसी कौन-सी दृष्टियाँ हैं, जिनमें दोष नहीं हैं; वे कौन-सी दिशाएँ हैं, जहाँ दुःख और दाह नहीं हैं? वे कौन-सी जीव-शरीर हैं, जो क्षणभग्हुर नहीं है? और कौन-सी लौकिक कियाएँ हैं, जिनमें छल-कपट नहीं है? वीरे हुए और आनेवाले अनन्त कल्पोंकी संख्याका परिज्ञान नहीं होता। इसलिये जैसे क्षण अनन्त है, उसी प्रकार कल्प भी अनन्त है। भगवान् विष्णु और हुए आदिकी दृष्टिमें कल्प भी क्षण ही हैं। अतः ब्रह्मांडके निवासी भी कल्प नामधारी एक क्षणतक ही बीनेवाले हैं। इसलिये कलाओं ( विभिन्न अंशों ) से सुशोभित होनेवाले कालसमूहमें व्युत्प और दीर्घत्व—चिरजीवन और क्षणजीवनकी बुद्धि भी प्रदृष्टिकी कल्पनाके अधीन होनेके कारण असत्य ही है। सर्वत्र परथरके ही पदार्थ हैं—उनमें पत्थरके सित्रा दूसरी कोई वस्तु नहीं है। इसी तरह सब जगह मिट्टीकी ही पृथ्वी है, काष्ठके ही वृक्ष हैं और हाइ-मौसके ही मनुष्य हैं। लोगोंके बनाये हुए सकेतके अनुसार ही उनके विशेष नाम आदि भाष नियत हो गये हैं। इस भोग्यवर्षमें कोई भी वस्तु विकारसे हीन अथवा अपूर्व नहीं है। सब कुछ विकार-रूप होनेके कारण ही असत्य है। जल, अग्नि, वायु, आकाश और पृथ्वी—ये पाँच महाभूत ही परस्पर मिलकर घट-घट आदि नाना पदार्थोंके रूपमें अविद्येकी पुरुषोंकी प्रतीत होते हैं। चेतनके सानिध्यसे ही उन्हें पदार्थोंकी प्रतीति होती है। विषेक-दृष्टिसे पृथक्-पृथक् विभाग-पूर्वक आलोचना करनेपर यह अगत् पाँच भूतोंसे अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं सिद्ध होता।

महात्मन्! मिथ्या होनेपर भी इस पदार्थ-समूहके विषयमें अवधार-कुशलताके कारण विष्णुन् पुरुषोंके भी मनमें भोगसम्बन्धी अमल्कार ( चेष्टा ) को उत्तम करनेवाली जो अवधार-अमल्कृति या प्रशृति देखी जाती है,

वह कोई आश्वर्यकी बात नहीं है; क्योंकि कमी-कभी समये मिथ्याभूत विषयको छव्य करके भी किन्तु लोगोंकी उस प्रकार चमकारायूर्ण प्रवृत्ति होती देखी जाती है।

जैसे पश्च किसी हरी-हरी लताके फलको पानेकी इच्छासे ही आगे बढ़नेपर निस्तंदेह पर्वतशिखरसे गिर

जाता है, उसी प्रकार श्रेष्ठ पुरुषोंके पद ( स्थान या धन-वैमव आदि ) को हठात् छेनेकी इच्छा रखनेवाला पुरुष राग-लोभ आदि दोषोंसे दूषित हुए अपने वित्तके द्वारा ही मारा जाकर अवश्य पतनके गर्तमें गिर जाता है।

( सर्ग २७ )

### जागरिक पदार्थोंकी परिवर्तनशीलता एवं अस्थिरताका वर्णन

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—जगत् । यह जो कुछ भी स्वाधर-अङ्गमूलग दृश्य जगत् दिखायी देता है, वह सब सपनेमें लगे हुए भेलेके समान अस्थिर है—चिरकालतक टिकनेवाला नहीं । आज जिस शरीरको रेशमी बड़ा, छालोंके हार तथा भौति-भौतिके अनुलेपनोंसे सजाया गया है, वही कल नंगा होकर ग्राम या नगरसे बहुत दूर किसी गड्ढमें पक्षा-पक्षा सब जायगा । जिस स्थानमें आज विचित्र आहार-अयश्वार और चहल-पहलसे भरा हुआ अङ्गल-सा नगर देखा गया है, वही कुछ ही दिनोंमें सूने बनके धर्मका डदय हो जायगा—वह भूमि गहन बनके समान निर्जन एवं अगम्य हो जायगी । जो पुरुष आज तेजस्वी है और अनेक मण्डलोंपर शासन करता है, वही कुछ दिनोंके अनन्तर राखका देर बन जाता है । आज जो आकाशमण्डलके समान भीला और महाभूयकर बन है, वही कुछ कालके पश्चात् अजा-पताकाओंसे आकाशको ढक देनेवाला विशाल नगर बन जाता है । आज जो लता-बछुरियोंसे आवेष्टित भयंकर बनश्रेणी दृष्टिगोचर होती है, वही कतिपय दिनोंमें ही भूमध्य ( रेगिस्तान ) का स्थान प्रदण कर लेती है । जल स्थल हो जाता है और स्थल जल । काठ, जल और तिन भोसहित सारा जगत् ही विपरीत अवस्थाको ग्रास होता रहता है । जधानी, बचपन, शरीर और इन्द्रियाएँ—ये सब-के-सब अनित्य हैं और तरफ़की भौति निरन्तर एक माषसे दूसरे भाषको ग्रास होते रहते हैं । इस संसारमें प्राणियोंका जीवन हवासे भरे स्थानमें

रखने हुए दीपककी लौके समान अङ्गल ( शीघ्र ही बुझ जानेवाला ) है और तीनों लोकोंके समूर्ण पदार्थोंकी शोभा ( चमक-दमक ) विजलीकी चमकके समान क्षणिक है ।

महर्षे । वे उत्सव और वैमवसे द्विशोमित होनेवाले दिन, वे महाप्रतापी पुरुष, वे प्रञ्चुर सम्पत्तियों तथा वे बड़े-बड़े कर्म—सब-के-सब दृष्टिपथसे दूर हो केवल सरणके विषय रह गये हैं । इसी तरह हम भी क्षणभरमें अद्भुत स्थानको बच्छे जायेंगे और लोगोंके लिये केवल सरणीय बनकर रह जायेंगे । यह संसार प्रतिदिन नष्ट होता है और प्रतिदिन पुनः उत्पन्न हो जाता है । अतः आजतक इस नष्टप्राप्य जले हुए संसारका अन्त नहीं हुआ । प्रभो । मनुष्य पश्च-पक्षियोंकी योनिको ग्रास होते हैं । पश्च-पक्षी मानवजनन्म धारण करते हैं तथा देवता भी देवेतर योनियोंमें जम्म लेते हैं । फिर इस संसारमें कौन-सी वस्तु स्थिर है : स्त्री, पृथ्वी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियों और दिशाएँ—ये सब-के-सब विनाशकूपी वद्यवानलके लिये सूखे ईशनके समान हैं । धन, गाई-बन्धु, मृत्युर्बां, मित्र तथा वैमव—ये सब-के-सब विनाशके भयसे ढरे हुए पुरुषके लिये नीरस ही हैं । मुनीश्वर । जगत्-में मनुष्य क्षणभरमें ऐश्वर्य ( धन-वैमव ) ग्रास कर लेता है और क्षणभरमें दरिद्र हो जाता है । वह क्षणभरमें ही रोगी और क्षणभरमें नीरोग हो जाता है । इस प्रकार प्रतिक्षण विपरीत अवस्था प्रदान करनेवाले इस नक्षर जगत्-रूपी भ्रमसे कौन

१. यहाँ घडवानलका वर्य अग्निमात्र समर्पना चाहिये ।

कुद्दिमान् मनुष्य मोहित नहीं हुए हैं ? ( इस अमले सभी लोगोंको मोहमें डाल रखा है । )

आकाशमण्डल क्षणमरमें ही अन्धकारलूपी कीचक्कड़से ढक जाता है, पिर क्षणमरमें ही मुखर्णदेवके समान शीतल भुद्गुल चौंदनी बादिके नउअल प्रकाशसे उद्भवासित हो परम छुन्दर दिखायी देने लगता है । दूसरे ही क्षण मेघरूपी नील कमलोंकी मालासे उसका अस्तःप्रदेश ( वक्ता एवं उद्दर ) ढक जाता है । क्षणमरमें ही वहाँ उद्भवरसे मेघोंकी गम्भीर गर्वना होने लगती है और क्षणमें ही वह मूरक्की भाँति नीख हो जाता है । क्षणमें ही ताराओंकी हारावलीसे अलंकृत और क्षणमें ही सर्यूपी मणिसे विभूषित हो जाता है । क्षणमें ही वहाँ चम्पमाकी चटकीली चौंदनीसे आङ्गाद छा जाता है और क्षणमरमें ही वह सबसे सुख हो जाता है । इस तरह जैसे आकाशकी स्थिति क्षण-क्षणमें बदलती रहती है, उसी प्रकार संसारके सभी पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्तनशील हैं । महर्णे ! संसारमें कौन ऐसा पुरुष है, जो धीर होता हुआ भी क्षणमरमें स्थित और क्षणमरमें नष्ट होनेवाली, आवागमनकी परम्परासे युक्त इस सांसारिक स्थितिसे भयमीत नहीं होता ? मुझे ! यहाँ क्षणमरमें आपत्तियाँ आती हैं और क्षणमरमें

सम्पत्तियाँ । क्षणमें ही जन्म होता है और क्षणमें ही मृत्यु । इस जगत्में कौन-सी ऐसी वस्तु है, जो क्षणिक न हो ? भगवत् । यहाँ उत्पन्न हुआ मनुष्य पहले कुछ और ही था और थोड़े दिनों बाद अन्य प्रकाशका हो जाता है । यहाँ सदा एकरूप रहनेवाली मुस्तिर वस्तु कोई नहीं है । यहाँ कायरके द्वारा शूरवीर मारा जाता है । एक ही व्यक्तिके हाथसे सैकड़ों मनुष्य मारे जाते हैं और साधारण लोग भी राजा बन बैठते हैं । इस प्रकार यह सारा जगत् विपरीत अवस्थामें परिवर्तित होता रहता है । बान्धावस्था थोड़े ही दिनोंमें चबी जाती है, पिर यौवनकी शोभा छा जाती है और कुछ ही दिनोंमें वह भी समाप्त हो जाती है । उत्पन्न शूद्धावस्थाका पदार्पण होता है । जब हमारे शरीरमें भी एकरूपता ( स्थिरता ) नहीं है, तब वादा वस्तुओंमें एकरूपताका विभास क्या हो सकता है ? उत्पन्न और विनष्ट होनेवाले संसारी पुरुषोंकी न तो आपत्तियाँ स्थिर रहती हैं और न सम्पत्तियाँ ही । यह काल चतुर मनुष्योंको भी अवहेलनापूर्वक विपरीत स्थितियोंमें परिवर्तित करनेके कार्यमें अत्यन्त कुशल है । प्रायः सब लोगोंको आपत्तिमें ढकेल्कर यह क्रीड़ा करता है ।

( सर्ग २८ )

### श्रीरामकी प्रबल वैराग्यपूर्ण जिज्ञासा तथा उत्तमज्ञानके उपदेशके लिये ग्रार्थना

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—मुनीश्वर । विषयमोग दुःख-रूप और अनित्य हैं, इस प्रकार विषयोंमें दोष-दर्शनरूपी दावामलके द्वारा मेरा चित्त दग्ध हो निर्भय एवं महान् हो गया है । अतः जैसे जलाशयोंमें मृगतृणाका ठदय नहीं होता, उसी तरह मेरे उस चित्तमें भोगोंकी आशा अनुरित नहीं होती । जैसे नीमके वृक्षपर फैली हुई उसहीन शितोष काल पाकर उत्तरोत्तर कहवी होती जाती है, उसी प्रकार यह सांसारिक स्थिति भी दिन-प्रति-दिन तीव्र वैराग्यके कारण मेरे लिये अधिकाधिक कहुताको

प्राप्त हो रही है । मुनीश्वर । विविध चिन्ताओंसे परिपूर्ण भोग-समूहों एवं राज्योंकी अपेक्षा चिन्ताराहित महात्मा पुरुषोंद्वारा खीकृत एकान्त-सेवन ही मुझे अच्छा लगता है । छुन्दर उघान मुझे आनन्द नहीं देता, खियोंसे मुझे हुख नहीं मिलता और धनकी आशापूर्तिसे मुझे हर्ष नहीं होता । मनके साथ-साथ शान्ति मैं पाना चाहता हूँ । मैं न तो मुझुका अभिनन्दन और न जीवनका ही स्वागत करता हूँ । जिस तरह संतापरहित होकर स्थित हूँ, उसी तरह रह रहा हूँ; मुझे राज्यसे, भोगोंसे, धनसे और नाना प्रकारकी

चेष्टा ओंसे भी क्या प्रयोजन है ? अहंकारवश ही मनुष्य इन राज्य आदिसे सम्बन्ध रखता है, किंतु मेरा वह अहंकार ही गल गया है ( अतः मेरे लिये इनकी आवश्यकता नहीं रह गयी है ) । जैसे हाथी अपने खुरोंके प्रहारसे कोमल कमलको कुचल डालता है, उसी प्रकार कामदेवने मानवती कामिनियोंके द्वारा मनुष्योंके मनको मथ डाला है । मुनिन्द्र । यदि अभी निर्मल बुद्धिके द्वारा इस चित्तकी चिकित्सा नहीं की जाती तो फिर इसकी चिकित्साका अवसर ही कहों रह जायगा । ( क्योंकि रोग वह जानेपर उसकी चिकित्सा कठिन हो जाती है । ) विषयोंकी विषमता ही विष है । लोकप्रभिद्व विषको वास्तवमें विष नहीं कहा जाता, क्योंकि विष एक ही शरीरका ( जिसके द्वारा उसका सेवन किया जाता है, उसीका ) नाश करता है, परंतु विषय (-विष) जन्म-जन्मान्तरोंतक जीवको मौतके मुँहमें ढालते रहते हैं । मुख-दुःख, भिन्न, भाई-बन्धु, जीवन और मरण—ये सब ( बन्धनके कारण होते हुए भी ) ज्ञानी पुरुषके चित्तको नहीं बोधते ( अज्ञानीका ही मन उससे बैधता है ) ।

महान् ! आप प्राचीन और अर्वाचीन बातोंके जानेवाले महात्माओंमें श्रेष्ठ हैं । इसलिये दिस प्रकार मैं शोक, भय और खेदसे मुक्त हो यथार्थ ज्ञानसे सम्पन्न हो जाऊँ, वैसा उपदेश मुझे शीघ्र प्रदान कीजिये । ज्ञान एक भयकर बनके समान है । जैसे बनमें मूर्गोंको फँसानेके लिये जाल बिछे होते हैं, कॉटेदार शाड़ीखाड़ फैले रहते हैं तथा जगह-जगह बहुत-से ऊँचे-नीचे स्थान रहते हैं, उसी प्रकार अज्ञानरूपी जन भी विषपत्रासनाके जालसे आवेषित, दुःखरूपी कण्टकोंसे व्याप्त तथा सम्पत्ति-विषति-रूपी ऊँचे-नीचे स्थानोंसे युक्त है । महात्मन् ! जैसे रातमें ऐसी अन्वकारनाशि नहीं होती, जो चन्द्रमाकी चाँदमीसे नष्ट न हो जाती हो, उसी प्रकार संसारमें ऐसी दुश्मित्तारङ् नहीं है, जो उत्तम अन्तःकरणवाले महात्मा पुरुषोंके सङ्गसे विक्षीण न हो जायें । आयु बायुसे टकरायी हुई मेघोंकी

बढ़ासे झरते हुए जल-विश्वारूपोंके समान क्षणभूरु है । भोग सेवमालाके बीचमें चमकती हुई विजलीके समान चश्मल हैं तथा युवावस्थाके मनोरक्षन जलके बेगके समान चपल हैं—ऐसा विचारकर मैंने इन सबको त्याग दिया और तुरंत ही विरकालतक बनी रहनेवाली शान्तिको आजसे अपने चित्तपर शासन करनेके लिये सुदृढ़ अधिकार-मुद्दा समर्पित कर दी है ।\*

जैसे मृग तुष्णि तृणोंके लोमसे ठगे जाकर गड्ढोंमें गिर पड़ते हैं, उसी प्रकार अन्तःकरणकी वृत्तियोंनिस्तार विषयोंद्वारा ठगी जाती और विक्षेपरूपी दुःखोंको भोगनेके लिये उनके गहरे गर्तमें गिर जाती है । जैसे देवता विविध भोग-सामग्रियोंसे परिपूर्ण तथा चतुर्दश मुखनोंके भीतर विचरण करनेवाले अपने शीघ्रगामी विमानका परित्याग नहीं करते, उसी प्रकार विविध भोगवासनाओंसे विस्तारको प्राप्त हुआ और समस्त लोकोंमें वे रोक-टोक विचरनेवाला मनुष्योंका यह चश्मल वित्त भी कभी चपलताको नहीं छोड़ता ।

अतः महात्मन् ! जन्म-मरण आदि दुःखोंसे रहित, देह आदि उपायियोंसे शून्य तथा ज्ञानिरहित वह महान् विश्रान्तिदायक परमपद कौन सा है, जहाँ पहुँच जानेसे शोकका अमाव हो जाता है ? समस्त कर्मोंका सुचारूरूपसे अनुष्ठान करनेवाले तथा सदा लौकिक व्यवहारमें ही तत्पर रहनेवाले जनक आदि महापुरुष कैसे उत्तम पदको प्राप्त हुए ? दूसरोंको अधिक मान देनेवाले महामुने ! वह कौन-सा उपाय है, जिससे संसाररूपी पङ्कका अनेक अङ्गोंसे सर्पक हो जानेपर भी मरुष्य उससे लिप्त नहीं होता ? किस दृष्टि ( बुद्धि ) का

\* जैसे गधा दुष्ट अधिकारियोंसे शासनका अधिकार छीनकर किसी गुणवान्मूले उस पदपर प्रसिद्धि करनेके लिये अधिकार-पत्र देता है, उसी प्रकार मैंने चित्तभूमिसे भोगवासना आदिका अधिकार हटाकर वहाँ शाश्वत शान्तिको प्रतिष्ठित किया है । .. .

आश्रय लेकर आप-जैसे पापरहित महामना महापुरुष इस जगतमें जीवन्मुख होकर विचरते हैं ; जिसे भोहरूपी मतभाले हाथीने मथ ढाला है, जिसके भीतर काम आदि दोषोंकी कीचड़ भरी पढ़ी है, वह प्रव्वारूपी महान् सरोकर किस उपायसे अथन्त निर्भल हो जाता है ; जैसे कपणके पत्तेसे जलका लगाव नहीं होता, उसी प्रकार प्रवादरूपसे बने रहनेवाले इस संसारमें समस्त व्यवहारोंका निर्वाह करता हुआ भी मनुष्य बन्धुमें न पढ़े—इसका क्या उपाय है ? समूर्ण प्राणियोंको आस्पाके समान तथा इस समस्त भौग-प्रपञ्चको तिनकेके समान समझनेवाला और मनकी कामादि वृत्तियोंका स्पर्ह न करनेवाला मनुष्य कैसे ब्रेष्ट पदको प्राप्त हो सकता है ? जिसने संसाररूपी महामागरको पार कर लिया हो, ऐसा कौन-सा महापुरुष है, जिसके चरित्रका अनुसरण करके मनुष्य कभी हुखी नहीं होता ; वह प्राप्त करने योग्य कल्याण और फल क्या है ? इस विषय-संसारमें ( इसे पार करनेके लिये ) कैसे व्यवहार करना चाहिये ? प्रभो ! मुझे तथ्वका कुछ उपदेश दीजिये, जिससे मैं ग्रजानीके द्वारा रचित इस अध्यवस्थित जगतका पूर्णपर ( आदि-अन्त ) समझ सकूँ । इस संसारमें प्रह्लण करने योग्य बस्तु क्या है ? त्याज्य बस्तु क्या है ? तथा इन दोनोंसे भिन्न अग्राह्य एवं अस्त्राज्य बस्तु क्या है ? मनुष्योंका यह चक्षुर चित्त किस प्रकार पर्वतके समान स्थिरता एवं शान्तिको प्राप्त करे ? किस पावन मन्त्रसे सैकड़ों क्लेशोंकी सृष्टि करनेवाला यह दोष-युक्त संसाररूपी विसूचिका ( हैजा ) का रोग अनायास शान्त हो सकता है ? महात्मन् ! जैसे वनमें कुत्ते विभिन्न जन्मुओंके अवमरे शरीरको पीड़ित करते रहते हैं, उसी तरह नाना प्रकारके संशय भवें कुष्ठ आनन्दस्य ग्रहणमें आस्त्रान्तिक निष्ठासे रहित पुरुषको सदा कष्ट देते रहते हैं ।

मुनीधर ! ऐसा कौन-सा उपाय है, क्या गति है, कौन-सा चिन्तन है, क्या आश्रय है तथा कौन-सा साधन

है, जिसका अवलम्बन करनेसे वह जीवनकूपी बन भविष्यमें अमन्त्रलक्ष्मी न हो ? भगवन् । इस पृथीपर, सर्वमें अथवा देव-समाजमें कोई भी ऐसी बस्तु नहीं है, जिसे तुच्छ होनेपर भी आप-जैसे परम दुर्दिमान् महात्मा रमणीय न बना दें । यह मन्त्र संसार निरन्तर दुःखोंसे परिपूर्ण और नीरस है । कुण्डा यह बताइये कि यह किस उपायसे अङ्गानके निवारणपूर्वक परमानन्दरूप उत्तम सादसे शुक्त हो जाता है । मुझे ! यह मनुष्यी चन्द्रमा कामसे कलहित हो रहा है । इसे किस साधन एवं विधिसे घोया जाय कि उससे अथन्त निर्भल एवं परम आहादमणी दिव्य बौद्धनीका उदय हो । जिसे संसारकी गतिका अनुभव है और जिसने निष्काममावके द्वारा दृष्ट एवं अदृष्ट कर्मफलोंका विनाश कर दिया है, ऐसे किस महापुरुषकी माँति हमें इस संसाररूपी बनकी गलियोंमें विचरते समय व्यवहार करना चाहिये ! प्रभो ! किस उपायका आश्रय लिया जाय, जिससे संसाररूपी बनमें विचरनेवाले जीवको राग-द्वेषरूपी बड़े-बड़े दोष तथा भौग-समूह एवं ऐश्वर्यरूपी हिसक जन्म कष्ट न दे सकें ? मुनिश्रेष्ठ ! तीनों लोकोंमें मनकी जो मननशालिनी सत्ता ( विश्य-चिन्तनरूप वस्तित्व ) है, उसे किसी साधनरूप युक्तिके बिना नष्ट नहीं किया जा सकता । अतः आप उस उत्तम युक्तिका पूर्णरूपसे उपदेश कीजिये । अथवा जिसका अवलम्बन करनेसे लोकव्यवहारमें तंपर रहनेपर भी मुझे दुःख प्राप्त न हो सके, उस व्यवहार-सम्बन्धिनी उत्तम युक्तिका प्रतिपादन कीजिये । किस उत्तम विचारले महापुरुषने पहले युक्तिके द्वारा मोहका निवारण किया था ? उसने किस प्रकार और क्या किया था ; जिससे उसका मन परम पवित्र होकर शान्तिको प्राप्त हो गया ? भगवन् । मोहकी निवृत्तिके लिये आप-जैसा, जो कुछ भी जानते हैं, उसका उसी रूपमें मुझे उपदेश कीजिये । वह कौन-सा साधन है, जिसका आश्रद लेनेसे अनेक श्रेष्ठ पुरुष दुःखरहित स्थिति ( कल्याण ) को प्राप्त हो गये हैं ?

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—मरदान ! जैसे मोर महान्

मेवोंकी घटाओंके समुख केरारव करके यक जानेके कारण चुप हो जाता है, उसी प्रकार निर्मल चन्द्रमाके समान मनोहर एवं महान् तत्त्वविचारसे विकसित

चित्राले श्रीरामचन्द्रजी वसिष्ठ आदि महान् गुरुजनोंके समक्ष उपर्युक्त बातें कहकर चुप हो गये ।

( सर्ग २९—३१ )

**श्रीरामचन्द्रजीका भाषण सुनकर सबका आर्थर्यचित छोना, आकाशसे फूलोंकी वर्षा, सिद्ध पुरुषोंके उद्धार, राजसभामें सिद्धों और महर्षियोंका आगमन तथा**  
**उन सबके द्वारा श्रीरामके वचनोंकी प्रशंसा**

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरुज ! कमलनयन राजकुमार श्रीराम जब इस प्रकार मनके मोहका निवारण करनेवाली बात कहने लगे, तब वहाँ बैठे हुए सब लोगोंके नेत्र आश्रयसे खिल उठे । उनकी समख्त सासारिक वासनाएँ वैराग्यकी वासनासे नष्ट हो गयी और वे सब लोग दो बड़ीके लिये मानो अमृतमय समुद्रकी तरफोंमें झुकने-उत्तराने लगे । श्रीरामचन्द्रजीकी वे बातें जिन लोगोंने सुनीं, वे निश्चलताके कारण विविधिवित-से प्रतीत होते थे । उनका हृदय आनन्दसे भर गया था । सभामें बैठकर जिन श्रवणसमर्थ पुरुषोंने श्रीरामकी बातें सुनीं, उनके नाम इस प्रकार हैं—वसिष्ठ-विश्वामित्र आदि मुनि, मन्त्रणाकुशल नयन्त और शृष्टि आदि मन्त्री, दशरथ आदि नरेश, पुरुषासी, पारश्राव आदि संकर नातिके लोग, विमित्र सामन्त, लक्ष्मण आदि राजकुमार, वेदवेता शाक्षण, भूत्य और अमात्य । अपने महल्की खिड़कियोंमें बैठी हुई महारानी कौसल्या आदि विनियोगी भी निश्चल होकर श्रीरामकी बातें सुन रही थीं । उस समय उनके आमूषणोंकी खनखनाहटतक नहीं होती थी । आकाशचारी सिद्ध, गन्धर्व, किंवर, नारद, व्यास और पुलह आदि श्रेष्ठ मुनियोंने तथा देवता, देवराज इन्द्र, विश्वधरण एवं महान् दिव्य नागोंने भी श्रीरामचन्द्रजीकी वे विचित्र अर्थसे परिपूर्ण और परम उदार बातें सुनी थीं ।

**रघुकुलरूपी आकाशके चन्द्रमा तथा शशिसे भी**  
**१. भोरकी बोलीको केका कहते हैं ।**

सुन्दर कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी जब उपर्युक्त बातें कहकर चुप हो गये, तब ‘साधुवाद’ के गम्भीर वोषके साथ आकाशसे सिद्धसमूहोंद्वारा ऐसी पुष्पवृष्टि की गयी, जिससे वहाँ चंदोवा-सा तन गया । फूलोंकी उस वर्षमें हेर-के-देर केवलेके फळ चक्कर काट रहे थे । कमलोंके गुच्छ अपनी अमृत छटा दिखा रहे थे । कुन्दपुष्पोंकी राशि छढ़ रही थी तथा इवामें उड़ते हुए नील कमलोंके पुष्प बिसर रहे थे । उस महलके आँगनकी भूमि पट गयी । घर, छत और चबूतरे आच्छादित हो गये तथा नगरके सभी श्री-पुरुष अपनी गर्दन ऊँची करके उस पुष्पवर्षाकी शोभा निहारने लगे । आकाशमें खड़े हुए अदृश्य सिद्ध-समूहोंद्वारा की गयी वह पुष्पवृष्टि आधी बड़ीतक छातार होती रही । सभा और उसमें बैठे हुए लोगोंको आच्छादित-सा करके जब वह पुष्पवर्षा बंद हुई, तब सभासदोनि सिद्धसमूहोंका यह वार्तालाप अपने कानोंसे सुना—“सृष्टिके आरम्भसे लेकर अवताक सिद्धोंके समुदायमें रहकर खगके सारे प्रदेशोंमें घूमते हुए हमलोगोंने आज ही वेदोंका सारभूत एवं कानोंके लिये अमृतके समान सुखद यह अपूर्व प्रवचन सुना है । वीतराग होनेके कारण इन रघुकुलचन्द्र श्रीरामने जो उदार बातें कही हैं, उन्हें सम्भवतः बृहस्पतिनी भी नहीं जानते होंगे । अहो ! यह बड़े सौमार्गकी बात है कि आज हमलोगोंने श्रीरामचन्द्रजीके मुखारविन्दसे प्रकट हुआ यह परम पुण्यमय प्रवचन सुना है, जो अन्तःकरणको

परम आहाद प्रदान करनेवाला है। इन रघुनन्दनने इस समय आदरपूर्वक जो उचित भाषण किया है, वह शान्तिलीपी अमृतसे मरा होनेके कारण परम भनोहर है। इस भाषणने श्रेष्ठताकाल पद प्राप्त कर लिया है—यह प्रथम सर्वोत्तम सिद्ध हुआ है। इसके द्वारा हमें भी तत्काल यह ज्ञान हो गया कि खर्ण आदिके सुख भी निस्सार हैं।

“रघुकुलतिलक श्रीरामके द्वारा उठाये गये इन पाँचवन प्रश्नावाक्योंका महर्षिलोग जो निर्णय करेंगे, उसे भी मुनमा उचित होगा। नारद, व्यास और पुलह आदि मुनीशरो। आप सभी महर्षि उस निर्णयको निर्विघ्नरूपसे सुननेके लिये शीघ्र यहाँ पधारें। जैसे केसरकी शौभासे परिपूर्ण हो सुवर्णकी मौति उदीत होनेवाली कमलिनीपर भगव वारों ओरसे दूट पढ़ते हैं, उसी प्रकार हम भी घन-जैमवसे पूर्ण तथा सुवर्णमयी सामग्रियोंसे प्रकाशित होनेवाली राजा दशरथकी इस पुण्यमयी सभामें सब ओरसे प्रवेश करें।”

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज ! सिद्धोंके ऐसा कहनेपर विमानोंमें निवास करनेवाले दिव्य महर्षियोंकी वह सारी मण्डली उस राजसमामें उतरी। उस मण्डलीमें सबसे आगे मुनीशर नारद थे, जो अपनी बजती हुई वीणाको उस समय भी छोड़ न सके थे और सबसे पीछे सजल जलधरके समान द्याम कान्तिवाले महर्षि व्यास थे। इन दोनोंके बीचमें शेष शूष्यियोंकी मण्डली थी। धूगु, अङ्गिरा और पुलस्य आदि मुनीशर उस मण्डलीकी शोभा बढ़ाते थे। चूपन, उद्यालक, उशीर तथा शरलोम आदि महर्षियोंने उसे सब ओरसे देव रक्खा था।

एक दूसरेके शरीरकी राङसे उन सबके भृगचर्म अपने स्थानसे खिसककर अस्त-अस्त हो गये थे। उन महर्षियोंके हाथोंमें बल पाकर शशाक्षमाला हिल रही थी तथा उन सबने सुन्दर कमण्डल धारण कर रखले थे। आकाशमें अपने देवःपुण्यके प्रसारसे इवेत

एवं रक्त प्रभा धारण करनेवाली वह मुनिमण्डली तारोंकी पहलिके समान प्रकाशित हो रही थी। परस्परके तेजसे उन सबके मुखगण्डल ऐसे उद्घासित हो रहे थे, मानो उनेक सूर्योंकी पहलियाँ प्रकट हो गयी हों। उस मण्डलीमें व्यासनी ऐसे दृश्योभित हो रहे थे, मानो तारोंके समुदायमें द्याम मेव विर आया हो और देवर्षि नारद तारिकाओंके समूहमें शीतराश्मि चन्द्रमाकी-सी शोभा धारण करते थे। महर्षि पुलस्य देवमण्डलीके बीच देवराज इन्द्रके समान विराज रहे थे। महर्षि अङ्गिरा ऐसे प्रकाशित होते थे, मानो देवताओंके समूहमें साक्षात् सूर्य उपस्थित हों। आकाशमण्डलसे वह सिद्ध-सेना ज्यों ही भूतलपर उत्तरी स्तों ही मुनियोंसे भरी हुई दशरथ-समाके सभी लोग उठकर खड़े हो गये। वसिष्ठ और विश्वामित्रने अर्थ-पाद तथा मधुर वचनोद्धारा क्रमशः उन सभी आकाशचारी सिद्धों तथा महर्षियोंकी पूजा की। आकाशचारी सिद्ध आदिके उस महान् समुदायने भी अर्थ-पाद एवं मधुर वचनोद्धारा वसिष्ठ और विश्वामित्रका आदरपूर्वक पूजन किया। तत्पश्चात् भूपाल दशरथने सम्पूर्ण आदरभावके साप उस सिद्ध-समुदायका पूजन किया। फिर उस सिद्ध-समुदायने भी कुशल-प्रश्न-सम्बन्धी वार्तालापद्वारा महाराज दशरथका सल्कार किया। उस समय ब्रेमोचित दान, माम आदि कियावांद्धारा एक दूसरेसे सल्कार पाकर सभी आकाशचारी तथा भूमण्डलमें विचरनेवाले महर्षियायोग्य आसनोंपर बैठे। उन लोगोंने सामने नत-मस्तक होकर बैठे हुए श्रीरामचन्द्रजीका चारों ओरसे मधुर भाषण, झलोंकी कर्ता और साधुवादके द्वारा पूर्ण सल्कार किया।

श्रीरामचन्द्रजी राज्यलक्ष्मीसे दृश्योभित होते हुए वही बैठे तथा विश्वामित्र, वसिष्ठ, वामदेव, राजमन्त्रीगण, ब्रह्माके पुत्र नारदजी, मुनिवर व्यास, मरीचि, हुर्वासा, अङ्गिरा और उनके पुत्र आङ्गिरस मुनि, क्रतु, पुलस्य, पुलह, मुनीशर शरलोमा, वास्त्यापन, भरद्वाज, मुनिवर वाल्मीकि, उद्यालक, शृंचीक, शर्याति और व्यवन—ये तथा और भी बहुत-से वेद-वेदाङ्गोंके पारंगत विद्वान्

तत्त्वज्ञानी महाराजा, जो उन सबमें प्रधान थे, वहोंने विराजमान हुए। तत्पत्ति और विश्वमित्रजीके साथ नारद आदि, जो साङ्गवेदोंका अध्ययन कर खुके थे, मरणके शुकाये हुए श्रीरामचन्द्रजीको लक्ष्य करके इस प्रकार बोले—‘अहो ! वहे आश्वर्यकी बात है कि राजकुमार श्रीरामने इस प्रकार अनेक कल्पणामय गुणोंसे सुशोभित वैराग्यससे पूर्ण तथा परम उदाहरतासे युक्त बातें कही हैं। श्रीरामके माध्यमें वक्तव्य अर्थ ‘द्विमिथम्’ रुपसे व्यवस्थापूर्वक निहित है। उसे ऐसी सुन्दर भाषणमें कहा गया है, जिसे सुनते ही श्रोता वास्तविक अभिप्रायको समझ ले। जो बात कही गयी है, वह सर्वथा उचित और स्पष्ट शब्दोंमें प्रतिपादित है। श्रीरामकी यह बाणी उदाहर है—इसके भीतर बहुत-से उल्काष अभिप्राय छिपे हुए हैं। यह सुननेमें ग्रिय और श्रेष्ठ पुरुषोंके योग्य है। इसमें जो बुद्धि कहा गया है, वह चब्बल चित्तसे नहीं, लिखुदिसे विचारकर व्यक्त किया गया है। इसका भाव स्पष्टरूपसे समझमें आ जाता है। इस माध्यमका ग्रन्थीक पद अभिव्यक्त ( व्याकरण-विशुद्ध ) तथा सुस्पष्ट—ग्रन्त आदि दोषोंसे रहित है। यह बाणी इष्ट ( ग्रिय एवं हितकर ) तथा आन्तरिक संतोष-की सूचक है। श्रीरघुनाथजीके मुख्यसे निकला हुआ यह वचन किसको आश्वर्यमें नहीं आल देता ? सैकड़ोंमें किसी एक पुस्तकी ही बाणी सम्पूर्णतः उल्काष, चमत्कारपूर्ण और अमीठ अर्थको प्रकट करनेमें समर्थ होती है।

‘राजकुमार ! आपके सिवा दूसरा कौन है, जिसकी बाणके समान सूक्ष्म अर्थका भैदन करनेवाली कुशाग्र बुद्धिरूपिणी लता विवेकरूपी फलसे सुशोभित हो विचार-वैराग्यरूपी उत्तम विकासको प्राप्त हो रही हो। श्रीरामकी भौति जिसके हृदयमें अनुपम प्रकाश फैलानेवाली प्रक्षारूपिणी दीप-शिखा प्रज्वलित हो रही हो, वही श्रेष्ठ पुरुष कहा जाता है। जिनमें ऐसी प्रक्षा नहीं है, वे मनुष्य रक्ष, मांस और इहियोंके यज्ञरूपी देहमें आस्थाद्विरुद्ध रखनेके

कारण रक्त-मांसादिरूप ही बहुत-से शब्द-स्पर्शादि पदार्थोंका उपभोग करते रहते हैं। ऐसा लगता है, उनके भीतर कोई चेतन पदार्थ है ही नहीं—वे जड़के गुल्म हो गये हैं। जो लोग सर्वथा मोहाच्छम होनेके कारण संसारका विचार नहीं करते, वे निरे पश्चु हैं। वे ही बारंबार जन्म, मृत्यु और जरा आदि खुपोंको प्राप्त होते हैं। जैसे लोकमें सर्वोत्तम मधुर फल और सुन्दर आकृतिवाले आमके बृक्ष विरले ही होते हैं, वसी प्रकार उल्काष चमत्कारसे पूर्ण तत्त्व-साक्षात्काररूप फलसे सम्पन्न एवं सुन्दर शरीरवाले भव्य पुरुष इने-गिने ही होते हैं। इन आदरणीय बुद्धिवाले श्रीराममें अभी इसी अवस्थामें अपने ही विवेकके कारण उस तत्त्वदर्शनरूप चमत्कारका उदय देखा जाता है, जिसके द्वारा जगत्के व्यवहारका सम्बन्धरूपसे समीक्षण हुआ है। जो देखनेमें सुन्दर हों, जिनपर सखलतासे चढ़ा जा सके तथा जो उत्तम फलों और पल्लवोंसे सुशोभित हों, ऐसे बृक्ष प्रायः सभी देशोंमें उल्पन्न होते हैं; परंतु चन्दनके बृक्ष सर्वत्र नहीं होते ( इसी तरह श्रीराम-जैसे पुरुष सर्वत्र दुर्लभ हैं )। फल और पल्लवोंसे भरे-पूरे बृक्ष प्रायेक बनाये सदा सुलभ होते हैं। परंतु अपूर्व चमत्कारसे युक्त लींगका बृक्ष सदा और सर्वत्र सुलभ नहीं है ( इसी तरह श्रीराम-जैसे पुरुष सर्वत्र दुर्लभ है )। जैसे चन्द्रमासे शीतल चाँदभी उत्पन्न होती है, सुन्दर बृक्षसे महारी प्रकट होती है और फलसे सुगन्धका प्रवाह प्रादुर्भूत होता है, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्रजीसे यह तत्त्वदर्शनरूपी चमत्कारका आविर्माण देखा गया है। जो लोग सदा तत्त्वचिन्तनमें तत्पर हो विवेकके द्वारा आत्मज्ञान या परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप सार पदार्थके लिये प्रयत्नशील रहते हैं, वे ही सुयशके भंडार, सखलुपोंमें अग्रगण्य, धन्य एवं समर्पण युरुओंमें श्रेष्ठ हैं। तीनों लोकोंमें श्रीरामचन्द्रजीके समान विवेकशील और उदारवित्त पुरुष न तो अबतक कोई देखा गया है और न भविष्यमें ही कोई होगा, ऐसी हमारी मान्यता है।’ ( सर्ग ३२-३३ )

### वैराग्य-प्रकरण सम्पूर्ण

१. अद्वैतवादित शब्द या वाक्य, जिससे पूरी बात समझमें नहीं आती, ग्रस्तदेवसे युक्त माना गया है।

## मुमुक्षुव्यवहार-प्रकरण

**विश्वामित्रजीका श्रीरामको तत्त्वज्ञानसम्बन्ध वराते हुए उनके सामने शुकदेवजीका दृष्टान्त  
उपस्थित करना, शुकदेवजीका तत्त्वज्ञान प्राप्त करके परमात्मामें लीन होना।**

श्रीवात्मीकिजी कहते हैं—भरहाज ! इस प्रकार समाने आये हुए सिद्ध पुरुषोंने जब उच्चस्वरसे श्रीरामके भाषणकी भूरि-भूरि प्रशंसा की, तब विश्वामित्रजीने अपने सामने बैठे हुए श्रीरामने प्रेमपूर्वक कहा—‘ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ रघुनन्दन ! तुम्हारे लिये और कुछ जानना शेय नहीं है । तुम अपनी ही सूक्ष्मबुद्धिसे सब कुछ जान चुके हो—सर्वस्वरूप सचिदानन्दधन परमात्माको तत्त्वसे जानते हो । तुम्हारी बुद्धि मगान् व्यासके पुत्र शुकदेवजीकी-



सी है । उसे जाननेयोग्य वस्तुका ज्ञान प्राप्त हो चुका है । श्रीराम ! मैं तुमसे व्यासपुत्र शुकदेवजीका यह दृष्टान्त कह रहा हूँ, जो तुम्हारे अपने ही दृष्टान्तके समान है, इसे सुनो । यह सुननेवाले मनुष्योंके जन्म-

मरणरूप संसारके अन्त ( मोक्ष ) का कारण है । वे जो तुम्हारे पिताके बगलमें अक्षनगिरिके समान इयाप तथा सर्युतुल्य तेजसी मगान् व्यास बैठे हैं, इनके शुकदेव नामसे प्रीसिद्ध एक महाज्ञानी पुत्र हुआ, जिसका मुख चन्द्रमाके समान सुन्दर था । शुकदेवजी सम्पूर्ण शान्तोंके ज्ञाता थे । वे एक दिन मन-ही-मन इस लोकगत्रां ( जागतिक व्यवहार ) पर विचार कर रहे थे । उस समय उनके हृदयमें भी तुम्हारी ही तरह विवेकका उदय हुआ । उन महामना शुकदेवने अपने विवेकसे सर्व ही चिरकालतक विचार करके जो परम मनोहर परमार्थ सत्य वस्तु ( या परमार्थ—साधनकी उच्च स्थिति ) है, उसे प्राप्त कर लिया । उसे प्राप्त करके भी उनके हृदयमें यही परमार्थ वस्तु ( सचिदानन्दधन परमात्मा ) है। ऐसा पूर्ण विश्वास नहीं हुआ; इसलिये उस परम वस्तुके खतः प्राप्त हो जानेपर भी उनके मनको शान्ति नहीं पिन्ची । इनना अवश्य हुआ कि उनके वित्तकी चञ्चलता दूर हो गयी और जैसे चातक वर्षाकी जलधाराके अतिरिक्त अन्य जलधाराओंसे मुँह मोड लेता है, उनी प्रकार उनका मन अत्यन्त क्षणमहुर भोगोंसे वित हो गया ।

एक दिन निर्मल बुद्धिवाले शुकदेवजीने मेहगिरि-पर एकान्त स्थानमें बैठे हुए अपने पिता मुनिवर श्रीकृष्ण-द्वैपायन व्याससे भक्तिभावके साथ पूछा—‘मुने ! यह संसाररूपी आहम्बर कैसे उत्पन्न हुआ है ? कैसे इसकी शान्ति या नाश होता है ? यह कितना बड़ा है ? किसका है ? और कश्तक रहेगा ?’ पुत्रके इस प्रकार प्रदन करने-पर आत्मज्ञानी मुनिवर व्यासने उन्हें जो कुछ बताने योग्य

बात थी, वह सब यथावत् एवं विशुद्ध रूपसे बता दी। उनका उपदेश मुमनेके अनन्तर शुकदेवजीने सोचा, यह तो मै पहले ही जान गया था। ऐसा विचारकर उन्होंने पिताजीके उस उपदेश-शाकपक्ष का अपनी ज्ञान बुद्धिके द्वारा अधिक आदर नहीं दिया। भगवान् व्यास भी अपने पुत्रके इस अभिग्रायको समझकर उससे बोले—‘बेटा! भूतल्पर जनक नामसे प्रसिद्ध एक राजा हैं, जो जाननेपेग्य तत्त्व ( सम्बिदानन्दघ्न परमारम्भको ) यथार्थरूपसे जानते हैं। उनसे तुम्हें समूर्ण तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जायगा।’



पिताके ऐसा कहनेपर शुकदेवजी सुमेरु पर्वतसे उनकर पृथ्वीपर आये और महाराज जनकके द्वारा पालित विदेहपुरीमें जा पहुँचे। वहाँ छवीदार द्वारपालोंने महाराजा जनकको यह सूचना दी—‘राजन्। राजद्वारपर व्यासजीके पुत्र शुकदेवजी खडे हैं।’ उन्होंने शुकदेवजीकी परीक्षा लेनेके लिये द्वारपालोंसे अवहेलनापूर्वक कहा—‘शुकदेवजी आये हैं तो वहाँ छहरें।’ ऐसा कहकर

राजा सात दिनोंतक चुपचाप बैठे रहे—उनकी कोई खोज-खबर नहीं ली। तत्पश्चात् राजा जनकने शुकदेवजीको राजमहलके ओंगनमें बुलवाया। वहाँ आनेपर भी शुकदेवजी पूरे सात दिनोंतक उसी प्रकार उपरत होकर बैठे रहे। इसके बाद जनकने शुकदेवजीको अन्तःपुरमें ले आनेकी आज्ञा दी, किंतु वहाँ भी राजाने सात दिनोंतक उन्हें दर्शन नहीं दिया। वे चन्द्रमाके समान मुखशाले शुकदेवजीका अन्तःपुरमें यौवनके भदसे उभरत्त कमलीय कान्तिवाली सुन्दरियोंद्वारा भौति-भौतिके गोबनों तथा भोगसामिलियोंसे लालन-गालन करते रहे।



परंतु जैसे मन्द गतिसे वहनेवाली वायु दृढ़मूल अविचल शृक्षको नहीं उखाड़ सकती, उसी प्रकार वे भोग तथा अनादर एवं उपेक्षाजनित दुःख मी व्यासपुत्रके मनको अपनी ओर खीच न सके, उसमें विकार पैदा न कर सके। शुकदेव वहाँ पूर्ण चन्द्रमाके समान निर्विकार, भोग और अनादरमें भी समान ( हर्ष-विषादसे रहित ), खस्त, मैन तथा प्रसन्न-विच्छ बने रहे।

इस प्रकार परीक्षाद्वारा शुकदेवजीके समावको जानकर राजा जनकने उन्हें सादर अपने गास शुल्कशया और प्रसन्नविच्छ देखकर प्रणाम किया । तत्पश्चात् शीघ्रतापूर्वक उनका खागत करके राजाने उनसे कहा—‘महान् । जगत् में परम पुरुषार्थकी सिद्धिके लिये जो-जो आकर्षक कर्तव्य हैं, वे सब आपने पूर्ण कर लिये हैं । सारे मनोरथोंको प्राप्त कर लिया है ( इस तरह आप कृतकृत्य तथा आसक्तम हो चुके हैं ) । अब आपको किस वस्तुकी हँडा है ।’

श्रीशुकदेवजीने कहा—‘महाराज । मैं जानना चाहता हूँ कि यह संसाररूपी आडम्बर कैसे उत्पन्न हुआ है और इसकी शान्ति या विनाश कैसे होता है । आप शीघ्र ही मुझसे इस विषयका यथार्थ रूपसे ग्रतिपादन कीजिये ।

श्रीविश्वामित्रजी कहते हैं—‘महाराज । इस प्रकार पूछे जानेवाला यजा जनकने शुकदेवजीको उस समय वही बात बतायी, जो पहले उनके महात्मा पिता व्यासजीके द्वारा बतायी गयी थी ।

तब शुकदेवजीने कहा—‘इसका ओरमें श्रेष्ठ महाराज ! मैंने पहले विवेकसे ख्यय ही यह बात जान ली थी । फिर जब पिताजीसे इसके विषयमें पूछा, तब उन्होंने मी मुझे यही बात बतायी और आज आपने भी यही बात कही है । शाकोंमें भी महावाक्योंका यही अर्थ दृष्टिगोचर होता है । वह हस प्रकार है—‘यह विनाशशील संसार अपने संकल्पसे उत्पन्न हुआ है और संकल्पका आत्मनिक विनाश होनेसे नह हो जाता है अतः सर्वधा निस्सार है । यही शाकोंका निष्पत्ति है ।’ महाबाहो । क्या यही अविचल सत्य है ? यदि हाँ, तो इसका इस तरह उपदेश कीजिये, जिससे यह मेरे

हृदयमें अचल—असंदिग्धरूपसे बैठ जाय । संसारके विषयोंमें घटकते हुए चित्तके द्वारा इधर-उधर घटकाया जाता हुआ मैं आज आपसे शान्ति लाभ करना चाहता हूँ ।

राजा जनकने कहा—‘मुने ! इस प्रश्नाएँ एक अवधि चिन्मय परम पुरुष परमात्माके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है । आपने खय विवेकके द्वारा इस वत्त्वको जाना है और फिर गुरुखरूप पिता के मुखसे इसको मुना है । इससे बढ़कर दूसरा कोई निष्पत्ति ( जानने योग्य सत्त्व ) नहीं है । मुनिकुमार ! आप बालक होते हुए भी विषयभोगोंके त्यागमें शूरबीर होनेके कारण महान् बीर हैं । आपकी शुद्धि दीर्घ कालतक बने रहनेवाले रोगलूपी भोगोंसे पूर्णतः विरक्त हो गयी है । अब आप और क्या मुनना चाहते हैं ! महान् ! जो प्राप्त करने योग्य वस्तु है, उसे पूर्णरूपसे आपने पा लिया है । आपका चित्त पूर्णकाम हो गया है । आप दृश्य वस्तु ( आद्य विषय ) की ओर दृष्टिपात नहीं करते हैं, बातः मुक्त है । अभी और कुछ पाना या जानना शेष रह गया है, इस भ्रमको त्याग दीजिये ।

( विश्वामित्रजी कहते हैं—‘श्रीराम ! । ) महाराज जनकके द्वारा इस प्रकार उपदेश पाकर शुकदेवजी अत्यन्त शुद्ध परम वस्तु परमात्मामें चुपचाप स्थित हो गये । उनके शोक, भय और श्रम—सभी नष्ट हो गये । वे सर्वधा निरीह एवं सशयरहित हो गये । तदनन्तर वे भेदगिरिके प्रशस्त शिखरपर समाधि लगानेके निये चले गये । वहाँ दस हजार वर्षोंतक निर्विकल्प समाधिमें स्थित हो और जैसे तेल समाप्त होनेपर दीपक युज जाता है, उसी प्रकार वे प्रारन्ध क्षीण हो जानेवर गरमात्मामें लीन हो गये ।

( सर्ग १ )

## विश्वामित्रजीका बसिष्ठजीसे श्रीरामको उपदेश करनेके लिये अनुरोध करना और बसिष्ठजीका उसे स्वीकार कर लेना

श्रीविश्वामित्रजी कहते हैं—मुनीश्चरो ! श्रीरामचन्द्रजीने ज्ञातव्य बस्तुको पूर्णतः जान लिया है; क्योंकि इन सुदृ-  
बुद्धिवाले श्रीरामको भोग अच्छे नहीं लगते। वे इन्हें  
रोगके समान प्रतीत होते हैं। जिसने ज्ञेय बस्तुको जान  
लिया है, उसके मनका अवश्य ही यही लक्षण है कि  
उसे सारे भोगसमूह फिर कभी रुचिकर नहीं जान  
पड़ते हैं। मोर्गोंके चिन्तनसे अज्ञान-जनित बन्धन ढङ्ग  
होता है और मोग-वासनाके शान्त हो जानेपर संसार-  
बन्धन क्षीण हो जाता है। \*

श्रीराम ! विद्वान् लोग भोगवासनाके क्षयको ही मोक्ष  
कहते हैं और विषयोंमें होनेवाली सुदृढ़ वासनाको ही  
बन्धन बताते हैं। जिसकी इष्टि राग आदि दोषोंसे रहित  
है, वही तत्त्वहूँ है। उसीने जाननेयोग्य बस्तुको जाना  
है और वही विद्वान् है। उस महात्मा पुरुषको भोग  
हठाद् अच्छे नहीं लगते। जैसे मरुभूमिमें लता नहीं  
ढगती, उसी प्रकार जबतक जाननेयोग्य तत्त्वका कुछ भी  
ज्ञान नहीं होता, तबतक मनुष्यके हृदयमें विषयोंकी ओरसे  
वैराग्य नहीं होता। अतः मुनिवृन्द ! आपलोग यह  
निष्क्रितरूपसे समझ लें कि रघुकुन्तनिलक श्रीरामको ज्ञेय  
तत्त्वका ज्ञान हो गया है; क्योंकि इन्हें ये मोर्गोंके रमणीय  
स्थान आनन्दित नहीं कर रहे हैं। मुनीश्चरो ! श्रीरामचन्द्रजी  
जिस तत्त्वको बुद्धिके द्वारा जानते हैं, उसके विषयमें  
जब सहृदके मुखसे यह सुन लेंगे कि ‘यही परमार्थ वस्तु  
है’ तब इनके चित्तको अवश्य विश्राम प्राप्त होगा। जैसे  
शरकालकी शोभा मेघरहित निर्मल आकाशमात्रकी  
अपेक्षा रखती है, उसी तरह श्रीरामचन्द्रजीकी बुद्धिको  
केवल अद्वितीय सम्बिदानन्दधन परमात्माके तत्त्वमें  
विश्रामकी अपेक्षा है। अतः महात्मा श्रीरामचन्द्रजीके

\* मोगभावनया याति बन्धो दार्ढ्यमवस्तुः ।

‘ तयोपशान्तवा याति बन्धो यगति तानपान् ॥ ’

चित्तके विश्रामके लिये ये पूज्यपाद श्रीवसिष्ठजी ही यहाँ  
बुद्धिका प्रतिपादन करें; क्योंकि ये समस्त रघुवंशियोंके  
ही ( नहीं, समूचे इक्षवाकुवंशियोंके ) सदासे प्रभु  
( नियन्ता परं शिक्षक ) और कुलगुरु हैं। इसके सिवा  
ये सर्वज्ञ, सर्वसाक्षी तथा तीनों कालोंमें मोह आदिसे रहित  
निर्मल दृष्टिवाले हैं।



पूज्यपाद वसिष्ठजी ! क्या यह पहलेकी बात आपको  
स्मरण है, जब कि हम दोनोंके वैरकी शान्ति तथा परम  
बुद्धिमान् मुनियोंके कल्याणके लिये देवदाहके बृक्षोंसे  
आवृत निषद पर्वतके शिखरपर साक्षात् परमयोग्यमि भगवान्  
व्रजाने महत्वपूर्ण ज्ञानका उपदेश दिया था ! ब्रह्मन् !  
उस बुद्धियुक्त ज्ञानसे यह सांसारिक वासना अवश्य उसी  
तरह नष्ट हो जाती है, जैसे भगवान् भास्करके उदयसे  
अँचेरी रात । निगम ! आप उसी बुद्धियुक्त ज्ञेय बस्तुका

अपने शिष्य श्रीरामको शीघ्र उपदेश दीजिये, जिससे ये विश्राम ( शान्ति ) को प्राप्त हों। इसमें आपको अधिक परिव्राम नहीं करना पड़ेगा; क्योंकि श्रीरामचन्द्रजी सर्वथा निष्पाप हैं। अनः जैसे निर्मल दर्पणमें बिना यज्ञके ही सुृष्टका प्रनिविन्द दिखायी देने लगता है, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्रजीको अनायास ही ज्ञेय वस्तुका बोध एवं विश्राम प्राप्त हो जायगा। महात्मन् । वही ज्ञान, वही शास्त्रार्थ और वही पाण्डित्य सार्थक एवं प्रशासित है, जिसका वैराग्यलुक उत्तम शिष्यके लिये उपदेश दिया जाता है। जिसमें वैराग्य नहीं है तथा जो शिष्यभावसे रहित है, उसे जो कुछ भी उपदेश दिया जाता है, वह कुत्तेके चमडेसे बने हुए कुप्येमें रख्ते हुए गायके दूधकी भोज्ञि अपत्रिताको प्राप्त हो जाता है। जहाँ आप-जैसे बीतराग, निर्मय, कौधशून्य, अभिमानरहित तथा निष्पाप महापुरुष

तत्त्वज्ञानका उपदेश देते हैं, वहाँ तत्काल शुद्धिको विश्राम प्राप्त होता है।

गविनन्दन विशामित्रके ऐसा कहनेपर व्यास और नारद आदि उन सभी मुनियोंने साधु-साधु कहकर उनके उस कथनकी ही भूरि-भूरि प्रशंसा की। तत्पर्याद् गाजा दशरथके बगलमें वैठे हुए व्रजाजी के पुत्र महातेजस्वी भगवान् वसिष्ठ मुनिने, जो व्रजाजीके समान ही ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न थे, कहा ।

श्रीवसिष्ठजी बोले—मुने ! आप जिस कार्यके लिये मुझे आज्ञा दे रहे हैं, उसे मैं बिना किसी विज्ञ-आधारके आरम्भ कर रहा हूँ। शक्तिशान्ती होकर भी संतोकी आङ्गाका उल्लङ्घन करनेमें कौन समर्थ हो सकता है ? पूर्वकालमें निषद् पर्वतपर पूजनीय पथयोनि व्रजाजीने सप्तारुणी भ्रमको दूर करनेके लिये जिस ज्ञानका उपदेश किया था, वह सब अविकल्पसे मुझे याद है । ( सर्ग २ )

## जगद्गी भ्रमरूपता एवं मिथ्यात्वका निरूपण, सदेह और विदेह मुक्तिकी समानता तथा शास्त्रनियन्त्रित पौरुषकी महत्त्वाका वर्णन

श्रीवसिष्ठजीने कहा—पूर्वकालमें सुष्टिके प्रारम्भके समय भगवान् ब्रह्माने सप्तारुणी भ्रमके निवारणके लिये जिस ज्ञानका उपदेश दिया था, उसीका मैं यहाँ वर्णन करता हूँ। यह जगत् सकल्यके निर्माण, मनोराज्यके निलास, इन्द्रजालद्वारा रचित पुष्पहार, कथाकहानीके अर्थके प्रतिभास, बातरोगके कारण ग्रन्तीत होनेवाले भूकृष्ण, बालकको ढारानेके लिये कान्तिप्रियाश, निर्मल आकाशमें कलिपत्र मोतियोंके ढेर, नामके चलनेसे तथा ग्रन्तीत होनेवाली वृक्षोंकी गति, सप्रमें देखे गये नगर अन्यत्र देखे गये फ़न्दोंके स्मरणसे आकाशमें कलिपत्र हुए पुष्पकी भोज्ञि अमद्वारा निर्भित हुआ है। मूस्यकालमें पुरुष खय आपने हृदयमें इसका अनुभव करता है।

इस प्रकार जगत् मिथ्या होनेपर भी चिरकालतक

अस्पन्त परिचयमें आनेके कारण घनीभाष ( दहता ) को ग्राप होकर जीवके हृदयाकाशमें प्रकाशित हो बढ़ने लगता है। यही ‘हृदयोक’ कहाजाता है। जन्मसे लेकर मृत्युतककी चेष्टाओं तथा मरण आदिका अनुभव करनेवाले जीव वही ( हृदयाकाशमें ही ) हृदयोककी कल्पना करता है, जैसा कि ऊपर कहा गया है। सिरमरनेके अनन्तर वह वही परलोककी कल्पना करता है। बासनाके भीनर अस्य अनेक शरीर और उनके भीनर भी दूसरे-दूसरे शरीर—ये इस संसारमें केलेके हृक्ष-की त्वचा ( छिन्नके वा बल्कल ) के समान एकके पीछे एक प्रतीत होते हैं ( वस्तुतः इस संसारमें कोई सार नहीं है )। न तो पृथिवी आदि पञ्च महाभूतोंके समुदाय हैं और न जगद्गी सुष्टिका कोई क्रम ही है। ये सब-के-सब मिथ्याहैं। तथापि मृत और जीवित जीवोंको

इनमें संसारका भ्रम होता है । यह अविद्यारूपिणी नदी ही है, जिसका कहीं अन्त नहीं है । यह विभिन्न धाराओंके रूपमें फैलती हुई शोभा पाती है । मूँह पुरुषोंके लिये यह इतनी विशाल है कि वे इसे पार नहीं कर सकते । सृष्टिरूपी चक्रल तरफ़ोंसे ही यह तरङ्गती जान पहसू है ।

श्रीराम ! परमार्थ सत्य ( परमात्मा ) रूपी विशाल महासागरमें बारंबार वे पुरानी और नयी सृष्टिरूप असंख्य तरफ़ों उठती और खिलीन होती रहती हैं । इस समय महाकल्पका अवश्यमूल बहुतरवर्षों त्रेतायुग चल रहा है । यह पहले भी अनेक बार ही उका है और आगे भी होता रहेगा । यह वही पहलेवाला त्रेतायुग है और उससे विलक्षण भी । ये जितने लोक हैं, वे भी पूर्ववद् हुए हैं और उनकी अपेक्षा नवीन भी हैं । इसी प्रकार तुम श्रीराम भी अनेक बार त्रेतायुगमें अवतार ले उके हो और मविष्यमें भी लोगे । मैं भी कितनी ही बार वसिष्ठ-रूपमें उत्पन्न हो उका हूँ और आगे भी होऊँगा । हमारे ये सभी रूप पूर्वके त्रुट्य होंगे और उनसे मिन्न भी । इस बातको मैं बच्छी तरह जानता हूँ । सभी प्राणी कभी धन-वैभव, बन्धु-बान्धव, अवस्था, कर्म, विद्या, विज्ञान और चेष्टाओंमें पूर्वकल्पोंके समान होते हैं और कभी नहीं भी होते । जो अविद्यारूपी आवरणसे रहित है, जिसका अन्तःकरण एकाग्र हो उका है, जिसके सभी संकल्प-विकल्प शान्त हो उके हैं तथा जो सरूपमूल सारतत्त्व ( सच्चिदानन्दघन )—मय हो गया है, वह विद्वान् पुरुष परम शान्तिरूपी अमृतसे तृप्त रहता है ।

सौम्य श्रीराम ! समुद्रकी जलराशि शान्त हो या उत्ताल तरफ़ोंसे झुक, दोनों दशाओंमें उसकी जलरूपता समान ही है— उसमें किसी प्रकारका अन्तर नहीं है । उसी तरह देहके रहते हुए और उसके न रहनेपर भी मुक्त महात्मा मुनिकी स्थिति एक-सी ही होती है, उसमें

कोई मेद नहीं होता है । सदेह मुक्ति हो या विदेहमुक्ति, उसका विषयोंसे कोई सम्बन्ध नहीं है । जिसने सत्य मानकर भोगोंका आखादन ही नहीं किया, उस पुरुषमें भोगोंकी अनुभूति कहाँसे होगी ? जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त दोनों ही प्रकारके महात्मा बोधस्तरूप हैं । उनमें क्या मेद है ? ( इन दोनोंमें मेद करनेवाला है क्षमान । उसके नष्ट हो जानेपर जब केवल ज्ञान ही अवशिष्ट रह जाता है, तब उन दोनोंमें मेद कौन हो सकता है ? ) जैसे समुद्रकी तरफ़ावस्थामें जो जल है, वही उसकी प्रशान्ता-वस्थामें भी है—उसमें कोई अन्तर नहीं है । सदेह और विदेहमुक्तमें योहा-सा भी मेद नहीं है । पवन सत्यन्द ( वेगवान् ) हो या निष्पन्द ( शान्त अथवा वेगहीन ), दोनों ही दशाओंमें वहही वायु ही ।

अतः अब मैं जिसका प्रकरण चल रहा है, उस उत्तम ज्ञानका ही उपदेश कर रहा हूँ, तुम उसका निरूपण मुझो । यह ज्ञान कारोंका आभूषण है और अज्ञानरूपी अन्धकारका नाश करनेवाला है । रथुनन्दन । इस संसारमें सदा अच्छी तरह पुरुषार्थ ( प्रयत्न ) करनेसे सबको सब कुछ मिल जाता है । ( जहाँ कहीं किसीको असफल देखा जाता है, वहाँ उसके सम्बन्ध प्रयत्नका अभाव ही कारण है । ) साधनके परिपक्व होनेपर हृदयमें, जैसे चन्द्रमासे शीतलतायुक्त आहाद प्राप्त होता है, उसी प्रकार सच्चिदानन्दवन परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप अतिशय शीतल आनन्दका उदय होता है । यह आरथितिक आनन्द पुरुषके प्रयत्नसे ही प्राप्त हो सकता है, अन्य हेतु ( प्रारब्ध ) से नहीं । ( इसलिये पुरुषको प्रयत्नपर ही निर्भर रहना चाहिये । ) शाश्वत सत्यरूपोंके बताये हुए मार्गसे चलकर अपने कल्पाणके लिये जो मानविक, वाचिक और कार्यिक चेष्टा की जाती है, वही पुरुषार्थ है और वही सफल चेष्टा है । उससे मिन्न जो शास्त्र-विपरीत मन्माना आवरण है, वह पागलोकी-सी चेष्टा है । जो मनुष्य, जिस पदार्थको पाना चाहता है, उसकी

प्राप्तिके लिये यदि वह क्रमशः पन करता है और वीचमें ही उससे मुँह नहीं मोड़ लेता तो अवश्य उसे प्राप्त कर लेता है । कोई एक विशेष प्राणी ही पुरुषोंचित प्रयत्नके द्वारा तीनों लोकोंके ऐवर्यसे युक्त होनेके कारण परम सुन्दर प्रतीत होनेवाली इन्द्रपदशीको प्राप्त हो गया है । निम्नतर अल्पमें लगे रहकर सुदृढ़ अभ्यासमें तत्पर हुए बुद्धिमान् और साहसी पुरुष मेरुपर्वतको भी निगल जानेकी शक्ति प्राप्त कर लेते हैं । शुलि-सृष्टि आदि शास्के नियन्त्रित पुरुषार्थके सम्पादनमें तत्पर जो पुरुषका पौरुष ( उथोग ) है, वही मनोवाञ्छित फलकी सिद्धिका

कारण होता है । शास्के विपरीत किया हुआ प्रयत्न अनर्थकी ही प्राप्ति करनेवाला होता है । कोई पुरुष जब शास्कीय प्रयत्नको शिखिल कर देता है, तब खयं दण्डिता, रोग और बन्धन आदि अपनी दुर्देशाके कारण वह देसी अवस्थामें पहुँच जाता है, जहाँ उसके लिये पानीकी एक बूँद भी बहुत समझी जाती है । ( हुर्लभ दो जाती है ); परंतु किसीको शास्कानुसार आचरणके प्रभावसे ऐसी उत्तम अवस्था प्राप्त होती है, जहाँ समृद्ध, पर्वत, नगर और द्वीपोंसे व्याप्त विशाल भूमण्डलका साप्राप्त भी अधिक नहीं समझा जाता ( वह अनायास सुलभ हो जाता है ) । ( सर्ग ३-४ )

### शास्के अनुसार सत्कर्म करनेकी प्रेरणा, पुरुषार्थसे भिन्न प्रारब्धवादका खण्डन तथा पौरुषकी प्रधानताका प्रतिपादन

श्रीकृष्णजी कहते हैं— रघुनन्दन ! जैसे नीले, पीले आदि मिन्न-मिन्न रंगोंकी अभिव्यक्तिमें प्रकाशा ही मुख्य कारण है, उसी प्रकार शास्के अनुसार मन, वाणी और शरीरद्वारा व्यवहार करनेवाले अधिकारी पुरुषोंके समस्त पुरुषार्थोंकी सिद्धिमें उससाहपूर्वक प्रवृत्ति ही प्रधान साधन है । मनुष्य केवल मनसे किसी वस्तुकी इच्छा करता है, शास्कानुसार कर्मसे नहीं, वह पागलोंकी-सी चेष्टा करता है । उसकी वह चेष्टा केवल मोहमें ढालनेवाली है, पुरुषार्थको मिद्द करनेवाली नहीं । जो मनुष्य जैसा प्रयत्न ( कर्म ) करता है, वह वैसा ही फल भोगता है, ( जो वह कहते हैं कि दैववश फलमें विपरीतता भी आ जाती है तो उनका कथन ठीक नहीं; क्योंकि ) अपना पूर्वजृत कर्म ही फल देनेके लिये उभयों होनेपर दैव कहलाता है । उससे अतिरिक्त दैव नामकी कोई वस्तु नहीं दिखायी देती । पुरुषार्थ दो प्रकारका है— एक शास्कानुमोदित ( पुण्य-कर्म ) और दूसरा शास्कविरुद्ध ( पाप-कर्म ) । इन दोनोंमें जो शास्कविरुद्ध पुरुषार्थ है, वह अनर्थका कारण होता है और शास्कानुमोदित पौरुष

परमार्थ कस्तुकी प्राप्तिमें कारण है । इसलिये पुरुषको शास्कीय प्रयत्नसे तथा साधु पुरुषोंके सङ्गसे ऐसा उथोग करना चाहिये कि इस जन्मका पौरुष पूर्वजन्मके पौरुष ( प्रारब्ध ) को शीघ्र जीत ले । अपने उत्तम पुरुषार्थका आश्रय लेकर दौतोंसे दौतोंको पीसते हुए ( तत्परता-पूर्वक प्रयत्नमें लगे हुए ) पुरुषको अपने शुभ पौरुषके द्वारा विन करनेके लिये उघत पूर्वजन्मके अशुभ पौरुषको जीत लेना चाहिये । ‘यह पूर्व जन्मका पुरुषार्थ ( प्रारब्ध ) मुझे ग्रेरित करके विशेष परिस्थितिमें ढाल देता है, इस प्रकारकी बुद्धिको बलपूर्वक ऊचल ढालना चाहिये; क्योंकि वह प्रत्यक्ष प्रयत्नसे अधिक प्रबल नहीं है । तबतक प्रयत्नपूर्वक उत्तम पुरुषार्थके लिये सचेष्ट होना चाहिये, जबतक कि पूर्वजन्मका अशुभ पौरुष खयं पूर्णतः शान्त न हो जाय । अर्थात् जबतक पहले जन्मोंका किया हुआ अशुभ कर्म समूल नष्ट न हो जाय, तबतक तत्परतासे उससाहपूर्वक साधन करते रहना चाहिये ।

जैसे अपने द्वारा कल गठित हुए दोगका जान

प्रायकित्त कर लेनेपर नाश हो जाता है, उसी प्रकार इस जन्मके गुणोंसे ( शुभ पौरुषसे ) पूर्व-जन्मका दोष ( अशुभ पौरुष ) अवश्य नष्ट हो जाता है, इसमें कोई संशय नहीं है । पूर्वजन्मके अशुभ या हुःखदायक प्रारब्धको इस जन्मके शुभ कमोंसे विशुद्ध एवं पुष्ट हुई बुद्धिके द्वारा तिरस्कृत करके संसार-सागरसे पार होनेके उद्देश्यकी सिद्धिके लिये अपने भीतर दैवी सम्पत्तिके संग्रहके निमित्त सदा यत्न करना चाहिये । उषोगशून्य आल्सी मनुष्य गदहोंके समान गये-बीते हैं । अतः स्वयं भी उषोग छोड़कर उन्हींकी ओणी या तुङ्गमामें नहीं जाना चाहिये । शाकके अनुसार किया हुआ उषोग हहलोक और परलोक दोनोंकी सिद्धिमें कारण है । मनुष्यको पुरुषार्थरूपी प्रयत्नका आश्रय लेकर इस संसाररूपी गढ़ेसे स्वयं बलपूर्वक निकल जाना चाहिये । अपने शरीरको प्रतिरिद्दि नाश होता हुआ समझे । पशुओं-के समान आचरणका स्थाग करे और सत्पुरुषोंके योग्य आचार-व्यवहारका आश्रय ले । जैसे कीदा घावमें पीव आदिका आखादन करके ही अपना जीवन समझ कर देता है, उसी तरह मनुष्यको घरमें खी, अन्न, पान आदि द्रवयुक्त एवं कोमल तुङ्ग पदार्थोंका किञ्चित् आखाद लेकर सम्पूर्ण पुरुषार्थोंके साधनभूत आयुको भूम्त नहीं कर देना चाहिये ( मानव-जीवनको व्यर्थ नहीं गवाँ देना चाहिये ) । शुभ पुरुषार्थसे शीघ्र ही शुभ फलकी प्राप्ति होती है और अशुभ पुरुषार्थसे सदा अशुभ फल ही मिलता है । इन शुभ-अशुभ पुरुषार्थोंके सिवा दैव नामकी यूसरी कोई वस्तु नहीं है ( इन्हींका नाम दैव या प्रारब्ध है ) । इसलिये पहले पुरुषार्थके द्वारा विवेकका आश्रय लेकर आस्मानरूपी महान् प्रयोजनवाले शास्त्रोंका विचार करना चाहिये । जो शाकके अनुसार अपनी श्रवण, मनन आदि चेष्टाओंद्वारा साधन नहीं करते और चित्तमें विषयोंका ही चिन्तन करते रहते हैं, उन मूँह पुरुषोंकी

अस्पन्त दूषित भोगेष्ठाको विकार है । पूर्वोक्त पुरुषप्रयत्न यदि सद्-शाश्वते के अनुकूल तथा सत्सङ्ग और सदाचारसे युक्त होता है तो वह परमात्मसाक्षात्काररूप अपने फलको देता है । यह उसका खामाव है । अन्यथा ( सद्-शाश्वते के प्रतिकूल तथा सत्सङ्ग और सदाचारसे रहित होनेपर ) उससे परमात्म-साक्षात्काररूप परम फलकी सिद्धि नहीं होती । यही पौरुषका खरूप है । इस प्रकार व्यवहार करनेवाले किसी भी पुरुषका प्रयत्नकभी विफल नहीं होता । वास्त्यावस्था-से लेकर भलीभाँति अस्यासमें लाये हुए सद्-शाश्वतानुतीलन और सत्पुरुषोंके सङ्ग आदि सद्गुणोंद्वारा पुरुषार्थ करनेसे परम स्वार्थरूप परमात्मसाक्षात्कार प्राप्त होता है । इस प्रकार प्रस्त्रक्ष प्रस्त्रक्ष देखी हुई, अनुभवमें आयी हुई, सुनी हुई और साधनोंद्वारा प्राप्त की हुई परमार्थ वस्तुको जो लोग दैवके अधीन मानते हैं, उनकी शुद्धि कुप्रिति है और वे साधनसे नष्ट-ब्रह्म हो गये हैं । निरन्तर कल्पित क्रीदाओं ( खेळ-कूद ) के कारण अस्पन्त चक्षलतापूर्ण वास्त्यावस्थाके व्यतीत हो जानेपर जब ( दुखी और गुरुजमोंकी सेवामें समर्थ ) बाहुदण्डसे अलंकृत यौवन-व्यवस्थाका आरम्भ हो जाय, तभीसे मनुष्यको पद-पदार्थके ज्ञानसे विशुद्ध-बुद्धि होकर सत्पुरुषोंके सङ्गसे अपने गुणों और दोषोंका विचार करना चाहिये । तात्पर्य यह कि विचारपूर्वक दोषोंको स्थाग करके गुणोंको प्रहण करना चाहिये ।

श्रीचात्मीकिंजी कहते हैं—भरदाज ! मुनिवर वसिष्ठजीके इस प्रकार प्रश्नचन करनेपर वह दिन व्यतीत हो गया । सूर्यदेव अस्ताचलको चले गये तथा उस सभाके लोग वसिष्ठजीको नमस्कार करके सायंकालिक कृत्य ( संध्योपासना और अग्निद्वोष आदि ) करनेके लिये चले गये और गति व्यतीत होनेपर पुनः सूर्यदेवकी किरणोंके साथ ही उस सभाभवनमें आ गये । . . . ( सर्ग ५ )

## ऐहिक पुरुषार्थकी श्रेष्ठता और दैववादका निराकरण

श्रीसिद्धजी कहते हैं—श्रीराम। पूर्वजन्मके पौरुषसे मिज दैव कोई बस्तु नहीं है ( पूर्वजन्मोंका पुरुषार्थ ही दैव है )। इसलिये व्यं दैवके अधीन हूँ, कर्म करनेमें सतत नहीं हूँ ऐसी बुद्धि या विचारधाराको सत्सङ्ग तथा सत्-शास्त्रके अभ्यासद्वारा मनसे दूर करके जीवात्माका इस संपार सागरसे बलपूर्वक उद्धार करे ( आलत्यवश सत्कर्म अथवा साधन कभी नहीं छोड़े )। जैसे-जैसे प्रयत्न होगा, वैसे-ही-वैसे शीघ्रनापूर्वक फल प्राप्त होगा। इसीका नाम पौरुष है। पूर्वजन्मके उस पौरुषको ही कोई दैवकी संहा देना चाहे तो दे सकता है। जो तुम्ह विषय-मुद्दोंके क्षणिक लोमये फैसकर उस पूर्वकृत पौरुष या दैवको बतौमान जन्मके पुरुषार्थद्वारा जीतनेका प्रयत्न नहीं करते और सदा दैवके भरोसे बैठे रहते हैं, वे दीन, पापर और मृग हैं ( क्योंकि पुरुषार्थके बिना आध-कल्याण सिद्ध नहीं होता )। पूर्वजन्मके तथा इस जन्मके पुरुषार्थ ( कर्म ) दो भेदोंकी तरह आपसमें लडते हैं। उनमें जो भी बलवान् होता है, वही दूसरेको क्षणभरमें पछाड़ देता है। इस जन्ममें किया गया प्रबल पुरुषार्थ अपने बलसे पूर्वजन्मके पौरुष या दैवको नष्ट कर देता है और पूर्वजन्मका प्रबल पौरुष इस जन्मके पुरुषार्थको अपने बलसे दबा देता है। पूर्वकृत कर्मके फललूप प्रारब्ध

\* वैसे पूर्वजन्मके किंतु प्रतिबन्धक कर्मके कारण किंतु भनुष्यको पुञ्चकी प्राप्ति नहीं होनेवाली है; परन्तु यदि वह पुर्व-प्राप्तिके लिये शास्त्रीय विधानके साथ पुनर्वेष्टित अग्रणी उद्दी कोटिके दूसरे किंतु सत्कर्मका अनुष्ठान करता है तो उसे पुरुषकी प्राप्ति हो जाती है। यहाँ पूर्वजन्मके प्रतिबन्धक कर्मसे इस कर्मका पुरुषार्थ अथिक बलवान् होनेके कारण नवीन प्रारब्धका निर्माण करके विकसी हो जाता है। इसी प्रकार पूर्वजन्मके कर्मानुसार यदि किंतुकी मृत्यु अवश्यम्याधी है तो उसके प्रतीक्षाकरके लिये अनेक प्रभासके उपाय करनेपर भी मृत्यु उसे टाक नहीं पाता। अतः यहाँ पूर्वकृत कर्म ( दैव या प्रारब्ध ) ही प्रबल होनेके कारण विकसी होता है।

और वर्तमान जन्मके पुरुषार्थ—इन दोनोंमें वर्तमान जन्मका पुरुषार्थ ही प्रत्यक्षतः बलवान् है, इसलिये अधिकतरी मनुष्यको पुरुषार्थका सहारा लेकर सत्-शास्त्रोंके अभ्यास और सत्सङ्गद्वारा बुद्धिको निर्मल बनाकर संसार-सागरसे अपना उद्धार कर लेना चाहिये। इस जन्मके ओर पूर्व-जन्मके दोनों पुरुषार्थ पुरुषरूपी बनमें उपर्यन्त हुए फल देनेवाले बृश हैं। उन दोनोंमें जो अधिक बलवान् होता है, वही विजयी होता है ( अर्थात् धर्मचरण और मुक्तिके विषयमें तो इस जन्मका पुरुषार्थ बलवान् है और अर्थ एवं कामके विषयमें पूर्वजन्मका फलदानोमुख कर्म या दैव प्रबल है । )

जो पुरुष उदार खमालसे युक्त एवं सत्कर्मके लिये प्रयत्न करनेमें कुशल है, सदाचार ही जिसका छीला-विहार है, वह जगत्के मोहरूपी फैदेसे उसी प्रकार निकल जाता है, जैसे सिंह पिंडहेसे। जो मनुष्य दृष्ट ( पुरुषार्थ या परम कल्याणके लिये प्रयत्न ) का स्थाग करके ‘मुझे तो कोई रेता करनेके लिये प्रेरित कर रहा है, देसी अनर्थकारिणी कुसित कल्पनामें स्थित है, उसे दूरसे ही स्थाग देना चाहिये; क्योंकि वह मनुष्योंमें अशम है। संसारमें सहस्रों व्यवहार हैं, जो आते-जाते रहते हैं। उनमें सुख और दुःख बुद्धि ( अनुकूलता तथा प्रतिकूलताजनित राग-द्रूप ) का स्थाग करके शास्त्रके अनुसार आचरण करना चाहिये। शास्त्रके अनुकूल और कभी उल्लिखन न होनेवाली कर्मनी मर्यादाका जो स्थाग नहीं करता, उस पुरुषके सारी अभीष्ट वस्तुएँ उसी प्रकार प्राप्त होती हैं, जैसे सागरमें गोता लगानेवालेको रन। सुखकी प्राप्ति और दुःखकी निवृत्ति—यही मनुष्यका खार्य है। उस स्वार्थकी प्राप्ति करनेवाले जो आवश्यक कर्तव्य या साधन हैं, एकमात्र उन्हींमें सत्य रहनेको ही विद्वान् लोग पौरुष कहते हैं। वह तत्परता यदि शास्त्रसे नियन्त्रित हो तो परम पुरुषार्थकी

प्राप्ति करनेवाली होती है। कर्तव्यपालनके लिये जो शरीर आदिका संचालन होता है, वही जिसका धर्म है, उस क्रिया ( श्रवण-मनन आदि साधन ) से, सत्सङ्गसे और सत्-शास्त्रोंके स्वाध्यायसे शुद्ध एवं तेज की दृष्टि अपनी बुद्धिके द्वारा जो स्त्रयं ही आत्माका उद्धार किया जाता है, वही परम स्वार्थकी सिद्धि है। विद्वान्लोग अन्तरहित, समतारूप परमानन्दसे पूर्ण परमार्थ वस्तु ( परमात्मा ) को मानते हैं। जिन साधनोंसे उसकी प्राप्ति होती है, उनका नित्य-निरन्तर सेवन करना चाहिये। वे साधन हैं शास्त्रोंका स्वाध्याय और सत्सङ्ग आदि। जो मनुष्य प्रयत्नपूर्वक आत्म-कल्याणके साधनमें संलग्न होता है, उसे अपने पुरुषार्थसे ही हृष्पर रक्खे हुए औंचलेकी पाँति वह अमीष फल प्रयत्न दिखायी देता है। जो इस प्रत्यक्ष पुरुषार्थको छोड़कर दैवरूपी मेहमें निमग्न होता है, वह मृद है।

अतः शुभाशय श्रीराम ! अपनी कोरी कल्पनाके बख्से उत्पन्न, मिथ्याभूत तथा सम्पूर्ण कारण और कार्यसे रहित दैवकी अपेक्षा न रखकर आत्मकल्याणके लिये अपने उत्तम पुरुषार्थका आश्रय लो। शास्त्रोद्वारा नथा महापुरुषोंके सदाचारसे विस्तारको प्राप्त हुए विषेश देश धर्मोद्वारा समर्पित जो परमात्माकी प्राप्तिरूप अतिशय प्रसिद्ध फल है, उसके लिये हृष्पमें अत्यन्त उत्कृष्ट अभिलाषा होनेपर उसकी प्राप्तिके लिये चित्तमें स्पन्दन या चेष्टा

होती है। तत्पश्चात् इन्द्रियों और हाथ-पैर आदि अङ्गोंमें क्रिया होती है—इनके द्वारा श्रवण-मनन आदि एवं यम-नियमादि साधनोंका आरम्भ होता है, इसीके उत्तम पुरुषार्थ कहते हैं। अधिकारी पुरुषका जन्म पुरुषार्थके सिद्ध होनेपर ही सफल होता है, अन्यथा नहीं—ऐसा जानकर सदा आत्मकल्याणके प्रयत्नमें ही संलग्न रहना चाहिये। तत्पश्चात् साधनविषयक उस तत्पत्ताको सत्-शास्त्रोंके अस्यास एवं संत-महात्माओं तथा ज्ञानी पुरुषोंके सेवनद्वारा आत्मज्ञानरूप फलकी ग्राहिते सुफल बनाना चाहिये। आत्मकल्याणके विषयमें यदि परम पुरुषार्थका आश्रय लिया जाय तो यह अवश्य दैवको जीत लेता है, ऐसी धरणा रखकर दैव और पौरुषके बलापलक्ष्मि विचार करनेके कारण जो परम सुन्दर प्रतीत होते हैं तथा जिनमें शाम, दम आदि साधन भी विचारन हैं एवं श्रेष्ठ पुरुषोंकी सेवा से जिनका अन्त करण सदा भावित रहता है, ऐसे अधिकारी पुरुषोंको तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये अश्रव्य उत्थम करना चाहिये। इस जन्ममें समादन करनेयोग्य सामाजिक प्रयत्न ही परम पुरुषार्थकी सिद्धिका हेतु है, ऐसा निश्चितरूपसे जानकर यह अधिकारी जीव नित्य संतुष्ट एवं उत्तम ज्ञानीजनोंकी सेवारूप अमोघ, मधुर और उत्कृष्ट औषधसे जन्म मरणकी परम्परारूप भवरोगको शान्त करे।

( सर्ग ६ )

### विविध शुक्तियोद्वारा दैवकी दुर्बलता

जो लोग उत्थोगका त्याग करके केवल दैवके प्रत्योंसे बैठे रहते हैं, वे आलसी मनुष्य स्त्रयं ही अपने शत्रु हैं। वे अपने धर्म, धर्म, काम और मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंका नाश कर डालते हैं। \* बुद्धि, मन और कर्मनिश्चयोंके द्वारा की जानेवाली चेष्टाएँ पौरुषके रूप हैं। इन्होंने अमीष फलकी प्राप्ति होती है। साक्षी चेतनमें पहले जैसी

और पुरुषार्थकी प्रधानताका समर्थन विषयकी अनुमूलि होती है, मन वैसी ही चेष्टा करता है। मनके व्यापारके अनुसार शरीर चलता है—शारीरिक क्रिया होती है और उसके अनुसार ही फलकी सिद्धि होती है। लोकमें जहाँ-जहाँ जैसे-जैसे पुरुषार्थकी आश्रयकला होती है, वहाँ-वहाँ वैसे-ही-वैसे पौरुषके उपरोगसे तद्वरुलप लौकिक या वैदिक फलकी सिद्धि होती है। पुरुषार्थसे ही बृहस्पति देवताओंके गुरु बने हुए हैं और पुरुषार्थसे शुक्राचार्यने देत्यराजोंके गुरुका पद प्राप्त किया

\* ये सदुयोगमुस्तुज्य खिता दैवप्रायणाः ।

ते धर्ममर्ये कामं च नाशयन्त्यात्मविद्विशः ॥

( मुसुकु० ७ । ३ )

है। जो नाना प्रकारके आश्वर्यजनक वैमनके आश्रय (अधिपति) थे और वैमनमोगकी दृष्टिसे महान् समझे जाते थे, ऐसे पुरुष भी अपने दोषयुक्त गौश्व (पापाचरण) से ही नरकोंके अतिथि हुए हैं—उच्च पदवीसे भ्रष्ट हो गये हैं। सहस्रों सम्पदाओं और हजारों विपत्तियोंसे पूर्ण नाना प्रकारकी अनुकूल-प्रतिकूल दशाओंमें पढ़े हुए विभिन्न जातियोंके ग्राणी अपने पुरुषार्थसे ही उन्हें लौंघकर कल्पाणके मार्गपर अप्रसर होते हैं। शास्त्रोंके अध्यास, गुरुके उपदेश और अपने प्रयत्न—इन तीनोंसे ही सर्वत्र पुरुषार्थकी सिद्धि देखी जाती है। कल्पाणकामी पुरुष अशुभ कर्मोंमें लो हुए मनको बहासि हटाकर प्रयत्न-पूर्वक शुभ कर्मोंमें ही लगाये। यही समूर्ग शास्त्रोंके साधारणका संभव है। वहस ! जो वस्तु कल्पाणकारी है, जो तुच्छ नहीं (सबसे उत्कृष्ट) है तथा त्रिसक्ता कमी विनाश नहीं होता, उसीका यज्ञपूर्वक आचरण करो। यही सब शुभजन उपदेश देते हैं। पौरुषसे ही अभीष्ट वस्तुकी सिद्धि होती देखी जाती है। पौरुषसे ही बुद्धिमानोंकी कल्पाणमार्गमें प्रगति होती है। दैव तो हुँख-सागरमें हूँवे हुए कोमल एवं दुर्बल वित्तशाले लोगों-के लिये आशासनमात्र है।

लोकमें प्रस्तुक आदि प्रमाणोंद्वारा पुरुषका प्रयत्न सदा सफल होता देखा जाता है। पुरुष अपने पौरुषसे ही देशान्तरमें आता-जाता है। उत्तम बुद्धिवाले मनुष्य पौरुषसे ही उन भीषण संकटोंसे अनायास पार हो जाते हैं, जिनसे पार पाना अव्यन्त कठिन होता है। यह जो व्यर्थ दैवकी कल्पना की गयी है, उसके भरोसे वे संकटोंसे पार नहीं होते। जो मनुष्य जैसा प्रयत्न करता है, उसे वैसा ही फल प्राप्त होता है। इस जगत्में चुपचाप बैठे रहनेवाले किसी भी मनुष्यको अभीष्ट कलकी

प्राप्ति नहीं होती। श्रीराम ! शुभ पुह्यार्पणे शुभ फल प्राप्त होता है और अशुभ पुरुषार्पणे अशुभ। अतः तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा करो। अपने परम अभीष्ट वस्तुको प्राप्त करानेवाले एकमात्र कार्यके प्रयत्नमें जो तत्पर हो जाना है, उसीको विद्वान् पुरुष पौरुष कहते हैं। उस तात्परतासे ही सब कुछ प्राप्त किया जाता है। अपने पैरोंद्वारा एक स्थानसे दूसरे स्थानमें जाना, हाथका किसी दृश्यको धारण करना तथा दूसरे-दूसरे बड़ोंका तदनुकूल व्यापारमें प्रवृत्त होना—यह सब पुरुषार्थसे ही सम्भव होता है, उससे नहीं। अनथेकी प्राप्ति करानेवाले एकमात्र कार्यके प्रयत्नमें जो तत्पर होना है, उसे विद्वानोंने पागलोंकी-सी चेष्टा बतायी है। उससे कोई भी शुभ फल नहीं प्राप्त होना (अशुभ फलकी ही प्राप्ति होती है)। कर्नवल-पालनके लिये जो शरीर आदिका संचालन होता है, वही जिसका धर्म है, उस क्रियासे, सत्सङ्घमें और सत्-शास्त्रोंके साध्यायसे शुद्ध एवं तेज की हुई अपनी बुद्धिके द्वारा जो स्थूल आत्माका उत्तर किया जाता है, वही परम स्वार्थकी सिद्धि है। विद्वान्लोग अनन्त, समतारूप परमानन्दसे पूर्ण अपने परम प्राप्त अर्थ (परमात्मा परमात्मा) को जानते हैं। जिन साधनोंसे उसकी प्राप्ति होती है, उन्होंका नित्य-निरन्तर सेवन करना आहिये। वे साधन हैं शास्त्रोंके साध्याय और सत्सङ्घ आदि। जैसे शरस्कालमें सरोंवर और कमल एक दूसरेकी शोभा बढ़ाते हैं, उसी प्रकार सद्बुद्धिसे सत्-शास्त्रोंका अध्यास और सत्सङ्घरूपी गुण क्रियासित होता है तथा सत्-शास्त्रोंके स्वाध्याय और सामग्र-रूपी गुणसे सद्बुद्धिकी धृद्धि होती है। चिरकालके अध्याससे ये दोनों एक दूसरेके वर्धक और पोषक होते हैं। बाल्यावस्थासे ही पूर्णतः अध्यासमें लाये गये शास्त्र और सत्सङ्घ आदि गुणोंसे पौरुषद्वारा अपना हितकारी स्वार्थ सिद्ध होता है।

( सर्ग ७ )

## पुरुषार्थकी प्रबलता बताते हुए दैवके खलूपका विवेचन तथा शुभ वासनासे युक्त होकर सत्कर्म करनेकी व्येषणा

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! बताओ तो मही, इस लोकमें जो शूरवीर, पराक्रमी, बुद्धिमान् और पण्डित हैं, वे किस दैवकी प्रतीक्षा करते हैं ? इन महामुनि विश्वामित्रजीने दैवको दूरसे ही त्यागकर पौरुषसे ही ब्राह्मणत्व प्राप्त किया है, और किमी साधनसे नहीं। हमने तथा दूसरे-दूसरे पुरुषोंने, जो इस समय मुनि-पदवीको प्राप्त हैं, विश्वालतक किये गये पौरुषसे ही आकाशमें विवरण करनेकी शक्ति प्राप्त की है। हिरण्यकशिरु आदि दानवेन्द्रोंने पुरुषोचित प्रयत्नसे ही देवसमुदायको दूर मगाकर त्रिलोकीका साम्राज्य प्राप्त किया था। सिर इन्द्र आदि देवेश्वरोंने पुरुषोचित प्रयत्नसे ही शत्रुसेनाको छिन्मिळ एवं जर्जर करके दानवोंसे बलपूर्वक इस विशाल जगत्का राज्य छीन लिया था।

श्रीरामने पूछा—भगवन् ! आप सब धर्मोंके ज्ञाता हैं। भगवन् ! लोकमें जो वही प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका है, वह दैव क्या है ? किसे दैव कहते हैं, यह बताइये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! अवश्यम्मावी फलसे सुशोभित होनेवाले पुरुषार्थके द्वारा प्राप्त हुए फलका जो शुभ और अशुभ मोग है, उसीको 'दैव' शब्दसे कहा जाता है। अथवा पौरुषद्वारा इष्ट और अनिष्ट कर्मका जो प्रिय और अप्रियरूप फल प्राप्त होता है, उसीको 'दैव' नाम दिया गया है। एकमात्र पुरुषार्थसे सिद्ध होनेवाला जो अवश्यम्मावी फल है, वही इस जनसमुदायमें 'दैव' शब्दसे प्रतिपादित होता है। सिद्ध पुरुषार्थके शुभ और अशुभ फलका उदय होनेपर जो यह कहा जाता है कि 'यह इसी रूपमें मिलनेवाला था—यही होनहार थी,' इसीको 'दैव' कहते हैं। कर्मफलकी प्राप्ति होनेपर जो यह कहा जाता है कि 'ऐती ही मेरी बुद्धि हुई थी, ऐसा ही मेरा निष्ठय था,' इसीका नाम 'दैव' है। इष्ट

और अनिष्ट फलके प्राप्त होनेपर जो आशासनमात्रके लिये यह कहा जाता है कि 'मेरा पूर्वजन्मका कर्म ही है सो था' इस तरहकी माध्यमको व्यक्त करनेवाला वचन ही 'दैव' कहलाता है।

श्रीराम ! मनुष्योंके मनमें पहले जो अनेक प्रकारकी वासनाएँ थीं, वे ही इस समय कायिक, वाचिक, कर्म-रूपमें परिणत हुई हैं। जीवमें जिस प्रकारकी वासना होती है, वह शीघ्र वैसा ही कर्म करता है। मनमें वासना और हो और वह कर्म किसी और ही प्रकारका करते, वह सम्भव नहीं। जो गौवमें जानेकी इच्छा रखता है, वह गौवमें और जो नगरमें जाना चाहता है, वह नगरमें पहुँचता है। जो-जो मनुष्य जिस-जिस वासनासे युक्त होता है, वह-वह उसी-उसीके लिये सदा प्रयत्न करता है। पूर्वजन्ममें फलकी उत्कृष्ट अभिलाषा होनेसे जो कर्म प्रबल प्रयत्नके द्वारा किया जाता है, वही इस जन्ममें 'दैव' शब्दसे कहा जाता है। पूर्वजन्मके उस कर्मका पर्यायवाची शब्द 'दैव' है। कर्म करनेवालोंके सभी कर्म इसी रीतिसे होते हैं। अपनी प्रबल वासना ही कर्म है। वासना मनसे भिन्न नहीं है और मन ही पुरुष है, अर्थात् पुरुषका सकल्प होनेसे वह पुरुषरूप ही है। मन आदि माध्यको प्राप्त हुआ यह प्राणी ही अपने हितके लिये जो जो प्रयत्न करता है, 'दैव' नामसे प्रसिद्ध अपने उस कर्मसे ही वह तदनुरूप फल पाता है। श्रीराम ! मन, चित्त, वासना, कर्म, दैव और निष्ठय—ये भव कठिनतासे समझमें आनेवाले मनकी (मनोरूपताको प्राप्त हुए पुरुषकी) संज्ञाएँ हैं, ऐसा सत्यपुरुषोंका कथन है।

श्रीराम ! इस प्रकार पूर्वोक्त संज्ञाएँ धारण करनेवाला पुरुष अपनी सुदृढ़ वासनाके द्वारा प्रतिदिन जैसा प्रयत्न करता है, उसके अनुसार ही उसे पर्याप्त फल मिलता

है। खुबनदन ! इस प्रकार पौरुषसे मनुष्य इस जगतमें सभी कुछ प्राप्त कर सकता है, दैर्घ्यसे नहीं। अतः वह पुरुषार्थ दृश्यहरे लिये शुभकल देनेवाला हो। तुम अपने प्रयत्नसे प्राप्त परम पुरुषार्थद्वारा ही सदा बने रहनेवाले परम कल्याणको प्राप्त होओगे, अन्यथा नहीं। श्रुतिमें जो चैतन्यमात्राशरूप प्राङ्ग पुरुष बताया गया है, वही तुम हो, जड़ शरीर नहीं हो। तुम स्वयंप्रकाशरूप चेतन हो। अन्य चेतनसे प्रकाशित होनेकी योग्यता तुममें कहाँ है ? यदि तुम्हें दूसरा कोई चेतन प्रकाशित करता है, ऐसा मान लिया जाय तो फिर उसे दूसरथ कौन प्रकाशित करता है, यह प्रश्न खड़ा हो जायगा। यदि उसका भी कोई अन्य चेतन प्रकाशक हो तो फिर इसको कौन प्रकाशित करेगा ? इस प्रकार अनवस्था-दोष प्राप्त होता है, जो बस्तुका साधक नहीं है। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह शुभ और अशुभ मार्गोंसे बहती हुई वासनाशपिणी नदीको पुरुषोचित प्रयत्नके द्वारा अशुभ मार्गसे हटाकर शुभ मार्गमें ही लगाये।

मनुष्यका चित्त शिशुके समान चञ्चल होता है, उसे अशुभ मार्ग (पाप) से हटा दिया

जाय तो शुभ मार्ग (पुण्य) में जाता है और यदि शुभ मार्गसे हटाया जाय तो अशुभ मार्गमें बना जाता है। इसलिये उसे बन्धूवेक पापमार्गसे हटाकर पुण्यके मार्गमें लगाना चाहिये। इस प्रकार मनुष्यके लिये उचित है कि वह पूर्वोक्त क्रमसे चित्तरूपी बालकको डीप ही समताशरूप सान्नद्धना देकर पुरुषोचित प्रयत्नके द्वारा धीरेधीरे आमलाशरूपमें लगाये, हठपूर्वक एकाएक उसका निरोध न करे। यही उसका लालन-पालन है। लोकमें मनुष्य जिस-जिस विषयका अभ्यास करता है, निस्संदेह उसीमें तन्मय हो जाता है। यह बात बालकोंसे लेकर बड़े बड़े विद्यार्थीतकमें देखी गयी है। अतः श्रीराम ! तुम परम कल्याणकी प्राप्तिके लिये उत्तम पुरुषार्थका आश्रय ले पाँचों इन्द्रियोंको जीतकर यहाँ शुप वासनासे युक्त हो जाओ। तुम श्रेष्ठतम पुरुषोद्धार सेवित और अत्यन्त सुन्दर शुभ वासनाका अनुसरण करके मनोरम भावयुक्त बुद्धिसे परम पुरुषार्थद्वारा सदा शोकरहित पदको प्राप्त करो। तत्पश्चात् उस शुभ वासनाका भी परित्याग करके परमात्मामें भलीभांति स्थित हो जाओ।

( सर्ग ८२ )

### श्रीवसिष्ठजीद्वारा ब्रह्माजीके और अपने जन्मका वर्णन, ज्ञानप्राप्तिका विस्तार, श्रीरामजीके वर्णनाग्रन्थकी प्रशंसा, वक्ता और प्रभकर्ताके लक्षण आदिका विशेषरूपसे वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! जो सर्वत्र नित्य समताशरूपसे शित सचिदानन्दमय प्रकाशतत्त्व है, उससे सम्बन्ध रहनेवाली सत्ताको नियति कहते हैं। वही नियन्ताकी नियन्त्रण-शक्ति है तथा नियन्त्रणमें रहनेवाले पदार्थोंमें जो नियन्त्रित होनेकी योग्यता है, वह भी सत्ता ही है। अब मैं उस सारागर्भित सहिताका वर्णन करूँगा, जो इहलोक तथा परलोककी सिद्धिके लिये परमपुरुषार्थ-शरूप फल प्रदान करनेवाली और मोक्षके उपायमूल साधनोंसे सम्बन्ध है। उसे तुम सावधानतया श्रवण करो।

प्राचीन कालकी बात है—सुष्ठिके आदिमें परमेष्ठी

ब्रह्माने इस मोक्षकथाका वर्णन किया था। यह सम्पूर्ण दुःखोंका विनाश करनेवाली है और बुद्धिक्रे परम शान्ति प्रदान करती है। सारे विवेकशील पुरुषोंके साप इस मोक्षकथाको सुनकर तुम उस दुःखरहित सचिदानन्दमय परमपदको प्राप्त कर लोगे, जहाँ पहुँच जानेपर पुनः विनाशका भय नहीं रह जाता।

श्रीरामने पूछा—प्रसन् ! पूर्वकालमें ब्रह्माजीने किस लिये इस कथाका वर्णन किया था ? और आपको इसकी प्राप्ति कैसे हुई ? प्रभो ! यह बृत्तान्त मुझे बताइये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! परदस परमात्मा

सर्वव्यापक, सबका आश्रय-स्थान, नित्य चेतन, अविमाशी, समस्त प्राणियोंमें प्रकाशकरूपसे वर्तमान और अनन्त क्लिंगोंका एकमात्र अविद्यान है। प्रकृतिकी साम्यावस्था तथा शिवमावस्थामें भी वह निर्विकाररूपसे खित रहता है। सी परमात्मासे विष्णुका प्राकृत्य हुआ, ठीक उसी तरह जैसे प्रवृण्डशील बलसे परिष्ठीर्ण सागरसे तरङ्ग उत्पन्न होती है। उम विष्णुके हृदयकमलसे बहा प्रकट हुए, जो वेद तथा वेदार्थके तत्त्व हैं। उन्होंने देवताओं और मुनियोंके समुदायोंसे संयुक्त होकर अनेकविध विकल्पोंकी सृष्टि करनेवाले मनकी भौति विभिन्न प्रकारकी सृष्टि-रचना की। जम्बूदीपके इस भागमें, जो भारतवर्ष भासे प्रसिद्ध है, ब्रह्माजीहारा रचित सारा प्राणिसमुदाय वाधि-भ्याधिसे संयुक्त, आम-हानिसे पीड़ित और जन्म मरणशील था। प्राणियोंकी इस सृष्टिमें सारे जनसमुदायको नामा प्रकारके व्यसनजन्य कष्टोंसे पीड़ित देख सर्वलोकनाथ भगवान् ब्रह्माका हृदय उसी प्रकार दर्याद्वं हो गया, जैसे पुत्रको दुखी देखकर पिता को दया आ जाती है। फिर तो वे उनके कल्पाणके लिये क्षणभर एकाग्रचित्त हो यो विचार करने लगे कि इन हताश तथा अल्पायु जीवोंके हुःखका अन्त किस प्रकार होगा ऐसा विचारकर सामर्थ्यशाली खयं भगवान् ब्रह्माने उनके कष्टप्रदरणके लिये तप, धर्म, दान, सत्य और तीर्थ-सेवन आदि साधनोंका निर्माण किया। इन्हें उत्पन्न करके सृष्टिकर्ता ब्रह्माने पुनः खयं विचार किया कि इन साधनोंसे जीवोंके सांसारिक हुःखका समूल विनाश नहीं हो सकता; अतिक परम निर्वाणरूप भोक्ता ही परम द्वृत है, जिसकी प्राप्ति हो जानेपर जीव जन्म-मृत्युके चक्रसे छूट जाता है। उस भोक्तकी प्राप्ति ज्ञानसे ही होती है। इसलिये जीवके लिये संसार-सागरसे पार होनेका एकमात्र उपाय ज्ञान ही है। तप, दान और तीर्थसेवन आदि मष-तरणके लिये सीधे उपाय नहीं कहे गये हैं। अतः मैं इस हताश जनसमुदायके हुःखकी निवृत्तिके लिये संसारसे उद्धार

पानेका एक नूतन उपाय हीव्र ही प्रकट करूँगा।

यों विचारकर कमलपर विराजमान भगवान् ब्रह्माने अपने मानसिक संकल्पद्वारा तुम्हारे सामने बैठे हुए मुझको उत्पन्न किया। निष्पाप श्रीराम। जैसे एक तरङ्गसे शीघ्र ही दूसरी तरङ्ग प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार मैं भी अनिर्वचनीय मायासे उत्पन्न हुआ और फिर तुरंत ही अपने उन पितृदेवके समीप जा पहुँचा, जिनके हाथमें कमण्डल और रुद्राक्षकी माला शोभा पा रही थी। मैंने नव्रतार्पूर्वक उनको प्रणाम किया। उस समय मैं भी कमण्डल और रुद्राक्षकी मालासे संयुक्त था। तब 'वेदा! यहों आओ' मुझसे यों कहकर उन्होंने अपने आसनमूर्त कमलके ऊपरी पत्तेपर इतेत बादलपर बैठे हुए चन्द्रमाकी भौति मुझे अपने हापसे पकड़कर बैठ लिया। फिर मृगचर्म ही जिसका परिधान था, ऐसे मुझसे मृगचर्मकी



मेरे पितृदेव ब्रह्माजीने कहा—'वेदा। जैसे चन्द्रमामें कलङ्क प्रविष्ट होता है, उसी प्रकार बानरके समान

चक्षुल अज्ञान दो वड़ीके लिये तुम्हारे वित्तमें प्रवेश करे !'

यों पिताज्ञान अभिशस्त हुआ मैं उनके संकल्पके अनन्तर अपने सम्पूर्ण शुद्ध स्वरूपको मूल गया । फिर तो मेरी बुद्धि तरम्भानसे रहित हो गयी और मैं दुःख-शोकसे संतुष्ट हो दीनताको प्राप्त हो गया । उस समय मैं 'हाय ! बड़े कष्टकी बात हुई । यह सासार नामक दोष मुझे कहाँसे प्राप्त हो गया ?' यों हृदयमें विचार करके चुपचाप बैठा रहता था । मेरी यह दशा देखकर मेरे पिताजीने मुझसे कहा—'बैठा । तुम क्यों दुखी हो रहे हो ? अगरे इस दुःखके नाशका उपाय मुझसे पूछो । उसे जानकर तुम निख परमात्माको प्राप्त हो जाओगे ।' तब मैंने उनसे पूछा—'नाथ । यह महान् दुःखमय संसार मुझ प्राणीको कहाँसे प्राप्त हो गया ? और इसका जिनाश किस प्रकार होता है ?' मेरे यों प्रश्न करनेपर उन्होंने मुझे ऐसे प्रश्न ज्ञानका उपदेश दिया, जिस परम पाशन ज्ञानको प्राप्तकर मैं पिताजीके अभिग्राहके अनुरूप अधिक ज्ञानसम्पद हो गया । इस प्रकार जब मुझे ज्ञानमय तरम्भकी जानकारी हो गयी और मैं अग्री प्रकृतिमें स्थित हो गया, तब बगर-क्षण्ठ तथा सबकी उत्पत्तिके कारणस्वरूप और उपदेश ब्रह्माजीने मुझसे कहा—'पुत्र ! मैंने प्रथमतः तुम्हें शापद्वारा ज्ञान-हीन करके पुनः समस्त अधिकारी जनोंकी ज्ञान-सिद्धिके लिये इस सारमूल ज्ञानका पिपासु बनाया है । अब तुम्हारा शाप शान्त हो गया है और तुम्हें परमोक्तुष्ट ज्ञानकी प्राप्ति हो गयी है, जिससे तुम मेरे ही सदृश अद्वितीय आत्मरूप हो गये हो । साथो ! अब तुम प्राणियोंपर अनुग्रह करनेके लिये भूलोकमें जन्मूदीपके मध्यभागमें स्थित भारतवर्षमें जाओ । परोपकारनिष्ठ पुत्र ! तुम तो बड़े बुद्धिमान् हो; अतः वहाँ जो लोग कर्मकाण्ड-परायण हों, उन्हें कर्मकाण्डके क्रमसे शिक्षा देना और जो लोग विवेकशील, विरक्तचिच तथा महाबुद्धिमान् हों, उन्हें परमानन्ददायक ज्ञानका उपदेश करना ।'

रघुकुलभूपण राम ! इस प्रकार मैं अपने पिता ब्रह्माजीद्वारा नियुक्त होकर इस लोकमें निशास कर रहा हूँ और जबतक यह सृष्टिपरम्परा रहेगी, तबतक यहाँ रहेगा । जिस प्रकार भगवान् ब्रह्माने मुझे यहाँ आनेक लादेश दिया, उसी प्रकार उन्होंने सनक, सनन्दन, सनातन, सनकुमार तथा नारद आदि अन्यान्य बहुत-से महर्षियोंको



मी यह कहकर प्रेरित किया कि तुमलोग भारतवर्षमें जाकर पवित्र कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्डके उपदेशद्वारा वहाँके निवासियोंका, जो अन्तःकरणके अज्ञानरूपी ऐसके वशीभूत होकर महान् कष्ट भोग रहे हैं, उदार करो ।

प्राचीन कालमें सथयुगके समाप्त होनेपर जब भूतनन्दर कालकामसे पवित्र कर्मकाण्डका हास हो गया, तब उन महर्षियोंने कर्मकाण्डकी स्थापना तथा मर्यादाकी रक्षाके लिये पृथक्-पृथक् देशोंका विभाजन किया और उन देशोंपर भूपालोंकी स्थापना की । तदनन्तर उन्होंने भूतनन्दर धर्म, अर्थ और कामकी सिद्धिके लिये उन-उन कर्मोंके

उपयुक्त बहुत-से सूति-ग्रन्थों तथा यज्ञविधायक शास्त्रोंका निर्माण किया । तत्पश्चात् इस कालचक्रके चलते इनपर जब उस क्रमका विनाश हो गया तथा लोग प्रतिदिन भोजनमात्रपरायण और खाद्य पदार्थोंके उपार्जनमें तपतर हो गये, तब इमण्डोंने उनकी दीनताका विनाश करने तथा लोकमें ज्ञानत्वज्ञानके प्रचारके लिये बड़े-बड़े ज्ञानोत्पादक शास्त्रोंका उपदेश किया । यह अध्यात्मविद्या प्रथमतः राजसमाजमें उपदिष्ट हुई । तदनन्तर इसका प्रसार लोकमें हुआ । इसी कारण इसे 'भाजविद्या' कहा गया है । रघुनन्दन ! राजविद्या एवं राजगुहा नामसे जिसकी प्रसिद्धि है, उस उत्तम अध्यात्मज्ञानको पाकर राजालोग दुःखरहित हो परमानन्दको प्राप्त हो गये । श्रीराम ! कालचक्रमानुसार निर्भल कीर्तिवाले बहुसंख्यक राजाओंके सर्वांगासी हो जानेपर इस समय त्रुम इस भूतलपर इन महाराज दशरथके यहाँ प्रकट हुए हो । शान्त्रोंका मर्दन करनेवाले राम ! त्रुम्हारा मन अत्यन्त निर्मल है, इसलिये किसी निमित्तके विना खापाविक ही त्रुम्हारे मनमें यह परम पादन तथा उत्तम वैराग्य जाग उठा है; क्योंकि समस्त विवेकशील पुरुषोंमें जिसकी स्थाति है, उस ब्रेष्ट पुरुषका भी वैराग्य किसी निमित्तको लेकर होता है, इसलिये वह राजस कहलाता है, परंतु त्रुम्हारे मनमें उत्पन्न हुआ यह वैराग्य अपूर्व है । यह किसी निमित्तकी अपेक्षा न रखकर स्तुतः अपने विवेकसे उत्पन्न हुआ है और सापुरुषोंको अक्षर्यमें डालनेवाला है, अतः सार्विक है । जिन्हें निमित्तके विना ही वैराग्य हो जाता है, वे ही महापुरुष तथा ज्ञानवान् हैं और उन्हींका अन्तःकरण शुद्ध है । \* जो लोग ज्ञानद्वारा इस सुष्टिपरम्पराका विचार करके वैराग्यको प्राप्त होते हैं, वे ही उत्तम पुरुष हैं ।

श्रीराम ! जो लोग इस संसारकी असारता एवं

\* ते महान्तो महाप्राप्ता निमित्तेन विनेत् हि ।

वैराग्य जावते वेषां तेषां ज्ञानमानसम् ॥

( शुशुक्ष ११ । २४ )

दुःखपताको देखकर अपनी सांसारिक बुद्धिका परित्याग कर देते हैं, वे सौंकलसे छूटे हुए गजराजोंकी भौति संसार-बन्धनसे मुक्त होकर परमात्मा प्राप्त हो जाते हैं । यह जगत्-परम्परा विश्वम और वनन्त है । इसमें पक्षा हुआ महान् जीव देहात्मासे युक्त रहता है, अतएव ज्ञानके विना उसे परमपदकी प्राप्तिका मार्ग नहीं सूझता । परंतु रघुनन्दन ! जिनकी बुद्धि अगाध है—ऐसे विवेकशील पुरुष इस दुत्तर भवसागरको ज्ञानरूपी नौकाहारा क्षणमात्रमें ही पार कर जाते हैं । संसार-सागरसे उत्तरनेवाले उस ज्ञानरूप उपायको त्रुम अपनी बुद्धिसे, जो नित्य विवेक-वैराग्य आदिसे समन्वित है, एकाग्रधित होकर अवधारण करो; क्योंकि इस निर्देश ज्ञानयुक्तिके विना अनन्त विक्षेपोंसे परिपूर्ण वे सांसारिक दुःख और भय चिरकालसक हृदयको संतुष्ट करते रहते हैं । राघव ! ब्रेष्ट पुरुषोंमें शीत, उष्ण, वात आदि इन्द्रजनित दुःखोंको सहन करनेकी क्षमता ज्ञानके बलपर ही आती है, अन्यथा ज्ञानयुक्तिके अतिरिक्त वे किसी प्रकार सह नहीं हो सकते । दुःखकी चिन्ताएँ अज्ञानी मनुष्यको पद-पदपर आ देरती हैं और समयानुसार उसे उसी प्रकार संतुष्ट करती रहती हैं, जैसे अग्निकी लपटें तृणको जलाकर भस्म कर ढालती हैं; परंतु जिस प्रकार वर्षाके जलसे अभिषिक्त हुए वनपर उन अग्नि-ज्वालाओंका प्रभाव नहीं पड़ता, उसी तरह जिसे जाननेयोग्य अध्यात्मज्ञानका ज्ञान प्राप्त हो गया है तथा जिसने भलीमात्रति ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार कर लिया है, ऐसे ज्ञानी पुरुषको मानसिक व्यथाएँ संताप नहीं पहुँचा सकती । इस संसाररूपी मरुस्तलमें बहनेवाली वायु शारीरिक तथा मानसिक कष्टरूपी आवत्तोंसे परिपूर्ण है । यह क्षुब्ध होकर भी तत्त्वज्ञानीको वैसे ही पीड़ित नहीं कर सकती, जैसे प्रवण औंधी कल्पवृक्षका कुछ नहीं विगाह सकती ।

इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि यह तत्त्वज्ञानकी

प्राप्तिके लिये, जो श्रुति आदिका प्रमाण देनेमें कुशल और आत्मतत्त्वका यथार्थ ज्ञाता हो, ऐसे ज्ञानी पुरुषके पास जाकर प्रयत्नपूर्वक विनयभावसे प्रश्न करे। फिर जैसे केससे रँगा हुआ वस्तु उसके रंगको पकड़ लेता है, उसी प्रकार जिससे प्रश्न किया गया है, उस प्रमाणकुशल तथा विशुद्ध चित्तवाले उपदेशके बचनको प्रयत्नपूर्वक प्रहण करना चाहिये। किंतु वावेदाओंमें श्रेष्ठ राम ! जो तत्त्वका ज्ञाता नहीं है, अतएव जिसके वचन अग्राह्य हैं, ऐसे पुरुषसे जो तत्त्वविषयक प्रश्न करता है, उससे बढ़कर मूर्ख दूसरा कोई नहीं है। इसी प्रकार जिससे पूछा गया है, उस प्रमाणकुशल तथा तत्त्वज्ञानी वक्ताके उपदेशका जो पुरुष यत्पूर्वक अनुसरण नहीं करता, उससे बढ़कर दूसरा कोई नराधम नहीं है। अतः वक्ताके व्यवहार आदि कायोंसे उसकी ज्ञाता तथा तत्त्वज्ञानका पहले निर्णय करके जो पुरुष उससे प्रश्न करता है, वह प्रश्नकर्ता उत्कृष्ट बुद्धिवाला माना जाता है; परंतु जो मूर्ख विज्ञानु उत्तम वक्ताका निर्णय किये बिना ही उससे प्रश्न करता है, वह अधम कहलाता है और उसे तत्त्वज्ञानरूप प्रमाण-अर्थकी प्राप्ति भी नहीं होती। ज्ञानीको भी चाहिये के पूर्वाग्रका विवेचन करके उसका निष्ठय करनेमें जैसकी बुद्धि समर्थ हो और जो निन्दनीय न हो, ऐसे पुरुषको उसके पूछे हुए तत्त्वका उपदेश दे; उर्मु जो आद्वार-निद्रा-मय-मैथुन आदि पशुधर्मसे संयुक्त है, ऐसे अधमको तत्त्वका उपदेश न दे। क्योंकि प्रश्नकर्ताकी श्रुति आदि प्रमाणोद्धारा निर्णीत पदार्थके प्रहणकी योग्यताका विचार किये बिना ही जो वक्ता उसे उपदेश देता है, उस पुरुषको ज्ञानीजन इस ढोकमें प्रहान् मूर्ख बतलाते हैं। रघुनन्दन ! तुम प्रश्नसनीय गुणोंसे युक्त अत्यन्त श्रेष्ठ प्रभकर्ता हो और मैं उपदेश देना जानता हूँ, अतः हम दोनोंका यह समागम उचित ही है। शब्दार्थके ज्ञाता राम ! जनसमाजमें तुम

महापुरुष माने जाते हो। तुममें रागका लेनामात्र भी नहीं है। तुम तत्त्वके ज्ञाता हो। इसीलिये तुम्हारे प्रनिकिया हुआ उपदेश तुम्हारे अन्तर्हृदयमें चिपक जाता है, ठीक उसी तरह जैसे बोला हुआ रग वरमें रग जाना है। तुम्हारी लीक्षण सुद्धि उक पदार्थक प्रदृश वरन्में निपुण और परमार्थका विवेचन वरनेवाली है। यह परमार्थ-विषयमें उसी प्रकार प्रवेश करती है, जैसे सूर्यकी किरणें जलके भीतर धूस जाती हैं। इसन्ये मैं जिस पदार्थका उपदेश करूँ, उसे तुम 'यह तत्त्व-बत्तु है' यो निश्चय करके यत्पूर्वक अपने हृदयमें पूर्णतया धारण कर लो।

मनुष्यको चाहिये कि वह विवेकहीन, अज्ञानी और दुर्जनोंसे प्रेम करनेवाले मनुष्यका दूसे ही परिपाण करके साक्षुभावाओंकी सेवा करे; क्योंकि सदा सज्जनोंके सम्पर्कमें रहनेसे विवेककी उत्पत्ति होती है। यह विवेक एक शृक्षके समान है और भोग तथा मोक्ष उसके फल कहे गये हैं। उस मोक्षके द्वारपर निशास वरनेगले चार द्वारपाल बतलाये जाते हैं जिनके नाम हैं—शम, विचार, संतोष और चीथा साधुमंगम।

मनुष्यको इन चारोंका ही प्रफलपूर्वक सेवन करना चाहिये; क्योंकि इनका भलीभौति सेवन होनेपर ये मोक्षरूपी राजमहलके द्वारको खोल देते हैं। यदि चारोंका सेवन न हो सके तो तीनका या दोका। मेवन अवश्य करना चाहिये। दोका भी सेवन न हो। सके तो सभी उपायोद्धारा प्राणोंकी बाजी लगाकर भी एकत्र आश्रय तो अवश्य ही प्रहण करना चाहिये; वयोऽनि जब एक वशमें आ जाता है, तब शोर तीनों भी अधीन हो जाते हैं। ५ विवेकी पुरुष तप, इन और

० मोक्षद्वारे द्वारपालाध्यार: परिदीनिता ।

शमो विचारः होरध्यनुर्यः साधुमंगमः ॥

एते सेव्याः प्रयत्नेन चत्वारो ही श्योऽप्यग ।

द्वारमुद्दाट्यन्देते मोक्षपद्मरे तथा ॥

शास्त्रके श्रवण-मनन आदिका उत्तम पात्र होता है। जैसे तेजस्वियोंमें सूर्य सर्वश्रेष्ठ है, उसी प्रकार वह छोटोंमें आभूपूणके समान आदरणीय होता है। जैसे शीतकी अधिकताके कारण जल जमकर पथरके सदृश हो जाता है, उसी प्रकार अविवेकियोंकी बुद्धि मन्दता—धनताको प्राप्त होकर अस्यन्त बड़ हो जाती है। रघुकुलभूषण राम! तुम्हारा अन्तःकरण तो सूर्योदय होनेपर खिले हुए कमलकी भौति सौजन्य वादि गुण एवं शास्त्रार्थकी दृष्टियोंसे विकसित हो गया है। मनुष्यको उचित है कि वह पहले आवागमनके चक्रसे छूटनेके लिये शास्त्राभ्यास और सत्संगतिपूर्वक तपत्या एवं इन्द्रियनिप्रह्लाद अपनी बुद्धिको ही सर्वर्जन करे। यह संसार विषवृक्षके समान है। यह विपत्तियोंका एकमात्र स्थान है, जो अशानी मनुष्यको सदा मोहित करता रहता है; इसलिये यतद्वारा

अज्ञानका विनाश कर ढालना ही उचित है। \* जैसे गेवरहित आकाशमें निर्मल एवं पूर्ण मण्डलबाले चन्द्रमा-को देखकर दृष्टि प्रसन्न होती है, उसी प्रकार यह पूर्वोक्त परमार्थ वस्तुदृष्टि ज्ञानीमें यथार्थ वस्तुके साथ एक-रसताको प्राप्त होकर प्रसन्न हो जाती है। जिसकी शुद्धि पूर्वापरके विचारसे सूक्ष्मतम अर्थको ग्रहण करनेमें निपुण और चतुरतासे शोभित होकर पूर्ण विकसित हो गयी है, वही 'पुमान्' अर्थात् पुरुष कहा जाता है। श्रीराम! तुम्हारा हृदय अज्ञानसे रहित अतएव विशुद्ध शान्ति आदि गुणोंसे विकसित एवं उत्तम विचारकी शीतल चाँदनीसे प्रकाशित है। उस हृदयसे युक्त होकर तुम उसी प्रकार शुद्धोभित हो रहे हो, जैसे निर्मल चन्द्रमासे आकाशकी शोभा होती है।

( सर्ग १०-११ )

**संतारग्रामिकी अनर्थरूपता, ज्ञानका उत्तम माहात्म्य, श्रीराममें प्रश्नकर्ताके गुणोंकी अधिकताका वर्णन,**  
**जीवन्मूक्तिरूप फलके हेतुभूत वैराग्य आदि**  
**श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राघव!** | तुम्हारा मन उत्तम गुणोंसे परिपूर्ण है। तुम हमारे योग्य शिष्य हो और प्रश्न करनेका ढंग भी तुम्हें भलीभौति ज्ञात है। तुम कहीं हुई बातको विशेषरूपसे समझ लेते हो, इसलिये मैं आदरपूर्वक तुम्हें उपदेश देनेको उचित हुआ हूँ। अब तुम अपनी बुद्धिको, जो रजोगुण और तमोगुणसे रहित और शुद्ध सत्त्वगुणका अनुसरण करनेवाली है, आत्मामें स्थापित करके ज्ञानोपदेश श्रक्षण करनेके लिये तैयार हो जाओ। प्रस्तुकर्तामें जितने गुण होने चाहिये, वे सभी गुण तुम्हें वर्तमान हैं और जैसे समुद्रमें रम आदि सम्पत्तियाँ भरी रहती हैं, उसी तरह बक्काके सभी गुण मुक्षमें विद्यमान हैं। कस्त। जैसे चन्द्रमाकी किरणोंके

एक वा सर्वथलेन ग्राणांस्त्वत्त्वा समाश्रयेत्। | एकसिन् वशम् यान्ति चत्वारोऽपि वर्त्त यतः ॥

( मुमुक्षु० ११ । ५९-६१ )

\* संसारविषवृक्षोऽयमेकमास्पदमापदाम् । अश तमोहर्येनित्यं मौख्यं वर्तने नाशयेत् ॥

( मुमुक्षु० ११ । ६१ )

श्रीराम ! संसाररूपी दिवके आवेशसे उत्पन्न हुई विषुचिका बद्धो दुर्सह होती है। विगनिवारक गारुडमन्त्रसे ही उसका समूल नाश होता है। जीव और प्रकाका एकात्मबोध ही वह गारुडमन्त्र है। वही परमार्थज्ञानका भी मूलमन्त्र है। सत्युरुषोंके साथ शास्त्रानुशीलन करनेसे निस्सदेह उस योगकी प्राप्ति होती है।

शास्त्रचिन्तन करनेपर इसी जन्ममें अवश्य ही सम्पूर्ण दुःखोंका समूल विनाश होता है—ऐसा मानना चाहिये; इसलिये उन विवेकशील सत्युरुषोंको अवहेलनाकी हृषिसे नहीं देखना चाहिये। जिस विवेकी पुरुषको सम्प्रगृहिती उपलभ्ि हो चुकी है, वह पुरानी केंचुलका स्याग करके संतापरहित हुए सर्पकी भाँति मानसिक व्यथाओंसे परिपूर्ण इस संसारके अनुरागका परिस्थाग करके संतापरहित हो जाता है। उसका अन्तःकरण शीतल हो जाता है। वह सम्पूर्ण जगत्को विनोदपूर्वक हन्त्रजालकी तरह सुखरूप देखता है; परन्तु जो उस सम्प्रगृहितेरहित है, उसके लिये यह संसार परम दुःखशायी ही है। यह संसारानुराग घडा ही कष्टदायक है। यह अनर्थकी आशङ्का किये विना ही मोहवश विषयोंमें फैसे हुए पुरुषोंको सर्पकी तरह ढंस लेता है, खड़की भाँति काट डालता है, भालेके समान वेघ देता है, रसीकी तरह आवेषित कर लेना है, आगके सद्श जला देता है, रात्रिकी तरह अधा बना देना है, सिरपर गिरे हुए पर्यक्ते समान मूर्छित कर देता है, विचारशक्तिको हर लेता है, मर्यादाका विनाश कर देता है और मोहरूपी अन्धकूपमें गिरा देता है। तुष्णा तुम्हें जर्जर कर देती है। अधिक कथा, संसारमें ऐसा कोई हुःख नहीं है जो सप्तारी मनुष्यको तुष्णासे न प्राप्त होता है। यह विषयमोगरूपिणी विषुचिका दुष्परिणाम-वाली है। यह नरक-नगररूप शरीर-समुदायके साथ अनुराग उत्पन्न करनेवाली है। यदि इसकी चिकित्सा न की जाय तो यह अवश्य ही उन-उन हजारों नारकीय दुर्गतियोंको

प्राप्ति कराती है, जहाँ नरकोंमें पापागमक्षण, वडाग अङ्गोंका छेदन, पर्वतशिखरसे निषातन, गर्याहारा डन्हीटन और अग्निदाहको हिमाभिमेककी भौति, अङ्गोंके कुनानेफ़ो चम्दनके लेपकी तरह, असिपत्रवाले वृक्षोंके धनमें ढाईन, कीज़ोंके द्वारा शरीरमें छिद्र किये जाने और टौंहेंकी गरम जजीरोंहारा देहके उपेटनेको शरीर-स्वारके समान, युदमें काम धानेवाले अग्नि-सुस्ते वाणोंकी धाराशाहिक बृहिको ग्रीष्मऋतुमें विनोदके लिये किये गये जउयन्त्रोंके फश्वारोंकी वैद्य-शर्दाकी सद्वा, सिरके काटे जानेदो मुखमिद्राके तुल्य, मुख बट करके बट्टूरूपक किये गये मूकीभावको खाभाविक मुखमुद्राके समान और अङ्गचित्करताको महती सम्पद्बृद्धिकी तरह सहन करना पड़ता है। राधव ! इस प्रकार सहजों कष्टप्रद चेष्टाओंसे परिपूर्ण इस दारूण संसारचक्रमें उपर्युक्त उपदेशकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये; बल्कि ऐसा विचार और निश्चय अवश्य करना चाहिये कि शास्त्रानुशीलनसे निधप ही कस्थाण होता है। सत्युरुषोंके साथ शास्त्रचिन्तन करनेसे जिसका देहभिमान नष्ट हो गया है, उसे तरक्का ज्ञान हो जानेसे सर्वन्धापक आत्माका खलूप विदित हो जाता है। वह शुद्ध ब्रुद्धिहारा परमहका साक्षात्कार कर लेता है और अज्ञानरूपी बने बादलके विलीन हो जानेपर उसके मोहका विनाश हो जाता है। फिर तो उसके लिये यह जगत्में विचरण करना रमणीय हो जाता है।

श्रीराम ! जिन्हें आलसरूपकर हाज हो गया है, ऐसे उत्तम ब्रुद्धिसम्पन्न महापुरुष इस प्रौद्योग दृष्टिका अवलम्बन करके इस संसारमें विचरते हैं। उन्हें न शोक होता है, न कामना होती है और न वे शुभाशुभकी याचना हो करते हैं। वे इस संसारमें सब कुछ करते हुए भी अकर्ताकिं समान रहते हैं। वे हेतु और उपादेयके पक्षपातसे गहिन होकर अपने आत्मामें स्थित रहते हैं, पवित्रतासे रहते हैं और सद-शास्त्रोंमें प्रतिपादित खच्छ कर्म करते हुए सम्मार्गपर चलते हैं। अन्य लोगोंकी दृष्टिसे वे जाते हैं,

जाते हैं, कर्म करने हैं और बोलते हैं; परन्तु शास्त्रमें वे न जाते हैं न जाते हैं, न कर्म करते हैं और न बोलते ही हैं। क्योंकि परमानन्दखल्लप परमात्माको प्राप्त हुआ पुरुष न तो इन्द्रजालखल्प मायिक कार्य करता है और न सांसारिक वासनाओंके पीछे ही दौड़ता है। वह आठकों की-सी भ्रममूलक उपलब्धताका परित्याग करके पूर्वकथित परमात्माके खलूपमें ही सदा विराजमान रहता है। इस प्रकारकी स्थितियाँ वास्तवत्त्वके साक्षात्कारके अतिरिक्त अन्य उपायसे नहीं उपलब्ध होतीं। इसलिये पुरुषको चाहिये कि वह जोवनपर्यन्त आत्माकी ही खोज करे, उसीकी उपासना करे और उसीका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करे। इसके अतिरिक्त उसके लिये और कोई कर्तव्य नहीं है।

जिस पुरुषको अपने अनुभव, शास्त्रवचन और गुरुके उपदेशकी एकवाक्यताका निधय हो गया है वह निरन्तर किये गये उपर्युक्त अभ्यासके द्वारा परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है। चाहे भारी-से-भारी आपत्ति क्यों न आ पड़े, परन्तु जो शास्त्र और उसके अर्थकी अवदेष्णा करनेवाले तथा तत्त्वज्ञानी महापुरुषोंकी अवद्वा करनेवाले हैं—ऐसे मूर्खोंका अनुकरण कभी नहीं करना चाहिये। क्योंकि भूत उपर मनुष्योंको भ्रितना कष्ट अपने शरीरमें स्थित अकेली मूर्खतासे प्राप्त होता है, उतना दुःख शारीरिक क्लेश, क्रिय, आपत्ति और मानसिक व्यथाएँ नहीं दे सकतीं। जिनकी बुद्धि कुछ भी उत्तम संस्कारोंसे सकृद हो चुकी है, उनकी मूर्खताका विनाश करनेमें जैसा यह शास्त्र समर्थ है, ऐसा अन्य कोई शास्त्र नहीं है। जैसे खैरसे कोटे उत्पन्न होते हैं, उसी तरह जिननी दुस्तर आपत्तियाँ और अध्रम कुसित योनियाँ हैं, वे सभी मूर्खनासे पैदा होती हैं। जिस संसारी पुरुषको भोक्षके उपायभूत इस शास्त्रखल्प प्रकाशकी प्राप्ति हो गयी है वह मोहन्यकारमें भी पुनः अनन्ताको नहीं प्राप्त होता। तुष्णा मानवरूपी क्रमणको तभीतक संकुचित करती है, जबतक विवेकरूपी सूर्यकी निर्गम्ल प्रभाका

उदय नहीं होता। रघुनन्दन। जैसे इस संसारमें भगवान् विष्णु एवं शक्ति आदि तथा अन्यान्य महर्पिंगण जीवन्मुक्त हो विचरते रहते हैं, उसी प्रकार तुम भी सांसारिक दुःखसे छुटकारा पानेके लिये भेरे—जैसे आत्मीयजनोंके साथ बैठकर गुरुपदेश एवं शास्त्रप्रमाणद्वारा अपने खरूप-को जानकर जगत्में श्रिहार करो। इस जगत्में द्वुख तो तुच्छ-से-तुच्छ तिनकेके सदृश है, परन्तु दुःखोंका तो अन्त ही नहीं है; इसलिये जो दुःखरूप परिणामसे परिपूर्ण है, उन लौकिक सुखोंमें आस्था नहीं करनी चाहिये।

ज्ञानी पुरुषको चाहिये कि वह परम पुरुषार्थकी सिद्धिके लिये जो अनन्त और आयासरहित है, उस परम पदको प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करे; क्योंकि जिनका मन संतापरहित होकर सर्वोक्तुष्ट परम पदरूप परमात्मामें लैन हो गया है, वे ही पुरुषोंमें श्रेष्ठ हैं और उन्हींको परम पुरुषार्थकी प्राप्ति होती है। जो दुरात्मा पुरुष राज्य आदि जागतिक सुखोंके उपलब्ध होनेपर उनके उत्तम भोगोंके आखादनमात्रसे ही तृप्त बने रहते हैं, उन्हें तो तुम अंधे मेढ़क समझो। \* जिनकी बुद्धि अज्ञानके कारण मन्द पड़ गयी है, वे मूर्ख वशकों, प्रबल दुरात्मायों, लौकिक भोगोंमें रचे-पचे रहनेवालों और मित्रका-सा व्यवहार करनेवाले शत्रुओंमें आसक्ति करने लगते हैं, जिससे उन्हें एक संकटसे दूसरे संकटकी, एक दुःखसे दूसरे दुःखकी, एक भयसे दूसरे भयकी और एक नरकसे दूसरे नरककी प्राप्ति होती रहती है। † इसलिये उत्तम विवेकका आश्रय

\* सम्मोगशनमात्रेण राज्यादिषु सुखेषु च ।  
संतुष्टा दुष्टमनसो विद्वि तानन्धर्दुर्रात् ॥

( मुमुक्षु० १३ । २६ )

† ये शठेषु दुरन्तेषु दुष्कृतारम्भद्यालिषु ।

द्विपत्तु मिथ्यलेषु भक्ता वै भोगभोगिषु ॥

ते यन्ति दुर्गमाद् दुर्गदुःखाद् दुःख भयान्द्रयम् ।

नरकाशरक मूढा मोहमन्यरक्षुदयः ॥

( मुमुक्षु० १३ । २७-२८ )

लेकर अन्यास और वैराग्यके सहयोगसे दुःखस्थलपिणी इस भयंकर संसार-नदीको पार करना चाहिये । जिसे प्राप्त कर लेनेपर पुनर्जन्म नहीं होता और जहाँ पहुँच जानेपर शोकका अद्वितीय मिट जाता है, वह परम पद शान्तिरार ही प्राप्त किया जा सकता है —इसमें कुछ भी संदेह नहीं है । इस संसारमें जब पुण्यकी शीत्र मोक्ष-प्राप्तिके उपायके विनाशमें प्रवृत्ति होती है, तब वह मोक्षप्राप्तिका प्राप्त कहा जाता है । उस प्रवृत्तिके प्राप्त हो जानेपर उत्तम वैत्तल्य-पदकी प्राप्तिमें कष्ट नहीं ठड़ाना पड़ता । उस केवलरूप परमात्माकी प्राप्तिमें धन-सम्पत्ति, मित्र, मार्द-जन्म, दृष्टि-पैरका संचालन, देशान्तरणमन, शारीरिक कष्ट-सहन और तीर्थसेवन आदि उपकारी नहीं ही सकते । वह तो एक मात्र पुरुषार्थसे साध्य केवल परमात्माकी प्राप्तिकी वासनारूप कर्मसे एवं मनोजप्तसे प्राप्त किया जा सकता है । द्विष्टर्वीक सेवन करनेयोग्य वासनपर बैठकर उस परवानाका चिन्तन करनेवाले पुरुषको उपर्युक्त परमपदकी प्राप्ति हो जाती है । फिर तो उसे न शोक करना पड़ता है और न समारमें उसका पुनर्जन्म ही होता है । जैसे मृगतुणामें जलाभास दीखता है, वास्तवमें वहाँ जल नहीं रहता, उसी तरह सर्वांगलोक और मनुष्य-लोकके सम्पूर्ण भावोंके विनाशी होनेके कारण इन दोनों लोकोंमें वास्तविक सुख नहीं है ।

इसलिये जो शम और संतोषका साधन है, उस मनोजयकी प्राप्तिके लिये उपाय सोचना चाहिये । उससे वह आनन्द उत्पन्न होता है, जो परमात्माके साथ ऐक्तरस्य-सम्बन्धसे मिलता है । अतः देखता, दानव, राक्षस और मनुष्यको बैठते, शलते, गिरते-पड़ते अथवा धूमते हुए सदा ही मनोजय-जनित उस परम सुखको अवश्य प्राप्त करना चाहिये; क्योंकि वह शान्तिरूप विकसित पुर्णोंसे लदे हुए विकल्प महान् वृक्षका फल है । पूर्णरूपसे शान्त मन अथवा निर्भूल और भ्रमरहित हो जाता है । उस विश्वास मनमें किसी प्रकारकी सुहा-

नहीं रह जाती । उसके सभी मनोरथ पूर्ण हो जाते उस समय वह न तो किसी वस्तुकी अभिलाषा है और न किसीका त्याग ही करता है ।

राधव । अब मोक्षद्वारपर स्थित रहनेवाले द्वारपालोंको क्रमशः शुनो, जिनमेंसे एकके प्रभावीति हो जानेसे मोक्षद्वारमें प्रविष्ट होनेका अंग प्राप्त हो जाता है । शम मङ्गलरूप, शान्तिरूपके अमका निराकरण करनेवाला है । शमसे परम पद है । प्राप्तिसे पूर्णतया तृप्त हुए जिस पुरुषका विचरणमें होनेके कारण शीतल एवं निर्भूल हो गया है, शब्द भी मित्र बन जाता है । जैसे चन्द्रोदय श्वीरसागरकी शुद्धता वह जाती है, उसी प्रकार विचरण शमरूपी चन्द्रमासे भलीभौति शोभित हो है, उनकी परम शुद्धताकी अभिवृद्धि होती है । कल्परहित मुखचन्द्रमें शमश्री शोभित होती अपने गुणरूप सौन्दर्यसे दूसरेकी इन्द्रियोंको वश लेते हैं तथा वे ही कुञ्जनिशिरोमणि एवं ददनी निष्ठोकीकी राज्यलक्ष्मी भी नेसा वानन्द नदी कर सकती, जैसी आनन्ददायिनी साम्राज्य-सदृश शम-विभूतियों होती हैं । लोकमें वितने जितनी दुस्सह तुष्णाएँ और जितनी दुःख मानसिक व्यथाएँ हैं, वे सब शान्तिवित्तशाले निकट जाकर वैसे ही विद्धीन हो जाती है, जैसे किरणोंके सम्पर्कसे अनधकारका विनाश हो जा शमपरायण पुरुषके दर्शनसे समझ प्राणियोंका माहादर्शण एवं प्रसन्न होता है, जैसा चन्द्रमके नहीं होता । इस जगद्में जैसे अपनी भातापर विश्वास रहता है, उसी प्रकार वामयुक पुरुषपर अथवा धर्माल्पा—सभी प्राणी विश्वास करते इसलिये रघुकुलभूषण राम ! तुम भी करने मना सम्रद्ध शारीरिक क्लेशों तथा मानविक व-

कम्पित और तुष्णारूपी रसीसे आबद्ध है, शमरूपी अमृतके अनिष्टसे प्रकृतिस्थ करो; क्योंकि जो शमनिष्ट है, उस पुरुषसे पिशाच, राक्षस, दैत्य, शत्रु, व्याघ्र अप्यासा सर्प—कोई भी द्वेष नहीं करते ।

जिसके समस्त अङ्ग उल्काष्ठ शमरूपी अमृत-कावचसे भरी-भौंति सुरक्षित हैं, उसे हुःख उसी प्रकार पीड़ा नहीं पहुँचा सकते, जैसे बाण हीरेको बेखनेमें असर्वर्थ होते हैं । निर्मल तथा शमविभूषित समद्वयिसे पुरुषकी जैसी शोभा होती है, वह शोभा अन्तःपुरमें विराजमान राजाको भी नसीब नहीं होती । शमयुक्त अन्तःकरणवाले पुरुषका दर्शन करनेसे मनुष्यको जो शान्ति प्राप्त होती है, वह ग्राणोंसे भी अधिक प्रिय स्वजनके मिलनेसे भी नहीं उपलब्ध होती । इस लोकमें जो शामसे सुशोभित तथा लोगोंद्वारा प्रशंसित समद्वयिसे सबके साथ उत्तम वर्तमान रहता है, उसीका जीवन सर्वक है; इसके विपरीतका जीवन तो विर्यक ही है । जिसका मन उद्धण्डतारहित हो गया है, ऐसा शमपरायण श्रेष्ठ पुरुष जो कर्म करता है, उसके उस कर्मकी ये समस्त प्राणी प्रशंसा करते हैं ।

जो पुरुष प्रिय और अप्रियको सुनकर, स्पर्शकर, देखकर, खाकर और सुँघकर न तो हर्षित होता है और न खिन्न होता है, वह 'शान्त' कहा जाता है । जो प्रयत्नपूर्वक इन्द्रियोंको अपने वशमें करके समस्त प्राणियोंके साथ समतापूर्ण व्यवहार करता है तथा न तो भविष्यकी आकाङ्क्षा करता है और न प्राप्तका परित्याग करता है, वह 'शान्त' कहलाता है । जिसका मन मरण, उत्सव और युद्धके अवसरपर भी व्याकुल न होकर चन्द्रमण्डलके समान निर्मल आमासे दुःख रहता है, वह 'शान्त' कहा जाता है । हर्ष और कोपका अवसर उपस्थित

होनेपर भी जो पुरुष वहाँ अनुपस्थितके समान न तो हर्षको प्राप्त होता है और न क्रोध ही करता है, वल्कि उसका मन गाढ़ निदामें सोये हुए पुरुषके मनके समान निर्विकार रहता है, वह 'शान्त' पदसे व्यवहृत होता है । जिसकी अमृत-प्रदाहके सदृश सुखदायिनी तथा प्रेमपूरी हृषि सभी प्राणियोंपर समानरूपसे पड़ती है, उसकी 'शान्त' संज्ञा होती है । जिसका अन्तःकरण शीतल ही गया है एवं जिसकी बुद्धि मोहार्षज्ञ नहीं है तथा जो लैकिक विषयोंके साथ व्यवहार करता हुआ भी उनमें आसक्त नहीं होता, उसे लोग 'शान्त' कहते हैं । सम्प्रकृतप्रकारसे व्यवहार करते हुए भी जिस पुरुषकी बुद्धि आकाशके सदृश निर्विकार रहती है, गग-द्वेषरूप कलङ्कसे जिस नहीं होती, उसे 'शान्त' कहा जाता है ।

तपस्थियों, विद्वानों, याजकों, नरेशों, बलवानों और गुणियोंके समुदायमें शमयुक्त पुरुषकी ही विशेष शोभा होती है । जिन गुणशाली महापुरुषोंका मन शाममें आसक्त हो गया है, उनके चित्तसे निवृत्तिका उदय होता है, ठीक उसी तरह जैसे चन्द्रमासे चौंदनी प्रकट होती है । जो गुणसमूहोंको परमावधि है तथा जो पुरुषार्थका मुख्य भूपण है, वह श्रीसमन्न शम संकटों तथा सम्पूर्ण स्थानोंमें भी अपने प्रभावसे सुशोभित होता रहता है । रघुनन्दन । जिसका अन्य पुरुष अपहरण नहीं कर सकते, जो पूज्य जनोंद्वारा सावधानी-के साथ सुरक्षित एवं अमृतस्वरूप है, उस शमरूप उल्काष्ठ साधनका आश्रय लेकर बहुत-से महानुभाव जिस क्रमसे परम पदको प्राप्त हो चुके हैं, तुम भी परम पुरुषार्थकी सिद्धिके लिये उसी क्रमका अनुसरण करो ।

( सर्ग १२-१३ )

## विचार, संतोष और सत्समागमका विशेषरूपसे वर्णन तथा वारों गुणोंमेंसे एक ही गुणके सेवनसे सद्विका कथन

श्रीवसित्तजी कहते हैं—राधव ! ( विषय, संवेद, पूर्वपक्ष, सिद्धान्त और प्रयोगरूप ) कारणोंके ज्ञाता पुरुषको शास्त्रज्ञानसे निर्भृत हुई अतएव परम पवित्र बुद्धिदारा निरन्तर आत्मचिन्तन करना चाहिये; क्योंकि आत्मविषयक विचार करनेसे बुद्धि तीव्र होकर परम पदका साक्षात्कार कर लेती है। संसाररूपी महारोगके लिये विचार ही महीयत्र है। जो अनन्त कामनारूपी पल्लवोंसे छुश्चोभित है, ऐसा आपसिरूपी बन विचाररूपी आरेसे काट दिये जानेपर पुनः अद्भुत नहीं होता। लौकिक दुःखसे पार होनेके लिये विद्वानोंके पास विचारके अतिरिक्त धूसरा कोई उपाय नहीं है। सत्युत्तुरूपोंकी बुद्धि विचारसे अशुभम् का परित्याग करके शुभको प्राप्त होती है। बुद्धिमानोंके बल, बुद्धि, सामर्थ्य, कर्तव्यका ज्ञान, क्रिया और उसका फल—ये सभी विचारसे ही सफल होते हैं। अतः जो उचित-अनुचितके दहस्योद्वाटनके लिये महान् दीपकके समान है तथा अभीष्टकी सिद्धि करनेवाला है, उस उत्कृष्ट विचारका आश्रय लेकर संसार-सागरको पार करना चाहिये। क्योंकि विशुद्ध विचाररूपी सिंह हृदयस्थित विवेकरूपी कमलोंको उखाइ फेंकनेवाले महामोहरूपी गजराजोंको विदीर्ण कर द्वालता है। जो लोग विचारका अन्युदय करनेवाली बुद्धिदारा सबके साथ व्यवहार करते हैं, वे निष्क्रिय ही अत्यन्त ग्रेष्ट फलोंके भागी होते हैं। सद्विचारपरायण मनुष्य अत्यन्त विस्तृत महान् आपसियोंसे युक्त मोहकी परिस्थितियोंमें उसी प्रकार निमग्न नहीं होता, जैसे सूर्य अन्धकारमें नहीं दूखते। जितने ग्रूर कर्म, लिंगदाचरण और कुर्सित मानसिक कष्ट हैं, वे सभी विचारहीनतासे ही आविर्भूत होते हैं। जिस अधिकारी पुरुषका मन आशाकी परवशतासे रहित और विचारयुक्त है, वह पूर्ण चन्द्रमाकी भौति अपने

आत्ममें परमानन्दका अनुभव करता है। जब मनमें विवेकशीलताका उदय होता है, तब वह सारे विद्वानों शीतल एवं सुशोभित करनेवाली चन्द्रमामी चौड़नीकरे भौति सबको अत्यन्त शीतल और अद्वृत कर देती है। जगत्के सारे पदार्थ तभीतक सत्यकी तरह रमणीय प्रतीत होते हैं, जबतक विचार नहीं किया जाता। वस्तुतः उनका कोई अस्तित्व नहीं है, अतः विचार करनेपर वे नष्ट हो जाते हैं। जो समखरूप, आनन्दमय, अक्षय, अनन्त और अनन्याधीन है, उस कैवल्य पदको तुम विचाररूप महान् वृक्षका फल समझो। जो वित्तमें स्थित होकर उत्तम अचल स्थिति प्रदान करनेवाली है, उस आत्म-विचाररूपी महीयधिसे युक्त थेष्ट पुरुष न तो अप्राप्तकी आकाश्वा करता है और न प्राप्तका परित्याग ही। विचारशील पुरुष यही हुई वस्तुकी उपेक्षा कर देता है और प्राप्त वस्तुका शालानुसार उपयोग करता है। वह मनकी प्रतिकूलतामें न तो क्षुन्ध होता है और न अनुकूलतामें प्रसन्न ही। उस समय जलसे परिपूर्ण सागरकी तरह उसकी शोभा होती है। इस प्रकार जिन उदाराद्य महात्मा योगियोंका मन पूर्णकाम हो गया है, वे जीवन्मुक्त होकर इस जगत्में विचरण करते हैं। बुद्धिमान् पुरुषको आपसिकालमें भी 'मैं कौन हूँ ?' यह संसार किसका है ? यो उसके प्रतीकारके लिये प्रथमपूर्वक विचार करना चाहिये। जैसे रात्रिमें भूतलघु पदार्थोंका ज्ञान दीपकसे होता है, उसी प्रकार परमात्मखरूपमें स्थिति प्राप्त करनेके लिये बैद्य-केदाम्तके सिद्धान्तोंकी स्थितियोंका निर्णय विचारद्वारा होता है। विचाररूपी सुन्दर नेत्र अन्धकारमें नष्ट नहीं होता, उम्र तेजसी सूर्य आदिकी और देखनेपर भी उसकी अद्यति प्रतिहत नहीं होती और वह व्यवहानयुक्त पदार्थोंको

भी देख लेता है। यह विचार-चमकृति परमात्मयी, आदरणीया और परमानन्दकी एकमात्र साधिका है; अतः एक क्षणके लिये भी इसका परित्याग नहीं करना चाहिये। जैसे पक जनेके कारण मधुर रससे परिषूर्ण आमका फल सबके लिये रुचिकर होता है, उसी तरह उत्तम विचारसे शुक्र पुरुष, सामान्य जनोंकी तो बात ही क्या, महापुरुषोंके लिये भी आदरणीय हो जाता है। विचारद्वारा जिनकी बुद्धि विशुद्ध हो गयी है और विचारसे ही जिन्हें ज्ञानमार्गमें जानेकी युक्ति ज्ञात है, वे मनुष्य नाना प्रकारके द्रुःखरूप गड्ढोंमें बार-बार नहीं गिरते अथीत् आवागमनसे मुक्त हो जाते हैं। सैकड़ों अनर्थोंके स्थोगसे जिसका शरीर जर्जर हो गया है तथा जो रोगप्रसा है, वह वैसा रुदन नहीं करता, जैसा वह मर्ख विलाप करता है, जिसने विचारहीनतासे अपने आत्माका हनन कर दिया है। विचारहीनता सारे अनर्थोंका निबी निवासस्थान है। सभी सत्पुरुष उसका तिरस्कार करते हैं और वह सारी दुर्गनियोंकी चरम सीमा है, अतः उसका परित्याग कर देना चाहिये। विचारपूर्वक स्थं द्वी अपनी बुद्धिद्वारा अपने मनको वशमें करके मोहमय संसारसागरसे अपने मनरूपी मृगका उद्धार करना चाहिये। मैं कौन हूँ और यह संसारनामक दोष मेरे निकट कैसे आ गया—इस विषयमें न्यायपूर्वक किया गया अनुसंधान 'विचार' कहलाता है। रघुनन्दन ! इस जगतमें सत्यके ग्रहण और असत्यके त्यागकी बुद्धिसे सम्पन्न पुरुषोंको विचारके द्विना उत्तम तत्त्वका कुछ भी ज्ञान नहीं होता। विचारसे ही तत्त्वका ज्ञान होता है, तत्त्वज्ञानसे मनकी निश्चलता प्राप्त होती है और मनके शान्त हो जानेसे सम्पूर्ण द्रुःखोंका सर्वथा विनाश हो जाता है। मूलभूत सभी लोग स्पष्ट विचारद्विष्टे ही समस्त कर्मोंकी सफलता लात करते हैं तथा उत्तम परमात्मसाक्षात्कारता भी विचारसे ही उपलब्ध होती है, इसलिये श्रीराम ! शमादि-

साधनसम्पन्न तुम्हें उपर्युक्त विचारशीलता रुचिकर होनी चाहिये।

परंतप राम ! संतोष ही परम श्रेय है और संतोष परम सुख भी कहा जाता है। संतोषयुक्त पुरुष परम विश्राम-को प्राप्त होता है। जो संतोषपूर्णी ऐश्वर्यके मुखसे सम्पन्न हैं तथा जिनका चित्त निरन्तर विश्रामपूर्ण रहता है, ऐसे शान्त पुरुषोंको विशाल साम्राज्य भी पुराने वासके टुकड़ेके समान प्रतीत होता है। श्रीराम ! संतोष-युक्त बुद्धि संसारकी विषम परिस्थितियोंमें भी न तो उद्दिश्य होती है और न कभी उसका विनाश ही होता है। जो शान्त पुरुष संतोषामृतके पानसे पूर्णतः तृप्त हो चुके हैं, उनके लिये यह अपरिमित भोगसम्पत्ति विष-सी जान पड़ती है। रागादि दोषोंका विनाशक तथा अत्यन्त मधुर आखादसे युक्त संतोष जैसा मुखद होता है, वैसा मुख ये अपूरतरसकी छहरियों नहीं दे सकती। जो विश्राम वस्तुकी आकाङ्क्षाका परित्याग करके प्राप्त इर्द वस्तुमें सममाद रखनेवाला है तथा जिसमें हर्ष-शोकके विकार परिलक्षित नहीं होते, वह मनुष्य इस लोकमें संतुष्ट कहा जाता है। जबतक मन आत्माके हाथ आत्मामें संतुष्ट नहीं हो जाता, तबतक उस मनरूपी गड्ढोंसे उसी प्रकार आपत्तियों उद्भूत होती रहती हैं, जैसे गड्ढोंसे लताएँ। संतोषसे शीतल हुआ मन विशुद्ध विज्ञानकी दृष्टियोंसे अत्यन्त विकासको प्राप्त होता है—ठीक उसी तरह, जैसे सूर्यकी किरणोंके सम्पर्कसे भग्न विकसित हो जाता है। जैसे मलिन दर्पणमें मुखकी ढाया नहीं दीखती, उसी प्रकार आशाकी परवशतासे व्याकुल एवं संतोषरहित चित्तमें ज्ञानका प्रतिविम्ब नहीं पड़ता। जिसका मन शारीरिक तथा मानसिक क्लेशोंसे मुक्त एवं संतुष्ट है, वह प्राणी दरिद्र होते हुए भी सच्चे साम्राज्य-मुखका उपभोग करता है। अपने आत्मामें आत्मासे ही स्थं सम्पूर्ण ग्रकारसे 'निरतिशय पूर्णनिन्दका आश्रय लेकर पुरुषार्थद्वारा प्रयत्नपूर्वक सभी विषयोंमें तृणा-

का परित्याग कर देना चाहिये। चन्द्रमाकी मौति सतोषमृतसे परिपूर्ण मनुष्यका मन शान्त एवं शीतल बुद्धिद्वारा स्थायं ही शाश्वती स्थिरताको प्राप्त हो जाता है। जब संतोषसे सत्सन्धि पुरुष अपने आत्मामें आत्मद्वारा स्वस्वरूपसे स्थित हो जाता है, उस समय उसकी सारी मानसिक व्यथाएँ उसीप्रकार अपने-आप शीघ्र ही समूल विनष्ट हो जाती हैं, जैसे वर्षा-शूत्रमें धूल शान्त हो जाती है। श्रीराम ! जिसकी वृत्ति सदा शीतल और कल्पकसे सर्वथा रहित है, वह पुरुष अपनी उम्र शुद्ध बृत्तिद्वारा चन्द्रमाकी मौति पूर्णतया शोभित होता है। रघुनन्दन ! इस जगतमें जो पुरुषत्रैषु गुणी पुरुषोद्धारा अभिमन समतासे सुशोभित है, उस विशुद्ध पुरुषको आकाशचारी देवता और महामुनि भी प्रणाम करते हैं।

महाबुद्धिमान् राम ! इस संसारमें श्रेष्ठ संत-समागम मनुष्योंका संसार-सागरसे उत्पारनेमें सर्वत्र विशेषरूपसे उपकार करता है। जो महात्मा पुरुष सत्संगतिरूपी वृक्षसे उत्पन्न हुए विवेक नामक निर्मल पुरुषकी रक्षा करते हैं, वे मोक्ष-कल्परूपी सम्पत्तिके अधिकारी होते हैं। जो आपत्तिरूपी कलिङ्गीके लिये हिम और मोहरूपी कुहरेके लिये बायुके समान है, वह उत्तम संत-समागम ही इस जगतमें सर्वोक्तुष्ट है। श्रीराम ! तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि संत-समागम विशेषरूपसे बुद्धि-वर्वक, अज्ञानरूपी वृक्षकर उच्छेदक और मानसिक व्यथाओंको दूर भगानेवाला है। सत्सङ्गसे प्राप्त हुई दिव्य विभूतियों ऐसा परम उत्तम निर्वाण-सुख प्रदान करती हैं, जो सतत वर्धनशील, अविनाशी और बाधारहित होता है। अतएव अत्यन्त कष्टदायिनी दशामें पड़कर विश्राताको प्राप्त हुए मनुष्योंको भी योद्धे समयके लिये भी सत्संगतिका परित्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि लोकमें सत्संगति सन्मार्गको प्रकाशित करनेवाली और इद्यान्धकारको दूर करनेके लिये ज्ञानरूपी सर्वकी प्रभा है। जिसने सत्संगतिरूपी गत्तमें, जो शीतल एवं निर्मल

है, स्मान कर लिया, उसे दान, तीर्थ, सप और यज्ञोंसे क्या लेना है अर्थात् सत्संगति इन सप्तसे बढ़कर है। जो रागबून्ध और संशयरहित हैं तथा जिनकी चिजड-ग्रन्थियों विनष्ट हो चुकी हैं, ऐसे सत पुरुष यदि लोकमें विद्यमान हैं तो तप एवं तीर्थोंके संप्रहसे क्या लाभ ! अर्थात् वह फल तो उन सतोंकी संगतिसे ही प्राप्त हो सकता है। इसलिये जिनकी चिजडग्रन्थियोंका विनाश हो गया है एवं जो ब्रह्मज्ञानी हैं, उन सर्वसम्पत्ति सलोकी सभी उपायोद्धारा भलीभांति सेवा करनी चाहिये, क्योंकि वे मवसागरसे पार होनेके लिये साधन हैं। किंतु जो लोग नरकाग्निको लुप्तानेके लिये वेष्वस्वरूप संतोंको अवहेलना-की दृष्टिसे देखते हैं, वे ख्य उस नरकाग्निकी सूक्ष्मी लकड़ी बन जाते हैं।

संतोष, सत्संगति, विचार और शम—ये ही चारों मनुष्योंके लिये भवसागरसे तरनेके साधन हैं। इनमें संतोष परम लाभ है। सत्संगति परम गति है। विचार उत्तम ज्ञान है और शम परमोक्तुष्ट सुख है। ये चारों संसारका समूल विनाश करनेके लिये विशुद्ध उपाय हैं। जिन्होंने इनका भलीभांति सेवन किया, वे मोह-जलसे परिपूर्ण भवसागरसे पार हो गये। लुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ राम ! इन चारों साधनोंमेंसे विशुद्ध प्रकाशात्मे एक ही साधनका अव्याप्त हो जानेपर शेष तीनों भी अवश्य अस्यत हो जाते हैं; क्योंकि इनमेंसे एक-एक भी क्रमशः इन चारोंकी जन्मभूमि है। अतः सत्की सिद्धिके लिये यत्नपूर्वक एकका तो पूर्णरूपसे आश्रय लेना ही चाहिये। जैसे प्रशान्त सागरमें जलयाम सच्चिन्द गतिसे चलते हैं, उसी प्रकार शमद्वारा निर्मल हुए इद्यमें सत्समागम, संतोष और विचार उत्तम धारणापूर्वक प्रवृत्त होते हैं। जो प्राणी विचार, संतोष, शम और सत्समागमसे सम्पन्न है, उसे दिव्य ज्ञान-सम्पत्तियों उपलब्ध हो जाती है—ठीक उसी तरह, जैसे कल्पवृक्षका आश्रय सेनेवाले पुरुषको लौकिक

सम्पत्तियों सुलभ होती हैं। पूर्ण चन्द्रमामें परिभूषित हुए सौन्दर्य आदि गुणोंकी तरह विचार, शम, सत्समागम और संतोषयुक्त मानवमें प्रसाद आदि गुण प्रादृश्यत हो जाते हैं। जैसे श्रेष्ठ मन्त्रिगणोंसे युक्त राजाके पास इच्छयलक्ष्मी उपस्थित होती है, उसी तरह जिस पुरुषकी बृद्धि सत्सङ्ग, संतोष, शम और विचारसे युक्त होनेके कारण उत्तम हो गयी है, उसे दिव्य ज्ञान-सम्पत्ति सुलभ हो जाती है। इसलिये रघुनन्दन। मनुष्यको चाहिये कि वह पुरुषार्थसे मनको बहामें करके इनमेंसे एक गुणका नित्य यज्ञशूर्वक उपार्जन करे; क्योंकि

जबतक मनुष्य परम पुरुषार्थके आश्रयसे अपने वित्तखणी गजयाजको जीतकर हृदयमें एक गुण मी धारण नहीं कर लेता, तबतक उत्तम गतिकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जिसके वित्तमें उत्तम फलदायक एक ही गुण सुखद हो गया है, उसके सारे दोष शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं; क्योंकि एक ही गुणकी विशेष वृद्धि होनेपर दोषोंपर विजय प्रदान करनेवाले अनेक गुणोंकी वृद्धि होती है और एक दोषके अधिक बढ़ जानेपर बहुत-से गुण-विनाशक दोष बढ़ जाते हैं। (सर्ग १४—१६)

### प्रकरणोंके क्रमसे ग्रन्थ-संख्याका वर्णन, ग्रन्थकी ग्रंथांश, शान्ति, ब्रह्म, द्रष्टा और दृश्यका विवेचन, परस्पर सहायक ग्रन्था और सदाचारका वर्णन

बीकसिठ्ठी कहते हैं—रघुनन्दन। जिसका हृदय पूर्वोक्त प्रकारके विवेकसे युक्त है, वही इस जगत्में महान् है और वही ज्ञानोपदेश सुननेका योग्य अधिकारी है—ठीक उसी तरह, जैसे राजा नीति-ज्ञानके श्रवणका उत्तम पात्र होता है। जैसे मेघजालसे रहित शरकाल-का आकाश चन्द्रमाके लिये योग्य होता है, उसी तरह जो मूर्खोंके सङ्गसे रहित एवं महान् आशयवाला है, वह निर्मल पुरुष विशुद्ध विचारका योग्य भाजन है। श्रीराम। तुम इस समग्र गुणलक्ष्मीसे सम्पन्न हो; अतः मैं आगे जिसका वर्णन करूँगा, उस मनके मोहको हरनेवाले वाक्यको सुनो। जिसका पुर्णरूपी कल्पवृक्ष फलोंके मारसे अथन्त छुका हुआ छड़ा है, वही पुरुष मुक्ति-प्राप्तिके निभित हसे श्रवण करनेके लिये उत्थोग करता है। अतः उपर्युक्त गुणसम्पन्न पुरुष ही कल्पाण-प्राप्तिके लिये पवित्र, उदार तथा परायेकी ज्ञान प्रदान करनेवाले वचनोंके सुननेका अधिकारी होता है।

यह संहिता मोक्ष-साधनकी प्रतिपादिका, सारभूत अर्थोंसे परिपूर्ण और मोक्षदायिनी है। इसमें वच्चीस

हजार\* स्लोक बतलाये जाते हैं। जैसे गाढ़ निद्राके बशीभूत हुए पुरुषके सामने दीपक जला दिये जानेपर यथापि हसे प्रकाशकी कामना नहीं रहती तो भी प्रकाश होता है, उसी प्रकार इस संहिताके परिशीलनसे इच्छा न रहनेपर भी निर्बाणकी प्राप्ति हो जाती है। यह संहिता स्वयं सम्पूर्ण प्रकारसे परिशीलन करके जानी गयी हो अथवा अन्यद्वारा वर्णन किये जाते समय सुनी गयी हो, तो भी पाप-तापकी शान्तिद्वारा सुखकी हेतुमूला

\* इस ग्रन्थके छहों प्रकरणोंमें क्रमशः वैराग्यप्रकरणमें ११४५, मुसुक्षुव्यवहारप्रकरणमें ८०७, उत्पत्तिप्रकरणमें ५४०४, स्थितिप्रकरणमें २४०५, उपशमप्रकरणमें ४२७७ और निर्वाणप्रकरणमें १४२७५ श्लोक-संख्या है—इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थमें श्लोकोंकी संख्या २८३१२ मिलती है। किंतु यहाँ इस समयमें, वैराग्यप्रकरणमें १५००, मुसुक्षुव्यवहारप्रकरणमें १०००, उत्पत्तिप्रकरणमें ७०००, स्थितिप्रकरणमें ३०००, उपशमप्रकरणमें ५००० और निर्वाणप्रकरणमें १४५०—इस प्रकार कुल ३२००० श्लोक बताये गये हैं। ग्रन्थमें आये हुए वडे श्लोकोंके और गणभागके अक्षरोंकी संख्याको ३२ अस्तरके एक अनुच्छुप श्लोकके हिमायसे गिननेपर यह संख्या प्रायः ठीक हो सकती है।

देवनदी गङ्गाके समान यह अज्ञानके उपशमद्वारा तुर्त छुल प्रदान करती है। जैसे रस्तीका पूर्ण ज्ञान हो जानेसे उसमें उत्पन्न हुई सर्वभान्ति विनष्ट हो जाती है, उसी तरह इस सहिताके सच्चक परिशीलनसे सार-दुःख शान्त हो जाता है। इस सहितामें पृथक-पृथक् रचे गये छ प्रकरण हैं, जो युक्तिगुक्त अर्थवाले वाक्यों-से युक्त और सार-सार दृष्टिन्तोसे भरी हुई सूक्ष्मियोंसे समन्वित हैं। उनमें पहला प्रकरण 'वैराग्य' नामसे कहा गया है, जिसके अध्ययनसे उसी प्रकार विरागकी वृद्धि होती है, जैसे मृत्युलम्बमें भी जलके सिंघनसे शूक्ष बढ़ता है। जैसे मणिके मलीमौनि मार्जित किये जानेके कारण उत्पन्न हुए प्रकाशसे उसमें निर्भलता प्रकट हो जाती है, उसी तरह ढेढ हजार लोकोंसे युक्त इस वैराग्य-प्रकरणका विचार करनेसे विषयोंके दोषोंका परिज्ञान होनेके कारण उत्पन्न हुए विवेकके प्रकाशसे इदयमें शुद्धताका उदय हो जाता है। तदनन्तर 'मुमुक्षुव्यवहार' नामक प्रकरणकी रचना की गयी है। इस प्रकरणमें केवल एक हजार लोक हैं। युक्तियोंसे मग्न होनेके कारण यह अस्थन्त मुन्दर है और इसमें मुमुक्षु पुरुषोंके समानका वर्णन किया गया है। इसके बाद तीसरा 'उत्पत्तिप्रकरण' आता है, जो दृष्टान्त और आस्थायिकाओं-से परिपूर्ण तथा विज्ञानका प्रतिपादक है। उसमें सात हजार लोक हैं। इस प्रकरणमें 'आहं' और 'भ्वं' विस्तृत रूपरूप हैं एवं जो वास्तवमें उत्पन्न न होकर भी प्रकट हुई-सी प्रतीत होती है, द्रष्टा और दृश्यके भेदसे समन्वित उस सांसारिक समर्पितिका वर्णन किया गया है। इस प्रकरणके द्वुननेपर श्रोता इस सम्पूर्ण जगत्को अपने इदयमें ऐसा समझता है कि यह 'भ्वं' और 'आहं'के विस्तारसे युक्त, लोक, पर्वत और आकाशसे समन्वित, संकरपूर्यमय नगरके तुल्य क्षणबंसी, स्वर्णमें प्राप्त हुए पदार्थोंके समान सत्तारहित, मनोरञ्जकी तरह विस्ताराला, अर्थशून्य होनेके कारण गन्धर्वनगरके

सहश, दो चन्द्रमाओंकी आन्तिके समान मृगलूप्यमें जलभ्रान्तिकी तरह, नौकाके चलनेसे पर्वतादिके संचलन भ्रमकी भौति चल और यथार्थ लाभसे रहित है तथा जैसे मुकुर्णमें कङ्कण, जलमें तरङ्ग और आकाशमें नीलिमा असत् है, वस्तुतः ये आमशः अपनेअपने अविष्टानके ही अङ्ग हैं, उसी तरह यह जगत् असत् होकर भी सत्-रूपसे उत्पन्न हुआ है। परमार्थ दृष्टिसे तो यह उस विज्ञानरूपी शरत्कालके आकाशके समान है, जिसका अज्ञानरूपी कुहरा पूर्णरूपसे शान्त हो गया है।

उत्पशात् चौथे 'स्थितिप्रकरण'की अवतारणा की गयी है। इस प्रकरणमें तीन हजार लोक हैं और यह व्याख्यान और आस्थायिकाओंसे भरा हुआ है। ग्रस्त ही दृष्टा और दृश्य भावको खोकार करके इस प्रकार जगद्-रूप एवं अहंरूपसे स्थितिको प्राप्त हुआ है—ऐसा इस प्रकरणमें कहा गया है। इसी तरह यह जगद्-भ्रम जो दसों दिशाओंके मण्डलकी विशालतासे देवीपूर्यमान है और चिरकालसे वृद्धिको प्राप्त होता आया है, यह विषय भी उस प्रकरणमें समझाया गया है।

तदृपरान्त पाँचवें 'षुपशान्ति' प्रकरण कहा गया है। इसमें पाँच हजार लोक हैं। यह परम पावन तथा विविध युक्तियोंसे युक्त होनेके कारण अस्थन्त मुन्दर है। इस प्रकरणमें यह जगत् है, यह मैं हूँ, यह तुम हो और यह वह है—यों उत्पन्न हुई आन्ति किस प्रकार पूर्णरूपसे शान्त होती है, यह विषय बहुत-से लोकों-द्वारा बतलाया गया है। उपशमप्रकरणका अवधारण करनेसे यह संसार प्रायः शान्त हो जाता है; क्योंकि जिसका आन्त रूपरूप सम्पूर्ण प्रकारसे शान्त हो गया है—ऐसी संस्कृतिका शताशमात्र अवशिष्ट रह जाता है।

तदनन्तर 'निर्वाण' नामक छठे प्रकरणका वर्णन किया गया है। उसमें शेष सावे चौदह हजार लोक हैं। यह प्रकरण ज्ञानरूपी महान् पुरुषार्थका देनेवाला है। उसे जान लेनेपर सारी कल्पनाएँ शान्त हो जाती

है और परमात्माकी प्राप्तिरूप परम कल्याण हस्तगत हो जाता है। अधिक क्या, उत्ता प्रकरणके ज्ञाता पुरुषके सम्पूर्ण सांसारिक भ्रम मिट जाते हैं। वह निर्विद्य चैतन्य प्रकाशरूप, विद्वानस्वरूप, आधि-अ्याधियोंसे रहित और आकाशमण्डलके समान निर्विकार हो जाता है। उसकी सभी जगद् यात्राएँ शान्त हो जाती हैं और वह कृतकृत्य होनेके कारण स्वस्य हो जाता है। वह प्रकृति एव प्रकृतिके कार्यभूत सम्पूर्ण विषयोंमें कर्ताके अभिमान और ग्रहण-त्यागकी दृष्टिसे रहित हो जाता है, इसलिये वह देहधारी होते हुए विदेह-सा एव संसारी होनेपर भी असंसारी-सा प्रतीत होता है। उसका अद्विकाररूप पिशाच नष्ट हो जाता है और वह देहयुक्त होते हुए भी शरीर-रहित-सा रहता है। चैतन्यधन परमात्मा अपने अंदर कल्पित आकाशमें प्रत्येक परमाणुमें सहजों लोकोंकी रचना करके उन्हें धारण करता है और स्थृत उन्हें देखता है।

श्रीगम ! जैसे उपज्ञाऊ खेतमें उचित समयपर बोये गये उत्तम बीजसे अवश्य ही श्रेष्ठ फल प्राप्त होता है, उसी तरह इस संहिताको हृदयगम कर लेनेसे परमार्थ-विषयक ज्ञान सुलभ हो जाता है। जैसे प्रातःकाल होनेपर प्रकाशका होना अवश्यम्भावी है, ऐसे ही इस संहिताको चित्तमें धारण कर लेने मात्रसे निष्ठ्य ही उत्तम विवेककी उपलब्धि होगी। विद्वानोंके मुखसे इसका अवश्यन करके अथवा स्थृत ही इसे समझकर धीरे-धीरे विचार करनेसे जब बुद्धि सुदृढ़रूपसे संस्कृत हो जाती है, तब पहले हृदयमें सभासानको विभूषित करनेवाली ऊँची छताके समान संस्कारयुक्त विशुद्ध धारणीका उदय होता है। फिर महान् गुणोंसे सुशोभित वह श्रेष्ठ चतुरता प्रकट होती है, जिससे राजा तथा देवगण भी प्रसन्न होते हैं। जैसे सुन्दर नेत्रोंसे युक्त पुरुष रात्रिके समय दीपक हाथमें लेकर सभी पदार्थोंको देख लेता है, उसी तरह बुद्धिमान् मनुष्य सर्वत्र पूर्ण-

परका ज्ञाता हो जाता है। इस ग्रन्थके अन्यासुसे जिसका अज्ञानान्धकाररूप आवरण फंट गया है वत्तरव वो पदार्थके प्रविभाजनमें समर्थ हो गयो है; ऐसी प्रक्षा कालिमारहित रत्नदीपककी लौके समान उल्लङ्घ प्रकाशवाली हो जाती है। प्रस्तुत ग्रन्थका ज्ञाता पुरुष चाहे भयहेतुओंके सम्मुख ही क्यों न खड़ा हो, फिर भी जैसे बाण बड़ी-बड़ी चट्टानोंको विदीर्ण नहीं कर सकते, उसी तरह भयंकर सांसारिक भय उसके हृदयको पीड़ा नहीं पहुँचा सकते। इस ग्रन्थके अध्ययनसे जन्ममें ग्राहणकी और कर्ममें पुरुषार्थकी वरणता कैसे होगी ?—इस प्रकारके संशय-समुदाय दिनमें अन्धकार-की भाँति विलीन हो जाते हैं। इस ग्रन्थका विचार करनेवाले पुरुषके हृदयमें समुद्रकी-सी गमीरताका, झुमेहगिरिकी-सी धीरताका और चन्द्रमाकी-सी शीतलताका उदय हो जाता है। जब हृदयाकाशमें शक्तिके आलोकसे विभूषित विवेकरूपी निर्मल सूर्यका उदय हो जाता है, तब निष्ठ्य ही अनर्थसूचक कामादि धूमकेतु अपना उदय नहीं ले पाते। धैर्यकी पराकाशाको प्राप्त हुई जो बुद्धि धर्मरूपी दीवालमें गाढ़रूपसे संचान हो गयी है, उसे मानसिक भिन्नाएँ विचलित नहीं कर सकती, जैसे वायु विश्रलिखित छताको नहीं कैंपा सकती। तत्त्वज्ञ पुरुष विषयासक्तिरूप गङ्गेमें नहीं गिरता; क्योंकि जिसे उत्तम मार्गिका ज्ञान है, वह मला गङ्गादेवी और क्यों दौड़ेगा। सद-शास्त्रोंके परिशीलनसे जिनका चरित्र उत्तम हो गया है, उनकी बुद्धि यथायोग्य प्राप्त शाकानुशूल कर्ममें ही रमण करती है—ठीक उसी तरह, जैसे पतिव्रता खी अपने अन्त-पुरके खोगनमें ही प्रसन्न रहती है। जिस पुरुषका अन्तःकरण मोक्ष-साधनके अनुभवसे शुद्ध हो गया है, उसे मोगसमुदाय न तो कभी पीड़ित ही करते हैं और न आनन्द ही देते हैं। वह अनिष्ट कार्योंके प्राप्त होनेपर न तो द्रेष करता है और न इष्ट कार्योंके नष्ट हो जानेपर उनकी आकर्षक-

हो करता है; बलिक वह कार्य-फलादिके स्वरूपका ज्ञाता होकर भी जड वृक्षकी भौमि अनभिज्ञका-सा आचरण करता है। वह साधारण जनकी तरह सम्पानुकूल ग्राम हुए पदार्थोंसे ही निर्वाह करता हुआ देखा जाता है—यहाँकि कि अथवा अनिष्ट फलके ग्राम होनेपर भी उसके हृदयमें स्वस्थमात्र भी निकार नहीं होता। राधव ! इस सम्पूर्ण शास्त्रको वैचारकर और समशक्त किर इसपर विचार करो। यह कथनमात्र नहीं है, बलिक देवोंके वरदान और शापकी भौमि इसका फल अधर्य ग्राम होता है। यह मुन्दर शास्त्र उत्तम ज्ञानसे युक्त अलंकारोंसे विभूषित, कर्मस्वरूप और सरस है। इसमें दृष्टान्तोंद्वारा विषयका ग्रतिपादन किया गया है। जिसे योहा भी पद पदार्थका ज्ञान है, वह स्वयं ही उसे समझ लेता है; किन्तु जो स्वयं इसे जाननेमें असमर्थ है, उसे पण्डितके मुखसे सुनना चाहिये। जैसे संकल्पद्वारा निर्मित नगरमें पुरुषको हर्ष-विपाद वाधा नहीं पहुँचाते उसी तरह संसार-भ्रमका परिक्लान हो जानेपर यह भी कष्टदायक नहीं होता। जैसे यह चित्रलिखित सर्प है, वास्तविक सर्प नहीं है—ऐसा जान लेनेपर वह सर्प-जनित भयका दाता नहीं होता, उसी तरह इस दृश्य संसाररूपी सर्पका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर यह भी सुख अथवा दुःख नहीं देता। जैसे चित्रलिखित सर्पका पूर्ण ज्ञान हो जानेपर उसका सर्पत्व ही नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार संसारका वास्तविक स्वरूप ज्ञात हो जानेपर यह स्थित छहते हुए भी शान्त हो जाता है अर्थात् इसका ग्रन्थ नहीं पढ़ता।

रुद्रनन्दन ! यह शास्त्र ज्ञानका विद्यार करनेवाला और बुद्धिद्वारा ग्रहण किये जानेवाले सारभूत पदार्थोंकी परमावधि है। अब मैं इसका वर्णन करता हूँ, सुनो। पहले जिस विधि से यह शास्त्र श्रवण किया जाता है तथा जिस परिमाणासे इनका यथार्थरूपसे विचार करनेका विश्वान है, वह अष्टरणिका श्रवण करो। जिस देखे

हुए पदार्थके सादृश्यसे अनुभवमें ज आये हुए पदार्थका ज्ञान कराया जाता है, बोधोपकाररूप फल प्रदान करनेवाले उस सादृश्यको विद्वान् लोग दृष्टान्त कहते हैं। श्रीराम ! जैसे रात्रिमें दीपकके विना घरमें रक्से हुए वर्तन आदि सामग्रियोंका ज्ञान नहीं हो सकता, उसी तरह दृष्टान्तके विना अर्द्ध अर्थका बोध होना असम्भव है। उपमान और उपमेयके जिस कार्य-कारणमात्रका प्रतिपादन किया गया है, वह परमात्माको छोड़कर शोष सभी पदार्थोंके साथ लागू होता है। मैं यहाँ ब्रह्मोपदेशके प्रसङ्गमें तुमसे जो दृष्टान्त कह रहा हूँ, उसमें एकदेशके साधर्म्यसे प्रकृतार्थका परिग्रहण किया जाता है। यहाँ ब्रह्मतत्त्वका बोध करानेके लिये जो-जो दृष्टान्त दिया जाता है, वह स्वप्नमें प्रतीत होनेवाले पदार्थोंकी तरह मिथ्याभूत जगत्के अन्तर्गत ही है—ऐसा समझना चाहिये। उत्पत्तिके पूर्व और विनाशके उत्तरकालमें जैसे यह जगत् अध्यात्मप्रस्तुत था, उसी तरह वर्तमान कालमें भी विचार करनेपर अवस्थाभूत ही है; अतः मिथ्यात्वके कारण जाग्रत् और स्वप्न—हन् दोनोंकी समग्रता है। यह प्रसिद्ध बात बालकोंतककी समझमें आ सकती है। मोक्षसाधनोंके निर्माता ग्रन्थकर्ता महर्षि वाल्मीकिने दूसरे भी जिन प्रथ्योंकी रचना की है, उनमें भी ज्ञातव्य वस्तुका ज्ञान करानेके लिये केवल यही व्यक्तस्था रखी है कि दृष्टान्तोंके जिस अंशमें समाप्ता सम्भव हो, उसी अंशके साथ समाप्ता रखी जाय। चूँकि यह जगत् स्वप्न, संकल्प और ध्यानसे कलिपित नगरके समान मिथ्या है, इसी कारण यहाँ वे ही दृष्टान्त दिये गये हैं, दूसरे नहीं। ज्ञानप्राप्तिके लिये कारणरहित ब्रह्ममें जो कारणताकी उपमा दी जाती है, वहाँ उपमाप्रयुक्त पदार्थोंके साथ सर्वाशमें साधर्म्य सम्भव नहीं हो सकता। अतः विशदरहित बुद्धिमान् पुरुषको ज्ञानप्राप्तिके लिये उपमानसे उपमेयका एक अंशमें ही साधर्म्य स्थीकार करना चाहिये। पदार्थोंके

अवलोकनमें दीपकके प्रकाशमात्रके अतिरिक्त उसके पात्र, तेल और बत्ती आदि किसीका भी उपयोग नहीं होता। केवल एकदेशके साइर्श्यं उपमान उपमेयका ज्ञान करा देता है। जैसे 'मणिर्दीप इव' इस दृष्टान्तमें उपमान दीपक केवल प्रकाशसे उपमेय मणिका बोधक होता है। दृष्टान्तके अंशमात्रसे ज्ञेय तत्त्वका ज्ञान हो जानेपर 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंके अर्थका निश्चय उपादेयरूपसे प्रहण करना चाहिये। कुशार्किताका आश्रय लेकर अनुभवविश्व अपवित्र विकल्पोद्धारा प्रबुद्धताका नाश नहीं करना चाहिये।

श्रीराम! दृष्टान्तके द्वारा अद्वितीय आत्मज्ञानरूप शासार्थके ज्ञानसे महावाक्यार्थमूर्त व्रक्षरूपसे सम्यक् प्रकारसे सिद्ध हुई शान्तिको ही निर्वाण कहा जाता है। इसलिये दृष्टान्त और दार्ढान्तके विविध विकल्पोंके पच्छेसे कोई प्रयोजन नहीं है। किंतु जिस किसी भी युक्तिसे महावाक्यार्थका भलीभांति आश्रय लेना चाहिये। गष्ठ! तुम शान्तिको ही परम श्रेय जानो, अतः उसकी प्राप्तिके लिये यत्नशील हो जाओ; क्योंकि शान्ति और शास्त्र-ज्ञानसे विभूषित विचारपरायण पुरुषको दृष्टान्त एवं शास्त्रोपदेश, सौजन्य, उत्तम बुद्धि और शास्त्रज्ञ पुरुषोंके समागमद्वारा यत्नका आश्रय लेकर उत्तम परम पदको प्राप्त करना चाहिये। विद्वान् पुरुषको तबतक विचार करते रहना चाहिये, जबतक पुनः नष्ट न होनेवाली तुर्यपद नामक शान्तिमयी आत्मविद्वान्ति प्राप्त न हो जाय। जो पुरुष तुर्यपद नामक शान्तिसे युक्त होकर भवसागरसे पार हो गया है, वह गृहस्थ हो या सम्यासी, उसका जीने या न जीनेसे अथवा कर्म करने या न करनेसे कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। जैसे सम्पूर्ण जलोंका अधिष्ठान समुद्र है, उसी तरह सारे प्रमाणोंकी सत्ताका प्रमाण एकमात्र प्रस्तुक ही है; अतः अब तुम उसके विषयमें श्रवण करो। श्रेष्ठ पुरुष सारी इन्द्रियोंके सारभूत ज्ञानको प्रस्तुक कहते हैं। जिस इन्द्रियके

प्रति जो ज्ञान सिद्ध होता है, वही प्रस्तुक कहा जाता है। अनुभूति, वेदन और प्रतिपत्तिके नामानुसार इस शास्त्रमें उसीका प्रस्तुक नाम रखा गया है। वही हमलोगोंका जीव है, वही संवित् है, वही 'आहंता' की प्रतीतिका विषयभूत साक्षी पुरुष है। वह अब संवित्के सहयोगसे उदित होता है, तब उसे पदार्थ कहा जाता है। जैसे जल तरङ्ग आदिके रूपमें दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार वह परमात्मा संकल्प-विकल्प आदि नाना प्रकारके भ्रमोंके कारण जगदरूपसे प्रकाशित होता है। सुष्ठिके पूर्व जो कारणरहित था, वही सुष्ठिके आरम्भमें सुष्ठिलीलावश स्थूल विषयमें स्फुरित होकर प्रस्तुक कारण हुआ। जीवका अन्नान जनित कारण यथापि असत् है, तथापि वह सद्-सा प्रतीत होता है। अहीं इस प्रकृतिमें जगदरूपसे व्यक्त हुआ है। विचार तो स्थूल ही स्थकर्म-नुसार प्राप्त हुए अपने शरीरका नाश करके शीघ्र ही महान् परम पदको प्रकट कर देता है। विचारवान् पुरुष जब परमात्माको प्राप्त कर लेता है, तब उसका विचार भी उसीमें विलीन हो जाता है, उस समय वर्णनातीत केवल परमात्मा ही अवशिष्ट रह जाता है।

इस प्रकार प्रपञ्चका अमाव हो जानेके कारण अपने बुद्धि, इन्द्रिय और कर्मोद्धारा भनके इच्छारहित अतएव शान्त हो जानेपर उसका न सौ कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न न करनेसे ही। फिर तो जैसे संचालकके द्वारा विना खलाया हुआ यन्त्र काम नहीं देता, उसी तरह इच्छारहित भनके शान्त हो जानेपर कर्मनिर्दियों कर्म आदिमें प्रवृत्त ही नहीं होती। आदा इन्द्रियोद्धारा विषयप्रहण एवं मनद्वारा विषयानुसंधान-रूप पदार्थोंसे समाकुल यह जगत् विचारके अन्तर्गत विद्यमान है—ठीक उसी तरह, जैसे स्पन्दन वायुके भीतर ही होना है। शुद्ध सर्वात्मविषयक विचार जिस प्रकार कर्मानुसार भोगके लिये प्रकट होता है, तदनुरूप ही वह दिशा, काल तथा बाह्य एवं आन्तर पदार्थोंके

रूपमें विस्तृतरूपसे शोभित होता है। वह विचार शरीर आदि में दृश्यताभासको देखकर 'यही मेरा स्वरूप है' यों मोहब्बत भारणा करके स्थित है। उसको अपना रूप जहाँ, जैसे और जिस प्रकारका प्रतीत होता है, वह वैसा ही हो जाता है। वह सर्वात्मा जहाँ जिस प्रकार आकिर्मूर्त ढोता है, वहाँ वैसे ही तत्काल स्थित हो जाता है और उसे अपना ही स्वरूप मानकर बुद्धिमित होता है। सर्वात्मकताके कारण दृष्टिमें दृश्यत्वका आरोप होता है। वह दृश्यत्व दृष्टिकी उपस्थितिमें ही सम्भव है, अन्यथा दृश्यता भी वास्तविक नहीं है। अतः प्राप्तक्षम ही कारणरहित अद्वितीय ब्रह्मरूपसे सिद्ध हुआ स्थित है। वही सभी प्रमाणोंका निर्माण है, क्योंकि अनुमान आदि प्रमाण प्रत्यक्षपूर्वक होनेके कारण उसीके अंश हैं। स-मुख्यमात्र राम! अपने कर्ममात्रको दैव—प्रारब्ध मानकर उसकी उपासना करनेवाला इन्द्रियजयी पुरुष उस दैव-क्षम्भार्य अर्थात् प्रारब्धको दूर हटाकर अपने पुरुषार्थ-द्वारा उस परम पदको अपने भीतर ही प्राप्त करता है।

रघुनन्दन! पहले संत-समागमरूपी युक्तिके द्वारा वल्लभार्यक अपनी बुद्धिको बढ़ाना उचित है। तत्प्रकार महापुरुषोंके लक्षणोंके अनुकरणसे अपनेमें महापुरुषता

जानी चाहिये। इस जगत्में जो-जो पुरुष जिस-निस गुणसे विशेषरूपसे सम्पन्न है, वह उसी गुणके द्वारा विशिष्ट समझा जाता है; अतः शीघ्र ही उस पुरुषसे वह गुण प्राप्त करके अपनी बुद्धिकी बुद्धि करनी चाहिये। जैसे कमलसे सरोवर और सरोवरसे कमल परस्पर उन्नति-आम करते हैं, उसी तरह ज्ञानसे शम आदि गुण और शम आदि गुणोंसे ज्ञान—ये परस्पर बुद्धिगत होते रहते हैं। सत्पुरुषोंके सदाचरणसे ज्ञानकी और ज्ञानसे सत्पुरुषोंके आचरणकी बुद्धि होती है। यों ज्ञान और सत्पुरुषोंके आचरण परस्पर एक-दूसरेके सहयोगसे बढ़ते रहते हैं। तात! जबतक इस सासारमें ज्ञान और सदाचारका समानरूपसे अभ्यास नहीं किया जाता, तबतक पुरुषको इन दोनोंमेंसे एककी भी सिद्धि नहीं होती। रघुनन्दन! जिस प्रकार मैंने सदाचारके क्रमका वर्णन किया है, उसी तरह अब आगे ज्ञानक्रमका भलीमौति उपदेश करूँगा। यह सत्-शास्त्र कीर्तिकारक, आयुधवर्धक और परम पुरुषार्थरूप फल प्रदान करनेवाला है; अतः बुद्धिमान् पुरुषको इसका श्रवण करना चाहिये।

( सर्ग १७—२० )

॥ मुमुक्षु व्यवहार-प्रकरण सम्पूर्ण ॥



## उत्पत्ति-प्रकरण

**दृश्य जगत् के मिथ्यात्वका निरूपण, दृश्य ही बन्धन है और उसका निवारण होनेसे ही मोक्ष होता है, इसका प्रतिपादन तथा द्रष्टव्यके हृदयमें ही दृश्यकी स्थितिका कथन**

श्रीकृष्णजी कहते हैं—श्रीराम ! जिसमें मुमुक्षुओंके व्यवहारोंका ही प्रधानरूपसे वर्णन है, उस मुमुक्षु-व्यवहार-प्रकरणके बाद अब मैं इस उत्पत्ति-प्रकरणका वर्णन करता हूँ । जबतक दृश्य जगत्की सत्ता है, तभीतक यह जन्म-मृत्युरूप संसारका बन्धन है । दृश्य-का अमाव हो जानेसे बन्धन कदापि नहीं रह सकता । यह दृश्य जगत् जिस प्रकार उत्पन्न होता है, वह बता रहा हूँ । तुम क्रमशः व्यान देकर सुनो । संसारमें जो उत्पन्न होता है, वही वृद्धि एवं क्षयको प्राप्त होता है । वही बृंधन और मोक्षको प्राप्त होता है तथा वही खर्ग या नरकमें पड़ता है । अपने स्वरूपका बोध न होनेसे ही बन्धन है । इसलिये स्वरूपके बोधके लिये ही मैं आगोकी बात बता रहा हूँ ( इससे तुम्हें यह ज्ञात होगा कि यह दृश्य प्रपञ्च कभी हुआ ही नहीं ) । उत्पत्ति आदिका सम्बन्ध इस दृश्य जगत्से ही है ( आत्मासे नहीं ) । आत्मा तो दृश्यकी उत्पत्तिसे पहले जैसा रहा है, वैसा ही उसकी उत्पत्तिके बाद भी है ( वह सदा ही एकत्रस रहता है ) जैसे सुषुप्तिमें स्वप्नके संसारका अमाव हो जाता है, उसी तरह यह जो समस्त चराचर जगत् दिखायी देता है, इसका कल्पके अन्तमें विनाश ( अमाव ) हो जाता है । उत्पत्ति निकिय गमीर ( अपरिच्छिन्न ), नाम-रूपसे रहित और अध्यक्ष कोई अनिर्वचनीय सद् वस्तु ही शेष रह जाती है वह तेजस्तस्य नहीं है, क्योंकि उसके रूप नहीं होता । तथा वह तमोमय भी नहीं है, क्योंकि वह स्वयं प्रकाशस्वरूप है । विद्वानोंने व्यवहार-निर्वाहिके लिये उस सत्-स्वरूप परमात्माके ऋत, आत्मा, परमात्मा तथा सत्य इत्यादि नाम रख लोडे हैं ।

सोनेका बना हुआ कड़ा सोना ही है । उस सोनेसे 'कट्क' शब्दका अर्थ ( कड़ा ) जैसे पृथक् नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार 'जगत्' शब्दका जो अर्थ है वह परत्रिवापर ही आधारित है, अतः उससे पृथक् नहीं है । जैसे कड़ेका स्वरूप सुबंद्रके स्वभावके ही अन्तर्गत है, कड़ेके स्वभावके अन्तर्गत नहीं, उसी प्रकार यह दृश्यमान जगत् भी अपने परिच्छिन्न स्वभावको त्याग देनेपर ब्रह्ममावमें ही प्रतिष्ठित है, 'जगत्' शब्दके अर्थमें नहीं । ( तात्पर्य यह कि सोनेमें ही कड़ेकी कल्पना हुई है, कड़ेमें नहीं । उसी तरह ब्रह्ममें ही जगत्की कल्पना हुई है, जगत्में नहीं; अतः वह ब्रह्मसे मिलन नहीं है । ) जैसे मह-मरीचिकामें प्रतीत होनेवाली नदी अपने भीतर न होनेपर भी चबूल तरङ्गोंका विस्तार करती है और वे तरङ्गे सच्ची सी जान पड़ती हैं, उसी प्रकार मन ही इस जगतरूपी द्रुन्दजालकी सम्पत्तिका विस्तार करता है और वह सम्पत्ति असद् होनेपर भी सत्य-सी प्रतीत होती है । जिसके कारण असद् वस्तु भी सत्-सी प्रतीत होती है, वह माया है । सर्वज्ञ विद्वानोंने उसके अविद्या, संसृति, बन्ध, माया, मोह, महत् और तम आदि अनेक नामोंकी कल्पना की है ।

प्रिय श्रीराम ! दृश्य-प्रपञ्चका अस्तित्व ही द्रष्टव्यका बन्धन कहा गया है । दृश्यके बलसे ही द्रष्टा बन्धनमें पड़ा है । दृश्यका निवारण हो जानेपर वह उस बन्धनसे मुक्त हो जाता है । 'सद्' ( त ), 'अहम्' ( मैं ) और 'इदम्' ( यह ) इत्यादि रूपोंमें कल्पित जो मिथ्या नगत् है, उसीको दृश्य कहते हैं । जबतक वह दृश्य बना रहता है, तबतक मोक्ष नहीं होता । यदि यह दृश्यजगत् बास्तवमें है, तब तो किसीके लिये उसका

निवारण नहीं हो सकता; क्योंकि जो असत् वस्तु है, उसका अस्तित्व नहीं है और जो सत् वस्तु है, उसका कभी असाध नहीं होता। चित्-खल्प आसाका जिसे वौध नहीं है, वह व्रथ जहाँ कहीं भी रहता है, कहीं उसकी दृष्टिके समक्ष इस दृश्य जगत्का वैसव प्रकट हो जाता है। इस दृश्य-प्रपञ्चके रहते हुए निर्विकल्प समाधि कैसे हो सकती है? निर्विकल्प समाधि होनेपर ही चेतनता और तुरीय पदकी उपपत्ति होती है। जैसे सुषुप्ति ( प्रगाढ़ निद्रा ) के पश्चात् यह सारा सासारिक दुःख अनुभवमें आने लगता है, उसी प्रकार समाधिसे उठनेपर यह सम्पूर्ण दुःखमय जगत् जैसेका तैसा प्रतीत होने लगता है। इस मनरूप दृश्यके रहने हुए कोई समाधिके लिये किनना ही प्रयत्नशील क्यों न हो, क्या उसे दृश्य-प्राप्त नहीं होता? ( अवश्य होता है ); क्योंकि जहाँ-जहाँ इसकी विस्तृति जाती है, वहाँ-वहाँ

उससे सम्बन्ध रखनेवाले जगत्खण्डी भ्रमका निवारण नहीं किया जा सकता। जैसे कमलगढ़ीके भीतर कमलिनीका वह बीज विश्वान है, जिसमें उसका मृणालमय रूप छिपा हुआ है, उसी प्रकार अद्वानी शृण्डमें वह बुद्धि रहती है। जिसमें दृश्य जगत् अन्तर्दृश्य होता है। जैसे पदार्थमें रस, तिळ आदिमें तेल और छड़ोंमें सुगंध रहती है, उसी प्रकार उपद्रवमें दृश्य बुद्धि रहनी ही है। कहर या कस्तूरी आदि जहाँ कहीं भी हों, उनकी सुगंध प्रकट हो ही जाती है, उसी प्रकार दृष्टि कहीं भी हो, उसके उदरमें दृश्य जगत्का प्रादूर्मत्र होता ही है। जैसे तुम्हारे दृश्यमें स्थित मनो-राज्य-बुद्धि अपने अनुभवसे ही देखी गयी है और जैसे दृश्यस्थित स्पन्न एव संकल्प तुम्हारे द्वारा अनुभवसे ही देखे जाते हैं, उसी प्रकार यह दृश्य जगत् तुम्हारे दृश्यमें ही स्थित है और अपने अनुभवसे ही दृष्टिगोचर होता है। ( सर्ग १ )

### ब्रह्माकी मनोरूपता और उसके संकल्पमय जगत्की असच्चा तथा ज्ञाताके कैवल्यकी ही मोक्षस्पन्दनाका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! मनवन्तर आरम्भ होनेपर जब सम्पूर्ण प्रोणियोंको अपना ग्रास बनानेवाली मृत्यु प्रजाका संहार करती हुई सबल हो उठी, नव उसने स्वयं ही ब्रह्माजीपर आक्रमण करनेका उत्तोग आरम्भ किया। उस समय धर्मराज यमने उसे शीघ्र ही इस प्रकार शिक्षा दी—‘मृत्यो ! ब्रह्मा परम ( चिन्मय ) व्योमलरूप हैं। उनकी आहृति पृथ्वी आदि पौर्णो मूर्तोंसे रहित है। वे मनोमय और संकल्परूप हैं। भला, उनपर कैसे आक्रमण किया जा सकता है? जो चेतन आकाशके समान चमकारपूर्ण और चिन्मय आकाशके समान अनुभवरूप हैं, वे ब्रह्मा चिन्मय आकाश ही हैं। उनमें कार्य-कारण-भव नहीं है। जैसे आकाशमें इन्द्रनील मणिसे बने हुए तथा थोंचे रखे हुए महान् कक्षाहका-सा आकार पृथ्वी आदिसे

रहित ग्रातीन होता है और जैसे संकल्पनिर्मित पुरुष भी पृथ्वी आदिसे रहित ही ज्ञान होता है, उसी प्रकार स्वयम्भू ब्रह्मा भी पृथ्वी, जल आदि तत्त्वोंसे रहित ही भासित होते हैं। केवल ( अद्वितीय ) परमात्मामें न दृश्य है और न द्रष्टा ही है। यह स्वयं चिन्मात्रस्वरूप ही है, तथापि ‘स्वयम्भू’ नामसे प्रकाशित होता है। आदि, मध्य और अन्मसे रहित चिदाकाशरूप अद्वितीय ब्रह्म ही अपने संकल्पके कारण स्वयम्भू ब्रह्माके नामसे पुरुष अपना देहधारी-सा भासित होता है।

श्रीराम ! जिसका पूर्वजन्ममें उपार्जित कर्ममें युक्त पूर्व-शरीर रहा है, उसीको इस जन्ममें सप्तांस्थिनिकी कारणभूत स्मृतिका होना सम्भव है। जब ब्रह्माका कोई प्राकृत कर्म है ही नहीं, तब उन्हे पूर्व-जन्मकी स्मृतिका उदय कहाँसे और कैसे होगा?

इसलिये ब्रह्माका शरीर पृथ्वी आदि कारणोंसे रहित है। ब्रह्मा अपने कारणमूल परब्रह्म परमात्मासे अभिन्न एवं स्वयं आत्मखलूप है। श्रीराम। स्वयम्भू ब्रह्माका वह शरीर आतिथाहिक ही है। जो अजन्मा है, उसे आधिमीतिक शरीरकी प्राप्ति हो ही नहीं सकती।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—गुरुदेव। सभी प्राणियोंके एक 'आतिथाहिक' शरीर होता है और दूसरा 'आधिमीतिक'। किंतु ब्रह्माके केवल आतिथाहिक ही शरीर क्यों है?

श्रीकृष्णजीने कहा—श्रीराम। सभी भूत कारणात्मा हैं—पञ्चीकृत भूतोंसे उत्पन्न देह आदिसे दुर्घट हैं; इसलिये उनके दो-दो शरीर होते हैं; परतु अजन्मा ब्रह्माके लिये ऐसा कोई कारण नहीं है। इसलिये उनके एक ही आतिथाहिक शरीर है। एकपात्र अजन्मा ब्रह्मा ही सभी जातिके प्राणियोंके परम कारण हैं। उसका दूसरा कोई कारण नहीं है। इसलिये भी उनके एक ही शरीर है। सकलरूप ही उनका शरीर है। पृथ्वी आदि भूतोंके क्रमशः सम्मिश्रणसे उनके शरीरका निर्माण नहीं हुआ है। वे चिदाकाशस्वरूप आदि-प्रजापति ब्रह्मा ही विविध जीवोंकी सृष्टि करके उनका विस्तार करते हैं। वे जीव ब्रह्माके संकल्पके सिवा अन्य कारणोंसे उत्पन्न नहीं हुए हैं। अतः वे भी चिदाकाश-स्वरूप ही हैं। जिस उपादानसे जिसकी सत्पत्ति होती है, वह तदरूप ही होता है (जैसे पृथिकासे निर्मित हुआ बट मृत्तिकारूप ही है)। स्वर्णके कटक-कुण्डल आदि दृष्टान्तोंके द्वारा इस बातका सभीको अनुमत होता है। संसारमें व्यवहार करनेवाले समस्त प्राणियोंमें ब्रह्मा ही सबसे प्रथम चेष्टाशील चेतन भूत है। अतःकरण ही उनका स्वरूप है। उन्हींसे

१. अर्थि आदि मार्गके द्वारा लोकान्तरमें पहुँचना 'अतिवहन' कहलाता है। इस अतिवहन कर्ममें -कुण्डल अत्यन्त सूक्ष्म शरीरको 'आतिथाहिक' कहते हैं।

अहंकारका उदय होता है। जैसे वायुसे हिलना-चलना आदि चेष्टाएँ प्रकट होती हैं, उसी प्रकार उन प्रथम प्रतिस्पन्द ( पहले प्रकट हुए चेष्टाशील चेतन भूत ) ब्रह्मासे अभिन्न रूपधारी यह सृष्टि प्रकट हुई और फैली है। प्रतिमास ही जिनकी आकृति है, उन ब्रह्मासे उत्पन्न होनेके कारण यह दृश्यमान सृष्टि भी प्रतिमास-रूप ही है। किंर भी लोगोंकी दृष्टिमें यह सत्य-सी प्रतीत होती है। इस विषयमें दृष्टान्त है—स्वर्णमें दीखने-वाले सत्यान्तरमें प्राप्त होनेवाला खीका समागम। जैसे स्वर्णमें खी-समागमका स्वर्ण देखा जाय तो उससे भी कीर्यपात होता है, उसी प्रकार व्यवहार और प्रयोजन-की सिद्धिकी दृष्टिसे असद वस्तु भी सत्य वस्तुके समान व्यवहारका प्रकाश करती है। तात्पर्य यह कि स्वर्णमें खीका समागम जाग्रत-कालमें सर्वथा असत्य सिद्ध होता है, तो भी उससे सत्यके समान कार्य होता देखा जाता है। इसी प्रकार प्रतिमासमात्र शरीरवाले ब्रह्मासे उत्पन्न यह सृष्टि भी यथापि प्रतिमासरूप ही है, तथापि सत्यके समान प्रयोजनको सिद्ध करती है।

जिनका शरीर पृथ्वी आदि तत्त्वोंसे नहीं बना है, जो चिदाकाशस्वरूप और निराकार हैं, वे सम्पूर्ण भूतोंके अधिपति स्वयम्भू ब्रह्मा सशरीर पुरुषकी मौति प्रतीत होते हैं। पृथ्वी आदि तत्त्वोंसे शून्य आकारवाले संकल्प-पुरुष ब्रह्माका शरीर चिदमात्र है। वे ही तीनों लोकोंकी स्थितिके कारण हैं। स्वयम्भू ब्रह्माका यह संकल्प प्राणियोंके कर्मोंके अनुसार जिस-जिस प्रकारसे विकासको प्राप्त होता है, चिदाकाश-स्वरूप आत्मा उसी प्रकारसे प्रतीत होता है। ब्रह्मा मनोमय ही है, पृथ्वी-आदि-निर्मित महीं हैं। इसलिये उनसे उत्पन्न हुआ यह विश्व भी मनोमय ही है; क्योंकि जो जिससे उत्पन्न होता है, वह तदरूप ही होता है। ( जैसे सोनेका बना हुआ कटक-कुण्डल आदि सुर्वरूप ही होता है। ) अजन्मा ब्रह्माके कोई सहकारी कारण

नहीं हैं। द्वृतरा उनसे उत्पन्न हुए जगत्‌के भी कोई सहकारी कारण नहीं है। अतः यहाँ कारणसे कार्यमें कोई विवित्रता या विलक्षणता नहीं है। इसलिये जैसे कारण शुद्ध है, वैसे कार्य भी शुद्ध प्रका ही है—यह सिद्धान्त स्थिर हुआ। इस जगत्‌के विषयमें कार्य-कारण-भावकी किञ्चिन्मात्र भी संगोति नहीं है। जैसा परमाण है वैसे ही तीनों लोक हैं। जब दृश्यसे अभिन्न ही है। उस अभिन्नकृप जलसे जिस तरह दृश्यका विस्तार होता है, उसी प्रकार मनोरूपताको प्राप्त हुए प्रका अपने शुद्ध आत्मा ( स्वरूप ) से ही जगत्‌का विस्तार करते हैं। वह जगत्‌उनके विशुद्ध आपस्वरूपसे भिन्न नहीं है जैसे ज्ञानियोंकी दृष्टिमें रस्तीमें सर्पमाव नहीं है, उसी प्रकार जगत्‌में आविर्गतिका ( जड़ता ) नहीं है। फिर ऐप्रबुद्ध प्रका आदि आविभौतिक देहमें कैसे रह सकते हैं।

मन ही ब्रह्माके स्वरूपको प्राप्त हुआ है। वह मन संकल्परूप है। मन अपने ही स्वरूपको विकसित

करके इस जगत्‌का निर्माण एवं विस्तार करता है। मनका रूप प्रका है और प्रका का रूप भन। इसमें पृथ्वी आदिका प्रवेश नहीं है। मनने ही परमात्मामें पृथ्वी आदिकी कल्पना की है। जैसे कमलगढ़ेके अदर कमलिनी ( भावी कमल-नाल ) विद्यमान है उसी प्रकार मनके भीतर समूर्ण दृश्यवर्ग स्थित है। मन, दृश्यवर्ग और इन दोनोंका दृष्टा—इनका कभी किसीने विवेक नहीं किया। ( जबतक दृष्टा और दृश्यका विवेक न किया जाय, तबतक अज्ञानका उच्छेद न होनेसे मनमें दृश्यवर्गकी प्रतीति होती ही है। ) यदि दृश्यरूप दुःख सद् हो तो उसकी कभी ज्ञानित नहीं हो सकती और दृश्यकी ज्ञानित न होनेपर ज्ञातामें कैवल्य ( शोक ) को सिद्धि नहीं हो सकती। दृश्यका अभाव हो जानेपर ज्ञातामें ज्ञातृभाव स्थित हो, तो भी वह शान्त या निवृत हो जाता है। वही ( ज्ञाताका कैवल्य ही ) उसका मोक्ष कहा गया है। ( सर्ग २-३ )

+-----+

मनके स्वरूपका विवेचन, मन एवं मनःकल्पित दृश्य जगत्‌की असत्ताका निरूपण तथा  
महाप्रलय-कालमें समस्त जगत्‌को अपनेमें लीन करके एकमात्र परमात्मा ही शेष रहते हैं  
और वे ही सबके मूल हैं, इसका प्रतिपादन

श्रीरामचन्द्रजीने पूछ—मामन्। मनका स्वरूप कैसा है, यह मुझे स्पष्टरूपसे बताइये; क्योंकि मन ही इस समूर्ण लोकमन्तरीका विस्तार करता है।

श्रीविशिष्टजीने कहा—श्रीराम! जैसे शून्य तथा जड़ आकारवाले आकाशका नाममात्रके अतिरिक्त दूसरा कोई रूप दृष्टिओचर नहीं होता, उसी प्रकार शून्य एवं जड़ रूप इस संकल्पात्मक मनका नामके सिद्धा कोई भी वास्तविक रूप नहीं दिखायी देता। यह जगत्‌क्षणिक संकल्परूपी मनसे उत्पन्न हुआ है। मुगत्‌ज्ञामें प्रतीत होनेवाले जल तथा चन्द्रमामें भ्रमसे दीखनेवाले द्वितीय

५१. कास्त्ररूपिणी लक्षा।

चन्द्रमाके समान ही इस मनःकल्पित जगत्‌का स्वरूप है। रघुनन्दन ! संकल्पको ही मन समझो। जैसे द्रश्य ( दृश्यरूप ) से जलका भेद नहीं है और जैसे वायुसे स्पन्दन ( चेष्टा या गतिशीलता ) भिन्न नहीं है, उसी प्रकार सकल्पसे मन भिन्न नहीं है। प्रियवर श्रीराम ! जिस विषयके लिये सङ्कल्प होता है, उसमें मन सङ्कल्प-रूपसे स्थित रहता है। तात्पर्य यह कि जो सङ्कल्प है वही मन है। सङ्कल्प और मनको कभी कोई पृथक् नहीं कर पाया है ( इन दोनोंके पार्थक्यका अनुभव किसीको नहीं हुआ है )। मनको सङ्कल्पमात्र समझो।

वह समष्टिगत मन ही पितामह प्रका है। जातिशाहिक देव-

( सङ्कल्पमय शरीर ) रूपी ब्रह्माको लोकमें समर्पित मन कहा गया है । अशिषा, संसार, चित्त, मन, बन्धन, मल और तम—इन्हें श्रेष्ठ विद्वानोंने दृश्यके पर्यायवाची नाम माना है । संकल्परूप दृश्यसे अतिरिक्त मनका कुछ भी स्वरूप नहीं है । यह दृश्य-प्रपञ्च वास्तवमें उत्थन्म ही नहीं हुआ है, वह बात मैं आगे चलकर फिर बताऊँगा । जैसे प्रकाशका आळोक\* स्वभाव है, जैसे चपलता वायुका स्वभाव है और जिस प्रकार द्रव्यीभूत होना जलका स्वभाव है, उसी प्रकार द्रष्टा में दृश्यव स्वभावसे क्षी विद्यमान है ( अर्थात् द्रष्टा से दृश्य मिन्न नहीं है ), जैसे सुवर्णमें बाजूबंद और कटक-कुण्डल आदिकी स्थिति है, जैसे मृगतृष्णाकी नदीमें जलकी स्थिति है और जैसे सपनेकी नगरीमें उठायो गयी दीवारकी स्थिति है, उसी प्रकार द्रष्टा में दृश्यकी स्थिति मानो गयी है । अर्थात् जैसे उपर्युक्त वस्तुएँ अपने अविष्टानसे मिन्न नहीं हैं, उसी प्रकार द्रष्टा से दृश्यकी पृथक् सत्ता नहीं है ।

द्रष्टा से दृश्यकी पृथक् सत्ता न होनेके कारण दृश्यका अभाव हो जानेपर जो द्रष्टा में बलद् द्रष्टापनका अभाव प्राप्त होता है, उसीको तुम असद् ( मिथ्या दृश्य ) के बाधित होनेसे सन्मात्र चिन्मयरूपमें अवशिष्ट हुए आधारका केवलीभाव ( या कैवल्य ) समझो । जब चित्त आत्माके कैवल्य ( अद्वितीय चिन्मात्रस्वरूपता ) के ओरसे तदाकार ( कैवल्यमावको प्राप्त ) हो जाता है, तब उसकी राग-द्रेष आदि वासनाएँ उसी तरह शान्त हो जाती हैं, जैसे हवाके न घलनेपर हृक्षोंमें कम्पन और जलाशय आदिमें लहरोंका उठाना बंद हो जाता है । दिशा, भूमि और आकाशरूपी सभी प्रकाशनीय पदार्थोंके न रहनेपर जिस तरह प्रकाशका शुद्ध रूप ही अवशिष्ट रहता है, उसी प्रकार तीनों लोक, तू और मैं इयादि दृश्य प्रपञ्चकी सत्ता न होनेपर शुद्धरूपसे अवशिष्ट चिन्मय द्रष्टाका केवलीभाव ( कैवल्य ) ही रह जाता है ।

\* अन्वकारकी निहृत्तिपूर्वक समस्त पदार्थोंके नेत्रोंके समस्त छा देना ।

श्रीरामजीने पूछा—ग्रसन् ! यदि दृश्य सद है, तब तो यह शान्त या निवृत्त नहीं हो सकता; क्योंकि सत्तका कभी अभाव नहीं होता और यदि यह दोष प्रदान करनेवाला दृश्य असद है, तब यह बात हमारी समझमें आती नहीं। इसलिये यह दृश्यरूपिणी विपूचिका ( हैजा ), जो मनसे अन्म आदिके भ्रमको उत्पन्न करनेवाली और दुःखकी परम्पराको देनेवाली है, कैसे शान्त होगी ?

श्रीकृष्णजीने कहा—रघुनन्दन ! जिस वस्तुकी सत्ता है, उसका कभी नाश नहीं होता । यह जो कुछ आकाश आदि भूत और अहंकारके रूपमें लक्षित होता है, वह सभ व्यवहार-दशामें जगत् है, विंतु परमार्थ दशामें क्षम है । ब्रह्मके सिवा ‘जगत्’ शब्दका दूसरा कोई वास्तविक अर्थ है क्षी नहीं । हमारे साथने यह जो कुछ दृश्य-प्रपञ्च दृष्टिगोचर होता है, वह सभ श्रज्ञ, अमर एवं अव्यय परम्परा ही है । सर्वत्र पूर्णका प्रसार हो रहा है । शान्त परब्रह्ममें शान्त जगत् स्थित है । आकाशमें ही आकाशका उदय हुआ है तथा ब्रह्ममें ही क्षम प्रतिष्ठित है \* । वास्तवमें न तो दृश्य सद-रूप

\* परब्रह्म परभात्माके साथ शीघ्रात्मालोकी एकताका ज्ञो वो वह है, वही पूर्णमें पूर्णका प्रसार या प्रवेश है । परब्रह्म परभात्मा सर्वत्र व्यापक होनेके कारण पूर्ण है । जीवात्मा भी उससे अभिन्न होनेके कारण पूर्ण ही है । इनमें जो भैदका भ्रम या, उसका मिट जाना ही उनकी एकता है । इस एकताकी अनुभूति ही पूर्णमें पूर्णका प्रवेश है । वास्तवमें जीवात्मा न तो कभी ब्रह्मसे पृथक् होता है और न वह कहां अन्यत्रसे आकर ब्रह्ममें प्रविष्ट ही होता है । ये प्रवेश और निर्गम औपचारिक हैं, वह ( जीवात्मा ) ब्रह्मरूप होकर ही ब्रह्ममें प्रतिष्ठित होता है, जैसा कि भूतिका कथन है—‘ब्रह्मेव सद् ब्रह्माप्येति ।’ मूल ग्रन्थमें जो भास्त्वे शान्तं व्यवस्थितम् कहा गया है, इसमें ग्रथम ‘शान्त’ शब्द ब्रह्मके लिये प्रयुक्त हुआ है और दूसरा ‘शान्त’ शब्द चागतके लिये । जहाँ तीनों अवस्थाओं तथा सब प्रकारकी मेद-ग्रन्थियोंका सदाके लिये शामन हो गया है, वह ब्रह्म शान्तस्वरूप कहा गया है । ब्रह्मदृष्टि प्राप्ति होनेपर चागत-हाति शान्त हो जाती है, इसलिये जगत्को भी शान्त कहा गया

है, न दृष्टि, न दर्शन, न शृण्य, न जड़ और न चित् ही सदूरूप है। केवल शान्तस्वरूप ग्रन्थ ही सदूरूप है, जो सर्वत्र व्याप्त है।

यह जगत् सृष्टिके आदिमें उत्पन्न नहीं हुआ था, इसलिये इसका अस्तित्व सर्वथा नहीं है। जैसे स्वप्न आदिमें मनसे ही नगरकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार यह जगत् भी मनसे ही उत्पन्न होकर प्रतीतिका विषय हो रहा है। स्वयं मन ही सृष्टिके आदिमें उत्पन्न न होनेके कारण असत्-स्वरूप है, उस असत्-रूप मनसे कल्पित होनेके कारण भी यह जगत् असत् ही है। फिर जिस प्रकार इसका अनुभव होता है, वह बता रहा हूँ, द्युनो। मन निरन्तर क्षीण होनेवाले इस दृश्यरूपी दोषका विस्तार करता है। वह स्वयं असत्-रूप ही है, तो भी सत्-सा प्रतीत होनेवाले जगत्‌की सृष्टि करता है—ठीक उसी तरह, जैसे स्वप्न असत् होता हुआ भी सत्-सा प्रतीत होनेवाले जगत्‌की सृष्टि करता है। मन ही अपनी इच्छाके अनुसार स्वयं शीघ्र ही शारीरकी कल्पना कर लेता है। वही विकालकी भावनाएँ विस्तारको प्राप्त होकर इस ऐन्द्रजाग्रिक वैभवरूप दृश्य-जगत्‌का विस्तार करता है। चश्चल शक्तिसे युक्त होनेके कारण केवल यह मन ही स्वयं स्फुरित होता, उठलता, कूदता, जाता, आता, याचना करता, घूमता, गोते उगाता, संहार करता और अपकर्षको प्राप्त होता है।

श्रीराम ! महाप्रलय होनेपर जब जगत् अति सूक्ष्म रूपमे स्थित होनेके कारण अपने कार्यमें असमर्थ हो जाना है, उस समय वह सम्पूर्ण मात्री दृश्यरूपकी सृष्टिसे पहले विक्षेपरहित शान्तावस्थामें ही केव रहता है। उस प्रश्न्यकालमें केवल कभी अस्त न होनेवाले सूर्यदेव—स्वयंज्ञोनि, अजन्मा, ऐग-शोकसे रहित, सदा सर्वशक्ति-नान्, सर्वस्वरूप, परमात्मा गहेश्वर ही विराममान होते

हैं। जहाँसे वाणी उन्हें न पाकर लौट आती है अर्थात् जहाँ वाणीकी पहुँच नहीं हो पाती, जो जीवन्मुक्त महामात्रोंके द्वारा जाने जाते हैं, साव्यदर्शके अनुयायी जिन्हें 'पुरुष' कहते हैं, वेदान्तवादी 'ब्रह्म' नामसे जिनका विनाश करते हैं, विज्ञानवेत्ताओंकी दृष्टिमें जो परम निर्भूल विज्ञानमात्र है, जिन्हें शून्यवादी शून्य कहते हैं, जो सूर्यके प्रकाशके भी प्रकाशक है; जैसे नदी-नाले आदिके जल अन्ततोगला महासागरमें ही गिरते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण दृश्यसमूह महाप्रलयकालमें जिनमें ही विलीन होते हैं; जो आकाशमें, विभिन्न शरीरोंमें, प्रस्तरोंमें, जलमें, लताओंमें, घूलिकणोंमें, पर्वतोंमें, धारुमें और पाताल आदि सभी देश, काल एवं वस्तुओंमें समान भावसे स्थित हैं; जिन्होंने आकाशको शून्य पर्वतोंको धनीभूत और जलको धनीभूत बनाया है, जगत्‌को दीपकसी मौति प्रकाशित करनेवाले सूर्य जिनके अधीन हैं; जैसे महसूमिमें सूर्यकी तपती हुर्दे किरणोंके भीतर जलराशि अहराती दिखायी देती है, उसी प्रकार जिन अत्यन्त व्यापक परमात्मारूपी महासागरमें आविर्भाव और तिरोभाव ( उत्पत्ति और प्रलय )-से युक्त विलोक्यपिणी तरङ्गे उठती रहती हैं, जो सम्पूर्ण व्यावहारिक सत्ताओंसे ऊँचे ऊँचे हुए—सर्वविलक्षण परमार्थिक सत्तासे सम्बन्ध हैं, जिनसे ही नियति, देश, काल, चलन, चेष्टा और क्रिया आदि समस्त मात्रोंको कार्य निर्वाहकी क्षमता प्राप्त हुई है—वे एकमात्र परमेश्वर ही उक्त महाप्रलयके समय देख रहते हैं। वे परमात्मा उत्पत्ति-स्थिति आदिसे रहित, कभी अस्त न होनेवाले, निष्पत्ति-प्रकाशमान ज्ञानसे परिपूर्ण एवं विकाशशून्य अपने स्वरूपमें ही स्थित हैं। वे एकमात्र—अद्वितीय ही हैं। अतएव वे मायासे अनेक विशाल संसारों—शणित ग्रहाण्डोंकी रचना करते हुए भी वास्तवमें न कोई कार्य करते हैं और न उनसे कोई चेष्टाएँ ही बनती हैं।

( सर्ग ४-५ )

है। मृदिकामें घटकी भौति ब्रह्ममें ही जगत्‌की कल्पना हुई है; इसलिये वह उसीमें स्थित है। घट आदि सपाथियोंके नष्ट होनेपर घटाकाश, मठाकाश आदिकी जो महाकाशमें प्रतिष्ठा होती है, वही आकाशमें आकाशका उदय है। इसी तरह जगत्-हिन्दूनि निवारण होकर जो ब्रह्मावका साक्षात्कार होता है, वही ब्रह्ममें ब्रह्मकी प्रतिष्ठा है।

## ज्ञानसे ही परासिद्धि या परमात्मप्राप्तिका प्रतिपादन तथा ज्ञानके उपयोगमें सत्सङ्ग एवं सत्-शास्त्रोंके स्वाध्यायकी प्रशंसा

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुमन्दन ! परमात्मा देवताओंके भी देवता हैं । उनके ज्ञानसे ही परम सिद्धि ( मोक्ष ) की प्राप्ति होती है, क्लेशयुक्त सकाम कर्मोंके अनुज्ञानसे नहीं । संसार-बन्धनकी निवृत्ति या मोक्षकी प्राप्तिके लिये ज्ञान ही साधन है, ज्ञानके अतिरिक्त सकाम कर्म आदिका इसमें कोई भी उपयोग नहीं है; क्योंकि मृगत्रृष्णामें होनेवाले जलके भ्रमका निवारण करनेके लिये ज्ञानका ही उपयोग देखा गया है—ज्ञानसे ही उस अपकी निवृत्ति होती है, किसी कर्मसे नहीं । सत्सङ्ग तथा सत्-शास्त्रोंके स्वाध्यायमें तत्पर होना ही अद्वैतज्ञानकी प्राप्तिमें हेतु है । वह स्वाभाविक साधन ही मोहजालका नाशक होता है । यह परमात्मा सत्स्वरूप ही है, ऐसे ज्ञानमात्रसे ही जीवके दुखका निवारण होता है तथा वह जीवन्मुक्त अवस्थाको प्राप्त होता है ।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—गुरुदेव ! सबके आत्मव्यरूप इन परमात्माके ज्ञानमात्रसे कष्टप्रद जन्म-मरण आदि फिर कभी बाधा नहीं हेते । अतः बताइये, ये महान् देवाधिदेव परब्रह्म परमात्मा किस उपायसे शीघ्र प्राप्त होते हैं ? किंस तीव्र तपत्यासे अथवा कितने महान् क्लेश उठनेसे इनके ज्ञानकी उपलब्धि हो सकती है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! अपने पौरुषजनित प्रयत्नसे विकासको प्राप्त हुए विवेकके द्वारा उन परमात्म-देवता यथार्थ ज्ञान होता है । इसलिये पुरुषोचित प्रयत्नके द्वारा भवरोगके निवारणके लिये मुख्य श्रीपदोंका संप्रह करना चाहिये । सत्-शास्त्रोंका अन्यास और सापुरुषोंका सङ्ग—ये दो प्रधान वीषमें संसाररूपी रोगका नाश करनेवाली हैं । इस जगतमें सर्पण दुःखोंके विनाशकी सिद्धिके लिये एकमात्र पुरुषप्रयत्न ही प्रधान

साधन है । उसे छोड़कर दूसरी कोई गति या उपय काम दे सके, यह सम्भव नहीं । रघुनन्दन । आत्म-ज्ञानकी प्राप्तिके लिये अपेक्षित उस पुरुषप्रयत्नका स्वरूप कैसा है, जिसका पूर्णतया पाठ्य करनेसे राग-द्रेष-मयी महामारी शान्त हो जाती है—यह बताता हूँ, सुनो । मुझमुँ पुरुषको चाहिये कि वह यथासम्भव ऐसी शृंतिके द्वारा जो लोक और शास्त्रके विरुद्ध न हो, निष्काममात्रसे जीवन्-निर्वाह करता हुआ संतुष्टचित्त हो मोगवासनाका परिस्थिति करे । अपनी अनुद्विनता ( उद्वेगशून्यता अथवा शान्तशृंति ) के द्वारा यथासम्भव उद्योग करके सत्सङ्ग और सत्-शास्त्रोंका अभ्यास—इन दो साधनोंकी सबसे पहले शरण लेनी चाहिये । जो पुरुष प्रारब्धके अनुसार जो कुछ भी मिल जाय, उसीसे संतुष्ट रहता है, सत्पुरुषों अथवा शास्त्रोंद्वारा निन्दित वस्तुकी ओर आँख उठाकर नहीं देखता और सत्सङ्ग एवं सत्-शास्त्रोंके अभ्यासमें तत्पर रहता है, वह शीघ्र ही मुक्त हो जाता है । देशमें प्रायः सज्जन ( शास्त्रोंके सदाचारमें प्रतिष्ठित ) पुरुष जिसे श्रेष्ठ महात्मा कहते हैं, वह यदि ज्ञान-वैराग्य आदि उत्तम गुणोंसे युक्त हो तो अवश्य ही श्रेष्ठ महात्मा है । ऐसे महात्माकी प्रयत्नपूर्वक शरण लेनी चाहिये । सम्पूर्ण विद्याश्रोमें अध्यात्मविद्या प्रधान है । उस अध्यात्मतत्त्वकी चर्चासे युक्त जो उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र एवं गीता आदि सद्गम्य है, उन्हींको सत्-शास्त्र कहते हैं । उनका विवेकपूर्वक विचार करनेसे मनुष्य मुक्त हो जाता है । जैसे निर्मलीके चूर्णके संसर्गसे जलकी मैल साफ हो जाती है तथा जिस प्रकार योगके अभ्याससे लोगोंकी बुद्धि शुद्ध हो जाती है, उसी प्रकार सत्-शास्त्र और सत्सङ्गसे ग्राप्त हुए विवेकके द्वारा अज्ञानका बलपूर्वक निवारण हो जाता है । ( सर्ग ६ )

परमात्माके ज्ञानकी महिमा, उसके स्वरूपका विवेचन, दृश्य-जगत् के अत्यन्ताभाव एवं ब्रह्मरूपताका निरूपण तथा आत्मज्ञानकी ग्राहिके लिये योगवासिष्ठ ही सर्वोच्चम ज्ञान है—इसका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! जिन परमात्मदेवकी चर्चा की गयी है, ये कहीं दूर नहीं रहते, सदा शरीरमें ही स्थित हैं और चिन्मय ( चेतन )रूपसे विद्युत हैं । ये ही चिन्मय चन्द्रशेखर शिव हैं । ये ही चिन्मय गङ्गावाहन विष्णु हैं । ये ही चिन्मय सूर्य हैं तथा ये ही चिन्मय ब्रह्म हैं । कार्य-कारण रूप इन परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर इस साधन-परायणके इदंयकी गौठ ( विज्ञदप्रमिति ) खुल जाती है, सम्पूर्ण सशय छिन्न-मिन्न हो जाते हैं और सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं ।

श्रीराम ! जब परमात्माका ज्ञान हो जाता है, तब विपक्वे वेगके शान्त होनेपर जैसे विषूचिका फिट जाती है, उसी प्रकार सम्पूर्ण दुःखोंकी परम्परा नष्ट हो जाती है ।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन् ! जिनका ज्ञान या साक्षात्-कार होनेपर मन सम्पूर्ण मोह-महासागरके पार हो जायगा, उन परमात्माका यथार्थ स्वरूप कैसा है ? इसका मेरे समक्ष वर्णन कीजिये ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! जिस ज्ञानरूपी महासागरमें नाश आदि विकारके बिना ही ऊँचों-के-स्थों स्थित हुए इस संसारका अत्यन्त अमाश ही सिद्ध होता है, वही परमात्माका स्वरूप है । जो परम चिन्मय होनेके कारण अत्यन्त सूक्ष्म होकर भी अज्ञानी जनोंकी दृष्टिमें विशाल पापाणकी भौंति स्थूलरूपसे स्थित प्रतीत होता है तथा अजड ( चिन्मय ) होता हुआ भी मूढ़ मनुष्योंके अन्तःकरणमें जड़के तुल्य ही ज्ञान पड़ता है, वह परमात्माका स्वरूप है ।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—मुने ! परमात्मा सद है, यह कैसे जाना जाता है ? तथा इतने बड़े इस जगत्

नामक दृश्यको असद कैसे समझा जाता है ? आप कहते हैं इसकी उत्पत्ति हुई ही नहीं, यह बिना हुए ही प्रतीत हो रहा है; यह बात कैसे समझमें आये ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! जैसे स्पृहीन आकाशमें भ्रमवश नील, पीत आदि वर्णोंकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार सचिदानन्दमय ब्रह्ममें यह जगत्-सम्बन्धी अम उत्पन्न हुआ है । इस अमके अत्यन्ताभाव-के ज्ञानमें यदि पूरी ढढता हो जाय, तभी ब्रह्मका स्वरूप ज्ञात होता है, दूसरे किसी कर्मसे नहीं । दृश्यके अत्यन्ताभावके सिवा दूसरी कोई शुभ गति नहीं है । ऊँचों-के-स्थों स्थित हुए इस दृश्य-जगत् के अत्यन्ताभावका निश्चय हो जानेपर जो शेष रह जाता है, उसी परमार्थ वस्तुका बोध होता है । जिसका बोध होता है, वह परमात्मा उस जाननेवाले पुरुषका आत्मा ही हो जाता है । जबतक इस जगत् नामक दृश्यकी अपनी सत्ताका अत्यन्ताभाव अवश्य मिथ्यात्म सिद्ध नहीं हो जाता, तबतक परम तत्त्वरूप परमात्माको कभी कोई जान नहीं सकता । असद पदार्थकी सत्ता नहीं होती और सद वस्तुका कभी अमाश नहीं होता । जो वस्तु स्वभावसे है ही नहीं, उसके निवारणमें—उसे मिथ्या समझकर स्वाग देनेमें कौन-सी कठिनाई है ? यह जो विस्तृत जगत् दिखायी देता है, पहले उत्पन्न नहीं हुआ या । यह चिन्मात्र होनेके कारण निर्मल आत्मामें ही कल्पित है, अतः ब्रह्मरूप ही है । उससे अतिरिक्त इसकी कोई सत्ता नहीं है । जगत् नामसेन यह कभी उत्पन्न हुआ, न है और न दिखायी ही देता है । जैसे सुवर्णमें कल्पित कट्टक-कुण्डल आदिका सुवर्ण-दृष्टिसे अमाश ही है, उसी प्रकार ब्रह्ममें कल्पित जगत्का ब्रह्मदृष्टिसे अमाश ही सिद्ध होता है । अतः इसके परिमार्जनमें—इसे असद समझ लेनेमें क्या परिश्रम है ?

अब मैं बहुत-सी युक्तियोद्घारा इस विषयका कुछ विचारके साथ इस तरह प्रतिपादन करूँगा, जिससे अवाधित ( परमार्थ ) तत्त्वका स्वर्य ही अनुभव हो जाता है। जो पहले ( सुषिके आरम्भमें ) ही उत्पन्न नहीं हुआ, उसका यहाँ अस्तित्व कैसे हो सकता है। प्रमुखमें जलपूर्ण नदीकी सत्ता कैसे सम्भव है। अमसे प्रतीत होनेवाले द्वितीय चन्द्रमामें ग्रहभाव कैसे हो सकता है। जैसे वन्ध्याका पुत्र नहीं होता, जैसे महमुखमें जलकी सरिता नहीं बहती और जैसे काकाशमें दृक्ष नहीं होता, उसी तरह जगत्-रूप भ्रमकी भी कहीं सत्ता नहीं है। श्रीराम ! यह जो कुछ दिखायी देता है, वह सब रोग-शोकसे रहित ब्रह्म ही है। इस विषयका मैं आगे चलकर केवल याणीद्घारा ही नहीं, युक्तियोंसे भी प्रतिपादन करूँगा। उदारबुद्धि रघुनन्दन ! तत्त्वज्ञ पुरुष जिस विषयका युक्तियोद्घारा वर्णन करते हैं, उसकी अवहेलना करना कदापि उचित नहीं है। जो भद्रबुद्धि मानव युक्तियुक्त वस्तुका अनादर करके कष्टसाध्य ( युक्तिशूल्य ) वस्तुमें आप्रह रखता है, उसे विद्वान् लोग अझानी ही समझते हैं।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—भगवन् ! यह किस युक्तिसे जाना जाता है कि यह दृश्यमान जगत् ब्रह्म ही है ? यह बात कैसे सिद्ध होती है ? यदि युक्तियोद्घारा इस विषयका अनुभव हो जाय, तब तो फिर जाननेयोग्य कुछ भी शेष नहीं रह जाता ।

श्रीकिष्णजीने कहा—रघुनन्दन ! यह मिथ्याज्ञान-रूपिणी विष्वाचिका चिरकालसे दृढ़मूल हो गयी है। इसीका नाम जगत् है और इसीको अविचार कहते हैं। यह ज्ञानके बिना निवृत्त नहीं होती। जो जिस पदार्थको पाना चाहता है और उसके लिये पूरा प्रयत्न करता है, वह उस पदार्थको अवश्य प्राप्त कर लेता है। परंतु यह बात तभी सम्भव होती है, जब वह लीबमें ही थककर या उत्पन्न प्रयत्नसे मुँह न भोड़ ले।

श्रीरामजीने पूछा—शास्त्रवेदाभ्यमें श्रेष्ठ गुरुदेव ।

आत्मज्ञानकी प्राप्ति करानेके लिये कौन-सा शास्त्र मुख्य है, जिसका ज्ञान प्राप्त कर लेनेपर मनुष्यको फिर कभी शोक नहीं होता ?

श्रीकिष्णजीने कहा—महामते ! जिन शास्त्रोंमें मुख्यतः आत्मज्ञानका ही प्रतिपादन हुआ है, उनमें यह महारामायण नामक शास्त्र ही सबमें श्रेष्ठ और शुभ है। इस उत्तम इतिहासका अवधारण करनेसे बोध प्राप्त हो जाता है। इसे समस्त इतिहासोंका सार कहा गया है। इस वाक्यमय ( शास्त्र ) का अवधारण कर लेनेपर कभी क्षीण न होनेवाली जीवन्मुक्ति स्वर्य ही प्रकट हो जाती है। इसलिये यही सबकी अपेक्षा अस्त्वन्त पावन है। जैसे स्वप्न आदिके रहते हुए ही यह स्वप्न है, ऐसा ज्ञान ही जानेपर उस स्वप्नके सञ्चे होनेवाली भावना नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार इस शास्त्रका विचार करनेसे जब यह समझमें आ जाता है कि सारा जगत् स्वप्नके समान मिथ्या है, तब यह दृश्य-जगत् ज्यो-क्ष-ल्यो स्थित रहकर भी ज्ञानीकी दृष्टिमें अस्तको प्राप्त हो जाता है। आत्मज्ञानके लिये अपेक्षित जो-जो युक्तियों इस शास्त्रमें हैं, वे ही दूसरे ग्रन्थोंमें भी उपलब्ध होती हैं। इसीलिये विद्वान् पुरुष इस महारामायणको सम्पूर्ण विज्ञान-शास्त्रस्त्री धनका क्लेश ( खजाना ) मानते हैं। जो पुरुष प्रतिदिन इस महारामायणका अवधारण करता है, उसमें उत्कृष्ट चमलकार आ जाता है। उसकी बुद्धि अन्य ग्रन्थोंके स्वाध्यायसे उत्पन्न हुए बोधकी अपेक्षा उत्तम बोधको प्राप्त कर लेती है, इसमें संशय नहीं। किसी दुर्भार्ताके फलका उदय होनेके कारण जिसकी इस ग्रन्थके प्रति इच्छा अथवा श्रद्धा नहीं है, जिसे यह शास्त्र नहीं रुचता, वह दूसरे किसी ज्ञानप्रधान सद-शास्त्रका विचार करे ( उससे हमारा कोई हेतु नहीं है )। जैसे उत्तम औपधका पान करनेपर स्वर्य ही नीरोगता प्राप्त हो जाती है, उसी तरह इस योगवासिष्ठ महारामायणका अवधारण कर लेनेपर जीवन्मुक्तिका स्वर्य अनुभव होने लगता है।

( सर्ग ७-८ )

## जीवन्मुक्तिका लक्षण, जगत्की असत्ता तथा ब्रह्मसे उत्तरकी अभिभृताका प्रतिपादन,

### परब्रह्म परमात्माके स्वरूपका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं— रघुनन्दन ! जिसके चित्त परमात्मचिन्तनमें छोड़े हुए हैं, जिसके प्राण उन्हीमें रम रहे हैं, जो परस्पर परमात्मनस्वका बोध करते हुए सदा परमात्माकी ही चर्चा करते हैं, उसीसे ही संतुष्ट होते हैं और उसमें निरन्तर रस रहते हैं, एकमात्र ज्ञानमें ही त्रिनकी निष्ठा है तथा जो सदा परमात्मज्ञानका ही विचार करते हैं, उन पुरुषोंको ही वह जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है, जो देह-स्थागके अनन्तर विशुद्ध मुक्ति ही है ।

शाश्वानुकूल व्यवहार करते हुए भी जिस पुरुषकी दृष्टिमें ज्योति-का-स्त्रों स्थित हुआ यह जगत् निलीन हो जाता है और आकाशके समान शून्य प्रतीत होने लगता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है । जो व्यवहारमें लगा हुआ ही एकमात्र बोध-निष्ठाको प्राप्त हो, जाग्रत् अवस्थामें भी सुखम-पुरुषकी मौति राग-द्वेष पद्म हर्ष-त्रोक्तादिसे शून्य हो जाता है. उसे जीवन्मुक्त कहने हैं । जिसके मुख्यकी क्षमत्ता सुखमें उदित (अथवा वृद्धिको प्राप्त) नहीं होती तथा हुए खण्ड अस्त महीं हो जाती और प्रारब्धके अनुसार जो कुछ मिल जाय, उसीसे जो सनोपर्युक्त जीवन्मिर्द्वाह करता रहता है, वही जीवन्मुक्त कहा जाना है । जो निर्धिकार आभ्यामें सुप्रसंकी मौति स्थित रहता हुआ भी अविद्यारूपिणी निद्राका निवारण हो जानेसे सदा जागता रहता है, जिसकी जाग्रत् अवस्था नहीं है ( अर्थात् देह, इन्द्रिय आदिका बोध हो जानेसे जो इन्द्रियोंद्वारा पदार्थोंका उत्तरभोग नहीं करता ) और जिसका ज्ञान सर्वथा वासना-रहित है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है । जिसमें अहकारका भाव नहीं है, जिसको बुद्धि कर्म करते समय कर्तृत्वके और न अरते समय अकृत्यके अभिमानसे लिप्त नहीं होती, वह जीवन्मुक्त कहलाता है । जो ज्ञानस्वरूप परमात्माके किञ्चित् उन्मेष और निमेपसे ही तीनों लोकोंकी

प्रलय और उत्पत्ति देखता है तथा जिसका सबके प्रति अपने समान ही भाव है अर्थात् जो सबके प्रति आत्मभाव रखता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है । जिससे लोगोंको उद्देश नहीं होता और जिसको लोगोंसे उद्देश नहीं होता तथा जो हर्ष, अर्थव और मयसे रहित है, वह पुरुष जीवन्मुक्त कहा जाता है । जिसकी संसारके प्रति सत्यता-दृष्टि नष्ट हो गयी है, जो दूसरोंकी दृष्टिमें अवयवोंसे युक्त होनेपर भी वास्तवमें अवयवरहित है तथा जो विचरुक्त होकर भी वस्तुतः वित्तसे शून्य है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है ।

श्रीराम ! विदेहमुक्ति ही मुक्ति कहलाती है । इसीको ब्रह्म कहा गया है और इसीको निर्वाण कहते हैं । इसकी प्राप्ति कैसे होती है, यह बता रहा है; सुनो । मैं, तुम, यह, वह इत्यादि रूपसे जो यह इत्य-भ्रापद्ध दिखायी देता है, यह यथापि सत्-रूपसे प्रतीत होता है, तथापि वन्यापुत्रके समान इसकी कभी उत्पत्ति हुई ही नहीं— ऐसा निष्ठय हो जानेपर यह मुक्ति प्राप्त होती है । जो अद्वितीय, शान्त, चिन्मय और आकाशके समान निर्भल है, वह ब्रह्म ही यह समृद्ध जगत् है; क्योंकि सबमें सत्त्वामात्रका ही तो बोध होता है । रघुनन्दन ! मैंने सोनेके कड़ेमें वहूत विचार करनेपर भी विशुद्ध सुवर्णके सिंवा कहीं कोई कड़ा नामकी वस्तु नहीं देखी । जलकी तरफ़में मैं जलके सिंवा दूसरी कोई वस्तु नहीं देखता; क्योंकि जहाँ वैसी तरफ़ नहीं दिखायी देती, वहाँ भी जल ही है ( अतः जहाँ तरफ़ है, वहाँ भी जलके अतिरिक्त कुछ नहीं है ) वायुके अतिरिक्त कभी कहीं भी स्पन्दन ( गतिशीलता ) नामकी कोई वस्तु नहीं है । स्पन्दन सदा वायुरुप ही है । अतः इन इत्यन्तोंके अनुसार यह जगत् भी ब्रह्मसे मिल नहीं है । जैसे आकाशमें शून्यता है, महामूर्तिमें ताप ही जल है और ग्रन्थामें सदा तेज

स्थित है, उसी प्रकार ये तीनों लोक परब्रह्म परमात्मा ही हैं।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—मुने ! जिस युक्ति से इस दृश्य-जगत् के अस्त्यन्तामाकका बोध होकर मुक्तिका उदय हो, उस उत्तम शुक्तिका आप मुझे उपदेश कीजिये । हैतका अमाव होनेपर ही निर्वाण सुलभ होता है, इसलिये जिस प्रकार इस दृश्य-जगत् की अत्यन्त असत्ता सिद्ध हो और इसके रूपमें स्वामावनिष्ठ ब्रह्म ही विश्वमान है—वह बोध हो जाय, वैसा ही उपदेश मुझे दीजिये । महर्षे ! किस युक्ति से इस बातका ज्ञान होता है और कैसे यह बात सिद्ध होती है ? इस ज्ञानके सिद्ध हो जानेपर तो मिर कुछ साध्य ( कर्तव्य ) शेष नहीं रह जायगा ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! यह मिथ्याज्ञान-रूपिणी विष्वकिंवा विरकात्मसे दृढ़रूप हो गयी है । निष्वय ही विचाररूपी मन्त्रसे इसका समूल नाश हो जाता है । सब प्रकारकी वस्तुओंसे युक्त तथा देखता, असुर और किंवर आदिसहित यह जो कुछ भी स्वावर-जङ्गमरूप सारा जगत् दिखायी देता है, वह महाप्रलय-कालमें असत् एवं अदृश्यरूप होकर न जाने कहाँचला जाता और नष्ट हो जाता है । तदनन्तर नाम और रूपसे रहित, शान्त, गम्भीर एवं अमिवचनीय 'सत्' अवशिष्ट रहता है । वह न तो तेज है न फैला हुआ अन्धकार है; न शून्य है न आकारवान् है; न दृश्य है न दर्शन है और न भूती तथा भौतिक पदार्थोंका समूह ही है । वह विलक्षण सदृशस्तु अनन्तरूपसे स्थित है । नाम-रूपसे रहित होनेके कारण ही उसके स्वरूपका विशेषरूपसे वर्णन नहीं किया जा सकता । उसका स्वरूप पूर्णसे भी पूर्णतर है । वह दृश्य-गूण्य, विन्मात्र, असीम, अजर, शिष, आदि, भव्य और अन्तसे रहित, कारणशून्य तथा रोग-शोक आदिसे रहित है । उसके न कान है न जीभ, न नासिका है न अच्छा है और न नेत्र ही हैं; तथापि वह सदा सभी जगह सुनता है, उसका आख्यादन करता है, सूचता है, स्पर्श करता है और देखता है । जिस

प्रकाशसे पूर्वोक्त सदसद्-स्वरूप प्रपञ्च दिखायी देता है, वह वैतनगमय प्रकाश भी वही है । विविध सुष्ठियोंसे विचित्ररूप धारण करनेवाला भी वही है । आदि-अन्तसे शून्य स्वरूपको पाकर सर्वत्र प्रकाशित होनेवाला नित्य चेतन ब्रह्म भी वही है ।

जो सामान्यतः तो सर्वत्र प्रकाशित होते हैं, परंतु अन्त-करणमें विशेषरूपसे निरन्तर प्रकाशित होते हुए विश्वमान रहते हैं, जो विन्मय दीप हैं तथा जिनके ही प्रकाशसे तीनों लोकप्रकाशित होते हैं, जिनके विना ये सूर्य आदि सारे प्रकाश अन्धकारके तुल्य हैं, जिनके रहनेपर ही त्रिमुखनरूपी मृग-तुष्णाकी प्रवृत्ति होती है ( अर्थात् जैसे सूर्यकी किरणोंके प्रकाशित होनेपर ही उनमें मृग-तुष्णाके जलकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार जिन विन्मय परमात्मामें ही त्रिलोकीरूपी भ्रमका उदय होता है ), जगत्की सुष्ठि और संहार जिनके विलास हैं, जो सबसे महान् और व्यापक हैं, स्पन्द और अस्पन्द ( चल और अचल ) जिनके स्वरूप हैं, जिनका स्वभाव निर्मल और अविनाशी है, वायुके समान जिनकी गतिशील और गतिहीन सर्वव्यापिनी सत्ता व्यवहारवश केवल नामसे ही भिज है, वास्तवमें भिन्न नहीं है, वही विन्मय परमात्मा है ।

जो सदा ही जगा हुआ है, सर्वदा ही सोया हुआ है तथा जो सर्वत्र और सदा ही भी तो सोया है और न जगा ही हुआ है, जिसका स्पन्दरहित (निक्षण) रूप कल्पणस्वरूप और शान्त है, जिसका स्पन्दनशील स्वरूप ही तीनों लोकोंकी स्थिति है, स्पन्द और अस्पन्दका विलास ही जिसका स्वरूप है; जो अद्वितीय एवं परिणीत्वरूप है, फूलोंमें सुगन्धकी भौति सब पदार्थोंमें साररूपसे स्थित है, विनाशकी वस्तुओंमें भी अविनाशी रूपसे विश्वमान है, सम्पूर्ण वस्तुओंका प्रत्यक्ष करनेवाली वृत्तियोंमें प्रकाश-रूपसे स्थित होकर भी जो क्वेतवज्ज्ञमें स्थित श्वेतताकी भौति अप्राप्त है, जो वाग् आदि इन्द्रियोंसे रहित होनेके कारण गूँगेके समान होता हुआ भी सबकी वाणीकी

प्रवृत्तिमें कारण होनेसे गृणा नहीं है; जो मननरूप विकारसे रहित होनेके कारण पाण्डितके समान होता हुआ भी मननशील है, वित्यतु स होता हुआ भी मोक्षा है और अकिञ्चन ( किया आदिसे रहित ) होता हुआ भी कर्ता है; जो अङ्गरहित है तथापि सम्पूर्ण लोकोंके अङ्ग जिसके अपनेही अङ्ग हैं; जो सहस्रों मुजालों और नेत्रोंसे युक्त है, अकिञ्चनरूपसे स्थित होनेपर भी जिसने सम्पूर्ण अगत्को व्याप्त कर रखा है; जो इन्द्रिय-बलसे हीन है तो भी जिससे सम्पूर्ण इन्द्रियोंके व्यापार होते रहते हैं; जो मननशून्य है तथापि जिससे ये मनोनिर्माणकी रीतियाँ प्रकट होती हैं; जिसका साक्षात्कार न होनेसे आन्तिजनित संसाररूपी सर्पका भय बना रहता है तथा जिसका दर्शन ( ज्ञान ) ही जानेपर सारी आशाएँ और सम्पूर्ण भय सब ओर भाग जाते हैं; जैसे समुद्रसे छोटी ढोटी लहरोंके समुद्रसे युक्त चक्रल उत्ताल तरफ़े प्रकट होती रहती हैं, उसी तरह जिससे बठ्ठपट आदिके रूपमें सैकड़ों पदार्थोंकी श्रेणियाँ प्रादुर्भूत होती हैं; जैसे कड़े, बाजूबंद, बहुटा और न्पुर आदिके रूपमें सुधर्ण ही

अन्य-सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार दात-शत घटादि पदार्थोंके अपर्याप्त होनेवाली तरङ्गमाला प्रकटहोती रहती है, उसी प्रकार जिससे अन्य-सी, अतिरिक्त-सी, पहले-जैसे और नूतन-सी क्षणभङ्गर दृष्ट्यपरम्परा सुर्खित होती है, उसे चिन्मय परमात्मा ही समझो ।

रघुनन्दन । तुम जिस रूपमें स्थित होकर क्रिया, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और चेतनको जानते हो, वह प्रमाता चेतन भी बही है और जिससे जानते हो, वह भी परमात्मदेव ही है । साधो ! द्रष्टा, दर्शन और दृश्यके मध्यमें साक्षी-रूपसे जिसका दर्शन होता है, उसे तुम एकाग्रार्थित होकर अपना आत्मा ही समझो । श्रीराम । वह परब्रह्म परमात्मा अजन्मा, अजर, अनादि, सनातन, नित्य, कल्पाणग्य, निर्मल, अमोघ, सबका परम वन्दनीय, अनित्य, समस्त कलनाओंसे शून्य, कारणोंका भी कारण, अनुभव-रूप, अवेद्य, ज्ञानसारूप, विश्वरूप तथा अन्तर्यामी है ।

( सर्ग ९ )

## जगत्‌की ब्रह्मसे अभिभावा, परमार्थ-तत्त्वका लक्षण, महाप्रलयकालमें जगत्‌के अधिष्ठानका विचार तथा जगत्‌की ब्रह्मरूपताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! यह जगत्‌न तो होनेके कारण सौम्य ( शान्त ) आकाशवाले महासागरके कर्ती परमद्वासे उत्पन्न होता है और न उसमें लीन ही होता है । इस प्रकार केवल यह सदृश्य ही सदा अपने आपमें प्रतिष्ठित है । ब्रह्ममें जो शून्य-शब्दार्थकी कल्पना की गयी है अर्थात् उसे जो शून्य कहा गया है, वह अशून्यकी अपेक्षासे है । बास्तवमें ब्रह्म अशून्यरूप ( सत ) है । उसमें शून्यता और अशून्यताकी कल्पनाएँ कैसे सम्भव हैं । व्यतुत आकाशरूप इस ब्रह्मका प्रकाश केवल अपने अनुभूतिका ही विषय है । जो ब्रह्म आदिके भीतर अन्तर्यामीरूपसे स्थित है, उसका वही अनुभव करता है, दूसरा नहीं ( क्योंकि वह ज्ञानुभवकेवेद है ) । निष्ठाल

होनेके कारण सौम्य ( शान्त ) आकाशवाले महासागरके जलमें जिस प्रकार बड़ी-बड़ी लहरें विवरण होती हैं, उसी प्रकार निराकार ब्रह्ममें उसीके समान वह विश्व स्थित है । पूर्णसे पूर्णका ही प्रसार होता है; जो पूर्णमें स्थित है, वह पूर्ण ही है । अतः विश्व कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ और जो उत्पन्न हुआ है, वह तत्त्वरूप ( ब्रह्मरूप ) ही है । वह परमाणुसे भी अधिक सूक्ष्म, अत्यन्त अणुसे भी अधिक अणु, परम शुद्ध, सूक्ष्म, शान्त और आकाशके मध्यमांगसे भी बदकर निर्मल है । दिशा, काल और परिमाणसे उसका स्वरूप सीमित नहीं है; अतएव वह अत्यन्त विस्तृत ( सर्वव्यापक ) है । उसका

आदि-अन्त नहीं है। वह सब प्रकाशस्तरूप है, दूसरे किसी प्रकाशसे प्रकाशित होने योग्य नहीं है।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन्। अनन्त चेतनस्तरूप उस परमात्मतत्त्वका कैसा रूप है—इस विषयको आप फिर मुझसे कहिये, जिससे उसका भलीभौति बोध हो जाय।

श्रीविष्णुजीने कहा—रघुनन्दन। महाप्रलय होनेपर सम्पूर्ण कारणोंका भी कारण परब्रह्म परमात्मा ही शेष रहता है। उसका वर्णन किया जाता है, मुना। ममाधिमें निरोधके द्वारा जब मनकी वृत्तियोंका क्षय हो जाता है, तब मनके अपने खलूपका नाश करके जो अनिर्वचनीय स्वप्रकाश सदूरूप अवशिष्ट रहता है, वही उस अनन्त चिन्मय परमार्थ-वस्तुका रूप है। जब इश्य जगत् नहीं रहता और इश्यके अभावसे ब्रह्म भी विलीन हुआ-सा प्रतीत होता है, उस समय जो दृष्टि, इश्य और दर्शन—इस निपुटीके ल्यका प्रकाशक साक्षीरूपसे अवशिष्ट रहता है, वह चिन्मय ब्रह्म ही उस परमार्थ-वस्तुका स्तरूप है। जीवस्तरूपा चिद-सत्ताका जो अविन्तनीय चिन्मय निर्मल एव शान्त स्तरूप है, वही उस परमार्थ वस्तु या परम त्प्रकाश रूप है। आकाशका जो इश्य ( व्यापकत्व ) है, शिलाका जो तात्त्विक रूप घनत्व है तथा वायुका जो गूढ़ रूप अन्तर-वाहरमें परिपूर्ण होना है, वही उस चेत्य-मिन्न ( इश्यरहित ) चेतन आकाशस्तरूप परमात्माका स्तरूप है वेदन ( बुद्धि-वृत्ति ) का, प्रकाश ( पदार्थोंकी स्फुरणा ) का, इश्य ( विषय ) का और तम ( अज्ञान )—का साक्षीभूत जो अनादि-अमन्त वेदन ( ज्ञान ) है, वही उस परमात्माका रूप है। ह्रेय, ज्ञान, और ज्ञाता—सामने प्रतीत होनेवाली यह निपुटी जहाँ उदित होनी है, विसमें स्थित रहती है और जिसमें ही लीन हो जाती है, वही उस परमात्माका परम दुर्लभ रूप है।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्म। जो 'इदम्' रूपसे प्रत्यक्ष दिखायी दे रहा है और जिसका आर ब्रह्ममें अभाव कहते

हैं, वह यह दृश्य-जगत् महाप्रलय होनेपर कहाँ स्थित होता है ?

श्रीविष्णुजीने कहा—रघुनन्दन। जैसे कम्याके पुत्र और आकाशमें बन कर्मी नहीं होते, उसी प्रकार यह सम्पूर्ण दृश्यजगत् तीनों कालोंमें कभी अस्तित्वमें नहीं आता। जगत् न कभी उपर्युक्त हुआ है और न उसका कभी नाश ही होता है। जिसकी पहले सत्ता ही नहीं है, उसकी उत्पत्ति कैसी, और उसके विनाशकी चर्चा कैसी ?

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मापुत्र और आकाश-वृक्षका कल्पना तो की ही जाती है। यह कल्पना जैसे उत्पत्ति और विनाशसे युक्त है, उसी प्रकार यह जगत् भी जन्म और नाशसे युक्त क्यों नहीं होगा ?

श्रीविष्णुजीने कहा—जैसे सोनेके कड़ेमें सुखपद दिखायी देनेवाला यह कट्टवात्र वास्तवमें है नहीं, सुवर्ण ही उसके रूपमें मासित होता है, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मामें जगत् नामकी कोई वस्तु नहीं है ( जिसे इम जगत् कहते हैं, वह ब्रह्म ही है )। जैसे आकाशमें जो शून्यता है वह आकाशसे मिन्न नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्ममें प्रत्यक्ष उपलब्ध होनेपर भी यह जगत् उससे मिन्न नहीं है। जैसे कालिमा काजलसे मिन्न नहीं है और जैसे शीतलता चन्द्रमासे और हिमसे अलग नहीं होती, उसी प्रकार यह सुष्ठि भी ब्रह्मसे पृथक् नहीं है। जैसे महमूमिमें प्रतीत होनेवाली मृग-ताणाके नदीमें जल नहीं है तथा जैसे नेत्रदोषसे प्रतीत होनेवाले द्वितीय चन्द्रमामें चन्द्रत्व नहीं है, उसी प्रकार निर्मल परमात्मामें प्रत्यक्ष दीखनेपर भी जगत् नामकी कोई वस्तु नहीं है। स्वप्नमें—स्वप्न देखनेवाले पुरुषके अन्तः-करणमें जो स्वाभिक जगत्की भान्ति होती है, वह जैसे सञ्चित ( ज्ञान ) का विकासमाप्त है, उसी तरह सुष्ठिके

प्रारम्भिक कालमें ब्रह्ममें ही इस जगत्का विकास हुआ है। अतः यह उससे भिन्न नहीं है। जैसे द्रष्टव्य (तरलता) जलरूप ही है, स्पन्दन (कम्पन) वायुरूप ही है और जैसे आमास प्रकाशरूप ही है, उसी प्रकार यून, मनिष और वर्तमान—तीनों कालोंमें प्रतीत होनेवाला जगत् ज्ञानरूप ही है। जिस प्रकार खम देखनेवाले पुरुषके मैत्रका चैतन्य ही ग्राम नगर आदि-जैसा प्रतीत होता है, उसी प्रकार परमात्मामें उसका अपना चिन्मय स्वरूप ही जगत्-सा मासित होता है।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन्। यदि यह दृश्यरूपी विषय उभयं होकर भी स्वप्नात् जगत् के समान मिथ्या ही है, तो उसकी इतनी सुदृढ़ प्रतीति कैसे हो रही है—यह बताइये।

श्रीकृष्णजीने कहा—श्रीराम। यह जगत् सर्वात्मक (ब्रह्मप) ही है, भ्रष्टसे भिन्न कदापि नहीं। जगत्-रूपमें जो इसकी प्रतीति होती है, वह सर्वया असत् है। रघुनन्दन। यह प्रसिद्ध परमात्मा एक ही है। उसके विषयमें द्वितीय होनेकी कोई कल्पना नहीं है। उस अद्वितीय परमात्मामें यह जगत् जिस प्रकार उत्पन्न हुआ है, वह तुम्हें आगे चलकर बताऊँगा। प्रिय श्रीराम। उसीसे ये सारे दृश्य-पदार्थ विस्तारको प्राप्त हुए हैं। वह परमात्मा ही यह व्यष्टि और सुमष्टिरूप जगत् है। दृश्य वस्तुओंके दर्शन और मनमीय वस्तुके मनमके जो-जो प्रकार हैं, उनके रूपमें वह सत्य ही उन्नित और विलीन होता रहता है—उसीके आविर्भाव और तिरोभाव होते रहते हैं।

( सर्ग १०-११ )

### ब्रह्ममें जगत्का अध्यारोप, जीव एवं जगत् के रूपमें ब्रह्मकी ही अखण्ड सत्ताका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन। जैसे सुषुप्ति ही स्वप्नवत् प्रतीत होती है, उसी प्रकार ब्रह्म ही इस सुष्टिके रूपमें प्रतीतिका विषय हो रहा है। एक पुरुषकी वासना-मात्रका कार्य होनेसे स्वप्नकी घनी (सुष्टु) प्रतीति नहीं होती; परंतु यह प्रपञ्च समष्टिकी वासनाका कार्य होनेके कारण इसकी सुष्टु एवं क्रमशद् प्रतीति होती है। सर्वात्मक ब्रह्म ही इस प्रपञ्चका अधिष्ठान है। असीम प्रकाशस्वरूप जो अनन्त चैतन्यमणि (प्रक्ष) है, उसका सत्तामात्र रूप ही यह सम्पूर्ण विश्व है।

पञ्चभूतोंकी जो तमात्राएँ हैं, वे ही जगत्का बीज हैं। पञ्चनन्मात्राओंका बीज आदिमात्मा शक्ति है, जिसका परमात्मासे इश्वरवान्-रहित (साक्षात्) सम्बन्ध हैं तथा वही जगत्की स्थितिमें हेतु है। इस प्रकार वह चिन्मय, अजन्मा एवं सबका आदिमूल परमात्मा ही मायाद्वारा जगत्का बीज होता है। मायाके हठ जानेपर वही अपने विशुद्ध रूपमें सदा अनुमयमें आता है। इसनिये यह जगद्-बीमव चिन्मय परमात्मरूप ही है।

जैसे खममें विना बनाये ही नगर बन जाता है उसी प्रकार महाकाशरूपी महान् वनमें जगद्-रूपी वृक्ष ब्रांह्मं बार उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है। जैसे खम देखनेवाला पुरुष अपने लिये मारका निर्माण-सा कर लेता है, उसी प्रकार यह चेतन आत्मा भी पृथ्वी आदियी सुष्टि कर लेता है। वास्तवमें उस समय भी वह अहं चेतन आत्मा ही रहता है। जगत्का बीज हैं पञ्चनन्मात्राएँ और उनका बीज है अविनाशी चेतन आत्मा। जो बीज हैं, उसीको फल समझो (क्योंकि उगादान कारण और कार्यमें भेद नहीं है)। इसलिये सारा जगत् ब्रह्ममय ही है। जो खरूप कल्पित हैं, वह सत्य कैसे हो सकता है। यदि पञ्चभूतोंकी तमात्राएँ प्रक्षस्वरूप हैं तो उनके कार्यरूप स्थूल पौङ्च महाभूतोंको भी ब्रह्म ही समझो। इससे यह सिद्ध हुआ कि सदासे दृढ़मूल यह त्रिलोकी ब्रह्म ही है।

इस प्रकार यह जगत् न कभी उत्पन्न होता है न उत्पन्न हुआ दिखायी देता है। जैसे स्वप्न एवं मनोरथ-

द्वारा निर्मित पुर असद् होता हुआ भी सद्-सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार ब्रह्माकाशरूपी परम व्योममय चिन्मय आत्मामें जीवाकाशात् असद् होता हुआ भी सद्-सा प्रतीत होता है, वर्णाद् उस ब्रह्ममय महाकाशसे अविमत्त होनेपर भी विमक्त-सा दीखता है। चिदात्मा परमेश्वरमें कल्पित समष्टि-जीवाकाश अत्यन्त विस्तृत होता हुआ भी औं चिनगारोकी भौति अत्यन्त सूक्ष्म तेजका कण हूँ ऐसी मावना कलनेसे वह अपनेको वैसा ही ( अगुरुप ही ) अनुभव करने लगता है। आकाशमें आत्मरूपसे जिस स्थूलताका चिन्तन करता है, मावनाद्वारा अपनेको वैसा ही स्थूल समझने लगता है। जैसे संकल्पसे कल्पित उत्पन्न सद् नहीं है, वैसे ही मावनाद्वारा भावित वह रूप भी सद् नहीं है, तथापि सद्-सा प्रतीत होता है। जैसे साम देखनेवाला मनुष्य सपनेमें अपनेको पथिकके रूपमें देखता है, उसी प्रकार वह वित्तकी कल्पनासे अपनेमें लिङ्ग देह और मात्री स्थूल शरीरकी प्रतीतिको भी धारण करता है। जैसे पर्वत बाहर स्थित होनेपर भी दर्पणके भीतर स्थित हुआ-सा प्रतीत होता है, जैसे कुरुके जलमें प्रतिविभित हुआ शरीर वही व्यवहारकर्ता-सा जाभ पड़ता है, जैसे दूरतक सुनायी देने योग्य हाव्य भी सम्पुट ( गुफा आदि ) में अवरुद्ध होकर उसके भीतर ही रह जाता है, बाहर नहीं फैलने पाता तथा जैसे सूख और मनोरथविषयक संवित् देहके भीतर ही स्वप्न आदि देखती है—वे विषय बाहर होनेपर भी अपने बाह्य रूपको त्यागकर ही शरीरके भीतर अन्तःकरणमें भासित होते हैं, उसी प्रकार आगकी चिनगारीके समान अणु उपाधिमें स्वरूपतः कल्पित जो सूक्ष्मशरीर है, उसके भीतर स्थित हुआ यह जीवात्मा वासनामय देहादि-व्यवहारका अनुभव करता है।

मनोगम शरीरवाला जीव अपने मनोगम देहाकाशमें ही स्थूलताकी भावना करके स्थूल-देहधारी हो गया है। वह अपनी कल्पनाके भीतर ही स्थित हुए

ब्रह्माण्डका दर्शन करता है। मनोगम शरीरधारी औं अनकहो ही आत्मा समझता है। उस आत्मरूप चित्तसे अपने संकल्पके अनुसार अपने ही लिये गर्भरूपी गृह, देश, काच, कर्म तथा इन्ह आदिकी कल्पनाओंकी भावना करता हुआ नाम आदिका निर्माता बनकर वह आतिथाहिक देहधारी जीव अपने द्वारा कल्पित विभिन्न नामोंसे उन-उन पदार्थोंको और अपनेको भी असत्य जगत्-रूपी भ्रममें बौधता है। जैसे मिथ्याभूत स्वप्नमें होठे ही अपना उद्धना प्रतीत होता है, उसी प्रकार असत्य जगत्-रूपी भ्रममें ही यह जीवात्मा मिथ्या विकासको प्राप्त होता जान पड़ता है। वह कभी उत्पन्न नहीं हुआ है। इस ब्रह्माण्डरूपी भ्रमके उद्दित होनेपर भी इसमें कभी कुछ उत्पन्न नहीं हुआ। उत्पन्न हुई कोई वस्तु दिखायी नहीं देती; केवल अनन्त, निर्मल ब्रह्माकाश ही सर्वत्र विद्यमान है। संकल्पद्वारा निर्मित नगरके समान यह दृश्य-प्रपञ्च सद्-सा प्रतीत होनेपर भी सद् नहीं है। स्वयं उद्दित हुआ यह प्रपञ्च उस चित्रके समान है, जिसका किसी वित्रकारने न तो निर्माण किया है और न उसमें रंग ही भरा है। यह बिना बनाये ही बनकर अनुभवमें आ रहा है और सत्य न होकर भी सत्य-सा स्थित है। महाकल्पके अन्तमें ब्रह्मा आदिके मुक्त हो जानेके कारण निश्चय ही वर्तमान कल्पके ब्रह्माको कोई पूर्वजन्मकी सूति नहीं रह जाती, अतः वह सूति इस जगत्-की उत्पत्तिमें कारण नहीं हो सकती। इसलिये वर्तमान कल्पमें जैसे ब्रह्मा संकल्पमय हैं, वैसे ही उनसे उत्पन्न हुआ यह जगत् भी संकल्पजन्मय ही माना गया है। इस पूर्णी आदिकी सुष्ठिके विषयमें जो इस तरह साक्षीकृत अनादिकालका अनुभव है, उसीको यदि कारण माना जाय तो साक्षिवेष स्वप्नदृष्ट पूर्णी आदि पदार्थ जैसे जागरण-अवस्थामें मिथ्या सिद्ध होते हैं उसी प्रकार अनादि साक्षीके संस्कारसे उत्पन्न जगत् भी मिथ्या ही सिद्ध होगा।

जैसे जिस किसी भी देश या कालमें द्रव्यत्व जलसे

मिज नहीं होता, उसी प्रकार किसी भी देश या काष्ठमें यह सुष्टि परमात्मासे भिज नहीं है। इस प्रकार यह सुष्टि भ्रमसे ही प्रौढ़ ( छुट्ट का बनीभूत ) प्रतीत होती है। वास्तवमें यह विषमतारहित परमात्मा ही इसके रूपमें स्थित है। जो ग्रहण ग्रहण ही है ( उससे भिज दूसरी कोई वस्तु नहीं है )। इसी तरह यह दृश्य-जगत्, जो आत्मामें सर्वथा कर्त्तित भ्रमरूप है, शान्त, आधाररहित, आधेय-शून्य, अद्वैत तथा एकत्वके व्यवहारसे भी शून्य ग्रहणरूप ही है। यथापि इस जगत् रूपी भ्रमकी प्रतीति होती है, तथापि उसके रूपमें कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हुई है। घारों औरसे शून्य जो निर्मल चेतनाकाश ( ज्ञान ) प्रतिष्ठित है, वही सदा सर्वत्र अपने स्वरूपसे स्थित है। उसमें न सम्पूर्ण संसार है, न उसका कोई आधार है, न आधेय है; न दृश्य है न उसमें दृश्यपन है; न ग्रहण है न ग्रहण है और न कहीं कोई विलग्नावाद ही है। न जगत् है न पृथ्वी है। यह सम्पूर्ण दृश्य शान्तरूप निर्मल ग्रहण ही है। इस प्रकार परमात्मा ही अपनेमें

अपनेसे विकासको प्राप्त होता है।

जैसे तरल होनेके कारण जल ही अपनेमें आवृत्त रूपसे प्रतीत होता है, उसी प्रकार विद्युत-रूप होनेके कारण आत्मा ही अपनेमें जगत्-सा प्रतीत होता है। जगत् इससे कोई भिज पदार्थ नहीं है। असद होता हुआ ही यह प्रतीतिका विषय होता है और यहाँ सत्-सा अनुभवमें आता है। अन्तमें ( महाप्रलयके समय ) यह असद होता हुआ ही नष्ट होता है। जैसे स्वर्णमें जो अपना मरण दिखायी देता है, वह जाग्रत्काळमें असद ही सिद्ध होता है, उसी प्रकार अज्ञान अवस्थामें प्रतीत होनेवाला यह दृश्य-प्रपञ्च ज्ञान होनेपर असद ही सिद्ध होता है। ( अथवा प्रलयकालमें जो इसका सहार होता है, वह स्वन्नावस्थामें प्रतीत होनेवाले अपने ही मरणके समान मिथ्या है। ) अथवा ग्रहका अपना ही स्वरूप होनेके कारण यह दृश्य-प्रपञ्च सन्मान, अनामय, अखण्डित ( परिपूर्ण ), अनादि, अनन्त तथा चेतन आकाशरूप ग्रहण ही है। ( उससे अतिरिक्त इसकी सत्ता ही नहीं है। ) ( सर्ग १२-१३ )

मेदके निराकरणपूर्वक एकमात्र ग्रहणी ही अखण्ड सचाका वर्णन तथा जगत्की पृथक् सचाका खण्डन श्रीवासिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! इस प्रकार अहंता आदि दृश्यसमूहभूत जगत् वास्तवमें कोई वस्तु नहीं है। कभी उत्पन्न न होनेके कारण उसका अस्तित्व ही ही नहीं और विसका अस्तित्व है, वह तो परग्रह परमात्मा ही है। यदि स्वर्णमें दिखायी देनेवाला पर्वत अविनाशी हो तो यह जगत् उसीके समान अविनाशी है। यदि स्वर्णमें प्रतीत होनेवाला नगर स्थिर हो तो उसी तरह यह जगत् भी स्थिर है। ( तात्पर्य यह कि जैसे वे अविनाशी और स्थिर नहीं हैं, वही दशा इस जगत्की भी है। ) यदि चित्रकारक वित्त स्थिर हो और उसमें वासनामय स्थिर वित्त बने तो उस वित्रमें कल्पनाद्वारा अकित सेनाके समान ही इस जगत्की

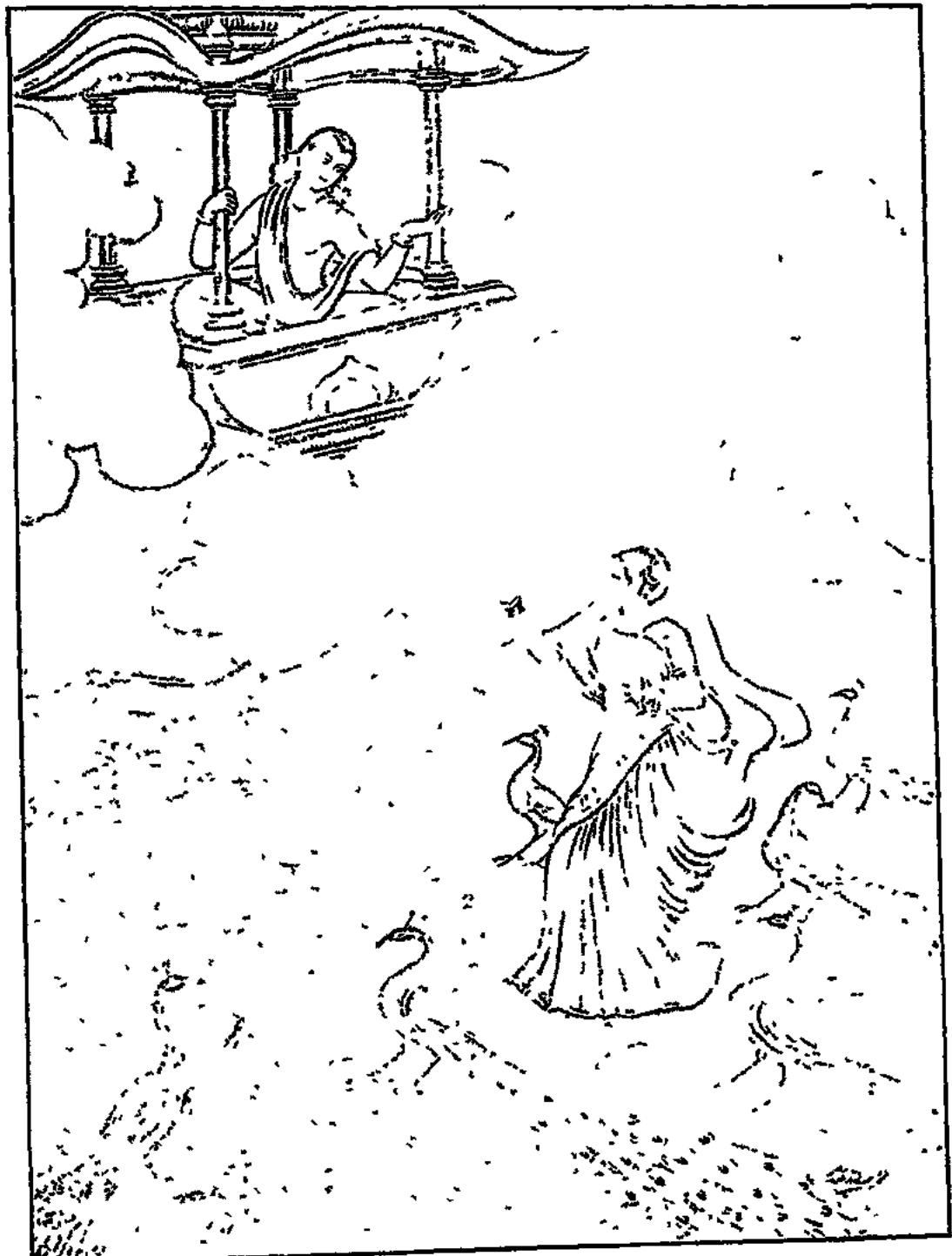
आकृति है अर्थात् जैसे उस चित्रमें अकित सेना अस्तिर एवं अविनाशी है, उसी तरह यह जगत् भी है। आदि-प्रजापतिका भी, जो स्वयंभू नामसे पहलेपहल विस्थात हुआ, कोई कारण नहीं है; क्योंकि उसके पूर्वजन्मके कर्म शेष नहीं हैं। महाप्रलय होनेपर पूर्वजन्मके सभी प्रजापति मुक्त हो जाते हैं, अतः उनमें पूर्वजन्मका कर्म कैसे रह सकता है। ग्रह ही सबसे प्रथम होनेवाला हिरण्यगर्भ है। वही विराट् है और विराट् ही सुष्टिस्वरूप है। इस तरह वह विन्मय परमात्मा ही श्रीवासिष्ठका वित्त होती है। ( तात्पर्य यह कि समस्त जगत् ग्रह ही है, ग्रहसे भिज दूसरी कोई वस्तु नहीं। )

केवल एकमात्र शुद्ध चिदूबन निर्मल एवं सर्वव्यापक ब्रह्म ही सदा सर्वत्र विराजमान है। वह सर्वशक्तिमान् होनेसे जिन-जिन कौशलपूर्ण कल्पनाओंकी भावना करता है, उन्हें स्वयं ही प्राप्त करता है—स्वयं तद्रूप ही जाता है। जैसे हाथमें दीपक लेकर हूँड़ा जाय या देखा जाय तो अन्धकार अदृश्य हो जाता है, उसका कहीं पता नहीं लगता, उसी प्रकार ज्ञानका प्रकाश छा जानेपर अह्नानरूपी अन्धकारका तरव ज्ञात नहीं होता—उसका पता ही नहीं चलता। इसी प्रकार अखण्ड, व्यवधानशून्य, अनादि, अनन्त तथा सर्वशक्तिमान् जीवात्मा जो उभी वाधित न होनेवाले महाचैतन्यरूपी सारमूत अंशसे रूपवान् प्रतीत होता है, ब्रह्म ही है—उससे मिळ नहीं है। वह ब्रह्म सब प्रकारसे महान् है—देश, काल और परिणामसे परिच्छिन्न नहीं है। इसन्ते कहीं उसमें मेदकी कल्पना नहीं है शरूर जो मेदकी कल्पना होती है, वह भी प्रहा ही है, उससे मिल नहीं; क्योंकि सर्वत्र ऐसा ही अनुमत होता है। चेतनकी जो यह आकाशसे भी सूक्ष्म शक्ति सब और फैली है, वह स्वभावसे ही पहले इस अहंता ( अहंकार ) का दर्शन ( अनुसंधान ) करती है। जैसे जल अपने आपमें स्वयं ही बुद्धुद और तरङ्ग आदिके रूपमें स्फुरित होता है, उसी प्रकार जब आत्मा अपने आपमें स्वयं ही स्फुरणशील होता है, तब उस चेतन आत्माकी यह विष्णुकि उस सूक्ष्म अहंताका दर्शन ( अनुसंधान ) करती है, जो उत्तरोत्तर स्थूलताको प्राप्त होती हुई अन्तमें नष्टाण्डका आकार धारण कर लेती है। चेतनकी चमत्कारकारिणी जो वित्तिशक्ति है, वह स्वयं अप्स्त्रे आपमें जिस सुन्दर चमत्कारकी सुष्ठि करती है, उसीका नाम जगत् रख दिया गया है। रघुनन्दन ! चैत्य ( दृश्य ) भूत जो अहंकार है, उसकी कल्पना चैतन्यके अधीन है अर्थात् चैतन्यकी ही वह कल्पना है। तथा तन्मात्रा आदि जो जगत् है, उसकी कल्पना अहंकारके अधीन है, एवं प्रकार अहंकार और जगत्

चैतन्यरूप ही हैं। किर उस चैतन्यमें द्वैत और अद्वैत कहाँ रहे।

ईहा अर्थात् मनकी चेष्टा ( संकल्प )-रूप जी सारा सूक्ष्म जगत् है, वह शून्य ही है तथा इन्द्रिय और उनके अविश्वासा देवताओंका निवासमूत जो साकार एवं स्थूल विश्व है, वह भी शून्य ही है; क्योंकि दोनों ही चैतन्य-के चमत्काररूप ( चैतन्य ही ) हैं। इसलिये वे चैतन्यसे मिल नहीं हैं। जो वस्तु जिस वस्तुका विलास होती है, वह उससे कभी भी मिल नहीं होती। अवयवयुक्त जल आदिके विलासभूत तरङ्ग जादिमें भी ऐसा देखा गया है। किर अवयवयुक्त चेतनके विलासमें अभिनता हो, इसके लिये तो कहना की ब्याही है। सदा अचेत्य ( अदृश्य अथवा रूपसे रहित ), नामरहित और सर्वव्यापक चैतन्यशक्तिका जो रूप है, उससे स्फुरित प्राप्त करनेवाले जगत्का भी द्वीप रूप है। ( चैतन्यकी ही जो मिळ-मिल आकारमें स्फुरणार्थे होती हैं, वे ही जगत् कहीं गयी हैं; अतः यह जगत् उस चैतन्यशक्ति या चेतन आत्मासे मिल नहीं है। ) श्रीराम ! चेतन दृष्ट्याका जो चैतन्य है, उसीको जगत् समझो। वह चैतन्य जगत्से पृथक् नहीं है। यदि चैतन्यको जगद्भावसे रहित या मिल माना जाय तो चित् चित् नहीं रह जायगा—चेतनको चेतन नहीं कहा कहा जा सकेगा। ( क्योंकि अपने धर्म या स्वरूपभूत जगत्को चेतित—प्रकाशित करनेके कारण ही उसको 'चित्' या 'चेतन' कहते हैं। ) अतः चेतनसे जगत्का प्रतीतिमात्रसे ही मेद है, बास्तवमें मेद नहीं है। ऐसी परिस्थितिमें जगत्की पृथक् सत्ता कैसे सिद्ध हो सकती है।

चैतन्यप्रधान अहंकार वर्ता है और स्पन्दनप्रधान ( हिलना-चलना आदि चेष्टामय ) प्राण कामे / किंगा ) है। इन दोनोंमें कोई भेद नहीं है; क्योंकि कर्ताका इन्हीं क्रियासे भेद नहीं देखा जाता। चित्तका स्पन्दनमात्र ही किंगा ( प्राण ) है, उससे संयुक्त पुरुष ही 'जीव' कहा गया



सुरुचि और देवदूत

(वैराग्य-प्रकरण सर्ग १)

—

है। इस प्रकार जीव और जगत् में भी भेद नहीं है।) कार्यकारण आदि भावरूप चेतन जगत् आधासे मिन्न नहीं है। वह चैतन्य प्रकाशकी एक कलकमात्र है। अतः जहाँ सब भेदोंका लय हो गया है, वह परमात्मा ही जगत् है, यह सिद्ध हुआ। इस प्रकार तत्त्वज्ञान ही जानेपर यह निष्ठय हो जाता है कि मैं अच्छेष हूँ (कोई शब्द मुझे काट नहीं सकता), मैं अदाय हूँ (मुझे आग जल नहीं सकती), मैं अशोष्य हूँ (इस मुझे द्विखानहीं सकती) तथा मैं निष्ठ सर्वधारी, सुस्थिर और अवल हूँ। जैसे अपने भ्रमसे औरोंको भ्रममें ढाढ़ने हुए विशादशील मनुष्य परम्पर विशाद करते हैं, उसी प्रकार जो अज्ञानी हैं, वे ही इस परमात्मतत्त्वके विषयमें बाद-विशाद करते हैं। हमलोग तो अमरहित हो गये हैं। अतः हमारे लिये विशादका अवसर ही नहीं है। अज्ञानी लोगोंमें जिसकी सत्ताको इदंतापूर्वक मान रखा है, वह दृश्य जगत् उनकी दृष्टिमें मूर्त एवं सत्य है; अतः उन्हींकी आवश्यनके अनुसार उसमें पृथक् विकार आदि हो सकते हैं। परंतु आत्मज्ञानीकी दृष्टिसे जो निराकार, असत्य एवं विन्मय आकाशरूप है, उसमें आधासे पृथक् विकार आदिकी प्रतीक्षि कैसे सम्भव है।

चेतन आत्मा स्वयं अपने स्वरूपमें किसी प्रकारका लिकार न थाने देकर विचित्र आकाशके रूपमें आविर्भूत होता है। तत्पश्चाद् वह चेतन स्वयं ही आकाशजनित वायु होकर विलक्षण स्पन्दन (कम्पन) के साथ प्रकट होता है। इसके बाद (जिसकी उत्पत्तिकी चर्चा अभी की जायगी, उस सेवतत्त्वके रूपमें प्रादुर्भूत हुआ) चेतन स्वयं जगतत्त्व बनकर विचित्र विकासको प्राप्त होता है। वह अल धरती खोदकर निकले गये कूप, तदाग आदिके जलसे मिन्न होता है (क्योंकि पृथीकी सुष्ठिसे पहले उसका उस कूप आदिसे सम्बन्ध होना सम्भव नहीं है)। जलतत्त्वकी सुष्ठिके बाद वह चेतन स्वयं ही सुवर्ण, रजत आदि विचित्र धातुओंसे पूर्ण पृथी-

तत्त्वको—देवता, अमुर १८ मनुष्य आदिके शरीरभावको भी प्राप्त हुआ।

सदाउद्दित रहनेवाला चेतनरूपी चन्द्रमा स्वयं ही अपने विचित्र रसोङ्गाससे युक खांदनी और महान् विन्मय प्रकाश बनकर प्रकट हुआ। अपने चैतन्यस्वरूपके ज्ञान-के आलोकसे हृष्य-प्रणज्ञरूपी अज्ञानान्धकारके नष्ट हो जानेपर वह चेतन आत्मरूपी चन्द्रमा स्वयं ही पूर्णताको प्राप्त होकर उद्दित एवं प्रकाशित होता है और स्वयं ही जहातावश स्थावर आदि पदार्थोंमें अहनाश करनेसे सुपुत्रि अवस्थाको प्राप्त होता है। विन्मय महाकाशरूप व्रह्म स्वयं ही अविद्यार-दशामें स्पन्दनशील प्राण आदिमें आत्म-मावकी कल्पना करनेपर स्पन्दी अर्थात् संसारी हो जाता है। फिर विचार करनेसे 'मैं चेतन हो चुका हूँ' इस प्रकार जब चैतन्य ज्ञानका उदय होता है, तब वह पुनः पूर्ववत् अपने स्वरूपमूर्त चैतन्यमें ही प्रतिष्ठित होता है। यह जगत् चेतनरूपी तेजका प्रकाश है। अतः प्रदाहाष्टसे तो यह भ्रह्मस्वरूप है, किंतु जगत्-हृषिसे यह सर्वथा अस्तित्व-शून्य है। जगत् चेतनरूपी एकप्राप्त आकाशकी शून्यता है। भ्रद्धरूपसे यह सत् है और जगत्-रूपसे असत्। जगत् चेतनरूपी आलोकका महान् रूप है। प्रदाहाष्टसे वह सत् है और उससे मिन्न रूपमें उसकी सुरक्षा सुर्वया अभाव है। जगत् चेतनरूपी वायुका स्पन्दनमात्र है। यह जगन्मयी रेता चेतनरूपी अग्निकी उष्णता है (जैसे अग्निका उष्णतासे भेद नहीं है, उसी प्रकार चेतनका जगतसे)। यह जगत् चेतनरूपी जलका द्रव्यव (तरलता है, विन्मय स्फुदण्डका माझुर्य है, चैतन्यरूप हिमकी शीतलता है, चेतनरूपी ज्वालाकी उपट है, चैतन्यमयी सरिताकी तरङ्ग है और चेतनरूपी सुवर्णका बना हुआ कद्मण है, चेतनकी सत्ता ही इस जगत्की सत्ता है। जैसे आकाशमें मछ नहीं है—वह सर्वया निर्भल है उसी प्रकार चेतन परमात्मामें भेद और विकार आदि नहीं है—वह सर्वया अखण्ड एवं निर्विकार है।

इस प्रकार ये तीनों छोक सद् आत्माका स्वरूपभूत होने-से सद् है, अन्यथा इनका कोई अस्तित्व नहीं है।

चिन्मय परमात्मामें अवयव और अवयवी—इन दोनों शब्दोंके अर्थ स्वरगोशके सींगकी भाँति असद् हैं। समूर्ण पदार्थ-समूहोंके अविद्यानभूत चेतन आकाशमय परमात्मामें इप मूलाकाश ननित वायु आदि जगत्-रूपी मलकी प्रतीति होती है; परंतु उन असङ्ग मूलाकाशसे ही उसके कार्यमूल वायु आदिका सम्बन्ध नहीं है, तब चेतन मूलाकाश-स्वरूप परमात्मामें इस प्रपञ्चकी सत्ता, असत्ता तथा त्, मैं आदि भावोंके सम्बन्ध कैसे हो सकते हैं? संसारमें जितने कार्य हैं, उन सबके समस्त कारण-समूहोंका आदिकारण ब्रह्म है। वित्रसे उत्पन्न मनोरथजनित सारे संकल्प-विकल्प असद् होते हैं, अतः वित्र स्वभावसे ही किसीका कारण नहीं है। वह अकारणरूप ही है और वही ब्रह्म है। यदि हम कहें कि 'चेत्य जगत्'के असद्

होनेपर चेतन भी असद् हो जायगा; क्योंकि वह अपने स्वरूपभूत चेत्यसे पृष्ठक् नहीं है, तो वह वीक नहीं। चेतनकी असत्ता तो वाणीमात्रसे भी सिद्ध नहीं की जा सकती; क्योंकि चेतन आत्मा अनुभवसे सिद्ध है। जो है, उसका अवश्य उदय होता है, जैसे वीजसे बहुरक्त। यह बात प्रत्यक्ष देखी गयी है। ( अतः यह सिद्धान्त स्थिर हुआ कि परमात्माकी सत्तासे ही जगत्की सत्ता है, स्वतन्त्र नहीं। )

महर्षि वसिष्ठ जब इनी बात कह चुके, तब दिन बीत गया। सूर्य अख्याचलको चले गये। मुनियोंकी वह सभा सायंकाळिक नित्यकर्म करनेके लिये स्नान करनेके उद्देश्यसे महर्षिको नगरकार करके उठ रथी। फिर जब रात बीती, तब ग्रात कालके सूर्यकी किण्णोंके साथ-साथ वह मुनिमण्डली पुनः सभामन्दनमें आकर बैठ गयी।

( सर्ग १४ )

**जगत्के अत्यन्ताभावका प्रतिपादन, यज्ञोपास्यानका आरम्भ, राजा पश्च तथा रानी लीलाका परस्पर अनुराग, लीलाका सरस्वतीकी आराधना करके वर पाना और रणभूमिमें यतिके**

**गारे जानेसे अत्यन्त व्याहुल होना**

जैसे समुद्रके भीतर जलके स्पन्द ( हृष्ण-चलन आदि ) जलके स्वभावसे च्युत हुए बिना ही लहरोंके बोगके रूपमें प्रकट होते हैं, उसी प्रकार चेतन परमात्मा-में दृश्यजगत्की प्रतीतियाँ होती रहती हैं। जैसे स्वप्न और संस्करण ( मनोरथ ) में प्रतीत होनेवाले घड़न्ट आदि पदार्थ अनुभवमें आनेपर भी वास्तवमें हैं नहीं, उसी प्रकार चेतनाकाशरूपी परमात्मामें दृष्टिगोचर होनेवाले ये पृथ्वी आदि जगत् इन्द्रियोंके अनुभवमें आनेपर भी बाह्यतरमें हैं नहीं। जैसे मरुभूमि सूर्यकी किण्णोंके अन्तर्गत दीक्षनेवाली जलकी नदी ( मुगातुणा ) में कहीं भी जलका होना सम्भव नहीं है उसी प्रकार इस विद्यानाकाशत्वरूप जगत्में मूर्तरूप होना कदापि सम्भव नहीं है। जिसमें मूर्त रूपका

प्रहृण नहीं होता तथा जो सङ्कल्पकल्पित नगरके समान निध्या है, उस जगत्में जो दृश्यनाकी प्रतीति होती है, वह मरुभूमिचिकामें दृष्टिगोचर होनेवाली नदी-के समान आन्तिरूप ही है। इस जगत्का जो दर्शनीय-सा दृश्य-वैभव है, उसे साक्षिमूल चैतन्यमयी तराजूके एक पलड़ीमें रखला जाय और दूसरी ओर खज्जको रखकर सार और असारका विवेचन करनेवाली बुद्धिरूप कौटीसे यदि तौला जाय तो वह दृश्य-वैभव खज्जकी भाँति कलनारहित ( असत्य ) होकर आकाशकी भाँति शून्यरूप अथवा चेतनाकाशमय ब्रह्मरूपमें ही स्थित होता है।

अद्वानियोंकी जो समझ है, उसीमें 'जगत्' शब्दका प्रहृण से भिन्न अर्थ भासित होता है। वास्तवमें जगत्,

प्रह और स्व ( आत्मा )—इन शब्दोंके अर्थमें कोई भेद है ही नहीं । इसलिये वहाँ जगत् आदि कोई भी दृश्य उत्पन्न नहीं हुआ है । नाम और व्यप्ति रहित चेतन भ्रष्ट ही ज्यों-का-त्यों ( लिखिकार भावसे विराज-मान है । इस रीतिसे मायामय महाकाशमें स्थित यह जगत् आवरणशून्य चेतन आकाशरूप परमात्मा ही है । इस विषयमें मण्डपाल्यान सुनाया जाता है, जो कानोंके लिये आभूपणरूप है । तुम आग देकर इसे सुनो ।



पूर्वकालमें इस भूतलघर पक्ष नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं, जो अपने कुछरूपी सरोकरमें प्रफुल्ल कमलके समान शोभा पाते थे । वे राजकुमारीसे सम्पन्न और अनेक पुत्रोंसे युक्त होते हुए भी विवेक-शील थे । ये मर्यादाकां पाठन करनेमें समुद्र और दोपहरूपी गिनकोंको जला ढालनेके लिये अग्निके समान थे । जैसे मेरुर्वत देवताओंका आश्रम है, वैसे ही वे

विद्वानोंके समुदायको आश्रय देनेवाले थे । जैसे पूर्ण ऋद्धमाके उदयसे महास गर उत्तराधित हो रठना है, उसी प्रकार उनके सुयत्तमें विस्तारसे भगवान्का अनन्द-वर्धन होता था । वे ए-द्वृगुणरूपी हसोंडे लिये गान-सरोकर थे । समाप्त-भूमिमें शश्वत् पी शारियोंको कम्पित कर देनेके लिये प्रचण्ड पक्ष थे । मनरूपी भत्तधाले हाथीको वशमें करनेके लिये सिंह थे । समस्त विद्वारूपी वनिताओंके प्राणवस्तुतम और सम्पूर्ण आश्वर्यमय गुणोंकी खान थे । देवद्वाही दैत्योंके सैन्य-समुद्रको मथ ढालनेके लिये शोभाशाली मन्दराचल थे । भगवान् विष्णुके समान साहस और उत्साहसे सम्पन्न थे । सौजन्यरूपी कुमुदिनीके विकासके लिये शीतरसिम चन्द्रमा थे तथा दुराचाररूपी विपक्षी वेणुओंको भस्तु करनेके लिये धृष्टकली छुर्छ आग थे ।

राजा पदाक्षी पत्नीका नाम था छीला । वह वही छुन्दरी तथा सब प्रकारके सौमाय्यसे सम्पन्न थी । छीला इस भूतलघर प्रकट हुई लक्ष्मीके समान शोभा पाती थी । पति-सेवाके विनाने प्रकार हो सकते हैं, उन सबमें निपुण होनेके कारण उसकी मनोरमता बहु गयी थी ( अशक्त सबके अनुकूल वर्ताव करनेके कारण वह सीढ़ीको प्रिय एवं मनोहर जान 'हनी थी ) । वह सदा भीठे वचन छोला करती थी और आनन्दमान होकर मन्द-मन्द गतिसे चलती थी । जब वह मुख्कराती, उस समय ऐसा अताता, मानो दूसरे चन्द्रमाका उदय हो गया है । उसके ब्रह्म गौर वर्णके थे । पतिकी प्राण वस्त्रमा छीला राजा के खिल होनेपर खिल हो उठती थी, उनके प्रसन्न होनेपर आनन्दमान हो जाती थी और जब वे किसी विनासे ध्याकुल होते, तब वह भी चिन्मताके कारण घबरा उठती थी । इस प्रकार सारी बातोंमें तो वह पतिके प्रतिविम्बकी भाँति उनका अनुकरण एवं अनुसरण करती थी; परंतु उनके कुपित

होनेपर वह केवल मयभीत होती थी ( क्रोध नहीं करती थी ) ।

रघुनन्दन ! लीला अपने पतिकी अनन्यग्रिया—एकमात्र वल्लभा थी अथवा उसका अपने पतिमें अनन्य अनुराग था । ऐसी मायके पति महाराज पद्मने मूलकी अन्नरासी मनोहर अपनी उस प्रेयसीके साथ स्वाभाविक प्रेमरसका आत्माइन बरते हुए विहार किया । इस प्रकार मुखमें पनी हुई राजाकी प्रणयिनी और प्रियतमा, सुन्दर मौहों और शुभ संकल्पसे सुशोभित होनेवाली लीलाने एक दिन मन-ही-मन विचार किया कि व्ये मेरे प्राणोंसे यो अधिक प्रिय पतिदेव पृथ्वीनाथ महाराज, जो जडानीके उल्लाससे परिपूर्ण और परम कान्तिमान् है, किस उपायसे अजर-अमर हो सकते हैं ? मैं तप, जप और यम-नियम आदि चेष्टाओंसे ऐसा प्रर्यत्व करूँ, जिससे ये चन्द्रमाके समान मनोहर मुखबाले राजा अजर-अमर हो जायें । पहले मैं ज्ञान, तपस्या और विषयों बढ़े-चढ़े प्राणोंसे पूछती हूँ कि कौन-सा ऐसा उपाय



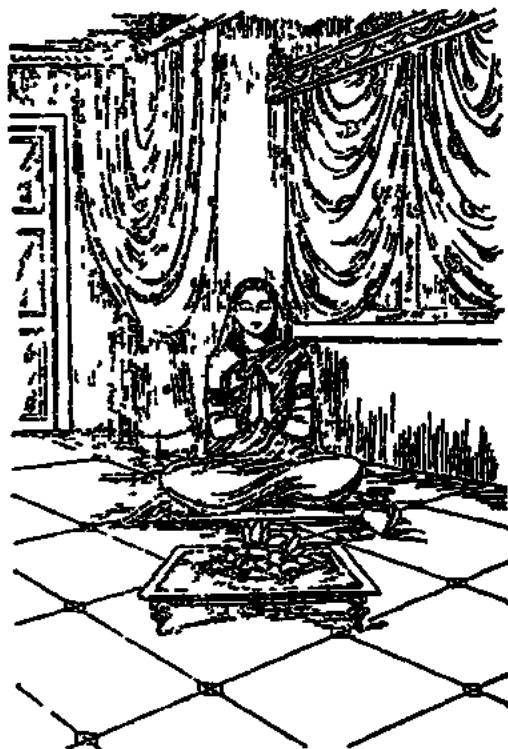
है, जिससे मनुष्योंकी मृत्यु न हो ।' ऐसा विचार करके उसने पूर्वोक्त गुणबाले प्राणीको बुलाया और उनकी पूजा करके नतमस्तक हो बारबार पूछा—'प्रियण ! ( मुझे और मेरे पतिको ) अमरत्व कैसे प्राप्त हो सकता है ?'

प्राण बोले—देवि ! तप, जप और यम-नियमों-का पालन करनेसे सिद्धोंकी समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं; परंतु उनसे अमरत्व कदापि नहीं मिल सकता ।

प्राणोंके मुर्खसे यह बात सुनकर अपने प्रियतमके मायी वियोगसे भयभीत हो लीलाने अपनी बुद्धिसे ही फिर तत्काल इस प्रकार सोचना आरम्भ किया—'यदि दैववश पतिके सामने मेरी मृत्यु हो गयी, तब तो मैं सम्पूर्ण हुँखोंसे छूटकर परमात्मामें मुख्यपूर्वक सित हो जाऊँगी; किंतु यदि एक सहज वर्षके बाद पहले मेरे पति ही चल बसे तो मैं ऐसा यत्न करूँगी, जिससे उनका जीव धरसे बाहर न जा सकेगा । फिर तो मैं अपने अन्तःपुरके मण्डपमें, जहाँ मेरे पतिदेवका जीव विचर रहा होगा, पतिके हृष्टिपथमें रहकर सदा सुखपूर्वक निवास करूँगी । अपने संकल्पकी सिद्धिके लिये मैं आजसे ही जप, उपवास और नियमोंद्वारा ज्ञानमयी सरस्वती देवीकी तबतक आराधना करती रहूँगी, जबतक कि वे पूर्णरूपसे संतुष्ट न हो जायें ।'

ऐसा निश्चय करके उस श्रेष्ठ नारीने अपने स्वामीको बताये बिना ही नियमपरायण हो शास्त्रीय विधिके अनुसार उप्रत तपस्या आरम्भ कर दी । तीन-तीन रात बीत जानेपर वह मोजन करती और देवता, प्राण, गुरु, ज्ञानी एवं विद्वानोंकी पूजामें तरफर रहती थी । वह अपने शरीरको सदा स्नान, दान, तप और ध्यानमें लगाये रखती थी । सम्पूर्ण शास्त्रीय कर्मोंका फल अवश्य मिलता है, ऐसी आस्तिकतापूर्ण बुद्धिसे शुक्त हो वह सदाचारका पालन करती और पतिके बलेश्वोंका निवारण

करनेमें दस्तचित्त रहती थी। उम हिनों भी वह पहले की ही भाँति ठीक समयपर पूरी चेष्टा और लालनके साथ शास्त्रोक्त रीतिसे क्रमशः पतिकी सेवा-कुशला करके उन्हें संतुष्ट रखती थी। अतः अपनी वर्तमान स्थितिका उसने पतिके पता नहीं लगने दिया। इस तरह नियम-पालनसे मुश्शेमित होनेवाली उस भोली-भाली लीलाने लगातार तीन सौ यतोंतक काल्प्रद चेष्टाओंके द्वारा तपस्याका निर्वाह किया। सौ त्रिरात्र ब्रतोंकी



पूर्ण हो जानेपर उसके द्वारा पूजित और सम्मानित हो गौरवर्णी भगवती वागीश्वरी संतुष्ट हो उसके सामने प्रकट हुई और बोलीं।

श्रीसरस्वतीजीने कहा—बेटी! तुमने जो निरन्तर तपस्या की है, वह तुम्हारी पति-पतिके कारण अधिक उत्सर्ज-शालिनी हो गयी है। उससे मैं तुमपर बहुत संतुष्ट

हुई हूँ। अतः तुम मुझसे कोई मनोवाञ्छित वर प्राप्त करो।

रानी लीला—देवि ! आप जन्म और जगहली अभिकी जालाओंसे उत्पन्न दाहरूपी दोषका शमन करनेके लिये बन्द्रमाली प्रभाके समान हैं, आपकी जय हो। आप हनुयको अङ्गानान्वकार-राशिका निवारण करनेके लिये भूयदेवकी प्रभाके त्रुत्य हैं, आपकी जय हो। अब ! भातः। जगद्भिके। इस दीन सेविकाका आप संकटसे उद्धार करें। शुभे ! मैं आपसे जो दो वर माँगती हूँ, उन्हें मुझे देनेकी कृपा कीजिये। उनमें पहला वर तो यह है कि जब मेरे पतिदेवका शरीर छूट जाय, तब उनका जीव मेरे इस अन्तःपुरके मण्डपसे बाहर न जाय। और महादेवि ! मैं दूसरा वर यह माँगती हूँ कि जब-जब मैं आपसे वर पानेके उद्देश्यसे दर्शन देनेकी प्रार्थना करूँ तब-तब आप मुझे अवश्य दर्शन दें।

लीलाकी यह बात सुनकर जगन्माता सरस्वतीने कहा—बेटी ! तुम्हारी यह अभिलाघा पूर्ण हो ! यह कहकर वे स्वर्ण बहाँसे अदृश्य हो गयी—ठीक ऐसे ही जैसे महासागरमें लहर उठकर स्वर्ण ही शान्त हो जाती है। तदनन्तर जिसकी इटदेवी संतुष्ट हो गयी थी, वह राजरानी लीला संगीत सुनकर भर्ता हुई मृगीके समान आनन्दमें मरन हो गयी। इसके बाद पक्ष जिसके नेमिगोलक, मास जिसके मध्यगोलक तथा शश जिसके नामिगोलक हैं, दिन जिसके अरे हैं, वर्ष जिसका अक्षदण्ड (धुरा) है और क्षण जिसके नामिक्ष छेद है, ऐसे गतिशील काल्पकके चलते रहनेसे लीलाके पतिकी चेतना सूखे पत्तेके रसकी भौंगि देखने-ही-देखते शरीरमें सहसा अदृश्य हो गयी।

बत यह हुई कि किसी शक्ति आक्रमण किया और युद्धमें वायुष होकर उनका शरीर धराशायी हो गया । ( वे अन्तःपुरमें लाये गये और वहाँ मर गये । ) इस प्रकार राजाकी मृत्यु हो जानेपर लीश्र अन्तःपुरके मण्डपमें जछश्वर्य कमलिनीकी मौति सुरक्षा गयी—उसका मुख मणिन हो गया । विष्टुत्य उस नि.शाससे उसका सारा अचर-पल्लव सुख गया । वह बेचारी बाणसे बिधी हुई इरिणीके समान छटपटाती हुई मृत्यु-तुल्य अश्रसाको छुँच गयी । तथाकात अधाशयके सुख जानेसे व्याकुल हुई मछली-के ऊपर जैसे आपादकी पहली वर्षा अनुकर्मा करती है, उसी प्रकार पतिके वियोगसे अत्यन्त गिरु हुई लीलाके ऊपर दयामयी सरस्तीजीने आकाशवाणीके रूपमें कृपा की ।

( सर्ग १५-१६ )

सरस्तीकी आङ्गासे पतिके शबको फूलोंका ढेर। म रखकर समाधिलित हुई लीलाका पतिके वासनामय स्वरूप एवं राजवैभवको देखना तथा भगवान्माधिसे उठकर पुनः राजसभामें सभासदोंका दर्शन करना श्रीसरस्तीजीने कहा—बेटी ! अपने पतिके शबको तुम फूलोंके ढेरमें छिगकर रखो । ऐसा करनेसे तुम फिर अपने इस पतिको प्राप्त कर जेगी । न तो ये छल मुख्यादेहे और न तुम्हारे पतिका यह शश ही सङ्कल्पकर नष्ट होने गयेगा । फिर थोके ही दिनोंमें यह शश पुनः जीवित होकर तुम्हारे पतिका दत्तदायित्व सँभालेगा । इसका जीव जो आकाशके समान निर्मल है तुम्हारे इरा अन्तःपुरके मण्डपसे ही ब्रह्म बाहर नहीं निकल सकेगा ।

तब अपने पतिको वही अन्तःपुरमें फूलोंके ढेरमें छिगकर रखनेके पश्चात् रानीको कुछ आश्वासन मिला, परंतु वरमें लिपि ( खजाने ) को रखकर भी उसके उपयोगसे वज्रिन होनेके कारण दरिद्रनायूण जीवन वितानेवाली जीके समान ढीआ भी पतिकी भेथाके मुखरे वज्रित होनेके कारण उस विषयमें दरिद्र ही बनी रही ।



फिर उसी दिन आधीरातके समय जब सभी परिजन ( सेवकगण ) निष्ठासे अचेत हो गये, लीलाने अन्तःपुर के उस मण्डपमें विशुद्ध आनंद सुक अन्तःकरण के द्वारा ज्ञानमयी भगवती सरस्वतीदेवीका बडे दूरसे आवाहन किया । देवी लसके पास आ गयी और बोली—

‘नेटी ! तुमने क्यों मेरा स्परण किया है ? तुम क्यों अपने मनमें शोकको स्थान देती हो ? जैसे मृगतृष्णामें छठे ही चल मी प्रतीति होती है, उसी प्रकार ये संसार-खली भ्रम मिथ्या ही प्रतीत होते हैं ।’



लीलाने कहा—देवि ! मेरे पति कहाँ हैं ? क्या कहते हैं और कैसे हैं ? मुझे उनके पास ले चलिये । मैं उनके बिना अकेली नहीं जी सकती ।

श्रीसरस्वतीजी बोली—मुझसि ! एक शुद्ध चेतन परमात्मर आकाश है, दूसरा मनरूप आकाश है और तीसरा यह सुप्रसिद्ध भूताकाश है । वित्ताकाश और भूताकाश—इन दोनोंसे जो मर्त्या शून्य है उसीको तुम विन्नय आकाश समझो । तुमने जो अपने पति के रहने आदिका स्थान पूछा है, वह चेतन आकाशमय

कोश ही है ( उससे अनिरिक्त मही है ); अतः चेतन आकाशका एकाप्रमनसे जब चिन्तन किया जाता है, तब पृथक् विषयान न होनेपर भी वह शोध दिखायी देता और अनुभवमें आता है । भद्र ! यदि तुम सम्पूर्ण सकल्पोंको त्यागकर इस चेतनाकाशरूप परमप्रसादमें स्थित हो जाओ—उसीमें मनको एकाप्र कर दो तो तुम उस सर्वात्मपदको, जो परमतत्त्वरूप है, अवश्य प्राप्त कर लोगी—इसमें संशय नहीं है । सुन्दरि ! उक्त तत्त्व यद्यपि इस जगत्के अत्यन्ताभावका बोध होनेपर ही सुखम होता है, दूसरे किसी उपायसे नहीं, तथापि तुम मेरे बरदान-के प्रभावसे उसे शीघ्र प्राप्त कर लोगी ।

श्रीचसिंहजी कहते हैं—ध्युन-दन ! यह कहकार देवी सरस्वती आने दिव्य धामको चली गयी और लीला ली-भूर्जक ( अनायास ) ही निर्विकल्प समाधिमें स्थित हो गयी ।

रानीने निर्विकल्प समाधिः द्वारा चेतनाकाशमें स्थित होकर अपने उसी राजप्रासादके आकाशमें राजा पश्चको सिंहासनपर विराजमान देखा । ( वे अपनी वासना और



कर्मोंके अनुसार देह-ग्रह एवं वैमवसे सम्पन्न थे । ) अनेक राजाओंसे घिरे हुए सभामण्डपमें सिंहासनपर बैठे हुए राजाकी बन्दीजन 'महाराजकी जय हो, हमरे राजाधिराज चिरजीवी हों' इत्यादि कहकर स्तुति करते थे । वे अपने अधीनस्थ जनपद तथा सेनाके कार्यकी देख-माल करनेमें सादर जुटे हुए थे । पताकाशूलिणी महारियोंसे व्याप राजधानीके जिस सुन्दर समाभवनमें राजा बैठेथे, उसके पूर्व दरवाजेपर असंख्य मुनियों और ग्रन्थरियोंकी मण्डली विराज रही थी । दक्षिण द्वारपर असंख्य राजे-महाराजे विद्यमान थे । पश्चिम द्वारपर अगणित सुन्दरी लड़नाओंका समूह शोभा पाला था और उत्तर द्वारपर असंख्य रथ, हाथी एवं घोड़ोंकी भीड़ थी । राजाने गुप्तवरकी बातें सुनकर दक्षिण देशके युद्ध-को गतिधिविका निर्णय किया । पंकिवद्ध खड़े हुए अगणित भूपालोंकी प्रसादे उस राजभवनका सारा आँगन जगमग रहा था । यह मण्डपमें वेदमन्त्रोंका उच्चारण करते हुए ग्राहणोंकी वेदव्यनिसे श्रेष्ठ वाणोंका मधुर ध्वन दब गया था । अनेक सामन्तनरेश आरम्भमें मन्द गतिसे चलनेवाले उसम कार्योंमें संलग्न थे । अनेक शिल्पियोंके सरदार वहाँ नाना नगरोंके निर्माणकी तैयारीमें छोड़ हुए थे । उस समय आकाशशरूपा लीला उस आकाशशूलिणी राजसभामें प्रविष्ट हुई । जैसे दूसरेके सकल्पसे निर्मित हुई नगरीको दूसरा नहीं देखता, उसी प्रकार अपने आगे-आगे विचरती हुई लीलाको उस समामें रहनेवाले लोगोंमें से किसीने नहीं देखा । वहाँ उसने अपने उन्हीं सब लोगोंको सभामें बैठे देखा, जो पहले देखे गये थे, मानो वे सब-के-सब राजाके साथ ही एक नगरसे दूसरे नगरमें चले आये हों । जो पहले जहाँपर बैठते थे, वे वहाँ बैठे थे । वैसा ही उनका आचरण था । लीला जिन्हें पहले देख चुकी थी, उन्हीं बाल्कों, उन्हीं मन्त्रियों, उन्हीं सामन्त-नरेशों, उन्हीं विद्वानों, उन्हीं विद्यूषकों तथा उन्हीं पहले-

वाले सेषकोंसे मिलते-जुलते भूत्योंको भी देखा ।

तदनन्तर उसने कुछ दूसरे पण्डितों और सुहृदोंको भी देखा, जो सर्वथा नये थे—पहले कभी देखनेमें नहीं आये थे; कुछ व्यवहार भी पहलेसे भिन्न दिखायी दिये । बहुत-से पुरवासी तथा अन्य लोग भी अपरिचित दृष्टिगोचर हुए । पहलेकी सारी जमता और समस्त पुरवासियोंको भी वहाँ देखकर सुन्दरी लीला विन्ताके वशीभूत हो गयी । वह सोचने लगी—‘क्या उस नगरमें रहनेवाले सबके-सब मर गये ?’ फिर सरखतीदेवीकी कृपासे बोक प्राप्त हुआ । उसकी समाधि टूट गयी और वह क्षणभर-में पहलेके अन्तःपुरमें अवस्थित हो गयी । उसने वहाँ आधीरातके समय सब लोगोंको पूर्ववत् सोते देखा । फिर उसने नींदमें पढ़ी हुई सखियोंको उठाया और कहा—‘मुझे बड़ा दुःख हो रहा है, अतः तुमलोग सभामवनमें मुझे स्थान दो । यदि मैं पतिदेवके सिंहासन-के पास बैठूँ और समस्त समासदोंको वहाँ पूर्ववत् उपस्थित देखूँ, तभी जीवित रह सकती हूँ, अन्यथा नहीं ।’

रानीके यों कहनेपर सारा-का-सारा राजपरिवार



जाग उठा और क्रमशः सब छोग अपने-अपने सर्वस्व-  
भूत कार्य-कलापमें जुट गये । जैसे सूर्यकी किरणें लोगों-  
को अपने-अपने व्यवहारमें लगानेके लिये पृथ्यीपर आती  
हैं, वैसे ही समृद्ध-के समृद्ध छधीदार राजसेवक पुरवासी  
समासदोंको बुलानेके लिये चारों ओर चल दिये ।  
दूसरे-दूसरे सेवक आदरपूर्वक सभामञ्चनकी उसी तरह  
सफाई करने लगे, जैसे शरद-ऋतुके दिन मेघोंसे मछिम  
हुए आकाशको सच्छ कर देते हैं । जैसे महाप्रलयके  
बाद जब त्रिलोकीकी पुनः सुष्ठि होती है, तब सारे

लोकपाल अपनी-अपनी दिशाओंमें अविहित हो जाते हैं,  
उसी तरह निर्दोष मन्त्री और सामन्तागण उस समाभवनमें  
अपने-अपने स्थानपर आ दैठे । राजाके दिवासनके पास  
ही रानी लीला एक नूतन सुवर्णमय विचित्र आसनपर  
विराजमान हुई । उसने पहलेकी ही मौति यथास्थान  
दैठे हुए पूर्वपरिचित समस्त नरेशों, गुरुजनों, अंग  
पुरुओं, मित्रों, सदस्यों, सुहृदों, सम्बन्धियों और वन्य-  
बान्यविदोंको देखा । राजाके राष्ट्रमें निवास करनेवाले सभी  
लोगोंको वहाँ पूर्ववर्त् ही देखकर रानीको वही प्रसन्नता  
हुई । ( सर्ग १७ )

— — — — —

### लीलाका सरस्वतीसे कुत्रिम और अकुत्रिम सृष्टिके विषयमें पूछना और सरस्वतीका इस विष्यको समझानेके लिये लीलाके जीवनसे मिलते-जुलते एक ब्राह्मण-दम्पतिके जीवनका वृत्तान्त सुनाना

श्रीवासिष्ठजी कहते हैं—रघुगन्धन । तदनन्तर रानी पूजन किया और देला—देवी सरस्वती कुमारीहूप  
लीला समाप्तनसे उठ गयी और अन्तःपुरमें प्रवेश करके  
रनवासके पूर्वोक्त मण्डपमें कूच्छोंसे ढके हुए पतिके पास  
जा पहुँची तथा मन-ही-मन इस प्रकार विचार करने  
लगी—‘अहो ! यह तो बड़ी विचित्र माया है । ये  
हमारे पुरवासी महाप्य इस बाह्य प्रवेशमें और उस अन्तर-  
देशमें मी विश्वमान हैं । ताल, तमाल और हिताल आदि  
बृक्षोंसे भिरे हुए ये पर्वत जैसे बहाँ हैं, उसी तरह यहाँ  
भी ही हैं । यह बड़ी ही आश्चर्यजनक माया फैली हुई है ।  
जैसे दर्पणमें पर्वत उसके भीतर और बाहर भी स्थित  
प्रतीत होता है, उसी प्रकार चेमन-आकाशखली दर्पणमें  
भीतर और बाहर भी यह सुष्ठि प्रतीत हो रही है ।  
उनमेंसे कौन सुष्ठि भान्तिमयी है और कौन वास्तविक,  
इस संदेहको मैं बागीचरी देवीकी पूजा करके उन्हींसे  
पूछती हूँ, जिससे उनके उपदेशसे संशयका निवारण हो  
जाय ।’ ऐसा लिखय करके रानीने उस समय देवीका



धारण करके सामने आ गयी हैं। तब लीला परमार्थ-महाशक्तिस्तरपा देवीको सिंहासनपर विराजमान करके सबं उनके सामने पृथ्वीपर खड़ी हो गयी और इसप्रकार पूछने लगी।

लीलाने कहा—परमेश्वरि ! मैं आपके सामने विनम्र होकर जो कुछ शूल रही हूँ, उसे बताइये। यह त्रिलोकी-का प्रतिक्रिया-त्रैमय बाहर भी स्थित है और भीतर भी। इनमेंसे कौन कृत्रिम ( श्वास ) है और कौन अकृत्रिम ( सत्ता ) ? देवि अज्ञिके ! जैसे मैं यहाँ खड़ी हूँ और आप यहाँ बैठी हैं, देवेश्वरि ! इसीको मैं सची सृष्टि समझती हूँ। परंतु जहाँ इस समय मेरे पतिदेव विराजमान हैं, उस सृष्टिको मैं कृत्रिम समझती हूँ; क्योंकि वह सूता है। उससे देश, काल और अवश्वारकी पूर्ति ( सिद्धि ) नहीं होती।

देवीने कहा—बेटी ! अकृत्रिम सृष्टिसे कदापि कृत्रिम सृष्टि नहीं उत्पन्न होती। कहीं भी कारणसे विलक्षण ( सर्वथा यिज ) कार्यका उदय नहीं होता।

लीलाने कहा—माताजी ! मुझे तो कारणसे कार्य सर्वथा विलक्षण दिखायी देता है। यिन्होंका लोंदा जल धारण करनेमें असमर्थ है; किंतु उसीसे उत्पन्न हुआ बड़ा जलका आधार बन जाता है।

देवीने कहा—सुमुखि ! बताओ तो सही—इस सृष्टिके अन्तर्गत जो पृथ्वी आदि तत्त्व हैं, उनमेंसे कौन-सा तत्त्व तुम्हारे पतिकी सृष्टिका कारण है ?

लीला बोली—देवि ! मेरे पतिकी वह सृष्टि ही उस रूपमें हृदिको प्राप्त हुई है, अतः मैं सृष्टिको ही उस सृष्टिका कारण समझती हूँ। उसीसे वह सृष्टि हुई है, ऐसा मेरा निष्ठय है।

देवीने कहा—अबले ! सृष्टि तो आकाशकी भौति शून्यरूप है। जैसे सृष्टि शून्य है, उसी प्रकार उससे उत्पन्न तुम्हारे पतिकी सृष्टि भी शून्य ही है। वह उस

रूपमें अनुभवमें आनेपर भी शून्यके अतिरिक्त कुछ नहीं है।

लीलाने कहा—देवि ! जैसे आपने मेरे पतिकी सृष्टिको सृष्टिमात्र—शून्यरूप बताया है, उसी तरह मैं इस सृष्टिको भी सृष्टिमात्र एवं शून्यरूप ही समझती हूँ। समाधिमें देखी गयी वह सृष्टि ही मेरी ऐसी मान्यतामें उदाहरण है।

देवीने कहा—बेटी ! ठीक ऐसी ही बात है। वह सृष्टि असद होनेपर भी ( उसका आश्रयमूल चेतन आत्मा ही ) तुम्हारे पतिके उन-उन भावोंसे उस रूपमें प्रकाशित होता है। इसी तरह यहाँ यहाँ यह सृष्टि भी मिथ्या ही है ( तथापि उसका आश्रय-मूल चेतन आत्मा ) जीवके विभिन्न भावोंके अनुसार इस रूपमें मासित होता है।

लीला बोली—देवि ! जैसे इस सृष्टिसे मेरे पतिकी भ्रमरूप अमर्त्य सृष्टि हुई, वह प्रकार मुझे बताइये; जिससे मेरा वह अगतरूपी भ्रम दूर हो जाय।

देवीने कहा—जिस प्रकार पूर्व सृष्टिकी सृष्टिसे उत्पन्न हुई वह भ्रमरूपिणी सृष्टि खम-भ्रमके तुल्य प्रतीत होती है, उस प्रकार मैं तुमसे इस विषयका प्रतिपादन करती हूँ, सुनो। चिन्मय आकाशमें कहाँ ( अङ्गानसे आशूत भागमें और उसके भी ) किसी एक देशमें ( विद्वाताके अन्तःकरणके एक अंशमें ) संसाररूपी मण्डप है, उस मण्डपके किसी एक आकाशरूपी कमरेके भीतर एक कोनेमें पर्वतरूपी मिट्टीके ढेलेके नीचे एक छेटा-सा गङ्गा है, जो पर्वतसम्बन्धी छोटा-सा गँगा है। नदी, पर्वत और वनोंसे घिरे हुए उस ग्रामके भीतर एक धर्मपरायण नीरोग अग्निहोत्री आकाशण अपने द्वी-पुत्रोंके साथ रहते थे। उन्हें वहाँ गायका दूध सुलगया। वे राजाके भयसे सर्वथा मुक्त थे तथा वहाँ आनेवाले सभी प्राणियोंका वे आतिथ्य-सम्पादक बोला करते थे।

बेटी ! वे आकाशण धन-सम्पत्ति, देश-भूपा, अवस्था, कर्म,

विद्या, विमव और चेष्टाओंकी दृष्टिसे साक्षात् वसिष्ठ मुनिके समान थे। उनका नाम भी वसिष्ठ ही था। उन्हें बौद्ध-जैसी भार्या प्राप्त थी, जिसका नाम अहम्बती था। एक दिन उन ब्रह्मर्णिने, जो उस पर्वतके शिखरपर हरी-हरी वासोंसे ढकी हुई समतल भूमिग्र बैठे हुए थे, नीचे एक राजा को देखा, जो अपने सारे परिवारके साथ शिकार सेलनेकी इच्छा से जा रहे थे। वे अपनी उस विशाल सेनाके महान् घोषसे मानो मेह पर्वतको भी विदीर्ण कर देना चाहते थे। उस सेनाके महान् कोलाहलसे दिग्भम-सा हो जानेके कारण सभी दिशाओंके प्राणियोंके समुदाय मार रहे थे—जलके भैंकरके समान एक-एक सानपर अक्षर काट रहे थे। उन भूपालको देखकर ब्राह्मणने मन-ही-मन यह विचार किया—‘अहो। राजाका पद बड़ा

संकुल चतुरंगिणी सेना, पताका, छत्र और चैंबरसे सम्पन्न हो दस दिशारूपी कुर्जोंको परिषूर्ण करनेवाला राजा होऊँगा।’ उसी दिनसे ब्राह्मणके मनमें इस तरहका संकल्प होने लगा। वे जबतक जीवित रहे, प्रतिदिन आल्य छोड़कर स्वर्भम-पालनमें लगे रहे। तत्पश्चात् उनके शरीरको जर्जर बना देनेके लिये जर्जरित अहम्बती जरावर्णा बड़े आदरके साथ उन ब्राह्मण देवताके पास आयी। जब वे मृत्युके निकट पहुँच गये, तब उनकी पतीको बड़ी चिन्ता हुई। उस कल्याणमयी ब्राह्मणपतीने तुम्हारी ही भौति मेरी आराधना की। अमरत्वको अत्यन्त दुर्लभ मानकर उसने मुझसे यह वर माँगा—‘देवि।



मरनेपर मेरे पतिका जीव अपने मण्डपसे बाहर न जाय।’ अतः मैंने उसके उसी वरको स्वीकार कर लिया। तदनन्तर कालवश ब्राह्मणका शरीर हृष्ट गया। फिर उसी वरके आकाशमें वह ब्राह्मणका जीवात्मा स्थित रहा। पूर्व-जन्मके सुदृढ़ एवं महान् संकल्पसे वह ब्राह्मणीका पति स्वयं सर्वशक्तिशाली राजा बन गया। उसने अपने प्रभावसे

ही रमणीय है। उस पदपर ग्रातिष्ठित मनुष्य सम्पूर्ण सौभाग्योंसे उद्घासित हो उठता है। कब ऐसा समय आयेगा जब कि मैं भी पैदल, रथ, हाथी और घोड़ोंसे

भूमण्डलपर विजय प्राप्त कर ली । उसका प्रताप स्वर्ग-  
लोकतक फैल गया और उसने कृपा करके पाताललोकका  
मी पालन किया । इस प्रकार वह त्रिलोकविजयी नरेश  
हो गया । वह याचकोंको मुँहमोँग दान देनेके लिये  
कल्पवृक्षके समान था, धर्मलूपी चन्द्रमाके पूर्ण त्रिकासके  
लिये पूर्णिमाकी रात्रिके सदृश था । उधर उस ब्राह्मणके  
मृत्युमुखमें पहुँच जानेपर उसकी पत्नी ब्राह्मणी शोकसे  
अथवा कृश हो गयी । उद्दकी सूखी छीमीके समान  
उसके हृदयके दो टुकडे हो गये । पति के साथ ही  
मरकर अपने शरीरको दूर छोड़ वह आतिवाहिक देह  
( मानस-शरीर ) के द्वारा पति के पास जा पहुँची ।  
जैसे नदी गर्तमें गिरती है, उसी प्रकार पतिका अनुसरण  
करके उनके पास जा वह बासंती लताके समान शोक-  
रहित ही गयी । उस पर्वत प्राममें मरे हुए इस ब्राह्मणके  
बरहीं, भूमि-वृक्ष आदि स्थावर सम्पत्तियाँ हीं तथा मृत्युके  
बादसे उसका जीव उस पर्वतीय आमके गृह-मण्डपमें  
विचमान है ।

( सर्ग १८-१९ )



### लीला और सरस्तीका संवाद—जगत्की असत्ता एवं अजातवादकी स्थापना

देवी सरस्तीने कहा—कल्याणि । वही ब्राह्मण अब राजा होकर तुम्हारा पति हुआ है और जो अरुचंती  
नामशाली ब्राह्मणी थी, वह तुम हो । तुम्हीं दोनों सुन्दर  
दम्पति यहाँपर राज्य करते हो । तुम्हारे पूर्वजन्मका यही  
सारा सुषिक्षण है, जिसे मैंने कह सुनाया । भ्रमरूप  
आकाशमें जीवमावकी भ्राति होनेसे ही यह सब कुछ  
प्रतीत होता है । इसलिये कौन सुषिटि भ्रमरूप है और  
कौन भ्रमसे रहित है ? मुतरा सारी सुषिटि ही अनर्गल  
अनर्थ-बोधके सिवा दूसरा कुछ नहीं है ।



श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन । देवी सरस्तीका  
यह वचन सुनकर लीलाके सुन्दर नेत्र आश्चर्यसे खिल  
उठे । वह इस प्रकार बोली ।

लीलाने कहा—देवि । आपकी बात तो सत्य ही  
होगी । मैं उसे भिल्या कहनेका साइस नहीं कर सकती;  
परंतु ऐसी विश्व बात कैसे सम्भव हो सकती है ?

कहाँ ब्राह्मणका जीव अपने घरमें है और कहाँ इतने बड़े विशाल प्रदेशमें हमलोग स्थित हैं । ( फिर वे ब्राह्मण-दम्पति और हमलोग एक कैसे हो सकते हैं ? ) मेरे स्थानी जहाँ स्थित हैं वैसा वह दूसरा लोक, वह विस्तृत भूमि, वे विशाल पर्वत और वे दसों दिशाएँ एक घरके भीतर कैसे प्रतीत हो सकती हैं ? सर्वेश्वरे शरि । यदि कोई कहे कि एक सरसोंके दानेके भीतर मतवाला ऐरावत हाथी बैठा हुआ है, परमाणुके भीतर बैठे हुए एक मच्छरने सिंह-समुद्रोंके साथ उत्तर किया, छुमेरु पर्वत कमलगाढ़ेके भीतर रक्खा हुआ है तो जैसे ये सारी बातें असम्भव होनेके कारण असमझस प्रतीत होती हैं—ठीक नहीं लगती, उसी प्रकार उस घरके अन्दर ये विशाल भूलोक और पर्वत हैं, वह कथन भी असम्भव एवं असंगत ही जान पड़ता है ।

देवी सरस्वती बोली—मुख्यरि । मैं यह छाठ नहीं कह रही हूँ । तुम ध्यान देकर यथावद रूपसे इस विषयको सुनो । दूसरोंके द्वारा तो जी जानेवाली धर्मकी जिस मर्यादाको मैं स्वयं ही स्थापित करती हूँ, उसीका यदि मैं भेदभान करूँ तो दूसरा कौन पालन करेगा ? उस पर्वतीय गाँवके ब्राह्मणका वह जीवात्मा अपने उसी घरके आकाशमें चिदाकाशरूप होकर ही इस कल्पित महान् राष्ट्रको देख रहा है । कल्प्याणि ! जैसे स्वप्नमें जाग्रत्कालकी स्मृति लुप्त हो जाती है और दूसरी स्मृति उद्दित होती है, उसी प्रकार तुम दोनोंकी पूर्वजन्मकी स्मृति नष्ट हो गयी है और उससे विपरीत दूसरी स्मृति उद्दित हुई है । यही उस शरीरका मरण है । जैसे स्वप्नमें तीनों लोकोंका दीखना, संकल्पमें त्रिलोकीका उदय होता तथा मह-मरीचिकामें जलका होना असत्य है, फिर भी वहाँ उन वस्तुओंकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार ब्राह्मणके घरके भीतर पर्वत, बन और नगरोंसहित भूमिका होना यद्यपि असत् है तो भी वहाँ इन सबकी प्रतीति होती है । जो असत्यसे उत्पन्न हुआ है, वह असद् है, जो स्मृतिसे

उत्पन्न हुआ है, वह भी असद् है—जैसे यृग् तृष्णाकी नदीमें जलका होना मिथ्या है; फिर उस जलमें जो तरङ्गकी प्रतीति होती है, वह सद् कैसे हो सकती है ?

बेटी ! उस पर्वतीय गृहके आकाशरूपी क्षेत्रमें स्थित तुम्हारा जो यह घर है तथा जो मैं हूँ और तुम हो—वह सब कुछ तुम के बड़े चिन्मय आकाशरूप भूमि ही समझो । इस विषयको रूपरूपसे समझने और समझानेके लिये स्वभ, भ्रम, संकल्प और अपने-अपने अनुभवकी परम्पराएँ ही मुख्य प्रमाण ( उदाहरण ) हैं । ब्राह्मणके उस पर्वतीय घरके भीतर उस ब्राह्मणका जीव है । उस जीवाकाशमें ( अर्थात् उस जीवात्माके संकल्पमें ) समुद्र और बनोंसे परिपूर्ण वह पृथ्वी है । कृशाङ्कि । उस ब्राह्मणके घरके भीतर इस नूतन सूष्टिमें जो यह नगर निर्मित हुआ है, यह यद्यपि मनमें बैठ गया है, तथापि ब्राह्मणका वह पहला घर आज भी भौजूद ही है—नष्ट नहीं हुआ । जैसे इस जगत्-सूष्टिकी प्रतीति आभासमात्र है, उसी प्रकार क्षण, कल्प आदिकी प्रतीति भी आभास-मात्र ही है, वास्तुनिक नहीं । परमात्मामें जो दृमै इत्यादि मार्गोंका अध्यास है, उसके अधीन जो अपने जन्मका भ्रम होता है, ऐसा भ्रम जिस लोगोंको है, उन्हीं पुरुषोंको क्षण, कल्प आदि सम्पूर्ण जगत्की प्रतीति होती है ।

उत्तम ब्रतका पालन करनेवाली लीले ! भरणकालकी मिथ्यामूल मूर्ढाका अनुभव करके जब जीव पूर्वजन्मके सभी मार्गोंको मुछा देता और दूसरे नूतन भावको देखनेया अनुभव करने लगता है, तभी वह पलक भारते-भारते मनमें यह स्मरण करने लगता है कि मैं क्षावेय हूँ और इस क्षावारमें स्थित हूँ । यद्यपि वह उस समय ( चेतन ) आकाश ( परमात्मा ) में आकाश ( चिदाकाश जीवात्मा )-रूपसे ही स्थित होता है ( इसलिये उसमें आधारावेय-भावकी कल्पना मिथ्या ही है ), तथापि उसके चित्तमें वैसा संस्कार प्रकट होता है । उसे यह भान होता है कि हाथ, पैर आदि अवयवोंसे युक्त वह शरीर मेरा ही

है। उसके मनमें जो शरीर स्थित होता है अर्थात् उसमें जैसे शरीरका संस्कार रहता है, उसी वा वैसे ही इस शरीरको वह आत्मीयभावसे देखता है। उसे जान पड़ता है कि फैंसे इस पिताका पुत्र हूँ। इतने बर्थोंकी मेरी अवस्था हो गयी। ये मेरे मनोरम भाई-बच्चु हैं। यह मेरा रमणोय घर है। जब मेरा जन्म हुआ, तब मैं बालक था और अब बढ़कर ऐसा हो गया हूँ।'

स्वप्नमें दृष्टि और दृश्यरूपसे जो विमिळ पदार्थ कल्पित होते हैं, उन सबमें अदृश्यरूपसे जो चेतन स्थित होता है, वही उन स्वप्नमें पदार्थोंका बाध होनेपर एक-दूसरे चेतनरूपसे पुनः उठियोंचर ( अनुभवका विशय ) होता है। अतः कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ था—विना उत्पन्न हुए ही स्मावस्थामें उन वस्तुओंके दर्शन हुए थे।

इस तरह जैसे स्वप्नमें वह चेतन ही दृष्टि, दृश्य आदिके रूपमें उदित होता है, उसी प्रकार परलोकमें भी उदित होता है और जैसे परलोकमें उदित होता है, उसी तरह इस लोकमें भी वह चेतन ही दृष्टि, दृश्य आदिके रूपमें आविर्भूत होता है। इसलिये स्वप्न, परलोक और हृलोक—इनमें ओऽसा-ता भी भेद नहीं है। ये सद-के-सब असद होते हुए भी अमवश सद्-से प्रतीत होते हैं—ठीक उसी तरह जैसे जलमें उठनेवाली तरङ्गोंका एक दूसरे से भेद नहीं होता और वे सब असद होती हुई ही सद-सी प्रतीत होती हैं। चूँकि जलमें लहरोंके समान चेतनमें ही यह जगत् अमवश प्रतीत हो रहा है, अतः यह कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ—यह सिद्धान्त स्थिर हुआ।

( सर्ग २० )

### लीला और सरस्तीका संधाद—सब कुछ विन्मात्र अस्त ही है, इसका ग्रतिपादन

श्रीसरस्तीजीने कहा—जैसे आँख खोलनेपर प्राणीको सारे रूप अच्छी तरह दिखायी देने लगते हैं, उसी प्रकार मृत्युरूपी मृद्गुके दूर होनेपर जीवको शीघ्र ही सम्पूर्ण लोकोंका पूर्णतः भाव होने लगता है। जैसे स्वप्नमें अपनेको अपने ही मरणकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार जीवको, संसारमें जिसका अनुभव या दर्शन नहीं हुआ है, ऐसा कार्य भी इस तरह तत्काल याद लाने लगता है कि इसे मैंने किया है। विन्मय आकाशरूप परमात्माके भीतर मायारूपी आकाशमें इस तरहकी अनग्त भ्रान्तियों भासित होती हैं। यह जगत् नामकी नगरी जो विना दीवालेके ही प्रतीत होती है, वास्तवमें कल्पनामात्र है ( सद् नहीं )। यह जगत्, यह सुष्ठि इत्यादि रूपसे स्मृति ( वासना ) ही विस्तार-को प्राप्त हो रही है। कृशाङ्गी लीले ! यह विभुवन आदि दृश्य-प्रपञ्च कुछ लोगोंके अनुभवमें आकर उभकी स्मृतिमें स्थित है और कुछ लोगोंके अनुभवमें आये विना

ही उनकी स्मृतिमें विद्यमान है। विश्वका अस्यन्त विस्तृत हो जाना ही मोक्ष कहलाता है। उस अवस्थामें किसीके लिये भी कोई प्रिय और अप्रिय नहीं रह जाते। अहंता और जगत्की आधारभूत अविद्याका अस्यन्त अभाव हुए विना मोक्ष स्वामाविक रूपसे विद्यमान होता हुआ भी उदित नहीं होता। जैसे रुजुमें जो सर्पका भ्रम होता है, वह वास्तविक नहीं है; तो भी जगतक उसमें 'सुर्प' शब्द और उसके अर्थकी सम्भावनाका पूर्णरूपसे बाध नहीं हो जाता, तबतक वह शान्त होनेपर भी शान्त नहीं होता। यह जो विशाल संसार है, परम्परा ही है—यह निष्ठित सिद्धान्त है। अविद्याका अभाव हो जानेपर भी यदि अनुवृत्तिवश इसकी प्रतीति होती है तो उसे प्रतीतिमात्र ही समझना चाहिये। वह वास्तवमें नहीं है ( जैसे स्वप्नसे जागनेपर स्वप्नके संसारकी आकृति प्रतीत हो तो भी वह मिथ्या ही है, वास्तविक नहीं )। इसी प्रकार जगत्के उदित होनेपर

भी कहीं कभी कुछ भी उदित नहीं हुआ, केवल चिन्मय आकाशरूप परमात्मा ही स्थित है।

इस तरह विचार करनेसे यह सिद्ध हुआ कि कभी कुछ उत्पन्न नहीं हुआ। जो कुछ जगत् आदि दृश्यरूपसे प्रतीत होता है, वह भी चिन्मय परमात्मा ही है। केवल चेतन आकाशरूप ब्रह्म ही अपने आपमें स्थित है।

लीला शोली—देवि ! जैसे प्रातः कालकी प्रमात्रे जगत्की रूप-सम्पर्क सुस्पष्ट दिखायी देने लगती है, उसी प्रकार आपने मुझे यह बहुत ही उत्तम और अनुहृत हृषि प्रदान की है। इस समय जबतक मैं तीव्र अभ्यास न होनेके कारण इस दृष्टिमें सुदृढ़ स्थिति नहीं प्राप्त कर लेती, तबतक आप अपने उपदेशद्वारा इस दृश्य-कौतृकका—इस संसारका बाख नहीं रहें। देवि ! वह ब्राह्मण अपनी ब्राह्मणीके साथ पूर्णसृष्टिके जिस गाँथ और घरमें रहता था, उस सृष्टिके उसी पर्वतीय प्रामाणमें आप मुझे ले चलिये। मैं उसे देखना चाहती हूँ।

श्रीसरस्वतीजीने कहा—लीले ! चेत्यरहित चिन्मय परमात्मरूप जो परम पावन हृषि है, उसका अध्यलेखन करके तुम इस आकारका—इस देहके अभिमानका त्यागकर निर्मल हो जाओ। ( तात्पर्य यह कि पूर्ण-सृष्टिकी उस वस्तुको देखनेके लिये इस शरीरको भूल जाना आवश्यक है। ) इस प्रकार जब तुम देहाभिमान-रूप मलसे रहित हो जाओगी, तब हम दोनों साथ-साथ रहकर बिना किसी रुकावटके उस सृष्टिको देखेंगे। यह शरीर उस सृष्टिके दर्शनरूपी गृहडारके लिये एक सुदृढ़ अर्गिंग ( रुकावट ) के रूपमें स्थित है।

बेटी ! ये तीनों लोक मायामय होनेके कारण असूर्त हैं। मिथ्या आपहूँ या अहानके कारण ये तुम्हें गूर्ति-

मान् प्रतीत होते हैं, जैसे सुवर्णको द्योग अङ्गूष्ठीके रूपमें देखते हैं। जैसे अङ्गूष्ठीका रूप धारण करनेवाले सुवर्णमें अङ्गूष्ठीपना नहीं है, उसी प्रकार जगत्का रूप धारण किन्तु हुए ब्रह्ममें जगत् नहीं है। यह जगत् आकाशकी भौति शून्य ही है; इसके रूपमें यहाँ जो कुछ दिखायी देता है, वह ब्रह्म ही है। ब्रह्ममें अमवश्य माया हृषिगेचर होती है। यह सारा प्रपञ्च शून्य ही है। केवल अहितीय ब्रह्म ही, जिसका अहं ( आत्मा )-रूपसे अनुभव होता है, परमार्थ सत्य है। इस विषयमें उपनिषदोंके वाक्य, शुरुजनोंके उपदेश और अपना अनुभव प्रमाण है। जो ब्रह्म है, वही ब्रह्मको देखता है। जो ब्रह्म नहीं है, वह कदापि ब्रह्मको नहीं देख सकता। ब्रह्मका ही जो ऐसा स्वभाव है ( जो उसकी आवृत सच्चा है ), वही सुष्टि आदिके नामसे प्रसिद्ध है। जबतक अभ्यासयोगके द्वारा तुम्हारी भेदभुद्धि शान्त नहीं हो जाती, तबतक अब्रह्मरूप होनेके कारण निश्चय ही तुम ब्रह्मको नहीं देख सकती। ब्रह्मानका बारंबार अभ्यास करनेके कारण ब्रह्ममें अहैतमावसे जिनकी दृढ़ स्थिति हो गयी है, ऐसे हमलोग ही उस परमपदका साक्षात्कार करते हैं। जब अपने संकल्प ( मनोरथ ) से निर्मित हुआ नगर भी अपने इस शरीरसे प्राप्त नहीं हो सकता, तब दूसरेके संकल्पसे निर्मित नगरको दूसरा शरीर कैसे प्राप्त करेगा। अतः कार्यको समझनेवाली जियोंमें श्रेष्ठ लीले। तुम इस देहाभ्याससे रहित होकर चेतन ब्रह्ममय आकाशरूपिणी हो जाओ। तब तकाल ही उस प्रामका दर्शन करोगी। अतः शीघ्र वही कार्य करो।

लीलाने कहा—देवि ! आपने कहा है कि ब्राह्मण और ब्राह्मणीके जगत्में हम दोनों साथ-साथ चलेंगी; परंतु माताजी ! मैं यह पूछती हूँ कि हम दोनोंका साथ-साथ चलना कैसे हो सकता है। मैं तो इस शरीरको यहीं स्थापित करके शुद्ध सत्त्वका अनुसरण करनेवाले

चित्रके द्वारा उस उत्तम आकाशमय लोकमें चली जाऊँगी । परंतु आप आपने इसी शरीरसे वहाँ कैसे जायेंगी ?

देवी सरस्वतीने कहा—बेटी ! जैसे तुम्हारा संकल्पमय आकाश, बृक्ष आदि सांकल्पिक सत्तासे सद होता हुआ भी वास्तवमें शून्यरूप ही है, उसी तरह शुद्ध सत्त्वगुणका कार्यमूर्त जो मेरा शरीर है, यह चेतन परमात्माका ही प्रकाश है—इसके रूपमें चेतन परमात्मा-की ही प्रतीति होती है । अतः इसका उससे मेद नहीं है । ऐसा जो मेरा यह दिव्य शरीर है, इसका त्याग करके मैं नहीं जाऊँगी । जैसे वायु गन्धकी प्राप्त होती है, उसी तरह मैं इसी शरीरसे ब्राह्मण-ब्राह्मणीके उस देशमें पहुँच सकती हूँ । मद्रे । ये देह आदि परत्रससे परिणीत होकर ही स्थित हैं, अतः अपनी उत्कृष्ट महिमामें स्थित परत्रस ही हैं । इस सत्यको हमलोग बिना किसी विज्ञ-आधारके देखते हैं, किंतु तुम ऐसा नहीं देखती ( क्योंकि तुम्हें अभी एक तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है ) ।

जैसे सुवर्णमें कटकत्व, जलमें तरङ्गत्व और सूर्यके नगर एवं संकल्प-कल्पित पुर आदिमें सत्यत्व नहीं है, उसी प्रकार सविदानन्दरूप ब्रह्ममें कल्पनातीत अनामय आत्मस्वभावसे पृथक् कोई वस्तु नहीं है । जो कुछ भी यह दृश्य प्रपञ्च भासित हो रहा है, वह सब गमका ही निर्मल विकास है । जैसे परम उत्तम चन्द्रकान्तमणिकी भ्रमवश फ्राचके समान प्रतीति होती है, वैसे ही ब्रह्मके विशुद्ध विकासकी आन्तिक्षय दृश्यरूप-से प्रतीति हो रही है ।

लीलाने गृजा—देवि ! कृपया यह बताइये कि इन्हें दीर्घकालसे किसने हमलोगोंको द्वैत और अद्वैतके द्विविध विकल्पोंद्वारा भ्रममें डाल रखा है ।

श्रीसरस्वतीजीने कहा—बड़ले ! तुम चितकालसे अविचारद्वारा व्याकुल होकर भटक रही हो । अविचार स्वभावसे उत्पन्न होता है और विचारसे उसका नाश हो जाता है । विचारद्वारा अविचारका पलक मारते-मारते नाश हो जाता है । यह अविचाररूप अविद्या विचार या विवेकसे वापित होकर ब्रह्मसत्ता हो जाती है—ब्रह्मके सद-स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है । इसलिये अविद्याका अस्तित्व नहीं है । अतः न तो कहीं अविचार है न अविद्या है, न बृथन है और न मोक्ष ही है । यह जगत् शुद्ध बोधस्वरूप ( विन्मय ब्रह्म ) ही है । चूँकि इतने समयतक तुमने इसका विचार नहीं किया, इसीलिये तुम्हें बोध नहीं हुआ । तुम आनंत एवं व्याकुल ही बनी रह गयी । आजसे तुम्हारे विचारमें ब्राह्मनाका क्षयरूप बीज पड़ गया है । इसलिये अब तुम विवेकशालिनी, प्रशुद्ध एवं विमुक्त हो । एकमात्र ब्रह्मके विन्तनरूप उत्तम निर्विकल्प समाविके मनमें आरुढ़ होनेपर जब द्रष्टा, दृश्य और दृष्टिका अत्यन्त-मात्र हो जायगा तथा हृदयमें यह ब्राह्मना-क्षयरूप बीज कुछ अङ्गुरित हो जायगा, तब राग-द्रेष्प आदि दृष्टियों क्रमशः उद्दित नहीं होंगी, संसारकी उत्पत्ति भी निर्मल हो जायगी और निर्विकल्प समाधि पूर्णतः स्थिरताको प्राप्त होगी । इस तरह निर्विकल्प समाधिके स्थिर होनेपर कुछ कालके अनन्तर मायाकाश और उसके कार्योंके अविद्यान-स्वरूप निर्मल आभास सक्षात्कारसे तुम आन्ति-ज्ञानरूप कालिमाके कलङ्कसे शून्य होकर समूर्ण प्राणियोंकी आनन्दियोंका, उनकी कार्यमूर्त ब्राह्मणोंका और उनकी कारणमूर्त अविद्याका जहाँ अन्त हो जाता है, उस मोक्षरूप परम पुरुषार्थमें प्रनिष्ठित हो जाओगी ।

( सर्ग २१ )

## वासनाओंके क्षयका उपाय और ब्रह्मचिन्तनके अभ्यासका निरूपण

श्रीसरस्वतीजीने कहा—छोले ! यद्यपि स्वनावस्थामें सम्बन्धके शरीरका अनुभव होता है, तथापि यह स्थूल है—ऐसा ज्ञान होनेसे जैसे स्वन-शरीर वास्तविक नहीं रहता, मिथ्या ठहरता है, उसी तरह यद्यपि इस स्थूल शरीरका पहले अनुभव होता है, तथापि इसे स्वनवत् मान लेनेपर वासनाओंका क्षय होनेसे यह भी 'असत्' ( आवित ) ही हो जाता है। जैसे समझके ज्ञानसे ख्यावस्थाका शरीर शान्त हो जाता है, उसी प्रकार जाग्रत्-अवस्थाके शरीरको भी स्वनवत् समझ लेनेपर वासनाओंके क्षीण होनेसे यह शान्त हो जाता है। जैसे स्वन-शरीरका और मनोरथ-कल्पित कल्पनामय शरीरका अन्त होनेपर इस जाग्रत्-शरीरका मान होता है, उसी प्रकार जगद्-भावना ( स्थूल शरीरमें अहं-भावना ) का अन्त होनेपर आतिवाहिक ( सूक्ष्म ) शरीरका उदय ( अनुभव ) होता ही है। जैसे स्वनावस्थाके वासनाशीजसे रहित होनेपर सुखुसि अवस्था उदित ( प्राप्त ) होती है, उसी तरह जाग्रत्-अवस्था भी जब वास्तवावीजसे रहित हो जाती है, तब जीवन्मुक्तिकी प्राप्ति होती है। जिसमें वासनाएँ सुख अथवा विलीन हो जाती हैं, उस प्रगाढ़ निद्राका नाम सुखुसि है। जिस अवस्थामें वासनाओंका सर्वथा क्षय हो जाता है, उसे 'तुरोयम्' कहते हैं। जाग्रत्-अवस्थामें भी परम पदका अनुभव होनेपर ( वासनाओंका समूल नाश हो जानेके कारण ) तुर्यावस्था होती ही है। जीवित पुरुषोंके जीवनकी वह अवस्था, जिसमें वासनाओंका सर्वथा क्षय हो जाता है, जीवन्मुक्ति कहलाती है। अशानी वह जीव इसका अनुभव नहीं कर पाते।

छोले ! जब पूर्ण अभ्यास करनेसे तुम्हारा यह अहमाव शान्त हो जायगा, तब तुम्हारी स्वाभाविक चैतन्यरूपता, जो इस दृश्य-प्रपञ्चकी अरम अवधिमूल है, उदित एवं विकसित हो जायगी। जब आतिवाहिकता ( शरीरकी सूक्ष्मता ) का ज्ञान सदाके लिये स्थायी हो

जायगा, तब तुम संकल्पदोषसे रहित पावन लोकोंका साक्षात्कार कर सकोगी। अतः सती साथी छोले ! तुम वासनाको क्षीण करनेका प्रयत्न करो। जब तुम्हारी वासन-सूक्ष्म लिंगि अस्यन्त दृढ़ हो जायगी, तब तुम जीवन्मुक्त हो जाओगी। जबतक तुम्हारा यह शीतल ( शान्तिप्रद ) ज्ञानरूपी चन्द्रमा पूर्णताको नहीं प्राप्त हो जाता, तबतक तुम इस शरीरको यहीं स्थापित करके लोकान्तरोंके दर्शन करो। मैंने तुमसे जो बात कही है, यह बालकोंसे लेकर सिद्ध पुरुषोंतकमें प्रसिद्ध, सबके अनुभवसे सिद्ध एवं यथार्थ है। यह शरीर न तो मरता है और न जीता ही है। स्वन और संकल्पसम्बन्धी भ्रममें मरण और जीवनकी चर्चा ही क्या है ? बेटी ! जैसे मनोरथकल्पित पुरुषमें जीवन और मरण असत्य ही प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार इस स्थूलशरीरमें भी जीवन-मरण मिथ्या ही हैं।

त्रीला चोली—देवि ! आपने मुझे यहीं उस निर्भल ज्ञानका उपदेश दिया है, जिसके अध्ययनात्रसे ही दृश्य-रूपी हैजेकी बीमारी शान्त हो जाती है। अब इस विषयमें मेरा एक उपकार और क्रीनिये। कृपया मुझे यह बताइये कि वह अभ्यास क्या है, कैसा है, अथवा कैसे वह पुष्ट होता है और उसके पुष्ट हो जानेपर क्या होता है।

श्रीसरस्वतीजीने कहा—बेटी ! जिस पुरुषके हारा जिस-जिस साधनसे जब-जब जो भी कार्य किया जाता है, वह अभ्यासके बिना कभी सिद्ध नहीं होता। सचिदा-नन्दघन परमात्माका चिन्तन करना, जिहासुओंके प्रति उसका वर्णन करना, आपसमें एक-दूसरेको प्राप्तके तत्त्वका बोध करते रहना तथा उस एकमात्र ग्रन्थके ही परायण हो जाना—इसे ही विद्वान् तोग ब्रह्मचिन्तयक अभ्यास समझते हैं। जो विरक महात्मा पुरुष मुक्तिके लिये अपने अन्तःकरणमें भोग-वासनाओंके क्षीण होनेकी भावना करते

हैं, वे ही भव्य ( कल्याणके मार्गी ) पुरुष भूमण्डलमें विजयी होते—उत्कृष्ट पद पाने हैं । जिनकी बुद्धि उदारता ( परिप्रह-स्थाग )-रूपी सौन्दर्य और वैराग्यके रससे रक्षित हो आनन्दका स्पन्दन करनेवाली है, वे ही उत्तम अभ्यासी कहे गये हैं । जो लोग मुक्ति तथा शास्त्रोंके ज्ञाताके द्वारा जाननेमें आनेवाली भौकिक झेय वस्तुओंके अध्यन्तामावकी सिद्धिके लिये प्रयत्न करते हैं, वे ब्रह्माभ्यासी कहे गये हैं । यह दृश्य जगत् सृष्टिके आवर्धमें ही उत्पन्न नहीं हुआ, इसलिये कभी भी इसका अस्तित्व है ही नहीं । जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह मैं ही हूँ—मुझ सचिदानन्दधन परब्रह्म परमात्मासे यह भिज नहीं है, ऐसे अभ्यासको बोध ( ब्रह्मज्ञान ) का अभ्यास कहा गया है । दृश्यकी उत्पत्ति कभी हुई ही नहीं, इस बोधसे राग-द्वेष आदिका क्षय हो जानेपर ब्रह्मचिन्तनके

बलसे उत्पन्न हुई जो परमात्मरति है, वह ब्रह्माभ्यास है । जैसे शरद् ऋतुमें हिमके समान शीतल ओस-जलके अभिषेकसे सब और फैला हुआ भारी कुहरा भिट जाता है, उसी प्रकार चित्तमें पूर्णोंक रीतिसे अभ्यासमें लाये हुए शिवेक-बोधरूपी जलके निरन्तर सिङ्गनसे, जो सम्पूर्ण तापोंको शान्त करनेवाला होनेके कारण हिमके समान शीतल है, संसाररूपी कृष्णपक्षकी छेंघरी रातमें उत्पन्न हुई मोहमयी गाढ़ निद्रा सर्वथा गढ़ जाती ( भिट जाती ) है ।

महर्षि वाल्मीकि कहते हैं—जब मुनिवर वसिष्ठ इस प्रकार यह प्रसङ्ग सुना चुके, तब दिन बीत गया, सूर्य अस्त हो गये, मुनियोंकी वह सभा वसिष्ठजीको नमस्कार करके सायंकालिक कृत्य करनेके लिये चली गयी और रात बीतनेपर सूर्यकी किरणोंके साथ ही फिर सभा-स्थानमें आ गयी ।

( सर्ग २२ )

### सरखती और लीलाका ज्ञानदेहके द्वारा आकाशमें गमन और उसका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! वे दोनों श्रेष्ठ देवियों सरखती और लीला उस आधी रातके समय जब कि समस्त परिजन सो गये थे, पूर्वोक्तरूपसे बातचीत करके अन्तःपुरके मण्डपमें जो मुरश्याये भी ही थे, ऐसे छलेंकी मालारूपी वशसे ढके हुए राजाके शब्दके पास ही एक आसनपर बैठ गयीं । वे समाधिमें स्थित हो ऐसी निश्चल हो गयी मानो रत्नके बने हुए खंभेमें खुदी हुई दो भूर्तियाँ हों अथवा दीवालमें अक्षित किये गये दो सुन्दर विन्द्र हों । निर्विकल्प समाधि लग जानेसे वे ब्रह्मज्ञानसे शून्य हो गयीं । पहले उन दोनोंको ऐसे जगत् इस अमरुप दृश्यकी अनुत्पत्तिका बोध हुआ, अर्थात् उन्होंने भी अनुमत किया कि जगत्की कभी उत्पत्ति हुई ही नहीं । जब ऐसा अनुमत हुआ, तब उन्हें इस दृश्य-प्रपञ्चके अध्यन्तामावका निश्चयात्मक ज्ञान हो गया । फिर तो उन दोनोंकी दृष्टिसे यह दृश्य-रूपी पिशाच पूर्णतया ओङ्कर हो गया—किसी आड़में छिप

गया हो, ऐसी बात नहीं । उसकी सत्ता है ही नहीं, इसलिये वह सर्वथा अदृश्य हो गया । निष्पाप रघुनन्दन ! जैसे हमलोगोंकी दृष्टिमें खरगोशके सींग नहीं हैं और न होनेके कारण ही वे दीखते नहीं, उसी तरह यह दृश्य-पिशाच न होनेके कारण ही उनके लिये सर्वथा तिरोहित हो गया । जो वस्तु पहलेसे ही नहीं है, वह वर्तमानमें भी अस्तित्वशून्य ही है । इस जगत्की यही स्थिति है । यह प्रतीत हो तो मृगतृष्णामें जलकी प्रतीतिके समान असत् है और यदि प्रतीत न हो तो खरगोशके सींगकी भौति असत् है । तात्पर्य यह कि किसी भी दशामें इसकी सत्ता नहीं है ।

ज्ञानकी देवी सरस्वती अपने उसी ज्ञानमय शरीरसे विचरण करने लगीं । परंतु मानवी रानी लीलाने मानव-देहके अभिमानका स्थाग करके ध्यान और ज्ञानके अनुरूप दिव्य शरीरका आश्रय ले उसीके द्वारा तीव्र गतिसे आकाशमें विचरना आरम्भ किया । उन दोनोंने उद्भूत

इए पूर्वसंख्यजनित सस्कार-शानसे गृहाकाशमें ही एक निरा जँचे उठकर आकाश-गमनमें समर्थ चिन्मय आकृतियाँ धारण कर लीं। दोनों ही चेतन आकाश ( ब्रह्म )-रूपिणी हो गयीं। यथापि वे उसी घरमें बैठी रहीं, तथापि चिन्मय चित्तके संकल्पसे कोटि योजन विस्तृत दूर-से-दूर आकाशस्थलमें उड़ने लगीं—उड़नेका अनुमत करने लगीं। यथापि ये दोनों साक्षियाँ शास्त्रमें चेतन आमासमय शरीरवाली थीं, तो भी पूर्वसंकरित दृश्यके अनुसंधानमें उने रहनेवाले चित्तके साथ अभिज्ञताको प्राप्त हुए अपने स्वभावके कारण वे एक दूसरेके शरीरको देखती और परस्पर स्नेहमग्न होती थीं।

तदनन्तर वे दोनों देखियों यथाशक्ति यत्र-तत्र विश्राम करती हुई धीमी चालसे आगे बढ़ने लगीं। उन्होंने शून्यमें ही देखा आकाशमण्डल बड़े-बड़े मुखनों और वहाँके निषासियोंके निर्मण कार्यसे अस्तन्त मर गया है—अवकाशशून्य हो रहा है। ऊपर-ऊरका आकाश मिन्न-मिन्न मुखनोंसे अलग-अलग चिरा हुआ था। वे सुन्दर विमानोंसे मुश्शमित मुखन विचित्र आभूषणोंके समान प्रतीत होते थे। उसमें कहींपर वज्र, चक्र, शूल, खड्ड और शक्ति आदि अल-ज़ाङ्गोंके अधिष्ठाता देवता मृत्तिमान् होकर विचर रहे थे। उनसे युक्त वह लोक जिना भीतके ही मननोंसे विमूषित था और वहाँ नारद, तृण्वुरु आदि गन्धर्व गीत गाते थे। कहीं मेघोंके मार्गमें ( पुष्कर और आर्वतक आदि ) महामेघोंके

शृंग-सम्बन्धी महान् आयोजनसे वहाँ सब ओर हलचल मची थी और कहींपर प्रलयकालके मेघ चित्रलिखितकी भाँति निश्चेष्ट एवं नीरव दिखायी देते थे। कहीं उठते हुए कज़ज़गिरिके समान सुन्दर मेघोंकी बटा विरी आ रही थी। कहीं सुवर्ण-द्वके समान मलोद्वार सूर्यके तापको दूर करनेवाले बादल छा रहे थे और कहीं दिशाओंके दाहसे उद्यन्न हुई गामी फैल रही थी। कहीं शून्यतारूपी जलसे परिषूर्ण आकाश प्रशान्त महासागरके समान शोभा पाता था। कहीं विमानोंपर बैठे हुए देवताओंकी बहुरंगी प्रभामें आकाशकी रूप-रेखा वितकबरी-सी जान पड़ती थी। कहीं वह शान्त, समाधिष्य तथा परम पदमें विश्रान्त मुनियोंकी मण्डलीसे विरा हुआ था और कहीं जिन्होंने कोधको दूरसे ही स्थाग दिया है, उन साथ महारथोंके चित्तके समान वह सुन्दर एवं सम था। कहीं रुद्रपुर, कहीं प्रह्लादपुर और कहीं मायानिर्मित पुर वहाँ दृष्टिगोचर होते थे। कहीं सिद्धोंके समुदाय विचर रहे थे। कहीं वह आकाश ज्ञानी पुरुषके इद्यकी भाँति इस्यभमसे अस्तन्त रहन्य, उउझल, आवरणरहित, आनन्दमय, कोमल, शान्त, सच्च एवं विस्तृत था।

जहाँ गूलके फलके भीतर रहनेवाले छोटे छोटे मच्छरों-के समान त्रिमुखनवासी प्राणियोंका समुदाय थ्रूम रहा था, उस आकाशको बहुत कँचेतक लौंघकर वे दोनों लङ्घनाएँ फिर भूमलपर जानेको उच्यत हुईं। ( सर्ग २३-२४ )

### लीलाका भूतलमें प्रवेश और उसके द्वारा अपने पूर्वजन्मके स्थजनोंके दर्शन, ज्येष्ठशर्माको माता के रूपमें लीलाका दर्शन न होनेका कारण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! आकाशसे किसी पर्वतीय ग्रामको जाती हुई उन दोनों खियोंने उसी भूतलको देखा, जो झानकी देवी सरस्वतीके मनमें था—जिसे वे लीलाको दिखाना चाहती थीं। सागर, बड़े-बड़े पर्वत, लोकपाल, स्वर्ग, आकाश और

भूतलसे परिवेषित जगत्के मध्यभागका अक्ष्मोक्त दरके मानव-कन्या रानी लीलाने तुरंत ही अपने मन्दिरके आधारमूर पर्वतीय ग्रामका वह स्थान देखा।

इस प्रकार वे दोनों सुन्दरियाँ, जहाँ राजा पद रहते थे, उस ग्रहाण्डमण्डलसे निकलकर दूसरे ग्रहाण्डमें

ना पहुँची, जहाँ वसिष्ठ नामक ग्राहणका घर था । वे दोनों ही लियों सिद्ध थीं । उन्होंने दूसरे लोगोंसे अदृश्य बहकर ही ग्राहणके निवासभूत मण्डपको, जो उनका अपना ही घर था, देखा । वह घर गृहस्थामीके विवेगसे इत्प्रभ हो गया था । उसके मुख अर्पण-द्वारकी कान्ति कलणासे अ्यास थी और उसका विनाश निकट था ।

**रघुनन्दन** । सुन्दरी लीला चिरकालतक सुन्दर शान-का अन्धास करनेके कारण देवताकी भौति सत्यसंकल्प और सत्यकाम हो गयी थी । ( वह जो चाहती, वही हो जाता था । ) उसने सोचा, ये मेरे बन्धुजन मुक्तको और इन देवी सरकारीको साधारण खीके रूपमें देखें । उसके ऐसा संकल्प करते ही उस घरके लोगोंने वहाँ दो दिव्याङ्गनाओंको देखा, जो उस घरको अपनी प्रमाणे उद्घासित कर रही थीं । वे दोनों लक्ष्मी और पार्वतीकी जौड़ी-सी जान पड़ती थीं । तदनन्तर ज्येष्ठशमिने घरके अन्य लोगोंके साथ यह कहकर कि 'आप दोनों बन-देवियोंको नमस्कार है' उन दोनोंके लिये पुष्पाङ्गुलि छोड़ी ।



उस समय ज्येष्ठशमी आदि बोले—बनदेवियो । आप दोनोंकी जय । निष्ठय ही आप हमारे दुःखोंका नाश करनेके लिये आयी हैं; क्योंकि प्रायः दूसरोंका संकटसे उद्धार करना ही सत्पुरुषोंका अपना कार्य होता है ।

ज्येष्ठशमी आदिके ऐसा कहनेके पश्चात् वे दोनों देवियों वडे आदरसे बोली—'तुम सब लोग अपना यह दुःख बताओ, जिससे यह सारा जनसमुदाय दुखी दिखायी देता है ।' तब उन ज्येष्ठशमी आदिने उन दोनों देवियोंसे क्रमशः ग्राहणदभ्यतीके मरणरूप अपना सारा दुःख निवेदन किया ।

ज्येष्ठशमी आदि बोले—देवियो । यहाँ हो ग्राहण पति-पत्नी रहते थे, जिनका आपसमें बड़ा रनेह था । वे यहाँ पधारे द्वाएँ सभी लोगोंका आतिथ्य-सत्कार करते थे । हमारी इस कुल-परम्पराके प्रवर्तक भी वे ही थे । दिजातियोंकी मर्यादाके तो वे लगभग ही थे । वे ही दोनों हमारे माता-पिता थे । इस समय पुत्रों, बन्धु-बान्धवों और पशुओंसहित इस घरको स्थागकर वे दोनों सर्गलोकको चले गये हैं, इससे हमें तीनों लोक सूने दिखायी देते हैं । इसलिये देवियो । आप दोनों पहले हमारे इस शोकका निवारण करें, क्योंकि महामाथोंके दर्शन कभी निष्फल नहीं होते ।

पुत्र ज्येष्ठशमी जब ऐसा कह चुका, तब माता लीलाने अपने हाथसे उसके मस्तकका सर्श किया । उसके उस सर्शसे ज्येष्ठशमीके दुःख-दुर्माण्यरूपी संकटका तकाल निवारण हो गया । घरके सभी लोग उन दोनों देवियोंके दर्शनसे अमृत पीनेवाले देवताओंके समान दुःखसे मुक्त हो दिव्य शोभासे सम्पन्न हो गये ।

श्रीरामजीने पूछा—मगवन् । माता लीलाने अपने पुत्र ज्येष्ठशमीको उसकी माताके रूपमें ही उसे क्यों नहीं दर्शन दिया । आप पहले मेरे इस मोह ( संदेह ) का ही निराकरण कीजिये ।

श्रीकृष्णजीने कहा—रघुनन्दन । मनुष्य जैसी मावना करता है, उसके अनुसार ही इन पदार्थोंका

अन्यासजनित रूप दिखायी देता है, किसी भी पदार्थका वास्तवमें कोई एक रूप नहीं है। लीलाने तो यह यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लिया था कि पृथ्वी आदि भूतोंका अस्तित्व कठपिं नहीं है। चेतन आकाशरूप जो ब्रह्म है, वही कल्पनाहारा मिथ्या प्रपञ्चरूपसे प्रकट हो भासित हो रहा है (उसका ज्येष्ठशमकि प्रति पुनर्सन्धि-स्नेह नहीं रह गया था, इसलिये उसे अपनी माताके रूपमें लीलाका दर्शन नहीं हुआ) सर्वत्र सभी

रूपोंमें केवल एक चेतनाकाशरूप परमात्मा ही विराजमान है— जिसे ऐसा बोध प्राप्त हो गया है, उस मुनिके लिये कौन, किस प्रकार, कब और किस निमित्त-से पुनर, मित्र एवं कलत्र हो सकते हैं। इत्य-प्रपञ्च तो सुषिके आदिमें ही उत्पन्न नहीं हुआ। जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह अजन्मा ब्रह्म ही है। ऐसे यथार्थ ज्ञानवाले लोगोंको राग-देवसे युक्त दृष्टि कैसे प्राप्त हो सकती है। ( सर्ग २५-२६ )

**लीलाकी सत्य-संकल्पता, उसे अपने अनेक जन्मोंकी सूति, लीला और सरसतीका आकाशमें अमरण तथा परम व्योग—परमात्माकी अनादि-अनन्त सच्चाका प्रतिपादन**

श्रीवित्तिल्लजी कहते हैं— बुनन्दन ! उस पर्यातके तट-प्रान्तमें बसेहुए प्राप्तके भीतर उम्र ब्राह्मणके गुहरूपी आकाशमें ही खड़ी हुई वे दोनों क्षियों सहसा अदृश्य हो गयीं। उस घरके लोगोंने समझा कि दोनों बनदेवियोंने हमपर बड़ी मारी कृपा की है, अतः उनका सारा दुःख मिट गया और वे अपने-अपने काम-धर्घोंमें लग गये। तत्पश्चात् उस मण्डपाकाशमें दूसरोंकी दृष्टिसे तिरोहित हुई लीलासे, जो वहाँ मुस्कराती हुई खुपचाप खड़ी थी, सरसतीने कहा—



श्रीसरसतीजी बोली— वेदी ! तुमने ज्ञातव्य बस्तुको पूरीरूपसे जान लिया है, दृष्ट्य पश्योंको देख लिया है। इस प्रकारकी यह ब्रह्मसत्ता है। ब्रताओ, अब और क्या शूद्रसी हो ?

लीलाने पूछा— देवि ! मेरे मृत-पतिका जीव जहाँपर राज्य करता है, वहाँपर मुझे उन लोगोंने क्यों नहीं देखा ? और यहाँ मेरे पुनरने कैसे देख लिया ?

श्रीसरसतीजीने कहा— सुन्दरी ! मैं लीला हूँ—ऐसा जो तुम्हारा छढ़ संस्कार था, वह पहले नष्ट नहीं हुआ था; क्योंकि उस संस्कारको मिठानेके लिये तुमने वैसा अन्यास नहीं किया। जबतक वह संस्कार बना पा, तबतक तुम्हारी सत्य-संकल्पता प्रकट नहीं हुई थी। अब वह संस्कार मिट जानेसे तुम सत्य-संकल्प हो गयी हो। इसलिये जब तुमने यह अभिलाषा की कि मेरा पुनर मुझे देखे, तब तुम्हारा वह मनोरथ तत्काल सफल हुआ। इस समय यदि तुम अपने पतिके समीप जाओ तो उसके साथ भी तुम्हारा सारा व्यवहार पहलेकी ही भाँति होने लगेगा।

लीला बोली— देवि ! इसी मण्डपके आकाशमें मेरे पतिदेव ब्राह्मण उत्पन्न हुए और इसीमें भूत्युको प्राप्त होकर राजा हो गये। अन्य भूमण्डलरूप उनका वह ससार भी यहीं है। इसमें जो उनकी राजधानीका

नगर है, उसमें मैं उनकी राजमहिलाके रूपमें स्थित हूँ। यहाँ उस अन्तःपुरमें मेरे पति राजा पश्चाकी मृत्यु हुई और इसी अन्तःपुरके आकाशमें वह नगर है, जिसमें मैं पुनः राजा हुए हूँ। ब्रह्माजीसे उत्पन्न होनेके पश्चात् आजलक विभिन्न योनियोंमें जो मेरे बहुत-से जन्म हो चुके हूँ, उनमेंसे आठ सौ बन्धोंको तो मैं इस समय पुनः देख-सी रही हूँ, उनकी सारी बातोंका स्पष्टरूपसे स्मरण कर रही हूँ। देवि ! पहले किसी दूसरे संसार-मण्डलमें मैं लोकान्तररूपी कमलकी भमरी—विश्वाधर-राजकी धर्मपत्नी हुई थी। उन दिनों मेरा छद्य दुर्वासनाओंसे दूषित था। इसलिये उसके बाद मैं मनुष्ययोनिमें उत्पन्न हुई, तदनन्तर दूसरे संसार-मण्डलमें मैं नागराजकी भार्या हुई। इसके बाद कदम्ब, कुन्द, जग्नीर और करञ्जोंके वनमें निवास करनेवाली तथा बृक्षोंके पत्तोंको ही वस्त्रके रूपमें धारण करनेवाली काळी-कल्पी भी छनी हुई।

तदनन्तर पुरुषत्वरूपी फल देनेवाले कर्मोंके परिणाममें-से मैं सी वर्षोंतक सौराष्ट्र देशमें श्रीसम्पन्न राजा होकर रही। फिर राजा-शरीरसे बने हुए दुष्कर्म-दोषके कारण ताढ़ वृक्षके नीचे किसी नदीके कआरमें नौ वर्षोंतक नेवलीकी योनिमें रही। उस समय मेरे सारे अङ्ग कुष्ठ-रोगसे नष्टप्राय हो गये थे। देवि ! उसके बाद मैं सौराष्ट्र देशमें आठ वर्षोंतक गौका शरीर धारण करके रही। उस योनिमें दुर्जन, दुष्ट, अङ्ग और बालक ग्यालों-की मारने-भीटने आदि क्रीडाओंका साधन बनी रही। फिर क्रमशः पक्षिणी, भमरी, मनोहर नेत्रवाली हरिणी, मछली, पुलिंद जातिकी सी सारसी और राजहंसी हुई। इस प्रकार नाना प्रकारके शत-शत हुँखोंसे संखुल अनेकानेक योनियोंमें मैं भ्रमण किया है। तराजूके पलड़ेकी माँति कभी ऊँचे उठने और कभीनीचे गिरनेसे मेरे सारे अङ्ग व्याकुल होते रहे हैं। मैं संसाररूपी विशाल सरिताकी चम्पल तरङ्ग बनकर उठती और बिलीन

होती रही हूँ। जैसे बातप्रभी जातिकी हरिणीकी गतिको रोकला कठिन है, उसी प्रकार मैं दुर्निर्वार्य आवागमन-की परम्परामें पड़कर क्रमशः विमिन्न योनियोंमें भटकती थायी हूँ।

इस प्रकार परस्पर वार्तालाप करती हुई वे दोनों सुन्दरी ललनाएँ मनोहारिणी गतिसे उस घरके बाहर निकलीं। उस समय गौवके लोग उन्हें नहीं रेख पाते थे, परंतु वे दोनों अपने सामनेके पर्वतको अच्छी तरह देख रही थीं।

लीला चोली—देवि ! इस देशको देखकर मैं आपकी कृपासे अपने पूर्वजन्मकी तम सभी विविध चेष्टाओंका स्मरण करती हूँ, जो यहाँ विट्ट हुई हैं; मैं यहाँ बूढ़ी ग्राहणीके रूपमें रहती थी। मेरे सारे अङ्ग उमरी हुई त्रस-नाडियोंसे



व्याप दिखायी देते थे। मैं बहुत दुबली-पतली थी। मेरा शरीर गौर और बाल सफेद थे। मेरी हथेली सूखे कुशों-के अग्रभागसे छिन्न-मिन्न होती रहनेके कारण रुखी हो गयी थी। मैं अपने पतिदेवके कुलकी धृदि करनेवाली

भार्या थी । दून और मथानी मेरी शोभा बढ़ाते थे । मैं सारे पुत्रोंकी अकेली माता और अतिथियोंका सरकार करनेवाली गृहिणी थी । देवताओं, ग्राहणों और संत-महात्माओंके प्रति मेरे मनमें बड़ी भर्ती थी । मैं र्घुनपात्र, चरूसाली तथा कलश आदि पात्रों एवं यज्ञके अन्य उपकरणोंको धो-पोंडकर साफ-सुधार रखती थी । जमाई, बेटी, भाई, पिता और माताकी सदा सेवा-शुश्रूषा करती थी । जबतक मेरा शरीर रहा, तबतक वरकी ही सेवा-ठहरामें मेरे ठिन-रात बोतते थे । ‘ओह ! इस काममें बहुत देर हो गयी, बड़ा चिल्म्ब हुआ’ इत्यादि बातें कहती और निरन्तर कार्यमें व्यस्त रहती थी । मैं कौन हूँ, यह संसार कौन है ?’ इस बातकी चर्चा या इन प्रश्नोंपर विचार कभी खब्जमें भी मैंने नहीं किया । मेरे पति श्रोत्रिय होनेके साथ ही तत्त्व-विचारमें मृढ़ थे । मेरे ही समाज उनकी भी वरमें आसकि बच्ची हुई थी । उनकी बुद्धि शुद्ध नहीं थी । समिधा, साग, गोबर और ईंधनके संग्रहमें ही मेरी एकमात्र निष्ठा थी । वरके पास खेतोंमें जो साग-सञ्जीकी क्यारियाँ थीं, उन्हें सीचनेके लिये मैं बलदी-जलदी जलपात्र लेकर आनेके नौकरोंको पुकारा करती थी । जलकी लहरोंके किनारे जो हरी-हरी घासें डर्गी होती थीं, उन्हें स्वयं लाकर मैं अपनी छोटी-सी बछियाको तूस किया करती थी । प्रानिकण वरके दरवाजेको लौपकर वहाँ चौक बनाती थी और उसमें भोजि-भाँतिके रण भरकर सजा देती थी । वरके नौकरोंको शिक्षा देनेके लिये मैं कुछ दीनताके साथ नव्रतापूर्वक समझाती कि ‘लोग तुम्हारी निन्दा करेंगे, इसलिये तुम्हें विनय और सदाचारसे रहना चाहिये ।’ जैसे समृद्ध अपनी तटमुमिका लहरन न करके निरन्तर मर्यादामें स्थित रहता है, उसी प्रकार मैं भी धर्म-मर्यादाके नियमसे कभी अस्त नहीं होती थी ।

श्रीकसिष्ठजी नहने हैं—रघुनन्दन ! यो कहकर उस पर्वतीए ग्रामके नीतर भ्रमण करती हुई लीलाने

अपने साथ विचरती हुई सरस्वती देवीको मन्द मुस्कान-के साथ वहाँकी एक-एक वस्तुको दिखाया । फिर वह इस प्रकार बोली—‘देवि ! इस वरके आकाशमें ही वह मेरे पतिका जीव राजाके रूपमें रह रहा है । यही अहूष्टमात्र गृहाकाशके भीतर ही स्थित परमार्थ वस्तु ( परमात्मा ) को मैंने भ्रमसे करोड़ों योजन विस्तृत पनि-का राज्य समझा था । जगदीश्वरि ! हम दोनों चेतन-आकाशरूप परमात्मा ही हैं । मेरे पनिदेवका राज्य, जो सहस्रों पर्वतोंसे भरा हुआ है आकाशमें ही स्थित है । यह बहुत बड़ी माया फैली हुई है । इसलिये देवि ! अपने पतिके नगरमें जानेकी पुनः मेरी इच्छा हो रही है । अत चलिये, हम दोनों वहाँ चलें । जिन्होंने कहीं जानेका निष्कर्ष कर लिया हो, उनके लिये वह स्थान क्या दूर है ?’

यों कहकर लीलाने देवीको प्रणाम किया और शीघ्र ही गृह-मण्डपमें प्रवेशकर सरस्वती देवीके साथ



वह आकाशमें उड़ चली । भगवन् दिव्युक्तो करुक्तनि-

के समान नीले मेवपथको लौधकर वे प्रवद्ध आदि सात वायुओंके लोकमें जा पहुँची । फिर वहाँसे सौरमार्ग तथा चन्द्रमार्गको लौंघती हुई वे ध्रुवमार्गसे भी ऊपर पहुँच गयी । इसके बाद साथ्योंके मार्गसे ऊपर उठकर सिद्धों-की भूमिको भी लौंघ गयी और स्वर्गमण्डलको भी लौंघकर अस्यन्त दूर जानेपर लीलाको कुछ बोध हुआ । फिर उसने पीछे फिरकर पार किये हुए आकाश-स्थलका अशब्दोक्तन किया । वहाँसे नीचे देखनेपर चन्द्रमा, सूर्य और तारा आदि कुछ भी नहीं दिखायी देते थे । केवल अन्वकार-ही-अन्वकार था ।

तब लीलाने पूछा—देवि ! वसाथो, सूर्य आदिका तेज नीचे कहाँ चल गया ? पत्थरके मध्यमार्गकी भौति सुदृढ़ एवं बनीमूर्त होनेके कारण मुट्ठीमें लैने योग्य यह अन्वकार कहाँसे आ गया ?

श्रीसरस्ती देवीने कहा—बेटी ! तुम इतनी दूर आकाश-मार्गमें आ गयी हो कि यहाँसे सूर्य आदि तेज भी नहीं दिखायी देते ।

लीला बोली—देवि ! यह तो बड़े आश्वर्यकी बात है । क्या हम दोनों आकाश-मार्गमें इतनी दूर आ गयी बहाँसे नीचे सूर्यदेव भी परमाणुके कणकी भौति तनिक भी दिखायी नहीं देते ? मालाजी ! इससे आगे दूसरा मार्ग कौन और कैसा होगा और उसमें कैसे जाना होगा ? देवि ! यह सब मुझे बताइये ।

श्रीसरस्ती देवीने कहा—बेटी ! इसके बाद आगे त्रुम्हे ब्रह्माण्ड-सम्पुटके ऊपरी कपालमें जाना है ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! जैसे दो भ्रमरियाँ पर्वतकी चट्टानोंसे बनी हुई घनीभूत मण्डपवाली

दीशलपर पहुँच जायें, उसी प्रकार आपसमें लपर्युक्त बातें करती हुई दोनों देवियाँ ब्रह्माण्ड-सम्पुटके ऊपर-वाले कपालतक पहुँच गयीं । माय ही जैसे कोई आकाशसे निकले, उसी तरह वे वहाँसे अनायास ही बाहर निकल गयीं । जो वस्तु स्थिताके इदं निष्पत्यसे युक्त होती है, वही वज्रके समान ठोस और भारी होती है और जो इससे मिन कल्पित दीवार आदि वस्तु है, वह मिथ्यात्म-मुद्दिसे वाधित हो जाती है । लीलाका विज्ञान आवरणशून्य था । इसलिये वह ब्रह्माण्ड-सम्पुट-के ऊपरवाले कपालको मिथ्यात्म-मुद्दिसे वाधित करके उससे बाहर निकल गयी । ब्रह्माण्डके पार जानेपर उसे अस्यन्त प्रकाशमान जल आदिका आवरण दिखायी दिया, जो सब और व्याप्त था । उस आवरण-समुदायमें जो जलका आवरण है, उसमें ब्रह्माण्डकी अपेक्षा दसगुना जल विद्यमान है । उसके बाद उससे भी दसगुना अनिमय आवरण है । फिर उससे भी दसगुनी वायु और उससे भी दसगुने आकाशके आवरण हैं । तदनन्दन विशुद्ध चिन्मय आकाश है । उस परम व्योम ( चेतनाकाश ) रूप परब्रह्म परमात्मामें आदि, मध्य और अन्तकी कोई कल्पनाएँ नहीं उदित होतीं ( वह परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण एवं अपरिच्छिन्न है ) । वह अद्वितीय, सर्वव्यापी, शान्त, आदि अथवा कारणसे रहित, भ्रम-शून्य, अनादि, अनश्व, मध्यरहित तथा अग्नी ही महिमामें प्रतिष्ठित है । उस निर्मल चेतनाकाशस्त्रूप परमात्मामें यदि एक कल्पतक बड़े भारी बेगसे ऊपरसे नीचेको पत्थरकी शिला गिरनी रहे और नीचेसे पक्षिराज गहड़ भी अपना सारा बल लगाकर ऊपरको उड़े तथा उनके बीचमें सबको मापनेमें समर्थ वायु समान बेगसे दोनों ओर बड़े तो वह भी उन दोनोंका संयोग नहीं गा सकता । ( सर्ग २७-२९ )

## लीलालारा ब्रह्माण्डोंका निरीक्षण, दोनों देवियोंका भारतवर्षमें लीलाके परिके राज्यमें जाना और वहाँ युद्धका आयोजन देखना; शूरके लक्षण तथा दिम्भाहवकी परिभाषा

श्रीकृष्णिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! तदनन्तर लीला-  
ने उस अपरिमित चेतन आकाशसंख्य परमात्मामें इस  
जगत्की वीर्यांति फैले हुए अनन्त ब्रह्माण्डोंको देखा ।  
जैसे धूप निकलनेपर जँगलेके छेदसे जो किरणें धरमें  
आती हैं, उनके अनन्तात आकाशमें असंख्य नक्षत्रेण  
दृष्टिगोचर होते हैं, उसी प्रकार लीलाने उन सभी ब्रह्माण्डोंमें  
सूखियोंको देखा, जो ख्यय-श्रकाश अविद्यानसूत्र चैतन्यसे  
भासित थीं । अविद्यालूपी जलसे भरे हुए महाकाश-  
रूपी महासागरमें महाचैतन्यके द्वुरणस्त्रप द्वीपावसे  
प्रकट हुए असंख्य ब्रह्माण्डरूपी बुद्धबुद्धोंको लीलाने  
छस्य किया ।

जिसकी दृष्टि ब्रह्मानसे दूषित है, उसी पुरुषका  
असीम एवं महान् चेतन आकाशसंख्य परमात्मामें सम्पूर्ण  
आवरणोंसे युक्त ये ब्रह्माण्ड प्रतीत होते हैं । सारे ही  
पदार्थ परतन्त्र होनेके कारण वेगपूर्वक इधर-उधर भाग रहे  
हैं ( उनमें परत्पर आकर्णण होनेके कारण वे गिरते नहीं )  
ब्रह्माण्डमें जो महापृथ्वीरूप भाग है, वह उसका  
अधोभाग है और उससे भिन्न जो आकाश है, वह  
उसका ऊपरीभाग है । जैसे गोल मिट्टीके ढेलेमें दसों  
दिशाओंकी ओरसे सटी हुई चाटियोंके जो पैर होते हैं,  
वे ही उनके लिये अधोभाग हैं और जिस ओर उनकी  
पीठ रहती है, वही ऊपरका भाग है, उसी प्रकार दसों  
दिशाओंमें संलग्न जो पैर हैं, वे ही नीचेके भाग कहलाते हैं  
और आकाशकी ओर जो पीठ या सिर होते हैं, उन्हें ऊर्ध्व-  
भागमें स्थित बताया गया है—यह बड़े-बड़े विद्वानोंका कथन  
है । किन्हीं-किन्हीं ब्रह्माण्डोंके भीतरकी भूमि दृश्यों और  
वल्मीकीर्णोंके समझसे व्याप्त है ( उसमें मनुष्य नहीं हैं )  
और उन ब्रह्माण्डोंका निर्मल आकाश देखता, किन्तु तथा  
दैत्योंसे युक्त विभिन्न लोकोंसे वेष्टित है । जैसे पका हुआ  
सं० च० च० अ० अ० ६—

ब्रह्मरोटका फल छिलकेसे ढका रहता है, उसी प्रकार  
कुछ ब्रह्माण्ड तत्काल कल्पित जरायुन, उद्भिज्ज, अण्डज  
और स्वेदज—चारप्रकारके प्राणियों तथा प्राम, नगर और  
पर्वतोंसे युक्त होकर उत्पन्न हुए हैं । स्थितिकालमें  
सम्पूर्ण पदार्थ चेतन परमेष्ठ परमात्मामें रहते हैं । सुष्ठि-  
कालमें उससे उत्पन्न होते हैं और प्रलयकालमें सब  
उसीमें लीन हो जाते हैं । अतः सम्पूर्ण दिशाओं, कालों  
और वस्तुओंमें वही है । उससे अतिरिक्त कोई नहीं है।  
वही नित्य, सर्वमय आमा है । उस परम प्रकाशके  
सागर शुद्ध बोधमय चेतन आकाशसंख्य परमात्मा  
परमात्मामें ब्रह्माण्ड नामक तरङ्गे निरन्तर उठती और  
विलीन होती रहती हैं । किन्हीं ब्रह्माण्डोंमें महाप्रात्यक्षी  
प्राप्ति होनेपर जैसे सूर्यका ताप लगनेसे हिमकण गल  
जाते हैं, उसी प्रकार सूर्य, अग्नि, विद्युत् और पर्यत मी  
गलने लगते हैं । कुछ ब्रह्माण्डोंके आदिपूरुष  
( सुष्ठिकर्ता ) ब्रह्म हैं । कुछके आदिसदा और पालक  
मगान् विद्यु हैं । कुछ ब्रह्माण्डोंके प्रजापति दूसरे  
( रुद्र एवं दुर्गा आदि हैं ) तथा कुछ ब्रह्माण्डोंमें जो जीव  
जन्मते हैं, उनका कोई भी नाम ( रक्षक या नियन्त्रण  
करनेवाला ) नहीं होता । इसी तरह कुछ ब्रह्माण्डोंकी  
सुष्ठि और प्रजापति विविध ही हैं । महामते । जगत्के  
वर्णनके विषयमें इमारी बुद्धिका जो सम्पूर्ण वैमव या,  
उसे हम दिखला चुके । उसके बाद जो जगत् है,  
वह हमारी बुद्धिका विषय नहीं है । अतः उसका वर्णन  
करनेमें हम असमर्थ हैं ।

अपने पूर्वजन्मके संसारसे निकलकर पूर्वोक्त रीतिसे  
अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंकी विविभिन्नताओं देखती हुई उन  
दोनों खियोंने किसी ब्रह्माण्डमें प्रवेश करके वहाँके अन्तः-  
पुरको देखा और फिर वहाँ वे शीघ्र ही बाहर निकल जायीं ।  
उस अन्तःपुरमें पुण्यस्थानसे जाग्नादित महाराज पद्मा-

महान् शब रखा था । उस शबके पास ही बैठी हुई लौलाका स्थूलशरीर था, जिसका चित्र समाविष्टस्थामें आरूढ़ था । शोकके कारण रात्रि बड़ी प्रतीत होनेसे वहाँके लोग कुछ-कुछ प्रगाढ़ निशासे युक्त थे । वह अन्तःपुर घूप, चम्दन, कपूर और केसरकी सुगन्धसे भरा था । उसे देखकर लीलाको पतिके दूसरे संसारमें जानेकी इच्छा हुई ( वर्यात् राजा पश्च मृत्युके पश्चात् वहाँ उत्पन्न हुए थे, वहाँ जानेके लिये वह उत्कृष्ट हुई ) तब वे दोनों देवियों विभिन्न लोकों, पर्वतों और आकाशको लौंधकर भूतलपर पहुँचीं, जो पर्वतमालाओं तथा समुद्रोंसे विरा दुश्मा था । तत्पश्चात् मेरुपर्वतसे अलंकृत जम्बूद्वीपमें गयीं, जिसका भीतरी मारण नी खण्डोंमें विभाल है । जम्बूद्वीपके भीतर भारतवर्षमें लीलाके पतिका राज्य था । वहाँ वे दोनों जा पहुँचीं । इसी समय जो भूमण्डलका मण्डन था, उस राज्यमें किसी राजाने आकरण



किया । अपने सहायमून सामर्तोके कारण उस आकरणकारी भूपालकी शक्ति बहुत बड़ी-बड़ी थी । उस राजाके साथ संग्राम छिपनेपर उसे देखनेके लिये आये

हुए तीनों लोकोंके प्राणियोंसे वहाँका आकाश ठसाठस भर गया । उक्त दोनों देवियों निश्चक्ष होकर वहाँ आ गयीं । उन्होंने उस आकाशको आकाशचारी प्राणियोंके समुदायसे इस तरह आकाश्त देखा, मानो वहाँ में वोंकी घटा त्रिर आयी हो । सर्गलोकमें स्थान पाने योग्य शूरवीरोंको लानेके लिये व्यग्र हुए इन्द्रके भट वहाँके आकाशको उद्धासिन कर रहे थे ।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन् । 'शूर' शब्दसेकिस तरहके वोद्धाका प्रतिपादम किया जाता है : कौन सर्वाक्ष अलंकार है अथवा कौन दिम्भाहव ( वज्ञोंका युद्ध ) कहलाता है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! जो शाकोक सदाचारसे युक्त स्वामीके लिये रणभूमिमें युद्ध करता है, वह चाहे मरे या विजयी हो दोनों अवस्थाओंमें शूर कहा गया है । वही सर्गलोकका मागी होता है । पूर्वोक्त विधिसे विपरीत अस्याचारी स्वामीके लिये युद्ध करके जो रणभूमिमें किसी प्राणीके द्वारा अङ्गोंके कट जानेसे मृत्युको प्राप्त होता है, वह दिम्भाहवमें मारा गया कहलाता है । ऐसा मनुष्य नरकगामी होता है । जिसका आचरण शाकके अनुकूल नहीं है, उसके लिये जो मनुष्य युद्ध करता है, वह यदि संग्राममें मारा जाय तो उसे सदा बने रहनेवाले नरककी प्राप्ति होती है । यथासम्बन्ध शाककी आज्ञा और लोकाचारका पालन करनेवाला जो व्यक्ति रणभूमि में ( धर्म ) युद्ध करता है तथा वैसे ही सदाचारी स्वामीका मर्त्त होता है, वह शूर कहलाता है । शुद्ध-बुद्धिवाले रघुनन्दन ! जो गी, ग्राहण तथा मित्रकी रक्षाके लिये प्राण देता है अथवा शरणागतकी रक्षाके लिये यस्त करते हुए मारा जाता है, वह शूरवीर सर्गलोकका अलंकार है । \* राजाके लिये अपना देश सदा ही रक्षणीय होता

\* गोरथे ग्राहणस्थाये मित्रस्थाये च उन्मते ।  
शरणागत्यस्तेन स मृतः सर्वभूषणम् ॥  
( अत्पत्ति० ३१ । २८ )

है। जो राजा एकमात्र उसीकी रक्षामें लगा रहता है, उसके लिये जो युद्धमें मारे जाते हैं, वे ही बीर हैं और उन्हींको धीरलोककी प्राप्ति होती है। जो प्रजाके प्रति उपदेश करनेमें ही लगा रहता है, वह राजा हो या भी हो, वैसे स्थापीके लिये जो युद्धमें प्राण देते हैं, वे

निश्चय ही नरकगामी हैं। जो शासके प्रतिकूल

आचरण करनेवाले हैं, वे राजा हों या न हों, उनके लिये जो युद्धमें अङ्गोंको कटाकर मृत्युको प्राप्त होते हैं, वे निस्संदेह नरकमें गिरते हैं। जो सदाचारी पुरुषोंके लिये तत्त्वात्की धारको सहते हैं, वे शूरवीर कहे जाते हैं। शेष सभी लोग डिन्माहवमें मारे गये कहलाते हैं। (संग ३०-३१)

### लीला और सरस्वतीका आकाशमें विमानपर स्थित हो युद्धका दृश्य देखना

श्रीकृष्णजी कहते हैं—रघुनन्दन ! तदनन्तर आकाशमें स्थित हुई सरस्वती-देवीसहित लीलाने भूतल-पर पलिदेवके द्वारा सुरक्षित, सैन्यबलसे सम्पन्न राष्ट्रमण्डलमें आमने-सामने दो सेनाएँ देखी, जो एक दूसरेके प्रति क्षोभसे भरी हुई थीं। दोनों ही मतधारी दिखायी देनी थीं। दोनों महान् आयोजनमें संख्या एवं घनी थीं। उनमें उभय पक्षोंके दो राजा विद्यमान थे। दोनों सेनाएँ युद्धके लिये सुसज्जित थीं, करत्र और शिरसाण आदिसे संग्रह थीं तथा प्रज्ञाति अग्निके समान अद्भुत दिखायी देती थीं। पहले कौन प्रहार आयदा अस्त-शस्त्रोंकी वर्षा करता है, वह देखनेके लिये क्षुब्ध हुए असंख्य नेत्र उन्हें एकठक हृषिसे देख रहे थे। ऊपर उठी हुई चमचमाती तत्त्वारोंकी भाँत ही मानो धाराधारिक सुष्ठि थी, जिसे दोनों सेनाओंके सैनिक अपने जड़ोंपर धून करते थे। फरसे, माले, मिन्दिपाल, शृष्टि और मुद्रर आदि अस्त-शस्त्र वहाँ चमक रहे थे।

जिन्हें रोकना असम्भव था, ऐसी उन दोनों विशाल सेनाओंके दुमुळ नादसे छोरोंको आपसकी आतंचीत तक नहीं सुनायी देती थी। राजाकी आङ्गाके बिना कोई पहले प्रहार न कर बैठे, इस आशङ्कासे बहुत देरतक दोनों सेनाओंमें रणदुन्दुभि न बज सकी। आमने-आपने स्थानमें श्रेणीबद्ध होकर खड़े हुए सैनिक ही गिनके अङ्ग थे, उन समूर्ध दुकङ्गियोंसे भरी-पूरी होनेके कारण वे दोनों सेनाएँ मन्त्ररगतिसे आगे बढ़ रही थीं। उनमें असंख्य सैनिक अपने प्राणरूपी सर्वत्रको लुटा देनेके लिये उघत थे। सभी धनुर्धर बीर कानतक खींचे गये बाणसमूहोंकी धाराधारिक सुष्ठि करनेके लिये उत्सुक थे। प्रहार करनेके आदेशकी प्रतीक्षामें अगणित योद्धा वहाँ निश्चल खड़े थे।

तदनन्तर लीला और सरस्वती दोनों देवियों उस युद्धको देखनेके लिये वहाँ रुके हुए एक मुन्द्र, सुस्थिर एवं मनःकल्पित विमानपर आरूढ़ हुईं। इतने ही दोनों सेनाओंमें आमने-सामने संघर्ष आरम्भ होनेपर शत्रु-पक्षकी सेनासे ग्रलयकालिक समुद्रसे उठी हुई एक तरङ्गकी भौंति कोई निर्भय योद्धा निकला और आगे बढ़ा। वह प्रहार करना ही चाहता था कि लीलाके पक्षिने, जो शूर्यजन्ममें पश्च था और वर्तमान जन्ममें विद्युत्यके नामसे विद्ययात था, उसके आकमणको सहनेमें असमर्थ होकर पर्वतके शिखरपर गिरायी हुई शिलाकी भौंति उस विपक्षी योद्धाकी आतीपर मुद्ररक्त प्रहार किया। फिर तो दोनों



सेनाओंमें प्रलयकालीन समुद्रके समान वेगसे बलपूर्वक अख-शब्दोंका प्रहार आरम्भ हुआ। अग्निन्युत्य तेजस्वी आशुधोंकी प्रमा चपलाकी चमकके समान सब और चकाचौंध पैदा करने लगी। चब्बल अख-शब्दोंकी धारके अपमागसे आकाश रेखाहित-सा प्रतीत होने लगा। वरघराते हुए रथोंके वेगसे जो लीकें बन गयी थीं, वे ही योद्धाओंके शरीरसे निकलकर बहनेवाली खूनकी नदीके लिये मार्ग थीं। सैनिकोंकी दौड़-धूपसे हतनी धूल उड़ी कि बहाँ सब और कुहरा-सा छा गया। धारावाहिकरूपसे वरसते हुए अख-शब्द चमचमाहट पैदा करते थे। उस सेनारूपी समुद्रका कोलाहल एकत्र हुए सम्पूर्ण मेघोंकी क्षोभमूर्ण गर्वनाके समान प्रतीत होता था। क्षेपणाङ्गोद्धारा फेंके गये पथरों और चकसमूहोंसे भयमीठ हो आकाश-चारी पक्षी दूर भाग गये थे। कुठारोंके आघातसे योद्धाओंके मस्तक विदीर्घ हो गये थे। पूरी शक्ति लगाकर चलायी गयी शक्तियोंके समूहसे छिन्न-भिन्न होकर गिरे हुए हाथियोंकी बांधोंसे धरती पट गयी थी।

बड़े-बड़े ताढ़ वृक्षोंके समान ऊँचे पुरुषोंने हाथमें कुदाल ले बनभूमि खोदकर उसे समतल कर दिया था। जहौंतक बाण फेंका जा सकता है, उससे दूने प्रदेशमें सब औरसे लोगोंको हटा दिया गया था और पथरोंकी चढ़ाने मी काट-छाँटकर बहाँसे दूर फेंक दी गयी थीं। नाराचरूपी श्रेष्ठ जलकी वर्षा करनेवाले वीरसमूहरूपी भतवाले मेघोंके घिर आनेसे जहाँ कबन्धरूपी मोर नाचने लगे थे तथा वेगसे चक्र काटते हुए मदमत गजराजरूपी पर्वतोंसे जो आवेषित था, वह वेगार्दक चलता हुआ युद्ध वहाँ प्रलयकालका-सा दृश्य उपस्थित कर रहा था।

तदनन्तर युद्धकी इच्छा रखनेवाले राजाओं, योद्धाओं, मन्त्रियों तथा आकाशसे संप्रामका दृश्य देखनेवाले देव, गर्भर्च आदिके मुखसे वहाँ इस तरहकी बातें मिकलने लगीं—‘देखो, तुरंतके कटे हुए मस्तकोंके मुखरूपी गड्ढेमें गोते लगती हुई सफेद चीड़ोंसे व्याप्त हुए ये कबन्ध

( घड़ ) समराङ्गणमें बजते हुए वाष्पोंके तालपर डहल-उछलकर नाच रहे हैं। देवताओंकी गौष्ठियोंमें परस्पर यह चर्चा चल रही थी कि ‘कौन धीर पुरुष कम, कैसे और क्यों खांग आदि लोकोंमें जायेंगे?’ कुछ लोग ऐसी बातें कह रहे थे—‘मृढ़ो ! आगे बढ़कर युद्ध करो। अपरे मनुष्योंको उठा के जाओ। नराधमो ! इन अपने ही लोगोंको पैरोंके प्रहारसे कुचल भ ढालो।’

जैसे सोया हुआ मनुष्य योद्धी देरमें स्वप्न-दैहिको प्राप्त कर रहता है, उसी प्रकार युद्धमें मारा गया योद्धा मरण-कालिक मृद्धिके पश्चात् एक ही निमेषमें अपने कर्मरूपी शिल्पी ( लक्ष्मी ) हारा रचित देवशरीरको प्राप्त कर रहता था। उस युद्धस्थलमें परस्पर छेदन-भेदनके लिये उठेहुए हस्त-समूहोंसे मुश्तिष्ठ, शक्ति, शूल, खड़, मुसल और प्रांस नामक अख-शब्दोंकी वर्षा हो रही थी। परस्पर चलाये गये युद्धहेतुक अख-शब्द आपसमें टक्कराकर चूर-चूर हो जाते थे। उन मर्यादार आशुधोंके चूर्णसे हुआ वह संप्रामरूपी समुद्र वाल्का-राशिसे परिपूर्ण-सा जान पड़ता था। कटकर गिरे हुए छत्र उस रणसिन्धुमें ठठती हुई तरङ्गके समान प्रतीत होते थे।

युद्धमें थका हुआ कोई सैनिक अपने दूसरे साथीसे कह रहा था—‘मित्र ! संप्राममें यक्क जानेके कारण मेरी ही तरह हुम्हारी भी छड़नेकी इच्छा शान्त हो गयी होगी; अतः मैं एक अच्छी बात बता रहा हूँ, मुनो। जलती हुई आगके समान उज्ज्वल बाण जबतक हमलेगोंके अङ्गोंके टुकड़े-टुकड़े नहीं कर दालते, तभीतक हमरे लिये निकल भागनेका अवसर है। इसलिये आओ, हम लोग शीघ्र ही यहाँसे भाग चलें; क्योंकि यह जो चौथा पहर बीत रहा है, यमराजका ही दिन है ( अतः इस समय यहाँ रहनेसे ग्राणोंकी रक्षा असम्भव हो जायगी )।’

रघुनन्दन ! तदनन्तर वह समर-सागर उद्धत ताप्तव नृत्य करनेवाले उन्मत्तके समान प्रतीत होने लगा। उस आनेके लिये उथत हुए तुरंगम ( अश्व ) हीउसुमें उत्ताल

तरफके समान जान पढ़ते थे । बाणखणी जलकी धारासे बनीभूत हुए सैन्यलिपि भेदोंने वहाँके घृतल और आकाशको आङ्गादिस करके एक-सा कर दिया था । दोनों विशाल सेनाशाली महासागरोंकी क्षेमजनित टक्करसे वहाँ दोगोंमें मार दौड़ मच गयी । जैसे समुद्रके गर्भमें स्थित पर्वत जलीय सपेसि व्यास होता है, उसी प्रकार एक दूसरे दलका दलन करनेमें उन्होंने हुए और प्रवृथकाळमें

ठठे हुए-से अह-अहलोद्वारा वह समाझूण व्यास हो रहा था । शूल, खड़, चक्र, बाण, शक्ति, गदा, ब्रह्मण्ड और प्रास आदि सैकड़ों चमकीले आयुध परस्पर टक्कराते, काटते और अहूत थमि उत्तम करते हुए दसों दिशाओंमें धूम-धूमकर प्रवृथकाठीन प्रचण्ड बायुके झोकेसे टूटकर आकाशमें चक्कर काटते हुए वृक्ष आदि पदार्थोंकी ढीढ़ा भारण करते थे । ( सर्ग ३२-३५ )

युद्धका वर्णन तथा उभयपक्षको सहायता देनेवाले विभिन्न जनपदों और स्थानोंका उल्लेख श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! दोनों सेनाओंमें जो महान् धर्मनिष्ठ, सुशील, खोजस्ती, वैर्याशाली, शुद्ध, कुल्लक्षण और युद्धमें कभी पीठ न दिखानेवाले शूरवीर थे, उनमें परस्पर इन्द्रशुद्ध होने लगा । वे मैदानके समान गर्जना करते हुए एक दूसरेको निगल जानेके लिये उत्सुक हो दो नदियोंके बेगुणुक प्रवाहोंके समान एक दूसरेसे मिछते और टक्करते थे । चक्रधारी योद्धा चक्रधारियोंसे उछल गये । धनुर्धर वीर धनुर्धरोंसे मिछ गये । खड़कसे युद्ध करनेवाले सैनिक खड़कधारियोंसे जूँने लगे । भाले-धाले भालेकालोंसे, मुद्रधारी मुद्रधारियोंसे, गदाधारी गदाधारियोंसे, शक्तिसे युद्ध करनेवाले शक्तिधारी योद्धाओंसे, छुरेश्वाले छुरेश्वारोंसे, त्रिशूलधारी त्रिशूलधारियोंसे और छोहेकी जंजीरोंका जालीदार कोट पहननेवाले योद्धा धापने-जैसे ही विपक्षी योद्धाओंसे इस तरह वेगपूर्वक युद्ध करने लगे, मानो प्रवृथकाळके विक्षुध महासागरोंकी तरफ़े आयसमें टक्करा रही हों । वह युद्धकाशाली महासागर वहाँ अद्भुत शोभा पा रहा था । क्षेमपूर्वक चलाये गये चक्रमूह उसमें भैंवरके समान जान पड़ते थे । वहाँ बहनेवाली बायुमें बाणखणी जलके कण व्यास हो रहे थे और आयुधरुपी मगर उसमें सब और विचार रहे थे । विद्या, ब्रुद्धि, बल, शौर्य, अस्त-शक्ति, अस्त, रथ और धनुष—ये युद्धके दिन्य आठ साधन जिनके पास मौजूद थे, ऐसे सैन्यसमूह दो पक्ष होनेके कारण आधे-आधे

माणसे दोनों पक्षोंमें बैटकर कोधपूर्वक सुद्धके लिये खड़े थे । वे दोनों नरेश विद्वरप और सिन्धुराज भी तदनुसार ही स्थित थे ।

रघुनन्दन ! मध्यदेशको आदि ( मुख्य ) स्थान मानकर वहीसे दिशाकी गणना करनेपर ढीलाके पत्ति महाराज पथ ( जो वर्तमान जन्ममें विद्युरप थे ) के पक्षमें उनकी सहायताके लिये पूर्व दिशासे विस-निस जनपदके लोग आये थे, उन सबके नाम बताता हूँ, सुनो । पूर्व दिशामें स्थित जो कोसल, काशी, मगध, मियिला, दक्षल, मेखल, कर्कर, मुद, संप्राम-शौण्डक, मुख्य, हिम, रुद्रमुख्य, ताव्रलिपि, प्राजयोतिप, अचमुख, अम्बष्ट, पुरुथादक, वर्णकोष्ठ, सविद्योत्र, आमभीनाशन, व्याघ्रशक्त्र, किरात, सौवीर और एकपादक—ये चौंबीस जनपद हैं । इनके निवासी योद्धा राजाकी सहायताके लिये आये थे । इनके सिवा पूर्व दिशामें जो माल्यवान्, शिवि, आक्षन, शृण्डल, व्यज, पथ तथा उदयगिरि नामक सात पर्वत हैं, वहाँके निवासी भी राजा पश्चके पक्षमें पधारे थे ।\*

\* वहाँ को देखोके नाम आये हैं, वे पुराणों तथा महाभारत आदिमें उल्लिखित नामोंसे कुछ-कुछ भिन्नता रहते हैं । जिन्हें ही प्रांतिक नाम छूट गये हैं और नये नाम आ गये हैं, जो कभी सुने नहीं गये । इनके लिये वे दिशा निर्वाचित ही गयी है उन्हें भी रहा ज्ञानेद है । देहे वहाँदेशको पूर्वमें न भत्ताकर पूर्व और दक्षिण दिशाओंमें ढीचने

पूर्व-दक्षिण दिशामें जो ये विन्ध्य आदिके निवासी हैं, वे भी आये थे । इनके अतिरिक्त चेदि, बत्स, दशार्ण, अङ्ग, बङ्ग, उपबङ्ग, कलिङ्ग, पुष्ट्र, जठर, विर्दम्भ, मेखल, शबराननवर्ण, कर्ण, त्रिपुर, पुरक, कण्टकस्थल, पुथग् दीपक, कोमल, कर्णान्त्र, चौलिक, चार्मण्यवत् ( चर्मण्यती नदीके तटवर्ती ), काकक, वैमकुण्ड, शमशुधर, बलिग्रीव, महाप्रीच, किञ्चित्क्ल्व और नालिकेरी—इन देशोंके निवासी वीर भी छीला-पतिकी सहायतामें आये थे ।

छुनन्दन ! दक्षिण दिशामें जिन-जिन देशोंके नरेश छीला-पतिके सहायक थे, उनके नाम इस प्रकार हैं—विन्ध्य, कुसुमापीढ, महेन्द्र, दर्दुर, मल्य और सूर्यवान्—इन छः पर्वतोंके आस-पास जो समृद्धिशाली गणतन्त्र राज्य थे, वहाँके सैनिक भी वहाँ पधारे थे । इनके सिवा अकन्ती और शाम्बवती नामसे विल्यात देश, दशपूर, कथाचकार, ईषिक, आतुर, कञ्चप, बनधासोपगिरि, भद्रगिरि, नागर, दण्डक, गणराष्ट्र ( गणतन्त्रराज्य ), लुराष्ट्र ( जनतन्त्र राज्य ), साह, शैव, शूभ्रमुक, कर्कोट, बनधिम्बल, पम्पानिवासी, कैरक, कर्कशीरक, स्वेरिक, यासिक, घर्मपत्तन, पस्त्रिक, काशिक, तृण-खल्दल, याद, ताम्रपर्णक, गोनर्द, कनक, दीनपत्तन, मामक, ताम्रीक, दम्भर, आकीर्णक, सहकार, ऐणक, वैतुणदक, मुम्बवनाल, अजिनदीप, कर्णिक, कर्णिकाभ, विक्षि, कोङ्कण, वित्रकूट, कर्णाट, मण्टवटक, महाकटकिक, आन्ध्र, कोलगिरि, बाषपिक, निचेरिक, अण्डायत्त, देवनक, कौच, बाह, शिळाक्षारोद, मोनन्द, मर्दन, मल्य और बताया है । सौवीर देश पश्चिममें है, सथापि इसे पूर्वदिशाके अन्तर्गत बताया गया है । माल्यवान् पर्वत दक्षिण दिशामें है; किन्तु इसे पूर्व दिशामें बताया गया है—इत्यादि । यथापि इस तरह देशों और दिशाओंके नाममें वैपरीत्य देखा जाता है, तथापि यह वर्णन किंतु दूसरे ब्रह्माण्डका है; इत्युक्ते इस ब्रह्माण्डके भारतवर्षकी स्थितिसे कुछ भिन्नता भी मिले तो दोषकी बात नहीं; क्योंकि ब्रह्माण्डमेंदसे देशों और दिशाओंकी स्थितिमें कुछ भेद होना असम्भव नहीं है ।

वित्रकूट शिवरके बासी मनुष्य तथा लङ्घाके राक्षसण भी उस युद्धमें सम्मिलित हुए थे ।

अब पश्चिम-दक्षिण दिशाके देश बताये जाते हैं ( जहाँके निवासी लीला-पतिके सहायक थे )—महाराष्ट्र, सीराष्ट्र, सिन्धु, सौवीर, शूद्र, आभीर, द्रविद, कीकट, सिद्धखण्ड, कालिरुह, हेमगिरि, रैषतक पर्वत, जयकाल, मयवर, जहाँ यथन जातिके लोग रहते थे, बाहीक, मार्गणावन्त, धूम्र, तुम्बक, लाजगण, उक्त दिशाके पर्वतवासी, समुद्रतटवर्ती तथा तोकनियुत नामक सानके निवासी—ये सब छीला-पतिकी सहायतामें आये थे ।

रुचनन्दन ! जो लोग छीला-पतिके विपक्षमें आये थे । उनके इन जनपदोंका वर्णन मूँनो । पश्चिम दिशामें जो ये ऊँचे और बड़े-बड़े पर्वत हैं, पहले उनके नाम बताये जाते हैं—गिरिराज मणिमान्, कुर्वार्पणगिरि, वन, अर्कह, मेवभद, चक्रवान् और अस्ताचल—इन सबके निवासी उक्त नरेशके विपक्षमें आये थे । इनके अतिरिक्त जो काश नामक गणों और ब्राह्मणसमूहोंका अन्त करने-वाले हैं, वे पञ्चजन नामक गणतन्त्र राज्यके सैनिक भी युद्धके लिये आये थे । इसी प्रकार भारक्षतय, पारक, शान्तिक, शैव, आरम्भकाय, अस्त्र, अगुहुत्य, अनियम, हैह्य, मुम्भगाय, ताजिक, हूणक, दक्षिण कतक और उत्तर कतक देशोंके पार्वतीभागमें स्थित कई देश, गिरिपर्ण और अवम—इन सब देशोंके निवासी म्लेच्छ जातिके अन्तर्गत हैं; क्योंकि इन्होंने धर्मकी मर्यादाका सर्वथा स्थाग कर दिया है । ( ये सभी राजा विद्युरयके विपक्षमें आये थे । ) तदनन्तर दो सौ योजनतकसी भूमि जनपदोंसे रहित है । तत्पश्चात् महेन्द्र पर्वत है, जिसकी भूमिमें मोती और मणियोंकी अधिकता है । उसके बाद अश्वगिरि है, जो सैकड़ों पर्वतोंसे युक्त है । उससे आगे भयंकर महासागर है, जिसके तटपर पारियात्र नामक पर्वत है । ( इन सब स्थानोंके निवासी सिन्धुराज-की ओरसे युद्ध करने आये थे । )

पश्चिमोत्तर दिशामें पर्वतीय प्रदेशके भीतर वेणुपति और नरपति नामक देश हैं, जहाँ अनेक प्रकारके उत्सव होते रहते हैं। इनके सिवा जो फलगुणक, माण्डल्य, अनेकलेप्रक, पुरुकुन्द, पार, भानुमण्डल, भावन, वन्मिल, नलिन, दीर्घ—जहाँके निवासियोंके केश, अङ्ग और मुआपैं दीर्घ ( बड़ी ) होती हैं, रङ्ग, स्तनिक, युद्ध और लुह नामबाले देश हैं ( उनके निवासी भी सिंधुराजकी ओरसे आये थे )। तदनन्तर अनुपम खीराष्ट्र है, जहाँके लोग गय-बैल और अपनी संतान-तकको खा जाते हैं। ( इन सब स्थानोंके निवासी उस युद्धमें सभिष्ठित हुए थे । )

उत्तर दिशामें जो हिमवान्, क्रौञ्च, मधुमान्, कौलास, वसुमान् और मेह पर्वत हैं तथा इन सबके आस-पास जो शास्त्रापर्वत हैं, उनपर जो लोग निवास करते हैं ( वे सब योद्धा सिंधुराजकी ओरसे युद्ध करनेके लिये आये थे )। इनके सिवा मह, वारेव, यैवेय, मालव, शूरसेनिक, राजन्य, अर्जुनातनय, त्रिगर्त, एकपाद, शुद्ध, आमवल, खस्ताशासी, अवल, प्रखल, शाक, क्षेमधूर्ति, दशधान, गावसन्ध, दद, हन्यसन, धनद, सरक, वटधान, अन्तरद्वीप, गन्धार, अवन्ति, मुर, वटधान, अन्तरद्वीप, गन्धार, अवन्ति, मुर,

तक्षशिला, वीछव, गोधनी, पुस्तकार्ण इत्यर्थक अन्यतर्यामें यशोवती, नाभिमती, तिक्षा, काल्यवा, क्राक्षभृत्य, सूरमूतिपुर, रतिकादर्श, अस्तरादर्श, पिङ्कल, पाण्डुल्य, शुभ्रद्वय, यात्रुचामक, मानव, माङ्गन, हैमसाल, खलमुख—इन इत्यर्थक, निवासी भी उस युद्धमें सिंधुराजकी ओरसे आये थे। ( उपर्युक्त देश पर्वतसे नीचे हैं इनसे उपरकी ओर ) पूर्वोंक हिमवान्, वसुमान्, क्रौञ्च और कैवल्य नामक पर्वत हैं। उनसे आगे बढ़नेपर आठ हजार योजनतककी भूमि जनपदोंसे रहित है।

पूर्वोत्तर हिशामें जो जनपद हैं, क्रमशः उनके नाम सुनो—कालुत, व्रक्षपुत्र, कुणिद, खदिन, मालव, रन्धराज्य, कन, राष्ट्र, केढवस्त, सिंहपुत्र, वामन, सावाकर्त, वापलवह, कागिर, दरद, अभिसासद, जार्वक, पलोल, कुषि, कौतुक, किरात, यामुणात और दीन नामक जनपद हैं ( इन सबके निवासी युद्धके लिये आये थे )। इनसे आगे ईशानकोणमें सुवर्णमयी भूमि है। उससे आगे अत्यन्त शोभाशाली देवस्थलीय उपवनकी भूमि है। तत्पश्चात् गन्धर्वराज विश्वास्तुका उत्तम मन्दिर है। उससे आगे कौलास भूमि है। उससे भी आगे मञ्जुवन नामक पर्वत है, जहाँकी भूमि विशाघरों और देवताओंके विशालके समान है। ( सर्ग ३६ )

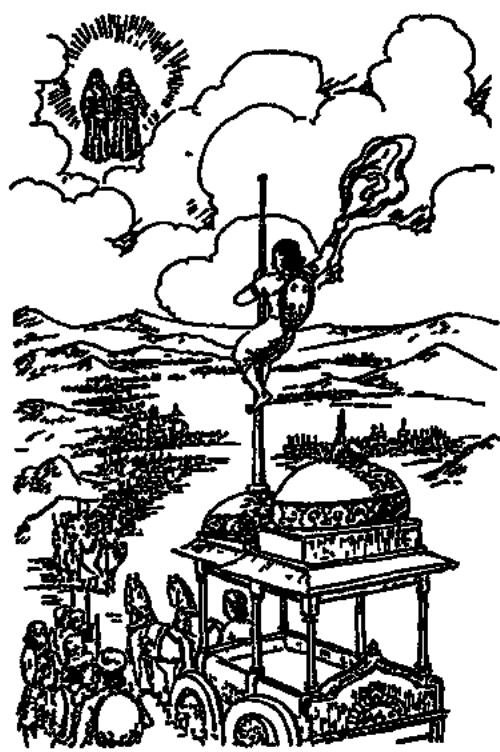
### युद्धका उपसंहार, राजा विश्वरथके शयनागारमें भवाक्षरन्धरसे लीला और सरखतीका प्रवेश तथा स्थान चिन्मय शरीरकी सर्वत्र गमनशक्तिका प्रतिपादन

श्रीकिंशुची कहते हैं—श्रीराम ! कितना कहा जाय, वासुकी ( शेषनाग ) भी अपनी दो हजार जिह्वाओंसे यदि आकुलतापूर्वक ( शीघ्रतासे ) बताना चाहे तो वे भी इस वेष्ट संग्रामका पूर्णतया वर्णन करनेमें समर्थ नहीं हो सकते ।

इस प्रकार वहाँ बड़ा धमासाल युद्ध हो रहा था। विजयी वीर युद्धाओंपर ताल ठोक रहे थे और पराजित योद्धा भयसे हाहाकार कर रहे थे। इन दोनों प्रकारके शब्दोंसे वह युद्धस्थल गूँज उठा था। धूलरूपी अध्यकारसे आच्छादित हुए सूर्यदेव वृद्ध ( मन्दगृहीय या अस्तोन्मुख ) से प्रतीत होने लगे। योद्धाओंके हृषिरके प्रवाहको रोकने

या ढकनेवाले छठोर कवचके भीतरसे खून टपक रहा था। तदनन्तर उभयपक्षके सेनापतियोंने भन्नियोंके साथ विचार करके एक-दूसरेके पास दूत भेजे और यह सदेश कहलाया कि अब युद्ध बंद किया जाय। उस युद्धस्थलमें विशेष परिश्रमके कारण सभीके यन्त्र, शक्ताद्व और पराक्रम मन्द पड़ गये थे। अतः उस समय सब लोगोंने युद्ध बंद करनेकी धात इद्यसे खीकार की। तत्पश्चात् विशाल रथके ऊँचे ध्वजके पास ही स्थापित हुए उंचे बाँसके खंभेपर दोनों सेनाओंका एक-एक योद्धा उसी

प्रकार चढ़ा, जैसे भूत उच्चतम स्थानको बालूद हुए हों।



ऊँचे चढ़े हुए उन योद्धाओंने समूर्ण दिशाओंमें उसी प्रकार इतेवं वज्र हिलाया, जैसे रात्रि ज्ञुञ्ज किरणोंसे मुशोभित पूर्ण चन्द्रमाको समझ दिशाओंमें छुमाती है। वज्र हिलाकर उन्होंने यह सूचना दी कि 'अब युद्ध बंद करो।'

इसके बाद जैसे प्रलयके अन्तमें तत्कालीन एकार्णवसे जलक्षा प्रवाह घरों दिशाओंमें निकलने लगता है, उसी प्रकार उस युद्धस्थलसे दोनों सेनाएँ बाहर जाने लगीं। सारी रणभूमि मुद्रोंके ढेरसे पट गयी थी। बहाँ-तहाँ खूनकी नदियों वह रही थीं और सब ओर वायछ योद्धाओंके चीरकार सुनायी पड़ते थे। वह रणभूमि मुथुके उत्तानकी भाँति जान पड़ती थी। वहाँ मरकर गिरे हुए असंख्य घोड़ों, हाथियों, मनुष्यों, राजाओं, सारथि-सहित रथों और कटी हुई ऊँटोंकी गईनोंसे जो रक्तका प्रवाह सब ओर फैल रहा था, उससे एक सुन्दर नदी प्रवाहित हो चली थी। खूनसे भीगे हुए अक्ष-शर्कर ही वहाँ जलसे सीधी हुई हरी-भरी कृताओंके समान जान पड़ते थे। वह रणोद्धान प्रलयकर्त्तव्यमें पर्वतोंसहित विष्वस्ता

हुए समूर्ण जगत्की भाँति दृष्टिगोचर हो रहा था।

( सूर्यस्तके पश्चात ) आकाश, पर्वत उसके निकुञ्ज और उसकी गुफाके भीतर फैलकर पिण्डके समान एकत्र हुए बने अन्वकारका समूह काले मेघोंकी घटाके समान थहरे सब ओर आ गया था। चक्रल भूतोंके बैगसे व्याकुल हुआ वह रणक्षेत्र प्रलयकालकी वायुसे कम्पित लोकों और उनके लुपकरणोंसे युक्त ग्रहणाल्पके समान जान पड़ता था।

तदनन्तर जब सर्वत्र नीरवता ढा गयी, अन्वकारका संचार हो गया, समूर्ण दिशाओंके लोगोंकी थोंखेनिद्रासे बंद हो गयीं, उस समय उदारङ्गदय लीला-पति कुछ विच्छिन्न-से होकर चन्द्रमाके मध्यमागके सदृश मनोहर तथा शीतल कर्मोंवाले अपने सुन्दर महलमें पूर्ण चन्द्रमाके समान आकारवाली और बर्फके समान शीतल द्वेष शम्भापर अपने नेत्र-कर्मोंको बंद करके सो गये और दो श्वर्गीये उन्हें गहरी नींद आ गयी।

तत्पश्चात् वे दोनों ललनाएँ उस युद्धस्थलके आकाशको छोड़कर उस राजमहलमें लिङ्गकिरणोंके छेदोंसे उसी प्रकार दूसर गयीं, जैसे वायुकी दो रेखाएँ इसी छोटे रम्भमार्गसे



अधिखिले कमलके भीतर प्रविष्ट हुई हों ।

श्रीरामजीने पूछा—चिदानन्द, बक्ताओंमें श्रेष्ठ प्रमो ! यह इनना बहा स्थूलशरीर तनुके समान सूक्ष्म छेदकी रहस्ये किस प्रकार उस घरमें प्रविष्ट हुआ ?

श्रीविशिष्टजीने कहा—खुनख्दन ! जिस पुरुषने पहले दीर्घकालसे यह अनुभव किया हो कि ‘मैं स्थूल शरीर नहीं हूँ, शुद्ध चिन्मय आत्मा हूँ, अतः सभी स्थानोंमें जा सकता हूँ’ वह पीछे चलकर स्थूलदेहकी अवशोष आदि कियाओंसे कैसे युक्त हो सकता है ? क्योंकि वह उसी चेनका अश है, जो सर्वत्र जानेमें समर्थ है । जिसकी आकृति स्वप्नगत पुरुष या संकल्पकल्पित पुरुषके समान है, आकाशमात्र ही जिसका आकार है अर्थात् जो वास्तवमें स्थूल आकारसे रहित है, उसे कौन कैसे रोक सकता है । जीव जहों मरता है, उसी स्थानको शीघ्र देखना है और वहाँ उसे अनेक भुवनोंसे युक्त यह वित्तन्त ग्रपक्ष हसी रूपमें स्थित-सा दिखायी देना है । आगनुक गेह आदिसे आत्मान् द्वया-सा यह चेन आकाशरूपी जीव देह आदिको ही आत्मा समझकर निर्मल चिन्मय आकाशमेंही ‘यह मैं हूँ, यह जगत् है’ इस आकाशरूप ( शून्य ) भ्रमका अनुभव करता है । इस जगतरूपी भ्रममें देवताओं, अमराभती आदि श्रेष्ठ नगरों, भेद आदि पर्वतों, सूर्य, चन्द्रमा और तारासमूहके कारण अपूर्ण सौन्दर्य प्रतीत होता है । इस धर्मरूपी वृक्षके खोलेमें जरा, मृसु, व्याकुलता तथा नाना प्रकारकी आधि-क्याधियाँ हूँस-हूँसकर भी दुई हैं । इसमें अपने अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति और अनिष्ट धर्मके निवारणके लिये स्थूल-सूक्ष्म, चर-

अचर सभी प्राणी उचोगशील हैं तथा यह अमरूपी ग्रपक्ष समुद्र, पर्वत, नदी, उनके अधिपति, दिन, रात, कल्प, क्षण और प्रलय—इन सबसे युक्त है । इस प्रकार यद्यपि यह विश्व दीक्षालक्षी तद्व स्थूल एवं स्वर दिखायी देता है, तथापि मनन—मनके संकल्पके सिवा और कुछ नहीं है । मनन करनेपर यह चल ( अस्थिर ) ही सिद्ध होता है । तुम इस समय मनमें अपने अनुभवके अनुसार इसके स्वरूपपर विचार करो । जो ही चेन आकाशरूप परमात्मा है, वही मननरूप कहा गया है और जो एই चेतन आकाशरूप परमात्मा है, वही परमपद है । चेन आकाशरूप परमात्माका अमृत ( असत्य अपनी अनादि ) मायाकाशमें या सूक्ष्म भूतोंके कार्यरूप चित्ताकाशमें जो सुरुण है, वही नाम और रूपसे नाना भावको प्राप्त होनेवाला जगत् कहा जाता है । लीला और सरस्वती दोनों निष्पाप देवियों परमात्माके तुल्य विशुद्ध एवं चिदाकाशमय शरीरसे युक्त थीं; इसलिये वे सर्वत्र जा सकती थीं । उनके लिये कहाँ भी प्रवेश करनेमें कोई वाधा नहीं थी । वे चिदाकाशमें जहाँ-बहाँ अपनेको प्रकट करनेकी इच्छा करती थीं, वहाँ-वहाँ सदा ही अपनी रुधि और अभिलाषाके अनुसार प्रकट हो जाती थीं । इसलिये राजा विद्वृथके घरमें उन दोनोंका जाना सम्भव हुआ । चिन्मय आकाश सर्वत्र विद्यमान है, उसमें जिसे आतिशाहिक कहते हैं, वह चिदाकाशमय मृक्षमशरीर सर्वत्र विचरण धर सकता है; क्योंकि वह यथार्थ ज्ञानरूप, धारणारूप एवं मननरूप है । तुम्हीं बताओ, उस मृक्षमदेहको कौन, कैसे और किस लिये रोक सकता है ?

( सर्ग ३७—४० )

राजा पदके भवनमें सरखती और लीलाका प्रवेश और राजाद्वारा उनका पूजन, मन्त्रीद्वारा राजाका जन्मवृत्तान्त-वर्णन, राजा विद्युथ और सरखती देवीकी बातचीत, वसिष्ठजीद्वारा अज्ञाना वस्थामें जगत् और स्वप्नको सत्यताका वर्णन, सरखतीद्वारा विद्युथको वरप्रदान, नगरपर क्षत्रिया

आक्रमण और नगरकी दुरवस्थाका कथन, भयभीत हुई राजमहिलीका राजाकी शरणमें  
आना, लीलाको दूसरे वरस्त्र राजा पदकी प्राप्ति

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम। उन दोनोंदेवियोंके

प्रवेश करनेपर राजा पदके भवनका भीतरी माग उज्ज्वल छटासे सुशोभित हो गया, मानो वहों दो चन्द्रमा उदय हो गये हों। उसमें मन्दार पुष्पका स्पर्श करके आयी हुई शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु चलने लगी। उन देवियोंके प्रभावसे राजाके अतिरिक्त अन्य छी-पुरुष निद्राके वशीभूत हो गये, परंतु चन्द्रद्वयके समान शीतल उन दोनोंके शरीरके प्रभापुज्जासे आहुदित होकर राजा पदकी निदा मङ्ग हो गयी, मानो उसपर अपृत छिङ्क दिया गया हो। उठते ही उसने दो दिव्य नारियोंको देखा, जो दो आसनोंपर विराजमान थी। उन्हें देखकर ऐसा लगता था मानो भेषपर्वतके दो शिखरोंपर दो चन्द्रमण्डल उदित हो गये हों। यह देखकर राजाका मन विस्मयाविष्ट हो गया, फिर क्षणभर मन-ही-मन विचार करके वह अपनी शम्पासे उठ पड़ा—दीक उसी तरह, जैसे चक्र-गदाधारी भगवान् विष्णु शेषशब्दासे उठने हैं।

तत्पश्चात् उसने सोते समय अस्त-प्यस्त हुए अपने माला, हार और अधोवस्थको यथास्थान ठीक किया। फिर सिर-हाने रखती हुई फलोंकी डलियामेंसे मालीकी तरह स्थय ही अत्यन्त खिले हुए पुष्पोंसे अपनी अङ्गकि भर ली और भूमिपर ही पशासन लगाकर वह नम्रतापूर्वक देवियोंसे कहने लगा—‘देवियो ! आप दोनों जन्म, दुःखमय जीवन और त्रिवित नापरुपी ढोपका शमन करनेके लिये चौंदनीके समान तथा बाद्य और आन्तरिक अज्ञानान्धकार-का विनाश करनेके लिये सूर्यकी प्रभाके तुल्य हैं। आपकी जय हो !’ यों कहकर राजाने उन देवियोंके चरणोंपर पुष्पाङ्गलि समर्पित की। तदनन्तर देवी



सरखतीने लीलासे राजाका जन्म-वृत्तान्त वर्णन करनेके लिये पार्श्वमें हो पड़े हुए मन्त्रीको अपने संकल्पसे जगाया। जागनेपर मन्त्रीने उन दोनों दिव्य नारियोंको देखकर उन्हें प्रणाम किया और उनके चरणोंमें पुष्पाङ्गलि समर्पित करके दिनपर्वक वह उनके आगे खड़ा हो गया। तब देवीने राजासे पूछा—‘यज्ञ ! तुम कौन हो ? किसके पुत्र हो ? और यहाँ क्वन्त पैदा हुए हो ?’ ऐसा प्रश्न सुनकर मन्त्रीने उत्तर देना आरम्भ किया—‘देवियो ! यह आपन्योगेका ही कृपा-प्रसाद है, जो मैं आपके समक्ष भी बोलनेमें समर्थ हो सका हूँ; अतः अब आप मेरे स्वामीका जन्म-वृत्तान्त सुनिये। प्राचीन काल-

में एक कुन्दरथ नामके राजा हो गये हैं, जो इस्वाकुवशमें उत्पन्न हुए थे। वे परम शोभाशाली थे। उनके नेत्र कमलके समान सुन्दर थे। उन्होंने अपनी मुजाशोकी छायासे सारे भूमण्डलको आच्छादित कर लिया था। उन्हीं नरेशके भद्रथ नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसके मुखकी क्रान्ति चन्द्रमाके समान थी। उन भद्रथके विश्वरथ, विश्वरथके बृहद्रथ, बृहद्रथके सिन्धुरथ, सिन्धुरथके शैलरथ, शैलरथके कामरथ, कामरथके महारथ, महारथके विष्णुरथ और विष्णुरथके पुत्र नमोरथ हुए। ये हमारे राजा उन्हीं महाराज नमोरथके पुत्र हैं। ये अपने पिता के महान् पुष्पपुङ्कोंके फलखलरूप क्षीर-सागरसे उत्पन्न हुए चन्द्रमाकी भौति प्रकट हुए हैं। जैसे पार्वतीजीसे गुहकी उत्पत्ति हुई थी, उसी प्रकार ये अपनी माता सुमित्राके गर्भसे दूसरे स्कन्दकी भौति पैदा हुए हैं। इनकी आकृति पूर्णचन्द्रमाके समान विर्भल है इन्होंने अपने अग्रत-तुल्य शुणोंसे जनताको भलीभौति दृग कर दिया है। ये विद्वरथ नामसे विद्यात हैं। जब इनकी अवस्था दस ही वर्षकी थी, तभी इनके पिता इन्हें राज्यमार सौंपकर बनवासी हो गये थे। ये तभीसे इस भूमण्डलका धर्मपूर्वक पालन कर रहे हैं। आज पुण्यरूपी वृक्षके फलित होनेपर आप होनो देवियोंका यहाँ शुभागमन हुआ है; क्योंकि दीर्घ तप आदि सैकड़ों द्वेष उठानेपर भी आपका दर्शन मिलना कठिन है। इस प्रकार विद्वरथ नामसे प्रसिद्ध ये महीपाल आज आपके दर्शन-ग्रदानरूप प्रसादसे परम पवित्र हो गये।'

यों कहकर जब मन्त्री चुप हो गया तथा भूपाल भूतलपर पशासन लगाकर हाथ जोडे सिर नीचा किये बैठे रहे, उसी समय सरस्वती देवीने 'राजन् ! तुम विवेकद्वारा स्वयं ही अपने पूर्वजन्मका स्मरण करो' यों कहकर उनके मस्तकपर अपना हार्ष झेठा। देवी सरस्वतीके करत्पर्शसे राजा पश (विद्वरथ) का हृदयान्धकार एवं माया—सबके सब नष्ट हो गये। उनका हृदय

आत्मन्त विकसित हो गया। उन्हें अपने पूर्वजन्मका वृत्तान्त हस प्रकार स्मरण हो आया, जैसे वह उनके अन्तःकरणमें स्फुरित होता हुआ-सा स्थित था। भिर लीलाके कर्तव्योंसे साथ-साथ शरीर और एकच्छन्न राज्यके स्थाग, मरस्तनीके वृत्तान्त, लीलाकी विशेष उन्नति और आमकथामों जानकर राजा समुद्रमें गोते लगाते हुएकी तरह निम्नमें पढ़ गया। वह मन-ही-मन बहने लगा—'खेद है, सारे संसारमें यह माया ही व्याप है। इस समय इन देवियोंकी कृपासे मुझे इसका पूर्ण ज्ञान हुआ है।'

राजाने पूछा—देवियो ! मुझे जो अपने अनेक कार्योंका, परदादाका तथा अपनी वचन एवं युवावस्थामा और मित्र तथा वन्धु-बान्धवोंका स्मरण हो रहा है, इसका क्या कारण है ?



श्रीसरस्वती देवीने कहा—राजन् ! मृत्युस्त्री महामोहमयी भूच्छिके अनन्तर उसी मुहूर्तमें गिरिण्यमनिवासी उस ब्राह्मणके घरके भीतर आकाशमें ही स्त्रिय गृहके मध्यभागमें जो मण्डप है, उसीके अन्दर तुम्हारा यह

जन्मादि दृश्य-प्रपञ्च-आभासित हो रहा है। वहाँ निर्मल आकाशकी भौति सच्च तुम्हारे चित्तमें यह विस्तृत व्यष्टिहार-भ्रम स्फुरित हुआ है। 'यह मेरा जन्म हुआ।' इक्षाकुर्वण्ड ही मेरा कुछ है। पूर्वक्रममें मेरे ये पितामह आदि इस नामवाले हुए थे। मैं पैदा हुआ। जब मैं दस वर्षका बाल्क था, तभी मेरे पिता इस राज्यपर मेरा अभियेक करके स्थान परिवाजक होकर बनको चले गये। तदनन्तर मैंने दिविजय करके अपने राज्यको निष्कर्षक बनाया। फिर इन भन्त्रियों तथा पुरवासियोंके साथ पृथ्वीका पालन करता रहा हूँ। यशकर्मोंका अनुष्ठान तथा धर्मपूर्वक ग्रन्थका पालन करते मेरी आयुके सचर वर्ष व्यतीत हो चुके। इस समय इस शत्रु-सेनाने मुझपर आक्रमण किया और उसके साथ मेरा भयंकर युद्ध हुआ। युद्ध करके मैं अपने घर लौट आया हूँ और यहाँ पूर्ववत् स्थित हूँ। ये दोनों देवियाँ मेरे घर पधारी हैं और मैं इनका पूजन कर रहा हूँ; क्योंकि पूजित होनेपर देवता मनोऽभिलिखित पदार्थ प्रदान करते हैं। जैसे सूर्यकी प्रमा मुकुलित कमलको विकसित कर देती है, उसी तरह इन दोनोंमेंसे इस एक देवीने मुझे यहाँ ऐसा ज्ञान प्रदान किया है, जो पूर्वजन्मकी स्मृतिको जगानेवाला है। अब मैं कृतकृत्य हो गया हूँ और मेरे सभी संकाय नष्ट हो गये हैं। मैं शान्तिलाम कहूँगा, परम निर्बाणको प्राप्त होऊँगा और केवल शुखरूप होकर खित होऊँगा'—इस प्रकार तुम्हारी यह भान्ति, जो बहुसंख्यक सद्बोहोंसे युक्त, नाना प्रकारके आधार-विचारोंसे सम्पन्न और लोकान्तरमें गमन करनेवाली है, विस्तारको प्राप्त हुई है। पहले जिस मुहूर्तमें तुम मृत्युको प्राप्त हुए थे, उसी समय यह प्रतिमा अपने-आप तुम्हारे हृदयमें आविर्भूत हुई थी। जैसे नदीका प्रशाह उठे हुए एक आर्वांको त्यागकर तुरंत ही दूसरा धारण कर लेता है, उसी प्रकार चित्त-प्रवाह भी एक कल्पना-सृष्टिका त्याग करके

दूसरी कल्पना-सृष्टि करता रहता है। जैसे आर्वत कभी दूसरे आर्वांसे संयुक्त होकर और कभी पृथक् ही प्रसूत होता है, उसी तरह यह सृष्टि भी कभी दूसरीसे सम्बन्धित और कभी स्वतन्त्र ही बढ़ती रहती है। उस मृत्युक्षणमें चिद्मानुस्तरूप तुम्हारी प्रतिमामें प्रतिमासित असत्-रूप यह जगज्ञाल उसी तरह उपस्थित हुआ है, जैसे स्थनके एक ही मुहूर्तके अंदर सैकड़ों क्रोंका भ्रम होता है। वास्तवमें तो न तुम कभी पैदा हुए हो और न कभी तुम्हारी मृत्यु ही हुई है। तुम तो शुद्ध विज्ञान-स्तरूप हो और अपने शान्त आत्मामें स्थित हो। यह सारा प्रपञ्च तुम्हें दृश्य-सा प्रतीत हो रहा है। वस्तुतः तुम कुछ नहीं देख रहे हो, बल्कि निर्मल महामणि तथा मासमान सूर्य आदिके समान तुम अपने आत्मामें अपने-आप नित्य सर्वात्ममात्रसे प्रदीप हो रहे हो। वस्तुतः न यह भूतल सत् है, न प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाला यह विद्युत्-देव ही सत् है और न ये पर्वत, ग्राम, तुम्हारे शत्रु-मित्र तथा हमलोग ही सत् हैं।

राजन्। जिन्हें ज्ञातव्य वस्तुओंका ज्ञान हो चुका है तथा जो एकमात्र शुद्ध बोधखरूप हैं, ऐसे पुरुषोंके मनमें यह कोई भी सांसारिक पदार्थ सत् नहीं है। मला, जिसका आत्मा शुद्ध ज्ञानसे सम्पन्न है, उसे जगत्की भान्ति'कहाँसे हो सकती है। जैसे रसीदीका ज्ञान हो जानेपर जब उसमें सर्पका भ्रम मिट जाता है, तब पुनः उसमें सर्पकी भान्ति नहीं होती, उसी तरह जगत्-अपको अनद्-मात्रका पूर्ण ज्ञान हो जानेपर फिर उसकी सत्ता कहाँसे टिक मजेंगी। मृगमरीचिकाका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर पुनः उसमें जलबुद्धि कैसे हो सकती है। उसी तरह स्वानावस्थामें घटित हुआ अपना मरण जाग्रदवस्थामें अपने स्वरूपका ज्ञान हो जानेपर कैसे सत्य हो सकता है? शरत्कालीन निर्मल आकाशकी शोभाके समान जिसका हृदय सच्च, निर्मल और अर्थन्त विस्तृत है, उस शुद्ध तत्त्ववेत्ता पुरुषकी बुद्धिमें 'अहम्' और 'जगत्-

की प्रतीति तुष्ट शम्भार्थकी होतक है । यह वास्तविक नहीं है, केवल वाचिक व्यवहारमात्र है ।

महर्षिके यो कथा कहते-कहते दिन समाप्त हो गया । भगवान् भास्कर अस्ताचलकी ओर प्रस्तित हो गये और मुनि-मण्डली महर्षिको नमस्कार करके सायंकालिक विधि सम्बन्ध करनेके लिये स्वानार्थ चली गयी । रात्रि बीतनेपर सूर्योदय होते-होते पुनः मुनिमण्डली एक साथ सभामें उपस्थित हुई ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राघव ! जिसकी बुद्धिमें ज्ञानका उदय नहीं हुआ है तथा जिसकी परमात्मतामें इक स्थिति नहीं है, अतएव जो मोहप्रस्ता है, उसके लिये यह जगत् असत् होते हुए भी सद्-सा प्रतीत होता है । जैसे मरुसालमें सूर्यका ताप ही मूर्गोंके लिये जलकी भान्तिका कारण होता है, उसी तरह ही मूर्गोंके लिये जलकी भान्तिका जगत् सत्य-सा भासित होता है । जैसे प्राणीकी स्वप्न-मृत्यु जो विल्कुल असत्य है, फिर भी सत्यसी प्रतीत होकर शोक-रुदन आदि कार्य करा देती है, उसी तरह जिनकी बुद्धि मोहार्जन है, उन पुरुषोंके लिये यह जगत् शोकमय होता है । जो कटक-कुण्डल आदिमें व्याप्त सुवर्णके ज्ञानसे अनभिज्ञ है, उसको जैसे स्वर्ण-निर्मित कड़ेमें कड़ेका ही ज्ञान होता है, उसमें उसकी धोकी भी स्वर्णबुद्धि नहीं होती, उसी प्रकार अज्ञानीकी यह नगर, गृह, पर्वत, गजराज आदिसे प्रकाशित होनेवाली दृश्य-दृष्टि ही है, दूसरी—परमार्थ-दृष्टि नहीं है ।

श्रीरामजीने पूछा—मुने ! यदि केवल मायास्वरूप सम्बन्धमें कहिये खल्पुरुह सत्य न भी हों तो क्या दोप होगा ? यह बतलाइये ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—राघव ! सम्बन्धमें देखे गये नगरनिवासी वस्तुतः सत्य नहीं हैं—इस विषयमें मैं तुम्हें ग्रत्यक्ष प्रमाण बतलाता हूँ, मुनो; अन्य प्रमाणोंके जाननेकी आवश्यकता नहीं है । सुषिके आदिमें

स्वयम्भू ब्रह्मा स्वयं ही स्वप्न-तुल्य अनुभवसे सम्बन्ध दिखायी देते हैं, अतः उनके सम्बन्धसे उत्तरन हुका यह विश्व भी स्वप्न-सदृश ही है । इस प्रकार यह विश्व भी सम्बन्ध है । उसमें जैसे मेरी दृष्टिमें तुम न्यत्य हो, उसी तरह अन्य लोग भी तुम्हारी और मेरी दृष्टिसे सत्य हैं एव अन्य मनुष्योंकी भी अपने-अपने अनुभवके अनुसार सम्बन्धके विषयमें सत्यता सिद्ध है । यदि ये नगरनिवासी सम्बन्धमें सत्य न हों तो इस सम्बन्धकार जाग्रद्वस्यामें भी वे मेरे लिये थोड़ा भी सत्य न सिद्ध होंगे । इसलिये तुम्हारी दृष्टिमें जैसे मैं सत्यात्मा हूँ, उसी तरह मेरी दृष्टिमें सब सत्य है; क्योंकि स्वप्न-तुल्य संसारमें पश्चार्योंभी परस्पर सिद्धिके लिये ऐसी नीति है । इस महान् स्वप्नखली संसारमें जैसे तुम्हारी दृष्टिमें मैं सत्य हूँ और मेरी दृष्टिमें तुम सत्य हो, उसी तरह मैंनी सत्य हूँ—यही सारे सम्बन्धोंमें न्याय है । इस प्रकार यह सब सम्बन्ध और जाग्रद्वप्र प्रपञ्च वास्तवमें सत्य नहीं हैं, परंतु सत्य-सा प्रतीत होता है और स्वप्न-सी-प्रसङ्गकी माँनि मिथ्या ही जीवको मोहित करता है । सभी वस्तुएँ देहके बाहर तथा भीतर सर्वत्र विधमान हैं । आनन्दत्ति जिसे जैसा जानती है, उसे उसी तरह स्वयं ही देखनी है । जैसे कोशमें जो धन मौजूद रहता है, उसे उसका द्रष्टा प्राप्त करता है, उसी तरह चेतनाकाशरूप परमात्मामें सब कुछ स्थित है और वही परमात्मा उसका अनुभव करता है । अल्प,

तदनन्तर देवी सरस्वतीने विश्रूथको ज्ञानामृतके सिङ्गनसे विनेकखली सुन्दर अकुरसे संयुक्त करके उनसे इस प्रकार कहा—‘राजन् ! यह पूर्वोक्त तत्त्वगत भैन लीलाकी प्रसन्नताके द्विये तुमसे वर्णन किया है । नीचाने भी जगन्मध्यात्मकी दृष्टान्तभृत तुम्हारी दृष्टियों देख ली है; अतः तुम्हारा कन्याग हो, अब हम दोनों जाना चाहती है ।’

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—युनन्दन ! गधुर जन्मरोसे

शुक्र वाणीद्वारा मरस्तीके यों कहनेपर बुद्धिमान् राजा निरूपने इस प्रकार कहा ।

विद्युरथ बोले—देवि ! मुझ साधारण मनुष्यका भी यदि किसी याचकको दर्शन हो जाय तो वह निष्फल नहीं जाता; फिर आप तो महान् फल प्रदान करनेवाली हैं, आपका दर्शन व्यर्थ कैसे हो सकता है । देवि ! जैसे स्वप्न देखता हुआ मनुष्य उस स्वप्नको छोड़कर दूसरा स्वप्न देखने लगता है, उसी तरह मैं अपनी इस देहका परित्याग करके यहाँ दूसरे लोकको जाऊँगा । माता ! मैं आपकी शरणमें आया हूँ । आप मुझ शरणगतको कल्पणापूर्ण दृष्टिसे देखिये और शीघ्र ही मेरी प्रार्थित वस्तु प्रदान कीजिये । मा ! मुझपर ऐसी कृपा कीजिये कि मैं जिस लोकमें जाऊँ, वही लोक मेरे इस मन्त्रीऔरइस कुमारी कन्याको भी प्राप्त हो ।

श्रीसरस्तीजाने कहा—पूर्वजन्मके वक्तव्यी समाध् ! तुम्हें विद्वित होना चाहिये कि हमलोगोंने कभी भी याचकोंकी कामनाका निराकरण कर दिया हो—ऐसा नहीं देखा गया । अनः आओ और लीलाकी भक्ति और भाग्यके अनुरूप पदार्थोंकी समुद्दिसे सुन्दर इस राज्यका निर्मय होकर उपरोग करो ।

राजन् । इस समय इस भीषण संप्राप्तमें तुम्हारी मृत्यु निश्चित है और तुम्हे तुम्हारा प्राचीन राज्य प्राप्त होगा । यह सब प्रत्यक्ष तुम्हारी ओँखोंके सामने ही होगा । कुमारी कन्याको, मन्त्रीको और तुमको शक्तरूप शरीर प्राप्त करके उस प्राचीन नगरमें आना होगा । अब हम दोनों जैसे आयी थीं, वैसे ही लौट जा रही हैं; परंतु कुमारी कन्याको, मन्त्रीको और तुम्हें मृत्युको प्राप्त होकर वायुरूपसे अर्थात् सूक्ष्मदेहसे उस प्रदेशमें आना चाहिये ।

देवी सरखती और राजा दोनों मधुरभाषी थे । उनमें परस्पर वार्तालाप हो ही रहा था, तबतक

राजमहलके ऊर्ध्वभागमें बैठकर नगरकी देसमाल करने-वाला मनुष्य भयमीत हो राजाके पास आकर कहने लगा—‘देव ! ज्वार-माटासे संयुक्त महासागरकी भाँति बाण, चक्र, खड्ड, गदा और परिषकी वर्षा करनेवाली एक विशाल शत्रु-सेना आ पहुँची है । वह अत्यन्त उत्साहसे सम्पन्न है और प्रलयकालकी वायुसे उदाये गये चुल्प-पर्वतोंकी शिलाओंके समान भयकर गदा, शक्ति और मुश्चिंडियोंकी वर्षा कर रही है । साथ ही इस पर्वताकार नगरमें आग लग गयी है, जिसने घारों दिशाओंको व्याप कर लिया है । वह चट-चट शब्दके साथ इस उत्तम नगरीको जलाती हुई नष्ट-ब्रह्म कर रही है ।’

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रुद्रकुलभूषण राम । वह पुरुष समीन होकर राजासे यों कह ही रहा था, तबतक बाहर कठोर शब्दोंसे युक्त महान् कोलाहल होने लगा जो अपने भीयण शब्दसे सारी दिशाओंमें व्याप हो रहा था । वह कोलाहल वल्लभक कानतक खींचकर बाणोंकी वर्षा करनेवाले धनुषोंकी ठंकारसे तथा जिनकी छी और बन्धे जल गये थे, उन पुत्रादियोंके महान् हाहाकारसे, जलती हुई लपटोंके परिस्पन्दनसे उत्पन्न चट-चट एवं दूटकर गिरते हुए अङ्गारोंके शब्दसे व्याप हथा । तब सरखती और लीला—दोनों देवियोंने एवं मन्त्री और राजा विद्युरथने उस घोर रात्रिके समय राजमहलके झोरोखेसे शौकनकर उस विशाल नगरकी ओर दृष्टिपात किया, जो तुमुल नादसे गूँज रहा था । उस समय वह नगर प्रलयाग्निसे विसूच्छ हुए महासागरके सदृश बेगवाले तथा भयंकर अल्लूणी तरज्जूंसे व्याप शत्रु-सैन्यसे खचाखच भरा था और प्रलयकालीन अग्निकी ज्वालासे पिंवलते हुए मेलपर्शतके सदृश कान्तिमान् एवं गगनचुम्बी महान् ज्वाला-समूहोंसे भर्म हो रहा था । उस नगरको छटते समय लुटेरे दूसरोंको डराने-धमकाने-के लिये महान् मेघकी गर्जनाके समान ढाँट बता रहे

थे । उनके उस भीषण कोलाहलसे वह नगर भयानक लग रहा था । तदनन्तर राजा विमुखने अपने योद्धाओं-



का तथा उन छोरोंका, जिनका देखते-देखते ही श्री-पुत्र आदि सर्वस लाला हो गया था, इसलिये वे इधर-उधर दौड़ लगा रहे थे, कल्प-कल्पन मुना । अहो ! यह तो सदाचारसे हीन महान् अनुचित कार्य हो रहा है, जो शखवारी शत्रुसैनिक राजरानियोंको भी पकड़ रहे हैं ।

इसी वीचमें जैसे लक्ष्मी कमल्कोशमें प्रविष्ट होती है, उसी तरह राजपहिलीने, जो धौंधनके मदसे उभरत हो रही थी, राजा आदिद्वारा अधिष्ठित उस गृहमें प्रवेश किया । उस समय वह हारके छिन्न-मिन्न हो जानेसे व्याकुल एवं भयसे घबरायी छुई थी । उसके पुष्पहार और वल जोर-जोरसे हिल रहे थे तथा सखियाँ और दासियाँ उसके पीछे-पीछे चल रही थीं, वहों पहुँचकर जैसे कोई असरा संप्राप्तमें संलग्न हुए देवराज इन्हसे निवेदन करे, उसी तरह उसकी एक सखी राजा

विद्वर्यसे निवेदन करने लगी—“देव ! महारानी द्वं-लोगोंके साथ अन्तःपुरसे भागकर आपकी जरणमें आयी हैं—ठीक उसी तरह, जैसे ज्ञानाचातसे पीडित उनांकुरात आश्रय प्रहृण करती हैं । राजन् ! जैसे महाराजाकी लहरियाँ तटबर्ती बृक्षोंपर लिपटी हुई लताओंको उपने साथ समेट ले जाती हैं, उसी तरह अब-जन्मोंमें सुसज्जित उन बलवान् शत्रुओंने आपकी अन्याय यानियोंका अपहरण कर लिया है । अचानक आ धमके हुए उन उद्धण शत्रुओंने अँथीद्वारा नष्ट-भ्रष्ट किये गये बड़े-बड़े बृक्षोंकी भाँति अन्तःपुरके सभी संक्षेपोंको चकनाचूर कर दिया है । इस प्रकार हमलोगोंको जो यह विविध प्रकारकी विगतिने आ धेण है, उमका सर्वपा निवारण करनेके लिये आपकी ही सामर्थ्य है ।” यह सुनकर राजाने दोनों देवियोंकी ओर देखनार कहा—



“देवियो ! मैं युद्धके लिये जाता हूँ, अन जाप मुझे क्षमा करें ! अब मेरी यह भार्या अपन्नोंमेंके चरणजलों-की धूमरी बनेगी अर्थात् आपके चरणोंकी सेवा दलेगी ।”

यों कहकर राजा विदूरथ, जिसके नेत्र क्षोधवश लाल हो गये थे, उसी प्रकार राजमन्त्रसे बाहर निकला, जैसे मदभूत गजराजद्वारा बनके छिन्न-भिन्न कर दिये जानेपर सिंह अपनी उद्धासे बाहर निकला हो। तदनन्तर प्रमुख लीलाने अपनी ही रूप-रेखाके तुल्य आकृतिवाली सुन्दरी लीलाको दर्पणमें प्रतिबिम्बित हुई-सी देखा और कहा ।

प्रमुख लीलाने पूछा—देवि । किस कारणसे मैं यह हो गयी ? पहले मैं जो थी, वही मैं इस रूपमें कैसे स्थित हूँ ? इसका क्या इहस्य है ? यह मुझे बतलानेकी कृपा कीजिये । ये सभी मन्त्री आदि पुरावासी तथा सेना और सशारियोंसहित शरवीर पूर्वतः ही हैं । ये जैसे यहाँ स्थित हैं, कैसे ही वहाँ भी हैं । देवि ! जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्बित वस्तु बाहर और भीतर दोनों ओर दीखती है, उसी तरह ये सभी यहाँ और वहाँ स्थित हैं—इसका क्या कारण है ? क्या वे सचेतन हैं ?

श्रीदेवीजीने कहा—ठीके ! भीतर जैसा ज्ञान उद्भूत होता है, वैसा ही बाहर क्षणमात्रमें अनुभव होने लगता है । जैसे मन चित्तार्थता—स्वप्न आदिमें चित्तद्वारा अनुभूत जाग्रत्की खरूपसाको प्राप्त हो जाता है, उसी तरह चेतन दृश्यकारताको प्राप्त हो जाता है । हृदयके अंदर उद्भूत पदार्थ बाह्य-से प्रतीत होते हैं । इस विषयमें स्वप्नादृष्ट पदार्थ ही प्रमाण है; क्योंकि हृदयके भीतर जो स्वप्नमें संकल्प-नागरका स्फुरण होता है, वह चेतनका विकास है । इस राजाके जिन मन्त्री आदिका जो अविरोध तथा सर्वार्थरूपसे अनुभव हो रहा है, इसका कारण यह है कि वे स्वप्नमें संकलिप्त सैन्यवी भौति चेतन सत्तात्मक होनेसे सद्गूप ही हैं । अथवा यदि यों कहें कि उत्तरकाल अर्थात् जाग्रदवस्थामें स्वप्नके विनाशी होनेके कारण वह असत् है तो ऐसा तो यह सारा जाग्रत्-जगत् ही है; क्योंकि स्वप्नमें जाग्रत् असत् है और जाग्रत्-कालमें स्वप्न असत् है । फिर जाग्रत्में कौन-सी विशेष सत्यता सिद्ध हुई ? अनुधे !

इस प्रकार यह स्वप्न और जाग्रत्-जगत् न सत् है और न असत् ही । ये केवल भान्तिरूपसे ही प्रतीत होते हैं; क्योंकि महाकल्पके अन्तमें, आज और अगले शुगमें अर्थात् भूत, भविष्य और वर्तमान आदि तीनों कालमें भी जो कभी उस खरूपसे नहीं था, वही प्रक्ष द्वारा है, अतः वही जगत् है । उस ब्रह्मस्वरूप जगत्में ये सुष्ठि नामवाली भान्तियाँ विकसित होती हैं । पर वास्तवमें विकसित-सी नहीं दीखती; क्योंकि जैसे महासागरमें लहरें उठती हैं, उसी प्रकार ये सुष्ठियाँ परम्परामें उत्पन्न हो-होकर पुनः और्ध्वीमें घुले-मिले हुए धूलिकणोंकी भौति उसी परम्परामें विलीन हो जाती हैं । इसलिये जिसमें ‘त्वम्’ और ‘अहम्’ आदिका विभाग मिल्या ही है तथा जो मृगतृष्णाके जलसमूहकी भौति भान्तिमय आभासित हो रहा है, उस जले हुए बलके भस्मके समान प्रपञ्चमें कौन-सी आस्था है ? इस सारे प्रपञ्चके शान्त होनेपर जो अवशिष्ट रहता है, वही प्रक्ष है । उस ब्रह्मसे पृथक् होनेपर यह इहस्य जगत् कभी भी सत्य नहीं है और ब्रह्मस्वरूप होनेके कारण असत्य भी नहीं है । तत्पर्यात् उसी तरहका अनुभव होनेके कारण यह स्वप्नरूपसे जीवभावको प्राप्त होता है । यह जगत् सत्य हो या असत्य, पर यह चिद्रकाशमें विभासित हो रहा है ।

( श्रीसरस्तीजीने पुनः कहा )—जैसे राजस्वप्न चिद्रकाशमें सन्मयी प्रतिभा उद्दित होती है, उसी तरह उससे पूर्व होनेवाली सत्यसकल्परूपा प्रतिभा अव्याकृत आकाशरूप ईश्वरमें उत्पन्न होती है । इसी तरह प्रतिभा-के प्रतिबिम्बसे उत्पन्न हुई यह लीला तुम्हारे-सरीखे शील, आचार, कुल और शरीरसे युक्त दीख रही है । सर्व-व्यापक ज्ञानवृत्तिरूपी दर्पणमें जैसी प्रतिभा प्रतिबिम्बित होती है, वह जहाँ जिस रूपमें उत्पन्न होती है, वहाँ निरन्तर उसी रूपमें प्रकट होती है । अन्तर्यामी ईश्वरकी जो प्रतिभा भीतर वर्तमान है, वही स्वयं बाहर भी कर्म

करती है, इसलिये विन्मय दर्पणमें प्रतिबिन्धित होनेके कारण यह तुम्हारे ही समान स्थित है। लीले ! इस विश्वमें तुम ऐसा समझो कि यह आकाश, उसके भीतर मुख्य, उसके अन्तर्गत पृथ्वी, उसपर यह तुम, मैं और राजा—यों जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह सब-आ-सब ब्रह्मरूपसे मैं ही हूँ, इस कारण तुम स्वरूपमें स्थित होकर पूर्णरूपसे शान्त हो जाओ। तुम्हारा पति यह विद्वाय रणाङ्गनमें शरीरका त्याग करके उसी अन्तःपुरमें पहुँचकर राजा पथके रूपमें उत्पन्न होगा।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! देवीकी बात सुनकर उस नगरमें छुनेवाली लीला हाथ ऊढ़कर देवीके आगे खड़ी हो गयी और मक्षिविनम्र होकर बोली।

द्वितीय लीलाने कहा—देवेशि ! मैंने नियम ही भावती सरखली देवीकी अचान्पूजा की है और वे देवी रात्रिके समय स्वन्नमें मुझे दर्शन दिया करती हैं। अद्यिके। उन देवीका जैसा आकार-प्रकार है, वैसी ही आप मी हैं। सुमुखि ! आप दीनोंपर कल्पणा करनेवाली हैं, अतः मुझे वर प्रदान कीजिये।



श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! लीलाके ऐसा कहनेपर भगवती सरखली उस समय उसके भक्तिरूपक लिये गये ध्यान-पूजनका सरण करके प्रसन्न हो गयी और उस नगरनिवासिनी लीलासे यों बोली।

श्रीदेवीजीने कहा—कसे ! जीवनपर्यन्त की गयी तुम्हारी अनन्यभक्तिसे, जो कभी भी द्विषिल नहीं हुई, मैं परम संतुष्ट हूँ; अतः तुम मुझसे अपना मनो-अभिलिखित वरदान प्राप्त हो।

तब वह नगरनिवासिनी लीला बोली—देवि ! मेरे पतिदेव रणभूमिमें शरीरका परित्याग करके जहाँ स्थित होंगे, मैं भी इसी शरीरसे वहाँ उनकी पत्नी होऊँ ।

श्रीदेवीजीने कहा—पुत्रि! तुमने विरकालतक अनन्य-भक्तिभावसे पुष्प-धूप आदि प्रचुर पूजन-सामग्रीहाथ मेरी निर्विज पूजा की है, इसलिये 'एवमस्तु'—तुम्हारी कामना पूर्ण हो ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघव ! तदनन्तर जब उस व्रतप्राप्तिसे तद्देशवासिनी लीला हर्षोत्सुल्ल हो रही थी, उसी समय पूर्व लीलाने, जिसका हृदय सरेहके दौलेमें हूँल रहा था, देवीसे कहा ।

पूर्व लीला बोली—ऐश्वर्यशालिनी देवि ! जो आपके सदृश सत्य कामना एवं सत्य संकल्पवालि हैं, अतएव जो भ्रातुररूप हो गये हैं, उनका सारा मनोरथ जब शीघ्र ही सिद्ध हो जाता है, तब यह अत्तलाइये कि आपने मुझे किसलिये इसी शरीरसे गिरिग्रामक नामवाले उस लोकान्तरमें नहीं पहुँचाया ।

श्रीदेवीजीने कहा—सुन्दरि ! मैं किसीका कुछ नहीं करती, ब्रह्मिक जीव सत्य ही अपनी समस्त अभिलाशाओंका शीघ्र ही सम्पादन कर लेता है; क्योंकि प्रत्येक जीवमें जीवशक्तिरूप चेतनशक्ति अर्तमान है। इसलिये जिस-जिस जीवकी जो शक्ति जिस-जिस रूपमें प्रकट होती है, वह उसी-उसी रूपमें उस-उस जीवको सदा तदनुरूप फल प्रदान करती हुई-सी प्रतीत होती है। जिस सम्प

तुम मेरी सम्पत्ति प्रकारसे आराधना कर रही थी, उस समय चिरकालतक तुम्हारे मनमें जो जीवनकिं उत्पन्न हुई थी, उसकी कामना थी कि यदि इसी जन्ममें मैं मुक्त हो जाती तो अच्छा होता । अतः उत्तम रूप-रंगवाली लीले ! उसी-उसी प्रकारसे मैंने तुम्हें भलीभौति समझाया है और उसी शुकिद्वारा तुम इस निर्मल भास्को प्राप्त हुई हो । जब चिरकालतक मैंने तुम्हें इसी भावनासे ज्ञानोपदेश किया है, तभी तुम अपनी चेतनशक्तिके प्रभावसे सदाके लिये उसी अर्थको प्राप्त हुई हो; क्योंकि जिस जिसका चिरकालतक जैसा अपनी चेतनशक्तिका प्रयत्न होता है, वह समयानुसार उस-उसको यैसा ही फल प्रदान करता

है । अपनी चेतनशक्ति ही तपस्या अथवा देशताका रूप धारण करके स्वच्छन्दस्वप्नसे आकरातसे फल गिरनेकी भौति फल देती है । अपनी ज्ञानशक्ति प्रयत्नके बिना कभी कुछ भी फल नहीं देनी; इस कारण तुम्हारी जैसी अमिलापा हो, जीव ही तत्त्वरूप कार्य आरम्भ कर दो । तुम ऐसी धारणा कर नो कि चिन्तता ही सबमें अन्तरामास्त्रसे ज्याम है । वरीं पिछित अथवा निपिद्ध जिस कर्मका विनार वर्तनी है और उसके श्रिये प्रयत्न करने लग जाती है, उसीकी फलशी प्राप्त होनी है । इसकिये जो पावन पद है, उसे जानकर तुम उर्मिये बिन हो जाओ ।

( सर्ग ४१-४५ )

राजा विद्युथका विशाल सेनाके साथ युद्धके लिये प्रयाण, युद्धारम्भ, लीलाके पूछनेपर मरम्बतीढारा राजा सिन्धुके विजयी होनेमें हेतु-कथन, विद्युथ और राजा मिन्धुके दिव्यास्त्रोद्घारा किये गये

युद्धका सविस्तर वर्णन, राजा विद्युथकी पराजय और देशपर राजा मिन्धुके अभिकारका कथन

श्रीरामजीने पूछा—मुने ! जब वे तीनों देवियों उस राज-महलके भीतर यो परस्पर शातलिप कर रही थीं, उस समय विद्युथने क्रोधावेशमें महलसे निकलकर क्या किया ?

श्रीषिष्ठजीने कहा—रास राम ! जिस समय राजा विद्युथ अपने भवनसे बाहर निकला, उस समय वह नक्षत्रसमूहसे बिरे हुए चन्द्रमाकी भौति विशाल सैन्यदलसे परिवेषित था । उसका सारा शरीर कवच आदिसे सुरक्षित था । हार आटि आभूयण उसके शरीरको शोभा बढ़ा रहे थे । वह जय-जयकारकी तुमुल ध्वनिके साथ देवराज इन्द्रके समान बाहर निकला । उस समय वह योद्धाओंको आदेश दे रहा था । मन्त्री व्याघ्र-रचना एवं जनपद-व्यवस्था-सम्बन्धी व्यवस्था उसे सुना रहे थे । वह वीरगणोंका निरीक्षण करता हुआ एक ऐसे रथपर आखड़ हुआ, जिसमें आठ धोड़े जुते थे । उत्तम जातियाले उन अस्त्रोंकी गर्दन वडी सुहावनी थी । वे शुभलक्षणोंसे युक्त, फुर्तीले और एकहरे वदनके थे तथा अपनी हिनहिनाहटसे

शारीर दिशाओंमें निनाटिन कर रहे थे । उस समय जिन्हें सरखती देखीने दिल्लिप्पि प्रदान नी थी, वे दोनों लीना नामगाड़ी देवियों और गड़ राजकुण्डली उस महायुद्धको देख रही थीं । उसे देखकर उनका हृष्य दिरीग-सा हो रहा था । राजा विद्युथकी युद्ध-व्यापारोंके पश्चात् शम्भु-सीनिकोंके वाणी एवं आमुओंसे निकलना हुआ करकर शम्भु पूर्णरूपसे शान्त हो गया—ठीक उसी तरह, जैसे एकर्णवों जलप्रयाणीसे बदलानल शान्त हो जाता है । उस समय राजा विद्युथ अपनी सेनाको भीरे-भीरे आगे बढ़ा रहे थे । उन्हें अपने तथा शत्रुपक्षके वशवक्ता शान नहीं हो पाया था—इसी दशामें उन्होंने शत्रु-सेनामें प्रवेश किया ।

जिस समय समरभूमिमें दोनों सेनाओंनी भीण मुठभेद हो रही थी, उसी समय दोनों लीलाओंने भगवती सरखतीसे पुनः प्रसन्न किया ।

दोनों लीलाओंने पूछा—येथे ! यह बतलाइये कि आपके संतुष्ट होनेपर भी मेरे पतिदेव इस युद्धमें, जिसमेंसे

गजराज भागे जा रहे हैं, अक्सात् विजय क्यों नहीं प्राप्त कर रहे हैं ?

श्रीसरस्वतीजीने कहा—मुत्रि ! राजा विदूरथके शत्रु इस राजा सिन्धुने निजय-ग्रासिकी कामनासे विरकाल्तक मेरी आराधना की थी, परंतु भृपाल विदूरथकी आराधना विजयार्थ नहीं थी; इसलिये यह राजा सिन्धु ही विजयी होगा और विदूरथ पराजित हो जायगा । क्योंकि समस्त ग्राणियोंके हृदयान्तर्गत ज्ञानवृत्तिरूपसे मैं ही स्थित हूँ, अतः जो मुझको जिस समय जिस रूपसे प्रेरित करता है, मैं शीघ्र ही उसके लिये उस समय जैसे ही फल्का सम्पादन करती हूँ । बाले ! इस राजा विदूरथने मैं भूक्त हो जाऊँ इसी मात्रनासे मुझ प्रतिभास्त्रपिणीका ध्यान किया था, इस कारण यह भूक्त हो जायगा । और इसके शत्रु राजा सिन्धुने मैं ख्याल समामने विजयी होऊँ इस कामनासे मेरी पूजा की थी; इसलिये बाले ! विदूरथ मार्यारूपिणी तुम्हारे और इस लीलाके साथ समयानुसार उस शब्दस्वरूप देहको प्राप्त होकर भूक्त हो जायगा तथा इसका शत्रु राजा सिन्धु स्वयं उसे मारकर विजयश्रीसे सुशोभित हो भूतलपर राज्य करेगा ।

श्रीविष्णुजी कहते हैं—राक्षव ! देशी सरस्वती थों कह ही ही ही थी, तवतक मगधान् सूर्य उदयाचलपर आ पहुँचे, मानो वे जूझती हुई दोनो सेनाओंका आश्वर्यमय शुद्ध देखना चाहते थे । उस समय जैसे शुलोकमें आकाशके चिह्नभूत सूर्य और चन्द्रमा दिखायी देते हैं, उसी तरह जनसंहार हो जानेके कारण उस शून्य समामयमें राजा पश्च ( विदूरथ ) और राजा सिन्धुके प्रकाशमान रथ चलते हुए ढीख रहे थे । उन दोनो रथोंमें चक्र, शरू, मुण्डप्पी, कृष्णि और प्रास आदि आशुव खचाखच भरे थे । उन रथोंके पीछे बहुसंख्यक शरदीय योद्धा, जिनके सैनिक भयभीत हो गये थे, रणभूमिमें भालो, बाणो, धनुषो, शक्तियों, प्रासो, शड्बो और चमकने हुए चक्रोंकी भयंकर कृष्णि करते हुए चल रहे थे । इनमें ही प्रलयकालीन

शायुषारा गिराये गये शिखाखण्डोंकी तरह दोनो सेनाओंपर बाण गिरने लगे । उस समय राजा विदूरथ और राजा सिन्धुकी परस्पर ऐसी भयकर मुठभेड हुई जिसे देखकर लोगोंको ऐसी आशङ्का होने लगी मानो प्रलयके लिये विशेषरूपसे बड़े हुए दो महासागर परस्पर टकरा स्वे हों ।

राजा विदूरथ अपने विपक्षी यज्ञा सिन्धुको, जिसके कबे ठंडे थे, सामने उपस्थित पाकर मध्याह्नकालिक सूर्यके दुसराह आतपकी मौति प्रवचण्ड कीपसे भर गया । फिर तो उसने अपने धनुरको, जिसकी टकरावनि चिकालके लिये सारी दिशाओंको निनादित कर देती थी, कानतक खींचा । उस समय ऐसा भयकर शब्द हुआ, जैसे कल्पान्त-कालमें उठी हुई बायु मेलगिरिके तटप्रान्तसे टकरा रही हो । राजा विदूरथका हस्तलघव सराहनीय था; क्योंकि लोग देखते थे कि उसकी प्रत्यक्षासे एक ही बाण छूटता है, परंतु वह आकाशमें पहुँचते-पहुँचते हजार हो जाता है और विपक्षियोंपर एक लाख होकर गिरता है । राजा सिन्धुकी मी शक्ति और फुर्ती विदूरथके ही समान थी । उन दोनोंको ऐसी धरुर्युद्ध-कुशलता वरदायक भगवान् विष्णुके वग्रसादसे उपलब्ध हुई थी । तदनन्तर उन दोनोंके छोड़े हुए मुसल नामक बाणोंसे, जिनकी आकृति भूसुलकी-सी थी, आकाश आच्छादित हो गया । उन बाणोंसे प्रलयकालीन चक्रोंकी गङ्गाजाहटके समान भीषण शब्द हो रहा था । युद्धस्थलमें राजा विदूरथके बाणसमूह वेगशूर्वक घरघर शब्द करते हुए राजा सिन्धुके सम्मुख उसी प्रकार बढ़ रहे थे, मानो आकाश-मार्यादिसे गिरते हुए गङ्गाके प्रवाह कल्पकलनाद करते हुए महासागरकी ओर जा रहे हो । परंतु राजा सिन्धुरूपी बद्वानलने अपने आगस्त्य-तुष्ण्य बाणोंकी ऊप्पासे विदूरथके उस बाण-महासागरको पी लिया—ठीक उसी तरह, जैसे महर्षि जहु गङ्गानीको पी गये थे । तथश्वात् राजा सिन्धुने बाणोंकी उस शृष्टिको छिन-मिल करके खय बाणोंकी इतनी झड़ी लगायी कि आकाशमें साथकोवा ही मेवसण्डल

धिर आया । तब विदूरथने भी जैसे प्रलयकालीन वायु उमड़े हुए साधारण मेवको उदा देती है, उसी तरह अपने उत्तम सायकोंसे शीघ्र ही उस बाणरूपी मेवमण्डलको विघ्स कर डाला । इस प्रकार वे दोनों भूपाल परस्पर बदला लेनेकी मावनासे एक-दूसरेको लक्ष्य बनाकर बाणोंकी वर्षा करते थे और एक-दूसरेके प्रश्नारको वर्ष कर देते थे ।

तदनन्तर राजा सिन्धुने मोहनाखका संधान किया । यह अब उसे किसी गन्धर्वके साथ मित्रता होनेके कारण प्राप्त हुआ था । उस मोहनाखके प्रयोगसे विदूरथके अतिरिक्त शेष सभी सैनिक मूर्छित हो गये । उनके क्षक्षात्त और बस अस्त-अस्त हो गये, मुख और नेत्रोंमें उदासी छा गयी । उनकी बोलती बंद हो गयी और वे मृतक-तुल्य अधवा चित्रलिहित-से प्रतीत होने लगे । तब राजा विदूरथने प्रबोधाख हाथमें लिया । फिर तो प्रातःकाल सूर्योदय होनेपर जैसे कमलिनी विकसित हो जाती है, उसी तरह उस अज्ञके प्रयोगसे सभी योधाओंकी मूर्छा जाती रही और वे ठठ बैठे । तत्पश्चात् राजा सिन्धुने भयंकर नागाक्षको, जो नागपाश-अन्धनद्वारा महान् कष्ट-दायक था, धनुषपर चढ़ाया । उसके संधानसे आकाश पर्वत-सरीखे विशालकाय नागोंसे व्याप्त हो गया । मृणालें-द्वारा सुशोभित हुई पोखरीकी तरह पृथ्वी श्वेत वर्णके सर्पोंसे विमूर्चित हो गयी । सारे पर्वत काले नागरूपी कम्बलोंसे सम्पन्न हो गये । ये सभी पदार्थ विषकी उष्मासे भलिन हो गये और वन तथा पर्वतोंकी विशालतासे युक्त पृथ्वी व्यकुल हो गयी । तब महान् अज्ञोंके मर्मज विदूरथने भी गाढ़ाखका प्रयोग किया । उस अज्ञसे पर्वत-सदृश विशालकाय हतने गरुड़ प्रकट हुए, जिनसे सारी दिशाएँ भर गयीं । उनके सुनहरे पर्खोंकी चमकसे सभी दिशाएँ सर्णमय प्रतीत होने लगीं । उहसे हुए उन गरुडोंके पंखसे पक्षधारी पर्वतोंकी उड़ानसे उत्पन्न हुए प्रलयकालीन वायुकी भोति भयंकर और्वी प्रकट हो गयी । वे अपने

शासवेगसे फुफकारते हुए नाग-समझोंको अपनी ओर खींच लेते थे । उनकी शुरुवाती तीव्र आवाज समुदरपर्कत व्याप्त हो गयी । तत्पश्चात् राजा सिन्धुने तमोऽक्ष-प्रकट किया, जो अंधा बना देनेवाले अन्धकारका उत्पादक था । उससे भूर्गमीका-स्ता घना अन्धकार फैल गया । उस समय सारी प्रजाएँ अन्धकूपमें गिरे हुएकी भोति प्रतीत होने लगीं और कल्पान्तकी तरह सभी दिशाओंके व्यवहार एकदम बंद हो गये । तब मन्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ विदूरथने किसी गुप्त मन्त्रणाकी अपेक्षा विद्ये बिना ही ब्रह्मण-मण्डपमें दीपककी तरह प्रकाश फैलानेवाले सूर्योदयकी सुष्टि करके सबको सचेष्ट कर दिया । उस समय सूर्यरूपी अगस्त्यने अपनी किरणोंसे उस प्रकट हुए अन्धकारके महासागरको पी लिया—ठीक उसी तरह, जैसे निर्मल शरद-ऋतु काले बादलोंको पी जाती है । यह देखकर राजा सिन्धु कोधसे भर गया । फिर तो उपने उसी क्षण अत्यन्त भीषण राक्षसाख प्रकट किया, जिससे मन्त्रोच्चरण करते ही बाण निकलने लगते थे । उस राक्षसाखका प्रयोग करते ही पातालनिवासी दिग्गजोंके फूलकारसे विस्फून्द हुए महासागरकी भौंति बहुत-से भयंकर एवं क्रूर स्वभववाले वनराक्षस सभी दिशाओंसे प्रकट हो गये । इसी दीर्घमें लीलाके स्थानी राजा विदूरथने उस युद्धस्थलमें नारायणाखका प्रयोग किया, जो दुष्ट प्राणियोंके निवारण करनेमें सिद्धहस्त है । उस अज्ञराजके प्रकट होते ही राक्षसोंके अज्ञसमूह पूर्णरूपसे शान्त हो गये, जैसे सूर्योदय होनेपर अन्धकार क्लीन हो जाता है । तदनन्तर राजा सिन्धुने वायव्याखकी सुष्टि की, जिसने आकाशमण्डलको प्रचण्ड वायुसे भर दिया । तब महान् अज्ञवेत्ता विदूरथने पार्वतात् चलाया, जो मानो मेव-जलसहित आकाशको भी आमसात् कर लेनेके लिये उद्यत था । तदुपरान्त राजा सिन्धुने उद्दीप वज्राख प्रकट किया, जिससे शुद्ध-क्षुद्ध वज्र निकलकर रणभूमिमें विचरने लगे । वे ईंधनको भस्मसात् कर लेनेवाली आगकी भौंति विशाल पर्वतरूपी अन्धकारको पी जाते थे

तथा अपने करोड़ों चौंचोंसे पर्वतोंके शिखरोंको काट-काट-कर उसी प्रकार मूलधर गिरा देते थे, जैसे प्रचण्ड वायु फल्बेको गिराकर पृथ्वीपर बिछा देती है । तब विद्युरथने कशाखको शान्त करनेके लिये ब्रह्माखका प्रयोग किया । फिर तो ब्रह्माख और वज्राख दोनों एक साथ ही शान्त हो गये ।

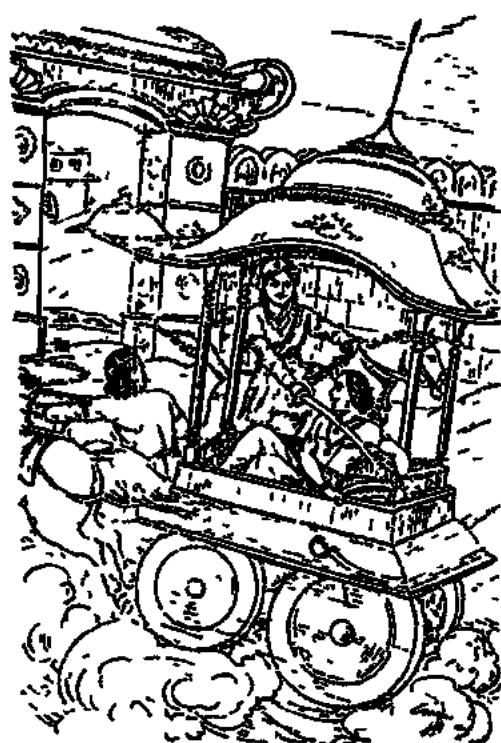
इस प्रकार जब वह भयकर सम्राम चल ही गया था, उसी समय प्रतिमाशालियोंमें सर्वश्रेष्ठ, महान् उदार एवं उत्कृष्ट वैष्णवाखी राजा सिन्धुने विपक्षियोंकी सारी सेनाका विनाश और अपनी सेनाकी पीड़ा-शान्तिके लिये एकमात्र वैष्णवाखका समरण किया, जो दिव्याखोंका राजा, परम ऐश्वर्यशाली एवं काळजूहके समान संहारकारी था । उस वैष्णवाखसे अभिमन्त्रित करके राजा सिन्धुने जो बाण चलाया, उसके फलके अग्रभागसे उल्मुक आदि निकलने लगे । उससे निकली हुई प्रकाशमान चक्रोंकी पक्ष्यियोंने दिशाओंको सैकड़ों सूर्योंसे युक्त-सा बना दिया । पक्ष्यियमें सम्मुख दौड़ती हुई गदाएँ आकाशमें सैकड़ों बौंसोंकी भौंनि ग्रनीत होती थीं । सौ धारवाले वज्रसमूहोंने आकाशको तृणराजिसे आच्छादित-सा कर दिया । पश्चात्तर पक्ष्यियोंकी कतारे आकाशमें कटे हुए कृष्ण-सी दीख रही थीं । तीक्ष्ण-धारवाले बाणोंकी पक्ष्यियाँ ऐसी जान पड़ती थीं, जैसे आकाशमें पुष्टनाल बिछा हो । काली आङ्गतिवाले छाँटोंकी कतारे नमोमण्डलको पत्र-समूहोंसे व्याप्त-सा कर रही थीं । तब विभक्षी राजा विद्युरथने भी उस वैष्णवाखकी शान्तिके लिये वैष्णवाखका ही प्रयोग किया, जो शत्रुके पराक्रमके अनुरूप ही था । उससे भी बाण, शक्ति, गदा, प्राप्त, पक्ष्यिय आदि आयुवर्धी जलसे परिषोर बहुत-सी शक्तियोंकी सरिताएँ प्रकट हुई, जिन्होंने मूर्धन्युक्त वैष्णवाखसे उद्भूत हथियारोंको नष्ट कर दिया । उन शक्तिवर्धी नदियोंका आकाशमें ही ऐसा भीषण युद्ध प्रारम्भ हुआ, जो बुजोंक और पृथ्वीके अवक्तुञ्जका विनाश करनेवाला तथा बड़े-बड़े कुलपर्वतोंको बिदीर्ण कर देनेवाला था । जैसे मेरे आयुधोंने विश्वामित्रके अस्त्रोंका विवरण किया था, उसी तरह परस्पर

ज़हरे हुए उन दोनों वैष्णवाखोंकी धारणाहिक बाण-बृहिने शक्ति-समूहोंको काट डाला और उन अष्टोंसे प्रकट हुए क्रोंने अकाश क्षर्तोंको भी जर्जर कर दिया । इस प्रकार दोनों राजाओंके वे अस्त्र पराक्रमशाली हो सुभद्रोंकी भौति क्षणभरतक परस्पर अत्यन्त भयंकर युद्ध करके शान्त हो गये ।

तत्पश्चात् राजा सिन्धु अपने रथको छोड़कर पृथ्वीपर उत्तर पश्चा और ढाल-तलवारसे लैस हो गया । फिर तो उसने पलक मारते-मारते बड़ी फुर्तीसे अपने शत्रु राजा विद्युरथके रथके धोड़ोंके खुरोंको शृणलक्षी भौति तलवारसे काट गिराया । अब तो राजा विद्युरथ भी रथहीन हो गये, अतः उन्होंने भी ढाल-तलवार उठा ली । उस समय उन दोनोंके आयुध एक-से थे और दोनोंका उत्साह भी समान था; अतः वे परस्पर बार करनेके लिये पैतेरे घदलने लगे । परस्पर प्रहार करते हुए उन दोनोंके लड़ आरेके समान हो गये थे । इसी बीच राजा विद्युरथने खड़ छोड़कर एक शक्ति हाथमें ली और उसे शत्रुपर चला दिया । अब शक्ति भये जाते हुए समुद्रके जलकी तरह वर्धरशन्दसे युक्त अन्यथ भवान् उत्पातकी सूचना देनेवाले वज्रके सदृग थीं । वह अविचित्रत्वपसे आयी और राजा सिन्धुके वक्षःस्थलपर गिरी; परंतु उस शक्तिके आधातसे राजा सिन्धुकी मृत्यु नहीं हुई ।

तब उस देशकी लीलाने पूर्वलीलासे कहा—गेवि । वहे कछकी बात है, क्योंकि जैसे देवराज इन्द्र शत्रुका विनाश करनेके लिये वज्रका सहारा लेते हैं, उसी तरह यह राजा सिन्धु प्रहार करनेके लिये मुसलाखकी ओर देख रहा है; परंतु मेरे पतिदेव मुसलवारी राजा सिन्धुको वज्रमा देकर वही फुर्तीसे समुद्रान दूसरे रथपर अड़ गये और वेगपूर्वक दूर हट गये हैं । फिर भी हाय ! विज्ञार है, महान् कष्ट आ पड़ा । इस राजा सिन्धुने अत्यन्त वेगसे बाण वरसाकर मेरे खामीके रथको तहस-नहस करके उन्हें भी व्यथित कर दिया और अब यह अपने वज्र-सीरीये

बाणोद्धार उनके स्थूल मस्तकको विदीर्ण करके उन्हें भूतल्यर गिराना ही चाहता है। देखो न, बड़ी कठिनाईसे होशमें आनेपर जब मेरे पतिदेव सारणिद्वारा लाये गये दूसरे रथपर चढ़ रहे थे, उसी समय इसने उनके कच्चेको काट दिया, जिससे वे रक्तके फौवारे छोड़ रहे हैं। हाय। हाय। अब तो और भी कष्टकी बात हुई, इस राजा सिन्धुने अपने खड़की तीखी धारसे मेरे पतिदेवकी दोनों पिंडलियोको उसी प्रकार फाड़ ढाला, जैसे आरेसे बृक्ष चीरा जाता है। हाय। अब तो मैं बुरी तरह मारी गयी; क्योंकि मेरे पतिके दोनों शुटने भी भृणालकी तरह काट ढाले गये। यों कहकर और पतिकी उस अनस्थापर दृष्टिपात करके पति-प्रेम और भयसे आत्मर हुई वह लीला फरसेसे कटी हुई लताकी भौंति शूर्णित होकर पूर्णीपर गिर पड़ी। विदूरथ यथापि जानुरहित हो गये थे, तथापि वे शत्रुपर प्रहार कर ही रहे थे। उसी अवस्थामें वे जद्दसे कठे हुए बृक्षकी तरह रथसे नीचे गिरना ही चाहते थे, तबतक सारणि उन्हे रथद्वारा संग्रामभूमिसे दूर हटा ले गया।



जब ये मारे जा रहे थे, उस समय क्रूर-हृदय राजा सिन्धुने इनके गलेपर अब प्रहार किया, जिससे इनका आघागला कट गया। पिर भी राजा सिन्धु इनका पीछा कर ही रहा था। तबतक राजा विदूरथ जैसे सूर्यकी निर्णे कमलकोशमें घुस जाती है, उसी तरह रथद्वारा मागकर अपने महलमें जा पहुँचे; किंतु राजा सिन्धु उस राज-भवनमें प्रविष्ट न हो सका, क्योंकि वह महल सरखती देवीके प्रभावसे सुरक्षित था। वहों पहुँचकर सारणि राजा विदूरथको, जिसके बल, कवच और शरीर खड़से काटे गये गलेके छिद्रसे बुद्धुद धनिके साथ निकलती हुई रक्खाराओंसे सन गये थे, महलके भीतर ले जाकर भगवती सरखतीके समक्ष मरणशम्यापर लिटा दिया। इधर विषक्षी राजा सिन्धु महलमें प्रवेश न कर सकनेके कारण लौट गया।

रघुनन्दन ! राजा विदूरथके मृत-गूल्य हो जानेश जब 'रणभूमिमें प्रतिहृती राजाके हाथसे राजा विदूरथ मार ढाले गये, राजा मारे गये' ऐसी खबर फैल गयी, तब सारा राष्ट्र भयभीत हो गया। उस समय विदूरथके राष्ट्रकी ऐसी दशा हो गयी थी कि वह शत्रु-राष्ट्रकी साधारण एवं सैनिक जनताके विजयोल्लासके शब्दसे मुखरित हो रहा था। उसमे खामियोसे रहिन हो जानेके कारण हाथी, घोड़े और थीर सैनिक टक्करकर साधारण जनताको धराशायी कर रहे थे। कोषगृहके किंवाड़ोंके तोड़े जानेके कारण उठा हुआ घर्वर शब्द चारों ओर गूँज रहा था। शत्रुपक्षका मन्त्रपण्डल राजा सिन्धुके पुत्रका अभिपेक-कार्य सम्पन्न करनेके लिये आदेश देनेमें तत्पर था। राजा सिन्धुकी राजियों नगरकी शोमा देखनेके लिये ज्ञातें एवं अन्य बनाये गये छिद्रोंपर बैठ रही थीं। अभिपिल्ल हुए राजा सिन्धुके पुत्रका जय-जयकारके सैकड़ों उच्च घोयोके साथ-साथ प्रबल प्रभाव फैला हुआ था। खपक्षीय असंख्य नरेशोने राजा सिन्धुद्वारा बनायी गयी राष्ट्रपर्यावारों नतमस्तक होकर खीकार कर लिया था।

तदनन्तर 'भूमण्डलके एकचक्र समाट' राजा सिन्धुकी जय हो। यो घोषणा करते हुए लोग प्रत्येक नगरमें भैरियों बगाने लगे। पुत्रके राज्याभिनेकके पश्चात् राजा सिन्धुने, जो विजयी होनेके कारण उच्चत-मस्तक था, युगल्के समय जगत्की सृष्टि करनेके लिये प्रकट हुए दूसरे भनुकी भौति प्रजाकी नयी व्यवस्थाके द्वेषु राजधानीमें प्रवेश किया। तत्पश्चात् राजा सिन्धुके नगरमें दसों दिशाओंसे हाथी-बोहंके रूपमें

मेंट आने लगी। मन्त्रियोंने तत्काल ही प्रत्येक दिशाओंके सामन्त राजाओंके पास राजकीय नियम, चिह्न और आदेश भेज दिये। फिर तो जैसे मन्यन-कालमें आचर्तोंके कारण क्षुब्ध हुआ क्षीरसागर भद्रदाचलके निकाल लिये जानेपर तुरंत ही प्रकृतिस्थ हो गया था, उसी तरह अराजकताके कारण विक्षुब्ध हुआ सारा राष्ट्र दसों दिशाओंसहित शीघ्र ही शान्त हो गया। ( सर्ग ४६-५१ )

राजा विद्युरथकी मृत्यु, संसारकी असत्यता और द्वितीय लीलाकी वासनारूपताका वर्णन, लीलाके गमनमार्ग और खामी पश्चकी ग्रामिका कथन, पदार्थोंकी नियति, मरणक्रम, भोग और कर्म, गुण एवं आचारके अनुसार आशुके मानका वर्णन, आदि-सृष्टिसे लेकर जीवकी विचित्र गतियों

### तथा ईश्वरकी स्थितिका निरूपण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम। इसी बीचमें मूर्च्छित होकर सामने पड़े हुए अपने स्वामीको, जिनका आसमान ही अवशेष रह गया था, देखकर लीलाने सरस्वतीसे कहा—‘अम्बिके ! ये मेरे पतिदेव अब यहाँ अपनी देह-का उत्सर्ग करनेके लिये उपयत है !’

श्रीसरस्वतीजीने कहा—लीले ! इस प्रकार महान् उत्थोग-से परिषूर्ण, राष्ट्र-विष्टकरी और परम विचित्र व्यवसायोंसे युक्त इस संग्रामके आरम्भ होने, चलने और समाप्त होनेपर वह राष्ट्र अथवा भूतल न तो कहीं कुछ भी उत्पन्न हुआ है और न नष्ट ही हुआ है; क्योंकि वह जगत् तो स्वप्नाल्पक है। अनवे ! पूर्णोऽग्निरिग्राम-निवासी त्राक्षणके घरके भीतर स्थित राजा पश्चके शवके निकटवर्ती आकाशमें वर्तमान अन्तःपुरके भीतर तुम्हारे पतिका वह भूतलरूप राष्ट्रप्रतीत हो रहा है। पुनः विन्ध्यादि-के ग्राममें वसिष्ठनामक त्राक्षणके घरके अंदर वह गृहसहित ग्रस्ताण्ड स्थित है। उसी त्राक्षणके घरमें शब्दयुक्त गेह-जगत् वर्तमान है। उस शब्दयुक्त गेह-जगत्के मध्यमें इस गेह-जगत्-का अस्तित्व है। यो वह त्रिजगत्, जो महान् व्यवसायोंसे युक्त है, अमरूप ही है तथा गिरिग्रामरूपी देहके

मध्यभागमें स्थित आकाशकोशमें वह सागरसहित पृथ्वी दृष्टिगोचर हो रही है और तुमसे, मुझसे, इस लीलासे एवं इस विद्युरथसे सयुक्त वह चेतन परमात्मा ही विकसित हो रहा है। इसलिये तुम उत्पत्ति-विनाशकरहित उस परमपदरूप परमात्माको जानो। वह स्वयम्भ्रकाश, परम शान्त और निर्विकार है तथा मण्डपगृहके भीतर अपने विन्ध्यादि स्वभावके कारण उठित हुए अपने आत्म-में बगत-रूपसे आमासित हो रहा है। यदि अम्बिका दृष्टि ही न रहे तो अमर्में अमता कैसे होगी। अतः अमकी सत्ता है ही नहीं। जो कुछ है, वह अविनाशी परमपदरूप परमात्मा ही है। उस परमात्माको तुम ऐसे समझो कि वह उत्पत्ति-विनाशकरहित, स्वयम्भ्रकाश, शान्त, आदित्यरूप और निर्विकार होते हुए भी जगत-रूपसे प्रतीत हो रहा है। स्वप्नाल्पसामें देहके अंदर देखे गये महापुरकी भौति मेह आदि पर्वत-समुदायद्वारा उपलक्षित वह सारा दृश्यकर्म शून्यात्मखरूप ज्ञानमान ही है, इसमें स्थूलरूपता कुछ भी नहीं है। शुभे ! यह राजा पश्च बिस लोकमें शब्दरूपसे वर्तमान है, तुम्हारी वह सप्ली लीला वहाँ पहले ही पहुँच गयी है। वह लीला तुम्हारे

समझ ज्यों ही मूर्छित हुई ज्यों ही तुम्हारे पनि राजा पश्चके शब्दके निकट जा पहुँची है ।

लीलाने पूछ—देवि ! यह पहले ही वहाँ पहुँचकर देवधारिणी कैसे हो गयी ? इसके भेरे सपली-भाक्रो प्राप्त होनेमें क्या कारण है ? तथा राजा पश्चके उस उत्तम राजमहलके जो निशासी हैं, वे इसे किस रूपमें देखते हैं और इसे क्या कहते हैं ?—यह सब मुझे संक्षेपसे बतलाइये ।

श्रीदेवीजीने कहा—लीले ! तुमने मुझसे जैसा प्रश्न किया है, तदनुसार मैं सारी बटना तुमसे संक्षेपमें वर्णन करती हूँ; सुनो । यह दूसरी लीलाके रूपमें वर्तमान तुम्हारा ही दृष्टान्त है, जो तुम्हारी शक्तिओंका निर्णायक है । इससे मरण-परलोकगमन आदि भी, जिनका ग्रात्यक्षीकरण होना कठिन है, तुम्हारे दृष्टिगोचर हो जायेंगे । यह जो नगरादिरूपसे दृष्टिगोचर होनेवाला जगन्मय भ्रम है, उस अत्यन्त विस्तृत भ्रमको तुम्हारा पति यह राजा पश्च उसी शब्दयुक्त गृहमें देखता है । यहाँतक कि यह सामने घटित हुआ युद्ध भ्रमयुद्ध है । यह लीला भी आन्तिसरूप ही है । यह जन-समुदाय जन्मादिरहित आमा है । यहाँकी मृत्यु भी आन्तिसे ही दीख पड़ती है । इस प्रकार यह संसार भ्रमात्मक है । इसी भ्रमकमसे लीला इस राजा पश्चकी प्रेयसी भार्या हुई है । बरारीहै ! तुम और यह दोनों द्वन्द्वियों भी खण्डमात्र ही हो । जिस प्रकार इस राजाकी तुम दोनों द्वन्द्वी प्रियतमाएँ खण्डमात्र हो, उसी तरह तुम दोनोंका पति यह राजा और स्वयं मैं भी खण्डमात्र ही हूँ । इसी तरह जगत्की यह सारी शोभा भी भ्रमपूर्ण ही है और यहाँका दृष्टवर्ग भ्रममात्र कहा जाता है । इसी तरह यह लीला, तुम, यह संसारस्थिति, यह राजा पश्च और मैं—ये सबके सब परमात्माके सर्वव्यापक होनेके कारण उसी परमात्मामें सत्यरूपसे स्थित हैं । अतः महाचिद्धृष्णवकी स्थितिके

सर्वात्मक होनेके कारण ये राजा आदि और हमलोग य परस्पर एक-दूसरेके हारा प्रेरित होनेके कारण इस रूप परिणत हो गये हैं । जब इस लीलाके लिये पक्ष मनोवासना जाप्रत हुई, उसी समय यह तुम्हारे-सी आकर्त-प्रकार धारण करके चैतन्यरूप चमकारमें ग्रह हो गयी तथा तुम्हारे पतिदेवने अपनी मृत्युके अनन्त शीघ्र ही इसे अपने सामने उपस्थित देखा; क्योंकि जि समय चित्त वासनाम्यासुवश वाधिमौतिक पदार्थोंका स अनुभव करता है, उस समय उस अनुभवके कारण यह दृष्टवर्ग सत्य-सा प्रतीत होता है; बल्कि यह मिथ्या कल्पनामात्र ही; परंतु जब चित्त इस भौति जगत्के पदार्थोंका सत्यरूपसे अनुभव नहीं करता अथ असत् समक्षता है, उस समय तदनुरूप छड़ वासनाव उसके मिथ्यात्मका निर्णय हो जाता है ।

ये दोनों जी-पुरुष जब खमरणानुकूल भूष्यावस्थाको हुए, उसी समय इन्होंने पूर्ववासनाके जाप्रत हो जानेके का अपने हृदयमें ऐसा अनुभव किया कि ‘ये हमारे पिता हैं ये हमारी माताएँ हैं । यह हमारा देश है । यह उसमें सम्पत्ति है । यह हमारा कर्म है । पूर्वजन्ममें हमने ऐसी ही कर्म किया था । इस प्रकार हम दोनोंका विवाह हुए और इस रूपमें हम दोनों एकत्राको प्राप्त हुए ।’ इन वह कल्पित जनसमूह भी उसी अवस्थामें सत्यताको प्रतीत होता है, उसी तरह यहाँ भी यह दृष्टान्त है लीले । इस लीलाने ‘ये विधवा न होकें’ ऐसी भावना भावित होकर मेरी आराधना की थी तथा मैंने भी उम्नोऽनुकूल वर प्रदान किया था । इसी कारण निष्ठय यह बालिका यहाँ पहले ही शृणुको प्राप्त हुई है । हमलोग व्यष्टिचेतन हो और मैं तुमलोगोंकी समष्टिचेतन सरूपा कुलदेवी हूँ, अतः सदा पूजनीय हूँ । मैं अपनी आप ही सब तुछ करती हूँ । जब इस लीलाके जीव इसके शरीरसे उत्कर्षण करना चाहा, उसी क्षण उस

प्राणवायुके रूपमें सूक्ष्मशरीर धारण कर लिया और मन-हारा चलायमान हो सुखलिङ्गसे निकलकर इस देहका परिस्थित कर दिया । तदनन्तर भरणानुकूल मूर्छाके उपरान्त जीवात्मारूपसे स्थित इस लीलाने इसी वरके आकाशमें बुद्धिमें संकलिप्त पदार्थोंको देखा । फिर यह भावनावश पूर्वदेहकी सृष्टि हो जानेसे स्वप्नकी तरह ब्रह्माण्डमण्डलके भीतर जाकर अपने पतिसे संयुक्त हो गयी ।

श्रीकृष्णजी कहते हैं—राघव ! तदनन्तर यह लीला, जिसे सरस्वतीद्वारा वर उपलब्ध हो चुका था, इसी वासनामय शरीरसे अपने पति राजा पश्चिमिलनेके लिये आकाशमार्गसे उपरके छोकरोंमें जानेको उपर्युक्त हूँ । उस समय पलिमिलनके मुख्यका विचार करके यह प्रबल प्रेममात-



से संयुक्त हो आनन्दपूर्वक उड़ चली । वहाँ पहुँचकर इसे इसकी व्यारी कुमारी कन्या, जिसे सरस्वती देखीने ही वहाँ भेजा था, प्राप्त हुई, मामो वह लीलाके संकल्परूपी महान् दर्पणसे निकलकर आगे सही हो गयी हो ।

कुमारीने कहा—सरस्वती देवीकी सहेली । तुम्हारा

स्वागत है । मैं तुम्हारी कन्या हूँ । सुन्दरि ! तुम्हारी ही प्रतीक्षा करती हुई मैं यहाँ आकाशमार्गमें खड़ी हूँ ।

तब लीलाने कहा—कमलनयनी देवि ! तुम मुझे स्वामीके समीप ले चलो ।

श्रीकृष्णजी कहते हैं—सुन्दरन ! तब वह कुमारी ‘मातः । आओ, हम दोनों वहीं चल रही हैं—यों कहकर लीलाके आगे होकर आकाशमें मार्गप्रदर्शन करने लगी । तपश्चात् वह लीला उसके पीछे-पीछे प्रसिद्ध हुई । आगे बढ़नेपर वह भेषभार्गको लौंघकर वायुमार्गमें प्रविष्ट हुई । फिर वहसि चलकर सूर्यमार्गसे निकलती हुई नक्षत्रमार्गमें गयी । उसे भी पार करके ब्रह्माण्ड-कपालमें जा पहुँची । वहाँ जानेपर, अपना चित्तमात्र ही जिसका शरीर है, वह लीला अपने हृदयमें यों अनुमध्य करने लगी कि निष्ठ्य ही यह सारा दृश्य अपनी कल्पनाके स्वभावसे उत्पन्न हुआ भ्रम ही है । तदनन्तर ब्रह्माण्डके उस पर पहुँचकर वह नलादि आवरणोंको लौंघती हुई आगे बढ़नेपर महान् चेतनाकाशके मध्यमें प्रविष्ट हुई । वह चेतनाकाश इतना विस्तृत है कि यदि अस्यन्त वेगशाली गद्द भी उसके चारों ओर चक्र छगायें तो सैकड़ों करोड़ कल्पोंमें भी उसके ओर-छोरका पता नहीं ढूँगा सकते । जैसे महान् वनमें फलोंकी गणना नहीं हो सकती, उसी तरह उस चेतनाकाशमें लाखों क्या, असंख्य ब्रह्माण्ड हैं, जो परस्पर एक-दूसरेसे अलगित हैं । उन्हींमेंसे एक ब्रह्माण्डको, जो सामने उपस्थित एवं विस्तृत आवरणसे आवेदित था, भेषकर वह लीला उसके भीतर प्रविष्ट हुई—ठीक उसी तरह, जैसे कीड़ा बेरके फलमें छेद करके उसके भीतर छुस जाता है । तदनन्तर भूमण्डलमें राजा पश्चके राज्यान्तर्गत उसके नाममें पहुँचकर उस मण्डपमें ग्रवेश करके वह राजाके शवके निकट स्थित हुई । हृतनेमें ही वह कुमारी सुन्दरी लीलाकी बाँधोंसे ओङ्कार हो गयी । जैसे पूर्ण झां छां हो जानेपर माया विनष्ट हो जाती है, उसी तरह वह भी कहीं चली

यी । तदुपरान्त छीला शब्दरूपी अपने पतिके मुखको उत्खकर अपनी प्रतिभाके प्रभावसे इस सत्यको अपश्च गयी कि ऐ मेरे पतिदेव संग्राममें राजा सिन्धुके धर्थों मारे गये और अब इन वीर-छोकोंको प्राप्त होकर दुखपूर्वक सो रहे हैं । मैं भी इस प्रकार श्रीदेवीकी कृपासे अपशरीर यहाँ आ पहुँची हूँ, अतः मेरे समान धन्य दूसरी



गोई छी नहीं है ।' यो भलीमौति विचारकर छीला अपने हाथमें एक सुन्दर चॅवर लेकर हुलाने लगी ।

श्रीदेवीजीने कहा—छीले । वह राजा, वह वासनामयी मेला और उसके बे सभी भूत्य परस्पर पति-पत्नी एवं आमी-सेवकके भावके अनुकूल ही एक-दूसरेको देखते हैं— इसे 'यह मेरी खामाविक मार्या है । यह मेरी खामाविक छी है । यह मेरी खामाविक रानी है और यह मेरा खामाविक नौकर है ।' परंतु इस आश्वर्यमय वृत्तान्तको रूपसे केवल तुम, मैं और यह छीला—ये तीन ही आन सकेंगे । अन्य किसीके लिये भी इसका जानना सम्भव है । इसलिये जो शास्त्र्य वस्तुका ज्ञान प्राप्त कर

नुके हैं अथवा जिन्होंने परम धर्मका आश्रय ग्रहण कर लिया है, वे ही आतिथाहिक अर्थात् ब्राह्मणोंको प्राप्त होते हैं । दूसरोंके लिये वह दुर्भेष है । महाप्रलयके अवसरपर जब सभी पदार्थोंका विनाश हो जाता है, उस समय केवल अनन्त चेतनाकाशस्तरूप शान्त सद्ब्रह्म ही शेष रहता है और जीवात्मा चेतनरूप होनेके कारण भी तेजःस्तरूप सद्ब्रह्मका धंश हूँ, यो अनुभव करता है, जैसे तुम स्वप्नावस्थामें आकाशगमन आदिका अनुभव करती हो । तदनन्तर तेजोऽशरूप वह जीवात्मा स्वयं ही अपनेमें स्थूलत्व लाभ करता है । फिर वह स्थूलत्व ही यह ब्रह्माण्ड कहा जाता है, जो असत्य होते हुए भी सत्य-सा प्रतीत होता है । उस ब्रह्माण्डके अन्तर्गत स्थित वह ब्रह्म यों समझता है कि 'यह ब्रह्म मैं ही हूँ ।' तब फिर वह अपने-आप मनोराज्यकी सृष्टि करता है । वही मनोराज्य यह जगत् है । उस प्रथम सृष्टिमें जो संकल्प-वृत्तियों जहाँ जिस रूपमें विकसित हुई, वे वहाँ उसी रूपमें आज भी निश्चल भावसे स्थित हैं । प्रलयकालमें भी विश्वरूप परमात्माको सम्पूर्ण वस्तुओंसे शून्य कहना युक्त नहीं । भला, सुवर्ण कटक-कुण्डल आदि सानोंको छोड़कर कैसे रह सकता है । अर्थात् जैसे सुवर्ण कटकादिमें ओतप्रोत है, उसीतरह परमात्मा समस्त पदार्थमें व्याप्त है ।

यथापि पृथ्वी आदि दृश्य-प्रपञ्च आकाशरूप है, तथापि सृष्टिके प्रारम्भमें जो जहाँ जिस रूपमें विकसित हुआ, वह जागतक भी वहाँ उसी रूपमें वर्तमान है । अपनी स्थितिसे विचलित होनेमें समर्थ न हो सका । वस्तुतः तो सृष्टिके आदिमें यह जगत् उत्पन्न ही नहीं हुआ था । यह जो कुछ अनुभव हो रहा है वह तो चिदाकाशरूप जीवात्माके संकल्पका विकास है । इसे स्वप्नकालमें घटित हुए श्रीग्रसहस्रकी भौति कल्पित ही समझना चाहिये । सृष्टिके आदिमें चिदाकाशस्तरूप जीवात्मा आकाशका संकल्प करनेके कारण आकाशरूपताको और कालका संकल्प करनेके कारण कालरूपताको प्राप्त होता है ।

जैसे समझे पुरुष अपनेमें ही अलताका दर्शन करता है, उसी तरह जीवात्मा जलका संकल्प करनेके कारण जलवद् स्थित होता है। स्वप्नकी भौति जीवात्मा उस-उस रूपको प्राप्त होता है और जैसा होता है, वैसा ही वह ज्यों-क्षात्यों स्थित रहता है; क्योंकि चेतनके चमक्कार अर्पण भावकी चतुरतासे यह प्रपञ्च असत् होते हुए भी सद-सा दीख पड़ता है। जैसे स्वप्न, कल्पना और आनन्दमें जायी हुई वस्तुएँ असत् होती हैं, उसी तरह आकाशस्त्र, जलस्त्र, पूर्णिमा, अङ्गिल और वायुस्त्र—ये सभी असत् हैं—ऐसा चेतन स्थित अपने अंदर अनुभव करता है। अब मुख्यके पश्चात् कर्मफलके अनुभव करनेका जो क्रम है, वसे समूर्ण संशयोंकी शान्तिके लिये मुनो ये वह मरनेपर कल्पणाकारी होता है। जगत्में अपने कर्मोंकी देश, काल, क्रिया और इत्यजनित शुद्धि और अशुद्धि ही मनुष्योंकी आयुके अधिक और न्यून होनेमें कारण होती है। अपने कर्मरूप धर्मका हास होनेपर मनुष्योंकी आयु क्षीण हो जाती है और उस धर्मके बदनेपर आयुकी शुद्धि होती है। बाल्यावस्थामें मुख्य प्रदान करनेवाले कर्मोंको करनेसे बालक, युवावस्थामें मुख्यदायक कर्मोंसे नौजवान और बुद्धापेमें मुख्यप्रद कर्मोंके करनेसे दृढ़ मुख्यको प्राप्त होता है। जो अपने धर्मका शासानुकूल आरम्भ करके पीछे उसका अनुष्ठान करता रहता है, वह श्रीमान् पुरुष शास्त्रवर्णित आयुका भागी होता है। यो अपने कर्मोंके अनुसार ही जीवको अन्तिम दशा प्राप्त होती है और उस मरणासन अवस्थाको प्राप्त हुआ जीव मर्मद्वातिनी वेदनाओंका प्रत्यक्ष अनुभव करता है।

प्रबुद्ध लीलाने पूछा—चन्द्रवननी देवि! मरण मुख-रूप है अथवा दुःखरूप? और मरनेके बाद किर क्या होता है? इस प्रकार मरणका शुत्तान्त मुक्तसे संक्षेपमें कहिये।

श्रीदेवीजीने कहा—लीले! शरीरान्तके समय मुमुक्षु पुरुष तीन प्रकारके होते हैं—मूर्ख, भारतीयासी और

युक्तिमान्। इनमें भारतीयासी दृढ़तापूर्वक भारणाका अन्यास करके शरीरको छोड़कर मुखपूर्वक प्रयाण करता है। उसी प्रकार युक्तिमान् भी मुखपूर्वक ही गमन करता है; परंतु जिसने न तो भारणाका अन्यास किया है और न युक्ति ही प्राप्त की है, वह मूर्ख पुरुष अपने मृत्युसमयमें विवश होकर दुःखको प्राप्त होता है। वह विषयी पुरुष वासनाके आवेशसे विवशताका अनुभव करता हुआ जहासे कटे हुए कमलकी तरह अस्त्वं दीनताको प्राप्त हो जाता है। जिसकी बुद्धि शास्त्राभ्यासद्वारा संस्कृत नहीं है एवं जो द्वाषोंकी संगतिका सेवन करता है, वह मरनेपर अनिमें गिरे हुए जीवकी भौति अन्तर्दृढ़का अनुभव करता है। जब उस अज्ञानी पुरुषके कण्ठसे मुरझाराहटकी आवाज निकलने लगती है, औंखोंकी पुतलियों उछट जाती हैं, शरीरका रंग विकृत हो जाता है, उस समय उसकी बड़ी दयनीय दशा हो जाती है। उसकी औंखोंके सामने बना अन्धकार छा जाता है, जिससे उसेकुछ लूप नहीं पड़ता। बोलनेमें असमर्थ होनेके कारण वह स्थित जबवद् हो जाता है। जैसे सूर्यके अस्ताचलका आश्रय लेनेपर क्रमशः प्रकाशकी मन्दताके कारण दिशाएँ झुँझली हो जाती हैं, उसी तरह उसकी सारी इष्टियोंकी शक्तियाँ क्षीण हो जानेके कारण वे अपने-अपने विषयोंको ग्रहण करनेमें असमर्थ हो जाती हैं। विशेषरूपसे मोहके वशीभूत हो जानेसे उसके मनकी कल्पनाशक्ति नष्ट हो जाती है, जिससे वह अविवेकवश मोहके अग्राघ सागरमें दूधता-उत्तराता रहता है। ज्यों ही उसे योद्धी सी मूर्ढा हुई, त्यों ही ग्राणवायुकी गति बंद हो जाती है और जब सभी प्राणोंकी क्रिया रुक जाती है, तब उसे बोर मूर्ढा आ चेरती है। इस प्रकार परस्पर एक-दूसरेके सहयोगसे पुष्टाको प्राप्त हुए मोह, सबेदन और भ्रमसे जीव पाषाणवद् जहासको प्राप्त हो जाता है। सुष्टिके प्रारम्भसे ही यह नियम चला आ रहा है।

प्रबुद्ध लीलाने पूछा—देवि! यथापि वह शरीर आठ

अज्ञों ( सिर, दो हाथ, दो चरण, गुद्धस्थान, नामि और हृदय ) से सम्पन्न है तो भी इसे व्यथा, विमोह, मूर्छा, ख्रम, व्याखि और अचेतनता—ये सब कष्ट प्राप्त होते हैं । इसका क्या कारण है ?

श्रीदेवीजीने कहा—मर्दे ! स्फन्दनशक्ति-सम्पर्कहृद्धरने सृष्टिके आदिमें ही सुख-दुःखादि-आरम्भमोगरूप कर्मका इस रूपमें विधान कर दिया है कि मदंकमूल जीवको उसकी आयुके इस-इस समयमें उसके कर्मानुसार इतने कालतक मोगने योग्य इस प्रकारका सुख-दुःख प्राप्त होगा । जिस समय नाडियोंमें प्रविष्ट हुई वायु बाहर नहीं निकलती और निकली हुई उसमें प्रवेश नहीं करती, उस समय उनका स्फन्दन रुक जाता है । तब नाडीशून्य हो जानेके कारण प्राणीकी मृत्यु हो जाती है । जब वायु न प्रवेश करती है और न बाहर ही निकलती, तब शरीरसे नाडियोंके वियुक्त हो जानेके कारण लोग यों कहने लगते हैं कि 'यह मर गया ।'

ज्ञानवृत्तिका वेदनरूप स्वभाव बाधारहित है, इसलिये जन्म-मरण उस स्वाभाविक ज्ञानवृत्तिसे पृथक् नहीं हैं । (अर्थात् जबतक मनुष्यमें अविद्या रहेगी, तबतक उसे जन्म-मरणसे छुटकारा नहीं मिल सकता; क्योंकि ये उसके लिये स्वाभाविक ही हैं । केवल मुक्ति होनेपर ही उनसे छुटकारा मिलता है ।) जैसे लंबी लताके बीच-बीचमें गौठे होती हैं, उसी तरह चेतन सत्ताके भी मध्य-मध्यमें जन्म-मरण होते हैं । वस्तुतः तो चेतन पुरुष न कभी जन्मता है और न कभी मरता है । पुरुष स्वनकालके सम्ममकी मौति केवल भ्रमसे ही इन जन्म-मरणादिको देखता है; क्योंकि चेतनामात्र ही तो पुरुष है; फिर वह कह और कहाँ नष्ट हो सकता है । यदि पुरुष ( जीवात्मा ) को चेतनसे अतिरिक्त मानें तो बताओ, दूसरा कौन पुरुष हो सकता है ? अतः चेतनामात्र ही पुरुष है— यही बात ठीक है । भला, बताओ तो सही—क्या आजतक इस संसारमें किसीने किसीके चेतनको किसी प्रकार मरा हुआ देखा है ?

अरे ! यह तो सरासर असम्भव है; क्योंकि लाखों शरीर मरते देखे जाते हैं और चेतन अविनाशी ही बना रहता है । यों वास्तवमें न तो कोई मरता है और न कोई जन्म ही लेता है । केवल जीव वासमाल्पी आवर्तके गढ़ोंमें गोते लगता रहता है । जगद्युपर्यसे भीत होकर जीवजब अम्यासद्वारा भ्रमवश प्रभीत होते हुए अग्रात-प्रपञ्चको 'यह वास्तवमें हुआ ही नहीं है'—यों सम्पूर्णरूपसे समझ लेता है, तब वह पूर्णतया वासनाओंसे रहित होकर विमुक्त हो जाता है । इस प्रकार विमुक्त आत्मस्वरूप ही यहाँ सत्य वस्तु है । इसके अतिरिक्त सब असद है ।

प्रश्न लीलाने पूछा—देवेशि । प्राणी जिस प्रकार मरता है और फिर वह जैसे पैदा होता है, उस प्रसङ्गको ज्ञानकी दृष्टिके लिये आप पुमः मुक्तसे विस्तार-पूर्वक वर्णन कीजिये ।

श्रीदेवीजीने कहा—छाले । नाडियोंकी गति इक जानेपर जब प्राणी प्राणवायुओंकी विपरीत स्थितिको प्राप्त होता है, तब उसकी चेतना शान्त-सी हो जाती है । इसीको मरण कहते हैं । वास्तवमें चेतन सर्वथा शुद्ध और नित्य है । उसकी न तो उत्पत्ति होती है और न उसका विनाश ही होता है । वह स्थावर, जंगम, आकाश, पर्वत, अग्नि और वायु—सभीमें स्थित है । केवल प्राणवायुकी गति अवश्य हो जानेसे जब शरीरकी चेष्टा पूर्णरूपसे शान्त हो जाती है, तब वह शरीर, जिसका दूसरा नाम 'जड़' है, 'मृत' कहा जाता है । जब यह शरीर शवरूपमें परिवर्तित हो जाता है और प्राणवायु अपने कारणरूप महावायुमें विलीन हो जाती है, तब वासनारहित चेतन अपने आत्मतर्खमें स्थित हो जाता है । फिर पुनर्जन्मको बीजभूत वासनासे युक्त एवं सुक्ष्म शरीरवाला वह व्यष्टिचेतन 'जीव' नामसे पुकारा जाता है । शरीरके मरनेके बाद लौकिक व्यवहार करनेवाले लोग उस जीवको 'प्रेत' शब्दसे पुकारते हैं और चेतन गन्ध मिली हुई वायुके समान

वासनाओंसे संतुक हो जाता है। जब वह जीव इस शरीरादि उद्यमका परिस्थिति करके देहान्तरका दर्शन करने-के लिये उत्पुक्ष होता है, उस समय उसकी स्थन एवं मनोराज्यकी मौति नाना आकृतियों हो जाती है। फिर उसी प्रदेशके अंदर वह पूर्वजन्मकी तरह सरणशक्तिसे झुक्छ हो जाता है और तभी मरणकालकी मृच्छके पश्चात् वह अन्य शरीरको देखने लगता है।

ठीले ! मरनेके बाद जीवको जो प्रेत कहा जाता है, वे प्रेत छः प्रकारके होते हैं। उनके इस भेदको सुनो— साधारण पापी, मध्यम पापी, स्थूल पापी, सामान्य धर्मवाले, मध्यम धर्मवाले और उत्तम धर्मवाला। इनमेंसे किसीके दो भेद और किसीके तीन भेद भी होते हैं। कोई पाषाणतुल्य हृदयवाला एवं अत्यन्त सूक्ष्म महापातकी अपने अन्तःकरणमें एक वर्णताका स्फूति-मृच्छका अनुभव करता है। तत्प्रथात् समयानुसार चेतनाको प्राप्त होकर वासनारूपी जीके उदरसे उत्पन्न हुए अक्षय नारकीय दुःखोंका चिरकालतक अनुभव करके एक महान् दुःखसे दूसरे दुःखको प्राप्त होता हुआ सैकड़ों योनियोंका भोग करता है। तब कभी स्थूल-सम्भ्रमरूपी संसारमें शान्तिको प्राप्त होता है अर्थात् उसके कर्मफल-मोगोंकी निवृत्ति होती है। अथवा मरण-मृच्छके अन्तमें उसी क्षण वे हृदयस्थित वृक्षादि स्थावर योनियोंका ही जो सैकड़ों जड़ दुःखोंसे ब्यास है, अनुभव करते हैं और फिर चिरकालतक नरकमें अपनी-अपनी वासनाओंके अनुरूप दुःखोंका भोग करके भूतलपर नाना योनियोंमें जन्म धारण करते हैं। ( यह महापातकीकी गतिका वर्णन है। ) अब जो मध्यम पापी है, उसकी गतिका वर्णन करते हैं। वह मृत्युकालिक मृच्छकी अनन्तर कुछ कालतक पाषाण-तुल्य जड़ताका अनुभव करता है। तत्प्रथात् जब उसे चेतना प्राप्त होती है, तब वह कुछ कालके बाद अथवा उसी समय तिर्यगादि क्रमसे नाना योनियोंका भोग करके संसारको प्राप्त होता है। जो कोई

साधारण पापी होता है, वह मरते ही अपनी वासनाओंके अनुसार प्राप्त हुए विविक्ष भावन-देहका अनुभव करता है। उसी क्षण पूर्व उत्स्कारके अनुसार उसकी स्मृतिका उदय होता है और स्थन एवं मनोराज्यकी मौति उसके अनुभवमें वैसी ही वस्तुएँ आने लगती हैं। जो सर्वश्रेष्ठ महान् पुण्यात्मा है, वे मृत्युनित मृच्छके पश्चात् पूर्व-वासनाकी स्मृतिसे स्वर्गीयक तथा विधाधरलोकके सुखका भलीमौसिं उपमोग करते हैं। फिर पुण्यकलभोगके अनन्तर अपने कर्मन्तर अर्थात् पारकर्मके अनुसार प्राप्त हुए फलको अप्यत्र भोगकर मृत्युलोकमें घनी सत्पुरुषोंके दरमें अन्म धारण करते हैं। जो मध्यम धर्मात्मा होते हैं, वे मरण-मृच्छके बाद आकाशशायुसे आन्दोलित होकर उत्तम वृक्षों और पश्चिमोंसे द्वृशोमित उपशनमें जाने हैं और वहाँ अपने पुण्यकर्मोंका फल भोग लेनेके बाद भूम्योंके हृदयमें प्रविष्ट होते हैं। फिर रेतःसिक्षनके समय जन्म-क्रमानुशृक्ष क्षियोंके गर्भमें स्थित होते हैं।

इस प्रकार प्रेत मृत्युनित मृच्छके अनन्तर अपनी वासनाके अनुसार आने हृदयमें इस व्यवस्थाका क्रमशः अथवा क्रमादित ही अनुभव करते हैं। ये यह आमते हैं कि 'हमलोग पहले मृत्युको प्राप्त हुए। तदनन्तर बन्धुओंहारा क्रमशः पिण्डादि दान करनेसे हम पुनः जातिशाहिक-शरीरवारी होकर उत्पन्न हुए। तत्प्रथात् हाथोंमें कालाश लिये हुए ये यमदूत आ पहुँचे। अब इन यमदूतोंहारा ले जाया जाता हुआ मैं क्रमशः यमपुरीको चाँड़ा।' उन प्रेतोंमें जो उत्तम पुण्यात्मा होता है, वह यों समझता है कि 'ये दिव्य एवं मनोहर विमान और उपवन मुझे बारंबार अपने शुभ कर्मोंसे ही प्राप्त हुए हैं। इसके विपरीत पापी पुरुष यों अनुभव करता है कि 'ये जो बरफकी चढ़ानें, कौटे, गहू और तलवारकी धारके समाप्त तीसे पत्तोंसे पूर्ण बन मुझे प्राप्त हुए हैं, ये मेरे अपने ही दुष्कर्मोंके फलरूपसे उत्पन्न हुए हैं।' मध्यम पुण्यात्मा जानता है कि, यह मार्ग, जो मेरे सामने उपस्थित है, इसमें अगनन्दपूर्वक पैदल चला जाता

है, शीतल और हरी धास डगी हुई है। यह बनी छायाए आच्छादित है और स्थान-स्थानपर बालियोंसे झुक है। मध्यम पापी यों अनुभव करता है कि 'यह मैं यमपुरीमें पहुँच गया। ये प्राणियोंके राजा यमराज हैं और यहाँ मेरे कर्मोंके विषयमें यह विचार किया गया।' इस प्रकार संसारका विशाल अंश, जो सम्पत्ति-प्रतीत होनेवाले सम्भूर्ण पदार्थों और उनकी क्रियाओंसे प्रकाशमाल है, प्रत्येकको प्राप्त होता है। आकाशकी तरह स्वरूप-रहित वह प्रपञ्च देखा, काल और क्रियाके विसारसे देतीव्यमान होते हुए भी कुछ नहीं है, किंतु सर्वारोपशमन्य एवं विशिष्ट ज्ञानसम्पन्न आत्मा ही सब कुछ है।

(यमपुरीमें पहुँचनेपर जीव कहता है—) अब मुझे यमराजका आदेश प्राप्त हो गया है, अतः मैं अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिये शीघ्र ही यहाँसे उत्तम स्वर्गलोक अथवा नरकमें जाता हूँ। यमराजने मेरे लिये जिस स्वर्ग अथवा नरकका निर्देश किया था, मैंने उसका भोग कर लिया तथा यमनिर्दिष्ट उन-उन योगियोंमें भी मटक नुका। अब मैं पुनः संसारमें जन्म प्राप्त हूँगा। यह मैं धानका अद्वृत होकर उत्पन्न हुआ। फिर क्रमशः बढ़कर फलरूपमें स्थित हुआ। इस प्रकार शरीरामाथके कारण जब उसकी सारी इन्द्रियों भलीभांति सोयी रहती हैं, उसी अवस्थामें वह शुक्राचादिद्वारा पुरुषके शरीरमें प्रवेश करके वीर्यरूपमें परिणित हो जाता है। वही वीर्य जब माताकी योगियोंपर चढ़ता है, तब वह गर्भका रूप धारण करता है। वही गर्भ अपने पूर्वजन्मके कर्मानुसार उत्तम अथवा निकृष्ट प्रारब्धसे युक्त हो संसारमें मनोहर आकृतिवाले बालकके रूपमें जन्म लेता है। कुछ कालके बाद वह चन्द्रमाके समान मनोहर तथा कामोमुख जगानीका अनुभव करता है। तत्पर्याद विकसित कर्मलपर गिरे हुए तुषाररूपी ब्रजकी तरह उसे शूद्रावस्था आ घेती है। उस बुद्धापेमें भी किसी-न-किसी व्याधिके निवित्तसे ही उसका मरण होता है। पुनः

उसे मृत्युजनित मूर्ढा प्राप्त होती है। पुनः स्थनकी भाँति बन्धुओंद्वारा दिये गये पिण्डादिद्वारा सूखमहारीरकी ग्रासि होती है और फिर वह यमलोकको जाता है। वहाँसे पुनः जाना योगियोंकी ग्रासि होनेपर उनमें वह भ्रमण-क्रमका ही बारंबार अनुभव करता है। इस प्रकार इस वेगशाली परिवर्तनका वह तत्वतक पुनः-पुनः अनुभव करता रहता है, जबतक उसे मोक्षकी ग्रासि नहीं हो जाती।

प्राणियोंके शरीरोंमें जो छिन्दस्थान हैं, उनमें प्रविष्ट हुई वायु जब अङ्गोंमें चेष्टा उत्पन्न करती है, तब लोग कहते हैं कि यह जीवित है। परंतु ऐसी स्थिति सृष्टिके आदिमें केवल जड़म प्राणियोंमें ही उत्पन्न हुई थी, इसी कारण ये शूक्ष्म आदि स्थानर प्राणी सचेतन होते हुए भी जीवित हैं। जब जीवात्मा मनुष्यादिद्वारीरूप दूसरे नगरमें पहुँचता है, तब वहाँ बुद्धिको चम्पु आदि इन्द्रिय-गोलकोंमें ले जाकर उनके द्वारा बाधापदार्थोंका अनुभव करता है—जैसे आकाश शून्यतासे, पृथ्वी धारणशक्तिसे और जल आथायनशक्तिसे युक्त है। तात्पर्य यह कि जीवात्मा स्वेच्छासे जिसके लिये जैसी कल्पना करता है, वहौं वैसा ही अपने शरीरको जानता है। इस प्रकार सर्वव्यापी परमात्मा जंगमरूपसे जंगमकृती और स्थावररूपसे स्थावरकी कल्पना करता हुआ सबके शरीररूपसे स्थित है। इसलिये जो जंगम जगत् है, उसे उसने अपनी कल्पनाके अनुसार जैसा समझा था, वह आज भी उसी रूपमें वर्तमान है। जैसे जिन शूक्ष्म, शिला, पेढ़-पीड़ों और तृण आदिको स्थावर होनेके कारण जड़ समझा गया था, वे आज भी वैसे ही स्थित हैं; क्योंकि न तो जड़ता ही कोई पृथक् वस्तु है और न चेतन ही। इन पदार्थोंकी सृष्टि, स्थिति और विनाशमें कोई मेद नहीं है और वे सत्त्वासामान्यमें ही कोई अन्तर है अर्थात् सबमें सत्ता समान है। यथार्थ बात तो यह है कि शूक्ष्मों और पर्वतोंके अंदर जो उनकी जड़ता एवं नाम-रूप आदि मेद परिषिक्षित होते हैं, वे जीवात्माकी बुद्धिद्वारा विहित

हैं, वस्तुतः नहीं हैं। वही जीवात्मा स्थावरादि के भीतर मैं स्थावर हूँ' ऐसी बुद्धिसे स्थित होनेके कारण जंगमसे मिन नाम और अभिगमनका विषयमूल होकर वृक्षादि अथ लक्खणोंसे स्थित है। हामि, कीठ और पतझोंके अंदर संवित्-रूपसे वर्तमान जीवात्मा ही उनकी बुद्धिका रूप धारण करता है और वही अनेकविध नाम-रूपोंसे व्यवहृत होता है। सभी स्थावर-जगम अपने-अपने अनुभवमें ही लीन हैं, परन्तु जब वे एक-दूसरेदेसे सम्बन्धित होते हैं, तब उनमें 'यह स्थावर है और यह जंगम है' यों संकेतकरी वाचश्यकता पड़ती है। चेतन तो परमार्थरूपसे स्थावर-जंगम सभीमें वर्तमान है, परन्तु जंगम प्राणियोंमें वायुके प्रवेश करनेसे चेष्टाएँ होती हैं और स्थावरोंमें नहीं होतीं। जिस प्रकार विश्वके समग्र पदार्थोंके स्थभावका विकास होता है और जैसे वे असत्य होते डुए भी सत्य-से प्रतीत होते हैं, वह सब वृत्तान्त मैंने तुम्हें बतला दिया। अब उधर देखो, ज्ञात होता है, यदि राजा विद्युत् यमपुरीके प्राप्त होकर तुम्हारे पति राजा पश्चके, जो पुष्पमालाओंसे आच्छादित शवके रूपमें

स्थित हैं, हृदयान्तर्गत पश्चकोशमें प्रवेश करनेकी इच्छासे जागा चाहता है।

प्रशुद्ध लीलाने पूछा—देवेशरि! बताइये, यह राजा विद्युत् किस मार्गसे उस शब्दमण्डपमें जानेका हृष्टक है? जिससे हम दोनों यी उसे देखती हुई ही उस उत्तम मण्डपमें शीत्र ही जायें।

श्रीदेवीजीने कहा—लीले! मैं दूरवर्ती दूसरे लोकको जाता हूँ। इस भावनासे यह चिन्मय जीवात्मा मनुष्य वासनाके अंदर स्थित मार्गका अवलम्बन करके जाता है। यों तुम्हें विस मार्गसे जाना अमीष हो, उसी मार्गसे हम दोनों जाती हैं; क्योंकि एक-दूसरेकी हृष्टाका विवातन ग्रेम-अन्धनका हेतु नहीं होता।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राघव! इस प्रकार येष्ठ राजाकी कन्या लीलाके विशुद्ध मनमें जब परमार्थ हृष्ट-रूप पूर्णोक्त कथाके श्रवणसे सारे संताप मिट गये तथा ज्ञानरूपी सूर्यका प्रसार हो गया, तब राजा विद्युत् चित्तके विलीन हो जानेके कारण नड अर्थात् यमपुरीका मूर्छके वशीभूत हो गया। ( सर्ग ५२-५५ )

राजा विद्युत् का वासनामय यमपुरीमें गमन, लीला और सरस्वतीद्वारा उसका अनुगमन और पूर्वशुरीरकी प्राप्तिका वर्णन, लीलाके शरीरकी असत्यताका कथन, समाधिमें स्थित लीलाके शरीरका विनाश, लीलाके साथ वार्तालाप और राजा पश्चके पुनरुज्जीवनका कथन, राजाके जी उठनेसे नगर और अन्तःपुरमें उत्सव, लीलोपाल्यानके प्रयोगनका विस्तारसे कथन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—ऐसुनन्दन! इसी बीच राजा विद्युत् की आँखोंकी पुतलियों उल्ट गयीं। हौंठ सूखकर श्वेत हो गये। उसके शरीरकी सभी इन्द्रियोंके मूर्छित हो जानेपर केवल सूक्ष्मप्राण ही शेष रह गया। मुखकी छिपे पुराने पीले पत्तेकी कान्तिके समान क्षीण एवं पीछी हो गयीं। मौरिके गुंजालके सहशा आसवायुकी घणि होने लगीं। उसका मन महाप्रयाणकालिक मूर्छकी अन्धकूपमें ढूब गया। नेत्र आदि सारी इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ अन्तर्लीन हो गयीं। इस प्रकार वह चेतनाशून्य

उस समय जैसे प्राणमयी ज्ञानवृत्ति वायुमें स्थित सूख

गन्धका अनुमत करती है, उसी प्रकार उन दोनों देवियोंने, जिन्हें विश्वदृष्टि प्राप्त थी, आकाशमार्गसे जाते हुए उस जीवको देखा। फिर तो वे दोनों नारियों उसी जीवात्मका अनुसरण करने लगी—ठीक उसी तरह, जैसे दो भरतियों वायुमें मिली हुई गन्धकलाका अनुगमन करती हैं। तदनन्तर दो घड़ीके पश्चात् जब मरण-भूर्धा शास्त्र हुई, तब जीवात्मा आकाशमें सुगन्धयुक वायुके स्पर्शसे प्रशुद्ध हो गया। उस समय उसने यमदूतोंको, उनके द्वारा के जाये जाते हुए अपने वासनामय शरीरको तथा कम्बुजोंद्वारा किये गये पिण्डदान आदिसे उत्पन्न हुए अपने स्थूलशरीरको भी देखा। फिर उसी मार्गसे वहुत दूरतक आगे जानेपर वह यमराजकी नगरीमें जा पहुँचा, जो ग्राणिसमुदायसे खिरी हुई थी और जहाँ उनके कर्मफलोंपर विचार किया जा रहा था। वहाँ पहुँचनेपर यमराजने इसके कर्मोंपर विचार करके यह आदेश दिया कि ‘यह सदा निर्मल पुण्यकर्मोंका ही अनुष्ठान करता रहा है। इसने कभी भी पापकर्म नहीं किया है। साथ ही सरत्वती देवीके वरदानसे इसके पुण्योंकी विशेषरूपसे हृदि हुई है। इस उपर्युक्त वातको समझकर तुमलोग इसे छोड़ दो और यह अपने पूर्वजन्मके शरीरमें, जो शब्दरूपमें पुण्योंसे आच्छादित मण्डपाकाशमें बर्तमान है, वहाँ जाकर प्रवेश करे।’ यों आदेश पानेपर यमदूतोंने उसे आकाशमार्गमें लाकर लोड दिया। तदनन्तर वह जीवात्मा, लीला और सरत्वती—ये तीनों एक साथ आकाशमार्गसे उड़ते हुए आगे बढ़े। उस समय यथापि सरत्वती और लीला मूर्तिमती थीं, तथापि वह जीवात्मा उन्हें देख नहीं रहा था, जबकि वे उसे देख रही थीं। इस प्रकार वे दोनों उस जीवात्मका अनुसरण करती हुई आकाश-मण्डलको छाँचकर लोकान्तरोंको पार करती हुई दूसरे प्रशाण्डमें जा पहुँची। पुनः शीघ्र ही वहाँसे निकलकर दूसरे प्रशाण्डमें गयीं। फिर उस भूमण्डलसे



साथ राजा पश्चके नगरमें आयीं और वहाँ तुरंत ही स्वप्नन्दतापूर्वक लीलाके अन्तःपुरके मण्डपमें प्रविष्ट हुई।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन्। जिसका शरीर मर चुका था, उस जीवात्मको मार्गका परिक्षान कैसे हुआ? और वह उस शब्दके निकटवर्ती मण्डपमें कैसे पहुँचा?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—राघव! उस जीवकी आपनी वासनाके अन्तर्गत शब्दकरे भावना विश्वमान थी, जिससे उसके हृदयमें वह मार्ग आदि सब कुछ स्फुरित हो गया; फिर उसे उस गृहकी प्राप्ति कैसे न हो। क्योंकि जैसे किसी अन्य सामनमें स्थित पुरुष दूर देशान्तरमें रखे हुए अपने खजानेको अनवरत उसकी मानसिक मावनाके कारण सदा सम्पूर्ण रूपसे देखता रहता है, उसी प्रकार सैकड़ों जन्मोंके चक्रमें पशा हुआ भी जीव अपनी वासनाके अंदर स्थित अपने अग्नीष्टको देखता है।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन्। जिसके लिये पिण्डदान

दिया ही नहीं जाता, उसमें पिण्डदानादि वासनाका कारण तो है नहीं; फिर उस वासनासे रहित स्वल्पपदाला जीव किस प्रकार शरीरको प्राप्त होता है ?

श्रीविष्णुजीने कहा—रघुनन्दन ! बन्धुओंद्वारा पिण्ड दिया गया हो अथवा न दिया गया हो; परंतु यदि मैंने पिण्डदान किया है ऐसी वासना छद्यमें मलीमौति उत्पन्न हो जाय तो वह पुरुष पिण्डफलका भागी हो जाता है; क्योंकि अनुभूतियोंबतलाती हैं कि जैसा चित्त होता है, वैसा ही वह प्राणी होता है। यह मियम जीवित अथवा मृत—किसी भी प्राणीमें कहीं भी अन्यथा नहीं होता। पदार्थोंकी सत्यता उनकी मावना—वासनाके अनुसार ही होती है और वह मावना कारणमूल पदार्थोंसे उत्पन्न होती है; क्योंकि जो स्वयं नियम प्रकाश-स्वरूप है, एकमात्र उस शक्तिके अतिरिक्त दूसरे किसी कार्यकी उत्पत्ति कारणके बिना हुई हो, ऐसा तो महा-प्रलयपर्यन्त न तो कहीं देखा गया और न इस विषयमें कुछ सुना ही गया। जैमें स्वप्नमें जीव विविध पदार्थोंके रूपमें कल्पित हुआ दीख पड़ता है, उसी तरह चेतन जीवात्मा ही उस वासनाका रूप धारण करता है। वही कार्यकारणभावको प्राप्त होता है और वही निभल-सा होकर स्थित होता है। देश, काल, क्रिया और द्रव्यके संयोगसे मावना अर्थात् वासनाका उदय होता है। वह वासना जिस (सत्य एवं असत्य) फलरूप विषयमें उत्पन्न होती है, वही विषय दोनोंमें अधिक जयशील होता है। यदि धर्मदानाकी वासना प्रशृत हुई हो तो उससे क्रमशः प्रेतकी शुद्धि पूर्ण हो जानी है अर्थात् दाताकी वासनाके अनुसार प्रेतको अवश्य फल मिलता है। यों परस्परकी विजयके कारण इस विषयमें जो अत्यन्त वीर्यशाली होता है, वही विजयी होता है; इसलिये उत्तम यज्ञद्वारा शुम कर्मोंका अभ्यास करना चाहिये।

पूर्ववर्णनके अनुसार लीला और सरलती देवी राजा पश्चके उस राजमहलमें जा पहुँचीं, जिसका भीतरी सं० च० अ० ७—

भाग अत्यन्त मनोरम था। थारों और पुष्पोपहारसे व्याप्त होनेके कारण वह वसन्त-सा शीतल लगा था। वह उन नगर-निवासियोंसे शुक्त था, जिनकी राजकार्य करनेकी उत्पत्ति पूर्णरूपसे शान्त हो गयी थी। वहाँ उन दोनोंने एक कमरेमें रखे हुए शब्दको देखा, जो मन्दार और कुन्दपुष्टकी मालाओंसे बाढ़ादित था। उस शब्दके सिरहाने अच्छे पूर्ण उत्तम कलश आदि माझलिंग पदार्थ रखे थे। उस कमरेके दरवाजे और खिड़कियोंकी सौंकले बंद थीं और उसकी निर्मल दीक्षालें दीपकके प्रकाशके प्रशान्त हो आनेके कारण मछिन दीख पड़ती थीं। वह एक ओर सोये हुए लोगोंके मुखसे निकली हुई श्वासशयुसे व्याप्त था।

तदनन्तर उन दोनोंने उस शब्दमण्डपमें विदूरथकी शब्दशय्याके पार्श्वमार्गमें स्थित लोकोंको देखा, जो पहले



मृत्युको ग्राप हो चुकी थी और पहले ही वहाँ आ गयी थी। उसके बेष, आचरण, शरीर और वासनाएँ—सभी पहलेके ही सदृश थे। उसकी आकृति पूर्वजनकी-

सी थी । नक्से शिखातक उसके सारे अहम सुन्दर थे । उसका रूप और अङ्गोंको चेष्टाएँ पूर्ववत् थीं । जैसे वह वह पूर्वजन्ममें पहनती थी, वैसे ही वहाँसे उसका शरीर आच्छादित था और पहलेहो-से आभूषणोंसे भी वह विभूषित थी । केवल इतना ही अन्तर था कि वह राजा पक्षके महलमें स्थित थी । उस समय उसके हाथमें चैंशर सुशोभित था, जिसे वह सुन्दर ढंगसे राजाके ऊपर ढुला रही थी । इस प्रकार उन दोनों ( सरक्षती और प्रबुद्ध लीला ) ने तो उस लीलाको देखा, परंतु वह उन दोनोंको न देख सकी । इसका कारण यह था कि वे दोनों सत्यसंकल्पसंरूप थीं और वह उनकी भाँति सत्यसंकल्पसे आविर्भूत नहीं हुई थी ।

कल्स राम ! यह सारा ब्रगद आस्ता ही है । ऐसी दशामें देहादिकी कल्पना कहाँसे हो सकती है । तुम जो कुछ देख रहे हो, वह आनन्दरूप सद्गृह्ण ही है और वही चेतन है । जिस पुरुषको स्वप्नकालमें भैं हरिन हूँ' ऐसी बुद्धि उत्पन्न हुई हो, वह क्या जानेपर अपने मृगखल्पका अभाव हो जानेपर स्वप्नकालिक मुगको खोजता है ! नहीं । जो अङ्गानी होता है, उसकी दृष्टिमें सत्यका तिरोधान और असत्यका आविर्भाव शीघ्र होता है, परंतु रस्सीमें उत्पन्न हुई सर्पभ्रान्तिके मिट जानेपर क्या पुनः उसमें सर्पभ्रम हो सकता है ? कदापि नहीं । इस प्रकार जो जन्म-मरणशील शरीरको ही आस्ता माननेवाले हैं, वे सभी अङ्गानी स्वप्न-मुख्य इस मिथ्या सुषिक्ता चिरकालतक सत्यकी तरह अनुभव करते रहते हैं । किंतु आपत्तस्वका यथार्थ ज्ञान होनेसे 'देहमें आप्तिबुद्धि करना भ्रममात्र ही है' यों उनकी उस भ्रान्तिका उपशम हो जाता है —ठीक उसी तरह, जैसे रस्सीका ज्ञान होनेसे उसमें उत्पन्न हुई सर्पभ्रुद्धि नष्ट हो जाती है । वस्तुतः तो शरीर क्या था ? किसका विनाश हुआ ? परमार्थतः जो वस्तु थी, वही रह गयी, केवल अङ्गान

मिट गया । जब रस्सीमें उत्पन्न हुई सर्पभ्रुद्धिकी भाँति यह सारी प्रतीति भ्रान्तिमात्र ही है, तब उसके उत्पन्न होनेपर क्या बढ़ गया और नष्ट होनेपर क्या नष्ट हुआ ? अर्थात् उसके आने-जानेमें कोई हर्ष-विषाद नहीं है ।

श्रीरामजीने पूछा —प्रमावशाली गुहदेव । पथकेराज-महलमें पूर्वलीला और नूतन लीलाका समागम होनेके पश्चात् जो उस भवनके निशासी थे, वे लीलाकी सत्यसंकल्पताके कारण यदि उसे देखते हैं तो उसके बाद उसे क्या समझते हैं ?

श्रीवसिंहजीने कहा — राघव । उस समय वे लोग ऐसा जानते हैं कि यहाँ ये दुखिया महारानी खड़ी हैं और उनकी यह कोई दूसरी सखी भी कहाँसे आ गयी है । जैसे जाग जानेपर ज्ञान हो जानेसे स्वप्नदृष्ट शरीर न जाने फहाँ विलीन-सा हो जाता है, इसलिये वह असत्य ही है, वही दशा यहाँ इस पात्रमैतिक रथूल-शरीरकी भी है । ( अर्थात् ज्ञान होनेपर इसका भी विनाश होता है, अतः यह भी असत्य ही है । ) स्वप्नभ्रान्ति अथवा मनकी कल्पनामें जो पर्वत आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं, वे सभी बुद्धिवृत्तिके अंदर उसी प्रकार विलीन हो जाते हैं, जैसे सारी चेष्टाएँ वायुमें अन्तर्भूत हो जाती हैं । बुद्धिवृत्ति ही स्वप्न आदि पदार्थोंकी प्रतीतिश्चारा पर्याप्तरूपसे स्फुरित होती है, परंतु वही स्फुरित न होनेपर उस स्वप्नके साथ एकताको प्राप्त होकर तदूप हो जाती है । जैसे जल और उसका प्रवृत्त अथवा वायु और उसकी गति दो नहीं हैं, उसी प्रकार बुद्धिवृत्ति और स्वानिक पदार्थोंमें कभी भेद नहीं पाया जाता । उनमें जो भेद-सा प्रतीत होता है, वही सबसे बढ़कर अङ्गान है । वही 'संसार' कहा गया है और वह संसार मिथ्याज्ञानरूप ही है । सहकारी कारणों-का अभाव होनेपर भी स्वप्नकालमें बुद्धिवृत्ति और स्वप्न-दृष्ट पदार्थोंका भेद निरर्थक ही है । स्वप्नमें जैसे असत् नगरकी प्रतीति होती है, उसी तरह सुषिके आदिमें

असद् जगत्का मान होता है; अतः जैसे स्वप्न असद् है, वैसे ही जाग्रत् मी असद् है; इसमें सशय नहीं है। जैसे जाग जानेपर स्वप्नहृष्ट पर्वतका तत्काल ही अमाव हो जाता है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान होनेपर इस पाष्ठमौतिक संसारका अवण-मनन-निदिध्यासनादि क्रमसे अपवा ईश्वरानुकम्भासे अमाव हो जाता है। ये सुष्ठियों मिथ्यादृष्टियाँ ही हैं; क्योंकि ये मोहदृष्टियाँ हैं अर्थात् अज्ञानसे इनका दर्शन होता है। जो मायारूपसे प्रतीत होनेवाले केवल संसारकी ज्ञाति है और जो स्वप्नकी अनुमूलियाँ हैं, वे सभी अर्थशून्य हैं। अपसे जड़ संसारका दर्शन करनेवाले पुरुषके मरणाभ्यक्तालमें स्वप्नानुमूलि-सदृश जो ये सुष्ठिकी प्रत्यक्ष प्रतीतियाँ हैं, वे सद-की-सब यदापि आतिथाहिक शरीरमें प्रविष्ट हो चुकी हैं, तथापि भ्रमवश मृगतृष्णाकी नदीके प्रधाहकी मौति मिथ्या प्रकट हुईं-सी प्रतीत होती हैं। बासावमें तो वे मनके अंदर ही हैं।

इसी बीचमें सरस्वती देवीने मनकी चेष्टाके समान विद्युरथके जीवायामको अपने सत्यसंकल्पसे पुनः शीघ्र ही अवश्य कर दिया।

तब श्रीसरस्वती देवी लीलासे बोली—असे ! तुम अपने सत्यसंकल्पवश अस्यन्त निर्मल सूक्ष्मशरीरसे युक्त दिखायी देती हो, इसलिये तुम्हारे ऊपर लोगोंको आकर्षण हो रहा है। बाले ! अपने शरीरके प्रति तुम्हारी जैसी बासना थी, तदनुरूप ही तुम्हें शरीर मिला है। इसी कारण पूर्वजन्मके रूपके समान ही तुम्हारा रूप प्रकट हुआ है; क्योंकि सब लोग अपनी बासनाके अनुसार ही सब पदार्थोंको देखते हैं। सिद्धसुदृढ़ि ! तुम सूक्ष्म-शरीरसे सम्पन्न हो, अतः तुम्हारा वह पूर्वजन्मका शरीर तुम्हें भूल गया है, इसी कारण उसपर तुम्हारी बासना नहीं रह गयी है। जिस छानी पुरुषकी सूक्ष्मदृष्टि हटमूळ हो जाती है, उसका पाष्ठमौतिक शरीर दूसरों-

द्वारा देखा जाता हुआ भी सूक्ष्म ही है। आज हमलोग इस मण्डपाकाशमें प्राप्त हुई हैं। इस समय प्रमात्रकाल होनेपर मैंने इन दोनों दासियोंको निद्रासे घोषित कर दिया है; अतः लीले। आओ, तबतक हम दोनों अपने सत्यसंकल्पके विलासद्वारा इस लीलाको अपना सरूप दिखालायें। अब हमलोगोंका कार्य आरम्भ होना चाहिये।

श्रीकृष्णजी कहते हैं—रघुनन्दन। देवी सरस्वतीने यों ही ऐसा विचार किया कि ‘यह लीला तबतक हम दोनोंको देलें, यों ही वे दोनों दीसिमती देवियों ( सरस्वती और प्रभुद लीला ) वहाँ प्रकट हो गयी । उनके प्रत्यक्ष होते ही विद्युरथपती लीलाकी ओरें चौधिया गयी । उसने देखा कि वह घर उन देवियोंके तेजःपुष्टसे ‘देवीव्यामान हो गया है। इस प्रकार उस प्रदीप गृह और अपने समक्ष लीला और सरस्वती—उन दोनों देवियोंको उपस्थित देखकर वह बड़ी उत्तापलीके साथ उठ खड़ी हुई और फिर उनके चरणोंमें पदकर यों कहने लगी—‘देवियो ! आप जीवन प्रदाता करनेवाली हैं, आपकी जय हो । आपलोगोंकी सेविका में यहाँ पहले ही आ पहुँची हैं । अब मेरे कल्याणोक्तर्थके लिये आप दोनोंका शुभागमन हुआ है ।’ उसके यों कहनेपर यौवनके मदसे मतवाली वे तीनों मानिनियाँ ध्वाँ आसनोंपर बिराजमान हुईं ।

तब श्रीसरस्वती देवी बोली—असे ! तुम हस देशमें कैसे आर्थी ? तथा मार्गमें अथवा कहाँपर तुमने कौन-सी आकर्षण बनक घटना देखी ? तुम आदिसे लेकर यह सारा वृक्षान्त वर्णन करो ।

विद्युरथ-पती लीलाने कहा—देवि ! उस समय विद्युरथके गृहप्रदेशमें जब मैं मृद्दित हो गयी, तब परमेश्वरि ! उस मरण-मृद्दिके पश्चात् मैं क्या देखती हूँ कि मैं

होशमें आकर उठ बैठी हूँ और फिर शीघ्र ही आकाश-मण्डलमें उड़ चली हूँ। तत्पश्चात् उस भूताकाशमें मैं वायुरुपी रथपर सवार हो गयी हूँ। वही रथ मुझे इस बरतक ले आया है। देवि ! तब मैंने इस भवनको देखा, जो शवरूप राजा पश्चसे सुशोभित था। उसके भीतर दीपकका प्रकाश फैल रहा था। यह अत्यन्त सुष्ठु और बहुमूल्य शम्भ्यासे युक्त था। तदनन्तर जब मैं अपने इन पतिदेवका अवलोकन करने चली, तब क्या देखती हूँ कि जिमका सारा अङ्ग पुष्पोंसे आच्छादित है, वे राजा विदूरथ यहाँ उसी प्रकार सो रहे हैं। मानो पुष्पबन्धमें उसन्त शयन कर रहा हो। देवेशरि ! तब मैंने यह सोचा कि ‘ये संग्रामरुपी कार्यके अधिक परिव्रामसे थक गये हैं, इसीलिये गढ़ निशामें सो रहे हैं।’ अतः मैंने इनकी यह निशा भङ्ग नहीं की। इसके बाद ही आप दोनों देवियों इस स्थानपर पधारी हैं। मुझपर अहुग्रह करनेवाली देवि ! इस प्रकार मुझे जैसा अनुमत द्युधा था, वह सब आपसे कह सुनाया।

तब श्रीसरस्वती देवी बोली—अले ! तुम दोनोंके नेत्र बड़े सुन्दर हैं और चलनेका ढांग हँसकी चालके समान मनोहर है। अच्छा, अब हम इस राजाको शवशम्भ्यासे उठाती हैं। यों कहकर सरस्वती देवीने कमङ्गिनीद्वारा बिद्धेरी गयी सुगन्धकी मौति राजाके जीवामाको छोड़ दिया। तब वायुरुपधारी वह जीव राजाकी नासिकाके निकट गया और उसके नासारम्बन्धमें ग्रन्थि हो गया—ठीक उसी तरह, जैसे वायु बौंसके छिद्रमें प्रवेश करती है। उस समय वह अनन्त वासनाओंसे युक्त था। फिर तो जैसे अनाहृष्टिके कारण मुरक्षाया द्युधा कपल अच्छी जलसृष्टि होनेसे पुनः विकसित हो जाता है, उसी तरह जीवके अंदर प्रवेश करनेपर राजा पश्चका विर्णवं द्युधा मुख पुनः पूर्ववत् काञ्चितमान् हो गया। तदमन्दर उसके सारे अङ्ग क्रमशः

चेष्टाशील होकर सुशोभित होने लगे, जैसे पर्वतकी छताएँ वसन्तको पाकर प्रशुल्लित हो जाती हैं। तब उसमें अपने उन नेत्रोंको, जिनकी पुतलियों निर्मल और चक्रल थीं, खोल दिया। तत्पश्चात् वह बढ़ते हुए विन्यय पर्वतके समान अपने शरीरको शम्भ्यासे ऊपर उठाते हुए उठ बैठा और मेघके समान गम्भीर वाणीमें बोला—‘यहाँ कौन है ?’ तबतक दोनों लीलाएँ उसके आगे उपस्थित होकर बोली—‘महाराज ! आज्ञा दीजिये !’ जब उसने दो लीलाओंको, जिनके आचार, आकार, रूप, मर्यादा, वचन, उच्चोग, आनन्द और अम्बुदय सभी एक-से थे, नग्रतापूर्वक अपने सामने खड़ी देखा, तब उनकी ओर ध्यानपूर्ण देखते हुए पूछा—‘तुम कौन हो ?’ और यह कौन है तथा यह कहाँसे आयी है ?’ यह सुनकर पूर्वलीलाने उससे कहा—‘देव ! मैं जो कुछ कहती हूँ, उसे सुनिये। मैं आपकी पूर्वजन्मकी सहधर्मिणी रानी हूँ। मेरा नाम लीला है। अर्धसंयुक्त वाणीकी तरह मैं सदा आपके सम्बन्धसे सुशोभित हूँ। यह दूसरी लीला भी आपकी रानी है। इसे मैं क्रोधावश आपके उपमोगके लिये ले आयी हूँ। आप इसकी रक्षा करें। सामिन्। तिरहानेकी ओर स्वर्णसिंहासनपर बैठी हुई ये कल्पाण-कारिणी सरस्वती देखी हैं। ये तीनों लोकोंकी जननी हैं। भूगल ! हमलोगोंके पुण्यवाहुत्यसे ये साक्षात् यहाँ पधारी हैं। ये ही हम दोनोंको परलोकसे यहाँ आयी हैं।’

लीलाकी यह बात सुनकर राजा, जिसके नेत्र कमलके समान सुन्दर थे और शरीरपर लटकती हुई माला और वक्ष सुशोभित थे, शम्भ्यासे उठ गया और सरस्वतीके चरणोंमें पड़कर कहने लगा—‘देवी सरस्वति ! आप सबको कल्पाण ग्रदान करनेवाली हैं, आपको नमस्कार है। वरदायिनि ! मुझे मेधा, दीर्घायु और धन

प्रदान कीजिये ।' यों कहते हुए राजा के सिरपर सरस्वती रहा था । उसका छोंगन राजपुरुषोंसे उसाठ्स भरा



देवीने हाथ फेरते हुए कहा—‘पुत्र ! तुम अपने अभीष्ट पदार्थों तथा राजमहलसे पूर्णतया सम्पन्न हो जाओ एवं तुम्हारी सारी आपसियाँ और समस्त पापबुद्धियाँ विनष्ट हो जायें और तुम्हें प्रभुरमात्रामें अनन्त सुखकी प्राप्ति हो । तुम्हारे राज्यमें प्रबा सदा आनन्दित रहे तथा सम्पस्तियाँ स्थिर होकर सदा विकसित होतीं रहें ।’

बीकसिष्ठजी कहते हैं—रघुकुलभूषण राम ! सरस्वती देवी यों कहकर उस राजमहलमें ही अन्तर्धान हो गयी । ग्रातःकाल होनेपर कमलोंके विकसित होनेके साथ ही सभी लोग निश्च स्थागकर जाग पड़े । तदनन्तर क्रमशः राजाने लीलाका और लीलाने मृत्युको प्राप्त होकर पुनरुज्जीवित हुए अपने प्रियतम राजाका महान् आनन्दके साथ बारंबार लालिङ्गन किया । उस समय उस राजसदनकी विवित्र ही शोभा थी । उसके सभी निवासी आनन्दमें निभान थे । वह जय-ज्वनि और माझलिक पुण्याहवाचनके उच्च स्तरसे निनादित हो

था । प्रजानोद्घारा लाये जाते हुए उपद्वार परस्पर टकरा जानेसे गिर जाते थे, जिससे उसकी समतल भूमि ऊँची-नीची हो गयी थी । उस उत्सवके अवसरपर भट्टकपर पुष्पमाला धारण किये हुए लोगोंके आने-जानेसे उसकी विशेष शोभा हो रही थी । वह मन्त्रियों, सामन्त राजाओं और नगरवासियोंद्वारा विखरे गये माझलिक पदार्थोंसे आच्छन्न था । उस समय पूर्वलीला दूसरी लीला रानीको एवं अपने पति महाराज पथको परलोकसे ले आयी है, यों अनेकविध गायाओंके रूपमें लोग देवा-देशान्तरमें इसका गान करते थे । राजा पथने अपने मरण आहिके दृचान्तको, जो संक्षेपमें वर्णन किया गया था, सुनकर भूत्योंद्वारा लाये गये चारों सागरोंके जलसे ज्ञान किया । तस्यात् श्रावणों, मन्त्रियों और भूपालोंने उसका अभिनेत्र किया । उस समय पूर्वलीला, द्वितीय लीला और राजा पथ—ये तीनों जीवन्मुक्त और महान् ज्ञानसम्पन्न हो गये थे । इस प्रकार पृथ्वीपति पथको अपने पुरुषार्थके बलसे तथा मगती सरस्वतीके प्रसादसे त्रिलोकीका वह श्रेय प्राप्त हुआ । तदनन्तर सराहनीय गुणोंसे युक्त राजा पथ, जिसे सरस्वतीद्वारा उपदिष्ट हानके प्रभावसे भलीभौति आमतस्वका बोध हो चुका था, दोनों लीलाओंके साथ वहाँ राज्यशासन करने लगा । अपने उस उचम राज्यका, जो प्रजाओंके नित्य असुद्दयसे निर्दोष, शाशानुकूल होनेसे विद्वानोंको भी मुख करनेवाला, समुचित, आभिहितकारी और सारी जनताके लिये संतोषप्रद था, चिरकालतक पालन करके अन्तमें वे श्रेष्ठ दम्पति ( लीला और राजा पथ ) विमुक्त हो गये ।

उस राम ! मैंने इस पवित्र लीलोपाल्यानका दृश्यरूप दोषकी निवृत्तिके लिये तुमसे वर्णन किया । वस्तुतस्य दृश्यसत्ता शान्त ही है । जब वह है ही नहीं, तब उसके लिये ‘शमन’ का प्रयोग करना उपयुक्त नहीं

है; क्योंकि सद् अर्थात् विद्यमानके मार्जनके लिये ही प्रयास किया जाता है, असद्गे लिये कभी नहीं। तत्पश्च पुरुष आकाश-सरीखे निर्मल झानसे शेयरखरूप दृश्यको ब्रह्ममें लिलीन समझकर आकाशके समान निर्मल बना रहता है। यदि कहो कि पृथ्वी आदिसे रहित स्वतःसिद्ध स्वयम्भू सचिदानन्द ब्रह्मने ही इस दृश्यकी कल्पना की है तो उसने उसे अपनेमें ही सिद्ध किया है। चेतनाकाशरूप परमात्माका अवमास ही 'जगत्' नामसे समझा जाता है। यह उस विशुद्ध सचिदानन्दबन परमात्माके किसी एक अंशमें स्थित है। यह सब कुछ जिस रूपमें देखा गया था, वह ऊँ-का-त्यो अखण्डरूपसे स्थित है। यह अनन्त सुष्ठि मायासे दृश्य द्वानेके कारण माया ही है और माया कोई स्वयं बहुत नहीं।

विष्णुप राम ! जिस-जिस पुरुषको जिस समय जिस रूपसे जिस-जिस पदार्थकी प्रतीति होती है, वह-वह पुरुष उसी समय उसी प्रकार उस-उस पदार्थका पूर्णरूपसे अनुभव करता है। जैसे विषको सदा अयूत ही समझते रहनेसे वह अपृत्यको प्राप्त हो जाता है, उसी तरह शत्रुके प्रति सदा भिन्नमाव रखनेसे वह भिन्न बन जाता है। इन पदार्थोंके नियी स्वरूपकी जैसी भावना की गयी, वह मायित स्वरूप ही विरकालके अन्याससे स्वभाव बन गया। चेतन परमात्माका स्वभाव ही विकासशील है। वह जैसे और जिस रूपमें विकसित होता है, शीघ्र ही वैसा हो जाता है। इसमें उसका स्वभाव ही एकमात्र कारण है। इसी कारण दुखी पुरुषके लिये जो रात्रि कल्पके समान लंबी प्रतीति होती है, वही दुखीके लिये एक क्षण-सहश अग्री है—जैसे स्वप्नमें एक क्षण कल्प-सा हो जाता है। उस क्षणभरके स्वप्नमें मनुष्य यों देखता है कि अपी-अपी मेरी मृत्यु हो गयी, पुनः मैं पैदा हुआ और तद्दण होकर युधावस्थामें स्थित हूँ। फिर सौ योजन दूर चला गया हूँ। परंतु व्यानद्वारा जिसका वित्त प्रक्षीण हो गया है

अर्थात् जो निर्विकल्प समाधिमें स्थित है, उसके लिये न दिन है न रात्रि। परमात्माके व्यानमें मग्न योगीकी दृष्टिमें न जगत् स्वयं है न जगत्के पदार्थ ही। महावाहो। यह अगत्, जैसी उसके सम्बन्धमें भावना होती है, तदनुकूल ही प्रतीत होने लगता है—जैसे मधुरमें निरन्तर कदुताकी भावना करनेसे वह कदु-सा लगने लगता है और कटुमें मधुरकी भावना करनेसे वह माधुर्यसे युक्त-सा अनुभूत होता है तथा शत्रुमें मित्रबुद्धि रखनेसे वह भिन्न एवं भिन्नमें शत्रुबुद्धि करनेसे वह शत्रु हो जाता है। जो शास्त्राध्ययन और जप आदि पदार्थ हैं, जिनका पहले अन्यास नहीं किया गया है, उनकी भावनाका अन्यास करनेसे निश्चय ही समता प्राप्त होती है। नौकारोही अतएव अमरीदित लोगोंकी भावनासे पृथ्वी चलती हुई-सी प्रतीत होती है; परंतु जो उस प्रकारके भावनाभ्रमसे रहित हैं अर्थात् तटपर ही स्थित हैं, उन्हें वैसा अनुभव नहीं होता। जैसे स्वप्नशष्ठाकी भावनासे स्वप्नमें शून्य स्थान भी जनाकीर्ण प्रतीत होने लगता है, उसी तरह अशानवश भावनासे ही सर्वथा नीला आकाश कभी पीत और कभी शुद्ध-सा अनुभूत होने लगता है तथा उसव आपसि-सरीखा विशद्जनक हो जाता है।

जैसे मुत्तर्णके भीतर द्रवत्व वर्तमान है, परंतु वह दृष्टिगोचर नहीं होता, उसी तरह परमात्माके अंदर यह सुष्ठि स्थित है। जैसे स्वप्नमें एक मनुष्यका दूसरेके साथ युद्ध हुआ, वह स्वप्नकालमें स्वयं होते हुए भी जागनेपर असत्य ही है, उसी तरह मायाकाशमें स्थित यह स्वात्मरूप जगत् भी मायिक दृष्टिसे सद् होते हुए भी तात्त्विक दृष्टिसे असत् ही है; महाकल्पके अन्त और सुष्ठिके आदिमें यह अगत् सचिदानन्दस्वरूप ही है। पीछे यह असत् जगत् कारणत्व अर्थात् परमात्माको प्राप्त हो जाता है, परंतु वास्तविक परमात्मा किसीमें लीन नहीं होता। इस ब्रह्माके मुक्त हो जानेपर यदि उस परमात्माकी स्मृतिसे उत्पन्न

दूसरे कहा हों तो उनकी स्मृतिरूप ज्ञानसे प्रकट हुई सृष्टिमें ज्ञानमात्र ही स्थित है। जो जीवात्मा अन्यास-वैराग्य आदि तीव्र साधनोंसे युक्त है, अतएव विषयभौगोले विविलित न होता हुआ मोक्षपर्यन्त एकाकाराखण्डिते रहता है, वही परम स्थिता—मोक्षको प्राप्त होता है। इस प्रकार सहजों सृष्टियोंके बारंबार उत्पन्न होने, स्थित होने और नष्ट होनेपर जीवसमूहोंमेंसे किसीको न तो कोई वस्तु प्राप्त है और न अप्राप्त ही; क्योंकि जब पदार्थोंकी सत्ता है ही नहीं, तब फिर उन्हें प्राप्त-अप्राप्त कैसे कहा जा सकता है। अतः यह सब कुछ आवरण-रहित शान्तस्वरूप सचिदानन्द परमात्मा ही है।

जैसे पत्र, पुष्ट, फल और शाखा आदि अंशोंसे युक्त वृक्ष एकरूपसे भलीभौति स्थित है, उसी तरह अनन्त एवं सर्वशक्तिमान् परमात्मा एकरूपसे ही छोगोंमें व्याप्त है। जब अग्रादि परमपद-स्वरूप परमात्माका ज्ञान हो

जाता है, तब प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण आदि मायिक रूपधारे जगत्का विस्तरण हो जाता है। फिर किसीको कभी उसकी स्मृति नहीं होती। जैसे स्वच्छ जल आहे निश्चल हो अथवा लहरियोंके धौपे खा रहा हो—दोनों अवस्थाओंमें जलके स्वरूपमें भेद न होनेसे वह एकरूप ही है, उसी प्रकार दिशा और कालरूपमें व्यक्त होनेपर भी परमात्मा सदा एकरस, अनादि और विशुद्ध है। वह सम्पूर्ण विकारोंके उदय और नाशसे रहित होनेके कारण अज्ञानका प्रकाशक, आदि, मध्य और अन्तसे परे तथा एकरूपसे स्थित है। केवल विशुद्धज्ञानरूप प्रकाशकी स्वरूपभूता विभा द्वैत और पैद्यविषमक संकल्प-विकल्प करनेके कारण ‘अहम्, त्वम्’ हस्यादि जगत्के रूपसे प्रतीत होती है—ठीक उसी तरह, जैसे आकाश-मण्डलमें उसकी अपनी शून्यता परिलक्षित होती है।

( सर्ग ५६-६० )

### सृष्टिकी अस्त्यता तथा सबकी ग्राहकूपताका प्रतिपादन

श्रीवस्तिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! ज्ञानवान् पुरुष सब प्रकारकी सारी अनित्योंको सचिदानन्दवम परमात्माके ही अंदर सदा स्थित जानता है, इसलिये वास्तवमें सब सर्वस्वरूप अजन्मा परमात्मा ही है। इस तरह परब्रह्म परमात्माको सर्वरूपता ही उसकी समता है। शब्दों और अथोंका सारा ज्ञान नहीं ही है, उससे मिन्न नहीं। जैसे कंगनका रूप सुवर्णसे और तरङ्गकी सत्ता जबसे कभी पृथक् नहीं हो सकती, उसी प्रकार जगत् परमेश्वरसे मिन्न नहीं है। यह ईश्वर ही जगत्-रूप है। ईश्वरमें उससे पृथक् जगत्का रूप नहीं है। सोना ही कंगन आदिके रूपमें उपलब्ध होता है। सोनेमें कंगनकी पृथक् सत्ता नहीं है। जैसे लकडिक-शिलाके भीतर भेद न होनेपर भी उसमें प्रतिविभित वन-पंक्तियोंका भेदरूपक समावेश प्रतीत होता है ( प्रति-विभित वस्तुएँ अपनी आवारण शिलासे मिन्न

न होनेपर भी जैसे मिन्न-सी प्रतीत होती हैं ), उसी प्रकार सचिदानन्दवम परमात्मामें अभिन्न रूपसे स्थित जगत् और अहंकी अज्ञानके कारण भेदयुक्त प्रतीति होती है। अथवा जैसे शिल्पी शिला-को खोदकर उसमें लिमिन्न मूर्तियोंका निर्माण करता है, वे मूर्तियों उस शिलासे मिन्न न होनेपर भी भ्रमवश मिन्न-सी जान पड़ती हैं, उसी प्रकार मनरूपी शिल्पीने चिद्वन परमात्मामें जिस जगत् और अहंकी कल्पना की है, वह उससे मिन्न नहीं है, तथापि अज्ञानवश भेदकी प्रसीति होती है। वास्तवमें वह चिद्वनरूप ही है। जैसे तरङ्गशून्य जलके भीतर तरहों स्थित हैं, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मामें सृष्टि-शब्दार्थसे शून्य सृष्टियों स्थित हैं। वास्तवमें न तो सृष्टिमें परब्रह्म है और न परब्रह्ममें सृष्टि ही है।

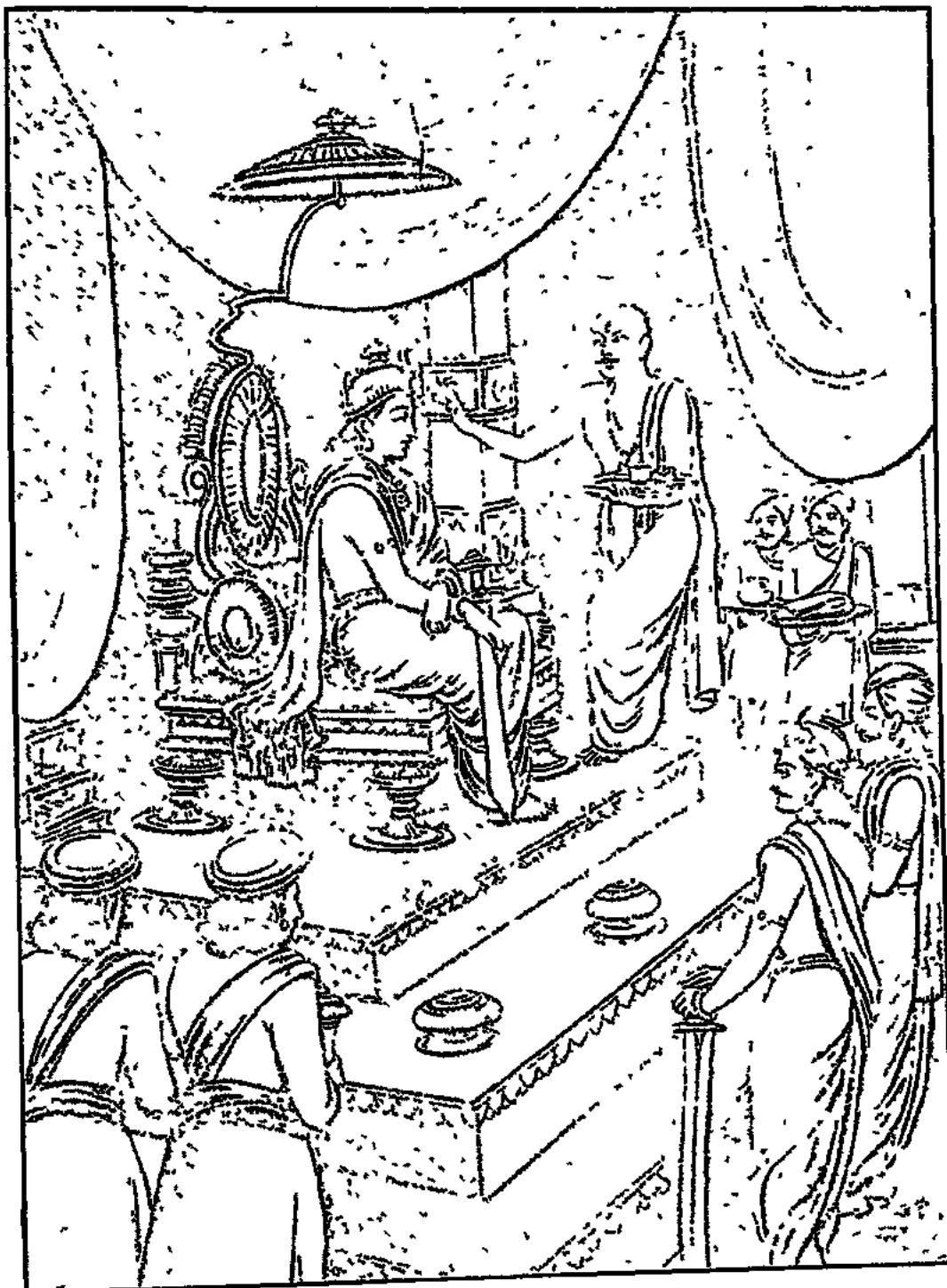
जैसे वायु अपनेमें ही स्पन्दकी कल्पना करती है, उसी प्रकार परमार्थ-चिन्मय ब्रह्म अपनी ज्ञानवृत्तिसे अपने ही गूढ़ स्वरूपको प्रपञ्चके रूपमें अभिव्यक्त कर देता है। पास्त्रधर्ममें वह उसका अपना चिन्मय स्वरूप ही होता है। शब्द-तत्त्वात्रा, जो पहले अपने कारणमें लीन थी, सर्वशक्तिमयी मायाके अमत्कारसे युक्त रूपको धारण-कर चित्तसे अन्तःकरणमें उठनेवाले संकल्पकी मौति जब चिन्मय आकाशके समान स्फुरित होती है, तब उसीके आकाशका आविर्भाव कहते हैं। वही ( आकाश-भावको प्राप्त हुआ ब्रह्म ही ) स्वर्य अपनेमें अपनी ही सत्तारूप वायुमायका अनुभव करता है, जिसके भीतर स्पर्श-तत्त्वात्राका संस्कार उद्भुद होता है। उसकी अनुभूति वैसी ही है, जैसे पवन अपनेमें स्पन्दनका अनुभव करता है। वायुमायको प्राप्त हुआ ब्रह्म ही स्वयं अपनेमें अपनी ही सत्तारूप प्रकाशमायका अनुभव करता है, जिसके भीतर रूपतत्त्वात्राका संस्कार उद्भुद होता है। उसकी यह अनुभूति वैसी ही है, जैसे तेज प्राकङ्क-का अनुभव करता है। वह तेजोमय ब्रह्म ही स्वयं अपनेमें अपनी ही सत्तारूप-अलमायका अनुभव करता है, जिसके भीतर रसतत्त्वात्राका संस्कार उद्भुद होता है। उसकी यह अनुभूति वैसी ही है, जैसे जल अपनी द्रक्तव्यका अनुभव करता है। वह जल-रूपताको प्राप्त हुआ ब्रह्म ही अपने चित्तसे अभिन्नरूप पृथ्वीमायका अनुभव करता है, जिसके भीतर गन्धतत्त्वात्रा स्थित होती है। उसकी यह अनुभूति भी वैसी ही है, जैसे पृथ्वी अपनेमें स्थैर्य-कलाका अनुभव करती है।

जो नित्य एकतरस प्रकाशसे युक्त है, सुष्टि और प्रलय जिसके भीतर हैं, जो जन्म और विनाशसे रहित, रोग-शोकसे शून्य तथा शुद्ध है, वह ब्रह्म बिना किसी आवारके अपने आपमें ही स्थित है। उस परमार्थ सत्य वस्तु ( परब्रह्म परमात्मा ) का यथार्थ ज्ञान-होनेपर परम गतिरूप मोक्ष प्राप्त हो जाता है। उक्त परमार्थ-वस्तु

सुष्टियुक्त होनेपर भी सर्वथा सम ( विषमतासे रहित ) ही है।

जैसे अनिमें जो प्रकाश है, वह उससे भिन्न भ होनेपर भी भिन्न-सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें जो यह जगतरूपी प्रकृता है, वह उनसे भिन्न न होकर भी भिन्न-सा जान पड़ता है। भिन्नरूपसे दिखायी देता ही उसका असत्य रूप है और अभिन्नरूपसे दीखना ही उसके सत्य रूपका दर्शन है।

जैसे गीली मिट्टीमें अव्यक्तरूपसे खिलौने मौजूद हैं, जैसे काष्ठमें छुर्दाई करके प्रकट न की हुई कठपुतली मौजूद है और जैसे स्वाहीके चूर्णमें अक्षर स्थित हैं, उसी तरह परब्रह्म परमात्मामें नाना प्रकारकी सुष्टियाँ विद्यमान हैं। यथापि ब्रह्म-तत्त्वरूपी महमूर्मिमें त्रिलोक-रूपिणी मुग्नतर्णा असत्य ही है, तथापि मायावश सत्य-सी प्रतीत होती है। वह ब्रह्मसे अभिन्न होती हुई भी भिन्न-सी मासित होती है। जैसे दूधका मिठास, मिर्चका तीखापन, जलकी तरलता और पवनका स्पन्दन उससे भिन्न नहीं है, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मामें यह सर्ग अनन्यमायसे स्थित है। उससे भिन्नरूपमें उसका कोई अस्तित्व नहीं है। परमात्मामें लीन होकर वह चिन्मात्र स्वरूपसे स्थित होता है, परमात्माका अपना ही स्वरूप धारण करता है। कोई भी वस्तु कहीं और कभी भी न तो प्रकट होती है और न छयाको ही प्राप्त होती है। सब कुछ सुन्दर शिलाके घनीभूत स्वरूपकी मौति शान्त, अनादि, निरकार, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही है। जैसे जलके भीतर गुप्त और प्रकटरूपसे तरङ्ग आदि रहते हैं, उसी तरह जीशमें जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि शक्तियाँ गुप्त और प्रकट रूपसे विद्यमान रहती हैं। 'पुरुष जिस-जिस वस्तुकी ओरसे विरक्त होता है, उस-उससे सुक्त होता जाता है। ( जो सब औरसे निवृत्त हो जाता है, उसे अणुमात्र हुःखका भी अनुभव नहीं होता है। )' इस



राजा सिन्धुका राज्याभिवेक

(ठत्पति-प्रकरण संग ५१)



सृष्टि-वाक्यके अनुसार जो देह आदिमें अहंभावका अनुभव नहीं करता, ऐसा कौन मनुष्य जन्म-परणरूपी अमरको प्राप्त होगा । परजलमें व्यष्टि जीव-रूपसे प्रकट हुई जो अद्वितीय चित्-सचा है, वह जलकी तरलताके

भीतर व्यक्त हुई आवर्त ( भैवर ) की रेखाके समान है । वही अहंभावसे युक्त होकर इस तीनों लोकोंको वारण करती है । वास्तवमें तो परमात्माके भीतर न भद्ररूप जगत् है और न असदरूप । ( सर्ग ६२ )

### जगद्वी असचा या अमरुपताका प्रतिपादन तथा नियति और पौरुषका विवेचन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! ये वर्तमान, भविष्य और भूतकालकी सृष्टि-प्रभ्यगरें अपनी सचाको उसी प्रकार वारण करती हैं, जैसे जलकी तरलता अपने भीतर स्पष्ट रूपसे आवर्तोंकी परभ्यरा धारण करती है । जैसे महती मरुभूमिमें तटवर्ती दृक्षो और लताओंसे झड़ती हुई पुष्प-नाशिसे परिपूर्ण लद्धराती नदी मिथ्या ही प्रतीत होती है, उसी प्रकार सक्षिदानन्दवन परमात्मामें यह सृष्टि-सुधामा सर्वथा मिथ्या ही है । जैसे स्वधनका संसार-इन्द्रजालका नगर और संकल्प या मनोरथदूरा कलिपत जगत्—ये सब सत्य न होनेपर भी प्रतीतिके विषय होते हैं, उसी प्रकार सृष्टियोंके अनुभवकी भूमि असत्य होनेपर भी प्रतीतिगोचर हो रही है ।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—आनन्दानोंमें श्रेष्ठ गुरुदेव ! पूर्वोक्त प्रकारसे भलीभाँचि विवेक-विचार करनेपर अब एकमात्र अद्वितीय परखास परमात्माके माध अपनी एकता-का पूर्ण निष्कर्ष हो जानेसे उत्कृष्ट एवं सशयरहित आत्म-विज्ञान प्रकाशित हो जाता है, तब तत्त्वज्ञानियोंके भी शरीर यहाँ किसलिये दिके रहते हैं ; यदि कहे वे दैवके ही अधीन होकर रहते हैं तो तीक नहीं जान पायता, क्योंकि उन तत्त्वज्ञानियोंपर दंतका प्रभाव कैसे रह सकता है ।\*

\* श्रुति कहती है—‘तत्य ह न देवाश्च नाभूत्य इश्वते । आत्मा होवाऽ स भवति’ अर्थात् तत्त्वज्ञानीके पराभवमें देवता भी समर्थ नहीं; क्योंकि वह उनका आत्मा ही हो जाता है ।

( शुद्धदर्शक० २ । ४ । १० )

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! प्रदा आदि तत्त्वज्ञानियोंने अज्ञानियोंके बोधके लिये यह बताया है कि जो प्रश्न है, वही नियति है और वही यह सर्ग है । स्फटिक-शिलाके भीतर प्रतिविनिष्ट चित्रसमृद्धकी भौति परमात्मामें स्थित हुए प्रदाने नियति ( जीवोंके अट्ट )-रूपी मावी सृष्टिको उसी तरह देखा है, जैसे सोया दुधा पुरुष अपनेमें स्वप्न-जगत्की कल्पनाके आधारभूत आकाशको देखता है । जैसे चेतन-स्वभाव होनेके कारण बझी ( देहधारी पुरुष ) को शरीरमें अङ्ग आदि दिखायी देते हैं, उसी तरह ‘कमलोऽन्नव’ रूपसे प्रसिद्ध चिन्मय ब्रह्माको भी नियति आदि अङ्गोंके दर्शन होते हैं । यह नियति ( प्रारब्ध ) ही दैव नामसे कही गयी है, जो शुद्ध चेतन परमात्माकी शक्तिरूप है । यही भूत, भविष्यत् एवं वर्तमानकालमें सम्पूर्ण पदार्थोंको अपने अधीन करके जगद्वी नवत्वस्थारूपसे स्थित है । ‘भविष्यमें अमुक पदार्थमें उम प्रकारकी स्फृति होनी चाहिये, अमुकको भोक्ताका उम प्राप्त होना चाहिये, इसके द्वारा इस प्रकार और उसके द्वारा इस प्रकार अवश्य होना चाहिये’ ऐसा विचार दैव ही करता है । यह दैव या नियति ही सम्पूर्ण भूत आदि अथवा काल-क्रिया आदि जगत् है । उम नियति या प्रारब्धसे ही पुरुषार्थकी मता अक्षित होती है और पुरुषार्थसे ही इस प्रारब्धकी नता सूचित होती है । जबतक तीनों भूतन हैं, तबतक प्रारब्ध और पुरुषार्थ—ये होनो सत्ताएँ परस्पर अभिन्न-रूपसे स्थित हैं । मनुष्यको अपने पौरुषसे ही दैव और

पुरुषार्थ दोनोंको बनाना चाहिये । प्रारब्धके अनुसार अवश्य होनेवाला भोग होकर ही रहेगा—ऐसा निश्चय करके बुद्धिमान् पुरुष कभी पौरुषका ल्याग न करे; क्योंकि प्रारब्ध पौरुषरूपसे ही नियामक होता है अर्थात् पूर्ववस्थमें किया गया पुरुषार्थ ही वर्तमान जन्ममें प्रारब्ध होकर यह नियम करता है कि अमुकको ऐसा ही होना चाहिये ।

जो प्रारब्धके भरोसे मूल बनकर पौरुषशून्य एवं अकर्मण्य हो जाता है, वह कभी सुखी नहीं हो सकता । जो अकर्मण्य होकर बैठेगा, उसकी प्राण-बायुकी चैषा कहाँ चली जायगी । यदि निर्विकल्प समाधिमें विचक्षणता प्रदान करनेवाला प्राणनिरोध करके पुरुष साधु

होकर मुक्ति पा ही गया तो वह भी उसके पुरुषार्थका ही फल है । विना पुरुषार्थके किस फलकी प्राप्ति बतायी जा सकती है ; एकमात्र शास्त्रीय पुरुषार्थमें तत्पर होना कल्याणकारी श्रेष्ठ साधन है और कर्तृत्वका अस्थन्त अभावरूप मोक्ष सर्वश्रेष्ठ कल्याणमय फल है ।

इन साधन और फलोंकी अपेक्षा इन्हींका पक्ष सबल है; क्योंकि उन आनी महास्मार्थोंका प्रारब्ध-भोग दुःखरहित है । जो दुःखरहित प्रारब्ध-भोग है, वह यदि महासत्त्वाके प्रकाशमें स्थिर हो जाय तो निश्चय समझना चाहिये कि वह परम शुद्ध प्रब्लम, जिसे परम गति कहते हैं, प्राप्त हो ही गया । ( सर्ग ६२ )

**ग्रन्थकी सर्वरूपता तथा उसमें भेदका अभाव, परमात्मासे जीवकी उत्पत्ति और उसके स्वरूपका विवेचन, परमात्मासे ही मनकी उत्पत्ति, मनका अभ द्वीप ही जगत् है—इसका प्रतिपादन तथा जीव-चित्त आदिकी एकता**

श्रीकृतिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! यह जो ग्रन्थ-सत्त्व है, वह सर्वथा, सर्वदा, सब ओरसे सर्वशक्तिमान्, सर्वस्वरूप, सर्वेश्वर, सर्वव्यापी और सर्वमय ही है । वह जब, जहाँ, जिसकी, जिस प्रकारसे भावना करता है, तब वहाँ उसीको प्रत्यक्ष देखता है । सर्वशक्तिमान् परमात्मासे जो-जो शक्ति जैसे उद्दिष्ट होती है, वह उसी प्रकार रहती है । ऐसी स्थितिमें वह शक्ति स्वभावसे ही नाना प्रकारके रूपव्याप्ति है । परमार्थ-दृष्टिसे ये सारी शक्तियाँ यह आत्मा ही है अर्थात् शक्ति और शक्तिमान् परमात्मामें कोई भेद नहीं है । बुद्धिमानोंने लौकिक व्यवहारकी सिद्धिके लिये इस प्रकार भेदरूप संसार-आलक्षी कल्पना की है । वस्तुतः परमात्मामें भेद नहीं है । जैसे समुद्रमें छोटी-बड़ी लहरोंका और समुद्रका; कंगन, बाजूरंद और केयूरके साथ सोनेका तथा अवयव और अवयवीका भेद वास्तविक नहीं है, उसी प्रकार आत्ममें द्वैत अवयव भेद वास्तविक नहीं है, कल्पना करनेवाले पुरुषकी

बुद्धिसे कलिपत है । परमार्थ-दृष्टिसे देखा जाय तो यह समूर्ण आकारोंसे युक्त विस्तृत प्रपञ्च सर्वव्यापी ग्रन्थ ही है । मिथ्या ज्ञानवाले लोगोंने ही शक्ति और शक्तिमान्मूके तथा अवयव और अवयवीके भेदकी कल्पना कर रखी है । यह भेद यथार्थ नहीं है । सद् हो या असद्, सच्चिदानन्दधन परमात्मा जिस सदसद्-प्रस्तुता संकल्प अथवा अभिनिवेश करता है, उसी-उसीको देखता है । वास्तवमें भव वस्तुओंके रूपमें वह सच्चिदानन्दधन परमात्मा ही भासित हो रहा है ।

श्रीराम ! यह जो सर्वव्यापी, स्वयम्भक्षण, आदि-अन्तसे रहित, सबका महान् ईश्वर, स्वानुभवानन्दस्वरूप, शुद्ध, मच्चिदानन्दधन परमात्मा है, इसीसे पहले जीव उत्पन्न हुआ है । वही उपाधिकी प्रवानतासे चित्त कहलता है और चित्तसे यह जगत् उत्पन्न हुआ है ।

रघुनन्दन ! जिसमें प्रतीत होनेवाला दृश्य-प्रपञ्च असद्

है, वह शुद्धस्तरुप ब्रह्म यहाँ सर्वत्र व्यापक है। वह शृङ्खला भव अनात्मयोगी पुरुषोंके लिये भीषण है और आत्मबेसाध्योंके लिये अविनाशी संविदानन्दभूत है। उसका जो सर्वत्र सम, परिपूर्ण, शुद्ध, निवृहित सत्त्वरूप है, वही शान्त परमपद है। इनी भी उसके स्तरुपका इदमित्यरूपसे निर्देश नहीं कर सकते। उसीका चेतन अंश, जो स्वभावतः स्पन्दनशील ( प्राण धारण करनेवाला ) है, जीव कहलाता है। उसम दर्पणरूपी उस चेतन आकाशमें ये असंख्य बगस-जालकी परम्पराएँ प्रतिविम्बित होती रहती हैं। जैसे चलना या गतिशील होना वायुका स्वभाव है, उणता अस्तिका स्वभाव है अथवा शीतलता हिमका स्वभाव है, उसी प्रकार जीवत्व आत्मा ( व्यष्टि-चेतन ) का स्वभाव है। व्यष्टिचेतनघन जो आस्तस्त्व है, उसकी स्थिरता अपने स्तरुपके अङ्गानके कारण जो अल्पक्षता है, उसीको जीव कहा गया है। कोई पुण्यात्मा पुरुष दिव्य देह आदिकी भावना करनेसे शीघ्र ही देवता आदिके शरीरको प्राप्त होता है। उस देहमें रहकर वह गन्धवों या अन्य देवताध्योंसे मुरक्कित नगर ( अमरावनी आदि ) में निवास करता है। अपने संकलनके अनुसार कोई पुरुष हक्क आदि स्थावर योनिको प्राप्त होता है, कोई जड़म योनिमें जन्म ग्रहण करता है तथा कोई पक्षी आदि स्वेच्छ प्राणियोंका रूप धारण करता है। इस प्रकार जन्म और मृत्युके कारण बने हुए अपने कर्मोंसे जीव ऊपर या नीचे जाते हैं ( ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म ग्रहण करते हैं )।

श्रीराम ! परम कारणरूप परमात्मा से ही पहले मन उत्पन्न हुआ है। मनन ही उसका स्तरुप है। भोगोंसे

भरा हुआ जो पह विस्तृत जगत् है, वह मनमें ही है। वह मन भी उस परम कारणरूप परमात्मामें ही स्थित है। वह भाव और अभावके झूलेमें शूलता रहता है। जैसे पहले अनुभवमें आयी हुई पुण्यव याद करनेपर मनोरथके द्वारा देखी जाती है, उसी प्रकार उस मनके द्वारा सत् और असत्रूपसे प्रतीत होनेवाली यह सृष्टि देखी जाती है। परमात्माका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर ब्रह्म, जीव, मन, माया, कर्म, कर्म और जगत्की प्रतीनियोंका कोई भेद नहीं रह जाता। सब हैतोंके एकमात्र आश्रय परमात्मा ही स्थित रहते हैं। जिसके विस्तारका कहीं आर-पार नहीं है, उस संविश्वरूपी जलके असीम प्रसारोंसे विन्मय एकार्णवरूप यह आत्मा स्वयं विस्तारको प्राप्त होता है। क्षणिक होनेके कारण असत्य तथा प्रतीत होनेके कारण सत्य वह मनोमय जगत् स्वरूपके समान सदसदूरूप है। बास्तवमें यह बगदू न तो सद् है, न असद् है और न उत्पन्न ही हुआ है। यह तो केवल विचार का भ्रम है। जैसे अच्छी तरह न देखनेके कारण दूठे काठमें दूठे ही पुरुषकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार अविद्यायुक्त मनके प्रभावसे वह सासार नामक दीर्घकालीन स्वरूप अङ्गानियोंको स्त्री-सा प्रतीत होता है। जैसे चेतन परमात्मा और जीवमें भेद नहीं है, उसी तरह जीव और चित्तमें भी भेद नहीं है और जैसे जीव तथा चित्तमें भेद नहीं है, उसी तरह देह और कर्ममें भी भेद नहीं है। वस्तुतः कर्म ही देह है; क्योंकि देहसे ही कर्म होते हैं। देह ही वित्त है, वित्त ही अहंकारविशिष्ट जीव है। वह जीव ही चेतन परमात्मा है तथा वह परमात्मा सर्वस्तरुप एवं कल्याणमय है। यह शास्त्रका सारा सिद्धान्त एक पदमें ही कह दिया गया है। ( सर्ग ६३-६५ )

**चित्तका विलास ही हैत है, त्याग और ज्ञानसे ही अङ्गानसहित मनका क्षय होता है—इसका ग्रतिपादन तथा भोक्ता जीवके स्तरुपका वर्णन**

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! जैसे एक दीपकसे सैकड़ों दीपक जल जाते हैं, उसी तरह एक ही परम

वस्तु चेतन आत्मा अपने संकलनसे पानो नानालक्षों प्राप्त हुआ है। मनुष्य चित्तमात्र ही है। चित्तके हट जानेपर

यह जगत् शान्त हो जाता है। जिस पुरुषके पैर जूतेसे ढके होते हैं, उसके लिये मानो सारी पृथ्वीपर ही चमड़ा छिन्ना हुआ है; इसी प्रकार जिसका वित्त शान्त है, उसके लिये साग जगत् ही शान्त हो गया। जैसे केलेके दृश्यमें पत्तोंको छोड़कर और कुछ भी सार नहीं रहता, उसी प्रकार जगत् में भ्रमके सिवा और कुछ भी सार तरफ नहीं है। जीव जन्म लेता है; फिर क्रमशः बाल्यावस्था, युवावस्था, मृद्गावस्था तथा मृत्युको प्राप्त होता है। तत्पश्चात् वह द्वुभाषुम कर्मोंके अनुसार सर्व और नरकमें पहुँचता है। यह सब भ्रमवश चित्तका तुष्ट अर्णात् संकल्पमात्र है। जैसे मलदोषसे मर्लिन नेत्र चमड़ा आदिमें दो-दो आकृतियों देखता है, वैसे ही भ्रमसे आकृत द्वुआ जीवात्मा परमात्मामें दौत देखता है (जीव और ईश्वरमें येदका दर्शन करता है)। जैसे मदिरा पीकर मतावाला हुआ मनुष्य नशेके कारण शुक्षोंको धूमते देखता है, उसी प्रकार जीवात्मा चित्तद्वारा कल्पित संसारोंका दर्शन करता है। जैसे बालक लेल-कूदमें बेगसे धूमनेके कारण सारे जगत्को कुम्हारके चाककी भौति धूमता देखते हैं, उसी प्रकार जीव चित्तके भ्रमसे ही इस दृश्य-जगत्को देखते हैं—यों समझो। जिस पदार्थका चेतन अनुभव करता है, वह चेतनसे अविरक्त दूसरा कुछ नहीं है। इस प्रकार दृश्यकी शान्ति होनेपर विषय न रहनेसे ईच्छनरहित अग्निके समान चित्त खयं शान्त हो जाता है। जब पुरुष सचिदानन्दधन परमात्मासे एकताको प्राप्त होकर निष्कल खितिमें खित हो जाता है, तब वह शान्त होकर बैठे या अवहारमें रुग्न रहे—दोनों ही अवस्थाओंमें भलीभौति शान्त कहा जाता है। अष्टि-चेतन अज्ञानी जीव विषयका अनुभव करता है, परंतु नचिदानन्दधनमें एकीभावको प्राप्त ज्ञानी महात्मा विषयका आस्ताद्वन नहीं करता।

परमपदमें आखड़ और सचिदानन्दधन परमप्रसामे एकीभावको प्राप्त हुए पुरुषका 'देहके मानसे शून्य' और

'निर्विषय' आदि समानार्थक शब्दोद्धारा वर्णन होता है। जीवात्मा चित्तके संकल्पद्वारा ही स्थूलताको प्राप्त होना है श्रीरमें उत्थन हुँ, जीवित हुँ, देखना हुँ तथा (जन्म-मृत्युरूप) ससारको प्राप्त होता हुँ' इत्यादि रूपसे मिथ्या-भ्रमका दर्शन करता है। चेतनके द्वारा जिस किसीका अनुभव होता है, वही स्थूल जगत् है। रस्तुमें सर्पकी मौति प्रनीत होनेवाले उस आमासको अविद्या-भ्रम कहते हैं। इस संसार नामक व्याख्यिकी विकिसा एवं निवारण केवल ज्ञानप्राप्त्यसे ही सम्भव है। यह संसार चित्तका एक सकल्पमात्र है। इसके बाघमें किसी प्रकारका आयास नहीं है। जैसे अण्डी तरह देवभाल करनेसे रस्तीमें सौंपका भ्रम मिट जाता है, उसी प्रकार परमात्माके विषय ज्ञानसे यह संसार-रूपी भ्रम अवश्य नष्ट हो जाता है।

श्रीराम! जिस वस्तुकी अभिलाषा हो, उसीका निश्चित रूपसे त्यागकरके यदि रहा जा सके, तब तो मोक्ष प्राप्त ही है। इतना करनेमें कौन-सी कठिनाई है। परमात्माकी प्राप्तिरूप महान् दरेश्यसे सम्पन्न पुरुष जब इस संसारमें अपने प्राणोंका भी मोह तिनकेके समान त्याग देते हैं, तब जिस सांसारिक वस्तुकी इच्छा की गयी है, केवल उसीका त्याग करनेमें कंजसी जैसे की जा सकती है। जैसे द्वाघमें रक्खा हुआ बेलका फल अथवा सामने खड़ा हुआ पर्वत प्रत्यक्ष ही दिखायी देता है, उसी प्रकार उस तरफ़ भगवात्माके लिये परमात्माका जन्म आदि विकारोंसे रहित होना प्रत्यक्ष ही है। जैसे प्रलयकालका अनन्त अपार एकार्णव अपनी असंख्य तरङ्गोंके कारण अनेक-सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार अप्रमेय परमात्मा ही अज्ञानके कारण जगत्रूपसे प्रतीत हो रहा है। उसके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो जाय तो वही मोक्षरूप सिद्धि प्रदान करता है; परंतु जो उसे तत्त्वतः जान नहीं लेता, उसका मन सदा बन्धनमें ही पड़ा रहता है।

रघुनन्दन! ब्रह्म सदा सम्पूर्ण शक्तियोसे सम्पन्न तथा सब कुछ करनेमें समर्थ है। वह जहाँ जिस शक्तिसे

स्फुरित होता है, वहाँ अपनेमें उसी शक्तिको प्राप्त हुई देखता है। सबका आत्मा ब्रह्म अनादिकालसे जिस व्यष्टि-चेतनको स्वयं जानता है, वही वहाँ जीव नामसे कहा गया है और वह जीव ही संकल्प करनेवाला है। जीव-ईश्वरक अनादिकालसे जो साधारित भेद है, वही जीवके जन्म-मण्डिरमें कारण है। जैसे आकाशमें कियाशील और अकिय धारु ही है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है, उसी तरह यहाँ सर्वत्र कियाशील और अकिय सच्चिदानन्दधन प्रका ही है। उससे अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उस ऋषके कियाशील होनेपर सृष्टिका प्रादुर्भाव होता है और अकियहनेपर सबका प्रलय ही जाता है। उस अवस्थामें ब्रह्म ही शास्त्रभावसे स्थित रहता है। जिसने जीव-ईश्वरके भेदकी कल्पना कर रखी है, ऐसे जीवात्माको ही देहकी प्राप्ति होती है। वह जीवात्मा ही संसारमें संकल्पसे नामा प्रकारके विषयोंको प्राप्त होता है। यही नाना योनियोंको प्राप्त जीवात्मा ज्ञान होनेपर शीघ्र मुक्त हो जाता है। उनमेंसे कोई मन्द अन्यासी तो साधन करते-करते हजारों जन्मोंमें मुक्ति प्राप्त करता है और कोई तीव्र अन्यास करनेवाला पुरुष एक ही जन्ममें मुक्ति ज्ञान कर लेता है। साधारितके कारण ही जीवात्मा ब्रह्म और जीवके भेदभावको प्राप्त हो रहा है। इसीसे वह गुणोंका सङ्ग पाकर कर्म-नुसार खार्ग, मोक्ष, नरक और ब्रह्मन आदिके हेतुभूत देहभावको ज्ञानः प्राप्त होता है। शास्त्रमें यह संसार न तो उत्पन्न हुआ है और न यह संसारान् होकर स्थित ही है, तथापि मनका भ्रम हीसे देखता है। जैसे गोलाकार घूमने या नृत्य करनेसे अमरीकित पुरुष नगरको भी धूमता हुआ-ना देखता है, उसी तरह मनके भ्रमसे युक्त जीवात्मा भी उत्पन्न हुआ, स्थित रहा और मरा। इत्यादि भावोंका अनुभव करता है। परमार्थ-वस्तुका दर्शन न होनेके कारण आशा-नृष्णाके वशीभूत हुआ चिरा 'अहं-मम' इत्यादि रूपसे अनुभवमें आनेवाले असत् संसारको ही देखता ( और उसे सद् मानता ) है।

श्रीराम ! जैसे जल तरङ्गरूपसे स्फुरित होता है, उसी तरह केवल मनकी भान्तिके उड्ढास ( उत्कर्ष ) से विस्तारको प्राप्त हुआ यह सभी इत्य-प्रपञ्च जगतरूपसे भासित होता है। व्यष्टि-चेतन ही बुद्धि-शृणिके संयोगसे जीव कहलाता है। वह जीव ही संकल्प करनेसे मन, बुद्धि, चिरा, अहंकार तथा मायाके रूपमें परिणत हो जाता है। जैसे सूजनमें जो नगर आदिका मान होता है, वह मनका भ्रम ही है, उसी तरह वह संसार भी चित्तका भ्रम ही है। व्यष्टि-चेतनको जो संसारका ज्ञान है, वही जागरण कहा गया है। मूलभूत शरीरमें जो उसका अहंभाव है, उसीको सूजन माना गया है। मनका जो प्रकृतिमें विलीन हो जाता है, वही शुष्पुसि है तथा केवल सच्चिदानन्दधन ब्रह्ममें जो एकीभावसे तन्मय हो जाना है, उसीको तुरीयवस्था कहते हैं। अत्यन्त शुद्ध सच्चिदानन्दधन परमात्मामें जो अविचल स्थिति है, वही परिणाममें विकार-रहित तुरीयातीत पद है। उस पदमें स्थित पुरुष कभी शोक नहीं करता ( वहाँ शोकका सर्वथा अभाव है )। उस परमात्मामें ही यह सब जगत् सम्पन्न होता है ( उसीमें स्थित रहता है ) और उसीमें लीन हो जाता है। शास्त्रमें न तो यह व्रक्ष जगतरूप है और न उस ग्रन्थमें बगत् ही है। जैसे नेत्रदोषके कारण आकाशमें भ्रमसे मोतीके दाने-से दीखते हैं, वैसे ही ग्रन्थमें भ्रमसे इस जगतका दर्शन होता है। जैसे स्फटिकके भीतर प्रतिविम्बित वन आदि उसके व्यार्थ ज्ञानके बिना सत्य-से दीखते हैं, उसी तरह व्यार्थ ज्ञान न होनेके कारण अद्वितीय ब्रह्मरूप होता हुआ भी यह जगत् शुद्ध ग्रन्थके भीतर नाना-सा प्रतीत होता है। ग्रन्थसे लेकर कीट-पतंग-पर्यन्त बुद्धिशृणिका भ्रमरूप जगत् असत् ही है; क्योंकि परमात्माका व्यार्थ ज्ञान होनेपर इसका वाध हो जाता है। यह जगत् मिथ्या ही उत्पन्न हुआ है, मिथ्या ही बढ़ता है, मिथ्या ही उचिकर प्रतीत होता है और मिथ्या ही उत्पन्नको प्र.म होता है; शुद्ध सर्वभ्यापी ज्ञान अनन्त् और

अद्वितीय है। अङ्गानसे ही वह अशुद्ध-सा, असत्-सा, आना-सा और असर्वव्यापी-सा (सीमित-सा) शात होता है। जैसे अल मिज है और तरङ्ग उससे मिज है—ऐसी जो बाल्कों अथवा मूर्खोंकी कल्पना है, उसीसे जल और तख्तमें मिथ्या भेदकी प्रतीति होती है, उसी तरह जो

यह जगत्का मेद प्रतीत होता है, वह भी वास्तविक नहीं है। केवल अङ्गनियोंने उसकी कल्पना कर रखी है। जैसे रस्सीमें सर्पकी स्थिति है, वैसे ही बहामें शत्रु और मित्रके समान विरह और अविश्वद भेदामेद शर्कियों-की स्थिति सम्पन्न है। (सर्ग ६६-७९)

### परमात्मसत्ताका विवेचन, बीजमें वृक्षकी भाँति परमात्मामें जगत्की त्रैकालिक स्थितिका निरूपण तथा ब्रह्मसे वृथक् उसकी सत्ता नहीं है—इसका प्रतिपादन

श्रीकृष्णियों कहते हैं—खुमन्दन। नामरहित तथा मन और नेत्र आदि छः क्षानेन्द्रियोंसे आगम्य होनेके कारण आकाशसे भी सूक्ष्म चिन्मात्र परमात्मा ही 'अणु' शब्दसे कहा गया है। अणुके भी अणु सचिदानन्दवन परमात्माके अदर अङ्गनियोंकी दृष्टिसे सत्-सा और अङ्गनियोंकी दृष्टिसे असद्-सा स्थित हुआ यह जगत् बीजके भीतर वृक्षकी सत्ताके समान स्फुरित होता है। सम्पूर्ण वस्तुओंकी सत्ता वास्तविक सत्ताके अधीन है; उसको यदि और किसीके अधीन मानें तो भूल होगी। अतः खतःसिद्ध वास्तविक सत्तासे ही सबकी सत्ता है। यह परम आकाशरूपी परमात्मा सूक्ष्म होनेके कारण नेत्रेन्द्रियका विषय नहीं है। सर्वात्मक होता हुआ भी वह मनसाहित पौर्णों इन्द्रियोंसे अतीत होकर स्थित है, अनः अणुका भी अणु है। सर्वात्मक होनेके कारण ही वह कभी शृण्य नहीं हो सकता। क्योंकि 'वह है, नहीं है'—ऐसा कहने और मनम करनेवाला पुरुष आत्मा ही तो है; फिर उसकी असत्ता कैसे कही जा सकती है। किसी भी युक्तिसे यहाँ सत् वस्तुकी असत्ता नहीं सिद्ध की जा सकती। जैसे काष्ठ अपनी सुगन्धसे प्रतीत होता है, वैसे ही सर्वात्मा सर्वव्यापीरूपसे अनुमध्यमें आता है। अणुका-यो-अणु चेतन परमात्मा ही सब कुछ है। मन और इन्द्रियोंकी हृतिसे नानात्मकी प्रतीति होनेके कारण मनः-परिच्छिन्नरूपसे ही वह सर्वात्मक है और इन्द्रियातीत

होनेके कारण वह निर्भौल परमात्मा नित्य सत्तावान् होकर भी कुछ प्रतीत नहीं होता—इन्द्रियोंका विषय नहीं होता। वही एक है और सम्पूर्ण जीवोंके अन्तःकरणमें आरमारूपसे अनुभूत होनेके कारण अनेक भी है। वही अपने संकल्पसे इस सम्पूर्ण जगत्को धारण करता है। अतः जगतरूपी रूपोंका कोष भी वही है।

जैसे जिसका मुँह बंद है, ऐसे बड़ेको अन्य देशमें ले जानेपर उसमें स्थित आकाशका गमन और आगमन नहीं होता, उसी प्रकार देहरूपी उपाधिके गमनागमनसे आत्माका गमनागमन नहीं हो सकता। चिन्मय परमात्मा अपनी चेतनसे सूर्य आदिके प्रकाशका भी प्रकाशक है और महाकथके प्रलयकालीन मेघोंसे भी वह नष्ट नहीं होता; क्योंकि वह स्वयम्भकाशरूप एवं अविनाशी है। वह सचिदानन्दवन परत्राह नेत्रोंसे नहीं देखा जा सकता; क्योंकि वह अनुभवरूप, हृदय-मन्दिरको प्रकाशित करनेवाला, सबको सत्ता देनेवाला, अनन्त और परम प्रकाशरूप बताया गया है। आकाश आदि देश, काल और क्रिया आदिकी सत्ता एवं जगत् उसी ज्ञानस्वरूप परमात्मामें प्रतीत होते हैं। वही सबका स्वामी, कर्ता, पिता और मोक्षा है। वास्तवमें परमात्मा होनेके कारण उसका किसीसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। म निमेष है न कल्प है, न समीय है और न दूरी ही है। चेतन परमात्माका संकल्प ही अन्यान्य वस्तुओंके रूपमें

स्थित है, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है। उस प्रकार जगत्के मिथ्यात्मका उपपादन करनेवाले न्यायों (युक्तियों) की बाबत्वार मात्रनाश्वप अस्यासके द्वारा निर्भक हुए भनसे जिसने परमार्थिक वस्तु ब्रह्मका दर्शन कर लिया है, उस पुरुषकी अविद्याका भाव हो जानेके कारण चिदाकाशमें उसे फिर ससारकी प्रतीति नहीं होती। जैसे वीजके भीतर रिति हुए वृक्षकी सत्ता अत्यन्त सूखप होनेके कारण आकाशके तुल्य है, उसी तरह ब्रह्मके भीतर रिति हुए जगत्का परमात्मा साक्षी है; इसलिये जगत्का साक्षीसे पृथक् प्रतीति न होनेके कारण सचिदानन्दरूपसे ही उसकी स्थिति है। शास्त्र, सर्वात्मक, जन्मरहित, अद्वितीय, आदि और मध्यसे शून्य, निर्द्वन्द्व, मायाके कार्यसे रहित, जगद्वृक्षपरमें नाना-सा प्रतीत होता हुआ भी वास्तवमें एक, विशुद्ध, ज्ञानशूल्प, अजन्मा, सचिदानन्दवत्त ब्रह्म ही है। उसमें किसी प्रकारकी कोई कल्पना किसी तरह भी सम्भव नहीं है।

जगत्की प्रतीतिका अभाव ही जिस (परमात्मा)के सूखरूपका परम अनुभव है, सम्पूर्ण संकल्पोंका त्याग ही विद्यके द्वारा जिसका संग्रह (चिन्तन) है, जिसके संकोचसे संसारका प्रलय और विकाससे उसकी सुष्ठि होती है, जो वेदान्त-जाक्योंका परम तार्थर्थ एवं वाणीका अविषय है। यह चराचर जगत् जिमकी जिमयी लीला है तथा जिमरूप होनेपर भी जिसकी अस्तित्वाकभी खण्डित नहीं होती, वही सन्मान शाश्वत ब्रह्म कहा गया है। वह अणुसे भी अणु परमात्मा अपने संकल्पसे बायु होता है। किंतु उसकी वह स्तम्भरूपता भास्तव्यिमुक्त है, अतः वास्तवमें वह बायु आदि कुछ भी नहीं है, केवल छुद्ध चेतन ही है। वही परमात्मा शब्दके संकल्पद्वारा शब्द बनता है; किंतु उसकी शब्दरूपताका दर्शन असमूलक है। वास्तवमें तो वह शब्द और शब्दर्थकी हृषिसे बहुत दूर है। उस परमात्माकी प्राप्तिके सैकड़ों साधन हैं। उसके प्राप्त होनेपर कुछ भी पाना शेष

नहीं रहता। वही परम प्राप्तव्य है। उसके सिवा कुछ भी नहीं है।

जो अणुका भी अणु, केवल चिन्मय और अत्यन्त सूक्ष्मतम है, उस परमात्मासे यह सम्पूर्ण विश्व सब ओरसे परिषूर्ण है। अणुरूप होता हुआ भी यह परमात्मा सैकड़ों—शनन्त योजनोमें नहीं समाप्ता; क्योंकि वह सर्वव्यापी, अनादि और ल्परहित होनेके कारण निराकार है। जैसे मेह र्वतकी सरसोंके साथ तुलना करना भी अश्रु देता। जैसे प्रतिविम्ब दर्पणमें ही पदता है, उसी प्रकार जलमें जो कोई भी सम्पूर्ण रस है, वह परमात्माका ही आश्रय लेकर स्थित है। परमात्माके विना खनः उसकी कोई सत्ता नहीं है। जिसने संकल्प-रहित होनेपर इस जगत्को त्याग दिया—इसका अभाव कर दिया है और अपने संकल्पसे ही पुनः सम्पूर्ण जगत्को संपत्ति किया है, जगत्का अभाव करनेवाले उस अणुसे भी अणु चिन्मय परमात्माने इस समस्त विश्वको व्याप्त कर रखा है। जैसे सपनेमें एक ही निमेशमें वास्तवस्थासे लेकर ब्रुहपेतकका बोध होता है, उसी प्रकार उस सूखम चिन्मय परमात्मामें निमेशशक्ता ज्ञान ही सहजों कल्पोंके समान प्रतीत होता है। इसलिये वह सूखम परमात्मा निमेशरूप होता हुआ ही शलकोटि कल्पोंका समूह है। अणुसे-भी-अणु सचिदानन्दशब्द परमात्मामें सम्पूर्ण जगत् स्थित है और उसीसे जगत्की सारी प्रतीतियाँ होती हैं।

जैसे दीजमें माझी दृष्ट रहते हैं, जैसे ही चिन्मय परमात्मामें भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों कालोंके प्राणी सदा विद्यमान रहते हैं। यह परम त्या सम्पूर्ण जगत्में अद्विनकी भौति स्थित हैं। वार्षिन और भोक्तापनसे उसका योद्धा-सा भी स्पर्श या सम्बन्ध नहीं है। परमात्मा इम जगत्के बाहर भी स्थित है और

भीतर भी—यह बात तीनों थोकोंमें अधिकारी प्राणियोंके उपदेशके लिये कही जाती है। यह बाधा और आन्तरिक स्थितिका भेद 'शब्द'तक ही सीमित है, वस्तुमें नहीं है; क्योंकि वस्तु चेतनरूप है, अतः उसमें उक्त भेदका होना कहापि सम्भव नहीं। दृष्टि परमात्मा दृश्य जगद्का रूप नहीं धारण कर सकता; क्योंकि दृश्यत्व असद् एव वास्तविक है। जो कोई भी वस्तु परमात्मामें है ही नहीं, परमात्मा उसका स्वरूप कैसे धारण कर सकता है। व्यवहाराद्विषेद्रूप ही दृश्यमात्रको प्राप्त होता है। जैसे पिताके बिना पुत्र और मोक्षाके बिना भोग्य नहीं हैं, उसी प्रकार दृश्यके बिना दृष्टापन नहीं है।

जैसे विज्ञुद्ध सुवर्णमें यह सामर्थ्य है कि उसका कागन आदि बन सके, उसी प्रकार विभ्युत्य होनेके कारण दृष्टिमें यह शक्ति है कि वह दृश्यका निर्माण कर सके। जैसे सोनका कक्षा यह सामर्थ्य नहीं रखता कि वह सुवर्णका निर्माण कर सके, उसी प्रकार जड़ होनेके कारण दृश्यमें यह शक्ति नहीं है कि वह दृष्टाका निर्माण कर सके। जैसे सुवर्ण कागनके भ्रमको उत्पन्न करता है, उसी प्रकार विभ्युत्य परमात्मा दृश्यका निर्माण करता है। उक्त दृश्य असद् होता हुआ भी अज्ञानवश सद्-सा प्रतीत होता है। दृश्य अज्ञानमात्रसे उत्पन्न है। जबतक कारणमूल अज्ञान रहता है तबीतक उसकी स्थित रहता है। जैसे कड़े और कागन आदिकी प्रतीतिके समय सुवर्णकी सुवर्णता सत्य होनेपर भी लुटरूपसे लुटित नहीं होती, क्योंकि मूँह पुरुषकी बुद्धि उक्त आभूषणके नाम-रूपमें ही उलझी रहती है, उसी प्रकार दृष्टिके दृश्यरूपमें स्थित होनेपर उसके वास्तविक स्वरूपकी स्फूर्ति नहीं होती। जैसे कागनके रूपमें प्राप्त होनेपर सुवर्ण अपनी पूर्वसिद्ध सुवर्णताको लक्ष्य कराता है, वैसे ही दृश्यरूपमें स्थित हुआ दृष्टा अपने दृष्टापनको लक्षित कराता है। दृष्टा जब अज्ञानवश अपनेको दृश्यरूपमें देखता है, तब अपने वास्तविक

स्वरूपको नहीं देख पाता। दृष्टिमें दृश्यत्वकी प्राप्ति होनेपर उसकी सत्ता भी असत्ता-सी हो जाती है अर्थात् वह सद्वूप होनेपर भी असद्-सा भासित होने लगता है। परंतु जब ज्ञानसे दृश्य गलित हो जाता है, तब केवल दृष्टिकी ही सत्ता रह जाती है। जैसे कड़े और कंगनको गला देनेपर जब उसके नाम-रूपकी प्रतीति नहीं रहती, तब केवल सुवर्णकी सुवर्णता ही रह जाती है।

जैसे जल, भूमि आदि पौध भूतोंसे मौतिक पदार्थ तनिक भी पृथक् नहीं हैं, उसी प्रकार इन स्वभावसिद्ध परमात्मारूप अणुसे कुछ भी पृथक् नहीं हैं। परमात्मा सर्वव्यापी अनुभवरूप है तथा सबका अनुभव भी उसीका स्वरूप है; अतः एकत्रके यथार्थ अनुभवकी दुकृि जब सुदृढ़ हो जाती है, तब इस परमात्माकी सबके साथ एकता समझमें आती है। परमात्मा दिशा, काल आदिसे 'सीमित नहीं है। वह एकमात्र, अद्वितीय है। सबका आत्मा होनेके कारण सबसे अभिन्न है। खतः तो वह सर्वानुभवरूप ही है, जड़ नहीं है।

जैसे कड़े या कंगनकी सत्ता सुवर्णसे पृथक् नहीं है, उसी प्रकार द्वैत भी ज्ञानसे अलग नहीं है—जैसे भलीभौति ऐसा ज्ञान हो चुका है, उसका वह ज्ञान ही द्वैत है और वह ज्ञान सत् नहीं है। जैसे जलकी द्रवता जलमें, वायुमा स्पन्दन वायुसे तथा आकाशकी शून्यता आकाशसे अलग नहीं है, जैसे ही द्वैत परमात्मासे पृथक् नहीं है। द्वैत और अद्वैतकी प्रतीति दुःखरूप प्रश्वातिकी सिद्धिके लिये ही है, निष्पत्तिके लिये नहीं। वास्तवमें जो इन दोनोंकी अनुग्रहित या अप्रतीति है, वह यदि अच्छी तरह समझमें आ जाय तो ज्ञानी पुरुष उसीको परमपरं मानते हैं। प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय-रूप तथा दृष्टा, दर्शन और दृश्यरूप जो यह सम्भूर्ण जगत् है, वह अणुसे-भी-अणु चेतन परमात्माके स्वरूपमें ही स्थित है। जैसे वायु अपने शरीरमें ही स्पन्दनको उत्पन्न करती और लीन भी कर लेती है,

उसी प्रकार अनुसे भी आपु परमात्माने अपने खलपमें इस जगत्की अनुको अनेक बार उत्पन्न और विलीन किया है। जैसे बीजके भीतर फल और पछ्योंसहित समूचे वृक्षका विस्तार निहित है और वह अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाता है, उसी तरह चेतन परमात्मामें अनेक शास्त्र-प्रशस्तखाओंसे युक्त जगत् स्थित है और वह परमार्थ-दृष्टिसे उन्हींमें देखनेमें आता है (इसलिये जगत् वास्तवमें परमात्मासे अभिन्न ही है)। जैसे बीजके भीतर अपने शास्त्र, फल, कूल आदिका स्थाग न करता हुआ वृक्ष स्थित है, वैसे ही चेतन परमात्मामें यह शास्त्र-प्रशस्तखाओं-

सहित विशाल जगत् विद्यमान है। जैसे बीजके भीतर हृष्ट है, उसी प्रकार चेतन परमात्माके भीतर स्थित हुर हैतरूप जगत्को जो अद्वैत देखता है, उसीका देखना तथ्यदर्शन है। वास्तवमें तो न हैत है न अद्वैत; न बीज है न अहूर; न रथूल है न सूक्ष्म; न जात है न अजात; न सत्ता है न असत्ता और न यह सौम्य है न क्षुब्ध। उस चेतन परमात्माके भीतर तीनों लोक, आकाश और वायु आदि भी कुछ नहीं हैं। न जगत् है, न उसका अमात्। केवल एक सर्वोक्तुष वत्तम चेतन परमात्मा ही है। ( सर्ग ८०-८३ )

### जगत्की ब्रह्मसे पृथक् सत्ताका खण्डन, भेदकी व्यावहारिकता तथा विचकी ही इत्यरूपताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! परमकारणमूर्त, आदि, अन्त और मध्यसे रहित, एक परमपदसे वयापि यह जगत् उत्पन्न नहीं हुआ है, तथापि उत्पन्न हुआ-सा प्रतीत होता है। जैसे जलवायिमें उठती हुई तरङ्गे जलसे मिल न होकर भी मिल-सी स्थित हैं, उसी प्रकार परमात्मा सारी सृष्टियों अभिन्न होकर भी मिल-सी जान पढ़ती हैं। जो नित्य उद्दित एवं नित्य प्रतिष्ठित है, वह ब्रह्म ही कर्ता-सा होकर इस जगत्का अनेक रूपोंमें निर्माण करता है। फिर भी वह अपनी समना और सौम्यता आदिका स्थाग नहीं करता। जैसे बीजमें वृक्ष एवं फल आदि अभिकरूपसे ही स्थित हैं, तथापि वे उससे इस तरह प्रकट होते हैं भानो मिल हो, उसी तरह चेतन परमात्मामें यह चेत्य (स्थूलजगत्) अनन्य-भावसे स्थित होनेपर भी अन्य-सा प्रकट हुआ प्रतीत होता है। जैसे बीजसे लेकर फलपर्यन्त जो एक ही द्रव्य-सत्ता है, उसका विष्णुद न होनेके कारण फल और बीजमें कोई भेद नहीं है, जैसे जल और तरङ्गमें कोई भेद नहीं है, उसी प्रकार वित् और चेत्य (वात और जगत्) में कोई भेद नहीं है। अविचार (विवेक-

शृन्पता) के कारण जो इनमें भेदकी कर्तव्यना की जाती है, उसकी सिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि जिस वित्ती कारणसे आन्तिकथा उत्पन्न हुआ भेद विवरसे नष्ट हो जाता है। सारा जगत् ब्रह्मसे ही उत्पन्न हुआ है और सत्त-का-सब ब्रह्ममें ही छीन होता है।

श्रीरामजीने पृथक्—ग्रहान् ! ‘तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः’ ( निश्चय ही सर्वत्र प्रसिद्ध इस परमात्मासे पहले-पहल आकाश-तथा उत्पन्न हुआ ) इत्यादि श्रुतियोंमें जो ‘तस्माद्’ आदि पदोंमें पञ्चमी विभक्ति है, वह भेदका प्रतिपादन करनेवाली है अर्थात् जो वस्तु जिससे उत्पन्न होती है, वह उससे मिल है—इस ब्रह्मको सूचित करती है। ऐसी दशामें आप यह कैसे समझते हैं कि देवेश्वर परमात्मासे उत्पन्न हुआ यह सारा जगत् उससे अभिन्न है :

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! उपदेशके लिये जो शास्त्रीय शब्द है अथवा लोकसिद्ध अर्थजनित व्यावहारिक भेदका उपपादक जो लौकिक-शब्द है, वह प्रतियोगी, व्यवच्छेद (अमात्), संद्वया, उक्षण और पक्षसे युक्त होता है। जो भेद दिखायी देता है, वह व्यवहारदृष्टिसे

ही है, वास्तविक नहीं। अज्ञानियोंको समझानेके लिये ही कार्य-कारणमात्र, सेवक-खामिभाव, हेतु-हेतुमद्भाव अथवाशयविभाव, भेदभेद अथवा अन्यव्यतिरेक, परिणाम आदिका विभ्रम, मात्रोंके विचित्र विलास, विद्या-अविद्या और सुख-दुःख हस्यादि रूपसे गिर्या संकल्पोंकी संकलना की गयी है। वास्तवमें जो सत्य वस्तु है, उसमें कोई भेद नहीं है। यह भेदवाद परम तत्त्वको न समझानेके कारण ही है। परमार्थ वस्तुके ज्ञात हो जानेपर द्वैत नहीं रह जाता। उस समय सारी कल्पनाएँ अथवा संकलनाएँ शान्त हो जाती हैं। फिर तो मौनखल्प परमार्थतत्त्व ही शेष रहता है। वह परमतत्त्व परमात्मा आदि और अन्तसे रहित, अविभक्त, एक, अखण्ड और सर्वस्तरूप है। जिन्हें तत्त्वका ज्ञान नहीं हुआ है, ऐसे अङ्ग पुरुष अपने विकल्पोंसे उत्पन्न हुए तकोंद्वारा अद्वैतके विषयमें विवाद करते हैं। उपदेशसे तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जानेपर यह वाद और द्वैत नहीं रह जाता। द्वैतके विना वाच्य-आचक्षण्य बोव नहीं सिद्ध होता। परंतु द्वैत किंसी तरह मी सम्बन्ध नहीं है। इसलिये गौनरूप परमात्मा ही पूर्णतया सिद्ध होता है।

रघुनन्दन ! 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंके अर्थमें अपनी शुद्धिको प्रतिष्ठित करके बचनभेदकी उपेक्षा कर दो और जो मैं कहता हूँ, इसे ध्यान देकर सुनो। चित्त ही विकासरूपसे जगत्को प्राप्त हुआ है। जैसे वास्तुके भीतर तेल नहीं है, उसी तरह ब्रह्ममें शरीर आदिकी सत्ता नहीं है। राग-द्वेष आदि क्लेशोंसे कल्पित यह चित्त ही संसार है। उन राग आदि दोषोंसे जमी-कूटकारा मिल जाता है, तभी इस संशार-बन्धनका माश हो गया,

—यह कहा जाता है। चित्त ही साधन, पालन, विचार श्रेष्ठ पुरुषकी भौति कर्त्तव्यका अनुभान, आहार-व्यवहार, संचरण और आदर्शरूपक धारण करनेके योग्य है। तीनों लोकोंकी कल्पनाका आकाशरूप चित्त सम्पूर्ण दृश्यको अपने भीतर धारण करता है। सृष्टिके आरम्भमें पृथ्वी-आदिरूप यह सारा प्रपञ्च अविद्यपान—असत् ही था। अव्यक्तस्तरूप अजन्मा ब्रह्म खप्रके समान इसे देखता हुआ भी वास्तवमें नहीं देखता। हृदयंगम दृष्टान्त और युक्तिसे तथा मधुर एवं युक्तिशुक्त पदार्थवाली वाणीसे जो कुछ कहा जाता है, वह श्रोताके हृदयमें उसकी शक्तिको दूर करके सब और व्याप्त हो जाता है—ठीक उसी तरह, जैसे जलमें ढाला हुआ तेल उसमें सब और फैल जाता है। जिसमें दृष्टान्त और मनोहर पद नहीं होते, जो दुर्बोध होता है, जिससे क्षीम प्रकट होता है तथा जिसका प्रत्येक अक्षर अपने स्थानसे च्युत होता है और जिसके कई वर्ण मुँहमें ही रह जाते हैं—स्पष्टतः उच्चारित नहीं होते, ऐसा उपदेशवाक्य श्रोताके हृदयतक नहीं पहुँच पाता। वह रास्तमें आहुतिके रूपमें ढाले गये धीके समान वर्ष हो जाता है। साधो ! इस भूतलपर जो-जो महाभारत आदि आस्थान तथा छोटी-छोटी कथाएँ हैं, जो-जो प्रमाणेद्वारा जाननेयोग्य प्रमेय प्रन्थ हैं, जो औचित्यसे युक्त तथा शब्द और अर्थ दोनों ही दृष्टियोंसे मधुर एवं कोमल हैं, वे सभी लोकप्रसिद्ध दृष्टान्तों तथा प्रमाणयुक्त दर्शनोंके प्रतिपादनपूर्वक वर्णित होनेपर उसी प्रकार श्रोताके हृदयमें शीत्र प्रकाशित हो जाते हैं, जैसे श्वेत किरणवाले चन्द्रमाके प्रकाशसे सारा विश्व प्रकाशित हो उठता है।

( संग ८४ )

यह हृदय-प्रपञ्च मनका विलासमात्र है, इसका ब्रह्माजीके द्वारा अपने अनुभवके अनुसार प्रतिपादन

श्रीवासिष्ठजी कहते हैं—निष्पाप रघुनन्दन ! पूर्व-कालमें ब्रह्माजीने मुझे जो उपदेश दिया था, वह सब

उनकीकही हुई कथाके साथ मैं तुम्हें बता रहा हूँ। पहलेकी बात है, मैंने कमलयोनि मणवान् ब्रह्माजीसे पूछा—‘मणन् !

ये सुष्टिके समुदाय ( ब्रह्माण्ड ) कैसे प्रकट होते हैं ? मेरे इस प्रश्नको सुनकर लोकपितामह भगवान् ब्रह्माने मुझसे यह महत्वपूर्ण बात कही ।

ब्रह्माजी बोले—इस ! यह मन भगव-भावके धारण करनेकी शक्तिसे सम्पन्न है, अतः यही इस तरह सब पदार्थोंके रूपमें स्फुरित होता है, जैसे जल ही जलाशयमें फैले हुए विचित्र आकर्तोंके रूपमें स्फुरित ( भासित ) होता है । पहलेके किंवी कल्पकी बात है । मैं अपने दिनके आरम्भमें जब सोकर उठा और संसारकी सुष्टिकी इच्छा करने लगा, उस समय कैसी घटना घटित हुई, यह बताना हूँ; सुनो । एक दिन संध्याके समय ( कल्पके अन्तमें ) सारी सुष्टिका संहार करके मैंने एकाग्र एवं स्वस्वचित हो अकेले ही वह रात बितायी । रात्रिके अन्तमें मैं जाग उठा और विधिपूर्वक संध्या करके प्रजाकी सुष्टि करनेके लिये मैंने अपनी फैंडी हुई आँखें आकाशमें लगायी—मैं एकटक दृष्टिसे आकाशकी ओर देखने लगा । उयों ही दृष्टि दाली, त्यों ही मुझे आकाश अरम्भ विस्तृत, अन्तरहित और शून्य दिखायी दिया । वह न तो अन्वकारसे व्याप था और न तेजसे ही ।

‘अब मैं सुष्टिके लिये संकल्प करूँ’ ऐसा निष्ठय करके मैंने सूक्ष्म चित्तसे विशुद्ध मानके साथ उस स्थृत्य ( सुष्टिके योग्य ) वस्तुकी समीक्षा—पर्यालोचना आरम्भ की । इतनेमें ही उस विशाल आकाशके भीतर मैंने मनसे अनेक बड़े-बड़े ब्रह्माण्ड देखे, जो पृथक्-पृथक् विद्यमान थे । उन सबकी स्थिति ध्यवस्थित थी । कहा कोई प्रतिबन्ध नहीं था । उन ब्रह्माण्डोंमें उस पश्योनि ब्रह्मा विराजमान थे, जो मेरे ही प्रतिबिम्ब-से प्रतीत होते थे । वे सभी कल्पकोशके निवासी थे और राज्ञसोंपर चढ़े हुए थे । पृथक्-पृथक् स्थित हुए उन ब्रह्माण्डोंमें जरायुज आदि चार प्रकारके प्राणी उत्पन्न हो रहे थे । उन सभी ब्रह्माण्डोंमें जंल देनेवाले, विशुद्ध ( अप्रह आदि दोषोंसे रहित ) मेष-समुदाय आ रहे थे । बड़ी-बड़ी नदियाँ बहती

थीं और समुद्रोंके समान गर्वना करती थीं । आकाशमें अनेक सूर्य तपते थे तथा महान् इधर-उधर संचरण करते थे । स्वर्णमें देवता, भूतलपर मनुष्य तथा पातालोंमें रहकर दानव एवं नाग यथेष्ट कीटाएँ करते थे । कालचक्रमें गुणी हुई तथा सर्दी, गरमी और वर्षाके स्वभाववाली सब शृङ्खले यथासमय प्रकट हो फल-कूलोंसे सम्पन्न होकर भूमण्डलकी सब ओरसे शोभा बढ़ाती थीं । प्रत्येक दिशामें स्वर्ग और नरकरूपी फल देनेवाले शुभाशूभ आचारका प्रतिपादन करनेवाली सृष्टियाँ सर्वत्र प्रांदिताको प्राप्त थीं—उनका सब ओर प्रचार और प्रसार था । भौम और मोक्षरूपी फल चाहनेवाले विभिन्न जातिके समस्त प्राणी क्रमशः अपनी अमीष वस्तु पानेके लिये यथासमय प्रयत्न करते थे । सात लोक, सात हीप, सातों समुद्र और सातों पर्वत, जो कालद्वारा नष्ट होनेवाले हैं, वहें कोलाहलसे युक्त प्रतीत होते थे । उन ब्रह्माण्डोंमें अन्धकार कहीं ( खुले स्थानोंमें ) क्षीण हो गया था, कहीं ( पर्वतकी गुफा आदिमें ) अधिक स्थिर होकर छा रहा था और कहीं सब ज्ञातियों एवं कुङ्गोंमें लेशमान तेजसे प्रियंत होकर विद्यमान था । नमहरूपी नील कमलके भीतर मैवरूपी भ्रमर मदरा रहे ये तथा तारक-समूहरूपी के सरोंसे छह परिष्ठूर्ण था । मेह पर्वतके कुङ्गोंमें कल्पान्तकालके मेषोंकी भौति घनीमूत कुद्दासा आ रहा था, जो सेमलके फलके भीतर रहनेवाली सफेद रुईके समान दिखायी देता था । लोकालोक पर्वत ही जिसकी करधनी है, गर्जते हुए समुद्र ही जिसके आमूषणोंकी अन्धकार हैं तथा जो अपने ही गतोंसे विभूषित है, वह पृथ्वी उन ब्रह्माण्डोंमें उसी प्रकार विराजमान थी जैसे कोई कुलाङ्गना अपने अन्तः-पुरमें निवास करती हो ।

भुवनरूपी गद्वारोंमें रहनेवाले वहुत-से प्राणी जिनमें बीजके समान जान पड़ते दे, वे पृथक्-पृथक् ब्रह्माण्ड-गोलक अङ्ग तेजसे प्रकाशित हो अनारके फलोंके समान निर्मल दिखायी देते थे । चन्द्रमाकी कल्पके समान निर्मल

कालिकाली, तीन प्रशाहवाली तथा उपर-नीचे एवं मध्य — तीन भागोंपर विवरनेवाली गङ्गा जगद्गूणी पुरुषके फ़ज़—पवीतकी भौति मुशोभित हो रही थीं। दिखारूपी लताओंमें विषुद्धरूपी फ़लोंसे युक्त मेवरूपी फ़लेव वायुसे टक्कराकर इवर-उधर झोंके खाते, विलुप जाते और फिर नये पैदा हो जाते थे। विभिन्न मुवनोंके भीतर समूह-के-समूह बसे हुए बैठता, असुर, मनुष्य और नाग गूलरके फ़लोंमें रहनेवाले मच्छरोंके समान जाग पड़ते थे। उन लोकोंमें युग, कल्प, क्षण, लघु, कला और काष्ठा आदिसे शुक्ल एवं सबके अतिरिक्त विनाशकी प्रतीक्षा करनेवाला काल प्रशाहरूपसे स्थित था। अपने शुद्ध एवं उत्तम विचक्षण द्वारा ऐसा इश्य देखकर मैं कहे विसयमें पढ़ गया कि यह क्या है और कैसे प्रकट हुआ है। इस स्थूल नेत्रसे बो सुन्हे कुछ भी नहीं दिखायी देता, उसी अनुपम मायाजालको मैं मनसे आकाशमें स्पष्ट देख रहा हूँ—यह कैसे सम्भव हुआ है? उसके बाद देरतक उस मायाजालको देखनेके पश्चात् मैंने मनसे ही उस ब्रह्माण्डके आकाशसे एक सूर्यको अपने समीप छुलाकर पूछा—

‘देवदेवेश! महारेजसी सूर्य! आओ, तुम्हारा स्वागत है’ यों कहकर मैंने पहले तो उनका स्वागत

किया। फिर उनके सामने अपना प्रभ इस प्रकार रखा— ‘भगवन्! तुम कौन हो? तुम्हारा यह जगत् कैसे उत्पन्न हुआ? इसके अतिरिक्त जो और जगत् दिखायी देते हैं, इनकी उत्पत्ति भी किस प्रकार हुई है? निष्पाप देव! यदि जानते हो तो यह सब बताओ।’ मेरे इस प्रकार पूछनेपर उन्होंने मेरी ओर देखा और पहचान लिया। फिर मुझे नमस्कार करके उत्तम पदोंसे युक्त बाणीहारा इस प्रकार कहा।

सूर्य बोले—जगदीश! आप इस इश्य-प्रपञ्चके नित्य कारण हैं, फिर भी इसे जानते कैसे नहीं? और यदि जानते हैं तो मुझसे पूछते क्यों हैं? सर्वव्यापी देव! यदि मेरी बातें सुननेके लिये आपके मनमें कौतुहल हो तो सुनिये। महात्मन्! आप परम महान् परमात्मा हैं (आपसे कुछ भी अहात नहीं है)। ‘सत्-असत्’ का बोध न होनेसे जो मोहमें छालनेवाली है तथा जिनसे अनवरत नाना प्रकारकी सृष्टियाँ होती रहती है, उन सदसद् कलाओं (संकल्पों) से जो विस्तारको प्राप्त हुआ है, वह मन ही यहाँ विविध पदार्थोंके रूपमें विलसित हो रहा है। तात्पर्य यह कि यह सारा इश्य-प्रपञ्च मनका ही विलास या संकल्प है।

( सर्ग ८५-९१ )

स्थूल-शरीरकी निन्दा, मनोमय शरीरकी विशेषता, उसे सत्कर्ममें लगानेकी प्रेरणा, ब्रह्मा और उनके द्वारा निर्मित जगत्की मनोमयता, जीवका स्वरूप और उसकी विविध सांसारिक गति तथा सृष्टिके दोष एवं मिथ्यात्मका उपदेश

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रुनन्दन! इस संसारमें प्रक्षासे लेकर स्वाधरपर्यन्त सभी जातिके ग्राणियोंके सदा दो-दो शरीर होते हैं। एक तो ननोमय शरीर होता है, जो शीघ्रतापूर्वक सब कार्य करनेवाला और सदा चक्कल है। दूसरा मासका बना हुआ स्थूलशरीर है, जो मनके विना कुछ नहीं कर सकता। उक्त दोनों शरीरोंमेंसे जो मांसमय स्थूलशरीर है, वह सभी लोगोंको ग्रात्यक्ष दिखायी

देता है। उसीपर सब प्रकारके शापों, त्रिशाओं (आभिचारिक कुलों) तथा विष, शख आदि विनाशके साधन-समूहोंका आक्रमण होता है। यह मांसमय शरीर असुर्य, दीन, क्षणभक्त, कमलके पत्तेपर पड़े हुए जलके समान वज्जल तथा प्रारब्ध आदिके अधीन है। देहधारियोंका जो यह मन नामक दूसरा शरीर है, वह तीनों लोकोंमें ग्राणियोंके अधीन होकर भी प्रायः अधीन नहीं रहता।

वह यदि सदा बने रहनेवाले धैर्यका अवलम्बन करके अपने पौरुषके सहारे स्थित होता है, तो दुःखोंकी पहुँचसे बाहर हो जाता है—दुःखके हेतुभूत जो दोष हैं, वे उसे दूषित नहीं करते। प्राणियोंका मनोमय शरीर जैसे-जैसे चेष्टा करता है, वैसे-ही-वैसे वह अपने निष्ठयके एकमात्र फलका भागी होता है। [ मासमय देह ( पात्रामौतिक स्थूलशरीर ) का कोई भी पौरुष-कष प्रकार नहीं होता, परंतु मनोमय शरीरकी प्रायः सभी चेष्टाएँ सफल होती हैं ( क्योंकि मन ही ग्राहन है ) ] ।

माण्डल्य ऋषिने मानसिक पुरुषार्थसे मनको रागरहित और दुःखशून्य बना शूलीपर चढ़कर भी सम्पूर्ण कलेशोंपर विजय प्राप्त कर ली थी। \* अन्धकाशणी कुण्डें गिरे होनेपर भी दीर्घतपा ऋषिने मानसिक यड़ोंका ही अनुष्ठान करके देवताओंका पद ( खर्गलेक ) प्राप्त कर लिया था। दूसरे भी जो सावधान और देवता और महर्षि हैं, वे मनसे की जानेवाली उपासना अथवा ध्यानका तनिक भी स्थाग नहीं करते। संसारमें सावधान चित्तवाला कोई भी पुरुष कभी स्थाग अथवा ज्ञागरणमें भी दोष-समूहोंसे योगा-ना-सा भी अभिभूत नहीं होता। इसलिये पुरुषको चाहिये कि वह इस संसारमें पुरुषार्थके साथ अपनी बुद्धिके द्वारा ही अपने मनको पवित्र मार्गमें लगाये। जैसे कुम्भारके घट-निर्माण-सम्बन्धी व्यापारके अनन्तर वह अपने भूतिपूर्णवस्ताको स्थाग देता है, उसी प्रकार पुरुष उत्तर पदार्थकी वासनाके पश्चात् पूर्वकी स्थितिका स्थाग कर देता है ( तात्पर्य यह है कि आगेकी दृढ़ वासनाएं पिछली वासना नष्ट हो जाती है ) ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! भगवान् ब्रह्माने पूर्वकालमें मुश्कसे ये बातें कही थीं, उन्हींका आज मैंने त्रुम्भारे समझ बर्णन किया है। नाम और रूपसे रहित उस सर्वात्मा ब्रह्मसे सम्पूर्ण प्रपञ्च उत्पन्न होता है। वह समय

पाकर स्वयं ही वनताको प्राप्त हो संकल्प-विकल्परूप मनकी सामर्थ्यसे मनोरूप बन जाता है। इसलिये श्रीराम। जो ये परमेश्वी ब्रह्म हैं, इन्हें तुम परमात्माका समष्टि मन ही समझो। समष्टि मनरूप तत्त्व ही जिनका आकार है, वे भगवान् ब्रह्म संकल्पमय होनेके कारण जिस वस्तुका संकल्प करते हैं, उसीको देखते हैं। तदनन्तर उन्होंने इस अविद्याकी कल्पना की। अनात्मामें आत्माका अभिमान होना ही इस अविद्याका खलूप है। फिर उन ब्रह्माने क्रमशः पर्वत, तुण और समुद्ररूप इस जगत्की कल्पना की। इस प्रकार यथापि क्रमशः परम्पर-तत्त्वसे यह सुष्ठि आयी है, तथापि कुछ लोगोंको यह और ही किसीसे उत्पन्न हुई दिखायी देती है। अतः श्रीराम। तीनों लोकोंके भीतर वर्तमान सम्पूर्ण पदार्थोंकी उत्पत्ति ब्रह्मसे ही हुई है—ठीक उसी तरह, जैसे तरङ्गोंकी उत्पत्ति समुद्रसे होती है। जो अन्य व्यष्टि-चेतन शक्तियाँ अर्थात् प्राणी हैं, वे सब वास्तवमें सर्वशक्तिमान् ब्रह्मसे अभिन्न ही हैं—साक्षात् ब्रह्मलूप ही हैं। अब यह जगत् विस्तारको प्राप्त होता है, तब वे ही प्राणी समष्टि-भमरूप ब्रह्मसे पूर्वकर्मनुसार विकासको प्राप्त होते हैं। ये सब सहजों व्यष्टि चेतन संसरणशील जीव कहे जाते हैं। वे जीव सच्चिदानन्दधन परमात्मासे ही प्रकट होकर आकाशमें तन्मात्राओंके साथ संयुक्त होते हैं। फिर आकाशस्थित वायुओंके मध्यवर्ती जो चौदह श्रेणियोंमें विभक्त जीव हैं, उनमेंसे जिस प्रकारकी जीव-जातिमें रहनेसे जो जीव जैसी वासना और कर्मके अन्यासमें प्रवृत्त होते हैं, उसी जीव-जातिकी प्राणशक्तिहारा वे स्थावर अथवा जड़म शरीरमें प्रविष्ट हो रज-वीर्यरूपी बीजमादको प्राप्त होते हैं। तत्पश्चात् योनिसे जगत्में जन्म ग्रहण करते हैं। तदनन्तर वासना-प्रवाहके अनुसार अपने कर्मफलके भागी होते हैं। फिर इन और वस्तुमें

२. बीजोंकी 'इदप्रथमता' आदि चौदह श्रेणियों आगे वसायी आयेंगी।

वासनाओंसे युक्त पुण्यपाप कर्मरूपी रस्तियोंसे जिनका लिङ्गशरीर बैधा है, ऐसे वे जीव दूमते हुए कभी उत्तम लोकोंमें जाते हैं और कंभी नरकोंमें गिरते हैं।

जीवोंकी ये सब जातियों वासनारूप ही हैं। कितने ही जीव हजारों जन्मोंतक कर्मरूपी वर्वंदरमें प्रश्नकर चक्खर काढते हुए जंगलके पत्तोंकी भौति शड जाते हैं और पर्वतके कुक्किमागमें छुककते फिरते हैं। कितने ही जीव दिनहें सचिदानन्दघन परमात्माका ज्ञान नहीं है, अतएव जो मोहित रहते हैं, वे असंख्य जन्म धारण करते हैं। विरकालसे जन्म लेकर इस संसारमें सैकड़ों कल्पोंतक जन्म और मरणकी परम्परामें बैंधे रहते हैं। कसिपय जीव, जिनके कई असुन्दर जन्मान्तर व्यतीत हो चुके हैं, वर्तमान जन्ममें शुभकर्मपरायण हो इस जगत्‌में विचरण करते हैं। कई जातिके जीव तत्त्वज्ञान प्राप्त करके उसी तरह परमपदको प्राप्त हो गये हैं, जैसे बायुसे उदाये हुए समुद्रके बलविन्दु पुनः समुद्रके ही जलमें प्रवेश कर जाते

हैं। इस प्रकार यहाँ परमपदरूप ब्रह्मसे सम्पूर्ण जीवोंकी गुण और कर्मके अनुसार उत्पत्ति ( सृष्टि ) हुई है। यह सृष्टि आविर्माव और तिरोभावके कारण क्षणभ्युत्तर है। तथा जन्म-मरणकी परम्पराको प्रकट करनेवाली है। वासनारूपी विषयकी विषमतासे उत्पन्न हुए नाना प्रकारके हुःखरूपी व्यरक्तों धारण करती है। अनन्त सुकर्तोंसे भरे हुए अनर्थकारी कार्योंका समादर कारबेवाली है। अनेक दिशाओं, देशों, कालों तथा विविध पर्वतोंकी कन्दराओंमें शुमानेवाली—कर्मफलका भोग करनेवाली है। स्वयं निर्मित उत्तम विवित्रताओंसे इसने चारों ओर भ्रमका जाल बिछा रखा है। परमार्थदृष्टिसे यह सृष्टि असत् ही है। वस्तु रामभद्र ! विद्युत्य मन ही जिसका क्षयी है, वह संसाररूपी जंगलकी जीर्ण-क्षीर्ण लता यदि तत्त्वज्ञानरूपी कुलहाड़ीसे बड़सहित काट दी जाय तो फरसेसे काटी गयी बैलके समान यह फिर पनप नहीं सकती।

( सर्ग ९२-९३ )

जीवोंकी चौदह श्रेणियाँ तथा परब्रह्म परमात्मासे ही उत्पन्न होनेके कारण सबकी ब्रह्मरूपता

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! सात्त्विक, राजस और तामस मैदसे सभी पद्धर्य उत्तम, मध्यम और अधम—इम तीन श्रेणियोंमें विमल होते हैं। इनकी जो इधर-उधर विभिन्न भुवनोंमें उत्पत्तियों बतायी गयी हैं, उनका विमाग इस प्रकार है—बताता हूँ, सुनो। जिस जीवको अपने पूर्वजन्ममें शम, दम आदि समक्त साधन तथा गुण-सम्पत्ति प्राप्त होनेपर भी ज्ञान नहीं हुआ, वह जीव इसी जन्ममें ज्ञान-लाभके योग्य बनकर उत्पन्न होता है; अतः यही उसका प्रथम जन्म है। उस श्रेणीके जीवका वह जन्म 'इदं प्रथम' नामसे विद्युत होता है। यह इदम्प्रथमता पूर्व-जन्मके शुम अस्यासे प्रकट होती है। वही इदम्प्रथमता यदि पूर्वजन्ममें वैराग्यकी कमीके कारण शुम लोकोंका आश्रय लेनेवाली रही हो अर्थात् उत्तम लोकोंकी प्राप्ति-

के लिये किये गये शुम कर्मोंसे संयुक्त हो और इसीलिये विचित्र संसार-वासनाके कारण भोग-क्षयहारवाली हो तो भोगोंसे वासनाका क्षय होनेपर वह कुछ ही जन्मोंमें मोक्षकी प्राप्ति करा देती है। अतः शान्ति आदि गुणोंसे युक्त होनेके कारण उस दूसरी जीव-जातिको 'गुण-पीची' कहते हैं।

श्रीराम ! नाना प्रकारके मुख-दुःखरूपी फलोंके देनेमें मुख्य कारणभूत पूर्वजन्मके पुण्य और पापका अनुमान करनेवाली जो जीवोंकी श्रेणी है, उसे पुण्यात्मा पुरुषोंने 'ससत्त्वा' कहा है ( क्योंकि 'वह सत्त्वगुणकी वृद्धिके द्वारा भोक्षकी भागिनी होती है )। जो जीव-श्रेणी विचित्र संसारकी वासनाओंसे युक्त होकर अत्यन्त कलुषित हो गयी हो अर्थात् पूर्वजन्ममें सक्रित किये गये अधिक दुष्कर्मजनित दुर्वासिनाओंसे मलिन हो गयी

हो और मौति-मौनिके भले-भुरे फल ग्रदान करनेवाले भुज्य कारणभूत पूर्वजन्मके धर्म और अधर्मका अनुमान करनेवाली हो, वह सहस्रों जन्मोंमें ज्ञानकी मागिनी होती है। इसलिये साहुपुरुष उसे 'अथमसत्त्वा' कहते हैं। वही जीवश्रेणी, यदि अध्यात्म-शास्त्रसे विमुख होने के कारण असंख्य, अनन्त जन्मोंके पश्चात् वर्तमान जन्ममें भी उसके मोक्ष होनेमें संदेह ही रह जाय तो उसे 'अत्यन्त तामसी' कहते हैं। नृपश्रेष्ठ श्रीराम ! जीवकी जो उत्पत्ति पूर्वजन्मकी वासनाओंके अनुरूप एवं वैसे ही आचार-व्यवहारवाली हो तथा दो-सीन जन्मोंके अनन्तर जिसे मनुष्य-जन्म प्राप्त हुआ हो और वैसे ही कार्य कर रही हो, वह लोकमें 'राजसी' कही गयी है। जिसके लिये ज्ञान-ग्रासिके योग्य जन्मका मिळना दूर नहीं है, जब जीवको ऐसी उत्पत्ति हुल्लभ हो जाती है, तब उस जन्ममें मृत्यु होनेपात्र से उसमें भ्रष्ट-ग्रासिकी योग्यता आ जाती है। उस जन्ममें उसके द्वारा वैसे ही कार्य होनेसे जो अनुमान होता है, उसके आधारपर ही सुमुकुशोंने उस अवस्थाको 'राजस-सात्त्विकी' कहा है। वही उत्पत्ति यदि पूर्वोक्त मनुष्य-जन्मोंसे मिल, योद्धेंसे ही ( देवता आदि ) जन्मोंमें कल्पशः ज्ञान-ग्रासिके द्वारा मोक्षकी भागिनी हो तो वैसी उत्पत्तिको उसके ज्ञाता विद्वान् 'राजस-राजसी' कहते हैं। वही यदि राजस-राजसीकी अपेक्षा विरकालमें मोक्षकी इच्छासे सम्पन्न होकर सैकड़ों जन्मोंके पश्चात् मोक्ष-ग्रासिकी अविकारिणी हो और ऐसे कार्योंका आरम्भ करे, जिनसे राजस एवं तामस कर्मनित फलोंकी प्राप्ति हो तो वह जीव बाति या जीवश्रेणी सज्जन पुरुषोंद्वारा 'राजस-तामसी' कही गयी है। यदि वही उत्पत्ति ऐसे कार्योंका आरम्भ करे, जिनसे सहस्रों जन्मोंके पश्चात् भी मोक्ष मिलनेमें संदेह ही रहे, उसे 'धाजसात्पत्ततामसी' कहा गया है।

सर्गके आदिये हिरण्यर्थ विद्वासे मनुष्योंकी उत्पत्ति हुई है। तभीसे सहस्रों जन्म भोग लेने के पश्चात्

भी यदि बहुत जन्मोंके बाद विरकालमें मोक्ष मिलनेकी सम्भावना हो तो महर्षियोंने उसे 'तामसी' उत्पत्ति कहा है। वह तामस उत्पत्ति यदि तामस योनि होनेपर भी मोक्षवी सम्भावनासे युक्त हो और वैसे ही कमोंके आयोजनसे सुशोभित होती हो तो उसे विद्वान् पुरुष 'तामससत्त्वा' कहते हैं। तामस-शब्दसे गुणोंसे सम्पन्न कलिपय जन्मोंमें ही जहाँ मोक्ष-ग्रासिकी सम्भावना हो, उस उत्पत्तिको 'तमोराजसत्त्वपिणी' कहा गया है तथा जो उत्पत्ति पहलेके इतारों जन्मोंसे लेकर आगे होनेवाले 'सैकड़ों जन्मोंतक मोक्ष-ग्रासिकी योग्यतासे रहित हो, उसे उत्पत्तिकी श्रेणीका विभाजन करने और जाननेवाले विद्वानोंने 'तामस-तामसी' कहा है। जिस उत्पत्तिमें अतीतकालके लाखों जन्मोंसे लेकर भविष्यकालके लाखों जन्मोंतक मोक्ष मिलनेमें संदेह ही रहे, उसे 'अत्यन्त तामसी' कहते हैं।

ग्राणियोंकी ये सारी बातियाँ पूर्व-कर्मानुसार ग्रहणसे उत्पन्न होती हैं—ठीक उसी तरह जैसे कुछ वश्वल हुए समुद्रसे उरझे उठती रहती हैं। जीवोंकी ये सभी श्रेणियाँ उसी तरह ग्रहणसे उत्पन्न हुई हैं, जैसे प्रज्ञलित अविनसे चिनगारियाँ प्रकट होती हैं। जैसे दुर्वर्णसे कहे, काल्बैर और केयूर आदि आमूर्षण प्रकट होते हैं, उसी प्रकार ग्रहणसे सारी जीव-श्रेणियाँ पूर्व-जास्ता और कमोंके अनुसार उत्पन्न होती हैं। श्रीराम ! जैसे घटाकाश, स्थाल्पाकाश और छिद्राकाश आदि आकाशके ही कल्पित रूप हैं, उसी तरह अवन्मा परमात्मा ही समूर्ण ग्राणिवर्गके रूपमें कल्पना हुई है। अतः वे सब प्राणी ग्रहणके ही रूप हैं। जैसे जलसे पुहारे, भैंवरे, लहरे और बैंद्रे प्रकट होती हैं, अतः सब बब्रूप ही हैं, उसी तरह समूर्ण लोक-रचनाएँ परमात्मा पदसे ही प्रकट हुई हैं, अतः वे सब ग्रहण-संरूप ही हैं।

श्रीराम ! जैसे सूर्यके देवसे ही सृग-दृष्टाल्पिणी

सरिताओंकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार सम्पूर्ण दृश्य-दर्शन ब्रह्मके ही संकल्पसे प्रकट हुए हैं। ये सारे दृश्य-दर्शन द्रष्टा ब्रह्मके स्वरूपसे भिन्न नहीं हैं—ठीक वैसे ही, जैसे चाँदनी चन्द्रमासे और प्रकाश तेजसे पृथक् नहीं है। इस तरह जो नाना प्रकारकी जीवोंकी श्रेणियाँ हैं, ये निस ब्रह्मसे उत्पन्न होती हैं, उसीमें लीन यी

हो जाती हैं। खुनन्दन। इस प्रकार भगवान् परब्रह्म परमात्माकी इच्छासे व्यवहारमें जो हुए जो विधिप्राकारवाले रूप-वैभवसे सम्पन्न पुरुषोंके प्राणिर्वाग् हैं; वे आगसे प्रकट होनेवाली चिनगारियोंके समान विभिन्न लोकोंमें आते, जाते और ऊँची-नीची योनियोंमें जन्म लेकर भ्रमण करते हैं। ( सर्ग ९४ )

### कर्ता और कर्मकी सहोत्पत्ति एवं अभिभावा तथा चित्त और कर्मकी एकत्राका प्रतिपादन

श्रीवस्तिष्ठजी कहते हैं—खुनन्दन। जैसे शूक्रसे फूल और उसकी गन्ध दोनों साथ ही उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार सृष्टिके आदिमें परम-पदरूप ब्रह्मसे परस्पर अभिन्न कर्म और कर्ता दोनों लयं ( खभाववश ) ही एक साथ प्रकट हुए। जैसे अज्ञानी लोगोंकी दृष्टिमें सर्वथा फैले हुए निर्मल आकाशके भीतर नीलिमा प्रतीत होती है, उसी तरह समस्त संकल्पोंसे रहित सर्वव्यापी विशुद्ध ब्रह्ममें अश्व पुरुषोंकी दृष्टिसे ही जीवोंका प्राकृत्य प्रतीत होता है। राघव ! जहाँ अज्ञानी लोगोंका ही आचार-व्यवहार दिखायी देता है, वहाँपर जीव ब्रह्मसे उत्पन्न हुए हैं ऐसी उक्तियाँ टिक पाती हैं। किन्तु जहाँपर ज्ञानी पुरुषोंका व्यवहार है, वहाँ यह कहना शोभा नहीं देता कि व्यह वस्तु तो ब्रह्मसे उत्पन्न हुई है और यह नहीं हुई है।' अतः मेददृष्टिसे जो शोचनीय द्वैत-कल्पना की गयी है, उसे व्यवहारमात्रके लिये स्वीकार करके यह उपदेश दिया जाता है कि 'व्यह ब्रह्म है और ये जीव हैं।' वास्तवमें यह कथन केषल वाणी-का निलासमात्र है। ये सब जीवाश्रियाँ सदा उस परमात्मामें स्थित रहती हैं, उसीसे उत्पन्न होती हैं और उसीमें लीन हो जाती हैं। खुनन्दन ! जैसे फूल और गन्ध एक दूसरेसे अभिन्न हैं, उसी तरह पुरुष ( कर्ता ) और कर्म परस्पर अभिन्न हैं। ये परमात्मासे प्रकट होते और धीरे-धीरे उसीमें लीन हो जाते हैं। ये दैत्य, नाग, मनुष्य और देवता इस बगतमें वस्तुतः

उत्पन्न हुए विना ही वासनाओंके साथ उत्पन्न होते-से प्रतीत होते हैं और तुरत गमन आदि क्रियासे युक्त हो जाते हैं। साथो ! उन दैत्य, नाग, मनुष्य और देवता आदिके संसार-भ्रमणमें आत्माके यथार्थ ज्ञानके अध्यावके अतिरिक्त दूसरा कोई कारण नहीं दिखायी देता। यह आत्मविस्मरण ही जन्मान्तररूपी फल प्रदान करनेवाला है।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—मगवन् ! श्रुति, स्मृति-रूप प्रामाणिक दृष्टिवाले, वीतराग आत्मियोद्वारा अर्थमें श्रुतिसे विरोध न रखनेवाले जो-जो स्मृति, पुराण एवं इतिहास आदि प्रत्य सिद्धान्त-निर्णयपूर्वक रचे गये हैं, वे सब शास्त्र कहलाते हैं। जो महान् सत्त्वगुणसे सम्पन्न, धीर ( ज्ञानी ) और समदर्शी हैं तथा जिन्हें अनिर्वचनीय ब्रह्मका साक्षात्कार हो चुका है, वे पुरुष साधु ( श्रेष्ठ संत ) कहे गये हैं। जिन्हें तत्त्वज्ञान महीं हुआ है, उन पुरुषोंके सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धिके लिये ( उन्हें धर्म और ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार करनेके लिये ) श्रेष्ठ पुरुषोंका सदाचार और श्रुति-स्मृतिरूप शास्त्र—ये ही दो नेत्र हैं।

उनकी दृष्टि सदा इन ( दोनों—सदाचार और शास्त्र ) का ही अनुसरण करती है। जो पुरुष श्रेष्ठ व्यवहारके लिये शास्त्रका अनुसरण नहीं करता, उसका सभी शिष्यजन बहिष्कार कर देते हैं और वह दुःखमें निमग्न

हो जाता है। प्रमो! इस लोकमें और वेदमें भी ऐसा सुना जाता है कि कर्म और कर्ता यहाँ क्रमशः एकके-बाद-एक उत्पन्न होकर कार्य-कारणभावसे परस्पर मिले हुए हैं। कर्मके द्वारा कर्ताका निर्माण होता है और कर्तासे कर्मका, जैसे वीजसे अद्वार होता है और अद्वारसे बीज। यह न्याय लोक और वेदमें भी प्रसिद्ध है। जिस वासनाके कारण जीव इस संसाररूपी पिंजड़ेमें डाला जाता है, उसी वासनाके अनुसार उसे फल भी भोगना पड़ता है। मगवन्! जाननेयोग्य तत्त्वके क्षाताओंमें श्रेष्ठ महर्षे! मुझे ठीक-ठीक बताइये कि जीवका किया हुआ कर्म फलरूपमें अवश्य परिणत होता है या नहीं। यदि कर्मका फल अवश्य मिलता है, तब ग्राणियोंके जन्म आदिमें वही हेतु हुआ। फिर आपने उत्पत्तिको अकारण या अक्षानकल्पित कैसे बताया? मेरे इस महान् संशयका निवारण कीजिये।

श्रीकृष्णजीने कहा— रघुनन्दन ! मैं तुम्हें साधुवाद देता हूँ, तुमने मेरे सामने यह बड़ा सुन्दर ग्रन्थ रखा है। तुमो, मैं तुम्हें इसका उत्तर देता हूँ, जिससे पूर्णतया ज्ञानका उदय हो जाता है। यह संकल्प-विकल्पात्मक मनका विकास ही कर्मका कारण है—उसीके अनुसार फल ग्रात होता है। मनके संयोगके बिना किये हुए कर्म फलदायक नहीं होते। सृष्टिके आरम्भमें परम-पदरूपी ब्रह्मसे जब मनरूपी तत्त्व उत्पन्न हुआ, तभी उस मनके संकल्पके अनुसार जीवोंका कर्म भी

उत्पन्न हुआ और जीव पूर्वजासनाके अनुसार देहवाला होनेके कारण देहमें अहंमात्रसे रित है। (मनसे ही कर्मकी उत्पत्ति हुई; इसलिये बीज और शृङ्खली भोति कारण-कार्यरूप मन और कर्म परस्पर अभिन्न है।) जैसे अभिन्नरूपसे स्थित हृषि पुण्य और सुगन्धमें यहाँ भेद नहीं है, वसी प्रकार परस्पर अभिन्न मन और कर्ममें भी भेद नहीं है। इस जगत्समें कियाका होना ही विद्वानोंद्वारा कर्म बताया गया है। उस क्रियाका आश्रयमूल देह भी पहले मन ही था अर्थात् यह देह भी मनका ही संकल्प होनेके कारण मनोरूप ही है। इसी प्रकार किया भी मनका ही संकल्प होनेसे मनका ही त्वरूप है। न ऐसा कोई पर्वत है, न आकाश है, न समुद्र है और न ऐसा कोई लोक ही है, जहाँ किये हुए अपने कर्मोंका फल नहीं ग्रात होता। तात्पर्य यह कि कर्मोंका फल अवश्यम्भावी है। ज्ञानपूर्वक किया हुआ कर्म चाहे पूर्वजन्मका हो या इस जन्मका, वह कियारूप पुरुषार्थ ही पुरुपका परम प्रयत्न है। वह कभी निष्फल नहीं होता। जो मुक्त पुरुष है, उसीके कर्मका नाश होनेपर मनका नाश होता है मनका नाश ही कर्मका अभाव है। जो मुक्त नहीं है, उसके कर्म और मनका नाश कदापि नहीं होता। अग्नि और उष्णताकी भोति सदा परस्पर मिले हुए चित्र और कर्म—इन दोनोंमेंसे एकका अभाव होनेपर दोनोंका ही अभाव हो जाता है। (सर्ग १५)

### मनका स्वरूप तथा उसकी विभिन्न संहार्योपर विचार

श्रीरामचन्द्रजीने कहा— रघुनन्दन ! जो जड होकर भी अजड (चेतन) के समान आकार धारण किये हुए है, उस मनके संकल्परूप स्वरूपका आप मेरे समक्ष विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये।

श्रीकृष्णजीने कहा— रघुनन्दन ! सर्वशक्तिमान्, असीम, महान् विद्वानानन्दधन परमात्मतत्त्वकी शक्तिसे

रचित जो संकल्पमय रूप है, उसको विद्वान् पुरुष मन समझते हैं। वह मन स्वयं भी संकल्पकी सामर्थ्यसे शुल्क है। इस लोकमें जैसे गुणीका गुणसे हानि होना सम्भव नहीं, उसी प्रकार मनका कल्पनामयक क्रियाशक्तिसे रहित होना असम्भव है। एकमात्र संकल्प ही जिसका शपिर है तथा जो नाना प्रकारके विस्तारसे द्वृशोभित होनेवाला

एवं फलधर्मी ( फलका जनक ) है, उस चित्तरूपी कर्मने अपने ही स्वरूपसे इस नानाविधि विश्वका, जो मायामय, निष्कारण ( हेतु एवं प्रयोजनसे रहित ), विन्यासशृण्य तथा वासनाकी कल्पनाओंसे व्याप्त है, विस्तार कर रखा है। जिसने जहाँ लक्ष्मीकी भीति जिस वासनाको जिस प्रकार आरोग्यित किया है, वहाँपर कर्मनुसार फल देनेवाली वह वासना ही उसे तदनुरूप फलरूपमें प्राप्त होती है। मन जिसका अनुसाधान करता है, उसीका सम्मूर्खी कर्मेन्द्रिय वृत्तियों सम्पादन करती हैं; इसलिये मनको कर्म कहा गया है। मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, कर्म, कल्पना, संसृति, वासना, अविद्या, प्रयत्न, स्मृति, इन्द्रिय, प्रकृति, माया, क्रिया तथा इनके सिवा और भी विचित्र शब्दोऽित्यां संसारभक्ती ही हेतुशूल हैं। चित्तभावको प्राप्त हो प्रस्तुत सासार-पदवीको पहुँचे हुए शुद्ध चेतनके अपने ही सैकड़ों संकल्पोऽद्वारा ये भिन्न-भिन्न नाम अस्यन्त रुद्धि ( प्रसिद्धि ) को प्राप्त हुए हैं। वह शुद्ध चेतन परमात्मा ही छोकर्में जीव कहलाता है। मन, वित्त और बुद्धि भी उसीके नाम हैं।

जैसे नाटकमें नट अनेक प्रकारके रूप धारण करता है, उसी प्रकार मन भी भिन्न भिन्न कर्मोंका आश्रय ले अनेक प्रकारके नाम धारण करता है। जैसे एक ही मनुष्य मोजन बनानेसे पात्रक और पढ़ानेसे पाठक कहलाता है—विभिन्न एवं विवरण अविकारोंके कारण विचित्र तथा विहृत ( उन-उन कर्मोंके प्रकाशक ) नाम पाता है, उसी प्रकार मन भी कर्मवश उक्त नाम धारण करता है रघुनन्दन। मैंने वित्तकी जो ये अनेक संज्ञाएँ बतायी हैं, इन्हींको अन्यान्य वादियोंने अपनी सैकड़ों कल्पनाओऽद्वारा अस्य प्रकारसे कहा है। अपने भावोंके अनुरूप बुद्धिका द्वन्द्वे आरोप करके उन वादियोंने मनके द्वारा स्वेच्छासे मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदिके विचित्र-विचित्र नामभेद किये हैं। एक वादीके मतसे मन जह है तो दूसरेके मतसे वह जीवसे भिन्न

है। तीसरेके मतसे वह अहंभावनाका प्रतीक है तथा चौथे वादीके मतानुसार उसका नाम बुद्धि है।

रघुनन्दन। अस्तःकरणके एकरूप होनेके कारण उसकी संकल्प आदि भिन्न-भिन्न वृत्तियोंके भेदसे निर्मित जो अहंकार, मन और बुद्धि आदि नाम मैंने बताये हैं, उनकी नैयायिकोंने अन्य प्रकारसे कल्पना की है। सांख्यों और चार्चाकोंने भी उनकी विभिन्न रूपोंमें कल्पना की है। भीमासक, जैन, बौद्ध, वैशेषिक तथा पाञ्चाश्रात्र आदि अन्य विभिन्न वादियोंने भी अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार उन नामोंकी भिन्न-भिन्न प्रकारसे कल्पना कर रखी है। जैसे बहुत-से राहगीरोंका एक ही नगरमें जागा होता है, उसी प्रकार उन सभी वादियोंका गन्तव्य सान एकमात्र पारमार्थिक पद ही है। परम पदमें आखड़ होनेकी इच्छावाले वे जिज्ञासु-जन परमार्थ-वस्तुको न समझने तथा विपरीत बुद्धिको अपनानेके कारण अनेक प्रकारके विकल्पोऽद्वारा केवल विवाद या तर्क-वितर्क करते हैं। जैसे विचित्र देश-क्षालमें उत्पन्न हुए पथिक अपनी विभिन्न दृष्टिके अनुसार अपने-अपने गन्तव्य मार्गकी प्रशंसा करते हैं, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न देशों और कालोंमें पैदा हुए वे सभी वादी दृष्टिभेदके कारण अपने-अपने मार्ग ( मत ) का समर्थन करते हैं। यह सब कुछ वित्त ही है, ऐसा अनुमत ग्रायः सभी लोगोंको होता है; क्योंकि यदि वित्तका सहयोग न हो तो गन्तव्य इस संसारको देखकर भी नहीं देख पाता। मनको साध रखनेपर ही पुरुष भली-बुरी वस्तुको सुनकर, छूकर, देखकर, आखादन-कर और सूँचकर अपने मीतर हर्ष तथा विषादका अनुमत करता है। जैसे विभिन्न रूपोंके दर्शनमें प्रकाश कारण है, उसी प्रकार विभिन्न विषयोंके अनुभवमें मन ही कारण है।

जिस पुरुषका चित्त विषयोंमें बँधा हुआ है, वह बन्धनमें पड़ता है तथा जिसका चित्त कर्मवासनाके

बन्धन से रहित है, वह मुळिको प्राप्त होता है। मनके एकमात्र आकाश कार होनेपर संसारका ल्य हो जाता है। यदि चित्तसे पृथक् जगत् की सत्ता होती तो जिसका वित लीन हो गया है, उस सम्पूर्ण प्राणिसमुदायकी दृष्टिमें सारे जगत् का ल्य क्यों हो जाता ( अतः चित्तसे अतिरिक्त जगत् नहीं है )। जैसे एक ही काल विभिन्न

अनुभोक्ते कारण नाना रूपोंमें प्रकट होता है, उसी तरह एक ही मन विभिन्न कारोंके कारण विविध आकाश धारण कर लेता और अनेक नामोंसे प्रतिपादित होता है। जैसे चेतन मकाईसे जड़ तनुकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार नित्य-मनुष्य पुरुष परमात्माके संकल्पसे जड़ प्रज्ञति एवं प्राकृत पदार्थ प्रकट होते हैं। ( सर्ग ९६ )

### मनके द्वारा जगत् के विस्तार तथा अज्ञानीके उपदेशके लिये कल्पित त्रिविध आकाशका निरूपण एवं मनको परमात्मचिन्तनमें लगानेकी आवश्यकता

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—अहम्। आपके पूर्वोक्त कथनसे यह तात्पर्य प्रकट होता है कि यह जगत्-खण्डी आठम्बर मनसे ही आविर्भूत हुआ है। अतः यह जगत् मनका ही कार्य है।

श्रीकृष्णजीने कहा—जैसे मह प्रदेशका प्रचण्ड धार अपनेमें मुग्धतुष्णाखण्डी जलका भ्रम प्रदृश करता है, उसीप्रकार दृढ़भाषणसे अनुरक्षित हुए मनने ही स्वयं-प्रकाश आत्मापर आवरण ढालनेवाले जड़ जगत् को सीकार किया है। मैं ऐसा मानता हूँ कि विविध प्रकारके आचार-आकाश-प्रदेश, ग्राम और नगर आदिका रूप धारण करनेवाली विस्तृत आकृतिके द्वारा मन ही अपने स्वरूप-का विस्तार कर रहा है। ऐसी स्थितिमें शरीरोंके समुदाय तृण, काष्ठ और लता आदिके समान हैं। अतः उनके विचारसे कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा। हमें तो इनके मूलभूत केवल मनका ही विचार करना चाहिये। मैं समझता हूँ कि यह सम्पूर्ण विस्तृत जगत् मनसे ही व्याप्त है। मनसे भिन्न तो केवल परमात्मा ही शेष रहते हैं। परमात्मा सर्वातीत, सर्वव्यापी और सर्वधार हैं, परमात्माके ही प्रसादसे मन सम्पूर्ण संसारमें दौड़ लगता एवं नाचता-कूहता है। मेरे मतमें मन ही किया है और वही विभिन्न शरीरोंका कारण है। मन ही जन्म लेता व्याप्ति क्योंकि ऐसे गुण ( भाव-विकार ) आत्मामें

नहीं हैं। मेरी रायमें मन ही एक ऐसी बस्तु है, जिसका विचार करनेसे वह स्वर्य विहीन हो जाता है। मनका विल्य होनेप्राप्तसे परम श्रेय ( मोक्ष ) की प्राप्ति हो जाती है। अब उत्पन्न करनेवाली मन नामकी क्रियाका क्षय होनेपर जीव मुक्त कहा जाता है। वह जिस संसारमें जन्म नहीं लेता है।

श्रीराम। जिनका भीतरी माग अत्यन्त विस्तृत है, ऐसे तीन आकाश विषयमान हैं। पहला वित्ताकाश, दूसरा चिदाकाश और तीसरा भूताकाश। जो बाहर और भीतर परिषूर्ण है, जगत् की उत्पत्ति और विनाशका ज्ञाता है तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें व्यापक है; वह विज्ञानानन्दधन परमात्मा ही विदाकाश कहलाता है। जो इन्द्रियों और महामूर्तोंसे श्रेष्ठ है, काल्पकी कलना जिसका स्वभाव है और जिसने अपने संकल्पके द्वारा इस सम्पूर्ण जगत् का विस्तार किया है, वह समस्त प्राणियोंका हितकारी संकल्पात्मक मन ही वित्ताकाश कहा जाता है। दसों दिशाओंके मण्डलाकार विस्तारसे भी जिसका कलेश सीमित नहीं होता तथा जो वायु और मेघ आदिका आश्रय है, वह भूतात्मक आकाश ही भूताकाश कहलाता है। भूताकाश और वित्ताकाश—ये दोनों परमात्मरूप चिदाकाशकी शक्तिसे उत्पन्न हुए हैं। जैसे दिन अपनी सनिविमानसे समस्त कार्य-

समूद्रोंके सम्मानमें कारण होता है, उसी प्रकार चेतन परमात्मा भी अपने सकारात्मकसे सबके कारण हैं। जिसे आत्मतत्त्वका ज्ञान नहीं है, उसीके लिये तीन आकाशोंकी कल्पना हुई है। उसीको उपदेश देनेके लिये विविध आकाशकी कल्पना की जाती है। जिसे आत्मतत्त्वका बोध होगया है उसके लिये वह कल्पना नहीं है। आत्मज्ञानी पुरुषोंकी दृष्टिमें तो सब प्रकारकी कल्पनाओंसे रहित सर्वव्यापी, सर्वस्वरूप एकमात्र परमात्मा ही नित्य विराजमान है। अज्ञानी पुरुषको ही अनेक प्रकारकी वाक्य-रचनासे युक्त हैं एवं अद्वैतके भेदोंका निरूपण करते हुए तत्त्वज्ञानका उपदेश दिया जाता है। ज्ञानी पुरुषको किसी तरह भी ऐसा उपदेश नहीं दिया जाता।

निष्पाप श्रीराम ! मन जिस किसीसे भी उत्पन्न हुआ हो और जो कुछ भी उसका स्वरूप हो, उसकी उच्चेष्ठामें न पढ़कर शुद्धिमान्, मनुष्यको चाहिये कि वह उसे नित्य प्रयत्नपूर्वक अपनी मुक्तिके लिये परमात्मामें लाये। रुकुलतिळक ! परमात्मामें लाया हुआ चित्त वासनारहित एवं शुद्ध हो जाता है। तत्परात् वह कल्पनासून्य होकर परमात्मप्राप्तको प्राप्त हो जाता है।

श्रीराम ! यह सारा चराचर जगत् चित्तके अधीन है। इसलिये बन्धन और मोक्ष भी चित्तके ही अधीन हैं। ( अतः मनुष्यको उचित है कि वह मोक्ष-प्राप्तिके लिये चित्तको परमात्मचिन्तनमें लगाये । )

विरकालतक चित्तके निरोधकी रक्षा करने और दीर्घकालतक परमात्माका चिन्तन करनेसे अम्यासवश शून्यताको प्राप्त होकर मन फिर शोक नहीं करता। मनके प्रभादसे नाना प्रकारके दुःख बढ़ते हैं और बढ़कर पर्वत-शिखरके समान हो जाते हैं तथा उसीको बहामें कर लेनेसे ज्ञानका उदय होनेके कारण वे सारे दुःख उसी तरह नष्ट हो जाते हैं, जैसे सूर्यके सामने बर्फका ढेर गल जाता है। यदि मन शाश्वतोंके अर्थज्ञानसे उत्पन्न हुई अनिन्य धासनासे युक्त हो राग आदिके विभवयमें मौन ( निरोध ) का आश्रय ले जीवनपर्यन्त मुनिकी तरह रमता है तो आगे चलकर पावनको भी पावन बनानेवाले, जन्मरहित, शीतल ( शान्तिमय ) परिषूर्ण ग्रहापदको प्राप्त करके उसीमें खित हुआ जीवन्मुक्त पुरुष बड़ी-से-बड़ी आपत्तियोंमें फँकनेपर भी कभी शोक नहीं करता।

( सर्ग ९७—९९ )

**मनकी परमात्मरूपता, ब्रह्मकी विविध शक्ति, सबकी ब्रह्मरूपता, मनके संकल्पसे ही सृष्टि-विस्तार तथा धासना एवं मनके नाशसे ही श्रेयकी ग्रासिका ग्रतिपादन**

श्रीक्षिण्यजी कहते हैं—श्रीराम ! जैसे जल-जातिका शोध रखनेवाले पुरुषोंकी दृष्टिमें तरङ्ग समुद्रसे भिन्न नहीं है, उसी प्रकार इस लोकमें जिन्हें परमात्मतत्त्वका ज्ञान हो गया है, उनकी दृष्टिमें उनका मन भी परमात्मा ही है, उनसे भिन्न नहीं। रुकुनदन ! अज्ञानी पुरुषोंका मन ही संसाररूपी भ्रमका कारण है ( अथवा जन्म-मरणरूपी संसारमें भटकानेका हेतु है )—जैसे जो लोग जल-सामान्यपर दृष्टि नहीं रखते, उन्हींको समुद्रके जल और तरङ्गमें भेद प्रतीत होता है। अज्ञानियोंके पक्षमें उन्हें केवल ज्ञानका उपदेश देनेके लिये ही वास्त्व-वाचक-

सम्बन्धजित भेदकी कल्पना की जाती है। परमात्मा सर्वशक्तिमान्, नित्य, परिषूर्ण एवं अविनाशी है, उन सर्वव्यापी परमात्मामें जो न हो, ऐसी किसी वस्तुकी सत्ता ही नहीं है। मगवान् सम्पूर्ण शक्तियोंसे परिषूर्ण हैं। उन्हें जब जो शक्ति रुचती है, तब उसी अनन्त शक्तिको वे सर्वव्यापी परमात्मा प्रकाशित करते हैं ( उपर्योगमें लाते हैं )। श्रीराम ! प्राणियोंके शरीरोंमें ब्रह्मकी चेतन-शक्ति दिखायी देती है। इसी तरह प्रथम आदि वायुव्योमें ब्रह्मकी त्यन्दशक्ति, प्रस्तरमें जह-शक्ति, जलमें द्रव-शक्ति, अग्निमें देवसूशक्ति, आकाशमें शून्य-शक्ति और जगतकी

स्थितिमें उनकी भाव ( सत्ता )-शक्ति विषमान है । ब्रह्मकी सम्पूर्ण शक्ति दसों दिशाओंमें व्याप्त दिखायी देती है । विनाशकालमें नाशशक्ति, शोकयुक्त ग्राणियोंमें शोक-शक्ति, प्रसन्न जीवोंमें आनन्दशक्ति, योद्धामें वीर्यशक्ति, सुष्टिकालमें सर्वशक्ति और प्रत्यक्षात्में उनकी सर्वशक्ति-मत्ता दृष्टिगोचर होती है । जैसे ब्रह्मके बीजमें फल, फल, लता, पत्र, शास्त्र-प्रशास्त्र तथा जबसहित ब्रह्म अव्यक्त-रूपसे विषमान रहता है, उसी प्रकार ब्रह्ममें यह सम्पूर्ण जगत् स्थित है ।

**रघुनन्दन** । अब इस जगत्को और अहंतत्व ( जीव ) को तुम ब्रह्मरूप ही देखो । वह परब्रह्म परमात्मा सर्व-व्यापी है । उसका महान् ( अनन्त ) स्वरूप नित्य प्रकाशमान है । वही ब्रह्म जब किञ्चित् मननशक्तिको धारण करता है, तब मन कहलता है । जैसे आकाशमें भ्रमज्ञा मोरके पंखोंकी प्रतीति होती है और जैसे जलमें आर्क-बुद्धि होती है, उसी तरह मनमें ब्रह्मकी प्रतीति होती है । शङ्कुसूदन श्रीराम । यह जो मनका मननालम्ब रूप प्रकट हुआ है, वह ब्रह्मकी शक्ति ही है; इसलिये वह ब्रह्म ही है । ‘इदं’ ( यह ), ‘तद्’ ( वह ) और ‘अहं’ ( मैं )—वह सब भेद प्रतीतिमात्र ही है, उसी तरह परमात्मामें यह जीव पूर्वकर्म और वासनाके अनुसार प्रकट हुआ है । यही संसारका कारण है । श्रीराम ! जैसे समुद्रका जल ही कल्पोल, उर्मि और तरङ्ग-समुद्रायके रूपमें सब और स्थित रहता है, उसी तरह आनीकी दृष्टिमें यह सारा प्रपञ्च ब्रह्मरूप ही है । जैसे विविध तरঙ्गोंसे व्याप्त विशाल महासागरमें जलके अतिरिक्त दूसरी कोई कल्पना या सत्ता नहीं है, उसी तरह परब्रह्म परमात्मामें नाम-रूप किंवात्मक सासारकी ब्रह्मसे अतिरिक्त सत्ता नहीं है । यह जो कुछ जगत् जन्म लेता, नष्ट होता, गमन करता अथवा स्थित रहता है, वह सब

ब्रह्मके द्वारा ब्रह्ममें ब्रह्म ही वर्तता है । करण, कर्म, कर्ता, जन्म, मरण और त्यिति—ये सब ब्रह्म ही हैं । उसके द्विना दूसरी कोई कल्पना ही नहीं । यह सारा जगत् परमात्मा ही है । जो कुछ यह संकल्प-क्रम है, वह सब भी परमात्मा ही है । जैसे मुख्य बाल्बंदके रूपमें प्रकट होता है, उसी प्रकार परमात्मा मनरूपसे प्रकट हुआ है; इसलिये मन भी परमात्मा ही है ।

राघव ! बन्धन और मोक्ष आदिका कोई सम्बोह ज्ञानीको नहीं होता । मोहबनित बन्धन और मोक्ष आदि तो ज्ञानीको ही होते हैं ।

**निष्पाप श्रीराम** ! विकल्प-आलसे परिपूर्ण यह संसार-रचना प्रतीतिमात्र ही है, जो बन्ध, मोक्ष आदिकी कल्पनाओंके रूपमें विस्तारको प्राप्त हो रही है । वास्तवमें यहीं सुकल्पमात्रके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है । जो कुछ विकल्परूप प्रतीत होता है, वह संकल्पके कारण ही प्रतीतिका विषय होता है । वह वास्तवमें कुछ नहीं है; अथवा कुछ है अर्थात् परमात्माका संबल्पमात्र है । खर्ग, पृथ्वी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ और दिगाएँ—ये सब अपने स्वप्रकारके समान मनके संबल्पमात्रमें ही विकसित हुए हैं । जैसे केवल जलमय चञ्चल समुद्र अपने स्वरूपभूत जलमें स्वयं ही स्फुरित होता है, उसी तरह परमात्मामें एकमात्र संकल्प ही सब और स्फुरित हो रहा है । पहले परमात्मामें एकमात्र संकल्प ही प्रकट हुआ । वही संकल्प सूर्यके व्यापारोंसे वद्धनेवाले दिनकी भौति लोगोंके विवेष व्यापारोंसे विस्तारको प्राप्त हुआ है ।

**वस्तुतः** भेदरहित परमात्मामें अहंकार नहीं है । जैसे सूर्यकी प्रश्चण्ड धूपमें भ्रमज्ञा भृगतृष्णारूपिणी नदीकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार असम्यक्-दृष्टि ( अङ्गाम ) के कारण ही परमात्मामें अहंकारका भाव होता है । मनरूपी विन्तामणिके द्वारा कल्पित जो महान् आरम्भ ( कार्यसमूहकी सृष्टि ) है, वही संसाररूपमें देखा जाता है । जैसे जल अपने स्वरूपका आश्रय लेकर स्वयं ही

तरङ्ग आदिके रूपमें प्रतीत होता है, उसी प्रकार आत्माका आश्रय लेकर मन खयं ही संसारके रूपमें रूरित होता है। अद्वितीय परमात्मामें अज्ञानके कारण भैरव और अमेदकी भान्ति हो रही है। इस भ्रमका बाघ होनेपर जब यह सब कुछ प्रकृतत्वके रूपमें ही अवशिष्ट रह जाता है, तब यहाँ कौन बद्ध है और कौन मुक्त होता है? जबतक ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं होता, तभी तक ये ह आदिके पीकित होनेपर यह पीड़ारहित जीव भी पीड़ासे युक्त-सा प्रतीत होता है। अष्टेय होनेपर भी देहके किसी अङ्गके कट जानेपर तमतमा उठता है। परंतु अब परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है, तब ये बातें नहीं होतीं; क्योंकि परमात्मामें भैरव, अमेद, विकार और पीड़ा—कुछ भी नहीं हैं।

यह शरीरगिरजाय या उठ खड़ा हो अथवा जाकाशके भीतर चला जाय, उससे विलक्षण रूपवाले मुख आत्माकी कथा हानि है। श्रीराम! मन ही सम्पूर्ण जगत्का शरीर है। मनकीकारणभूत आधाशालि-रूप विन्मय परमात्माका कभी नाश नहीं होता। यह वासना इष्ट वस्तुमें राग और अनिष्ट वस्तुमें द्वेषके कारण बन्धनमें डालनेवाली मनकी ही शक्ति है। इसीके हारा व्यर्थं अमरे लमकी मौति इस जगत्की कल्पना दुर्ब है। यह वासना अविद्या है।

ज्ञानके बिना इसका अन्त होमा बहा कठिन है। यह केवल हुःख देनेके लिये ही बढ़ती है। इसके स्वरूपका ज्ञान न होनेसे ही यह इस मिथ्या प्रपञ्चका विस्तार करती है। इस मानसी-शक्ति वासनाने ही इस विशाल जगत्को दीर्घकालतक रहनेवाले स्वप्नके समान रचा है। यह है तो असद्, किंतु सद्-सा प्रकट हुआ जान पदता है। आरम्भमात्र ही इसका फल है अर्थात् यह निस्सार एवं आपातरणीय है। मनका नाश ही महान् अन्युदय—परम पुरुषार्थकी प्राप्ति है और वही समर्थ हुःखोंके समूल नाशका उपाय है। निरन्तर मुख-हुःखरूपी कृक्ष-सम्भूतेसे भरपूर और क्रूर कालरूपी विवेके सर्पके निवास-स्थान इस समर्थ संसाररूपी बनमें यह विवेकहीन मन ही बड़ी-बड़ी विपरियोंका एकमात्र कारण और प्रसु है।

महर्षि वसिष्ठके इतना उपदेश दे लेनेपर दिन धीत गया, सूर्यदेव अस्ताचलको चले गये। उस राजसभामें बैठे हुए ऋषि-मुनि तथा अन्य समासद् सार्यकालिक कृत्य ( संघोपासना और अग्निहोत्र आदि ) करनेके लिये स्त्रानके उद्देश्यसे उन महामुनिको नमस्कार करके चले गये तथा रात धीतनेपर सूर्यकी किरणोंके साथ ही वे सब समासद् जिर वहाँ आ गये। ( सर्ग १००-१०२ )

### जगत्की चित्तरूपता, वासनायुक्त मनके दोष, मनका महान् वैभव तथा उसे बद्धमें करनेका उपाय

बीकसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! जैसे सागरसे उसकी दस्ती-बड़ी लहरें उठती हैं, उसी प्रकार परमात्मा से इस चित्तरूपी तरङ्गका उत्थान हुआ है। यही अपने संकल्पसे विशालताको प्राप्त होकर चारों ओर इस शुष्वनका विस्तार करता है। सब प्रकारकी वस्तुओंसे सम्पन्न यह जो कुछ भी चराचर जगत् दृष्टिगोचर हो रहा है, सब-का-सब विचक्षके संकल्पसे ही प्रकट हुआ है। श्रीराम! जैसे छोटा बचा धरमें कीचड़ या गीली भिट्ठिसे विविध खिलौने धनाता है, वैसे ही मन अपने संकल्पसे विकल्परूपी

जगत्की सुष्टि करता है। जैसे ऋतुओंका निर्माण करनेवाला काल विमिश ऋतुओंमें कृक्षका कुछ और ही विलक्षण रूप कर देता है, उसी प्रकार चित्त भी इन सब पदार्थोंको विलक्षण-सा बना देता है। जैसे कृक्षसे पक्षुव प्रकट होते हैं, उसी प्रकार मनके संकल्पसे व्यामोह, सम्ब्रम, अनर्थ, देश, काल, गमन और आगमन—ये सब-के-सब उत्पन्न होते हैं। जैसे जल ही समुद्र है और उष्णता ही अग्नि है, उसी प्रकार चित्त ही विविध व्यापारोंसे पूर्ण संसार है ( क्योंकि वह उसीके संकल्पसे उत्पन्न हुआ है )।

कर्ता, कर्म और करणके साथ जो यह दृष्टा, दर्शन और दृश्यसे सम्पूर्ण संसार प्राप्त हुआ है, वह सब-का-सब विद्य ही है। जैसे सुवर्ण-तत्त्वकी परीक्षा करनेवाला पुरुष बाजूर्द, सुकुट, कड़ा और हार आदि आकारोंसे सुशोभित उसके विविध रूपोंको छोड़कर एकमात्र सुवर्णमें ही बुद्धिको लगानेपर बास्तविक सुवर्णको देख पाता है, उसी प्रकार विद्येकी पुरुष भी विभिन्न लोकों, उनके भीतरके सुखों और उनके भी भीतर फैले हुए बनान्तर आदि समस्त वस्तुओंको त्यागकर जब यह समझ लेता है कि इन सबके रूपोंमें अपने ही स्वरूप-भेदसे—अपने ही सकल-विकल्पोंसे विद्य स्थय ही प्रकट हुआ है, तब यह सारा जगत् उसे विचरूप ही दिखायी देता है; फिर विद्यके सिवा दूसरी कोई वस्तु दृष्टिगोचर नहीं होनी।

जैसे बालिका बेतालोंका विस्तार करती है, उसी प्रकार अधिन्त तुच्छ बासनारूपी सहस्रों दोपोंसे मणिन हुई मनोवृत्ति, जो नहीं है उस दुःखका भी पूर्णरूपसे विस्तार करती है; किंतु जो बासनारूप कलङ्कसे मणिन नहीं हुई है—निष्कलङ्क है, वह मनोवृत्ति महान् दुःख विद्यमान हो तो भी उसे उसी प्रकार क्षणभरमें मिटा देती है, जैसे सूर्यकी प्रभा अन्वकारकी। बासनायुक्त अज्ञानी विद्यको जहाँ मय नहीं है, वहाँ भी मय दिखायी देता है। जैसे भ्रममें पठे पथिकको ठूळा काठ दूरसे पिशाच-जैसा जान पड़ता है। कलङ्कसे मणिन हुआ मन मित्रमें भी शत्रुमालकी आशङ्का करता है, जैसे नदीमें चूर हुआ प्राणी इस पृथीको शूभ्रती हुई देखता है। मनके व्याकुल होनेपर चन्द्रगासे भी वशपात होता जान पड़ता है। विप-बुद्धिसे भक्षण किया गया अमृत भी विषका काम करता है। मनकी भक्ति बासना ही जीवके लिये एकमात्र मोहका करण है, अतः यत्पूर्व न उसीकी जड़ काटकर उसे उखाड़ फेंकना चाहिये। मनुष्योंका मनरूपी हिरन मंसाररूपी बनकी आईमें बासनारूपी जालसे आकृष्ट हो बड़ी विवशताको प्राप्त हो जाता है। जिस विचारसे जीवकी

ज्ञेय-पदार्थसम्बन्धिनी बासना कट जाती है, उसका प्रकाश बादलोंके बाहरणसे रहित सूर्यकी प्रभाके समान प्रकाशित होता है। अतः तुम मनको ही मानव समझो, इस स्थूल देहको नहीं। ऐह जड़ है; किंतु इनके भीतर बहनेवाले मनको न जड़ माना जाता है न अजड़। तात ! निष्पाप रघुनन्दन। मनने जो कर दिया, उसीको किया हुआ समझो और मनने जिसे छोड़ दिया, उसीको छोड़ हुआ मानो। यह सारा जगत् एकमात्र मन ही है। मन ही ममूर्ण भूमण्डल है। मन ही आकाश, मन ही भूमि, मन ही वायु और मन ही महत्त्व है। यदि मन सूर्य आदि पटार्थमें प्रकाश आदिरूपसे अपने-आपको योजित न करे तो ये सूर्य आदि भी कभी प्रकाशित न हों। जिसका मन मोहको प्राप्त होता है, वही मढ़ कहलाता है; यदि शरीर मोहको प्राप्त हो तो उसके शक्तों कोई मढ़ नहीं कहता। मन जब देखता है तब नेत्र बन जाता है, सुनता है तब श्रवण या कान बन जाता है, स्पर्शका अनुभव करनेसे वही त्वरित्यिका रूप प्रदर्शन करता है, सूचनेसे व्याणेन्द्रिय और रसाखादन करनेसे रसनेन्द्रिय हो जाता है। जैसे नाटकमें एक ही मठ थनेक भूमिकाओं ( विविध रूपों ) में देखा जाता है, उसी प्रकार देहके भीतर उन विचित्र इन्द्रिय-वृत्तियोंमें केवल मनकी ही अनुहृति होती है। मन छोटेको बड़ा बना देता, स्थय पदार्थमें असत्ता स्थापित कर देता, स्वादिष्टको कछुआ बनाता और शत्रुको मित्र बना देता है।

यहि भावसु-स्मरण आदि मनोहर मनोवृत्तिका उदय हो तो रौत्र नरकका दुःख भी सुखके रूपमें परिणत हो जाता है। जिसे कल सबरे राज्य मिलनेका विश्वास है, वह यदि कारागारमें अच्छी तरह बैधा हो तो भी उसका वह बन्धन दुःख नहीं होता। मनके जीत लिये जानेपर सागी इन्द्रियों स्वत घशने हो जाती है। श्रीगम ! सर्वत्र विद्यमान, खच्छ, निर्विकार, सम, सूक्ष्म, साक्षिस्वरूप, समूर्ण पदार्थमें अनुगत, चेत्य पदार्थोंसे अभिज्ञ तथा विन्मात्ररूप जो आसनसत्ता है, उससे उपलक्षित जो

वाग् आदि सब क्रियाओंसे रहित नहा है, उसे भी यह मन वेहके तुल्य और जड़ बनाकर अन्तःकरणमें क्राम-संकल्प-रूप भान्तिसे और बाहर पर्वत, नदी, समुद्र, आकाश एवं नगर आदिकी लीलासे युक्त हो व्यर्थ धूमता रहता है।

जैसे चित्तने देखा है, वही वस्तु देखी गयी मानी जाती है। यदि चित्तने नहीं देखा तो सामने रक्खी हुई वस्तु भी नहीं दिखायी देती। जैसे अन्वकारमें नील रूपकी कल्पना का गयी है, उसी तरह मनने अपनेमें ही इन्द्रियोंका निर्माण कर रखा है। इन्द्रियोंसे मन साकार होता है और मनसे इन्द्रियों। इस प्रकार यथापि दोनों समान हैं, तथापि इनमें मन ही उल्काष्ट है; क्योंकि मनसे इन्द्रियों उल्पन हुई हैं, इन्द्रियोंसे मन नहीं। इस तरह चित्त और शरीर एक-दूसरेसे अल्पन्त भिन्न होनेपर भी यिनकी दृष्टिमें इन दोनोंकी एकता है अर्थात् जो चित्त और शरीर दोनोंको जड़-फोटिमें मानकर उन्हें एक-सा समझते हैं, वे हीय आत्माके ज्ञाता परम ज्ञानी महात्मा हम सबके लिये बन्दनीय हैं। जब मन अन्यत्र आसक्त होता है—किसी दूसरे काममें उलझा रहता है, तब वह यससे कही जाती हुई कथाका क्रम भी दूट जाता है। सभ्यमें जब मन उछासके प्राप्त होता है, तब इदयके भीतर ही निर्मित हुए नगर एवं पर्वत आदि विस्तृत आकाशमें निर्मित नगर और पर्वत आदिके समान अपने-अपने कार्यको करनेमें सुर्पर्थ दिखायी देते हैं। जैसे अश्वल समुद्र अपने-आपमें ही तरफमालाओंका विस्तार करता है, उसी तरह मन सभावस्थामें अपनेसे विक्षित हुए इदयमें ही पर्वत और नगरोंकी श्रेणीको फैला देता है। जैसे समुद्रके भीतर जलसे तरङ्गपालाएँ और छोटी-छोटी लहरें प्रकट होती हैं, उसी तरह वेहके भीतर मनसे ही खमगत पर्वत और नगरोंकी पंक्तियाँ प्रादुर्भूत होती हैं। जैसे पत्र, छाता, छूल और फलकी शोभा अद्भुतका ही सरूप है—उससे भिन्न नहीं, उसी प्रकार जाग्रत् और स्थैतिकी विजास-भूमियों मनका ही विकास है, मनसे भिन्न नहीं। जैसे सुर्वर्णकी नारी-प्रतिमा सुशृणसे भिन्न नहीं है, उसी प्रकार

जाग्रत् और स्थैतिकस्थाकी क्रिया-स्थैतिकी चित्तसे पृथक् नहीं है। जैसे जलका वैभव ही थारा, जलकण, तरङ्ग और केम आदिकी शोभाके रूपमें दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार जगत्के विविध पदार्थोंके रूपमें यह चित्तका ही विकित्र वैभवशाली नानात्म प्रकट हुआ है। जैसे नट शृङ्खल आदि रसके आवेशसे विभिन्न भूमिका ( वेश-वैक्षिक्य ) को प्रहण करता है, उसी प्रकार अपनी चित्त-वृत्ति ही यहाँ रागके आवेशसे जाग्रत् और स्थगत दृष्ट-प्रपञ्चके रूपमें उदित होती है।

सब ओर फैला हुआ आसनारूढ़ मन विश्वयोंके मननसे अतिशय मोहको प्राप्त हो अपने संकल्पके अनुसार विभिन्न प्रकारकी योनि ( अन्तःस्थान ), सुख-दुःख तथा मरण-अमर्यको प्राप्त होता है। जैसे तिळमें सेल रहता है, उसी तरह मनमें सुख और दुःख रहते हैं। वे ही देश और कालका ग्रामाव पहनेसे कभी बन्धूत हो जाते हैं और कसी अस्ति सूखम्। मनःशरीरके संकल्पके सफल होनेपर ही तथूल-शरीर शान्त एवं उछासको प्राप्त होता है, आता-जाता है और उछलता-कूदता है। वह संतन्न-रूपसे कुछ नहीं करता। जैसे साधी खी अन्तःपुरके ऊँगलमें ही अपने संकल्पसे उदित विविध एवं विस्तृत उछासोंके साथ क्रीड़ा करती है, उसी प्रकार मन इस देहके भीतर अपने संकल्पोद्भारा कलिपत अनेक प्रकारके जड़े हुए उछासजनक भावोंसे क्रीड़ा-विलास करता है। इसलिये जो पुरुष अन्तःकरणमें मनको चपलता ( विषय-विन्दन ) के लिये अधिक अवसर नहीं देता, उसका वह मन खेमेमें बैठे हुए हाथीके समान स्थिर होकर लयको प्राप्त हो जाता है। निष्पाप रुननदन। जिसका मन एक लक्ष्यमें स्थिर होकर अपनी चपलताका त्याग कर चुका है, वह ध्यानके द्वारा सर्वोत्तम पद ( परमात्मा परमात्मा ) से संयुक्त हो जाता है। जैसे मन्दराचलके स्थिर हो जानेपर श्रीरसागर शान्त हो गया था, उन्हीं प्रकार मनके संयमसे संसाररूपी भान्तिका शमन हो जाता है।

( सर्ग १०३-११० )

## चित्तरूपी रोगकी चिकित्साके उपाय तथा मनोनिप्रहसे लाभ

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! यह चित्त एक मद्हान् रोग है । इसकी चिकित्साके लिये एक अद्भुत वशी औपधि है, जो अभीष्टसाधक, निवित्तरूपसे लाभ पहुँचाने-वाली, परम स्वादिष्ट और अपने ही अधीन है; उसे बनाता हूँ, मुझो । रागके विषयमूल बाद्ध विषयोंका परिणाम फरके परमात्मचिन्तनरूपी अपने ही पुरुषार्थमय प्रयत्नसे विच्छृंखली देतालपर शीघ्र विजय पायी जाती है । जो अभीष्ट वस्तु ( बाद्ध विषयभोग ) को त्यागकर चित्तके राग आदि रोगोंसे रहित हो सक्षम रहता है, उसने अपने मनको उसी प्रकार जीत लिया है, जैसे मजबूत दौतोंवाला हाथी खराब और कम और दौतवाले हाथीको जीत लेता है । खसवेदन ( आत्मा या परमात्माके निरन्तर चिन्तन ) रूपी प्रयत्नसे विच्छृंखली बालकका पालन किया जाता है अर्थात् उक्त यत्तसे उपर्युक्त राग और चपलता आदि रोगोंकी चिकित्सा फरके उसे स्वस्थ बनाया जाता है । उसे अवस्था ( मिथ्या अभ्यास अनात्मवस्तु ) से हटाकर वस्तु ( स्वस्थ अभ्यास आत्मनन्तर ) में लगाया जाता है तथा उसे बोधसे सम्बन्ध किया जाता है । जैसे बालकको प्यार या मय दिलाकर बिना प्रयत्नके ही इधर-उधर जहाँ चाहे लगाया जा सकता है, उसीप्रकार मार्दोंसे मनको भी अनायास ही अन्तरात्मामें लगाया जा सकता है । ऐसा करनेमें कठिनाई ही क्या है ?

भविष्यमें अन्युदयरूपी फलको देनेवाले सत्कर्म ( सम्पदिके अभ्यास ) में जो हुए मनको अपने पुरुषार्थसे ही चेतन परमात्माके सामय संयुक्त करे । जो सर्वथा अपने अधीन और परम हितकर है, वह अभीष्ट वस्तुका त्यागरूपी वैराग्य जिसके लिये कठिन हो गया है, वह मनुष्य नहीं, विषयोंका कीड़ा है । उसे विकार है । जैन कई पृथक्तान किसी बालकको अनायास ही पछाड़ देता है, उसी प्रकार अपनी बुद्धिसे अरम्भ विषय-उद्देश्य परन्तु रमगाय परमात्माकी भावना करके

मनको बिना यहके ही जीत दिया जा सकता है । पौरुषरूपी प्रयत्नसे वित्तको शीघ्र ही जीत लिया जाता है । जो वित्तको जीतकर उसके प्रभावसे रहित हो गया है, वह बिना किसी प्रयासके परमात्माको प्राप्त कर लेता है । अरने वित्तपर आक्रमण करके उसे बरामद कर लेना-मात्र जो सहजसाध्य और साधीन कार्य है, उसे ही जो लोग नहीं कर सकते, वे पुरुष नहीं, गीदड हैं । उन्हें विकार है । एकमात्र अपने पौरुषमें ही सिद्ध होनेवाला जो अभीष्ट वस्तुका त्यागरूपी मनोनिप्रहकर्म है, उसके बिना शुभगति नहीं हो सकती । अभीष्ट बाद विषयोंका स्वरण न करना अथवा मनोग्राहित मोक्ष-सुखकी प्राप्ति करनामा जिसका स्वरूप है, उस मुख्य साधन मनोनिप्रहके बिना गुरुका उपदेश, शास्त्रके अर्थका विन्तन और मन्त्र आदि सारे साधन या युक्तियाँ तिनकोके सुमान व्यर्थ हैं\* ।

संकल्पोंके परित्यागरूपी शास्त्रसे जब विच्छृंखली वृक्षका समूल उच्छेद हो जाता है, तब साधक सर्व-स्तर-सर्व-आपी शान्त ब्रह्मरूप हो जाता है । श्रीराम ! जैसे दिग्म्रम होनेवर पूर्वमें पश्चिमकी प्रतीनि होने लगती है और वह अनुभवके विपरीत बुद्धि उस समय विलकुल स्थिर हो जाती है; परंतु विवेकरूपी पुरुष-प्रयत्नसे उस भ्रान्त बुद्धिका भी शीघ्र ही निवारण किया जा सकता है, उसी तरह मनको भी वैराग्यरूपी पुरुष-प्रयत्नसे शीघ्र ही जीता जा सकता है । मनमें उद्गृहका न होना राय्य आदि सम्पत्तिका मूल कारण है । उद्गृह या उक्ताहट न होनेसे ही जीवको अरने मनपर विजय प्राप्त होती है, जिससे तीनों लोकोपर विजय पाना तुणके समान सहज हो जाता है । जो नराधम अपने मनके निप्रहमें भी समर्थ

\* यह बात मनोनिप्रहनी प्रदासके लिये यही गदी है । गुरुके उपदेश और शास्त्रके अभ्यासाने व्यर्थ घताना इच्छा उद्देश्य नहीं है । उद्गृहके उपदेश और शास्त्रार्थ-चिन्तन कभी व्यर्थ नहीं जाते ।

नहीं हैं, वे श्वेतहार-दशाओंमें श्वेतहारका निर्धाह कैसे कर सकेंगे । मैं पुरुष हूँ, मरा हूँ, उत्पन्न हुआ हूँ और जी रहा हूँ इत्यादि कुटृष्टियों चञ्चल चित्तकी वृत्तियों ही प्रतीत होती हैं, जो बिना हुए ही प्रकट हुई हैं । यहाँ न तो किसीकी मृत्यु होती है और न कोई जन्म ही लेता है । मन स्वयं ही अपने मरणका तथा लोकान्तर-गमनका सकल रूपात्रसे अनुभव करता है । जो नित्य सत्, सत्त्वका हितकारी, मायामयी मलिनतासे रहित और सर्व-व्यापी परमात्मा हैं, उनमें चित्तका लय हुए बिना मुक्तिका दूसरा कोई उपाय नहीं है । इस बातका ऊपर-नीचे तथा आगङ्ग-बगङ्गके लोकोंमें रहनेवाले तत्त्वदर्शी विद्वानोने बारंबार विचार किया है और सब-के-सब इसी निष्पत्यपर पढ़ूँचे हैं कि चित्तकी शान्तिके सिवा मुक्तिका दूसरा कोई उपाय है ही नहीं । अतः, सत्य, व्यापक और निर्मल ज्ञानका हृदयमें उदय होनेपर मनके लय होनेमात्रसे परम शान्ति प्राप्त हो जाती है । यदि आपातरमणीय विषयोंको तुम-जैसे विद्वानने अरपणीय वस्तुओंकी कोटिमें समझ लिया है, तब तो मेरा विश्वास है कि तुमने चित्तके सारे अङ्ग काट डाले हैं । यह सामने दिखायी देनेवाला जो वह ( पितासे उत्पन्न ) शरीर है, वह मैं हूँ और यह

जो घर, खेत आदि घन है, यह सब मेरा है । यह मैं और 'मेरा' ही मन है । यदि यह मैं और मेरेपनकी भावना न की जाय तो उससे मन उसी तरह कट जाता है, जैसे हँसियासे दृष्टि । जैसे शरद् ऋतुमें आकाशमें विष्वरे हुए बादलोंके टुकड़े वायुद्वारा उड़ा दिये जाते हैं, उसी प्रकार मैं और मेरेपनकी कल्पना या भावना न करनेसे मन भी उड़ा दिया जाता है—नष्ट कर दिया जाता है । इमठिये कोई विष्व पुरुष जैसे अपने बालक पुत्रको अच्छे कर्ममें लगाना है, उसी तरह विद्वान् पुरुषको चाहिये कि वह अपने मनको कल्पणमें लगाये । जिसका नाश होना कठिन है तथा जो नूतन या बालक न होकर सयाना और दर्पसे मरा हुआ है, उस मनस्यी सिंहको, जो सप्तारका विस्तार करनेवाला है, जो स्वेग मार डालते हैं, वे निर्वाणपदका उपदेश देनेवाले महात्मा जन हस सप्तारमें धृत्य हैं । उनकी सदा ही विश्रय होती है । मले ही प्रलयकालके प्रचण्ड पवन प्रश्राहित हों, चारों समुद्र एकमें मिलकर एकार्णव हो जायें और बारहों सूर्य एक साथ तपने लगें; परंतु जिसका मन शान्त हो गया है, उस पुरुषकी कभी कोई हानि नहीं होती ।

( सर्ग १११ )

### मनोनाशके उपायमूल वासना-त्यागका उपदेश, अविद्या-वासनाके दोष तथा इसके विनाशके उपायकी जिज्ञासा

श्रीवसिष्ठजीने कहा—जैसे बर्फका रूप शीतलता और काजलका रूप कालिमा है, उसी प्रकार मनका रूप अत्यन्त चञ्चलता है ।

श्रीरामजीने पूछा—श्राद्धन् । इस अत्यन्त चञ्चल मनके तीव्र वेग या चपलताका बलपूर्वक निवारण कैसे हो सकता है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम । इस जगत्-में कहीं भी चपलतासे रहित मन नहीं देखा जाता । जैसे उप्पता अग्निका धर्म है, वैसे ही चपलता मनका । चेनन

तत्त्वमें जो यह चञ्चल क्रियाशक्ति विद्वान है, उसीको तुम जगत्का आङ्गभररूप मानसी शक्ति समझो । जैसे स्पन्दन और अस्पन्दनके बिना वायुके अस्तित्वका पता ही नहीं चलता, वैसे ही चञ्चल स्पन्दन ( चेष्टा ) के बिना चित्तका अस्तित्व ही नहीं है । जो मन चञ्चलतासे रहित है, वही मरा हुआ कहलाता है । वही तप है और वही शाश्वका सिद्धान्तभूत मोक्ष कहलाता है । मनके विनाशमात्रसे सम्पूर्ण दुःखोंकी शान्ति हो जाती है और मनके संकल्पमात्रसे परम दुःखकी प्राप्ति होती है ।

श्रीराम ! मनकी जो यह चपलता है, वह अविद्यासे उत्पन्न होनेके कारण अविद्या कही जाती है। उस अविद्याका ही दूसरा नाम वासनापद है। उसका विचारके द्वारा नाश कर देना चाहिये। विषय-चिन्तन-का ल्याग कर देनेसे अविद्या और वासनामयी उस विद्य-सत्त्वाका अन्तःकरणमें ल्य हो जाता है और ऐसा होनेसे परम श्रेय ( मोक्ष-मुख ) की प्राप्ति होती है। पौरुष-प्रयत्नके द्वारा मनको जिस वस्तुमें भी लगाया जाता है, उसीको प्राप्त होकर वह अन्यासवश तबूप हो जाता है।

जो संसार-सागरके देगमें पड़कर तृष्णाखण्डी प्राहकी दाढ़ोंमें फैस गये हैं और भ्रमखण्डी आवत्तोदारा दूर बढ़ाये जा रहे हैं, उनके वहाँसे पार जानेके लिये अपना जीता हुआ मन ही नौकाखण्ड है। जिसने परम बन्धनकारी मनखण्डी पाशके अपने ( जीते हुए ) मनके द्वारा ही काटकर आत्माका उद्धार नहीं कर लिया, उसे दूसरा कोई बन्धनसे नहीं छुका सकता। विद्वान् पुरुषको चाहिये कि हृदयको वासित करनेवाली जो-जो वासना, जिसका दूसरा नाम मन है, उद्दित होती है उस-उसका परियाग करे—उसे मिथ्या समझकर छोड़ दे। इससे ( वासनामक मनके साथ ही ) अविद्याका क्षय हो जाता है। भावनाकी भावना न करना ही वासनाका क्षय है। इसीको मनवा नाश एवं अविद्याका नाश भी कहते हैं।

रघुनन्दन ! भ्रमसे दो चन्द्रमाओंकी प्रतीतिके समान यह वासना नित्य असत्य होती हुई ही सत्यके समान उठ खड़ी हुई है। इसलिये इसका ल्याग कर देना ही उचित है। यहाँपर तत्त्व ( अद्वितीय परब्रह्म ) के सिवा न कोई सद् वस्तु है न असद् वस्तु। जैसे तत्त्व-मालाओंसे परिपूर्ण विशाल महासागरमें जलवायिके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है ( उसी तरह संसारमें ब्रह्मके सिवा दूसरा कोई भाव या अभावखण्ड पदार्थ नहीं है )। यदि कर्मका फल सत्य हो तो कर्म उपादेय ( भाव )

होना चाहिये और यदि उसका फल मिथ्या हो तो वह कर्म सर्वथा हेय ( स्याज्य ) ही होना चाहिये, क्योंकि सब लोग एकमात्र उपादेय वस्तुमें ही आसक्त होते हैं। चूँकि कर्मका फल मिथ्या है, अतः उसमें आसक्त न होना ही उचित है। इन्द्रजालके समान यहाँ सब बुँद मायामय और अवास्थाविक है; फिर उसमें क्या आस्था हो सकती है—कैसे हेय और उपादेय इष्टियाँ हो सकती हैं। खुफुलतिलक श्रीराम ! संमार-बृक्षकी बीज कणिकाखण्ड जो यह अविद्या है, इसका अस्तित्व नहीं है, तो भी यह सत्तायुक्त वस्तुकी भौति विस्तारको प्राप्त हुई है।

यह अविद्या मनोराज्यकी भौति केवल कल्पित आकृति-भावसे मासित होती है। सत्यताका इसमें सर्वथा अभाव है। यद्यपि यह सैकड़ों, हजारों शाखाओंसे शुक्ष जान पड़ती है, तथापि वास्तवमें बुँद भी नहीं है। यह जंगलमें प्रतीत होनेवाली मृगतृष्णाकी भौति मिथ्या ही है, तो भी इसने व्यर्थ ही आडम्बर फैला रखा है। जैसे मृगतृष्णा उन भोजे-भाजे मृगोंको ही भोजेमें छालती है—मनुष्योंको नहीं, उसी प्रकार यह अविद्या अब पुरुषोंको ही धोखा देती है, विंश पुरुषोंको नहीं। जैसे प्रलयकालकी औंची भीषण रुप धारणकर धूलवायिसे व्याप्त हो बल्लूर्बक तीनों लोकोंको आक्रान्त कर लेती है, उसी प्रकार अविद्या भी मग्नकर आकार धारणकर विचरती है। जोगुणके आधिक्यसे वह धूसर जान पड़ती है और हठात् लोक-लोकान्तरोंको पददलित कर देती है, जैसे आकाशमें अकारण ही जीविमा दिखायी देती है, उसी प्रकार यह अविद्या भी किसी कारणके बिना ही प्रतीतिका विषय होती है। दो चन्द्रमाओंके भ्रमकी भौति इसकी उत्पत्ति हुई है। यह स्वनके समान अम उत्पन्न करती है और जैसे नौकादारा यात्रा करनेवाले लोगोंको तटबर्ती हुँठे काठमें भी गतिशीलताकी प्रतीति होती है, वैसे ही यहाँ इस अविद्याका उत्थान हुआ है।

यह अविद्या जब चित्तको दूषित कर देती है, तब इससे व्याकुल हुए लोगोंको दीर्घकालक संसाररूपी खण्डका धम बना रहता है। विषयरूपी रथपर आरुद्ध हुई यह उद्भव वासनारूपिणी ग्रबल अविद्या मनको उसी तरह शीघ्र आकान्त कर लेती है, जैसे जाल पक्षीको फौस लेता है। जैसे श्रिवेक-बुद्धिसे निषय-बुद्धिका निरोध किया जाता है, उसी तरह प्रयत्नपूर्वक इस वासनारूपिणी अविद्याका भी शीघ्र निरोध करना चाहिये। जैसे लोतोंको रोक देनेसे नदी सूख जाती है, उसी प्रकार अविद्याके निरोधसे यह मनोमयी नदी भी सूखकर नष्ट हो जाती है।

श्रीरामजी बोले—महान् ! यह अविद्या अविद्यमान (असद) है, अस्त्वं तुच्छ है और मिथ्या भावनरूप है, तो भी इसने कोमचाङ्गी युवतीकी भौंति सारे जगत्को अंधा बना रखा है—यह बड़े आश्वर्यकी बात है। इसका न कोई रूप है न आकार। यह सुन्दर चेतनसे भी रहित है और असद होकर भी नष्ट नहीं हो रही है। इसने

सारे जगत्को अंधा बना रखा है, यह कैसा आश्वर्य है ! यह सदा अनन्त दुःखोंसे ब्यास, मृतकके मुस्त और सशाहीन है; तो भी इसमें जगत्को अंधा बना रखा है, यह विवित्र बान है। काम और क्रोध ही इसके सुटक अङ्ग हैं। तमोगुणकी अधिकतासे यह बक बान पड़ती है और ज्ञानका उदय होनेपर यह शीघ्र ही शरीररहित ( नष्ट ) हो जाती है; तो भी इसने जगत्को अंधा बना रखा है, यह कैसी अद्भुत बात है। अपने आस्मखरूप परमात्माके विषयमें जो अंधे ( मृदु ) हैं, वे ही इस अविद्याके आश्रय हैं। यह जब है, जहाँसे जीर्ण-शीर्ण है और दुःखसे अत्यन्त प्रलय करनेवाली है; तो भी इसने जगत्को अंधा बना रखा है, यह कितने आश्वर्यकी बात है ! प्रभो ! अनन्त दुःखेष्टरूप विलास करनेवाली, जन्म-मरण आदि-सुख-दुःखका भागी बनानेवाली तथा मनरूपी गुहागृहमें बढ़ वासनाशाली यह अविद्या, जिसकी कहीं समता नहीं है, किस उपायसे नष्ट होती है ?

( सर्ग ११२-११३ )

### अविद्याके विनाशके हेतुभूत आत्मदर्शनका, विशुद्ध परमात्मस्वरूपका तथा असंकल्पसे वासनाक्षयका ग्रतिपादन

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—महान् ! अविद्याके प्रमात्रसे उत्पन्न हुआ जो पुरुषका गहन एवं महान् अधिष्ठान है, उसका निवारण कैसे होता है ?

श्रीकृष्णजीने कहा—रघुनन्दन ! जैसे ओस या पालेशी एक कणिका सूर्यका दर्शन होनेसे क्षणमरमें नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार परमात्माका साक्षात्कार होनेसे इस अविद्याका तत्काल नाश हो जाता है। यह अविद्या संसाररूपी पर्वतशिखरोंके नटकर्ता स्थानोंमें, जो गहन दुःखरूपी काँटोंसे सुशोभित होते हैं, अपने साथ देहमिमानी जीवको तमीतक नीचे गिरानेके लिये आन्दोलित करती रहती है, जबतक उसका विनाश

करनेवाली और मोहको क्षीण बना देनेवाली परमात्म-साक्षात्कारकी इच्छा स्वयं ही उत्पन्न नहीं हो जाती। जैसे सभी दिशाओंमें बारह सूर्योंके एक साथ उदित होनेपर छाया अपने-आप नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप सर्वव्यापी परमात्माका साक्षात्कार होनेपर यह अविद्या खय ही विलीन हो जानी है। रघुनन्दन ! वास्त्र विषयोंकी इच्छामात्रको यहाँ अविद्या कहा गया है ( क्योंकि अविद्यासे ही इच्छा उपन्न होती है )। इच्छामात्रका नाश ही मोक्ष कहनाता है। वह नेत्र सकृदांपके अभावमात्रसे सिद्ध होता है। जैसे सूर्यका उदय होनेपर रात न जाने कहाँ चली जाती है, उसी प्रकार परमात्माके

यथोर्थ ज्ञान का उदय होनेपर अविद्या न जाने कहाँ बिलीज हो जाती है ।

श्रीरामजीने पूछा—जगन् ! यह जो कुछ भी दृश्य-प्रपञ्च है, वह (अविद्यासे उत्पन्न होनेके कारण) अविद्या ही है और वह अविद्या परमात्माके विन्तनसे नष्ट हो जाती है । तब कृपापूर्वक यहं सताइये कि वह परमात्मा कैसा है ?

श्रीवत्सिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! जो विषयोंके संसर्गसे रहित, असाधारण और अनिर्वचनीय चेतन तत्त्व है, वह परमेश्वर ही आत्मा या परमात्मा शब्दसे कहा गया है । निष्पाप श्रीराम ! ब्रह्मसे लेकर क्लीट-पर्टन एवं पेड़-गौधों-तक जो यह तुण आदिरूप बगत है, वह सब सदा परमात्मा ही है । यहाँ अविद्या कहीं नहीं है । यह सब निष्प चैतन्यघन अविनाशी एवं अखण्ड ब्रह्म ही है । यहाँ मन नामकी कोई दूसरी कल्पना है ही नहीं । यहाँ तीनों लोकोंमें न कोई जन्म लेता है और न मरता ही है । जन्म-मरण आदि भाव-विकारोंका कहीं अस्तित्व ही नहीं है । इस संसारमें केवल—अद्वितीय एकमात्र आनंदरूप, समानभावसे सबमें व्यापक, अखण्ड और विषय-संसर्गसे रहित सचिदानन्दघन परमात्मा ही है । उस निष्प-सर्वव्यापी, शुद्ध, चैतन्यघन, सब प्रकारके उपदेशोंसे रहित, शान्त, मर्वत्र समभावसे स्थित, निर्विकार, विज्ञान-स्वरूप परमात्मामें जो यह आवरणसहित जीवात्मा चिन्मय स्वभावसे भिन्न—जड़ विषयरूप जगतकी स्थय कल्पना करके दैड़ना है, वह अविद्यारूप आवरणसे मणिन हुआ चेनम जीवात्मा ही मनके रूपमें परिणत होनेके कारण 'मन' नामसे कहा गया है । जो समार आस्तशमें कुछ नहीं है, वह एकनात्र—अद्वितीय, सर्वव्यापी, शान्तस्वरूप परमात्मामें संकल्पगतसे ही उत्पन्न हुआ है । अतः जैसे अग्निंकी उदाला जिससे उत्पन्न हुई, उसी बायुसे शान्त हो जाती है, उसी तरह संकल्पसे उत्पन्न हुई यह सृष्टि संकल्पसे ही नष्ट हो जाती है । नोगाशस्तरपताको प्राप्त

हुई वह अविद्या एकमात्र असंकल्परूप पुरुष-प्रयत्नहारा लक्ष्यको प्राप्त होती है ।

'मैं कृष्ण हूँ, अस्यन्त दुखी हूँ, बैंधा हुआ हूँ तथा हाथ-पैर आदि अवयवोंसे शुक्र हूँ' इस मायनाके अनुरूप व्यवहारसे जीवात्मा बन्धनमें पड़ता है । 'मेरा दुःखसे कोई सम्बन्ध नहीं है, वह शरीर भी मेरा नहीं है; मला, किस आत्माको बन्धन प्राप्त हुआ है—किसीको भी नहीं, आत्मा निष्प-मुक्तस्वरूप है' इस भावनाके अनुरूप व्यवहारसे जीवात्माकी मुक्ति होती है । नेत्रोंकी ही अपनी दर्शन-शक्तिका क्षय होनेपर अर्थात् अस्यन्त दूरताके कारण दर्शनशक्तिके कुण्ठित हो जानेपर जो वस्तुसमावयसे अदर्शनरूप अन्धकार ढदित हुआ है, वही आकाशकी भीलिमाके रूपमें दृष्टिगोचर होता है । यह जान लेनेपर जैसे आकाशमें कालिमा दीखनेपर भी यह वास्तवमें कालिमा नहीं है' ऐसी मुद्दि मुद्दि हो जाती है, वैसे ही अविद्यारूपी अन्धकारको भी समझना चाहिये ।

जैसे खप्तमें 'हाय ! मैं दुःखसे नष्ट हो गया' इस संकल्पसे मनुष्य दुःखसे नष्ट-सा होने लगता है और 'मैं बाग गया हूँ' इस संकल्पसे वह खनके दुःखसे छुटकारा पाकर सुखी हो जाता है, तसी प्रकार मन विषयके संकल्पसे मूढ़ताको प्राप्त होता है और विज्ञानस्वरूप उठार परमात्माके संकल्प या विन्तनसे वह विज्ञानमय ब्रह्मभावकी ओर अप्रसर होता है । 'मैं अज्ञानी हूँ' ऐसे संकल्पसे यह अनादि अविद्या एक क्षणमें प्रकट होनी है और विस्मरण अर्थात् संकल्प-वासनाओंके मूल्यांकनसे यह विनाशकी अविद्या सर्वथा नष्ट हो जाती है ।

जो दृश्य पहले ही नहीं था, वह आज भी नहीं है और जो यह भासिन हो रहा है, वह शान्त, अद्वितीय, निर्विकार एवं निर्दोष ब्रह्म ही है । अनः कभी किसीके लिये किसी तरह और किसी भी कारणसे ब्रह्मके अनिक्ष दूसरी कोई मनमीय वस्तु नहीं है; इसलिये आदि-अन्तसे रहित निर्विकार ब्रह्ममें पूर्णतः स्थित हो जाना चाहिये ।

उत्तम बुद्धिके द्वारा परम पुरुषार्थका आश्रय लेकर प्रवत्त-पूर्वक चित्तसे मोगाशाभावनाको अड्डभूलसहित उखाड़ फेंकना चाहिये । महान् भोग ( अज्ञान ) ही जग और सरण आदिका कारण है । जो-नो वस्तु कार्यरूपसे प्रकट होती है, वह सब सैकड़ों आशापाशोंसे उल्लसित होने-बाली वासनाका ही विस्तार है । 'ये मेरे पुत्र हैं, मेरा धन है, यह मैं हूँ, यह मेरा घर है' इस प्रकारके इन्द्र-जालसे यह वासना ही बुद्धिको प्राप्त होती है । तत्त्वज्ञ श्रोतम ! परमात्मतत्त्वके सिवा दूसरी कोई वस्तु कभी

सत्य नहीं है । अतः वास्तवमें 'मेरा' और 'मैं'—ये दोनों ही नहीं हैं । रघुनन्दन ! ज्ञानीकी दृष्टिमें अविद्या नहीं है । आकाश, पर्वत, समुद्र, पृथ्वी और नदीरूप जो यह अविद्या है, वह अज्ञानीकी ही दृष्टिमें है । ज्ञानीकी दृष्टिमें तो आकाश आदिके रूपमें ब्रह्म ही अपनी महिमामें रित्यत है । अहो ! यह कितने आश्चर्यकी बात है कि जो सत्य है, उस ब्रह्मको तो लोग भूल गये हैं और जो असत्य अविद्या नामक वस्तु है, उसीका निश्चितरूपसे निरन्तर सरण हो रहा है ! ( सर्ग ११४ )

### अविद्याकी बन्धनकारितापर आश्र्य, चेष्टा देहमें नहीं, देहीमें है—इसका प्रतिपादन तथा अज्ञानकी सात भूमिकाओंका वर्णन

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज ! पूज्यपाद महात्मा वसिष्ठके यों कहनेपर कमलनयन श्रीराम प्रफुल्ल पङ्कजके समान शोभा पाने लगे ।

श्रीरामजी बोले—मुनिवर ! जो अविद्या वास्तवमें है ही नहीं, उसने सबको वशमें कर लिया है—यह कैसी विचित्र बात है !

श्रीवसिष्ठजीने कहा—निष्पाप रघुनन्दन ! इस संसारमें काठ और दीवालके समान जड़ देह कुछ भी नहीं है—वास्तवमें इसकी सत्ता नहीं है । इस चित्तने ही खण्डके संसारकी भाँति इसकी कल्पना कर ली है । श्रोतम ! अज्ञानी जीवात्माको ये अनन्त शारीरिक सुख-दुःख होते हैं । किंतु ज्ञानी महात्मा पुरुषको ये बिल्कुल नहीं होते ( क्योंकि वे परमात्माके यथार्थ स्वरूपको जान गये हैं ) । देह जड़ है, अतएव वह दुःखका अनुभव नहीं कर सकता । देहभिमानी जीवात्मा ही अविवेक-के कारण दुखी होता है । यह अविवेक या अविचार अतिशय अज्ञानके कारण है । अज्ञान ही समस्त दुःखोंका दैतु है । एकमात्र अविवेकरूपी दोषके कारण ही जीवात्मा गुभाषुप कर्मोंके दुख-दुःखोंका भोक्ता

बना है—ठीक उसी तरह, जैसे रेशमका कीड़ा अज्ञान-वश ही रेशमके कोषमें बन्धनको प्राप्त होता है । अविवेकरूपी रोगसे बैधा हुआ, विविध वृत्तियोंसे युक्त मन नाना आकृतियोंमें विचरण करता हुआ वक्रके समान धूमता रहता है । श्रीराम ! जैसे धरका मालिक घरमें अनेक प्रकारकी चेष्टाएँ करता है, किंतु जड़ गृह खर्य कुछ भी नहीं करता, उसी तरह शरीरमें जीवात्मा ही विविध चेष्टाएँ करता है, शरीर नहीं ।

श्रीरामजीने पूछा—मगवन् । वाप समूर्ण तत्त्वेताओंमें श्रेष्ठ हैं । सिद्धि देनेवाली ज्ञानकी सात भूमिकाओंका स्वरूप कैसा है ? यह मुझे संक्षेपसे बताइये ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! अज्ञानकी सात भूमिकाएँ हैं और ज्ञानकी भी सात ही भूमिकाएँ हैं । फिर गुणोंकी विधितनासे इन दोनोंके दूसरे-दूसरे असंख्य भेद हो जाते हैं । आत्मस्वरूपमें अनादिकालसे अज्ञानका आरोप है । उस अज्ञानकी ये सात भूमिकाएँ हैं, जिन्हें सुनो—१ वीज-जाग्रत्, २ जाग्रत्, ३ महा-जाग्रत्, ४ जाग्रत्-स्वप्न, ५ स्वप्न, ६ स्वप्नजाग्रत् और ७ सुषुप्ति । इस तरह अज्ञानके ये सात भेद हैं । ये

सातों भेद फिर एक दूसरे से संयुक्त होकर अनेक माम-धारण करते हैं। अब तुम इस सततिध अज्ञानके लक्षण सुनो।

महासंग्रहके आदिमें चिन्मय परमात्मासे जो प्रथम, नाम-निर्देशसे रहित एवं विशुद्ध व्यष्टि वेतनं प्रकट होता है, वह भविष्यमें होनेवाले 'चिरा' और 'जीव' आदि संज्ञा-शब्दों तथा उनके अर्थोंका भाजन होकर जाप्रत् अवस्थाके बीजरूपमें स्थित होता है; (क्योंकि वह महाग्रलयके समय भी परमात्मामें बीजरूपसे ही था) इसलिये 'बीज-जाप्रत्' कहलाता है। यह अज्ञानकी नूतन अवस्था है। अब तुम जाप्रत् संसारका वर्णन सुनो। नवजात बीन जाप्रत्के पश्चात् यह स्थूल देह मैं हूँ, यह देह, यह मोग्य पदार्थ-समूह मेरा है। ऐसी जो अपने भीतर प्रतीति होती है, उसे 'जाप्रत्' कहते हैं। 'यह देह मैं हूँ' 'यह मोग्य-समूह मेरा है' इस जाप्रत् प्रतीतिके उत्पन्न होनेके पश्चात् जन्मान्तरके अन्याससे इह हुई जो प्रतीति सुरित होती है, उसे 'महाजाप्रत्' कहा गया है। \* जाप्रत्-पुरुषका अद्वय या इह जो सर्वथा तन्मयाभक (जाप्रत्के ही तुल्य) भनोराज्य है, उसीको 'जाप्रत् खम' कहते हैं। दो चन्द्रमाओंका दर्शन, सीपीमें चौंदीकी प्रतीति और मुगतृणा (मक्खलमें विना हुए जलकी

प्रतीति) आदि भेदकी तरह अन्यासवश जाग्रत्माव-को प्राप्त स्तम्भ-भनोराज्य अनेक प्रकारका होता है। 'उसे मैंने बोडे ही समयसक देखा, वह सत्य भी नहीं है' नीदके समय (सुषुप्ति-कालके आदि या अन्तमें) अनुभवमें आयी हुई जातेंके विषयमें नीदके अन्तमें जो ऐसी प्रतीति होती है, उसे 'खम' कहा गया है। यह स्थूल शरीरके कण्ठसे लेकर इदयपर्यन्त नाड़ी-प्रदेशमें प्रकट होता है। चिरकालतक दर्शनके अमावसे जो विकसित नहीं हुआ, वह महाशरीरवाल इह अभिमान ही खम है। सुषुप्त अभिनिवेशसे या चिरस्थायित्वकी कल्पनासे पुष्ट हो जाप्रत्मावको प्राप्त हुआ स्थूल महाजाप्रत्की समता प्राप्त कर लेता है। इस अवस्थाको प्राप्त हुआ स्थूल 'खम-जाप्रत्' माना गया है। पूर्वोक्त छहों अवस्थाओंका परिस्थिति करनेपर जो जीवकी जड़ अक्षस्था है, वही मावी दुःखोंका बोध करनेवाले बीजरूप अज्ञानसे सम्पन्न 'सुषुप्ति' कही जाती है। रघुनन्दन! इस प्रकार सात प्रकारकी अज्ञान-भूमिकाका मैंने वर्णन किया। यह माना प्रकारके विकारों तथा लोकान्तरोंके भेदोंसे युक्त होनेके कारण निष्पत्ति एवं त्याज्य बतायी गयी है।

( सर्ग ११५—११७ )

### ज्ञानकी सात भूमिकाओंका विशद् विवेचन

श्रीक्षिष्ठजी कहते हैं—निष्पाप रघुनन्दन! धन मैं सात प्रकारकी ज्ञानभूमिकाका वर्णन करता हूँ, उसे सुनो। पहली ज्ञानभूमिका शुभेच्छा बतायी गयी है, दूसरी विचारणा, तीसरी तनुमानसा, चौथी सखापति, पाँचवीं असंविति, छठी पदार्थमावना और सातवीं

तुर्यगा—इस प्रकार ये ज्ञानकी सात भूमिकाएँ मानी गयी हैं। विथृतः किं मूढ़ एवास्ति ब्रेक्ष्येऽहं शाश्वतस्त्वानैः। वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेऽन्युद्यते शुष्टेः॥

मैं मूढ़ होकर ही क्यों स्थित रहूँ, मैं शास्त्रों और सद्पुरुषोंके द्वारा जाशकर तत्त्वका साक्षात्कार करूँगा—

\* उसे ब्राह्मण व्याप्त जातियामें उत्पन्न हुए लोगोंमेंसे किंकी-केती व्यक्तिका अन्यान्तरके अन्यान्तरसे अपने कर्मान्वित कर्मोंमें विशेष अग्रह और नेपुण्य देखा जाता है, सबमें ऐसी जात नहीं पायी जाती। अतः इस कर्मके या अन्यान्तरके इह अन्यान्तरसे इदताको प्राप्त हुई जो पूर्वोक्त जाप्रत् प्रतीति है, उसीके महाजाप्रत् कहा गया है।

इस प्रकार वैदाग्यपूर्वक केवल मोक्षकी इच्छा होनेको शार्णीजनोंने 'भुमेच्छा' कहा है । \*

शास्त्रसंख्यासंभवकैवैदाग्याभ्यासपूर्वकम् ।  
सदाचारप्रवृत्तिर्थो प्रोक्षदते सा विचारणा ॥

'शास्त्रोंके अध्ययन, मनन और सत्पुरुषोंके सङ्गतया

विवेक-वैदाग्यके अन्यासपूर्वक सदाचारमें प्रवृत्त होना—

यह 'विचारणा' नामकी भूमिका कही जाती है । †

\* अभिप्राय यह कि उमसा ( पापमय ) अशुभ इच्छाओंमें अर्थात् चौरी, व्यभिचार शृङ्खल, कपट, छल, बलाकर, हिंडा, अमश्य-भोक्ता, उमर्खकन और प्रगाद ( अर्थ सेंदा ) आदि शास्त्र-निषिद्ध कर्मोंका मन, शारीर और अपीरसे स्थान करना; नाशवान्, अणमहूर, ली-पुञ्च और धन आदि पितृ वस्तुओंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे तथा योग-संकटदिविकी निवृत्तिके उद्देश्यसे किये जानेवाले यज्ञ, दान, सप्त और उपासनादि काम्यकर्मोंके अपने स्वार्थके लिये न करना; भान, घडाई, प्रतिष्ठा एवं जी, पुञ्च और धनादि जो कुछ भी अनित्य पदार्थ प्रारब्धके अनुसार प्राप्त हुए हो, उनके अद्देनेकी इच्छाका स्थान करना; अपने सुखके लिये किसीसे भी धनादि पदार्थोंकी अथवा सेवा करनेकी याचना न करना और यिना याचनाके लिये हुए पदार्थोंको या की हुई सेवाको स्वीकार न करना तथा किये प्रकार भी किसीसे अपना स्वार्थ सिद्ध करनेकी मनमें इच्छा न रखना; ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, माता-पितादि गुरुवर्गोंकी सेवा, यज्ञ, दान, तप तथा वर्णशमके अनुसार जीविकाद्वारा यहस्तमा निर्णाइ और शरीर-सम्बन्धी सान-यान आदि सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंमें व्यालस्थका तथा सब प्रकारकी यातारिक कामनाका स्थान करना एवं 'प्रशान त्रशः' ( एतरेत्तुप० १ । ३ )—त्रह विशानघन है, 'अथमात्मा त्रहः' ( मात्स्तुप० १ )—यह वास्तव ही परब्रह्म परमात्मा है, तत्त्वमसि, ( छान्दोग्य उप० ६ । १२ । ३ )—वह सचिदानन्दघन त्रह त् ही है और 'अहं त्रहासि' ( बृहदा० उप० १ । ४ । १० )—मैं देह नहीं हूँ, त्रह हूँ—इन वेदान्त-वाक्योंका एकमात्र परमात्माके तत्त्व-हृहस्त-शानपूर्वक उनको ग्राह करनेकी इच्छासे सत्-शास्त्रोंमें अध्ययन करना और सत्पुरुषोंका नहु करके उनसे इन महावाक्योंका अवधारण करना ही 'भुमेच्छा' नामकी प्रथम भूमिका है । इसलिये इस भूमिकाको 'श्रवण' भूमिका भी कहा जा सकता है ।

† उपर्युक्त प्रकारसे सत्पुरुषोंके सङ्ग, सेवा एवं आशा-पालनसे, सत्-शास्त्रोंके अध्ययन-मननसे तथा दैवी मम्पदात्म सद्गुण-सदाचारके सेवनसे उत्पन्न हुआ विवेक ( विवेचन ) ही 'विचारणा' है । मात्र यह कि सत्-असत् और नित्य-अनित्य वस्तुके विवेचनका नाम 'विवेक' है । विवेक इनको भलीभांति पृथक् कर देता है । सब अवस्थाओंमें और प्रत्येक वस्तुमें प्रतिक्षण आत्मा और अनात्माका विवेलेपण करते-करते यह विवेक सिद्ध होता है ।

विस्तका कभी नाश न हो, वह 'सत्' है और जिसका नाश होता है, वह असत् है । भगवान्ने कहा है—  
नास्तो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः । उभयोरपि ईशोऽन्तस्त्वनयोऽन्त्वदर्यिभिः ॥

( गीता २ । १६ )

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत् का अमाव नहीं है । इस प्रकार इन दोनोंका ही सत्त्व तत्त्वशानी पुरुषों-द्वारा देखा गया है ।'

इस नियमके अनुसार जो हृश्य उपर्युक्त है, वे उत्पत्ति-विनाशशील होनेके कारण असत् हैं और परमात्मा ही एक सत् पदार्थ है । जीवात्मा भी उसका अशा होनेके कारण सत् है । अद्वेत विद्वान्तके अनुसार जीवात्मा और परमात्मा वस्तुतः एक ही हैं, मात्रात्मी उपाधिके सम्बन्धसे उनका भेद प्रतीत होता है । जैसे महाकाशके एक होते हुए भी बड़ेकी उपाधिके सम्बन्धसे घटाकाश और महाकाश अलग-अलग प्रतीत होते हैं, वस्तुतः घटाकाश, महाकाश एक ही हैं, उसी प्रकार जीवात्मा, परमात्मो आस्त्रमें एक ही है—इस तत्त्वमें समझ लेना 'विवेक' है ।

उपर्युक्त विवेकके द्वारा अथ सत्-असत् और नित्य-अनित्यका पृथक्-करण हो जाता है, तब असत् और अनित्यसे आपकि हठ जाती है, एवं हम लोक और परलोकके सम्पूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें कामना और आसक्तिरा न रहना ही 'विवेक' है । महर्षि पराजालिने कहा है—

द्यग्नुभविकविवेत्तुष्टस्य  
वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ।

( योगदर्शन १ । १५ )

विचारणामुमेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेऽप्सरक्ता । विषयमोगोंमें आसक्तिका अभाव होना और अनासक्त यात्रा सा तत्त्वाभावात् प्रोक्ष्यते तत्त्वमाप्ताः ॥ हो संसारमें विचरण करना—यह 'तत्त्वमाप्ता' 'उपर्युक्त शुभेष्ठा और विचारणाके द्वारा इन्द्रियोंके हैं। इसमें मन शुद्ध होकर सूक्ष्मताको प्राप्त हो

'स्त्री, घन, मवन, मान, बहाई आदि इस लोकके और स्त्रीोंदि परलोकके उभ्यों विषयोंमें तुष्णात्रहित हुए वितर्की यो वशीकर-अन्तर्गत होती है, उलझ नाम 'वैराग्य' है।'

समला इन्द्रियों और विषयोंके उलझे उत्पन्न होनेवाले किन्तु भी भोग है, वे सब अनिल हैं, किंतु अशनसे अनित्यमें नित्य-शुद्ध होनेके कारण विषयमोगादि नित्य प्रतीत होते हैं। इसलिये उनसे अनित्य मनकर उनसे वैराग्य करना काहिये। गीतामें मात्रान् कहते हैं—

मात्रास्पर्शान्तु कौन्तेय शीतोष्णमुखादुःखाः । आगमापायिनोऽनित्यादादितिष्ठत्य मारत ॥ ( २ । १४ )

ये कुन्तीपुत्र ! सर्वांगरमी और दुःख-दुःखको होनेवाले इन्द्रिय और विषयोंके संयोग वो उत्पत्तिविनाशकील और अनिल हैं, इसलिये हे भारत ! उनको दूसहन कर ।'

य हि न व्ययवस्थेते पुरुषं पुरुषर्वम । उमदुःखमुर्द धीर लोऽसृतस्य कल्पते ॥ ( गीता २ । १५ )

भयोङ्कि हे पुरुषभ्रेष्ट ! दुःख-मुखको समान समहनेवाले किंतु धीर पुरुषको ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोग व्याकुल नहीं कर सकते, वह योक्तके योग्य होता है ।'

अतः वैराग्यवान् पुरुषके लिये उत्तरके विषयमोगोंके अनिल और दुःखरूप समाप्तर उनमें आठक्तिहित होना परम आवश्यक है, यो उमसकर ही विवेकी भनुत्य उनमें नहीं रहते। भाषान्तरे कहा है—

ये हि संसर्दर्जा भोगा दुःखयोनय एव ते । आशन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते द्रुषः ॥  
( गीता ५ । २२ )

यो ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विकीर्ण पुरुषोंके मुखल्प भासते हैं, तो भी दुःखके ही हैदृ हैं और आदि-अन्तर्गत अस्तीत् अनिल हैं; इसलिये हे अर्जुन ! कुर्दिमार्त—विवेकी पुरुष उनमें नहीं रहता ।'

इस प्रकार विवेक-वैराग्य हो जानेपर साधकता विच निर्मल हो जाता है; उठमें शमा, सरलता, पवित्रता तथा प्रिय-अपितृप्री प्राप्तिमें समता आदि गुण आने लगते हैं, उसके मन, इन्द्रिय और इधीर विषयोंसे हटकर व्यामें हो जाते हैं। किंतु उसे गङ्गातट, शीर्थसान, गिरि-गुहाः वन आदि एक्षत्वेशक्षम सेवन ही अच्छा लगता है; उसके अमर्ता, दग्ध देवः, विशेष और मान-बड़ाहींसे इच्छाका अभाव-न्या हो जाता है; विषयमोगोंसे स्वामायिक ही उपराहि हो जाती है एवं विवेक-वैराग्यके प्रभावसे वह नित्य परमात्माके स्वरूपके क्षित्यनमें ही जगा रहता है।

भगवान्नने गीतामें छानके साथन बताते हुए कहा है—

अमानिलेतदभिमृथमहिता भानिकर्त्तव्यम् । आशाशोणात्मं शोदं हर्येष्वाम्भविनिश्चः ॥

हर्षित्रार्थेषु पैराग्यमनहकार एव च । अममूल्यनराग्याभिषुःखदेवागुदर्शनम् ॥

असक्तिरनभिजहः पुत्रदर्शयादिषु । नित्य च गमनित्यसमिक्षानिष्ठेष्यचिषु ॥

भयि चान्त्ययोगेन मतिरब्यभिज्ञारिणी । विनिकदेशसेवित्यमरतिर्बनसपादि ॥

अध्यात्मशाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् । एतत्त्वज्ञानस्मिति ग्रोक्तमङ्गन यद्गतोऽन्यथा ॥

( १३ । ७-११ )

ओषुताके अभिमानका अमाव, दम्भाधरणका अमाव, छिनी मी प्राणीको किसी प्रकार मी न ददाना, क्षमाभाव, भन्याणी आदिकी सरलता, भद्रा-भक्तिहित गुरुकी सेवा, याहर-भीतरकी श्रुदि, अन्तःकरणकी स्थिरता और मन-इन्द्रियोंसहित दृग्भवन निग्रह, इस लोक और परलोकके उभ्यों भौतिके व्यालक्षिक अमर्त्य और अहकारका भी अमाव; चन्द, चम्प,

जाता है; इसलिये इसे 'तनुमानसा' कहते हैं ।'\*  
**भूमिकावितयाभ्यासाविचेऽर्थं विरतेवैशाद् ।**  
**सत्यात्मनि स्थितिः पृष्ठे सत्त्वापत्तिरुदाहृतः ॥**

'ऊपर बतायी हुई शुभेच्छा—श्रवण, विचारण—  
 मनम और तनुमानसा—निदिध्यासन भूमिकाओंके अन्यास  
 मे विचरके सांसारिक विषयोंसे अत्यन्त विरक हो जानेके

जरा और ये आदिस्तरमें पुरुष और दोषोंका बार-बार विचार करना; पुरुष, ऊरी, धर और धन आदिमें आसकिका अभाव; ममताका न होना तथा ग्रिय और अपियकी ग्रासिमें सदा ही विलक्षण भम रहना, मुक्त परमेश्वरमें अनन्य योगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति तथा एकान्त और शुद्धदेशमें रहनेका स्वभाव और विश्वासक मनुष्योंके समुदायमें प्रेमका न होना, अध्यात्मशानमें निष्ठ-स्थिति और तत्त्वज्ञानके अर्थत्प परमात्माको ही देखना—यह सब ज्ञान है और जो इससे विपरीत है, वह अशान है—यों कहा गया है ।

दूसरी भूमिकामें परिषक हो जानेपर उस साधकमें उपर्युक्त गुण और आकरण आने आते हैं ।

ऊपर ग्रथम भूमिकामें बताये हुए महावाक्योंका निरन्तर मनन और विन्तन करना ही प्रधान होनेके कारण इस दूसरी भूमिकाके 'विचारण' कहा गया है, अतः इसे 'मनन' भूमिका भी कहा जा सकता है ।

\* अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त कामना, आसकि और ममताके अभावसे, सत्पुरुषोंके सङ्ग और सत्-शास्त्रोंके अन्याससे नथा विवेक-वैराग्यपूर्वक निदिध्यासन—ध्यानके साधनसे साधककी बुद्धि तीक्ष्ण हो जाती है तथा उसका मन चुद्ध, निर्मल, सूक्ष्म और प्रकाश हो जाता है, जिससे उसे शूलमातिशूलम परमात्मतत्वको ग्रहण करनेकी योग्यता अनन्यास ही प्राप्त हो जाती है ; इसीको 'तनुमानसा' भूमिका कहा गया है ।

इस तीसरी भूमिकामें स्थित साधकके अन्तःकरणमें सम्पूर्ण अवगुणोंका अभाव होकर स्थानाविक ही अहिंसा, उत्त्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अनसूया ( दोषदृष्टिका अमाव ), अमानिता, निष्कपटता, पवित्रता, संतोष, शम, दम, उमाधान तेज, शमा, दया, चेत्त, अद्वेष, निर्मयता, निरहंकारता, शान्ति, समता आदि सद्गुणोंका आविर्माव हो जाता है । फिर उसके द्वारा जो भी चेष्टा होती है, वह सब सदाचारतत्प ही होती है तथा उस साधकको 'सत्साके सम्पूर्ण परार्थ मायके कार्य होनेसे सर्वथा अनित्य है और एक सचिदानन्दधन परमात्मा ही सर्वत्र समभावसे परिपूर्ण है' ऐसा हृदय निश्चय होकर अप्रतिहत सत्त्वके सम्पूर्ण पदार्थों और कर्मोंमें उसकी कालनाका भी अभाव हो जाता है । भाव यह है कि उसके अन्तःकरणमें उनके चित्र सत्साकरणसे भी नहीं रहते एवं शरीरमें अहयात्र तथा मन, धारी और शरीरहरा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्त्तव्यपनका अभियन्त नहीं रहता : क्योंकि वह परवैराग्यको प्राप्त हो जाता है । परवैराग्यका स्वरूप महर्षि पतञ्जलिमें यों बताया है—

नत्पर पुरुषस्यात्मेगुणवैतुल्यम् ।

( योगश्चान् १ । १६ )

प्रत्यक्षतिसे अत्यन्त विलक्षण पुरुषके ज्ञानसे लीनों गुणोंमें जो सूचनाका अस्त्यन्त अभाव हो जाता है, वह परवैराग्य या स्वार्थात्मक विराम्य है ।'

पूर्वोत्त पूर्वी भूमिकामें स्थित पुरुषकी तो विषयोंका विशेष संसर्ग होनेसे कदाचित् उनमें कुछ आसकि हो भी सकती है; परदू इन लीली भूमिकामें पहुँचे हुए पुरुषकी तो विषयोंके ताय संसर्ग होनेपर भी उनमें आसकि नहीं होती: क्योंकि उसके निष्ठायमें एक सचिदानन्दधन परमात्माके स्वित्र अन्य कोई बल्ल रहती ही नहीं । अतः परवैराग्य ही जानेके कारण उसके अन्तःकरणकी शून्यियों सम्पूर्ण संसारसे अत्यन्त उपरत हो जाती है । यदि किसी कालमें कोई स्फुरण हो भी जाती है, तो भी उसके सत्स्वार नहीं अमते; क्योंकि उसकी एक सचिदानन्दधन परमात्माके स्वरूपमें ही निरन्तर गाढ़ स्थिति बनी रहती है, जिसके कारण उसे कभी-कभी तो शरीर और समारका विसरण होकर समाधि-सी हो जाती है । ये सब लक्षण परमात्माकी ग्रासिके अत्यन्त निकट पहुँच जानेपर होते हैं ।

सांख्यानन्दधन परमात्माका चिन्तन करते-करते उस परमात्मामें तन्मय हो जाना तथा अत्यन्त वैराग्य और उपरतिके करण परमात्माके भ्यासमें भी नित्य शित जानेमें मनका विद्युद होकर न्यूक्ष्म हो जाना ही 'तनुमानसा' नामकी

अनन्तर उसके प्रभावसे आत्माका शुद्ध तथा सत्यस्वरूप परमात्मामें तदूप हो जाना 'सत्त्वापत्ति' कहा गया है। \* तीसरी भूमिका है। अतः इसे 'निदिष्यासन' भूमिका भी कह सकते हैं।

ये भीनों भूमिकाएँ साधनरूप हैं। इनमें सदारसे कुछ सम्बन्ध रहता है, अतः यहाँतक साधककी 'आग्रह-अवश्य' मानी गयी है।

\* उपर्युक्त शब्द, मनन और निदिष्यासनके तीव्र अभ्याससे जब साधक सचिदानन्दधन परमात्मामें प्राप्त हो जाता है, तब उसीको 'सत्त्वापत्ति' नामकी चौथी भूमिका कहते हैं। इसीको गीतामें निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति कहा गया है—

मोऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्थान्तस्योत्तिरेव यः । स योगी ब्रह्म निर्वाणं ब्रह्मभूदेऽधिगच्छदि ॥

( ५ । ३४ )

'बो पुरुष आत्मामें ही मुखी है, आत्मामें ही रमण करता है तथा वो आत्मामें ही जानवान् है, वह सचिदानन्दधन परमात्मा के साथ एकीभावके प्राप्त—'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अनुभव करनेवाला ज्ञानयोगी शान्त ब्रह्मके प्राप्त होता है।'

विस प्रकार गह्या-यमुना आदि सभी नदियों वहाँ हुईं अपने नाम-करणके छोड़कर समुद्रमें ही विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञानी महाया नाम-स्वरूपसे रहित होकर परम दिव्य पुरुष परात्मन परमात्माको ही प्राप्त हो जाता है, उसीमें विलीन हो जाता है—

यथा नदः स्वन्दमना. समुद्रेऽस्ता गच्छन्ति नामस्ये विश्वम् । दथा विद्वान् नामस्याद् विमुक्तः परात्मर पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

( मुण्डकोपनिषद् ३ । २ । ८ )

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नत्वा न दोचति न काहृति । सम् लक्ष्मे भूतेषु महर्किं लम्ते परम् ॥

महत्प्य मानमिगानाति यावान्यभास्य तत्पतः । ततो मा तत्पतो ज्ञात्वा विश्वते तदनन्तरम् ॥

( १८ । ५४-५५ )

'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस प्रकारके अनुभवसे सचिदानन्दधन ब्रह्ममें एकीभावसे खित प्रसन्न मनवाला ज्ञानयोगी न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा ही करता है। ऐसा समझा प्राणियोंमें लम्भावाला योगी मेरी पराभक्ति । ज्ञान-निष्ठा । को प्राप्त हो जाता है। उस ज्ञाननिष्ठारूप पराभक्तिके द्वारा वह मुख परमात्माको मैं यो हूँ और किसी हूँ, ढीक वैष्ण-का-यैषा तत्पत्ते ज्ञान लेता है तथा उस ज्ञान-निष्ठावे मुक्तके तत्पत्ते ज्ञानकर तत्पत्त ही मुखमें प्रविष्ट हो जाता है।'

जब साधकके परज्ञानका धर्यार्थ ज्ञान हो जाता है, तब वह ब्रह्म ही हो जाता है—

स यो ह वै तद् परमं ब्रह्म ब्रह्म भवति । ( मुण्डकोपनिषद् ३ । २ । ९ )

फिर उसका इस शारीर और संसारसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। ब्रह्मवेत्ता पुरुषके अन्तःकरणमें शरीर और अन्तःकरणके सहित यह संमार स्वप्नवत् प्रतीत होता है जैसे स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नकी घटनाको मनकी कल्पनामान समझता है, जैसे ही उस ब्रह्मवेत्ताके अन्तःकरणमें यह संवाद कल्पनामान प्रतीत होता है अर्थात् इस संवारपी काल्पनिक सत्ता प्रतीत होती है। स्वप्नमें और इसमें इसना ही अन्तर है कि स्वप्नका समय तो भूतकाल है और संवारकी क्षम्बन्वत् प्रतीतिका समय वर्तमानकाल है, तथा स्वप्नमें तो जो मन-बुद्धि थे, वे वर्तमानमें भी इस श्रीवात्माके साथ सम्बन्धित है किंतु वह मनुष्य ब्रह्ममें प्राप्त हो जाता है, तब उसके मन-बुद्धि इस शरीरमें ही रह जाते हैं, उस ब्रह्मवेत्ताके साथ ब्रह्ममें सम्बन्धित नहीं होते, इसलिये ब्रह्मकी इष्टिसे इस सदारका अत्यन्त अभाव है।

वास्तवमें तो ब्रह्मके कोई इष्ट ही नहीं है, केवल समझानेके लिये उसमें इष्टिका अरोप किया जाता है। ब्रह्मकी इष्टिमें तो केवल एक ब्रह्म ही है, उसके लिया अन्य कुछ भी नहीं। ब्रह्मवेत्ताके शरीरका यो अन्तःकरण है, उसमें इस मनारका अत्यन्त अभाव और सचिदानन्दधन ब्रह्मका मात्र प्रस्तुत है—यह ब्रह्मवेत्ताका अनुभव है। उसी अनुभवके बलपर ज्ञानोंमें यह कहा गया है कि एक मन्त्रिवानन्दधन ब्रह्मके लिया अन्य कुछ भी नहीं है।

जो ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, वह ब्रह्म ही बन जाता है। श्रुतिमें भी कहा गया है—‘ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति’ ( बृहदारण्यक ४ । ४ । ६ )—‘सह ब्रह्म ही होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है।’ इसलिये वह लौटकर नहीं आता। श्रुति कहती है—  
न च पुनरवर्तते । न च पुनरावर्तते । ( छान्दोग्य ८ । १५ । १ )

‘फिर वह कभी नहीं लौटता, किंतु वह कभी नहीं लौटता।’

जब ब्रह्मकी इष्टिमें सुहिता अत्यन्त अमाव है, तब ब्रह्म ही ही ज्ञानेपर लौटकर कौन कैसे कहें आये। गीतामें भी यत्प्रथा गया है—

तद्बुद्ध्यस्तादास्मानस्तिष्ठासत्यरायणाः । गच्छत्पुनरवृत्तिं शाननिर्धूतकस्मधाः ॥

‘जिनका मन तद्बुद्ध हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्बुद्ध हो रही है और स्तिष्ठानन्दशन परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर एकीभावसे खिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरवृत्तिमें अर्थात् पुनः न लौटनेवाली परमात्मिकों ग्रास होते हैं।’

भाव यह कि उसका मन तद्बुद्ध—ब्रह्मरूप हो जाता है। पूर्ण आनन्द, अपार आनन्द, शान्त आनन्द, ज्ञन आनन्द, अचल आनन्द, ध्रुव आनन्द, नित्य आनन्द, वोशस्वरूप आनन्द, ज्ञानस्वरूप आनन्द, परम आनन्द, महान् आनन्द, एक आनन्द-ही-आनन्द परिपूर्ण है, एक आनन्दके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है—इस प्रकार ब्रह्मके स्वरूपका मनन करते-करते जब मन तन्मय—ब्रह्ममय हो जाता है, तब उसको ‘तदात्मा’ कहते हैं।

उपर्युक्त प्रकारके विशेषणोंसे विश्वरित ब्रह्मका भनन करते-करते जब मन ब्रह्ममें विलीन हो जाता है और उन विशेषणों-की आवृत्तिके प्रभावसे ब्रह्मके विशेष स्वरूपका बुद्धिमें अनुभव हो जाता है, तब बुद्धिके द्वारा अनुभव किये हुए उस ब्रह्मके विशेष स्वरूपको अस्य बनाकर जीवात्मा उस ब्रह्मका ज्ञान करता है। यहाँ ग्रस सो ज्येष्ठ है, ज्ञान करनेवाला जागक ज्ञाना है और बुद्धिकी वृत्ति ही ज्ञान है। इस प्रकार ज्ञान करते-करते जब बुद्धि उस ब्रह्ममें विलीन हो जाती है, तब उसे ‘तद्बुद्धि’ कहते हैं। इसके पश्चात् जब ज्ञान हो जाता, ज्ञान और ज्येष्ठलम् त्रिपुदी न रहकर साधककी ब्रह्मके स्वरूपमें अभिन्न खिति हो जाती है, तब उसे ‘सन्निष्ठ’ कहते हैं। इसमें ब्रह्मका नाम, रूप और ज्ञान रहता है; इसलिये यह प्रारम्भिक भूषिकृत्य समाधि है। इसीको सवितरक समाधि कहते हैं। महर्षि पतञ्जलिने यत्तलाया है—

तत्र यद्यार्थज्ञानविकल्पैः उक्तीर्णा सवितरका समाधिः । ( योगदर्शन १ । ४२ )

‘उसमें शब्द, अर्थ और ज्ञान—इन सीनोंके विकल्पोंसे मिली हुई समाधि सवितरक है।’

इस प्रकार सविकृत्य समाधि होनेके बाद जब स्वतः ही साधककी निर्विकल्प समाधि हो जाती है, तब ब्रह्मका नाम ( शब्द ), रूप ( अर्थ ) और ज्ञान—ये तीनों विकल्प मिश्र-मिल नहीं रह जाते, एक अर्थमात्र वस्तु—ब्रह्मका स्वरूप ही रह जाता है। इसीको निर्वितरक सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। महर्षि पतञ्जलिने कहा है—

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशूल्येवार्थमात्रिनिर्माणा निर्वितरका । ( योगदर्शन १ । ४३ )

‘( शब्द और प्रतीतिकी ) स्मृतिके भलीभौति छुत हो ज्ञानेपर अपने रूपसे ज्ञान हुईके दृष्टश केवल ज्येष्ठमात्रके स्वरूपको प्रस्तुक करनेवाली ( अन्तःकरणकी खिति ही ) निर्वितरक समाधि है।’

इसमें साधक द्वयं ब्रह्मस्वरूप ही ज्ञन ज्ञाना है। अतः उसको ‘तत्परायण’ कहते हैं। इस निर्विकृत्य समाधिका उल्लेख असम्भवात् योग है, वही वास्तवमें ब्रह्मकी प्राप्ति है; उसीको यहों गीतामें अपुनरवृत्ति कहा गया है। ज्यौंके ब्रह्मज्ञानके द्वारा जिसके मन, विक्षेप और आवरणकम् कल्पवक्ता नाश हो गया है, यह ब्रह्मज्ञों प्राप्त पुरुष ब्रह्म ही हैं ज्ञाना है; वह लौटकर नहीं आता।

यही ‘सत्यापति’ नामकी चौथी भूमिका है। इसमें पर्हुचे हुए पुरुषके ब्रह्मविन्—ब्रह्मवेत्ता कहा जाता है। इसमें सुधार उस ज्ञानी महात्माके अन्तःकरणमें स्वप्नवत् भावित होता है, इसलिये यह उसके अन्तःकरणकी ‘स्वप्नावस्था’ मानी जाती है।

श्रीयाज्ञवल्यनी, राजा अश्वपति और जनक आदि इह चौथी भूमिकामें पर्हुचे हुए माने गये हैं।

यहों योगवाचिष्ठामें लिख ग्रकार ब्रह्मको प्राप्त पुरुषकी चौथी, पौंचवां, छठी, सातवां भूमिकाके रूपमें ज्ञान मेद यत्तलाये गये हैं, इस प्रकारके मेद गीता, रामायण, मार्गवत् आदि ग्रन्थोंमें नहीं पाये जाते।

दशाचतुष्याम्गसादसंसङ्गफलेन च।  
रुदस्त्वधमत्कारात् प्रोकासंसक्षिनामिका ॥

‘शुभेच्छा, विचारणा, तनुशानसा, सच्चापति—इन  
चारोंके सिद्ध हो जानेपर सामाजिक अभ्याससे विचारके  
वाहाभ्यन्तर सभी विषय-संस्कारोंसे अव्यन्त असङ्ग  
( सम्बन्ध-विच्छेद ) हो जानेपर अन्तःकरणका समाधिमें  
आखद—स्थिर हो जाना ही ‘असंपत्ति’ मामकी पौच्छां  
भूमिका कहा गया है।’ \*

भूमिकापञ्चकाम्यासाद् ज्ञात्मारामतया इदम् ।  
आभ्यन्तराणां बाह्याणां पदार्थानामभावनात् ॥

परमात्माको प्राप्त पुरुषके लक्षण तो गीतामें बगड़-बगड़ आते हैं, किंतु उसके इस प्रकारके अलग-अलग मेद नहीं  
बताये गये हैं। बालचमें ब्रह्मकी प्राप्ति होनेके पश्चात् जानी महात्मा पुरुषका शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता, ज्ञोंके  
वह देहाभिमानसे सर्वथा रहित होकर ब्रह्ममें तरलीन हो जाता है। अतः यहाँ योगवालिङ्गमें बताये गये उन भेदोंको  
ब्रह्मप्राप्त पुरुषके भेद न समझकर उसके अन्तःकरणके भेद समझने चाहिये।

\* परम वैदिक और परम उपरिके कारण उप ब्रह्मप्राप्त जानी महात्माका इति संवार और शरीरसे अत्यन्त  
सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, इसलिये इस पौच्छां भूमिकाको असंपत्ति कहा गया है।

ऐसे पुरुषका संसारसे कोई भी प्रयोजन नहीं रहता। अतः वह कर्म करने या न करनेके लिये बाच्य नहीं है।  
गीतामें भगवानने कहा है—

नैव तद्य कृतेनायो नाश्वरेनैव कर्म । न चाय सर्वभूतेषु कर्मिदर्थं व्यपाभ्यः ॥

( ११४ )

‘उस महापुरुषका इस विश्वमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मोंके न करनेमें ही कोई प्रयोजन  
रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें भी इसका किंचित्प्रभाव भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता।’

फिर भी उम जानी महात्मा पुरुषके सम्पूर्ण कर्म जाग्रत्तमत और कामना एव नक्ष्यसे शत्य होते हैं। इन प्रकार  
नितके उमरा कर्म जानस्य अनिके द्वारा भस्त हो गये हैं, उस महापुरुषके जानीकन भी पण्डित कहते हैं—

शत्य सर्वे समरम्माः कामसंक्षयवर्तिः । ज्ञानान्विदव्यक्तमाणं तमाहुः पण्डित शुभः ॥

( गीता ४। ११ )

अतः ऐसे पुरुषको उसके समानके लिये ‘ब्रह्मविद्वर’ कहा जा सकता है। ऐसा महापुरुष जब समाज-अत्रसामें  
रहता है, तब तो उसे सुपुणि अवश्याकी मौति सासारहा विकुल भान नहीं रहता और व्युत्थान अवश्यमें—ध्यवदार-  
कालमें उसके द्वारा पूर्वके अव्याससे मत्ता, भावकि, कामना, संक्षय और कठुत्वाभिमानके बिना ही सारे कर्म होते रहते हैं।  
उसके द्वारा जो भी कर्म होने हैं, वे ज्ञानविहित ही होते हैं। उनमी कभी समाज-अवश्या रहती है और कभी व्युत्थानवश्या,  
उसकी जिनी दूसरेके प्रयत्नके बिना भवतः ही व्युत्थानवश्या हो जाती है। किंतु यात्कृतमें सासारके अमावका निश्चय होनेके  
कारण उसकी व्युत्थानवश्या भी समाधिके तुल्य ही होती है, इस कारण उनकी इति अवश्यको ‘सुपुणि-अवश्या’ भी  
कहते हैं।

श्रीब्रह्मभरतजी इन पौच्छां भूमिकामें स्थित माने जा सकते हैं।

परप्रयुक्तेन चिरं प्रथमेनार्थंभावमात् ।  
पदार्थाभावमातामनी दर्ढी संजायते गतिः ॥

‘उपर्युक्त पौच्छां भूमिकाओंके सिद्ध हो जानेपर<sup>१</sup>  
सामाजिक अभ्याससे उस ज्ञानी महात्माकी आत्मारपत्ताके  
प्रभावसे उसके अन्तःकरणमें संसारके पदार्थोंका अव्यन्त  
अभाव-सा हो जाता है, जिससे उसे बाहर-भीतके  
किसी भी पदार्थका स्थाय मान नहीं होता, दूसरोंके द्वारा  
प्रयत्नपूर्वक चिरकालतक प्रेरणा करनेपर ही कभी किसी  
पदार्थका भान होता है; इसलिये उसके अन्तःकरणकी

‘पदार्थाभना’ नामकी छठी भूमिका हो जाती है । \*

भूमिषट्टकचिराभ्यासाद् भेदस्याद्गुपलभूतः ।

यत्त्वभावैकनिष्ठाचं ला क्षेया तुर्यंगा गतिः ॥

‘उपर्युक्त छहो भूमिकाओंके सिद्ध हो जानेपर स्वामाविक चिकित्सक अभ्यास होनेसे जिस अवस्थामें दूसरोंके द्वारा प्रयत्नशक्ति प्रेरित करनेपर भी भेदरूप संसारकी सत्ता-स्थानिकी उपलब्धिं नहीं होती, कर अपने आत्ममायमें स्वामाविक निष्ठा रहती है, उस स्थितिको उसके अन्तःकरणकी ‘तुर्यंगा’ भूमिका जानना नाहिये।

वह तुर्यविवेषा जीवन्मुख पुरुषोंमें इस शरीरमें रहते हुए ही विवेषान रहती है । उस देहका अन्त होनेपर विदेह-मुकिका विषय साक्षात् तुर्यातीत ब्रह्म ही है

\* पाँचवीं भूमिकाके पश्चान् जब वह ब्रह्मग्रास पुरुष छठी भूमिकामें प्रवेश करता है, तब उसकी नित्य समाधि रहती है; इसके कारण उसके द्वारा कोई भी क्रिया नहीं होती । उसके अन्तःकरणमें शरीर और संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंका अत्यन्त अभाव-सा हो जाता है । उसे संसारका और शरीरके बाहर-भीतरका विस्तृत ज्ञान नहीं रहता, केवल ज्ञात आते-जाते हैं; इसलिये उस भूमिकाको ‘पदार्थाभना’ कहते हैं । ऐसे गाढ़ सुषुप्तिमें स्थित पुरुषको बाहर-भीतरके पदार्थोंका ज्ञान विस्तृत नहीं रहता, ऐसे ही इसको भी ज्ञान नहीं रहता । अतः उस पुरुषकी इस अवस्थाको ‘गाढ़ सुषुप्ति अवस्था’ भी कहा जा सकता है । किंतु गाढ़ सुषुप्तिमें स्थित पुरुषके तो मन-बुद्धि अधानके कारण अपने कारण मायामें बिलीन हो जाते हैं, अतः उसकी स्थिति तमोगुणमयी है; पर इस ज्ञानी महापुरुषके मन-बुद्धि ब्रह्ममें तदूप हो जाते हैं ( चीता ५ । १७ ), अतः इसकी अवस्था गुणातीत है । इसलिये यह गाढ़ सुषुप्तिसे अत्यन्त विलग्न है ।

गाढ़ सुषुप्तिमें स्थित पुरुष को निद्राके परिपक्ष हो जानेपर स्वतः ही जाग जाता है; किंतु इस उमाधिस्थ ज्ञानी महात्मा पुरुषकी अनुस्थानावस्था तो दूसरोंके बारंबार प्रयत्न करनेपर ही होती है, अपने-आप नहीं । उस अनुस्थानावस्थामें वह निष्ठाद्वारा प्रक्षम करनेपर पूर्वके अभ्यासके कारण ब्रह्मविषयक तत्त्व-वृहस्यको बतला सकता है । इसी कारण ऐसे पुरुषको ‘ब्रह्मविद्वीयान्’ कहते हैं ।

भीम्नश्वरेष्वभी इस छठी भूमिकामें स्थित भाने जा सकते हैं ।

\* छठी भूमिकाके पश्चात् सातवीं भूमिका स्वतः ही हो जाती है । उस ब्रह्मवत्ता ज्ञानी महात्मा पुरुषके हृदयमें उत्तारका और शरीरके बाहर-भीतरके लौकिक ज्ञानका अत्यन्त अभाव हो जाता है । क्योंकि उसके मन-बुद्धि ब्रह्ममें सदूप हो जाते हैं, इस कारण उसकी अनुस्थानावस्था तो न स्वतः होती है और न दूसरोंके द्वारा प्रयत्न किये जानेपर ही होती है । ऐसे मुद्दा ज्ञानेपर भी नहीं जाग सकता, ऐसे ही वह मुद्देकी भौति हो जाना है; अन्तर इतना ही रहता है कि मुद्देमें प्राण नहीं रहने और इसमें प्राण रहते हैं तथा यह श्याम नेमा रहता है । ऐसे पुरुषका संसारमें शीघ्रन-निर्वाह दूसरे लोगोंके द्वारा केवल उसके प्रारब्धके मम्मायोंके कारण ही होता रहता है । वर प्रकृति और उसके कर्त्त्व सत्त्व, रज-तम-रीनों गुणोंसे और जाग्रत्, स्वतन्, सुन्ति—नीनों अवस्थाओंसे अनीन होकर ब्रह्ममें विलयन रहता है; इसलिये वह उसके अन्तःकरणकी अवस्था ‘तुर्यंगा’ भूमिका कही जाती है ।

ब्रह्मकी हृषिमें संसारका अस्पन्द अपाव है । उपर्युक्त महात्मा पुरुष उस सर्विदानन्दधन ब्रह्मको नित्य ही प्राप्त है । अतः उसके मन-बुद्धिमें भी शरीर और संसारका अत्यन्त अभाव है । इसलिये ऐसे पुरुषको ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहते हैं ।

ऐसे ही ब्रह्मविद्वरिष्ठ महापुरुषसे ज्ञातालाप न होनेपर भी उसके दर्शन और चिन्तनसे ही मनुष्यके चित्तमें गल, विदेह और आवरणका नाश होनेसे उसकी ज्ञाति परमात्माकी ओर आकृष्ट होनेपर उसका कस्त्याण हो सकता है ।

( अतः भूमिकाओंमें उमकी गणना नहीं है ) । श्रीराम ! जो महाभाग सातवीं भूमिकामें पहुँच गये हैं, वे आरम्भाम महात्मा महापद ( परब्रह्म ) को प्राप्त हो चुके हैं । जीवन्मुक्त पुरुष सुख-दुःखमें आसक्त नहीं होते । केवल देह्यात्राके लिये छठी भूमिकामें कुछ कार्य करते हैं, अथवा सातवीं भूमिकामें नहीं भी करते । पूर्वोक्त महात्मा पार्श्वर्तीं पुरुषोंद्वारा बोधित होकर उन-उन आश्रमोंमें स्थित पुरुषोंकी आचार-परम्परासे प्राप्त सम्पूर्ण सदाचारोंका ही सावधानकी भौति पालन करते हैं । उनका वह आचार फलकी कामना और आसक्ति नामक दोषोंसे रहित होता है । वे अपने आत्मामें ही रमण

करनेके कारण बादा विषयोंसे विरत होते हैं। अत उन्हें अगतके अवधार उसी तरह सुख नहीं दे पाते, जैसे गाद नींदमें सोये हुए पुरुषोंको दर्शनीय रूप-सौन्दर्यसे सुशोभित कियों नहीं सुख दे सकती। ज्ञानकी ये सात भूमिकाओंदेविकी पुरुषोंको ही प्राप्त होती हैं। इम ज्ञानशक्तिको प्राप्त हुए पश्च ( इनुमान और नमी ), अन्यज ( मूक चाणडाळ, धर्मव्याध, गुह, भील और शशी ) आदि पी मदेह ( जीवन्मुक्त ) अथवा विदेहसुक्त ही हैं—इसमें संशय नहीं है। वेन और जड़की प्रनियका विच्छेद ही छान है। उसके प्राप्त होनेपर मुक्ति हो जाती। क्योंकि मुगातुष्णामें जलयुक्त अथवा रज्जुमें सर्पयुक्त आदिका जो भाव है, वैसा ही चेतन और जड़की प्रनियका विच्छेद भी है। कुछ लोग एक हो जन्ममें कलशः ज्ञानकी सारी भूमिकाओंको प्राप्त हो जाते हैं। कोई कोई एक, दो या तीन भूमिकाओंतक ही पहुँच पाने हैं। कोई छ

भूमिकाओंको प्राप्त नहीं है। कोई एकमात्र सातवी भूमिकमें ही स्थित होते हैं। कोई तीन भूमिकाओंतक जाते हैं। कोई अन्निम भूमिकमें पहुँच जाते हैं। कोई चार भूमिकाओंको प्राप्त होते हैं। कोई दो भूमिकाओंमें स्थित होते हैं। कोई ज्ञानभूमिकाके एक अंशतक ही पहुँच पाते हैं। कोई साढ़े तीन, कोई साढ़े चार और कोई साढ़े छः भूमिकाओंमें पहुँचकर उत्तरोत्तर उत्कृष्ट स्थानोंपर विजय पाते जाते हैं, वे महात्मा निश्चय ही कन्दनीय हैं। हम्होने इन्द्रियरूपी शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर ली है। उस चतुर्थ ज्ञानभूमिका ( जीवन्मुक्तावस्था ) में पहुँच जानेपर सत्राट् ( भूमण्डल-फा राजा ) और विराट् ( देवदोकका राजा ) भी निनकेके समान लुच्छ प्रतीत होता है; क्योंकि वे ज्ञानी महात्मा उस अवस्थामें परमपदको प्राप्त हो जाते हैं। ( सर्ग ११८ )

### मार्यिक रूपका निराकरण करके सन्मानस्वका प्रदर्शन, अविद्याके स्वरूपका निरूपण, संक्षेपमें ज्ञानभूमिका एवं जीवन्मुक्ताके वास्तविक स्वरूपका वर्णन

श्रीकृसिंहजी कहते हैं—गाथ । जैसे मुगातुष्णाके जलमें, दो चन्द्रमाओंके अमर्में और शरीर आदि की अहंतामें मायासे जो रूप परिलक्षित होता है, वह विचारपूर्वक देखनेपर हड्डियोंचर नहीं होता, उसी प्रकार स्वर्णमें जो कढ़, कुण्डल, भैंगूठी आदिका भाव है, वह केवल भानित है। वह अमर् स्वरूपकाली माया है; क्योंकि उसका वह रूप ही रेता है, जो ज्ञानदृष्टिसे देखनेपर कायम नहीं रहता। अमरस्तु तो मीणमें चीदी और महस्तलमें जड़की भानिके ममान विवाहीनमाके कारण ही सद-सी प्रनीत होनी है। अमर् शरीरमें जो अहताकी मावना है, वही परमा अविद्या है, वही माया है और वही मंसुनि है। जैसे मुदर्में भैंगूठीरना आदि वास्तवमें कल्पित है, उभी तद्द आध्यामें अहता आदिकी मावना भी कल्पित है।

इस प्रकार जो स्वर्ण, ज्ञान्त एवं निर्मल है, उस परमो-स्तुष्ट आत्मामें अहंताकी मावना असद् है। वह सुद आत्मा मेहता, अमुरता, मनपना, देहता और महाभूततासे रहित है। उसमें तीनों कान्दोंकी कल्पना और मावामाव वस्तुका अमाव है। स्त्रा, अहंता, आत्मता, तता, सत्ता, असत्ता आदिसे भी वह रहित है। उसमें न कहीं मेदकी कल्पना है, न राग और रसन ही है; क्योंकि ये सब मायामात्र हैं। वह तो सर्वाम्बक, ज्ञान्, आश्चर्यरहित, नगदका कारण, शाश्वत, अलग्यागमय, निर्विकार, इन्द्रियों-द्वारा अग्राह्य तथा नाम एवं करणारहित ब्रह्म है।

रघुनन्दन ! वासनामुक्त चित्र निम वस्तुकी पर्याप्त-रूपमें जैसी भावना करता है, वह वस्तु चाहे सद् ही अथवा अमर्, उसको उसी समय उभी रूपमें प्रतीत होने

लगती है; क्योंकि अहंता आदि भावोंसे युक्त अविद्याका ज्यों ही अन्युदय हुआ, यों ही आदि, मध्य और अन्तसे एहित अनन्त भग्नोंमा तौता लग जाता है। जैसे बहुत-से व्यक्तियोंके मनः फलित धन बहुता एक-से होते हैं, उसी तरह खम्ममें भी देश, काल और क्रिया भी एक-से दीख पड़ते हैं। परंतु उस व्यवहारकी सत्ता अज्ञानसे ही प्रतोत होती है। वास्तवमें तो चेतन सत्ताके अतिरिक्त सम्पूर्ण पदार्थोंकी कोई अन्य सत्ता है ही नहीं। वह चेतन सत्ता भूत, चर्तमान और प्रविष्ट्य—तीनों कालोंमें मौजूद, रहती है और वही भिन्न-सी प्रतीत होती है—ठीक उसी तरह, जैसे समुद्रमें ताङ्क और बीजमें युक्त मिहन्से भासिन होते हैं। और जैसे बालूमें तेल आदिका हाना असम्भव है, वर्षे ही अविद्या कोई वस्तु नहीं है। मला, सोनेके बने हुए कड़ागमें स्वर्णताके अतिरिक्त दूसरी कौन वस्तु हो सकती है? अर्थात् कोई नहीं। अतः अविद्याके साथ आत्मतत्त्वका सम्बन्ध हो ही नहीं सकता; क्योंकि यह तो अपने अनुभवसे रूपष्ट है कि सभीका अपने समानके साथ ही सम्बन्ध होता है। जब जगत्के सम्पूर्ण पदार्थ विन्मात्रमय एवं सन्मात्रमय होते हैं, तब वे भाव परस्पर अपने अनुभवके बलपर प्रकाशित होते हैं। विषम पदार्थोंका निरन्तर साक्षात् सम्बन्ध होना अतमध्य है और परस्पर सम्बन्ध हुए विना आपसमें अनुभव भी नहीं हो सकता।

तत्त्वेत्ताजोंमें श्रेष्ठ राम। वास्तवमें जैसे मिट्टीकी बनी हुई सेना पुद्दुद्दिसे देखनेपर विचित्र होनेपर भी विद्यार-दृष्टिसे एकमात्र मिट्टी ही है, तरङ्ग आदि एकमात्र जल ही हैं, काठकी बनी हुई पुनर्लियोंमें एकमात्र काष्ठ ही व्यास है और घट आदि केवल मिट्टी ही हैं, उसी प्रकार यह अमसे प्रतीत होनेवाला जगत् एकमात्र ग्रह ही है। द्रष्टाका दृश्य और दर्शनके साथ सम्बन्ध होनेपर उसके मध्यमें जो उसका द्रष्टा, दर्शन और दृश्य आस्तिसे रहित हुदूर रूप है, वही वह परमात्मा है।

श्रीराम ! जैसे शिलामें जल और जलमें अग्नि नहीं है, उसी प्रकार जीवत्मामें चिन्त नहीं है; फिर वह परमात्मामें कहाँसे हो सकता है। विचारपूर्वक देखनेपर जो खण्ड ही कुछ नहीं है, उसके द्वारा जहाँ-कहाँ जो कुछ किया जाता है, वह 'कृत' नहीं कहलाता। जो पूर्ण असत्य स्वरूपशाले चित्रका अनुशर्तन करते हैं, उन्हें विकार है; क्योंकि वे केवल आकाश-तारुनरूपी कर्ममें व्यर्थ ही समय बितानेवाले हैं।

इस प्रकार भूत्यलपर पैदा हुए पुरुषको बुद्धिके तुल्य मी विकसित होनेपर पहले सत्सङ्घपरायण होना चाहिये; क्योंकि अनवरत प्रवाहित होते हुए इस अविद्यारूपी नदियोंके समूहको ज्ञान एवं सज्जनोंके सम्भर्कके अतिरिक्त और किसी उपायसे पार नहीं किया जा सकता। उस सत्सङ्घद्वारा विवेककी प्राप्ति होनेसे पुरुषको यह त्याज्य है और वह प्राप्त है। ऐसा विचार उत्पन्न होता है। तब वह शुभेष्ठा नामकी ज्ञानभूमिमें अवतीर्ण होता है। तदनन्तर विवेकवश विचारणा नामकी ज्ञानभूमिमें आता है। वहाँ यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति होनेसे मिथ्या वासनाका परिस्थाग करनेवालं पुरुषका मन सांसारिक वासनाओंसे रहित हो तनुता ( सूक्ष्मता ) को प्राप्त होता है। इस कारण वह तनुमानसा नामकी ज्ञानभूमिमें अवतीर्ण होता है। फिर यों ही योगी यथार्थ ज्ञानका उदय होनेसे परमात्मामें नवूप हो जाता है, यों ही उसे भूत्यापति नामकी ज्ञानभूमि प्राप्त होती है। तब वासनाका विमाश हो जानेके कारण वह 'अमंसक' कहलाने लगता है और कर्मफ़र्के बन्धनसे मुक्त हो जाता है। तत्पश्चाद् वासनाओंका विनाश ही जानेके कारण स्वाभाविक अभ्यास-से जब वह कार्योंको करता हुआ अथवा उनसे विरत हुआ या संसारकी अनत्य अनुभ्योंमें स्थित हुआ भी अपने आरपामें ही मनके क्षीण हो जानेके कारण काष्ठ वस्तुओंका व्यवहार करते हुए भी न तो उन्हें देखता है, न हृषि-पूर्वक उनका सेनन करता है और न समरण ही करता

है, बल्कि अर्ध-सूत एवं अर्ध-प्रबुद्ध पुरुषकी भौति केवल कर्तव्य-कर्मोंको करता रहता है, तब वह योगी पदर्थ-मात्रता नामकी योगभूमिको प्राप्त होता है। इस प्रकार जिसका चित्र भक्षणमें लीन हो गया है, वह योगी कुछ वर्णोंतक ऐसे सामाधिक अन्याससे बाहा पदार्थोंका व्यवहार करता हुआ भी जब उनकी भावनासे रहित हो खण्ड द्वार्याल्म हो जाता है, तब 'जीवन्मुक' कहा जाता है। जीवन्मुक पुरुष न तो प्राप्त हुई वस्तुका अभिनन्दन करता है न अप्राप्तके लिये चिन्ता। वह जो कुछ सामने उपस्थित हो जाता है, उसीका निश्चक होकर अनुवर्तन करता है। खुगन्दन। तुम समूर्ण कार्योंकी वासनासे रहित हो, इसलिये तुम सबके अंदर वर्तमान बानने योग्य समिद्दह-नन्दन भक्षणमें स्थित हो। अतः तुम चाहे सासारके कर्त्याणके लिये शाकविहित कर्म करते हो चाहे एकान्तमें व्याज-समाधिमें स्थित रहो। श्रीराम। आत्मा न तो प्रकट होता है न विलीन ही। जैसे घडेके फटकार दुकड़े हो जानेपर घटाकाराका नाश नहीं होता, 'उसी प्रकार इस शरीरके नष्ट हो जानेपर भी आत्माका विनाश नहीं होता। अरे, यह आत्मा तो अद्वितीय है। फिर दूसरों कौन-सी ऐसी वस्तु है, जिसकी वह अभिलापा करेगा? राघव। जगतमें श्रवण करने योग्य, स्पर्श करने योग्य, देखने योग्य, चखने योग्य और सूँचने योग्य कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जो आत्मा से पृथक् हो। वह आत्मा सर्वशक्तिमान्, विस्तृत और ध्यक् है। वासनाक्षयरूप मनोनाश हो जानेपर इस मायाका, जिसमें संस्काररूपसे कर्म करते हैं, अस्थन्त अभाव हो जाता है। जबतक इस मायाका यर्थार्थ ज्ञान नहीं हो पाता, तभीतक वह बड़े-बड़े भोजनोंमें ढालती रहती है; किन्तु जब वह माया विना हुए ही प्रतीत हो रही है—इस प्रकारका इसका वास्तविक ज्ञान हो जाता है, तब भक्षणकी

भाषि हो जाती है। यह भक्षणसे ही उत्पन्न हुई है और संसारकी लीला करके भक्षणमें ही विलीन हो जाती है।

रुकुलभूषण राम। जैसे तेजसे सभीप्रकाश आविर्मूल होते हैं, उसी तरह कर्त्याणमय, रूपरहित, अप्रमेय और विशुद्ध भक्षणसे सभी प्राणी उत्पन्न हुए हैं। जैसे पदोंमें उसकी नसें, जलमें तरङ्गसमूह, घुबर्नोंमें कटक-कुण्डल आदि और अशिमें हण्डता आदि व्याप्त हैं, उसी प्रकार यह विलोकी उप भक्षणमें ही स्थित है, उसीसे उपन्न हुई है और उसीमें विलीन हो जाती है। वही समस्त प्राणियोंका आत्मा है और वही ब्रह्म कहा जाता है; उसका ज्ञान हो जानेपर इस मिथ्या जगतका यर्थार्थ ज्ञान हो जाता है। श्रीराम। देहके नष्ट होनेपर जीवात्माका नाश नहीं होता। जो चिन्मय जीवसमा मध्यसे अस्तीत होनेके कारण आकाशकी भौति अव्यक्त है, वह जड़ मुखोंअथवा दुःखोंसे व्याप्त कैसे हो सकता है। उस चिदास्पमें, जो सबका साक्षी, सर्वत्र सम, निर्मल और निर्विकल्प है, ये सभी जगत् किसी प्रकारकी इच्छाके बिना ही उसी प्रकार प्रतिविवित होते हैं, जैसे दर्पणमें पदार्थोंका प्रतिविम्ब। संकल्पोंके पूर्णरूपसे क्षय हो जानेके कारण जब चित्र विलीन हो जाता है, तब सौसारिक मोहरूपी तुषार नष्ट हो जाता है। उस समय शरद-ऋतुके आनेपर स्वच्छ आकाशकी तरह चिन्मय शुद्ध आत्मा ही अद्वितीय, अजन्मा, आप एवं अनन्तरूपसे विभासित होता है। जैसे महासागरमें बड़-बड़रियों उत्पन्न होती हैं, दीखती हैं और तुरंत ही विलीन हो जाती हैं, उसी तरह यह मिथ्या मन खण्ड अपने अधिष्ठानभूत चेतनकी स्फुरणसे युक्त होकर सद-सा दिखावी देता है और साक्षीभूत चेतनमें बारंबार उत्पन्न होकर विलीन होता रहता है।

( सर्ग ११९—१२२ )

## स्थिति-प्रकरण

**चित्तरूपसे जगत्‌का वर्णन, जगत्‌की स्थितिका खण्डन करके पूर्णानन्दखरूप सन्मानकी स्थितिका कथन  
कथन, मनको ही जगत्‌का कारण बताकर उसके नाश होनेपर जगत्‌की शून्यताका कथन**

श्रीकृष्णकी कहते हैं—श्रीराम। अब उत्पत्ति-प्रकरणके जानन्तर इस स्थिति-प्रकरणको श्रवण करो, जो ज्ञान लिये जानेपर निर्वाण प्रदान करनेशब्द है। इस प्रकार जगत्-रूपसे स्थित यह दृश्य-प्रपञ्च और अहंता आदि आकार-रहित भास्तिमात्र और असत्त्वरूप ही हैं। यह आकाशमें उत्पन्न हुए चित्रके समान एक निराधार विलक्षण चित्र है। यह यथापि ब्रह्मसे अभिन्न है, तथापि जलमें उसके भौतिकी भौति ब्रह्ममें अन्य-सा स्थित लक्षित होता है। यह जगद्गृही चित्र चित्रलिखिन उथानकी तरह छला हुआ है। इसकी आकृति मन्दिरन्द आदि रससे रहित होनेपर भी सरस प्रतीत होती है। यथापि इसका रूप रोगयुक्त नेत्रों-द्वारा देखे गये अन्वकारके चक्रके समान वास्तवमें नहीं है, तथापि यह प्रत्यक्ष-सा दीखता है। यह रसात्मक होता हुआ भी परिणाममें अस्पन्त कहु है और उसके उत्पत्ति-विनाश होते रहते हैं।

ज्ञानवानोंमें श्रेष्ठ राम! जो समस्त कर्त्तव्याओंसे अतीत एवं निर्भर्त है, उस महान् अनन्त निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें यदि वास्तवमें जगत् आदि अद्वृतरूपमें विद्यमान हैं तो बताओ कि वह प्रलयकालके पश्चात् किन सहकारी कारणोंके सहयोगसे उत्पन्न हो सकता है? क्योंकि इस जगत्‌में किसीने कभी भी वन्द्यादी कल्याके समान सहकारी कारणोंके अभावमें अद्वृतरूपी उत्पत्ति नहीं देखी है। श्रीराम! यदि कहो कि सहकारी कारणोंके अभावमें भी (खलुमें सर्पकी तरह) जगद्-खण्डी अद्वृत आविर्भूत हुआ है तो ऐसी दशामें मूळकारण ही जगत्स्वभावताको प्राप्त हो गया है; क्योंकि सृष्टिके आदिमें यथास्थिति निराकार ब्रह्म ही सृष्टिरूपसे अपने खरूपमें स्थित होता है, अतः वहाँ जन्य-जनकका क्रम कहोसे घट सकता है। इसलिये

श्रीराम-। यह जगत् न तो था, न है और न होगा ही। ( अतः ब्रह्ममें जगत्‌का तीनों कालोंमें अस्पन्त अभाव है। ) सच्चिदानन्द परमात्मा ही अपने-आपमें इस प्रकार जगत्‌के रूपमें विकसित हो जाता है। वहस राम। जब इस जगत्‌का अस्पन्त अभाव हो जाता है, तब केवल एक ब्रह्म ही शेष रहता है। किंतु यदि जगत् प्रतीत होता है तो वह ब्रह्म ही है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है। जब काम कर्म-वासना आदि भावोंके साथ इस दृश्य-प्रपञ्चका उपशमन हो जाना है, तभी इस जगत्‌का अस्पन्त अभाव होता है; परंतु चित्रके मौजूद रहते दृश्य-जगत्‌का शमन होना सम्भव नहीं। इसलिये परमात्माके यथार्थ ज्ञानके विनाशकी शान्ति नहीं हो सकती। अतः दृश्यखरूप जगत्‌का सर्वथा अस्पन्त अभाव ही दृश्यताकी शान्तिका एकमात्र उपाय है। इसके अतिरिक्त पूर्णरूपसे अनर्थके विनाशके लिये दूसरी कोई युक्ति नहीं है। परमात्मा स्वयं ही अपने संकल्पसे अपने अंदर वर्तमान जिस चमत्कारको प्रकट करता है, वही सृष्टिरूपसे प्रतीत होता है। उसका वास्तवमें न तो कोई रूप है और न कोई आधार ही है। जैसे महादिलोधोंपर खुदे हुए लेखोंके स्थरूप दीख पड़ते हैं, उसी तरह ये सृष्टियाँ न उत्पन्न होती हैं न नष्ट होती हैं तथा न आती हैं, न जाती हैं—केवल प्रतीत होती हैं। जैसे जलका द्रवत्व, वायुका स्फूर्त्तन, समुद्रके आवर्त और गुणिके गुण अपने आधार-स्थानसे भिन्न नहीं हैं, उसी तरह उत्पत्ति-विनाशशील कार्योंवाला यह जगत् एकमात्र अनन्त, शान्त, विस्तृत, सिद्धान्दघन ब्रह्मरूपसे ही स्थित है, उससे पृथक् नहीं।

श्रीरामजीने पूछा—गुरुदेव! महाप्रलयके पश्चात् सृष्टिके आरम्भमें सर्वप्रथम उत्पन्न होनेवाले ये प्रजापति स्मृतिरूपसे

ही उत्पन्न होते हैं, इसलिये मैं तो ऐसा समझता हूँ कि उन स्मृत्यात्मासे प्रकट हुआ यह जगत् मी स्मृतिरूप ही है।

श्रीकृष्णजीने कहा—रघूद्वाह ! यह ऐसा हो है। महाप्रलयके अनन्तर सर्गके आदिमें सर्वप्रथम ये प्रजापति स्मृतिरूपसे ही प्रकट होते हैं, अतः उनका संकल्पभूत यह जगत् मी स्मृतिरूप ही है। उन प्रजापतिका प्राथमिक संकल्पनगर ही जगदरूपसे प्रकाशित हो रहा है। ज्ञानीके लिये यह जगत् शान्त एव अविनाशी केवल प्रक्ष द्वारा ही है, परंतु वही अज्ञानीकी बुद्धिसे भासमान नाना लोकोंसे युक्त है। पर्वतपर स्थित परमाणु जैसे पर्वतसे मिल नहीं हैं और न उनकी गणना ही की जा सकती है, उसी प्रकार ब्रह्मरूपी महान् भेदगिरिपर स्थित ब्रैक्षेत्ररूपी परमाणु नक्से अभिन्न तथा असंख्येय हैं। इस सृष्टिको यदि सृष्टिके रूपमें ही समझा गया, तब तो यह अधोलोकमें ले जाती है; परंतु इसीको यदि ब्रह्मरूपसे जान लिया गया तो यह परम महालमयी ही जाती है। यह सब जगत् विश्वके कारण विज्ञानस्वरूप सचिदानन्द परमात्मा ही है; क्योंकि जिससे जो उत्पन्न होता है, उसे तदूप ही समझना चाहिये। इसलिये समस्त वैष्णव-प्रपञ्च आत्मज्ञान हो जानेपर ज्ञानीकी दृष्टिमें शुद्ध विन्मात्र ही है।

श्रीराम ! साधकके हारा इन्द्रियसमुदायपर विजय-ग्रासिरूपी पुलके आश्रयसे ही इस भवसागरको पार किया जा सकता है, अन्य किसी भी कर्मसे इससे पार पाना कठिन है। निरन्तर शाकाभ्ययन और सत्सन्गतिके अभ्याससे जो विवेकयुक्त हो गया है, वही इन्द्रियज्ञी होता है और उसीको इस दृश्य-प्रपञ्चके अत्यन्ताभावका ज्ञान भी प्राप्त होता है। सौन्दर्यशालियोंमें श्रेष्ठ राम ! संसार-सागरकी श्रेणियों जैसे आती हैं और पुनः जैसे चली जाती हैं, वह सारा स्वरूप मैंने तुमसे वर्णन कर दिया। अब इस विश्वमें अधिक कहनेसे क्या लाभ ! मन ही कर्मरूपी वृक्षका अद्वूर है। उस मनके नष्ट हो जानेपर

कर्मरूपी शरीरवाला संसार-वृक्ष भी नष्ट हो जाता है। श्रीराम ! यह सब कुछ मन ही है। इस मनकी विकितसा हो जानेपर जगज्ञात्तरूपी सारी व्याख्यायोंकी चिकित्सा हो जाती है। यह मन ही जब देहाकारका मनन करता है, तब लोकमें कर्म करनेमें समर्थ देह उत्पन्न होती है। भला, कहीं मनसे भिज भी देह देखी जाती है ! जैसे विशाल आकाशमें असत्-स्वरूप गन्धर्वनगरकी प्रतीति होती है, उसी तरह विश्वोंके विन्दनसे बृहिंगत हुए मनमें यह सारा जगत् स्फुरित होता है। मन ही जगत् है तथा समूर्ण जगत् ही मन है; ये दोनों एक साथ रहते हैं।

रघुनन्दन ! समस्त एषाणाऽन्नोक्ती शान्ति हो जानेपर विशुद्ध-चित्त पुरुषकी जो स्थिति है, उसीको सत्य आत्मनस्व कहा गया है और उसीको निर्मल चैतन्य कहते हैं। निर्मल सत्त्वरूप मन जिस बत्तुके विषयमें जैसी भावना करता है, वह वस्तु तत्त्वाल वैसी ही हो जाती है। जैसे इस समय जाग्रत्-अवस्थामें हमलोगोंको संसारका खय ही प्रत्यक्ष मान होता है, उसी प्रकार खप और खम आदि अवस्थाओंमें सहस्रों संसार भी मिथ्या दृष्टिगोचर होते हैं। जैसे एकको दूसरेके खप और मनोरथसम्बन्धी नगरोंके व्यवहार पृथक् होनेके कारण दिखायी नहीं देते, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्तिके ये संसाररूपी खप पृथक्-पृथक् होनेके कारण एक दूसरेके दृष्टिगोचर नहीं होते। इसी प्रकार संकल्परूपी आकाशमें अनेक संसार-रूपी नगरोंके समुदाय हैं; परंतु वे ज्ञानदृष्टिके द्विना मिथ्या नहीं प्रतीत होते। जैसे एकमात्र वसन्त श्रुतुका रस ही वन, झना और गुहम आदिके रूपमें प्रकट होता है, उसी तरह एकमात्र परमात्मा ही प्रत्येक ध्यक्तिके लिये मिथ्या जगदरूपसे प्रकट हुआ है। अपना यह संकल्प ही जगत्‌के आकाशमें प्रतीत हो रहा है, यह बात अत्यन्त परमार्थ-दृष्टिसे ही ज्ञात होती है।

अपने-अपने समाव ( आदि अङ्गान ) के भीतर खित वित ही प्रत्येक जीवमें हृदयित्वं रूपसे प्रतीत होनेवाला यह बगदू है । इस प्रकार प्रतीतिमात्र जगत्को असत्य समझनेवाला वित खयं ही नष्ट हो जाता है; क्योंकि प्रतीतिकालमें ही इस जगत्की सत्ता है । परमार्थ वस्तु ( अधिष्ठानरूप अङ्ग )-का साक्षात्कार होनेपर उसकी सत्ता नहीं रहती । वितकी सत्ता ही जगत् है और जगत्की सत्ता ही वित है । एकके अभावसे दोनोंका अभाव हो जाता है । यह इन दोनोंका अभाव सत्यखरूप सच्चिदानन्दघम परमात्म-विषयक विचार करनेसे ही सम्भव है । जैसे मलिन मणिको युक्तिसे साफ करनेपर उससे शुद्ध प्रकाश प्रकट होता

है, उसी तरह शुद्ध चित्तका अनुभव सत्य होता है । चिरकालतक एक परमात्माके चिन्तनरूप इदं अभ्याससे वितकी शुद्धि होती है । जो संकल्पोंसे आकान्त नहीं है, ऐसे वितसे ज्ञानका उदय होता है । जैसे मलिन वज्रमें मुन्दर रंग नहीं दिक्षिता, उसी तरह वासनासे मलिन चित्तमें ग्रहाकाररूप एक दृष्टि खिंच नहीं होती । वासनासे रहित होना ही वितकी शुद्धि है, जगत्के ज्ञानसे शून्य और एक ग्रहाकार होना ही उसका वासनासे रहित होना है । वितकी शुद्धि होनेसे पुरुष शीघ्र ही प्रबुद्ध ( ज्ञान-सम्पन्न ) हो जाता है । वितका चिन्मय परमात्मरूपमें लय हो जाना ही उसकी वास्तविक शुद्धि है । इस शुद्धिका लाभ होते ही प्रबुद्ध पुरुष परमात्माको प्राप्त हो जाता है । ( सर्ग १-१७ )

खरूपकी विस्मृतिसे ही भेदभ्रमकी अनुभूति, चित्तशुद्धि एवं जाग्रत् आदि अवस्थाओंके शोधनसे ही अम-निवारणरूपक आत्मवोधकी प्राप्ति तथा श्रीविष्णुजी कहते हैं—रघुनन्दन । जिस प्राणीका जिस तरहके कर्मोंका मोगानुशूल फल जहाँ जैसे रहता है, वहाँ उतना ही वह अनुभव करता है, उससे अतिरिक्त नहीं । एक व्यक्तिके हृदयमें विचमान जो मनोराघ्य है, उसे देखने या मोगने आदिमें दूसरे व्यक्तिका मन सफल नहीं होता । यह जो असफलताको प्राप्त हुई मनकी खिति है, वही उसके विच्छेद यानी नानात्ममें हेतु है—यों जानना चाहिये । उस मनके भेदसे ही जीवोंके भी भेद होते हैं अर्थात् जैसे भिन्न-भिन्न मन हैं, उसी तरह भिन्न-भिन्न जीव भी हैं । जैसे सुवर्ण अपने ज्ञानके अभावसे कड़े-केग़न आदिके रूपको प्राप्त होता है, उसी प्रकार जिसे अपने खरूपका ज्ञान नहीं है, उस वेतनने स्थूल देहको स्त्रीकार बरके संसाररूपिणी अविद्याका मिथ्या ही अनुभव किया है ।

सम्पूर्ण जीव-समूहोंका आत्मा खयं ही अपने संकल्पसे जापत्, खम और सुपूर्ति नामक तीन अवस्थाओंको प्राप्त हुआ है । इन अवस्थाओंमें शरीर कारण नहीं है । इस

इसी प्रकार तत्त्वं पुरुष सुपूर्ति-अवश्याके अवसानमूल तुरीय पदरूप सच्चिदानन्दघम परमात्मपदको ज्ञानद्वारा प्राप्त करके संसारसे निवृत्त हो जाता है; परंतु जो मृद जीव है, वही सुष्टिमें प्रवृत्त होता है । ज्ञानी और अज्ञानी दोनोंकी सुश्रुति एकरूप ही है; क्योंकि अङ्गको भी सुपूर्तावस्थामें सुखकी प्राप्ति होती है । किंतु अज्ञानी जीव तो सुपूर्तावस्थामें पहुँचकर भी असम्बुद्ध ( वास्तविक आत्मज्ञानसे रहित और देहात्ममात्रकी भ्रान्ति-वासनासे वाप्ति ) होनेके कारण सुष्टिको प्राप्त होता है, परंतु

जानी नहीं। परमात्मा निर्विशेष होनेके कारण स्वभाव नहीं कहा जा सकता। निर्विकार, अद्वितीय और असङ्ग होनेके कारण जो वास्तवमें किसीका कारण नहीं है, तथापि सम्पूर्ण प्रपञ्चके आरोपका अधिष्ठानरूपसे आदिकारण है, उस निर्विशेष परमात्मामें वस्तुतः कारण एवं निमित्त आदि बलुकी मी सम्भावना नहीं है। ( अतः इसमें बिना किसी कारणके ही प्रतीत होनेवाला यह जगत् मिथ्या ही है । )

सार वस्तु ( ब्रह्म )-का ही विचार करना उचित है। असार वस्तु ( दृश्य सासार )-के विचारसे क्या लाभ। बीज अपने सख्तपका त्याग करके अद्वूर आदिके क्रमसे फलरूपमें परिणत होता देखा जाता है, परंतु ब्रह्म वैसा नहीं है। वह अपने सख्तपका त्याग किये बिना ही जगतरूप अव्यापोपका अधिष्ठानरूपसे कारण होता है, बीजका अवयव आदि सब कुछ साकार है। अतः उससे निराकार परम पदरूप ब्रह्मकी तुलना करना उचित नहीं। इसलिये कल्याणरूप ब्रह्मके क्षिये क्रोई उपमा सम्मत ही नहीं हो सकती। अपनेको दृश्यरूपमें देखनेवाला द्रष्टा अपने वास्तविक स्वरूप आपमाको नहीं देख सकता ( इसलिये उसे अवर्णकी प्राप्ति होती है )। जिसकी बुद्धि प्रगल्भसे आकान्त हौ, ऐसे किसी पुरुषके अपनी यथार्थ स्थितिका ज्ञान नहीं होता।

जबतक भान्तिसे युगतृष्णामें जल्दी प्रतीति हो रही है, तबतक किसीकी समझदारी किस कामकी; और जब वह ज्ञान हो गया कि यहाँ जल नहीं है, तब वहाँ युगतृष्णा ही क्या हह गयी। जैसे नेत्र बहिर्मुख होनेके कारण अपने-आपको नहीं देख पाता, उसी प्रकार आकाशकी भाँति निर्मल होता हुआ भी द्रष्टा बहिर्मुख होनेके कारण अपने स्वरूपका साक्षात्कार नहीं कर सकता। यह अमकी प्रबलता कैसी आश्वर्यजनक है। यदि दृश्य-प्रपञ्चको दृश्यरूपसे ही सच्चा समझा जाय तो आकाशके समान

निर्मल द्रष्टा यह करनेपर भी नहीं मिल सकता; किर तो उसकी प्राप्ति बहुत दूर हो जाती है। श्रीराम ! इसीलिये उसको दृश्य ही दिखायी देता है, द्रष्टाका दर्शन नहीं होता। वास्तवमें एकमात्र द्रष्टा ही सर्वत्र स्थित है, दृश्य नामकी कोई वस्तु यहाँ है ही नहीं ( जो कुछ दिखायी देता है, वह केवल भ्रम है )। जब द्रष्टा और दृश्यमें कोई अन्तर ही नहीं रहा, तब कौन द्रष्टा और कौन दृश्य, क्योंकि वह द्रष्टा ही दृश्यरूपमें प्रकट होता है।

जब चित्त सिद्धिको प्राप्त होता है, तब जीव जड़-संसारसे मुक्त हो केवल शुद्ध चिन्मय आत्मस्वरूपसे स्थित होता है। वह चेतन आत्मा शुद्ध एवं सर्वव्यापी है; चेतन आत्मा जहाँ जिस वस्तुकी भावना करता है, वहाँ वह तत्काल प्रकट हो जाती है। उसने स्वप्नमें भी जो कुछ देखा है, वह त्वन्के समयमें सत्य ही है। जैसे बीजके अंदर सूक्ष्मरूपसे पत्ते, लता, फूल और फलरूप अणु रहते हैं, उसी प्रकार चेतनरूप अणुके भीतर समस्त सूक्ष्म अनुभव विद्यमान हैं। जिस पुरुषके भीतर यह विचार नहीं उठता कि मैं कौन हूँ और यह जगत् क्या है, वह संसारके बन्धनसे मुक्त नहीं हुआ। जिस विशुद्ध बुद्धिवाले पुरुषकी मोगलिस्ता प्रतिदिन क्षीण होती जाती है, उस वैराग्यवानका ही विवेकसुक्त विचार सफल होता है। जैसे शरीरके द्वारा पद्य-मोजन आदि नियमोंके साप सेवन किया हुआ वीषव ही आरोग्य प्रदान करता है, उसी प्रकार विवेन्द्रियताका अभ्यास ही जानेपर ही विवेक सफल होता है। चित्रमें अद्वित प्रज्ञलित अप्निकी भाँति जिसका विवेक केवल कथनमात्र ही है, कार्यमें परिणत नहीं हुआ है, उसने अविवेकका त्याग नहीं किया है; अतः वह अविवेक उसे दुःख ही देनेवाला होगा। जैसे स्वर्णसे ही वाशुकी सत्ताका भान होता है, कण्ठमात्रसे नहीं, उसी प्रकार भोगेष्ठाके क्षीण होनेसे ही पुरुषका विवेक जाप्रद होता है। चित्रलिखित अमृत अमृत नहीं है, चित्रलिखित अपि अपि नहीं है, चित्रलिखित जारी

निश्चय ही नारी नहीं है; उसी तरह कथनमात्रका विवेक विवेक नहीं है, वास्तवमें अविवेक ही है। विवेकसे पहले राग और द्वेषका समूल नाश हो जाता है।

तत्पश्चात् विषयमोगोंके लिये प्रथम सर्वथा क्षीण हो जाता है। जिम पुरुषमें विवेक जाग्रत् है, वही परम पवित्र है। ( सर्ग १८-१९ )

### उपासनाओंके अनुसार फलकी प्राप्ति तथा जाग्रत्-खण्ड अवस्थाओंका वर्णन, मनको सत्य आत्मामें लगानेका आदेश, मनको भावनाके अनुसार रूप और फलकी प्राप्ति तथा भावनाके त्यागसे विचारद्वारा ब्रह्मभावकी प्राप्तिका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! वे जीव अपनी सिद्धिके लिये जैसे-जैसे प्रथम करते हैं, उन विविध उपासनाओंके कापसे वे शीघ्र वैसे-ही-वैसे हो जाते हैं। देशताओंकी पूजा करनेवाले देशताओंको, यज्ञोंकी आराधना करनेवाले यज्ञोंको और ब्रह्मके उपासक ब्रह्मको प्राप्त होते हैं। इनमें जो सर्वोत्तम है, उसी परमात्मारूप इष्टदेवका आश्रय लेना चाहिये।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन् ! आप मुझे जाग्रत् तथा खण्ड-अवस्थाओंका भेट बताइये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रुद्रनन्दन ! जिसकी प्रतीति स्थिर हो, उसे जाग्रत् कहते हैं और जिसकी प्रतीति स्थिर नहीं होती, उसे खण्ड कहा गया है। यदि खण्ड भी कालान्तरमें स्थित हो तो प्रत्यक्ष अनुभवके आधारपर उसे जाग्रत्की श्रेणीमें ही देखा जायगा; और यदि जाग्रत् भी कालान्तरमें स्थित नहीं है तो वह खण्ड ही है। इस प्रकार जाग्रत्-खण्डभावको और खण्ड जाग्रत्-भावको प्राप्त होता है। खण्ड भी खण्डकालमें स्थिर होनेके कारण जाग्रत्-भावको प्राप्त होता है और जाग्रत्के मनोरथ भी जाग्रत्कालमें अस्थिर होनेसे खण्ड ही हैं; क्योंकि वैसा ही बोध होता है।

रुद्रनन्दन ! मैंने तुमसे यह जो कुछ कहा है—जाग्रत् आदि अवस्थाओंका वर्णन किया है, वह सब मनके खण्डका निरूपणमात्र है। और किसी हेतु या प्रयोजनसे यह सब नहीं कहा गया

है। जैसे अग्निके सम्भर्कमें आनेसे लोहेका गोला आग बन जाता है, उसी प्रकार दृढ़ निश्चयसे युक्त चित्त जिस वस्तुकी बारंबार मावना करता है, उसीके आकार-को प्राप्त हो जाता है। भाव, अभाव, प्रहृण और त्याग आदि सारी प्रतीतियाँ चेतनमें मनके द्वारा कल्पित हैं। ये प्रतीत होती हैं, इसलिये तो ये असत्य नहीं हैं और वास्तवमें ये हैं नहीं, इसलिये सत्य नहीं हैं। चित्तकी चपलतासे ही इनका निर्माण हुआ है। मन मोहका बनक और जगत्की स्थितिका कारण है। महिन मन ही व्यष्टि और समष्टिरूपसे इस जगत्की कल्पना करता है। ससारकी सारी विश्रृतियों एकमात्र मनको जीतनेसे ही प्राप्त होती है। चित्त जिसकी मावनामें तम्य होता है, उसे निस्संदेह प्राप्त कर लेता है। सौमार्यशानी श्रीराम ! मनके द्वारा अभिलिषित देश या विषयको शरीर प्राप्त होता है। परंतु शरीरके द्वारा आचरित देश या विषयको मन नियमतः प्राप्त नहीं होता।

जैसे मुग्निष्ठ पुष्पके भीतर स्थित हुई वायु उसकी वनीभूत मुग्निष्ठको प्राप्त कर लेती है, उसी प्रकार मननसे चश्चल हुआ मन जिस-जिस वस्तुकी मावना करता है अथवा जिस-जिस वासनासे युक्त मावको अपनाता है, उसीके खण्डको प्राप्त हो जाता है। श्रीराम ! जैसे गन्धके भीतर स्थित हुई वायु गन्धरूपताको प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार मन जिस भावसे युक्त होता है, उसके बाद उसका वशवर्ती शरीर भी उसीके खण्डको प्राप्त हो जाता है। ज्ञानेन्द्रियोंके अपने-अपने विषयमें

प्रदृश होनेपर उनसे कर्मनियस्तरप स्वतः ही इस तरह स्फुरित होता है, जैसे धूलमिश्रित वायुमें पूर्वी अपने-आप धूलिकणोंके रूपमें स्फुरित होती है। कर्मनियाँ सूच्च होकर अब अपनी क्रियाशक्तिको प्रकट करती हैं, तब वायुमें धूल-समृद्धकी भौति मनमें प्रचुर कर्म सम्पादित होता है। इस प्रकार मनसे कर्मकी उत्पत्ति हुई है और मनकी उत्पत्तिमें भी कर्मको ही बीज ( कारण ) बताया गया है। छाल और सुगन्धकी भौति इन दोनोंकी सत्ता एक दूसरेसे भिन्न नहीं है। छड़ अभ्यासके कारण मन जैसे भावको प्रहण करता है, जैसे ही स्पन्द और कर्म नामकी शाखाओंको वह प्रकट करता है तथा उसी तरहकी क्रियास्तर उसके फलको अहे आदतसे उत्पन्न करता है। तदनन्तर उसीके सादे का अनुभव करके शीघ्र बन्धनमें पड़ता है। मन जिस-जिस भावको अपनाना है, उसी-उसीको बल्तुलपमें पाता है। वही श्रेय है, दूसरा नहीं—ऐसा उसका निष्ठय हो जाता है। अपनी-अपनी प्रतीतिके द्वारा ही दृष्टापूर्वक भिन्नताको प्राप्त हुए ( मनुष्योंके ) मन सदा ही धर्म, धर्म, क्राम और मोक्षके लिये प्रयत्न करते हैं।

जो अकृतिम अर्थात् निष्य-सिद्ध विद्वान्-आनन्दवन परमात्मा है, उसके लिये प्रयत्न करनेवाले मनुष्योंको चाहिये कि वे अपने मनको तन्मय बना दें, जिससे उसकी प्राप्ति हो सके। यह दृश्य माया है, अविद्या है और भय देनेवाली भावना है। मनकी जो दृश्यमयता है, विद्वान्लोग उसीको ( बन्धनमें छालनेवाला ) कर्म कहते हैं। ख्यात्वमें स्थित जो यह दृश्य-तन्मयता अनुभवमें आती है, वही विद्वानोंद्वारा मदिराके समान ससारको तन्मय बना देनेवाली अविद्या कही जाती है। जैसे पठलनामक रोगसे अंधा हुआ पुरुष सर्वके दीसिमान् प्रकाशको नहीं देखता, उसी प्रकार उस अविद्यासे

वह अविद्या संकल्पसे स्वयं उत्पन्न होती है। म भावनाके संकल्पको त्याग देनेमात्रसे वह वह। जाती है, उस समय रसस्तरप आनन्दमय परमानके अभ्यासकी दृष्टासे मुश्वेभिन्न श्रवण भवित्वाके द्वारा सब पदार्थोंमें अनासकि स्थिर हो है। किंतु सत्यदृष्टिके प्राप्त होनेपर असत्य हठिका हो जाता है और वह निर्मल-ख्यात, निर्विकल्प निविदानन्द परमात्मा प्राप्त हो जाता है, जो न असत् है न सुखी है न दुखी है तथा कैवल्यमात्र अपने हृदयमें अनुभवसे ही प्राप्त हो जैसे वह रसी है या सर्प है—ऐसा सदेह रसीमें सर्पभाव अपेक्षित होता है, उसी प्रकार रहित विन्मय आकाशस्तरप जीवात्माने अपनेमें बन्धनकी कल्पना कर रखी है। जैसे एक ही रात और दिनकी कल्पनासे रातमें और तरहका देता है और दिनमें अन्य प्रकारका, उसी तरह वस्तु ब्रह्म बारंबार उस प्रतिकूल कल्पनाद्वारा प्रकारका मासित होना है और अपने खलूपमें दूसरा ही रूप धारण कर लेता है। जो त्रुष्ण आयास-रहित है, उपाधिशून्य है, जिसमें व नहीं है तथा जो नाना प्रकारकी कल्पनाओं वह परमात्मा ही परम सुखस्तरप होने सुख दे सकता है। जीवकी अपनी कल्पनासे अभ्यास, शुभ और अशुभ क्षणभरमें उपन्न हो और क्षणभरमें मिट जाते हैं। सभस्त पदभावके अनुसार ही फल देनेवाले हैं, यह जान पुरुष इस परिवर्तनशील जगत्के पदार्थोंके विष एक निधित्व स्तरका प्रतिपादन नहीं करते हैं। भावनाके द्वारा जिस पदार्थके विषमें जड़ निष्ठित धारणा बनाये रखता है, तबतक वही परिणामको वह देखता या अनुभव करता है। वह माय बद्य ही है अथवा

अभिन्न है, ऐसा अपने मनमें निश्चय करके तुम अपनी आपमें ही अनुभव करो—मैं ही वह परमात्मा बुद्धिके द्वारा उस अनादि अनन्त परमात्माका अपने हूँ, ऐसा अनुभव करो । ( सर्ग २०-२१ )

## इह धोध होनेपर सम्पूर्ण दोषोंके विनाश, अन्तःकरणकी शुद्धि और विशुद्ध आत्मतत्त्व- के साथात्कारकी महिमाका प्रतिपादन

श्रीकृष्णजी कहते हैं—रघुनन्दन । जो नित्यानित्य वस्तुके विवेकसे सम्पन्न है, जिसके चित्तकी वृत्तियाँ परमात्मामें विलीन होती जा रही हैं, जो ज्ञान प्राप्त करके संकल्पोंका व्याप्त कर रहा है, जिसका मन परमात्माके स्वरूपमें परिणत हो गया है, जो इस हेतु नाशवान् जड दृश्यका परित्याग कर रहा है तथा उपादेय सञ्चिदानन्दघन ब्रह्मका व्याप्त कर रहा है, अर्थात् जो द्रष्टा परमात्माका अनुभव करता है तथा अद्विद्यारूप दृश्य-का अनुभव नहीं करता, जागरणके योग्य परम तत्त्वमें ही जाग रहा है और बनीभूत अज्ञानके विकाररूप संसारसे सोया हुआ है, जो सम्पूर्ण त्रुच्छ दुखोंसे लेकर द्विरथ्यगम ब्रह्मात्मको द्वृत्वोंमें अस्त्वंत वैराग्यके कारण सरस और नीरस आपातरमणीय भोगोंमें आसक्त न होकर उनकी ओरसे पूर्णतया विरक्त है, जिसके मनमें किसी प्रकारकी क्रामना नहीं है—ऐसे अधिकारी मुरुषका अनादि जडता ( अज्ञान )-रूपी आकाश आसक्तिशून्य हो जब परमात्मारूपी जलके साथ एकताको प्राप्त हो जाता है और धूपमें बर्फकी भौति पूर्णतया विग्लित हो जाता है। वर्पाकाल वीत जानेपर जैसे तरक्कुफ जलसे चक्कल भव्यमागवाली लहराती हुई नदियों धीरे-धीरे सूखने लगती है, उसी प्रकार जब विषयरूपी तरङ्गोंसे युक्त तुष्णाएँ शान्त हो जाती हैं तथा जैसे चूहे चिह्नियोंके जाल काट देते हैं, उसी प्रकार जब तीव्र वैराग्यसे संसार-आसना-रूपी जाल टूट जाता है और दृश्यकी गोठें ढीली पड़ जाती हैं, तब जैसे निर्मलीको पीसकर जलमें डालनेसे जल खाच्छ हो जाता है, उसी तरह विज्ञानके प्रभावसे अन्तःकरण विशुद्ध होकर प्रसन्न हो जाता है । जैसे

बायुके शान्त होनेपर समुद्रमें ( निश्चलता ) रूप समृद्धा वा जाती है, उसी प्रकार मनके शान्त होनेपर सब अग्रह सर्वोत्तम शान्ति पैदा करनेवाली अज्ञानरूपी मलसे रहित उन्नत समदर्शिताका उदय होता है । इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या जाम—जिसने जाननेयोग्य परमात्मतत्त्वको जान लिया है, वह परम बुद्धिमान् पुरुष वायु आदि चारों भूतोंसे रहित आकाशकोशके समान न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है ।

मैं कौन हूँ, यह दृश्य जगत् कैसे हुआ है—इन सब बातोंका जबतक विवेकधूर्वक विचार नहीं किया जाता, तभीतक यह अन्वकारके समाम संसारका आढ़म्बर खड़ा है । मिथ्या भ्रमसमूहसे उत्पन्न यह शरीर आपतियोंका घर है । जो आपभावनाके द्वारा इस दृश्यको नहीं देखता अर्थात् ओ यह दृश्य नहीं है, सब कुछ आत्मा ही है—ऐसा देखता है, वही यथार्थहृपसे देखनेवाला है । जो देश और कालवश शरीरमें उत्पन्न हुए द्वृत्व-द्वृत्वोंको अमरहित दृष्टिसे ‘ये मेरे नहीं हैं’ इस तरह देखता है, वही यथार्थ द्रष्टा है । जो असीम आकाश, दिशा और काल आदि हैं तथा उनमें वर्तमान जो परिष्ठिज्ञ क्रियाओंसे युक्त वस्तु है, वह सब ‘मैं ही हूँ’—इस प्रकार जो सबमें अपने आत्माको देखता है, वही वांसद्वारमें देखनेवाला है । सर्वशक्तिमान्, अनन्तात्मा, सम्पूर्ण पदार्थमें स्थित, एकमात्र अद्वितीय चेतन परमात्मा ही सर्वत्र विराजमान है—ऐसा जो अपने हाथयके भीतर देखता है, वही वास्तवमें देखता है । जो विद्वान् आधि, व्याधि, जन्म, जरा और मृत्युसे युक्त इस देहको अपना खरूप नहीं मानता—मैं देह हूँ, ऐसा नहीं देखता, वही

यथार्थदर्शी है। सूतमें युग्मी हुई मणियोंके समान यह सम्पूर्ण जगत् सुरमें ही धोतप्रेत है, परंतु मैं मन नहीं हूँ—इस तरह जो देखता है, वही आरम्भके यथार्थ स्वरूपको देखता है। न मैं हूँ न दूसरी ही कोई 'वस्तु' है; किंतु एकमात्र निरामय ब्रह्म ही सर्वत्र सब तृप्तेमें विराजमान है—इस तरह जो देखता है, वही वास्तवमें देखता है। जिस महात्माके सांसारिक देह आदिके प्रति अपने पराये और तेरे-मेरेके भेद मिट गये हैं, वही सुन्दर दृष्टिसे सम्पन्न महापुरुष आरम्भका यथार्थरूपसे अनुभव करता है। जो आकाशकी भौति एकमात्र है और सम्पूर्ण पदार्थोंमें व्याप्त होता हुआ भी उनमें लित

नहीं होता, ऐसा वह महात्मा पुरुष साक्षात् महेश्वर ही है। जो तम ( सुधासि ), प्रकाश ( भगवद् ) और कल्पना ( स्वप्न )—इन तीनों अवस्थाओंसे मुक्त है, कालका भी परम प्रेमास्पद आत्मा बन गया है तथा जो सौम्य, समदर्शी और अपने आस्पत्स्वरूपमें स्थित है, ऐसे उस परमात्म-दण्डको प्राप्त हुए पुरुषको मैं नमस्कार करता हूँ। सम्पूर्ण जगत्में एकमात्र व्रजा ही विराजमान है—जिसकी बुद्धिमें ऐसा निष्ठयहो गया है तथा जिसकी वृत्ति ( ब्रह्माकारदृष्टि ) जगत्की सुष्ठि, प्रलय और शितिरूपिणी विचित्र एवं मनोहर वैभवयुक्त कलाओंमें सदा ही एकरस है, उस परम बोधवान् शिवस्वरूप महापुरुषको नमस्कार है। ( सर्ग २२ )

### शरीररूपी नगरीके समान् ज्ञानीकी रागरहित शितिका वर्णन

श्रीशिष्ठजी कहते हैं—रुकुलनन्दन श्रीराम ! जैसे देवराज इन्द्र अपनी अमरावतीपुरीमें निष्किन्त होकर राज्य करते हैं, उसी प्रकार विवेकी पुरुष इस देहरूपिणी नगरीमें राज्य करता हूँ। हुआ सदा निष्किन्त एवं अपने आत्मामें स्थित रहता है। वह अपने मनरूपी मतवाले धोडेको क्षमयोगके भयानक गड्ढेकी ओर नहीं जाने देता तथा अपनी प्रज्ञारूपिणी पुक्रीको लोभके वशमें होकर नहीं बैचता। अहानरूपी शत्रु राष्ट्र इसके छिद्रको नहीं देख सकता और वह संसाररूपी शत्रुके भयकी जड़ोंको ही काट देता है। तृष्णारूपिणी नदीके प्रवाहके भीतर उठनेवाली बड़ी मारी मैंवरमें, जहाँ काम-भोगरूपी दृष्ट प्राह निवास करते हैं, वह विवेकी पुरुष बहिर्मुख होकर दूबता नहीं। वह मनकी ब्रह्माकारवृत्तिमें आखड़ हो आहर-भीतर परमात्माके सिवा दूसरी विस्ती वस्तुको न देखता हुआ सदा समता-ज्ञानितरूप गङ्गा-यमुनाके संगममें ज्ञान करता है। जिसपर सम्पूर्ण इन्द्रियरूपी जन-समुदायकी दृष्टि रहती है, उस विषय-सुखके अवलोकनसे पराहमुख हो वह ध्यानमें सदा सुखपूर्वक बैठा रहता है।

सर्वव्यापक होकर भी इस शरीररूपी नगरीमें स्थित

आत्मरूपी पुरुष विश्वकी कल्पनाद्वारा निर्मित विशिष्ट भोगोंका प्रारब्धानुसार उपमोग करके शपने स्वरूपमूर्त परमपुरुषार्थको प्राप्त होता है। समस्त पदार्थोंकी क्रियासे विमुख रहनेवाला वह विवेकी पुरुष व्यवहार-दृष्टिसे कर्म करता हुआ भी परमार्थ-दृष्टिसे कुछ नहीं करता; क्योंकि वह सम्पूर्ण व्यावहारिक कार्योंका कर्तापिनके अभिमानसे रहित होकर सम्प्रकूरुपसे अनुष्ठान करता है। उस शरीर-नगरीमें रहकर दृदय-पुण्यरीकमें आखड़ हो वह सदा शान्तिरूप शीनल शरीरवाली लोकसुन्दरी मैत्रीरूपिणी अपनी प्रियाके साथ नित्य रमण करता है। जैसे चन्द्रमाके अगल-बगलमें वित्तको आङ्गूष्ठित करनेवाली विशाखा नामक दो ताराएँ स्थित होती हैं, इसी तरह विवेकी पुरुषके दोनों पार्श्वभागोंमें सत्पता और समता नामकी दो कान्ताएँ सम्प्रकूरुपसे विराजमान होती हैं, जो चित्तको आङ्गूष्ठ प्रदान करनेवाली हैं। जैसे सम्पूर्ण कलाओंसे युक्त और समस्त शोभा-सम्पत्तिसे सुन्दर प्रतीत होनेवाले पूर्णिमाके चन्द्रमा चिरकालतक सम्पूर्ण दिशाओंको अपनी सुवामयी किरणोंसे पूर्ण करके प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार जिसके सारे मनोरथ चिरकालके लिये परिपूर्ण हो

गये हैं, जो सर्वार्थमात्ररूप सम्पत्तिसे बुन्दर दिखायी देता है, वह आत्मकाम तत्त्वबेत्ता पुरुष निरन्तर अपने प्रकाशसे प्रकाशित होता है। चन्द्रमा तो पुनः क्षीण होनेके लिये प्रकाशित होते हैं, परंतु तत्त्वज्ञ फिर क्षीण नहीं होता। वह अखण्ड एकरसमाधसे अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित रहनेके लिये प्रकाशित होता है।

जैसे विना किसी प्रथमके स्वतः प्राप्त हुए तथा व्यर्थ पदार्थोंमें मनुष्यकी दृष्टि आसक्तिशून्य होकर ही पड़ती है, उसी प्रकार विवेकी पुरुषकी बुद्धि सांसारिक कार्योंमें भी रागशून्य ही रहती है। इन्द्रियोंको प्रारम्भवश जो आपयुक्त विषय प्राप्त होते हैं, उनका तो वह कभी निशारण नहीं करता और अप्राप्त बस्तुको प्राप्त करनेका ग्रथत भी नहीं करता ( प्रारम्भवश जो कुछ भिल जाय, उसीमें संतुष्ट रहता है )। इस प्रकार ज्ञानी अपने आपमें परिषुर्ण रहता है। जैसे मोर-पंखोंके आघात पर्वतको कम्पित नहीं कर सकते, उसी प्रकार ज्ञानीको

अप्राप्त बस्तुकी प्राप्तिके लिये होनेवाली चिन्ताएँ और प्रतिकूल प्राप्त वस्तुके लिये पश्चात्ताप विचलित नहीं करते। जिसके सारे सदेह निवृत्त हो गये हैं, योगसम्बन्धी सारी उत्सुकता विनष्ट हो गयीहै तथा काल्पनिक शरीर क्षीण हो गया है, वह ज्ञानी पुरुष सम्बाटके समान विराजमान होता है। जैसे अपार अनन्त क्षीरसागर अपने आपमें ही परिषुर्ण है, उसी प्रकार अपरिच्छिन्न आत्मज्ञानी अपने आपमें ही नहीं समाता अर्थात् अपने आपमें ही परिषुर्ण है और आत्मासे आत्मामें ही रमण करता है।

इतने बड़े भूमण्डलमें वे ही पुरुष सौभाग्यशाली, शुद्धचित् और पुरुषोचित कश्चिंतोंके ज्ञानमें गणनीय हैं, जो अपने विचारसे पराजित नहीं हुए हैं। जिसके इद्यरूपी विलये कुण्डलाकार मनरूपी महान् सर्वथा शान्त हो गया है, अपने स्वरूपमें पूर्णरूपसे उद्दित हुए ऐसे उस अत्यन्त निर्मल तत्त्वबेत्ताको मैं प्रणाम करता हूँ।

( सर्ग २३ )

### मन और इन्द्रियोंकी प्रवलता तथा उनको जीतनेसे लाभ, अत्यन्त अज्ञानी और ज्ञानीके लिये उपदेशकी व्यर्थता तथा जगत् और ब्रह्मके स्वरूपका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन । ( मनसाहित )  
इन्द्रियरूपी छः शत्रुबडे ही दुर्जय हैं । वे तपन, अवीचि, महारीरव, रौरव, संघात और कालसूत्र—नरकके इन छः बड़े-बड़े साम्राज्योंपर प्रतिष्ठित हैं । पापरूपी मतवाले हाथी इनके बाहन हैं तथा तृणगरूपी बाण-शालाकाओंसे वे सदा सम्पन्न रहते हैं । वे इतने कृतज्ञ हैं कि सबसे पहले अपने आश्रयमूर्त शरीरका ही नाश करते हैं । उनका महान् कोशागर कुकर्मरूपी धनसे ही भरा हुआ है । अपने इन इन्द्रियरूपी शत्रुओंपर विनय पाना अत्यन्त कठिन है । जिसने विवेकरूपी सूतके जालसे उन इन्द्रियरूपी दुष्ट शत्रुओंको बौध लिया है, उसके अङ्गों ( शम, दम, समता, शान्ति आदि ) का वे विनाश नहीं करते । जिसने इन्द्रियरूपी मृत्योंको क्रमबूमें कर लिया है तथा

मनरूपी शत्रुको पूर्णतया बंदी बना लिया है, उस पुरुषकी विशुद्ध बुद्धि उसी तरह बढ़ती है, जैसे वसन्त ऋतुमें आमकी मङ्गरी । जिसका चित्तरूपी गर्व नष्ट हो गया है और इन्द्रियरूपी शत्रु जिसकी कैदमें आ गये हैं, उस पुरुषकी योग-वासनाएँ उसी तरह क्षीण हो जाती हैं, जैसे हेमन्त ऋतुमें कमल विनष्ट हो जाते हैं । जबतक एकमात्र परमात्मतत्त्वके दृढ़ अभ्यासद्वारा मनपर विजय नहीं पा ली जाती, तभीतक मध्यात्रिमें नाचनेवाले बेलालोंकी तरह हृदयमें बासनाएँ ढलल-कूद मचाये रहती हैं । मैं समझता हूँ कि विवेकी पुरुषका यही मन विवेकके द्वारा अभीष्ट कार्य करनेसे मृत्य, मन्त्रणाद्वारा उत्तम कार्य करनानेसे मन्त्री और सब औरसे इन्द्रियोंपर आक्रमण करनेके कारण सामन्त बन जाता है । मनरूपी मन्त्री

शास्त्रविहित शुभ कर्मों प्रहृत हुए पुरुषको उन निष्क्रान्त कर्मोंके करनेके लिये सलाह देता है, जो जन्म-मृत्युलूपी वृक्षोंको काटनेके लिये कुठारे समान हैं तथा मविष्यमें होनेवाले अम्युदय ( निरनिशय आनन्दकी प्राप्ति ) के कारण हैं।

किंतु जिसे जगत्की सत्यताका पूर्ण निष्क्रय है, वह अत्यन्त मूँह है। उस अत्यन्त मूँह पुरुषके प्रति यदि जगत्की असत्यताका प्रतिपादन किया जाय तो वह उपदेश वहाँ शोभा नहीं पाता—उसके मनको अच्छा नहीं लगता। परमाभ्यासके विचारका अभ्यास किये बिना जगत्की सत्यताके अनुभवका अपलाप ( निराकरण ) नहीं हो सकता। इस संसारमें किसीका भी जो निष्क्रय अन्तःकरणमें जड़ जमाकर सुदृढ़ हो गया है, वह शास्त्रोक्त परमार्थतत्वका अभ्यास किये बिना कहापि नष्ट नहीं होता। जो अनधिकारी-के प्रति ऐसा उपदेश देता है कि वह जगत् मिथ्या है, केवल ब्रह्म सत्य है, उस पुरुषको उभयतके समान समझकर इस जगत्के उन्मत्त और मूँह मनुष्य उसकी पूरी हँसी उड़ाते हैं किंतु जो मदिरा पीकर मतवाला हो गया है, जो मदिरासे दूर रहनेके कारण मदभृत नहीं हुआ है, उन दोनोंकी कहाँ एकता होती है। जैसे अन्वकार और प्रकाशको समझनेमें, छाया और धूपको पहचाननेमें कोई बाधा नहीं आती, उसी प्रकार ज्ञानी और ज्ञानीके विषयमें भी समझना चाहिये। बोधके विषयमें ज्ञानी और अज्ञानीकी कभी एकता नहीं हो सकती। अज्ञानीको कितने ही यज्ञसे क्यों न समझाया जाय, उसे बाहर-मीतर जो संसारकी सत्यताका अनुभव हो रहा है, उसका वह सत्य अविष्टार-रूप ब्रह्ममें उसी प्रकार बाध नहीं कर सकता, जैसे शब्द अपने पैरों चल नहीं सकता। ( अप्यत वस्तुका बाध किये बिना अविष्टार-तत्त्वका बोध नहीं हो सकता; इसलिये उसे बोधका उपदेश देना व्यर्थ है। )

यह सम्मूर्ण जगत् ब्रह्म है—ऐसा उपदेश उस मनुष्यके प्रति देना उचित नहीं, जो अत्यन्त अज्ञानी है; क्योंकि उस अज्ञानीने तप और विद्या आदिके अनुभवसे होनेवाले संस्कारका अभाव होनेके कारण सदा उस लोकप्रसिद्ध देहात्मभाषका ही अनुभव किया है। कभी भी असंसारी आत्मभावका उसे अनुभव नहीं हुआ। श्रीराम ! जिसको थोड़ा-थोड़ा ज्ञान है, उस पुरुषके प्रति ही यह उपदेश-वाणी सुशोभित ( सफल ) होती है। जो पुरुष पूर्ण ज्ञानी है, उसको तो 'यै हूँ' इस प्रकार अहंकारात्मदरूपसे विचार करनेके लिये कुछ भी नहीं है। ( इसलिये वह भी उपदेश देनेके बोय नहीं है और न पूर्ण ज्ञानी ही, वही जिज्ञासु इस उपदेशका अधिकारी है। ) जो शुद्ध बुद्धिसे युक्त ज्ञानी पुरुष निरन्तर वह अनुभव करता है कि वह सब कुछ शान्त परब्रह्म ही है, उसके इस अनुभवका बाध कैसे हो सकता है। आत्मामें परज्ञानके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, सोनेमें अँगूठी आदिकी तरह आत्मामें अन्य किसीकी प्रातीतिक सत्ता भी नहीं है। मूँह पुरुष मिथ्या अहंकारमय है और सुन्दर बुद्धिसे युक्त ज्ञानी एकमात्र सत्य आभसरूप है। हन दोनोंके समावेशके अन्तरका निराकरण कहीं नहीं हो सकता है। जो सर्वत्र व्याप, शान्त, शुद्ध, चेतन, आकाशवत् निर्विकार, निर्मल तथा उत्थान-विनाशसे रहित है, वह ज्ञानखलूप परब्रह्म ही परमार्थ सत्य है। जिसके नेत्र तिमिर-रोगसे पीड़ित हैं, उसकी स्त्रामाविक दृष्टियाँ ही आकाशमें केसोंके बर्तुलाकार गोलोंकी तरह प्रतीत होती हैं। उसी तरह विन्मय परमात्मामें ये सुष्ठियाँ प्रति पासित होती हैं। वह चिदकाशखलूप सत्यात्मा अपने आपको जैसा समझता है क्षणमरमें वैसा ही अनुभव करने लगता है। उसके दृष्टिकोणसे असत्य वस्तु भी क्षणमरमें सत्य-सी प्रतीत होने लगती है।

जैसे महमूर्मिये सूर्यकी किरणोंके तापको ही मृगजल या मृगतृष्णा नाम दिया गया है, उसी प्रकार जो आकाशकी झेंयों निराकार है, उस आकाशरूप चिन्मय परमात्माके अपने स्वप्रतुल्य प्रतिमासका ही, जो वास्तवमें शून्य है, जगत् नाम रखा गया है। जैसे स्फटिक-शिलाका मध्यमांग वास्तवमें बनीमूर्त है, उसी प्रकार महाचेतन परमात्माका यह जो शान्त और भिर्मल अपना

स्वरूप है, वह वास्तवमें सक्षिदानन्दघम है। स्फटिक-शिलामें प्रतिभिन्नित होनेवाले वन, पर्वत और नदी आदिके स्वरूपकी मौति 'है और नहीं है' ये दो दृष्टियों चिदाकांश परमात्मामें कहीं नहीं हैं। और प्रतिमासमाङ्गसे जो कुछ है, उस चेतन-आत्माका स्वरूप ही उस रूपमें भासित होता है—ऐसा समझना चाहिये। ( सर्ग २४-३१ )

### शास्त्रचिन्तन, शास्त्रीय सदाचारके सेषन तथा शास्त्रचिपरीत आचारके त्यागसे लाभ

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! चिन्मय आकाश-स्वरूप जो 'जीवात्मा' है, वही रजोगुणसे रक्षित होकर अपने स्वामार्थिक स्वरूप—स्वप्रकाशरूपताका त्याग न करता हुआ ही अहंकार, प्राण, देह और इन्द्रिय आदिके संघातरूप इस विरूप देहको भी अपना आत्मा समझता है। असत्यहोकर भी सत्य-स्त्री प्रतीत होनेवाली मृगतृष्णा-में जल-बुद्धिके समान अपनी ही अविद्यामूल्यक वासनाकी भान्तिसे जीव मानो अपने चिन्मयरूपसे भिन्नता ( अड-देहरूपता ) को प्राप्त होता है। जो लोग महावाक्य-रूप शास्त्रसे दृश्य-प्रपञ्चको आगन्तुक समझकर निर्वाण-मायमें स्थित हैं, वे अन्तरात्माकी ओर उम्रुख हुई अपनी बुद्धिसे ही भवसागरसे पार हो जाते हैं। जो उत्तरचेता पुरुष त्रिलोकीके वैमवको भी सदा तृणके तुल्य समझता है, उसे सारी आपत्तियों इस तरह छोड़ देती है, जैसे सौंप अपनी केंचुन्हको। दिसके भीतर सदा सत्यस्वरूप शास्त्रका चमकार स्फुरित होता है, उसकी सारे लोकपाल अखण्ड ग्रन्थाण्डके समान रक्षा करते हैं। अपार विश्वतियें पहनेपर भी कभी कुमारगमें पैर नहीं रखना चाहिये; क्योंकि एहु अनुचित मार्गसे अपूर्ण पीनेका प्रयत्न करनेके कारण ही मृत्युको प्राप्त हो गया। जो पुरुष उपनिषद् आदि उत्तम शास्त्र और उनके अनुसार चलनेवाले ऐष्ट पुरुषोंके सम्पर्करूपी सूर्यका, जो कि परमात्माका साक्षात्कार-रूपी तीव्र प्रकाश देनेवाला है, आश्रय लेते हैं, वे सिर

कभी मोहरूपी अन्धकारके वशीभूत नहीं होते। जिसने शम-दम आदि गुणोंके द्वारा वश प्राप्त किया है, वशमें न आनेवाले प्राणी भी उसके वशीभूत हो जाते हैं। उसकी सारी आपत्तियों नष्ट हो जाती हैं और उसे अक्षय कल्याणकी प्राप्ति होती है। जिनका गुणोंके विश्वमें संनीत नहीं है, जिनका शास्त्रोंके प्रति अनुराग है तथा जिन्हें सत्य-पालनका खामार्थिक अन्यास है, वे ही वास्तवमें मनुष्य हैं। उनके अतिरिक्त जो दूसरे लोग हैं, वे पशुओंकी ही ब्रेणीमें हैं। जिनके यशरूपी चन्द्रमाकी चौदोनीसे प्राणियोंका हृदयरूपी सरोवर प्रकाशित है, वे क्षीरसागरके समान हैं। उनके शरीरमें निश्चय ही मगमान् श्रीहरिका निवास है।

परम पुरुषार्थरूपी प्रयत्नका आश्रय ले उत्तम उद्घोगको अपनाकर शास्त्रके अनुकूल उद्देश्यान्वय आचरण करता हुआ कौन पुरुष सिद्धिका भागी नहीं होता। अर्थात् वह सिद्धिका भागी अवश्य होता है। शास्त्रके अनुसार कार्य करनेवाले पुरुषको सिद्धियोंके लिये उतार्थी नहीं करनी चाहिये; क्योंकि चिरकालतक परिपक्व 'हुई सिद्धि ही पृष्ठ एवं उत्तम फलको देनेवाली होती है। शोक, क्लेश और मयका परित्याग करके धर्मदृ और शीत्रताके आप्रहको छोड़कर शास्त्रके अनुसार व्यवहार करना चाहिये। उसके विपरीत चलकर अपना विनाश नहीं करना चाहिये। परिणाममें दुर्भाग्य प्रदान करनेवाली,

दीन, शुभ फँस्टे रहित जो धन, पुत्र आदि लौकिक वस्तुओंकी चिन्ता है, वह दीर्घकालतक बनी रहनेवाली प्रगाढ़ महानिंदा ही है। उसे त्यागकर सबेत हो जाना चाहिये—विशुद्ध ज्ञानका ग्रकाश प्राप्त कर लेना चाहिये। व्यष्टिहारपरायण पुरुषोंके विचारसे लोकमर्यादाके अनुसार तथा शास्त्र और सदाचारके अनुकूल कर्म करके उच्चम प्रलक्षकी

प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिये। जिसका चरित्र सदाचारसे मुन्दर तथा बुद्धि विवेकशील है और संसारके मुख-फलरूपी दुःखद दशाओंमें जिसकी आसक्ति नहीं है, उस पुरुषके यश, गुण और आयु—ये तीनों ही वसन्त श्रुतिकी लक्षाओंके समान उत्तम फल देनेके लिये शोभाके साथ विकासको प्राप्त होते हैं। ( सर्ग ३२ )

### शास्त्रीय शुभ उद्योगकी सफलताका प्रतिपादन, अहंकारकी बन्धकता और उसके त्यागसे मोक्षकी प्राप्तिका वर्णन

श्रीशतिष्ठजी कहते हैं—रुद्रनन्दन। समस्त साधनोंका अधिक अभ्यास ही सफल होता है। इसलिये सर्वत्र और सदा साधन करनेसे सब प्रकारके फँडोंकी प्राप्ति सम्भव है; क्योंकि इष्ट, मित्र, स्खजन एवं बन्धु-बान्धवोंको आनन्द देनेवाले नन्दीने तालाबके किनारे आराधना करके मगधान् शिवको पाकर मृत्युपर भी विजय पा ली। दानव-सेना और धन-धन्यसे सम्पन्न बलि आदि दानवों-द्वारा देवता उसी तरह कुचल दिये गये, जैसे हाथियोंके द्वारा कमलोंसे भरे हुए सरोवर मय ढाले जाते हैं; किंतु फिर अतिशय प्रयत्न करनेके कारण देवताओंने सबसे उत्कृष्ट ऐश्वर्य प्राप्त कर लिया। राजा महत्तके यहमें महर्षि संवर्तने ब्रह्माजीकी तरह देवताओं और असुरों-सहित दूसरी दृष्टि ही रच ढाली थी। ( अतिशय साधन और प्रयत्नसे ही उन्हें ऐसी शक्ति प्राप्त हुई थी। ) शास्त्रीय विधिसे महान् साधनोंके अनुष्ठानमें अपन्त संलग्न रहनेवाले विश्वामित्रने चारं चार की गयी कठोरतपत्याद्वारा दुर्भभ ग्राहणत्व प्राप्त कर लिया। राजकुमारी साक्षियाँ अपने पति-प्रेमरूप प्रतिश्रव्य धर्मके प्रभावसे यमराजको अतीतकर उत्तम वाणीका प्रयोग करके संतुष्ट किये हुए यम देवताकी अनुमतिसे अपने पति सत्यवान्को लैटा लायी। संसारमें ऐसा कोई शास्त्रीय शुभ कर्मका अतिशय अनुष्ठान नहीं है, जिसका फल त्पृष्ठरूपसे प्राप्त न होता है। अपने मनमें ऐसा विचार करके

कल्याणकामी पुरुषोंको सर्वोक्तुष्ट प्रयत्नसे मुशोभित होना चाहिये। सभूर्ण मुख-दुःख आदि अवस्थाओंकी अम-दृष्टियोंका मूलोच्छेद करनेवाला परमात्माका यथार्थ ज्ञान ही है। अतः परमात्माके यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिके लिये साधनका अतिशय अभ्यास करना चाहिये। संसार-सागरको पार करनेके लिये सत्पुरुषोंके सङ्ग और सेवाके बिना तप, तीर्थ तथा शास्त्राभ्यास आदि कोई भी साधन सफल नहीं होते। जिसके सेवनसे लोम, मोह और क्रोध प्रतिदिन कीण होते हों और जो शास्त्रके अनुष्ठान अपने कर्मोंके अनुष्ठानमें संलग्न रहता है, वही श्रेष्ठ पुरुष है।

बन्धतक अन्तःकरणके बाकाशमें चैतन्यरूपी चौदंगी अहंकाररूपी मेवमालासे आच्छादित है, तब-तक वह परमार्थरूपिणी-कुमुदिनीको विकसित नहीं कर सकती। जबतक इद्याकाशमें अहम्भावका बादल उमड़-झुमड़कर बढ़ता जाता है, तभीतक तृणालूपी कुट्टज-कुसुमकी महरी विकासको प्राप्त होती है। वह मिथ्याकल्पित अहंकार दूषित अन्तःकरणमें अनन्त संसार-बन्धगमें डालनेवाले मोहको जन्म देता है। 'यह देह मैं हूँ' इस प्रबल मोहसे बढ़कर अमर्थकारी दूसरा अज्ञान इस संसारमें न कभी हुआ है और न होगा ही। इस संसारमें वह जो कुछ भी मुख-दुःखरूपी विकार आता है, उसके रूपमें अहंकार-चक्रका ही

मुख्य विकार बढ़ रहा है। जिस पुरुषने आह्वानसे आरोपित अहंकाररूपी शृङ्खले के अहूरको विवेकरूपक विचारसे संस्कृत मनरूपी हलके द्वारा जोतकर उखाड़ केंका है, उसके आत्मरूपी खेतमें संसार-तापका नाशक एवं सहस्रों शाखाओंसे युक्त अच्छेषश्वानरूपी शृङ्ख बदता और फलता है। जिस नराभ्यमको अहंकाररूपी पिशाचने पकड़ लिया है, उसके उस पिशाचको मार भगानेके लिये विवेकके बिना न कोई शाक्त समर्थ हैं न मन्त्र।

श्रीरामजीने पूछा—मगवन्। ब्रह्मन्। कौन-सा ऐसा दण्ड है, जिससे अहंकार नहीं बदता? आप संसाररूपी भयकी शान्तिके लिये वह दण्ड मुझे बताइये।

श्रीकृष्णजीने कहा—रघुनन्दन! आत्मा चैतन्यमय दर्पणके समान शुद्ध है। उसमें उसके पूर्वोक्त शुद्ध खलूपका निरन्तर स्मरण करनेसे अहंकार नहीं बदता। यह जगत् शुद्धे इन्द्रजालकी शोभाके समान है। इसमें अनुराग या वैराग्यसे मेरा क्या प्रयोजन है—ऐसा मनमें विचार करते रहनेसे अहंकार उत्पन्न ही नहीं होता। श्रीराम! इस त्रिलोकीमें तीन प्रकारके अहंकार होते हैं। उनमें दो प्रकारके अहंकार तो श्रेष्ठ हैं, किन्तु तीसरा त्याज्य है। मैं उनका वर्णन करता हूँ, सुनो! मैं ही यह सम्पूर्ण विश्व हूँ। मैं ही अविनाशी सच्चिदानन्दधन ब्रह्म हूँ। मेरे सिवा दूसरा कुछ नहीं है—इस तरहका जो अहंकार है, उसे उत्तम समझना चाहिये। यह अहंकार जीवन्मुक्त पुरुषकी मोक्ष-प्राप्तिके लिये है। यह बन्धनमें ढालनेवाला नहीं होता। 'बालके अप्रभागके सौ टुकड़े करनेपर जो सौबां हिस्सा होता है, उसीके समान मुश्क जीवात्माका सूक्ष्म स्वरूप है अर्थात् मैं अवश्यसे रहित हूँ, अतएव सबसे भिज हूँ।' इस प्रकारका जो अनुभव है, वही दूसरा शुभ अहंकार है। वह भी साधकके मोक्षके लिये ही है, बन्धनके लिये नहीं। उपर्युक्त अहंकारके नामसे केवल कल्पना होती है। वास्तवमें वह नहीं है। यह हाथ-पैर आदिसे युक्त शरीर

ही मैं हूँ, इस प्रकारका जो मिथ्या अभिमान है, वही तीसरा अहंकार है। वह लौकिक एवं तुच्छ ही है। उस दृष्टि अहंकारको त्याग देना ही चाहिये; क्योंकि वह सबसे बड़ा शब्द माना गया है। पहले बताये गये जो दो अहंकार हैं, उनको स्थीकार करके 'मैं देह नहीं हूँ' ऐसा विचारसे भी निष्पत्ति कर लेनेके पश्चात् उन दोनोंको भी अन्तिम तीसरे अहंकारकी मौति ही लौकिक समझकर त्याग देना उचित है—ऐसा प्राचीन महापुरुषोंका मत है। प्रथम दो अहंकार अलौकिक हैं। उन दोनोंको अस्तीकार करके तीसरे लौकिक अहंकारका, जो दुःख देनेवाला है, त्याग कर देना चाहिये; क्योंकि वह तीसरा अहंकार सर्वथा त्यागने ही योग्य है। इस दुःखदायी अहंकारको त्यागकर पुरुष बैसे-जैसे ज्ञानमें स्थित होता जाता है, बैसे-ही-बैसे वह परमात्मभावकी ओर बढ़ता जाता है। निष्पाप रघुनन्दन! यदि पुरुष पूर्वोक्त दो अहंकारोंकी भावना करता रहे तो उसे परमपद प्राप्त हो जाता है; और यदि उनका भी त्याग करके सम्पूर्ण अहंकारोंसे रहित हो जाय तो वह अत्यन्त उच्च पद ( परमात्मभाव )-में शीघ्र ही आरुह हो जाता है। महामते! जिस जीवका अहंकार शान्त हो गया है, उसे मोग रोगके समान जान पड़ते हैं। जैसे अच्छी तरहसे तृप्त हुए पुरुषको विषमित्रिमरस स्वादिष्ट नहीं प्रतीत होते, उसी प्रकार उसे मोग अच्छे नहीं लगते। रघुनन्दन! अहंकारकी स्मृतिका भी सर्वथा त्याग करके अतिशय पुरुषार्थरूप प्रयत्नके द्वारा भवसागरको पार किया जाता है। पहले 'सब मैं ही हूँ और ये सब मेरे हैं' ऐसा समझकर फिर 'यह देह वादि मैं नहीं हूँ और इस देहके सम्बन्धी भी मेरे कुछ नहीं हैं' ऐसा विचार करके उससे सब प्रतिबन्धकों-का नाश होनेसे प्रतिष्ठाको प्राप्त हुए स्तुत्य आत्मज्ञानको अपने हृदयमें उतारकर महात्मा पुरुष परम पदको प्राप्त कर लेता है।

### मनोनिग्रहके उपाय—भोगेच्छा-स्थान, सत्सङ्ग, विवेक और आत्मबोधके महसूक्ता वर्णन

श्रीकृष्णिलंघी कहते हैं—श्रीराम ! जिन्होंने अविद्याके घनी भूत विलासोंसे विषयोंकी ओर उन्मुख ब्लूए अपने मनको जीत लिया है, उन महाशूर श्रेष्ठ पुरुषोंकी ही सदा विजय होती है। सब प्रकारके उपदेशोंको प्राप्त करनेवाले इस संसारके दुःखोंको निवारण करनेका एकमात्र उपाय यही है कि अपने मनको वशमें बिल्ग जाय। ज्ञानका जो सारभूत सर्वत्व है, उसे बताता हूँ; उसे सुनकर इद्यमें धारण करना चाहिये। योगकी इच्छामात्र ही बन्धन है और उसका त्याग ही मोक्ष कहलाता है। जैसे जहाँ कौटींके बीज बिलेर दिये गये हैं, वह भूमि कौटींके समुदायको ही उत्पन्न करती है, उसी प्रकार वासनासे जागृत हुई बुद्धि के फल दोषोंको ही जन्म देती है। जिसमें वासना-समूहका कोई लगाव नहीं है, अतएव जहाँ राग और द्रेष नहीं देखे गये हैं, वह चाक्षल्परहित बुद्धि धीरे-धीरे परम शान्तिको प्राप्त हो जाती है। जैसे वहाँ उत्तम बीज बोया गया है, वह भूमि समयपर श्रेष्ठ फल देनेवाले पौधोंको उत्पन्न करती है, उसी प्रकार ज्ञान बुद्धि दोषरहित, ज्ञान एवं उत्तम गुणोंको ही सदा प्रकट करती है। जब ज्ञान मादोंके अनुसंधानसे मन प्रसन्न ( झुक ) हो जाता है और धीरे-धीरे मिथ्याज्ञानरूपी बने, मैथ शान्त हो जाते हैं, सुखनतारूपी चन्द्रमा जब दुर्लभकरी भौति उत्तरोत्तर बुद्धिको प्राप्त होने लगता है और आकाशमें सूर्यके तेजकी भौति पुण्यमय विवेकका प्रसार हो जाता है, अन्तःकरणरूपी बौसके भीतर वैर्यरूपी मोतीकी बुद्धि होने लगती है, वसन्त ऋतुमें चटकीली चौंदनीके प्रसारसे धरितार्थ होनेवाले चन्द्रमाकी भौति जब अन्तःकरणकी विष्णु आसन्नानजनित परमानन्दकी प्राप्तिसे सर्वथा सफल हो जाती है, शीतल छायावाले सत्सङ्गरूपी फलबान् दृश्य जब फलने लगते हैं तथा ध्यान-समाधिरूप सरल दृश्य जब ज्ञानन्दमय मुम्बर रस टपकाने लगता है, उस समय मन निर्दृन्द, निष्काम और सं० यो० अ० अ० ९—

उपदेशशूल्य हो जाता है। उसके चपलतारूपी अनर्थ तथा शोक, मोह और मयरूपी रोग शान्त हो जाते हैं। शास्त्रोंके अध्यक्ष विषयमें उसका सारा संदेह दूर हो जाता है। उसमें सभी सांसारिक पदार्थोंको देखनेकी उत्कृष्टाका अभाव हो जाता है। उसकी कल्पनाओंके जाल डिन-मिन्न हो जाते हैं। वह योहरहित एवं वासनारूप हो जाता है। उसमें आकाशा, उपाकोश ( परनिन्दा ), अपेक्षा और दुर्विनिकाना अभाव हो जाता है। वह शोक-रूपी कुदरेसे रहित और आसक्तिरूप होता है तथा उसके इद्यकी ज्ञानकी गोड़ि खुल जाती है।

जिम्मूद आत्मा व तो संसारी पुरुष है, न शरीर है और न शविर ही है; शरीर आदि सब जड़ हैं, किन्तु शरीरी ( आत्मा ) आकाशके समान निर्लेप है। जैसे रेशमका कीड़ा अपने ही बन्धनके लिये रेशमी तन्तुओंका जाल रच लेता है, उसी प्रकार जीवात्मा मनमें विकल्प-वासनाओंका प्रसार करके अपने बन्धनके लिये मुट्ठ जगतरूप जालकी रचना कर लेता है। जीवात्मा इस वर्तमान देहभूमिका त्याग करके फिर दूसरे देश और दूसरे कालमें अन्यदेहभावको धारण करता है; जीवात्माके मनमें जैसी वासना होती है, वैसा ही शरीर उत्पन्न होता है। जीवात्माका विच जैसी वासना लेकर सोता है, रातको खप्तमें वैसा ही बनकर रहता है। इमलीका बीज यदि शहदके रससे सींचा जाय तो अमृत आदिके क्रमसे दृश्य बनकर फलनेके समय भी वह उस मधुसे अनुराङ्गित होकर मधुर फल ही देता है और वही बीज यदि विष्णुके प्रतिमिविभूत धरे और करका आदि लताके पीसे दूर चूर्णके रससे सींचा जाय तो उसका फल कमुवा ही होता है। महती ज्ञान वासनासे मनुष्यका चित्र महान् होता है। मनुष्य 'मैं इन्द्र हूँ' इस प्रकारका मनोरथ होनेपर इन्द्ररूपमें प्रतिष्ठित होनेका स्वप्न देखता है। इसी तरह मनुष्यका ज्ञान वासनासे वासित इच्छा विच तुच्छ ज्ञानाको

देखता है। पिशाचका भ्रम होनेसे मनुष्य रातको ख़झमें पिशाचोंको ही देखने लगता है। जैसे प्रतिदिन क्षीण होता हुआ अन्धमा अपने पूर्ण होनेकी आशाको कभी नहीं छोड़ता, उसी प्रकार दिनदिता आदिसे पीड़ित होनेपर भी उच्चोगशील श्रेष्ठ पुरुष उदारगतिका परिप्याग नहीं करता। वास्तवमें तो न यहाँ अन्धम है और न मोक्ष है, न अन्धनका अमाव है न अन्धनकी सत्ता ही है। हनुजाल-लताकी मौति यह शूठी माया ही प्रकट हुई है। अन्धन और मोक्षकी अवस्थाओंसे तथा द्वैत और अद्वैतसे रहित यह सम्पूर्ण विज्ञानानन्दमयी ग्रह-सत्ता ही है—ऐसा निष्पत्त ही परमार्थ है। यह जगत् परमात्माका स्वरूप ही है, ऐसा ज्ञान हुए विभा यह दृश्य जगत् हुःख देनेवाला ही होता है और यदि वैसा ज्ञान हो गया तो यह दृश्य मोक्ष प्रदान करनेवाला होता है। जल मिज है और तरङ्ग मिज, इस प्रकार अनेकता और

भिजताका बोध अज्ञान है। जल ही तरङ्ग है, इस प्रकार एकस्थबोधसे यथार्थ ज्ञान सिद्ध होता है। जैसे स्नेहरहित अनुषुके मिलने और विषुक्षनेसे मनुष्यको न सुख होता है न हुःख, उसी प्रकार परमात्माका तात्त्विक ज्ञान हो जानेपर इस पाञ्चमौतिकशरीरके रहने या विषुक्षनेसे पुरुष सुख या दुःखसे छिप नहीं होता। वासनारहित एवं शान्तचित्त हुआ अपने देह-नगरका सामी जीवात्मा आक्षेप (संकोच)-शूभ्र, सर्वव्यापी और सबका अधिपति हो जाता है। विचक्षेत्वके सर्वेषां विगतित (शान्त) हो जानेपर अपने दोषोंका त्याग करके धीर हुई बुद्धिसे युक्त पुरुष सूख्य और अन्ध होनेपर ग्रास होनेवाली पारलौकिक और ऐहलौकिक नीरस गतियोंपर दृष्टिपात करके विवेक—विचारद्वारा परमात्मरूपी दीपक पाकर तापरहित हो अपने देहरूपी नगरमें आनन्दपूर्वक प्रतिष्ठित होता है। (सर्ग ३४-३५)

### सर्वत्र और सभी रूपोंमें चेतन आत्माकी ही स्थितिका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! जैसे जो तरङ्गें भविष्यमें प्रकट होनेवाली हैं और अभी व्यक्त नहीं हुई हैं, वे समुद्रके जलमें अभिन्नरूपसे स्थित हैं, उसी प्रकार सच्चिदानन्दधन परमात्मा में भावी सुष्ठियों उस सत्त्वरूप परमात्मासे पृथक् नहीं हैं; क्योंकि उनकी सत्तः सत्ता नहीं है, परमात्माकी सत्तासे ही उनकी सत्ता है। जैसे आकाश सर्वत्र व्यापक होकर भी अत्यन्त सूखम होनेके कारण दृष्टिमें नहीं आता, उसी प्रकार निरवयव शुद्ध चेतन परमात्मा सर्वव्यापी होनेपर भी दृष्टिगत नहीं होता। जैसे जलमय समुद्रमें जो नाना प्रकारकी असंख्य तरङ्गें उठती हैं, उनका वह नानात्म जलसे पृथक् भाव-विकारवाला नहीं है, उसी प्रकार चैतन्य क्रहस्तरूप चिन्मय समुद्रमें 'त्र', 'मैं', 'यह', 'वह' इत्यादि रूपसे जो प्रञ्चुर नानात्मरूपमें जगत् भासित होता है, वह उस महारूप चैतन्य-सिद्धुसे पृथक् नहीं है। वास्तवमें चेतन

परमात्मा न अस्त होता है न उद्दित, न उठता है न खड़ा होता या बैठता है, न आसा है न जाता है, न यहीं है और न यहाँ नहीं है। रघुनन्दन ! वह निर्वल चेतन परमात्मा स्वयं अपने आपमें ही स्थित है। वही अमसे प्रतीत होनेवाले जगत् नामक प्रपञ्चके रूपमें विलारको प्राप्त हुआ है। जैसे लेज ही तेजःपुङ्ग (सूर्य आदि)के रूपमें और जल ही जलराशि (समुद्र आदि)के रूपमें स्फुरित होता है, उसी प्रकार चेतन परमात्मा ही अपने स्पन्दनभूत सुष्ठिके रूपमें स्फुरित हो रहा है।

चेतन परमात्मा ही आकाशरूपसे अवकाश प्रदान करता है, जिससे अद्वूरको बाहर निकलने या फैलनेका अवसर मिलता है। स्पन्दनमक वायुरूपसे वह उसका आकर्षण करता है, जिससे अद्वूर बाहर मिलता है। वही जलरूप होकर रसरूपसे अद्वूरको स्नेहयुक्त बनाता है। वही सुदृढ़ पृथ्वीरूपसे उस अद्वूरको दृढ़ता प्रदान

करता है और तेजरूप होकर उसे अपना रूप देता है, जिससे वह दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार वह परमात्मा स्थान-जन्मप जगत् पर अनुप्रह करता है। वही परमात्मा हैमस्त आदि कालरूपसे प्रकट होकर जौ आदि अद्भुतोंके विरोधी तुण आदिकी उत्तरितिमें वाधक बनता है और उन अद्भुतोंकी उत्तरितिके अनुकूल वातावरण तैयार करता है। वह चेतन तत्त्व परमात्मा ही फलोंमें धीरेन्धीरे केसरका संबंध करके गन्धरूपमें प्रकट होता है। मिठ्ठीके भीतर रमरूपनाको प्राप्त हो वही दृष्ट की बुद्धिके द्वारा स्थाणुभाव ( मूल और तनेके रूप ) को प्राप्त होता है। उस मूलमें स्थित हुए सुन्दर रसलेखा ही फलके रूपमें प्रकट होते हैं तथा वे ही पछ्वोंमें प्रविष्ट हो रेखाएँ बनकर फत्र आदिके रूपरूपको प्राप्त होते हैं। वह चेतन तत्त्व परमात्मा ही शृङ्खोंमें इन्द्रधनुषके समान नूतनताका सम्पादन करता हुआ उनपर अनुप्रह करता है। स्थितरूप अनुरत्नाको प्रकट

करनेवाली नियतिरूपसे वही स्थितिको प्राप्त होता है। उसी परमात्माके अनुग्रहसे वारणरूप धर्मवाली यह धीर वसुन्धरा ग्रन्थकालतक स्थित रहती है।

इस प्रकार सब ओर स्थित और सुस्थिर आकारवाली ये समस्त संशार-पंक्तियों, जो जगत्की स्थभावभूत हैं, वारबार आती-जाती रहती हैं। यह सारा जगत् एक दूसरेके प्रति कारणभावको प्राप्त होकर अपने अधिष्ठानभूत चैतन्यके सकाशसे स्थय ही उत्पन्न हुआ है और एक-दूसरेके द्वारा नष्ट होता हुआ यह उस अधिष्ठानभूत चैतन्यमें स्थय ही लीन होता है। जैसे अगाध जलमें होनेवाला स्पदन भी स्थतः अस्पदन ही है; क्योंकि वहाँ जलसे भिज कोई बत्तु नहीं है, उसी प्रकार चेतन आसामें प्रकट हुआ सदसद्वूप जगत् भी वास्तवमें अप्रकट ही है; क्योंकि वह सब ज्ञानसे चेतन-रूप ही अनुभूत होता है। ( सर्ग ३६-३७ )

### ज्ञानी और अज्ञानीका अन्तर, वासनाके करण ही कर्तृत्वका प्रतिपादन तत्त्वज्ञानीके अकर्तापन एवं बन्धनभावका निरूपण

श्रीबसिष्ठजी कहते हैं—रुद्रनन्दन ! ऐसी परिस्थितिमें सुख-दुःख आदि भोग देनेवाले कर्मोंमें या ध्यान-समाधिमें तत्त्वज्ञानियोंका जो वह कर्म या कर्तृत्व दिखायी देता है, वह वास्तवमें असत् है; क्योंकि उसमें कर्तापन नहीं है। परंतु मूर्खोंका वह कर्म ( कर्तृत्वाभिमान होनेके कारण ) असत् नहीं है ( यही ज्ञानी और अज्ञानीमें अन्तर है )। पहले वह विचार करना चाहिये कि कर्तृत्व किसका नाम है। अन्तःकरणमें स्थित जो मनकी वृत्ति है, उसका विश्वास निष्क्रिय—अमुक वस्तु ग्रहण करने योग्य है, उसका विश्वास वासना कहलाता है। वह वासना ही 'कर्तृत्व' इन्द्रसे प्रतिवादित होती है; क्योंकि वासनाके अनुसार ही मनुष्य चेष्टा करता है और चेष्टाके अनुसार ही फल मोगता है। अतः कर्तृत्वसे फलमोक्तुल होता है—यह सिद्धान्त है। कहा भी है—'पुरुष कर्म करे या न करे, वह लागमें या

नरकमें, सबेत्र उसीका अनुग्रह करता है जैसी उसके मनमें वासना होती है। इसलिये जिन्हें तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है, वे पुरुष कर्म करें या न करें, तो भी उनमें वासना होनेके कारण कर्तृत्व अवश्य है। इसके विपरीत जिन्हें तत्त्वज्ञान हो गया है, वे कर्म करे तो भी उनमें कर्तृत्व नहीं है; क्योंकि वे वासनासे सर्वथा शून्य हैं। तत्त्वज्ञानीकी वासना शिथिल हो जाती है, इसलिये वह कर्म करता हुआ भी उसके फलकी इच्छा नहीं रखता। उसकी बुद्धि कर्तृत्वाभिमान और आसक्तिये रहित होती है, अतः वह अनासक्त भावसे केवल चेष्टामात्र करता है। उसे जो कुछ भी प्रारम्भके अनुसार कर्मोंका फल प्राप्त होता है, वह उस सारे कर्म-फलको यह आमा ही है—ऐसा असुख करता है। परंतु जिसका मन फलसक्तिमें झूला हुआ है, वह कर्म न करके भी कर्ता ही माना जाता

है। मन जो कुछ करता है, वही किया हुआ होता है। मन जिसे नहीं करता, वह किया हुआ नहीं होता; अतः मन ही कर्ता है, शरीर नहीं। चित्तसे ही यह संसार प्राप्त हुआ है, इसलिये यह चित्तमय ही है, केवल चित्तमात्र होकर चित्तमें स्थित है—यह बात पहले विचार-पूर्वक निर्णीत हो चुकी है। सम्पूर्ण विषय और विभिन्न प्रकारकी चित्तवृत्तियाँ—ये सब शान्त होकर जब वासनारूप हो जाते हैं, तब उस वासनारूप उपाधिसे युक्त बीचात्मा ही रहता है। उनमें से जो आत्मतत्त्वके ज्ञाता हैं, उनका मन वर्षाकालमें मुग्नतृष्णाके जल और प्रचण्ड धूपमें हिमकणके समान गलकर जब परम शान्त हो जाता है, तब तुरीय दशाको प्राप्त हो, उसी परमात्मरूपमें स्थित हो जाता है। विद्वान् लोग ज्ञानियोंके मनको न तो आनन्दमय मानते हैं और न अनानन्दमय ही। उनका मन न चल है, न अचल है। न सद है, न असद है और न इनका मध्य ही है। बल्कि वह इन सबसे विलक्षण अनिर्वचनीय है। जैसे हाथी छोटी तलैयामें नहीं दूखता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष वासनामय चेष्टारसमें नहीं मान होता। मूर्खका मन तो भोगोंको ही देखता है, परमार्थ-तत्त्वको नहीं। तत्त्वज्ञानीकी चित्तवृत्ति सांसारिक विपत्तिमें भी प्रसन्न ही रहती है। वह चाँदनीकी तरह मुखनमात्रको ग्रकाशित करती है। चित्तके संयोगके बिना

कर्म करता हुआ भी ज्ञानी अकर्ता ही है; क्योंकि वह कर्म मनको लिप्त नहीं करता। वह यत्त्वपूर्वक किये हुए हाथ-पैर आदिके सचालनरूप कर्मके फलको भी नहीं मोगता। बालक मनसे ही नगरका निर्माण और उसकी सफाई एवं सजावट करता है तथा उस मनःकल्पित नगरको खेल-खेलमें ही अकृत-सा अनुभव करता है; उसको उपादेयरूपसे नहीं प्रहण करता। उसके सुख-दूःखको सामाजिक-सा देखता है। मनके द्वारा किये गये नगरके विवरणसको वासाविक विवरणस समझकर खेल-खेलमें हुःखका-सा भी अनुभव करता है। साथ ही यह भी समझता रहता है कि यह वास्तविक हुःख नहीं है। उसी प्रकार ज्ञानी कर्म करता हुआ भी वास्तवमें उससे लिप्त नहीं होता। जिनका मन पूर्ण आत्मामें ही संलग्न है, उन ज्ञानियोंकी दृष्टिसे तो बत्तुतः संसारमें मोक्ष नहीं है। जिनका मन आत्मामें संलग्न नहीं है, उन्हीं लोगोंकी दृष्टिसे यह बन्धन-मोक्ष आदि सब कुछ है।

किंतु वास्तवमें तो न बन्धन है न मोक्ष है, न बन्धनका अभाव है और न बन्धनके कारणभूत वासना आदि ही हैं। परमात्मतत्त्वका ज्ञान न होनेसे ही यह हुःख है। यथार्थ ज्ञानसे उसका लय हो जाता है।

( सर्ग ३८ )

**सर्वशक्तिमान् ब्रह्मसे ही सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और लय होनेसे सचकी परब्रह्मरूपसाका प्रतिपादन;**  
**अत्यन्त मृद्गको नहीं, विवेकी जिज्ञासुको ही 'सर्वं ब्रह्म'का उपदेश देनेकी आवश्यकता**  
**तथा बाजीगरके दिखाये हुए खेलकी भाँति मायामय जगत्के मिथ्यात्वका वर्णन**

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—मगथन् ! महात्मन् ! ऐसी स्थितिमें यदि बस्तुतः बन्धन और मोक्ष कल्पित ही हैं, एकमात्र परमहा ही सर्वत्र विद्यमान हैं तो यिना दीवारके चित्रकी भाँति इस निराधार सृष्टिका आगमन कहाँसे हुआ ? यह कृपापूर्वक बताश्ये ।

श्रीवसिष्ठ जीने कहा—राजकुमार ! ब्रह्मतत्त्व ही इस

सारी सृष्टिके रूपमें विद्यमान है; क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् है। इसलिये उस ब्रह्ममें सारी शक्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। सत्य, असत्य, द्वित्य, एकत्व, अनेकत्व, आदित्व और अन्तत्व—ये परस्पर विश्वद्वारे प्रतीत होनेवाले सारे भाव परमात्ममें हैं। परंतु वे उससे भिज नहीं हैं। जैसे समुद्रका जल-प्रवाह उछास एवं विकासको प्राप्त हो उत्ताल तरङ्गों-

द्वारा अपनी नानाकारताका दर्शन करता हुआ प्रकट होता है, उसी प्रकार सच्चिदानन्दधन ब्रह्म चित्तका तथा चित्तस्वरूप होनेके कारण कर्ममयी, वासनामयी और मनोमयी सारी शक्तियोंका संचय, प्रदर्शन, धारण, उत्पादन और संहार करता है। समस्त जीवोंकी सब ओर फैली हुई सारी दृष्टियोंकी और समस्त पदार्थोंकी परज्ञासे ही निरत्तर उत्पत्ति होती है। जैसे लहरें समुद्रसे ही उत्पन्न होती और उसीमें लीन हो जाती हैं, इसलिये सदा समुद्ररूप ही हैं, उसी प्रकार सारे पदार्थ परमात्मासे उत्पन्न होकर उसीमें लीन होते हैं। फलतः चिन्मय परमात्मासे उत्पन्न होनेके कारण वे परमात्मरूप ही हैं।

निष्पाप रघुनन्दन ! यह सब निर्मल ब्रह्म ही विराजमान है। यहाँ मल नामक कोई वस्तु नहीं है। समुद्रमें तरफ़-समूहोंके रूपसे अल ही स्फुरित होता है, मिश्री नहीं। खुकुलतिलक ! यहाँ एकमात्र परज्ञाके सिंह दूसरी किसी वस्तुकी कल्पना ही नहीं है, जैसे अस्त्रिमें उथाताके सिंह और कोई कल्पना ही नहीं है। जिसकी बुद्धि पूर्णरूपसे व्युत्पन्न नहीं हुई है—जिसमें आधी समझ और आधी मुहूर्ता है, उसे 'यह सब ब्रह्म ही है' यह उपदेश अच्छा नहीं लगता। वह दृश्योंको उपस्थित करनेवाली भोगहृषिसे सदा दृश्य पदार्थोंकी ही भावना करता हुआ नष्ट ( तत्त्वज्ञानरूप परमार्थसे भष्ट ) हो जाता है। किन्तु जो तत्त्वज्ञानरूप परमार्थ-दृष्टिको प्राप्त है, उस पुरुषके भीतर विश्व-मोगकी इच्छा नहीं उत्पन्न होती। उसके लिये तो 'यह सब ब्रह्म ही है' ऐसा समयोचित उपदेश भी उपयुक्त होता है। जिसकी बुद्धि पूर्णतया व्युत्पन्न नहीं है, ऐसे शिष्टिको उन सहृणोदारा शुद्ध करे, जिनमें शम ( मनोनिप्रह ) और दम ( इन्द्रियनिप्रह ) की प्रधानता हो। तत्पश्चात् यह उपदेश दे कि यह सब कुछ ब्रह्म है तथा तुम भी विशुद्ध ब्रह्म ही हो। जो अज्ञानीको अथवा आधी समझवाले पुरुषको 'सर्व ब्रह्म' ( सब कुछ

ब्रह्म है ) यह उपदेश देता है, उसने मानो उस शिष्टिको महान् दरकोंके जालमें ढाल दिया। जिसकी बुद्धि पूर्णतया व्युत्पन्न है, जिसकी मोगेच्छा नष्ट हो गयी है और कामना सर्वथा मिट गयी है, उस महात्मामें अविद्यारूपी मल नहीं है। अतः उसीके लिये 'सर्व ब्रह्म'का उपदेश देना उचित है। जो शिष्टिकी परीक्षा लिये बिना ही उसे उपदेश देता है, वह अत्यन्त मूढ़ बुद्धिवाला उपदेशक महाप्रलय-पर्यन्त नरकको प्राप्त होता है।

ब्रह्म सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सर्वात और सर्व-स्वरूप है। यह ब्रह्म मैं ही हूँ, यों समझना चाहिये। अपनी मायाद्वारा विविध कार्य करनेवाले ऐन्द्रजालिकों ( बालीगरों ) को तो तुम देखते ही हो। वे मायाके द्वारा सत्‌को असत् और असत्‌को सत् बना देते हैं। उसी प्रकार परमात्मा अमायामय होकर भी मायामय महान् ऐन्द्र-जालिककी भोति बनकर संकल्पके द्वारा धटको पट बनाता है और पटको घट। ये रुक्मिणी के सुवर्णमय तटप्रान्तमें लहराते हुए नन्दनवनकी भोति पथरपर लता पैदा करता है और कन्पशूलोंपर प्रकट हुए रक्षके गुच्छोंकी भोति लतामें प्रस्तार पैदा कर देता है तथा आकाशमें सुन्दर थम लगा देता है। गन्धर्वनगरमें दीखनेवाले उद्यानकी भोति उस भावी जगत्‌में कल्पनाद्वारा आकाशमें ही नगरकी रचना कर देता है—आकाशको ही नगररूपमें दिखा देता है। व्योमकी नीलिमाको नष्ट-सी करके उसे भूतल बना देता है। गन्धर्वनगरके शजमहलमें बहुत-सी महिन्द्राओंकी भोति भूतलमें आकाशकी स्थापना कर देता है। पश्चराग-मणिके बने हुए लाल् फलमें प्रतिभ्रिंश्वित हुआ आकाश जैसे आधारकी लालिमासे ही लाल दिखायी देता है, उसी प्रकार जगत्‌में जो कुछ है, होगा या था, वह सब ब्रह्मकी सत्तामें ही सत्-सा प्रतीत होता है; क्योंकि ईश्वर संकल्पके द्वारा स्वयं व्यक्तरूप हो विविध वेश-भूषाको अपनाकर स्वयं अपने आपको दिखाता है। श्रीराम ! जब कि इस जगत्‌में एक ही बस्तु सब प्रकारसे सर्वत्र सब रूपोंमें

प्रकट होती है, सभी रूपोंमें एक ही उद्दृश्य विद्यमान है, तब हर्ष, ईर्ष्या और आश्चर्यके लिये अवसर ही कहाँ है। अतः वैर्यशास्त्री होकर मदा समझावसे

ही स्थित रहना चाहिये। जो समतासे युक्त है, वह तत्त्वज्ञानी पुरुष आश्चर्य, गर्व, मोह, हर्ष और अर्पणादि विकारोंको कभी प्राप्त नहीं होता। ( सर्ग ३०। )

### दृश्यकी असत्ता और सबकी ब्रह्मरूपताका ग्रतिपादन, माराके दोष तथा आत्मज्ञानसे ही उसका निवारण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! पञ्जापरमात्माकी जो निर्भल चैतन्य-शक्ति है, वह सर्वशक्तिमती है। वह परमात्माके सकाशसे स्वाभाविक ही विभिन्न रूपोंकी कल्पना करती हुई भावी देह आदि आकृतियोंकी विचित्र स्फुरणके रूपमें स्वयं ही दृश्य जगत् बन जाती है। उस चेतन शक्तिका संकल्परूप मन ही अपने संकल्पमात्रसे ज्ञानभरमें गम्धर्वनगरके समान इस असत् ( मिथ्या ) दृश्यप्रपञ्चका विस्तार कर देता है। सब और प्रकाशित होता हुआ वह स्वयम्भ्रकाश सच्चिदानन्दबन्ध परमात्मा ही जब बाह्यदृष्टिसे दृश्यमान आकाशरूप होकर स्थित होता है, वही यह सबकी दृष्टि ( अनुमव ) में आनेवाला प्रसिद्ध आकाश है। वही परमात्मा कृपलज्जन्मा ब्रह्माका संकल्प करके उनके उस स्वरूपको देखता है। तदनन्तर दक्ष आदि प्रजापतियोंकी बल्पना करके जगत्की कल्पना करता है। श्रीराम ! इस प्रकार चौदह मुनोंमें इनके कारण चौदह प्रकारके अनन्त प्राणिसमुदायके कोलहन्दसे युक्त यह सृष्टि परमात्माके विचरणे ही निर्मित हुई है। भूतलसे सम्बन्ध रखनेवाले सभी प्राणियोंमें जो ये मनुष्य-जातिके प्राणी हैं, ये ही आत्मज्ञानकं उपनेशके पात्र हैं।

श्रीराम ! यह जगत् अमुक निमित्तसे और अमुक उपादानसे उत्पन्न हुआ है, यह जो धार्णीकी रचना या कल्पना है, वह शास्त्रोक्त मर्यादाके निवाहिके लिये है, वास्तवमें कुछ नहीं है; क्योंकि परमात्मामें विकार, अवयव, विभिन्न दिशाओंकी संचातथा देश-काल आदिके क्रम सम्भव नहीं हैं। यथापि इनका आविर्भव प्रत्यक्ष देखा जाना है, तथापि निरकार, निर्विकार और सर्वगत परमात्मामें

इन सबका होना कदापि सम्भव नहीं। उस विन्मय परमात्माके विना जगत्के किसी दूसरे मूलकारणकी कल्पना हो ही नहीं सकती। दूसरी कोई कल्पना न है न होगी। क्रम, शब्द और अर्थ अन्यत्र कहाँसे आ सकते हैं तथा व्यवहारजनित उकियोंमी उस परमात्माके स्थित और कहाँसे सम्भव हो सकती हैं। यहाँ जो-जो कल्पनाएँ हैं, जो-जो पदार्थ हैं, उनके बाचक जो-जो शब्द हैं और जो-जो वाक्य हैं, वे सब उस सद्व्यरूप परमात्मासे उत्पन्न तथा सदरूप होनेके कारण 'सत्' ही समझे जाते हैं। 'यह जगत् भिन्न है और यह ब्रह्म भिन्न है'—इस तरहके शब्दों और अर्थोंका व्यवहार-श्रम केवल धार्णीमें है, परमात्मामें नहीं; क्योंकि परिच्छेद होनेपर ही भिन्नता होती है। ( ब्रह्म अपरिच्छिन्न है, इसलिये उसका किसीसे भेद होना सम्भव नहीं। ) अग्रिमी एक शिखाकी दूसरी शिखा जगती है, यह कथम उक्ति-वैचित्र्यमात्र है। इस बाक्यके अर्थमें वास्तविकता नहीं है। इसीप्रकार परमात्माके विषयमें जन्य-जनक आदि शब्दोंका व्यवहार वास्तवमें सम्भव नहीं है; क्योंकि अनगत होनेके कारण जब ब्रह्म एक ही है, तब वह किसको किस तरह उत्पन्न करेगा ? जैसे समुद्रमें जो तरङ्गोंका समूह दिखायी देता है, वह उससे भिन्न नहीं है, उसी प्रकार परमात्मामें जो अर्थबोधक शब्द दृष्टिगोचर होता है, उसे विद्वान् पुरुष ब्रह्म ही भानते हैं। ब्रह्म ही चेतन जीवात्मा है, ब्रह्म ही भन है, ब्रह्म ही बुद्धि है, ब्रह्म ही अर्थ है, ब्रह्म ही शब्द है और ब्रह्म ही धातु है। यह सारा विश ब्रह्म ही है। इस विश्वसे परे मी ब्रह्मपद ही है। वास्तवमें तो जगत् ही ही नहीं। सब

कुछ केवल मृश ही है। सर्वज्ञरूप एवं सर्वध्यापी उस अतन्त ग्रन्थपदसे दूसरी कोई वस्तु उत्पन्न हो, यह सम्भव नहीं। जो कुछ ग्रन्थसे प्रकट हुआ है, वह ग्रन्थरूप ही है। इस जगतमें ग्रन्थनस्तके बिना कुछ भी होना सम्भव नहीं। निश्चय ही यह सब कुछ मृश ही है। यही परमार्थता—यथार्थ कथन है।

रघुनन्दन। यह माया ऐसी है, जो अपने बिनाशसे ही हर्ष देनेवाली होती है। इसके समाधका पता नहीं लगता। ज्ञानकी दृष्टिसे जब इसको देखनेका प्रयत्न किया जाता है, तब वह तरकाल नष्ट हो जाती है। अहो! संसारको बौद्धनेवाली यह माया बड़ी ही विचित्र है। यथापि यह असत्य ही है, तथापि इसने अस्ति नस्ति की भाँति अपना ज्ञान कराया है। जो पुरुष 'यह जगत् ग्रन्थपदे मर्य ही है' अथवा 'मिथ्या देहनेके कारण असत्य ही है'—इन दो बातोंमेंसे किसी एकको

इक निश्चयके साथ अपना लेता है और मनमें आसक्ति न रखकर जगत्को स्वप्रभूमिकी भाँति आन्तिमात्र ही देखता है, वह कभी दुःखमें नहीं हृचता। जिसकी इन मिथ्याभूत देह-इन्द्रिय आदिरूप द्वैतमायनाओंमें अहंकृदि है, वही दुःखके सागरमें हृचता है। स्वरूप-ज्ञानसे शून्य उस मिथ्यादर्शी पुरुषके लिये सब और केवल अविद्या ही विद्यमान है। जैसे जलमें सूखी घूल नहीं होती, उसी प्रकार महान् पुरुष परमात्मामें विकार आदि कोई दोष नहीं होते। अविद्यारूपी नदीमें बहता हुआ आस्मा इस संसारमें आत्माके यथार्थज्ञानके बिना अनुभवमें नहीं आता और वह आत्मज्ञान शाखाके तात्पर्यका यथार्थ बोध होनेसे ही प्राप्त होता है। श्रीराम। परमात्माकी प्राप्तिके बिना अविद्यारूपी नदीका पार नहीं मिलता। वह परमात्माकी प्राप्ति ही अक्षयपद कहलाती है।

( सर्ग ४०-४१ )

### चेतनतस्थका ही क्षेत्रह, अहंकार आदिके रूपमें विस्तार तथा अविद्याके कारण जीवोंके कर्मानुपार नाना योनियोंमें जन्मोंका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—महाबाहु श्रीराम। विभिन्न कल्पनाओंद्वारा ही निसने आकार प्रहण कर रखा है तथा जोदेश, कानून और क्रियाकं अधीन है, चैतन्यका वही रूप क्षेत्रह कहलाना है। त्रेत कहते हैं शारीरको। उसे बाहर और भीतरसे वह पूर्णतया जानता है, इसलिये क्षेत्रह कहलाता है। क्षेत्रह ही शासनाका संकरण करके अहंकारमायको प्राप्त होता है। अहंकार ही निश्चयात्मकहृतिसे युक्त होकर जब निर्णयक रूप विभिन्न कल्पनाओंसे युक्त होता है, तब उसे बुद्धि कहते हैं। संकल्पयुक्त बुद्धि ही मनका स्थान प्रहण करती है तथा वनीभूत विकल्पोंसे युक्त मन ही धीरे-धीरे इन्द्रियमायको प्राप्त होता है। विद्वान् पुरुष इन्द्रियोंको ही हाय-पौर आदिसे युक्त शरीर मानते हैं। वह शरीर लोकमें सभीके अनुभवमें आता है, उत्पन्न होता है और जीवित रहता है। इस प्रकार

संकल्प-नासनारूपी रस्सीसे जकड़ा और दुःखोंके जालसे डास हुआ वह जीव अज्ञानसे विचता—द्वयताको प्राप्त होता है। जैसे बेर आदिका फल परिणामवश अवश्या ( रूप, रस आदि गुणोंके परिवर्तन ) से ही अन्यरूपताको प्राप्त होता है, उसकी आकृति ( जाति ) नहीं बदल जाती—वह बेरसे भिन्न कोई दूसरा फल नहीं हो जाता, उसी प्रकार जीव—क्षेत्रह भी अविद्यारूप भलके परिणामवश अवश्यामेदसे ही कुछ अन्यरूप-सा हो जाता है, आकृति ( परिणामरहित चेतन जाति ) से नहीं। ( तात्पर्य यह है कि अहंकार, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, शरीरके संघातरूप अनात्म-वस्तुमें वह आत्मभिमान कर लेता है; किन्तु वास्तवमें उसका स्वरूप चेतन ही है। ) इस प्रकार जीव अहंकारमायको प्राप्त होता है। अहंकार बुद्धिरूपमें परिणत होता है और बुद्धि संकल्पोंके समूहसे अपास

मनका सरूप धारण करती है। फिर संकल्पमय मन नाना प्रकारके शरीरोंको धारण करनेमें संलग्न होता है। जैसे गौएँ मदमत्त सौंडके पीछे दौड़ती हैं और जैसे नदियाँ समुद्रकी ओर मारी जाती हैं, उसी प्रकार इच्छा आदि शक्तियाँ मनका अनुसरण करती हैं, जिससे काम-ज्ञोष-ज्ञोष-भोवादि दोनोंकी ही वृद्धि होती है। इस प्रकार इच्छा-द्रेप आदि शक्तियोंके बाहुल्यसे युक्त मन शशा-प्रशाशाखालपसे अभिमानकी वृद्धि होनेके कारण घनीभूत अहंकारभावको प्राप्त हो रेशमके कीड़ेकी भाँति स्वेच्छासे ही बन्धनको प्राप्त होता है। जैसे पक्षी सर्व ही अपने शरीरको जाल आदि फँदोंमें फँसाकर कष्टकारी बन्धनमें डालते और पछातते हैं, उसी तरह मन अपने संकल्पोंके अनुसंधानसे सर्व ही दुःखदायी बन्धनमें पड़कर इस लोकमें संतप्त होता है।

जैसे पक्षी समुद्रमें गिरा हो, उसी तरह मन धोर दुःखके महासागरमें पड़ा हुआ है, गन्धर्वनगरके समान शून्य जगत्-जालमें अपने बन्धनके हेतुरूप देह आदिपर आसक्ति रखता है, विवर्योंकी ओर दौड़ा जाता है और तरवज्ञान आदिके प्रति अविद्यासके समुद्रमें निरन्तर बह रहा है।

जो अनन्त विषयोंमें अनन्त संकल्प-कल्पनाओंकी उत्पत्तिमें हेतु है, उस माया अयथा अविद्याके द्वारा इस जगतरूपी विशाल इन्द्रजालका विस्तार करनेवाले मूँह जीव जलमें आवर्तों ( भैवरों ) के समान तबतक चक्कर काटते रहते हैं, जबतक उन्हें अपने अनिन्दित—विशुद्ध आत्मस्वरूपका साक्षात्कार नहीं हो जाता। किंतु जब वे साधन करते-करते काल पाकर आत्माका साक्षात्कार

करके असत्को त्यागकर सत्य ज्ञानको अपनाते हैं, तब परम पदको प्राप्त होकर फिर इस संसारमें जन्म नहीं लेते। कुछ अज्ञानी जीव सहजों जन्मोंका कष्ट भोगकर विवेकको प्राप्त करके भी मूर्खताके कारण उस संसाररूपी संकटमें ही गिर जाते हैं; कुछ लोग उच्च कुलमें जन्म और साधनकी शक्ति एवं सुविद्याको पाकर भी अज्ञान और विषयासक्तिके कारण वपनी तुष्ट बुद्धिसे ही पुनः तिर्यग्योनियोंको प्राप्त होते हैं और तिर्यग्योनिसे नरकोंमें भी गिरते हैं। कुछ महाबुद्धिमान् सत्पुरुष एक ही जन्मके द्वारा मोक्षरूप प्रसापदमें शीघ्र ही प्रविष्ट हो जाते हैं। श्रीराम ! कितने ही जीवसमूह तिर्यग्योनियोंमें जन्म लेते हैं, कितने ही देवयोनियोंको प्राप्त होते हैं, कितने ही नागयोनिको प्राप्त करते हैं। जैसे यह जगत् विशाल दिखायी देता है, जैसे ही अन्यान्य जगत् भी है, ये और मधिष्ठमें भी बहुत-से होंगे। इस भद्राण्डमें लोग जिस व्यवहारसे रहते हैं, उसी व्यवहारसे अन्य भद्राण्डोंमें भी रहते हैं। केवल उनकी आकृतियोंमें अन्तर या विलक्षणता होती है। जैसे नदीकी लहरें परस्पर टकरानेसे परिवर्तित होती रहती हैं, उसी प्रकार विभिन्न सृष्टियों अपने सात्त्विक, राजस आदि स्वभाववश परस्पर संवर्पके कारण बदलती रहती हैं। जैसे जलराशि समुद्रमें अनन्त लहरें निरन्तर उठती और विलीन होती रहती हैं, उसी प्रकार उस परमपद-सरूप परमात्मामें यह तीनों लोकोंकी रक्षा आदि मोहमाया व्यर्थ ही विस्तारको प्राप्त हो अनवरत बढ़ती, परिणामको प्राप्त होती और विनष्ट होती रहती है।

( सर्ग ४२-४३ )

### परमात्मनिष्ठ ज्ञानीकी दृष्टिमें संसारका गैरिध्यात्म, मनोमय होनेके कारण जगत्की

असत्ता तथा ज्ञानीकी दृष्टिमें सबकी ब्रह्मरूपताका प्रतिपादन

श्रीरामजीने पूछा—मग मन् ! इस क्रमसे जिस जीवने परमात्माके स्वरूपमें अपनी स्थिति प्राप्त कर ली, वह अस्तिपञ्चरूप देहको कैसे प्रहण किये रहता है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! जो यह शरीर आदिके रूपमें स्थान-जड़म जगत् दिखायी देता है, यह आभास-मात्र ही है, अतएव स्वप्नके समान असत् होता हुआ ही

प्रकट हुआ । ( तात्पर्य यह है कि वह परमात्मगिष्ठ नीव इस शरीर आदिको स्वप्नके तुल्य मिथ्या समाज हुआ ही हसमें रहता है ) । निष्पाप श्रीराम ! यह प्रपञ्च दीर्घ-कालतक बने रहनेवाले स्वप्नके समाज मिथ्या ही दीखता है, दो चन्द्रमाओंकी भान्तिके समाज तथा पहाड़ी भूमिमें धूमरे द्वार पुरुषको धूमरे दीखनेवाले पर्वतके समाज मिथ्या ही दृष्टिगोचर होता है । जिसकी अज्ञानमयी निशा दृट गयी है और वासनात्मक मावना गल गयी है, वह ज्ञानवान् पुरुष इस संसारखण्डी स्वप्नको देखता हुआ भी नहीं देखता—इसे मिथ्या समझता है । श्रीराम ! जीवोंके स्वभावसे कलिपत यह संसार, जिसकी मोक्ष होनेसे पहले-तक निरन्तर प्राप्ति होती रहती है, अगमज्ञानीके ही अंदर सदा सत्य-न्या विषमान रहता है ।

खुनन्दन ! यह जगत् यथापि सब प्रकारसे सम्पन्न दिखायी देता है, तथापि यहाँ वास्तवमें कुछ भी सम्पन्न नहीं है । यह आमासमात्र एवं मनका विजासमात्र है; अतः शून्य ( असत् ) रूपमें ही स्थित है । मनका संकल्पमात्र ही इसका स्वरूप है । जहाँ भी वह प्रतीत होता है, वहाँ स्वप्नमें देखे गये नगरके समाज शून्यरूप ही है, केवल आकाशरूपमें ही स्थित है । शरीर आदिके रूपमें जो ये तीव्रों लोक दिखायी देते हैं, वे सब-के-सब मनसे ही कलिपत हैं । जैसे पदार्थोंके वेखनेमें नेत्र कारण है, उसी प्रकार उनके स्मरणमात्रमें मन कारण है, उसी प्रकार उनके स्मरणमात्रमें मन कारण है ( अतः मनःकलिपत यह जगत् अतीतकी स्मृतिके ही तुल्य है । स्मरणकालमें वह पदार्थरूपसे विषमान या उपलब्ध नहीं है ) । श्रीराम ! मनकी इस असूत शक्तिको तो देखो; उसने अपनेसे ढारण द्वार पुरुष इस शरीरको अपनी भावना या संकल्पके द्वारा ही प्राप्त किया है । इसलिये लैग उस मनकी कल्पनाको समूर्ण शक्तियोंसे सम्पन्न समझते हैं । देवता, असूर और मनुष्य आदि सभी प्राणी मनके द्वारा अपने संकल्पसे ही रचे गये हैं । अपने संकल्पके शान्त होनेपर तैलरहित दीपककी भौति वे सब शान्त हो जाते

हैं । महामते ! देखो, यह सारा जगत् आकाशके समान शून्य, मनकी कल्पनासमात्रसे विकसित तथा दीर्घकालीन स्वप्नके तुल्य मिथ्या ही प्रकट हुआ है । विशुद्ध द्वुद्विवाले रुचनन्दन ! इस जगतमें कभी कोई वस्तु वाल्पवमें न वल्पन होती है और न उसका नाश ही होता है । यहाँ जो जन्म और मरण दीखते हैं, वे सब मिथ्या ही हैं । जैसे महमूमिमें सूर्यकी किरणोंका ताप बढ़नेसे उसमें पूर्णसूर्या ( जल ) का दर्शन होता है, उसी प्रकार मनके संकल्पसे ये ज्ञान आदि सभी प्राणी जिना दृष्ट ही दिखायी देते हैं । संसारमें जितनी आकार राशियों दिखायी देती है, वे सब-की-सब दो चतुर्माणोंके भ्रमकी भौति असत् हैं, मिथ्याज्ञानकी जनीभूत मृत्यियों हैं तथा मनोरथकी भौति संकल्पमें ही प्रकट हुई है ( वास्तवमें इनकी सत्ता नहीं है ) । जैसे नौकाहार्य यात्रा करनेवाले पुरुषके नदीके तटकर्ता वृक्ष और पहाड़ आदि मिथ्या ही चलते हुए प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार इन दृश्य आकारोंकी परम्परा निलय असत्य होती हुई ही सत्य-सी प्रकट दिखायी देती है । मायासे ही जिसकी ठठी रखी गयी है और मनके मननसे ही जिसका निर्माण हुआ है, ऐसा जो यह दृश्य जगत् है, इसे इन्द्रजाल ही समझो । यह सत्य नहीं है, तो भी सत्यके समाज स्थित है । यह समूर्ण जगत् अस ही है । फिर इसके लिये उससे भिन्न होनेका प्रसङ्ग ही कहाँ है । यदि कोई प्रसङ्ग है तो कौन और कैसा है ? यह भिन्नता या भेदभावना कहाँ स्थित है ? ‘यह पर्वत है, यह द्रूढ़ा वृक्ष है’ इस्यादि रूपसे जो जगत्के आद्यतरका विलास है, वह मनकी भावनाके द्वारा होनेसे असत् होता हुआ भी सत्य-न्या दृष्टिगोचर होता है । जैसे महान् आयोजनोंसे पूर्ण स्वप्न अम ही है, वास्तविक नहीं, उसी प्रकार मनके द्वारा रखे गये इस जगत्को भी दीर्घकालीन स्वप्न ही समझो । जो शुद्ध विच मानव अपने संकल्पसे उत्पन्न हुई मनोरथमयी सम्पत्तिको स्वरूपसे युक्त ( सत्य ) समाप्तकर उसका अनुसरण करता है, वह एक-

मात्र दुःखका ही भागी होता है । यदि परमात्मत्वरूप यथार्थ वस्तु न हो तो लोग भले ही अवस्तुरूप संसारका अनुसरण करें; परंतु जो यथार्थ वस्तु—परमात्माका परित्याग करके अवस्तुरूप संसारका अनुगमन करता है, वह नष्ट हो जाता है—परमात्माकी प्राप्तिरूप परम पुरुषार्थसे बङ्गित रह जाता है । जैसे रज्जुमें सर्पका भय मनका व्यामोह ( धर्म ) मात्र ही है, उसी प्रकार यह जगत् भी मनका भय ही है । मनकी यावनाओंकी विचिन्तासे जगत् चिरकालतक प्रतीतिका विषय बना रहता है । जलके भीतर प्रतिविम्बित हुए चन्द्रमाके समान चक्र ( क्षणभक्तुर ) जो मिथ्या उदित हुए पदार्थ हैं, उनसे इस लोकमें मूर्ख बालक ही धोखा खा सकता है, तुम-जैसा तत्त्वज्ञानी नहीं । यह जड़संघात आदिरूप जो विशाल जगत् दिखायी देता है, मिथ्या ही है । मनके मननसे ही इसका निर्भीण हुआ है । जैसे हृदयमें स्वप्न या संकल्पमय नगर निर्मित होता है, उसी प्रकार यह जगत् भी मनके संकल्पमें ही निर्मित हुआ है ( वास्तवमें इसकी सत्ता नहीं है ) । यह दृश्य-प्रपञ्च मनके संकल्पसे उत्पन्न होता है और उसके संकल्परहित हो जानेसे विलीन हो जाता है । इस तरह यह समृद्धि-शाली गम्धर्वनगरकी भौति बिना हुए ही दिखायी देता है । हृदयमें मनके संकल्पद्वारा कल्पित विशाल नगरका विचरण अपेक्षा अम्बुदय हो जानेपर तुम्हाँ बताओ, किसकी क्या इच्छा होती है या किसको क्या लाभ हो जाता है? जैसे बालकोंके मनमें खेलके लिये बने हुए गुडियाओं या खिलौनोंके द्वारा पुक्र-पशु आदि ध्वनिहारोंकी कल्पना होती है, उसी प्रकार यह जगत् भी सदा मनसे ही प्रकट होता है । जैसे इन्द्रजालके द्वारा रथित जलके नष्ट-भ्रष्ट होनेपर किसीका कुछ भी नष्ट नहीं होता, उसी प्रकार मिथ्या प्रकट हुए इस संसारके नष्ट हो जानेपर भी किसीका कुछ नहीं बिगड़ता । जो वास्तवमें असत् ही है, वह यदि अविद्यमान हो जाय तो किसका क्या

बिगड़ गया? इसलिये संसारमें हृष्ट और शोकका आधार कुछ भी नहीं है । महामते! जिसका सदासे ही अस्त्यन्त अभाव है, उसके नष्ट होनेसे क्या नष्ट हो जाता है? और जब किसीका नाश ही नहीं होता, तब उसके लिये दुःखका क्या प्रसङ्ग है?

एकमात्र प्रपञ्चका ही विस्तार करनेवाले इस असत्य-भूत सनस्त संसारमें प्रहण करने योग्य कीन-सी ऐसी वस्तु है, जिसे विद्वान् पुरुष प्रहण करनेकी इच्छा करे । इसी प्रकार जो सर्वथा सत्यभूत ब्रह्मतत्त्वमय है, उस समस्त त्रिलोकीमें कौन ऐसा हैय पदार्थ है, जिसका विद्वान् पुरुष व्याग करे? अर्थात् तीनों लोक ब्रह्मभूत होनेके कारण चिन्तय हैं; उनमें विज्ञानानन्दघन परमात्माके सिवा अन्य कोई पदार्थ नहीं है, जिसका व्याग किया जा सके । आदि और अन्तमें जिसका अभाव है, उसका कर्तमानमें भी अभाव ही है । अतः श्रीराम! जो अज्ञानी इस असत् संसारकी इच्छा करता है, उसको असत् ( जड़ संसार ) ही प्राप्त होता है । आदि और अन्तमें जो सत्य है, वर्तमानमें भी वह सत्य ही है; अतः जिसकी इष्टिमें सब सब परमात्मा ही है, उसे सर्वत्र परमात्म-सत्त्वाका ही दर्शन होता है । जलके भीतर जो असत्यभूत चन्द्रमा और आकाश-तल आदि दिखायी देते हैं, उन्हें अपने मनके मोहके लिये मूर्ख बालक ही पाना चाहते हैं, उत्तम ज्ञानी पुरुष नहीं । मूर्ख ही विशाल आकाशवाले अर्थशान्त्य कार्योंमें सुख समझकर संतुष्ट होता है; किंतु अज्ञानके कारण उसे अनन्त दुःख ही प्राप्त होता है; सुख नहीं ।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज ! वसिष्ठ मुनिके यों कहनेपर दिन बीत गया । सूर्य अस्त्राचलको चले गये । सारी समाके लोग मुनिको नमस्कार करके सार्थकालकी उपासनाके लिये ज्ञान करनेके देशसे उठ गये और रात बीतनेपर दूसरे दिन उदित हुए सर्वदेवकी किरणोंके साथ-साथ फिर समाधनमें आ गये । ( सर्ग ४४-४५ )

**सांसारिक वस्तुओंसे वैराग्य पर्व जीवन्मुक्त महात्माओंके उत्तम गुणोंका उपदेश,**  
**बारंबार होनेवाले ब्रह्म, ब्रह्माण्ड एवं विषिधि- सूतोंकी सुषिटपरम्परा**

**तथा ब्रह्मे उसके अत्यन्ताभावका कथन**

श्रीविसिद्धजी कहते हैं—रघुनन्दन ! रमणीय जी आदि तथा धनके नष्ट होनेपर शोकका कौन-सा अवसर है ? इन्हजालकी इन्द्रियोंसे देखे गये पदार्थके नष्ट होनेपर क्या कोई विलाप करता है ? अविद्याके अंशभूत पुत्र आदिके प्राप्त होनेपर सुख और नष्ट होनेपर दुःखका प्रशार होना क्या कभी उचित है ? रमणीय धन और जी आदिकी प्राप्ति एवं दूर्दि होनेपर हर्षसे कछु उठनेका क्या अवसर है ? क्या मृगतृष्णाके जलकी दृढ़ि होनेपर जलर्थी पुरुषोंको आनन्द प्राप्त होता है ? कहापि नहीं । धन और जी आदिके अद्वनेपर तो उन्हें परमार्थमें साधक समझकर दुःखका अनुभव करना चाहिये, संतोष मानना तो कहापि उचित नहीं । संसारमें पोहमायकी दृढ़ि होनेपर भला, कौन सुखी एवं स्वस्य रह सकता है । जिन भोगोंके बड़ आनेपर मूँह मनुष्यको राग होता है, उन्हींकी दृढ़िसे विवेकशील पुरुषके मनमें वैराग्य होता है । नमर धन और जी आदिके सुलभ होनेमें हर्षका क्या कारण है ? जो इनके परिणामको देख पाते हैं, उन साधु पुरुषोंको तो इनसे वैराग्य ही होता है । अतः रघुनन्दन ! संसारके व्यवहारमें जो-जो वस्तु न सर प्रतीत हो, उसकी तो तुम उपेक्षाकरो और जो न्यायतः प्राप्त हो जाय, उसे यथायोदय व्यवहारमें लाओ; क्योंकि तुम तत्त्वज्ञ हो । अप्राप्त भोगोंकी स्वयावतः कभी इच्छा न होना और दैवात् प्राप्त तुर भोगोंको यथायोदय व्यवहारमें लाना—यह ज्ञानवान्नका लक्षण है ।

निस किमी भी युक्ति अथवा साधनसे जिस पुरुषका जड इश्यसे राग चढ़ा जाता है, उपकी परमाणुमें इह विश्वाम रहनेवाली विमल दृढ़ि कभी भोहरूपी सागरमें नहीं हूँती । यह अमर है, ऐसा समझकर जिसकी समस्त सांसारिक वस्तुओंमें जास्ता नहीं रह गयी है,

उस सर्वज्ञको मिथ्या अविद्या अपने अङ्गमें नहीं ले सकती—दैर्घ्यमें नहीं फँसा सकती । श्रीराम ! अस्ति विश्व, अपने पारमार्थिक स्वरूपमें स्थित और वासस्थानमें सब प्रकारकी अहंता-ममतासे रहित हो तथा न्यायप्राप्त कार्यमें तत्पर रहते हुए भी रात्रहित हो तुम आकाशके समान निर्लिप्त हो जाओ; क्योंकि कर्ममें लगे रहनेपर भी जिस ज्ञानी महापुरुषकी उसमें न लो इच्छा ( राग ) है और न अनिच्छा ( द्रेप ) ही है, उसकी दृढ़ि जलसे कमज़दूलकी भौति करनी चिस नहीं होती । तुम्हारी इन्द्रियाँ और मन गौणी दृष्टिसे दर्शन और सर्व आदि कार्य करें या न करें, तुम सर्वथा इच्छारहित हो अपने वास्तुचिक स्वरूपमें स्थित रहो । यह संसार-सागरवासनाओं-के जलसे भरा हुआ है । जो शुद्ध दृष्टिरूप नौकापर आरूढ़ है, वे ही इसके पार जा सके हैं । दूसरे लोग तो इब ही गये हैं । जो नियत तृप्त, शुद्ध एवं तीर्ण दृढ़ि-वाले जीवन्मुक्त महारथा हैं, उन्हींके आचारोंका अनुसरण करना चाहिये, भोग-लम्पट दीन-हीन शठोंके आचरणोंका नहीं । महारथा पुरुष सब कुछ नष्ट हो जानेपर भी खिल नहीं होते, देवताओंके दयानमें भी आसक्त नहीं होते और शास्त्र-मर्यादाका कर्त्ती त्याग नहीं करते । महारथा पुरुष इच्छारहित तथा न्यायप्राप्त च्यवहारका अनुसरकमावसे अनुसरण करनेवाले होते हैं । वे देहरूपी रथका आश्रय ले परमाणुमें स्थित हो आसक्त-शून्य होकर विचरते हैं । परम सुन्दर श्रीराम ! तुम भी यथार्थ एवं विस्तृत विवेकको प्राप्त कर तुके हो । आगली इस पवित्र एवं तीक्ष्ण दृढ़िके बलसे सदा ज्ञानानन्दधन आपस्वरूपमें स्थित हो ।

श्रीरामजीने कहा—मगवन् ! आप सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता और समस्त वेदाङ्गोंके पारंगत विद्वान् हैं । आपके पवित्र

उपदेशसे मैं आश्रित पुरुषके समान अपने स्वरूपमें निर्णय स्थित हूँ । प्रबचन करते समय आपके मुखसे जो उदार भावोंसे युक्त, सुस्थित, सुन्दरतया परमात्माके स्वरूप सो प्रकाशित करनेवाले बचन निकलते हैं, उन्हें सुनते-सुनते मुझे तुम्हि नहीं होती—अधिकाधिक सुननेकी इच्छा बहनी जाती है । आपने श्रुति-पुराण आदि शास्त्रोंके आधारपर कमलयोग्यनि ग्रन्थाकी जो उत्पत्ति कहा थी, उसका पुनः स्पष्टरूपसे वर्णन कीजिये ।

श्रीयसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! इस ग्रन्थमें तथा दूसरे-दूसरे विवित्र ग्रन्थोंमें भी बहुत-से विभिन्न आचार व्यवहारवाले सहक्षीं प्राणी विचरते हैं । इसी प्रकार अन्यान्य समयोंमें उत्पन्न होनेवाले अनन्त मुनिओंमें दूसरे-दूसरे बहुत से प्राणी १९ ही समय अधिक संख्यामें उत्पन्न होते । महावाहो ! उन ग्रन्थाण्डोंमें उन ग्रन्थां आदि देवताओंकी उत्पत्तियों विवित्र-सी हुई बतायी गयी हैं । महासर्गके आरम्भकालमें कभी तो ग्रन्थ कामण्डसे उत्पन्न होते हैं, कभी जलसे, कभी अण्डमे और कभी आकाशसे ग्रादुर्भूत होते हैं । विभिन्न सूष्टियोंमें कोई भूमि के बल मिहीके रूपमें प्रकृट हुई तो कोई पथरीली थी, कोई सुर्कर्णमयी थी और कोई ताप्रमयी थी । इस ग्रन्थाण्डमें भी भिन्न भिन्न प्रकारके किनाने ही आवश्यकमय जगत् हैं । इस सचिदानन्दनन्दन परमज्ञात्वरूप महाकाशमें अनन्त जगत् महासागर-की तरफ़ोंके समान उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं । जैसे समुद्रमें छहरे और मह-पर्वतिकामें जलकी धारा एवं उत्पन्न होती हैं; उसी प्रकार परमात्मामें अगणित शिशकी शोभा प्रकट होती है । ( ताप्य यह कि जैसे सूर्यकी किणोंमें जलकी प्रतीति मिथ्या है, उसी प्रकार सचिदानन्दनन्दन परमात्मामें इस जड जगतका वैभव दिथ्या ही प्रतीत हो रहा है । ) जैसे वर्षा आदि अनुओंमें पञ्चरोक्ते समूह उत्पन्न हो-होकर सब और भर जाते हैं और फिर नष्ट भी हो जाते हैं, उसी प्रकार ये ससारकी सूष्टियों उत्पन्न और नष्ट होती रहती हैं; यह नहीं ज्ञात होता

कि ये सदा उत्पन्न और नष्ट होनेवाली सूष्टि परम्पराएँ परमात्मामें करवाए आरम्भ हुईं । ये सूष्टियों पूर्व-से-पूर्व कालमें थीं और उससे भी पहले विद्यमान थीं । इस प्रकार अनादिकालसे इनकी परम्पराएँ चल रही हैं । जैसे समुद्रमें निरन्तर छहरे उठती रहती हैं, उसी तरह परमात्मामें सदा ही ये सूष्टियों उत्पन्न एवं विलीन होती रहती हैं । देवता, अमूर और मनुष्य आदिसे युक्त ये समस्त प्राणी नदीकी तरफ़ोंके समान उत्पन्न हो-होकर विलीन होते रहते हैं । जैसे मिहीकी राशिमें घड़े और अमूरमें पत्ते विद्यमान रहते हैं, उसी प्रकार भविष्यमें होनेवाली अन्य सूष्टि-परम्पराएँ भी परमज्ञ परमात्मामें स्थित हैं ।

श्रीराम ! परमात्माके स्वरूपमें जो वस्तुतः विद्यमान नहीं हैं—विना हुए ही प्रतीत होती हैं, ऐसी इन विलक्षण सूष्टियोंमें ग्रन्थाकी विविध विवित्र उत्पत्तियों बीत जुकी हैं । वास्तवमें यह संप्रार मनके संकल्पका विस्तार-मात्र है । यही सर्वसम्मत सिद्धान्त है । मैंने केवल समझानेके लिये तुम्हारे समक्ष इस सूष्टि-क्रमका वर्णन किया है । फिर सत्ययुग, फिर त्रेता, फिर द्वापर और फिर कलियुग—इस प्रकार सारा जगत् धूमते हुए चक्रकी तरह बारंबार आता-जाता रहता है । जैसे प्रत्येक प्रातः-कालके बाद दिन आता है, उसी प्रकार पुनः भन्न-तरोंके आरम्भ होते हैं । एकके बाद दिन आता है, उसी प्रकार पुनः दूसरे कल्पोंकी परम्पराएँ चलती हैं और बारबार कार्यान्वयन्ने प्राप्त होती रहती हैं । जैसे वृक्षमें विभिन्न अनुओंके अनुसार सारे फल-क्लूल आदि कभी अप्रकट रहते हैं और कभी समय पाकर प्रकट हो जाते हैं, उसी प्रकार परम तत्त्व परमात्मामें यह सारा जगत् कभी अव्यक्त रहता है और कभी अव्यक्त हो जाता है । श्रीराम ! यह संप्रार कभी भी सत् नहीं है; क्योंकि सर्वशक्तिपान् परमात्मामें स्वभावसे ही सदा सप्तारका अथन्ताभाव है । महामते ! हानीकी दृष्टिमें यह सब कुछ ग्रन्थ ही है । इसलिये संसार नहीं है, यह कथन सर्वथा युक्तियुक्त ही है ।

ज्ञानीकी दृष्टिमें संसारका कभी विच्छेद नहीं होता, वह सदा बना रहता है। इसलिये यह सासार-माया मिथ्या होती हुई भी मूढ़के लिये नित्य है, यह कथन भी युक्तिसंगत ही है। रघुनन्दन। जगत् बारंबार उत्पन्न होता रहता है, इसलिये कभी इसका आभाव नहीं है—ऐसा जो कुछ लोगोंका कथन है, वह भी उनकी दृष्टिसे मिथ्या नहीं है। यह सब दृश्य पुनः-पुनः प्रकट होता है। बारंबार जन्म और मरण होते रहते हैं। सुख-दुःख, करण और कर्म भी बारंबार हुआ करते हैं। दिशाएँ, आकाश, समुद्र और पर्वत भी बारंबार उत्पन्न होते हैं। जैसे खिद्कीषाले घरमें एक ही सूर्यकी

प्रगत बारबार अनेक रूपोंमें प्राप्त होती है, जैसे ही यह सुष्ठु प्रवाहरूपसे पुनः-पुनः चक्रकी भौति चलती रहती है। फिर दैत्य और देवता जन्म लेते हैं, पुनः लोक-लोकात्मके काम प्रकट होते हैं, फिर सर्व और मोक्ष प्राप्त करनेकी चेष्टाएँ चाल छोड़ती हैं तथा पुनः इन्द्र और चन्द्रमाका आविर्माण होता है। अनेकानेक दानव भी बारबार जन्म लेते हैं तथा बारंबार सधूर्ण दिशाओंमें मनोहर चन्द्रमा, सूर्य, वरुण एवं बायुका संचार होता रहता है। कालरूपी कुम्भार नाना प्रकारके प्राणीरूप प्यालोंको बनानेके लिये पुनः बड़े बेगसे निरन्तर कल्प नामक चाकको चालाने लगता है। (सर्ग ४६-४७)

### विरक्त एवं विवेकयुक्त ज्ञानी तथा भोगासक्त मूढ़की शितिमें अन्तर; जगत्को सिद्ध्या भानकर उसमें आसा न रखने, देहाभिमानको छोड़ने और अपने विशुद्ध स्वरूप ( परमात्मपद ) में शित होनेका उपदेश

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन। जिनकी मुद्दि भोग और ऐश्वर्यके हारा नष्ट हो गयी है तथा जो ऐश्विक और पारलौकिक मोग एवं ऐश्वर्यके लिये सकाममायसे नाना प्रकारकी चेष्टाएँ करते हैं, ऐसे मूढ़ पुरुष सचिदानन्दवन परमात्माकी ओर ध्यान नहीं देते, इस कारण उनको परमात्माके यथार्थ स्वरूपका अनुभव नहीं होता ( अर्थात् वे परम पुरुषार्थरूप परमात्माकी प्राप्तिसे अविच्छिन्न रह जाते हैं )। जो पुरुष विवेकयुक्त तीक्ष्णबुद्धिकी वरम सीमाको पहुँचे हुए हैं तथा जिन्हें इन्द्रियोंने अपने वशमें नहीं कर रखा है, वे इस जगत्की मायाका उत्थपन रक्षे हुए बेळके समान प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। जो जीव विवेकरूप विधारसे युक्त है, वह इस जगत्की अहकारमूलक मायाको तुम्ह जानकर उसी तरह त्याग देता है, जैसे सौंप केंद्रुलको। श्रीराम ! जैसे आगसे भुना हुआ भी ज मिरकालस्तक खेतोंमें रहनेपर भी जमता नहीं, उसी प्रकार वह विवेकी पुरुष अनासचिको

प्राप्त हो दीर्घकालक शरीरमें रहनेपर भी फिर जन्म नहीं लेता। किंतु ज्ञानी मनुष्य आविष्यविसे फिरे हुए तथा आज या कठ प्रात्-काल नष्ट हो जानेवाले इस क्षणभूमि शरीरके हितके लिये ही प्रयत्न करते हैं, आत्माके लिये नहीं।

इसके बाद दासूर मुनिका उत्पात्यान सुनाकर वसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! यह जढ़ जगत् वासुदेवमें है ही नहीं, ऐसा निष्ठय करके इसमें सब जोरसे आसकिका त्याग कर देना चाहिये; क्योंकि जो वस्तु है ही नहीं, उसके प्रति विवेकवील पुरुषोंका विश्वास कैसे होगा। जैसे मनके संकल्पद्वारा कल्पित पुरुष अथवा मनोरूपको, स्वजगत जन-समुदायको तथा अमसे प्रतीत होनेवाले दो चन्द्रमाओंकी आकृतियोंको हुम देखते हो, उसी प्रकार मनकी भावनासे ही उत्पन्न हुए इस सधूर्ण दृश्य प्रपञ्चको भी देखना चाहिये ( अर्थात् इसे मिथ्या समझकर इसके प्रति राग-द्वेष नहीं करना

चाहिये)। निरपाप रघुनन्दन! पदार्थोंके सीन्दर्यका विन्तन करनेसे जो उनके प्रति आनन्दिक आस्था होती है, उसका पूर्णनः परिस्थाग करके तुम जिस विन्मय स्वरूपसे स्थित हो, वही तुम्हारा वास्तविक रूप है। उसी रूपसे इस जगत्में तुम लीलापूर्वक विचरण करो। सब पदार्थोंके भीतर विषमान रहने हुए भी जो सबसे अभीत है, वह परमात्मा तुम्हीं हो। तुम्हारे सकाशमात्रसे यह नियति विस्तारको प्राप्त होती है। जैसे सब प्रकारकी इच्छाओंमें रहित सूर्योदयके आकाशमें स्थित होनेपर जगत्के सब व्यवहार होने लगते हैं, उसी प्रकार इच्छारहित परमात्माकी रूचासे ही समस्त कार्य सम्पन्न होते हैं। जैसे रज्ञ ( सूर्यकान्त एवं चन्द्रकान्त मणि आदि ) में प्रकाश करनेकी इच्छा न होनेपर भी उसको स्थितिपात्रसे खनः प्रकाश होने लगता है, उसी प्रकार इच्छारहित परमात्माके सकाशसे ही इस जगत्-समुदायकी प्रवृत्ति ( व्यवहारचेष्टा ) होती रहती है। सचिदानन्द परमात्मा सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे अतीत होनेके कारण वास्तवमें कर्ता और भोक्ता नहीं है, किंतु इन्द्रियोंमें व्यापक होनेके कारण वही कर्ता और भोक्ता भी माना जाना है। 'मैं सबके भीतर स्थित और अकर्ता हूँ'—ऐसी दृष्टि धारणाके साथ विवेकी पुरुष

प्रश्नाहरूपसे प्राप्त हुए कार्यको करता रहे, तो भी वह उससे बिस ( बढ़ ) नहीं होता। जिसमें प्रवृत्तिका अमाव होनेसे मनुष्य उपरातिको प्राप्त होता है। जिसको यह निष्पत्ति हो गया है कि मैं यहौं कुछ भी नहीं करता, अर्थात् जो कर्तापिनके अभिमानसे रहित हो गया है, ऐसा कौन पुरुष मोग-समझोंकी कामना मनमें लेकर किसी कार्यको करेगा अथवा छोड़ेगा। इसलिये सदा 'मैं कर्ता नहीं हूँ' इस भाषनाको जगाये रखनेसे पुरुषके लिये परम अमृतमयी समता ही शेष रहती है। 'मैं यह हूँ, मैं यह नहीं हूँ; मैं इसे करता हूँ और इसे नहीं करता' इस तरहके भावोंका अनुसंधान करनेवाली दृष्टि वास्तवमें सतोपञ्जनक नहीं होती। 'मैं शरीर हूँ'—ऐसी धारापूर्वक जो स्थिति है, वही क्षालसूत्र नामक नरकका मार्ग है। वही महाशीति नरकका जाल है और वही असिपत्रवनकी पक्षियों हैं। उस देहाभिमानका सर्वथा प्रथमपूर्वक स्थाग करना चाहिये। मैं यह दृश्यरूप कुछ भी नहीं हूँ, किंतु साक्षात् सचिदानन्द परमात्मा हूँ—ऐसा निष्पत्ति करके तुम अपने उस सर्वोत्तम स्वरूपमें सदा स्थित रहो, जिसमें श्रेष्ठ साधु, ब्रह्मवेत्ता पुरुष रित्यत हुए हैं।

( सर्ग ४८—५६ )

### वासना, अभिमान और एषणाका त्याग करके परमात्मपदमें प्रतिष्ठित होनेकी ग्रेणा तथा तत्त्वज्ञानी महात्माकी महत्त्वम् स्थितिका वर्णन

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—प्रश्न! आपने अपनी उत्तम उकियोंद्वारा जो यह सुन्दर बात कही है, वह सर्वथा सत्य है। यमद्वा मूर्तोंकी सुष्ठि करनेवाले परमात्मा अकर्ता होते हुए ही कर्ता हैं और अभोक्ता होते हुए ही भोक्ता हैं। प्रभो! जो सबका अधिष्ठान और समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित है, उस सर्वेश्वर, सर्वव्यापी, सचिदानन्द निमिल पदस्वरूप ग्रहका भेरे हृदयमें प्रत्यक्ष अनुभव होता है।

श्रीवसिष्ठजी थोले—रघुनन्दन! आत्मा ही आत्माको जानता है, आत्माने ही आत्माको संसारी बनाया है अर्थात् इसने स्वयं ही अज्ञानके कारण अपने-आपको संसार-बन्धनमें बोधा है। आत्मा ही अपने ज्ञानके द्वारा पवित्र होकर सचिदानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त होता है। जो वासनाओंके बन्धनमें बँधा है, उसीको बद्ध कहा गया है। वासनाका अमाव ही मोक्ष है। ( वासनाओंका सर्वथा क्षय हो जानेपर साधक संसारके बन्धनोंसे सदा के

लिये मुक्त हो जाता है । ) अतः मन, बुद्धि आदिसे युक्त सम्पूर्ण वासनाओंका स्थाग करके किस दृष्टिके द्वारा उन सबकह स्थाग किया जाता है, उस बुद्धिदृष्टिका भी स्थाग कर दो अर्थात् उसमें सम्बन्धरहित हो जाओ और सबका अमाव हो जानेपर जो एकमात्र वित्त सचिदानन्दघन परमात्मा ही शेष रहता है, उसीमें अविचलनावसे स्थित रहो । शुद्धबुद्धिसे युक्त रघुनन्दन ! प्राणोंके स्पन्दनपूर्वक कलना ( वेष्टा एवं सकल्प ), काल, प्रकाश एवं तिमिर आदिका तथा धासना और विपर्योगका ( इन्द्रियों तथा समूल अहंकारका ) सर्वथा स्थाग करके उनसे सम्बन्धरहित होकर जो तुम आकाशके समान सौम्य ( निर्मल ), प्रशान्त-वित्त तथा विन्मयरूपसे विराज रहे हो, उसी सर्वसम्मानित रूपमें स्थित रहो । जो परम बुद्धिमान् पुरुष सबका हृदयसे परित्याग करके सब विक्षेपोंके कारणभूत असिमानसे रहित हो जाता है, वह साक्षात् शुद्ध, शुद्ध, मुजाहरूप परमेश्वर है । जिसके हृदयमें अभिमानका अथवान्त अमाव हो गया है, ऐसा विशुद्ध अस्तःकारणशाला ज्ञानी महात्मा ध्यान, समाधि अथवा कर्म करे या न करे, सदा मुक्त ही है; क्योंकि जिसका मन सर्वथा वासनारहित हो गया है, उसे न तो कर्मोंके स्थागसे कोई प्रयोजन है और न कर्मोंके अनुष्ठानसे ही । ब्रह्म, ध्यान और समाधिसे भी उसका कोई प्रयोजन नहीं है । मैंने शास्त्रका अच्छी तरह विचार किया और चिरकालतक साधुरूपोंके साथ परामर्श करके यही सार निकाला कि सम्पूर्ण वासनाओंसे रहित हुर सचिदानन्दघन परमात्माके निरन्तर मनवरूप मौनसे बढ़कर दूसरा कोई उत्तम पद नहीं है । दसों दिवाओंमें घूम-घूमकर मैंने सारी दर्शनीय वस्तुओंको देख लिया; उनमें कुछ ही लोग ऐसे दिखायी दिये, जो परमात्माके स्वरूपका यथार्थ अनुभव करनेवाले हैं ।

मनुष्यके जो कोई भी लौकिक शुभ आयोजन हैं और जो भी उनके ध्यानहारिक सत्कारमें हैं, वे सब वेवल शरीरका निर्गाह करनेके लिये ही हैं, आत्माके लिये नहीं । पाताल, भूतल, सर्गलोक, ग्रहलोक और आकाशमें कुछ ही ऐसे प्राणी दृष्टिगोचर होते हैं, जिन्हें सचिदानन्द परमात्माका यथार्थ बीच हो गया है । जिस ज्ञानीके 'यह ग्राहा है, यह स्थान्य है' इस तरहसे अज्ञानजनित निष्ठय नष्ट हो गये हैं, ऐसा कर्तव्याकर्त्तव्य-दृष्टिसे रहित ज्ञानी महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है । प्राणी चाहे छोटाने गम्भीर करे, चाहे मेष या बड़में प्रब्रेश कर जाय; परंतु परमात्माकी प्राप्तिके बिना उसे परम शान्ति नहीं मिल सकती । जो इन्द्रियरूपी शक्तियोंका दमन करनेमें शरीर है, जन्मरूपी ज्वरका विनाश करनेके लिये उन्हीं महाबुद्धिमान् महापुरुषोंकी सेवा करनी चाहिये । पातालमें और स्वर्गमें सर्वत्र पौध ही भूत है, छठा कुछ भी नहीं है । फिर धीर मनुष्योंकी बुद्धि कहाँ अनुरक्ष हो ( क्योंकि सर्वत्र क्षणभूत पदार्थोंकी ही उपलब्धि होती है ) । शास्त्रके अनुसार निष्कामप्राप्तरूप युक्तिसे अवहार करनेवाले विवेकी पुरुषके लिये संसार गौके खुरके समान अनायास ही लोध जाने योग्य है । परंतु जिसने उपर्युक्त युक्तिका दूरसे ही परित्याग कर दिया है, उस अज्ञानीके लिये वह संसार महाप्रलयकालीन महासागरके समान दुसरा है । पातालसे लेकर स्वर्गपर्यन्त इस बगदमें ज्ञानी महात्मा पुरुषके लिये कोई भी कर्तव्य नहीं है । जैसे मन-मन्द वायुके छलनेसे पर्वत नहीं हिलता, वैसे ही भोग-समूहोंसे तत्त्वज्ञानी पुरुष नहीं विचलित होता । जैसे बादल आकाशमें बारंबार धा जानेपर भी उसे अपने रंगमें नहीं रँग सकते, उसी प्रकार संसारके ये विषय-भोगरूप कोई भी पदार्थ पुनः-पुनः प्राप्त होनेपर भी विशाल-हृदय तत्त्वज्ञानी महात्मा पुरुषको आसक नहीं कर सकते । ( सर्ग ५७ )

## परमात्मभावमें स्थित हुए कथके द्वारा सर्वात्मकका वोध करनेवाली गाथाओंका गान, भोगोंसे वैराग्यका उपदेश तथा सबकी परमात्मामें स्थितिका कथन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! इसी पूर्वोक्त वस्तुके विषयमें पहले शूद्रस्तिके पुत्र कथने जो पवित्र गाथाएँ गायी थीं, उमका मैं वर्णन करता हूँ; सुनो । एक समय मेह पर्वतके किसी वनप्रान्तमें देवगुरु शूद्रस्तिके पुत्र कथ ब्रह्मविचारमें तत्पर होकर रहते थे । वहाँ उन्होंने सुनी दुई प्राणविषयका बारंबार मनन थीं और निदिष्यासन करके आत्मामें परम शान्ति प्राप्त कर ली थी । इसलिये उनकी शुद्धि परमात्माके यथार्थशानस्ती अमृतसे परिपूर्ण थी । विरक्त एवं विवेकी पुरुषोंके लिये अनादरके घोष्य जो यह आपातरमणीय पाश्चामीतिक दृश्य जगत् है, इसमें उनकी शुद्धि नहीं लगती थी । दृश्य-ग्रपच्छके प्रति आदर न होनेके कारण उसमें उनका मन नहीं लगता था । इसलिये एकमात्र सक्षिदानन्दबन परमात्माके अतिरिक्त दूसरी किसी वस्तुको न हेखते हुए उन्होंने अस्यन्त विरक्त पुरुषकी मौति अकेले एकान्त स्थानमें हर्ष-ग्रहद वाणीद्वारा यह उद्घार प्रकट किया ।

अहो ! जैसे महाप्रलयके जलसे समस्त संसार भरा रहता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण विश्व परमात्मासे परिपूर्ण है । दुःख, जीवात्मा और सूख एवं दिशाओंसे विरह हुआ सुमहान् आकाश—ये सब परमात्मा ही हैं, ऐसा मुझे अनुभव हो गया; अतः उसी आनन्दमय परमात्माके ज्ञानसे मेरे सारे दुःख नष्ट हो गये हैं । बाय एवं आम्यन्तर भावोंसे युक्त इस देहमें, ऊपर-नीचे और पूर्व आदि दिशाओंमें तथा इधर-उधर परमात्मा ही हैं । परमात्माके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु कहीं नहीं है \*। सभी जगह परमात्मा स्थित हैं । सब कुछ परमात्ममय ही है । यह सब जगत् परमात्मा ही है, अतः मैं सदा परमात्मामें ही

\* इस विषयमें श्रुतिका भी कथन है—आत्मवाचस्पदादासोपरिष्ठादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणस आत्मोत्तर आत्मैषेद् ५ र्वमिति ( छा० ३० ७ । २५ । २ ) । अर्थात् परमात्मा ही नीचे है, परमात्मा ही ऊपर है, परमात्मा ही पीछे है, परमात्मा ही आगे है, परमात्मा ही दायी ओर है, परमात्मा ही वायी ओर है और परमात्मा ही यह सब है ।

स्थित हूँ । मैं नित्य विज्ञानानन्दबन परमात्मस्तरपूर्वक वौराजमाल हूँ—इस प्रकारकी भावना करके क्रमशः घण्टानादकी तरह थोकारका उच्चारण करते हुए वे उस मेह पर्वतके कुरुमें बैठे रहे । श्रीराम ! वे कल्पनारूपी कल्पहृसे रहित हीनेके कारण शुद्धरूपमें स्थित थे । उनके प्राणोंका स्पन्दन इहयमें निरन्तर छीन था और वे शरत्कालके मेघरहित आकाशकी मौति निर्विकार भावसे स्थित थे । ऐसी स्थितिमें पहुँचे हुए महारमा कथने उपर्युक्त गाथाओंका गान किया था ।

रघुनन्दन ! इस जगतमें खाने-पीने और खी-समागमके अतिरिक्त उत्तम पुरुषार्थरूप शुभ वस्तु कुछ भी नहीं है—अज्ञानियोंके इस कथनपर विचार करके परम पदमें आख्युक हुआ महान् पुरुष यहाँ किस वस्तुकी वाच्चा कर सकता है ? जो मृद् एवं असाधु पुरुष कृपणोंके सर्वस्त्रभूत—आदि, मध्य एवं अक्षमें भी विनाशशील भोगोद्वारा संतुष्ट होते हैं, वे पशुओं और पश्चियोंके समाज नये-बीते हैं । जो संसारमें इन मिथ्या विषयभोगोंको सद् मानते हैं—इनकी स्थिरतापर विचास करते हैं, वे मनुष्योंमें गदहोंके समान हैं, उनका जीवन व्यर्थ है । सारी पृथ्वी मिट्ठी ही है । समस्त वृक्ष काष्ठमय ही हैं और सभी शरीर हड्डी-मांसके पुतले ही हैं । नाचे पूर्णी हैं तथा ऊपर और आगे-पीछे आकाश है; फिर यहाँ सुख देनेके लिये कौन-सी अपूर्व वस्तु है ? उत्पन्न और विनष्ट होनेवाली, अनित्य तथा मन और इन्द्रियोंके संयोगसे प्रकट हुए समस्त भोग वास्तवमें मिथ्या ही हैं । हवियोंके समूहको अपने शरीरकी संज्ञा देनेशाले पुरुषके द्वारा अपनी प्रेयसी कहवर एक रक्त-मासकी पुललीका सादर आलिङ्गन किया जाता है । यह संसारको भोहित करनेवाले कामका ही क्रीडा-विलास है । श्रीराम ! यह सारा जगत् मृद् पुरुषोंकी दृष्टिमें ही सत्य और स्थिर है । उन अज्ञानी मनुष्योंके लिये ही यह संतोषदायक होता है । विवेकशील

एवं विरक्तको इससे संतोष नहीं प्राप्त होता; क्योंकि उनकी दृष्टिमें यह समस्त संसार क्षणभूत एवं विनाश-शील है। मोर्गेंकी वासना ऐसी विषेशी होती है कि उन विषयोंका उपभोग न करनेपर भी विषयकी तरह मूर्छा (मोह) पैदा कर देती है।

महाबाहु श्रीराम! सुषिक्ती व्यवस्था करनेवाले पितामह भगवान् ब्रह्मा जब समाधिसे उत्थित होते हैं, जब यह जगतरूपी जीर्ण घटायन्त्र अपनी व्यवस्थाके अनुसार चाल होता है और प्राणीरूपी घट वासनारूपी रूपसे बँकर जीकरकी इच्छासे अपने कर्मानुसार नीचे-ऊपर आने-जाने लाते हैं, तबसे निरन्तर कुछ जीव इस भवकूपसे निकलते

हैं और कुछ इसके भीतर प्रवेश करते हैं। श्रीराम! अनादि-अनन्त ब्रह्मपदसे उत्पन्न हुए जीव-समुदाय उसी तरह ग्रामोंसे स्थित हैं, जैसे तरङ्गोंके समूह समुद्रमें। पुण्याश्च रघुनन्दन! संसारमें उत्पन्न हुए जो-जो पुरुष केवल सात्त्विक मायसे सम्पन्न हैं, वे फिर कभी यहाँ जन्म ग्रहण नहीं करते—सर्वथा मुक्त हो जाते हैं; परंतु जो सख्युगुणप्रधान राजस-प्रकृतिके पुरुष हैं, उनका इस जगतमें पुर्वजन्म लेना सम्भव है। जो परमात्मासे अधिकार प्राप्त करके प्रधानरूपसे यहाँ आते हैं, ऐसे महान् गुणशाली पुरुष संसारमें दुर्लभ हैं।

( सर्ग ५८—६० )

राजस-सात्त्विकी कर्मोपासनासे भूतलपर उत्पन्न हुए पुरुषोंकी स्थितिका वर्णन; जगतकी अनित्यता एवं परमात्माकी सर्वव्यापकताकी भावनाके लिये उपदेश; श्रीरामके आदर्श गुणोंको अपनाने

एवं पौरुष-प्रवृत्त करनेसे जीवनसूक्ष्म पदकी ग्रासिका कथन

श्रीकृष्णिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! जो पूर्वजन्मकी राजस-सात्त्विकी कर्मोपासनासे भूतलपर उत्पन्न हुए हैं, वे महान् गुणशाली पुरुष आकाशमें प्रकाशित चक्रमाके समान सदा मनोहर कान्तिसे युक्त एवं आनन्दमन रहते हैं। जैसे आकाशका मांग भेद आदिसे मलिन नहीं होता, उसी प्रकार वे सांसारिक दुखोंसे दुखी नहीं होते। जैसे सुवर्णनिर्मित कमल रात्रिमें संकुचित या मलिन नहीं होता, उसी प्रकार वे आपत्तिमें पड़नेपर भी शोकसे कातर नहीं होते। जैसे स्वाधर दृक्ष आदि प्राप्तव्यमोगके अतिरिक्त दूसरी कोई चेष्टा नहीं करते, उसी प्रकार वे भी ज्ञान और ज्ञानके साधनोंके अतिरिक्त और कोई चेष्टा नहीं करते। जैसे दृक्ष अपने पुण्य और फल आदिसे सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार वे भी अपने सदा चारोंसे शोभायमान होते हैं। जैसे चन्द्रमा द्योग होनेपर भी कभी शीतलताका त्याग नहीं करता, उसी प्रकार वे आपत्तिकालमें भी अपने सौम्य ऋभावको नहीं छोड़ते। मेरी \* आदि गुणोंसे कमनीयताको

\* योगदर्ढनमें बताया गया है—‘मेरीकहास्यमुद्दितो-मैराजन्म मुक्तादुःखपुण्यविषयार्थी भावनात्मित्तप्रवादनम्।’

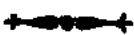
प्राप्त हुई अपनी प्रकृतिसे ही वे नूतन पुण्यगुच्छोंसे विभूषित छातासे शोभायमान बनके छूझोंकी भौति अद्भुत शोभा पाते हैं। वे पुरुष सबपर समान भाव रखते, समान-रूप रसका अनुभव करते, सदा सौम्यभावका आश्रय लेते, साधुओंसे भी बढ़कर साधु होते और अपनी मर्यादामें स्थित रहनेवाले समुदक्ती भौति शाल-मर्यादामें स्थित रहते हैं। अतः महाबाहो! आपत्तियोंकी पहुँचसे परे जो उनका पद (स्थान) है, उसकी ओर सदा चलना चाहिये। मनुष्यको इस जगतमें सख्युगुणप्रधान राजस पुरुषोंकी भौति ऐसा बर्ताव तथा सत्-शाश्वोंका विचार करना चाहिये, जिससे परमात्माकी प्राप्ति हो। इस प्रकार भावना करनेवाले पुरुषको सब वस्तुओंकी अनित्यताका भी विचार करना चाहिये। विशुद्ध बुद्धिशाली पुरुष भ्रह्मानको बदनेवाले मिथ्याभूत अनामदर्शीनका त्याग करके सांसारिक पदारोके विषयमें यह भावना करे कि ये सब-के-सब आपसि ही हैं; उनमें सर्वतिमावना कभी न करे। उस ( शो. ८० १। १३ ) ‘तुरी, दुखी, पुण्याश्च और पाप-शमाओंके प्रसि क्रमशः गित्रना, दया, प्रज्ञवता और उपेष्ठाकी भावनासे विद शुद्ध होता है।’

परम पुरुषार्थलूप अनन्त नित्य-विज्ञानानन्दधम ब्रह्मका भलीभौति चिन्तन करना चाहिये । कर्मोमें अत्यन्त आसक्त नहीं होना चाहिये और अर्वकारी जन-समुदायके साथ कभी नहीं रहना चाहिये । ‘ससारकी सभी वस्तुओंके साथ सम्बन्ध-विष्णुद अवश्यमध्यात्री है’ ऐसा विचार करके सदा श्रेष्ठ पुरुषोंका ही अनुसरण अपवा ( अनुकरण ) करना चाहिये । जैसे सूतमें मनके पिरोये होते हैं, उसी प्रकार उस नित्य विस्तृत सर्वव्यापी सर्वभावित शिवसूरुप परमपद ( परमात्मा ) में यह समस्त जगत् पिरोया हुआ है ( अर्थात् इस सम्पूर्ण जगतमें परमात्मा व्याप्त है ) । जो चेतन परमात्मा विशाल मुखनमण्डलको विमूर्खित करनेवाले आकाशबर्ती सूर्योदयमें विराजमान हैं, वे ही धरतीमें विलक्षके भीतर रहनेवाले कीड़ेके पेटमें भी हैं । निष्पाप रुद्धनन्दन । जैसे यहों घटाकाशोंका महाकाशसे वास्तविक मेद नहीं है, उसी प्रकार शरीरवर्ती जीवोंका परमात्मासे परमार्थतः मेद नहीं है । श्रीशम । जो उत्पन्न होकर विलीन हो जाती है, वह वस्तु वास्तवमें ही नहीं । अतः यह जट संसार प्रतीतिमात्र है । यह सदा स्थिर नहीं रहता, इसलिये इसे सदा नहीं कहा जा सकता । किंतु प्रतीत होता है, इसलिये इसे असद् भी नहीं कहा जा सकता । अनेक यह अनिर्वचनीय है ।

पहले विवेक और विभारसे युक्त धीर साधक शास्त्रके अनुसार परम ब्रह्मिमान तत्त्वज्ञानी श्रेष्ठ महापुरुषोंसे मिलकर उनके साथ सदृशाङ्ग-विषयक विचार करे । विषय-तृष्णासे रहित तत्त्वज्ञानसम्बन्ध संभु महापुरुषके साथ परमात्मविषयक विचार करके परमात्माका ध्यान करनेसे परमपद प्राप्त होता है । शास्त्रोंके विचार, महापुरुषोंके सम्म, वैराग्य और अन्यासारुप सत्कार्यसे युक्त पुरुष परमात्माके ज्ञानका पात्र होकर तुम्हारे समान शोभा पाता है । तुम ज्ञानवान् तथा नाना प्रकारके विद्यगुणोंकी खान हो । तुम्हारा आधार व्यवहार उदार है तथा तुम समस्त दोषोंसे रहन एवं दुःखहेन परमपदमें स्थित हो । तुम

उत्तम अनुभवसे नम्भक हो । अतः इस समय संसारमें पूर्वोक्त साधक मनुष्य राग-द्वेषहीन व्यवहारद्वारा तुम्हारी चेष्टाका अनुसरण करेंगे । जो लोकोचित आचारसे युक्त हो बाहर विचरण करेंगे, वे ज्ञानरूपी नौकासे युक्त ब्रह्मिमान् पुरुष संसार-सागरसे पार हो जायेंगे । जो तुम्हारे समान विशुद्ध ब्रह्मसे युक्त और समदर्शी है, वह उत्तम दृष्टिवाला सत्पुरुष मेरी बतायी हुई ज्ञानदृष्टियोंको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है । जबतक तुम्हारा शरीर है, तबतक राग-द्वेष और इच्छा आदिसे रहित हो शास्त्रके अनुसार आचरण करते हुए स्थित रहो । शुद्ध सात्त्विक जन्मथाले जीवन्मुक्त पुरुषोंके जो परम सत्य एवं सामाधिक शम, दम आदि गुण हैं, उनका सेवन करता हुआ साधारण पुरुष भी मरकर दूसरे जन्ममें जीवन्मुक्त-पदको प्राप्त हो जाता है; क्योंकि जीव इस जगतमें जिन जाति गुणोंका सदा सेवन करता है, दूसरे जन्ममें उत्पन्न होकर वह उसके अनुसार उसी जातिका प्राप्त होता है । ( तात्पर्य यह कि उत्कृष्ट जनिके गुणोंका सेवन करनेपर वह उत्तम जनिमें जन्म पाता है । और अधम जातिके गुणोंका सेवन करनेपर अधम जातिमें ही जन्म ग्रहण करता है । ) कर्मोंके अधीन हुए जीव पूर्वजन्मके सब भावोंको कर्मोंके अनुसार ही पाते हैं । पर्वतोंको भी लोग पराक्रमसे जीत लेते हैं, इसलिये मनुष्यको आत्मकल्याणके लिये तपतापूर्वक परम पुरुषार्थ करना चाहिये । जीव सात्त्विक, राजस और तामस—किसी भी योनिमें क्यों न उत्पन्न हुआ हो, उसे कीचबड़में फँसी हुई भोली-भाली गायकी तरह अपनी ब्रह्मिक धैर्यके साथ परम उषोगूर्वक ससाररूपी पक्षसे उद्धार करना चाहिये । पुरुषोचित प्रयत्नसे ही उत्तप्तोत्तम गुणोदारा सुशोभित होनेवाले सुसुख पुरुष दूसरे जन्ममें जीवन्मुक्त-पदको प्राप्त होते हैं । पृथ्वीपर, खर्ममें, देवता भीमें अथवा अन-पत्र भी कहीं कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे स्फूर्णमण्डन पुरुष अपने पुरुषार्थ या प्रयत्नसे प्राप्त न कर सके । ( सर्ग ६१-६२ )

स्थिति-प्रकारण सम्पूर्ण



## उपशम-प्रकरण

**श्रीवसिष्ठजीका मध्याह्नकालमें प्रबचन समाप्त करके सबको विदा देनेके पश्चात् अपने  
आश्रममें जाना और दैनिक कर्मके अनुष्ठानमें तत्पर होना।**



**श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—**वस्तु मरदाज ! राजा दशरथकी वह सुन्दर समा शरद-ऋतुमें तारोसे मरे हुए आकाशकी भौति निखल थी । महर्षि वसिष्ठ इदयको आह्नाद ग्रदान करनेवाला परम पवित्र प्रबचन कर रहे थे । श्रीरामचन्द्रजी प्रातःकालके प्रफुल्ल पङ्कजकी भौति प्रसन्नतासे छिल उठे थे । महायज्ञ दशरथ वसिष्ठजीके वर्णनोंको उसी तरह रसके साथ सुन रहे थे, जैसे मयूर बृष्टिके कारण हुई आर्दतासे शुक्त हो मेघ-गर्जनकी मधुर ध्वनिको सुनते रहते हैं । उनके मन्त्री भी अपने अङ्गल मनको समस्त भोगोंसे हटाकर दृढ़ प्रयत्नके द्वारा उपदेश-श्रवणमें लगे हुए थे । चन्द्रमाकी कलाके समान निर्मल अश्मण वसिष्ठजीके उपदेश-वचनोंसे आस्तत्थका शान ग्राप्त कर चुके थे । उनके हृदयमें लक्ष्यमूल ब्रह्मका सुरण हो रहा था तथा वे शिक्षावलसे विचक्षण हो गये थे । शकुञ्जोका दमन करनेवाले शकुञ्ज भी चित्तके

द्वारा पूर्णताको प्राप्त हो चुके थे और पूर्ण बानन्दको प्राप्त हो पूर्णिमाके चन्द्रमाकी भोगे सुशोभित हो रहे थे । मन्त्री सुमित्रके हृदयमें पहले हुओकी ही चिन्ता बनी रहती थी, परंतु वह उपदेश सुनकर सुमित्र मित्रमात्र ( सूर्यस्वरूपता ) को प्राप्त हो गये । उनका हृदय-पङ्कज सूर्योदयकालके कमलकी भौति छिल उठा । वहाँ ऐठे हुए दूसरे-दूसरे श्रवियों तथा राजाओंके चित्तरूपी रम भणीभौति खुल गये थे । उनमें विवेकजित उल्लास-सा चा गया था । इतनेमें ही दसों दिशाओंको पूर्ण करती हुई मध्याह्नकालीन शङ्खचनि प्रकट हुई, जो प्रक्षयकालके मेघोंकी गर्जनाके समान गम्भीर और महासागरकी जलराशिके उद्घोषकी भौति दूरतक सुनायी देनेवाली थी । वह शङ्खनाद सुनते ही महर्षिने अपना प्रबचन बंद कर दिया । दो वर्षीतक विश्राम कर लेनेके पश्चात् जब वह घनीमूत कोलाहल शान्त हो गया, तब वसिष्ठ मुनि पुनः श्रीरामचन्द्रजीसे बोले—“धननन्दन ! आजका दैनिक प्रबचन यहाँतक कहा जा सका है । शत्रुसदम् । इसके बाद जो कुछ कहना है, उसे मैं कल प्रातःकाल कहूँगा । मध्याह्नकालमें वियगत करने वोग्य जो कर्तव्य हिनालियोंके लिये ग्राप्त है, उसे हमलोगोंको भी करना चाहिये, जिससे वह कर्म-परम्परा नष्ट न हो जाय । अतः सौभाग्यशाली राजकुमार ! तुम भी उठो । आचरचतुर श्रीराम ! स्लान, दान और पूजन आदि समस्त आचारों तथा सत्कर्मोंका अनुष्ठान करो ।”

यों कहकर महर्षि वसिष्ठ उठ गये । साथ ही राजा दशरथ भी सभासदोंसहित उठकर खड़े हो गये । राजालोग महाराज दशरथको प्रणाम करके राजमवनसे

बाहर निकले । फिर सुपत्र और दूसरे मन्त्री महर्षि वसिष्ठ तथा राजा दशरथको प्रणाम करके स्नान आदिके लिये चले गये । तदनन्तर व्र मदेव और विश्वामित्र आदि ऋषि-महर्षि वसिष्ठके आगे फरके उनकी आकाशी प्रनाशामे खड़े रहे । शत्रुघ्नोंका दमन करनेवाले राजा दशरथ मुनिसमुदायका सकार करके उनसे विदा ले अपने कर्त्त्यका सम्पादन करनेके लिये चले गये ।



वनवासी मुनि बनमें और पुरवासी मनुष्य नगरमें दूसरे दिन प्रातःकाल लौठनेके लिये चले गये । राजा दशरथ और वसिष्ठ मुनिके प्रेमपूर्वक अनुरोध करनेपर विश्वामित्रने

वसिष्ठगीके घरमें रात्रि वितायी । श्रेष्ठ माहारों, राजाओं, मुनियों तथा श्रीराम आदि समस्त दशरथ-राजकुमारोंसे श्रिरे हुए सर्वलोकवन्दिन श्रीमान् वसिष्ठजी—उसी तरह अपने आश्रमको गये, जैसे कमलयोनि ब्रह्मा देव-समुदायके साथ प्रह्लादमें पदार्पण करते हैं । तत्त्व त् अपने चरणोंपर गिरे हुए श्रीराम आदि समस्त दशरथ-राजकुमारोंको वसिष्ठजीने अपने आश्रमसे विदा किया और अपने घरमें प्रवेश करके उन उदारचेतां महर्षिने द्विजजनोचित दैनिक कृत्य—पञ्च महायज्ञोंका अनुष्टान सम्पन्न किया ।



( सर्ग १ )

श्रीराम आदि राजकुमारोंकी तात्कालिक दिनचर्या, वसिष्ठजी तथा अन्य सभासदोंका पुनः सभामें ग्रहेश, राजा दशरथद्वारा मुनिके उपदेशकी प्रशंसा तथा श्रीरामकी उनसे पुनः उपदेश देनेके लिये प्रार्थना

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—मरहाज । चन्द्रमाके समान मनोरम कान्तिवाले उन राजकुमारोंने घरमें जाकर अपने-अपने भवनमें समस्त वाहिक कृत्य पूर्णरूपसे सम्पन्न किया । महर्षि वसिष्ठ, महाराज दशरथ, अन्यान्य

राजा, मुनि तथा ब्राह्मणोंने अपने-अपने घरों तथा गलियोंमें अपने-अपने कार्योंका इस प्रकार सम्पादन किया । उन सबने जलाशयोंमें स्नान किया और ब्राह्मणोंको अपनी शक्तिके अनुसार गौ, भूमि, तिळ, सुधर्ण, शव्या,

आसन, वस्त्र और बर्तन आदिका दान दिया। सुवर्ण



और मणियोंसे बटिन होनेके कारण विचित्र शोभा धारण करनेवाले अपने धरों और देवालयोंमें उन्होंने भगवान् विष्णु, शंकर, वाणिन और सूर्य आदि देवताओंका पूजन



किया। तत्पश्चात् पुत्र, पौत्र, सुहृद, सखा, भूत्य और बन्धु-बान्धवोंके साथ अपनी इच्छिके अनुरूप भोज्य

पदार्थोंका आस्वादन किया। फिर सायंकाळनकासमय उन्होंने तकालोचित चंदा ( पुराण एवं धर्मश खके श्रवण आदि ) के द्वारा ध्यनीत किया। सूर्यस्त होनेपर उन्होंने विविधूर्वक संध्या-उन्दन, अध्यमर्षण-मन्त्रोंका जप, पर्वत्र स्तोत्रोंका पाठ और मनोहर गाथाओंका गान किया। फिर धीरे-धीरे वे रघुवंशी राजकुमार दीर्घ चन्द्रविम्बके समान रमणीय शश्याओंपर, जहाँ छल विडाये गये थे और मुहियोंसे कपूरका चूर्ण विलेता गया था, सोये।

तदनन्तर प्रातःकालके त्यर्योपके साथ चन्द्रमाके समान सुन्दर मुखशाले श्रीरामचन्द्र जी शब्दामे उठे, मानो कमलमण्डन सरोवरसे प्रफुल्ल कल्पु प्रकट हो गया हो। तत्पश्चात् प्रातःकालकी स्नानविधि सम्पन्न करके संध्याकृदन आदिसे निष्टृत हो योदेसे परिवर्तनोंके बागे भेजकर पीछे स्वयं श्रीराम भी माइयोंके साथ वसिष्ठजीके निवासस्थानपर गये, मुनिवर वसिष्ठ एकान्तमें समर्पितगाये बैठे थे और परमात्म का चिन्तन न रने थे। श्री गमने



दूरसे ही कीचा हुकाकर मुनिको प्रणाम किया। उन्हें प्रणाम करके वे विनयगुरु राजकुमार तबतक उस धौंगनमें बैठे रहे, जबतक अन्धकारका नाश होकर दिग्गंबनायोंका मुखमण्डल स्पष्ट दिखायी न देने लगा।

तःनन्तर अनेक राजा, राजकुमार, श्रृणि और ब्राह्मण मौन प्रावसे वसिष्ठजीके निशासस्थानपर आये। ऐसा छाता था मानो देवता लोग ब्रह्मलोकमें एकत्र हो रहे हों। वसिष्ठजीका वह निशासस्थान समागत जन-समुदायसे भर गया और राजाओंके संघणसे राजमननके समान सुशोभित होने लगा। फिर एक ही क्षणमें भगवान् वसिष्ठ समाख्यसे वित्त हुए और अपने चरणोंमें प्रणत हुए लोगोंको उपचित आचार एव उपचारसे अनुगृहीत करने लगे। तथ्यशात् मुनियों और विश्वामित्रजीके साथ श्रीमान् मुनिवर वशिष्ठ उसीप्रकार सहसा रथपर आरूढ़ हुए, जैसे कमलयोने ग्रसा



कर्मनके आसनपर विराजमान हुए हों। राजाके महलमें पहुँचकर उँग्हीने नतमस्तक हुई राजा दशरथकी उस रमणीय सभ में प्रवेश किया। उस समय मङ्गवीर राजा दशरथ नुर्त अपने सिंहसनसे उठकर मुनिके स्वागतार्थी तीन पग आगे बढ़ आये थे। लदनन्तर वहाँ दशरथ आदि भगव्य नरेशों, वसिष्ठ बादि शूरियों, ब्राह्मणों, सुभन्त्र शादि मन्त्रियों, मांध्य आदि विद्वनों, श्रीराम आदि राजकुमारों, शुभ आदि मन्त्रिपुत्रों, मन्त्री आदि प्रकृतियों, सुहोत्र आदि नागरिकों, मालव आदि मृत्यों तथा पौर आदि मालियोने सभामें प्रवेश किया।

तथ्यशात् जब वे सब-के-सब अपने-अपने आसनपर बैठ गये, उन सबकी हृषि वसिष्ठजीके मुखर्का ओर लग गयी और सभाका कोलाइल शान्त हो गया, तब राजा दशरथने मेघ-र्जनके समान गम्भीर वाणीहारा मुनिके उपदेशमें विश्वास प्रकट करनेवाली पदावलियोंसे युक्त वह सुन्दर वक्षन मुनीश्वर वसिष्ठजीसे कहा—  
‘भगवन् ! कल आपने जो आनन्ददायिनी विशद वचनावली मुनायी थी, उससे हमलोगोंको ऐसा आशासन मिला मानो हमारे ऊपर अमृतराशिकी वर्षा हुई हो। जैसे अमृतराशिसे पूर्ण चन्द्रमाकी निर्मल किंतु वे अन्धकार-को हटाकर अन्तःकरणको शीतल कर देती हैं; उसी प्रकार आप-जैसे महालालोंके अमृततुल्य मधुर और निर्मल ये उपदेश-वाक्य अज्ञानान्यकारको दूर करके श्रोताओंके अन्तःकरणको परम शान्ति प्रदान करते हैं। जैसे शीतरहिम शशिकी किंतु अन्धकार-राशिको दूर कर देती हैं, उसी तरह मजननोंके सदुपदेश मनके दुर्बिंचारोंतथा शरीरकी सारी दृश्येष्टाओंको मिटा देते हैं। मुने ! जैसे शरद-ऋतुमें वर्षाके काले मेघ क्षीण होने लगते हैं, उसी प्रकार हमारे तृणा और लोभ आदि दोष जो संसारमें बौधनेके लिये शृङ्खलारूप हैं, आपके उपदेश-वाक्यसे क्षीण हो चले हैं। आपके उपदेशरूपी शरद-ऋतुसे हमारे दृद्याक्षराशमें स्थित ससार-वासना नामक कुहरा अब क्षीण होने लगा है।’

श्रीवसिष्ठजीने कहा—‘शुनन्दन ! महामते ! मैंने पूर्वापर-विचारसे युक्त जो वाच्यार्थ तुम्हारे समक्ष उपस्थित किया था, क्या तुम्हें उसका समरण है ? साधुवादके एकमात्र माजन साधुपुरुष ! क्या तुम्हें समरण है कि यह जगत् सर्वशक्तिसम्पन्न पञ्चक्ष पञ्चमामासे किस प्रकार प्रकट हुआ है ! श्रीगम ! बारबार विच रपूत्रक दृद्यमें दृद्यतापूर्वक स्थापित किया हुआ तत्त्वज्ञान मनुष्यको मोक्षरूप सिद्धि देता है, किन्तु जिसने उपदेशसे प्राप्त हुए तत्त्वचिन्तनको अवहेलनावश नष्ट कर दिया—

मुख दिया, उस भनुष्यको उससे मोक्षरूपी फल नहीं प्राप्त होता । रुद्रनन्दन । जैसे विशाल वक्ष स्थलवाला घनव न् पुरुष अपने कण्ठमें उत्तम जातिके मोक्षियोंकी माला धारण करनेका अधिकारी होता है, उसी प्रकार जिसका इदय विवेकसे सम्पन्न है, वह त्रुभूरेजैसा पुरुष ही सुविचारित एवं विशुद्ध उपदेश-वचनोंका योग्य पात्र होता है ।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज ! कमलासन ब्रह्माजीके पुत्र महातेजस्वी श्रीषसिष मुनिने जब श्रीरामचन्द्रजीको इस प्रकार कुछ बोलनेका अवसर दिया, तब वे इस प्रकार बोले ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन् ! सम्पूर्ण धर्मोंके छाता मुनीश्वर ! मैं परम उदाहर होकर जो आपके उपदेशको समझ सका हूँ, यह आपके ही प्रभावका विस्तार है । आप मेरे लिये जो-जो आदेश देते हैं, वह सब मैं उसी रूपमें ग्रहण करता हूँ, उसके विपरीत कुछ नहीं करता । उदारवृद्धय महर्ये ! आपने पहले जो मनोहर, पुण्यमय और पवित्र उपदेश दिया है, वह सब मैंने आपने अन्तःकरणमें क्रमशः धारण कर लिया है—ठीक

उग्री तरह, जैसे कोई सुन्दर और पवित्र रहनमयूहको मालाके रूपमें गूँथकर अपने कण्ठमें धारण कर ले । आपका अनुशासन हितकारक, मनोरम, पुण्यदायक और परमानन्द-ग्राहिका साधन है । मला, कौन ऐसे सिद्ध पुरुष है, जो इसे शिरोधार्य नहीं करेंगे । आपका यह पवित्र उपदेश पहले श्रवणकालमें ही परम मधुर लगता है, फिर मध्यकालमें—मनन और निदिध्यासनके समय शम आदि के सौभाग्यकी वृद्धि करता है तथा अन्तमें परम उत्तम मोक्षरूपी फलकी प्राप्ति करनेवाला होता है । आपका उपदेश कल्पवृक्षके पुष्पकी गाँति सदा विकासमुक्त, उज्ज्वल, अम्बान, शुभ और अशुभ—देव दानव, सभीको आनन्दमय बना देनेवाला और अक्षय शोभासे सम्पन्न है । यह हम सब लोगोंको अपीष फल देनेवाला हो । भगवन् ! आप सम्पूर्ण शाश्वोंके विचारमें विश्वारद हैं । विस्तृत पुण्यरूपी जगत्वाशिके एकमात्र महान् सरोकर हैं । महान् व्रतधारी और पाप-तापसे रहित हैं । इस समय मेरे प्रति आप पुनः अपनी उपदेश-शाणीके प्रवाह-का प्रसार कीजिये—सदुपदेशरूपी अवृतका निर्वाह बहाइये ।

( सर्ग २-४ )

## संसाररूपा मायाका भित्यात्म, साधनाका क्रम, आत्माके अज्ञानसे हुःख और ज्ञानसे ही सुखका कथन, आत्माकी निर्लेपता और जगत्की असत्ताका प्रतिपादन

श्रीषसिषजीने कहा—परम सुन्दर आकृतिवाले रुद्रनन्दन ! अब तुम साधवान होकर इस उपशम-प्रकरण-को सुनो, जो उत्तम सिद्धान्तोंके कारण-सुन्दर और मोक्ष-प्रद होनेके कारण हितकारक है । श्रीराम ! जैसे सुदृढ़ हुमें मण्डपको धारण करते हैं, उसी तरह राजसनामस और सदा तम विशाल संसार-मायाको धारण करते हैं । शाश्वोंके अम्यात्म, माङ्ग-पुरुषोंके सङ्ग तथा सत्त्वमोंके अनुष्ठानसे जिनके पाप नष्ट हो गये हैं, उन्हीं पुरुषोंके अन्तःकरणमें प्रज्ञाति दीपकके समान सार वस्तुका दर्शन करनेवाली उत्तम बुद्धि उत्पन्न होती है । खय-

ही विवेक-विचारद्वारा आपने स्वरूपकी पर्यालोचना करके जबतक उपर्याप्त यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त किया जाता, तबतक हेतु वस्तुकी उपलब्धि नहीं होती । जो यस्तु आदि और अन्तमें भी नहीं है, उसकी सत्यता यहीं है । जो वहु आदि और अन्तमें भी नित्य है, वही सत्य है, दूसरी नहीं । आदि और अन्तमें भी जिसकी सत्ता नहीं है, ऐसी प्रेष्या वस्तुमें जिसका मन आसक्त होता है, उस मह वक्तुवृत्त्य जन्मके इदयमें किस उपायसे विवेक पैदा किया जा सकता है ।

रघुनन्दन ! पहले शास्त्रके अभ्याससे, उत्तम वैराग्यसे तथा सपुत्रोंके सम्मानसे मनको पवित्र करना चाहिये । सौमन्यसे युक्त चित्र जब वैराग्यको प्राप्त हो जाय, तब शास्त्रोंके ज्ञान-विज्ञानसे गैरवशाली गुरुजनोंका अनुसरण करना चाहिये । किर गुरुदेवके बताये हुए मार्गसे पहले सरुण परमेश्वरका व्याम-पूजन आदि करे । यों अनेकों साधक उस परम पावन परमारम्पदको प्राप्त होता है । अपने अन्तःकरणमें निर्मल विचारके द्वारा खय ही आत्मा-का साक्षात्कार करे । मनुष्य तबतक संसाररूपी महासाम्राज्यमें तिनकोंके समान बहता रहता है, जबतक वह बुद्धिरूपी नौकाद्वारा विचाररूपी तटपर पहुँचकर स्थिर नहीं हो जाता । जिसने विवेक-त्रिचारके द्वारा जानने योग्य वस्तुओं जान लिया है, उस पुरुषकी बुद्धि उसकी सारी मानसिक चिन्ताओंको उसी तरह शान्त कर देती है, जैसे मुख्यर जड़ बालुके कणोंको नीचे दबा देता है । जैसे मुकुर्णका ज्ञान रखनेशाला मुनार राखमें पढ़े हुए सोनेको घाय सोना है, यह राख है' इस तरह साफ-साफ समझ लेता है, असः उसे मुकुर्णकी अप्राप्तिके कारण होनेशाला मोह नहीं सताता, उसी तरह यह जीव विरक्तालतक विचारद्वारा अपने लक्षणका परिज्ञान कर लेनेपर स्वतः अपने अविमाशी स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है । इस दशामें उसके लिये यहाँ मोहका अशसर ही कहाँ रह जाता है । जिस पुरुषने तत्त्वका यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त किया है, उसका मन यदि मोहप्रसा होता है तो हो । किन्तु जिसे सारतस्थका यथार्थ ज्ञान हो चुका है, उसमें तो मूढ़नाकी सम्भावना ही नहीं है—यह वाम निष्क्रित रूपसे कही जा सकती है । जगत्के लोगो ! जिसका यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ, वह आत्मा ही हुम्हारे दुःखोंकी सिद्धिका कारण है । यदि उपका ठीक-ठीक ज्ञान हो जाय तो वह तुम्हें अक्षय सुख एवं शान्ति दे सकता है । मनुष्यो ! जिसने आत्मापर आवरण ढाढ़ रखा है, ऐसे इस करीरसे मिलेन्हुले हुए-से अपने आत्माका विवेक-

द्वारा साक्षात्कार करके तुमलोग शीघ्र स्वस्य हो जाओ । मानवो ! जैसे कीचड़में गिरे होनेपर भी सोनेका उस कीचड़के साथ तनिक भी सम्बन्ध नहीं रहता, उसी प्रकार इस निर्मल आत्माका देहके साथ थोड़ा-सा भी सम्बन्ध नहीं है । प्रबुद्ध हुआ मन जब अपनी पारमार्थिक स्थितिको मिथ्याभूत प्रपञ्चसे पृथक् करके देखता है, तब दृद्यका अज्ञानान्धकार उसी प्रकार भाग जाता है, जैसे सूर्योदय होनेपर रात्रिका अंधेरा दूर हो जाता है ।

जैसे धूलसे आकाश और जलसे कमल लिस नहीं होता, उसी प्रकार शरीरोंसे सम्बन्ध होनेपर भी आत्मा उनसे लिस नहीं होता । जैसे नेत्रदोषके कारण आकाशमें विन्दुओंके समान आकृतिवाले तिरमिरे दिखायी देते हैं और आकाशके निर्मल होनेपर भी उसमें मलिनताकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार आत्मामें सुख-दुःखका अनुभव मलिन बुद्धि-वृत्तिरूप अज्ञानके कारण ही होता है । सुख और दुःख न तो जड़ देहके धर्म हैं और न सर्वातीत विशुद्ध आत्माके । ये अज्ञानके कारण ही अज्ञानीके अनुभवमें आते हैं और यथार्थ ज्ञानके द्वारा अज्ञानका नाश हो जानेपर किसीके भी अनुभवमें नहीं आते । रघुनन्दन ! वास्तवमें न तो किसीको कुछ सुख है और न किसीको कुछ दुःख ही है । सबको शान्त, अनन्त आत्मरूप ही देखो । ये जो विस्तृत सृष्टियोंके दर्शन होने हैं, इन्हें जलमें तरङ्गों और आकाशमें भौतिकोंके समान आत्मामें ही देखना चाहिये । अर्थात्, जैसे जल ही तरङ्गरूपमें दीखता है, उसी प्रकार ब्रह्म ही जगत्के रूपमें दृष्टिगोचर होता है तथा जैसे नेत्रोंके दोपसे मनुष्यको आकाशमें मधूर-पुच्छ-सा दिखायी देता है, पर वास्तवमें वह वहाँ होता नहीं, उसी प्रकार यह संसार वस्तुतः न होनेपर भी अज्ञानके कारण परमात्मामें हीहोता है । सच्ची बात तो यह है कि एक-मात्र ब्रह्मके सिवा दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं ।

शुद्ध बुद्धिवाले रघुनन्दन ! आत्मा और जगत् न

तो एक हैं और न अनेक ही हैं; क्योंकि जगत् असत् है वर्याच ब्रह्मके सिवा दूसरी कोई वस्तु न होनेसे हैत भी नहीं है तथा ब्रह्मसे संसार पृथक् दीखता है, इनलिये एक यी नहीं कहा जा सकता। वास्तवमें अज्ञानके कारण अज्ञानी नो बिना हुए ही यह संसार प्रतीन हो रहा है। निष्पाप श्रीराम। यह सब निष्पाप ही ब्रह्म है। इस प्रकार सब परमात्मा ही है। वही सर्वत्र व्याप हो रहा है। मैं पृथक् हूँ और यह जगत् मुझसे पृथक् है, इस अमर्गुण कल्पनाका परिस्थिति करो। जैसे अनिमें हिमकणकी कल्पना नहीं हो सकती, उसी प्रकार एक-मात्र अद्वितीय सर्वस्वरूप सच्चिदानन्दधन परमात्मतत्वमें उससे मिल दूसरी वस्तुकी कल्पना ही नहीं हो सकती। रघुनन्दन। इस परमात्मामें न शोक है न मोह है, न जन्म है और न कोई जन्म लेनेवाला ही है। यहाँ

जो है, वही है—ऐसा निष्पाप करके तुम दुःख-सूख आदि दृन्दोंसे रहित, निष्पाप सत्त्वमें स्थित, शोगदेहरहित, अद्विनीय, शोकशून्य और संतापहीन हो जाओ। परम घुन्दर श्रीराम। इस समस्त विस्तृत संसारकी रचना अस्त्वरूप है। इसकी असत्त्वताको जाननेवाला तत्त्वज्ञानी पुरुष इस मिल्यामूल प्रथश्वके पीछे नहीं दौड़ता। तुम तत्त्वह हो। तुम्हारी कल्पनाएँ शान्त हैं। तुम रोग-दोषसे रहित हो और निष्पाप प्रकाशस्वरूप हो; अतः शोक-शून्य हो जाओ। अपने समस्त गुणोंसे राजाओं तथा प्रजाजनोंको आनन्दित करते हुए तुम इस भूतलघुर पिलाके दिये हुए इस एकच्छुत्र राज्यका चिरकालतक सर्वत्र समतापूर्ण दृष्टिके द्वारा भलीभौति पालन करते रहो; यहाँ कर्मोंका न तो त्याग उचित है और न उनमें राग होना ही उचित है। ( सर्ग ५ )

### कर्तव्य-बुद्धिसे अनासक्त एवं सम रहकर कर्म करनेकी प्रेरणा, सकाम-कर्मोंकी दुर्गति और आत्मज्ञानीकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन तथा राजा जनकके द्वारा सिद्धगीताका अवण

श्रीविष्णुजी कहते हैं—श्रीराम! मैं श्रुति, सूति और सदाचारसे युक्त समस्त व्यवहारको वासनाशून्य होकर करता हूँ—इस प्रकार जो पुरुष कर्तव्य-बुद्धिसे कार्योंमें प्रवृत्त होता है, वह मुक्त है। ऐसी मेरी मान्यता है। मानव-शरीरका आश्रय लेकर भी कोई मूळ पुरुष सकामभावसे कर्मोंमें रत है, इसलिये वे खर्गसे नरकमें और नरकसे पुनः खर्गमें आते-जाते रहते हैं। कुछ लोग न करनेयेग्य कर्मोंमें आसक्त हैं और करनेयेग्य कर्तव्यसे विरत हैं; ऐसे पुरुष मरकर नरकसे नरकलो, दुःखसे दुःखको और भयसे भयको प्राप्त होते रहते हैं। उनमेंसे कितने ही जीव अपने वासनारूप तनुओंसे बँधे रहकर उपर्युक्त कर्मोंके फल भोगते हुए निर्यग्-योनिसे स्यावरयोनिको और स्यावरयोनिसे निर्यग्-योनिको आते-जाते रहते हैं। कोई-कोई ही मनके साक्षी आत्माका विचारके द्वारा अनुभव करके तुष्णारूपी अन्वनको

तोड़कर परम कैमस्त्वरूप पदको प्राप्त होते हैं। ऐसे आत्मज्ञानी पुरुष धन्य हैं। ऐसे पुरुषोंका श्रेष्ठता, भगवान्मता, मैत्री, सौभ्यमात्र, कल्पणा और ज्ञान आदि समूग सदा ही आश्रय लेते हैं। जो पुरुष समस्त कार्योंको कर्तव्य-बुद्धिसे करता रहता है तथा उन कार्योंके फलके पुष्ट या नष्ट होनेपर सब कार्योंमें समभाव रखता हुआ हर्य और शोकके वशीभूत नहीं होता, उसके भीतर सारे हन्द उसी तरह मिट जाते हैं, जैसे दिनमें अन्धकार।

श्रीराम। विदेह देशमें जनक नामसे प्रसिद्ध एक पराक्रमी राजा राज्य करते थे, जिनकी सारी आपत्तियाँ नष्ट हो चुकी थीं और सम्पत्तियाँ दिनों-दिन बढ़ रही थीं। उनका हृत्य बड़ा उदार था। वे याचक-सम्बोंके लिये कल्पवृक्ष थे ( उनकी सारी इच्छाएँ पूर्ण करते थे, मित्ररूपी कर्मोंको विकसित करनेके

लिये सर्वदेवके समान थे ), बन्धु-आश्वरूपी दृढ़ोंके विकासके लिये ऋतुराज वसन्तके तुल्य थे, ग्राहणरूपी कुमुदोंके लिये शीतराशि चन्द्रमा थे और मणवान् विष्णुके समान प्रजाकर्त्तके पालनमें तत्पर रहनेवाले थे । एक दिनकी बात है, वे वसन्त ऋतुमें खिले हुए पुष्पोंसे सुशोभित रमणीय उपवनमें गये । उस मनोरम उद्यानमें अनुचरोंको दूर रखकर राजा पर्वतशिखरपर उगे हुए कुञ्जोंमें विचरण करने लगे । कमलनयन श्रीराम ! वहाँ विसी तमाल-बनके निकुञ्जमें कुछ सिद्ध पुरुष बैठे हुए थे, जो दूसरोंको दिखायी नहीं देते थे । पर्वतों और उनकी कन्दराओंमें विचरनेवाले वे सिद्ध सदा एकान्त स्थानमें निवास करते थे । उनके मुखसे कुछ ऐसे उपदेशाखक गीत निकले, जो श्रोताके हृदयमें परमात्माको जगानेवाले थे । राजाने उन गीतोंको सुना, मानो वे उन्हींपर अनुग्रह करनेके लिये गये गये थे । उन गीतोंके भाव क्रमशः इस प्रकार है—

कुछ सिद्ध बोले—दृष्टाका नेत्र आदि इन्द्रियोंद्वारा जो हृदय—विषयके साथ सयोग होता है, उससे जो विश्व-सुखकी प्रतीति होती है, उसके द्वारा बुद्धिवृत्तिमें स्वर्ण सहज आनन्दरूपसे जो निश्चय प्रकट होता है, वही जिसका स्वमान है तथा जो आत्मतत्त्वके परिशोधसे निरतिशय भूमारूपमें आविर्भूत हुआ है, उस विशुद्ध आत्मा या परमात्माकी हम निश्चय समाधिके द्वारा उपासना करते हैं ।

दूसरे सिद्ध बोले—शासनासहित दृष्टि, दर्शन और हृदयकी त्रिपुटीको त्याग देनेपर जो विशुद्ध दर्शन या ज्ञानके रूपमें प्रकाशित होता है, उस विशुद्ध आत्माकी हम उपासना करते हैं ।

अन्य सिद्धोंने कहा—अस्ति और नास्ति—इन दोनों पक्षोंके बीचमें उनके साक्षीरूपसे जो सदा विद्यमान

है, प्रकाशनीय वस्तुओंको प्रकाशित करनेवाले उन परमात्माकी हम उपासना करते हैं ।

दूसरे सिद्ध बोले—जिसमें सब है, जिसका सब है, जिससे सब है, जिसके लिये यह सब है, जिसके द्वारा सब है तथा जो स्वयं ही सब कुछ है, उस परम सत्य आत्माकी हम उपासना करते हैं ।

अन्य सिद्धोंने कहा—जो अकारसे लेकर हक्कारतक समस्त वर्णोंके रूपमें स्थित हो निरन्तर दृच्छारित हो रहा है, अपने आत्मरूप उस परमात्माकी हम उपासना करते हैं ।

दूसरे सिद्ध बोले—जो हृदय-गुफामें विराजमान दीप्तिमान् परमेश्वरको छोड़कर दूसरेका आश्रय लेते हैं, वे हाथमें आये हुए कौस्तुम मणिको त्यागकर दूसरे तुच्छ रूपोंकी इष्टा करते हैं ।

अन्य सिद्धोंने कहा—सम्पूर्ण आशाओंका स्वाग करनेपर हृदयमें स्थित ज्ञानका फलरूप यह ब्रह्म प्राप्त होता है, जिससे आशारूप विष-बह्लीकी मूल-परम्परा ही कट जाती है ।

दूसरे सिद्ध बोले—जो दुर्विद्वि पुरुष भोग्यपदार्थोंकी अपन्त नीरसताको जानकर भी उनमें बारंबार अपने मनकी भावनाको बौधला है वह मनुष्य नहीं, गदहा है ।

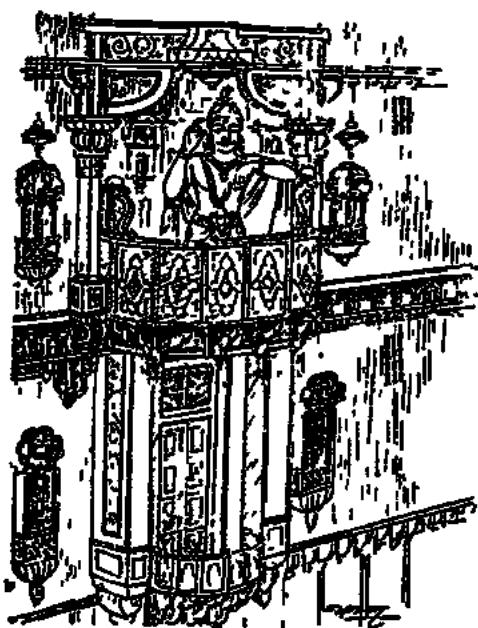
अन्य सिद्धोंने कहा—जैसे इन्द्रने ब्रह्मके द्वारा पर्वतोंको मारा था, उसी प्रकार बारंबार उठने और गिरने-वाले इन हन्द्रियरूपी सर्पोंपर विवेकरूपी ढड़ेसे प्रहार करना चाहिये ।

दूसरे सिद्ध बोले—उपशम या शान्तिके पक्षिन सुखको प्राप्त करना चाहिये; जो उत्तम शम ( मनोनिप्रह ) से सम्मन है, उस पुरुषका विशुद्ध चित्त ही शान्तिको प्राप्त होता है । जिसका चित्त शान्त हो गया है, उसीको अपने परमानन्दमय स्वरूपमें दीर्घकालके लिये उत्तम स्थिति प्राप्त होती है ।

( सर्ग ६-८ )

**सिद्धोंके उपदेशको सुनकर राजा जनकका एकान्तमें खित हो संसारकी नशरता एवं आत्माके विवेक-विद्वानको स्वचित करनेवाले अपने आत्मरिक उद्धार एवं निष्ठयको प्रकट करना**

भीतसिष्ठजी कहते हैं—खुनन्दन ! उन सिद्धगणोंके मुखसे निकले हुए उन उपदेशात्मक गीतों ( बचनों ) को सुनकर राजा शीघ्र ही निर्वेदको प्राप्त हो गये । वे अपने साथके सब लोगोंको बरकी और खींचते हुए उस उपबनसे चले और समस्त परिशारको अपने-अपने स्थानपर छोड़कर अकेले ही अपने ऊँचे महलपर चढ़ गये । वहाँ



लोककी वर्तमान अवस्थाओंका अवलोकन करते हुए वे व्याकुल हो इस प्रकार अपना उद्धार प्रकट करने लगे—  
‘हाय ! वहे हुःखकी बात है कि जन्म, जरा, रोग और मरण आदिके कारण समस्त लोकोंकी जो अत्यन्त कष्टप्रद व्याकुल दशाएँ हैं, उन्हींमें वल्लभीक्लोट-रोट रहा हूँ—  
आशागमनके चक्रमें पड़ा हुआ हूँ । जिस कालका कभी अन्त नहीं होना, उसका एक अस्त्यन्त अल्पतम अंक मेरा जीवन है । उस क्षणिक जीवनमें मैं आसक हो रहा हूँ, अपने मनको बोधे रखता हूँ । केवल जीवन-कालक रहनेवाला मेरा यह राज्य कितना है ? कुछ भी

तो नहीं है ! परंतु इतनेसे ही संतुष्ट होकर मैं मूर्ख मनुष्यके समान क्यों निश्चिन्त बैठ हूँ ?—मुझे अपनी इस मृदुतापर हुँ-ख क्यों नहीं होता ? इस जगतमें ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं, जो सत्य हो, रमणीय हो, उदार हो और किसीसे उत्पन्न न होकर निष्ठ निर्विकाररूपसे स्थित हो । फिर मेरी दुदि यहाँ किसमें छगे ?—कहाँ शान्ति प्राप्त करे ? जो वस्तु दूरस्थ कही जाती है, वह भी वास्तवमें दूर नहीं है; क्योंकि वह मेरे मनमें वर्तमान है । ऐसा निष्ठय करके मैं बाढ़ पदार्थोंकी भाषणा ( चिन्तन ) का त्याग कर रहा हूँ । प्रतिष्ठर्ष, प्रतिमास, प्रतिदिन और प्रतिक्षण जो हुःखसे मेरे हुए सांसारिक सुख बाबार उपलब्ध होते हैं, वे वास्तवमें हुःखरूप ही हैं । आज जो वडे-वडे लोगोंके सिरपौर बने हुए हैं वे ही कुछ दिनोंमें नीचे गिर जाते हैं । ऐ मेरे अभागे चित्त ! फिर इस जगतकी महसामें तुम्हारा यह कैसा विकास है ? यद्यपि मैं दुदिमान हूँ, तो भी जैसे सूर्योदेवके समक्ष उनके प्रकाशको ढक लेनेवाला काला मेघ आ जाता है, उसी प्रकार मेरे सामने यह आत्माके प्रकाशको छिपा देनेवाला मोह सहसा कहाँसे आ गया ? ये महान् भोग मेरे कौन है ? ये माई-बन्धु भी मेरे कौन है ? जैसे बालक मिथ्या ही भूतके मयसे झ्याकुल हो उठता है, उसी प्रकार मैं इनमें ममतालगी झूठे सम्बन्धकी कल्पना करके व्याकुल हो रहा हूँ ।

‘मैं इन मोगों और सम्बन्धियोंमें स्वय ही यह आत्मा क्यों बौध रहा हूँ ? यह आत्मा तो जरा और मृत्युकी सहेली है—उनकी प्राप्ति करनेवाली है । साय ही सदा उद्गममें डाले रखनेवाली है । यह भोगों और वस्तु-वान्धवोंका समर्प्ति चली जाय या भयीमौति स्थिर होकर रहे, इसके प्रति मेरा क्या आग्रह है ? बल्में उठनेवाले बुद्धुदकी शोभा जैसे मिथ्या होता है, उसी तरह यह

मोग आदि सम्पत्ति, जो इस रूपमें उपस्थित हुई है, मिथ्या हो है । प्राचीन नरेशोंके वे महान् वैभव, वे मोग और वे अच्छे-अच्छे स्नेही बन्धु-बान्धव आज कहाँ हैं? वे सब इस समय स्मृतिपथको प्राप्त हो गये हैं—अब उनका केवल स्मरणमात्र यहाँ शेष रह गया है । वे खल्पतः विषमान नहाँ हैं । इस दृष्टान्तको समाने रखते हुए वर्तमान मोग आदि सम्पत्तिपर भी क्या आस्था हो सकती है? पूर्ववर्ती भूमिपालोंके वे धन कहाँ हैं? पूर्वकल्पोंमें ब्रह्मायीने जिनकी सृष्टि की थी, वे जगत् कहाँ चले गये? जब पहलेका सब कुछ नष्ट हो गया, तब आजके इन वैभव-मोर्गोंपर मेरा यह कैसा विश्वास है? जैसे जलमें अनन्त बुद्धिमत्त उठते और बिलीन होते हैं, उसी तरह लाखों इन्द्र कालके गालमें चले गये, तो मैं इस जीवनमें आस्था बौधि बैठा हूँ । साधु पुरुष मेरी इस गृहता-पर हँसते । करोड़ों ब्रह्मा चले गये । कितनी ही सृष्टि-परम्पराएँ आयी और चली गयीं । असंख्य भूगोल घूलके समान उड़ गये । फिर मेरे इस तुष्ण जीवनपर क्या आस्था हो सकती है? यह, वह और मैं—यह तीन प्रकारकी कल्पना अस्थरूप ही है । अहंकारकृपी पिशाचसे ग्रस्त हुए मनुष्यकी भाँति मैं क्यों अवतक मूर्खके समान विचारशून्य होकर बैठा रहा? मैं इस व्याप्त हुई कालकी सूक्ष्म रेखासे प्रतिक्षण नष्ट होनेवाली अपनी आयुको देखता हुआ भी नहीं देखता! यथपि दिन-प्र-दिन निरन्तर अब मैं आटे-जाते रहते हैं; फिर मौ आजलक एक दिन भी ऐसा नहीं देखा, जिसमें मुझे नित्य एक सत्य परमात्मवस्तुका साक्षात्कार हुआ हो । मैं कहसे भी अत्यन्त कष्टको प्राप्त हुआ, एक दुःखसे दूसरे महान् दुःखमें फँसता गया; परंतु आज मौ इस जगत्के भोगोंसे विरक्त नहीं हुआ । जिन-जिन सुन्दर वस्तुओंमें मैंने दृढ़तावृक्षक स्नेह बौधा, वे सब-की-सब नष्ट होती दिखायी दीं । फिर इस संसारमें उत्तम वस्तु क्या है? मनुष्य जगत्के जिन-जिन पदार्थोंमें आस्था बौधता है—विश्वास करता है, उन-उन पदार्थोंमें

उस मनुष्यके दुःखका प्रादुर्भाव बारंबार देखा गया है । मह मनुष्य वास्तवस्थामें एकमात्र अज्ञानसे पीड़ित रहता है, युवावस्थामें कामदेवके बाणोंसे घायल रहता है तथा अन्तिम अवस्थामें जी आदि कुदूस्वके पालन-पौष्ट्रणकी चिन्तासे जलता रहता है । भला, अपने उद्धारका साधन वह कब करे? दुर्बुद्धि पुरुष इस उत्पत्तिविनाशशील, रसहीन, विषम दुर्दशाओंसे दूषित तथा असार संसारमें क्या सार वस्तु देख रहा है? कोई सामर्थ्यशाली पुरुष राजसुय और अस्वेष आदि सैकड़ों यज्ञोंका अनुष्ठान करके मी अधिक-से-अधिक महाकल्पपर्यन्त उपमोगमें आनेवाले सुर्गको ही पाता है, जो महाकालकी दृष्टिसे उसका एक अत्यन्त अल्पतम अंश है । स्वर्गसे अधिक जो अनन्त, नित्य विज्ञानानन्दवन ग्रह है, उसकी प्राप्ति उसे नहीं होती । कौन-सा वह सर्ग है और इस पृथ्वीपर या पातालमें कौन-सा ऐसा प्रदेश है, जहाँ दुष्ट भ्रमरियोंकी भोति ये आपस्त्रियाँ जीवको अभिमूत नहीं करतीं । ये आधियाँ ( मानसी व्ययाएँ ) अपने ही चित्तरूपी विलम्बे रहनेवाले सर्प हैं और ये व्याधियाँ शरीररूपी स्वल्पके खुदे हुए क्षुद्र जलशय हैं । इनका निवारण कैसे किया जा सकता है ।

‘सत् ( वर्तमानकालिक दृश्य ) के सिरपर असत्ता ( विनाशशीलता ) बैठी है । रमणीय पदार्थोंके मस्तक-पर अरम्यता विराज रही है और सुखोंके माध्येपर दुःख चढ़े हुए हैं । भला, इनमें कौन-सी ऐसी एकमात्र सत्य वस्तु है, जिसका मैं आश्रय लूँ? ( तात्पर्य यह कि ये सभी वस्तुएँ मिथ्या हैं ) अज्ञानसे मोहित शुद्र प्राणी जन्म लेते और मरते हैं । यह पृथ्वी उन्हीं लोगोंसे ठसा-ठम भरी है । जो साधुओंसे भी बदकर साधु हैं, ऐसे महापुरुष इस संसारमें दुर्लभ हैं । नील कमलके समान मनोहर और भ्रमरके समान चक्रल नेत्रशाली जो उक्षुष्ट प्रेमसे विमूर्पित विलासिनी बनिताएँ हैं, वे भी क्षणभ्रुन द्वानेके कारण उपहासके ही योग्य हैं । संसारमें रमणीयसे

भी रमणीय और सुसिरसे भी सुस्थिर पदार्थ है, किंतु यह सारी पदार्थ-सम्पत्ति अन्ततोगत्वा चिन्ना और दुःखका ही कारण होती है। फिर तुम उसकी इच्छा क्यों करते हो ? वे क्षी, धन और गृह आदि विवित्र सम्पत्तियों यदि चित्तसे बादरणीय हों तो वे भी बहुत प्रथमोंसे प्राप्त करने योग्य, दुःखसे रक्षणीय तथा अवश्य विनाशशील होनेके कारण महाविपर्तिरूप ही हैं—ऐसा मेरा मत है। किंतु यदि धन, सम्पत्ति और बन्धुजनोंसे वियोगरूप आपत्तियों भी साधुसङ्ग, नपस्या और ज्ञान आदिकी प्राप्ति करने देनेके कारण विवित्र एवं कल्याणकारिणी हैं—ऐसा मनमें विश्वास हो जाय तो वे भी विवेक-वैराग्य आदि महान् आर्थ्योंसे युक्त सम्पत्तियों ही हैं—ऐसा मैं मानता हूँ। समुद्रमें प्रतिविभित्ति अन्दमाकी भौति क्षण-भूत, मिथ्यारूप, एकमात्र मनका परिणामस्थरूप जो यह जगत् है, इसमें ‘यह मेरा है’ यह अपूर्व पद-वाक्यरूप वक्ष्यरमाण कहाँसे आयी ? अर्थात् इसमें मरता करना व्यर्थ है। अनिकी शिखाओंमें आसक्त हुए फतिंगोंकी भौति मैं देश, काल और वस्तुसे सीमित तथा विविध तापोंसे संतत किन सुख-नामक दृष्टियोंमें अनुरक्त हो रहा हूँ। निरन्तर दग्ध करनेवाली दौत्तर नरककी आगमें लौटना विच्छाहा है, परंतु सुख-दुःखके परिवर्तनसे युक्त विषययोग-रूप संसारमें रहना अच्छा नहीं। ससार ही समस्त दुःखोंकी चरम सीमा कहलाता है। उसके भीतर पहुँच हुए शरीरमें सुखकी प्राप्ति कंसे हो सकती है। जो वास्त

आकारमात्रसे रमणीय प्रतीत होनेवाली किंतु विनाशकी प्राप्ति करनेवाली है, मनस्ती बंदरकी उन चपलतारूप वृत्तियोंका अनुभव हो जानेपर मैं आजसे ही इनमें रमण नहीं करूँगा। जो सेकड़ों आशारूपी पाशोंसे थोतप्रोत तथा अधोगति, ऊर्ध्वगति एवं संतापको देनेवाली है, उन ससारकी वृत्तियोंको मैंने बहुत भोग लिया। अब मैं इनसे विश्राम लेता हूँ। मैं प्रबुद्ध ( जगा हुआ ) हूँ तथा हर्ष एवं उत्साहसे मरण हूँ। अपने परमार्थिक धनको चुरानेवाले भन नामक चोरको मैंने देख लिया है। अतः अब इसे मैं गारे ढाढ़ता हूँ; क्योंकि इस मनने चिरकालसे मुझे मारा है—मेरा पतन करता है। जैसे सूर्यकी धूपसे ओस या पालेके कण गल जाते हैं, उसी तरह मेरा मन यथार्थ ज्ञानद्वारा ब्रह्मतत्त्वमें निष्प-निरन्तर स्थिति प्राप्त करनेके लिये बहुत शीघ्र व्यक्तों प्राप्त होगा। सिद्ध महापुरुषोंने नाना प्रकारके उपदेशोंद्वारा मुझे अच्छी तरह बोध करा दिया है। अब मैं परमानन्दरूप परमात्मामें प्रवेश कर रहा हूँ। परमामारूपी भणिको पाकर एकान्तमें उसीको देवता हुआ मैं अन्य सारी इच्छाओंको भान्त करके सुखपूर्वक स्थित होऊँगा। ‘यह देह मैं हूँ, यह विस्तृत धन-राज्य आदि मेरा है’ इस प्रकार अन्तःकरणमें स्फुरित हुए असत्यरूपका यथार्थज्ञानके द्वारा नाश करके अस्त्वत बलशाली मनरूपी शब्दको ध्यानके अध्याससे अच्छी तरह मरकर मैं अनिश्चय शान्तिको प्राप्त हो रहा हूँ।’

( सर्ग ९ )

## राजा जनकद्वारा संसारकी स्थितिपर विचार और उनका अपने चित्तको समझाना

श्रीवस्तिष्ठी कहते हैं—रघुनन्दन ! राजा जनक प्रतिहारने उनके पास जाकर नैतिक कार्य करनेके जब इस प्रकार चिन्तन कर रहे थे, उस समय निमित्त उठनेके लिये अनुरोध किया; परंतु राजा

पूर्वतः संसारकी विचित्र स्थितिपर ही विचार करते रहे।



राजा दोले—जो सुखदखपर स्थित है, यह राज्य किसने दिनका है? मुझे यहाँ इस क्षणमङ्गुर राज्यसे कोई प्रयोगन नहीं है। यह सभी मायका विद्या आष्टवर है। मैं इसका स्थाग करके प्रशान्त महामागरकी भौति शान्त रहकर एकान्तमें ही स्थित रहूँगा। ऐ, मेरे चित्त! बारंबार भोगोंके आखादनमें जो वेगपूर्वक तेरी प्रवृत्ति हो रही है, यह बही चृणित है। इससे तु दूर हो जा। तेरी जो भोग भोगनेकी चतुरता है, उसे जन्म, जरा एवं जड़ताके समूहरूपी कीच इकी शान्तिके लिये स्थाग दे। चित्त! नू जिन-जिन अवस्थाओंमें भ्रमवश मुख देखना है, उन्हाँसे तुझे महान् दुःखमीं प्राप्ति होगी। इसलिये इस तुड़े भोग-विन्तनसे कोई लाभ नहीं है।

ऐसा विचार करके राजा जनक मौन हो गये। उनके चित्तकी चपलता शान्त हो जुकी थी। इसलिये वे वित्रलिखित पुरुगकी भौति अचलमावसे स्थित हो गये और पुनः इस प्रकार विचार करने लगे—मुझे कोई भी क्रिया करनेसे क्या प्रयोगन है और कुछ न करके

निष्क्रिय होकर बैठ रहनेसे भी क्या मतलब है? इस संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो उत्पन्न होकर विनाशको न प्राप्त हो। मिथ्यारूपसे प्रकट हुआ यह शरीर कर्म करे या निष्क्रिय होकर बैठा रहे, सर्वत्र समाम-भावसे स्थित हुए मुझ विशुद्ध चेतनकी इससे क्या क्षति होनेवाली है? मैं न तो अप्राप्त वस्तुकी इच्छा करता हूँ और न प्राप्त वस्तुका स्थाग ही। मेरा इस जगतमें न तो कुछ करनेसे प्रयोगन है और न न करनेसे ही। करने या न करनेसे जो कुछ भी प्राप्त होता है, वह सब असुन्नय—विनाशकील ही है। इसलिये यह शरीर उठकर भ्रमशः प्राप्त हुए कर्तव्यका पालन करे। यह निश्चेष्ट होकर क्यों सूख रहा है?

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! ऐसा विचार करके वे राजा जनक अनासक भावसे न्यायतः प्राप्त हुए कर्तव्य कर्मका सम्पादन करनेके लिये उठे। उन्होंने श्रेष्ठ पुरुओंके समादरपूर्वक उस दिनका साय कार्य मल्लीभौति पूर्ण करके उसी ध्यानरूप विनोदसे अकेले हो रात विनायी। जब रात बीतने गयी, तब विषय-भ्रममें रहित मनको समरस ( एकाग्र ) करके उन्होंने अपने चित्तको इस प्रकार समझाना आरम्भ किया—ऐ मेरे चब्बल चित्त! यह संसार आमाके मुखका साधन नहीं है। तुम शमका आश्रय लो। शमसे शान्त ( मिक्षेप-रहित ) सारभूत आममुखकी प्राप्ति होती है। जैसे-जैसे तुम विचित्र विकल्पोंका संकरूप करते हो, वैसे-ही-वैसे तुम्हारे विषय-चिंतनसे यह संसार अनायास ही वृद्धिको प्राप्त होता है। दुष्ट मन! जैसे वृक्षको सीचनेसे उसमें सैकड़ों जाखाएँ निकल आती हैं, उसी प्रकार तुम भी विषयभोगकी इच्छा करनेसे अनन्त आन्तरिक व्यथाओंसे युक्त हो जाते हो। जन्म तथा संसारकी सुष्ठियाँ विषय-चिन्ताओंके विलाससे ही प्रकट हुई हैं; इसलिये तुम नाना प्रकारकी चिन्ताओंका स्थाग करके उपशमको प्राप्त होओ—संसारसे उपरत हो जाओ।

मुन्द्र चित्र । इस ब्रह्म सप्तरसुषिको और शान्तिके सुखको विचारकी तराजूमें रखकर तौलो । यदि तुम्हें सप्तरामकी सुषिकमें ही सार प्रतीत हो तो इसीका आश्रय लो; नहीं तो शान्तस्तरूप भ्रात्रमें स्थित हो जाओ । मेरे अच्छे मन ! पहलेसे अविद्यमान यह दृश्य-प्रपञ्च उत्पन्न हो जाय अथवा यह वर्तमान दृश्य नह हो जाय, तुम इसके गुणों और अवशुणोंसे—उदय और नाशसे दृष्टि-विचारदरूप विषमताको न प्राप्त होओ । इस दृश्य वस्तु संसारके साय तुम्हारा थोका-सा भी सम्बन्ध नहीं है । इसका रूप है ही नहीं ! ऐसे मिथ्या दृश्य जगत्से तुम्हारा इस ताहका सम्बन्ध हो ही कैसे सकता है । मुन्द्र चित्र । यदि यह दृश्य जगत् असत् है और तुम सत्य हो तो तुम्हीं बनाओ, सर्

और असत्में, जीवित और मृतमें कैसे सम्बन्ध स्थापित हो सकता है ? चित्र । यदि तुम और दृश्य जगत् दोनों ही सद् और सदा साथ छानेवाले हो, तब तुम्हारे लिये दृष्टि और विचारका अवसर ही कहाँ है ? इसलिये इस विशाल आनन्दरिक व्ययका स्थाग करो । आत्मानम्दको, जो मौन होकर सो रहा है, विवेक-विरागसे जगाओ और इस अपहङ्करणी स्थिति—चञ्चलताको छोडो । अरे शठ चित्र । जड दृश्यरूप इस संसारमें ऐसी कोई उन्नत और उत्तम वस्तु नहीं है, जिसकी प्राप्ति होनेसे तुम्हें परम परिपूर्णता प्राप्त हो जाय । इसलिये अन्यास और विरागके बलसे अत्यन्त धीरताका आश्रय ले चञ्चलताको स्थाग दो ।' ( सर्ग १०-११ )

### राजा जनककी जीवनसुकरूपसे स्थिति तथा विशुद्ध विचार एवं प्रजाके अद्वृत माहात्म्यका वर्णन



भीक्षिष्ठजी कहते हैं—रुचन्दन ! उस समय इस प्रकार विचार करके धीरबुद्धि राजा जनक अपने राज्यके सारे काम-काज संभालने लगे । फिर उन्हें

मोह नहीं हुआ ( उनके भनमें मध्यना और आसकि नहीं जागी ) । उनका मन कहीं दृष्टि-विवेक-स्तरमें किञ्चन्मात्र भी उल्लासको प्राप्त नहीं हुआ । जैसे केवल सुषुप्तिमें स्थित हो, उस प्रकार सदा ही विकेपरहित एवं शान्तवावसे स्थिर रहा । तबसे लेकर उन्होंने न तो दृश्य जगत्सुको मनसे ग्रहण किया और न उसका स्थाग ही किया । केवल वर्तमान संसारमें वे निष्पाद्ध होकर स्थित रहे । इस प्रकार आत्मविवेकके अनुसंधानसे राजा जनकका परमात्मविवेक यथार्थ ज्ञान अनन्त एवं अयन्त विशुद्ध हो गया । समूर्ण भूतोंके आत्मस्तरूप परमात्माको जानने तथा आत्माकी अनन्तताका अनुभव करनेवाले राजाने चिन्मय परमात्मामें स्थित सारे पदार्थोंके आत्मभूत देखा—अपने आत्माके रूपमें अनुभव किया । वे न तो अनुकूल वस्तुको पाकर दृष्टिसे उल्लिखित दृष्टि और न कभी प्रतिकूल वस्तुको पाकर शोकसे आहुर ही हुए । सब कुछ प्रकृतिका व्यवहार होनेके कारण वे

उसमें सदा ही समचित् एवं विकारशून्य होकर रहे । तभीसे खोकने संगुण-निर्गुण परमात्मका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेवाले और समस्त प्राणियोंको सम्मान देनेवाले वे राजा जनक परमात्माके यथार्थ ज्ञानमें निपुण हो जीवनमुक्त हो गये । वे जीवोंको प्राणोंके समान मिथ्य थे और विदेश के राज्य करते हुए कभी हर्ष और विशादके कषीभूत हो संतप्त नहीं होते थे । द्वृष्टिवस्तामें स्थितकी भौति राजा जनककी राग-द्वेष आदि समस्त वासनाएँ समूर्ण पदार्थोंसे सर्वथा निवृत्त हो गयी थीं । वे न कभी भूतकी विन्ता करते और न भविष्यका अनुसंधान । वर्तमान कालका ही वे प्रसन्नतापूर्वक अलुसरण करते थे । कमलभूयन श्रीराम । अपने परमात्मविषयक विवेकशूर्ण विचारद्वारा ही राजा जनकको पानेयोग्य परज्ञा परमात्मरूप वस्तुकी पूर्णतया प्राप्ति हो गयी ।

अपने वित्तसे तबतक परमात्मतत्त्वका विवर करते रहना चाहिये, जबनक विचारोंकी सीमाका अन्त ( परमात्माका यथार्थ ज्ञानरूप फल ) प्राप्त न हो जाय । महापुरुषोंके सहस्रे विर्भलतारूप अन्युदयको प्राप्त हुए विचारके विवेकपूर्वक शुद्ध विचारसे बो परमात्मरूप परमपद प्राप्त होता है, वह न तो गुरुके उपदेशसे, न शास्त्रसे और न पुण्यसे ही प्राप्त होता है । श्रीराम ! अपने मित्रके उत्तम शिर, शुद्ध एवं तीर्ण बुद्धिसे जो उत्तम पद प्राप्त होता है, वह दूसरी किसी क्रियासे नहीं होता । जिस पुरुषकी पूर्वापरका विचार करनेवाली कुशाग्र एवं तीक्ष्ण प्रज्ञारूपी दीपशिखा प्रज्ञवित्त है, उसे कभी अज्ञानरूपी अन्धकार क्लेश नहीं पहुँचाता । महामते ! दुःखरूपी उत्ताल तख्तोंसे व्याप्त जो विपत्तिरूपी दुस्तर सतिताएँ हैं, उनको तीक्ष्ण और विशुद्ध बुद्धिरूपी नौकाद्वारा ही पार किया जाता है । जैसे वासुका हस्त-सा शोका भी निस्तार तिनको उत्ता देता है, उसी प्रकार प्रज्ञाहीन मूढ़ पुरुषको योनी-सी आपत्ति भी शोकाकुल कर देती है ।

शत्रुमर्दन श्रीराम ! तीक्ष्ण और विशुद्ध प्रज्ञासे युक्त पुरुष दूसरोंकी सहायता तथा शास्त्राभ्यासके विना भी संसार-समुद्रसे अनायास ही पार हो जाता है । जैसे फलकी प्राप्तिके लिये सीधने और संरक्षण आदिके द्वारा अंगूर आदिकी लताको बढ़ाया जाता है, उसी प्रकार शास्त्रोंके अभ्यास और सत्पुरुषोंकी संगतिसे पहले प्रज्ञाके बढ़ाना चाहिये अर्थात् बुद्धिको पवित्र एवं तीक्ष्ण बनाना चाहिये । जैसे चन्द्रमण्डल संसारके अन्धकारको हटाकरनेवाली चाँदनीको उत्पन्न करता है, उसी प्रकार निष्कार्मरूपी वृक्ष, जिसका शुद्ध तीक्ष्ण प्रज्ञारूप ही महान् मूर्ति है परम रसमय परमात्माकी प्राप्तिरूप फलको उत्पन्न करता है । लोग धन-सम्पत्ति आदि वास्त्र पदार्थोंके उपार्जनके लिये जैसा प्रयत्न करते हैं, वही यत्न पहले विशुद्ध बुद्धिकी अभिवृद्धिके लिये करना चाहिये बुद्धिकी मन्दता समस्त दुःखोंकी चरम सीमा है विपत्तियोंका सबसे बड़ा भंडार है और संसाररूप दृश्योंका बीज है; अतः उसका यत्नरूपक विनाश करना चाहिये ।

रुद्रनन्दन ! न दानोंसे, न तीर्थोंसे और न तपस्यांसे ही भयंकर संसार-सागरको पार किया जा सकता है । केवल पवित्र एवं अविचल बुद्धिरूपी जहाजका आश्रय लेनेसे ही उसके पार पहुँचा जा सकता है । पृथ्वीपर विचरनेवाले मनुष्योंको भी जो दैवी सम्पत्ति प्राप्त होती है, वह जूँ एवं अविचल प्रज्ञामयी लतासे उत्पन्न द्रुआ त्वादिष्ट फल है । जिन सिंहोंने अपने पंजोंसे मत्त गजराजोंके कुम्भस्फुर विदीर्ण कर ढाले थे, वे भी सियारोद्वारा बुद्धि-बलमें इस तरह पराजित हुए हैं, जैसे सिंहोंसे हरिन । विवेक पुरुषके हृदयरूपी कोशागारमें स्थित यह पवित्र प्रज्ञ विनाशणिके समान है । यह कल्पताकी मौर्छा भनोवाङ्मित फल देती है । श्रेष्ठ पुरुष पवित्र और अविचल प्रज्ञाके द्वारा संसार-सागरसे पार हो जाता है । किंतु अबम भानव उसमें हूब जाता है । क्यों न

नौका चलानेकरि कल्पमें शिखित हुआ केवट ही नौकासे नदीके पार पहुँचता है, अशिखित केवट नहीं । जैसे समुद्रकी खंबरमें चकर काटती हुई नौका उसपर चढ़े हुए लोगोंको विपरिमें ढाल देती है, उसी प्रकार राग, द्वेष, छोभ आदि असन्मार्गमें लगायी गयी अच्छुद बुद्धि संसारमें भटककर मनुष्यको आपत्तिमें ढाल देती है और वही बुद्धि यदि विवेक, वैराग्य आदि सम्मार्गमें लगायी जाय तो वह मनुष्यको भवसागरसे पार कर देती है । जैसे कवच बौधकर युद्ध करनेवाले योद्धाको बाण पीड़ित नहीं करते, उसी प्रकार विवेकशील, यज्ञतारहित एवं पवित्र बुद्धिवाले पुरुषको तृष्णार्थके काम, छोभ आदिसे उत्पन्न हुए क्रोध, द्वेष और मोह आदि क्षेष बाधा नहीं पहुँचाते । रम्यीर ! इस जैकर्मे प्रशास्त्री नेत्रसे

यह सारा जगत् ठीक-ठीक दिखायी देता है । उस यथार्थदर्शी पुरुषके पास न तो सम्पत्तियाँ आती हैं और न विपत्तियाँ ही । जैसे सूर्यको ढकने-वाला जलमय विस्तृत काला मेष वायुसे छिन्न-मिन्न हो जाता है, उसी प्रकार अहंकारस्त्री मत्त मेष जो परमात्मास्त्री सूर्यपर आवरण ढालनेवाला है, पवित्र एवं लीकण बुद्धिरूपी वायुसे बाधित हो जाता है । परमात्माकी ग्राहितरूप अनुपम उन्नत पदमें पहुँचनेवाले पुरुषको पहले सरसङ्ग और विवेक-वैराग्यद्वारा इस बुद्धिका ही शोधन करना चाहिये—ठीक उसी तरह, जैसे धार्म्य आदिकी बुद्धि वाहनेवाला किसाम सबसे पहले पृथ्वीको ही इक्षुसे जोतकर शुद्ध बनाता है । ( सर्ग १२ )

### चित्तकी शान्तिके उपायोंका युक्तियोद्धारा वर्णन

श्रीचत्तिष्ठती कहते हैं—रघुनन्दन ! विना जीती हुई मनसाहित इन्द्रियों शत्रुके समान हैं । इन्हें तत्त्वतः बारंबार जीतकर परमात्मामें लगानेका प्रयत्न करे, जब-तक अन्तःकरण स्थयं ही परमात्माके ध्यानमें एकाग्र होकर शुद्ध एवं प्रसन्न न हो जाय । इस प्रकारके साधनसे नित्य प्रसन्न, सर्वध्यापी, दिव्यस्तरूप, देवेश्वर परमात्माका स्वतः साक्षात्कार हो जाता है और ऐसा होनेपर सारी दुःख-दृष्टियाँ नष्ट हो जाती हैं । उस सगुण-निर्गुणरूप परमात्माका साक्षात्कार होनेपर छद्यग्रन्थिरूपी कुरुष्टियाँ जो मोहस्त्री बीजकी मुहियाँ और माना प्रकार-की आपसियोंकी वृष्टियाँ हैं, नष्ट हो जाती हैं । नित्य आन्तरिक विचारवाले और जगत्को क्षणमधूत देखनेवाले पुरुषका अन्तःकरण राजा जनकके अन्तःकरणकी तरह समय आनेपर अपने-आप ही शुद्ध हो जाता है । संसारसे भयमीत हुए पुरुषोंके लिये सम्बिदानन्दवन परमात्माके ध्यानरूप परम पुरुषार्थको छोड़कर न दैव शरण देनेवाला है न कर्म, न धन आश्रय देनेवाला है न भाई-बच्चु ( अपने उद्धारके लिये इनमेंसे कोई भी आश्रय लेने योग्य नहीं सं० घो० द्व० अ० १०—

है, केवल एकमात्र परमात्मा ही शरण लेने योग्य है ) । सात ! जो लोग विवेक, वैराग्य, विचार, उपासना और धर्मपालन आदि उत्तम कार्योंमें भाग्यके अधीन रहते हैं तथा मिथ्या विफरीत कल्पनाएँ करते रहते हैं, उनकी मन्दसमति विनाशकी ओर ले जानेवाली है; अतः उसका अनुसरण नहीं करना चाहिये । उत्तम विवेकका आश्रय ले अपने आत्माका अपने ही द्वारा अनुभव करके परम वैराग्यसे पुष्ट हुई पवित्र एवं सूखम बुद्धिरूप नौकाद्वारा संसार-सागरको पार करे । श्रीराम ! यह मैंने तुमसे आकाशसे गिरनेवाले फलके समान शीत्रतापूर्वक होनेवाली ज्ञान-प्राप्तिका वर्णन किया है । यह ज्ञान अज्ञानरूपी वृक्षको काट ढालनेवाला तथा निरतिशय सुख प्रदान करनेवाला है । वाञ्छित ( मनके अनुकूल ) और अवाञ्छित ( मनके प्रतिकूल ) वस्तुकी आशक्षारस्पिणी चञ्चल वानरियों जिस किंचलूपी वृक्षपर कूद-फौद लगाये रहती हैं, उसमें सौम्यता ( शान्ति ) कहाँसे आ सकती है ।

निष्कामता, निर्भयता, स्थिरता, समता, इन, निरीहता, निक्षियता, सौम्यता, निर्विकल्पता, धैर्य, नैती,

मनमशीलता, संतोष, मृदुता और मधुरभाविता—ये गुण हैं और उपादेयसे रहित ज्ञानी पुरुषमें बिना किसी वासनाके रहते हैं। जैसे बहते हुए जलको बोधसे रोका जाता है, उसी प्रकार निकृष्ट विषयोंकी ओर दौड़ते हुए मनको विवेक-वैराग्यके बलसे विषयोंकी ओरसे छोटाये अर्थात् चिन्तकी बहिर्मुख त्रुटिको विवेक वैराग्यद्वारा अन्तर्मुखी करे। श्रीराम। मोह संसारको भूलकर फिर नहीं प्रस्तुटित होता और संसार चित्तको भुलाकर फिर नहीं अकुरित होता। खड़े होते, चलते, सोते, जागते, कहीं निवास करते, उछलते और गिरते-पड़ते यह 'दृश्य-प्रपञ्च असद' ही है। ऐसा मनमें निष्पथ्य करके इसके प्रति आस्थाका परित्याग कर देना चाहिये। रघुनन्दन। समताका मलीमोति आश्रय ले प्राप्त हुए कर्तव्यका पालन करते हुए अप्राप्तका चिन्तन न करके निर्दून्द हो इस लोकमें विचरना चाहिये। श्रीराम। तुम्हीं सर्वं, तुम्हीं अजन्मा, तुम्हीं सबके आत्मा और तुम्हीं महेश्वर हो। तुम अपने चैतन्यमात्रसे कभी अनुत नहीं होने, तथापि तुमने इस प्रकार इस संसार-का विस्तार किया है। जिसने सद्बूप आत्मदृश्यमें परमार्थ सत्त्वरूपताकी मावना करके सब औरसे दूसरी भावनाका परित्याग कर दिया, वह पुरुष हर्ष, क्रोध और विवाद आदिसे होनेवाले दोषोंसे नहीं बँचता। जो राग-द्रेषसे मुक्त है, पिण्डिके ढेले, पत्थर और सुर्वर्णको समान सम्माना है तथा संसारकी वासनाओंका त्याग कर चुका है, ऐसा योगी युक्त कहलाता है। वह जो कुछ करता, खाता, देता और नष्ट करता है, उन सब क्रियाओंमें उसकी अहंमावना नहीं होती तथा वह छुख-दुःखमें भी समान भाव रखता है। जो इष्ट और अनिष्टकी मावनाका त्याग करके प्राप्त हुए कार्यको कर्तव्य समझकर ही उसमें प्रवृत्त होता है, उसका कहीं भी पतन नहीं होता। महामते। यह जगत् चेतनमात्र ही है—इस प्रकारके निष्पथ्यशाला मन जब भोगोंका चिन्तन त्याग देता है, तब वह शान्तिको प्राप्त हो जाता है।

बालबमें तो न मन है, न भ्रुदि है और न यह शरीर ही है; केवल एकमात्र आत्मा ही सदा विद्यमान है। आत्मा ही यह सम्पूर्ण जगत् है और आत्मा ही कालक्रम है। वह विशुद्ध आधा आकाशसे भी सूखम होनेके कारण प्रतीत न होनेपर भी छुप सत्य है। सूखम होनेके कारण प्रत्यक्ष प्रतीत न होनेपर भी 'यह आत्मा नित्य सत्य' चेतनरूप है, अतएव 'सब प्रकारके लक्षणोंसे अतीत शुद्ध आत्मा केवल अपने अनुभवसे ही जाना जाता है। जहाँ केवल परमात्माकी चेतनता है, वहाँ उसी तरह मनका क्षय हो जाता है, जैसे प्रकाशमें अन्धकारका नाश हो जाता है। अतः उस आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये वैराग्यसे, प्राणायामके अन्याससे, विवेक-विचारसे, दुर्घटसनोंके विनाशसे तथा परमार्थ-तत्त्वके बोधसे प्राणवायुका निरोध करना चाहिये। जह तथा सरूप-द्वीप होनेके कारण मन सदा ही मरा हुआ है। किन्तु आर्थर्य है कि उस मरे हुए मनके द्वारा ही लोग मारे जा रहे हैं। चक्रके समान धूमभी हुई यह मूर्खनाकी परम्परा बढ़ी विचित्र है। जहो ! महामायावी मयासुराका भी निर्नाग करनेवाली यह माया अत्यन्त अद्भुत है, जिसके कारण अस्यन्त चञ्चल चित्तके द्वारा भी यह लोक अमिभूत हो रहा है। जब मूर्खना आती है, तब पुरुष सभी आपत्तियोंका भाजन हो जाता है। भला, अज्ञानीपर कौन-सी आपत्ति नहीं आती। देखो, अज्ञानने ही मूर्खता-से इस सृष्टिको उत्पन्न किया है। हाय ! वहें क्लेशकी बात है कि यह सृष्टि द्वारुद्दिके कारण मूर्खताके बशमें परी हुई उसके द्वारा पीड़ित हो रही है, तथापि यह जीव असत्तका अनुवर्तन करके उत्तरोत्तर दुःख उठानेके लिये ही इस सृष्टिको उपलब्ध करता है। मैं समझता हूँ, यह मूर्खतामयी सृष्टि अस्यन्त सुकुमार-अशिचार-मात्रसे सिद्ध है। अतएव एकमात्र विचारसे ही इसका बाध किया जा सकता है। श्रीराम ! इस मूर्खलोकमयी सृष्टिके रूपमें असत्तरूप मन ही प्रकट हुआ है अर्थात्

यह मनका ही विकार है। जो पुरुष उन् मनको बशमें नहीं कर सकता, वह अध्यात्मशास्त्रके उपदेशका पात्र नहीं है। उस पुरुषकी बुद्धि चारों ओरसे विषयोंमें ही आखड़ है और उतनेसे ही वह अपनेको परिपूर्ण

मानती है, इसीलिये परमात्माकी ओर अभिमुख नहीं होती, सूक्ष्म वस्तुके विचारमें भी समर्थ नहीं हो पाती। इसीलिये उसमें आध्यात्मिक शास्त्रका उपदेश पानेकी योग्यता नहीं होती। ( सर्व १३ )

**अनधिकारीको दिये गये उपदेशकी व्यर्थता, मनको जीतने या शान्त करनेकी प्रेरणा तथा उच्चवोधसे ही मनके उपशमका कथन; खण्डके दोष, वासनाक्षय और जीवन्मुक्तके स्वरूपका वर्णन**

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन। इस भूतलपर जो मनुष्य पञ्च-पक्षियोंके समानधर्मी होकर आहार, निश्च और मैयुग आदिमें ही को दुए हैं, उन्हें उपदेश देना उचित नहीं। भला, घनमें दूँठे काठके निकट-कथाका ताल्यर्थ कहनेसे कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा? जिन्होंने अपने मनको विषयोंमें फैला रखा है, उन मनुष्योंमें और पञ्चओंमें क्या अन्तर है? पञ्च रसोंसे बाँधकर सौंचे जाते हैं और मूढ़चेता मनुष्य आसक्तिके कारण मनके द्वारा विषयोंकी ओर धसीटे जाते हैं। जिन लोगोंने अपने मनको नहीं जीता है, उन्हें सब ओरसे दुःखदायिनी दशाएँ प्राप्त होती हैं। रघुनन्दन! जिन्होंने अपने वित्तपर विजय प्राप्त कर ली है, उसके दुःख उच्चम विचारके हारा धूर किये जा सकते हैं। इसलिये जिसे ब्रह्म तत्त्वका ज्ञान हो चुका है, वह ज्ञानी पुरुष उनके दुःखका मार्जन करनेमें प्रवृत्त हो। इस त्रिगुणात्मक मायामय प्रपञ्चका आश्रय लेना बन्धनमें ही ढालनेवाला है। यदि इसका स्थाग कर दिया जाय तो वह भव-बन्धनसे छुटकारा दिला सकता है। ऐसे और व्यह दोनों ही नहीं हैं इस प्रकार चिन्तन करते हुए हम अनन्त ज्ञानका समान विशाल हृदयधाले आत्माके रूपमें प्रतिष्ठित हो पर्वतके समान अविचल-भावसे खित हो जाओ। यह समूर्ण जगत् परमात्मा ही है, ऐसे ज्ञानका अन्त करणमें उद्य द्वारा प्राप्त विजय है, कहीं चेत्य है और क्या चेतन है? मैं विनमय ब्रह्म हूँ, जीव नहीं; क्योंकि वास्तुमें एकमात्र

परमात्माके सिवा जीव नामक कोई अलग पदार्थ नहीं है। यहीं चित्तकी शान्ति है और इसीको परम सुख कहते हैं। रघुनन्दन! यह संसार परमात्माका ही सरूप है, ऐसा निश्चय हो जानेपर निस्सदेह चित्त-की कोई अलग सत्ता नहीं रह जाती। इस प्रकार परमार्थ-तत्त्वका बोध होनेसे यह जगत् परमात्मा ही है, ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाता है। उस दशामें जैसे सूर्यके प्रकाशसे अन्धकारका नाश हो जाना है, उसी तरह मन भलीमौति गल जाता है। जबतक मनहृषी सर्प इस शरीरमें विद्यमान है, तबतक महान् भय वहा रहता है। योगसे उसको मार भगानेपर भयके लिये अवसर ही कहाँ रह जाता है:

श्रीराम! तृष्णा विष-लताके समान हैं। वह बहुते हुए महान् मोहको देनेवाली और भयंकर हैं। वह मनुष्यको केवल मूर्ढा ( अज्ञान ) ही देती है ( ज्ञान-जनित सुख नहीं )। वर्षा अनुकी अंधेरी रातके समान मनमें अनन्त विकार ( भय आदि ) उपन्न करनेशाली यह तृष्णा जब-जब प्रकट होती है, तबन्तव महामोह प्रदान करती है। रघुनन्दन! संसारमें जो दूरन्त, दूर्जर और महान् दुःख है, वे तृष्णारूपिणी विष-लताके ही कल हैं। तृष्णासे पीड़ित मनुष्यमें दीनता प्रस्तुत देखी गयी है। वह मन मारे रहता है, उसका तेज नष्ट हो जाना है, वह बहुन नोचे गिर जाता है। वह नोड्स्टॉ होता, रोता और गिरता रहता है। निश्चय ही नहीं होता, रोता और गिरता रहता है। तृष्णारूपिणी काली रात नष्ट हो गयी है, वहाँ शुक

पक्षके चन्द्रमाकी भाँति सत्कर्म ही बढ़ते हैं। जिस पुरुषरूपी दृक्षमें तृष्णारूपी धुन नहीं लगे हैं, उसमें सदा पुण्यरूपी फूल खिलते हैं। और वह विकासशील अवस्थाको प्राप्त होता है। तृष्णारारा ये सब लोग सूतमें बैठे हुए पक्षीके समान देश-विदेशमें भटकाये जाते, शोकसे जर्जर किये जाते और अन्ततोगस्था मारे जाते हैं। जैसे दिरन तिनकोंसे आच्छादित हुए गड्ढेके ऊपर रख्खो दुर्द हरी-हरी वासकी शास्त्राको घरनेके लिये जाकर उस गढ़में गिर जाता है, उसी प्रकार तृष्णाका अनुसरण घरनेवाला मूँह मनुष्य नरकमें गिरता है। बुद्धापा कितना ही बड़ा हुआ क्यों न हो, वह नेत्रोंको क्षणभरमें उतना जीर्ण ( अधा ) नहीं बनाता, जितना हृदयमें रहनेवाली पिशाचीके समान तृष्णा बना देती है। जिसका आकार सम्पूर्ण दुःखोंसे भरा हुआ है और जो जगत्के लोगोंके जीवनका नाश करनेवाली है, उस तृष्णाको कूर सर्पिणीके समान दूरसे ही त्याग देना चाहिये।

दूसरोंको मान देनेवाले कमलनयन श्रीराम। वासनाका त्याग ह्रेय और ध्येयके मेदसे दो प्रकारका बताया जाता है। सबको ब्रह्मरूपसे समान समझकर मनुष्य ममतासे रहित हो जिस वासनाक्षयका सम्यादन करके शरीरका त्याग करता है, वह ह्रेय नामक वासनाक्षय कहा गया है। जो अहकारमयी वासनाका त्याग करके लोकसंग्रहोचित व्यवहारमें संलग्न रहता है, वह ध्येय नामक वासनाक्षयसे युक्त हुआ पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है। रघुनन्दन। मूँह अशानके सहित सकलरूप वासनाका त्याग करके जो शान्तिको प्राप्त हुआ है, उस जीवन्मुक्त पुरुषको ह्रेय नामक वासनात्यागसे सम्पन्न समझ। जनक आदि महात्मा पुरुष ध्येय नामक वासना-

त्यागका सम्यादन करके जीवन्मुक्त हो लोकसंग्रहके लिये व्यवहारमें स्थित हुए हैं। ह्रेय नामक वासनात्यागको सम्पन्न करके शान्तिको प्राप्त हुए विदेहमुक्त पुरुष परावरत्वरूप परमात्मामें ही स्थित होते हैं। रघुनन्दन! पूर्वोक्त दोनों ही त्याग समान हैं। दोनों ही प्रकारके त्यागवाले पुरुष मुक्त-पदपर प्रतिष्ठित हैं। ये दोनों ही ब्रह्मावको प्राप्त हैं और दोनों ही विन्ता एवं तापसे हुटकारा पा चुके हैं। एक ( ह्रेय नामक वासनाक्षयसे युक्त ) पुरुष इस देहके रहते हुए ही जीवन्मुक्त होकर शोक और चिन्तासे रहित हो जाता है। और ( दूसरा ह्रेय नामक वासनाक्षयसे युक्त ) पुरुष देहत्यागके अनन्तर मुक्त ( ब्रह्मके स्वरूपमें स्थित ) होता है ( उसे विदेहमुक्त कहते हैं )। जो समयानुसार निरन्तर प्राप्त होनेवाले मुखों और दुःखोंमें हर्ष और शोकके बशीभूत नहीं होता, वही इस लोकमें मुक्त कहा जाता है। जिस पुरुषका इष्ट वस्तुओंमें राग और अनिष्ट वस्तुओंमें द्रेप नहीं होता, वह मुक्त कहलाता है। जिस पुरुषका अहता-ममताको लेकर प्रहृण और त्यागरूप संकल्प क्षीण हो गया है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। हर्ष, अमर्ष, मय, क्रोध, काम और कायरताकी दृष्टियोंसे जो रहित है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज ! महर्षि वसिष्ठ जब इतना उपदेश दे चुके, तब दिन बीत गया, सूर्य अस्ताचल्को चले गये। उस समाके समी सदस्य मुनिको नमस्कार करके सायंकालिक उपासनाके निमित्त स्नान करने चले गये और रात बीतनेपर सूर्यकी किरणोंके उदयके साथ ही फिर उस समामनमें आ गये।

( सर्ग १४-१६ )

### जीवन्मुक्तिकी प्राप्ति करानेवाले विभिन्न प्रकारके निश्चयों तथा सब कुछ

ब्रह्म ही है, इस पारमार्थिक स्थितिका वर्णन  
श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! जो विदेहमुक्त है,  
वे वाणीके विषय नहीं होते ( शरीर त्यागकर साक्षात् )

परमप्रकाशरूप हो जानेके कारण उनकी महिमातक वाणीकी  
पहुँच नहीं हो पाती। इसलिये उनकी स्थितिका वर्णन नहीं

किया जा सकता ) । अतः तुम हस जीवन्मुकिका वर्णन करना ही है, यह समझते हुए जिसके कारण निषय-मोर्गोंके मोगनेमें दृढ़ मावना हो गयी है, ऐसी तुष्णाद्वारा जीवकी जो बाधा पदार्थमें उसकी सत्ताको लेकर आसक्ति है, उसे आचार्यलोग सुदृढ़ संसार-बन्धन कहते हैं । जीवन्मुक्तोंके शरीरके अन्तःकरणमें ‘मोग पदार्थ मिथ्या है’ हस निषयसे हृदयमें मोग संकल्परहित और बाधा संसारमें विहार करनेवाली स्फुरणा हुआ करती है । महामते श्रीराम ! ‘यह मुझे प्राप्त हो’ इस ग्रन्थकी जो हृदयमें मावना है, उसे तुम तुष्णा और सकल्प नामक श्रद्धाला समझो । उस तुष्णाका सदृढ़ और असदृढ़ सभी पदार्थमें सदा व्याग करके जो परम उदार हो गया है, वह महामनसी पुरुष जीवन्मुक्ति पदको प्राप्त करता है ।

श्रीराम ! विचारवान् पुरुषके हृदयमें चार ग्रन्थका छह निषय हैं—एहला निषय यह है कि मैं सिरसे लेकर पैतलक माता-पिताके द्वारा रखा गया हूँ; यह असदृढ़ है । इसके कारण मनुष्यको बन्धन प्राप्त होता है । मैं देह-इन्द्रिय आदि सब पदार्थोंसे रहित तथा सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर हूँ,—ऐसा जो दूसरा निषय है, वह सांशुपुरुषोंको मोक्षकी प्राप्ति करनेवाला होता है । रघुनन्दन ! ‘जगत्के सब पदार्थ मुझ विनाशी परमात्माके ही खलूप हैं’ इस तरहका तीसरा निषय भी मोक्षकी ही प्राप्ति करनेवाला है । ‘अहंकार अथवा यह सारा जगत् सदा आकाशके समान गूँण ही है’ ऐसा जो चौथा निषय है, वह भी मोक्षकी ही सिद्धिका कारण होता है । इन चार निषयोंमें जो पहला है, उसे बन्धनशक्त कहा गया है । शुद्ध मावनासे उत्पन्न हुए शेष तीन ग्रन्थके निषय मोक्षदायक बताये गये हैं ।

—\*—\*—\*

महापुरुषोंके स्वभावका वर्णन तथा अनासक्त-भावसे संसारमें विचरनेका उपदेश

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—महाबाहु श्रीराम ! जिनका वाहत नहीं हुए हैं, इस संसारमें छीछपूर्वक विचरनेशले चित एकाग्र है तथा जो काम, लोभ आदि कुटृष्टियोंसे उन महापुरुषोंका निभास्ति स्वभाव बताया जा रहा है ।

महामते ! मैं आप्मा ही सब कुछ हूँ—इस ग्रन्थका जो निषय है, उसे पाकर ही मेरी बुद्धि तिर कभी विपादको नहीं प्राप्त होती । आत्माकी महिमा उपरनीचे और अगल-बगलमें—सुवर्त्र व्यापक है । सब आत्मा ही है, ऐसे आन्तरिक निषयसे युक्त पुरुष कभी बन्धनमें नहीं पड़ता । जैसे अपार महासागर पातालतक जलसे मरा हुआ है, वैसे ही व्रातासे लेकर कीट-पतञ्जलक सारा जगत् परमात्मासे परिपूर्ण है । इसलिये एकमात्र व्रक्ष ही निष्य और सत्य है । उससे अतिरिक्त जगत्की कोई सत्ता नहीं है—ठीक वैसे ही जैसे सारा समुद्र जल ही है, उससे भिन्न तरह आदि कुछ नहीं है । जैसे सोनेके कब्जे, बाजूबंद और नूपुर आदि सुवर्णसे भिन्न नहीं हैं, उसी तरह वृक्ष, तृण आदि कोटि-कोटि पदार्थ आत्मासे भिन्न नहीं हैं । परमात्मयी अद्वैतशक्ति ही द्वित और अद्वैतके मैदासे जगन्निर्माणकी लीलाको करती हुई विस्तारको प्राप्त होती है । वास्तवमें न तो अहंकार है और न यह जगत् ही है । यह सब कुछ केवल निर्विकार शास्त्र विज्ञानानन्दबन्ध ही प्रकाशित हो रहा है । यह संसार न तो असदृढ़ है और न सदृढ़ ही है—सदा यही समझना चाहिये । परम, अमृत, अनादि, सब अद्वैतियोंको प्रकाशित करनेवाला, अज्ञ, अजन्मा, अचिन्त्य, निष्कल, निर्विकार, समूर्ण इन्द्रियोंसे रहित, प्राणोंका भी प्राण, समस्त सकल्पोंसे रहित, कारणोंका भी कारण, नित्य उदित, परमात्मा, व्यापक, चिन्मय ग्रन्थाखरूप आकाशमें परिपूर्ण, अनुभवका बीज ( कारण ), अपने आपमें ही अपने आपका अनुभव करने योग्य, आन्तरिक आनन्दानुभवखरूप व्रक्ष ही तुम, मैं और जगत् है । उससे भिन्न कुछ नहीं है । इस ग्रन्थका निषय तुम्हें करना चाहिये । ( सर्ग १७ )

बोद्धन्मुक्त वित्तवाला मुनि इस संसारमें विचरण करता हुआ भी आदि, मध्य और अन्तमें— सदा ही रसहीन जो जगत्की अवस्थाएँ हैं, उनको उपहासके योग्य समझे । जो न तो प्राप्त हुई प्रिय वस्तुका अभिनन्दन करता है, न अप्रियसे द्वेष करता है, न नष्ट हुई वस्तुके लिये शोक करता है और न अप्राप्त वस्तुको पानेकी इच्छा ही करता है, सदा ममनशील रहकर कर्त्तव्य कर्ममें आलस्य छोड़कर प्रभूत्त होता है, वह पुरुष संसारमें कभी दुखी नहीं होता । जो पूछनेपर प्रस्तुत विषयका प्रतिपादन करता है, न पूछनेपर मौन हो सूखे काठकी मौसि अविचलभाषसे स्थित रहता है तथा इच्छा और अनिष्टाके बन्धनसे मुक्त है, वह पुरुष संसारमें दुखी नहीं होता । जो सबके अनुकूल बोलता, किसीके पूछने या ग्रेरणा करनेपर सुन्दर उकियोंद्वाय समाधान करता और प्राणियोंके मनोभावको समझ लेता है, वह पुरुष संसारमें दुखी नहीं होता । वह परम पदमें आख्य हो जगत्की क्षणभङ्गर अवस्थाको अपनी शान्तबुद्धिके द्वारा हँसता हुआ-सा देखता है । रघुनन्दन । जिन्होंने अपने चित्तको जीत लिया है और परावरत्वरूप परमात्मा परमात्माका साक्षात् करके जो महात्मा हो गये हैं, उन्हींका ऐसा समाव मैंने तुम्हें बताया है ।

अपने चित्तको न जीतनेवाले मूळ मनुष्योंके जो यज्ञ आदि कर्म हैं, वे फलकी कामनासे युक्त होते हैं, नाना प्रकारके दम्प, मान, मद आदि हुर्गणोंसे भरे होते हैं; अतएव पुनर्जन्म आदिके कारण होनेवाले सुख-दुःखोंसे परिषूर्ण हुआ करते हैं । इसलिये हम उन मूळ मनुष्योंके उद्धारका कोई उपाय नहीं बता सकते । रघुनन्दन । तुम तो भीतरसे सब आशाओंका त्याग करके, बीतराग और वासनाशून्य हो बाहरसे समृद्धि सख्तमौका एवं सदाचारोंका ठीक-ठीक पालन करते हुए संसारमें विचरो । श्रीराम । तुम उदार, सदाचारी, समस्त शाश्वीय कर्मोंका

भलीमौति आचरण करनेवाले तथा भीतर सगूर्ण कामनाओं और बासक्तियोंसे शून्य हो संसारमें विचरण करो । रघुनन्दन । तुम सब पदार्थोंका यथार्थ रहस्य एवं अन्तर जान चुके हो; इसलिये जैसी अमीष हो वैसी ही दृष्टिसे देखते हुए बनासक्तभावसे संसारमें विचरो । श्रीराम ! अहंकारसे रहित, अपने वास्तविक स्वरूपमें स्थित आकाशके समान निर्लेप एवं निर्मल तथा कल्पसे दूर रहकर संसारमें विचरण करो । राघव ! सैकड़ों आशारूपी पाण्डोंसे नित्य मुक्त, सब पदार्थोंमें सम तथा बाहर प्रजाओंके हितकर कार्योंमें तत्पर रहकर तुम छोकरें विचरो । वास्तवमें जीवात्माका न तो बन्धन है और न मोक्ष ही है । यह मिथ्या माया इन्द्रजालकी मौति संसारमें भटकानेवाली है । आत्मा तो सर्वथा एकरूप, सर्वव्यापी और ज्ञासक्तिके बन्धनसे रहित है; फिर उसका बन्धन कैसे हो सकता है । और जब वह बँधा ही नहीं है, तब किसके लिये मोक्षका विधान होगा । यह भ्रान्तरूप विशाल संसार यथार्थ तत्त्वको न जाननेके कारण अज्ञानसे ही उत्पन्न हुआ है । यथार्थ तत्त्वका ज्ञान हाँनेसे यह उसी तरह नष्ट हो जाता है, जैसे रससीका ज्ञान होनेसे उसमें सर्पबुद्धि नष्ट हो जाती है । तुम अनन्त, सखरूप एवं आकाशके समान व्यापक हो । ज्ञालाओंके मध्य-भागकी मौति प्रकाशभान एवं नित्य शुद्ध हो । तुम्हारा स्वरूप किसीकी दृष्टिमें नहीं आता । तुम सूक्ष्मस्वरूप होकर सम्पूर्ण जगत्के पदार्थोंके भीतर उसी प्रकार स्थित हो, जैसे मुक्ताद्वारके सभी मोतियोंमें एक ही सूत समाया हुआ है । महाबाहु श्रीराम ! यह शक्ति है, यह अपना है, यह दूसरा है, यह तुम हो, यह मैं हूँ—इत्यादि भावनाएँ यहाँ उसी प्रकार सत्य नहीं हैं, जैसे दृष्टिदोषके कारण होनेवाला दो चन्द्रमा आदिका दर्शन ।

( सर्ग १८ )

## पिता-माताके शोकसे व्याकुल हुए अपने भाई पावनको पुण्यका समझाना-जगत् और उसके सम्बन्धकी असत्यताका प्रतिपादन

श्रीपंसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन। इसी विषयमें विज्ञ  
पुरुष इस प्राचीम इतिहासका सदाशरण दिया करते हैं।  
गङ्गाजीके तटपर दो मुनिकुमारोंमें जो परस्पर भाई थे,  
उस विषयको लेकर ही जो सचाद हुआ था, वही यह  
पवित्र एवं अमृत इतिहास है; त्रुप इसे सुनो। इस  
जन्म्यूर्धीपकी किसी पर्वतमालामें एक महेन्द्र नामक पर्वत  
है। उसके एक देशमें जहाँ मुविस्तृत एवं मनोरम रम्नभय  
शिखर है, मुनियोंने राजा और बल्लपानके लिये आकाश-  
गङ्गाको डारा था। उसी गङ्गाजीके तट-प्रदेशमें, जहाँके  
बृक्ष फूलोंसे छडे हुए थे तथा जो पार्श्ववर्ती रम्नभय  
शिखरकी प्रभासे प्रकाशमान और दीपिमान् द्वुकर्णकी  
कानितसे मुनहरे रंगका दिखायी देता था, एक महर्षि  
निवास करते थे। उनका नाम था दीर्घतपा। उन्हें सम्यक्  
ज्ञान प्राप्त हो चुका था। वे तपस्याकी राशि और डदार-  
बुद्धि थे तथा तपस्याके मूर्तिमान् रूप-से जान पड़ते थे।  
उन महर्षिके दो पुत्र थे, जो चन्द्रगाके समान द्वन्द्र थे,



उनके नाम थे पुण्य और पावन। उन दोनों पुत्रों और

एक पलीके साथ वे मुनि गङ्गाजीके उस तटपर रहते थे,  
जहाँके बृक्ष फूलोंसे भरे हुए थे। कुछ समय बीनेपर  
मुनिके उम दोनों पुत्रोंमें जो अवस्था और गुण दोनों ही  
दृष्टियोंसे ज्येष्ठ थे, वे पुण्यमपक मुनि सम्यक् ज्ञानसे  
सम्पन्न हो गये; परन्तु उनके दूसरे पुत्र पावनका ज्ञान  
अधूरा ही रह गया। वे मूर्खताकी सीमासे तो बाहर हो  
गये थे; परन्तु उन्हें परमार्थ-तत्त्वका यथार्थज्ञान नहीं  
प्राप्त हुआ। इसलिये वे बीचमें ही झूल रहे थे।

तदनन्तर सी वर्ष बीन जानेपर दीर्घतपा जारावस्थासे  
जर्जर हो गये। अतः उन्होंने अपने शरीरको स्थाग दिया



और संकल्प तथा रागमे शृन्य परम पदस्थरप सञ्चिदानन्द-  
घन प्रदानावको प्राप्त कर लिया। तपश्चात् पतिके शरीरको  
प्राप्त और अपानसे रहित होकर पृथ्वीपर पड़ा देस मुनिकी  
पलीने भी पतिकी सिखायी हुई चिरकालसे अम्बस्त  
यौगिक क्रियादारा अपने डगीरको स्थाग दिया और  
लोगोंकी दृष्टिसे अदृश्य हो अपने पनिका उसी तरह

अनुसरण किया, जैसे प्रमा ग्रानमण्डलमें अस्त होते हुए चन्द्रदेवका अनुसरण करती है। माता और पिता के परलोकवासी हो जानेपर ज्येष्ठ पुत्र पुण्य ही स्थिरचित हो उनके अन्त्येष्टि-कर्ममें प्रवृत्त हुए। पावनको माता-पिता से बिछुइ जानेके कारण बड़ा दुःख हो रहा था। उनका चित्र शोकसे व्याकुल था। वे वहे भाईकी ओर न देखकर वभकी गलियोंमें घूम-घूमकर खिलाप करने लगे। माता-पिताका और्ध्वदेहिक कर्म समाप्त करके उदार-भूद्धि पुण्य बनमें अपने शोकाकुल बन्धु पावनके पास आये।



पास आकर पुण्यने कहा—वस! यह शोक अन्धता (मोह) का एकमात्र कारण है। तुम इसे बनीभूत क्यों बना रहे हो? महाग्राङ्ग! तुम्हारे पिता तुम्हारी माताजीके साथ उस मोक्षानामक संकिदानन्दधन परमपदको प्राप्त हो गये हैं, जो सबका अपना ही रूप है। वही

सब प्राणियोंका अधिष्ठान है और वही बिताता ब्रह्म-वेत्ताओंका रूप है। जब पिता अपने खरूपको ही प्राप्त हुए हैं, तब तुम उनके लिये बारंबार शोक क्यों करते हो? तुमने इस संसारमें ऐसी मौहजनित ममतामयी मावना बाँध रखी है, जिससे तुम अशोचनीय पिता के लिये भी शोक कर रहे हो। न वे ही तुम्हारी माता थीं और न वे ही तुम्हारे पिता थे। वस! जैसे प्राणेक बनमें जलके बहनेके लिये बहुत-से नाले होते हैं, उसी तरह तुम्हारे सहनों माता-पिता हो चुके हैं। उन माता-पिताके भी असर्व पुत्र हो चुके हैं, केवल तुम्हारे उनके पुत्र नहीं हो। जैसे नदीके जलमें बहुत-सी तरह उठती और बिलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार मनुष्य आदि प्राणियोंके जन्म-जन्ममें बहुतसे पुत्र हो-होकर कालके गालमें जा चुके हैं। वस! यदि त्वेषके कारण माता-पिता और पुत्रोंके लिये शोक करना ही उचित हो तो पहलेके जन्मोंमें जो सहनों माता-पिता वीत चुके हैं, उनके लिये निरन्तर शोक क्यों नहीं किया जाता? महाभाग! जगत्की कल्पनाके निमित्तमूल भ्रम या अज्ञानके कारण ही यह प्रपञ्च दिखायी देता है। विद्वन्! वास्तवमें तो तुम्हारे न कोई मित्र है और न बन्धु-बाध्य द्वी है। वस! पारमार्थिक दृष्टिसे सत्य क्या है? इसका तुम विचार करो। विचार करनेसे तुम्हें ज्ञात होगा कि न तुम हो, न हम हैं। तुम्हारे अन्तःकरणमें जो भ्रम है, उसीके कारण इस जगत्की ग्रतीति हो रही है। अतः तुम उसे त्याग दो। 'यह गया, यह मर गया' इत्यादि कुद्दियों अपने संकल्परूप अज्ञानसे उत्पन्न हो सामने दिखायी देती हैं, वास्तवमें इनकी सत्ता नहीं है।

( सर्ग १९ )

पुण्यका पावनको उपदेश—अनेक जन्मोंमें प्राप्त हुए असंख्य सम्बन्धियोंकी ओरसे ममता दृटाकर उन्हें आत्मस्वरूप परभात्मासे ही संतोष प्राप्त करनेका आदेश, पुण्य और पावनको निर्बाण-पदकी ग्रासि, तृष्णा और त्रियथ-चिन्तनके त्यागसे मनके शीण हो जानेपर परमपदकी प्राप्तिका कथन पुण्य कहते हैं—पावन! बन्धु, मित्र, पुत्र, त्वेष, अपने मामग्रामसे विलासको प्राप्त हो रहा है ( वस्तुरूपष्ठा द्वेष तथा मोह-दशारूप देगसे युक्त जो प्रपञ्च है, यह इनकी मत्ता नहीं है )। जिसके प्रति बन्धुमावना कर

ले गये हैं, वह बन्धु हो गया और जिसके प्रति शब्दकी मानवा कर ली गयी, वह शत्रु हो गया। परंतु सभी शरीरोंमें अभिज्ञरूपसे विषयान जो सर्वव्यापी आस्ता है, उस एकमें ही ‘यह बन्धु है, यह शत्रु है’ ऐसी कल्पना कैसे हो सकती है? वहस ! यह शरीर रक्त, मांस और हड्डियोंका समूह है, अस्थियोंका पक्ष्म है; इससे भिन्न में कौन है, इसका तुम सर्व अपने चित्तसे विचार करो। पारमार्थिक दृष्टिसे देखनेपर न तुम कोई हो और न मैं कोई हूँ। ‘यह पुण्य है, यह पावन है’ इत्यादि कल्पनाओंके रूपमें मिथ्याज्ञान ही तृप्त करता है। यदि तुम आत्मासे भिन्न कोई लिङ्गशरीर ही हो तो बताओ। बीते हुए दूसरे अनेक जन्मोंमें जो तुम्हारे बन्धु और धन-वैमव नहुं हो गये हैं, उनके लिये मी शोक क्यों नहीं करते? हुन्दर छलोंसे मुश्यमित वनस्थलियोंमें तुम्हारे बहुत-से बन्धु मुग्योनियोंमें मुग्य-शरीर धारण करके रहे हैं, उनके लिये हुमें शोक क्यों नहीं हो रहा है? वहस ! इसी जन्म-द्वारपमें तुम पहले अभ्यान्य बहुत-सी योनियोंमें सैकड़ों-हजारों बार जन्म ले चुके हो। मैं तत्त्वज्ञानसे शुद्ध हुई सूक्ष्म-मुद्रिके द्वारा तुम्हारे और अपने पूर्वजन्मके वासना-क्रमको देख रहा हूँ। मेरी भी बहुत-सी योनियों अनेक बार बीत चुकी हैं, उन मोह-मन्थर ( अज्ञानसे जटीभूत ) अतीत योनियोंको आज मैं तत्त्वज्ञानसे उद्दित हुई सूक्ष्म-दृष्टिके द्वारा देखता और स्मरण करता हूँ। ऐसी अवस्थामें जो जगदमें उत्पन्न हुए सैकड़ों माता-पिता, भाई-बन्धु और मित्र काल्पे गालमें जा चुके हैं, उनमेंसे किन-किनके लिये हम दोनों शोक करें और किनके लिये न करें। अथवा किनको-किनको छोड़कर यहाँ किन-किनके लिये हम शोकमें दूखे रहें; क्योंकि सप्तारकी तो ऐसी ही गति है। पावन ! तुम्हारा मठा हो। मनमें अहंमावके रूपमें स्थित इस प्रपञ्च-भावनाको त्यागकर तुम उस गतिको प्राप्त करो, जो आत्मज्ञानी पुरुषोंको उत्तमत्व होती है। वहस ! तुम शाश्त्रनित्य होकर आत्माका—अपने आपका

जो माद और अमाव ( उत्पत्ति और विनाश ) से मुक्त तथा जरा और भृत्यसे रहित है, स्वरण करो। मनमें महाता न आओ। उत्तम बुद्धिवाले पाथन ! न तुम्हें हुआ है न तुम्हारा जन्म हुआ है, न तुम्हारी कोई माता है और न पिता ही है। तुम केवल शुद्ध-सुद्ध आत्मा हो, दूसरे कोई नहीं हो। जैसे रात होनेपर दीपक संनिधिमात्रसे प्रकाशके कर्ता होते हुए मी व्यापार-शून्य होनेके कारण अकर्ता ही हैं, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी पुरुष कर्त्तापनके अभिगानसे रहित होनेके कारण लोक-व्यवहारकी स्थितिमें कर्ता होकर भी अकर्ता ही हैं। कहस ! जो समस्त एषणाओंके कलङ्कसे रहित एवं मनन-शील है तथा विसका हृदय-कमलमें खस्त आत्मस्फूरपसे साक्षात्कार किया गया है, उस आत्माके द्वारा अपने भीतरके समूर्ण संसारभ्रमको मिथ्यकर अवशिष्ट हुए उस मावस्थरूप आत्मा (पञ्चम परमात्मा)से ही संतोष प्राप्त करो।

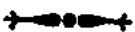
श्रीचत्तिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! पुण्यके इस प्रकार समझाने-मुश्यानेपर पावनको उत्कृष्ट बोध (परमाम-तत्त्वका दृष्ट निष्पत्ति ) प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् ज्ञान और विज्ञानमें पारंगत तथा सिद्ध और अनिन्द्य स्थितिको प्राप्त हुए वे दोनों बन्धु उस वनमें इच्छानुसार विचरने जगे। तदनन्तर



समय आनेपर वे दोनों देहरहित हो परम निर्बाणपद (परमात्मा) को प्राप्त हो गये। निष्पाप श्रीराम ! इस प्रकार पूर्वजन्मोंमें जो असंख्य देह धारण कर चुके हैं, उन प्राणियोंके माता-पिता, वन्धु-वान्धव आदिका समुदाय अनन्त है। उनमेंसे कौन किनको ग्रहण करे और कौन किनका त्याग। रघुनन्दन ! इसलिये इन असख्य तुष्णाशीकी निवृत्तिका एकमात्र उपाय त्याग ही है, उनको दोसना नहीं। जैसे लकड़ी ढालनेसे आग प्रबलित होती है, उसी प्रकार विषय-भोगोंके विन्दनसे विन्दा बढ़ती जाती है; और जैसे विना ईंधनके आग बुझ जाती है, उसी प्रकार विषयोंका विन्दन न करनेसे चिन्ता मिट जाती है। एकमात्र विवेकरूपी सखा और एकमात्र पवित्र एवं तीक्ष्ण शुद्धिरूपीणी श्रिय सखीको साथ ले संसारमें शास्त्रविहित आचरण करनेवाला पुरुष संकट पढ़नेपर भी मोहग्रस्त नहीं होता। वैराग्यसे, शाश्वेति की अन्याससे तथा महत्वायुक्त क्षमा, दया, शान्ति,

समता और संतोष आदि गुणोंसे यत्पूर्वक आपत्तिका निवारण करनेके लिये मनुष्य खयं ही मनको उन्नत बनाये। जो परम पदवी प्राप्तिरूप फल पूर्वोक्त महत्व-युक्त गुणोंसे उत्कर्षको प्राप्त हुए मनके द्वाग उपलब्ध हो सकता है, वह तीनों लोकोंके ऐश्वर्य तथा रत्नोंसे भरे हुए कोशकी प्राप्तिसे भी नहीं हो सकता। मनके विशुद्ध अमृत-रससे पूर्ण होनेपर सारी वस्तुधा आनन्दकी सुधार-धरासे आग्राहित हो जाती है। मन वैराग्यसे ही पूर्णताको प्राप्त—विज्ञानानन्दवन रससे परिपूर्ण होता है। आशा (इष्टा, कामना आदि) के वशीभृत हुआ मन उपर्युक्त पूर्णताको नहीं प्राप्त होता। जिनके चित्तमें किसी लौकिक वस्तुकी सृष्टा नहीं है, उन लोगोंके लिये तीनों लोकोंका ऐश्वर्य कमलगढ़टेके समान अत्यन्त तुच्छ है। श्रीराम ! चित्तके नष्ट हो जानेपर अविचल धैर्यसे युक्त पुरुष उस परमपदको प्राप्त कर लेता है, जहाँ फिर नाशका भय नहीं है।

( सर्ग २०-२१ )



## राजा वलिके अन्तःकरणमें वैराग्य एवं विचारका उदय तथा उनका

### अपने पितासे पहलेके पूछे हुए प्रश्नोंका स्मरण करना

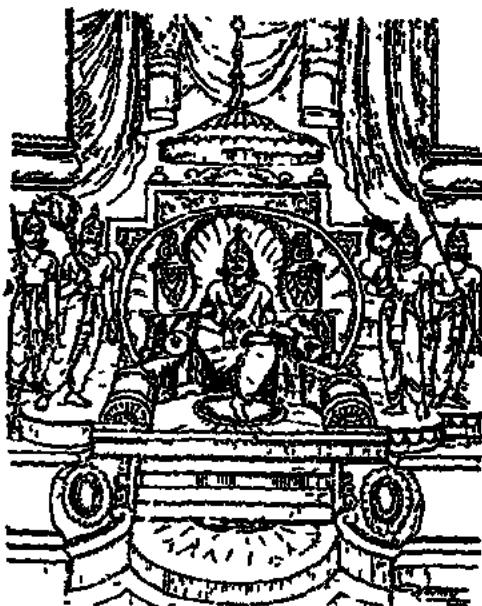
श्रीवसिष्ठजीने कहा—अयशा हे रघुकुलरूपी आकाशके पूर्ण चन्द्रमा श्रीराम ! तुम राजा वलिकी भाँति विवेकके द्वारा पवित्र परमात्माका यथार्थ एवं विशुद्ध ज्ञान प्राप्त करो।

श्रीरामचन्द्रजी चोले—भगवन् ! समूर्ण धर्मोंके ज्ञाता गुरुदेव ! आपकी कृगासे मुक्ते प्राप्तव्य समिच्छानन्द-वन परमात्माके ज्ञानका यथार्थ अनुभव प्राप्त है और उसी निर्मल पदमें मैं परम शान्तिको प्राप्त होकर स्थित हूँ। प्रमो ! जैसे शरदांश्वतुमें आकाशसे व दल हट जाते हैं उसी प्रकार मेरे नित्यमें तुष्णा नामक महान् तम (विज्ञानान्धकार) का अत्यन्त अभाव हो गया है। पूर्णिमाके

साथकालमें उदित हुए आकाशवर्ती शीनल अमृतभवी किरणोंसे सम्पन्न तथा महातेजस्वी पूर्ण चन्द्रमाके समान मैं विज्ञानानन्दवनमय अमृतमे परिपूर्ण, चिन्मय आकाश-खल्प ब्रह्ममें विगजमान शान्तिमय गहान् प्रकाशखल्प तथा अन्तःकरणमें परमानन्दसे परिपूर्ण होकर स्थित हूँ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! मैं तुमसे वलिके उत्तम वृत्तान्तका वर्णन करता हूँ, तुमनो ! इम ग्रन्थाण्ड-कोशके भाँति विस्मा दिशारूपी निवृक्षमें भूमिके नीचे विद्यमान पतात नामसे विद्यत एक लोक है, जिसमे अमुरोंके बाहुदण्डोंपर आधारित महान् साम्राज्य है।

उस साम्राज्यपर विरोचनकुमार बलि राजके रूपमें प्रतीष्ठित हुए। वे दैत्यराज बलि त्रिलोकीके रूपोंके



कोश, समस्त शरीरधारियोंके रक्षक तथा सुवनपाणीके भी पालक हैं। साक्षात् भगवान् विष्णु उनकी रक्षा करते हैं। उन्होंने अनायास ही वशमें किये हुए समूर्ण लोकोंके विस्तारसे अपने आपको विभूषित करके दस कठोर कर्त्तव्य राज्य किया। तदनन्तर आने-जानेवाले बहुत-से युग वीत गये। देवताओं और असुरोंके महान् समूह कभी उन्मतिको प्राप्त हुए और कभी उनका पतन हुआ। तीनों लोकोंमें अस्यन्त उत्कृष्ट समझे जानेवाले बहुत-से मोर्गोंका निरन्तर उपयोग करते-करते एक समय दानवराज बलिको उन मोर्गोंसे अप्यन्त उड़ेगा (वैराग्य) प्राप्त हुआ। एक दिन मेलर्पतके शिखरपर स्थित रूपोंके बने हुए विशाल भवनमें खिड़कीके सामने बैठे हुए दैत्यराज बलि स्थय ही सासारकी स्थितिपर विचार करने लगे—‘अहो! अक्षुण्ण शक्तिवाले मुझ बलिको अब हस लोकमें किलने समर्थतक यह साम्राज्य चलाना और तीनों लोकोंमें विचरण होगा? मेरा यह महान् राष्ट्र तीनों लोकोंको आस्थायें छालनेवाला है। प्रचुर भोगोंसे सम्पन्न होनेके कारण यह अस्यन्त मनोहर जान पड़ता है, किंतु इसके

उपभोगसे मेरा कौन-सा प्रयोजन मिल हो रहा है! आरम्भमें तभीतक मधुर प्रतीत होता है, जबतक नष्ट या विकृत नहीं हो जाता, और जिसका कि अवश्यम्भावी है, उस भोग-समुदायका उपयोगमात्र कि मेरे लिये क्या सुखदायक हो सकता है? जिसके हो जानेपर दूसरा कुछ पाना या करना शेष न रह; उस परम उदार अहितीय (परमात्मप्राप्तिशूल) फल में यहाँ नहीं ढेख पाता। इन क्षणभद्र भोग छोड़कर दूसरा लिय, उक्त प्रथम श्यार्थ सुख क्या है? इसीका मैं विचार करता हूँ।’ विवेक-वैराग्ययुक्त बुद्ध ऐसा सोच-समझकर राजा बलि तत्काल प्यानमान हो ग

तदनन्तर विचार किये हुए परम पुरुषार्थका मन मन चिन्तन करते हुए असुरराज बलिने क्षणभद्रमें भू-पूर्वक कहा—“अरे! याद आ गया। पहलेकी बात है जिन्होंने ओकके छोटे-बड़े सभी व्यञ्जनोंको देखा या जो आगमस्थके ज्ञानसे सम्पन्न थे, उन अपने प्रेरण्यक पिता महाराज विरोचनसे मैंने पूछा—‘मशामने! समस्त दुःखों और सुखोंसे सम्बन्ध रखनेवाले मारे शास्त्र हो जाते हों, संसारकी बह सीमा कौन है? ता

मनका भोद कहाँ शान्त होता है ? समस्त एषणाओं कहाँ अपाव हाना है तथा चिरकालके लिये निरन्तर एवं पुनरावृत्तिरहित विश्राम कहाँ प्राप्त होता है ? पूज्य पिता जी ! अविनाशी आनन्दसे परम सुन्दर किसी ऐसे

परमशदका मेरे लिये वर्णन कीजिये, जहाँ स्थित होकर मैं सदाके लिये प्रामाण्यित प्राप्त कर दूँ ।' मेरे इस प्रश्नको सुनकर पिताने सम्प्रोहशान्ति ( अशान-निवारण ) के लिये मुश्से यह बात कही ।' ( सर्ग २२-२३ )



### विरोचनका थलिको भोगोंसे वैराग्य तथा विचारपूर्वक परमात्मसाक्षात्कारके लिये उपदेश



विरोचन थोले—महामते ! मनुष्यसे लेकर ब्रह्मपदतक सम्पूर्ण पदोंका अनिकमण करनेवाला जो मन, मुहिं, इन्द्रिय और शरीरका सामी शुद्ध आत्मा है, वह एक राजाके समान है । उसने बुद्धियुक्त मनको अपना मन्त्री बनाया है । उस मन्त्रीको जीत लेनेपर सबको जीत लिया जाता है और सब कुछ प्राप्त हो जाता है । परंतु उसे अत्यन्त दुर्जय समझना चाहिये । वह बलसे नहीं, मुक्तिसे ही जीता जाता है ।

बलिने कहा—भगवन् ! उस वितरुपी मन्त्रीपर आक्रमण करनेके लिये जो मुक्ति या उपाय हो, उसे आप भलीभौति चताइये, जिससे मैं उस भयकर मनपर विजय पा सकूँ ।

विरोचन थोले—बेटा ! सभी विषयोंके प्रति सब प्रकारसे जो अत्यन्त अनास्था ( वैराग्य ) है वही ममपर विजय पानेके लिये उत्तम युक्ति है । यह अनास्था ही वह उत्तम युक्ति है, जिससे महान् मदमत्त मनरुपी मातङ्ग ( गजराज ) का शीघ्र ही दमन किया जा सकता है । महामते ! यह युक्ति अत्यन्त दुर्लभ और परम सुखम भी है । यदि इसके लिये अभ्यास न किया जाय तो यह अत्यन्त दुर्लभ है । परंतु यदि इसके लिये भलीभौति अभ्यास किया जाय तो जैसे सीचनेसे लता लहलहा उठती है, उसी प्रकार यह विरक्ति भी सब औरसे दुर्स्पष्टतः प्रकट हो जाती है । पुत्र ! जैसे बोये बिना धान नहीं प्राप्त होता, वैसे ही यदि विरक्तिके लिये अभ्यास न किया जाय तो विश्व लोलुप पुरुष कितना ही क्यों न आहे, यह विरक्ति उसे नहीं मिलती; अनं तुम इसे अभ्यासके द्वारा दृढ़ करो । संसाररुपी गर्तमें निशास करनेवाले ये जीव तत्त्वक नाना प्रकारके दुखोंमें मटकते रहते हैं, जबतक उन्हें विषयोंसे वैराग्य नहीं हो जाता । जैसे कोई अत्यन्त बलवान् देहवाला मनुष्य भी यदि पैर उठाकर कहीं जाय नहीं तो वह देवान्तरमें नहीं पहुँच सकता, उसी तरह कोई शारीरिक शक्तिसे सम्पन्न पुरुष भी यदि अभ्यास न करे तो वह विषयोंसे वैराग्य नहीं प्राप्त कर सकता । इसलिये देहधारी मनुष्यको चाहिये कि वह जीक्ष्मुक्तिके हेतुभूत पूर्वकयित ख्येय नामक धासना-

स्थागकी अभिलाषा एवं चिन्तन करते हुए मोगोंकी ओरसे विरक्तिकर अभ्यासपूर्वक विद्वार करे—ठीक ऐसे ही, जैसे सीधने आदिके द्वारा लगायी हुई वेळको बढ़ाया जाता है। वेदा ! हर्ष और अमर्षसे रहित शुभ कर्मफलको प्राप्त करनेके लिये इस संसारमे परम पुरुषार्थके सिवा दूसरा कोई साधन नहीं है। पुरुषार्थसे ही उसकी प्राप्ति होती है। संसारमें दैवकी चर्चा बहुत की जाती है। परन्तु दैव कहीं देहधारण करके स्थित हो, ऐसी बात नहीं है। अवश्य होनेवाली जो भवितव्यता है—नियतिके द्वारा मिलनेवाला जो अपने ही शुमार्षुम कर्मोंका फल है, उसीको यहाँ दैव अवश्य प्रारब्ध नाम दिया गया है।

प्रारब्ध-मोगल्प जो दैव है, उसे परम पुरुषार्थसे ही जीता जाता है। जीवात्मा पुरुष-शरीर धारण करके पुरुषार्थसे जिस पदार्थका जैसे संकल्प करता है, इस लोकमें वह पदार्थ उसे उसी रूपमें प्राप्त होता है, दूसरे किसी रूपमें नहीं। वेदा ! इस जगत्में पुरुषार्थके सिवा दूसरा कुछ नहीं है। अत. उत्तम पुरुषार्थका आश्रय ले भोगोंकी ओरसे वैराग्य प्राप्त करे। जबतक भोगोंसे वैराग्य, जो संसार-बन्धनका विनाश करनेवाला है, नहीं प्राप्त होता, तबतक त्रिजयदायक परमानन्दकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जबतक मोहमें डालनेवाली विषयाशक्ति बनी हुई है, तबतक भवदशारूपी छूला चञ्चल गतिसे आन्दोलित होता रहता है अर्थात् जीवको संसारमें भट्टकरनेवाली अस्थिर अवस्था प्राप्त होती रहती है। पुत्र ! अभ्यासके विना विषयमोगल्पी मुजगोंसे भरी हुई दुःखदायिनी दुराशा कदापि दूर नहीं होती।

बलिने पृष्ठ—असुरेश्वर ! विषयोंकी ओरसे जो वैराग्य है, वह जीवके अन्त करणमें केंते हड्डतपूर्वक स्थित होता है :

विरोचनने कहा—वेदा ! आत्मसाक्षात्काररूपिणी फलदायिनी लता जीवके अन्तःकरणमें विषयमोगोंसे

विरक्तिरूपी फल अवश्य उत्पन्न करती है। आत्म-साक्षात्कार होनेपर विषयोंमें (राग-आसक्ति) का अप्रत्यक्ष अभाव हो जाता है। इसलिये पुलव पवित्र और तीक्ष्ण बुद्धिके द्वारा अति उत्तम विवेक-विचारसे परमप्रस वरमामाका साक्षात्कार करे। साथ ही विषयोंकी आसक्तिसे सर्वथा रहित हो जाय। पवित्र एवं तीक्ष्ण बुद्धिशाला पुरुष दिनके दो भागोंमें अपने विचक्षों वैराग्यपूर्वक परमार्थ-साधनरूपसदृशाङ्कके अनुशीलनमें छागये, तीसरे भागमें एकान्तदेशमें स्थित होकर मनको सचिदानन्दघन परमात्माके ध्यानमें छागये तथा चाँथे भागमें अपने चित्तको श्रद्धाभक्तिपूर्वक गुहकी सेवा और आज्ञापालनमें लगाये। साधु खमाल (श्रेष्ठ आचरण) को ग्राह द्वारा पुरुष ही ज्ञानोपदेश पानेका अधिकारी होता है। जैसे स्वर्ण धन ही उत्तम रंगको प्रहण करता है, उसी तरह सदाचारी पुरुष ही ज्ञानोपदेशको अपने हृत्यमें धारण करता है। यह चित्त एक बालकके समान है। इसे पवित्र, बच्चों, युक्तियों और आमके अनुशीलनमें धीरे-धीरे लाल-प्यारके साथ रिक्षाकर वशमें करना चाहिये। वेदा ! शुद्ध और सूक्ष्म बुद्धिसे तृष्णा-आसक्तिका सर्वथा अभाव करने हुए ही सचिदानन्दघन परमात्माका चिन्तन करना चाहिये; क्योंकि परमात्माका साक्षात्कार होनेपर तृष्णा एवं आसक्तिका सर्वथा अभाव होता है और तृष्णा एवं आसक्तिका अभाव होनेपर परमात्माका साक्षात्कार होता है। इस तरह ये दोनों बातें एक-दूसरेपर अवश्यित हैं। इसलिये दोनों साधनोंको एक साथ करने रहना चाहिये। जब भोग-समृद्धिमें आसक्तिका अध्यन अभाव हो जाता है तथा परावरस्तरूप सचिदानन्दघन परमात्मदेवका साक्षात्कार हो जाता है, तब जीवके कमी नष्ट न होनेवाली सीमारहित परमशान्ति प्राप्त हो जानी है। विषयोंमें ही आनन्द मानकर रुक्का आसादन करनेवाले मनुष्योंको तो इस जगत्में कमी भी परमानन्दके अवधारण विना निस्सीप एवं निरतिशय आनन्दकी

प्राप्ति नहीं होती । सकामभावसे किये गये यज्ञ, दान, तप और तीर्थसेवनसे तो स्वर्गदि सुख ही प्राप्त होते हैं । आत्माका यथार्थ ज्ञान हुए किना उन तप, दान और तीर्थ-सेवनरूप सकाम साधनोंद्वारा जीवको कभी विषयोंसे वैराग्य नहीं होता ।

बेटा ! अपने परम पुरुषार्थके बिना पुरुषकी सुदृढ़ि किसी भी युक्तिसे कल्याणके हेतुभूत आत्मज्ञानमें प्रवृत्त नहीं होती । भोगोंके सर्वथा त्यागसे प्राप्त होनेवाले परम पुरुषार्थके बिना ब्रह्मपदकी प्राप्तिरूप परम शान्ति एवं परमानन्दकी उपलब्धि नहीं होती । परम कारणरूप परमात्माका यथार्थ वोध हो जानेपर मनुष्यको जैसी शान्ति प्राप्त होती है, वैसो ब्रह्मसे लेकर तृणर्पणंत हस सम्पूर्ण जगतमें कहीं भी नहीं मिलती । सुद्धिमान् मनुष्य परम पुरुषार्थका आश्रय ले दैव ( प्रारब्ध ) को दूरसे ही त्याग दे तथा कल्याणरूपी भवनके द्वारको दृढ़तापूर्वक बद रखनेवाले अगलारूप जो भोग हैं, उनसे वृणा करे—उनकी ओरसे सर्वथा निरक्त हो

जाय । भोगोंके प्रनि वैराग्यसे परमात्मविषयक विचार उत्पन्न होता है और परमात्मविषयक विचार उद्दित होनेपर भोगोंकी ओरसे वैराग्य होने लगता है । जैसे समुद्र बादलको और बादल समुद्रको मरते हैं, उसी तरह ये दोनों साधन एक-दूसरेके पूरक हैं । जैसे परस्पर अस्यन्त स्नेह रखनेवाले सुहृद् एक-दूसरेके मनोरथ सिद्ध करते हैं, उसी प्रकार भोगोंसे वैराग्य, परमात्म-विषयक विचार और नित्य आत्मदर्शन—ये तीनों एक दूसरेको पुष्ट करते हैं । मनुष्यको चाहिये कि पहले देशाचार और सदाचारके अनुकूल तथा बन्धु-बान्धवोंकी सम्पत्तिके अनुरूप न्यायसुख पुरुषार्थद्वारा क्रमशः धनका उपार्जन करे । उस धनके द्वारा कुलीन और गुणशाली सज्जनोंको अपनाये—उनकी सेवा करके उन्हें अपने अनुकूल बनाये । उन सत्पुरुषोंका सङ्ग करनेसे भोगोंकी ओरसे शिरक्ति होने लगती है । तदनन्तर विवेकपूर्वक विचारका उदय होता है । तत्पश्चात् शास्त्रोंके यथार्थ अर्थका अनुमत्व होता है । उसके बाद क्रमशः परम पद्धतरूप परमात्माकी प्राप्ति होती है । ( सर्ग २४ )



**बलिका पिताके दिये हुए ज्ञानोपदेशके स्मरणसे संतोष तथा पहलेकी अज्ञानमयी स्थितिको याद करके खेद प्रकट करते हुए शुक्राचार्यका चिन्तन करना, शुक्राचार्यका आना और बलिसे पूजित होकर उन्हें सारभूत प्रिद्वान्तका उपदेश देकर चला जाना**

बलि मन-ही-मन कहने लगे—मूर्खकालमें सुन्दर विचार रखनेवाले मेरे पूज्य पिताजीने मुझे ऐसा उपदेश दिया था । सौभाग्यकी बात है कि वह उपदेश मुझे इस समय याड आ गया, इससे मैं प्रशुद्ध हो गया हूँ । आज मेरे अन्तःकरणमें भोगोंके प्रनि यह अतिशय विरक्ति प्रत्यक्ष अनुभवमें आने लगी है । वहे आनन्दकी बात है कि मैं अमृतके समान शीतल, विशुद्ध एवं परम शान्तिमय परमानन्द-सिद्धुमें प्रविष्ट हो गया हूँ । अहा ! अन्तःकरणको शीतल बना देनेवाली यह

शान्तिमय स्थिति बड़ी ही रमणीय है । इस शान्तिमयी स्थितिमें सुख-दुःखकी सारी दृष्टियाँ ही शान्त ( विलीन ) हो गयी हैं । परम उपरतिमें स्थित हो मैं परम शान्तिका अनुभव करता हूँ । सब ओरसे निर्वाणको प्राप्त हो रहा हूँ । प्रशुद्धरूपक स्थित हूँ और मेरे अन्तःकरणमें ऐसा अपार हर्ष हो रहा है, मानो मुझे चन्द्रमण्डलमें स्थापित कर दिया गया है । समस्त वैभवोंके दृष्टान्तमूलमें महान् वैभवका मैंने उपभोग किया, भोगने योग्य सारे भोगोंको बिना किसी बाधाके भोग लिया और समस्त

प्राणियोंको पददलित कर दिया, तो भी इससे मुझे कौन-सा सुन्दर लाभ मिला ? परलोकमें, इस लोकमें तथा अन्य स्वर्ग आदिमें हधर-उधर, बारंबार वे ही पहलेकी अनुभव को हुई वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं। कहीं कोई अमूर्ख ( नूतन ) वस्तु नहीं है। पातालमें, भूलोकमें और स्वर्गमें सार पदार्थ क्या है—सुन्दरी कियाँ, रत्न एवं मणिमय प्रस्तर आदि। परंतु कल इन सबको क्षणभरमें निगल जाता है। आजसे पहले इतने समयतक मैं पूरा मूर्ख बना रहा जो तुच्छ सांसारिक वस्तुओंकी इच्छासे देवताओंके साथ छेप करता रहा। जो मनकी कल्पनामात्र है, उस जगत् नामकी महती मानसिक व्यथाका स्थाग न करनेसे कौन-सा पुरुषार्थ सिद्ध होता है ? इसमें महात्मा पुरुषका क्या अनुराग होगा ? अहो ! वहे दुखकी बात है कि अशानखी मदसे मत्त हुए मैंने दीर्घकालतक अनर्थमें ही अर्थ-बुद्धि करके स्वयं ही उसका सेवन किया। अस्यन्त चक्षु तुच्छावाले मुझ मूर्खने तीनों लोकोंमें केवल अपने पञ्चात्मको बढ़ानेके लिये अबतक क्या नहीं किया ? अब मैं आश्रित जनोंपर सदा प्रसन्न रहनेवाले गुरुदेव भगवान् शुक्राचार्यका चिन्तन करता हूँ। उनकी बाणीद्वारा उपदेश पाकर मैं अनन्त प्रभावशाली विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें स्थित होऊँगा; क्योंकि महात्माओंके उपदेश-वाक्य अक्षय वस्तुको फलस्वरूपमें उत्पन्न करते हैं—अविनाशी तत्त्वका बोध करा देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! बलशान् बलिने ऐसा सोचकर और्ख्ये बंद कर लीं और विज्ञानानन्दघन ब्रह्मस्वरूप आकाशमें स्थित कमलनयन शुक्राचार्यका चिन्तन किया। तब परमात्माके व्यानमें नित्य तत्पर रहनेवाले शुक्राचार्यने सर्वन्यापी ब्रह्मके स्वरूपमें स्थित और चित्तके द्वारा परमात्मतत्त्वका चिन्तन करनेवाले अपने

शिष्य बलिके विषयमें यह जान लिया कि वह अपने नगरमें तत्त्वज्ञानकी इच्छा रखकर गुरुसे पिण्डना चाहता है। यह जानकर प्रमुख शुक्राचार्यजी, जो सर्वगत अनन्त चेतन परमात्मामें स्थित है, अपने आपको बलिकी रत्ननिर्मित लिङ्ककीपास ले आये अर्थात् वे बलिके यहाँ स्वयं उपस्थित हो गये। वहाँ राजा बलिने रक्षय अर्थ देकर, मन्दारवृक्षके पुष्पोंकी राशियों चढ़ाकर और चरणोंमें मस्तक शुक्राकर इन शुक्राचार्यका पूजन किया। जब वे रक्षय अर्थ ग्रहण करके पूर्णतया पूजित तथा मन्दारवृक्षके फूलोंद्वारा निर्मित मुकुटसे विशृंगित होकर बहुमूल्य आसनपर विराजमान हो गये, तब बलिने अपने उन गुरुदेवसे इस प्रकार कहा ।

बलि बोले—मणवन् ! जैसे नवोदित सूर्यकी प्रभा सम्या-वन्दन आदि कर्म करनेके लिये लोगोंको प्रेरित करती है, उसी प्रकार आपके कृष्ण-प्रसादसे उत्पन्न हुई मेरी यह शुद्धि मुझे आपके सामने कुछ कहनेके लिये प्रेरित कर रही है। प्रभो ! मैं महान् मोह प्रदान करनेवाले भोगोंसे विरक्त हूँ, इसलिये ऐसे परम तत्त्वको जानना चाहता हूँ, जो अपने हानमात्रसे महान् मोहका नाश करदे।

शुक्राचार्य बोले—सर्वदानवराजेन्द्र ! इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ ? मैं आकाशमें जानेके लिये उदय हूँ; इसलिये संक्षेपसे सार तत्त्व बना रहा हूँ, सुनो ! इस संसारमें एकमात्र चेतन ही है। यह सुव जगत् भी चेतनमात्र—चिन्मय ही है। तुम भी चिन्मय, मैं भी चिन्मय और ये लोक भी चिन्मय हैं। अर्थात् जो बुद्ध भी दिखायी देता है, वह सब एक मद्विदानन्दघन ब्रह्म ही है—यह समल सिद्धान्तोंका भार है। यदि तुम श्रद्धालू हो तो इस निष्क्रयसे तुम सब लुँग प्राप्त कर सकते हो; और यदि तुममें श्रद्धा नहीं है तो तुम्हें

दिया गया बहुत-सा उपदेश मी राखमें छाली गयी आद्वृतिके समान व्यर्थ है । चेतनकी जो विषयाकार कल्पना है, वही बन्धन है । उससे छूटना ही मोक्ष कहलाता है । विषयाकाररहित चेतन ही पूर्ण ब्रह्म परमात्मा है, यह समस्त सिद्धान्तोंका सार है । इस सिद्धान्तको ग्रहण करके यदि तुम स्वयं अखण्डाकार हृतिसे अपने हारा अपने आपका व्यथार्थ अनुभव करोगे तो अनन्त परमपदस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाओगे । मैं इस समय देवताओंको जाता हूँ । मुझे यहींपर सतर्क मिले थे । वहाँ देवताओंके किसी कार्यके लिये भुजे रहना होगा ।

ऐसा कहकर शुक्राचार्यजी प्राहसनुदायसे भरे हुए आकाशमार्गसे चले गये । ( सर्ग २५-२६ )



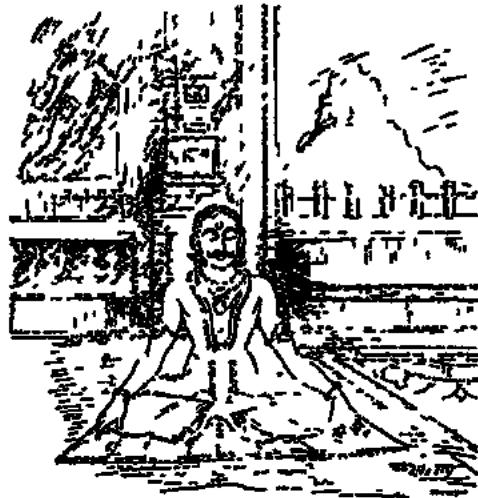
राजा बलिका शुक्राचार्यके दिये हुए उपदेशपर विचार करते-करते समाधिष्ठ हो जाना, दानवों सारण करनेसे आये हुए देत्यगुरुका बलिकी सिद्धावशाको बताकर उनकी चिन्ता दूर करना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! देवताओं और अमुरोंकी समामें श्रेष्ठ माने जानेवाले दूरगुणन्दन शुक्राचार्य-के घले जानेपर दुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ बलिने मन-ही-मन इस प्रकार विवार किया—“गगतान् शुक्राचार्यने यह ठीक ही कहा है कि ‘ये तीनों लोक चेतन ही हैं । मैं चेनन हूँ, ये सब लोग चेतन हैं, दिशाएँ चेतन हैं और ये सब क्रियाएँ भी चेतन ही हैं ।’ वास्तवमें जगत्के बाहर और भीतर सब चेतन ही है । चेननके अतिरिक्त यहाँ कहीं कुछ भी नहीं है । इन्द्रियों चेतन है, शरीर चेतन है, मन चेतन है, उसकी इच्छा चेतन है, भीतर चेतन है, बाहर चेतन है, आकाश चेतन है, समस्त माय-पदार्थ चेतन हैं तथा इस जगत्की स्थिति भी चेतन ही है । अर्थात् जो कुछ भी है, वह एक सचिदानन्दध्वनि परमात्माका ही खरूप है । वहाँ केवल चेतन-ही-चेतन है, दूसरी कोई कल्पना ही नहीं है । संसारमें जब

दैतकी सम्मानना ही नहीं है अर्थात् एक चेतन परमात्मा सिवा दूसरी किसी वस्तुकी सत्ता ही नहीं है, । कौन किसका शत्रु है और कौन किसका पित्र । वह विचारनेसे भी इस विशाल ब्रिलोकीके भीतर चेतन अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु सिद्ध नहीं होती । त अतिशय शुद्ध सचिदानन्द परमात्मामें न द्रेष है न रान मन है और न उसकी वृत्तियाँ ही । किर चिन्मय परमात्मामें विकल्पकी कल्पना हो ही सकती है । मैं सर्वत्र विवरनेवाला, व्यापक, नित्यानन्दमय, विकल्प-कल्पनासे रहित तथा दैतसे शून्य सञ्चिन्द्रध्वनि परमात्मा ही हूँ । मैं आकाशके समान स्वास, अनन्त और सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म हूँ; इसलिये सूख-हुःख आदिको दशाएँ मेरे पास नहीं फटातीं ।”

इस प्रकार विवार करते हुए ही परम विवेकी देत्यगुरु बलि आकाशसे ग्रहक दूर उसकी अर्धमात्रा ( मकार )

अर्थमूल तुरीय परमारपाका चिन्तन करने लगे और चुपचाप समाखिस हो गये । उस समय बलिके सारे



संकल्प शान्त हो गये, सप्रस्त कल्पनाएँ विलीन हो गयी । उनके भीतर किसी प्रकारकी शङ्का नहीं रह गयी । वे ध्याता, ध्येय और ध्यानसे रहित हो गये । उनकी बुद्धिसे चेत्य, चिन्तक और चिन्तनकी विपुटी दूर हो गयी । वे निर्मल और वासनाशन्य हो बायुरहित स्थानमें इक्षे द्वुए दीपककी लौके समान निश्चल हो गये । वे महान् पद ( परमात्मा ) को प्राप्त हो गये थे । उनका मन सर्वथा शान्त हो गया था । वे वहाँ रुननिर्भीत वातावर ( खिडकी ) में दीर्घकालतक उसी तरह अविचल मावसे बैठे रहे, मानो प्रस्तरमें सुधी द्वारे मूर्ति हो ।

रघुनन्दन ! तदनन्तर बलिके अनुकर दानवलोग स्फटिकमणिके बने द्वुए उनके महलकी ऊँची आद्यालिकापर क्षणमरमें चढ़ गये । दिम्य आदि धीर मन्त्री, कुमुद आदि सामन्त, सुर आदि राजा, वृत्त आदि सेनापति, हयप्रीव आदि मैनिक, चाकाज आदि माई-बन्धु, लहुक आदि सुहृद, बल्लुक आदि लाङ लाङनेवाले सखा, हाथमें मेंट लेकर उपास्थित द्वुए कुबेर, यम और इन्द्र आदि देवता, सेशका अवसर नाहनेवाले यक्ष, विद्याधर और

नाग उस समय बलिकी सेषाके लिये उस स्थानपर आ पहुँचे । इनके दिवा बिलोकीके भीतर निवास बरनेवाले अन्य बहुत-से सिद्ध भी आये । उनके पास आज्ञ उन सबके गुम्बुट प्रणामके लिये शुक गये । उन स्थाने वहे आदरके साथ राजा बलिको देखा, वे ध्यानमें मीन हो समाखिस हो गये थे और चित्रलिखित पुरुषकी भौमि निश्चलभावसे बैठे थे । उस अवस्थामें उनका दर्शन



करके अवश्य-कर्तव्य प्रणाम आदि कर उक्तनेपर वे महान् अमूर पहले तो उन्हें निप्राण समशक्त विग्रहमें दूर गये, परंतु उनके मुखपर आयी द्वई प्रसन्नता देव विस्मित द्वुए । तत्पश्चात् रोमाञ्च आदि जानन्दके चिद देखकर वे स्थाय भी आनन्दमग्न हो गये । परतु उस गमय अपना कोई रक्षक न देखकर वे भयके कारण शिथिर होने लगे । फिर दानव मन्त्रियोंने यह विचार किया गि अब यहाँ इमारे लिये कौन-सा कर्तव्य प्राप्त है । यह विचार आते ही उन्होंने सर्वज्ञ पुरुषोंमें श्रेष्ठ दंत्यगुरु शुक्राचार्यका स्मरण किया । स्मरण नरने ही देखोने देखा, भगुनन्दन शुक्र अपनेतेजस्वी शरीरने घदी उण्मिन हैं । अस्तुरोने उनकी पूजा की, फिर वे गुर्स्के उप सिंहासनपर विश्वमान द्वृए । तदनन्तर शुक्राचार्यमें

दानवरुज बलिको देखा, जो मौनभावसे ध्यानमान होकर बैठे थे । क्षणमर विश्राम करके शुक्राचार्यने बडे प्रेमसे बलिकी और देखा और विचार करके वे इस निष्ठयपर पहुँचे कि बलिका संसारखल्पी भ्रम नष्ट हो गया है । तत्पश्चात् गुरुने उस दैत्यमण्डलीसे कहा—“देखो ! ये

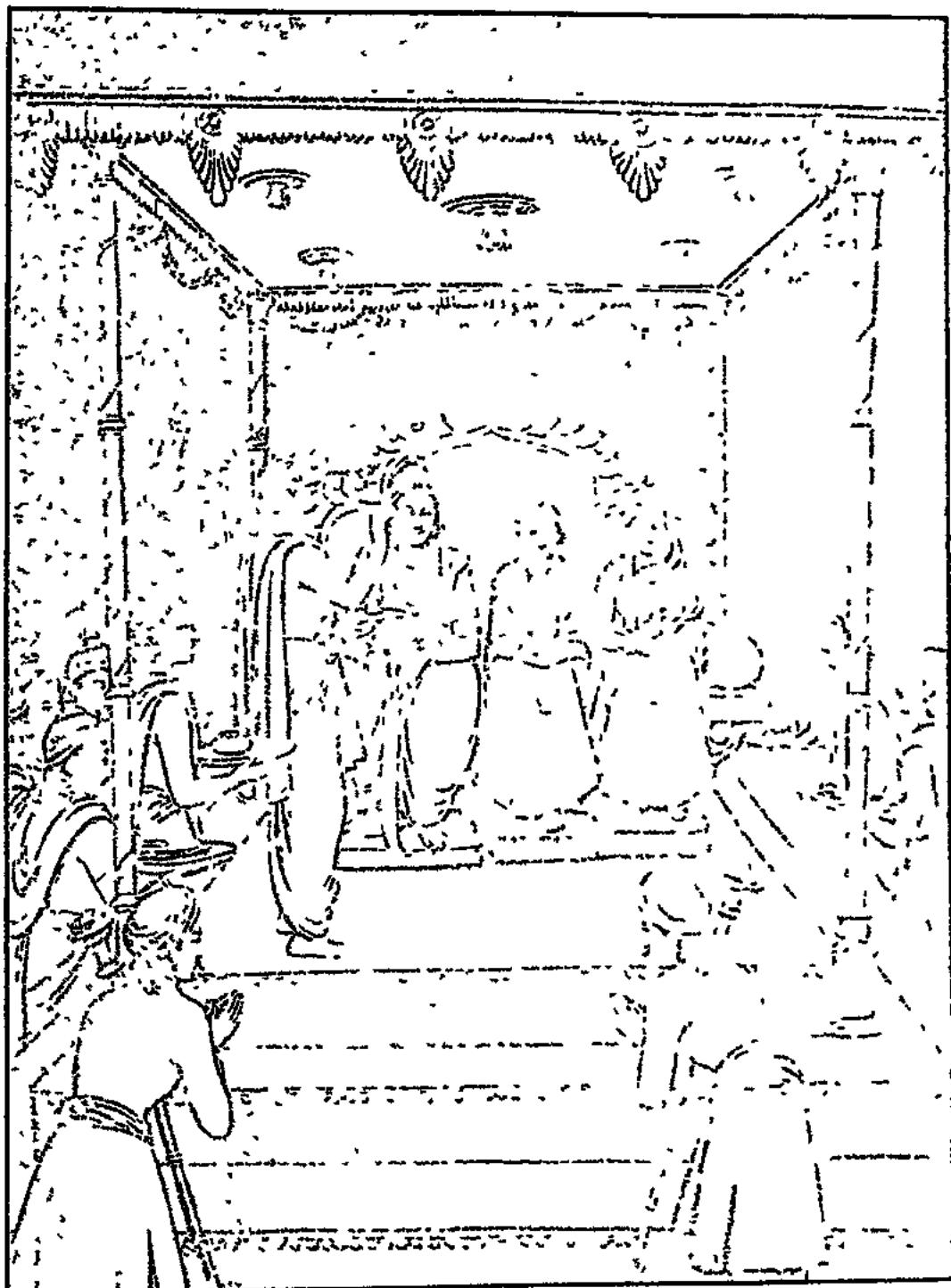
का समुदाय प्राप्त होता है, उसी प्रकार इनका अज्ञानयुक भ्रम दूर हो जानेपर अब इन्हें अपना ही प्रकाश प्राप्त हुआ है । समय आनेपर ये स्वयं ही इस समाधिसे जाग उठेंगे । दानवमायको ! तुम सब लोग अपने स्थानीके कार्य करो । ये राजा बलि एक सहज वर्षपर समाधिसे उठेंगे ।



ऐश्वर्यशाली बलि अपनी विचारधारासे ही विशुद्ध परमपद-को प्राप्त होकर सिद्ध हो गये हैं । यही अतिशय शान्त-मय परमानन्द है । दानव-शिरोमणियो ! ये इसी तरह समाधिमें स्थित हो अपने परमानन्दखल्प आत्मामें नित्य स्थितिको प्राप्त हों और निर्विकार परमपदका साक्षात्कार करें । दानवो ! जैसे यके द्वारा पुरुषको विश्राम मिले, उसी प्रकार ये बलि भी वित्सकी भ्रान्तिसे रहित हो परम विश्रामको प्राप्त हुए हैं । इनका संसारखल्पी कुहरा ( अज्ञान ) शान्त हो गया है; अतः इस समय तुमलोग इनसे बातचीत न करो । जैसे भूतलपर गत्रिके अन्धकार एवं निद्रा आदिके शान्त होनेपर दिनमें सूर्यकी किरणों-

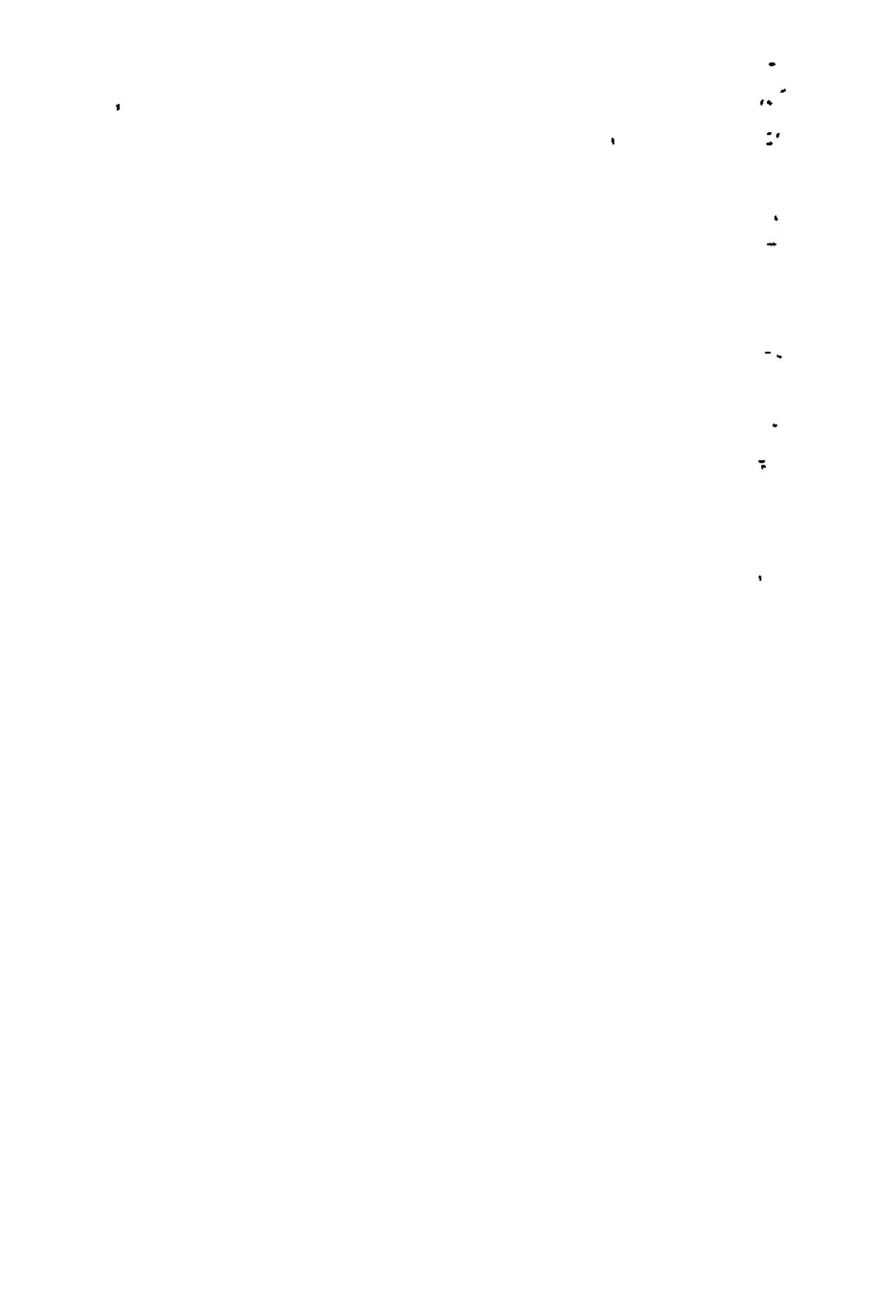


( सर्ग २७-२८ )



दोनो लीलाओंके साथ राजा पद्मका राज्याभिषेक

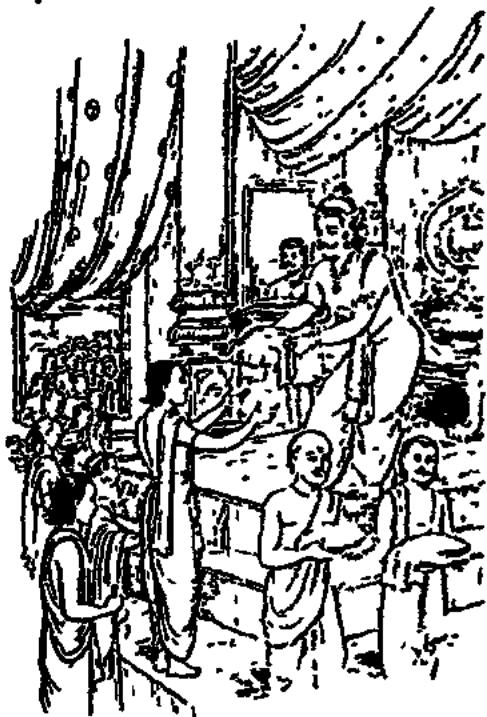
(उत्तरि-प्रकरण सर्ग ५१)



समाधिसे जगे हुए बलिका विचारपूर्वक समझावसे स्थित होना, श्रीहरिका उन्हें त्रिलोकीके राज्यसे हटाकर पातालका ही राजा बनाना, उस अवस्थामें भी उनकी समतापूर्ण स्थिति तथा श्रीरामके चिन्मय स्वरूपका वर्णन

श्रीषिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! तदनन्तर एक सहज दिव्य वर्ष अपीत होनेपर ऐश्वर्यशाली असुरराज बलि देव-दुन्दुभियोंका त्रिमुखनाद सुनकर समाधिसे बागे और इस प्रकार विचार करने लगे—‘न बन्धन है न मोक्ष है । मेरी मर्खता ( अङ्गान ) का नाश हो गया । व्यानके लीला-विलाससे मेरा क्या होगा अथवा ध्यान न करनेसे मी कौन-सा प्रयोग न होगा ? न मैं ध्यानकी इच्छा करता हूँ और न ध्यान न करनेकी; न मोग चाहता हूँ न भोगोंका अभाव; मैं विन्तारहित होकर समझावसे ही स्थित हूँ । यह जगत्का राज्य रहे, तो मी मैं यहाँ स्थिर-भावसे स्थित हूँ । अथवा यहाँ यह जगत्का राज्य न रहे, तो मी मैं शान्तस्वरूप हो परमात्मामें स्थित हूँ । ध्यान-हड्डिसे मेरा क्या काम है ? राज्य-वैभवकी सम्पत्तिसे मी मेरा क्या प्रयोगन है ? जो आता है, वह आये । न कह मैं हूँ न कही कुछ मेरा है । यदि आवश्यकताकी दृष्टिसे इस समय मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं है तो अकर्म्य भी कुछ नहीं है । अतः यह जो कुछ प्रस्तुत कर्म—राज्यपालन आदि है, इसे मैं क्यों न करूँ ?’

ऐसा विचार करके बलि वासनारहित मनसे वहाँ समस्त राज्यकार्य करने लगे । उन्होंने पूजनके अर्थ-पाद आदि उपचारोंद्वारा देवताओं, ग्राहणों और गुरुजनोंकी पूजा की तथा मुहुर्दों, बन्धु-बान्धवों, सामन्तों और सत्यरूपोंका दान-भान आदिके हारा सत्कार किया । इतना ही नहीं, उन्होंने सेवकों और थाकोंको धन-भान्यसे परिपूर्ण कर दिया । इस प्रकार उस राज्यमें, जहाँ सबपर समानरूपसे क्षासन किया जाता था, राजा बलि दिनों-दिन बढ़ने लगे । किसी समय उनके मनमें यह बहनेका विचार



हुआ, तब वे शुक्राचार्य आदि मुहूर्य-मुख्य ग्राहणोंके साप महायह अशमेषका अनुष्ठान करने लगे । उस यज्ञमें समस्त भुवनोंके ग्राणियोंको तृष्ण किया गया । देवर्पिण्योंके समुदायमें उस यज्ञकी भूति-भूरि प्रशंसा की । राजा बलिको भोगसम्भोवी अभिलापा नहीं है—ऐसा निर्धारण करके सिद्धिदाता भगवान् लक्ष्मीपति विष्णु बलिके अभीष्ट मनोरथकी सिद्धिके लिये उस यज्ञमें पधारे । कार्यके तत्त्वको जाननेवाले श्रीहरि एकमात्र भोगेमें आसल होनेके कारण कृपण एवं शोचनीय देवराज इन्द्रको, जो ( उनके बड़े भाई होनेके नाते ) अवस्थामें उपेष्ट दें, इस जगत्रूपी जंगलका भाग देनेके लिये वहाँ आये थे । उन्होंने ब्रह्मपूर्वक पैर बदाकर तीनों दोबोंको नाम लिया और बलिको बैभव भोगसे बद्धित करके उन्हें



पातालस्थलमें ही धौध दिया अर्थात् उन्हें पाताललोकके ही राज्यका अधिकारी बना दिया । श्रीराम । अब वे जीवनमुक्त और अपने ब्रह्मस्वरूप आत्मामें स्थित हो मनको सदा परमात्मविभूतनमें लगाये रखकर पुनः भावी इन्द्रपद-की प्राप्तिके हेतु पातालमें ही विराजमान हैं । पातालस्थीर्णमें रहकर जीवनमुक्तस्वरूप बलि आपत्ति और सम्पत्तिको समान हृषिसे ही देखते हैं । उनका सारा मनोरथ पूर्ण हो जुका है । वे भोगोंकी अभिलाषा छोड़कर नित्य अपने आत्मामें ही रमण करते हुए पातालमें प्रसिद्धि हैं । श्रीराम । ये बलि पुनः इन्द्रपदपर विराजमान हो बहुत क्षेत्रोंका इस सम्पूर्ण जगतपर शासन करेंगे । भविष्यमें होनेवाली इन्द्रपदकी प्राप्ति (की आशा) से न तो उन्हें हर्ष होता है और न अपने त्रिलोकीके राज्यपदसे भ्रष्ट कर दिये जानेके कारण उनके मनमें उद्देश्य ही होता है । वे सभी भावोंमें सम तथा सदा ही संतुष्ट-चित्त रहकर प्राप्त भोगोंका अनासर्क-भावसे सेवन करते हुए आकाशके समान अपने ब्रह्मस्वरूप आत्मामें नित्य स्थित हैं ।

अमृतराज बलि लगातार दस करोड़ वर्षोंतक तीनों लोकोंका राज्य करके अन्तमें उससे विरक्त हो गये । अतः भोगसमूद्रोंमें अवश्य वैरस्य (रसका अमाव एवं दुःखका बाहुदृश्य) है । श्रीराम । सूर्यके समान सबको प्रकाशित करनेवाले सम्बिद्धानन्दस्वरूप त्रुम्हीं सर्वूर्ण जगतमें स्थित हो । त्रुम्हारे लिये कौन अपना है और कौन पराया ? महाबाहो । तुम अनन्त हो, आदि पुरुषोत्तम हो । त्रुम्हारा शारीरचिन्मय है । सैकड़ों पदार्थोंके रूपमें त्रुम्हीं चेष्टा कर रहे हो । जैसे सूखमें मणियों पिरोयी होती है, उसी प्रकार नित्य प्रकाशमान, शुद्ध-बुद्धस्वरूप त्रुम्हमें यह सारा चराचर जगत् पिरोया हुआ है । त्रुम्हारा न जन्म होता है न मृत्यु । तुम अजन्मा हो, अन्तर्यामी और विराट् पुरुष हो । शुद्ध चैतन्य ही त्रुम्हारा स्वरूप है । तुम इस जगत्के स्वामी और नित्य प्रकाशित होनेवाले चिन्मय सूर्यस्वरूपसे स्थित हो । तुममें ही यह स्त्रज्ञ-पुरुष सारा संसार भासित होता है ।\*

० चिदादिष्यो भवानेव सर्वत्र जगति दिथतः ।  
कः परस्ते क आत्मीयः परिस्तव्यसि किं मुचा ॥  
त्वमनन्तो महाबाहो त्वमादः पुरुषोत्तम ।  
त्वं पदार्थशताकारैः परिस्फूर्चसि चिद्भुः ॥  
त्वयि रूपमिद ग्रोतं जगत् स्थावरजड़मम् ।  
योद्ये नित्योदिते शुद्धे सूत्रे भणिगणा थथा ॥  
न जायसे न म्रियसे त्वमऽसः पुरुषो विराट् ।  
चिष्ठुद्वा बन्यमरणप्रात्तयो मा भसन्तु ते ॥

X X X  
त्वयि स्थिते बग्नाये चिदादिष्ये सदोदिते ।  
इदमाभासने सर्वे सप्तारस्पन्दनम् ॥

आत्मसाक्षात्कारके लिये परम पुरुषार्थ करके स्वयं अपने ठपर अनुप्रव नहीं करता, तत्त्वतक किंवेक-विचारका उदय नहीं होता। अबतक अपने आपका यथार्थरूपसे अनुभव

नहीं होता, तत्त्वतक बेटों और बेदान्तशास्त्रके अपेक्षे तथा तार्किक दृष्टियोंसे भी इस आग्नेयाकान्त प्राकृत्य नहीं होता। ( सर्ग २९ )

### प्रह्लादका उपाख्यान—भगवान् तृतीयकी क्रोधाग्निसे हिरण्यकशिपु आदि दैत्योंका संहार तथा प्रह्लादका विचारङ्गारा अपने आपको भगवान् विष्णुसे अभिन्न अनुभव करना

श्रीकृष्णस्तु जी कहते हैं—श्रीराम ! जैसे दैत्यराज प्रह्लाद अपने-आप सिद्ध हो गये थे, ज्ञानप्राप्तिके उस उत्तम क्रमका मैं वर्णन करता हूँ; सुनो । पाताललोकमें हिरण्यकशिपु नामसे प्रसिद्ध एक दैत्य था, जिसका पराक्रम भगवान् नारायणके समान था । उसने युद्धशृणिमें देवताओं और असुरोंको भी मार भगाया था । उसने समस्त सुवनोंपर आक्रमण किया और इन्द्रके हाथसे त्रिलोकीकृत राज्य छीन लिया । वह देवताओं और असुरोंको पराप्त करके सीनों लोकोंका राज्य करने लगा । त्रिमुखनके साम्राज्यपर शासन करते हुए उस असुरराजने यथासमय बहुत-से पुत्र उत्पन्न किये । जैसे बहुमूल्य मणियोंमें कौतुक प्रवान है, उसी प्रकार उन सभी पुत्रोंमें प्रह्लादनाभक बलवान्, पुत्र प्रवान हुआ । इससे हिरण्यकशिपुका गर्व और भी बढ़ गया । उसका आक्रमणजनित ताप उत्तरोत्तर बढ़कर तीनों लोकोंको उसी तरह तपाने लगा, जैसे प्रलयकालके बारह सूर्य अपनी किरणोंकी नूतन प्रमाणे समस्त भुवनोंको संतप्त कर देते हैं । उसके आक्रमणसे सूर्य और चन्द्र आदि देवता खिल हो उठे । उन सबने ब्रह्माजीसे उस दैत्यराजके वधके लिये प्रार्थना की । क्यों न हो, किसीके बारंबार किये जानेवाले हुएर्कर्म या अग्राहको महापुरुष भी सहन नहीं कर सकते । तदनन्तर लक्ष्मीपति भगवान् विष्णुने तृतीयरूप घारण करके जोर-जोरसे दहाड़ते हुए उस महान् असुरको उसी प्रकार मार डाला, जैसे हाथी कटकट शब्दके साथ घोड़ेको मार डालता है । भगवान् तृतीयके नख दिग्गजोंके दाँतोंके समान सुरुद्ध और बग्र आदिके समान भयंकर थे । उनकी चमकीली दन्तपक्षि

द्वृत्यिर विशुल्लनाके समान शोभा पा रही थी । उनका क्रोध तीनों लोकोंको दृष्टि करनेके लिये प्रज्वलित हुई प्रलयाग्निके समान जान पड़ता था । उनके सम्पूर्ण अङ्गोंसे पष्टिश, प्राप्त, तोमर आदि नामा प्रकारके आयुध निकल रहे थे । जैसे प्रलयकालमें अग्निकी ऊळा समस्त जगज्ञानको जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार भगवान् तृतीयके नेत्रोंसे प्रकट हुई आगने उस असुरपुरीके समस्त असुरोंको दृष्टि कर दिया । संवर्तक नामक प्रलयकर मेषोंकी गर्जनायुक्त धारावाहिक वृष्टिसे सर्वध ध्यास हुए एकर्णशमें विशुल्लन हुई बायुके समान जब भगवान् तृतीय अस्थन स्थोमसे भर गये, तब समस्त दानवोंके समुदाय दिशाओंमें जलते हुए मच्छरोंके समान भाग-भागकर अदृश्य हो गये । भगवान् तृतीय हिरण्यकशिपुका वध करके आशस्त हुए देवताओंद्वारा वहे आदरके साथ पूजित हो जब धीरेसे कहाँ चले गये, तब मरनेसे बचे हुए दानव प्रह्लादसे भुरक्षित हो अपने उस बले हुए देशमें लौट गये । वहाँ अपने बन्धु-बान्धवोंके नाशका विधार करके समयोचित विलाप करनेके अनन्तर उन सबने परलोकतासी बन्धुओंका शीर्षदैहिक संस्कार एवं आद किया । तदनन्तर जिनके बन्धु-बान्धव मारे अथवा भगवान् तृतीयकी क्रोधाग्निसे जल गये थे, मरनेसे बचे हुए उन आमीय जनोंको उन सबने धीरेंधीरे आशासन दिया ।

भगवान् तृतीयने जहाँके दानवोंका विनाश कर दाला था, उस पाताल-गर्तमें रहनेवाले मननशील प्रह्लादने मन-ही-मन अस्थन दुखी हो विवेकपूर्वक विचार किया—“इस संसारमें सब प्रकारसे, सब तरहकी पवित्र बुद्धियोंसे और

समस्त उत्तम क्रियाओंद्वारा भीत्रनापूर्वक शरण लेने योग एकमात्र भगवान् श्रीहरि ही हैं। उनके सिवा यहाँ दूसरी कोई गति नहीं है। तीनों लोकोंमें उनसे बदकर कोई नहीं है। सुष्टि, पालन और संहारके एकमात्र कारण श्रीहरि ही हैं। अब हसी क्षणसे सदाके लिये मैं अजम्मा भगवान् नारायणकी शरणमें आया हूँ। जैसे वायु आकाशसे धलग नहीं होती, उसी प्रकार सम्पूर्ण मनोरथोंका साधक 'नमो नारायणाय' यह मन्त्र मेरे इद्यकोशसे दूर नहीं होता। श्रीहरि ही दिशा है, हरि ही आकाश है; वे ही पुर्णी हैं और वे ही जगत् हैं; अतः मैं भी अप्रमेयाभा श्रीहरि ही हूँ। मैं विष्णुरूप हो गया हूँ। श्रीहरि ही प्रह्लाद नामसे प्रकट हैं। मुझ आत्मासे श्रीहरि भिन्न नहीं है, मेरे अन्तःकरणमें यह दृढ़ निष्ठ्य हो गया है; अतएव मैं सर्वव्यापी हरि ही हूँ। जिनकी हायररूपी शाखाओंपर चक्र, गदा और खड़ आदि अस्तररूपी पक्षी सदा विश्राम करते हैं, जो नख-किरणमयी मङ्गरियोंसे व्याप्त हैं, जिनके कंचे कोमळ-कोमळ मन्दार-पुष्पकी मालबोंसे अलंकृत हैं, वे महान् भरकत-भणिमय वृक्षोंके समान ये मेरी चार झुजाएँ सुशोभित हो रही हैं, जिनके बाजूद समुद्र-मध्यनके समय मन्दराच्छलकी रणक्षसे विस गये थे। ये सदा क्रमशः शीतल तथा उष्ण रहने-वाले दो देवता चन्द्रमा और सूर्य, जिन्होंने संसारको प्रकाशित किया है, मेरे मुखमण्डलके दो नेत्र हैं, नील कमलके समान स्याम तथा गहरी मेघमालाओंके समान मुन्दर मेरी यह अङ्गकान्ति सब और फैल रही है। मेरे हाथमें यह पाञ्चजन्य शङ्ख है, जिससे गम्भीर ध्वनिका विस्तार होता है। यह शङ्खस्तररूप होनेके कारण मूर्तिमान् आकाश और श्वेत होनेसे क्षीरसागरके समान जान पड़ता

है। मेरे करतळमें यह शोभाशाली कमल लिपमान है, जो मेरी ही नामिसे लरम्न हुआ है। यह दैत्यों और दानवोंका मर्दन करनेवाली मेरी भारी गदा है, जो रक्ष-जटित होनेसे चितकबरी और सोनेके अङ्गद ( वल्य ) से विभूषित होनेके कारण सुमेह पर्वतके शिखर-सी ग्रतीत होती है। यह मेरा सुदर्शन चक्र है, जिससे सब और किरणें छिटक रही हैं तथा जिसकी आकृति साक्षात् सूर्यके समान दिखायी देती है। यह धूमयुक्त अग्निके समान सुन्दर मेरा काढा और चमकीला नम्दक नामक खड़ है, जो दैत्यरूपी वृक्षोंका उच्छेद करनेके लिये कुठार है और देवताओंको आमन्द प्रदान करनेवाला है। यह इम्प्रधनुषके समान सुन्दर और नागराज वासुकिके समान कुण्डलाकार मेरा शार्ङ्गधनुष है, जो पुष्पक और आर्वतक नामकमेघोंके समान बाणरूपी जलकी अविच्छिन्न धाराएँ बरसाता है। पुर्णी ये मेरे दोनों पैर हैं, आकाश मेरा यह सिर है, तीनों लोक मेरे शरीर हैं और सम्पूर्ण दिशाएँ मेरी कुण्डि हैं। मैं नील मेघके भीतरी भाग-की मौति स्यामकान्तिसे सुशोभित, गङ्गारूपी पर्वतपर आरुद्ध एवं शङ्ख, चक्र तथा गदा धारण करनेवाला साक्षात् विष्णु हूँ। मेरे सामने खड़े हुए ये देवता और असुर मेरे सेजके प्रवाहको उसी तरह नहीं सह सकते जैसे मन्द दृष्टिवाले लोग सूर्यकी प्रभाको नहीं सहन कर पाते। ये ब्रह्मा, इन्द्र, अग्नि और रुद्र आदि देवता बहुसंख्यक मुखोंसे निकली हुई अनन्त बाणीद्वारा मुख सर्वेश्वर विष्णुकी ही स्तुति करते हैं। मेरा ऐश्वर्य बहुत बड़ा हुआ है। मैं अपराजित विष्णुरूप हो गया हूँ, सब प्रकारके दृन्दोंसे ऊपर उठकर अपनी सर्वोत्कृष्ण महिमासे सम्पन्न हूँ। ( सर्ग ३०-३१ )

ग्रह एके द्वारा भगवान् विष्णुकी मानसिक एवं बाय पूजा, उसके प्रभावसे समस्त दैत्योंको वैष्णव हुआ देख विसयमें पढ़े हुए देवताओंका भगवान्से इसके विषयमें पूछना, भगवान्का देवताओंको सान्त्वना दे अदृश्य हो ग्रहादके देवपूजा-गृहमें प्रकट होना और ग्रहादद्वारा उनकी इत्ति

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—खुनन्दन ! इस प्रकार विचार करके भावनाद्वारा अपने शरीरको साक्षात् नारायण-का स्वरूप बनाकर ग्रहादने उन अद्वारारि श्रीहरिकी पूजाके लिये फिर इस प्रकार चिन्तन आरम्भ किया—‘मैं भगवान्-दृष्टिसे देख रहा हूँ कि ये भगवान् विष्णु दूसरा शरीर धरण करके मेरे भीतरसे बाहर आकर रहे हैं, गहृतकी पीठपर बैठे हैं, चतुर्विंश शक्तियोंसे सम्पन्न हैं। इनके हाथोंमें शङ्ख, चक्र और गदा आदि शोभा पा रहे हैं। भगवान्के श्रीबङ्ग सुन्दर श्याम कान्तिसे सुशोभित हैं। इनके चार मुँजाएँ हैं। चन्द्रमा और सर्व ही इनके



नेत्र हैं। ये अहुत शोभासे सम्पन्न हैं। कामिनगन्-मन्दकनामक खड़से अपने भक्तजनोंको आनन्द प्रदान करते हैं। इनके हाथमें कमल शोभा दे रहा है। नेत्र । देखें । ये शार्कराधुन धारण करते हैं और महान्

तेजसे सम्पन्न हैं। इनके पार्वद हन्ते सब ओरसे धेरे हुए हैं। इसलिये मैं शीघ्र ही भावनाभावित समस्त सामग्रियों-से सुशोभित मानसिक पूजाद्वारा इनका पूजन आरम्भ करता हूँ। इसके बाद बाहरी उपकरणोंसे युक्त और अनेक प्रकार-के रत्नोंसे परिपूर्ण विशाल पूजाका भी आयोजन करके इन महान् देव नारायणकी पूजा-अर्था कर्तुँगा !’

ऐसा विचारकर ग्रहादने विविध पूजा-सामग्रियोंके सम्मारसे युक्त भनके द्वारा कमलापति भावधक पूजन आरम्भ किया। रक्षसमूहोंसे जटित नाना प्रकारके पत्रों-द्वारा अभिनेक करके भगवान्के श्रीबङ्गोंमें उन्होंने चन्दन आदिका अनुलेप किया। फिर नाना प्रकारके धूप-दीप निवेदन किये, भौति-भौतिके वैमनशाली आभूषण पहनाये, मन्दार-पुष्पोंकी गाढ़एँ धारण करायी, सुर्खर्णमय कमलोंकी राशि मेंट की, कल्पवृक्षकी छताओं तथा रत्नोंके गुच्छ (गुलदस्ते) अर्पित किये, दिन्य शृङ्गोंके पल्लव तथा नाना प्रकारके फूलोंके हार उपहारमें दिये, किंकिरात, बक, कुम्भ, अम्पा, नीलकमल, लालकमल, कुमुद, काश, खजूर, आम, पालाश, अशोक, मैनफल, चेल, कन्नेर, किरातक, कदम्ब, बकुल, नीम, सिंदुचार, जही, पारिम्ब, शुगुल और बिन्दुक आदिके यथायोग्य पत्र-मुद्र एवं फूल अर्पित किये। प्रियहु, पाट, पाटल धातुपाटल, आम, अमदा, गन्ध, हरे और बहेडे मेंट किये। शाल, ताल और तमाळके लता, फूल एवं पञ्चवी चढ़ाये, कोमल-कोमल कलिकटरैं अर्पित की, सहकर, कुमुद, केतक, शतपत्र और इलायचीकी मञ्जरियों अर्पित की। फिरनैवेष, तामूल, आरती और पुष्पाञ्जलि आदि सभी सुन्दर-सुन्दर उपचारोंको सादर समर्पित किया। अन्तमें अपने आपको श्रीहरिके चरणोंमें मेंट कर दिया। इस प्रकार-न्जगतके सारे वैभवोंसे भव्य प्रतीत होनेवाली पूजन-सामग्री एवं उच्चकोटिकी मस्तिस्ते ग्रहादने अन्तःपुरमें अपने साथी भगवान् विष्णुका मानसिक पूजन किया।

तदनन्तर दानवराज प्रह्लादने सुप्रसिद्ध देवमन्दिरमें बाह्य वैमन्योंसे परिषूर्ण पूजनके उपचारोद्घारा भगवान् जनार्दनकी पूजा की। मानस-पूजनमें व्रताये गये कपसे ही बाह्य पदार्थोंके अर्पणद्वारा बारंबार परमेश्वर श्रीहरिका पूजन करके दानवराज प्रह्लादको बड़ा संतोष हुआ। तभीसे प्रह्लाद प्रतिदिन पूर्ण भक्तिभावसे परमेश्वरकी पूजा करने लगे। फिर तो उस नगरके सभी दैत्य उसी दिनसे भव्य वैष्णव बन गये; क्योंकि राजा ही आचारका कारण होता है। ( सजा सदाचारी हो तो प्रजा भी सदाचारपरायण होती है। ) शत्रुसूदन श्रीराम। फिर तो आकाशशर्ता देवलोकमें यह बात फैल गयी कि सारे दैत्य द्वेष छोड़कर भगवान् विष्णुके भक्त हो गये हैं। रघुनन्दन ! यह छुनकर इन्ह आदि देवता और मरुदण वडे विस्मित हुए कि दैत्योंने भगवान् विष्णुकी भक्ति कैसे अपनायी। आशर्थमें हूवे हुए देवता अन्तरिक्षवर्ती स्वर्गलोकको छोड़कर क्षीरसागरमें शेषनागकी शव्यापर विराजमान भगवान् श्रीहरि के पास गये। वहाँ



बैठे हुए भगवान् से उन्होंने दैत्योंका सारा समाचार कह सुनाया और इस अपूर्व आश्रय तथा विस्मयसे भरे हुए खग्याव-परिवर्तनका क्षण पूछा।

देवता बोले—मगवन्। यह क्या बात है ? जो दैत्य सदा ही आपके विरोधी रहे, वे ही आपकी भक्तिमें कैसे तन्मय हो गये ? कहाँ तो वे अस्त्र दुराचारी दानव और कहाँ आप भगवान् जनार्दनके प्रति उत्तम भक्ति। कहाँ तो पामरोचित कार्य करनेवाला, सदा निर्दित कर्मोंमें निरत और हीन जातिशाला वैचारा दानव-समाज और कहाँ आप भगवान् विष्णुकी उत्तम भक्ति।

श्रीभगवान् बोले—देवताओ ! तुम विपादमें न पढ़ो। शत्रुदमन प्रह्लाद भक्तिमान् हो गये हैं। यह उनका अन्तिम जन्म है। अब वे मोक्षके अधिकारी हो गये हैं। इसके बाद ये दानव प्रह्लाद गर्भवास नहीं कर सकते। जैसे भूता हुआ बीज अङ्गुर नहीं उत्पन्न कर सकता, उसी प्रकार ज्ञानाग्निसे दरध द्वारा कर्म बन्धन-कारक नहीं हो सकते। श्रेष्ठ देवगण ! तुमलोग अपने-अपने विचित्र लोकोंमें पधारो। प्रह्लादकी यह गुणवत्ता ( उनकी यह भगवद्भक्ति ) तुम्हें दुःख देनेवाली नहीं हो सकती।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! देवताओंसे ऐसा कहकर भगवान् श्रीहरि वहीं अन्तर्धान हो गये और देवताओंका समुदाय स्वर्गलोकको छौट गया। तबसे प्रह्लादके प्रति देवताओंकी मित्रता हो गयी। मल्क प्रह्लाद इसी प्रकार प्रतिदिन मन, वाणी और क्रियाद्वारा देवविदेश भगवान् जनार्दनकी पूजा करने लगे। पूजामें तापर रहनेवाले प्रह्लादके हृदयमें समय पाकर विवेक, आनन्द, वैराग्य और विभूति आदि गुण बढ़ने लगे। जैसे पक्षी सूखे हुए वृक्षको पसंद नहीं करते, उसी प्रकार प्रह्लादने भोग-समूहोंका अभिनन्दन नहीं किया—भोगोंकी ओरसे उनकी रुचि इट गयी। जैसे मृग जनसमुदायसे भरी हुई मूमियें प्रसन्न नहीं होता, उसी

प्रकार उनका मन कान्ताओंमें नहीं रमता था, शास्त्रीय कान्तोंकी चर्चाके सिवा अन्य छोकर्याओंमें उनका मन नहीं लगता था। नाशवान् दृश्य पदार्थोंसे उनकी आसक्ति सर्वथा दूर हो गयी थी। भगवान् विष्णुने क्षीरसागर-खली मन्दिरमें रहते हुए ही अपनी सर्वव्यापिनी परम दिव्य कुटिके द्वारा प्रह्लादकी उस उच्चतम स्थितिको जान लिया। तदनन्तर भक्तोंको आह्लाद प्रदान करनेवाले भगवान् विष्णु पाताळ-मार्गसे प्रह्लादके उस मन्त्रमें पधारे, जिसमें वे अपने इष्टेवकी पूजा किया करते थे। कमलनयन भगवान् विष्णुको आया हुआ जानकर दैत्यराज प्रह्लादने पहलेकी अपेक्षा दुरुनी वैभवशालिनी सामग्रीसे सुशोभित पूजा-विधिद्वारा उनका आदर-सत्कारपूर्वक पूजन किया। तत्पश्चात् पूजागृहमें पवारे हुए भगवान्

पापोंके हर लेनेवाले हैं, अज्ञानान्वकारसे परे परम प्रकाश-स्वरूप हैं, अशरणके शरण देनेवाले तथा शरणागत-पालक हैं, उन अजन्मा, अभ्युत, परमेश्वर श्रीहरिकी में शरण लेता हूँ।

जो प्रफुल्ल नील कमलदल तथा नील मणिके समान स्याम सुन्दर काञ्जिसे सुशोभित हैं, जिनके श्याम विमहके लिये शरद् शूद्रके निर्मल आकाशके मध्यमासे उपमा दी जाती है, भ्रमर, अन्धकार, काजल और अङ्गमके समान नील आमासे जिनके श्रीअङ्ग प्रकाशित होते हैं तथा जो अपने हाथोंमें कमल, चक्र एवं गदा धारण करते हैं, उन भगवान् विष्णुकी में शरण प्रदण करता हूँ।

जो परम निर्मल हैं, जिनके कोपल अङ्ग अलिकलाप ( भ्रमर-राशि )-के समान श्याम हैं, जिनके हाथमें देवत दलवाले अधिखिले कमलके समान शहू शोभा पाता है, जिनके नाभि-कमलमें बेदमन्त्रोंकी व्यनिरूप गुज्जारबसे युक्त ब्रह्माली अमर विराजमान है तथा जो अपने भक्तजनोंके हृदय-कमल-दलमें निवास करते हैं, उन भगवान् श्रीहरिकी में शरण लेता हूँ।

भगवान्-के देवत नख-समूह जहाँ तारोंके समान छिटके हुए हैं, जहाँ मधुर मुस्कानकी ज्योत्स्नासे उद्भव उम्बुल्ही पूर्ण चन्द्रमण्डलका प्रकाश ढा रहा है तथा हृदयस्थित कौस्तुम मणिकी किरणोंका समूह जहाँ आकाश-गङ्गाधरी छत्रा छिटका रहा है, उन सर्वव्यापी श्रीहरिली शर्त्तकालिक निर्मल आकाशकी में शरण प्रदण करता हूँ।

प्रलयकालमें अक्षयबट्टके पत्रपर शयन करनेवाले शिशुरूप बालमुकुन्दकी मैं शरण लेता हूँ। बालक होनेपर भी उनका अनन्त कल्याणमय दिव्य गुणगत्तमें सुशोभित शरीर बहुत पुराना ( वृद्ध ) है। उनके



श्रीहरिको प्रत्यक्ष विराजमान देख परम प्रीतिशुक्त हुए प्रह्लादने भक्तिभावसे परिपूष्ट हुई थाणीद्वारा उनका उत्थन आरम्भ किया।

प्रह्लाद बोले—जो क्रिमुवनरूपी रूपको सुरक्षित रखनेके लिये मनोहर कौशलगार है, उपासकों सारे

उस वालवपुके उदरभागमें यह धनीभूत सारी सुष्ठि पूर्णतया समायी हुई है। वे भगवान् नित्य निरन्तर विराजमान, जन्म-बृहि आदि विकारोंसे रहित तथा विजात ( सर्वत्र व्यापक ) हैं।

नूतन खिले हुए नाभि-कमलके परागसे जिनका वक्षःस्थल गौरवर्णका प्रतीत होता है, जिनका बामाङ्ग छक्षीजीके दीप्तिमान् देहसे विभूषित है, जो सायंकालिक अरुण किरणके समान लाल अङ्गताग धारण करते हैं तथा सुवर्णके समान रंगशाले रेशमी पीताञ्चरसे जिनका श्रीविग्रह परम सुन्दर-दिखायी देता है, उन भगवान् श्रीनारायणकी मैं शरण लेता हूँ।

दैत्यरूपिणी कमलिनीपर तुषारपान करनेके लिये जो हैमन्त और शिशिरके समान हैं, देवरूपिणी नलिनीको विकसित करनेके लिये सदा उदित रहनेवाले सूर्यमिम्बके सदृश हैं तथा ब्रह्मालुपी कमलके उद्घाटके लिये जो जलसे मरे हुए तड़ागके तुल्य हैं, उपासकोंके हृदय-कमलमें

निवास करनेवाले उन भगवान् श्रीहरिका मैं आश्रय लेता हूँ।

जो त्रिमुखनलुपी कमलके विकासके लिये सूर्यके सदृश हैं, अच्छकारकी भौति बुद्धिको आच्छादित करनेवाले मोह या अङ्गानका निवारण करनेके लिये उत्तम एवं प्रज्ञालित दीपकके तुल्य हैं, जिनमें ज़्यातारुपिणी मायका अमाव है, जो सदा अपने खरूपको प्रकाशित करते हैं अथवा नित्य दिव्य प्रकाश जिनका रूप है, उन विन्यय आधितस्तररूप तथा सम्पूर्ण जगतकी सारी पीढ़ाओंको हर लेनेवाले श्रीहरिकी मैं शरण प्रहण करता हूँ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! इस प्रकार बहुत-सी गुणावक्षियोंसे युक्त सुति-वचनोद्घारा पूजित हुए असुर-विनाशक तथा नील कमलदलके समान स्थाम भगवान् श्रीहरि प्रसन्न होकर प्रीतिशुक्त भक्त दैत्यराज प्रह्लादसे बोले । ( सर्ग ३२-३३ )

**प्रह्लादको भगवान्द्वारा वर-प्राप्ति, प्रह्लादका आत्मचिन्तन करते हुए परमात्माका साक्षात्कार करना और उनका स्तवन करते हुए समाधिष्य हो जाना, सत्यशात् पातालकी अराजकताको वर्णन और भगवान् विष्णुका प्रह्लादको समाधिसे विरत करनेका विचार**

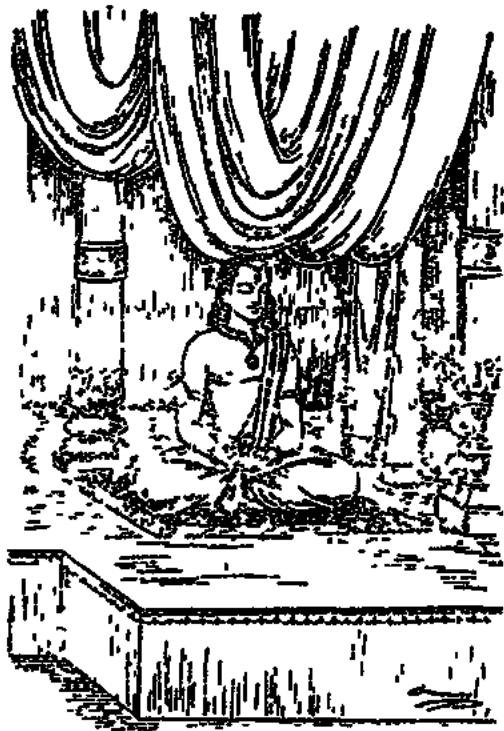
श्रीभगवान्ने कहा—दैत्यकुलशिरोमणि प्रह्लाद ! तुम तो गुणोंके आकर हो, अतः जन्म-मरणरूपी हुःखकी निवृत्तिके लिये तुम पुनः अपना अभीष्ट वर माँग लो ।

प्रह्लाद बोले—भगवन् ! आप समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें विराजमान होकर उनके इङ्गानुसार फल प्रदान करनेवाले हैं; अतः विमो ! आप जिस वस्तुको सबसे श्रेष्ठ समझते हों, वही मुझे देनेकी कृपा कीजिये ।

श्रीभगवान् ने कहा—निष्पाप प्रह्लाद ! जबतक तुम्हें

प्रह्लादकी प्राप्ति न हो जाय, तबतक तुम सम्पूर्ण सशयोंकी पूर्णतया शान्ति तथा सच्चिदानन्दवन परम्परा परमात्माकी प्राप्तिरूप फलके लिये विचारपरायण बने रहो ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! दैत्यराज प्रह्लाद-से ऐसा कहकर भगवान् विष्णु अन्तर्धान हो गये । उन विष्णुदेवके अन्तर्हित हो जानेपर प्रह्लादने पूजाके अन्तमें मणि-रसोंसे सुशोभित पुष्पाङ्गलि समर्पित की । उस समय उनका विच अत्यन्त प्रसन्न था । वे एक श्रेष्ठ आसनपर पश्चासन लगाकर बैठ गये और स्तोत्रपाठ



करते समय अपने हृदयमें यो विचार करने लगे कि आवागमनरूपी संसारका निवारण करनेवाले भगवान्-ने मुझे ऐसा उपदेश दिया है कि भूम विवेक-विभास-संखुल होओ । अतः अब मैं अपने अन्तःकरणमें आत्म विचार करनेमें तत्पर होता हूँ । शृङ्ख, तुण और पर्वतोंसे युक्त यह जगत् तो मैं हूँ नहीं; क्योंकि जो बाधा और अथन्त बढ़ है, वह मैं कैसे हो सकता हूँ । अचेतन शरीर भी मैं नहीं हूँ; क्योंकि यह असद् होता दुष्का भी प्रकट, जड़ होनेके कारण बोलनेमें असमर्थ, प्राण-वायुओद्धारा अपने संचरणकालमें ही परिचालित और अत्य कालमें ही विनष्ट होनेवाला है । मैं तो केवल वह शुद्ध चेतन ही हूँ, जो ममताहीन, मननरूप मनके व्यापारसे शून्य, शान्त, पाँचों इन्द्रियोंके नमोंसे रहित और मायाके सम्बन्धसे छीन है । यह जो सबका प्रकाशक, वाहर-भीतर सर्वत्र व्याप्त, अखण्ड, मिर्मल और सत्त्वामात्र है, वह जह-इश्यरहित शुद्ध विन्मय आत्म-रूप ही मैं हूँ । यह आत्मा, जो सर्वव्यापक और विकल्प-

रहित विन्मय बोधसरूप है, वह मैं ही हूँ । यह आत्मा ही जगत्की स्थितिमें निरन्तर अनुभवमें आनेवाले समस्त पदार्थोंका आदि कारण है, परंतु इस आत्माका कोई कारण नहीं है । इसी आत्मासे सारे पदार्थोंका पदार्थत्व उत्पन्न होता है । ये बट्टपट आदि आकारवाले सैकड़ों सांसारिक पदार्थ विशाल दर्पणरूप इस विन्मय शुद्ध आत्मामें प्रनिविष्ट होते हैं । यह अकेला मैं, जो आदि और अन्तसे रहित तथा सर्वव्यापक हूँ, सम्पूर्ण वराचर ग्राणियोंके अंदर आत्मसरूपसे स्थित हूँ । मेरा यह सर्वव्याप्त—जो शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाला तथा सम्पूर्ण सौभग्योंकी चरण सीमा है, इस जगत्का पालन करता है । जो कमलरूपी आसनपर विराजमान होते हैं और निर्विकल्प समाधिमें स्थित होकर परम सुखका अनुभव करते हैं, उन इसाके रूपमें मैं ही सदा इस जगत्में उत्पन्न होता हूँ । मैं ही त्रिनेत्रधारी शिव होकर प्रलयकालमें इस जगत्का संहार करता हूँ । मैं ही इन्द्ररूपसे मन्बन्तरके कमसे प्राप्त दुर्द हस सम्पूर्ण त्रिलोकीका पालन करता हूँ । यह जो कुछ स्थावर-जंगमरूप जगत् दृष्टिगोचर हो रहा है, सम्पूर्ण संकल्पोंसे रहित वह परम शुद्ध चेतन आत्मरूप मैं ही हूँ । जिसमें अनन्त आनन्दका अनुभव प्राप्त होता है तथा जो परम शान्तिमें सुशोभित एवं शुद्ध है, ऐसी यह विन्मयी दृष्टि सम्पूर्ण दृष्टियोंसे बदकर है । जो शास्त्रत एवं विज्ञानानन्दधनरूप है, उस उत्तम साम्राज्यका परित्याग करके मुझे इन अनिष्ट एवं दुःखरूप राज्य-विभूतियोंमें लेशमात्र भी सुखकी प्रतीति नहीं होती; क्योंकि ये विभूतियाँ रमणीय नहीं हैं । ऐसे विज्ञानानन्दधन परम पदको दोइकर मूर्ख ही तुष्ट विषय-धोगोंमें आसक्त होता है, विवेकहीउड़ानी नहीं । मला, इस परम दिव्यदृष्टिका स्वाग करके घैन भनुष्य शृणा करने योग्य तुष्ट राज्यमें आसक्त होगा । जिन्होंने इस उन्नम दृष्टिका परित्याग करके दुःखरूप धणम्भूर राज्यमें मन छागाया, वे सद-की-सद वास्तवमें मूर्ख ही देखते हैं ।

कहाँ तो नन्दनवनकी प्रफुल्लित रमणीय बनस्तली और कहाँ संतप्त महस्यल ! उसी प्रकार कहाँ तो ये पारमार्थिक शान्त दिव्य ज्ञानदृष्टियाँ और कहाँ देह एवं विषय-मोगोंमें अहंता-ममताशुद्धि ! अर्थात् इनमें आकाश-पातालका अन्तर है । इस त्रिलोकीमें राज्य पाकर मी वास्तविक सुख लेशमात्र मी नहीं मिलता, किंतु मूर्खताके कारण ही मनुष्य उसे चाहता है । उधर जो सर्वव्यापक, स्वस्थ, सम, निर्भिकार और सर्वरूप है, उस चेतनका आश्रय ग्रहण करनेसे सम्पूर्ण वास्तविक आनन्द सदा-सर्वदा प्राप्त होता रहता है । ये जो कोई भी विषयी मनुष्य मोहरूपी जालमें आ फँसे हैं, उनके गिरनेका प्रधान कारण उनकी संकल्प-कल्पना ही है । इसी प्रकार मेरे पितामह आदि पूर्वजोंने भी जो संकल्प-समूहोंसे आहूत और विषयरूपी गर्तमें गिरनेवाले थे, इस बाधारहित परमानन्दसरूप आत्मपदका अनुभव नहीं किया । इसीलिये वे भूतलपर इने-गिने दिनोंतक ही स्फुरित होकर गड्ढमें गिरे हुए क्षुद्र मच्छरोंकी भौंति बिनष्ट हो गये । सभी जीव इच्छा और देशसे उत्पन्न हुए सुख-दुःखादि इन्द्ररूपी मोहसे युक्त होनेके कारण पृथ्वीके ठिक्कमें उपरे हुए कीटोंकी समताकी प्राप्त हो गये हैं; परन्तु जिसकी अनुकूल और प्रतिकूल कल्पनारूपी मुग्नत्या सचिदानन्द परमात्माके ज्ञानरूपी मेघसे शान्त हो चुकी है, उसीका जीक्षण धन्य है ।

‘ॐ’ ही जिस सचिदानन्द ग्रहका सर्वोत्तम नाम है और जो समस्त विकारोंसे सर्वथा रहित है, वह परमात्मा ही भूतलके समस्त पदार्थोंके रूपमें विराजमान है । \* ज्योतिःसरूप वह परमात्मा ही सूर्य आदिके अंदर स्थित होकर अपनी सत्ता-स्फूर्तिसे उन्हें प्रकाशित

\* ‘ओमिति ब्रह्म—ॐ ब्रह्म है’, ‘ओमितीर्थ सर्वम्—ॐ यह सब कुछ है’, ‘एतद् वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म वदोऽप्तः—सत्यकाम ! यह पर और अपर ब्रह्म है, जो यह औंकार है ।’

करता है । वही अग्निको उप्पाताशुक्त करता है और जलको रसमय बनाता है । भयरहित वह परमात्मा स्वयं ही प्रकट होता है और ब्रह्मसे लेहर तुण्पर्यन्त समस्त जगत्को अपनी सत्ता-स्फूर्तिसे धुमाता रहता है । वह स्पाष्टुसे भी बढ़कर नित्य अचल और आकाशसे भी बढ़कर नित्य लिलेप है । इसीका सदा अन्वेषण, स्वयन और ध्यान करना चाहिये । समस्त प्राणियोंके शरीरोंके अंदर उनके हृदयकथलमें स्थित यह परमात्मा अस्यन्त सुखम है; क्योंकि हृदयकी थोड़ी-सी भी सच्ची पुकारसे यह तत्क्षण सम्पुर्ख प्रकट हो जाता है । यह परमात्मदेव सभी शरीरोंमें उसी प्रकार व्याप्त है, जैसे पुष्पोंमें सुगन्ध, तिळकणोंमें तेल जैर रसयुक्त पदार्थोंमें माधुर्य । परन्तु हृदयमें विषमान रहनेपर भी यह चेतन विवेक-विचारके अभावके कारण जाना नहीं जा सकता; विचारणाके ह्यारा ही उस परमेश्वरका ज्ञान होता है । उसे मलीमौति जान सेनेपर प्रियवनके समागमकी तरह परमानन्दकी प्राप्ति होती है । अतिशय आनन्द प्रदान करनेवाले परमात्मारूपी उस परमप्रेमी बन्धुका दर्शन होनेपर ऐसी ऐसी बुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं, जिनके प्रभावसे साधकका परमात्मासे कभी वियोग नहीं होता । उसके सासारिक स्नेहके समस्त बन्धन टूट जाते हैं, काम-क्रोध आदि सारे शत्रु विनष्ट हो जाते हैं और तृष्णाएँ मनको चञ्चल नहीं कर पातीं । यही परमात्मा आकाशमें शन्यता, वायुमें स्पन्दन, तेजस्वी पदार्थोंमें प्रकाश, जलमें उत्तम मधुरता, पृथ्वीमें कठोरता, अग्निमें उष्णता, अन्द्रमामें शीतलता और सुष्ठिसमृद्धिमें सत्तारूपसे स्थित है ।

अज्ञानरूपी शत्रुने मेरे विवेक-धनका अपहरण करके उसका सर्वनाश कर डाला था और वह इतने कालतक मुझे कष्ट देता रहा; परन्तु इस समय स्वतः उत्पन्न हुई सर्वोत्तम विष्णु-कृपासे मुझे परम तत्त्वका ज्ञान हो गया है, जिससे मैंने उस अज्ञानका परित्याग कर दिया है ।

इस समय मैंने उस परम ज्ञानरूपी मन्त्रके बलसे इस अहंकार-पिशाचको शरीररूपी दृक्षके खोखलेसे बाहर मिकाल दिया है, जिससे मेरा यह शरीररूपी महान् दृक्ष अहंकाररूपी यक्षसे रहित होकर परम पवित्र हो गया है और प्रफुल्लित दृक्षके समान सुशोभित हो रहा है। विवेकरूपी धनराशिकी प्राप्तिके कारण जह मेरे दुराशारूपी दोष सर्वथा नष्ट हो गये, तब मेरी अज्ञानरूपी दरिद्रता भी पूर्णतया शान्त हो गयी, अतः अब मैं परमेश्वरके रूपमें स्थित हूँ। भगवान्की कृपासे मुझे सम्पूर्ण ज्ञातव्य वस्तुओंका ज्ञान प्राप्त हो गया है और मैंने देखने योग्य सभी दृष्टियोंको देख लिया है। इस समय मुझे वह वस्तु प्राप्त हो गयी है, जिसके पालेनेपर कुछ भी पाना अशक्ति नहीं रह जाता। सौभाग्यकी बात है कि मैं उसी ऊँचो परं विस्तृत पारमार्थिक मूर्मिको प्राप्त हो गया हूँ, जिसमें अन्योंका नामनिशान नहीं है। विषय-रूपी सर्पोंका अस्थन्त अमाव दो गया है, अज्ञानरूपी कुहरा सर्वथा नष्ट हो गया है, आशारूपी मृगतृष्णा शान्त हो चुकी है, जिसकी सारी दिशाएँ रजोगुणरूपी घूँसे रहित हो गयी हैं और जिसमें शान्तिरूपी शीतल छायाचाला दृक्ष लहज्जा रहा है। भगवान् विष्णुकी सूति, प्रणाम और प्रार्थना करनेसे तथा शम एवं यम-नियमोंके पालनसे मुझे इन सचिदानन्दधन परमात्माकी प्राप्ति हुई है और उन्हींकी कृपासे मैंने परमात्माको स्पष्टरूपसे देखा और समझा भी है। वह अविवाशी एवं अहंकाररहित विज्ञानधन परमात्मा भगवान् विष्णुकी कृपाचर विरकालसे मेरी सूतिमें सुदृढरूपसे स्थित हो गया है, जिससे मेरा मोह पूर्णतया शान्त हो गया है, अहंकाररूपी राक्षस नष्ट हो गया है और मैं दुराशारूपी पिशाचिनीसे मुक्त हो गया हूँ। अतः अब मेरा संताप मिट गया है। सबसे बड़े हर्षकी बात तो यह है कि मेरी बहुत-सी दुर्घासनाएँ, जो दुराशाओं तथा दीर्घकालसे हुए देह आदिमें आत्मत्वके अभिमानसे

मलिन एवं भयरूपी सर्पोंके लिये हितकारिणी थीं, भगवान्के व्यानसे विनष्ट हो गयी हैं। मैंने सचिदानन्दधन परमात्माका साक्षात्कार कर लिया है और उन्हें भजीमौति जान भी लिया है। मुझे उनका यथार्थ अनुमत भी हो गया है, इसीलिये उनका नित्य संयोग मुझे प्राप्त है। अब मेरा मन—जिसके विषय-भोग, संकल्प-विकल्प और इच्छाएँ पूर्णतया नष्ट हो गयी हैं, जो अहकारसे सर्वथा मुक्त है, जिसमें आसक्ति और विषय-भोगोंकी उत्कण्ठा लेशमात्र भी नहीं रह गयी है और जो बाहर-मीतरकी चेष्टाओंसे रहित हो गया है, संसारसे उपराम होकर परमात्मामें लीन हो गया है।

यो समस्त पदोंसे उत्कृष्ट आनन्दरूप परमात्मा विरकालसे मेरी सूतिमें स्थित हुए हैं। भगवन्! बड़े सौभाग्यसे आप मुझे उपलब्ध हुए हैं, अतः आप परमात्माके लिये मेरा नमस्कार है। प्रभो! मैं विरकालसे आपका दर्शन करते हुए प्रणाम करके आलिङ्गन कर रहा हूँ। भला, त्रिलोकीमें आपके अतिरिक्त मेरा परम प्रिय बन्धु और कौन हो सकता है। विश्वको उत्पन्न करनेवाले विमो! आपने अपनी सत्ता-स्फुरितिसे सम्पूर्ण विश्वको परिषूर्ण कर रखा है, इसीकारण सर्वत्र आपका नित्य अनुमत होता है; अतः आप कहाँ भागकर जा सकते हैं अर्थात् अद्यम हो सकते हैं। परम प्रिय मित्र! बहुसंरक्षक जन्मोंके व्यवधानके कारण अज्ञानवश हम दोनोंमें जो अन्तर ग्रतीत होता था, वह अब उस अज्ञानके नाश होनेसे दूर हो गया है और अमेदरूप समीपता प्राप्त हो गयी है। बड़े सौभाग्यसे मुझे आपका दर्शन प्राप्त हुआ है। आप कृतकृत्य, संसारके कर्ता और सबका भरण-पोषण करनेवाले हैं; आपको बारंबार नमस्कार है। आप संसार-दृक्षके कारण, अविवाशी और विशुद्धात्मा हैं; आपको मेरा प्रणाम है। जिनके हाथोंमें चक्र और कमळ सुशोभित होते हैं, उन विष्णु-रूप आपको नमस्कार है।

लचाटपर अर्बचन्द्र धारण करनेवाले शिवलक्षण आपको मैं अभिवादन करता हूँ । कमलसे उत्पन्न होनेवाले ब्रह्मलक्षण आपको प्रणाम है । देवराज इन्द्रके रूपमें विराजमान आपकी मैं बन्दना करता हूँ । भगवन् ! हम दोनोंमें जो यह भेद दृष्टिगोचर हो रहा है, वह समुद्रके जल और उसकी तरफ़के समान केवल छठी कल्पना ही है । बस्तुनः हम दोनोंमें कोई भेद है ही नहीं । आप सुष्ठिकर्ता, सबके साक्षीलक्षण और अनन्त रूपोंमें प्रकट होनेवाले हैं; आपको पुनः-पुनः नमस्कार है । सबके आत्मलक्षण और सर्वव्यापी आप परमात्माको बारंबार प्रणाम है । देव ! मिथि, काष्ठ, पथर और जलमात्र यह सारा जगत् आपके सिवा और कुछ नहीं है । अर्थात् आपका ही स्वरूप है, अतः आपकी प्राप्ति हो जानेपर फिर किसी अन्य वस्तुके प्राप्त करनेकी इच्छा ही नहीं रह जाती । जिसका वेद-वेदान्तके सिद्धान्त, तर्क और पुराणोंके गीतोद्घारा वर्णन किया गया है, उस परमात्माका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर फिर वह कैसे किस्मृत हो सकता है । निर्मल परमात्मलक्षण आपका साक्षात्कार हो जानेपर देहके ये मुन्द्रर विषय-भोग भी आज मेरे हृदयको हृदिकर नहीं लग रहे हैं । आप निर्मल द्वित्य ज्योतिःस्वरूप हैं । आपसे ही सूर्यमें प्रकाशकता आयी है और शीतल हिमरूप आपसे ही अन्द्रमाको शीतलताकी प्राप्ति हुई है । आपके ही प्रभावसे ये पर्वत गुरुतासे सम्पन्न हुए हैं और आपने ही इन खेचरोंको धारण कर रखा है । आपके ही बलसे यह पृथ्वी अटलरूपसे स्थित है और आपकी ही सत्तासे आकाश आकरशताको प्राप्त हुआ है । वे सौभाग्यकी बात है कि आप मेरे स्वरूपको प्राप्त हो गये हैं और मैं आपके रूपमें परिणत हो गया हूँ; अतः अब मैं आप हूँ और आप मैं हैं । इसलिये देव ! अब हम दोनोंमें भेद नहीं रह गया है अर्थात् हम एकीभाग्यको प्राप्त हो गये हैं । इसमें मी मेरा सौभाग्य ही कारण है । मेरा आत्मा—जो

सम, शुद्ध, साक्षीलक्षण, निराकार और दिशा-काल आदिसे रहित है, उसीमें आप स्थित हैं । आपका स्वरूप सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है । आपके ही अंदर यह संसार-मण्डल या और रहेगा । काष्ठमें व्यास हुई आगकी मौति आप इस शरीरके अंदर स्थित हैं । आप ही सर्वोत्तम अमृत-स्वरूप रस हैं और तेजस्वी पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाले भी आप ही हैं । आप ही पदार्थोंके ज्ञाता और ज्योतिर्योंके प्रकाश हैं । जैसे सुत्रणमें कहे, बानूबंद, केयूर आदि आभूताणोंका आरोप किया जाता है, उसी तरह सांसारिक पदार्थ-समूह आपमें ही आरोपित हैं । आपको प्राप्त कर लेनेपर प्रारब्धानुकूल प्राप्त हुए सुख-दुःखका प्रवाह समूल नष्ट हो जाता है—ठीक उसी तरह, जैसे सूर्यके प्रकाशको पाकर अन्धकारका अध्वा गरमीको पाकर हिमका नाम-निशान मिट जाता है । मगवन् ! यह सारा विश्व आपका ही स्वरूप है, आपकी जय ही । आप शान्तिपरायण, सभी प्रभाणोंसे परे और समूर्ध आगमोद्घारा जानने योग्य हैं; आपकी बारंबार जय हो ।

श्रीक्षित्तिर्जी कहते हैं—खुनन्दन । शत्रुघ्नीरोंका संहार करनेवाले प्रह्लाद इस प्रकार परमात्माका चिन्तन करते-करते निर्विकल्प परमानन्दस्वरूप परमात्मामें समाधित हो गये । अपने महलमें यों समाधि-अवस्थामें पदे हुए दैत्यवंशी प्रह्लादका बहुत-सा समय व्यतीत हो गया । उस समय यथापि असुरश्रेष्ठोंने उन्हें जगानेकी बहुत चेष्टा की, तथापि असमयमें उन महाबुद्धिमानकी समाधि भक्ष न हुई । यों निश्चल प्रह्लादरूप एवं शान्त हुए प्रह्लाद बाष्पदृष्टिशून्य होकर हजारों वर्षोंतक उस दैत्यनगरीमें समाधित हो रहे । उस समय हिरण्यकशिषु मर चुका था और उसके पुत्र प्रह्लाद समाधित हो गये थे; अतः जब पातालमें कोई अस्थ राजा नहीं रह गया, तब दानवोंको अपने अधिपतिका असाध खटकने लगा । इसलिये उन्होंने प्रह्लादको समाधिसे जगानेके लिये घोर



प्रयत्न किया, परन्तु वे नहीं जगे। तब उस राजारहित मण्डलमें बलवान् दैत्य छुटेंरोकी तरह स्वेच्छानुसार छट्ठापाट करने लगे, जिससे उहिंगन होकर अन्य दैत्य अपनी असीष दिशाओंमें भाग गये। उस अराजकताके कारण पाताललोक चिरकालके लिये मात्स्यन्यायसे\* अस्त-व्यस्त और मर्यादारहित हो गया। वहाँ बलवानोंने दुर्बलोंके नगर छीन लिये। मर्यादाके क्रमका सर्वथा विनाश हो गया। सभी लोग खियोंको पीड़ा पहुँचाने लगे। पुरुषोंके प्रलाप और रोदनके शब्द धारों और व्याप्त हो गये। लोगोंने एक दूसरेके बख छीन लिये। नगरका मध्यमण खँडहरके रूपमें परिणत हो गया और क्षीदोषान नष्ट-भष्ट हो गये। सारा राज्य व्यर्थके अन्योंसे पीड़ित हो गया। दिशाएँ घूलसे व्याप्त हो गयीं। अन्न, फल और बन्धु-बान्धवोंका अभाव हो गया। इस प्रकार आकस्मिक उत्पातसे विवश होकर सारा असुर-समुदाय चिन्ताप्रस्त

\* बलवान् बहा मर्स्य अपनेसे छोटे निर्वंक मर्स्योंके निगल आत्र है। इसीके 'मात्स्यन्याय' कहते हैं।

हो गया। उस समय वह असुर-मण्डल भयसे उहिंगन हो गया था। वहाँ खियों, धन, मन्त्र और युद्ध मर्यादाहीन हो गये थे। जिनके धन और खियोंका अपहरण हो गया था, उनका करुण-क्रान्दन चारों ओर गूँज रहा था, जिससे वह दैत्य-समाज कलियुग आंनपर छट्ठापाट करनेवाले कूर छुटेंरो-सा जान पड़ता था।

**राख्य !** तदनन्तर एक बार शेषशब्दापर विराजमाल शक्तुसूदन श्रीहरि, जो लीणार्पुर्वक सम्पूर्ण जगत्का पालन करते हैं, देवताओंकी प्रयोगन-मिद्दिके लिये अपनी बुद्धिसे सामारिक शितिका निरीक्षण करने लगे। पहले उन्होंने मन-ही-पन स्वर्ग गेकक्ष। अश्लोकन करके तत्पक्षात् भूक्तुशसियोंके आचरणोंका निरीक्षण किया। फिर वे मनसे ही शीघ्र हैत्योद्वारा सुरक्षित पानालंडोंमें आ पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा कि दानशराज प्रह्लाद अटल समाधिमें स्थित हैं, जिससे अमराकर्त्ता-पुरीमें सम्पत्तिकी भरपूर बुद्धि हो गयी है। तब जो शेषशब्दापर पशासन लगाकर बैठे थे तथा जिनके हाथोंमें शङ्ख, अक्ष और गदा सुशोभित हो रहे थे, उन भावान् नारायणके मनमें ऐसा विचार उत्पन्न हुआ कि मै रसातलमें जाकर दानशराज प्रह्लादको उसके कर्ममें पहलेकी तरह उसी प्रकार स्थापित करूँगा, जैसे बसन्त ऋतु छक्को पुनः उसकी पूर्व दशामें ला देती है। यदि मैं प्रह्लादके अतिरिक्त किसी दूसरेको दानशराजके पदपर स्थापित करता हूँ तो वह निश्चय ही देवताओंपर आक्रमण कर देगा। साथ ही प्रह्लादका यह अवित्तम शरीर परम पावन है। वह इसी शरीरसे कल्पर्यन्त वहाँ निवास करेगा; क्योंकि परमेश्वरकी नियति देर्वने ऐसा ही लिखित किया है कि प्रह्लादको इसी शरीरसे वहाँ एक कल्पतक रहना चाहिये। इसलिये मैं वहाँ जाकर दैत्यराज प्रह्लादको द्वी जगाऊँगा, जिससे वह जीवन्मुक्तोंकी समाधिमें स्थित होकर दैत्याधिपत्यको प्राहण करे।

निश्चय ही हम मर्यादारहित दस्युओंके अत्याचारसे समाधिसे विरत करेंगे और इस समूर्धी जगत्को पूर्ववत् भयानक उस पातालमें जाकर दैत्यराज प्रह्लादको स्थित बनायेंगे । ( सर्ग ३४-३८ )

भगवान् विष्णुका पातालमें जाना और शङ्खच्छनिसे प्रह्लादको प्रबुद्ध करके उन्हें तस्वज्ञानका उपदेश देना, प्रह्लादद्वारा भगवान्‌का पूजन, भगवान्‌का प्रह्लादको दैत्यराज्यपर अभिपित्त करके कर्तव्यका उपदेश देकर क्षीरसागरको लौट जाना, आख्यानका उत्तम फल, जीवन्मुक्तोंके व्युत्थानका हेतु और पुरुषार्थकी शक्तिका कथन ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—वस राम । यों विचारकर सर्वामा मगवान् श्रीहरि शङ्ख, चक्र, गदा, पद और लक्ष्मी आदि पार्षदोंके साथ अपने नगर क्षीरसागरसे बछल पड़े । वे उसी क्षीरसागरके तलके छिद्रसे निकलकर प्रह्लादके नगरमें जा पहुँचे । वहाँ उन्होंने स्वर्णमय महलके मध्यमें स्थित असुरराज प्रह्लादको देखा । भगवान् विष्णुके तेजसे प्रभावित होकर वहाँका सारा दैत्य-समुदाय धूलकी तरह उड़कर उसी प्रकार अदृश्य हो गया, जैसे सूर्यकी किरणोंसे भयभीत होकर उल्क छिप जाते हैं । तब अपने परिवारसहित श्रीहरिने दो-तीन प्रधान-प्रधान अमुरोंको साथ लेकर प्रह्लादके महलमें प्रवेश किया । उस समय वे गरुड़की पीठपर सवार थे । लक्ष्मीजी उनपर चौंकर हुला रही थीं । वे शङ्ख, चक्र, गदा आदि अपने ( सबीब ) आयुधोंसे विरे हुए थे, और देवर्णि तथा मुनि उनकी बन्दना कर रहे थे । वहाँ पहुँचकर भगवान् विष्णुने ‘महाभन् । समाधिका स्थाग करके उठो’ यों कहते हुए अपना पाञ्चजन्य शङ्ख बजाया, जिसकी घनिसे सारी दिशाएँ गूँज उठीं । विष्णु-भगवान्‌के बलपूर्वक झँकनेसे उस शङ्खसे ऐसा धोर शब्द प्रकट हुआ, जो ग्रलयकालमें एक साथ परिक्षुब्ध हुए मेवों और सागरोंकी गर्जनाके समान वेगशाली था । उस शब्दसे भयमीत होकर असुर-समूह भूमिपर गिर पड़े और विष्णुभक्त भयरहित होकर आनन्दपूर्वक हृष्ट मनाने लगे । प्रह्लादके शरीरमें प्राण और अपानका संचार होनेसे नाडिविवरोंमें संचेदन आरम्भ हो गया ।

फिर तो जैसे वायुसे पीड़ित होकर कमल चञ्चल हो जाता है, उसी तरह उनका शरीर स्फ़ृद्धनयुक्त हो गया तथा नेत्र, मन, प्राण और शरीर—सभी विकसित हो गये । इस अवसरपर भगवान् श्रीहरिने उयों ही ‘जागो’ ऐसा कहा, यों ही वह सचेत हो गया । तब कल्पके आदिमें जैसे त्रिलोकेश्वर भगवान् कमलयोनि ब्रह्मासे कहते हैं, उसी प्रकार श्रीहरिने प्रह्लादसे—जिसके नेत्र प्रफुल्लित हो गये थे, जिसे ‘मैं प्रह्लाद हूँ’ ऐसी पहचान हो जुकी थी और जिसकी पूर्वस्मृति सुच्छ हो गयी थी—यों कहना प्रारम्भ किया—

‘साधो ! अब उठो, शीघ्र उठो और, इस विशाल दैत्य-राज्यलक्ष्मीका तथा अपने स्वरूपका स्मरण करो । अनन्द ! तुम तो जीवन्मुक्त हो, अतः वज्यशासन करते हुए ही उद्वेगरहित होकर अपने इस शरीरको कल्पान्तर्पद्यन्त कर्मोंमें प्रेरित करते रहो । ग्रलयके समय जब इस शरीरका नाश हो जायगा, तब तुम निरतिशय सम्बिदानन्दबन परमात्माके स्वरूपमें निवास करोगे—ठीक उसी तरह, जैसे घटके घट जानेपर घटाकाश महाकाशमें विलीन हो जाता है । तुम्हारी यह शुद्ध देह कल्पान्तरक स्थिर रहनेवाली है, लोकके ऊँच-नीच अवहारोंका अनुभव कर जुकी है और जीवन्मुक्तिसे सुशोभित है । मैं गरुडपर सवार होकर स्वेदज, अण्डज, जरायुज, उद्भिडज—चारों प्रकारके ग्राणियोंसे व्याप्त तथा सूर्य आदिके ग्रकाशसे उद्भासित दसों दिशाओंमें विचरता रहता हूँ । ऐसी परिस्थितिमें तुम इस शरीरका

परित्याग सत करो । ये हमलोग हैं । ये पर्वत हैं । ये प्राणी हैं । यह तुम हो । यह जगत् है । यह आकाश है । ये सभी जब प्रलयपर्यन्त रहनेवाले हैं, तब तुम भी तबतक इस शरीरको कायम रखनो । जिसकी बुद्धि स्वामपत्रके विचारसे ऊबती नहीं, उस यथार्थदर्शी तत्त्वज्ञानीका जीवन शोभा देना है । जिसका अहंमात्र नष्ट हो गया है और जिसकी बुद्धि स्वार्थमें लिप्त नहीं है तथा जिसका समूर्ण पठायोमें समग्रता है, उसका जीवन सुन्दर है । जो राग-देवधिन अतएव अन्तःशीतल बुद्धिसे सक्ष की मोति इस जगत्‌को देखता है, उसीके जीवनकी शोभा होती है । जो सत्यदृष्टिका अवलम्बन करके वासनारहित होकर धीर्घपूर्वक इस जगत्-व्यवहारको करता है, उसका जीवन धन्य है । जो लोकव्यवहार करता हुआ भी न तो अनुकूलकी प्राप्तिसे अन्तःकरणमें प्रसन्नताका अनुभव करता है और न प्रतिकूलकी प्राप्ति होनेपर उद्दिष्ट होता है, उसीका जीवन प्रशंसनीय है । जिसके गुणोंके सुननेपर, स्वरूपका दर्शन करनेपर और जिसकी याद आ जानेपर प्राणियोंको आनन्द प्राप्त होता है, उसीका जीवन सार्थक है ।

‘असुरेश । इस वर्तमान देहकी स्थिताको छोग जीवन कहने हैं और देहान्तरकी प्राप्तिके लिये इसके परित्यागको मरण कहा गया है; किन्तु महामते । तुम तो इन दोनों ही जन्म-मरणरूप पक्षोंसे रहित हो, अतएव इम लोकमें वस्तुतः न तो तुम्हारा जन्म है और न मरण ही । शक्तुमूदन । यह सब तो मैंने तुम्हें समझानेके लिये कहा है । सर्वज्ञ । तुम्हारा तो न कभी जन्म होता है और न तुम कभी मरते ही हो; क्योंकि तुम तो देहदृष्टिसे सर्वथा रहित हो, इसी कारण देहमें स्थित रहते हुए भी तुम बिदेह हो । तुम्हें परमात्माके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान हो गया है, अतएव तुम प्रबुद्ध हो गये हो । भला, प्रबुद्ध हुए पुरुषोंका शरीरसे क्या सम्बन्ध है? यह परिच्छिन्न देह तो केवल ज्ञानियोंकी दृष्टिये

ही है अर्थात् ‘देह मैं हूँ’ ऐसा अभिमान ज्ञानियोंको ही होता है । तुम्हारी बुद्धि तो सर्वदा एकत्रात्र परमात्मामें ही अीन रहती है, अतएव तुम विद्यक्षक्षसे संयुक्त हो । इसीलिये सब कुछ तुम्हाँ हो । तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुष प्रलयकालमें उत्पातसूचक वायुओंके बहनेपर, प्रलयाश्रिके घघकने तथा पर्वतोंके द्वारा जानेपर भी नित्य परमात्मामें ही स्थित रहता है । संसारके सभी प्राणी स्थित रहें अथवा सब-के सब चले जायें, उनका विनाश हो जाय अथवा उनकी बुद्धि हो, तत्त्वज्ञानी तो परमात्मामें ही स्थित रहता है, उससे विचलित नहीं होता । परमात्मा इस शरीरका विनाश हो जानेपर न तो नष्ट होता है, न इसके बृद्धिगत होनेपर बदता है और न इसके चेष्टा करनेपर चेष्टाशील ही होता है । तब ‘इस देहको धारण करनेवाला क्यों हैं विद्यके ऐसे अज्ञानके नष्ट हो जानेपर वैं इसका स्थाग करता हूँ अथवा नहीं करता’ ऐसी निर्यंत्रक कल्पना क्यों उत्पन्न होती है? तात! जिन्हें तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो चुकी है, उनके हृदयमें वैं इस कार्यको समाप्त करके इसे करूँगा और इसका स्थाग करके इसे छोड़ूँगा ऐसे संकल्पोंका सर्वथा अमाव हो जाता है । जानी पुरुष इस जगत्‌में शाश्वत सारे कर्मोंको करते हुए भी कुछ नहीं करते और उनका कभी भी अनुष्ठान न करनेपर वे सदा अकर्त्तारूपसे ही स्थित रहते हैं । इस प्रकार संसारमें कर्तृत्व और मोक्षका उपशम हो जानेपर एकत्रात्र शान्ति ही शेष रह जाती है और वही शान्ति जब द्वृष्ट हो जाती है, तब विद्वान्‌लोग उसे मुक्ति नामसे पुकारते हैं । ग्राण-प्राहृक सम्बन्धका विनाश होनेपर परम शान्तिका उदय होता है । वही शान्ति जब स्थिताको प्राप्त हो जाती है, तब मोक्ष नामसे कही जाती है । जिनका चित्त परमात्मामें ही सैलम है, ऐसे ज्ञानीजन संसारके रमणीय विषयमोगीके प्राप्त होनेपर न तो प्रसन्न होते हैं और न मनके विपरीत

दुःखोंके जा गड़नेगर उद्दिन ही होते हैं । अर्थात् सुख-दुःखमें उनकी समान स्थिति रहती है । महाभन् । तुम परमात्माके परमपदमें स्थित होकर ब्रह्माके एक दिन ( इस कल्पके अन्त ) तक इस पातालमें ही विविध गुणोंसे युक्त राज्यलक्ष्मीका उपमोग करके अविनाशी परमपदको प्राप्त होओ । ”

श्रीविच्छिन्नजी कहते हैं — रघुनन्दन ! जब जगद्गूपी ततोंक आकर तथा ब्रैंक्यरूपी अहुन पदार्थोंको प्रदर्शन करनेवाले भगवान् विष्णुने ब्रह्मकिरण-सृष्टि शीतल वाणीद्वारा इस प्रकार कहा, तब जिसके नेत्र-कमल आनन्दवश प्रफुल्लिन हो उठे ये तथा जिसने मननक्षम प्रह्लाद कर लिया था, उस धैर्यशाली प्रह्लाद नामक देहने हृषीर्खक यों कहना आरम्भ किया ।

प्रह्लादने कहा - भगवन् । आपकी कृपासे मुझे तत्त्वज्ञानद्वारा भर्तीमौति स्वरूपवस्तिपि प्राप्त हो गयी है, जिससे मैं सपाधि अथवा अनुत्थानावस्था—दोनोंमें वास्तविकरूपसे सदा ही सम हूँ । देवाधिदेव ! मैंने चिरकालतक विशुद्ध बुद्धिद्वारा अपने हृदयमें आपका साक्षात्कार किया है । देव ! सौमाग्यकी बात है कि अब पुनः बाहर नेत्रोंसे भी आपका प्रत्यक्ष दर्शन कर रहा हूँ । महेश्वर ! मैं जो समस्त संकल्पोंसे रहित इस अनन्त दृष्टिमें स्थित था, वह शोक, मोह, वैराग्य-चिन्ता, देहत्यागके प्रयोजन अथवा संसारके भयसे नहीं था; क्योंकि जब एक ही विज्ञानानन्दवन परमात्मा सर्वत्र विषमान है, तब शोक, द्वानि, देह, संसार, स्थिति और भय-अभय कहाँसे प्राप्त होंगे । परतु परमेश्वर ! ‘हाय ! मैं विरक्त हो गया हूँ, अमः इस संसारका त्याग करता हूँ’ इस प्रकारकी अज्ञानियोद्वारा की गयी चिन्ता हृष-शोकरूप विकार उत्पन्न करनेवाली होती है । यह सुख है, यह दुःख है; यह मेरा है, यह मेरा नहीं है— यों हिविधाप्रस्त चित्त मूर्खका ही विनाशक होता है,

पणिष्ठतका नहीं । मैं अन्य हूँ और यह अन्य है—ऐसी वासना इस ब्रह्ममें उन अज्ञानी प्राणियोंको ही प्रमाणित करती है, जो तत्त्वज्ञानसे बहुत दूर हैं । कमललोचन ! जब सभी प्राणियोंमें आत्मरूपसे आप ही व्याप्त हैं, तब प्रह्लण-त्यागके ‘पक्षका अब्रलभ्वन करनेवाली कल्पना कहाँसे हो सकती है । देवेश्वर ! समधिकान्में तो मैं मात्र-अभावसे परे रहकर प्रह्लण-त्यागसे रहित था; परतु इस समय प्रद्युम्न होकर वही कार्य करनेके लिये उपत हूँ, जो आपको रुचिकर है । भगवन् ! आप तो वे ही पुण्डरीकाक्ष नारायण हैं, जिनकी तीनों लोकोंमें पूजा होती है; अतः मेरेद्वाग स्वभावनः प्राप्त हुई पूजाको प्रह्लादकीजिये । यों कहकर दानवराज प्रह्लादने उन मुखनाविपति भगवान् गोविन्दकी—निनके अंदर त्रिलोकी वर्तमान थी तथा जो शङ्ख-चक्र आदि आयुधों, अप्सरा-समूह, देवगण और पक्षिराज गङ्गाके साथ सामने खड़े थे—पूजा की । पूजोपरान्त चरणोंमें पढ़े हुए प्रह्लादसे भगवान् लक्ष्मीपतिनि कहा ।

श्रीभगवान् बोले— दानवाधीश ! उठो और तबतक इस सिंहासनपर बैठे रहो, जबतक मैं शोषण स्थर्य ध्ययने हाथसे हीं तुम्हारा राज्याभिषेक करना हूँ । साथ ही पाञ्चजन्य शङ्खकी घनि मुनकर जो ये साध्य, सिद्ध और देवगण यहाँ आये हुए हैं, ये सब-के-सब तुम्हारी मङ्गलकामना करें । यों कहकर कमलनयन भगवान् नारायणने प्रह्लादको सिंहासनपर बैठा दिया । तदनन्तर अप्रमेय आत्मवल्लसे सम्पन्न श्रीहरिने समस्त महर्षि-ममुदाय, सारे सिद्धगण, विद्याधर और लोकपाणोंको साथ लेकर इन महान् असुर प्रह्लादको आश्रामन किये गये क्षीराभिन आदि महासागरों, गङ्गा आदि सरिताओं और सम्पूर्ण तीथोंके जलसे सीधकर दैत्यराज्यको उसी प्रकार अभियक्ष कर दिया, जैसे पूर्वकालमें देवगणोद्वारा स्तुति किये जाते हुए इन्द्रका वर्गत्रोक्ते राज्यपर अभिषेक किया था । उस समय आमेगिल छाए प्रह्लादकी देवता और असुर—

सभी स्तुति कर रहे थे । तब सुरासुरवन्दित भगवान् भृत्यसदन उनसे इस प्रकार बोले ।

श्रीभगवान् ने कहा—निष्पाप प्रह्लाद ! जबतक सुमेरुगिरि, पृथ्वी तथा सूर्य और चन्द्रमाका मण्डल कायम रहेगा, तबतक तुम राज्य करोगे और तुम्हारे समस्त गुणोंकी प्रशंसा होगी । तुम राग, भय और को वसे रहित होकर इष्ट-अनिष्ट फलोंका परित्याग करके समतायुक्त बुद्धिसे इस राज्यका भक्तिमूलि पालन करो । शङ्ख-प्रजा आदिके ऊपर निग्रह-अनुग्रह आदि वयोवसर प्राप्त हुए इष्टियोंसे देश, काल और कियाके अनुरूप प्राप्त हुए कर्तव्यका तुम न्यायपूर्वक पालन करो और राग-द्वेष आदि विभिन्नताका रथाग करके सम्बुद्धि बने रहो । जात्मा देहसे अनिरिक्त है—इस भावसे अभ्यानिमें सम तथा इदंता भवतासे रहेत कार्य करते हुए भी तुम इस जगद्में बन्धनको नहीं प्राप्त होओगे । जगद् व्यवहारको तो तुमने देख ही छिया है और उस अनुपम परमगदका अनुमत भी तुम्हें प्राप्त हो गया है । इस प्रकार तुम्हें देश-कालानुरूप सभी वस्तुएँ ज्ञात हैं । अब दूसरा और क्या उपदेश दिया जाय ? अर्थात् व्यवहार और परमार्थ—दोनोंमें तुम कुशल हो, अतः अध तुम्हें उपदेशवस्ति आवश्यकता नहीं है । राग, भय और क्रोधसे रहित तुम्हारे राजा होनेपर अब देवताओं-द्वारा प्राप्त हुःख न तो असुरोंमें ठिक सकेगा और न उनका संहार ही कर सकेगा । आजसे देवताओं और दानवोंका युद्ध नहीं होगा, जिससे जगत् स्वस्त हो जायगा ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—अस्ति राम ! प्रह्लादसे ऐसा कहकर कमलनयन भगवान् नारायण देवता, किन्तु और मनुष्योंके साथ उस दैत्यसदनसे चल पड़े । उस समय प्रह्लाद आदि असुर पीछेसे उनपर अझलि भर-भरकर पुष्पोंकी वर्षा कर रहे थे, जिससे गङ्गके पंखका पिछला भाग पुष्पोंसे आच्छान्ति हो गया । इस

प्रकार कमश चलते हुए वे क्षीरसागरके तटपर जा पहुँचे । वहाँ उन्होंने देवगणोंको निदा कर दिया और ख्यं शेषशश्यापर स्थित हो गये । इस प्रकार शेषशश्यापर विष्णु, स्वर्गलोकमें देवताओंमहित इन्ह और पातालमें दानशराज प्रह्लाद—तीनों संतापहित होकर स्थित हुए । श्रीराम ! प्रह्लादकी शान-प्राप्ति सम्पूर्ण पापोंका विनाश करनेवाली तथा अमृतके समान शीतल है । उसका वर्णन मैंने तुम्हें सुना दिया । संसारमें जो मनुष्य—चाहे वे घोर-से घोर पातकी ही क्यों न हों—विवेकपूर्वक उसका विचार करेगे, वे जीव ही परमपदको प्राप्त हो जायेंगे । अहम ही पार कहलाता है और उस अज्ञानका नाश विवेकपूर्वक विचार करनेसे होता है; इसलिये पापका ममूल विनाश करनेवाले विचारका परित्याग नहीं करना चाहिये । प्रह्लादकी इस सिद्धिका विवेक-पूर्वक विचार करनेवाले जोगेंके पूर्वके सात जन्मोंमें किये हुए पाप नष्ट हो जाने हैं—इसमें संशय नहीं है ।

श्रीरामजीने पूछा—मगवन ! महामनसी प्रह्लादका मन तो परमपदमें तल्लीन था, वह पाष्ठजन्य गङ्गापी अनि सुनकर कैसे प्रशुद्ध हुआ ? यह बतानेकी कृपा करें ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—निर्दोष खखलपवाले राम ! लोकमें दो प्रकारकी मुक्ति होती है—एक सदेहमुक्ति अर्थात् जीवनमुक्ति और दूसरी विदेहमुक्ति । इन दोनोंका विभाग इस प्रकार है, सुनो । जिस अनासक्त बुद्धिवाले पुरुषकी इष्टमिष्ट कर्मोंके प्रह्ल-यागमें अपनी कोई इच्छा नहीं रहती अर्थात् जिसकी इच्छाका सर्वथा अभाव हो गया है, ऐसे पुरुषकी स्थितिको तुम जीवनमुक्त-अवस्था—सदेहमुक्ति समझो । फिर देहका विनाश होनेपर पुनर्जन्मसे रहित हुई वही जीवनमुक्ति विदेहमुक्ति कही गयी है । श्रीराम ! जिन्हें विदेहमुक्तिकी प्राप्ति हो गयी है, वे फिर जन्म धारण करके दृश्यनाको नहीं प्राप्त होते—ठीक उसी तरह, जैसे मुना हुआ

बीज जमता नहीं है । महाबाहु राम ! प्रह्लादके अन्तःकरणमें शुद्ध सत्त्वमयी वासना स्थित थी, वह शश्वत्त्वमि होते ही उद्भुद्ध हो उठी । अपनी उसी वासनासे प्रह्लादको बोध प्राप्त हुआ था । श्रीहरि ही समस्त प्राणियोंके आत्मा हैं, इसलिये उनके मनमें जैसा संकल्प होता है, वह शीघ्र ही उसी रूपमें भूत हो जाता है; क्योंकि परमात्मा ही सबके कारण है । भगवान् वासुदेवने ज्यों ही ऐसा संकल्प किया कि प्रह्लाद प्रबुद्ध हो जाय, त्यों ही वह क्षणमात्रमें उठ बैठा । अर्थात् भगवान्के संकल्पसे ही प्रह्लाद पाश्चमन्य शहूकी घनिसे प्रबुद्ध हो गया । भगवान् वासुदेवने निजी स्वार्थके बिना ही प्राणियोंके कल्प्याणके हेतु अपने आत्ममें ही जगत्की सृष्टिके लिये विष्णुरूपसे शरीर धारण किया है । परमात्माके साक्षात्कारसे शीघ्र ही भगवान् माधवका दर्शन प्राप्त हो जाता है और उम माधवकी आराधनासे शीघ्र ही निर्गुण-निराकार परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है ।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन् ! आप तो सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता हैं; अतः आपके शुद्ध वचनरूपी किरणोंसे हम उसी प्रकार आह्वादित हुए हैं, जैसे चन्द्रमाकी रशियोंके स्तरसे अनाजके पौधे प्रकुलित हो जाते हैं । परंतु युद्धदेव ! यदि पुरुषार्थीर्वक प्रयत्न करनेसे ही सब कुछ प्राप्त हो जाता है तो भगवान् माधवके वरदान बिना

प्रह्लाद अपने पुरुषार्थसे ही क्यों नहीं प्रबुद्ध हुआ ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—राघव ! महामनस्त्री प्रह्लाद-ने जिन-जिन पदार्थोंको प्राप्त किया था, वे सभी उसे अपने पुरुषार्थसे ही मिले थे । उनकी प्राप्तिमें दूसरा कोई कारण नहीं है । ( क्योंकि प्रह्लादने परम पुरुषार्थसे जो भक्ति की, उसीसे भगवान् ने उनको वर दिया; इसलिये भगवान्का वर मिलना भी अपना पुरुषार्थ ही है । ) जो विष्णु है, वही सबका आत्मा है और जो सबका आत्मा है, वही विष्णु है । इस प्रकार पुरुष और उसकी द्विगन्धकी भाँति आत्मा और नारायण भिन्न नहीं हैं । पहले-पहल प्रह्लाद नामक आत्मा ही अपने-आप अपनी परम शक्तिसे ही विष्णुमत्तिमें नियुक्त हुआ । फिर उसने सामन्यता विष्णुसे ही स्वयं यह वर प्राप्त किया और स्वयं ही अपने भनको विचारशील बनाकर स्वयं ही आत्मज्ञान प्राप्त किया । इस प्रकार कभी तो आत्मा अपने आप ही अपनी शक्तिसे प्रबुद्ध हो जाता है और कभी भक्तिरूपी प्रयत्नसे प्राप्त होनेवाले विष्णुरूपसे प्रबोधित किया जाता है । इसलिये किसीको जहाँ-कहाँ भी जो कुछ प्राप्त होता है, वह सब उसे अपनी सामर्थ्यरूप प्रयत्नसे ही मिलता है; कहाँ भी किसी अन्य कारणसे उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती ।

( सर्ग ३९-४९ )

### मायाचक्रका निरूपण, चित्तनिरोधकी प्रशंसा, भगवत्प्रासिकी महिमा, मनकी सर्प और विषवृक्षसे तुलना, उदालक्ष्मीनिका परमार्थ-चिन्तन

श्रीरामजीने पूछा—ग्रहान् ! जो मायाचक्रके साधनरूप सम्पूर्ण धर्मोंका उच्छेदक तथा यों वेगूर्धक घूमता रहता है, उस मायाचक्रका भिरोध कैसे किया जाय ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—राघव ! यह संसाररूपी मायाचक्र नित्य भ्रमणशील तथा भ्रान्तिदायक है । तुम चित्तको इस चक्रकी महानामि समझो । जब पुरुष

प्रयत्नपूर्वक बुद्धिद्वारा इस चित्तको स्तम्भित कर देता है, तब जिसकी नामि पकड़ ली गयी है, ऐसा यह मायाचक्र शीघ्र ही आगे बढ़नेसे रुक जाता है । इस विष्णु-निरोधरूपी युक्तिके बिना आत्माको अनन्त हुःखोंकी प्राप्ति हो रही है, परंतु इस उपर्युक्त दृष्टिके प्राप्त होनेपर तुम सारे-के-सारे हुःखोंको क्षणमात्रमें नष्ट हुआ ही

समझो। यह संसार एक महामयंकर रोग है। वित्त-निरोध ही इस रोगकी परमोत्तम औषध है। इस औषधके अतिरिक्त अन्य किसी प्रयत्नसे उस व्याधिकी शान्ति नहीं होती। जैसे बड़ेके भीतर घटाकाश रहता है, परतु बड़ेके नष्ट होनेपर घटाकाश नहीं रह जाता, उसी तरह यह संसार वित्तके अदर ही है, अतः वित्तका नाश होनेपर संसार भी विनष्ट हो जाता है। यह वित्त जब भूत और भविष्यके पदार्थोंका चिन्तन न करके वर्तमान समयका वादा बुद्धिहारा अनायास ही उपयोग करने लगता है, उसी क्षण अवित्तताको प्राप्त हो जाता है; क्योंकि वित्तकी वृत्तियाँ तभीतक रहती हैं जबतक संकल्पकी कल्पना बनी रहती है—ठीक उसी तरह, जैसे जबतक मेवका विस्तार रहता है, तभीतक आकाशमें जलके अणु वर्तमान रहते हैं। संकल्प-कल्पना भी तभीतक रहती है, जबतक चेतन जीवात्मा मनके साथ है। रघुनन्दन। यदि ऐसी भावना की जाय कि चेतन जीवात्मा मनसे पृथक् है तो जैसे सिद्ध पुरुषोंमें मूल अविचासद्वित वासनाओंका ज्ञानहारा जलकर अत्यन्तापाव हो जाता है, उसी तरह तुम अपने संसारके मूलों-वासनाओंको मूलविचासद्वित जलकर मस्त हुआ ही समझो। वित्तसे शून्य हुआ चेतन प्रथक्-चेतन अर्थात् शुद्ध आत्मा कहा जाता है। वास्तवमें तो निर्मनस्क रहना उसका स्वभाव ही है; क्योंकि उसमें संकल्परूपी मल नहीं है। वह शुद्ध आत्मा ही वास्तवमें स्थित है; वही कल्याणरूपता संविदानन्द परमात्माकी प्राप्तिरूप अवस्था, सर्वज्ञता और वास्तविक दृष्टि है। किंतु बिस समय उसका विनाशशील भनके साथ संयोग बना रहता है, उस समय उसकी उपर्युक्त स्थिति नहीं रहती; क्योंकि वहाँ मन रहता है, वहाँ उसके संनिकट अनेक प्रकोरकी आशाएँ और मुख-दुःख उसी प्रकार सदा आते रहते हैं, जैसे श्मशानभूमिमें कौए मँढ़गया करते हैं। परंतु जब

परमार्थ वस्तुरूप परमात्माके तत्त्वका ज्ञान हो जाता है, तब उस पुरुषके मनके संकल्पमें आशा आदि सम्पूर्ण भावोंकी व्यावस्थापिका संसाररूपी छताका दीज उत्पन्न ही नहीं होता; क्योंकि उस समय उसका मन मुने हुए शीजके समान हो जाता है। शास्त्राध्ययन और सज्जों-की संगतिका निरन्तर अन्यास करनेसे सांसारिक पदार्थों-की अवासन्निकताका ज्ञान होता है, अर्थात् जगत्के पदार्थ बास्तवमें असत् है—ऐसा अनुभव होता है। इसलिये निष्पत्तिरूपक परम प्रयत्नके साथ मनको अविदेकसे हटाकर उसे बछास्कारसे शास्त्राध्ययन और सम्पुरुषोंके सङ्गमें उगाना चाहिये; क्योंकि परमात्माका साक्षात्कार होनेमें, शुद्ध आत्मा ही प्रधान कारण है।

श्रीराम। अपना आत्मा ही अपनेहारा अनुभूत दुःखों-को त्याग देनेकी इच्छा करता है, अतएव परमात्माका साक्षात्कार होनेमें एकमात्र शुद्ध आत्मा ही मुख्य हेतु कहा गया है। इसलिये तुम बोलते हुए, त्याग करते हुए, प्रह्लण करते हुए तथा औंखोंको खोलते और मीचते हुए भी अविस्मय, अनन्त, गिर्यविश्वामानन्दधन परमात्मामें स्थित रहो। इसी प्रकार बास्य, यौवन और शृदावस्थामें, दुःखोंमें, सुखोंमें तथा जाग्रत्, स्वप्न और स्मृति-अवस्थाओंमें तुम सदा-सर्वदा अपने वास्तविक सच्चिदानन्द-रूपमें बने रहो। जो आभ्यासनसम्बन्ध एवं अमृत-स्वरूप परमार्थ-तत्त्वका अनुभव करनेवाला है, उसके लिये हलाहल यिष भी अमृतके समान फलदायक हो जाता है। जिस समय निर्मल एवं अखण्ड चैतन्यका ज्ञान नहीं रहता, उस समय संसाररूपी भ्रमका कारण-स्वरूप महामोह वृद्धिको प्राप्त होता है और जब उस निर्मल एवं अखण्ड सच्चिदानन्दधन परमात्मामें इदं स्थिति हो जाती है, तब संसार-भ्रमका कारणभूत मोह सर्वथा विनष्ट हो जाता है। श्रीराम। जो अद्वितीय आनन्दरूप भ्रममें स्थित होकर अपने विश्वामानन्दधन स्वरूपका साक्षात्कार करनेवाला है, उसके लिये खादिष्ठ साधन

भी विष-तुल्य हो जाता है। परमात्माके तत्त्वको जानने-वाला महापुरुष समस्त प्रकाशोंमें, सभी प्रभावोंमें, समस्त बलशारोंमें, सम्पूर्ण महान् ध्यक्षियोंमें तथा सभी उन्नतिशाली मनुष्योंमें परम उन्नत होता है। जिस परमात्माकी प्रमात्रे सूर्य, अग्नि, चन्द्रमा, मणि और तारे आदि प्रकाशित होते हैं, उम जगदीश्वरका जिन महापुरुषोंको ज्ञान हो गया है, वे भी सूर्यादिकी भाँति जगत्-में सुशांमित होते हैं। परतु श्रीराम ! जो मानव परमात्मविदयक ज्ञानसे हीन हैं, वे पृथ्वीके दरारोंमें रहनेवाले कीड़ों, गदहों एव अन्य तिर्यग्योनिमें उत्पन्न हुए जीवोंसे भी अत्यन्त तुच्छ माने जाते हैं। आत्मज्ञान-विहीन पुरुषकी सारी चेष्टाएँ दुखदायिनी होती हैं। वह भूतलपर चक्षा-फिरता हुआ भी मुर्दा ही है। इसलिये आत्मज्ञ पुरुषको चाहिये कि वह भोगोंके रसोंमें आसक्त न होते हुए उनके उपभोगके तिरस्कारद्वारा मनको अत्यन्त सूखे हुए पत्तेके समान समयानुसार धीरे-धीरे कुश बना दाले; क्योंकि यह मन अनात्मामें आत्ममात्र, देहमात्रमें ऐसी आसा, पुत्र, कल्प और कुदुम्बकी ममता, अहंकारके विकास, ममतारूपी भल्में सने रहना, 'यह मेरा है' ऐसी भावना, जरा-मरणरूपी दुख, व्यर्थ ही उन्नतिको प्राप्त हुए काम-कोषादि दीषरूपी सपोंके विश्वरूप संनारकी ममता, आधिद्याधिकी अभिवृद्धि, मंसारकी रमणीयतामें विश्वास, हेषोपादेयके प्रश्नम, स्त्री-पुत्र आदिके प्रति स्नेह तथा रत्नों और स्त्रियोंके आपातरमणीय लाभसे उत्पन्न हुए धनके लोभसे स्थूलताको प्राप्त होता है। यह चित्त सर्पके समान है, जो दूराशरूपी दूधके पीनेसे, भोगरूपी वायुके बलसे, आदरप्रदानसे तथा नाना प्रकारके विषयोंमें संचरण करनेसे भोटा-ताजा हो जाता है। नाना और जाना—उत्पत्ति विनाश ही जिनका स्वरूप है तथा जो विषकी विषमताको सूचित करनेवाले हैं, ऐसे मीण भोगोंका उपभोग करनेसे चित्त स्थूलभावको प्राप्त हो जाता है।

राष्ट्र ! यह चित्त विषवृक्षके समान है, जो विरकाल-

से शरीररूपी भुरे गद्देमें उगा हुआ है। आशाएँ ही इसकी विशाल शाखाएँ और विकल्प ही इसके पते हैं। अनेक प्रकारकी चिन्ताएँ ही इसकी लंबी-लंबी मझरियों हैं। कामोपभोगोंके समूह ही इसमें खिले हुए पुण्य हैं। यह जरा-मरण और व्याधिरूपी फलोंके मारसे हुका हुआ है। इस पर्वताकार असूत वृक्षको त्रुम निश्चक्ष होकर हठपूर्वक विनेक-विशाररूपी मजबूत आरसे काट डालो। जबतक इस चित्तरूपी पिशाचको—जो अज्ञानरूपी विशाल बटवृक्षोंपर विश्राम करनेवाला है, दुष्णा-पिशाची जिसकी परिचर्या करती है और जो चेतनरहित सैकड़ों देह भारण करके अपनी कल्पनारूपी अटवीमें चिकालसे मटक रहा है—विवेक, वैराग्य, गुहसनिधि, प्रयत्न और मन्त्र आदि स्वतन्त्र उपायोद्वारा चेतन जीवात्माके निवास-स्थानरूप अपने हृदयसे हटाया नहीं जायगा, तबतक इस जगत्-में आत्मसिद्धिकी प्राप्ति कैसे हो सकती है।

रघुनन्दन ! मेरे वाक्योंके एकमात्र तत्त्वज्ञ तो तुम्हीं हो, इसीलिये केवल मेरे वाक्यार्थोंकी मानवनासे तुम्हें सुख मिलना है। वहस राम ! पूर्वकालमें उदालक मुनिको पञ्च महाभूतोंके विचार विमर्शमें जिस प्रकार परमोक्त एवं अविनाशी दृष्टि प्राप्त हुई थी, वह वृत्तान्तस्तुम्हें कहता हूँ; सुनो। ग्राचीनकालमें पर्वतराज गन्धमादनके किसी भूमागमें एक ऊँचे शिखरपर एक सुनि निवास करते थे। उनका नाम उदालक था। अभी उनकी जड़नी नहीं थी थी। वे स्वाभिमानी और महाबुद्धिमान् थे तथा मौन रहकर घोर तपस्यामें संलग्न थे। पहले तो उनकी बुद्धि मन्द थी। उनमें विवेक-विशार भी नहीं हुई थी तथा वे परमात्माके तत्त्वसे भी अनभिज्ञ थे; परंतु उनका अन्तःकरण शुभ भावोंसे युक्त था। तदनन्तर तपस्या, नियमपूर्वक शास्त्रार्थ-चिन्तन और अभ्यासके पादतत्त्वरूप क्रमोंसे उनके हृदयमें विवेक जाग उठा। उनका मन तो शुद्ध था ही, अतः उनकी बुद्धि इस

संसारही परेगको देखकर भयभीत हो जाए । तब वे किसी समय एकान्तमें बैठकर इस प्रकार विचार करने लगे—



‘जिसमें विश्राम प्राप्त हो जानेपर शोकका अत्यन्ताभाव हो जाता है तथा जिसे पा लेनेपर पुनर्जन्म नहीं होता, वह प्राप्त करने योग्य प्रधान बस्तु क्या है ! मैं मननरहित परम पवित्र पदमें विरकालके लिये कब विश्रामको प्राप्त होऊँगा ? जैसे किलोल करती हुई चञ्चल तरङ्गे समुद्रमें ही विलीन हो जाती हैं, उसी तरह मोगटूष्णाएँ कब मेरे अंदर ही शान्त हो जायेंगी ? कब मैं परमपदमें विश्रामको प्राप्त हुई अपनी बुद्धिद्वारा यह कार्य करके पुनः इस दूसरे कार्यको मी करना है ? ऐसी व्यर्थ कहनाका भीतर-ही भीतर उपहास करूँगा ! मेरे मनमें स्थित हुए भी विकल्प-समूह कमलदलपर पढ़े हुए जल्दी तरह सम्बन्धरहित होकर कब चित्तसे बिलग हो जायेंगे ? अर्थात् संकल्प-विकल्पोंका अभाव कब होगा ? मैं उन्मत्त होकर बहनेवाली तृष्णा-नदीको, जो बहुसंख्यक मीषण

तरङ्गोंसे युक्त है, अपनी परमोक्षष बुद्धिही पौक्षर्णी नौकासे कब पार कर जाऊँगा ? मैं जगत्के प्राणियोद्वारा की जानेवाली इस बाधा प्रवृत्तिको, जो मिथ्या तथा चित्तबो व्यप्र कर देनेवाली है, बालकोंकी क्रीडाके संपान समझकर कब उसका उपहास करूँगा ? मेरा मन, जो विकल्पोंसे विद्युत तथा हिंदोलकी तरह चञ्चल है, कब शान्ति लाभ करेगा ? मेरा अन्तःकरण परमात्माके समान आकारवाला, सौम्य और सम्पूर्ण पदार्थोंकी स्फूर्ति से रहित होकर कब शान्तिको प्राप्त होगा ? वह दिन कब होगा, जब मैं अपनी शान्त हुई कल्पनाओंवाली बुद्धिद्वारा बाहर-भीतरसहित इस सम्पूर्ण विद्यको सविदानन्द-रूपसे देखता हुआ अनुभव करूँगा ? कब मैं इष्ट और अनिष्ट तथा हेय और उपादेशसे रहित एवं खण्डप्रकाश-स्वरूप परमपदमें स्थित होकर अपने अन्तःकरणमें परम शान्तिको प्राप्त होऊँगा ? ऐसा सुअवसर कब आयेगा, जब मैं किसी पर्वतकी कन्दरामें लिर्विंकल्प-समाविद्वारा मनके व्यापारसे रहित होकर शिलाकी भौति निश्चल हो जाऊँगा ? मोनक्रत धारण करके अविचल ध्यानमें निमग्न हुए मेरे मस्तकपर बनकी चिठ्ठियों कब घोसला बचायेंगी ?’

यो चिन्तापरवश द्वारा उद्दालक मुनिने बनमें स्थित होकर भारंबार ध्यानका अन्यास किया, परंतु विषय उनके बंदरके समान चञ्चल चित्तको अपनी ओर खींच ले जाते थे; जिससे प्रसन्नता प्रदान करनेवाली समाधिस्थिरता उन्हें न मिल सकी। उनका भन कभी-कभी विषयासन्धि हो जाता था; उस अवस्थामें वह अपने हृदयान्तर्भर्ती तमोगुणका स्वाग करके माझभीत पक्षीकी भौति वहेंसे भाग निकलता था। कभी वह बाधा और आन्यन्तर विषयोंके विन्दनका परिस्थाग करके तमोगुणमें लीन होकर निदारूपी लंबे काळतक रहनेवाली स्थितिको प्राप्त हो जाता था। यथापि वे प्रतिदिन भयानक गुफाओंमें बैठकर अपने मनको ध्यानमग्न करनेमें दत्तपर

थे, किर मी प्यानवृत्तियोंमें विज पदनेके कारण उनका अन्तःकरण अस्यन्त व्याकुल हो गया और शरीर तुच्छ तृष्णा-नदीके तटवर्ती तरफ़ोंके भैषजोंसे चश्चल हो उठा। इस प्रकार जब वे मुनि संकटापन्थ हो गये, तब विश्वसनित होकर उस पर्वतपर ऋमण करने लगे।

रुकुलमध्यण राम। तदनन्तर धर्मस्पा उद्धालक बहुत अवेषणके पश्चात् प्राप्त हुई गन्धमादनकी एक रमणीय गुहामें प्रविष्ट हुए। वहाँ उन्होंने न मुरझाये हुए कोमल पत्तोंका एक आसन बनाया, जिसके चारों ओर पुष्पोंके गुच्छे शोभा पा रहे थे। उस आसनके ऊपर उन्होंने एक सुन्दर मृगचर्म फैला दिया। तत्पश्चात् शुद्ध अन्तः-करणवाले उदाशक अपने मनकी वृत्तियोंको सूखम बनाते हुर उस आसनपर विराजमान हुए। वहाँ उन्होंने उत्तरामिमुख होकर दोनों एङ्गियोंसे अण्डकोपोंको दबाकर ज्ञानीकी भाँति सुदृढ़ पश्चासन लगाया। वे विषयोंकी

विचार करने लगे—

‘अरे मूर्ख मन ! इन सांसारिक वृत्तियोंसे तेरा क्या प्रयोगन है ? क्योंकि बुद्धिमान् लोग ऐसी कियाके लिये चेष्टा नहीं करते, जो परिणाममें हुःखदायिनी हो। जो शान्तिप्रद उपरतिरूपी रसायनको ओङ्कार विनयमेंगोंके पीछे दौड़ता है, वह मानो मन्दार-घनका परित्याग करके विषवृक्षोंसे भरे हुए जंगलकी ओर जा रहा है। तू चाहे पातालमें चला जा अथवा ब्रह्मलोकमें ही क्यों न पहुँच जा किंतु शान्तिप्रद उपरतिरूपी अयुनके बिना तुम्हे निर्वाण भक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती। रे मन ! तू सैकड़ों भोगाशाखोंसे परिपूर्ण होनेके कारण इस प्रकार समस्त हुःखोंका प्रदाता बना हुआ है, अतः इन हुःखदायिनी भोगाशाखोंका सर्वथा परित्याग करके अस्यन्त सुन्दर परम ऐकान्तिक कल्याणस्तरूप परमात्माको प्राप्त कर ले। ये उत्पत्ति-विनाशमयी विचित्र कल्पनाएँ तो तुम्हे भयानक हुःख देनेवाली ही हैं, इनसे कभी सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अरे मूर्ख ! तू व्यर्थ बहिर्मुखतारूप उरथानसे बुद्धिको प्राप्त हुई श्रोत्रेन्द्रियके वशीभूत होकर सांसारिक रसिक-गानका अनुसरण करनेवाली बुद्धिवृत्तिद्वारा व्याधके वीणा-गीत आदिसे मोहित हुए मृगके समान विनाशको मत प्राप्त हो। मन्दबुद्दे ! जैसे हथिनीके सर्पसूखका लोमी गजेन्द्र शिकारियोंद्वारा बौध लिया जाता है, उसी तरह तू भी सुन्दरी मुवतीके स्पर्श-सूखका अनुभव करनेके लिये उन्मुख हुई बुद्धिवृत्तिसे केवल हुःखके लिये ही खगिन्द्रियका आक्रमण लेकर बन्धनमें मत पड़। रे अंधे ! परिणाममें हुःख देनेवाले खादिष अन्नोंकी अभिलाषासे रसनेन्द्रियताको प्राप्त होकर नंसीमें लगे हुए चारेके लोमी मस्त्यकी भाँति तू अपना विनाश मत कर। मृद ! तू मुवती खी, बालक, बालिका आदि नाना प्रकारके सुन्दर दश्योंको देखनेमें तत्पर हुई चक्षुरनिंद्रियका अवलम्बन करके प्रकाशके लोलुप फतिगेके समान जलनको मत प्राप्त हो। जैसे गन्धलोहूप



ओर दौड़ते हुए अपने मनरूपी मृगको वासनाखोंसे हटाकर निर्विकल्प समाधिमें स्थित होना चाहते थे, इसलिये

भ्रमर सायंकालमें कमल-कोशमें बंद हो जाता है, उसी प्रकार स्थित पदार्थ कौन है ? यह नासिका है, यह जिहा है, तेल-फुलेल, हत्र, पुथ आदि सुगन्धित पदार्थोंकी गन्धके अनुभवकी इन्छासे श्राणेन्द्रियका आश्रय लेकर तभी शरीररूपी कमल-कोशके भीतर बैठ मत आ । मन्दबुद्धे ! मृग शब्दसे, भ्रमर गन्धसे, फतिंगा रूपसे, गजेम्बर स्वर्णसे और मरुत्य रससे —इस प्रकार ये सब तो केवल एक-एक विषयसे नष्ट हो गये; किंतु तू तो इन पाँचों इन्द्रियोंके विषय-भोगरूप अनधियोंसे व्याप है, अतः तुम्हे मुख कैसे मिल सकता है । यदि तू सांसारिक दोषोंसे रहित, अतएव शरकालीन मेघके समान निर्मल अन्तःकरणकी शुद्धिको प्राप्त होकर समस्त अनधियोंके मूल अज्ञानका उच्छेष करके शान्तिको प्राप्त होगा तो यह तेरी असीम विजय होगी । जैसे जबतक वर्षा अत्युके मेघ वर्तमान हैं, तबतक कुहरेकी प्रचुरता रहेगी ही, उसी तरह जबतक घनीभूत अज्ञान मौजूद है, तबतक वित्तकी स्थूलताका रहना निश्चित ही है । तथा उद्यो-उद्यो वर्षाकालीन मेघ क्षीण होते जाते हैं, स्त्रो-स्त्रों कुहरेकी मीमांश द्वारा शोता जाता है, उसी प्रकार उद्यो-उद्यो अज्ञान क्षीण होता जायगा, स्त्रो-स्त्रों वित्तकी भी सूक्ष्मता बढ़ती जायगी ।

“असत्त्वरूप मन ! मैं अहंकार और वासनाओंसे रहित निर्विकल्प चिन्मय ऊपोति:स्वरूप हूँ और तू अहंकारका भीज्ञनरूप है । अतः तुम्हसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है । ‘अहं’ रूपसे कौन स्थित है ? —इसका मैंने पैरके धृंगूठेसे लेकर सिरतक सर्वत्र अन्वेषण किया; किंतु यह ‘अहं’ नामक पदार्थ मुझे कहीं उपलब्ध नहीं हुआ । इस शरीरमें यह मास है, यह रक्त है, ये हड्डियाँ हैं, ये शास्त्राघु हैं, पिर यह ‘अहं’ रूपसे स्थित कौन है ? देहमें स्पन्दनांश तो प्राणवायुओंका है, चेतनांश परमात्माका है तथा जरा-मरण शरीरके धर्म है; पिर यह ‘अहं’ क्या बस्तु है ? रे चित्त ! मास अहंसे पृथक् है, रक्त उससे मिल है, हड्डियाँ भी दूसरी हैं, चेतनाता उससे अन्य है, स्पन्दन भी उससे अलग है; पिर ‘अहं’ रूपसे

स्थित पदार्थ कौन है ? यह नासिका है, यह जिहा है, यह त्वचा है, ये दोनों कान हैं, यह बौख है और यह स्पन्दन है; फिर ‘अहं’ रूपसे स्थित कौन बस्तु है ? परमार्थरूपसे विचार करनेपर न तो मन अहं है न चित्त अहं है और न वासना ही अहं है । आत्मा तो अहं हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह तो केवल शुद्ध चेतन प्रकाशस्तरूप है । वस्तुतः तो इस जगत्में जो कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है, सर्वत्र मेरा ही स्वरूप है । अयथा विनाशशील असत्त्वहोनेके कारण कोई भी पदार्थ मेरा स्वरूप नहीं है—यही दृष्टि सबी है, इससे मिल दूसरा कोई क्रम नहीं है । परंतु अज्ञानरूपी धूर्त अहंकारके द्वारा चिरकालसे मुझे उसी प्रकार कष्ट दे रहा है, जैसे जंगलमें कोई ढीठ मेदिया शृगांगेनेको खलेश पहुँचाये । सौभाग्यकी बात है कि अब मैंने उस अज्ञानरूपी बोरको भलीभांति जान लिया है । वह मेरे स्वरूपरूपी धनका अपहरण करनेवाला है, अतः अब मैं पुनः उसका आश्रय नहीं प्राहण करूँगा । यह देहमें अहंतारूपी भावना मृगात्माके सदृश व्यर्थ है । जब ऐसी भावना असत्य ही है, तब ‘यह देह अहं है’ ऐसा जो भाव है, वह केवल भ्रम ही है । किंतु ज्ञानी महात्मा जो वासनाहीन हो गये हैं, वे भी अपने जीवन-निर्वाहके लिये स्वतः बाह्यरूपसे असु आदि इन्द्रियोंद्वारा कर्मोंमें प्रवृत्त होते ही हैं । उनकी इस प्रवृत्तिमें वासना कारण नहीं है । चित्त । यदि केवल वासनारहित कर्म किया जाय तो भविष्यमें होनेवाले द्वुःख-द्वुःखका अनुभव नहीं होता । इसलिये मूर्त्त इन्द्रियो ! यदि तुम अपनी अन्तर्वासनाका परिवार करके सम्पूर्ण कर्म करोगी तो मुझे द्वुःखकी प्राप्ति नहीं होगी । निष्पाप ! जैसे तरङ्ग आदि जलसे मिल नहीं हैं, उसी तरह ज्ञानी महात्माकी दृष्टियें वासना आदि सभी पदार्थ आत्मासे पृथक् नहीं हैं; किंतु अज्ञानीकी दृष्टियें उनकी पृथक् सचा है । इन्द्रियरूपी बालको । जैसे रेशमके कीड़े अपनेद्वारा उत्पन्न हुए

तनुसे ही नष्ट हो जाते हैं, उसी तरह तुमलेग भी खतः उद्भूत तृष्णाद्वारा विनष्ट हो रहे हो । वासना ही तुमलोगोंको एक जगह बौधनेमें हेतु है—ठीक उसी तरह, जैसे छिद्रोंमें पिरोथी छुई रजु मोतियोंके बन्धनमें कारण होती है । वस्तुतः तो यह वासना कल्पनामात्रसे ही उद्भूत हुई है, अतः यह सत्य नहीं है; क्योंकि संकल्पका त्याग कर देनेसे यह विनष्ट हो जाती है ।

‘यह चेतन आत्मा सर्वव्यापक सञ्चिदानन्दस्तरूप है, अतः इसका जन्म अथवा भरण नहीं होता । फिर कैसे इसकी मृत्यु हो सकती है अथवा कैसे किसीके द्वारा यह मारा जा सकता है । इसका जीवनसे तो कोई प्रयोजन है नहीं; क्योंकि यह सर्वात्मा ही सबका जीवन है । यदि शुद्ध चेतन आत्मा ही सबका जीवन है तो उसे इस जीवनसे कब कौन-सी दूसरी अप्राप्त वस्तु प्राप्त होगी, जिसके लिये उसे जीवनकी इच्छा हो ? जिसका अपनी देहमें अहंभाव है, वही भाव-अभावरूप जन्म-भरणके बन्धनमें पड़ता है; परंतु आस्थन् । तुम्हारेमें तो देहाहंभाव है नहीं, इसलिये तुम्हें भाव-अभावरूप जन्म-भरण कहांसे प्राप्त होंगे । अहंकार तो व्यर्थ मोहरूप है, मन मृगनृष्णाके समान है और पदार्थसमूह जड़ है; ऐसी दशामें अहंभाव किसको हो ? शरीर रक्त-मांसमय है, विवेक-विचारद्वारा मनका विनाश हो गया है और चिरा आदि सभी जड़ हैं, फिर देहमें अहंभावना किसको कैसे हो ? सभी इन्द्रियाँ नित्य अपने-अपने व्यापारमें संलग्न हैं और जड़ पदार्थ अपने स्तरपरमें स्थित हैं; फिर किसको और कैसे अहंभाव हो ? गुणोंकी कार्यरूपा इन्द्रियों अपने-अपने विपर्योगमें बरत रही हैं, प्रकृति गुणसाम्बानस्थारूप अपने स्वभावमें स्थित है और सञ्चिदानन्द ब्रह्म अपने आपमें ही पूर्णरूपसे विराजमान है; फिर देहमें अहंभावना किसको और कैसे हो ? इस प्रकार इस मूलतपर परमात्मपर जो कुछ स्थित है, वह सब ब्रह्मस्तरूप ही है । वह ‘सत्’ ( ब्रह्म ) मैं ही हूँ और वह ‘तत्’

( ब्रह्म ) भी मैं ही हूँ; फिर मैं व्यर्थ ही शोक कर्योंकर्त्ता । जब केवल एक ही सर्वव्यापक विशुद्ध सञ्चिदानन्द परमात्मारूप परमण्ड सर्वत्र व्याप्त हो रहा है, तब अहंकाररूपी अलैक्षकी उपर्युक्ति कहांसे हो सकती है । वास्तवमें तो पदार्थ-सम्पर्क ही ही नहीं, एकमात्र सर्वव्यापक विश्वानानन्दघन परमात्मा ही सर्वत्र विराजमान हो रहा है । अथवा यदि पदार्थ-सम्पर्ककी सत्ता मान भी ले नो उसके साथ किसीका सम्बन्ध हो ही नहीं सकता । वस्तुतः तो अहंकाररूपी महान् भ्रम असत्-मिथ्या है; किन्तु इसका प्रादुर्भाव होनेपर यह साग जगत् ‘यह मेरा है यह उसका है’ यो व्यर्थ ही विष्ण्यासिको प्राप्त हुआ है । यह आश्चर्यमय अहंकार परमात्माके तत्त्वका यथार्थ झाग्न न होनेके कारण ही उत्पन्न हुआ है । उस परमात्मतत्त्ववेद झात हो जानेपर तो इसका उसी प्रकार विनाश हो जात है, जैसे सूर्यके तापसे हिमकणिका गल जाती है । इससे सिद्ध हुआ कि परमात्माके अतिरिक्त और किसीकी भी सत्ता नहीं है; इसलिये ‘सर्व त्रयः’ इस प्रकारका जन्म मेरा अनुभवसिद्ध तत्त्व है, उसीका मैं चिन्तन करूँगा । मैं तो यही उत्तम समझता हूँ कि आकाशकर्त्ता नीलिमाके सदृश उत्पन्न हुए इस अहंकाररूपी महाभ्रमकं ऐसे मुला दिया जाय जिससे पुनः कभी इसका स्वरण ही न हो । मैं चिरकालसे प्राप्त हुएर इस मूलानिदासहित अहंकाररूपी महाभ्रमका सर्वथा त्याग करके शान्तात्म होकर विशुद्ध परमात्मामें ही स्थित रह्नामा, जैसे शराकाशीन आकाश अपने निर्मल स्वभावमें स्थित रहता है । यह अहंभाव जब बढ़ जाता है, तब अनर्थ-परम्पराओंकी सूर्यांकिति करता है, पापका विस्तार करता है और संतापको बढ़ाता है । मरणादि पारलौकिक दुःख पुनर्जन्मतक भोगन पड़ता है एवं जीवन आदि ऐहलौकिक कष्ट मरणपर्यन्त रहता है और वर्तमान कालके पदार्थ विनाशील है अतः यह दुःखब्रेदना धोर कष्टप्रद है । दुर्वृद्धिजनोवों ‘यह मुझे मिल गया, अथ इसे प्राप्त करूँगा’ इस प्रकारका

संतापदायिनी पीड़ा कभी शान्त नहीं होती। अहङ्कारका समूल विनाश हो जानेपर सप्तरूपी वृक्ष सुख जाता है। उसकी उत्पादनशक्ति विनष्ट हो जाती है, जिससे वह पाषाणकी भौति पुनः अहङ्कर उत्पन्न करनेमें असमर्थ हो जाता है।

देहरूपी वृक्षको अपना निवासस्थान बनाकर रहने-वाली तृष्णारूपी काली नागिनें हृदयमें विवेक-विचाररूपी गहङ्का आगमन होते ही न जाने कहों लुट हो जाती हैं। जब विश्व असत्य सिद्ध हो जाता है, तब उससे उपन्न होनेवाला सार-का-सारा भेद-व्यवहार असत्य हो जाता है। इस प्रकार व्यवहारके अमत्य हो जानेपर 'अह'-'स्व' का भेद-व्यवहार सत्य कैसे रह सकता है। तरङ्गकी भौति क्षणभङ्ग एवं विनाशोन्मुख इस देहमें जिनकी आस्था सुधङ्क हो गयी है, उन दुर्बुद्धियोंका परमार्थसे पतन हो जाता है, क्योंकि देह आदि समस्त वस्तुएँ सर्वत्र उत्पत्तिके पूर्व और विनाशके पश्चात् नहीं रहतीं, केवल सम्यमें ही इनका प्राकृत्य दृष्टिगोचर होता है। फिर उनकी मिथ्या स्थिरतामें आस्था कैसी। अर्थात् इन देह आदि विमाशी पदार्थोंको सत्य मानकर उनमें नहीं फँसना चाहिये। जब मन पूर्णतया इस निर्णयपर पहुँच जाता है कि यह जो कुछ विशाल हृश्यमण्डल है, वह सारा का-सारा अवास्तविक है, तब वह अमन—मनके व्यायारसे शून्य हो जाता है। तदनन्तर 'यह अवास्तविक है' ऐसा मनमें हृष्ट निश्चय हो जानेपर सारी भोग-वासनाएँ उसी प्रकारक्षीण हो जाती हैं, जैसे हेगेन्न श्रुत्युमें वृक्षोंकी मझरियाँ झड़ जाती हैं। वास्तवमें न तो कोई किसीका स्वाभाविक शयु है और न कोई किसीका स्वाभाविक मित्र ही है; किंतु जो सुख पहुँचानेवाला है, वह भिन्न कहा गया है और जो दुःखप्रद है, वे शयु कहलाते हैं। इसलिये अब मैं मनरूपी बनको, जो सकलरूपी वृक्षोंसे व्याप्त तथा तृष्णारूपी लताओंसे आच्छादित है,

छिन्न-मिन्न करके विस्तृत मुक्तिरूपी भूमिमें जाकर सुख-पूर्वक विचरण करूँगा। इस प्रकार मनके पूर्णतया क्षीण हो जानेपर रक्ष-मांस आदि धातुओंका सघातहृण यह मेरा अनिष्टकारी शर्त चाहे रहे अथवा नष्ट हो जाय, इससे कोई हानि नहीं है। अतः मनका विनाश करना ही आवश्यक है। मैं देह नहीं हूँ—इस विषयमें मैं एक युक्ति बतलाता हूँ; मुनो ! यदि देहको ही आत्मा मान लिया जाय तो मरनेपर शरीरके सभी अङ्गोंके चर्तमान रहनेपर भी मुर्दा शरीर व्यवहार कर्यों नहीं करता ! इससे सिद्ध हुआ कि देह आत्मा नहीं है। मैं तो नित्य अविनाशी अयोति-स्वरूप हूँ और इस देहसे अतीत हूँ। न तो मैं अङ्गानी हूँ, न मुझे कंई दुःख है, न अनर्थ है और न दुःखका कोई कारण ही है। अब तो यह शरीर नहीं अथवा न रहे, इससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है; मैं तो संतापरहित हुआ नित्य स्थित हूँ। मुझे उस परम पदस्तरूप परमात्माकी प्राप्ति हो चुकी है; इसलिये मैं सबसे उत्कृष्ट, केवल—शुद्धस्तरूप, विक्षेपरहित, शान्तरूप अंशांशीमात्रसे रहित, अपने आपमें परिपूर्ण, निकिय एवं इच्छारहित प्रकाशरूप हूँ। सच्छिता, प्रभावशालिता, सत्ता, सुहृदयता, सत्यमापण, यथार्थ ज्ञान, आनन्द-स्वरूपता, शान्ति, सदा मृदुमापिता, पूर्णता, उदारता, सत्यस्वरूपता, कान्तिमत्ता, एकाप्रता, सर्वामक्तता, निर्भयता और द्वैतके विकल्पका अभाव—ये सभी गुण मुझ आत्मनिष्ठके हृदयको अत्यन्त प्रिय ढागनेशाले हैं। चैकिं सर्वरूप परमात्मामें सभी कुछ सर्वदा एवं सर्वथा सम्भव है इसलिये सभी विषयोंके प्रति मेरी इच्छा-अनिष्टा और सुख-दुःख क्षीण हो गये हैं। अब मेरा मोह विनष्ट हो गया है, मन अमनीभावको प्राप्त हो गया है और चिन्तके संकल्प-विकल्प दूर हो गये हैं; अतः मैं शान्तस्वरूप परमात्मामें रमण कर रहा हूँ।

( सर्ग ५०-५२ )

## महर्षि उद्धारकी साधना, उपस्था और परमात्मग्राहित्का कथन; सत्ता-सामान्य, समाधि और समाहितके लक्षण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन। उद्धारक मुनि अपनी विशाल पूर्व विशुद्ध दुदिसे पौंचिर्णय करके पश्चासन लगा भर बैठ गये। उस समय उनके नेत्र आधे मुँदे हुए थे। तदनन्तर “जी अँकारका उच्चारण करता है, उसे परमपदकी प्राप्ति हो जाती है; क्योंकि अँक यह वक्षर परश्चात है।” ऐसा निष्ठय करके उन्होंने अँकारका, जिसकी घनि उपरको आ रही थी, उसी प्रकार उच्चस्तरसे उच्चारण किया, जैसे घटेके अधोभागमें छटके हुए छटकनको अच्छी तरह पीटनेसे जोरका शब्द होता है। उनके द्वारा उच्चारित प्रणथननि जबतक वृक्षरन्ध्रपर्यन्त व्यास नहीं हो गयी और जबनक वे सर्व-अध्यापक, विशुद्ध ज्ञानस्थल्प परमात्माके अभिमुख नहीं हो गये, तब उनक ॐ अँका उच्चारण करने रहे। प्रणवके अकार, उकार, मकार और बिन्दु—इस प्रकार साक्षे तीन अंश हैं। उनमेंसे प्रथम अंश अँकारके उच्चस्तरसे उच्चारित होनेपर जब शरीरके भीतर शब्दके गूँजनेके कारण प्राण पूर्णरूपसे क्षुद्र हो उठे, तब प्राणवायुको छोड़नेके क्षमने जिसे रेचक कहा जाता है, उसी प्रगतर सम्पूर्ण शरीरको रिक्त कर दिया, जैसे महर्षि अगस्त्यने सागरके जलमो पीकर उसे खाड़ी कर दिया था। तत्पश्चात् प्रणवके द्वितीय अंश ‘उकार’ के उच्चारणके समय अँकारकी समस्थिति होनेपर प्राणोंका निश्चल कुम्भक नामक ऋग सम्पन्न हुआ। उस समय प्राण न बाहर थे न भीतर, न अधोभागमें थे न ऊर्ध्वभागमें और न दिशाओंमें ही भ्रमग कर रहे थे, बल्कि भर्त्तानोंते स्तन्मिति किये गये जलकी तद्धूर्गतःशान्त थे। तदनन्तर प्रणवके उपशान्ति-प्रद नृनीपांश मकारके उच्चारण-काळमें प्राण वायुको भीतर ढे

जानेके कारण प्राणोंका पूरक\* नामक क्रम घटिन हुआ। इस तीसरे क्राममें प्राण जीवात्मामें भावनाद्वारा भावित अमृतके मध्यमें पहुँचकर हिमस्त्यर्षके समान सुन्दर शीतलताको प्राप्त हो गये।

तदूपरात्म पश्चासनसे बैठे हुए उद्धारक मुनिने उस भावनामय शरीरमें हृद स्थिति भरके आलानमें दैधे हुए गजराजकी तरह अपनी पौँछों इन्द्रियोंको देहसे निवार कर दिया। फिर वे निर्विकल्प समाधिके लिये तथा शरणालीन निर्मल आकाशकी तरह अपने स्वभावको शुद्ध बनानेके द्वेष्टु प्रयत्न फर्मे लगे। जब उद्धारक मुनिको उस समाधिसे तस्वीरभी प्राप्ति हो गयी, तब वे दृश्य-प्रपञ्चके विकल्पमें रहित होकर उस निष्प अनन्त विज्ञानानन्दधन परमात्मामें तद्रूप ‘हो गये, जो जगत्‌का अधिग्रानभूत, शुद्धस्थल्प एवं महान् है। वे शरीरसे दृष्टक् होकर किसी अनिर्वचनीय स्थितिको प्राप्त हो गये और नित्य-सत्य-सुम-निन्मग्रहणहोकर आनन्दसागर परमात्मामें विलीन हो गये। उस समय वे बातरहित स्थानमें रखे हुए दीपककी भौति कान्तिमान्, चित्र-लिखितके सदृश अटल भनश्वले, निर्दरङ्ग समुद्रके समान गम्भीर दृश्य वरसे हुए निजेल बादलकी तरह मूक हो गये।

\* पश्चापि रेचकः कुम्भक और पूरक समग्र प्रणवके ही साधन प्रसिद्ध हैं, तथापि रेचकमें प्रथम भागका, कुम्भकमें सध्यभागका और पूरकमें चूरम भागका विस्तार किया जाता है; क्योंकि वर्षमें निरुत्तमे हुए प्राणवायुम कण्ठस्थानीय अकारभागस्थी, संकुचित होने हुए ओष्ठोमें उक्तार भागकी और अंगोंके नयुटिंग्सेनेपर मन्त्रारमाणी अभिष्यक्त होती है। मकारभागस्थी अभिष्यक्तिके समय प्राणवायु श्वरि पुनः प्रवद्य करता है; तथापि उसमें प्रणवया दी अनुवर्तन होता है; इसलिये उस-उस भागके अवस्थानिमात्रा कथन है, ऐसा समझना चाहिये।

इस प्रकार जब इस महाओकस्तरूप परमात्मामें स्थित हुए उद्दालकका बहुत-सा, समय अवृत्ति हो गया, तब उन्होंने वृत्संख्यक आकाशवारी सिद्धों तथा देवनाभियोंको भी देखा। तदनन्तर जो हनु और सूर्यका पद प्रदान करनेकी सामर्थ्य रखनी थी, ऐसी बहुत-सी विचित्र सिद्धियों में अप्सराओंसे घिरी हुई वहों चारों ओरसे आ पहुँची; परतु उद्दालक मुनिने उन सिद्धियोंको वर्णोंके खिलौनोंकी तरह समझकर उनका कुछ भी आदर नहीं किया, क्योंकि उनका मन खोमरहित और बुद्धि गम्भीर थी। इस प्रकार सिद्धि-समझोंका अनादर करके वे छः महीने-तक उस आमन्द-मन्दिररूप ममाधिमें स्थित रहे—ठीक उसी तरह, जैसे उत्तरायणके छः मासतक सूर्य उत्तर दिशाकी ओर रहते हैं। इतने समयतक उद्दालक मुनिको जीवन्मुक्त-पदको प्राप्ति हो गयी। तब वहों उनके समीप सिद्धोंका दल, देवताओंका समुदाय, साध्यगण, ब्रह्मा और ईश्वर आदि उपस्थित हुए। परमात्माकी प्राप्ति ही वह परम पद है, वही परम शान्ति गति है, वही शाश्वत कायाणस्तरूप मङ्गलमय पद है। जिसे वहों विश्राम करनेका अवसर प्राप्त हो गया, उसे भ्रम पुनः बाधा नहीं पहुँचा सकता। संत पुरुष उस परब्रह्म परमात्माका स क्षाक्तार करके इस विनाशकील बाधा दृश्य प्रपञ्चमें उसी प्रकार नहीं रहते, जैसे चैत्ररथ नामक रमणीय उत्थानमें पहुँचे हुए जन खेरके बनमें जानेकी इच्छा नहीं करते। उद्दालक मुनिने सिद्धियोंको दूर हटा दिया था। वे छः मासतक समाधिमें स्थित रहनेके पश्चात् जब पुनः समाधिसे विरत होकर जागे, तब उन्हे अग्ने समुख कुछ परम तेजसिनी रमणियों दीख पड़ी, जो चन्द्रविश्वके समान सुन्दर शरीरवाली, स्तेहमयी और प्रणाम करनेकी लालसासे युक्त थी। साथ ही कतार-केकतार दिव्य विमल भी दृष्टिगोचर हुए। जो गौर वर्णशाले मन्दारपुण्योंके परागसे धूसरित भ्रमरों और चैत्रोंसे छुशोभित थे तथा विनाफर पताकाएँ फहरा

रही थीं। दूसरी ओर उन्होंने जिनके करकमलोंमें कुशा-की पश्चिमी भारण करनेसे चिह्न पड़ गये थे, उन हमारे-जैसे मुनियोंको और विद्या गतियोंसहित ओपु विद्याधरोंको भी देखा। उन सबने उन महारथा उद्दालक मुनिसे कहा—‘भगवन्। हम आपको प्रणाम कर रहे हैं। आप अनुमहापूर्ण दृष्टिसे हमारी ओर देखिये। मुनः। आहये और इस विग्रानपर चढ़कर खर्गलंकको पघारियें; क्योंकि जगत्की भोग-सम्पत्तियोंकी चरम सीधा सर्ग ही तो है। शिमो। वहाँ चलकर आप कल्परथन अरने अभीष्ठ भोगोंका समुचित रूपसे उपभोग कीजिये; क्योंकि समस्त तपस्याएँ खर्गदिशूप फलका उपभोग करनेके लिये ही होती हैं। भगवन्। वे विद्याधरोंकी ललनाएँ हार और चैत्र भारण किये आपके पास खड़ी हैं, इनपर दृष्टिपत कीजिये; क्योंकि धर्म और अर्थका सार काम है तथा कामकी सारमूता सुन्दरी युवतियाँ हैं। जैसे मङ्गरियों वसन्त शृतुमें ही उपलब्ध होती हैं, उसी तरह ये वराहनाएँ खर्गमें ही मिलती हैं।’

यों कहनेशाले उन सभी विद्याधर और ऋषि-मुनि आदि अनिथियोंका यथोचित आदर सत्कार करके उद्दालक मुनि निर्वान्त एवं निक्षण मावसे बैठे रहे। उनकी शुद्धि तो गम्भीर थी ही; अत उन्होंने न तो उस विभूतिका अभिनन्दन किया और न लित्स्कार ही किया अर्थात् उदासीन बने रहे तथा ‘मो सिद्धि ण ! आपलोग जाहये’ यों बहुकर वे अपने समाधिरूप कर्यमें संलग्न हो गये। तदनन्तर सिद्धगण कुल दिनोतक उद्दालक मुनिकी, जो भोगोंकी आसक्तिसे रहित और अपने धर्ममें निरन्-थे, प्रणाम, स्तुति-प्रशंसा आदिद्वारा उपासना करके अपने-आप चले गये। तब जीवन्मुक्त अवस्थाको प्राप्त हुए मुनि स्नेभ्यानुयार बनप्राप्तों तथा मुनियोंके आश्रमोंमें सुखपूर्वक विवरते रहे। उस समयसे उद्दालकमुनि परमपदके प्राप्त होनेपर दर्शतोंकी यन्दराओंमें ध्यान आदि छीलाएँ करते हुए निशास करने लगे।

ध्यानस्थ होनेपर उनका कभी एक दिनमें, कभी एक मासमें, कभी एक वर्षमें और कभी-कभी तो कई वर्षोंमें उस ध्यान-समाधिसे व्युत्थान होता था। उस समयसे लेकर उदालक मुनि व्यवहारमें तत्पर रहते हुए भी चिन्मय परमात्मामें एकीभावसे स्थित होनेर परम समाहित-चित्त बने रहते थे। यों चिन्मय परमात्मतत्त्वमें एकीभावके दृढ़ अभ्याससे महान् चिन्मय विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त करके उन मुनिकी सर्वत्र समदृष्टि हो गयी, जैसे सूर्यका तेज भूतलपर सर्वत्र समभावसे पड़ता है। इस प्रकार समस्त विक्षेपोंका उपशमन होनेके कारण परम पदकी प्राप्तिसे उनका चित्त जब शान्त हो गया, उनकी जन्म-भृणरूपी फौसी कट गयी और वे संशय तथा चञ्चलतासे रहित हो गये, तब वे शरस्कालीन आकाशके समान शान्त, सर्वन्यापक, तेजस्वी, प्रकाशमय, चित्त-रहित विशुद्धरूप चिन्मय परमात्माको प्राप्त हो गये।

श्रीरामजीने पूछा —ऐश्वर्यशाली गुरो! आप आत्मज्ञान-रूपी दिनके लिये सूर्यस्वरूप हैं, अतः अब यह बतलानेकी कृपा करें कि सत्ता-सामान्यका क्या लक्षण है।

श्रीकृष्णजीने कहा —राघव! दृश्य वस्तु है ही नहीं—इस प्रकारकी दृढ़ मानवासे चित्त जब सर्वथा क्षीग हो जाता है, तब उस सामान्यस्वरूप चेतनकी सबमें सामान्यमानवसे व्यापक स्वतंसिद्ध सत्तामात्र ही सत्ता-सामान्य अवस्था होती है। जब चैतन्य समस्त दृश्य पदार्थोंसे रहित होकर परमात्मामें बिलीन हो जाता है, तब उसकी निराकार आकाशकी भाँति अत्यन्त निर्मल सत्ता-सामान्यता होती है। जब चैतन्य बाह्य एवं अभ्यन्तरसहित यह जो कुछ है, उन सबका अपलाप करके स्थित हो, उस समय उसकी सत्ता-सामान्य अवस्था समझनी चाहिये। जब साधक समूर्ण दृश्यप्रभावों अपने बास्तविक स्वरूपसे खप्रकाशात्मक सत्ता-सामान्यस्वरूप परमात्मा ही अनुभव करता है, तब उसकी सत्ता-सामान्यतावस्था जाननी चाहिये। यह परम दृष्टि तुर्यातीत परके सदृश है, अतः यह

सदेहमुक्त और विदेहमुक्त दोनोंके लिये सदा समान है। निष्पाप राम! यह दृष्टि शानसे प्रादुर्भूत होती है, अतः यह केवल तुर्यातीत ज्ञानी महापुरुषको समाधि-अवस्था एवं व्युत्थान-अवस्था—दोनोंमें होती है, किंतु अहानीको कभी नहीं होती। यह सत्ता-सामान्य पदवी समस्त भयोंका विनाश करनेवाली है। इसका आश्रय लेकर उदालक मुनि दैवेच्छानुसार प्रारब्ध कर्मोंका क्षय होनेतक जगत्‌में स्थित रहे। वे पर्वतकी गुफामें पत्तोंके आसनपर नेत्रोंको आधा मूँदकर पश्चासनसे बैठे थे। उस समय वे महात्मा चित्रलिखित-से निश्चल होकर शरद-ऋतुके निर्मल आकाशमें समूर्ण कला ओंसे परिपूर्ण चन्द्रमाके समान विशुद्ध और सम हो गये। उनके सारे संकल्प-विकल्प जाते रहे। वे निर्विकार एवं समस्त पापों और विषय-भोगोंकी उपाधिसे रहित होनेके कारण अमिराम हो गये। उन्हें उस चिन्मय परम आनन्दकी प्राप्ति हुई, जहाँसे सारे सांसारिक दुख प्रादुर्भूत होते हैं तथा जिसकी समतामें इन्द्रका ऐश्वर्य भी समुद्रमें तिनकेके समान है। तदनन्तर वे विप्रवर उदालक, जो अनन्त आकाशोंमें व्याप्त रहनेवालों दिशाओंको भी व्याप करनेवाला, सदा समस्त वस्तुओंसे पूर्ण, मुबनोंका भरण-पोषण करनेवाला, जदे भाग्यसे एवं उत्तम जनोऽरारा सेवा करनेयोग्य, वाणीसे परे, अनन्त, सबका आदि और सत्यस्वरूप है, उस परम विज्ञानानन्दघन परमात्मामें तदूप हो गये। जो विवेकद्वारा स्फुरित हुए आनन्दरूपी विकसित पुष्पोंसे सुशोभित है, उदालककी वह चञ्चलतारहित पवित्र चित्तवृत्तिरूपिणी कल्पलता जिसके हृदय-क्षाननमें उगाकर विस्तारको प्राप्त हो जाती है, वह संसार-काननमें विहार करता हुआ भी सत्यस्वरूप परमात्माके आश्रयरूपा छायासे कभी विद्युक्त नहीं होता, अपितु उसका सर्वोत्कृष्ट मोक्षफलसे सम्बन्ध जुड़ जाता है। इसलिये कल्पणाकामी मनुष्यको उदालककी चित्तवृत्तिरूपा लताको हृदयमें रोपकर उसका विस्तार करना चाहिये।

रघुकुलमूर्शण राम । संसारसे वैराग्य, जप-ध्यानके अभ्यास, सद-शास्त्रोंके विचारपूर्वक अध्ययन, पवित्र और तीर्ण बुद्धि, सद्गुरुजे उपदेश और यम-नियमोंके पालनसे परमात्माकी प्राप्तिकृप विशुद्ध परमपदकी प्राप्ति होती है अथवा केवल विशुद्ध और तीर्ण प्राप्ति से ही परमपद मिल जाता है; क्योंकि जो बुद्धि सम्बद्ध प्रकारसे ज्ञानबुद्धि, तीर्ण और दोषरहित है, वह सम्पूर्ण साधनोंके बिना भी यथार्थ ज्ञानद्वारा बीबको अविनाशी परमपदकी प्राप्ति करा देनी है ।

श्रीरामजीने पूछा— श्रूत और भविष्यके हाता मगावन् । कोई ज्ञानी पुरुष व्यवहार करता हुआ भी समाधिस्थके सहश विश्रामको प्राप्त हुआ रहता है और कोई एकान्तका आश्रय लेकर ध्यान-समाधिमें स्थित रहता है । इन दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है ? यह मुझे बतलानेकी कृपा करें ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा— वस्तु राम । जो इस सत्त्वादि गुणोंके समाहाररूप दृश्य जड़ संसारको अनात्मरूप ( अनित्य और मिथ्या ) देखता है, उस पुरुषकी जो यह परम शास्त्ररूप अन्तःशीतलता है, वही समाधि कहलाती है । मनके रहनेपर दृश्य पदार्थोंके साथ सम्बन्ध होता है — ऐसा निश्चय बरके जो ममसे रहित होकर परम शान्तिको प्राप्त हो चुका है, ऐसा कोई पुरुष तो व्यवहारमें लगा रहता है और कोई ध्यान-समाधिमें तड़कीन हो जाता है । यदि उनके अन्तःकारणमें परम शान्तिरूप शीतलता है तो वे दोनों ही सुखी हैं; क्योंकि जो अन्तःकारणकी शीतलता है, वह अनन्त सावनरूप तपस्याओंका फल है । इसलिये जो ज्ञानी व्यवहारपरायण है और जिसने ज्ञान प्राप्त करके बनका आश्रय ले लिया है, वे दोनों ही सर्वथा समाप्त हैं; क्योंकि उन दोनोंको ही सम्पूर्ण सद्देहोंसे रहित परम पदकी प्राप्ति हो गयी है । रघुनन्दन । कित्तमें जो कर्तापूर्वक असाध है, वह उच्चम समाधान है और वही भग्नलम्ब परमानन्द-पद है । उसीको तुम केवल विन्ययमात्र समझो । जो मन वासनाओंसे

रहित हो गया है, वह स्थिर कहा गया है, वही ध्यान-समाधि है, वही केवल चिन्मयमात्र है और वही अविनाशी परम शान्ति है । जिसके मनकी वासनाएँ क्षीण हो चुकी हैं, वह पुरुष सर्वोक्तुष्ट परमपदकी प्राप्तिके योग्य कहा जाता है; क्योंकि वासनाशब्द्य मनशाला पुरुष कर्तापूर्वसे रहित हो जाता है, अतः उसे परमपदकी प्राप्ति होती है । जिस साधनसे मनुष्यकी जगद्विविधिणी आसा पूर्णतया शान्त हो जाती है और उसका अन्तःकारण शोक, भय और एष्णाओंसे रहित हो जाता है तथा आत्मा अपने वास्तविक स्वरूपमें स्थित हो जाता है, उस साधनको समाधि कहते हैं । जिन गृहस्थोंके विस अच्छी प्रकार समाहित हो चुके हैं तथा विनके अहकार आदि दोष शान्त हो गये हैं, उनके लिये घर ही निर्जन बनस्पतियोंके समान है । समाहित मन और दुर्दिवाले तुम्हारे-जैसे प्राणियोंके लिये इस जगतमें घर और बन एक-से हैं । राजकुमार राम । जिसका चित्र अहंता, मगता, रागादि दोषरूप महामैथवसे रहित होकर शान्त हो चुका है, उसके लिये जनसमूहोंमें व्याप लगर भी मुनसान अरण्य-जैसे लगते हैं; परंतु शत्रुंगरोंका सहार करनेवाले रघुनन्दन । जिसका चित्र अहंता, मगता, राग आदि वृत्तियोंसे युक्त होनेके कारण उन्मत बना रहता है, उसके लिये निर्जन बन भी प्रकुर जनोंमें परिपूर्ण नगर-जैसे ही है ।

जो मनुष्य ममाधि-कर्ताओंमें परमात्माको भग्नपूर्ण भावों और पदार्थोंसे अनीन तथा व्यवहारकान्द्रे सम्पूर्ण भावोंको परमात्माका स्वरूप समझता है, वह समाहित छहा जाता है । जिसका मन सदा अन्तर्मुख बना रहता है, वह सोते, जागते और चलते हुए भी प्राप्त, नगर और देशको जंगल-जैसा ही समझता है । यद्यपि यह सारा जगत् प्राणियोंसे परिपूर्ण है, तथापि यह सारा जगत् अन्तमुखी विनिष्ठाले पुरुषके लिये सर्वथा अनुष्योगी होनेके कारण यह आकाशकी तरह शब्द्य हो जाता है । जिन पुरोंके

अन्नःकरणमें परम शान्ति प्राप्त हो जाती है, उनके लिये सारा जगत् राटा शान्तिमय हो जाता है; परंतु जिनका अन्तःकरण तृष्णाकी ज्ञातासे संतप्त होता रहता है, उनके लिये जगत् दावागिनसे दग्ध होता हुआ-सा प्रतीत होता है; क्योंकि समस्त प्राणियोंके भीतर जैसा भाव होता है, वैसा ही बाहर अनुभव होता है। जो बाहर कर्मेन्द्रियोदारा क्रियाओंका सम्पादन करता हुआ भीतर केवल आत्ममें ही रत रहता है और हर्ष-शोकके वशीभूत नहीं होता, वह समाहित कहा जाता है। जो शान्तबुद्धि पुरुष सर्वज्ञापक आत्मका साक्षात्कार करते हुए न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी चिन्ता ही करता है, वह समाहित कहलाता है। जो आकाशकी तरह निर्भूल है, शास और शिष्टाचारके अनुकूल शाश्वतेषांका सम्यक् प्रकारसे आचरण करता है और हर्ष, अर्पण आदि विकारोंमें काष्ठ और मिट्टीके ढेलेके समान विकारहित एवं शान्तस्थावरणा है तथा जो मध्यसे नहीं, गतिक स्थानात्मिक ही समस्त प्राणियोंको अपने आत्माके तुल्य और पराये घनको मिट्टीके ढेलेके सदृश देखता है, वही यथार्थ देखता है। जो इस प्रकारके आशयसे सम्म छोकर सम्बिदानन्द ग्रहणरूप परमपदको प्राप्त हो गया है, उसके ऐस्थर्थ आदि पदार्थ चाहे पूर्वभृत् स्थित रहे, चाहे अम्बुदयको प्राप्त हों, चाहे नष्ट हो जायें, चाहे उसके बन्धु-बन्धव मृत्युको प्राप्त हो जायें, चाहे वह उत्तमोत्तम भोग-सामग्रियोंसे परिपूर्ण तथा कुटुम्बी

जनोंसे भरपूर धरमें रहे, अथवा सभी प्रकारके भोगोंसे शून्य विशाल बनमें रहे, चाहे उसके शरीरपर चन्दन, अगुरु और कम्पुका अनुलेप किया जाय अथवा वह बड़ी-बड़ी ज्ञाताओंसे व्याप्त अग्निमें गिरे, चाहे उसकी आज ही मृत्यु हो जाय अथवा अनेक कल्पोंके बाद हो, वह न तो लयं कुछ बनता है और न उस महात्माने कुछ किया ही। अर्थात् वह सभी स्थितियोंमें विकार-रहित सम्मावसे स्थित रहता है। अहंकार और वासनारूपी अन्योंके उत्पन्न होनेसे सविदात्मा पुरुषके जीवनमें नाना प्रकारके शुख-दुःख आते-जाते रहते हैं; परंतु उस अहंताके पूर्णतया शान्त हो जानेपर चित्तमें ऐसी समता प्राप्त हो जाती है, जैसे रज्जुमें सर्पभान्तिके नष्ट हो जानेपर वह सर्पनहीं है इस ज्ञानसे निर्भयता और प्रसन्नता होती है। ज्ञानी जो कार्य करता है, जो खाता है, जो दान देता है, जो हवन आदि करता है—उन सब कर्मोंको करता हुआ भी वह कुछ नहीं करता एवं न उनमें रत ही रहता है; क्योंकि वह अहंता-ममतासे रहित हो जाता है, इसलिये उसका कर्म करना अपका न करना एक-सा है। उसका न तो कर्मोंके करनेसे कोई प्रयोगन है और न कर्मोंके न करनेसे ही कोई मतलब है; क्योंकि वह तो यथार्थ ज्ञानके प्रमादसे खाभाविक ही परमात्मामें स्थित है। अनः उसके मनमें कामनाओंकी उत्तरति उसी प्रकार रुक जाती है, जैसे पत्थरमें मङ्गरियाँ नहीं निकलतीं।

( सर्ग ५४—५५ )

**किरातराज सुरघुका वृत्तान्त—महर्षि माण्डव्यका सुरघुके महलमें पधारना और उपदेश देकर अपने आश्रमको लौट जाना, सुरघुके आत्मविषयक चिन्तनका वर्णन तथा उसे परमपदकी प्राप्ति**

श्रीकृष्णिष्ठी कहते हैं—राधव ! इस विषयमें एक प्राचीन इग्निहासका दृष्टान्त दिया जाता है, जो किरात-राज सुरघुका परम विस्मयजनक वृत्तान्त है। पूर्वकालमें हिमालयके शिखरभूत कैलासके मूल देशमें हंसजट नामक

किरात निवास करते थे। उनका जो राजा था, उसका नाम सुखु था। वह उदारचेता एवं शत्रु-नगरीपर विजय पानेवाला था। विजयलक्ष्मी तो मानो उसकी मुजा ही थी। वह बलवान् तथा प्रजापालनमें दक्ष था। पराक्रममें

तो यह सूर्यतुल्य और बलमें साक्षात् भूतिमान् बायुके समान था। उसने नाना प्रकारके राज्यवैभवों तथा विविध धन-सम्पत्तियोंसे गुहाकाविपति कुबेरको, ज्ञानसे इन्द्रगुरु वृहस्पतिको और काव्यगुणोंसे वासुर-गुरु शुक्राचार्यको जीत लिया था। यह यथावसर प्राप्त हुए राजकार्योंको निप्रह-अनुप्रहकी व्यवस्थासे उत्साहपूर्वक करता था। तदनन्तर उन राजकार्योंसे उत्पन्न हुए सुख-दुःखोंसे उसकी पारमार्थिक गति उसी प्रकार अभिमूल हो गयी, जैसे जालमें फैंसे हुए पक्षीकी गति रुक जाती है। तब यह यों विचार करने लगा—‘मैं इन दुखी प्रजाजनोंको कोल्हूये पेरे जाने हुए निनेंकी भाँचि क्यों बल्यार्थिक पीड़ित करता हूँ? मेरे समान हो इन सभी प्राणियोंको भी तो हुःख होता होगा। अतः आब मेरा इन्हें और अधिक दण्ड देना व्यर्थ है। मैं इन्हें धन-सम्पत्ति प्रदान करूँगा; क्योंकि मेरी तरह सभी लोग धनसे आनन्दित होते हैं। अथवा निप्रहका अवसर प्राप्त होनेपर उसे भी करूँगा; क्योंकि निप्रहके बिना प्रजा अपनी सर्वदामें स्थित नहीं रहती। यह मेरे लिये दण्डनाय है। यह सदा मेरे अनुप्रहका पात्र है। भीमाग्यकी बात है कि आज मैं सुखी हूँ और दुर्भाग्यवश आज मैं दुखी हूँ। यह सब अन्तमें कष्ट-ही-कष्ट है।’ पृथ्वीपति सुरेणुका मन इस प्रकारके सकलप-विकल्पोंसे चक्कड़ हो गया, जिससे उसे कहीं विश्राम नहीं मिला—जैसे चिरकालकी तुशासे युक्त मन जलके बड़े-बड़े आवर्तोंपर धूमते रहनेपर भी बलके बिना कहीं शान्ति नहीं पाता।

तदनन्तर किसी सप्त महर्षि माण्डव्य सम्पूर्ण दिशाओंमें भ्रमण करने हुए राजा सुरेणुके घर पत्तरे—ठीक उसी तरह, जैसे देवर्षि नारद इन्द्र-भवनमें पदार्पण करते हैं। वे मुनिराज सम्पूर्ण शाश्वोंके ज्ञाता थे, अतएव सद्गृहस्ती दृष्ट वृक्षस्तम्भका छेदन करनेके लिये कुड़ारस्तरप थे। राजाने उनका पूजन किया और यों पूछा—



सुरेणुने कहा—मुने! जैसे उम्मीपति मात्रान् विष्णुका दर्शन करके भक्त परम प्रसन्न होता है, उसी प्रकार आपके गुभागमनसे मुझे परम हर्ष प्राप्त हुआ है। मगान्! आप तो सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता हैं और चिरकालसे परमपदमें विश्राम भी कर चुके हैं; अतः जैसे सूर्य अन्धकारका विनाश कर देते हैं, उसी प्रकार आप मेरे संशयका विवारण कीजिये; क्योंकि हुःखके स्तरपको पूर्णतया जाननेवाले विष्णुजन संशयको ही महान् दुःख बताते हैं। मग्ना, महापुरुषोंके सम्माने किसके हुःखका विनाश नहीं होता अर्थात् सभीके हुःख नष्ट हो जाते हैं। प्रमो! अपने प्रजाजनोंपर मेरे द्वारा किये गये निप्रह और अनुप्रहने उत्पन्न हुई चिन्ताएँ मुझे उसी प्रकार उत्पीड़ित कर रही हैं, जैसे सिंहके मख हाथीको कष्टमें ढाल देते हैं। अतः मुने! जिस प्रकार मेरी बुद्धिमें सूर्यकी किरणोंके समान समताका उदय हो और विषमता न आने पाये, क्षणपूर्वक वैसा ही प्रयत्न कीजिये।

महर्षि माण्डन्य बोले—राजन् ! जैसे सूर्यकी किरणोंके स्वर्णसे कुदरेका विनाश हो जाता है, उसी तरह वैतरथ, श्रवण-मनन-निदिध्यासनरूप अभ्यासादि निजी प्रवल्लसे तथा आत्मस्थितिरूप उपायसे मनकी यह काथरता पूर्णतया नष्ट हो जाती है। आत्मविषयक विवेक-विचार करनेसे ही मनके भीतरी संनापका शमन होता है—ठीक उसी तरह, जैसे शरकून्यतुके आगमनमात्रसे विशाल मेवपण्डल विकीर्ण हो जाता है। इसलिये तुम मन ही-मन निचार करो—ये जो पुन, मित्र आदि अपने सम्बन्धों हैं तथा अपने शरीरमें रहनेवाली इन्द्रियों हैं, वे तत्त्वतः कौन हैं और कैसी हैं ? मैं कौन हूँ ? कैमा हूँ ? यह दृश्य जगत् क्या है ? प्राणियोंके जन्म-मरण कैसे होते हैं ? यों हृदयमें विचार करनेसे तुम्हें परमोक्तुष्ट महत्त्वा प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार जब परमात्म-तत्त्वका यथार्थ अनुभव कर लेनेपर तुम संतुष्ट हो जाओगे, तब जैसे संतान संतुष्ट हुए पिताकी कृपाका पत्र होती है, उसी तरह वे सभी सम्पत्तिशाली राजा-महाराजा तुम्हारे कृपापत्र हो जायेंगे। सज्जनशिरोमणे ! परमात्माकी प्राप्तिरूप महत्त्वाके प्राप्त कर लेनेपर तुम्हारा चिरा जागनिक विषय-मोगोंमें उसी प्रकार नहीं हूँवेगा, जैसे गायके खुरके गड्ढेके जलमें हाथी नहीं हूँबता। तुम्हारे अन्तकरणमें केवल दृश्यका अवलम्बन करनेवाली वासनारूपा दीनता छायी हुई है, अगमी उसी दीनताके कारण तुम कीइकी भौति मोगोंमें पच रहे हो। जो सर्वात्मिका बुद्धिसे सब देशमें, सब कालमें, सभी प्रकारोंसे सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्चका परित्याग कर देना है, उसे सर्वरूप परमात्मा अपने-आप उपलब्ध हो जाते हैं; किंतु जबतक सम्पूर्ण दृश्योंका पूर्णतया त्पाप नहीं हो जाता, तबतक परमात्माका आश्रामकार होना दुर्लभ है; क्योंकि सभी अवस्थाओंका परित्याग कर देनेपर जो शंख रहना है, वही परमात्मा कहा गया है। राजन् ! अन्यान्य कार्योक्त

परित्याग करके आत्मा जिस विषयकी प्राप्तिके लिये सब प्रकारसे यज्ञ करता है, उसीको पाता है; उससे भिन्न कुछ नहीं मिलता। इसलिये अपने आत्मा-का साक्षात्कार करनेके लिये सभी विषयोंका परित्याग कर देना चाहिये; क्योंकि सब कुछ त्याग देनेपर अन्तमें जो दृष्टिगोचर होता है, वही परमपद है।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! महर्षि माण्डन्य राजा सुरघुको यो उपदेश देकर अपने उसी रुचिर आश्रमकी ओर चले गये, जहाँ सुनियोंका जमघट लगा रहता था। उन सुनिश्चेष्टके चले जानेपर राजा सुरघु किसी दोपरहित एव एकान्त स्थानमें जाकर अपनी बुद्धिसे यो विचार करने लगा—‘वस्तुतः खयं मैं कौन हूँ ? मैं मेहुपर्वत तो हूँ नहीं और न मेहुगिरि मेरा है। न तो मैं जगत् हूँ और न जगत् मेरा है। मैं पर्वत भी नहीं हूँ और न पर्वत मेरे हैं। मैं न पृथ्वी हूँ और न पृथ्वी मेरी है। यह किरात-मण्डल भी मेरा नहीं है और न मैं किरातमण्डल हूँ। केवल अपने संकेतसे ही यह देश मेरा कहा जाता है। जो, मैंने इस संकेतको छोड़ दिया, अतः न तो मैं देश हूँ और न यह देश मेरा है। इस नगरके विषयमें भी इस कल्पनात्यागसे यही निश्चय होता है कि यह पुरी जो पताकाओं और वनश्रेणियोंसे सुशोभित, भूत्यों और उपवनोंसे व्याप तथा हाथी, बोझों और सामन्तोंसे परिपूर्ण है, वह मैं नहीं हूँ और न यह पुरी मेरी है। जो मिथ्याभूत मान्यतासे सम्बन्ध रखनेवाला और उस मन्यताका विनाश होनेपर नष्ट हो जानेवाला है, ऐसा यह भोग-समुदाय और भार्या आदि कुदुम्ब भी मैं नहीं हूँ और न ये सब मेरे हैं। इसी प्रकार शून्यों, सेनाओं, वाहनों एवं अन्यान्य नगरोंसे युक्त राज्य मैं नहीं हूँ और न राज्य मेरा है; क्योंकि यह मान्यता तो केवल कलिङ्ग है। इस शरीरमें स्थित मांस और अस्ति भी मैं नहीं हूँ, क्योंकि ये जड़ हैं। कमलदलपर पड़े

हुए जलकी बूँदकी तरह उनका मेरे साथ सम्बन्ध नहीं है । इस प्रकार मास, रक्त और हृदयों—ये सभी जड़ हैं; अतः मैं ये नहीं हूँ और न किसी दशामें ये मेरे हैं । कर्मनिदियों मी मैं नहीं हूँ और न कर्मनिदियों मेरी हैं । इस प्रकार इस देहमें आवन्मात्र जड़ पदार्थ हैं, वे मैं नहीं हूँ; क्योंकि मैं तो चेतन हूँ । मैं भोग नहीं हूँ और न भोग मेरे हैं । ज्ञानेन्द्रियों भी मेरी नहीं हैं और न मैं ही ज्ञानेन्द्रियों हूँ; क्योंकि वे जड़ और असत्त्वरूप हैं । जो संसाररूपी दोषका मूल कारण है, वह मन भी मैं नहीं हूँ; क्योंकि वह तो जड़ है । बुद्धि और अद्विकार भी मैं नहीं हूँ और न वे मेरे हैं; क्योंकि यह दृष्टि मनोभयी होनेके कारण जड़ है । यों चञ्चलमन्त्रपत्राले शरीरसे लेकर मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदितक जो स्थूल-सूक्ष्म भूतोंका समुदाय है, उनमेंसे मैं एक भी नहीं हूँ ।

‘अहो ! महान् आश्वर्यकी बात है, मैं तो सम्पूर्ण विकल्पोंसे रहित विशुद्ध साक्षीत्वरूप चेतन आत्मा हूँ । जिसकी प्राप्तिके लिये मैं विरकालसे प्रयत्नशील था, उस आत्माकी उपलब्धि तो मुझे आज ही हुई है । जिस विशुद्ध आत्माका कहीं अन्त नहीं है, वह तत्पदबोध असीम आत्मा ही मैं हूँ । वह चेतन आत्मा निर्भल, किष्य-दोषोंसे शून्य, सम्पूर्ण दिव्यमण्डलको परिपूर्ण करनेवाला, सर्वव्यापक, सूक्ष्म, उत्पत्ति-विनाश-रहित, समस्त आकारोंसे परे एवं सर्वदा सर्वमात्रको प्राप्त है । जगत्की यह अनुमत्तात्मक कल्पना भी चेतना-शक्तिमयी ही है । यह जो सुख और द्रुःखकी दशाका ज्ञान होना है, वह नो मिथ्या अनुमत्तात्र है तथा जो नाना प्रकारके आकारोंकी प्रतीति होती है, वह सब कुछ परम चेतन आत्मा ही है । जो समस्त जगत्में व्यापक है, वही चेतन मेरा आत्मा है और जो मेरी बुद्धिका साक्षी है, वही यह चेतन है । इसी चेतन-शक्तिकी कृपासे मन देहरूपी रथपर आरुह होकर

अवेकों सुहिनिलासोंमें जाता है, वहाँ दौड़-चूप करता और नाखता है । वस्तुतः तो ये मन-शरीर आदि वस्तुएँ कुछ भी नहीं हैं, क्योंकि इनके नष्ट हो जानेपर भी आत्माका कुछ नहीं बिगड़ता । चित्तरूपी नटने ही इस जगज्ञालरूपी नाटकका विस्तार किया है । इसे केवल वही बुद्धि देखती है, जो दीप-शिखाके समान देवीप्रमाण है । अस्तन्त खेदकी बात है कि निप्रह और अनुप्रहकी स्थितिमें मुझे देहविषयिणी चिन्ता व्यर्थ ही हुई; क्योंकि परमार्थतः देह कुछ भी नहीं है । अहो ! अब तो मुझे शिशेप्रहपसे ज्ञानकी प्राप्ति हो गयी है, जिससे मेरा अपाद्विजार नष्ट हो गया है । जिसे जानना आवश्यक था, उसे मैंने जान लिया और जो प्राप्त करने योग्य था, उसे पा लिया । अब लोकमें वे निप्रह और अनुप्रह कहों हैं, किस प्रकारके हैं, किसमें गहते हैं और उनका स्वरूप क्या है ! इसी तरह हर्ष और अमर्पकी परम्परा भी कहों हैं ! अर्थात् ये सभी व्यर्थ कल्पनामात्र ही हैं । अब मैं रागभून्य, विशेषोंके संसर्ग-से रहित और सुपुत्रि आदि अन्तर्यामोंसे परे होकर उस विशुद्ध विज्ञानानन्दघन परमात्मामें, जो संसार-भ्रम और रागादिसे शून्य है, नित्य निवास करूँगा ।’

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुकुलमूपण राम । जैसे गाधिनन्दन विश्वमित्रने अपने तपोव्रष्टसे ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया था, उसी तरह हेमजट नामक किरातोंके राजा सुरघुने निश्चयत्वमक ज्ञानके बलसे परमपद प्राप्त कर लिया । तभीसे राजा सुरघु चिन्ताज्ञासे मुक्त हो गया । वह सर्वदा निप्रह-अनुप्रहरूपी अपने राजोचिन काथोंमें उसी तरह अठल बना रहता था, जैसे जल-प्रवाहके सम्मुख पर्वत निष्कम्भ बना रहता है । हर्ष, विशाद और ईर्ष्यासे रहित होकर प्रनिधिन यथाशसर प्राप्त हुए काथोंको न्यायपूर्वक करता हुआ राजा सुरघु अपनी उदार और गम्भीर आकृतिहारा समुद्रसे भी बढ़-कर मुश्तोभिन्न होने लगा । उसकी वृत्ति अन्त करणको

शीतल करनेवाली, निश्चलताके कारण भीर और समदर्शनात्मक थे; उस द्वादिसे वह परिपूर्ण समुद्र और चन्द्रमाकी भौंति शोभा पाने लगा। यह सारा जगत् केवल चेतन-तत्त्वकी कल्पना ही है—यों मिश्य करने-के कारण उसकी दुदि सांसारिक मूख-दुःखोंसे रहित हो गयी थी; अतः वह पूर्णरूपसे प्रकाशित हो च्छी थी। इसलिये प्रशुद्ध तथा चेतनमें विलीन हुआ वह राजा हर्षित होते, प्रफुल्लित होते, पूर्णरूपसे स्थित रहते, चलते, बैठते और सोते समय सदा समस्वरूप परब्रह्म परमात्मामें ही स्थित रहता था। उसका शरीर यिकाररहित था तथा नेत्र कमलके समान छुंदर थे। वह अनासकमावसे राज्य करते हुए सैकड़ों वर्षपर्यन्त इस भूमण्डलपर विख्यान रहा। तत्यथात् उसने सर्वं ही इस पञ्च-मूत्रात्मक शरीरका परित्याग कर दिया और परमात्माका यथार्थ ज्ञान हो जानेके कारण, जो सृष्टि और प्रलयके हेतु तथा ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं, उन परब्रह्म परमात्मामें प्रवेश कर गया—ठीक उसी तरह, जैसे नदियोंका अल परिपूर्ण समुद्रमें प्रवेश करता है। वह विशुद्ध एकरस सप्रकाश परमात्माको यथार्थरूपसे जान चुका



था और जन्म आदि विकारोंसे रहित अवस्थाको प्राप्त कर लेनेके कारण उसके समग्र शोक शान्त हो गये थे; इसलिये वह पूर्णरूप परब्रह्म परमात्मामें उसी प्रकार एकीभावको प्राप्त हो गया, जैसे घटके घट जानेपर घटाकाश महाकाशमें मिल जाता है। ( सर्ग ५८-६० )

### किरातराज सुरघु और राजर्षि पर्णाद ( परिव ) का संबंध

श्रीकृष्णजी कहते हैं—रघुनन्दन ! जिस समय सुखुको तत्त्वज्ञान हो चुका था, उसी समय अर्थात् उसके जीवनकालमें ही उसका और राजर्षि पर्णाद ( परिव ) का परस्पर जो अद्वृत संबंध हुआ था, उसे सुनो। रघुकुलको आनन्दित करनेवाले राम ! जैसे रथपर रखा हुआ परिव नामक अल विपक्षी वीरोंका संहार करनेमें प्रसिद्ध है, उसी तरह पारसीक देशका एक विष्यत राजा हो गया है, जो शत्रुघ्नीरोका संडार करनेवाला था। उसका नाम था परिव ! वह किरातराज सुखुका परम मित्र था। किसी समय जैसे कल्पान्तके

अवसरपर संसारमें वर्पका अभाव हो जाता है, उसी तरह राजा परिवके राज्यमें महान् अवर्षण हुआ, जिसमें प्रजाजनोंका पापरूपी दोष ही कारण था। उस समय बहुत-सीजनता भूखसे गतप्राण होकर उसी प्रकार विनष्ट हो गयी, जैसे जगलमें आग लग जानेपर हुंड-के-हुंड प्राणी जलकर भस्म हो जाते हैं। प्रजाके उस कष्टको देखकर राजा परिवको अपार विवाद हुआ। उसने प्रजाजनोंको विनाशसे बचानेके लिये अनेकों यज्ञ किये, किंतु वे सब निष्फल सिद्ध हुए। तब उसे राज्यसे बैराग्य हो गया। फिर तो जैसे राहगीर जले हुए गाँवको छोड़कर

चल देते हैं, उसी तरह उसने शीत्र ही अपने सम्पूर्ण राज्यका परिव्याग कर दिया और मृगचर्मधारी मुनियोंकी तरह तपस्या करनेके लिये बंगलकी राह ली। वह विरकास्ता परिव किसी दूरवर्ती काननमें, जो पुरावासियोंकी जानकारीके बाहर था, जाकर इस प्रकार रहने लगा भागों किसी अन्य लोकमें चल गया हो। उसकी जुद्धि तो शान्त थी ही, उसने अपने मन-हन्दियोंका भी दमन कर लिया था; अतः वह वहाँ एक पर्वतकी कल्दरामें आसन लगाकर तपस्यामें निरत हो गया। उस समय छये सूखकर गिरे हुए पत्ते ही उसके बाहार थे। इस प्रकार विकाषतक-वह अशिकी भौंति सूखे पत्तोंको ही भक्षण करता रहा, जिससे तपस्यियोंके मध्यमें वह 'पर्णद' नामसे विख्यात हुआ। तभीसे वह परिव जन्मदीपमें मुनियोंके आश्रयोंमें राजर्षिश्रेष्ठ पर्णदके नामसे प्रसिद्ध हो गया। तदनन्तर एक सहस्र वर्षोंकी घोर तपस्या और अन्यासके द्वारा परमात्माकी कृपासे उसे आत्मज्ञानकी प्राप्ति हुई। साधुसमाव राम। फिर तो उसकी जुद्धि प्रसुद हो उठी। वह सुख-हुःखादि हृन्दोंसे परे हो गया। उसका विषय-आसनाएँ नष्ट हो गयीं। उसका भन विक्षेपशून्य और शान्त हो गया तथा वह विषयोंकी आसकियों और आक्षेपोंसे रहित हो गया। इस प्रकार जीवन्मुक्त होकर वह तत्त्वज्ञानियों तथा तत्त्वज्ञानसु मुनियोंके साथ स्वेच्छानुकूल विलोकीमें विचरण करने लगा। यों पर्यटन करते हुए वह एक समय हैमजट देशके अधिपति राजा सुरघुके रजनीमित महलमें आ पहुँचा। वे दोनों पहलेके मित्र तो थे ही, साथ ही वे पूर्ण ज्ञानी थे। उन्हें ज्ञातव्य तत्त्वका ज्ञान प्राप्त हो चुका था तथा वे जीवन्मुक्त थे; अतः वे परस्पर एक-दूसरेका आदर-सम्मान करके यों कहने लगे—'अहो! जिक्षय ही आज मेरे कल्पाणामय पावन सत्कर्मोंका फल उदय हुआ है, जिससे मुझे आपका दर्शन प्राप्त हुआ।' उस समय उनके शरीर आनन्दसे परिष्ठूर्ण हो गये थे,

अतः वे परस्पर आळिङ्कन करके एक ही आसनपर विराजमान हुए।



तब परिवने कहा—सुने ! तुम्हारे दर्शनसे आज मेरा किंतु परमानन्दसे परिष्ठूर्ण हो गया है। समन-शिरोमणे ! पहलेके वे संकोचहीन शर्तालिप, विविध छीलाएँ और विभिन्न चेष्टाएँ बारंबार मेरे स्मृति-पटलपर आ रही हैं, जिससे मुझे परम हर्ष हो रहा है। निष्पाप राजन् ! जैसे महर्षि माण्डल्यकी कृपासे तुम्हें तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हुई है, उसी तरह आराधनाद्वारा प्रसन्न हुए परमात्माके प्रसादसे मुझे भी यह ज्ञान प्राप्त हुआ है। मित्र ! अब तो तुम्हें कोई कठ नहीं है न ; तुम मेरुगिरिपर विश्राम करनेवाले भूमण्डलके अधिपतिकी तरह परम कारणहृष परमात्मा में विश्रामको प्राप्त हो गये हो न ! परम कल्पाणामूर्ख ! तुम्हारे विद्यमें आत्मारामताके कारण सदा प्रसन्नता छायी रहती है न ? परम सीमाव्यपशाकी न रहा। तुम आत्मन्

प्रसन्नता एवं गम्भीरतापूर्ण समदृष्टिसे जनताके कल्पणार्थ कर्तव्यकर्मोंको करते हो न ? तुम्हारे देशमें निवास करनेवाली जनता शारीरिक एवं मानसिक पीड़ाओंसे रहित, धैर्य-सम्बन्ध और धन-धान्यसे परिपूर्ण है न ? उसे कोई चिन्ता तो नहीं सताती ? क्या उसम फल प्रदान करनेवाली एवं अनेकविधि फलोंके भारसे नम्र हुई कल्पताकी भौंति तुम्हारे राज्यकी भूमि प्रजाजनोंका उनके अभिलिखित पदार्थोंकी पूर्तिद्वारा सदा-सर्वदा पोषण करती है ? जैसे चन्द्रमाके किरणजाल सारे भूमण्डलको व्याप्त कर लेते हैं, उसी तरह तुम्हारा पावन यश, जो तुषार-राशिके सदृश्यनिर्भूल है, सारी दिशाओंमें फैला हुआ है न ? जैसे सगेवरका जल आपने अंदर रहनेशाले कमल-नालोंकी भूमिको पूर्ण कर देता है, वैसे ही तुमने अपने गुण-गतोंसे सारी दिशाओंको भर दिया है न ? क्या गौव-गौवमें धानकी कथारियोंके कोनोंमें वैठी हुई हार्षित चित्तवाली कुमारियों तुम्हारे आनन्दवर्धक यशका गम करती हैं ? तुम्हारे धन-धान्य, ऐश्वर्य, भूत्यवर्ग, पुत्र-कल्पन और नगर आदि सबकी कुशल तो है न ? तुम्हारी यह शारीररूपी छता शारीरिक एवं मानसिक पीड़ाओंसे रहित होकर उस पुण्य नामक फलको उत्पन्न करती है न, जिसकी इहलोक तथा परलोक—दोनोंके लिये शाङ्क आज्ञा देते हैं ? जो तत्त्वज्ञानमें प्रतिबन्धक होनेके कारण महान् शक्ति-तुल्य है तथा सर्पके समान विषवत् फल प्रदान करनेशाले हैं, ऐसे इन आपात-रमणीय विषयमोर्गोंसे तुम्हारा मन विरक्त तो है न ? अहो ! हम दोनोंको वियुक्त हुए बहुत-सा काल व्यतीत हो गया, परंतु कालकी प्रेरणासे आज हम पुनः मिल गये । सखे ! जगत्में संयोग-वियोग-जनित सुख-दुःखकी ऐसी कोई अवस्थारूप है ही नहीं, जिसका प्राणियोंको अनुमत न होता हो । इसी नियमके अनुसार हमलोग भी दीर्घ-कालिक सुख-दुःखकी दशाओंके फेरमें पड़ गये थे, परंतु क्य पुनः आ मिले हैं । अहो ! मगवान्का कैसा अनुत्त विधान है ।

सुरमु बोला—भगवन् ! भगवद्विधानरूप इस नियतिकी गति सर्पकी चालकी तरह बड़ी टेढ़ी है । वह गम्भीर एवं विस्मयजनक है । मला, उसे कौन जान सकता है । उसने ही आपको और मुझे चिरकाल-तक दूर हटाकर आज पुनः मिला दिया है । अहो ! उस नियतिके लिये क्या असाध्य है ? अर्थात् कुछ नहीं । महात्मन् । आज आपके शुभागमन-जनित पुण्यके संस्पर्शसे हम सब तरहसे कल्याणके मार्गी और परम पावन हो गये । राजपै ! इस भागमें हमारी जो सम्पत्तियाँ वर्तमान हैं, वे सभी आज आपके शुभागमनसे सैकड़ों रूपोंमें दृष्टिको प्राप्त हो गयी हैं । महानुमाव ! आपके पुण्यवचन और दर्शन चारों ओरसे भानो राशि-राशि अमृतरूप मधुर रसायनोंकी वर्षा कर रहे हैं; क्योंकि सत्पुरुषोंका समागम परमपदकी प्राप्तिके समान होता है ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राघव ! प्रायः ऐसे ही प्राचीन स्नेहसे ओतप्रोत एवं संकोचहीन वार्तालाप करते हुए राजा परिव द्वाखुके राजसदनमें चिरकालतक स्थित रहे । तदनन्तर उन्होंने सुरघुसे पूछा—भाजन् ! जो समग्र संकलणोंसे शून्य, विश्रामका परमोत्तम स्थान तथा विक्षेपात्मक दुःखोंकी शान्तिका परम साधन है, उस कल्याणकारिणी समाधिका अनुष्ठान तो तुम करते हो न ?

सुरघुने कहा—प्रभो ! आप मुझसे 'सम्पूर्ण संकलणोंसे रहित परम शान्ति ही कल्याणप्रद है' ऐसा तो कहिये, परंतु समाधिके लिये क्यों कहते हैं ? क्योंकि महात्मन् ! जो तत्त्वज्ञानी महात्मा पुरुष है, वह चाहे समाधिस्थ रहे चाहे व्यवहार करे, उसका तो रूप ही सदा समाधिस्थ-सा हो जाता है । वह कभी असमाहित चित्तवाला हो ही नहीं सकता । जिनका वित्त प्रदुष नहीं गया है, ऐसे तत्त्वज्ञानी महात्माओंकी आत्मारूपी अद्वितीय तत्त्वमें परम निष्ठा हो जाती है, इसलिये वे सांसारिक व्यवहारोंको करते हुए भी सदा-

सर्वदा समाधिसम्पन्न ही बने रहते हैं। परन्तु जिसको अन्तःकरण चलक होनेके कारण विश्रामको नहीं प्राप्त हुआ है, वह चाहे पशासन बौद्धे चाहे परवाहको अस्थालि समर्पित करे, उसको कोई समाधि कैसे लग सकती है। भगवन्। मैंन होकर बैठे रहना ही समाधि योद्धे ही है। समाधि तो परमात्मतत्त्वके उस यथार्थ ज्ञानको कहते हैं, जो सम्पूर्ण आशाखणी धास-झसको भल्ल करनेके लिये अग्निखरूप है। साधो। परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानीजन उस तीक्ष्ण और अचल परा प्रह्लादको ही समाधि कहते हैं, जो एकाग्र, सदा-सर्वदा तृत और सत्य वर्यको ग्रहण करनेवाली है। एवं जो प्रज्ञा क्षोभरहित, अहंकारशन्य, सुख-दुःख आदि इन्होंसे पृथक् रहनेवाली तथा मेरुसे भी बदकर खिरतायुक्त है, उसे समाधि कहते हैं। जो मनःस्थिति-चिन्ताशून्य, अभीष्ट पदार्थोंको प्राप्त करनेवाली, ग्रहणोपादानसे रहित तथा सञ्चिदानन्द परमात्मभावसे परिपूर्ण है, उसके लिये समाधि-शब्दका अवहार किया जाता है। जब मम तत्त्वज्ञानके साथ सदा के लिये अत्यन्त सम्बद्ध हो जाता है, तबसे ज्ञानी महात्माकी समाधि सदा बनी रहती है, उसका कभी विच्छेद नहीं होता। जैसे सूर्य दिनभर प्रकाशसे विश्राम नहीं लेता, अपितु प्रकाश-पूर्ण ही रहता है, उसी तरह तत्त्वज्ञानीकी प्रज्ञा जीवन-पर्यन्त परमात्म-तत्त्वके यथार्थ अदलोकनसे विश्राम नहीं लेती, अपितु सदा-सर्वदा परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे परिपूर्ण रहती है। जैसे नदी निरन्तर ब्रोक-ट्रोक जलकी धारा बहाती रहती है, उसी तरह महात्माकी विज्ञानमयी दृष्टि क्षणमात्रके लिये भी परमात्माके स्वरूपज्ञानसे विरत नहीं होती, अपितु सदा-सर्वदा एकत्रस बनी रहती है। जैसे काल अपने क्षण आदि कलाओंकी गतिको कभी नहीं भूलता, उसी तरह तत्त्वज्ञानी पुरुषकी बुद्धि अपने आत्मस्वरूपका कभी विस्मरण नहीं करती। तथा जैसे सर्वत्र गमन करनेवाले वायुदेवको सदा अपनी गतिका

ध्यान बना रहता है, उसी ग्रन्थार तत्त्वज्ञानीकी बुद्धि मिथ्य करने योग्य विज्ञानानन्दघन परमात्माका सतत चिन्तन करती रहती है। जैसे जिस पदार्थकी सत्ताका विनाश हो जाता है, उसको पुनः उपलब्ध नहीं होती, उसी तरह तत्त्वज्ञानीका समय परमात्माके ज्ञानसे विहीन होकर कभी उपलब्ध नहीं होता। अर्थात् वह सदा परमात्माके ध्यानमें ही रखा-पक्षा रहता है। जैसे संसारमें गुणवानोक्त गुणहीन होना असम्भव है, उसी तरह आत्मज्ञानी महात्मा कभी भी परमात्माके ज्ञानसे विहीन नहीं रह सकता। मैं सदा-सर्वदा ही परमात्मज्ञानसे सम्पन्न, परमशुद्धस्वरूप, शास्त्रात्मा और समाधितचित्त हूँ; ऐसी दशामें मेरा समाधिसे विच्छेद किसके द्वारा और कैसे हो सकता है। क्योंकि मेरी समाधि परमात्माके स्वरूपसे मिल नहीं है, अतः उस परमात्मस्वरूप समाधि-का अस्तित्व नित्य ही बना रुक्ता है। जब यह जो कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है, वह सारा-क्या सारा सदा सब प्रकारसे सर्वव्यापक परमात्मस्वरूप ही है, तब किसे समाधि कहा जाय और किसे असमाधि :

तब परिवने कहा—राजन् ! निक्षय ही तुम्हें परमात्माके यथार्थ रूपका ज्ञान प्राप्त हो गया है और उस सञ्चिदानन्दघन परब्रह्मस्वरूप परमपदकी प्राप्ति भी हो चुकी है। इसीलिये तुम्हारा अन्तःकरण परमशान्तिरूप शीतलता-से युक्त हो गया है, जिससे तुम पूर्ण चन्द्रमाके समान झूँसोभित हो रहे हो। महाराज ! इस समय स्नेहके कारण अत्यन्त मधुर, शीतल, अल्पदरूपी पुष्परससे परिपूर्ण एवं उत्तम श्रीसे सम्पन्न होनेके कारण तुम्हारी शोभा कमल-जैसी हो रही है। तुम्हारा चित्त निर्बल, विस्तृत, परिपूर्ण, गम्भीर और विशद आशयवाला है; इससे तुम्हारी वैसी ही शोभा हो रही है, जैसी तटबर्ती शंखवातसे मुक्त हुए ज्ञान समुद्रकी होती है। जैसी शोभा शरस्कालीन निर्मल आकाश धारण करता है, वैसे ही तुम भी स्वच्छ, आनन्दसे परिपूर्ण, अहंकाररूपी

बादलोंसे रहित, स्पष्ट, विस्तीर्ण और अत्यन्त गम्भीर होनेके कारण शोभित हो रहे हो । राजन् ! तुम सर्वत्र अपने स्वरूपमें समझावसे स्थित दीख पड़ते हो, सर्वत्र पूर्णतया संतुष्ट हो और किसी विषयमें तुम्हारी आसक्ति नहीं रह गयी है; इसलिये सर्वत्र तुम्हारी शोभा हो रही है । तुम अपनी उत्तम बुद्धिसे सार-असारका निर्णय करके उसके ज्ञानेलेसे पार हो गये हो तथा तुम्हें इसका भी ज्ञान हो चुका है कि यह जो कुछ दृश्य-प्रपञ्च है, वह सार-का-सारा अखण्ड परमात्मा ही है ।

‘सुरघु बोला—मुने’! संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिससे ग्रहण करनेके लिये हमारे मनमें अभिलाषा हो; क्योंकि यह जितना दृश्य-प्रपञ्च है, यह सभी कुछ नहीं है अर्थात् मिथ्या है । किंचोकीमें जो ये जियों, पर्वत,

समुद्र, वनश्रेणियाँ आदि पदार्थ दृष्टिगोचर हो रहे हैं, वे सभी वास्तविकतासे शून्य हैं; क्योंकि वास्तवमें इस जगत्-में कोई सारमूल वस्तु है ही नहीं । इस मांस और अस्तिमय शरीरमें तथा काष्ठ, मिठी और शिलामय जगत्-में जो जर्जर, अवाञ्छनीय और अमावस्यरूप हैं, किस वस्तुकी इच्छा की जाय! अर्थात् इनमें कुछ भी वाञ्छनीय नहीं है । इस विषयमें अब विशेष कुछ कहना आकर्षक नहीं दीख पड़ता; क्योंकि यदि मैं रागबूप रससे रहित तथा समझावमें नित्य स्थित एवं वात्मसंखय ही परिचय है तो वही सर्वोत्तम स्थिति है । अतः परमानन्दकी ग्रासिके लिये केवल इसी ‘दृष्टिका सदा-सर्वदा आश्रय ग्रहण करना उचित है ।

( सर्ग ६१—६३ )

## आत्माका संसार-दृश्यसे उद्धार करनेके उपायोंका कथन तथा भास और विलास नामक तपस्यियोंके शुचान्तका असरम्

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—‘धुनन्दन ! यों तत्त्वज्ञ सुरघु और राजर्णि पर्णाद ( परिव ) दोनों जगद्भूतमात्रा विचार करके परम ग्रसन्न हुए । उन्होने एक-दूसरेका आदर-सरकार किया और फिर वे अपने-अपने कार्यमें ताप्त होकर अभीष्ट स्थानको चले गये । ज्ञानी महापुरुषों के साथ विचार-विमर्श करनेके कारण अत्यन्त तीव्र हुई उत्तम बुद्धिदारा जिसके हृदयाकाशमें अहंकाररूपी काले मेघोंका सर्वथा अमाव हो गया है, शरकालीन निर्मल आकृतशक्ती तरह जिसका विस्तृत विश्व समस्त लोगोद्धारा अनुमोदित, फलात्मक बोधसे युक्त, आङ्गादजनक एवं रागादि मठोंसे रहित हो गया है, जो ध्यान करने एवं शरण लेनेयोग्य, सुगम, समूर्ण आनन्दोकी निवि, अस्त्यन्त ग्रसन्न विज्ञानानन्दधन परमात्मामें स्थित होता है और जो नित्य परमात्माके विचारमें निरत, सदा अनन्तमुखी बृतिसे युक्त, मुखी तथा नित्य विन्मय परमात्माका अनुसंधान करनेवाला है, उसे मामसिक शोक कभी वाधा नहीं

पहुँचा सकते । जो परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे सम्पन्न, शुद्ध, मीतरसे परमशान्तियुक्त एवं मननशील महात्मा है, उसे मन क्षेत्र नहीं दे सकता—ठीक उसी तरह, जैसे हाथी सिंहको बाधा नहीं पहुँचा सकता । ज्ञानीका अन्तःकरण तो अत्यन्त विशाल होता है; क्योंकि वह केवल विषय-प्रोग्रेसकी शरण लेनेवाला और दीन नहीं होता । ज्यों ही ‘अविद्या असद् है’ यों अविद्याके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हुआ, त्यों ही उसका सदा-सर्वदाके लिये अमाव हो जाता है—जैसे सूर्यका ज्ञान हो जानेपर सूर्यदृष्ट भौग-भूमिका सर्वथा विनाश हो जाता है । जिसकी बुद्धि विषयोंकी आसक्तिसे रहित और केवल विज्ञानानन्दघृणा परमात्मामें नित्य स्थित है, उस श्रेष्ठ महापुरुषको व्यष्टिहारपरायण रहनेपर भी पाप स्पर्श नहीं कर सकता । जब चेतन परमात्माके देवीप्रमाण प्रकाशका उदय होता है, तब अज्ञानरूपी रात्रि विनष्ट हो जाती है और ज्ञानीकी परमानन्दको ग्रास हुई बुद्धि प्रकाशित हो उठती है ।

सत्-शासकानरूपी सूर्यद्वारा प्रबोधित मनुष्यकी अहान-निद्राका जब सर्वथा बिनाश हो जाता है, तब उसे परमात्मविषयक उस व्याथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति होती है, जिसे पा लेनेपर फिर कभी मोह नहीं होता। उन्हीं दिनोंका जीवन वास्तवमें सफल है और वे ही क्रियाएँ सच्चे आनन्दसे युक्त हैं, जिन दिनों और जिन क्रियाओंमें इत्याकाश-में परमात्मारूपी चन्द्रमाके उदय होनेसे चेतनारूपिणी चाँदनी खिल रही हो। मोहका अतिक्रमण कर लेनेवाला मनुष्य निरन्तर आत्मचिन्तनके प्रभावसे अपने अन्तःकरणमें उसी प्रकार शीतलताको प्राप्त कर लेता है, जैसे चन्द्रमा अपने अंदर वर्तमान अमृतसे सदा शीतल बना रहता है। वे ही मित्र सच्चे मित्र हैं, वे ही शास सत्-शास हैं और वे ही दिन शुभ दिन हैं, जिनके सहयोगसे वैराग्य-रूपी उल्लाससे युक्त परमात्मविषयक विचारका अम्बुदय स्पष्टरूपसे सिद्ध होता है। जिनके पाप क्षीण नहीं हुए हैं और जो परमात्माकी प्राप्तिकी उपेक्षा करते हैं, वे जन्मरूपी जंगलके गुलम हैं, दीन हैं और उन्हें विरकाल-तक हुःखोंके लिये शोक करना पड़ता है।

श्रीराम ! जीवात्मा एक बैलके समान है। बुद्धापेने इसके शरीरको जर्जरित कर दिया है, जिससे यह शोकबनित उप्छाससे विडम्बित हो रहा है। यह आशारूपी सैकड़ों पाशोंसे जकड़ा हुआ है, फिर भी भोगरूपी घासके लिये इसके मनमें उल्लट लाभसा भरी है। यह अपनी पीठपर हुःखका भारी बोझ लिये हुए जन्मरूपी जंगलमें गढ़कर रहा है और सारे शरीरमें दुर्कर्मरूपी कीचड़ छपेंटे हुए मोह-जालशयमें लोट रहा है। रागकी दम्तपङ्किणी हसे चबाये ढालती हैं और तृणारूपी नाथसे यह खींचा जा रहा है। मनरूपी विणिकूने इसपर अधिकार लगा रखा है। यह बन्धु-ममतारूपी बन्धनमें बँधा होनेके कारण चलने-फिरनेमें असर्प्य हो गया है। पुत्र-कल्पकी ममताजनित जीर्णतारूपी दलदलमें यह बुरी तरह फँस गया है। लंबे रात्तेपर चलनेके कारण इसका मन

टूट गया है और विश्राम न मिलनेसे यह एक गया है, जिससे अब इसके चलने-फिरनेकी शक्ति क्षीण हो गयी है। संसाररूपी अरण्यमें चक्कर काट रहा है, फिर भी परम शान्तिरूप शीतल छाया हसे नसीब नहीं हुई; उस्टे यह विषय-संसर्गजनित तीव्र तापसे सतत हो रहा है। बाधा इन्द्रियों हसे आक्रान्त किरे हुए हैं, जिससे उपरसे तो इसका आकर्ष सुन्दर है किंतु अन्तःकरण दीम हो गया है। इसके गलेमें लटकते हुए कर्मरूपी धटेका शब्द हो रहा है। यह जन्म-मरणरूपी गाढ़ीके बोहरसे लदा हुआ अहानके विकट बनमें लोट रहा है, उपरसे पापरूपी कोर्षोंकी भार पढ़ रही है, जिससे इसका शरीर मन हो गया है। अन्यथामें ही सदा निमन रहनेसे दुखी, दीन और शिथिल अङ्गवाला यह कर्मोंके भारी भारसे पीड़ित होकर करुण-ज्ञान कर रहा है। अतः विरकालसक उत्तम अलका आश्रय लेकर परमात्मविषयक ज्ञानरूपी बलके सहारे इसका संसाररूपी जलाशयसे उद्धार करना चाहिये।

राष्ट्र ! परमात्मतज्ज्ञता साक्षात्कार होनेसे जब चित्त बिनष्ट हो जाता है, तब जीवात्मा पुनः संसारमें कली जन्म नहीं लेता; कर्मोंकी वह तो उसी समय संसार-सागरसे पार हो जाता है। श्रीराम ! जैसे समुद्रको पार करनेके लिये नाविकसे जहाज प्राप्त होता है, उसी तरह ज्ञानी महात्मा पुरुषोंके सङ्गसे संसार-सागरको लौंघ जानेकी युक्ति होत हो जाती है। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि वह मरुस्थलकी भाँति जिस देशमें परम शान्तिरूपी शीतल छाया और मोक्षरूपी फँसे सम्पर्क तत्त्वह महापुरुषरूपी बृक्ष न हों, वहाँ निवास न करे। श्रीराम ! कौमल और शान्तिप्रद वचन ही जिसके पास हैं, सञ्चालिता ही जिसकी छाया है, मुसकान ही जिसके पुष्प हैं—रेसे महापुरुषरूपी चन्द्राके बृक्षके नीचे जानेसे उनके सङ्गके प्रभावसे क्षणभरमें ही आत्मनिक विश्राम प्राप्त हो जाता है। मनुष्य क्षय ही

अपना मित्र है। अतः उसे चाहिये कि वह सत्सङ्ग, तीव्र अभ्यास, वैराग्य, विवेक-विचार आदि उपायोंसे खयं ही अपना उद्धार कर ले; संसारकी आसक्ति, ममता, कामना और देहाभिमानके गवेषे अपने-आपको जन्म-मरणरूपी कीचड़ीके महासागरमें न फँसाये। विवेकशील पुरुषोंको सत्सङ्ग, तीव्र अभ्यास और वैराग्य आदि प्रबल उपायोंद्वारा सदा यों विचार करते रहना चाहिये कि ‘यह देह आदि दृ०ख क्या है? कैसे आया है? इसका मूल कारण क्या है? और किम भावनसे इसका विनाश हो सकता है?’ क्योंकि अज्ञानमें निमग्न हुए अपने आत्माका उद्धार करनेमें मनुष्योंका धन, पित्र, साधारण शास्त्र और बन्धु-वान्धव—कोई भी उपकारक नहीं होते। हाँ, सदा-सर्वदा साथ रहनेवाले विशुद्ध मनरूपी मुहूर्दके साथ योद्धा-सा भी परामर्श करनेसे आत्माका उद्धार हो जाता है। तीव्र वैराग्य और अभ्यासरूपी प्रयत्नोंके द्वारा विवेकपूर्वक किये गये आत्मविचारसे जिसकी उपलब्धि होती है, उस परमार्थतत्त्व-साक्षात्काररूपी पोतके आश्रयसे यह भवसागर पार किया जाता है। जिसके लिये छोग प्रतिदिन चिन्ता कर रहे हों और जो दुराशाओंद्वारा दग्ध हो रहा हो, उस अपने आत्माकी उपेक्षानहीं करनी चाहिये; बल्कि आदरपूर्वक उसका उद्धार करना चाहिये। यह जीवात्मारूपी दंतार गजराज, जिसे बौधनेके लिये अहंकार ही मुहूर्द आलान है, तृणा ही लोहेकी सौंकल है और मन ही जिसका मद है, जन्म-मरणके दण्डलमें फँस गया है; अतः इसका उद्धार करना चाहिये।

जब मनुष्य विवेक-वैराग्यकी दृष्टिसे यों देखने लगता है कि यह देह काष्ठ और मिट्ठीके ढेलेके समान है, तब उतनेसे ही उसे देवाधिदेव परमात्माका ज्ञान हो जाता है। पहले जब अहंकाररूपी मेघ नष्ट हो जाते हैं, तब यथार्थ आत्मज्ञानरूप सूर्य दिखायी पड़ता है। तदनन्तर उसके परिणामस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति होती है। जैसे अन्धकारका पूर्णतया विनाश हो जानेपर प्रकाशका अनुभव स्वतः होने लगता है, उसी तरह अहंकारका

समूल नाश हो जानेपर परमात्माका अपने-आप ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार अहंकारके विनष्ट हो जानेपर जो परम आनन्द और परम शान्तिमय अवस्था होती है, वह पण्पूर्णवस्था है। पूर्ण समुद्रकी भौति वह असीम होती है। न तो वह हमलेगोंके मन आदि इन्द्रियोंका विषय है, न उसकी किसी उपमानके साथ तुलना ही की जा सकती है और न वह विनाशशील विषयोंके पीछे ही दौड़ती है; अतः उसका तीव्र प्रथमसे निरन्तर सेवन करना चाहिये। श्रीराम! मन और अहंकारका विनाश हो जानेपर समस्त पदार्थोंके अंदर विधमान रहनेवाली जिस निरतिशयान-न्दात्मक परमात्मरूपात्माका आविर्भाव होता है, वह खयं समाविसिद्ध तथा बाणीके अगोचर है। उसका तो केवल हृदयमें ही अनुभव होता है। जैसे अनुभूतिके ब्रिना खॉड़की मिठासका अनुभव नहीं होता, उसी तरह अनुभवके ब्रिना परमात्माके खरूपका भी ज्ञान नहीं होता।

राजीवनयन राम! ‘यह मेरा है, यह मैं हूँ’ इस प्रकारके अभिमानको स्थागकर मनसे ही विवेकपूर्वक विचारद्वारा संकल्पात्मक मनका छेदन करके यदि परमात्माका साक्षात्कार न किया जाय तो चित्रलिखित सूर्यके सदृश मिथ्या होते हुए भी इस जगत्-दुःखका कभी नाश नहीं होता, प्रत्युत महासागरकी तरह विस्तारवाली एवं दुःखदायिनी संसाररूपी विषयति अनन्त हो जाती है। इस विषयमें सदा पर्वतके शिखरपर रहनेवाले मास और विज्ञास नामक दो मित्रोंके संवादरूपमें निम्नलिखित प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है। वह सद्य पर्वत नाना प्रकारके पुष्टोंसे आच्छादित तथा निर्भृत जलसे पूर्ण बहुसंख्यक झरनोंमें मुश्यमित है। उसके ऊपरी भागमें देवता निवास करते हैं, तलहटीमें मनुष्योंने अपना आवासस्थान बना रखा है और पृथ्वीके अंदरका हिस्सा नागोंसे भरा रहता है। उसकी कन्दराओंमें सिद्धोंका निशासस्थान है। भातरी भागमें नाना प्रकारकी खानें हैं। उसके शिखरोंपर उगे हुए चन्दन-बृक्षोंपर सर्व लिपटे

हते हैं और चोटियोपर सिंह दहाइते रहते हैं। उसी पर्वतके उत्तर-तटवर्ती शिखरपर, जहाँ फलोंके मारसे उनके हुए बृक्ष सुशोभित हैं, महर्षि अत्रिका अत्यन्त गोमाशाली विशाल आश्रम है। वह आश्रम सिद्धोंके प्रमका अपहरण करनेवाला, ब्रह्मलोकके समान उत्कृष्ट, वृग्न-तुल्य रमणीय और शिवजीके नगर कैलासके समान गोमासम्पद है। उसी विशाल आश्रममें शुक्र और वृहस्पति नामके दो तपसी रहते थे, जो आकाशमार्गेवेद्यरण करनेवाले शुक्र और वृहस्पतिके समान शारोंके ज्ञाता थे। कुछ समय बाद एक ही स्थानमें रहनेवाले उन दोनों तपस्त्रियोंके पवित्र शरीरवाले दो पुत्र उत्पन्न हुए, जिनके नाम थे—विलास और मास। वे दोनों बालक उस आश्रममें पिताओंद्वारा लगाये हुए लता-बृक्षोंके लंबे-लंबे पल्लवोंकी तरह क्रमशः बढ़ने लगे। वे दोनों पित्र थे। उनके मनमें एक-दूसरेके प्रति अत्यन्त स्नेह था, जिससे वे परस्पर प्रेम रखते थे और एक-दूसरेसे मिठ-खुल्कर रहते थे। उन दोनोंका मन समान होनेके कारण ऐसा प्रतीत होता था मानो एक ही मनने दो भागोंमें विभक्त होकर दो शरीर धारण कर लिये हैं। इस तरह वहाँ रहते हुए उन दोनोंने योद्दे ही समयमें बचपनको छोड़कर युवावस्थामें प्रवेश किया। तदनन्तर जैसे दो पक्षी अपनेअपने घोंसलेसे उड़कर अन्यत्र चले जायें, उसी तरह उनके वे दोनों पिता ( शुक्र-और वृहस्पति ) बुद्धायेसे

दुखी हो शरीरका परित्याग करके सर्वको छले गये। पिताओंकी मृत्यु हो जानेपर उन दोनोंका मुख जलसे निकाले गये कमलकी तरह दीन हो गया, शरीर संताप हो गया और उसाह जाता रहा। वे अथवा अग्निभूत हो गये। तदनन्तर वे पिताओंकी धीर्घदेहिक किया सम्पन्न करके पितृशोकबनित कङ्गणपूर्ण आर्त वाणीसे विलाप करने लगे।



( सर्ग ६४-६५ )

**भास और विलासकी परस्पर वातचीत और तत्त्वज्ञानद्वारा उन्हें मोक्षकी प्राप्ति; देह और आत्माका सम्बन्ध नहीं है तथा आसक्ति ही बन्धनका हेतु है—इसका निरूपण**

श्रीकसिष्ठजी कहते हैं—धृतिनन्दन। इस प्रकार वे दोनों सुदृढ़ तपस्त्री भास और विलास पिताके मृत्यु-जनित शोकसे परामृत होकर स्थित थे। उस शोकबनित सतापसे उनके शरीर सूखकर कोटा छो गये थे और ऐसे लाते थे, जैसे प्रीभ ऋतुके प्रचण्ड तापसे आमूल-चूल सूखे हुए हो जांगली धूक्ष हों। उन्हें सासारिक पदार्थोंसे परम

वैराग्य हो गया था, अतः वे दोनों श्रावण झुंडसे विछुड़े हुए दो श्रुगोंकी भीति वियुक्त होकर उस जंगलमें कालक्षेप करने लगे। इस प्रकार क्रमशः उमके दिन मास और वृष्णि भीतते गये। अन्ततोगम्या उन्हें धुदापेने चेर लिया; परंतु उन्हें विशुद्ध ज्ञानकी प्राप्ति न हुई चिरकालके पश्चात् एक समय प्रारम्भवशा उन दोनों

विश्वुडे हुए बृहद तापसोंकी परत्पर मेंढ हो गयी, तब वे परत्पर यों कहने लगे ।



विलासने कहा—मिश्रवर भास ! इस जगत्में तुम्हाँ मेरे परम ग्रेमी बन्धु, मेरे जीवनरूपी उत्तम वृक्षके कल और सदा-सर्वदा मेरे हृदयमें निवास करनेवाले अमृतके सागर हो; तुम्हारा स्वागत है । सज्जनशिरोमणे ! पहले यह तो बताओ, मुझसे अलग होकर तुमने हतने दिन कहाँ व्यतीत किये ? तुम्हारी तपत्या तो सफल हुई है न ? क्या तुम्हारी शुद्धि संसारविषयक संतापसे रहित हो गयी ? तुम्हारी विद्या फलवती हो गयी है न ? क्या तुमने परमात्माको प्राप्त कर लिया ? तुम सकुशल तो हो न ?

श्रीकसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! तब जिसे परमात्म-विश्वक यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हुई थी तथा जो संसारसे पूर्णतया उद्दिग्न हो गये थे, उन अपने मिश्र विलासके यों कहनेपर परम हितैषी भासने उनसे आदर-पूर्वक कहना आरम्भ किया ।

भास छोले—दूसरोंको मान देनेवाले सधो ! स्वामतता तो ज्ञान ही चरितार्थ हुई है; कथोकि सौमायवश मुझे तुम्हारा दर्शन प्राप्त हो गया । किंतु मिश्रवर ! इस हुःखमय संसारमें चक्कर काटनेवाले हम लोगोंकी कुशल कहाँ ? भला, जबतक मुझे जानने योग्य परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ, मेरे मनमें उत्पन्न होनेवाले संकल्प आदि नष्ट नहीं हुए और मैंने संसारसागरको पार नहीं कर लिया, तबतक मेरी कुशल कहाँ ? जबतक चित्तमें उत्पन्न होनेवाली आशाएँ तीव्र वैराग्यरूप शक्तिके द्वारा पूर्णतया काटी नहीं गयी, तबतक हमलोगोंकी कुशल कहाँ ? जबतक परमात्माका यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ और जबतक समता उद्भूत नहीं हुई तथा जबतक विवेक नहीं उत्पन्न हुआ, तबतक हमलोगोंकी कुशल कहाँ ? सज्जनशिरोमणे ! परमात्माकी प्राप्ति तथा ज्ञान-रूपी महीनधके बिना यह जग्म-मरणरूपी दुष्ट महामारी बारंबार प्राप्त होती ही रहती है । यह जीवात्मा लौकिक कियाओंमें तथा देहरूपी पर्वतकी उम अस्त्यन्त भूषण कलदराओंमें, जो विषयोपभोगरूप भयंकर सर्पोंसे व्याप्त एवं तृष्णारूपी कण्ठकोंसे आच्छादित हैं, सदा-सर्वदा लोटता रहता है । यों कुरिसित आशाओंके आवेशसे युक्त व्यर्थ कियाकागारोंके करते रहनेसे इसकी आयु बृप्ता ही मष्ट हो जाती है । यह मन एक मदमत गजग्रके समान है, जिसने परमात्मामें बन्धनके हैतुभूत विवरूपी आलानको उखाड़ ढाला है और जो तृष्णारूपिणी हयिनीमें कामासक्त होनेके कारण उद्दिग्न हो उठा है, अतः वह जगत्में दूरसे दूर भटकता रहता है । जैसे राजहस सूखे हुए सरोवरसे तत्क्षण ही भाग खड़ा होता है और फिर कभी उसकी ओर ताकता तक नहीं, उसी तरह जिसका यौवनरूपी जल नष्ट हो गया है, उस सूखते हुए शरीररूपी सरोवरसे आयु तत्काल पलायन कर जाती है, पुनः वह कभी बौटसी ही नहीं । जब

यह जीवन-कृत्ति जर्जर हो जाता है और काळखपी वायु उसे बल्दूर्धक शक्तिशाली है, तब उसके भोगखपी पुष्ट और द्विनखपी पर्चे अद्वितीय नीचे गिर जाते हैं अर्थात् नष्ट हो जाते हैं। परंतु नाना प्रकारके अनुरागोंसे लिपटी हुई यह तुच्छ वशङ्क तृष्णा देवालयोंके ऊपर फहराती हुई पताकाकी मौति अधिकाधिक अद्वितीय रहती है। बन्धुसमूहखपी ये असंख्य सरिताएँ गम्भीर कोठर-बाले विस्तृत काल-सागरमें निरन्तर गिरती रहती हैं। तात। यह देवखपी रजशलाका विनाशखपी कीचड़-से परिपूर्ण सागरके गर्भमें न जाने कहाँ समा गयी है कि जन्म-जन्मान्तरमें भी इसका पता नहीं चलता। विरकालसे चिन्ताचक्रमें बँधा हुआ तथा पाप कर्मोंके आचरणमें संलग्न चित्र समुद्रके गम्भीर आवर्तमें पड़कर चक्रर काटते हुए रुणकी मौति संसारमें भटकता रहता है। इसे कार्यखपी असंख्यों विशाल तरफें उछालती रहती हैं तथा चिन्ताके फेरमें पड़कर यह ताण्डव नृत्य करता रहता है, जिससे इसे क्षणभर भी विश्वाम नहीं मिलता। मैंने इसे कर लिया, यह करता हूँ और आगे उसे करूँगा। इस प्रकारकी कल्पनाओंके जालमें फँसकर हस गतुष्यकी बुद्धिखपी पश्चिमी अस्थन्त मोहित हो जाती है।

श्रीवितिष्ठजी कहते हैं—राघव ! उन दोनोंने परस्पर एक-दूसरेका कुशल-समाचार पूछा। तदनन्तर काल-क्रमसे विवेकपूर्वक व्यानके अन्यास और संसारसे वैराग्यके द्वारा परमात्माका विशुद्ध ज्ञान लाम करके वे दोनों मोक्षको प्राप्त हो गये। महाबाहो ! इसीलिये मैं कहता हूँ कि सांसारिक पाशसे जकड़े हुए चित्रको संसार-सागरसे पार होनेके लिये परमात्माके वर्णार्थ ज्ञान-के अतिरिक्त और कोई दूसरा द्वयम उपाय नहीं है। यह उपर्युक्त दुःख यथापि अज्ञानीके लिये अनन्त है तथापि ज्ञानी पुरुषके लियेवह अस्थन्त साधारण है—ठीक उसी तरह, जैसे सागर तुच्छ पक्षीके लिये दुसर होते

हुए भी गरुदके लिये गौकी खुरीके जड़के समान ही प्रतीत होता है। जैसे दर्शक पुरुष दूरसे ही जनसमूह-का अवलोकन करता है, किंतु उसके साथ अपना कोई सम्बन्ध नहीं मानता, उसी तरह जो देवरामिनानसे रहित तथा विज्ञानानन्दघान परमात्माके स्वरूपमें एकी-भावसे स्थित है, वे ज्ञानी भगवान् पुरुष साक्षीभूत होकर दूरसे ही शरीरको देखते रहते हैं। इसलिये मझे ही देह दुखसे भलीभौति क्षुब्ध हो जाय, उससे आत्माको कौन-सी क्षति पहुँचती है ? शोभाशाली राम ! भला हिमालय पर्वत और समुद्रका क्या सम्बन्ध ? उसी तरह आला और संसाररूप बन्धनका भी वास्तवमें परस्पर क्या सम्बन्ध है ? अर्थात् कुछ नहीं है। जैसे सरिताओंका जड़ कमलोंको अपनी गोदमें धारण किये रहता है, फिर भी वे कमल उस जड़से कोई सम्बन्ध न रखकर निलेंगे बने रहते हैं, उसी तरह इस जगतमें शरीरका भी आत्माके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। ये मुख-दुःख आदिके अनुभव केवल शुद्ध वेतन आला और केवल जड़ देह-को नहीं होते, किंतु देह और आत्माके तादात्म्यके कारण होते हैं। अतः जब यथार्थ ज्ञानके द्वारा अज्ञानका नाश हो जाता है, तब मुख-दुःखोंका अस्त्वचाभाव होकर केवल शुद्ध वेतन आत्म ही शेष रह जाता है। अज्ञानी पुरुष जिस रूपमें इस संसारको देखता है, वह उसी रूपमें उसे सत्य मान लेता है; परंतु ज्ञानीके लिये वैसी बात नहीं है। वह उसी रूपमें संसारको सत्य नहीं मानता; क्योंकि वह समर्पता है कि यह संसार अज्ञानसे ही प्रतीत होता है।

जैसे वास्तवमें सम्बन्ध न होनेपर भी स्वप्नमें कीके साथ रस्त-कीटा आदि व्यापारमें सम्बन्ध-सा हो जाता है तथा जैसे वास्तविक प्रेत न होनेपर भी अँखेरें दूँठ प्रेत-सा दीखने लगे जाता है, उसी तरह यथापि वास्तव-में आत्माके साथ देवादिका सम्बन्ध नहीं है, फिर भी अज्ञानके कारण सम्बन्ध-सा दीखता है। वस्तुतः वो

शरीर और शुद्ध आत्माका सम्बन्ध मिथ्या ही है; क्योंकि इनका सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। विद्वानोंका कथन है कि देहमें अद्विभावना करनेसे ही आत्मा दैहिक दुःखोंके वशीभूत होता है तथा उस देहभावनाका त्याग कर देनेसे वह उस दुःखजालसे मुक्त हो जाता है। वस्तु राम। जैसे सरोबरमें गिरे हुए पत्ते, जड़, मल और काष्ठ यद्यपि परस्पर सम्बद्ध रहते हैं, तथापि भीतरी सङ्गसे रहित होनेके कारण वे दुखी नहीं होते, उसी तरह यद्यपि आत्मा, देह, इन्द्रिय और मन परस्पर पूर्णतया सम्बद्ध हैं, तथापि अन्तःकरणमें अहंता, ममता और आसक्तिका अभाव होनेके कारण इनी गहात्मा सदा-सर्वदा दुःखरहित ही रहते हैं। श्रीराम। अन्तःसङ्ग अर्थात् अहंता, ममता और आसक्ति ही संसारमें समस्त प्राणियोंके जरा, मरण और मोहरूपी दृष्टोंका भूल कारण है। जो जीव अहंता, ममता और

आसक्तिसे युक्त है, वह भवसागरमें डूबा हुआ है; परंतु जो इनसे मुक्त हो गया है, वह समझ ले कि मैं संसार-सागरसे पार हो गया। जो विच विषयोंकी आसक्तिसे रहित और निर्मल है, वह संसारी होते हुए भी निस्संदेह मुक्त है; परंतु विषयासङ्ग विच दीर्घकालकी तपस्यासे युक्त होता हुआ भी कामनाके कारण सुदृढ़ बन्धनसे बँधा हुआ है। जैसे काष्ठभारोंको पार उत्तारनेवाली जलस्थित नौका जलके गुण-दोषसे लिपायमान नहीं होती वैसे ही अहंता, ममता और आसक्तिसे रहित पुरुष शरीर यात्राके लिये न्याययुक्त कर्म करता हुआ भी कर्तृत्वसे लिप्त नहीं होता। जो मनुष्य अहंता, ममता और आसक्तिसे रहित तथा परम मधुर परमात्मामें नित्य स्थित है, वह बाहरसे कुछ भी कार्य करे अथवा न करे, किसी भी दशामें वह कर्ता अथवा भोक्ता नहीं है।

( सर्ग ६६-६७ )

### संसक्ति और असंसक्तिका लक्षण, आसक्तिके भेद, उनके लक्षण और फलका वर्णन; आसक्तिके स्थागसे जीवात्मा कर्मफलसे सम्बद्ध नहीं होता—इसका कथन

श्रीरामजीने पूछा—भगवन्। किस प्रकारका सङ्ग मनुष्योंके लिये मोक्षदायक कहा गया है और कैसा सङ्ग बन्धनका हेतु होता है एवं उसके बन्धनका निमित्त बननेमें कारण क्या है तथा बन्धनके हेतुमूल उस सङ्गकी निष्पत्ति कैसे की जा सकती है :

श्रीकृष्णजीने कहा—रघुनन्दन। शरीर—क्षेत्र और शरीरी—क्षेत्रज्ञ आत्माका जो विभाग है अर्थात् शरीर जड़ है और आत्मा ज्ञेत्र है—ऐसा जो अनुभव है, उसके अभावमें केवल देह ही आत्मा है, ऐसी भावनासे उत्पन्न देहाभिमान ही सङ्ग है और वही बन्धनका हेतु कहा जाता है। तथा देश, काल और वस्तुसे अपरिच्छिन्न होनेके कारण आत्माका स्वरूप अनन्त है; किंतु अज्ञान-वश उसमें परिच्छिन्नताका निष्पत्ति हो जानेपर जीव अपने अंदर जो सुखकी चाह करने लगता है, वही सङ्ग है

और वही बन्धनका कारण कहा जाता है। यह दृश्यमान समूर्ण संसार परमात्माका संकल्प होनेके कारण परमात्माका स्वरूप है, तब फिर मैं उसमेंसे किसकी चाह करूँ और किसको त्याग दूँ—इस प्रकारकी धारणासे उत्पन्न होनेवाली जो जीवन्मुक्तकी अवस्था है, उसे तुम असङ्ग स्थिति समझो। न तो मैं ही हूँ और न दूसरा ही कुछ है; अतः विश्वोंसे उत्पन्न सुख हो अथवा न हो—ऐसा निश्चय करके जिसका अन्तःकरण अहंता, ममता और आसक्तिसे रहित हो गया है, वह मनुष्य मुक्तिका अधिकारी कहलाता है। जो निष्कर्मभावकी प्रशंसा नहीं करता, किसी भी कर्ममें आसक्त नहीं होता, सबमें समभाव रखता है और कर्मफलोंकी इच्छासे रहित है, वही पुरुष असंसक्त कहा जाता है। केवल परमात्माके स्वरूपमें अटल स्थितिवाले जिस महात्माका

मन हर्ष, शोक और ईर्ष्यकि वशीभूत नहीं होता, वही असक्त है और उसीकी 'जीवनमुक्त' सदा होती है। जो मनुष्य समूर्ण कर्मों और उनके फल आदिका कर्मसे नहीं, अपितु बेवल मनसे मछीमौंति स्थाग कर देता है, वह असंसक्त कहलाता है।

रामबी ! वृक्ष एक स्थानपर स्थित रहकर अपने स्थानर शरीरसे जो शीत, चात और धामके झेंडोंको सहता रहता है, वह उसके पूर्वजन्मोंके अहंता, ममता और आसक्तिपूर्वक किये गये कर्मोंका ही फल है। पृथ्वीकी दरारमें पढ़ा हुआ कीषा अझोके पोडित होनेके कारण विकल होकर जो कालक्रोप करता है, वह उसके पूर्वजन्मके अहंता, ममता और आसक्तिपूर्वक किये गये कर्मोंका ही फल है। जिसका पेट भूखके कारण दुर्बल होकर पीठसे सट गया है तथा बुर्दे आघातके भयसे सदा भीत बनी रहती है, ऐसा पक्षी जो वृक्षकी शाखाओंपर निवास करता हुआ कालयापन करता है, वह उसके पूर्वजन्मोंके अहंता, ममता और आसक्तिपूर्वक किये गये कर्मोंका ही फल है। दूर्वाकुरों और तिनकोंका आहार करनेवाला मूग किरणोंके बाणोंकी चोटसे पीडित होकर जो मर जाता है, वह उसके पूर्वजन्मोंके अहंता, ममता और आसक्तिपूर्वक किये गये कर्मोंका ही फल है। ये असंख्य भूत-प्राणी जो नदीमें तरङ्गोंकी भौति बारंबार उत्पन्न होकर पुनः विलीन हो रहे हैं, यह उनके पूर्वजन्मोंके अहंता, ममता और आसक्तिपूर्वक किये गये कर्मोंका ही फल है। छता और तिनकोंके समान शक्तिहीन दशाको प्राप्त हुए मनुष्य अलने-फिरनेकी शक्तिसे शून्य होकर जो बारंबार मरते रहते हैं, उसका कारण उनके पूर्वजन्ममें अहंता, ममता और आसक्तिपूर्वक किये गये कर्मोंका फल ही है।

रात्रि ! यह आसक्ति दो प्रकारकी कही गयी है— एक वन्या अर्थात् प्रशस्त और दूसरी वन्या अर्थात् पुरुषार्थफलसे शून्य। इनमें तरख़ भावामौंतिकी अपने सं० यो० वा० अं० १२—

सरलपर्में आसक्ति क्वन्या है और वन्या आसक्ति सर्वत्र अव्यानियोंकी है। जो आसक्ति आभमतस्तके ज्ञानसे शून्य, देह आदि असाध वस्तुओंसे उत्पन्न और चारंबार ससारमें हुद्दहरूपसे स्थित है, वह वन्या कही जाती है तथा जो आसक्ति आत्मतस्तके ज्ञानद्वारा यथार्थ विवेकसे उत्पन्न हुई है और पुनर्जन्मका कारण नहीं है, उसे लोग वन्या कहते हैं। यह वन्या आसक्तिका ही प्रभाव है, जो आभमतस्तके विज्ञानमें दुश्शान सिद्धगण, लोकपाल तथा अन्यान्य मुक्त पुरुष इस जगत्के प्राङ्गमें अध्यात्म-विषयकी प्रतिसे युक्त होकर स्थित रहते हैं। अन्यान्य मुख्योंमें निवास करनेवाले अध्यात्मविषयकी प्रतिसे युक्त तरख़ महात्माओंग जो जन्म-मरणसे रहित शरीररूपी अन्त्रसमूहोंको धारण करते हैं, वह भी वन्या आसक्तिकी ही सामर्थ्य है। किंतु वन्या आसक्तिके वशीभूत होनेसे मन विषयभोगोंमें धर्य ही रमणीयताकी कल्पना करके उसी प्रकार दूट पदता है, जैसे गीध मौमके दुकड़ोंपर शपटता है। वन्या आसक्तिके प्रभावसे ग्रहाण्डरूपी गूँचके फन्के अंदर मच्छरकी तरह स्फुरित होते हुए देवता खर्मोंकमें, मनुष्य मृत्युलोकमें और नाग तथा असुर पातालमें स्थित हैं। ये असंख्य प्राणी जो नदीमें तरङ्गोंकी भौति जन्मते हैं, मरते हैं, गिरते हैं और उठते हैं—यह भी वन्या आसक्तिका ही चमत्कार है। यह भी वन्या आसक्तिका ही प्रताप है, जो ये भूत-प्राणी शर्नोंके जलकणोंकी तरह बारंबार सत्पन होकर पुन विरसतारूपक नष्ट हो रहे हैं।

श्रीराम ! शून्य आपाशमें केवल मनकी आसक्तिरूपी रंगसे संकल्पपूर्वक जो यह जगद्गूर्धपी वित्र बनाया 'या है, वहकीभी सत्यनहीं हो सकता। इस समारम्भें आमक्तिपूर्व मनसे व्यवहार करनेवाले मनुष्योंके शरीरोंको तृष्णा उसी प्रकार खीण करती रहती है, जैसे अग्निकी दृष्ट तृणोंको मस्मसात् कर देती है। जैसे समुद्र-तटकी सिंक्ताओंकी

प्रसरेणु-समूहोंकी संख्या करना असम्भव है, उसी तरह जिसकी बुद्धि सर्वथा विषयोंमें आसक्त है, भला, उसके शरीरोंकी ठीक-ठीक गणना करनेमें कौन समर्थ हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं । रांधव ! विषयासक्त चित्तशाला मनुष्य दुःखोंके कारण सूख जाता है, जिससे वह धृतकर्ती हुई नरकाप्तियोंके लिये इन्धन-समूहका काम देता है; क्योंकि वे नरकाप्तियों सुस-इन्धनसे ही जलती हैं । इस भूतलपर यह जो कुछ दुःखसमूह दृष्टिगोचर हो रहा है, उस सबकी कल्पना विषयासक्त चित्तशाले मनुष्योंके लिये ही हुई है । जैसे जालकी तरफ़ोंसे थुक्क बड़ी-बड़ी नदियों किलोड़ करती हुई समुद्रकी ओर दौड़ी जाती हैं, उसी तरह सारी दुःख-परम्पराएँ विषयासक्त चित्तशाले मनुष्यको आ घेरती हैं । जो मन आसक्तिशून्य, सब ओरसे शान्त, आकाशके समान निर्मलरूपसे स्थित और असत्-सा प्रतीत होते हुए भी सत्तरूपसे भासमान हो रहा है, वह साधकके लिये सुखका ही हेतु होता है ।

खुनन्दन ! कल्याणकामी विदेशी पुरुषको चाहिये कि वह सर्वत्र स्थित रहते हुए, सबके साथ रहते हुए और सभी व्याययुक्त कर्मोंमें उन्हें हुए भी सदा-सर्वदा अपने मनको अनासक्त और सम बनाये रखते । उसे चेष्टाओंमें, किसी प्रकारकी विन्ताओंमें, पदार्थोंमें, आकाशमें, नीचे पातालमें, ऊपर पृथ्वीमें, दसों दिशाओंमें, छताओंमें, बाहरके विशाल विषय-भोगोंमें, हन्द्रिय-वृत्तियोंमें, अन्तःकरणमें, प्राण, मूर्ख और तालुमें, भ्रूमध्यमें, नासिकाके अप्रभागमें, मुखमें, दक्षिण नेत्रकी कनीनिकाओं, अन्धकारमें, प्रकाशमें, इस दद्यरूपी आकाशमें, जाप्रद, स्वप्न और सुप्रस अवस्थाओंमें,

शुद्ध सत्त्वगुणमें, तमोगुणमें, रजोगुणमें, त्रिगुणमय पदार्थ-विशेषमें, चल-अचल पदार्थोंमें, सृष्टिके आदि, मध्य और अन्तमें, 'दूरमें, समीपमें,' सामने, नाम-रूपात्मक किसी पदार्थमें अपने आमामें, 'शब्द-रूपरूप आदि विषयोंमें, अज्ञानजनित आनन्दकी वृत्तियोंमें, गमनागमनकी चेष्टाओंमें और बढ़ी, दिन, भास, संघर, शुग आदि कालकी कल्पनाओंमें आसक्त नहीं करना चाहिये ।' सर्वत्र दृश्य पदार्थोंमें अनासक्त-सा होकर जब दृश्य जगत्के आश्रयभूत नित्य विज्ञानानन्दबन परमात्मामें विश्राम करके परमात्मामें ही अमृतमय रससे शुक्त मनवाला होकर स्थित रहना चाहिये । इस प्रकार उस परमात्मामें स्थित हुआ जीवात्मा सम्पूर्ण आसक्तियोंसे रहित होकर व्रतभास्करों प्राप्त हो जाता है । फिर तो वह इन समस्त व्यवहारोंको करे अथवा न करे; क्योंकि उसके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता । जैसे आकाशका मेघोंके साथ कोई सम्पर्क नहीं रहता, उसी तरह अपने परमात्मस्वरूपमें रत हुआ जीवात्मा कियाओंको करता हुआ अथवा न करता हुआ भी कियाजनित फलोंके साथ तनिक भी सम्बद्ध नहीं होता । अथवा शान्त चैतन्य-भन जीवात्माको चाहिये कि वह पूर्वोक्त दृश्य संसारके सम्बन्धका भी परित्याग करके शान्त होकर परमात्माके स्वरूपमें स्थित रहे । रामभद्र ! जिसने अपने स्वरूपमें परम विश्रामको प्राप्त कर लिया है, जिसका अन्तःकरण आत्मसाक्षात्कारसे सम्बन्ध है और जिसकी कर्म तथा उसके फलोंमें तनिक भी आसक्त नहीं रह गयी है, ऐसा जीवात्मा कर्म करते हुए भी आसक्तिसे रहित होनेके कारण कर्मजनित फलोंसे सम्बद्ध नहीं होता । ( सर्ग ६८-६९ )

**असङ्ग सुखमें परम शान्तिको ग्रास पुरुषके व्यवहार-कालमें भी दुखी न होनेका प्रतिपादन,**  
**आनीकी तुर्यतिथा तथा देह और आत्माके अन्तरका वर्णन**

श्रीकृष्णिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! जो संसारमें रागके अस्पन्त अग्राकरे उत्पन्न निविशेष आनन्दके अभ्यासमें संलग्न हैं और जिनके अन्तःकरण अस्पन्त विशाल हैं, वे जीवन्मुक्त महापुरुष चाहे व्यवहार करें, पर वे सदा-सर्वदा मय और शोकसे रहित होकर ही स्थित रहते हैं। जिसका अन्तःकरण दृश्य-चिन्तनसे रहित, केवल नित्य चेतन परमात्माका ही अशलम्बन करनेवाला तथा सम्पूर्ण विष्णवाज्ञरोंसे मुक्त है, उस महात्मा पुरुषके सत्सङ्गसे भनुष्य वैसे ही विशुद्ध हो जाते हैं, जैसे निर्मलीसे जल शुद्ध हो जाता है। परमात्माके स्वरूपमें निमग्न रहनेवाला वह तत्त्ववेत्ता पुरुष कियाशील होते हुए भी अपने स्वरूपमें नित्य स्थित रहता है। जैसे विकले स्फटिक भणिपर बास्तवमें किसी भी रंगसे रंग नहीं चढ़ता, वैसे ही परमात्मस्वरूपको प्राप्त तत्त्ववेत्ताका अन्तःकरण सुख-दुःखकी प्राप्ति होनेपर विकारान् नहीं होता। जिसने सहुग-निर्गुणरूप परमात्माको भलीभौति जान लिया है और जो परमात्मस्वरूप परम अभ्युदयको प्राप्त हो गया है, उस महात्मा पुरुषके विषयको संसारका दृश्य उसी ग्रकार लिप्यमान नहीं कर सकता, जैसे जलरेखा कमलको लिप्यमान नहीं कर सकती। जब यह जीवात्मा परमात्माका ज्ञान प्राप्तकर समस्त कल्पनाओंके हेतुभूत मरणोंसे रहित हुआ व्यातामान-दर्शामें भी परमात्माके स्वरूपानुभवमें निमग्न रहता है, तब वह 'स्वसक' ( बात्माराम ) कहता है। बात्माराम होनेवे ही भनुष्य संसारमें असङ्गभावको प्राप्त करता है; क्योंकि आत्माके ज्ञानसे ही विषयासकिका क्षय होता है। विचक्षण विषय-सम्बन्धिनी कृतियोंसे रहित हो जानेपर क्षीणशृष्टिवाले अन्तःकरणोंकी जो बासनाओंसे रहित शान्तिमयी स्थिति है, वही आप्रत्येक सुषुप्तिके समाधि-बवर्त्या कही जाती है। इस प्रकार अखण्ड समाधि-बवर्त्याको प्राप्त

भनुष्य व्यवहार करता हुआ भी सुख-दुःखरूपी (स्त्रीओंसे वैवक्तर संसारकी ओर कभी आकृष्ट नहीं होता; क्योंकि उसकी दृष्टिमें संसार है ही नहीं)। जो पुरुष आप्रत्येक समाधानमें स्थित हुआ जगत्के कार्योंको करता है, उस पुरुषको यन्त्रकी पुतलीके समान सुख-दुःखका अनुभव नहीं होता।

जो पूर्वसे ही यानी साधनावस्थासे ही तीव्र वैराग्यके कारण उपेक्षालुदिसे कर्म करता है तथा जिसकी बुद्धि परमात्मामें ही स्थित है, वह भनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है और फिर वह उन कर्मोंके फलोंसे नहीं बंधता। विवेकशील साधकको कर्मोंका अनुष्ठान या परित्याग—कुछ भी अच्छा नहीं लगता। किंतु जिन्होंने आस्मत्त्वको जान लिया है, वे महात्मा से जिस समय जो कुछ प्राप्त हो जाता है, तद्वारा न्याययुक्त जीवन-प्राप्त वर्तते हुए स्थित रहते हैं। सांसारिक विषयोंके सम्बन्धसे रहित सचिदानन्दवन परमात्मपदमें भड़ीमौति स्थित परमात्मप्राप्त पुरुष जो-ओ कर्म करता है, उसमें वस्तुतः उसका कर्तारपन नहीं रहता। श्रीराम ! यही अखण्ड समाधिरूप सुषुप्ति-स्थिति अभ्यासयोगसे जब इक हो जाती है, तब तत्त्व यह महात्माओंके द्वारा वह तुर्य-स्थिति कही जाती है। जिसके अन्तःकरणसे समस्त विकार विनष्ट हो जुके हैं और जिसके मनका अस्पन्त अभाव-सा हो गया है, वह ज्ञानी महात्मावाँ विशुद्ध आनन्दमय हो जाता है। उपर्युक्त अखण्ड समाधिमें स्थित रहनेवाला ज्ञानी अतिशय प्रसन्नतासे परिषर्ण और परम आनन्दमें निमग्न हुआ इस जगत्के व्यवहारको सदा छोलकी ज्यों देखता रहता है। श्रीराम ! जिसके शोक, भय एवं सांसारिक क्लेश सदा के लिये निष्ठृत हो गये हैं तथा जो संसाररूपों भ्रमसे रहित हैं, वह तुर्यवस्थामें सदा-सर्वदा स्थित आत्मज्ञानी फिर इस संसारचक्रमें कभी नहीं गिरता। जैसे आकाशशर्मार्ग वायुओंके लिये गम्य है,

वैसे ही दूरसे भी अति दूर परमपद विदेहमुक्त पुरुषोंके लिये अनुभवगम्य है। परमानन्दमें निमान ज्ञानी पूर्वोक्त सुपुत्रिके समान अखण्ड ब्रह्माकार समाधि अवस्थासे जगत्सिद्धिका बास्तविक अनुभव करके उसके पश्चात् तुर्यावस्था ( जीवन्मुक्तावस्था ) को प्राप्त होता है। रघुकुन्तिलक । जिस प्रकार तुर्यातीत पश्चका ज्ञान रहनेवाले आत्मतत्त्व-ज्ञानी महात्मा तुर्यातीत पदमें स्थित रहते हैं, उसी प्रकार तुम भी सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे रहित हो उस परमपदमें स्थित रहो। चाहे देह नष्ट हो आय, चाहे वह नष्ट हो यानी स्थिर रहे, उससे तुमको क्या प्रयोग बन है? तुम तो केवल आमज्ञानमें ही स्थित रहो। यह देह जैसा है, वैसा भले ही बना रहे। श्रीराम! जैसे अन्धकार और पैद्ध-भण्डलसे मुक्त शरण्यर्थिमाकी रात्रिका आकाशपण्डल सुशोभित होता है, वैसे ही तुम अमीष और अनमीष विषयोंसे मुक्त हुए शीतल साक्षात्काररूपी आलोककी शोभासे सुशोभित हो रहे हो।

रघुनन्दन! इस संसारमें देश, काल और वस्तुके परिच्छेदसे शून्य एक विशुद्ध चेतन आत्मा ही है, उसके सिवा अन्य कुछ नहीं है। सर्वत्र व्यापक चेतन 'आत्मा' यह नाम केवल व्यवहारके लिये ही कल्पित है, वास्तवमें नाम-रूप आदि भेद तो इस चेतनसे अत्यन्त दूर ही हैं अर्थात् यह चेतन आत्मा नाम-रूप आदि उपाधिसे रहित है। जैसे समुद्र जलसंरूप ही है, उससे मिन्न तरफ़ आदि कुछ भी नहीं है, वैसे ही यह सब अगत् आत्मरूप ही है, उससे मिन्न पुण्य-जल आदि कुछ भी नहीं है। जैसे ऊया और घूणका तथा प्रकाश और अन्धकारका परस्पर सम्बन्ध नहीं हो सकता, वैसे ही शरीर और आत्माका भी परस्पर सम्बन्ध नहीं हो सकता। श्रीराम! जैसे सदा परस्पर विश्वद्व रहनेवाले शीत और दध्यका एक दूसरेसे सम्बन्ध नहीं हो सकता, वैसे ही देह और आत्माका भी एक दूसरेसे कभी सम्बन्ध नहीं हो सकता। जैसे

मरुभूमिमें सूर्यकी किरणोंसे प्रतीत हुआ लड़ किरणोंके यथार्थ ज्ञानसे विनष्ट हो जाता है; वैसे ही अज्ञानजनित यह देह और आत्माका परस्पर सम्बन्ध-भ्रम भी आत्म-तत्त्वके साक्षात्कारसे विमष्ट हो जाता है। वह चेतन आत्मा शुद्ध, अविनाशी, स्वप्रकाश एवं सम्पूर्ण विकारोंसे रहित है और देह विनाशशील, अनित्य और मलरूप विकारसे युक्त है; ऐसी स्थितिमें अत्यन्त अन्तर होनेके कारण आत्माका शरीरके साथ सम्बन्ध कैसे हो सकता है। प्राणवायुसे बलवान् होकर ही शरीर रम्भको प्राप्त करता है, इसलिये आत्माके साथ किंचिद् भी शरीरका सम्बन्ध नहीं है। श्रेष्ठ बुद्धिसे सम्पन्न श्रीराम! जब द्वैतको माननेपर भी आत्माके साथ पूर्वोक्त प्रणालीसे देहादिका सम्बन्ध नहीं हो सकता, तब द्वैतकी असिद्धिमें तो इस प्रकार सम्बन्धकी कल्पना ही कैसे हो सकती है। जैसे परस्पर अत्यन्त विश्वद्व प्रकाश और अन्धकारका एक दूसरेसे सम्बन्ध और सादृश्य नहीं हो सकता, वैसे ही परस्पर अत्यन्त विश्व आत्मा और शरीरका भी एक दूसरेसे सम्बन्ध और सादृश्य नहीं हो सकता।

जैसे शीत और दध्यकी एकता कहीं दिखलायी नहीं पहसी, वैसे ही क्रमशः जड और चेतनसंरूप देह और आत्माका भी संयोग नहीं हो सकता। यह देह प्राणवायुसे ही चलता है, उसीसे उसका गमनागमन होता है एवं देह-की नादियोंमें संचार करनेवाले प्राणवायुसे ही शब्द होता है। जिस प्रकार छिप्युक्त बाँसोंसे वायुके गमनागमनसे शब्द अत्यन्त होते हैं, उसी प्रकार शरीरके कण्ठरूप छिप्से निकले हुए प्राणवायुसे जब कण्ठ, तालु आदि स्थानोंमें बिहा आदिके द्वारा अभिधातसे निकाले जाते हैं, तब कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग आदि शब्द प्रकट होते हैं—यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है। शरीररूपी स्थानको छोड़कर जहाँ चित्तरूपी पक्षी अपनी वासनाके अनुसार जाता है, वहाँपर विचार करनेपर आत्माका अनुभव होता है। जहाँ पुष्प रहता है, वहाँपर जैसे गन्धका ज्ञान रहता है, उसी

प्रकार जहों चित रहता है, वहीपर आत्माका झान होता है। जिस प्रकार सर्वत्र स्थित आकाश दर्पणमें प्रतिबिम्बित होता है, वैसे ही सर्वत्र स्थित आत्मा शुद्ध अन्तःकरणमें दिखलायी पड़ता है। जैसे पृथ्वीमें नीचेका माग जलका आश्रय-स्थान होता है, उसी प्रकार अन्तःकरण ही आत्माके अनुभवका आश्रय-स्थान है। महान् बुद्धिवाले पुरुष कहते हैं कि संसारकी उत्पत्तिमें अविचार, अज्ञान और मूर्खता ही सारभूत है और यही अन्तःकरणकी उत्पत्तिमें हेतु है। रघुनन्दन ! जैसे प्रज्ञालित दीपकसे अन्धकारका ताक्षण ही नाश हो जाता है, वैसे ही नित्य सिद्ध आत्माके यथार्थ ज्ञानसे ही चितका ताक्षण नाश हो जाता है। जैसे बन्दरबनके एक चूक्षको त्यागकर दूसरे चूक्षपर चला जाता है, उसी प्रकार वासनाके वशीभूत जीव कर्मानुसार एक शरीरको त्यागकर दूसरे शरीरमें चला जाता है। श्रीराम ! जिस शरीरमें वह चला गया, उस शरीरको भी त्यागकर फिर दूसरे समयमें अन्य विशाल देशके अन्तर्गत दूसरे शरीरमें चला जाता है। इस प्रकार जीवोंके यथार्थ स्वरूपको आवृत्त करके रहनेवाली

अपनी ही वज्रक वासना जीवोंको इधर-उधर मटकरती रहती है। श्रीराम ! वासनाखीर्णी रज्जुमें बैठे हुए जीव पहलेसे ही जीर्ण तो हैं ही, फिर भी वे पर्वततुल्य जड शरीरोंमें अथन्स हुःख्पूर्वक आयु क्षीण कर रहे हैं। जिन्होंने जीर्णसे भी अविक जीर्ण होकर दरिद्रता, रोग, वियोग आदिसे उत्पन्न हुए हुःखोंका भार बहन किया है तथा जिनका जीवन अनेक योनियोंमें दुर्दशाप्रसन्न परिणामोंसे जर्जर हो चुका है, वे जीव बारंबार अपने हृदयकी दूर्मीसनाथोंसे दीर्घकालतक नरकोंमें निवास करते हैं।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज ! मुनिवर श्रीवस्तिष्ठुजीके ऐसा कहनेपर नष्ट दिन बीत गया, सूर्यपवानान् अलाचलकी ओर जाने लगे, तब सभामें उपस्थित सब लोग मुनिको प्रणाम करके सार्यकालीन स्नान-संध्या-प्रन्दनादि नित्यकर्म करनेके लिये चले गये और रात्रि बीत जानेपर दूसरे दिन सूर्यकी किरणोंके साथ ही पुनः सभामें उपस्थित हो गये।

( सर्ग ७०-७१ )

**देहादिके संयोग-वियोगादिमें राग-द्वेष और हर्ष-शोकसे रहित शुद्ध आत्माके स्वरूपका विवेचन**

श्रीवस्तिष्ठुजी कहते हैं—रघुनन्दन ! तुम देहके उपग्रह होनेपर उत्पन्न नहीं होते और देहके नष्ट होनेपर नष्ट नहीं होते; क्योंकि अपने स्वरूपमें तुम विकार-रहित और विशुद्ध हुए नित्य स्थित हो। इस विनाशशील देहके नष्ट हो जानेपर शुद्ध आत्माका नाश नहीं होता; इसलिये जो देहका विनाश हो जानेपर ‘मैं नष्ट हो जाता हूँ’ इस प्रकारकी भावनासे दुखी शोता है, उस अन्धमुद्धिको विकार है। जैसे घोड़ोंकी लगाम और रथका सम्बन्ध राग-द्वेषसे रहित है, उसी प्रकार चेतन आत्माका भी देह, विष, इन्द्रिय आदिके साथ सम्बन्ध राग-द्वेषसे रहित है। जैसे मार्ग बटोहियोंके संयोग और वियोगमें हर्ष-शोकका अनुभव नहीं करता,

शरीरात्मक पौच्छ भूतोंके पिण्डमें पुरुषोंको ऐसी कौन-सी विशेषता प्रतीत होती है, जिससे उनकी उस खीरूप विषय-भोगाग्निमें फतिगेकी तरह गिरनेकी चंदा उचित कही जाय ? खीकी सुन्दरता, रूप लावण्य और शरीर-संगठनको लेकर जो विश्वस्ता दिखायी पड़ती है, उससे तो केवल अज्ञानी ही आनन्दित होता है; किंतु विवेकी पुरुषोंको तो वह पौच्छ मूर्तोंका पिण्ड ही दिखायी देता है। जैसे एक परथरसे बनायी गयी दो पापाण-प्रतिमाओंका परस्पर आछिङ्गन होनेपर उनमें राग नहीं होता, उसी प्रकार चित्त और शरीरका परस्पर आछिङ्गन होनेपर भी राग नहीं होना चाहिये। तथा जैसे परथरकी बनायी गयी प्रतिमाओंमें परस्पर स्नेहका सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही देह, इन्द्रिय, आत्मा और प्राणोंमें भी परस्पर स्नेहका सम्बन्ध नहीं है। इसलिये यहाँ शोक किसका ? जिस प्रकार समुद्र ऊँची-ऊँची भैंशरोंसे युक्त हो तृण, काठ आदि पदार्थोंसे संयोग करता है, वैसे ही जीवात्मा भी चित्ताकृतिको प्राप्तकर देह और प्राणियोंके साथ संयोग करता है। ( अतः मनुष्यको समुद्रकी भौति सबसे निर्भय रहना चाहिये। ) जैसे जल अपनी स्पृश्न-क्षियादेही मलिनताका परित्याग करके स्थंयं ही खण्डिताको प्राप्त करता है, उसी प्रकार जीवात्मा यथार्थज्ञानके द्वारा विषयरूपताका परित्याग करके स्थंयं ही विशुद्ध आत्मरूपताको प्राप्त करता है। उस समय सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें आसक्तिसे रहित जीवात्मा दृष्टि — साक्षी हुआ देहको आत्मासे मिल देखता है तथा भूत-समूहको भी अपनेसे पृथक् देखकर अविनाशी आत्मा देहातीत हो जाता है। इस प्रकार आत्मा अपनेसे ही प्रमाण-प्रमेयरूप विकारोंसे रहित अपने यथार्थ खरूपको जान लेना है। श्रीराम ! जिनका सम्पूर्ण राग विनष्ट हो गया है, जिनके पाप दूर हो गये हैं तथा जो परमापदको प्राप्त हो चुके हैं वे जीवन्मुक्त महात्मा पुरुष उसी प्रकारके विशिष्ट

विज्ञानसे युक्त हो इस संसारमें विचरण करते हैं, जैसे समुद्रकी तरङ्गें अनेक प्रकारके रूपोंके साथ अभासकमात्र-से व्यवहार करती हैं, उसी प्रकार आसनारहित उत्तम महात्मा लोग भी चित्तकी चेष्टाओंके साथ अनासक्त भावसे व्यवहार करते हैं। जैसे समुद्र अपने तटपर पढ़े हुए काष्ठ-समूहोंसे मलिन नहीं होता, वैसे ही आत्मके यथार्थ खरूपको जाननेवाला वह मनुष्य इस संसारमें अपने सांसारिक व्यवहारोंसे मलिन नहीं होता। जैसे समुद्रको गत, आगत, स्वच्छ, चक्रल, मलिन और जड़ तरङ्गोंसे राग और द्रेष नहीं होता, उसी प्रकार उस तत्त्वज्ञानी महात्मा पुरुषको गत, आगत, स्वच्छ, चक्रल, मलिन और जड़ भोगोंसे राग-द्रेष नहीं होता; क्योंकि जो अहं, भूत आदि तथा तीनों कालोंमें उत्पन्न होनेवाली वस्तुएँ दृश्य और दर्शनके सम्बन्धोंसे दिखायी पड़ती हैं, वह सब केवल मनकी कल्पना ही है। इसलिये आत्मसाक्षात्काररूप दृश्य-दर्शनसे रहित सुखानुभूतिका अवलम्बन करनेसे ससारका अभाव हो जाता है, आत्मरूपको आसूत करनेवाली दृष्टिका विच्छेद हो जाता है और यथार्थ आत्मानुभव प्रकाशित हो जाता है। उसीका अवलम्बन करनेपर तुर्पवस्था प्राप्त हो जा ती है और उसीके अवलम्बनसे मुक्ति हो जाती है। रघुनन्दन ! जब दृश्य और दर्शनके सम्बन्धसे मुक्त और परम विशुद्ध युद्धिसे युक्त यह खरूप-दृष्टि होती है, तब दृश्य और दर्शनके सम्बन्धके असली तत्त्वको जानकर पुरुष मुक्तिको प्राप्त होता है। मुक्त होनेके अनन्तर वहाँ आत्माका खरूप न स्थूल है न अणु, न प्रस्त्रका है न अप्रत्यक्ष, न चेतन है न जड, न असत् न है सत्, न अहंरूप है न अन्यखरूप, न एक है न अनेक, न समीप है न दूर, न सत्तायुक्त है न असत्तायुक्त, न प्राप्त है न अप्राप्त, न सर्वाभिक है न सर्वव्यापक, न पदार्थ है न अपदार्थ, न पौच्छों भूतोंका आत्मा है और न पौच्छों भूत ही।

( तात्पर्य यह कि वह समस्त विशेषणों और अभ्युत्तोंसे रहित विशुद्ध आत्मा मन, बाणी और दुष्कृति विषय नहीं है; इसलिये उसे इंद्रताके द्वारा न कहा जा सकता है न संमानाया जा सकता है। अतएव उसका यहाँ निषेधमुख्यसे वर्णन किया गया है। श्रुतिमें भी उसका निषेधमुख्यसे वर्णन किया गया है। ) किंतु मनके साथ चक्षु आदि उहाँहो इन्द्रियोंका विषय जो यह दृश्यत्वको प्राप्त जगत् है, वह कुछ भी नहीं है। उससे अतीत जो पद है, वही यथार्थ वस्तु है। जिस प्रकारका यह जगत् है, उस प्रकारके इस जगत्को

भलीमौति जाननेवाले पुरुषके लिये यह समस्त विश्व आत्मस्वरूप ही है, कहाँ भी आत्मस्वरूपसे अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है। यह आत्मा ही कठोरता, दक्षता, प्रकाश, स्पन्दन और अकाश-कमसे पृथ्वी, जल, वेज, वायु और आकाशरूप सम्पूर्ण जगत्-भावोंमें विद्यमान है। श्रीराम। पदार्थोंकी जो-जो सत्ता है, वह चेतना आत्माके सिवा दूसरी वस्तु नहीं है; इसलिये जो यह कहता है कि ऐसे आत्मासे अतिरिक्त हूँ, उनके इस कथनको उन्मत्तके प्रलापके समान समझो।

( सर्ग ७२ )

### दो प्रकारके सुक्तिदायक अहंकारका और एक प्रकारके वन्धनकारक अहंकारका एवं परमात्माके स्वरूपका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन। जैसे विन्तामणि-के तत्त्वको जाननेवाले छोग विन्तामणिको प्राप्त कर लेते हैं, वैसे ही उपर्युक्त विचार-दृष्टिसे दैत्यमात्रको ध्यानकर आत्माके स्वरूपको जाननेवाले महापुरुष विशुद्ध आत्मस्वरूपको प्राप्त हो जाते हैं। श्रीराम। अब मैं तुमसे दूसरी दृष्टिका वर्णन करता हूँ; उसे तुम छुनो।

मैं ही आकृता हूँ, मैं ही आदित्य हूँ, मैं ही दिशाएँ हूँ, मैं ही अधः हूँ, मैं ही ऊर्ध्व हूँ, मैं ही देत्य हूँ, मैं ही देव हूँ, मैं ही छोक हूँ, मैं ही चन्द्रमा आदिकी प्रगता हूँ, मैं ही अन्धकार हूँ, मैं ही मेष हूँ, मैं ही पृथ्वी हूँ, मैं ही समुद्र आदि हूँ एवं रेणु, वायु, अग्नि और यह सारा जगत् मी मैं ही हूँ; तीनों छोकोंमें सब जगह जो परमात्मा स्थित है, वह मैं ही हूँ। उस सर्वरूप परमात्मासे मिल परिच्छिन्न मैं कौन हूँ? मैं कभी परिच्छिन्न नहीं हो सकता। देह आदि मी सुहसे मिल क्या है? एक अद्वितीय वस्तु परमात्मामें हैत कैसे हो सकता है? कमलजयन विष्याप श्रीराम। त्रुम्ही वत्तलाओ, इस प्रकार इस सम्पूर्ण जगत्के आत्मस्वरूपसे स्थित हो जानेपर कौन अपना और कौन

पराया रहेगा? सत्यहसे मिल ऐसी कीन-सी वस्तु है, जो उसे यदि प्राप्त हो जाय तो यह हर्यं और विवादसे प्रस्ता हो! यदि उसको ऐसी वस्तुके बा जानेसे विवाद दिखायी पहे तो वह तत्त्वही नहीं है, किंतु मूढ़ ही है; क्योंकि ऐसा पुरुष जगन्मद ही होता है, सचिदानन्दमय नहीं।

रघुनन्दन! दो प्रकारकी अहंकार-दृष्टियाँ सात्त्विक और अत्यन्त निर्मल हैं। उनकी तत्त्वज्ञानसे उत्पत्ति होती है। वे मोक्ष प्रदान करनेवाली और परमार्थस्वरूप हैं। भी सबसे परे, सूक्ष्मसे मी सूक्ष्मतर और विमाशशील सम्पूर्ण पदार्थोंसे अतीत हूँ—यह पहली अहंकार-दृष्टि है तथा जो कुछ है, वह सब मैं ही हूँ—यह दूसरी अहंकार-दृष्टि है। निष्पाप श्रीराम! इन दोनोंसे मिल तीसरी अहंकार-दृष्टि यह है—देह मैं हूँ। इस दृष्टिको तुम केवल दुःखदायिनी ही जानो, यह कभी शान्तिदायिनी नहीं होती। अब तुम इन तीनों ही अहंकारोंको द्वितीय सबके शेषमें रहनेवाले अहंभावनाशून्य पूर्ण सचिदानन्द-स्वरूपका अवलम्बन करके उसी अवलम्बनयोग्य परम-तत्त्वमें निरत हुए ही स्थित रहो, क्योंकि इस मिथ्या

जगत् में परिषूर्ण और सर्वप्रकाशक आत्मा वास्तवमें अद्वितीय प्रयोगस्त्रहपरसे मुक्त और समस्त पदार्थोंकी सत्तासे अतीत ही है। इसलिये श्रीराम ! तुम अपने ही अनुभवसे शीघ्र देखो कि तुम सदा-सर्वदा प्रकट सचिदानन्दघन परब्रह्मस्वरूप ही हो। आत्मा न तो केवल अनुभावसे प्रत्यक्ष होता है और न आत्मवचन तथा शाक्त आदिके अशणमात्रसे ही; किंतु वह सदा-सर्वदा सब प्रकारसे केवल अनुभवसे ही प्रत्यक्ष होता है। ये जो कुछ स्पर्श, स्पन्द और ज्ञान आदि पदार्थ हैं, वे सब दृश्य और दर्शनसे रहित सचिदानन्दघन परमात्मा ही हैं। यह प्रकाशस्त्रहप्य परमात्मा वास्तवमें न तो सद् है और न असद् है, न अणु है और न महान् है नथा न सद् और असदके मध्यमें है। यह आत्मा है और यह आत्मा नहीं है—यों जो संज्ञाभेद है, इसकी स्वयं आत्माने ही अपनेमें अपनी सर्वव्याप्तिशक्तिसे कल्पना कर रखी है। यह प्रकाशमान परमात्मा तीनों कालोंमें सदा-सर्वदा सब जगह स्थित है तथापि केवल सूक्ष्म और महान् होनेके कारण वह अज्ञानी पुरुषोंके द्वारा जाननेमें नहीं आता। जैसे लोकदृष्टिसे सारे पदार्थोंका अस्तित्व सर्वत्र विषयमान है, उसी प्रकार परमार्थदृष्टिसे सचिदानन्दघन परमात्मा भी सर्वत्र विषयमान है तथा सर्वव्यापी है; यह कहीं एकदेशमें स्थित है—ऐसी बान नहीं है। सबका यह आत्मा किसी समय भी वास्तवमें न तो उत्थन होता है न मरना है, न कुछ प्रहण करता है न कुछ चाहता है, न मुक्त होता है और न बद्ध

होता है। जैसे सर्वमें रज्जुओंकी आन्ति दुःख देनेवाली ही होती है, वैसे ही आत्माके अज्ञानसे उत्थन देह आदि अनात्मपदार्थोंमें आत्मबुद्धिरूप आन्ति केवल दुःख देनेवाली ही होती है। यह आत्मा कभी भी उत्थन नहीं हुआ, क्योंकि यह अनादि है; और यह विनष्ट भी नहीं होता, क्योंकि यह अजन्मा है। तथा वह आत्मभिन्न वस्तुओंकी कभी भी अभिज्ञा नहीं करता; क्योंकि आत्मासे मिन्न कोई वस्तु है ही नहीं। यह आत्मा दिशा, देश और कालसे परिमित न होनेके कारण कभी भी बैंधता नहीं; और जब बन्धन ही नहीं है, तब मोक्ष कहाँसे होगा। अतएव वास्तवमें आत्मा बन्ध-मोक्षसे रहित है। रघुनन्दन ! उपर्युक्त गुणोंसे युक्त ही यह सबका आत्मा है; किंतु ये सब लोग शरीरका विनाश होनेपर अविचारसे मोहित हुए व्यर्थ ही रुदन कर रहे हैं। जैसे गेहूँ आदिको पीसनेके लिये निर्मित जल-चक्री आदि यन्त्रके द्वारा गेहूँ आदिका पेशण चालू होनेपर पुरुष केवल साक्षीमात्रसे उक्त कार्यको करता है, वैसे ही आत्मज्ञानी विज्ञान-मुनिको बन्धन और मोक्षरूपी दोनों ही कल्पनाओंसे रहित होकर ( यन्त्रकी ऊंची ) देह आदिका व्यवहार करना चाहिये। सम्पूर्ण विषयोंमें अनासक्तिसे संकल्प और कामनाका अमाव हो जानेके कारण जो स्वतः ही साधकके मनका विनाश हो जाता है, उसीको आत्मदर्शी तत्त्वज्ञ महापुरुषोंने 'मोक्ष' नामसे कहा है। श्रीराम ! तुम समस्त कल्पनाओंसे रहित अवश्यको प्राप्त और आसक्तिरहित हो, अत. इस सगर-पुत्रोंके द्वारा खोदी गयी समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका दीर्घकालतक पालन करो। ( सर्ग ७३ )



### मन, अहंकार, वासना और अविद्याके नाशसे मुक्ति तथा जीवन्मुक्त दुरुपके लक्षण और महिमाका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! जैसे मरुभूमिमें सूर्यकी किरणोंसे जल प्रतीत होता है, वैसे ही अहत-ममता, राग-द्वेष आदि विकारोंसे युक्त और विना दुष्ट ही

अपने स्वरूपको कायम रखनेवाली मायासे ही यह सम्पूर्ण जगत् प्रतीत हो रहा है। जैसे वर्फसे मिन्न शुक्रताकी कन्यना की जाती है पर वास्तवमें वर्फ और शुक्रतामें

परस्पर पार्थक्य नहीं है, उसी प्रकार चित्त और अहंकार-की पृथक् कल्पना व्यर्थ ही की जानी है; वास्तवमें उभका परस्पर कोई भेद नहीं है। श्रीराम ! मन और अहंकार—इन दोनोंमेंसे किसी एकका विनाश हो जानेपर मन एवं अहंकार दोनोंका विनाश हो ही जाता है। इसलिये अन्यान्य इच्छाओंका परित्याग करके अपने दैराण्य और आस्मा-अनास्माके विवेकसे केवल मनका ही विनाश कर देना चाहिये। जैसे वायु वृक्षमें पङ्क्खोंकी पंक्तिको चलाता है, वैसे ही प्राणादि वायु देहमें अङ्गोंकी पंक्तियोंको पर्यासरूपसे चलाता है; किंतु सब पदार्थोंको व्याप कर लेनेवाला अति सूक्ष्म चेतन आस्मा न तो खतः चल है और न किसीसे चलायमान होता है। जैसे अचल मैरु-पर्वत वायुओंसे कम्पित नहीं होता, उसी प्रकार यह चेतन आस्मा भी प्राणादि वायुओंसे कम्पित नहीं होता।

खुनन्दन ! यह मैं आनेवाला हूँ, मैं भोका हूँ, मैं कर्ता हूँ—इस प्रकारकी वासना मृढ़ पुरुषोंके हृदयमें व्यर्थ ही उत्पन्न हुआ करती है, जैसे अज्ञानसे महभूमिमें सूर्यकिरणोंसे मृगतृष्णा उत्पन्न होती है। वास्तवमें असत्य होते हुए भी सत्य-सी दिखायी पड़नेवाली यह अविद्यारूपा वासना विषयोंकी अमिलाधासे युक्त मनरूप मरु मृगको उसी प्रकार खीचती है, जिस प्रकार जलकी अमिलाधासे युक्त मृगको मृगतृष्णा खीचती है; किंतु उस अविद्या-रूपा वासनाका यथार्थ स्वरूप जान लेनेपर उसका विनाश हो जाता है। जैसे ‘यह मृगतृष्णाका जल है’ इस प्रकार तात्त्विक स्वरूपसे जान लेनेपर मृगतृष्णा तुषारी मनुष्यको अपनी ओर नहीं खीचती, उसी प्रकार यह अविद्या है। इस प्रकार तत्त्वतः जान लेनेपर अविद्या मन-को नहीं खीच सकती। श्रीराम ! जैसे दीपकसे अग्नकार नष्ट हो जाता है और प्रकाश आ जाता है, वैसे ही परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे वासना समृळ ( अविद्यासहित ) नष्ट हो जाती है और परमात्माका वास्तविक स्वरूप प्रकाशित हो जाता है। अविद्याका अद्वित्य किसी प्रकार

नहीं है—इस तरह शास्त्र और युक्तिसे इह निष्ठय हो जानेपर अविद्याका तत्क्षण विनाश हो जाता है। इस बद देहके लिये भोगोंसे कथा प्रयोजन है—इस प्रकारके निष्ठयसे युक्त तत्त्वज्ञ पुरुष इच्छाओंके कारणरूप अपने अज्ञानको विनष्ट कर देता है। जैसे राज्य मिल जानेपर दरिद्र मनुष्य परम शान्तिको पा लेता है, वैसे ही यह तत्त्वज्ञ पुरुष परम शान्तिको प्राप्त होता है। जैसे प्रशान्त समुद्र अपने स्वरूपमें सदा अचल स्थित रहता है, उसी प्रकार वह अपने विज्ञानानन्दधन स्वरूपमें ही निःस्य अचल स्थित रहता है। जैसे मेरु पर्वत स्थिरता और धीरताको धारण करता है, वैसे ही तत्त्ववेत्ता पुरुष स्थिरता और धीरताको धारण करता है। यह तत्त्वज्ञानी महात्मा पुरुष अपने विज्ञानानन्दधन स्वरूपमें ही सदा परम शान्त और परम तृष्ण रहता है तथा यह तत्त्वज्ञ महापुरुष उस सम्पूर्ण भूतोंके आत्मस्वरूप, सर्वप्रथ्यापक, सबके नियन्ता, सबके नाथक, सर्वाकार और निराकार सचिदानन्दधन परमात्माके स्वरूपको अपना आत्मा जान लेता है। तत्त्ववेत्ता पुरुष विषयी पुरुषोंके तङ्ग और विषयोंकी आसक्तिसे रहित, मान और मानसिक चिन्ताओंसे शून्य, परमात्मामें ही रत तथा विज्ञानानन्दसे परिपूर्ण और विशुद्ध अन्तःकरणसे युक्त होता है। यह आत्मज्ञानी महात्मा कामरूपी कीचबड़से मुक्त, बन्धनस्वरूप आत्मव्रतसे शून्य तथा हर्ष-शोक, राग-द्रेष्टादि बन्धनस्वरूप दोष और भयसे रहित होता है। अतएव यह संसार-समुद्रसे तर चुका होता है। यह तत्त्वज्ञ विद्वान् सर्वोत्तम परम शान्तिको, दुर्लभ परम पदको तथा अनाशृणिरूप परम गतिको प्राप्त है। सभी ठोग मन, शाणी और कर्मद्वारा इस महापुरुषके आचरणोंके अनुकरणकी इच्छा करते हैं; पर वह किसी प्रकारकी इच्छा नहीं करता। सभी मनुष्य इसके आनन्दका अनुमोदन करते हैं, पर वह किसीका भी अनुमोदन नहीं करता—उदासीन रहता है। तत्त्वज्ञ पुरुष न तो स्थाग करता है न ग्रहण; न किसीकी स्तुति करता है न किसीकी

निन्दा, न मरता है न जन्म लेता है, न हृषि करता है और न शोक । वह समस्त आरम्भों, सम्पूर्ण विकारों और सारी आशा, इच्छा, वासना आदि से रहित पुरुष 'बीबन्मुक्त' कहा जाता है ।

श्रीराम ! मनुष्यको न राज्यसे, न स्वर्गसे, न चन्द्रग-से, न ब्रह्मन्तसे और न कान्तके कमनीय संसर्गसे ही वैसे उत्तम बुद्ध-शान्ति प्राप्त होते हैं, वैसे आशात्यागसे, क्योंकि आशाका त्याग ही सबसे बढ़-चढ़कर सुख-शान्ति है । जिस परम निर्बाणस्त्रूप मोक्षके लिये तीर्ना लोकोंकी सम्पत्तियाँ तिनकेकी ताह कुछ भी काम नहीं देती, वह आशाके त्यागसे ही भ्राम होता है । जिसके हृदयमें आशा अपना स्थान कभी नहीं जमा सकती, सम्पूर्ण त्रिमुखनको तृणके सदृश समझनेवाले उस विरक्त पुरुषकी उपमा किससे दी जा सकती है ? अर्थात् किसीसे नहीं । मेरे लिये यह होना चाहिये और यह नहीं होना चाहिये—इस प्रकारकी इच्छा जिसके चित्तमें नहीं होती, उस स्वाधीन चित्तवाले ज्ञानी महात्मा पुरुषको मनुष्य कैसे तुल्ना कर सकते हैं ? श्रीराम ! तुममें न तो आशाओंका अस्तित्व है और न तुम्हारा आशाओंसे किसी तरहका सम्बन्ध ही है । तुम इस जगत्को भिद्या भ्रममात्र ही समझो; क्योंकि जैसे दौड़ते हुए रथमें लगे पहियोंके ऊर्ध्व और नीचे प्रदेशमें हीनेवाला धुमाच नेमीका आश्रय लेनेवाले रिपीछिका आदि जीवोंके पतन, ऐप्रण आदि अनर्थोंका ही कारण होता है, वैसे ही यह जगत् भी उसका आश्रय लेनेवाले ( इसमें सत्य-त्रुद्धि रखनेवाले ) जीवोंके जन्म-मरण आदि अनर्थोंका ही कारण है ।

रघुनन्दन ! यह सम्पूर्ण जगत् परमात्मस्त्रूप ही है, यहाँ नानारूपता है ही नहीं । जगत्को अद्वितीय परमानन्दस्त्रूप जानकर धीर महात्मा तनिक भी खिन्न नहीं होते । इन पदार्थोंके समझोंका जो यथार्थ—आत्मासे अभिज्ञ स्वरूप है, उसको जाननेसे ही पुरुष द्वुद्धिके परम विद्याम-

स्वरूप नैराश्यको प्राप्त होता है । जैसे धीर केसरीके पाससे मृगी दूर भाग जाती है, उसी प्रकार तीव्र वैरायसे वीरताको प्राप्त अन्तःकरणसे युक्त पुरुषके पाससे यह संसारको मोहित करनेवाली माया दूर भाग जाती है—फिर उसके पास भी नहीं फठकती । जिस प्रकार वायु पर्वतको न आनन्द दे सकता है, न खेद और न धैर्यसे च्युत कर सकता है, उसी प्रकार ज्ञानी महात्मा पुरुषको न तो विषयोपभोग आनन्द-पहुँचा सकते हैं, न सांसारिक आपत्तियाँ हृदयमें खेद पहुँचा सकती हैं और न दृश्य-सम्पत्तियाँ वैर्यसे च्युत कर सकती हैं । जिसके प्रति युवती लियों अनुरक्त हैं, ऐसे उदारद्विद्वत्स्वरूप महात्माके अन्तःकरणमें कामदेवके वाण छिन्न-भिन्न होकर घूलके समान हो जाते हैं—उन युवती लियोंका उसपर कोई असर नहीं होता । जो परमात्माके स्वरूपको जानता है और मन-इन्द्रियोंके वशमें नहीं है, उस महापुरुषको राग और द्वेषके द्वारा तनिक-सा भी विचलित नहीं किया जा सकता, तब उनके द्वारा उसके आक्रान्त होनेकी तो बात ही क्या है । जो लता और धनिता-में एक-सी दृष्टि रखता है तथा जो पर्वतकी तरह अचल है, वह ज्ञानी-पुरुष इन तुच्छ विषयमोगोंमें उसी प्रकार रमण नहीं करता, जैसे बटोही मरुभूमिमें रमण नहीं करता । जिसका अन्त करण किसी भी भोग-पदार्थमें आसक्त नहीं है, वह तत्त्वज्ञानी महात्मा पुरुष विना प्रयत्नके अपने-आप प्राप्त अनिषिद्ध भोग-पदार्थोंका केवल शरीररक्षाके लिये अनासक्तभावसे लीलापूर्वक सेवन करता है । काकतालीय-न्यायकी भाँति अनायास न्यायपुरुष प्राप्त ललना आदि भोग-समूह आत्मादित होनेपर भी तत्स्वरूप धीर पुरुषको सुख-दुःख नहीं दे सकते; क्योंकि जिसने परमात्माकी प्राप्तिके मार्गको मलीभाँति जान लिया है, उस तत्स्वरूप महापुरुषको सुख-दुःख तनिक भी विचलित नहीं कर सकते । इन विनाशकील विषयोंको त्याज्य द्वुद्धिसे

देखनेवाला वह मृदू, दमनशील और समूर्ण चिन्ता आदि जर्तोंसे रहित ज्ञानी महापुरुष सब मूर्तीमें अन्तरात्माखारूप-से स्थित भासपदका ही अवलम्बन कर स्थित रहता है। जैसे श्रद्धांडोंके आने-जानेसे पर्वत विचलित नहीं होता, ऐसे ही ज्ञानी महात्मा पुरुष कालानुसार, देशानुसार और क्रमानुसार आपत्तियों और सुख-दुःखोंके आनेपर भी विचलित नहीं होता। शरीरसे पृथक् आत्माका अपरोक्ष साक्षात्कार करनेवाले, नित्यानित्य वस्तुके यथार्थ विवेकसे सम्पन्न ज्ञानीके शरीरका छेदन करनेपर भी उसका कुछ भी छेदन नहीं होता; क्योंकि वह अपने विज्ञानानन्दधन सरूपमें ही नित्य स्थित रहता है। विशुद्ध प्रकाशकरूप परमात्माका एक बार यथार्थ ज्ञान हो जानेपर वह सदा ज्ञात ही रहता है, फिर उसका विस्मरण नहीं होता। अपने हृदयकी विज्ञानप्रणिक्ता उच्छेद हो जानेपर मायाकेतीनों गुणोंके द्वारा आत्माका पुनः बन्धन उसी प्रकार नहीं हो सकता, जैसे शूक्ष्मसेद्वाटाहुआ फलकिसी-के द्वारा पुनः नहीं जोड़ा जा सकता। अविद्याका असली सरूप ज्ञान लेनेके अनन्तर कौन बुद्धिमान् पुरुष फिर उसमें हृदय ( फँसता ) है; क्योंकि सांसारिक वासना विवेकपूर्वक बुद्धिके विचारसे निवृत्त हो जाती है।

श्रीराम ! तत्त्वज्ञानापुरुष रूप-लावण्ययुक्त कामिनीको भी चित्रमें लिखित कान्ताकी प्रतिमाकी तरह ही समझते हैं, क्योंकि जैसे चित्रमें चित्रित कामिनीके केश, ओष्ठ आदि अवपद मणी, कुहुप आदि रंग-सरूप पाँच भूलोंको छोड़कर और कुछ भी नहीं होते, उसी प्रकार रूप और

लावण्यसे युक्त जीवित कामिनीके केश, ओष्ठ आदि भी पाँच भूलोंके सरूपसे अतिरिक्त दूसरे कुछ नहीं हैं। इसलिये कान्ता-प्रतिमा और जीवित कान्तामें तस्वतः समानता है—इस तत्त्वको जानेवाले विवेकहील विरक्त महात्मा पुरुषका जीवित कान्ताके उपमोगमें आग्रह कैसे हो सकता है। जैसे परपुरुषमें असून ( आसकि ) रखनेवाली नारी, धरके काम-काजमें अप्रभ रहनेपर भी उसी परपुरुष-सम्बन्ध-रूप रसायनका अपने अंदर आखाद लेती रहती है, उसी प्रकार अवहार करते हुए भी विशुद्ध प्रकाशतत्त्वमें उत्तम विद्वानको प्राप्त भी तत्त्वज्ञ पुरुष उस विज्ञानानन्दधन परमात्माके सरूपमें ही मन्न रहता है; फलतः वह इन्द्रादि देवताओंके द्वारा प्रभोभित किये जानेपर भी विचलित नहीं होता। क्योंकि जिस महात्माकी अविद्या निवृत्त हो गयी है, जिसको परमात्मानिषयका अच्छी प्रकार ज्ञान है तथा जो सदाचारसे युक्त है, वह महात्मा हुआ-सरूपसे अवहार करता हुआ भी अपने अन्तरात्मामें प्रसाद रहता है। उसके शरीरका छेदन होनेपर भी उसका छेदन नहीं होता, गिरते हुए अशुद्धोंसे युक्त होता हुआ भी वह रोता नहीं, दग्ध होता हुआ भी दग्ध नहीं होता और देहका विनाश होनेपर भी उसका विनाश नहीं होता; क्योंकि वह देहसे रहित हुआ सञ्चिदानन्दधन ब्रह्मके सरूपमें नित्य स्थित है। श्रीराम ! वह तत्त्वज्ञ पुरुष प्रान्तभोगके विद्वानके अनुसार चाहे दरिद्र-अवस्थामें रहे या संकटावस्थामें, उसम नगरके महलमें रहे या विस्तृत पश्चाद् या वनमें, वह सदा-सर्वदा हुख-दुःखके उपद्रवसे रहित ही होता है। ( सर्ग ७४ )

### मनुष्य, असुर, देव आदि योनियोंमें होनेवाले हर्ष-शोकादिसे रहित जीवन्मुक्त महात्माओंका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—खुनन्दन ! अपने राज्यके व्यवहारमें तत्पर होते हुए भी राजा जनक समूर्ण चिन्तारूप अरसे तथा अन्तःकरणकी व्याकुलतासे रहित

होकर ही सदा-सर्वदा स्थित है। आपके गिरामह महाराज दिल्लीपने अनेक तरहके उचित सांसारिक कर्मोंको हुआरूपसे करते हुए भी आसक्तिसे रहित होकर ही

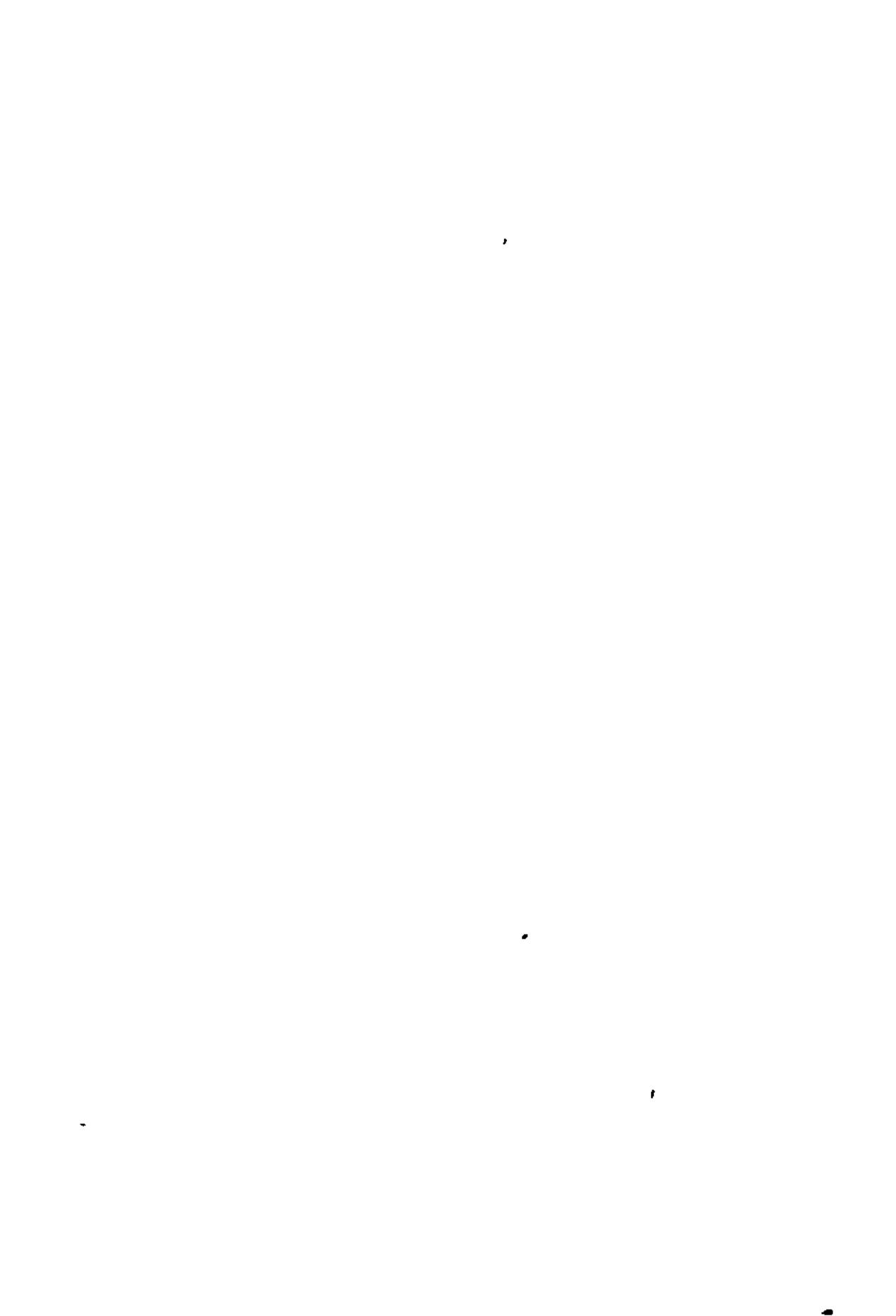
दीर्घकालतक पृथ्वीका पालन किया । तथा रागआदि दोपोसे रहित होनेके कारण आत्मज्ञानको प्राप्त तथा सदा जीवन्मुक्त-स्वरूप महाराज मनुने चिरकाल-तक प्रजाओंका संरक्षण करते हुए राज्यका पालन किया । विचित्रसैन्य और बाहुबलके प्रयोगसे युक्त युद्धों तथा अनेक व्यवहारोंको निष्काममावसे दीर्घकालतक करते हुए महाराज मान्धाता परम पदको प्राप्त हुए । पातालके राज्यसिंहासनपर आसीन, सदा स्थानी, सदा अनासक्त राजा बलि यथार्थ-रूपसे व्यवहारको करते हुए भी जीवन्मुक्तरूपसे स्थित हैं । दानवोंके अधिपति नमुदि देवताओंके साथ युद्ध करते हुए तथा सदा नाना प्रकारके व्यवहार एवं विचार-विमर्शोंमें तत्पर होते हुए भी भीतरसे संतुष्ट ( खिन्न ) नहीं होते ये । इन्हें युद्धमें अग्ने शरीरका परित्याग करनेवाले विशाल-हृदय मानी चृत्रासुरने प्रशान्तमन होकर ही देवताओंके साथ युद्ध किया । पातालतळका परिपालन करते समय दानवोंवित कर्मोंका अनासक्त भावसे अनुष्ठान करते हुए भक्तप्रवर प्रह्लाद अविनाशी अनिर्वचनीय परमानन्दस्वरूप परमपदको प्राप्त हुए । समस्त देवताओंके मुखस्वरूप अग्नि क्रियासमूहमें तत्पर होते हुए यशोद शोभाका चिरकालतक उपभोग करते हैं तथापि वे मुक्त होकर ही इस विमुक्तनमें निवास करते हैं । जगत्के प्राणिसमूहोंके अङ्गोंका चिरकालसे संचरण करते हुए भी वायु, जो सदा-सर्वदा सर्वत्र संचरण करनेवाले हैं, मुक्त ही स्थित हैं । ज्ञानरूप रजोंके एकमात्र समुद्र, तोक्षणबुद्धि, वीरवर स्वामी क्रातिकेयने मुक्त होते हुए भी तारकादि असुरोंसे युद्ध किया । महामुनि नारद मुक्त-स्वभाव होते हुए भी इस जगत्में कार्यशील और शान्त बुद्धिसे विचरण किया करते हैं । जीवन्मुक्त होकर ही अनासक्तभावसे सहस्रमुख नागराज शेष पृथ्वीको धारण करते हैं, सर्व दिवस-परम्पराओंका मिर्ण करते हैं और यमराज धर्माधर्म-विचारपूर्वक लोगोंका नियमन करते हैं । इन पूर्वोक्त महानुमावोंके सिवादूसरे भी सैकड़ों

महात्मा यज्ञ, राज्यस, मनुष्य और देवता इस विमुक्तनमें मुक्तस्वरूप हुए ही संसारमें अनासक्त भावसे विचरण करते हैं । विचित्र आचार-व्यवहारोंमें स्थित किंतु वे ही पुरुष भीतर शान्तिसे युक्त हैं, जब कि कुछ तामसी मृदु पुरुष तो मोहमें मरन हुए पत्थके सहश धने रहते हैं । कुछ महात्माओंने परम ज्ञानका सम्पादन करके तपोवनका आश्रय लिया, जैसे—‘भृगु, भरद्वाज, विश्वमित्र, शुक आदि । कुछ महात्मा परम ज्ञान प्राप्तकर राज्योंमें ही छत्र, चर्वर धारण किये रहते हैं—जैसे जनक, शर्याति, मान्धाता, सगर आदि । कुछ तत्त्वज्ञ आकाशमें प्रह, नक्षत्र आदिके आधारभूत ज्योतिशक्तके मध्यमें स्थित हैं—जैसे शृहस्तपति, शुक्राचार्य, चन्द्र, सूर्य, सहर्षि आदि । तिर्यक् योनियोंमें भी सदासे कृत्स्नुद्धि महात्मा रहते हैं और देवयोनियोंमें भी गूर्हबुद्धिवाले लोग विद्यमान हैं । जिसका अस्थन्त ध्यापक स्वरूप है, उस सर्वस्वरूप परमात्मामें सब कुछ सर्वमावसे सर्वत्र सब प्रकारसे सदा ही सम्भव है ।

श्रीराम ! मुक्ति हो जानेपर फिर इस संसारमें किसी प्रकार जन्मकी प्राप्ति सम्भव नहीं । किंतु करोड़ों मनुष्य आत्माके ज्ञानका अभाव होनेसे ही अज्ञानमें निमग्न रहते हैं । रघुकुलतिलक ! मुक्ति होनेपर इस संसारमें विज्ञानामन्दधन परमात्माकी प्राप्ति सदा ही बनी रहती है, इसलिये आत्मा-अनात्माके यथार्थ विवेक-विज्ञानको प्राप्त करके करोड़ों मनुष्य विमुक्त हो जुके हैं । ज्ञानसे मुक्ति सुलभ है और अज्ञानसे दुर्लभ । अतः जिसकी मुक्तिकी अभिलाषा हो, उसे आत्मज्ञानके लिये प्रयत्न करना चाहिये । आत्मज्ञानसे समूर्ण हु. खोका सर्वथा विनाश हो जाता है । इस वर्तमान कालमें भी रागशून्य, भयरहित महाबुद्धिमान् राजा सुहोत्र और जनक आदिके समान अनेक जीवन्मुक्त महापुरुष विद्यमान हैं । इसलिये श्रीराम ! तुम भी ज्ञान-वैराग्यसे उत्पन्न धीरबुद्धिसे युक्त, मिट्टीके ढेले, पथर और सुवर्णमें समदृष्टि तथा जीवन्मुक्त हुए विचरण करो ।



जनकका तमालकी झाड़ीमें छिपे सिद्धोंके गीत-शब्दण  
(उपशम-प्रकरण सर्ग ८)



खुनन्दन ! इस लोकमें देहधारी जीवोंकी दो प्रकारकी मुक्ति होती है—एक तो सदेह मुक्ति और दूसरी विदेह-मुक्ति । अब तुम इनका विमाग सुनो । निष्पाप श्रीराम । पदार्थों ( विषयों )-के असङ्गसे जो मनकी शान्ति होती है, वही विमुक्तता है । वह विमुक्तता देहके रहते हुए और देहावसान होनेपर ही होती है । जो विद्वान् विषय-स्नेह-से रहित होकर जीता है, वह जीवमुक्त कहलाता है

एवं जो विषय स्नेहसे युक्त होकर जीता है, वह बद्ध कहलाता है । इन दोनोंसे मिन्न तीसरा जो देहत्यागके पश्चात् ब्रह्ममें विलीन हो जाता है, वह निःही तो मुक्त है ही । इसलिये मनुष्यको मोक्षके लिये युक्त और प्रयत्नपूर्वक साधन करना चाहिये । युक्त और प्रयत्नके विना तो गायका खुर टिके, इतनी भूमि भी नहीं लौंघी जा सकती ।

( सर्ग ७५ )

### शीरूप तरङ्गसे युक्त संसारखण्डी समुद्र, उससे तरनेके उपाय और तरनेके अनन्तर सुखपूर्वक विचरणका वर्णन, जीवन्मुक्त महात्माओंके गुण, लक्षण और भविमा

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! यह जगत् ब्रह्मसे ही उत्पन्न होता है, अविवेकसे स्थिरताको प्राप्त होता है और परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे निश्चय ही प्रशान्त हो जाता है; क्योंकि परमात्माका यथार्थ ज्ञान न होना ही संसारकी स्थितिमें कानून है और परमात्माका यथार्थ ज्ञान ही उस संसारके चिनाशमें कानून है । यह संसार-सागर ऐसा घोर है कि इससे पार हो जाना अत्यन्त दुःखर है; युक्ति और प्रयत्नके विना इसका तरण नहीं किया जा सकता । यह संसारखण्डी सागर है । इसमें मुग्ध अङ्गनाखण्डी विस्तृत तरहें हैं । ये जीरूपी तरङ्गे ओठोंकी शोभाखण्डी पश्चारग-भण्योंसे युक्त, नेत्रखण्डी नील-कल्पत्रोंसे परिपूर्ण, सित-खण्डी फेनोंसे द्वृशोभित, दौतखण्डी प्रफुल्लिन पुष्पोंसे अलंकृत, केशखण्डी इन्द्रनीलभण्योंसे द्वृसजित, भौंहोंके विलासखण्डी वायुसे आन्दोशित, नितमध्यखण्डी पुलिनोंसे युक्त, कण्ठखण्डी शङ्खोंसे विमूषित, छलाटखण्डी मणिसमूहोंसे द्वृशोभित, किलासखण्डी प्राहोंसे सकुल, कटाक्षोंकी चपलताके कारण अति गहन तथा देहकानितखण्डी सुन्दर-बालुकासे युक्त हैं । इस प्रकारकी अति चक्षुल छहरियोंके कन्दरण जो अस्थन्त भयंकर है—ऐसे सागरमें निमन हुआ पुरुग यदि पार हो जाय तो वह परम पुरुगार्थ ही है । शुद्ध और तीक्ष्ण युक्तिखण्डी वस्त्री नौका और विचारपूर्वक विवेकखण्डी

नात्रिकके रहते हुए भी जो मनुष्य इस संसार-सागरसे पार नहीं हुआ, उस पुरुगको धिक्कार है । श्रीराम ! जो मनुष्य श्रेष्ठ पुरुगोंके साथ परमात्मका विचार फलके तथा बुद्धिसे संसार-सागरका तस्व समशक्त जगत्-में विचरण करता है, वही वास्तविक शोभा पाता है । इस संसारमें हुम धन्य हो, जो इस बाल-अवस्थामें ही विवेकयुक्त बुद्धिसे इस संसारके विषयमें विचार करते हो । जिसने तत्त्वको जान लिया है, उस पुरुगके बल, बुद्धि और देव उसी प्रकार बढ़ते हैं, जिस प्रकार वसन्त अङ्गुमें शूक्रोंके सौन्दर्य आदि गुण बढ़ते हैं । खुनन्दन ! हुम जानने योग्य वस्तुको जानते-हो । इस कारण हम समय हुम विन्मय धनीभूत आनन्दामृत रसायनसे परिपूर्ण सुशीतल ( त्रिविध तापोंसे रहित ), विशुद्ध और सम शोभासे पूर्ण चन्द्रमाकी तरह अत्यन्त सुशोभित हो रहे हो ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—मुनिवर ! जिसने ग्रहतत्त्वखण्ड चमक्षारका अपरोक्ष साक्षात्कार कर लिया है, ऐसे तत्त्वज्ञानी पुरुगका उदार चरित्र आप मुझसे सारखण्डमें छहिये; क्योंकि आपके क्वचनोंसे चुप्ति किसको हो मिलती है ।

श्रीवसिष्ठजी योले—महाबाहु श्रीराम ! अनेक बार मैंने हुमसे जीवमुक्तके लक्षण कहे हैं, जिसे भी मैं तुमसे कह रहा हूँ; मुझों । जिसकी समस्त अभिन्नपाँ

निकल गयी है, ऐसा आत्मशान् ( तत्त्ववेत्ता ) पुरुष उपरत हुआ ही इस दृश्यमान अखिल जगत्को सर्वत्र सदा असत्-सा देखता है। जिसने आत्मशान ग्रास कर लिया है और जिसका मन विक्षेपरहित—शान्तियुक्त हो गया है, वह कैवल्यको प्राप्त महापुरुष आनन्दमें मान हुआ रहता है। शान्त बुद्धिसे सम्पन्न ज्ञानी महात्मा अन्तरात्मामें लीन दृष्टिसे जनताके व्यक्तिगतोंको यन्त्रनिर्मित कठपुतलीके खेलके समान देखता है। तत्त्ववेत्ता पुरुष न मविष्टकी परता करता है, न वर्तमानमें किसी पदार्थमें तन्मय होता है, न भूतकालीन वस्तुका स्मरण करता है और सब कुछ करता हुआ भी निर्लेप रहता है। तत्त्वज्ञानी सोता हुआ भी आत्मज्ञानमें जागता रहता है और जागता हुआ भी संसारसे निःस्पृह तथा उपरत रहता है। वह सब कुछ करता हुआ भी कर्त्तापनके अभिमानसे रहित होनेके कारण कुछ भी नहीं करता। सम्पूर्ण संसारकी आसक्तिसे शून्य और सदा-सर्वदा सम्पूर्ण कामनाओंसे रहित तत्त्ववेत्ता महात्मा सब कार्योंको करता हुआ भी समझावसे स्थित रहता है। वह तत्त्वज्ञ पुरुष उदासीन मनुष्यकी तरह स्थित रहता है। वह प्रारब्धानुसार ग्रास हुई क्रियाओंमें न इच्छा करता है, न ह्रेप करता है, न शोक करता है और न प्रसन्न होता है। तत्त्वज्ञ महात्मा जब अपने सुखसे बाणीको प्रवृत्त करता है, तब पवित्र कल्याणोंको ही कहता है। उसका अन्तःकरण दीनतासे रहित रहता है। वह धीर बुद्धिवाला, प्रत्यक्ष आनन्दमें मान तथा दक्ष होता है और लोकमें उसके पुण्य चरित्रोंका वर्णन होता है। तत्त्वज्ञ उदार-चरित एवं उदार आकारसे युक्त, सम, सौम्य, सुखका समुद्र एवं सुखिग्न होता है; उसका स्पर्श शान्तिमय होता है और वह पूर्णचन्द्रकी तरह नित्य उदित रहता है। उसका न आवश्यक कर्मोंके तथा ऐहिक और आमुषिक फलके हेतुरूप कर्मोंके आरम्भसे, न कर्मोंके अभावसे, न अन्धनसे,

न मोक्षसे, न पातालसे और न सर्गसे ही प्रयोजन होता है; क्योंकि सम्यक्-ज्ञानरूपी अग्निसे जिसके सदैहरूपी जाल विनष्ट हो गये हैं, उस तत्त्वज्ञ महात्माने समस्त जगत्की खरूपमूल अद्वितीय परमात्मरूप यथार्थ वस्तुको भली प्रकार जान लिया है।

जिसका अन्तःकरण भान्तिसे रहित होकर समतारूप ब्रह्मके खरूपमें स्थित हो गया हो, वह आकाशकी तरह सभी दृष्टियोंमें न मरता है और न जन्मता है। देश और कालके अनुसार ग्रास हुई क्रियाओंमें स्थित हुआ भी वह कर्मोंसे जनित सुख और दुःखकी ग्रासिमें तनिक भी विकारान् नहीं होता। वह ग्रास हुई दुःखावस्थाकी उपेक्षा नहीं करता और न सुखावस्थाकी परवा ही करता है। न कार्योंके सफल होनेपर हर्षित होना है और न कार्योंके विनष्ट होनेपर खिन्न होता है। यदि सूर्य शीतल हो जाय, चन्द्रमा तपने लग जाय, अग्नि अधोसुख होकर जले लगे, तो भी ( इस प्रकारकी विपरीत घटनाएँ होनेपर भी ) तत्त्वज्ञानी महात्माको आश्वर्य नहीं होता; क्योंकि तत्त्वविद् पुरुष यह जानता है कि चिन्मय परज्ञान परमात्माकी ये असीम मायाशक्तियों इस प्रकार प्रस्तुरित हो रही हैं। इसलिये आश्वर्य-समूहोंके छोनेपर भी उसको आश्वर्य नहीं होता। वह कभी भी दीनतायुक्त नहीं होता, न कभी उद्घट होता है तथा न कभी उन्मत्त, खिन्न, उद्विग्न और हर्षित ही होता है। अर्थात् इन सब विकारोंका उसमें अस्तन्त अभाव होता है। उस परमात्मग्रास पुरुषके आकाशकी तरह अत्यन्त निर्मल, विशाल चित्तमें कोप आदि विकार उत्पन्न नहीं होते। सुख-दुःख दोनोंके क्षीण हो जानेसे उसके लिये हेय और उपादेय तथा शुभ और अशुभका भी विनाश हो जाता है; ऐसी स्थितिमें अनुकूल और प्रतिकूल कैसे रह सकते हैं। श्रीराम। तिलोंके मस्त हो जानेपर तेलकी कल्पना ही कैसे हो सकती है। इसी प्रकार मूलसहित मनके विनष्ट हो जानेपर संकल्पकी चर्चा ही

क्या है । रघुनन्दन ! परमात्मा से पृथक् कोई भी प्रदार्थ नहीं है, इस प्रकारकी हड़ भावनाके कारण समस्त दृश्य पदार्थोंके संकल्प-विकल्पका अभाव करके सर्वव्यापी सत्त्वानन्दवान् होकर स्थित रहता है । ( सर्ग ७६-७७ )

### चित्तके स्पन्दनसे होनेवाली जगत्‌की आनिता, वित्त और प्राण-स्पन्दनका स्वरूप तथा उसके निरोधरूप योगकी सिद्धिके अनेक उपाय

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! जैसे रात्रिमें जल्दी हुई छुकाईको गोल घुमानेसे अग्निमय वक्र असत् होते हुए भी सद-सा दिखायी पड़ता है, वैसे ही वित्तके संकल्पसे असत् जगत् सत्-सा दिखायी पड़ता है । जैसे जलके चारों ओर घूमनेसे जलसे पृथक् गोल—नाभिके आकारका आकर्ता ( मैवर ) हिखायी पड़ता है, वैसे ही वित्तके संकल्प-विकल्पसे जगत् दिखायी पड़ता है । जैसे आकाशमें नेत्रोंके दोपसे असत् मोरके पख और मोतीके समूह सत्य-से दिखायी पड़ते हैं, वैसे ही वित्तके संकल्पसे असत् जगत् सत्य-सा दिखायी पड़ता है । रघुनन्दन ! जैसे शुक्लव और हिम, जैसे तिल और टेल, जैसे पुष्प और सुगन्ध तथा जैसे अग्नि और उष्णता एक दूसरेसे मिले हुए और अग्निमरुप हैं, वैसे ही वित्त और संकल्प एक दूसरेसे मिले हुए और अग्निमरुप हैं । उनके भेदकी वेदल मिथ्या कल्पना की गयी है । वित्तके विनाशके लिये दो उपाय शास्त्रोंमें विस्तारये गये हैं—एक योग और दूसरा ज्ञान । चित्तमृतिका निरोध योग है और परमात्माका यथार्थ अपरोक्ष साक्षात्कार ही ज्ञान है ।

श्रीरामजीने पूछा—ज्ञान् । प्राण और अपानके निरोधरूप योग नामकी किस युक्तिसे और क्ळृप्त अनन्त सुखको देनेवाली परम शान्तिको प्राप्त करता है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! जैसे जल पृथक्षीमें चारों ओरसे प्रवेश करके व्याप्त होता है, वैसे ही इस वेदमें विद्यमान असंख्य नाडियोंमें चारों ओरसे जौ वायु प्रवेश करके व्याप्त होता है, वह प्राणवायु है । स्पन्दनके कारण भीतर क्रियाके वैचित्र्यको प्राप्त हुए उसी प्राणवायुके

सत्त्वानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे स्थित ज्ञानी महात्मा नियमित तथा अपने निरतिशयानन्दस्वरूपसे आनन्दवान् होकर स्थित रहता है । ( सर्ग ७६-७७ )

अपान आदि नामोंकी योगी—विवेकी पुरुषोंने कल्पना की है । जैसे सुगन्धधना पुष्प तथा जैसे शुक्लाका हिम आधार है, जैसे ही वित्तका यह ग्राण आधार है । प्राणके स्पन्दनसे वित्तका स्पन्दन होता है और वित्तके स्पन्दनसे ही परमात्माकी अनुभूतियों होती है, जिस प्रकार जलके स्पन्दनसे चक्रकी तरुण गोल आकारकी रचना करनेवाली लहरें उत्पन्न होती हैं वित्तका स्पन्दन प्राण-स्पन्दनके अधीन है । अतः प्राणका निरोध करनेपर मन अवश्य उपशान्त ( निरुद्ध ) हो जाता है—यह बात वेद-शास्त्रोंको जानने-शाले विद्वान् कहते हैं । मनके संकल्पका अभाव ही जानेपर यह संसार विलीन हो जाता है ।

श्रीरामजीने पूछा—महाराज ! वेदरूपी घरमें स्थित हृदयादि स्थानोंमें विद्यमान नाडीखण्डी छिद्रोंमें निरन्तर संचरण करनेवाले तथा मुख, नासिका आदि छिद्रोंमें निरुत्तर गमनागमनशील प्राण आदि वायुओंका स्पन्दन कैसे रोका जा सकता है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! शास्त्रोंके अध्ययन, सुखरूपोंके सङ्ग, वैराग्य और अभ्याससे सांसारिक दृश्य पदार्थोंमें सत्ताका अभाव समझ लेनेपर विकालपर्यन्त एकत्रानतामूर्खक अपने हृष्टदेवके ध्यानसे और एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके खलूपमें स्थितिके लिये तीव्र अभ्याससे ग्राणोंका स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है । सुखरूपके रेतक, पृथक् और कुम्भक आदि प्राणायामोंके द्वारा अभ्याससे तथा एकान्त ध्यानयोगसे प्राणवायु निरुद्ध हो जाता है । उच्चारका उच्चारण और उच्चारके अर्थका चिन्तन करनेसे बाह्य विद्योंके ज्ञानका अभाव हो जानेपर प्राण-

वायुका स्पन्दन रुक जाता है। रेचक प्राणायामका इह अभ्यास करनेसे विशाल प्राणवायुके बाहा आकाशमें स्थित हो जानेपर नासिकाके छिद्रोंको जब प्राणवायु स्पर्श नहीं करता, तब प्राणवायुका स्पन्दन रुक जाता है। इसीका नाम बाह्यकुम्भक प्राणायाम है। पूरकका इह अभ्यास करते-करते पर्वतपर मेघोंकी तरह हृदयमें प्राणोंके स्थित हो जानेपर जब प्राणोंका संचार शान्त हो जाता है, तब प्राण-स्पन्दन रुक जाता है। इसीका नाम आम्यन्तर-कुम्भक प्राणायाम है। कुम्भकी तरह कुम्भक प्राणायामके अनन्तकालतक स्थिर होनेपर और अभ्याससे प्राणका निश्चल स्थान्त हो जानेपर प्राणवायुके स्पन्दनका निरोध हो जाता है। इसीका नाम स्तम्भवृति प्राणायाम है।\*

\* रेचक, पूरक और कुम्भक—इन तीनों प्राणायामोंका योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलिने इस प्रकार वर्णन किया है।

तसिन् सति शासप्रशासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ।

( योग० साधन० ५९ )

‘आसन उद्ध द्वेषके बाद खाल और प्रश्नासनी गतिका रुक जाना ‘प्राणायाम’ है। तास्य यह कि प्राणवायुका शरीरमें प्रविष्ट होना शास्त्र है और बाहर निकलना प्रश्नास है। इन दोनोंकी गतिका रुक जाना—प्राणवायुकी गमनागमनरूप क्रियाका बंद हो जाना ही प्राणायामका समान्य लक्षण है।

इस प्राणायामके तीन मेद हैं—

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देष्कालसंख्याभिः परिहस्तो दीर्घसूक्ष्मः ।

( योग० साधन० ५० )

‘उक्त प्राणायाम बाह्यवृत्ति, आम्यन्तरवृत्ति और स्तम्भवृत्ति—ऐसे तीन प्रकारका होता है तथा वह देश, काल और संख्याद्वारा देखा जाता हुआ लंबा और इक्का होता जाता है।’

प्राणवायुको शरीरसे बाहर निकालकर बाहर ही कितने कालतक सुखपूर्वक—रुक सके, रोषे रखना और साथ-नी-साथ इस दातकी भी परीका करते रहना कि वह बाहर आकर कहाँ उड़ा है, कितने समयतक उड़ा है और उतने समयमें स्वामाविक प्राणकी गतिकी किसी दंख्या होती है—यह ‘बाह्यवृत्ति प्राणायाम’ है। इसे रेचक भी कहते हैं; क्योंकि इसमें रेचनपूर्वक प्राणको रोका जाता है। अभ्यास करते-करते यह दीर्घ ( लंबा ) बहुत कालतक रुके रहनेवाला और स्तम्भ ( इक्का )—अनायासदात्य हो जाता है।

जिह्वाके द्वारा तालुके मध्यभागमें रहनेवाली घण्टिकाको प्रथलपूर्वक स्पर्श करनेसे जब प्राण ऊर्ध्वरन्त्रमें ( ब्रह्मन्त्र अर्थात् कपाल-कुहरमें, जो मुषुम्णाके ऊपरी भागका द्वारा कहा जाता है ) प्रविष्ट हो जाता है, तब प्राणवायुका स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है। समस्त संकल्प-विकल्पोंसे रहित होनेपर कोई भी नाम-रूप नहीं रहता, तब आम्यन्तर स्तम्भ विन्मय-आकाशरूप परमात्माके ध्यानसे बाह्याभ्यन्तर सारे विषयोंके विलीन हो जानेपर प्राणवायुका स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है। † नासिकाके अग्रभागसे लंकर बारंह औरुल-

प्राणवायुके भीतर ले जाकर भीतर ही कितने कालतक सुखपूर्वक रुक सके, रोके रखना और साथ-साथ यह देखते रहना कि आम्यन्तर देशमें कहाँतक जाकर प्राण रुकता है, वहोंने कालतक सुखपूर्वक उड़ाता है और उतने समयमें प्राणकी स्वामाविक गतिकी किसी दंख्या संख्या, होती है—यह ‘आम्यन्तरवृत्ति प्राणायाम’ है। इसे ‘पूरक’ प्राणायाम भी कहते हैं; क्योंकि इसमें शरीरके अंदर ले जाकर प्राणको रोका जाता है। अभ्यासवल्लभे यह भी दीर्घ और स्तम्भ होता जाता है।

शरीरके भीतर जाने और बाहर निकलनेवाली यो प्राणोंकी स्वामाविक गति है, उसे प्रथलपूर्वक बाहर या भीतर लाने व्यथवा ले जानेका अभ्यास न करके प्राणवायु स्वभावसे बाहर निकला हो या भीतर गया हो—नहीं हो वही उसकी गतिको स्वामित्व कर देना ( रोक देना ) और यह देखते रहना कि प्राण किस देशमें रुके हैं, कितने समयतक सुखपूर्वक रुके रहते हैं, इस समयमें स्वामाविक गतिकी किसी दंख्या होती है—यह ‘स्तम्भवृत्ति प्राणायाम’ है; इसे ‘कुम्भक’ प्राणायाम भी कहते हैं। अभ्यासवल्लभे यह भी दीर्घ और स्तम्भ होता है।

† इस प्राणायाम का वर्णन योगदर्शनमें यो किया गया है—

बाह्याभ्यन्तरविषयात्मेषी चतुर्थः । ( योग० साधन० ५१ )

‘बाहर और भीतरके विषयोंका त्याग कर देनेसे अपने-आप होनेवाला चौथा प्राणायाम है।’

मात्र यह है कि बाहर और भीतरके विषयोंके चिन्तनका त्याग कर देनेसे—इस समय प्राण बाहर निकल रहे हैं था भीतर जा रहे हैं अथवा चल रहे हैं कि उड़े हुए हैं, इस जानकारीका त्याग करके मनको परमात्मामें लगा देनेसे देश, काल और संख्याके जानके बिना ही अपने-आप जो प्राणोंकी गति जिस किरी देशमें रुक जाती है, वह चौथा प्राणायाम है। यह अनायास होनेवाला शब्दयोगका प्राणायाम है।

पर्यन्त निर्मल आकाशभागमें नेत्रोंकी लक्ष्यमूल संवित्तदृष्टि ( वृत्तिहान ) - के शान्त हो जानेपर अर्थात् नेत्र और मनकी वृत्तिको रोकनेसे प्राणका स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है ।

अभ्याससे यानी योगशास्त्रोंने प्रदर्शित पवन-निरोधके अभ्याससे उर्जारूपके द्वारा ( सुषुम्नामार्गसे ) तालुके ऊपर जो ब्रह्मलन्ध है, उसमें स्थित प्राणवायु जब बिलीन हो जाता है, तब प्राणवायुका स्पन्दन रुक जाता है । मुकुटीके मध्यमें चक्र-हन्त्रियकी वृत्तिके शान्त होनेसे आकाशक्रमें ग्राणोंके बिलीन हो जानेपर जब चिन्मय परमात्माका अनुग्रह हो जाता है, तब प्राणोंका स्पन्दन रुक जाता है । इस्तरके अनुग्रहसे तुरंत उत्पन्न हुए द्विमूल तथा समस्त विकल्पांशोंसे रहित परमात्मज्ञानके हो जानेपर प्राणोंका स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है । मननशील श्रीरामजी ! हृदयमें स्थित एकमात्र चिन्मय आकाशस्तरूप परमात्माके ज्ञानसे, विषय-वासनाके अभावसे और मनके द्वारा परमात्माका निरुत्तर च्यान करनेसे प्राणोंका स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है ।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—ब्रह्मन् ! इस जगत्में प्राणियोंके उस हृदयका स्वरूप क्या है, जिसमें यह सब दर्पणमें प्रतिविम्बकी तरह स्फुरित होता है ?

श्रीकृष्णजीने कहा—श्रीराम ! इस जगत्में प्राणियों-के दो प्रकारके हृदय हैं—एक उपादेय और दूसरा हैय । अब तुम इनका विभाग सुनो । इयत्तारुपसे परिच्छिन्न इस देहमें वृक्षःखलके भीतर वृक्षीरके एक देशमें स्थित जो हृदय है, उसे तुम हेय हृदय जानो । चेतनमात्रस्तरूपसे स्थित हृदय ( परमात्मा ) को उपादेय कहा गया है । वह परमात्मा सबके भीतर और बाहर है और भीतर एवं बाहर नहीं भी है । अर्थात् संसारके प्रतीतिकालमें तो परमात्मा उसके भीतर और बाहर—सब जगह परिषूर्ण है और वास्तवमें वह संसारके भीतर-बाहर नहीं है; क्योंकि संसारका अत्यन्त अमात्र है ।

आतः परमात्मा ही अपने आपमें नित्य स्थित है । वह उपादेय परमात्मा ही प्रधान हृदय है । उसीमें यह समस्त जगत् विद्यमान है, वही समस्त पदार्थोंका दर्पण है अर्थात् उसीमें यह संसार दर्पणमें प्रतिविम्बकी ज्यों संकल्परूपसे स्थित है और वही समूर्ण सम्पत्तियोंका कोष है । श्रीराम ! चेतन परमात्मा ही सभी प्राणियोंका हृदय कहा जाता है । वह और जीर्ण पत्थरके सदृश देहके अवयवका मास-खण्डरूप एक अश वास्तविक हृदय नहीं है । इसलिये चेतनस्तरूप विशुद्ध हृदय—परमात्मामें वासनाओंसे रहित होकर बल्यूर्बक वितको लगानेसे प्राणका स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है । इन पूर्वोंक उपार्थोंसे तथा अन्यान्य अनेक तत्त्वह आचार्योंके मुखसे उपदिष्ट नाना संकल्पोंसे कल्पित उपार्थोंसे प्राण-स्पन्द निरुद्ध हो जाता है । ये पूर्वोंक योगशिरपक युक्तियों अभ्यासके द्वारा ही श्रेष्ठ साधकके लिये संसारका उच्छेदन करनेमें बाधारहित उपाय हैं । श्रू, नासिका, तालुसत्यान तथा कण्ठाप्र-प्रदेशसे लेकर बारह अद्युल-परिमित प्रदेशमें अभ्याससे प्राण लीन हो जाता है अर्थात् प्राणोंका निरोग हो जाता है । अभ्याससे ही पुरुष आत्माराम, वीतशोक तथा परमात्माकी प्राप्तिरूप भीतरी सुखसे पूर्ण होता है । उस परमपदरूप परमात्मामें यह समस्त जगत् विद्यमान है; उससे यह सब उत्पन्न हुआ है, वह समस्त जगत्का खखूपमूल है और वह इस जगत्के चारों ओर विद्यमान है । किंतु वास्तवमें उसमें न तो यह हृदयमान समस्त जगत् विद्यमान है, न यह उससे उत्पन्न हुआ है और न जगत् उसका खखूप ही है । वास्तवमें इस प्रकारका जगत् है ही नहीं, प्रस्तुत वह परमात्मा खय ही अपने आपमें स्थित है । श्रीराम ! जो महाबुद्धिमान् ज्ञानी महात्मा पुरुष सभी सीमाओंके अन्तरूप उस परमपदका अश्वलश्वन करके स्थित रहता है, वह स्थितप्रब्रह्म, तत्त्ववेत्ता, जीवन्मुक्त कहलाता है । जिस महात्माकी समस्त कानोगम्भीर्यों

इच्छाएँ निवृत्त हो गयी हैं, जिसका समूर्ण पदार्थोंमें और विशदसे रहित तथा सम हो गया है एवं जिसका अनुशूलना और प्रतिकूलतारूप संकल्प निवृत्त हो गया मन शान्त हो चुका है, वह महात्मा सब पुरुषोंमें है तथा जिसका अन्तकरण समस्त व्यक्तियोंमें हर्ष श्रेष्ठ है।

( सर्ग ७८ )

### चित्तके उपक्षमके लिये ज्ञानयोगरूप उपाय एवं विवेक-विचारके द्वारा चित्तका विनाश होने-पर ब्रह्मविचारसे परमात्माकी ग्रासि

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन् । उपर्युक्त दो उपायोंमें से आपने योग्युक्त पुरुषके विच-विनाशका ही निरूपण किया है । अब आप अनुग्रह करके मुझसे यथार्थ ज्ञानका सम्यक् प्रकारसे निरूपण कीजिये ।

श्रीवसिष्ठजी बोले—श्रीराम ! इस जगत्में आदि और अन्तसे रहित प्रकाशस्खरूप परमात्मा ही है—इस प्रकारका जो दृढ़ निष्ठय है, उसी निष्ठयको ज्ञानी महात्मागण सम्यक् ज्ञान यानी परमात्माके स्खरूपका यथार्थ ज्ञान कहते हैं । ये जो घट-पट आदि आकाशोंसे युक्त पदार्थोंके सैकड़ों समझ हैं, वे सब परमात्मस्खरूप ही हैं; उससे मिन्न अन्य कुछ नहीं है—इस प्रकारका दृढ़ निष्ठय ही परमात्माके स्खरूपका यथार्थ ज्ञान है । परमात्माका यथार्थ ज्ञान न होनेसे जन्म होता है और परमात्माके यथार्थ ज्ञान-से मोक्ष होता है । रञ्जुका यथार्थ ज्ञान न होनेसे रञ्जु सर्परूप प्रतीत होती है और उसका यथार्थ ज्ञान होनेसे रञ्जु सर्परूप नहीं प्रतीत होती यानी रञ्जु रञ्जुरूप ही द्रिखायी पड़ती है । इस मुक्तिमें संकल्पसे सर्वथा रहित, समस्त विषयोंसे रहित केवल चिन्मय परमात्मा ही सच्चिदानन्दरूपसे विराजमान रहता है; उससे अन्य कुछ भी नहीं रहता । इन तीनों लोकोंमें यथार्थ आध्यात्मिक इतना ही है कि यह सब जगत् परमात्मा ही है, ऐसा निष्ठय करके पुरुष पूर्णताको ग्रास हो जाय । उस परमात्मासे मिन्न न तो दृश्य जड़ जगत् है और न मन है । मैं ही यह दृश्य रूप बनकर चेष्टा कर रहा हूँ । समस्त ब्रह्माण्ड एक चिन्मय आकाशरूप विज्ञानानन्दधन ब्रह्म ही है; अन. क्या मोक्ष है और क्या बन्धन है ।

और विशदसे रहित तथा सम हो गया है एवं जिसका मन शान्त हो चुका है, वह महात्मा सब पुरुषोंमें है तथा जिसका अन्तकरण समस्त व्यक्तियोंमें हर्ष श्रेष्ठ है ।

जितने बड़े-से-बड़े पदार्थ हैं, उन सबसे भी ब्रह्म महान् है । जैसे क्षाप्त, पापाण और वक्ष आदि सब कुछ पृथी ही है—इस प्रकारका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर उनमें तनिक भी भेद नहीं रह जाता, वैसे ही परमात्माका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर परमात्मासे मिन्न कोई वस्तु नहीं रहती । रघुनन्दन ! आदि और अन्तमें जो अविनाशी, पूर्ण, शान्त-स्खरूप है, वास्तवमें वही सच्चिदानन्दधन परमात्मा है । जो महात्मा उस विशुद्ध परमात्माका अनुभव करके अन्तःस्थ बुद्धिसे सदा-सर्वदा स्थित रहता है, वह तत्त्वज्ञानी आध्यात्म पुरुष मोगोंके द्वारा बन्धनमें नहीं पड़ता । जैसे मन्द पवन पर्वतका भेदन नहीं कर सकते, वैसे ही जिस ज्ञानीने ग्रकाशमान परमात्माका पूर्णरूपसे अनुभव कर लिया है, उस तत्त्वज्ञके अन्तःकरणको काम आदि शान्त तनिक भी भेदन ( विचलित ) नहीं कर सकते । जैसे जलसे बाहर निकली हुई मछलीको बगुले निगल जाते हैं, वैसे ही इस संसारमें आशाओंमें निरत, मूँह, अज्ञानी और अविचारी पुरुषको दुःख निगल जाते हैं । श्रीराम ! जैसे अनेक प्रकारके सरोवरोंमें जल, फेन आदि जलसे पृथक् नहीं हैं, वैसे ही दृश्य जगत् ब्रह्मसे पृथक् नहीं है । केवल कल्पनाओंमें ही नानात्म है, वास्तवमें नानात्म नहीं है—इस प्रकार विवेकसूर्वक मलीभौति अर्थको जान लेनेवाला एक निष्वययुक्त ज्ञानी पुरुष विमुक्त कहा जाता है ।

श्रीराम ! आपने हृदयमें ब्रह्मनिष्पयक विचार करनेवाले विशेषकी वीतराग पुरुषकी सर्वदा सम्मुखस्थित सांसारिक भोगोंमें भी रुचि उत्पन्न ही नहीं होती । अथम नेत्र ! ज्ञानी

तुम आदिके सौन्दर्यरूपरूप रूपात्मक कीचड़का तुम आखादन मत करो । यह रूप क्षणमें ही बिनष्ट हो जानेवाला है और तुम्हें भी बिनष्ट कर देनेवाला है । नेत्र । जो उत्पत्ति-विनाशकील है और जो केवल देखने-मात्रमें ही रमणीय प्रतीत होता है, ऐसे मिथ्या रूप-सौन्दर्यका तुम उस अवश्यम्भावी मृत्युके मुखमें प्रवेश करनेके लिये आश्रय मत लो । जैसे वास्तवमें परत्पर असम्बद्ध मुख, दर्पण और प्रतिविम्ब एक दूसरेसे सम्बद्ध प्रतीत होते हैं, वैसे ही वास्तवमें परत्पर एक दूसरेसे असम्बद्ध रूप, प्रकाश और मन एक दूसरेसे सम्बद्ध प्रतीत होते हैं । जैसे दो काठ लाहके द्वारा एक दूसरेसे संश्लिष्ट हो जाते हैं, वैसे ही ये रूप, आलोक और संकरण्य आदि मनन चित्तकी कल्पनासे एक दूसरेसे संश्लिष्ट हो जाते हैं । अपने चित्तका संकल्प-विकल्पात्मक तथा विवेकशील बुद्धिके द्वारा यन्मूर्दक किये गये विवेक-विचाररूप अन्याससे बिनष्ट हो जाता है । किंतु उस तनुके नष्ट हो जानेपर खमालत, ही अशान-भावना प्रवृत्त नहीं होती । अहाम्-के विनाशसे क्षीण हुए मनमें किंतु ये रूप, आत्मेक और मनन—कोई भी एक दूसरेसे संबंधित नहीं होते । चित्त । तुम मिथ्या ही उछल-कूद मचाते हो । मैंने तुम्हारे उच्छेदके लिये उपाय बैठक निकाला है । तुम आदि और अन्त दोनोंमें नितान्त तुच्छ ( क्षणभूत ) हो, इसलिये वर्तमान कालमें भी बिनष्ट ही हो । तुम शन्दियोंसे सम्बद्ध शब्द आदि पौँच विषयोंके द्वारा अपने भीतर क्यों चूया उछल रहे हो ? जो मनुष्य तुम्हें अपना मानता है, उसीके सामने तुम उछल-कूद कर सकते हो । किंतु दुष्ट चित्त ! तुम्हारी उछल-कूदसे मुक्त तनिक भी प्रसन्नता नहीं होती । तुम रहो जाओ, तुम न तो मेरे हो और न तुम जीते हो । विचार करनेपर अपने मिथ्या सभावसे तुम सदा यूतक ही हो । तुम साररहित जड़, ज्ञान और

शठ हो । तुम्हारा आकार अत्यन्त विनाशकीय है । अशानखरूप तुम्हारे द्वारा अशानी पुरुषको ही वाघा पहुँच सकती है, विचारशाल् विवेकी पुरुषको नहीं ।

जगत्रूपी-चित्त-वेताल ! शठरूप तुम पहले ही नहीं थे, वर्तमान कालमें भी नहीं हो और आगे भी नहीं रहोगे । इस प्रकार तुम्हारी तीनों कालमें सत्ता नहीं है । विना हुए ही तुम कायम हो । तुम्हें क्या लजा नहीं आती ! चित्तरूपी वेताल ! तुण्डिरूपी पिशाचिनियों तथा क्रोध आदि गुद्धकोंके साथ तुम मेरे अग्रीरूपी धर्दे से बाहर निकल जाओ । वहे आकर्षणकी बाज है कि महान् जड़ एवं क्षणभूत शठ मनने इस समस्त जन-समूहको निकाल कर रखता है । अशानी दीन चित्त ! मैं आज तुमको मारता नहीं हूँ; क्योंकि तुम पहलेसे ही मर चुके हो, यह मैंने आज लिया है । चित्त मरा हुआ है; अतः उसका अदित्य ही नहीं है—यह मैंने आज आज लिया । इसलिये मैं चित्तके आश्रयका परिस्परण करके केवल अपने भालोमें ही स्थित हूँ । मनको देहरूपी घरसे क्षणमत्तें निकालकर मैं इस वेतालरूप मनसे रहित हो भीतरसे खस्त हुआ स्थित हूँ । भाग्यवत् ब्रह्मन कालके अनन्तर अब मैंने विचाररूपी तत्त्वारसे पीडिनकर चित्तरूपी वेतालको, जो ताल बृक्षके सट्टा ऊँचाहसे बुका है, हृदय-मन्दिरसे हटा दिया हूँ । चित्तरूपी वेतालके शान्त हो जाने और पवित्र पदवीकी प्राप्त कर लेनेपर अब उत्तम भाग्यसे शरीररूपी नगरमें केवल मैं सुखरूपक स्थित हूँ । विवेक-विचाररूपी मन्त्रसे भन, चित्ता और अहंकाररूपी राक्षसका विनाश हो गया । अब समस्त विषमताओंसे रहित मैं केवल अपने खल-पने ही स्थित हूँ । एक, इत्यन्य, नित्य, विशुद्ध-खलरूप तथा विर्विल्प सविदानन्दभन परमात्मरूप सुन्दरो बार-बार नमस्कार है । विकारग्रन्थ, नित्य, अंशगटित, सर्वखरूप तथा सर्वकालात्मक परमात्मरूप सुन्दरो बार-बार नमस्कार है । नाम और रूपसे रहित, प्रकाश

रूप, स्वयं आपने आपमें ही स्थित अद्वितीय सच्चिदानन्दधन परमात्मस्वरूप मुख्यको ही बार-बार नमस्कार है। मननरहित, सम, अस्थन सुन्दर समस्त विश्वका आविर्भाव करनेवाले, वास्तवमें विश्वरहित, अनन्त, स्वरूप, अजन्मा, जगरहित, समस्त गुणोंसे अतीत तथा अविनाशी विज्ञानानन्दधन परमेश्वरके स्वरूपको मैं प्रणाम करता हूँ।

रुचनन्दन ! जैसे आकाशमें दृष्टिदोषसे प्रतीत होनेवाला बुद्ध अमशय दृश्यरूपमें प्रतीत होता है, वास्तवमें वह विशुद्ध आकाशस्वरूप ही है, उससे पृथक् आकाश-वृक्ष नहीं है, वैसे ही चित्त अविषयमन, जड़ और मायाका कार्य होनेसे निश्चयरूपसे असद् ही है, वह परमात्मासे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है। जैसे नौकामें स्थित अज्ञानी बालकको तटशर्ता दृश्य और पहाड़में प्रतीत होनेवाली गति केवल भान्तिसे ही दिखायी पड़ती है, वैसे ही अज्ञानी मनुष्यको यह चित्त दिखायी पड़ता है। किंतु आत्मज्ञानी तत्त्वज्ञकी दृष्टिमें वह असन्मय

ही है—है ही नहीं। मेरे समस्त संदेह शान्त हो चुके हैं, समस्त चिन्ताओंसे रहित होकर मैं स्वानुभाष-से ही इच्छाओंसे रहित हुआ स्थित हूँ। मेरा चित्त भर गया, तुष्णाएँ हट गयीं और मैं मोह तथा अहंकारसे रहित हो गया। इससे मैंने आपने स्वामानिक—वास्तविक स्वरूपको जान स्थिया। जगत् शान्त होकर अद्वितीय परमपदस्वरूप ही हो गया और नानात्म वास्तवमें है ही नहीं। जीवत्वसे तथा आदि और अन्तसे रहित पवित्र परमपदको मैं प्राप्त हो गया हूँ। अतः मैं सौम्य, सर्वत्र व्यापक, अतिसूक्ष्म, समातन परमात्मस्वरूपसे स्थित हूँ। श्रीराम ! इस ग्रन्थकी बुद्धिसे तत्त्वज्ञानी पुरुषको खाते, चलते, सोते और स्थित रहते सदा-सर्वदा सर्वत्र प्रतिदिन भलीपूर्णति विचार करना चाहिये। जिनका अन्तःकरण प्रमुदित है, जिनकी शरदूष्यतुके चन्द्रमाकी तरह चमकीली मुखकान्ति है और जो प्राप्त हुए शाश्वानुभोदित व्यवहारोंमें विश्वार करते हैं, वे असीम बुद्धिवाले महापुरुष इस संसारमें मान और मदसे रहित हुए मुख्य-पूर्वक विचरण करते हैं। ( सर्ग ७२—८१ )

## वीतहृष्य महानिका एकाग्रताकी सिद्धिके लिये इन्द्रिय और मनको वोधित करना

श्रीवस्तिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! मैंने तुम्हें जिस विचारका दिग्दर्शन करया है, उस विचारको पहले विद्यान् संकर्त ( वृहस्पतिके छोटे भाई ) ने किया था। विन्याशब्द पर्वतके ऊपर उसी आत्मतत्त्वज्ञ संकर्तने उक्त विचारको मुझसे कहा था। अब तुम हस दूसरी दृष्टिका, जो परमपदको प्रदान करनेवाली है, अवण करो। इसी दृष्टिसे महामुनि वीतहृष्यने निश्चाक परमपदको प्राप्त किया था। एक समयकी बात है, महामुनि वीतहृष्य संसार-रूपी भ्रम प्रदान करनेवाले घोर आधि-व्याधिमय आकार-

युक्त सांसारिक क्रियाकलापोंसे वैराग्ययुक्त होकर विरक्त अवस्थाको प्राप्त हो गये और केवल निर्विकल्प समाधिसे प्राप्त होनेवाले परम उदार पश्चात् परमात्माको जाननेकी इच्छासे ही उक्त महामुनिने अपने सांसारिक व्यवहारोंका स्थान कल दिया। तदलन्तर महामुनि वीतहृष्यने स्वरचित पर्णकुटीमें प्रवेश किया। उस पर्णकुटीमें अपने द्वारा विद्याये गये सम और शुद्ध आसनपर बैठं गये। फिर बाद और आम्नतर विपर्योक्ता परिस्थित्यां करते हुए उन महामुनिने विशुद्ध मनसे क्रमशः इस प्रकार विचार



किया—‘कितने आश्वर्यकी बात है कि यह अस्थन्त चक्षुल मन किसी एक निश्चित विषयमें लगाया जानेपर भी क्षणभर भी उसी प्रकार स्थिर नहीं होता, जैसे तख्तोंके द्वारा बहुप्रया गया पता स्थिर नहीं होता। मन छठसे पटके ऊपर और पटसे उच्छृंठ शक्टके ऊपर कूद जाता है। यो यह चित्र विषयोपर उसी प्रकार दौड़ता है, जिस प्रकार वृक्षोंके ऊपर ब्रह्म दौड़ता है। इन्द्रियगण ! तुम लोग मनके ही अलग-अलग द्वार हो, अतएव निश्चित ही अध्रम और जड़ हो। मैं तो संविदानन्दधन परमात्म-खलूपमें स्थित हुआ साक्षीरूपसे सब बुद्ध कह रहा हूँ। चक्षुरादि इन्द्रियगण ! आकारसे रहित तुमलोग मेरे साफने मिथ्या ही उछल-कूद कर रहे हो। तुमलोग अलातचक्कके सदृश और रख्जुमें सर्पभ्रमके सदृश मिथ्यारूप ही हो। जैसे सपेंसि डरा हुआ पथिक उनसे दूर रहता है, वैसे ही दोषरहित चेतन आत्मा इन्द्रियोंसे सर्वथा दूर रहता है। इन्द्रियगण ! केवल चेतन सत्ताकी संनिषिद्धि ही तुम लोगोंकी परस्पर चेष्टा होनी रहती है।

‘मूर्ख मन ! मैं चेतन हूँ। इस प्रकारग्यो तुम्हारी चासना मिथ्या और निरर्थक है; क्योंकि एक दूसरेरे अत्यन्त भिन्न धर्मताले चेतन और जड़ मनकी छक्का नहीं हो सकती। चित्र ! आहंकारके उत्पन्न होनेपर वह शरीर मैं ही हूँ। इस प्रकारका जो तुम मिथ्या अभिमान करते हो, उसे छोड़ दो। मूर्ख ! तुम बुद्ध भी नहीं हो; इसलिये क्यों व्यर्थ चक्षुल हो उटते हो ? ज्ञान-खलूप चेतन आत्मा अनादि और अनन्त है। उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। इसलिये महामूर्ख ! इस जीर्णमें चित्र नामबाले तुम कहांसे आये ? मूर्ख चित्र ! चक्षु आदि इन्द्रियाणोंका आश्रय करके तुम उपहासके पात्र मन बनो। तुम न तो कर्ता हो और न मोक्षा हो, किंतु जड़ हो। तुम अन्यके द्वारा—द्रष्टा-साक्षी आत्माके द्वाग जाने जाते हो। जो जड़खलूप है, उसका अस्तित्व ही नहीं। अतः उस जड़में ज्ञातापन, कर्तापन, भोक्तापन नहीं हो सकते। चित्र ! तुम स्वयं ही जड़खलूप हो, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। मत्रा, बनवाओ तो सही, जड़में कैसे कर्तापन रह सकता है। क्या यहाँ परमरक्ती भूर्तियों भी किसी प्रकार नाच सकती है ? जिसकी शक्तिसे जो किया जाता है, वह उसीके द्वाग किया हुआ होगा। पुरुषकी शक्तिसे दरती (हँसुआ) काटती है, पर काटनेवाला पुरुष कहन्हाना है। जिसकी शक्तिसे जिसका वध किया जाता है, वह उसीके द्वाग हत कहा जायगा। पुरुषकी शक्तिसे तत्त्वार हनन करती है, पर हनन करनेवाला पुरुष ही कहा जाना है। जिसकी शक्तिसे जो पिया जाता है, वह उसीके द्वाग पिया गया कहा जायगा। पात्रके द्वारा जड़ आदि पिये जाते हैं; पर जो मनुष्य है, वही पीनेवाला कहा जाना है, पात्र नहीं। मेरे प्यारे चित्र ! तुम स्वभावसे ही जड़ हो, पर उन्हीं सर्वज्ञ साक्षीके द्वारा बोधित होते हो; क्योंकि ज्ञानशब्द ही अपनेतो अपनेसे भोक्ता, भोग्य, करण, उपराग आदि जगत्के रूपमें सम्बन्धी ताढ़ रखता है। इनमें तुम

तत्त्वरहित हो, तुम मृढ़ हो और वास्तवमें तुम्हारा कोई अस्तित्व ही नहीं है। इसलिये तुम्हें ऐसे तत्त्वरूप ही हूँ ऐसा हुँ खदायी मिथ्याभाव नहीं करना चाहिये। वास्तवमें बाजीगरकी तरी हुई ऐन्ड्रजालिक लताके समान चित्तकी कल्पना मिथ्या है तथा इस प्रशाप्तमें एक विज्ञानानन्दधन ग्रसका स्वरूप ही सर्वत्र विराजमान है।

अज्ञानी चित्त ! वह परमपद सर्वत्र व्यापक, सारे पडायेंमें स्थित और सक्ता स्वरूप है। उसकी प्राप्ति हो जानेपर मनुष्यको सदा-सर्वदा सभी कुछ प्राप्त हो जाता है। चित्त ! उस समय न तो तुमरहते हो और न देह ही पृथक् रहता है; किंतु एक महान् प्रकाशस्वरूप, सच्चिदानन्दधन त्रैष ही अपने आपमें स्थित रहता है। स्वभावसे ही प्रकाशस्वरूप, सर्वत्र व्यापक, अद्वितीय चेतन परमात्माने ही इस समस्त प्रशाप्तको परिपूर्ण कर रखा है। इसलिये उसके सिवा दूसरी कोई कल्पना ही नहीं हो सकती। वही एक और अनेक—सबका प्रकाशक है, समस्तरूप है। उसी परमात्माने अपने आपमें संकल्पसे इस जगत्की रखना की है। ऐसी स्थितिमें कौन किसकी कैसे इच्छा करेगा ? किंतु चित्त ! तुम्हारे-जैसे मूर्खोंकी दृष्टिसे ही इस जगत्में व्यर्थ चक्षुलता उत्पन्न होती है, जिस प्रकार राजाकी छी-

को देखकर मूर्ख युवा पुरुषको मदमयी अङ्गुष्ठा उत्पन्न होती है। परंतु कल्पना और मननसे रहित आत्मामें कर्तृत्व कैसा ? क्या कहीं आकाशमें पुष्प किसी तरह उत्पन्न हो सकता है ? जैसे आकाशमें हाथ, पैर आदि अङ्ग हो ही नहीं सकते, वैसे ही आत्मामें कर्तृत्व हो ही नहीं सकता; जैसे समुद्रमें तम अङ्गार नहीं रह सकता, वैसे ही परमात्मामें दूसरी कोई कल्पना रह ही नहीं सकती। इस प्रकार जब परमात्मदेवमें कल्पनाका अभाव है तथा मन एवं देह जड़ है, तब विषेषकालिसे 'यह अन्य है, यह अन्य नहीं है; यह शुभ है, यह अशुभ है' इत्यादि असत् कल्पनाएँ नहीं रह सकती। ऐसी स्थितिमें सुन्दर चित्त ! विषयसे रहित चेतन परमात्मा ही सारभूत बस्तु है, दूसरी नहीं। चित्त ! जैसे आकाशमें कन नहीं है, वैसे ही पूर्वोक्त असत् कल्पनाएँ आत्मामें हैं ही नहीं। दृष्टिसे रहित चेतन ही इस जगत्के रूपमें विस्तृत हुआ है। इसलिये उसमें 'यह मै हूँ, यह अन्य है' इस प्रकारकी असत् कल्पनाएँ हो ही कैसे सकती हैं। अनादि, रूपरहित, सर्वगमी और व्यापक परमात्मामें कल्पनाओंका कौन कैसे आरोप कर सकता है ? क्या कोई आकाशमें ऋग्वेद आदिको लिख सकता है ?

( सर्ग ८२ )

### इन्द्रियों और मनके रहते समस्त दोषोंकी प्राप्ति तथा उनके शमनसे समस्त गुणोंकी और परमात्माकी प्राप्तिका वर्णन

बीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! मुनियोंमें श्रेष्ठ धीर वीनहव्य मुनिने विशुद्ध धारणासे युक्त दुष्किसे एकान्तमें स्थित होकर पुनः अपनी इन्द्रियोंको भणीमौति इस प्रकार सम्पाद्या—‘इन्द्रियगण ! मेरे पूर्खमें किंतु गये आत्मनन्दके उपदेशसे तुमलोगोंकी यह मिथ्याभूत सत्ता नष्ट ही हो गयी, ऐसा मै मानता हूँ; क्योंकि तुम अज्ञानसे उत्पन्न दुःख हो। चित्त ! तुम देखो कि तुम्हारं कायम रहनेसे अज्ञानी मूर्खोंके राग-

द्वेष आदि तरङ्गोसे युक्त संसाररूपी नदियोका समूह कालरूपी विशाल समुद्रमें प्रविष्ट हो रहा है। देखो ! एक दूसरोके अहंकारसे होनेवाले एक दूसरोके वथ, पराजय, उत्पीड़न आदिकी विन्ताओंसे युक्त दुःखकी पंक्तियाँ कहींसे उसी प्रकार गिर रही हैं, जिस प्रकार दृष्टिकी धाराएँ गिर रही हो। अपने विलासोंसे शब्द करता हुआ लोभरूपी पक्षी राग-द्वेषरूप अपने तीर्ण थोर-द्वारा इस जीर्ण शरीररूपी वृक्षके शम, दम आदि गुण-

समूहस्ती फल-पुष्पोंको कलर रहा है। अपवित्र, दृष्टि, आचरण करनेवाला कामरूपी कर्कश मुर्गा छद्यके रग-द्वेष आदि दोषरूप कूड़ेके ढेरको इधर-उधर बिस्तर देता है। मोहरूपी महारात्रिये भयावह अज्ञानरूपी उल्क छद्यरूपी वृक्षके ऊपर स्मशानमें खेतालकी भाँति चारों ओरसे प्रलाप कर रहा है। इनिश्याण। आप-लोगोंके विद्यमान रहनेपर ये और इनसे दूसरी भी बहुत-सी इच्छा, क्रमना, वासना, स्पृह आदि विज्ञुम श्रियों रात्रिये पिशाचिनियोंकी तरह उछल-कूद मचाती रहती हैं। चित्त। तुम्हारे विनाश होनेपर समता, शान्ति, सख्ती, क्षमा, दया आदि सम्पूर्ण कुभ श्रियों ज्ञानरूपी प्रकाशसे युक्त हो उसी प्रकार पूर्णरूपसे प्रफुल्लित हो उठती हैं, जिस प्रकार प्रातःकालमें कथलिनियों। अब मोहरूपी तुम्हारसे रहित, रजोगुणरूप रेणुसे शून्य, निर्मल ज्ञानके प्रकाशसे युक्त छद्यकाशरूप सञ्चिदानन्दवन ग्रस शोभित हो रहा है। आकाशमण्डलसे गिरनेवाली और वायु आदिसे आकृतिशृष्टिरात्रियोंकी तरह दुःखदायी विकल्प-समूह अब नहीं गिरते। सबको आहारित करनेवाली, शान्त, परम पवित्र मित्रता छद्यमें उत्पन्न हो रही है।

‘अज्ञानका विनाश होनेपर छद्यमें ज्ञानका प्रकाश उसी प्रकार प्रकट हो रहा है, जिस प्रकार शरस्कालमें भेदोंके शान्त हो जानेपर निर्मल आकाशमें सूर्यमण्डल प्रकट होता है। वायुके शान्त होनेपर समूद्र जैसे सम हो जाता है, वैसे ही प्रसन्न, विशाल, गम्भीरतासे सुक, शोभशून्य तथा रग-द्वेष आदि दोषोंसे रहित वशमें किम हुआ मन सम हो जाता है। परमात्माकी प्राप्तिरूप अभूत-प्रवाहसे पूर्ण तथा अविनाशी आनन्दसे सम्पन्न पुरुष शान्तिसे युक्त रहता है। बेवल सञ्चिदानन्द परमात्मामें विश्राम हो जानेपर परमात्माके सरूपका पूर्णरूपसे अनुमत्त हो जाता है। चित्त। तुम्हारा खरूप अविचारके कारण ही कायम है। विवेकार्थक विचार करनेपर तुम कायम नहीं रहते।

विनाश बेवल एक समस्तरूप परमात्मा ही भलीभाँति समभावसे स्थित रह जाता है। विचार न करनेपर तुम उसी प्रकार उत्पन्न होते हो, जिस प्रकार प्रकाशके न रहनेपर अन्धकार। चित्त। विचारसे तुम्हारा खरूप उमी प्रकार बिनष्ट हो जाता है, जिस प्रकार प्रकाशसे अन्धकार। क्योंकि जिसकी अविवेकसे उत्पत्ति होती है, उसका विवेकसे विनाश हो जाता है—जैसे प्रकाशक अभाव होनेपर अन्धकार हो जाता है। तुम्हारी इच्छा न रहनेपर भी विचारके द्वारा होनेपर सुखकी सिद्धिके लिये तुम्हारा चारों ओरसे यह विनाश प्राप्त हुआ है। ( अब बीताह्य सुनि अपनी स्थितिका वर्णन करते हैं— ) सौभाग्यवश मैं समस्त चिन्ता-ज्वरोंसे मुक्त हो गया हूँ, शान्त हो गया हूँ और चारों ओरसे तुस्त हो गया हूँ। मैं तुरीयपदरूप परमात्मसरूप अपनी आत्मा-में स्थित हो गया हूँ। इसलिये यह निष्ठय हुआ कि इस संसारमें जिसकी स्थिति विवेकार्थक विचार करनेपर कायम हो ही नहीं सकती, वह चित्त है ही नहीं, है ही नहीं। किंतु परमात्मा तो अवश्य ही है, अवश्य ही है। परमात्माको छोड़कर और कुछ भी उससे भिन्न है ही नहीं। सब प्रकारके मलोंसे रहित आत्माके अद्वर ‘यह आत्मा है’ इस प्रकारकी कल्पना ही नहीं हो सकती, यह मैं मानता हूँ; क्योंकि एक अद्वितीय आत्मामें इदरूपसे अन्य वस्तुकी सत्तासे होनेवाली कल्पना कैसे हो सकती है। इसी कल्पण ‘मैं यह आत्मा हूँ’ इस प्रकार कल्पना न करता हुआ मैं मौनी होकर उसी प्रकार अपने विज्ञानानन्दवन परमात्मसरूपमें स्थित हूँ, जिस प्रकार जलमें तरङ्ग। अतः उस वासनाशून्य, जीवके आश्रयसे रहित, प्राण-संचारसे रहित, भेदभावसे शून्य, दृश्यसे रहित, ज्ञानसरूप, मन और वाणीकी वेदासे शून्य विज्ञानानन्दवन परमात्माके प्राप्त करके मैं परम शान्त हूँ।

**बीतहृव्य महामुनिकी समाधि और उससे जागना, छः रात्रिक पुनः समाधि, चिरकालतक  
जीवन्मुक्त स्थिति, उनके द्वारा दुर्लभ-सुकृत आदिको नमस्कार  
और उनका परमात्मामें विलीन हो जाना**

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! इस प्रकार निर्णय फरके वे मुनिवर बीतहृव्य समस्त वासनाओंको छोड़कर विन्य पर्वतकी गुफामें समाधि लगाकर उसमें अचल स्थित हो गये । उस समय महामुनि बीतहृव्य



सब प्रकारके क्षोभसे शून्य परिपूर्ण चेतन शिक्षान आनन्दसे युक्त होनेके कारण अस्पत मुश्योभित हुए । उनका मन अस्पत्त विलीन हो गया था; अतएव वे ऐसे भले लगते थे, जैसे प्रशान्त समुद्र भले लगता है । जिस प्रकार ईंधनके जल जानेपर अग्निमें जालाओंका संचरण शान्त हो जाना है, वैसे ही उन महामुनिका प्राणसंचार क्रमशः भीतर हृदयमें ही शान्त हो गया । समाधिमें स्थित महामुनि बीतहृव्यके दोनों नेत्र पेसे दिखायी पड़ते थे, जैसे उनकी शृंति नासिकाके अप्रभागमें दोनों ओर बराकर फैली हुई हो । महाखुदि बीतहृव्यने अपने आसन-अन्धमें शरीर,

सिर और भ्रीवाको समानरूपसे रखकर था; इसलिये वे ऐसे जान पड़ते थे, जैसे पत्थरपर खोदी गयीं या चित्रमें लिखी गयी मूर्ति हो । श्रीराम ! विन्यासिके जिसी शरनेके निकट गुफामें इस प्रकारकी समाधिमें स्थित महामुनि बीतहृव्यके तीन सौ वर्ष आवे सुहृत्तीकी तरह अतीत हो गये । परमात्मामें स्थित ध्यान-निमग्न उन मुनिने जीवन्मुक्ताके कारण इतने कालके कुछ भी नहीं समझा और अपने उस शरीरका त्याग भी नहीं किया । योगके रहस्यको जाननेवाले परम भाग्यशाली वे, मुनि महान् मेघोंके चारों ओर फैलनेवाले शब्दोंसे, वर्सती हुई शृष्टिकी धाराओंके गिरनेसे उत्पन्न धर-धर शब्दोंसे, सिंहोंके बोधपूर्वक गर्जनोंसे, झरनोंकी दिव्यापी धर्वराहटसे, भयंकर वज्रपातोंसे, मनुष्योंके दृष्टि कोशलहृदयोंसे, भूकम्पके द्वारा छिन-मिन हुए पर्वत-तटोंकी हलचलोंसे तथा अग्निकी तरह कर्मसा श्रीम आदिके तपोंसे भी उतने समर्पितक समाधिसे जागे नहीं । थोड़े ही समयमें उस पर्वतकी गुफामें वशकि कीचड़इसे ढके हुए महामुनि बीतहृव्य पृथ्वीमें निमग्न-से प्रतीत होते थे । उस गुफाकी भूमिमें ये मुनि कीचड़से ल्यपथ होकर उसी प्रकार रहते थे, जिस प्रकार पर्वतके अंदर द्विल । तदनन्तर तीन सौ वर्ष बीत जानेपर पृथ्वीकी गुफामें दबे हुए वे निश्चानुग्रह-समर्थ तथा परमात्माको प्राप्त महामुनि खर्य ही समाधिसे जाग गये । राघव ! तपश्चात् महामुनि बीतहृव्यने सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मभाव होनेके कारण अनेक लोकोंका ब्रह्मरूपसे अनुभव किया और वर्तमान समयमें कर भी रहे हैं । श्रीराम ! आपका भी वह जगत् मनोमय, भ्रमतुल्य एवं परमार्थ-दशामें जिस प्रकार सचिदानन्दस्तर है, उसी प्रकार महामुनि बीतहृव्यका भी वह जगत् मनोमय,

भ्रमतुल्य एवं परमार्थ-दशामें सचिदानन्दस्तरूप है। जबकि इस प्रकार जगतको तत्त्वज्ञानद्वारा सचिदानन्द-रूप नहीं जाना जाता, तबकि वह दृढ़यमें अप्रसारकी तरह अत्यन्त दृढ़ रहता है; किंतु यथार्थरूपसे जान लिये जानेपर वह सचिदानन्दस्तरूप हो जाता है।

श्रीराम ! दिनकी समाधिके बाद मुनिने किर भी मनकी एकाग्रतारूप समाधिके लिये उसी पूर्व-परिचित विन्यासिकी गुफामें प्रवेश करके विचार किया—‘शरीर, सिर और ग्रीवाको समानरूपसे रखकर द्वासन होकर मैं पर्वतके विश्वरकी तरह अचल बैठता हूँ। मनसे परे, चारों ओर स्थित, परिपूर्ण समान सत्ता और परम समानरूप सचिदानन्दधन परमात्मामें विकारहित हुआ शाणुकी तरह मैं निष्ठ रहता हूँ।’ इस प्रकार विन्दन अस्ते हुए वे परमात्माके ध्यानमें छुँ; दिनतक फिर स्थित रहे। तदनन्तर उसी प्रकार समाधिसे जाग गये, जिस प्रकार सोया हुआ परिक जग जाता है। इसके बाद उन सिद्ध, महान् तपखी महात्मा वीतहृष्यने जीवन्मुक्त अपसामें स्थित हुए ही चिरकालतक यन्त्र-तत्र विचरण किया। ये महामुनि वीतहृष्य न तो किसी वस्तुकी सृजन करते थे और न कभी किसीकी निन्दा ही करते थे। वे प्रतिकूलकी प्राप्तिमें कभी उद्दिन नहीं होते थे तथा अनुकूलकी प्राप्तिमें हर्षित नहीं होते थे।

(अब वीतहृष्य मुनि अपनी इन्द्रियोंके प्रति कहते हैं—) ‘इन्द्रियाण ! अब तुमलोग विनाशको ही प्राप्त हो जाओ। तुम्हारी सारी अभिलाखाएँ निष्फल हो गयी हैं। अब आश्रमप्रहित तुमलोग मुझपर आक्रमण करनेमें समर्थ नहीं हो। अब विस्मरण करनेयोग्य इस जड़ दृढ़ संसारकी विस्मृति हो गयी है और स्मरण करने-योग्य परमात्माकी स्पष्टरूपसे स्मृति हो गयी है। जो सत्तरूप परमात्मा था, वह सत् ही रहा तथा जो जड़ दृश्यर्थी असत् था, वह असत् ही रहा।’

श्रीराम ! इस प्रकारके विचारसे युक्त हो वे महान्

तपसी मुनिश्वेष महात्मा वीतहृष्य अनेक वर्षोंतक इस लोकमें स्थित रहे। जिसके प्राप्त होनेपर पुनर्जन्मके लिये विन्दा विनष्ट हो जाती है और मूढ़ता दूर भग जाती है, उस विज्ञानानन्दधन परमात्मामें मुनि निरन्तर स्थित थे। त्यागने योग और ग्रहण करने योग पदार्थोंकी प्राप्ति हो जानेपर भी त्याग और ग्रहणकी बुद्धिका विनाश हो जानेके कारण महामुनि वीतहृष्यका अन्तःकरण हच्छा और अनिच्छासे रहित हो गया था।

(तत्पश्चात् वे फिर अपने मन-ही-मन विचार करने लगे—) ‘हुःख ! तुम्हारेद्वारा संताप हुए मैंने अत्यन्त आदरसे आत्मका अनुभव किया है; मुक्तको तुमने ही सचेत कराकर इस मोक्षमार्गका उपदेश दिया है। अतः तुम्हें मेरा प्रणाम है। आर्थ्य है कि प्राणियोंके सार्थोंकी अत्यन्त विलक्षण गति है, जो अज मैं भी सैकड़ों जन्मतक साथी रहकर अपने प्यारे मित्र इस शरीरसे अछा हो रहा हूँ। मातृरूप तूणो ! अब हम दोनोंका संयोगके कारण ही सदाके लिये वियोग हो रहा है। इसलिये तुम्हें प्रणाम है ! हुक्त (पुण्य)-देव ! आपको मैं प्रणाम करता हूँ। आपने ही पहले मेरा नरकोंसे उद्धार करके मुक्ते स्वर्गमें भेजा था। जिसके सम्बन्धसे मैंने दीर्घकालतक नाना योनियोंका उपभोग किया, उस अद्विनको मैं प्रणाम करता हूँ। सबी गुहातपस्विनि ! संसाररूपी महामार्गमें छिन्न हुए मेरे लिये तुम ही अकेली आश्यासन देनेमें समर्थ, अत्यन्त स्वेहसे युक्त और समस्त लोकोंका नाश करनेवाली सती हुई। इसलिये समाधिमें जीके सदृश व्यवहार करनेवाली उस गुहारूपी तपसिनीको भी मैं प्रणाम करता हूँ। संकट, गर्व और कुङ्गोंमें हाथको अशुद्धवन देनेवाले, बृद्धावस्थाके एकमात्र मित्र दण्ड ! तुम्हें मैं प्रणाम करता हूँ। प्रिय प्राणसमुदाय ! तुम सब प्रकृतिमें विलीन हो जाओ और मैं सचिदानन्द ग्रहणमें विलीन होता हूँ; मर्यादिन जितने भी भोगसमूह हैं, वे अन्तमें नाशवान् हैं। जो

आज उन्नत है, उनका अन्तमें पतन निश्चित है एवं संसारमें जितने संयोग हैं, उनका भी अन्तमें वियोग निश्चित है । ॥१॥

( अब प्रत्येक इन्द्रिय आदिके द्वारा प्राप्त करनेयोग्य प्रकृतिका विभागपूर्वक वर्णन करते हैं— ) अच्छु इन्द्रिय आदित्य-पण्डलमें प्रवेश करे, प्राणेन्द्रिय पृथ्वीमें प्रविष्ट हो जाय, प्राणवायु वायुतत्त्वमें प्रविष्ट हो जाय, श्रोत्रेन्द्रिय आकाशमें प्रविष्ट हो जाय और रसनेन्द्रिय जलमें प्रविष्ट

हो जाय । मैं ओंकारकी अन्तिम अर्द्धमात्रासे लक्षित परमात्मारूप परमात्मामें अपनेआप ही अन्तःकरणसे रहित हो शान्त हो रहा हूँ । अतः मैं सर्वांग कार्योक्ति परम्परासे रहित, समस्त दृश्योक्ति अवस्थाओंसे अतीत, उत्थारण किये हुए प्रणवकी ग्रहारन्त्रमें विश्रान्तिका अनुसरण करके ब्रह्माकारताकी प्राप्तिसे उपरत-बुद्धि तथा अविद्यारूपी मछसे रहित हुआ स्थित हूँ ।

( सर्ग ८४-८५ )

महामुनि वीतहृष्यकी उङ्कारकी अन्तिम मात्राका अवलम्बन करके परमात्म-ग्राहिरूप  
मुक्तावस्थाका तथा मुक्त होनेपर उनके शरीर, प्राणों और सब धातुओंका  
अपने-अपने उपादान-कारणमें विलीन होकर मूल-  
प्रकृतिमें लीन होनेका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! इस प्रकार धीरे-धीरे प्रणवका उत्थारण करते हुए महामुनि वीतहृष्य संकल्प और इच्छाओंसे रहित होकर अन्तिम भूमिकाको प्राप्तकर अकार, उकार, मकार और अर्द्धमात्रासे युक्त पादोंके भेटसे उङ्कारका स्मरण करते हुए प्रह्लादके स्वरूपमें संसारका जो अध्यारोप है, उसका वाध करके अर्थात् केवल ग्रहके स्तिवा अन्य कुछ नहीं है—इस प्रकार निश्चय करके अविनाशी विशुद्ध परमात्माके स्वरूपका चिन्तन करते थे । क्षमित वाणी और आनन्दनर स्थूल, सूखम और सूखमतर सम्शर्प त्रिलोकीके पदार्थोंका भी परित्याग करके वे क्षोभशून्य आकाशाले महामुनि वीतहृष्य नित्य आत्मस्वरूपमें ही स्थित थे । वे पूर्णवन्द्र-की तरह परिषूर्ण थे तथा मन्दराचलकी तरह स्थिर थे । तदनन्दन 'नैति नैति' इत्यादि श्रुतियोंसे बोधित जो अद्वृत तत्त्व है और जो वाणीका भी अगोचर है, उस

तत्त्वको ये मुनि प्राप्त हो गये । इसके अनन्तर ये मुनि समस्त पदार्थोंमें व्यापक, समस्त पदार्थोंसे रहित, निरतिशय समतासे पूर्ण, चिन्मय, अतिशय पवित्र परम-पदस्वरूप हो गये । जो ब्रह्मानियोक्ता ब्रह्मरूप, विज्ञान-वादियोक्ता विज्ञानरूप एवं कपिलमुनि-निर्मित सात्प्रशास्त्र-में प्रतिपादित पुरुषरूप, पतञ्जलि-निर्मित योगशास्त्रमें प्रतिपादित कल्पेश आदिसे रहित पुरुषविशेषात्मक ईश्वररूप, आत्माके स्वरूपको भली प्रकार जाननेवाले आत्मवादियोंके मतमें आत्मतत्त्वरूप समस्त शास्त्रका सिद्धान्तभूत, सबके हृदयमें अनुगत, सर्वात्मक, सर्वस्वरूप जो निर्मल श्रेष्ठ पद है, तत्त्वरूप होकर ये मुनि अवस्थित थे । जो तत्त्व वास्तवमें अद्वितीय होनेके कारण एक और मायाके सम्बन्धसे अनेक भी है, जो मायासे युक्त होनेके कारण सगुण और वास्तवमें मायासे अतीत—निरुण हैं, तत्त्वरूप होकर ये मुनि स्थित थे ।

\* स्वै धयान्ता नित्याः परनान्ता नमुच्छ्याः ॥ संयोग विप्रयोगन्ता न्यै समारब्धन्ति ।

( ८६ | ५४-५५ )



श्रीराम ! इस प्रकार महामुनि वीतहृष्यके परम शान्त हो परम निर्बाणपदको प्राप्त हो जानेपर उनकह क्रियाशूल्य वह देह उसी प्रकार कुम्हल गया, जिस प्रकार हेमन्त ऋतुमें कलठ रस-हित हो कुम्हल जाता है । उस देहके सम्पूर्ण स्थूलभूत तन्मात्रास्तरूप सूक्ष्म महामूलोमें ही लीन हो गये तथा मांस, अस्ति और जांतरूपी देह वनकी भूमिमें मिल गया । जैसे वहके शूलनेपर घटाकाशमें मिल जाता है,

जैसे ही व्यष्टिचेतन समष्टिचेतनमें जा जित्र । उस शरीरके तन्मात्रारूप सूक्ष्म भूत अपने उपदान-कारण मूँ-प्रकृतिमें लीन हो गये । इस प्रकार उन महामुनिके शान्त हो जानेपर सभी पदार्थ अपने-अपने उपदान-कारणमें ही लीन हो गये । श्रीराम ! महामुनि वीतहृष्यकी यह सैकड़ों विचारोंसे युक्त भौत्कत्व तुमसे मैंने कही है । वब तुम अपनी प्रज्ञासे इसका विवेचन करो । जिस तत्त्वका मैंने तुमसे वर्णन किया है, जिसका वर्णन कर रहा हूँ और जिसका वर्णन करहूँगा, निकाल-को प्रत्यक्षरूपसे देखनेवाले तथा चिरकालतक जीनेवाले मैंने उसके विषयमें विचार किया है और पूर्णरूपसे उसको स्थाय देखा भी है । ज्ञानसे ही ननुष्य द्वुःखके अभावको प्राप्त होता है, ज्ञानसे अहानका विनाश हो जाता है, ज्ञानसे ही परमात्माकी प्राप्तिरूप परम सिद्धि मिलती है, ज्ञानके विनार नहीं मिलती । इसलिये मनुष्य-को ज्ञानकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिये । जिन्होंने परम प्रयोजनरूप परमात्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त कर लिया था, जिनके राग आदि दोष विनष्ट हो चुके थे, जो समस्त पापोंसे, अहंता-ममता आदि विकारोंसे, अविद्यासे तथा आसक्ति एवं शोकसे रहित थे, वे शानी वीतहृष्य मुनि, जिसका बहुत कालतक अन्यास किया गया था, उस वरपर लिर्भिं असीम साक्षात्कान्दधनवस्त्ररूप परम पदको प्राप्त हुए ।

( ८७-८८ )

### शानी महात्माओंके लिये आकाश-गमन आदि सिद्धियोंकी अनावश्यकताका कथन

श्रीविष्णुजी कहते हैं—श्रीराम ! जैसे रिंह मधुरों-के वशमें नहीं होते, वैसे ही तुम्हारेजैसे कोई भी महापुरुष हर्ष, अपर्ण आदि विकारोंके वशमें नहीं होते ।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—आपकानियोंमें श्रेष्ठ ! जीवन्मुक्त श्रीरावाले महात्माओंकी आकाश-गमन आदि शक्तियों यहाँ क्यों नहीं दिखायी पड़ती ?

श्रीविष्णुजीने कहा—श्रीराम ! जो चित्र-सिद्धिज

आकाश-गमन आदि क्रिया-कान्प दिखायी पड़ता है, वह ग्राणियों और पदार्थोंका स्थान है । इसलिये वह आसमतत्त्वज्ञोंके लिये वाञ्छनीय नहीं है । आत्मजातसे शून्य अमुक्त जीव मणि, और व आदि द्रव्योंकी शक्तिसे, पूर्वकुप कर्मकी जन्मजात शक्तिसे, योगान्वयास आदि क्रियाओंकी शक्तिसे और कालजी शक्तिसे आकाश-गमन आदि सिद्धियोंको प्राप्त कर सकता है । इन

आकाश-गमन आदि सिद्धियोंका होना आत्मज्ञ पुरुषके लिये गौरवका विषय नहीं है; क्योंकि आत्मज्ञानी स्वयं आत्माको प्राप्त कर चुका होता है, इसलिये वह अपने आत्मामें ही तृप्त रहता है, अविद्याके कार्यकी ओर नहीं दौड़ता । संसारमें जो कोई भी पदार्थ हैं, उन सबको आत्मज्ञ अविद्यामय ही मानते हैं । इसलिये अविद्या-से रहित तत्त्वज्ञ उनमें कैसे फँस सकता है? जो योगाभ्यास आदि साधनोंसे अविद्यारूप आकाश-गमन आदि सिद्धियोंको भी मुख्यता साधन कना लेते हैं, वे आत्मतच्छङ्ख हैं ही नहीं; क्योंकि आकाश-गमन आदि सिद्धियों अविद्यामय ही है । नत्यज्ञ हो चाहे अतत्त्वज्ञ हो, जो कोई भी दीर्घकालतक प्रथलपूर्वक द्रव्य-क्रमोंसे शाश्वत उपायका अनुशासन करता है, वह आकाश-गमन आदि सिद्धियों प्राप्त कर सकता है । यहों धन आदिकी अभिलाषाओंसे रहित और परमात्माके यथार्थरूपसे जाननेवाला तथा प्रकृतिसे ऊपर उठ हुआ पुरुष अपने परमात्मरूपमें ही नित्य संतुष्ट रहता है । इसीलिये वह न कुछ चाहता है और न कुछ करता है । आत्मज्ञ पुरुषको न तो आकाश-गमनसे, न अणिमादि सिद्धियोंसे, न तुच्छ मोगोंसे, न निग्रहानुप्रह-सामर्थ्यसे, न मानवदाह-प्रतिष्ठासे और न आशा, मरण तथा जीवनसे ही कोई प्रयोजन है ।

परमात्माके स्वरूपमें ही सदा संतुष्ट, परम शान्ति-रूप, राग और धासनासे रहित तथा आकाशके सदृश निर्मल आकरणवाला तत्त्वज्ञानी महापुरुष अपने परमात्म-स्वरूपमें ही स्थित रहता है । अपने जीवन और मरणकी आसक्तिसे रहित तत्त्वज्ञानी पुरुष अक्सरात् प्राप्त हुए मुख और दुःखसे विचलित नहीं होता । उस महापुरुषका इस विश्वमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मोंके न करनेसे ही; तथा समूर्ण प्राणियोंमें भी इसका किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता । जो आत्मज्ञानसे शून्य है, वह भी आकाश-गमन आदि सिद्धि-

समूहको चाहता है और वह सिद्धियोंके साथक द्रव्योंसे क्रमशः उन्हें प्राप्त भी करता है । श्रीराम! मणि, औषध आदि द्रव्य, काल, योगाभ्यास आदि क्रिया और मन्त्र-प्रयोगमें उक्त प्रकारकी शक्तियों, जो आकाश-गमन आदि शब्दोंसे कही जाती है, स्वभावतः सिद्ध है । जैसे विषज्ञ मणि, मन्त्र, द्रव्य आदिकी शक्तियों विषज्ञ विनाश कर देती है, जैसे मदिरा उभयत कर देती है, जैसे मधु आदि वस्तुएं वर्मन करा देती है, वैसे ही युक्ति-द्वारा प्रयुक्त मणि, औषध आदि द्रव्य, काल, योगकी क्रिया आदि उपाय स्वभावसे ही सिद्धियोंको अवश्य उत्पन्न करते है । परंतु द्रव्य-काल-क्रिया-क्रमस्वरूप मायिक पदार्थोंसे अतीत तथा अज्ञानरहित आत्मज्ञानमें आकाश-गमन आदि सिद्धियों हेतु अपेक्षा विरोधी नहीं हैं; क्योंकि परमात्माके पदकी प्राप्तिमें कोई भी द्रव्य, देश, क्रिया, काल आदि युक्तियों उपकरक नहीं हैं । किंतु पुरुषको आकाशगमन वादिकी इच्छा होती है तो वह उसकी सिद्धिका साधन पूर्णरूपसे करता है । किंतु आत्मज्ञानी पूर्ण है । अतः उसमें कहीं इच्छाकी सम्भावना नहीं है । निष्पाप श्रीराम! परमात्माकी प्राप्ति सारी इच्छाओंकी शान्ति होनेपर ही होती है; अतः आत्मज्ञानी-को आत्मभक्ती विरोधिनी इच्छा कैसे और किससे हो सकती है । किंतु चाहे विवेकी हो चाहे अविवेकी, जिसकी जिस प्रकार इच्छा उत्पन्न होती है, वह उस प्रकारसे उसी इच्छासे यत्न करता है और समय बानेपर वह उस सिद्धिको प्राप्त कर लेता है । परमात्मज्ञानकी इच्छावाले बीतहब्यने सिद्धियोंकी इच्छासे किसी प्रकारका यत्न नहीं किया था; बल्कि परमार्थ-ज्ञानकी इच्छासे ही उसने तेजीके साथ यत्न किया था । जिस प्रकार इसने वनमें यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिके लिये उथोग किया था, वह मैं तुमसे पहले कह चुका हूँ । इस प्रकार काल, क्रिया, कर्म, द्रव्य, युक्ति और स्वभावसे उत्पन्न होनेवाली क्रमप्राप्त सिद्धियों अपनी इच्छाके ही अनुसार सिद्ध हो जाती हैं । श्रीराम! जो-जो आकाश-

गमन आदि सिद्धि-नामक कर्मोंके समूह जिस पुरुषके द्वारा प्राप्त किये गये देखे जाते हैं, वे उस पुरुषके अपने प्रयत्नरूपी वृक्षके ही फूल हैं। किंतु जिनका अन्तःकरण पवित्र है, जो परमात्माको धर्मरूपसे जानते

हैं, जो परमात्माके खरूपमें नित्य तृप्त हैं तथा जो अपने अभिलिप्ति परमात्माको प्राप्त कर लुके हैं, उन महात्माओंका सिद्धियों कुछ भी उपकार नहीं करतीं।  
( सर्ग ८९ )

### जीवन्मुक्त और विदेह-मुक्त पुरुषोंके विचानाशका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुमध्यन् । जब जीवन्मुक्त वीतहृष्यका चित्त विवेकपूर्वक विवारके द्वारा अस्त्राप्राप्य हो गया यानी भूने हुए वीजकी तरह अङ्गुरशक्तिसे रहित हो गया, तब उसमें मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेशा आदि गुणोंका आविर्भाव हो गया ।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—प्रभो ! आरम्भ और अनात्मा-के विवारके अभ्युदयसे अदृश्य हुए महामुनि वीतहृष्यके अन्तःकरणमें मैत्री आदि गुण उत्पन्न हुए, आपके इस कर्मनका क्या अभिप्राय है ? वक्ताओंमें श्रेष्ठ महामुने ! जब विच्छ बद्धमें लोन हो गया, तब मैत्री आदि गुण किसके और किसमें उत्पन्न होंगे—यह आप मुझसे कहिये ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! विचका विनाश दो प्रकारका होता है—एक सरूप विनाश और दूसरा अरूप विनाश । पहला मरुप विनाश तो जीवन्मुक्त होनेमें हो जाना है और दूसरा अरूप विनाश विदेह-मुक्त होनेपर होता है । इस संसारमें विचका अस्तित्व दुखका कारण है और विचका विनाश सुखका कारण है । अतः पहले विचके अस्तित्वका भूने हुए वीजके समान विनाश करके तदनन्तर विचके सरूपका भी विनाश कर देना चाहिये । अङ्गानसे उत्पन्न हुई वासनाओंसे व्याप्त जो जनका कारण मन है, उसीको अङ्गानियोंका विवरण मन समझो । वह विचमान मन केवल दुखका ही कारण होता है । इसलिये जबतक मनका अस्तित्व है, नवतक दुखका विनाश

कैसे हो सकता है । मन जब अस्त हो जाता है, तब प्राणीका यह संकल्पमय संसार भी अस्त हो जाता है । इस अङ्गानी जीवमें ही वासनाहृषी अङ्गुरोंसे दृष्टापूर्वक प्रसिद्धित हुए इस विचमान मनको ही हुःखरूपी घृणका मूल जानो । ये हुःखरूपी घृण-समूहके अङ्गुर उन्हीं अङ्गानियोंके मनमें सत्पन्न होते हैं ।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—प्रकाशन् । किस महात्माका मन विनष्ट हो गया ? विनाशको प्राप्त हुए मनका सरूप किस प्रकारका होता है ? विचका विनाश किस प्रकार होता है और वाशका सरूप कैसा है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—प्रधनेताओंमें श्रेष्ठ रघुकुल-नायक श्रीराम ! मैंने पहले विचकी सत्ताका सरूप तो बता दिया है । अब तुम इसके विनाशका सरूप सुनो । जैसे नि शासवायु पर्वतराजको अपने सरूपसे विचलित नहीं करते, वैसे ही मुख-हुःखरूप दशाएँ जिस धीरपुरुषको सम-सभाव तथा पूर्णानन्दकरम परमात्मनिष्ठासे विचमित नहीं करतीं, श्रेष्ठ पुरुष उस महात्मके चित्तको भूने हुए वीजके समान नष्ट हुआ नित्य कहते हैं । ‘यह जड देह ही मैं हूँ’, ‘ये धन आदि सारे पदार्थ में नहीं हूँ’, इस प्रकारकी तुच्छ भावना जिस श्रेष्ठ पुरुषके भीतरसे विकारयुक्त नहीं करती, विद्वान्लोग उस पुरुषके विचको नष्ट कहते हैं । जिस नरात्मके अंदर विपत्ति, कायरता, उस्साह ( हर्प ), मट, वुद्दिकी मन्दता और विशाहादि लौकिक महोत्तम विकार पैदा नहीं करते, विद्वान्लोग उसके विचकी नष्टवित्स कहते हैं । इस

लौकने यही चित्तका विनाश है और इसीको भूने हुए वीजके ममान विनष्ट चित्त भी कहते हैं। यही जीवन्मुक्त महापुरुषकी चित्तनाश-दशा है। निष्पापश्रीराम! जीवन्मुक्त पुरुषके मन गैत्री आदि शुभ गुणोंसे सम्पन्न, उत्तम वासनाओंसे युक्त तथा पुनर्जन्मसे शून्य होता है। त्रिसंकी वासनासे ओतप्रोत, पुनर्जन्मसे रहित जो जीवन्मुक्त पुरुषके मलबी सत्ता है, वह सत्त्व नामसे कही जानी है। जिस प्रकार चन्द्रमामें प्रसन्न किरणें रहती हैं, वैसे ही जीवन्मुक्त पुरुषके मनके विनाशमें विशुद्ध मंत्री आदि गुण सदा सब तरहसे रहते हैं। शान्तिरूप शीतलताके आश्रय जीवन्मुक्त पुरुषके सत्त्वनामक मनके नाशकी अवस्थामें अनेक गुण-सम्पत्तियाँ प्रकट होती हैं।

धुकुचनिलक । जो मैंने पहले अरुप-मनोनाश कहा था, वह विदेहमुक्तका ही होता है तथा जो धृष्यवादि विकारोंसे रहित है, उस परम पवित्र विदेहमुक्ति-रूपी निर्मल परमपदमें समस्त श्रेष्ठ गुणोंका आश्रयरूप मन भी विलीन हो जाता है। विदेहमुक्त महात्माओंकी उम सत्त्व-विनाशरूप अरुपवित्तनाश-दशामें किभी भी दृश्य-पदार्थका आस्तिन नहीं रहता

अर्पात् संकल्पसहित सम्पूर्ण संसारका अत्यन्त अभाव हो जाता है। उस अरुपवित्तनाश-दशामें न गुण हैं न अवशुण हैं, न शोभा है न अशोभा है, न चक्षुलता है न अचक्षुलता है, न उदय है न अस्त है, न दृष्टि है न अमर्प है और न ज्ञान है, न प्रकाश है न अन्धकार है, न संघा है न दिन या रात है, न दिशाएँ हैं न आकाश है, न अधः है और न अनर्थरूपता है, न कोई वासना है न किसी प्रकारकी रचना है, न इच्छा है न अनिच्छा है, न राग है न भाव है और न अभाव है और न वह पदसाध्य ही है। वह परमपद तम और तेजसे शून्य, तारे, चन्द्र, सूर्य और वायुसे तथा संघा, रज-कण और सूर्य-कान्तिसे रहित शत्रुकालीन खण्ड आकाशके समान अस्थन्त निर्मल है। वह विशाल पद उन लोगोंका आश्रय-स्थान है, जो बुद्धि और संसार-भ्रमणसे पार हो गये हैं। सम्पूर्ण दुःखोंसे रहित, चिन्मय, निष्क्रिय ब्रह्मामन्दसे परिपूर्ण तथा रज और तमसे रहित जो परमपद है, उस परम-पदमें वे वित्तसे रहित और आकाशके सदृश सूक्ष्म विदेहमुक्त आत्मा तद्रूप हुए स्थित रहने हैं, वे अपुनरा-वृत्तिरूप परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं। ( सर्ग २० )

**शरीरका कारण भन है तथा मनके कारण प्राण-स्वन्द और वासना, इनका कारण विषय, विषयका कारण जीवात्मा और जीवात्माका कारण परमात्मा है—इस तत्त्वका प्रतिपादन**

श्रीकृष्णजी कहते हैं—**द्वन्द्वन्द्वन् ।** भाव और अपश्चित्त तथा दुःखरूपी रूपोंका खड़ाना चित्त ही, जो वासनाओंके वशमें रहनेवाला एक तरहसे अनुचर है, शरीरका कारण है। प्रनीत होनेके कारण सद् और विनाशशील होनेके कारण असत्तरूप ये शरीरसमझ एकमात्र वित्तसे ही उत्पन्न हुए हैं, जैसे स्वप्नमें भ्रमसे संसारकी प्रतीति सबको सर्व होती है। जो यह मिथ्या जगत्का स्वरूप दृश्यनाको प्राप्त है, वह चित्तसे उसी प्रकार उत्पन्न होता है, जिस प्रकार मिट्टीसे धड़े आदि उत्पन्न होते हैं। अनेक तद्रूपी शृंतियों धारण करनेवाले

इस चित्तरूपी वृक्षोंके दो बीज हैं—एक प्राण-संचरण और दूसरा दृढ़भावना। जब शरीरकी नाड़ियोंमें प्राण-वायु संचरण करने लगता है, तब वृत्तिमय चित्त सत्काल ही उत्पन्न होता है। किंतु जब शरीरकी नाड़ियोंमें प्राण संचरण नहीं करता, तब वृत्तिज्ञान न होनेके कारण उसमें चित्त उत्पन्न नहीं होता। यह प्राण-संचरणरूप जगत् ही चित्तके द्वारा दिखायी पड़ता है, जिस प्रकार आकाशमें नीलता आदि दिखायी पड़ते हैं। राघव ! जीवात्माके विषयोंके सम्पर्कसे रहित होनेपर ही उसका परम कल्याण होता है, ऐसा जानो। किंतु प्रकट हुआ जीव ही

तत्काल बाधा विषयोंकी ओर रागबद्ध चला जाता है और उन विषयोंके भोगके अनुभवसे चित्तमें अनन्त दुःख उत्पन्न होते हैं। जब जीवात्मा बाधा विषयोंसे उदासीन होकर परमात्माके ज्ञानके लिये प्रवक्ष्यशील होता है, तब वह मास करने योग्य निर्मल परमपदरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है। श्रीराम ! जीवात्माके संकल्पको ही तुम चित्त जानो। उम्मी चित्तने इम अनर्थ-जालका शिखार किया है।

योगीलोग चित्तकी शान्तिके लिये योगशास्त्रमें बताये गये प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा एवं अ्यानरूप योगकी युक्तियोंके द्वारा प्राणका निरोध करते हैं। विद्वान्-लोग प्राण-निरोधको ही चित्तशान्तिरूप फलका दाता, उत्तम समनाका हेतु और जीवात्माकी अपने वास्तविक रूप सचिदानन्दबन्धन परमात्मामें सुन्दर स्थिति कहते हैं। महाबाहु श्रीराम ! तीव्र संवेगसे आत्माके द्वारा जिस पदार्थकी भवना की जाती है, तत्काल ही वह जीवात्मा अन्य सूक्ष्मियोंको छोड़कर तद्रूप ही हो जाता है। वासनाके अत्यन्त बशी भूत और तद्रूप हुआ वह जीवात्मा जिस किसीको देख लेता है, उस सबको अडानसे सत्-पस्तु मान लेता है और वासनाके बेगवश अपने स्वरूपको भूल जाता है। फिर वह वास्तविक आत्मज्ञानसे रहित जीवात्मा भीतरी वासनाओंके अभिभूत होकर, जिसे अभिभूत पुरुषकी तरह अनेक मानसिक आपत्तियोंसे व्यकुन्त रहता है। श्रीराम ! जिससे देहादि अनात्मामें आत्मभावनारूप और अवस्तु तसारमें वस्तुभावनारूप अथर्वार्थ ज्ञान होता है, उसको तुम चित्त जानो। इह अन्यासके कारण देह आदि पदार्थोंमें 'अहम्' 'मम' आदि वासनासे ही जन्म, जरा और मरणका कारण अति बद्धल चित्त उत्पन्न होता है। जब निरन्तर वासनाका अमाव होनेसे मन मनसे रहित हो जाता है, तब मनका अमाव हो जाता है, जो परम उपरतिस्तरूप है। जब जगद्वृप वस्तुमें किसी पदार्थकी भावना नहीं होती, तब शून्य सं० द्य० व० अ० १३ —

हृदयकाशमें चित्त कैसे उत्पन्न हो सकता है। श्रीराम ! मैं तो यही मानता हूँ कि वासक्तिसे विनाशशील जगत्-रूपी वस्तुमें वस्तुत्वकी भावना करनामात्र ही चित्तका खलूप है। बाधा वस्तुओंके अस्मरणरूप सावनका अवलम्बन करनेसे जो समस्त दृश्य-जगत्के अभावकी भावना और परमार्थ वस्तु परमात्माका अनुभव होता है, वह अचित्त कहा जाता है। अत जिम महाप्रति पुरुषको संस्कारसे उत्पन्न विषय-रसासादके स्परणसे विषयोंमें आसक्त उत्पन्न नहीं होती, उस पुरुषका चित्त अचित्त-रूपसाको तथा विशुद्ध सत्त्वको प्राप्त कहा जाता है। जिस महापुरुषमें पुनर्जन्मकी कारणभूता अहंता-भ्रमतारूप वासनाका अमाव हो गया है, वह चक्रके भ्रमण-सदृश जगत्के व्यवहारमें लगा हुआ भी जीवन्मुक्त और परमात्मा-में स्थित है। वात्पर्य यह कि जिस प्रकार कुम्भ-कारके ड्यापारके अभावमें भी चक्रका भ्रमण तबतक होता रहता है, जबतक उसमें बेग रहता है, उसी प्रकार अविद्याके नाश होनेपर भी प्रारम्भ संस्कारके अवशिष्ट रहनेसे अहंकारके विना ही जीवन्मुक्त का वरीर और उसका ध्यायहार—दोनों प्रारम्भ-भोगपर्यन्त विद्यमान रहते हैं। जिनका चित्त भूने हुए बीजके सदृश पुनर्जन्म-से शून्य और विषयानुरक्षिते रहित है, वे महानुभाव जीवन्मुक्त हुए स्थित रहते हैं। जिनका चित्त विशुद्ध सत्त्वरूपता प्राप्त कर चुका है, ऐसे ज्ञानके पारगत महात्मा चित्तसे रहित कहे जाते हैं। प्रारम्भका शय हो जानेपर वे सचिदानन्दबन्धन परमात्मामें विलीन हो जाते हैं।

वासनाका उर्ध्वागति खमाव होनेसे वह जीवात्माके क्षोमकारक कर्मसे प्राण-स्थन्दनका उद्घोषन करती है और उससे चित्त उत्पन्न होता है। एवं स्थन्दन-धर्मशाला होनेसे हृदयगत राग आदि गुणोंका सर्व जरके प्राण जीवात्माका उद्घोषन करता है और क्रमसे चित्तहसी बालक उत्पन्न होता है। श्रीराम ! वासना और प्राणस्थन—दोनों चित्तके कारण हैं। उनमेंसे किसी एकका लय

हो जाने र दोनोंका और उनके कार्य वित्तका विनाश हो जाता है, जैसे विदेहमुक्त जीवीका वासनासहित वित्त और प्राण बझमें विनीन हो जाता है। वासना और प्राणस्तन्दन—इन दोनोंका कारण विषय है; क्योंकि उसीके सम्बन्धसे वे दोनों प्रस्फुलित होते हैं। हृदयमें प्रिय और अप्रिय शब्द आदि विषयोंका विन्तन करके ही प्राणस्तन्दन और वासना दोनों आविर्भूत होते हैं; इसलिये विषय ही उन दोनोंका बीज ( कारण ) है। जिस प्रकार मूलके उच्छेदसे वृक्ष तत्काल नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार विषयविन्तनका परिस्थाग करनेसे प्राणस्तन्दन और वासना—दोनों ही तत्काल समूल नष्ट हो जाते हैं। रथुमन्दन ! जीवात्मा ही अपनी धीरताका परिस्थाग करके अपने संकल्पसे विषयरूप-सा चनकर वित्तका बीजरूप हो जाता है, ऐसा जानो। जिस प्रकार तिन तेजसे रहित नहीं है, उसी प्रकार जीवात्मासे रहित कोई भी विषय नहीं है; क्योंकि जीवात्मा सब विषयोंमें व्यापक है। इसलिये बाहर और भीतर कोई भी पदार्थ जीवात्मासे अलग नहीं है। अपने संकल्पसे चेतन जीवात्माही प्रस्फुरित होता हुआ स्वयं पदार्थको देखता है। जिस तरह स्वप्नमें अपना मरण और भिन्न देशमें खिनि—दोनों अपने सकल्पसे ही होते हैं, उसी तरह जापत्कालीन पदार्थ भी जीवात्माके सकल्पसे ही होते हैं। रथुमन्दन ! जिस विवेक-अवस्थामें अपने परमार्थिक रूपरूपका अनुभव होना है, वह अपने संकल्पसे हुआ स्वस्वरूपानुभव भी जगज्ञाल ( स्वप्नके सदृश ) ही है; क्योंकि सच्चिदानन्द जैसे अनुभव करनेवाला, अनुभव करने योग्य और अनुभव—इन तीनोंसे ही रहित है; अतः उस अनुभवको जगज्ञाल कहना उचित ही है। जैसे वाक्को अपने संकल्पसे ही प्रेतका और मनुष्योंको स्थाणुमें पुरुषका भ्रम होना है, वैसे ही संकल्पसे दत्यन भ्रमसे ही चेतन जीवात्माकी पदार्थरूपता होती है; वाक्यमें नहीं। यह भान्तिज्ञान मिथ्या है। यह योग्य परमात्मज्ञानसे उसी प्रकार विनीन हो जाना है,

जिस प्रकार रज्जु और चन्द्रके निर्दोष दर्शनसे रज्जुमें सर्प-भान्ति और एक चन्द्रमें दो चन्द्ररूपोंकी भान्ति विनीन हो जाती है। पहले देखा हुआ या न देखा हुआ जो पदार्थ इस जीवात्माको मासता है, विद्वान्को उसे विवेक-वैशायरूप प्रयत्नद्वारा मिथ्या समझकर उसका बाध कर देना चाहिये। इस जड जगतरूप दृश्यका बाध न करना ही इस बड़े भारी संसारके साथ सम्बन्ध जोखना है। यही बन्धन है तथा इस संसारके सम्बन्धसे रहित होना ही मोक्ष है—यह महात्माओंका अनुभव किया हुआ निष्क्रय है; क्योंकि इस जड हृश जगतका विन्तन ही जन्मरूप अनन्त दृश्यका हेतु है और उस दृश्य-चिन्तनसे रहित होकर सच्चिदानन्द परमात्मामें मिथ्यत होना ही पुनर्जन्मरहित अक्षय सुखका हेतु है।

वासनारहित होनेके कारण अपनी आत्मामें जब किसी पदार्थकी भावना नहीं रहती और वह परमात्माके खरूपमें अचल स्थित रहता है, तब जडतासे रहित, विशाल एवं विशुद्ध यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिये ज्ञानवान्, फिर कभी संसारमें जिस नहीं होना। समृद्ध वासनाओंका अरथन्त अभाव होनेपर निर्विकल्प संमाधिसे परम आनन्दरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। संसारके चिन्तनसे रहित योगीलोग उसी असीम आनन्दमें नित्य स्थित रहते हैं। इसलिये संसार-चिन्तनसे रहित योगी चलते, बैठते, स्पर्श करते और सूँचते हुए भी विन्मय अक्षय आनन्दसे पूर्ण और मुखी कहा जाता है। श्रीराम ! यह जीवात्मा जिसकी भावना करता है, उसी रूपमें तत्काल परिणाम हो जाता है। अज्ञानकी मूर्मिकाओंसे मुक्त न होनेके कारण जीवात्मा दीर्घकाल थीन जानेपर भी अपना वास्तविक रूप नहीं प्राप्त कर पाता। जीवात्मा ब्रह्मका अंश है, अत एकमात्र सच्चिदानन्द ब्रह्म ही इस जीवात्माका कारण कहा जाता है। श्रीराम ! सत्ताके दो रूप हैं—एक तो अनेक

आकर्षणवाली व्यावहारिक सत्ता और दूसरी एक रूप-वाली वास्तविक सत्ता । अब उनका विभाग हुना । घटाडि रूपोंके विभागसे जो घटत्व, पटत्व, स्वरूप, मत्त आदि उपाधिभूत सत्ता कही जाती है, वह नानाकृति व्यावहारिक सत्ता है । जो विभागसे रहित, सत्तारूपसे न्यास समानभावसे स्थित वास्तविक सत्ता है, वह एक रूपा वास्तविक सत्ता है । जो दृश्यरूप विशेषतासे रहित, निलेप और केवल सत्-खरूप अद्वितीय महान् वास्तविक सत्ता है, उसीको विदान् परमपद कहते हैं । वास्तवमें सत्ताका रूप नाना आकारके रूपमें कभी नहीं है, क्योंकि वह कायम नहीं रहता, अतः वह सत्यरूप नहीं हो सकता । सत्ताका जो विशुद्ध एकरूप वास्तविक रूप है, वह कभी नष्ट नहीं होता और न कभी दृश्य ही होता है । वह नित्य विद्वाननन्दखरूप होनेसे सदा कायम रहता है । उसका अभाव कभी नहीं होता । किंतु जो विभिन्न पदार्थोंको उत्पन्न करनेवाली विभाग-कल्पना नानारूपताका कारण देखी जाती है, वह विशुद्ध पदरूपा कैसे हो सकती है ।

श्रीराम । सत्ता-सामान्यकी चरम अवधिरूप जो कल्पनाओंसे और आदि-अन्तसे रहित परमपद है, उसका और कोई कारण नहीं है; क्योंकि वही मनका परम कारण है । जिस परमपदमें सम्पूर्ण सत्ताएँ विच्छिन्न हो

जाती हैं, उस निर्विकार परमपदमें स्थित पुरुष इस दुःखमय संसारमें कभी नहीं आता । और वही वास्तवमें परम पुरुषार्थी है । वह परमात्मा ही समस्त कारणोंका कारण है, उसका कोई दूसरा कारण नहीं है । वही सम्पूर्ण सारोंका मार है, उमसे बढ़कर दूसरी सारभूत वस्तु नहीं है । जैसे तालाबमें तटस्थ दृश्य प्रतिविमित होते हैं, वैसे ही वह असी ॥ विनाय परमात्मारूप दर्पणमें ये सब पदार्थ प्रतिविमित होने हैं । उसी आनन्द-समुद्र परमपदसे सभी प्रकारके दृश्य प्रतिविमित होते हैं । उस आनन्दभय परमात्मामें ही सम्पूर्ण संसार उत्पन्न होता है, स्थित रहता है, बदता है और विलीन हो जाता है । वह परमश भारीसे भी भारी, हल्केसे भी हल्का, रथूलसे भी स्थूल और सूखमसे भी सूक्ष्मतम है । वह दूरसे भी दूर, निकटसे भी निकट, छोटेसे भी छोटा और बड़ेसे भी बड़न्त बड़ा है तथा सबका प्रकाशक होनेसे ज्योतियोंका ज्योति है । वह सम्पूर्ण वस्तुओंसे रहित और सर्ववृत्तरूप है, वही सत् और असद् है, वही दृश्य और अदृश्य है, वह अहंतासे रहित और अहसरूप है । श्रीराम । वास्तवमें वही विशुद्ध जरारहित परमात्मतत्त्व है । उसकी प्राप्ति होनेपर चित्तपरमशान्त हो जाता है ।

( सर्ग ०१ )

## तत्त्वज्ञान, वासनाक्षय और मनोनाशसे परमपदकी प्राप्ति तथा मनको वशमें करनेके उपायोंका वर्णन

श्रीचसिष्ठजी कहते हैं—घुनन्दन ! जबतक मन विलीन नहीं होता, तबतक वासनाका सर्वथा विनाश नहीं होता और जबतक वासना विनष्ट नहीं होती, तबतक चित्त शान्त नहीं होता । जबतक परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान नहीं होता, तबतक विच्छिन्न शान्ति कहीं और जबतक चित्तकी शान्ति नहीं होती, तबतक परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान नहीं होता । जब-

तक वासनाका सर्वथा नाश नहीं होता, तबतक तत्त्वज्ञान कहोंसे होगा और जबतक तत्त्वज्ञान नहीं होता, तबतक वासनाका सर्वथा विनाश नहीं होगा । इसलिये परमात्माका यथार्थ ज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय—ये तीनों ही एक दूसरेके कारण हैं । अतः ये दुस्साध्य हैं, किंतु असाध्य नहीं । विशेष प्रश्न करनेसे ये तीनों कार्य सिद्ध हो सकते हैं । श्रीराम !

विवेकसे युक्त पाँहर प्रयत्नसे भोगेष्ठाका दूरसे ही परित्याग करके इन तीनों साधनोंका अचलस्थन करना चाहिये । यदि इन तीनों उपायोंका एक साथ प्रयत्नपूर्वक भग्नी प्रकार बारंबार अभ्यास न किया जाय तो सैकड़ों वर्षोंतक भी परमपदकी प्राप्ति सम्भव नहीं । किंतु महाद्विद्विमान् श्रीराम ! वासनाक्षय, परमात्माका यथार्थ ज्ञान और मनोनाश—इन तीनोंका एक साथ दीर्घकाल-तक प्रयत्नपूर्वक अभ्यास किया जाय तो ये परमपदरूप फल देते हैं । \* इन तीनोंका विरकालतक प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करनेसे अस्थन्त दृढ़ हृदयग्रन्थियोंनिःशेषरूपसे दृट जाती हैं ।

श्रीराम ! यह संसारकी दृढ़ स्थिति सैकड़ों जन्म-जन्मतरोंसे मनुष्योंके द्वारा अभ्यस्त है; अतः विरकाल-तक अभ्यास किये बिना यह किसी तरह भी नष्ट नहीं हो सकती । इसलिये चलते-फिरते, श्रवण करते, स्पर्श करते, सूँघते, खड़े रहते, जागते, सोते—सभी अवस्थाओंमें परम कल्याणके लिये इन तीनों उपायोंके अभ्यासमें लग जाना चाहिये । तत्त्वज्ञोंका मत है कि वासनाओंके परित्यागके समान ही प्राणायाम भी एक उपाय है । इसलिये वासना-परित्यागके साथ-साथ प्राण-निरोधका भी अभ्यास करना आवश्यक है । वासनाओंका भली-भौति परित्याग करनेसे चित्र भूने हुए बीबके समान अचिच्छरूप हो जाता है और प्राणस्पन्दके निरोधसे भी चित्र अविच्छिन्न नहीं जाता है; इसलिये तुम जैसा उचित समझो, बैसा करो । विरकालतक प्राणायामके अभ्याससे, योगाभ्यासमें कुशाड गुरुद्वारा बतायी हुई युक्तिसे, खस्तिक आदि आसनोंकी सिद्धिसे और उचित योजनाये प्राण-स्पन्दनका निरोध हो जाना है । परमात्मा-

के स्वरूपका साक्षात् अनुभव होनेपर वासना उत्पन्न नहीं होती । आदि, मध्य और अन्तमें कभी पृथक् न होनेवाले एकमात्र साथस्वरूप परमात्माको भलीभौति यथार्थरूपसे जान लेना ही ज्ञान है । यह ज्ञान वासनाका सर्वथा विनाश कर देता है तथा अनासक्त होकर अवधार करनेसे, संसारका चिन्तन छोड़नेसे और शरीरको विनाशशील समझनेसे वासना उत्पन्न नहीं होती । जिस प्रकार पवन-स्पन्दके शान्त हो जानेपर आकाशमें धूलि नहीं उछती, वैसे ही वासनाका विनाश हो जानेपर चित्र विषयोंमें नहीं भटकता । दुद्धिमान् पुरुषको एकाप्राचित्तसे बारंबार एकान्तमें बैठकर प्राण-स्पन्दके निरोधके लिये विशेष यत्न करना चाहिये । जिस प्रकार मदमत्त दुष्ट हाथी अङ्गुशके बिना दूसरे उपायसे वशमें नहीं होता, उसी प्रकार पवित्र युक्तिके बिना मन वशमें नहीं होता । अध्यात्मविद्याकी प्राप्ति, साधु-संगति, वासनाका सर्वथा परित्याग और प्राणस्पन्दनका निरोध—ये ही युक्तियों चित्तपर विजय पानेके लिये लिखितरूपसे दृढ़ उपाय हैं । † इनसे तकाल ही चित्तपर विजय प्राप्त हो जाती है । उपर्युक्त इन चार युक्तियोंके रहते जो पुरुष हठसे विश्वको व्यापीभूत करना चाहते हैं, उनके सम्बन्धमें मेरा यही मत है कि वे दीपक-का परित्याग करके अङ्गुनोंसे अन्वेषकारका निवारण करना चाहते हैं । उपर्युक्त इन चार युक्तियोंको श्यागकर जो पुरुष चित्र या चित्तके निकटवर्ती अपने शरीरको स्थिर करनेके लिये यत्न करते हैं, उन हठ करनेवाले पुरुषोंको विवेकी लोग हठी समझते हैं ।

( सर्ग ९२ )

\* वासनाशयविज्ञानमनोनाभा महामने । मयकाल विराम्यस्ता भवन्ति फलदा युने ॥

( योगवा० उप० ९२ । १३ )

। अध्यात्मविद्याधिगमः नाधुतगम एव च । वासनासम्परित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम् ॥  
एनाभ्या युक्तयः पुष्टाः सन्ति निष्पत्त्ये किञ् ।

( योगवा० उप० ९२ । ३५ ३६ )

**विचारकी प्रौढ़ता, वैराग्य एवं सद्गुणोंसे तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति और जीवन्मुक्त महात्माओंकी स्थितिका वर्णन**

श्रीकृष्णिष्ठजी कहते हैं—“श्रीराम ! किंचिन्मात्र विवेक-पूर्वक विचारसे जिसने अपने विचारका निप्रह कर लिया, उसने जन्मका फल पा लिया । यदि हृदयमें इस विचाररूपी कल्पनुभूतका कोमल अङ्गुर भी प्रकट हो जाय तो वही अङ्गुर अन्यासयोगके द्वारा सैकड़ों शाखाओंमें फैल सकता है । विवेक-वैराग्यसे जिसका विचार बुँद ढह हो गया है, उस पुरुषका शान्ति, समता, क्षमा, दया आदि पवित्र गुण उसी प्रकार आश्रय लेते हैं, जिस प्रकार जन्मसे परिपूर्ण पुरोधका पक्षी और मस्त्य, कञ्जुप आदि आश्रय लेते हैं, मलीभौति परमात्मविषयक विचार करनेसे जिसे परमात्माके स्वरूपका साक्षात्कार हो गया है ऐसे ज्ञानी महापुरुषको अविद्यासे उत्पन्न अस्त्वन्त रमणीय और विशाल वैमुख भी आकृष्ट नहीं कर पाते । परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे जिसकी बुद्धि विशुद्ध हो गयी है, उस महात्माका यहाँके विषय, मानसिक दृष्टियाँ, आधि और व्याधि—ये सब क्या कर सकते हैं अर्थात् वे उसे तमिक मी विचलित नहीं कर सकते । जिसमें ज्ञानकी चतुर्थ भूमिका प्राप्त कर ली है और जिसने जाननेयोग्य परमात्माके स्वरूपका अनुभव कर लिया है, उस धीर-धीर और ज्ञानी महात्मा पुरुषपर विषय तथा इन्द्रियरूपी डाकू क्या कभी आकर्षण कर सकते हैं ? जिस पुरुषका अन्तःकरण चालते-फिरते या बैठते, जागते या सोते—इन सभी अवस्थाओंमें विवेकपूर्ण प्रकृतिविचारसे युक्त नहीं रहता, वह मृतकके समान है । अहमरूपी अन्धकारका हरण करनेवाले परमात्मविषयक विचारसे तत्काल ही विशुद्ध परमपदरूप परमात्माका प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है—ठीक उसी प्रकार जैसे प्रकाशमान दीपकसे बल्तु प्रत्यक्ष दिखायी पड़ती है तथा परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे सम्पूर्ण दृःख्योंका उसी प्रकार अस्त्वन्त अभाव हो जाता है, जिस प्रकार सूर्यके उदयसे अन्धकारका अस्त्वन्त अभाव हो जाता है । क्योंकि जब परमात्मविषयक यथार्थ ज्ञान पूर्णतया प्राप्त हो जाता है, तब जानने योग्य ग्रन्थके स्वरूपकी प्राप्ति अपने-आप

ही उसी प्रकार हो जाती है, जिस प्रकार सूर्यका उदय हो जानेपर भूगण्डलपर विशुद्ध प्रकाश उसी क्षण अपने-आप अनायास ही हो जाता है । जिस सत्-शास्त्रके विवेकपूर्वक विचारसे सचिदानन्द परमात्माके स्वरूपका यथार्थ अनुभव हो जाता है, वही ज्ञान कहा जाता है और वह ज्ञान हेयस्वरूप परमात्मासे भिन्न नहीं है—परमात्माका स्वरूप ही है ।

श्रीराम ! पण्डितलोग विवेकपूर्वक परमात्मविषयक विचारसे उत्पन्न परमात्मस्वरूपके अनुभवको ही ज्ञान कहते हैं । उसी ज्ञानके अंदर हेय उसी प्रकार छिपा रहता है, जिस प्रकार दूधके अंदर माधुर्य छिपा रहता है । सम्याज-ज्ञानके प्रकाशसे आलोकित पुरुष स्वयं हेयस्वरूप हो जाता है । सम और विशुद्धस्वरूप विज्ञान-नन्दनवन परमात्मा ही हेय कहा जाता है । जिसके अन्तःकरणमें आनन्दका प्राकृत्य हो गया है, वह ज्ञानवन् पुरुष किसी भी सांसारिक विषयमें नहीं फैसता । समस्त सङ्केते रहित पूर्णकाम जीवन्मुक्त ज्ञानी समाटकी तरह सदा मत्त रहता है । श्रीराम ! ज्ञानी महात्मा पुरुष धीणा-वैशीकी मधुरव्यंगि आदि मनोहर शब्दोंमें, कामिनियोंके शृङ्गार-रस-मिश्रित काममीय गीतोंमें, करताल, गम्भीर मृदङ्ग तथा चिन्न-विचित्र कांस्यताल आदि वाचोंकी घनियोंमें—चाहे घनि रुक्ष हो या मधुर कहीं भी ग्रेम नहीं करता । आसकि-रहित ज्ञानी पुरुष कोमल कदलीके स्तम्भोंकी पल्लव-पङ्क्तियोंसे युक्त तथा देवता एवं गन्धोंकी कल्पालोंके अङ्गोंसे समान अतिकोमल अवश्यवाली लक्षाओंसे युक्त नन्दनवनकी कीटाओंमें कहीं कभी रमण नहीं करता । जिस प्रकार हंस महभूमियें रमण नहीं करता, उसी प्रकार स्वाधीन विषयप्रीगोंमें भी आसकि न रखनेवाला धीर तरस ही किसी भी विषयमें रमण नहीं करता । कदम्ब, कन्हैल, अंगूर, खरबुजा, अखरोट तथा नारंगी आदि फलोंमें; दही, दूध, बी, मक्कहन, चावल आदि भोज्य पदारोगोंमें; रेत (चटनी), पेय

(शब्दन) आदि विश्वमूर्गं चित्र-विनिवृष्टः प्रकारके रसयुक्त पटायें, इनके सिवा अन्यान्य फल, कन्द, मूरु, शक्क आदि भोज्य पदार्थोंमें —कहींपर मी वह परमात्मके आनन्दमें नृम, आसक्तिरहित ज्ञानी महात्मा पुरुष नहीं फैसला ।

धर्मराज, चन्द्र, इन्द्र, रुद्र, सूर्य और वायुके जोकोंको; मेह, भग्नराचल, धैर्यास, सत्याङ्गि तथा दर्दुर पर्वतोंके शिल्पोंको; चन्द्रमाकी चोड़नी हो; मणिमुक्तामय रस और सुवर्ण-निर्मिन प्रकृत्योंको; निलोत्तमा, उर्वशी, रम्भा, भेनथा आदिकी अङ्गुठाओंको—किसीको भी वह आसक्ति-रहित ज्ञानी महात्मा' देखना मी नहीं जाहता और वह विश्वानानन्दघन परमात्मायें परिपूर्ण, मान न चाहनेवाला, मौनी महात्मा शत्रुओंके प्रतिकूल व्यवहारको देखकर भी विचलिन नहीं होता । जो एक ब्रह्मदृष्टि रखनेवाला तथा विकाररहित समबुद्धि ज्ञानवान् पुरुष है, वह कनेर, मन्दार, कल्हार, कमल आदियें; कुर्द, नीलकमल, चम्पा, केतकी, अगर, जानि (मालती) आदि पुष्पोंमें; चन्द्रन, अगुरु, कपूर एवं करुदीरी आदियें; केसर, लौंग-इच्छायची, कफ्फोल ( शीतलचीनीके वृक्षका भेद ), तार आदि अङ्गुठागोंमें जिसीकी भी सुगन्धमें प्रेम नहीं करता । जो सचिदानन्दघन ब्रह्मके ध्यानयें मान है, वह वज्रके भयावह शब्दसे, पर्वतके विस्फोटसे एवं ऐगवत आदि दृथियोंवे विश्वाङ्नेसे कम्भित नहीं होता । तीक्ष्ण दूरेकी धारोंमें या नदीन कपलोंसे निर्मिन शश्याओंमें, सूर्य-किरणोंसे प्रनत शिश्याओंमें या कोमल ललनाओंमें, सम्प्रतियोंमें या डग्र विपत्तियोंमें एवं क्रीडाओं तथा उसकोंमें विद्वार करते हुए भी ज्ञानी महात्माको प्रणिकूल पटायोंसे तो उद्वेग नहीं होता और अनुकूलकी प्राप्तिमें हर्ष नहीं होता । वह भीनरसे सदा भहता-ममता एवं आसक्तिसे रहित होता है और बाहरसे निःस्वार्यमात्रसे कर्म करता रहता है । जीवनका विनाश करनेवाला तथा जीवनका दान देनेवाला—इन दोनों पुरुषोंको ज्ञानी पुरुष प्रमनना एवं मवुतामें शोभिन मष्टकिये देखना है । ज्ञानवान् पुरुष देवना और मनुष्य आदि शरीरोंसे

तथा प्रिय और अप्रिय पड़ायेंसे न हर्षित होता है और न ग्रानिका अनुमत करता है अर्थात् अनुकूलमें हर्षित नहीं होता और प्रतिकूलमें ग्रानि और विपादके वशीभूत नहीं होता । श्रीराम ! अपने चित्रमें आसनिका अमाव और परमात्माके स्वरूपका यथार्थ हानि हो जानेसे तत्त्वज्ञानी पुरुष बगहको पिथ्या समझता है । इसलिये वह किसी भी समय इन्द्रियोंके द्वारा वेष्योंमें रमण नहीं करता; क्योंकि उसकी बुद्धि समस्त मानस पीड़ाओंसे मुक्त हो चुकी रहती है । किंतु जो तत्त्वज्ञानसे शून्य और शान्तिरहित है एवं परमात्माको प्राप्त नहीं हुआ है, उस वास्तविक स्थितिसे विजित मनुष्य-को इन्द्रियों नकाल उसी प्रकार निगल जाती हैं, जिस प्रकार हरिन हरे कोषल पर्सोंको निगल जाते हैं ।

रघुनन्दन ! जो विवेकार्थीक विचारशील है एवं जिसकी एकमात्र सचिदानन्द ब्रह्मके स्वरूपमें ही स्थिति है और परमात्माके स्वरूपमें ही जिसको विश्वाम प्राप्त हो गया है, उस ज्ञानी महात्माको संसारके संकल्प-विकल्प विचलित नहीं कर सकते—ठीक उसी प्रकार जैसे जलका प्रवाह अचल पहाड़को विचलित नहीं कर सकता । समस्त मंकर्त्योंकी सीमाके अन्तस्वरूप पटमें जो महानुभाव विश्वामको प्राप्त हो गए हैं, उस परमात्माको प्राप्त हुए महात्मा श्रोकी दृष्टिमें सुवर्णमय सुपेरु पर्वत भी तुणके राहश है अर्थात् कुठ भी नहीं है । उन विश्वान्वहृदय महात्माओंकी दृष्टिमें सारा संसार और एक छोटा-सा तुण, अमृत और विश, कल्प और क्षण समान हैं । जिस जट दृश्य संसारका आदि और अन्तर्में अस्तित्व नहीं है, उसकी यदि वर्तमान आलमें कुछ कालतक सत्ता प्रतीत हो रही है तो वह जीवात्माका नम ही है । ज्ञानी शरीर, मन, बुद्धि तथा आसक्तिसे रहित इन्द्रियोंसे चाहे कर्म करे या न करे, अमङ्ग होनेके कारण कर्मसे लिस नहीं होता । महावाहु श्रीराम ! जिस प्रकार कोई भी मनोराज्यकी सम्पत्तियोंके नष्ट होनें या न होनेपर, उससे उत्पन्न सुख-दुःखोंसे निम नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानी

महात्मा पुरुष आसक्तिरहित मनसे कर्म करता हुआ भी उससे उत्पन्न सुख-दुःखरूप फलसे लिख नहीं होता तथा आसक्तिरहित मनवाला महात्मा पुरुष चक्षुसे विषयोंको देखता हुआ भी, उसका विचरण अन्यत्र—परमात्मामें स्थित होनेके कारण, कुछ नहीं देखता। जिसका विचरण दूसरी जगह तत्परतासे लगा रहता है, वह विषयको नहीं देखता—यह वात वालक भी जानता है। इसलिये आसक्तिरहित मनवाला ज्ञानी महात्मा पुरुष सुनता हुआ भी नहीं सुनता, स्पर्श करता हुआ भी स्पर्श नहीं करता, सौंधता हुआ भी नहीं सौंधता, नेत्रोंको खोलता और बंद करता हुआ भी न उन्हें खोलता और न बंद ही करता है। श्रीराम ! आसक्ति ही संसारका कारण है, आसक्ति ही समस्त पदार्थोंका हेतु है, आसक्ति ही वासनाओंकी जड़ है और आसक्ति ही समस्त विपत्तियोंका मूल है। अतः आसक्तिके त्यागको ही मोक्ष समझा गया है और आसक्तिके स्थानसे ही मनुष्य जन्म-प्रणासे छूट जाता है।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—अस्ति संशयरूपी कुहरेका नाश करनेवाले शरक्तवाले वायुरूप महासुने ! सङ् ( आसक्ति ) किसे कहते हैं—ग्रन्थो ! वह सुनसे कहिये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थोंकी उत्पत्ति और विनाशमें जो हर्ष और विपादरूप विकर उत्पन्न करनेवाली भूमिं वासना है, वही सङ् ( आसक्ति ) है—ऐसा ज्ञानीजन कहते हैं। जीवन्मुक्त स्वरूपवाले तत्क्वेताओंके पुनर्जन्मका नाश करनेवाली, हर्ष एवं विषाद दोनोंसे रहित, शुद्ध वासना—आसक्तिरहित विचरणहोती है। वह भूने हुए बीजके समान आङ्कितमात्र है। उस शुद्ध वासनाका दूसरा नाम असङ् ( आसक्तिका अमाध ) जानो। वह तबतक रहती है, जबतक प्रारब्ध भोगोंका संत्करणरूप देह रहता है। उस शुद्ध वासनसे जो कुछ किया जाता है, वह पुनः संसारमें जन्म-प्रणालूप बन्धनका कारण

नहीं होता। जो जीवन्मुक्त नहीं हैं, जो दीन एवं मूलधित हैं, उनकी वासना हर्ष तथा विषादसे युक्त रहती है। वह वासना जन्म-प्रणालूप बन्धन देनेवाली होती है। इसी बन्धनकारक वासनाका दूसरा नाम सङ् है। वह पुनर्जन्मका कारण है। इस वासनासे जो कुछ किया जाता है, वह केवल बन्धनका ही हेतु होता है। रुचनन्दन ! यदि तुम हुँ खोसे घबराते नहीं, सुखोंसे इर्षित नहीं होते और समूर्ण आशाओंसे रहित हो तो तुम असङ् ही हो। समस्त व्यवहारोंमें एवं सुख-दुःखकी अवस्थाओंमें समन्वित रहते हुए ही यदि विचरण फरते हो तो तुम असङ् ही हो। सांसारिक पदार्थोंको तुम अपनी आत्मा ही समझते हो और जिस समय न्यायुक्त जैसा व्यवहार प्राप्त होता है, उसीके व्यवहार ज्ञानानुकूल आचरण करते हो तो तुम असङ् ही हो। जीवन्मुक्तोंके ज्ञानसे समझ, इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला, परमात्माका सनन करनेवाला श्रेष्ठ मुनि मान, मद, मास्तर्य और चिन्ताभ्यरसे रहित होकर शित रहता है। श्रीराम ! प्रञ्जुतर पदार्थोंके सदा रहते हुए भी सबमें समानभाव रखनेवाला तथा बाहर एवं भीतर इच्छा एवं याचना आदि रूप दीनतासे शून्य अन्त करणवाला यह महात्मा एकमात्र अपने वर्णाश्रियोंचित सामाजिक क्रम-प्राप्त न्यायुक्त व्यापारसे पृथक् दूसरा कुछ भी व्यापार नहीं करता। वर्णाश्रियमनुसार परम्परा-प्राप्त अपना जो कुछ भी कर्तव्य है, उसका वह ज्ञानी संसर्ग-सम्बन्ध अर्थात् आसक्ति, अहंता-भमतासे रहित बुद्धिसे खेदशून्य हो अनुष्ठान करता हुआ परमात्मस्वरूप अपने आत्मामें रमण करता है। जिस प्रकार मन्दराचल पर्वतसे मध्ये जानेपर भी श्रीरामसुह अपना स्वामादिक शुद्धपन नहीं छोड़ता, उसी प्रकार आपति अथवा उत्तम सम्पत्तिके प्राप्त होनेपर वह महामति तत्त्वज्ञ अपना सद्ग

( सर्ग ९३ )

## निर्वाण-प्रकरण पूर्वार्थ

**श्रीवसिष्ठजीके कहनेपर श्रोताओंका समासे उठकर दैनिक किया करना तथा सुने गये विषयोंका चिन्तन करना।**

**श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भद्राज !** उपशम-प्रकरणके अनन्तर अब इस निर्वाण-प्रकरणका श्रद्धण करो । उसका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर वह मोक्षरूप फल देता है । जिस समय महाराज वसिष्ठजी उस प्रकारके गम्भीर अर्थके प्रतिपादक वचन कह रहे थे, उनके श्रवणके ही आनन्दमें निष्प्रश्न श्रीराम मौन होकर स्थित थे; महामुनि वसिष्ठजीकी बाणी और उसके द्वारा प्रतिपादित अयोक्तो मनमें धारणकर राजालोग, जो बाह्य विषयोंके विज्ञान एवं शारीरिक चेष्टासे रहित थे, निश्चेष्ट होकर चित्रलिखित मूर्निकी तरह अचल स्थित थे । एवं महामुनि वसिष्ठजी-द्वारा उपदिष्ट वाक्योंका बड़े आदरके साथ श्रोता सुनिगण निचार कर रहे थे, उस समय दिनके अनुर्ध भागमें मेरी और शहूनी जनि हुई । उक्त जनिसे मुनि वसिष्ठजीका उभत सर भी उसी प्रकार दब

\* वैराग्य और मुनुषु-अवहार नामक प्रकरणोंके बाद जो उत्तरि, स्थिति और उपशम नामक तीन प्रकरण कहे गये हैं, उनमें यह यताया गया कि उत्तरि, स्थिति और लयके योगफल तथा 'नेति-नेति' इत्यादि रूपसे प्रपञ्चके नियेषक द्वे वेदान्त-वाक्य हैं, वे अध्यारोपापनाद-न्यायसे परमात्मतत्त्वका ही प्रतिगादन करनेवाले हैं । अतः वासनाक्षय और मनोनाशार्द्धक परमात्म-कानके द्वारा परमपुरुषार्थकी प्राप्ति करनेमें ही उनका तात्पर्य है । अथ 'पश्च नान्यत् पश्यन्ते' ( आनन्दोऽय० ३।२४।१ )—'नहीं परमात्माके सिवा दूस्री किंची वस्तुको नहीं देखता', 'पश्चो वाचो निवर्तन्ते' ( तैतिरीय० २।४।१ )—'जहाँने बाणी उमे न पाकर लैट आती है', 'आनन्द बहाणो विद्वान् न विभेति दशुचन' ( तैतिरीय० २।४।१ )—प्रश्नके आनन्दको ज्ञाननेवाला कभी भयभीत नहीं होता ।' 'त्वेतद् ब्रह्मार्थम्' ( बृहदा० २।५।११ )—'वह वह ग्रस्त अग्रसे है' इत्यादि श्रुतियोंसे विद् तथा पूर्णे दत्ताये मध्ये उमन ऋषनोंसे ग्राप्त होनेवाले आनन्दके फलभूत मोहके त्वर-स्था वेद करनेके लिये महर्षि वाल्मीकि निर्वाग-नामक प्रकरणका आरम्भ करते हैं ।

गया, जिस प्रकार मेरोंके नादसे मयूरोंका शब्द । धीरे-धीरे उस शहू-जनिके शान्त होनेपर मुनिश्रेष्ठ महाराज श्रीवसिष्ठजी समामें श्रीरामचन्द्रजीसे यों मधुर वचन कहने लगे—‘श्रीराम ! मेरी इस बाणीके अर्थको तुमने क्या उसी तरह प्राहण किया, जिस तरह हंस जलका स्थागकर दूधको प्राहण करता है ? तुमको इसे अपनी बुद्धिसे अच्छी तरह बार-बार निचारकर उसीके अनुसार चलना चाहिये । समस्त शार्कोंके सिद्धान्तको समझकर तुम उदार चित्त-से मेरे द्वारा कथित प्रयोजनकी सिद्धिके लिये असङ्ग होकर समयानुसार प्राप्त व्यवहारका परिपालन करो ।’

‘समासदूर्गण ! महाराज दशरथ ! श्रीराम ! लक्षण ! तथा अन्यान्य नृपर्श्चा ! आप सभी आज अपने-अपने नित्यकर्मोंका अनुष्ठान करें; क्योंकि आजका दिन प्रायः समाप्त होने जा रहा है । अब जो विश्वार करना चाहे है, उसका जब आपलोग प्राप्तःकाल समामें आयेंगे, तब हमलोग निचार करेंगे ।’

**श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भद्राज !** मुनिवर वसिष्ठजीके इस प्रकार कहनेपर वह सभा उठ खड़ी हुई । सभसा समाप्तका बदन बमलकी तरह था, बतएव वह विकासयुक्त कमलिनीके सद्वा भली माझम पड़ती थी । उस समय अन्यान्य राजाओंने महाराज दशरथकी स्तुति की, श्रीरामचन्द्रजीको नमस्कार किया तथा महर्षि वसिष्ठजीकी निशेषरूपसे स्तुति की । तदनन्तर वे अपने-अपने आश्रममें चले गये । आकाशचारी देवताओंकी बन्दना करके महाराज वसिष्ठजी महर्षि विशामित्रके साथ आश्रममें जानेके लिये आसनसे उठे । दशरथ आदि राजा तथा मुनिश्रेष्ठ अपने अनुरूप उपदेश मुनिवर वसिष्ठजीके पीछे-पीछे आश्रमपर्वत जाकर उनकी आङ्गा लेकर

कोई आकाशकी ओर, कोई अरथकी ओर, कोई राजमन्दिरकी ओर कल्पसे उसित भरपोकी तरह चले गये । श्रीराम, छमण तथा शत्रुघ्ने गुरुपर वसिष्ठजीके आश्रममें उनके साथ जाकर उनके चरणोंकी महिरूर्धक पूजा की और फिर दशरथजीके भवनकी ओर चले गये । अपने-अपने सानमें आकर उन सब श्रोताओंने स्नान किया, देवता और पितृोंकी पूजा की तथा प्राक्षणों और अतिथियोंका सागत-स्नानर नियम । इन क्रियाओंसे निहृत होकर उन श्रोताओंने श्रावण आदिसे लेकर नौकर-पर्यन्त अपने-अपने परिवारोंके साथ वर्ण-धर्मके क्रमानुसार भोज्यपदार्थोंका भोजन किया । दैनिक क्रियाओंके साथ सूर्यभगवान्‌के अस्ताचलकी ओर प्रस्थान करनेपर तथा

रात्रि-कृत्योंके साथ निशाकरके उदित होनेपर आस्तारणोंसे युक्त शश्याओंपर तथा आसनोंपर भूमिपर विहार करनेवाले सुनि, राजा, राजमहर्षिलोग अत्यन्त आदरपूर्वक महर्षि वसिष्ठव कल्पसे निर्गत संसार-तरणके उपायका एकत्र यथावत् विचार करने ले । तदनन्तर प्रहर श्रोतागण मुन्द्र सभासे युक्त निश्चको प्राप्त हुए छमण एवं शत्रुघ्न—इन तीनों भ्राताओंने तीन महर्षिके उपदेशका निरन्तर विचार किया । केवल आचे प्रहर ( दो घंटी ) तक ही नयनोंउत्तम सभासे युक्त तथा क्षणमरमें अम्बज निवेदाली निद्रा प्राप्त की ।

### श्रीरामचन्द्र आदिका महाराज वसिष्ठजीको सभामें लाना तथा महर्षि वसिष्ठजीके द्वारा उपदेशका आरम्भ; चित्रके विनाशका और श्रीरामचन्द्रजीकी

#### श्रवणरूपवाका निरूपण

श्रीकाल्मीकिजी कहते हैं—रात्रिके शीर्ष होनेपर श्रीराम, छमण तथा शत्रुघ्न अपने-अपने अनुचरोंके साथ उठकर स्नान, संच्या आदि कल्पोंका अनुष्ठान करके महामुनि श्रीवसिष्ठजीके आश्रमपर चले गये । वहाँ उन्होंने संच्या करके आश्रमसे बाहर निकलते हुए महर्षि वसिष्ठजीके चरणोंमें अर्प्य प्रदानकर प्रणाम किया । क्षणमरमें महर्षि वसिष्ठजीका आश्रम मुनियों, प्राक्षणों और राजाओंसे तथा क्षणी, धोर्णे, रथ आदि अन्यान्य बाह्योंसे इतना भर गया कि वहाँ तनिक भी अवकाश नहीं रहा । तदनन्तर मुनिश्रेष्ठ महाराज वसिष्ठजी उस सेनाके साथ ही श्रीराम आदिसे अनुगत होकर व्यासमय दशरथजीके घरपर जा पहुँचे । वहाँपर श्रीप्रतार्थक भिलनेके उत्साहसे संच्या-कन्दनसे निवृत्त हुए महाराज दशरथने आदरपूर्वक दूर मार्गमें ही जाकर महर्षिका पूजन किया । वे सब श्रोतागण पुष्पो, मोतियों तथा मणियोंके समूहोंसे फहलेकी अपेक्षा पुनः अधिक सजायी गर्वी सभामें प्रविष्ट होकर अपने-अपने

आसनोंपर बैठ गये । इसके अनन्तर उसी सदिनके जो अकाशचर, भूचर आदि श्रोता थे, केसब आ गये । एक दूसरेका अभिशाद सभा बैठ गयी । तदनन्तर वाक्यरचनामें पदु वसिष्ठजी पूर्व प्रकरणके अनुसार ही वाक्यार्थके श्रीरामनन्दनको कहने ले ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! मुन्द्र पद्मिसे जो अत्यन्त गहन अर्थवाका तदका बोधक वाक्य कहा था, उसका क्या तुममें है ? अब मैं तुम्हारे सम्मानेके लिये यह शाश्वत सिद्धिदायक उपदेश करता हूँ, इसे श्रीराम ! परमात्मतत्त्वके वर्णन ज्ञानसे अन्त तथा वासनाका विनाश हो जानेपर शोकशूल्य प्राप्त हो जाता है । देश, काल और वस्तुसे उभितीय परमात्मा ही है । उस वित्तरूप जगत् तो अझालसे प्रतीत होता है ।

परमात्माके सिंचा दूसरी कोई वस्तु नहीं है; क्योंकि जहाँ समस्त पदार्थोंसे रहित, परम शान्त, समानमात्रसे प्रकाशित एक सचिदानन्द ब्रह्म ही है, वहाँ उस परमात्मा-के सिंचा दूसरा पदार्थ कैसे रह सकता है। जो सम्पदार्थ हैं, जो दृश्य हैं, जो प्राणी हैं और जो उनकी इच्छार्थ हैं—इन सबके रूपमें आदि और अन्तसे रहित एक विज्ञानानन्दधन ब्रह्म ही है, जैसे समुद्रकी तरफ़े समुद्र ही है। पातालमें, भूमिमें, सर्गमें, तृण आदि जड़ पदार्थोंमें, प्राणी एवं आकाशमें—सर्वत्र वह सचिदानन्द-धन परमात्मा ही परिपूर्ण है, दूसरा कुछ नहीं। जैसे समुद्रकी नाना तरफ़े समुद्र ही हैं, वैसे ही उपेक्ष्य, हेय, उपादेय, कन्तु-नान्धव, सम्पदार्थ, देह—इन सभी रूपमें आदि और अन्तसे रहित परमात्मा ही प्रकाशित है। जबतक अज्ञानकी कल्पना, ब्रह्मसे अतिरिक्त पदार्थकी भावना और जगज्ञालयमें आस्था रहती है, तभीतक चित्त आदिकी कल्पना रहती है। जबतक देहमें अहंभावना रहती है, जबतक इस दृश्यमें आत्मरूपता रहती है, जबतक यह भेरा है—इस प्रकारकी आस्था रहती है, तभीतक चित्तरूप भ्रम रहता है।

जबतक पूर्णतापास उदय नहीं होता और जबतक सज्जनोंके सर्वांगसे अज्ञानका विनाश नहीं होता, तभीतक चित्त आदि पनक़ों ओर जाते रहते हैं। जबतक सचिदानन्द परमात्माके यथार्थ अनुभवके प्रभावसे यह जगत्की वासना शिरिल नहीं हो जानी, तभीतक चित्त आदि प्रर्नाम होते हैं। जबतक अज्ञानरूप मूर्खना रहनी है, जबतक निष्याभिलापासे विवशना रहती है एवं जबतक मूर्खनावय भोहका समुद्र बना रहना है, तबतक चित्त आदिकी कल्पना रहती है। किंतु जिसका अन्तःकरण भोगोंमें आस्था नहीं रखना, जिसके सुशील निर्भल निर्शर्ण परमपद प्राप्त हो चुका है एवं जिसके आशापाशके जाल छिन्न-पिन्न हो गये हैं, उसका चित्तरूप भ्रम नष्ट हो जाता है। निष्या भ्रमको उत्पन्न करनेवाले अनास्तर्दर्शन-

का विनाश तथा परमार्थमूर्त सचिदानन्द परमात्मज्ञानरूप उत्तम सूर्यका उदय होनेपर चित्त विनष्ट होकर उसी प्रकार पुनः दिखायी नहीं देता, जिस प्रकार अग्निमें सूखा पत्ता या धीकी बूँद गिरनेपर पुनः दिखायी नहीं देती। परमात्माके सगुण-निर्गुण खलूपका साक्षात्कार किये हुए जो जीवन्मुक्त महात्मा हैं, उनका पवित्र अन्तःकरण ही 'सत्य'नामसे कहा गया है। जो समरूप परमात्मपदमें निष्य स्थित, चित्तरहित तत्त्वज्ञानी महात्मा हैं, वे सत्त्वगुणमें स्थितिसे उत्पन्न उपेक्षासे ही लीलामात्र व्यवहार करते हैं। परमात्मामें स्थित, संयतेन्द्रिय, परम शान्त महात्मा पुरुष उस ब्रह्मरूप ज्योतिका सदा ही साक्षात्कार करते रहते हैं; अतः उनमें द्वैतभाव, एकमात्र और वासना नहीं हो सकती। 'ऐ सर्वात्मक द्वै' इस प्रकारकी परिपूर्ण आत्मभावनासे समस्त विजगत-रूपी तृणका सचिदानन्दरूप अग्निमें हवन करनेवाले महामुनिके चित्त आदि ऋग निवृत्त हो जाते हैं। विकेन्द्र से विशुद्ध हुआ चित्त सत्य कहा जाता है। वह फिर मोहरूपी फल उसी प्रकार उत्पन्न नहीं करता; जिस प्रकार दग्ध हुआ बीज नहीं लगता। मूढ़ मनुष्योंके भीतर पुनर्जन्मका विवायक वासनायुक्त चित्त होता है; किंतु तत्त्वज्ञान हो जानेपर वही वासनारहित सत्त्वरूप होकर पुनर्जन्मका वायक हो जाता है। श्रीराम ! तुम प्राप्तव्य बस्तुओं प्राप्त कर चुके हो। तुम्हें कुछ भी प्राप्त करना नहीं है, तुम्हारा चित्त शुद्ध है और ब्रानरूप अग्निसे दग्ध हो चुका है; अतः वह भावी जन्मका कारण नहीं हो सकता अर्थात् तुम जन्म-मरणसे रहित हो। तुम वास्तवमें अवयव और सीपासे रहित, चेतनस्तरूप ही हो; अतः तुम अपने खरूपका स्मरण करो, उसे कभी भूलो मन। तुम वही परिपूर्ण, परम शान्त, सचिदानन्द परमात्मा परमात्मा हो। श्रीराम ! सारा चराचर चेतन-समूह तुम्हारे अंदर है और वास्तवमें वह नहीं है। तुम जो हो सो हो, तुम सद भी हो, असद भी हो। जो कुछ सत्-असत् प्रतीत होता

है, वह तुम्हारा संकल्प होनेसे तुम ही हो और तुम सब प्रकार सख्तर हो दो। वास्तवमें जड़-पदार्थनिरेष तुम नहीं हो और न वह सब तुम्हें है। तुम्हारा संकल्प होनेसे वह तुम्हारा सख्तर ही है और वसुसे असद् होनेके कारण वह नहीं है, तुम अपने सचिदानन्द-सख्तरमें नित्य स्थित हो। तुम्हें नमस्कार है। तुम आदि

और अन्तसे रहित, हिलके समान चेतनघन हो—जिस प्रकार शिलगें पल्परेके सिंच कोई वस्तु नहीं उसी तरह तुम्हें एक चेतनके सिंच और कुछ नहीं है। तुम आकाशकी तरह निर्मल और स्वस्थ हो। तुम छोलसे ही सम्पूर्ण जगत्को अपने एक अंशमें धारण किये हुए हो। ऐसे ग्रहसख्तर तुम्हें नमस्कार है। ( सर्ग २ )

### अहम् की जगत्कारणता और ज्ञानद्वारा मायाके विनाशका तथा श्रीवसिष्ठजीके द्वारा श्रीरामकी महिमा एवं श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा अपने परमार्थ-स्वरूपका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—निष्पाप श्रीराम ! जिस प्रकार समुद्रमें उठनेवाली वास्तव्य तरफेका मूल कारण जल ही है, उसी प्रकार जो नाना प्रकारके असंख्य प्रद्वाणोंकी उत्पत्ति और धारण करनेवाला चेतन है, वह तुम हो। समरूप, आकाशकी तरह सौभ्य, बड़ी-बड़ी सृष्टिरूपी जल-तरङ्गोंसे घन प्रकाशमय परमात्म-वैतन्यरूप समुद्र तुम ही हो। \* जिस प्रकार अमिन्से उधात्त मिश्न नहीं है, कमलसे सौगन्ध मिश्न नहीं है, कमलसे कृष्ण रूप मिश्न नहीं है, वरकू से शुक्ल रूप मिश्न नहीं है, ईर्ष्यसे भाषुर्य मिश्न नहीं है, तेजसे प्रकाश मिश्न नहीं है, चेतनसे उसका अनुभव मिश्न नहीं है, जलसे तरङ्ग मिश्न नहीं है, उसी प्रकार सचिदानन्द अससे चराचर जगत् मिश्न नहीं है; क्योंकि प्रकृति ही सचका कारण है। इसलिये चेतनसे उसका अनुभव मिश्न नहीं है। अनुभवसे 'अहम्' मिश्न नहीं है, 'अहम्'से जीव मिश्न नहीं है, जीवसे मन मिश्न नहीं है, मनसे इन्द्रिय मिश्न नहीं है, इन्द्रियोंसे वेद मिश्न नहीं है, वेदसे यह जड़ इत्य जगत् मिश्न नहीं है, जगत्से मिश्न अन्य कोई पदार्थ नहीं है।

\* रमन्ते योगिनो यस्मिन् नित्यानन्दे चिदात्मनि ।

इति रामदेनायौ परं ग्रहाभिव्यते ॥

'जिस नित्यानन्द चिदात्मामें योगीलगे निरन्तर रमण करते हैं, वह परब्रह्म भ्रम' पदसे कहा जाता है—ऐसी मूलाद्विवाले भ्रमः शब्दके बाव्य भी तुम ही हो।

श्रीराम ! यह इत्यमान जगत्खणी चक्र विनाश परमामाने ही अनादि कालसे अपने संकल्पद्वारा प्रवृत्त किया है। वास्तवमें तो कुछ भी प्रवृत्त नहीं किया है। यथार्थमें तो यह सब कुछ विभागरहित अनन्त सचिदानन्दरूप आकाश ही अपने आपमें स्थित है। उसके सिंच दूसरा और कुछ भी नहीं है। ज्ञानी पुरुष इन्द्रियों और मनके व्यापारोंको करता हुआ भी कुछ भी नहीं करता; क्योंकि उसमें कर्तृत्व है ही नहीं। श्रीराम ! तुम भीतरसे आकाशकी तरह निर्मल हो, बाहरसे अपने वर्णश्रामानुकूल आचरण करते हो एवं हर्ष और ईर्ष्या आदि विकारोंमें काष्ठ और छोपके समान निर्विकार हो। जो तत्क्षण मारनेके लिये उद्घत अत्यन्त ही कठोर शब्द है, उसे सामानिक विषयम् मित्रके रूपमें जो देखता है, वही यथार्थ देखनेवाला ज्ञानी महात्मा है। जिस प्रकार तटजर्ती वृक्षको नदी बैगासे मूलोच्छेन्नर्तक उखाड़कर फेंक देती है, उसी प्रकार जो महात्मा सौहार्द और ईर्ष्याको केसे समृद्ध उखाड़ फेंक देता है, वही हर्ष और ईर्ष्याखण्डी दोगोंका विनाश कर सकता है। जिस पुरुषके अन्तःकरणमें भी कर्ता हो ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी शुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और कलोंमें लिप नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बैठता है।

श्रीराम ! जिसका त्रिकालमें अस्तित्व नहीं है, उसकी स्थायहारिक सत्ताका ज्ञान करनेके लिये 'माया' शब्दका प्रयोग किया गया है। वह माया उसका यथार्थ ज्ञान हो जानेसे निस्संदेह विनष्ट हो जाती है।

निष्पाप श्रीराम ! मन, बुद्धि, अहंकार तथा इन्द्रिय आदि सब कुछ जडतारहित एकमात्र चिन्मय परमात्मा ही है। फिर जीवात्मा उस परमात्मासे अलग कैसे रह सकता है, अर्थात् वह भी परमात्माका स्वरूप ही है। जब भोग-तृष्णाखण्डी विषयका आवेश विनष्ट हो जाता है—संसारके विषयमेंगोसे तीव्र वैराग्य हो जाता है, तब अज्ञान उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जैसे गत रात्रिके अन्वकारके नष्ट हो जानेपर रत्नोंधी भाग जाती है, मली प्रकारसे आलोचित व्यापारात्मकस्तरपर विचारसे तृष्णाविषयखण्डी महामारी क्षीण हो जाती है। जैसे विस्तृत आकाशमें अव्यक्त वायु स्थिर है, वैसे ही मावाभावसे रहित हुए तुम उस अव्यन्त विस्तृत परम पदरूप अपने व्यापारस्तरपरमें स्थिर हो। श्रीराम ! जब साधारण मनुष्योंको भी अपने कुलगुरुके वचन लग जाते हैं, तब फिर तुम उदार ( विशाल )-बुद्धिको मेरा उपदेश क्यों नहीं लगेगा ? क्योंकि तुमने अपनी बुद्धिसे मेरे वचनोंको प्रहृण करने योग्य समझ लिया है,

अतएव मेरे वचन तुम्हारे हृदयके अदर प्रविष्ट हो जाते हैं। श्रेष्ठ महात्माव श्रीराम ! मैं रघुकुलको उज्जत करनेवाले तुमलोगोंका सदसे कुलगुरु हूँ, इसलिये तुम मेरे हारा कहे गये शुभ वचनोंको हृदयमें हारकी तरह धारण करो।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन् ! मैं केवल परम ज्ञानिका अनुभव कर रहा हूँ और परमानन्दमय स्वरूपमें शुखपूर्वक स्थित हूँ। मुने ! मुझे कुहरेसे शून्य दिल्मणहल्की भोति भली प्रकार प्रसन्न यह समस्त जगत् वास्तविक सविदानन्दस्वरूप दीख रहा है। भगवन् ! मैं संदेहसे, आशारूप मृगलृष्णासे, राग और वैराग्यसे रहित हूँ। नाय ! मैं अपने आपसे ही अपने उस अविनाशी विज्ञानानन्दमन स्वरूपमें स्थित हूँ, जहाँपर अमृतका रसाखार मी तृणके सदृश नीरस होकर उपेक्षणीय हो जाता है। मैं अपने प्राकृत स्वरूपमें स्थित हूँ,—स्वस्थ हूँ, प्रसन्न हूँ। लोक जहाँ विश्राम करते हैं, उस स्थृखका केल्दस्तरूप मैं हूँ। अतएव मैं वास्तविक राम हूँ, मैं अपने परमार्थ स्वरूपको तथा आपको ग्रणाम करता हूँ। शुद्ध आत्मामें अज्ञान आदि विकार कैसे आ सकते हैं। सदा शुद्ध आत्मा ही सर्वत्र विद्यमान है। सब कुछ आत्मा ही है। यह दूसरा है, यह दूसरा है—इत्यादि असत् कल्पनारैं कैसे आ सकती हैं। ( सर्ग ३—५ )

## देह और आत्माके विवेकका एवं अज्ञानीको देहमें आत्मबुद्धि और विषयोंमें सुख- बुद्धि करनेसे हुःखकी ग्रासिका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—महाब्रह्म श्रीराम ! तुम फिर भी मेरे परम रहस्यमय और प्रभावयुक्त वचन सुनो, जिन्हें मैं अतिशय प्रेम रखनेवाले तुम्हारे लिये हितकी इच्छासे कहता हूँ। श्रीराम ! जिस अज्ञानी पुरुषकी अज्ञानवश देहमें ही आलभावना उत्पन्न हो जाती है, उस पुरुषको इन्द्रियों रोपपूर्वक शक्ति बनकर पराजित कर देती है। किन्तु जिस विवेकी पुरुषकी ज्ञानपूर्वक एकमात्र नित्य परमात्माके

\* कठोपनिषद्‌में भी बताया गया है—  
यस्त्रविज्ञानवान् भनस्युक्तेन गनसा सदा ।  
तस्मेन्द्रियाण्यवस्थानि दुष्टाशा इव सारथे ॥

निन्दनीय भौग्य पदार्थोंमें दोष-दर्शनके कारण निन्दाके सिवा तुलितुदि उत्पन्न होती ही नहीं, वह पुरुष दुःखदायी देहमें किसलिये आत्मदुष्क्रिया करेगा ; कभी नहीं करेगा । जैसे प्रकाश और अन्धकार एक दूसरेसे अल्पन्त मिल हैं, वैसे ही शरीर और आत्मा एक दूसरेसे अल्पन्त मिलक्षण हैं; क्योंकि शरीर जड़ और मिथ्या है तथा आत्मा चेतन और सत्य है । इसीसे न आत्मा शरीरका सम्बन्धी है और न शरीर ही आत्माका सम्बन्धी, अर्थात् परस्पर विलङ्घ होनेके कारण इनका सम्बन्ध सम्भव नहीं है । भावन ! समर्द्ध भावविकारोंसे नित्यमुक्त एवं निर्झिस आत्मा न कभी उत्पन्न होता है और न कभी जिनष्ट ही होता है, वरं वह सदा-सर्वदा एकत्रहमसे रहता है । परकरके समान जड़, ज्ञानरहित, तुष्णि, कृतज्ञ तथा विनाशदीच इस शरीरका जो कुछ भी होनेवाला हो वह भले ही हो, इससे आत्माको न तो हानि है और न इससे उत्पन्न कोई सम्बन्ध ही है ।

विभिन्न दृष्टियोंसे देखनेपर भी सदृश ग्रन्थ कभी आसदृश नहीं हो सकता, इसी प्रकार सर्वव्यापक जीवात्माका शरीरके साथ तनिक भी सम्बन्ध सम्भव नहीं । जैसे जलमें स्थित कमल्यकरका जलसे किंचिन्मात्र सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही देहमें स्थित जीवात्माका भी देहसत्ताके साथ किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है । परमात्माका अच्छी प्रकार साक्षात्कार हो जानेपर परमार्थ सत्यरूप परमात्मामें ही स्थिति हो जाती है और देहात्मदुष्क्रियरूप अज्ञान-प्रशुक्त भ्रम नष्ट हो जाता है । देह और आत्माके यथार्थ ज्ञानसे देखको असत्ता और आत्माकी सत्ता सिद्ध हो जाती है । सभी प्राणियोंमें अविनाशी चेतन रहता ही है, परंतु जीवात्माको इसका भली प्रकार ज्ञान न होनेके

कारण उसमें क्षयरता खा गयी है । ऐसे अज्ञानी जीवोंके शरीरसे शास उसी प्रकार निकलते रहते हैं, जैसे ओहारकी धौंकनीसे हवा निकलती है; अतः उनका जीवन व्यर्थ है । अज्ञान ही आपत्तियोंका आधार-स्थान है । भल्ल, बतलाये तो सही कि कौन-सी आपत्तियाँ अज्ञानीको नहीं प्राप्त होती ? अज्ञानीको उप्र दुःख और सांसारिक सूषण सुख भी बार-बार आते और जाते रहते हैं । देह, धन, खी आदिये आसक्ति रखनेवाले अज्ञानीका यह दुष्ट दुःख कभी भी शान्त नहीं होता । इस अनामयूत जड़ देहमें आसमाव करनेवाले अज्ञानी पुरुषकी असत्य बोधमयी माया क्या किसी प्रकार भी नष्ट हो सकती है ? अर्थात् ज्ञानके यिसी प्रकार नष्ट नहीं हो सकती । उस अज्ञानी पुरुषक ही जन्म पुनः-पुन् बालपन प्राप्त करता रहता है, बालपन बार-बार यौवन प्राप्त करता रहता है, और बार्धक्य बार-बार मरण प्राप्त करता रहता है । अज्ञानी पुरुष ही इस अगत्यरूपी जीर्ण वटीयन्द्र ( रुहँट ) में संसाररूपी रुद्धुसे वैश्वा हुआ कल्प-रूप होकर जलमें फ़ूता और निकलता रहता है । अर्थात् यह अज्ञानी जीव संसारमें बार-बार जन्मता-मरता रहता है । जिस प्रकार पश्चिमियों पिंजरसे बाहर निकल नहीं पातीं, वैसे ही उद्वरभरणमें अति आसक्तिरूपी वन्धनसे वैष्वे ज्ञानदृष्टिसे हीन अज्ञानी पुरुषकी दुष्क्रियाँ अपारसंसार-समुद्रके पार नहीं जा सकतीं । श्रीराम ! विषयोंको जो केवल उपर-उपरसे दिखायी पड़नेवाली मधुरता, परिणाममें अनर्यरूपता, आधन्तवत्ता, देशन-परिच्छिन्नता और समस्त अवस्थाओंमें नश्वरता प्रसिद्ध है, वे सब अज्ञानरूपी बुद्धके ही फल हैं । ( सर्ग ६ )

यस्तु विशानवान् भवति युक्तेन मनसा चंदा । तस्येनियाणि वशमनि सद्या इव मरये ॥

( कठ० १ । ३ । ५, ६ )

\*'जो सदा विवेकहीन बुद्धिवाला और अबशीमूल चबूल मनसे युक्त रहता है, उसी इन्द्रियों अभ्यासमें मार्यथने दुष्ट घोड़ोंकी मौति वशमें नहीं रहती । परंतु जो सदा विवेकमुक्त बुद्धिवाला और वशमें किंवद्दुष्ट मनसे गमन रहता है, उसी इन्द्रियों सावधान तारथिके अन्डे घोड़ोंकी मौति वशमें रहती है ।'

## अज्ञानकी महिमा और विशूद्धियोंका सविस्तर वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! मदरूपी चन्द्रके दियों क्षुब्ध काम-क्षीरसागरकी तरफके समान जो दिखायी पड़ती है, वह केवल अज्ञानकी ही विभूति है । वसन्तऋतुमें भूमिपर बनखण्डमें पुष्प कङ्गके दास कामियोंको जो रमणीय दिखायी पड़ते हैं, उसमें भी अज्ञान ही कारण है । गीध, गीदङ, कुत्ते आदिके खाने योग्य मांस-पिण्डरूप लियोंके शरीरोंकी जो चन्द्रमा, चन्दन और कमलसे उपमा दी जाती है, वह भी अज्ञानकी ही महिमा है । अरसे आर्द्ध ओष्ठनामक मांसके दुक्तदेवी जो रसायन, अमृत, मधु आदिके साथ उपमा दी जाती है, वह भी अज्ञान ही है । आरम्भमें अज्ञानी लोगोंको अस्त्र भूत भग्ननेवाली, मध्यमें राग-द्रेष आदि इन्द्रोंसे वाँधनेवाली एवं अन्तमें शीघ्र नष्ट हो जानेवाली धनराशिकी जो अभिलाषा की जाती है, वह भी अज्ञान ही है । जिसने अनन्त ऋषाण्डरूपी पके हुए फलोंको प्राप्त बना लिया है और जो सदा खानेकी चेष्टा करनेवाली जट्टानिसे उक्त है, वह काल अल्लोंतक जो तुत नहीं होता, उसमें भी अज्ञानकी ही महिमा है । जीवोंकी जो यौवन-रात्रि चिन्तारूपी पिशाचोंसे उपहत तथा विवेकरूपी चन्द्रमाके उदयसे शून्य, अतएव अन्वकारकी तरह प्रकाशरहित वीत जाती है, वह अज्ञानका ही विच्छस है । आरम्भकालमें कानोंके सनिहित कापोल-प्रदेशको आकान्त कर चारो ओरसे निष्पत्तिपूर्वक सुरणशील जरारूपी शूदी चिढ़ी, जो यौवनरूपी चूहोंका भक्षण करती रहती है, वह भी अज्ञानकी ही महिमा है । प्रतीतिरूपी पुष्पोंसे उज्ज्वल व्यावहारिक सत्तारूपी छता, जिसमें जगतरूपी पञ्चन हैं और जो धर्म-अर्थरूपी फल धारण करती है एवं विकसित होती है, इसका कारण भी माया ही है । जिसमें बड़े-बड़े पर्वत ही खमे हैं, सूर्य-बन्द ही खिलकिलों हैं, आकाश ही आच्छादन ( छत ) है,

ऐसा जगत-त्रयरूपी महल जो खक्का हो जाता है, वह भी मायाकी ही महिमा है । अपनी वासनारूपिणी शालाकारोंसे निर्भित शरीरके भीतर स्थित इन्द्रिय-समूहरूप पिंजरेमें जो जगतके अन्तर्गत जीवरूपी पक्षी वाशारूपी सूतसे बैंधा हुआ है, उसमें भी उसका अज्ञान ही कारण है । संसाररूपी खल्प जलाशयमें स्फुरित होनेवाली सुष्टुरूपी क्षुद्र मछलीको शठ कृतान्तरूपी बृद्ध गीव जो पक्षक लेता है, उसमें भी मायाकी ही महिमा है । परमपदरूप अचल ऋषमें संकल्पसे उत्पन्न असंख्य जगतरूप जंगलोंके जाल युगान्तरूपी अम्निसे जो दग्ध हो जाते हैं, उसमें भी अविद्या ही कारण है । निरन्तर उत्पत्ति और विनाशसे तथा दुःख और सुखकी सैकड़ों दशाओंसे, इस प्रकार जगत्स्थिति जो पुनः-पुनः बदलती रहती है, उसमें भी अविद्या ही कारण है । वासनारूपी जंजीरोंसे बैंधी हुई अज्ञानियोंकी छढ़ धारणा क्षुभित युगोंके आवागमन तथा कल्यार बज्रोंके आधारोंसे भी जो विदीर्ण नहीं होती, इसमें उनकी अविद्या ही कारण है । राग-द्रेषसे होनेवाले उत्पत्ति-विनाशसे तथा जगत-प्रणरूपी रोगसे समस्त जंगल जाति जीर्ण-शीर्ण हो गयी है, इसमें उनका अज्ञान ही कारण है । कमी उक्ष्यमें न आनेवाले विलों रहनेके कारण अदृश्य और अपरिमित भोजन करनेवाला कालरूपी सर्प निर्भय होकर इस समस्त जगतको जो क्षणमरमें ही निगल जाता है, वह सब मायाकी ही महिमा है । प्रत्येक कल्परूप क्षणमें क्षीण हो जानेवाले ऋषाण्डरूप प्रसुट बुद्धबुद्ध, जो भयंकर कालरूपी महासमुद्रमें उत्पन्न और विनष्ट हो जाते हैं, वह भी मायाकी महिमा है । उत्पन्न हो-होकर नष्ट हो जानेवाली प्रतास सुष्टुरूपी ये विजलियाँ, जिन्हें चिन्मय परमात्माके सकाशसे प्रकाश-शक्ति प्राप्त हुई है, जो प्रकट होती है, वह भी मायाकी महिमा है । अनन्त संकल्पोंवाली समस्त विकल्पोंसे शून्य विज्ञानानन्दस्त्र ऋषारूप पदमें

आकर्षयोंकी पूर्ति करनेवाली ऐसी कौन-सी शक्तियाँ नहीं हैं ? अर्थात् सभी शक्तियाँ उसमें विवाहित हैं। उस प्रकार सुदृढ़ संकल्पोंसे प्राप्त अर्थसमूहसे देवीयमान जगत्की भूमये जो यह कल्पना है, उसमें भी अज्ञान ही है। इसलिये श्रीराम ! जो कुछ वारंवार प्राप्त

होनेवाली सम्पत्तियाँ या आपत्तियाँ हैं, जो बाल्य-पैदन-जग-पराणरूपी महान् संताप हैं, जो मुख-दुःखकी परम्परारूप संसार-सागरमें गोता लगाना है, वह सब अज्ञानरूपी गाढ़ अन्वकारकी विभूतियाँ हैं।

( सर्ग ७ )

### अविद्याके कार्य संसाररूप विष-लता, विद्या एवं अविद्याके सहृपक तथा उन दोनोंसे रहित परमार्थ-वस्तुका वर्णन

श्रीकृष्णजी कहते हैं—श्रीराम ! यह अविद्याका कार्य संसार-लता कव और किस प्रकार विकसित हुई, इसका मैं वर्णन करता हूँ, सुनो । यह अविद्याका कार्य संसार-लता बड़े-बड़े भेद आदि पर्वतरूप पश्चोंसे युक्त, भूमण्ड-रूपी त्वचासे आवृत और जनरूपी पत्र, अकुर आदि निकासोंसे युक्त है । ये तीनों लोक इसकी देह हैं । इस अविद्यारूपी लतामें प्रतिदिन बृद्धि प्राप्त करनेवाले सुख, दुःख, जन्म, मृत्यु और ज्ञान तो फल हैं और अज्ञान इसका मूल है । जन्मसे ही अविद्या उत्पन्न होती है और यह बादमें जन्मान्तररूप फल प्रदान करती है । जन्मसे ही यह संसारके रूपमें अपना अस्तित्व प्राप्त करती है और बादमें स्थितिरूप फल प्रदान करती है । यह अविद्या अज्ञानसे बृद्धि प्राप्त करती है और बादमें अज्ञान-रूप फल देती है । ज्ञानसे आत्माका अनुभव प्राप्त करती है और अन्तमें आत्माका अनुभवरूप फल देती है । प्रतिदिन आकाशमें चारों ओरसे विकसित होनेवाली चन्द्र, सूर्य आदिके सहित ग्रहरूप व्योतियोंकी जो पत्तियाँ हैं, वे ही इस सुष्ठिरूपा लताके पुण्य हैं । रघुनन्दन ! आकाश-मण्डलको व्यासकर स्थित इस लताके ऊपर प्रस्तुति नक्षत्र और तारे इसी पुष्टोंकी कलियाँ हैं । चन्द्र, सूर्य तथा अग्निके प्रकाश इस लताके पराग हैं । इसी परागसे यह शुभाही जीके समान लोगोंके मनका आकर्षण करती है । यह लता चित्तरूप हाथीदारा प्रकाशित, संकल्परूप मधुर कल्पना द करनेवाली कोकिलसे युक्त,

इन्द्रियरूपी सौंपोंसे वेष्टित और तुष्णारूपी त्वचासे आच्छादित, चतुर्दशा मुखनरूपी बनोंसे शोभित, सात समुद्ररूपी मुन्द्र खाद्योंसे आवृत एवं लीखपुष्पसमूहोंसे शोभित, मनके स्पन्दरूप वायुसे कम्पित, शाळनिरिद्ध कर्मसूत्री धजगरसे व्याप्त, सर्गकी शौमारूपी पुष्टमण्डलसे शोभित तथा जीवोंकी जीविकासे पूर्ण एवं अनेक प्रकारके विषयभोगोंकी वासनारूप गन्धोंसे अहोंको उन्मत्त करनेवाली है । यह अविद्यारूपा लता अनेक बार उत्पन्न हो चुकी है और उत्पन्न हो रही है, अनेक बार मर चुकी है और मर भी रही है । कह अतीत कालमें यी और कर्त्तव्यानुभव कालमें भी है । यह सर्वदा असत्यदर्शके सदृश होती हुई भी सत्य पदार्थके सदृश बार-बार प्रतीत होती है तथा नित्य विनष्ट भी होती है । यह अविद्याका कार्य संसार निश्चय ही महती विषमयी लता है; क्योंकि अविद्यासे इसका सम्बन्ध होनेपर यह तक्षण संसाररूपी विषसे उत्पन्न होनेवाली मूर्छी लाती है और विनेकर्षक सत्-असत्के विचारसे तक्षण नष्ट हो जाती है । इसलिये यह विवेकीके लिये तो नष्ट हो जाती है और अविद्येकीके लिये स्थित रहती है । यह सुष्ठिरूपा लता जलके रूपमें, पर्वतोंके रूपमें, नारोंके रूपमें, देवताओंके रूपमें, पृथिवीके रूपमें, चुलोंके रूपमें, चन्द्र, सूर्य और तारोंके रूपमें विस्तृत हो रही है । श्रीराम ! इन समस्त मुख्योंमें उल्लट प्रभाव-से चारों ओर व्याप्त अविद्या जीर्णताको प्राप्त हुए-क्षुद्र निनकोंके रूपमें जो कुछ यह दृश्य प्रतीत हो रहा है उस सबको

अविद्याका कार्य होनेसे विनाशशील अविद्या ही समझना चाहिये । उसका विवेक-वैराग्यपूर्वक यथार्थ ज्ञानदाता विनाश हो जानेपर सच्चिदानन्दधन परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है ।

श्रीराम ! यहाँ दृश्यरूप जगत्‌के सम्बन्धसे और कल्पनाओंसे रहित, परम शान्त, सबका आत्मखलूप केवल एक सच्चिदानन्दधन परमात्मा ही है । जिस प्रकार जल्से तरफ़े प्रकट होती हैं, वैसे ही उस परमात्माके संकल्पसे कल्परूप प्रकृति प्रकट होती है । यह प्रकृति सत्त्व, रज, तम—त्रिगुणमयी है । सत्त्व आदि तीन गुणखलूप धर्मोंसे युक्त प्रकृति ही अविद्या ( माया ) है । यही प्राणियोंका संसार है । इस प्रकृतिसे पर हो जाना ही परमपदकी प्राप्ति है । जो कुछ भी यह दृश्यग्रापण दिखायी पड़ता है, वह सब हस्ती अविद्याका कार्य होनेसे उसीके आश्रित है । श्रीराम ! ऋषि, मुनि, सिद्ध, दिव्य नाग, विद्याधर, देवता—इनको प्रकृतिके साजिक, अंशखलूप जानो । प्रकृतिका जो शुद्ध सत्त्व-अंश है, वह विद्या है; उस विद्यासे अविद्या उसी प्रकार उत्पन्न होती है, जिस प्रकार जल्से बुद्ध्युद उत्पन्न होते हैं । और जिस प्रकार बुद्ध्युद जलमें लीन हो जाते हैं, उसी प्रकार उस विद्यामें ही यह अविद्या विलीन भी हो जाती है । जैसे जल और तरङ्गकी हित्यभावनासे ही भिजता है, वैसे ही विद्या और अविद्या-दृष्टियोंकी मेदभावनासे ही भिजता है, वस्तुतः नहीं । जिस प्रकार परमार्थतः जल और तरङ्गकी एक-रूपता ही है उसी प्रकार विद्या और अविद्या भी एक-रूप ही हैं, पृथक् नहीं । वास्तवमें एक परमात्मासे भिज विद्या और अविद्या नामकी कोई वस्तु ही नहीं है; अतः विद्या और अविद्या-दृष्टिका परिणाम जलनेपर यहाँ जो कुछ अवशिष्ट रहता है, वह परमात्मा

परमात्मा ही वास्तवमें विद्यमान है, दूसरा नहीं; क्योंकि न अविद्या नामकर पदार्थ है और न विद्या नामकर ही पदार्थ है, इसलिये यह कल्पना वर्य है । वास्तवमें परमात्मको छोड़कर बच रहनेवाला कुछ भी नहीं है; यदि कुछ है तो वह एकमात्र चिन्मय परमात्मा ही है । जब परमात्मा-के स्वरूपका यथार्थ ज्ञान नहीं रहता, तब वह अज्ञान ही अविद्या कहलाता है और जब यथार्थ ज्ञान हो जाता है, तब वह ज्ञान ही अविद्याक्षम्य—इस नामसे कहा जाता है । आत्मप और छायाकी तरह परस्पर-निरुद्ध विद्या और अविद्या दोनोंमेंसे विद्याका अभाव होनेपर अविद्या नामक मिथ्या कल्पना प्रकट होती है, जैसे सूर्यके अस्त हो जानेपर छाया-न्हो-छाया रह जाती है । श्रीराम ! अविद्याका विनाश हो जानेपर विद्या और अविद्या दोनों ही कल्पनाओंका विनाश हो जाता है । इन दोनोंका अभाव हो जानेपर एक प्राप्तव्य सच्चिदानन्द परमात्मा ही बच रहता है । जैसे समुद्र तरफ़ोंका और निर्मल मणि रसियोंका खजाना है, वैसे ही सच्चिदानन्दधन ब्रह्म ही अनन्त चरचर प्राणियोंका खजाना है । जैसे अनन्त घड़ोंमें एक ही आकाश बाहर-भीतर परिष्ठूर्ण है, उसी प्रकार समस्त जड़-केतन बहुओंमें बाहर और भीतर भी एक अविनाशी सत् वस्तुरूप विज्ञानानन्दधन परमात्मा ही सदा-सर्वदा परिष्ठूर्ण है । जिस प्रकार अपस्कान्तमणि ( चुम्क ) के सकाशमात्रसे जड़ लोह कियाशील हो जाता है, वैसे ही एकमात्र चिन्मय परमात्माके सकाशसे जड़ देहादि पदार्थ कियाशील होते हैं । जगत्‌के एकमात्र कारण उस चिन्मय परमात्मामें उसकी कल्पनासे ही यह कल्पित दृश्य जगत् स्थित है— ऐक उसी प्रकार, जैसे चिन्न-विचिन्न चञ्चल तरङ्ग-समूह जलमें स्थित है । वास्तवमें अनन्त आकाशकी तरह निराकार चिन्मय परमात्मामें यह कुछ भी नहीं है ।

( सर्ग ८-९ )

## अधिदामूलक स्थानवरयोगिके जीवोंके स्वरूपका तथा विवेकशुद्धक विचारसे अधिदामके नाशका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! परमात्माके सिवा वह स्थानवर-जड़मूलरूप जगत् प्रतीत होता है, यथार्थमें वह कुछ भी नहीं है; क्योंकि विवेकशुद्धक विचार करने पर जैसे रुजुमें होनेवाले सर्पभ्रमसे किसी भी सर्पकी उपचलनि नहीं होती, उसी प्रकार इदंयके भीतर जो यह देखमें अहंता और बाह्य विवरणमें ममतारूपी सम्बन्ध भी होता है, विवेकशुद्धक विचार करनेपर उसकी किसी तरह भी उपचलनि नहीं होती। जाने त्रिना ही भ्रमसे छँस ही जगत्के रूपमें प्रतीत होता है, ज्ञानका अच्छी प्रकार ज्ञान हो जानेपर सम्पूर्ण जड़-घेतनकी अन्तिम सीमारूप प्रकारी प्राप्ति हो जाती है। अज्ञानी बाल्कनी तरह यह जीवात्मा अज्ञानके कारण चित्तसारूपको प्राप्त हुआ है, इसलिये चित्तके घलनेपर अपने आपको चलता हुआ देखता है, विचार के स्थिर होनेपर अपनेको भी स्थिर देखता है। यह आत्मा इस तरह अज्ञानसे इस उपद्रवयुक्त चित्तको ही अपना सरूप समझता है। यह चित्त बाल्क यानी विवेकशूल्य है, इसलिये वह चित्तप्राय मनुष्य देशमके किन्देकी तरह अपनेको चित्तगत वासनारूप दीर्घतन्तुओं से भीतर बोधता हुआ भी नहीं जानता।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—प्रभो ! अत्यन्त धनीभावको प्राप्त हुआ अविवेक ( अज्ञान ) वृक्ष-पदाङ् आदि स्थान योनियोंको प्राप्त होता हुआ किस प्रकार स्थित रहता है ? यह कृपा करके कहिये ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रुदुनन्दन ! अपनस्व अर्थात् सुषुप्तिकी भौति मनके लक्ष्यको प्राप्त न हुआ और मनस्व अर्थात् मननशीलतासे व्युत हुआ जीवात्मा स्थान योनिमें साक्षी ( उदासीन )-की भौति स्थित रहता है। तार्थपर्य यह कि स्थान योनियोंमें जीवात्माका चित्त न तो सुषुप्तिकी तरह लिली ही होता है और न बंगाल प्राणियोंकी तरह चक्षु छी ही रहता है; बल्कि मूँ

मनुष्यकी तरह वह जीवकी-सी स्थितिमें रहता है। इनमें ज्ञानको जाननेवाले पुरुषोंमें श्रेष्ठ श्रीराम ! उन स्थानवर योनियोंमें जीवात्मा विवेकशूल्य और दुःखका प्रतीकर भरनेमें असमर्थ रहता है; अतः उन स्थान ज्ञानीरोंमें मोक्ष अस्फूल्य हुर्लम है, ऐसा मैं मानता हूँ; क्योंकि वहाँ जीवात्मा कर्मन्दियोंसे, ज्ञानेन्द्रियोंके व्यापारोंसे तथा मानस व्यापारोंसे शूल्य हुआ केवल सत्तामात्रसे स्थित रहता है।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—प्रसवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महें ! जिन स्थान ज्ञानीरोंमें जीवात्मा एकमात्र सत्तारूपसे ही स्थित रहता है, वहाँ मुक्ति हुर्लम है—ऐसा ही मैं भी मानता हूँ ।

श्रीवसिष्ठजी बोले—श्रीराम ! शुद्धिपूर्वक विचारने-पर यथार्थ वस्तुरूप परमात्माके साक्षात्कारसे चिन्मय सत्ताका जो सबमें समान भ्रमसे अनुभव होता है, वही अविनाशी मोक्षपद है। परमात्मतत्त्वके यथार्थतः जान लेने-पर वासनावोका जो उत्तम यानी अशेषरूपसे अभाव है, उसे ही सबमें समान भ्रमसे सत्तारूप मोक्षपद यहा गया है। ज्ञानी महारूप पुरुषोंके साथ विचार करके और अध्यात्ममावनासे शाश्वतोंकी समस्कर सत्ता-साधान्यमें जो निष्ठा होती है, उसी निष्ठाको मुनिलोग परमप्र कहते हैं। यही परमस्वकी प्राप्ति है। जिसके भीनर मानस व्यापाररूप मनन भवेयति लीन हो गया है। तथा चारों ओरसे जिसमें वासनार्दं तिरोहित हो गयी हैं, वह जड़ वर्मनाली स्थान जीवोंकी सुषुप्ति सैकड़ों जन्म-रूपी दुःखोंको देती है। जड़ सभावदाले ये सभी सृभ-पदाङ् आदि स्थान योनिके जीव सुषुप्ति अवस्थाद्वे प्राप्त हुए-से पुनःपुनः जन्मके भागी होते हैं। श्रेष्ठ श्रीराम ! जिस तरह जीवोंमें अद्वारसे लेकर पुष्टनद पदार्थ मिल हैं एवं जिस तरह मिहीमें घट स्थित है, उनी नग स्थानोंके भीतर भी अपनी कासना स्थित है। शासना,

अग्नि, क्रूण, व्याधि, शत्रु, स्नेह, विरोध एवं विष—ये थोड़े-से भी शेष रहनेपर हानि पहुँचाते हैं। जिसका वासना-बीज ज्ञानाग्निसे दाख हो गया है और जिसने सबमें समान सत्तारूप परमात्माको प्राप्त कर लिया है, वह महात्मा पुरुष, चाहे सदेह हो या देहसे रहित पुनः कभी दुःखका भागी नहीं होता।

श्रीराम । आत्मदर्शनके विरोधी अज्ञानसे आबृत इरु यह चेतनशक्ति संसाररूप भ्रमको जन्म देनी है और अज्ञानसे मुक्त होनेपर सम्पूर्ण दुःखोंका विनाश कर देती है। इस आलमद्विका जो अमाव है, उसीको विद्वान्लोग अविद्या कहते हैं। अविद्या जगत्की कारणभूत है, अतः उसीसे सम्पूर्ण पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है। रूपरहित इस अविद्याका जब यथार्थ ज्ञान हो जाता है, तब तुरंत यह उसी प्रकार विनष्ट हो जाती है, जैसे धाममें तुपारके परमाणु गल जाते हैं। दीपकको प्रज्ञलित करनेपर जिस प्रकार अन्धकार नष्ट हो जाता है, उसी तरह अच्छी प्रकार विचार करनेपर यह अविद्या नष्ट हो जाती है। वास्तवमें यह अविद्या कोई वस्तु न होनेसे

असर् है और विचार न करनेसे ही दीख पड़ती है। रक्त, मांस तथा अस्थिमय इस देह-यन्त्रमें ऐसे संयं कौन है? इस प्रकार जब विवेकपूर्वक विचार किया जाता है, तब देहके किसी भी पदार्थमें मैं-मन सिद्ध नहीं होता, वर्त शरीरका अभाव हो जाता है। अपने अन्तःकरणके विवेक-विचारसे आदि-अन्तमें असद्बूप इस शरीर और संसारका परिहार कर देनेपर अविद्याका क्षय हो जाता है; फिर शेषमें एक परमात्मा ही रह जाता है। वही वास्तवमें शाश्वत ब्रह्म है। वही वास्तविक पदार्थ और उपादेय है; क्योंकि उसीसे अविद्या निवृत्त हो जाती है। ‘अविद्या’ इस अपने नामसे ही इसके अमावस्यारूपका ज्ञान हो जाता है। वास्तवमें अविद्या नामकी कोई वस्तु कही भी नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् अखण्ड ब्रह्मसरूप ही है, जिस ब्रह्मने कार्य-कारणरूप इस सम्पूर्ण जगत्का निर्माण किया है। ‘यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मसरूप नहीं है’ इस प्रकारका निश्चय ही अविद्याका सरूप है और ‘यह जगत् ब्रह्मसरूप है’ यह निश्चय ही उसका विनाश है। ( सर्ग १० )

—————  
परमात्मा सर्वात्मक और सर्वातीत है—इसका प्रतिपादन एवं महात्मा पुरुषोंके लक्षण  
तथा आत्मकल्याणके लिये परमात्मविषयक यथार्थ ज्ञान और  
प्राण-निरोधरूप योगका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! यह अज्ञान अत्यन्त बलवान् है। इसीका दूसरा नाम ‘अविद्या’ है। वह अन्य अस्त्वय जन्मोंसे चला आ रहा है, अतएव वह दृढ़ हो गया है। देहकी दरपत्ति और विनाशमें, वाहर-भीतः—सर्वत्र समस्त इन्द्रियों उस अविद्याका ही निरन्तर अनुभव करती हैं, इसलिये वह अविद्या दृढ़ हो गयी है; क्योंकि परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान तो किसी भी इन्द्रियका विषय नहीं है। मनसाहित छहों इन्द्रियोंका विनाश हो जानेपर वह सत्त्वरूप परमात्माका यथार्थ ज्ञान ही कायम रहता है। इन्द्रिय-वृत्तियोंसे अतीत होनेके

कारण वह परमात्माका सरूप प्राणियोंको प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है; क्योंकि प्राणी तो पदार्थोंका अनुभव मन-इन्द्रियोंके द्वारा ही करते हैं। रघुनन्दन! जिस प्रकार परमात्मज्ञानके अभ्यासमें निरत राजा जनक परमात्मतत्त्वको यथार्थरूपमें जानकर भूमण्डलमें विचरण करते हैं, उसी प्रकार तुम भी विचरण करो। भगवान् नारायण जीवोंके कल्याणके लिये विभिन्न लीलाएँ करनेके जिस निश्चयसे पृथ्वी-पर नाना योनियोंमें अवतार लेते हैं, वही निश्चय वास्तविक यथार्थज्ञान है। रघुनन्दन! जगदम्भा पार्वतीके साथ रहनेवाले विनेत्र महादेवजीका या रागरहित ब्रह्मका जो

क्षय है, वही निक्षय बालविक है। तुम्हारा भी वही क्षय होना चाहिये। देवघुरु बृहस्पति, शुक्राचार्य, वर्ण, चन्द्रमा, वायु, अग्नि, महामुनि जारद, महर्षि लस्य, अदिग, प्रचेता, धूगु, करु, अत्रि, शुकदेव या अन्यान्य जीवन्मुक्त ग्रहर्षि और राजर्षि महात्माओंका या मेरा भी परमात्माके सत्त्वपके विषयमें जो निक्षय है, वही निक्षय तुम्हारा होना चाहिये।

श्रीरामजी बोले—मावन्। महान्। जिस निक्षयके अरण ये पूर्वोक्त महाबुद्धिमन् एवं धीर बृहस्पति आदि नेकरहित हुए स्थित हैं, उसका मुझसे तात्किंत रूपसे गौण कीजिये।

श्रीकृष्णजीने कहा—समस्त जाननेयोग्य पदार्थोंको वार्षितः जाननेवाले महाबाहु श्रीराम ! जो तुमने पूछा है, सबका उत्तर स्पष्टरूपसे मुझो। उनका यही निक्षय है, जो मैं बतला रखा हूँ। श्रीराम ! जो कुछ भी वह मौगलरूप वासार-जाल स्थित दिखायी पड़ता है, वह सब निर्मल ग्रहो है। ग्रह ही जीवात्मा है, चौदह मुखन ग्रह ही हैं, ग्राकाशादि ग्रूप भी ग्रह ही हैं, मैं भी ग्रहस्तरूप हूँ, मेरा ग्रन्तु भी ग्रहस्तरूप है; सनित्र, बन्धु-बन्धव आदि भी ग्रह-स्तरूप हैं। तीनों काल भी ग्रहस्तरूप हैं, क्योंकि वे ग्रहमें अवस्थित हैं। जैसे समुद्र अपने आपमें तरङ्गोंके रूपमें प्रकट होता है, वैसे ही यह सचिदानन्द ग्रह अपने आपमें ग्राविसारिक पदार्थ-सम्पर्किके रूपमें प्रकट होता है। नेत्र-प्रोष्ठके कारण आकाशमें बिना हुए ही ज्ञानिसे बृहस्की अतीति होती है, किंतु वास्तवमें बृहस्न ही हैं; इसी तरह उलमें जो राग-द्वेष आदि दोष ज्ञानसे प्रतीत होते हैं, वे आस्तकमें ही ही नहीं; क्योंकि ये सब कल्पनायाप्त हैं, इसलिये संकल्पके अभावसे इनका अस्थन्त अभाव हो जाता है। गमना अगमन आदि सम्पूर्ण क्रियाएँ भी ग्रहमें ही होती हैं; क्योंकि ग्रह ही अपने संकल्पसे अद्वितीय द्वुखरूपमें सुरित होता है, तब उसमें हुँख और द्वुख कैसे ? ग्रह ही स्थान ग्रहमें तृप्त है, ग्रह ही ग्रहमें स्थित है, ग्रह ही ग्रहमें सुरित होता

है; अतः मैं भी ग्रहसे मिल नहीं हूँ। क्योंकि छठ भी ग्रह है, पठ भी ग्रह है, मेरी ग्रह हूँ, यह निस्तृत जगत् भी ग्रहस्तरूप ही है, इसलिये यहाँ ग्रहके अतिरिक्त मिथ्या राग-वैराग्य आदिकी कल्पना ही नहीं हो सकती।

जिस प्रकार सुवर्णसे आभूषण और जलसे तरङ्ग गिरनहीं है, वैसे ही प्रकृति ग्रहमें बिना हुए ही प्रतीत होती है, किंतु ग्रहसे मिल नहीं है। यह जीवात्मा चेतन है और यह परार्थ जड़ है—इस प्रकारका मोह ज्ञानीको ही होता है, ज्ञानीको कभी नहीं होता। जिस प्रकार अंधे महुष्यको जगत् अन्वकाररूप और सुदृष्टिगलेको प्रकाशरूप प्रतीत होता है, उसी प्रकार ज्ञानीको यह जगत् हुँखमय और ज्ञानीको सचिदानन्दमय प्रतीत होता है। सदा-सर्वदा सब और एकरस स्थित विज्ञानानन्दधन ग्रहमें न कोई मरता है और न कोई जीता है। जिस प्रकार महान् सागरके उल्लिखित हीनेपर भी उसमें तरङ्ग आदि न जन्मते हैं और न मरते हैं, उसी प्रकार वस्तुतः ग्रहमें प्राणी न जन्मते हैं और न मरते हैं। जैसे जलमें तरङ्गोंके रूपमें प्रचुर जल ही स्थित है, वैसे ही अपने आपमें जगत्की शक्तिके रूपमें ग्रह ही स्थित है। जैसे जलमें जो कण, कणिका, धीनि, तरङ्ग, फेत और लहरी हैं, वे सब जलस्तरूप ही हैं, वैसे ही ग्रहमें जो देह, मनका व्यापार, दृश्य, क्षय, क्षयका अभाव, भाव-रचना और अर्थ हैं, वे सब ग्रहस्तरूप ही हैं। जिस प्रकार सुवर्णसे बनी आभूषणकी विभिन्न आकृति-रचनाएँ सुवर्णसे पृष्ठक् नहीं होतीं, उसी प्रकार ग्रहसे उत्पन्न हुई चित्र-विचित्र देहादिकी आकृति-रचनाएँ भी ग्रहसे मिल नहीं हो सकतीं। अज्ञानियोंको वृणा ही उसमें दिव्यभावना होती है। मन, बुद्धि, अहंकार, तन्मात्राएँ, इन्द्रियों आदि सब ग्रहस्तरूप ही हैं, उससे मिल नहीं; अतः ग्रहसे मिल द्वुख और हुँखकी भी सदा नहीं है। जलके ग्रह न जाननेसे ज्ञानीके लिये वह प्राप्त होते हुए भी हत्राप है, जिस तरङ्ग, सुवर्णका हान हुए बिना सुर्खण्ड प्राप्त हुआ

भी अप्राप्त ही है। ब्रह्मको ब्रह्म जान लेनेपर तत्क्षण ही ब्रह्म प्राप्त हो जाता है, जिस प्रकार सुवर्णको सुवर्ण जान लेनेपर तत्क्षण ही सुवर्ण प्राप्त हो जाता है। कर्म, कर्त्ता, करण, कारण और विकारोंसे रहित खयं समर्थ महान् आत्मा ही ब्रह्म है, यों ब्रह्मानीलोग कहते हैं।

यह देह मैं नहीं हूँ। इस प्रकार जब ज्ञान हो जाता है, तब ब्रह्माभावना उत्पन्न होती है। इसीसे देहमें अहं-भाव मिथ्या सिद्ध हो जाता है। उस समय पुरुष देहसे विरक्त हो जाता है। ऐ एकमात्र ब्रह्मस्वरूप हूँ। इस प्रकार यथार्थ ज्ञान होनेपर ब्रह्माभावना प्रकट होती है। उस अपने वास्तविक रूपका यथार्थ ज्ञान होनेपर अज्ञान विलीन हो जाता है। मुझे न हुःख है न कर्म हैं, न भोग है न कुछ अमिलप्रित है। मैं एकरूप, अपने खरूपमें स्थित, शोकशून्य तथा ब्रह्मस्वरूप हूँ—यह धूम सत्य है। मैं कल्पनाओंसे शून्य हूँ, मैं सर्वविद्विकारोंसे रहित और सर्वात्मक हूँ; मैं न त्याग करता हूँ और न कुछ चाहता हूँ; मैं परजातस्वरूप परमात्मा हूँ, यह धूम सत्य है। जिसमें सब कुछ स्थित है, जिससे यह सब उत्पन्न हुआ है, जो यह सब है, जो सब और विद्यमान है एवं जो सबका अद्वितीय आत्मा है, वही परब्रह्म परमात्मा है। यह निष्ठय है, वही चेतन आत्मा—यह व्यापक, दृश्यरहित सच्चिदानन्दधन ब्रह्मतत्त्व ही ब्रह्म, सद, सत्य, अमृत, ह हितादि नामोंसे सर्वत्र कहा जाता है। विषय-संसर्गरहित, चेतनमात्रस्वरूप, विशुद्ध, समस्त मूल-ग्राणियोंको जाननेवाला, सर्वव्यापक, परम शान्त, सच्चिदानन्द ब्रह्मका ब्रह्मानी अनुभव करते हैं। सुषुप्तिके सदृश समस्त विकल्पोंसे रहित, परम शान्तरूप, विशुद्ध प्रकाशस्वरूप, सांसारिक विषय-मुखोंसे अत्युत्तम तथा बासनाओंसे रहित सच्चिदानन्द ब्रह्म ही मैं हूँ। सुख-दुःख आदि कल्पनाओंसे रहित, निर्मल, सत्य अनुभवरूप जो शाश्वत सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप है, वही मैं हूँ। वर्तत आदि पदार्थ-समुदायके बाहर एवं भीतर सर्वदा समान

सत्तारूपसे व्यापक निलेप विज्ञानानन्दधन जो परमात्मा है, वही मैं हूँ। जो समूर्ण संकल्पोंका फल देनेवाला, अपि-सूर्य-चन्द्र आदि समूर्ण तेजोंका प्रकाशक और प्राप्त करनेयोग्य समूर्ण पदार्थोंकी अन्तिम सीमा है, उस सच्चिदानन्दधन परमात्माकी हम उपासना करते हैं। यह चिन्मय परमात्मा बाहर-भीतर—सर्वत्र प्रकाशस्वरूपसे विद्यमान और अपने आपमें स्थित है; सबके छद्मयमें स्थित होते हुए भी उसका अज्ञानके कारण अनुभव नहीं होता; अतः यह दूर न होते हुए भी दूर कहा गया है। उस परमात्माकी हम उपासना करते हैं। जो समस्त संकल्पों, कल्पनाओं तथा रोष आदिसे रहित है, उस चिन्मय परमात्माकी हम उपासना करते हैं। उस परमात्मामें यह सारा जगत् प्रतीत होता है, किंतु वास्तवमें इस जगत्का उसमें अत्यन्ताभाव है तथा वास्तवमें वह है, इसलिये वह सदृप्त है; किंतु यह मन-द्वन्द्वोंका विश्य नहीं है, इसलिये असदृप्त है। ऐसे उस एक अद्वितीय निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्द परमात्माको मैं प्राप्त हूँ। जो शब्द, सर्व, रूप, रस और गन्ध आदि सारे विषय-पदार्थोंका प्रकाशक है और वास्तवमें जो उन सब विषय-पदार्थोंसे रहित है, उस परम शान्त चिन्मय परमात्माको मैं प्राप्त हूँ। जो समस्त विभूतियों और महिमाओंसे युक्त प्रतीत होता है, किंतु जो वास्तवमें समस्त विभूतियों एवं महिमाओंसे रहित है तथा जो मायाके सम्बन्धसे जगत्का कर्ता-सा प्रतीत होते हुए भी वास्तवमें अकर्ता है, उस विज्ञानानन्दधन परमात्माको मैं प्राप्त हूँ।

रघुनन्दन ! पूर्वोक्त निष्ठयवाले वे सत्यसूप जीवन्मुक्त महात्मा सत्यस्वरूप परम शान्त परमपदमें स्थित हो गये थे। वे फ़लोंसे पूर्ण, झलेकोंसे आन्दोलनोंसे चक्षुल चित्र-विचित्र बनोंकी पंक्तियोंमें एवं मेह वर्षतवी चोटियोंके ऊपर विचरण करते थे। वे अनेक प्रकारके सदाचारोंके रूपमें इन सभी धर्मोंका खयं अनुष्ठान

करते थे। इसी प्रकार श्रुति-सूतिविहित कल्पोका भी वे कर्तव्य-बुद्धिसे आचरण करते थे। उन तत्त्वेता महा-पुरुषोंका मन अत्यन्त कमलीय कल्पन और कामिनीके प्राप्त होनेपर हर्ष और चञ्चलता आदि विकारोंको नहीं प्राप्त होता था। वे सुखकी प्राप्ति होनेपर हर्षित और दुःखकी प्राप्ति होनेपर खिल नहीं होते थे।

श्रीरामजीने पूछ—महान्। अब कृपाकर मुझे यह बतलाये कि प्राणवायुकी गतिके अवरोधसे वासनाका निनाश हो जानेपर जीवन्मुक्त-पदमें परम शान्ति कैसे मिलती है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! संसार-सागरसे पार उत्तरनेके साधनका नाम ही 'योग' है। उस चित्तको शान्त करनेवाले साधनको तुम दो प्रकारका समझो। इसका प्रथम प्रकार परमात्माका व्यर्थार्थ ज्ञान है, जो संसारमें प्रसिद्ध है और द्वितीय प्रकार प्राण-निरोध है, जिसे मैं आगे बता रहा हूँ; मूँनो।

श्रीगमचन्द्रजीने पूछा—गुरुवर ! योगके इन दोनों प्रकारके साधनोंमें कौन-सा सरल और कष्टरहित उत्तम साधन है, जिसके जाननेसे विक्षेप फिर बाधा नहीं पहुँचता ?

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! वयमि शास्त्रोमि

'योग' शब्दसे उपर्युक्त दोनों ही प्रकार ( परमात्मविषयक ज्ञान और प्राणनिरोध ) यहे गये हैं, तथापि इस 'योग' शब्दकी प्राणनिरोधके अर्थमें ही अधिक प्रसिद्धि है। संसार-सागरसे पार उत्तरनेकी पदतिमें एक योग ( प्राणनिरोध ) और दूसरा ज्ञान—ये दोनों एक फल देनेवाले समान उपाय शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं। मिस्त्रीके लिये योगका साधन असाध्य-सा है और मिस्त्रीके तिये परमात्मविषयक ज्ञानका साधन असाध्य-सा है; परन्तु मैं तो परमात्मविषयक ज्ञानके साधनको ही सुसाध्य मानता हूँ। यह प्राणनिरोधरूप योग देश, काष्ठ, आसन, प्राणायाम, वारणा, ध्यान आदि उपायोंसे सिद्ध होता है; अतः वह सुसाध्य नहीं है। मिस्त्री साधनमें सुसाध्यता और दुःसाध्यताका विचार नहीं करना चाहिये। रघुकुलतिलक ! ज्ञान और योग—ये दोनों ही उपाय शास्त्रोंके हैं। इन दोनोंमेंसे सब ज्ञानोंसे परे जाननेयोग विशुद्ध ज्ञान तुम्हें फूँसे बतलाया जा चुका है। अब तुम यह योग मूँनो, जो प्राण और अपानके निरोधके नामसे प्रसिद्ध है, तथा देहस्त्री गुहाम इद आश्रय करनेवाला, आभादि अनन्त सिद्धियोंको देनेवाला और परमार्थज्ञान प्रदान करनेवाला है।

( सा ११-१३ )

देवसभामें वायसराज शुशुण्डका वृत्तान्त सुनकर भगव्य वसिष्ठका उसे देखनेके लिये मेरुगिरिपर जाना, मेरु-शिखर तथा 'चूत' नामक कल्पतरुका वर्णन, वसिष्ठजीका शुशुण्डसे मिलना, शुशुण्डद्वारा उनका आतिथ्य-सत्कार, वसिष्ठजीका शुशुण्डसे उनका वृत्तान्त पूछना और उनके गुणोंका वर्णन करना।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—वसु राम ! पूर्ववर्णित उस अनन्त परमात्माके विस्ती एक धैशमें मरुस्थलमें प्रतीत होनेवाली मृगात्माकी भौति यह ब्रह्मण्ड कर्त्तव्य है। उस ग्रन्थाण्डमें सुषिकी उत्पत्तिके कारण तथा पूर्वकृत कर्मानुसार प्राणिसमूहकी रक्षनामें संलग्न कमलयोनि ग्रन्था पितामहरूपसे स्थित हैं उन्हीं ब्रह्मदेवका यै एक

सदाचारसम्पन्न मानसपुत्र हूँ। मेरा नाम थसिष्ठ है। मैं शुशुण्डारा धारण किसे गये सप्तरिमण्डलमें दैवतस्त मन्त्रन्तर-पर्यन्त निवास करता हूँ। एक सम्मग्नी दृष्ट है, मैं सर्गलोकमें देवराज इन्द्रकी समाने दैव दृजा था। वहाँ देवर्षि नारद आदि भी विराजमान थे। वे चिरजीवियोंकी कथा मूँना रहे थे। मैंने भी वह अश

सुनी थी । उस समय किसी कभा-प्रसङ्गके अवसरपर मुनिधर शातातप, जो मित्रमाणी, मानी और अगाध बुद्धिसम्पन्न थे, कहने लगे—“मेहरिंगिरिके ईशानकोणमें



पमरागमणिसे युक्त एक बहुत ऊँचा शिखर है । उसकी छोटीपर एक अत्यन्त शोभाशाली कल्पतरु है, जो ‘चूत’ नामसे विद्युत है । उस कल्पतरुके ऊपरी भागकी दाहिनी शाखामें एक कोटि है, जो चौंदीके समान इतेवर्णकी लताओंसे आच्छादित है । उस कोटिमें एक बोंसला विद्यमान है । उस बोंसलेमें एक परम ऐश्वर्यशाली कौआ निषास करता है । उस बीतराग वायसका नाम मुशुण्ड है । देवगण ! वह वायसराज मुशुण्ड इस जगतमें जिस प्रकार चिकालसे जी रहा है, वैसा चिरजीवी तो खगलोकमें न कोई हुआ है और न होगा ही । वह दीर्घायु तो है ही, साथ ही रागरहित, ऐश्वर्ययुक्त, शान्त और सुन्दर रूपबाला भी है । उसकी बुद्धि जगाव और स्थिर है । वह कालकी गतिका पूर्ण ज्ञाता है ।”

राघव ! इस प्रकार जब कथाका समय समाप्त हुआ और सभी देवता अपने-अपने वासस्थानको छले गये, तब मैं कुरुक्षेत्र उस मुशुण्ड पक्षीको देखनेके लिये चल पड़ा । फिर तो हुरंत ही मैं मेहरिंगिरिके उत्तम शिखरपर जा पहुँचा, जहाँ वह मुशुण्ड नामक कौआ रहता था । वह विशाल शिखर पमरागमणिसे निर्मित था। वहाँ शर्ते हुए गङ्गाजीके झारनोंके शब्द गूँज रहे थे । उसके लताकुँडोंमें देवता विराजित थे । गन्धर्वोंकी गीत-व्यनिसे वह अत्यन्त रमणीय लग रहा था और वहाँ शीतल-मन्द-सुगन्ध वायु वह रही थी । उसी शिखरपर मैंने ‘चूत’ नामक कल्पवृक्षको देखा । वह देवता, विनार, गन्धर्व एवं विद्याधरोंसे युक्त, ब्रह्मण्डकी तरह विस्तृत, असीम तथा दसों दिशाओं और आकाशको व्याप किये हुए था । वह सब ओरसे पुष्पों, फलों और कोमल पल्लवोंसे आच्छादित था । उसके पुष्पोंसे सबको आहार प्रदान करनेवाले पराग झड़ रहे थे, जिनसे उसकी अत्यन्त विनित्र शोभा हो रही थी । वहाँ मैंने देखा, अनेक जानिके पक्षी उस वृक्षके तने और शाखाओंकी संधियोंमें, लताओंसे आकृत शाखाप्रमाणोंमें, लता-पत्रोंमें, गँडोंमें और पुष्पोंमें धोंसले बनाकर उनमें छिपे हुए थे । वहाँ मैंने उङ्कार और वेदके मित्रभूत ग्रन्थोंके वाहन हंसोंके बच्चोंको भी देखा, जिन्हें प्रशिविदाकी विद्यिवत् शिक्षा प्राप्त हो चुकी थी एवं जो सामवेदका गान करनेवाले थे । तत्पश्चात् मैंने अनिदेवके बाहन शुक्रोंको देखा । उनके शरीरका रंग शह, विशुपुष्प और नील गेहके समान या तथा कोई-कोई यज्ञावेदियोंपर चिठ्ठाये गये हरित धर्णके कुल-लताओंके दलोंकी भौति हरे रंगके भी थे । देवगण सदा उनका दर्शन करते थे । वे मन्त्रोंका उद्धारण कर रहे थे । उनकी बोली खाहाकारकी-सी जान पड़ती थी । वहाँ मयूरोंके बच्चे भी थे, जिनकी शिखाएँ अग्नि-द्विष्णा-सी रहीत थीं, जिनके पर जगज्जननी पार्षदी (अपने जूँडेमें

बोधनेके लिये ) सेंगाल्कर रखी हीं तथा जो स्तनद्वारा चिक्कारित शिव-सम्बन्धी समूर्ण विज्ञानोंके विशेष जानकार थे ।

इस प्रकार ज्यों ही मेरी दृष्टि उस वृक्षकी दाहिनी शायाके एकान्त कोटपर पड़ी, त्यों ही मैंने देखा कि वहाँ बहुत-से क्लैर बैठे हुए हैं और उनके बीचमें ऐश्वर्यशाली एवं अपन्त उभयत शरीरवाल वायसराज भुशुण्ड विराजमान है । उसका मन आलम्भानसे परिपूर्ण है । वह दूसरोंको माल देनेवाला, समर्दर्शी और सर्वाङ्गसुन्दर है । प्राण-क्रियाके निरोधसे वह सदा अन्तर्मुख वृत्तिवाल और सुखी है तथा विरजीवी हुनेके कारण वह 'विरजीवी' नामसे विख्यात है । वह भूतकालीन सुर, असुर और महीपालोंके इतिहासका छाता, प्रसन्न एवं गम्भीर मनसे युक्त, अचुर तथा कोमल एवं मधुर वाणी वोलनेवाला है । वह परमात्माके सूक्ष्मतत्त्वका वक्ता तथा विज्ञाता है । वह मरता और अहंकारसे रहत, बुद्धिमें बृहस्पतिसे भी बदकर, प्राणिमात्रका हितैषी, क्षु

एवं मित्र है । वह एक मनोरम सरोवरकी भौमि सौन्दर्य, प्रसन्न, मधुर, ग्रह-रससे युक्त, भहन् जानवरोंसे सम्पन्न और आन्तरिक अखण्ड शान्ति-सम्पन्निन है । गम्भीरताका परिवार न करनेके कारण उसके अन्तः-करणकी गोमा प्रकटित हो रही थी ।

रघुनन्दन ! तदनन्तर मैं उस भुशुण्ड पञ्चाके सामने उत्तर पढ़ा, मानो धर्मतपर आकाशसे कोई नक्षत्र जा गिरा हो । मेरा शरीर क्षतिमान् तो या ही, अनः मेरे आनेसे वह समा दुःख चञ्चल हो उठी । यद्यपि वहाँ मेरे जानेवाली कोई सम्भावना नहीं थी, तथापि मुझे देखते ही भुशुण्डने पहचान लिया कि ये तो वसिष्ठजी पजारे हैं । फिर तो वह पर्वतसे उठे हुए द्वैटेसे मेम-खण्डके समान अपने पंच-पुङ्काके आसनसे उठ उड़ा हुआ और मधुर वाणीमें थोला—'मुनिश्वर । अपका खागत है ।' तत्पश्चात् उसने आसन, अर्ध और पाय आदि देखत भेर सत्कार किया । उस समय उस महान् तेजवाली भुशुण्डका मन परम प्रसन्न था । उनने सौहार्दश मधुर वाणीमें मुझसे कहना आरम्भ किया ।

भुशुण्ड थोला—मुने ! वहे सौभार्यकर्त्ता जान है कि चिक्कालके पश्चात् आज आपने एम्बेगोंपर मान अनुग्रह किया है; क्योंकि आपके दर्शनाशृतने सिनानसे सिक्क होकर आज हमलोग पुण्यवृक्ष-भरीते पाय र्पन्न हो गये । मुनिश्वर ! आप तो माननीयोंके भी मात्य हैं । इस समय जो आपने मुझे दर्शन दिया है, इसमें चिक्कलसे सचित भेरी पुण्यशिरीं प्रेरणा ही करन जान पड़ती है । अच्छा, अब यह दनात्मे कि यहाँमे आपका कुभागमन हुआ है तथा किसान्तिये आज अन्ते यहाँ पवारनेका कष्ट उठाया है । एम्बेग मृदा झारस आदेशमूर्ण बचत हुनेके लिये लट्टपिन रहते हैं । अतः आप हमें आज देनेवाला रुपा र्मैनिये । मुनिश्वर ! आपके खरणोंके दर्शनसे ही मुझे हमी दृते हा हो गयी हैं । आपने अन्ते द्युमान्तके उद्दमे



हमलोगोंको संयुक्त कर दिया । ( वात यह है कि इन्द्रसमाये चिरजीवियोंके विषयमें चर्चा हो रही थी, उसी प्रसङ्गमें आपको हमारा स्मरण हो आया । इसी कारण आपने अपने चरणोंसे इस स्थानको तथा मुझे भी पवित्र बनाया है । मुनिश्रेष्ठ ! इस प्रकार यद्यपि आपके आगमनका प्रयोजन मुझे ज्ञात हो गया है, फिर भी जो मैं आपसे पूछ रहा हूँ, इसका कारण यह है कि आपके बचनामूलके रसाखादकी बाज़ा उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही है । श्रीराम ! तीनों कालोंका निर्मल ज्ञान रखनेवाले उस चिरजीवी पक्षी भुग्नुण्डने जब इस प्रकार पूछा, तब मैंने उसे यों उत्तर दिया ।



श्रीवसिष्ठजीने कहा—पक्षियोंके सरदार ! तुम जो कुछ कह रहे हो, वह विश्वुल सत्य है । आज मैं तुम चिरजीवीको देखनेके लिये ही यहाँ आया हूँ । सौमान्य-

की बात है कि तुम्हारा अन्तःकरण पूर्णतया शान्त है, तुम सकुशल हो और परमाभ्यान-सम्पन्न होनेके कारण इस भीषण लगाजालमें भी नहीं फँसे हो । परंतु ऐष्वर्यशाली वायसराज ! मेरे मनमें एक संदेह है, उसे तुम अपने यथार्थ बचनोंद्वारा दूर करो । ( वह संशय यह है कि ) तुम किस कुलमें उत्पन्न हुए हो ? किस प्रकार तुम्हें हेय-तत्त्वका ज्ञान प्राप्त हुआ ? तुम्हारी आयु कितनी है ? तुम्हें अपना कौन-सा वृत्तान्त अर्थात् किस कल्पका चरित्र थाद है ? किस महाबुधावने तुम-जैसे दीर्घदर्शीके लिये यह निवासस्थान निष्क्रित किया है ?

श्रीराम ! वह भुग्नुण्ड न तो अगीष्ठ-आमसे प्रसन्न ही होता था, न तो उसकी बुद्धि ही क्रूर थी । उसके सभी अङ्ग पुन्द्र थे तथा शरीरका कर्ण वर्षकालीन मैघके सद्वारा श्वास था । उसके बचन रनेहर्षण और गम्भीर होते थे । वह मुसकुराकर ही बोलता था । तीनों लोकों-की इच्छा उसके लिये हस्तामङ्गलतट थी । वह सम्पूर्ण भोगोंको तृण-सरीखे तुच्छ समझता था । वह परावर ग्रहका ज्ञाता था । उसकी बुद्धि पूर्णतया शान्त थी तथा वह शान्त और परमानन्दसे परिपूर्ण था । उसके वायु प्रिय और मधुर, अतएव सुनने योग्य तथा धीणके गानकी भोगि मनोहर थे । उसका शरीर तो ऐसा लगता था मानो सम्पूर्ण भयोंका अफहरण करनेवाले खयं ग्रहने ही नवीन भुग्नुण्ड-शरीर घरण किया हो । वह स्वामानिक प्रसन्नतासे शुक्त था तथा प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिये उत्तुक होनेके कारण उसके मुखमीं अद्भुत शोभा हो रही थी । इस प्रकार उस वायसराज भुग्नुण्डने शुद्ध, अपूतमय तथा क्रमबद्ध रूपसे निर्मल वाणीद्वारा अपना सम्पूर्ण वृत्तान्त मुहसे कहना आरम्भ किया ।

( सर्ग १४-१७ )

## मुशुण्डका वसिष्ठजीसे अपने जन्मबृत्तान्तके प्रसंगमें महादेवजी तथा मातृकाओंका इर्जन करते हुए अपनी उत्पत्ति, ज्ञान-प्राप्ति और उस घोसलेमें आनेका बृत्तान्त कहना

**मुशुण्ड बोला**—मुनिवर वसिष्ठजी ! इस जगतमें देवाखिदेव महादेव समस्त सर्ववासी देवताओंमें श्रेष्ठ हैं । अहादि देवता भी उनकी अभिकन्दना करते हैं । उनके शशीरके बामार्थमें सौन्दर्यशालिनी भगवती पार्वती विराजमान रहती हैं । उन महादेवजीके मरुक्कपर गङ्गारूपी पुष्पमाला सुशोभित है, जो हिमके हारकी भोति धब्बल तथा छहरीरूपी पुष्प-गुच्छोंसे मुँही हुई है । उस मालाने ही उनके जटा-झटको आवेषित कर रखा है । क्षीरसागरसे जिसकी उत्पत्ति हुई है तथा जिससे अमृतके शरने शरते रहते हैं, वह शोभाशाली चन्द्रमा उनके ललाटमें स्थित



है । उस चन्द्रमाके अनवरत अमृत-प्रब्राहसे अभिपिल होनेके कारण जिसकी विषेशी शक्ति शान्त होकर अमृत-स्वरूपिणी हो गयी है तथा जिसका वर्ण इन्द्रनीलभणिके

समान रूप है, वह काल्कूट विष उनके ऊपरे आभूषणके समान सुशोभित है । निर्भल अग्निसे जिसमी उत्पत्ति हुई है, वह अत्यन्त शुभ्र मत्स उन महादेवमीरु भूषण है । आकाश ही उनका भव है, जो चन्द्रमामी सुधाधारासे प्रक्षालित, नीले भैषके समान सुशोभित और तारारूपी ब्रिन्दुओंसे समन्वित है । हिलनेके कारण जिनके मरुक्कली मणियाँ चमक रही हैं तथा जिनकी कान्ति तपाये हुए सुवर्णके समान हैं, ऐसे चिरने अङ्गवाले नर्पे ही उनके हाथके कङ्कण हैं । उनका मुख तीन नेत्रोंसे देवीयमान है । जैसे प्रमणाण उनके परिवाररूप हैं, उसी प्रकार निर्भल कान्तिवाली मानृकाएँ भी उनके परिवर्में ही हैं । ये मातृकाएँ पर्वतशिखरोंपर, आकाशमें, निभिन्न लोकोंमें, गद्दोंमें, स्पशानोंमें तथा प्राणियोंके शरीरोंमें निवास करती हैं । उन सभी मातृकाओंमें ज्या, विज्या, जयन्ती, अपराजिता, सिद्धा, रक्षा, अमृतमुमा और उत्पत्ता—ये आठ मातृदेवियों प्रधान हैं । द्वेर मानवर्म इन्हीं आठोंका अनुगमन भरती हैं ।

दूसरोंको मान देनेवाले मुर्मीश्वर ! उन महानदिम-शालिनी मातृकाओंमें भाता अमृतसा अयन निष्ठन है । उनका वाहन कौआ है । उस कौआका नाम द्वज है । वह इन्द्रनील-पर्वतके समान नीरा है तथा उनके दोखी हीरी वडके समान कद्दर है । इस स्वर्णरी वात है, भयंकर चेष्टावाली तथा अङ्ग सिद्धियोंसे समर्पन वे सभी मानृकरूँ रिसी पराजयदा आवश्यने इस्तर्द्य हुई । वहाँ उन सवक्क एक महोत्त्व द्वांगों, जो नार-गान आदिसे अत्यन्त मनोहर था । उस उम्मने शही देवीके रथमें उननेवाली उनकी दाम्पि उम्मन्दि उंग अलम्बुसा देवोक्ता वाहन चण्डनानक कङ्क—वे हमी

आकाशादेशमें एकत्र होकर शृण्य करने लगे । इस प्रकार



साथ-साथ नाचनेके कारण वह वायस सात तुल्हांसियोंका बल्लभ हो गया । फिर तो उसने क्रमशः प्रत्येक हंसियोंके साथ समय किया, जिससे वे ब्राह्मी शक्तिके रथकी हंसियों गर्भकती हो गयीं । मुनीश्वर ! तब उन हंसियोंने ब्राह्मी-देवीसे अपना वृत्तान्त यथार्थ रूपसे कह सुनाया ।

इसपर ब्राह्मीदेवीने कहा—पुत्रियो ! इस समय तुमलोग गर्भकती हो गयी हो, इसलिये मेरा रथ वहन करनेमें समर्थ नहीं हो; अतः अब तुमलोग स्वेच्छानुसार विचरण करो । इस प्रकार ब्राह्मीदेवी दयापरवश हो गमके कारण अलसाई छुई उन हंसियोंसे ऐसा कहकर सुखपूर्वक निर्विकल्प समाधिमें स्थित हो गयीं । तदनन्तर समय आनेपर उन हंसियोंने इक्षीस अंडे दिये । मुने ! इस प्रकार उन अंडोंसे ये हमलोग इक्षीस भाई चण्डके पुनरुत्पमें कौशकी योनिमें उत्पन्न हुए । धीरे-धीरे हम यदे हुए । हमारे पर निकल आये और हम आकाशमें उड़ने

योग्य भी हो गये । जब भगवती ब्राह्मी समाधिसे विरत हुई, तब हमलोगोंने अपनी माता हंसियोंके साथ उन देवीकी विरकालतक भजीमौति आराधना की । तदनन्तर उपर्युक्त समय आनेपर फृथापरवश हुई भगवती ब्राह्मीने



हमलोगोंपर ऐसा अनुप्रह किया, जिसके फलस्वरूप हमलोग जीवनमुक्त होकर स्थित हैं । जब हमलोगोंका मन पूर्णतया शान्त हो गया, तब ऐसी धारणा हुई कि अब एकत्रान्त प्रदेशमें चलप्रर ध्यान-समाधिमें स्थित रहना चाहिये । ऐसा निष्क्रिय करके हमलोग अपने पिताजीके पास विन्द्यादेशमें गये । वहाँ पहुँचनेपर पिताजीने हमलोगोंका आलिङ्गन किया । तत्पश्चात् हमलोगोंने अलम्बुसा देवीका पूजन किया, जिससे उन देवीने हमलोगोंको फृथापद्धिसे देखा । फिर तो हमलोग समाधित-चित्त होकर वहाँ रहने लगे ।

तब पिता चण्डने पूछा—पुत्रो ! क्या तुमलोग इस जगजालसे, जो अनन्त वासनारूपी तन्तुओंसे गुणा हुआ है, मुक्त हो चुके हो ? यदि नहीं तो हम इन भूत्य-

क्षमता भगवती अलम्बुसासे प्रार्थना करें, जिससे तुमलोग ज्ञानमें पारंगत हो जाओगे ।

कौण्ठोंने कहा—पिताजी ! ग्राहीदेवीकी कृपासे हम-  
छोंगोंको क्षेय तत्त्वका पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जुका है; विनु अब हमें एकान्तवासके लिये किसी उत्तम शानकी अभिलाषा है ।

चण्डने कहा—मुश्रो ! मेरु नामक एक अस्त्र ऊँचा पर्वत है, जो रससमूहोंका आधार और देवताओंका आश्रय-स्थान है । उसके पृष्ठभागमें एक महान् कल्पवृक्ष है, जो नाना प्रकारके प्राणियोंसे समावृत है । उसके दाहिने तनेपर एक शाखा है, जिसमें सुवर्ण-सूक्ष्म पीले रंगके चमकीले पलुव छोड़ हैं और वह रस-नुस्तुप धने पुष्प-गुच्छोंसे तथा चन्द्रसिंहकी तरह प्रकाशमान फलोंसे सुशोभित है । पुजो ! पूर्वकालमें मैंने उसी शाखापर चमकीली मणियोंसे युक्त घोंसल बनाया था और उसीमें कीड़ा की थी । उस घोंसलेके बाहरी दरवाजोंकी रचना



चिन्तामणियों द्वायकाशोंसे की गयी है । वह रस-सूक्ष्म चमकीले पुष्पदलोंसे आच्छादित, सुखाहु रससुक्त फलोंसे युक्त और विचारार्थक व्यक्तिगत करनेवाले कौण्ठोंके व्यवोंसे परिषुर्ण है । अतः प्यारे बच्चो ! तुमलोग उसी घोंसलेपर बाओ । वहाँ रहते हुए तुमलोगोंको पर्याप्त मात्रामें भोग और निर्विवृत मोक्ष दोनों प्राप्त होंगे ।

मुनिवर ! यों कहकर हमारे पिताने हमलोगोंमें तुम्हारा तथा आलिङ्गन किया । तब हमलोग भगवती अलम्बुसा और पिताजीके चरणोंमें अभिवादन करके अलम्बुसाके वासस्थान उस विन्ध्यादेशसे उद्द चले । फिर तो कल्पता आकरशको ऊँचकर और भेदोंके क्लेटरोंसे निकलकर पक्षलोकमें जा पहुँचे । वहाँ हमलोगोंने आकरशवारी देखेंको प्रणाम किया । मुनीश्वर ! फिर सूर्यमण्डलका अतिकम्प करके हमलोग सुर्गीकी अमराचत्ती-पुरीमें गये और फिर सर्गको ऊँचकर व्रद्धलोकमें पहुँच गये । वहाँ हमलोगोंने मता भगवती ग्राहीदेवीको प्रणाम किया और तुरंत ही पिताहारा कहा हुआ वह सारा बृत्तान्त उन्हें घोंकास्थों कह सुनाया । तब उन्होंने रुद्रार्थक हमलोगोंका आलिङ्गन किया और 'जाओ' यो आक्षा प्रदान करके हमें उत्साहित किया । तत्पश्चात् हमलोग उन्हें नमस्कार करके ब्रह्मलोकसे चल पड़े । आकरशमार्गसे चलनेमें हमलोग चफल तो थे ही; अतः पक्षलोकमें विचरते हुए लोकपालोंकी पुरियोंको, जो सूर्यके समान चेदीप्यमान है, ऊँचकर इस कल्पतरसपर आ पहुँचे और अपने घोंसलेमें प्रविष्ट हो गये । मुने ! यहाँ सारी बाधारें हमलोगोंसे दूर रहती हैं और हमलोग सदा समाधिमें ही स्थित रहते हैं । महानुभाव ! आपके पूर्व प्रकारके उत्तरमें हमलोग जैसे उत्पन्न हुए, जिस प्रकार यशार्थ ज्ञान प्राप्त करनेसे हमलोगोंकी बुद्धि शान्त हुई एवं जिस तरह हमलोग इस घोंसलेमें आये—वह सारा बृत्तान्त आपको अविकल्परसे गलीमाँति कह सुनाया ।

( सर्ग १८-१९ )

## ‘तुम्हारी कितनी आयु है और तुम किन-किन शृतान्तोंका सारण करते हो ?’ वसिष्ठजीद्वारा पूछे हुए इन प्रश्नोंका उत्तरद्वारा समाधान

भुशुष्ठने कहा—मुने । मैं जो निर्णिकतार्थक आपका दर्शन कर रहा हूँ, इससे प्रतीत होता है कि चिरकालसे संचित किये गये भेरे पुण्योंका फल आज ही प्रकट हुआ है । मुनिराज ! आज आपके दर्शनसे यह धोंसल, यह शाला, यह मैं और यह कल्पत्रु—ये सबके-सब परिव्र हो गये ।

श्रीवसिष्ठजीने पूछा—पश्चिराज ! उस प्रकार बलवान् एवं अग्राध बुद्धिसम्पन्न तुम्हारे भाई यहों दिखायी क्यों नहीं देते ? अवेक्षे तुम्हीं क्यों दृष्टिगोचर हो रहे हो ?

भुशुष्ठने कहा—निष्पाप महर्ण ! हमलोगोंको यहों रहते वहुत अच्छा समय व्यतीत हो गया, यहाँतक कि दिनकी भौति शुगोंकी पक्षियाँ समाप्त हो गयीं । अतः इतना लंबा समय बीत जानेके कारण मेरे सभी छोटे भाई तृणकी तरह अपने शरीरोंका त्याग करके कल्प्याण-मय शिवपदमें लीन हो गये; क्योंकि चाहे कोई दीर्घायु हो, महान् हों, सज्जन हों, बलवान् हों—कैसे भी क्यों न हों, अलक्षितखलपचाला क्षाल समीको निगल जाता है ।

श्रीवसिष्ठजीने पूछा—यारे वायसुराज ! जिस समय ग्रलक्ष्मायु अनवरत वेगार्थक बहने लाती है, उस समय क्या तुम्हें खेद नहीं होता ? उदयाचल और अल्पाचलके अरण्यसमूहोंको भस्म करनेवाली सूर्यकी क्रियोंसे क्या तुम्हें कष्ट नहीं होता ? यह कल्पवृक्ष जो स्थं ही अल्पत ऊँचा है तथा ऊँचे-से-ऊँचे स्थानपर स्थित है, जागतिक विषय क्षीरोंसे क्षुब्ध क्यों नहीं होता ?

भुशुष्ठने कहा—भगवन् ! हम सदा परमात्मामें ही संतोष मानकर स्थित रहते हैं, हस्तिये भ्रमके अन्वर आनेपर भी हमें कभी इस जगतमें भ्रम नहीं होता ।

महान् ! हम अपने खमात्रात्रसे संतुष्ट रहते हैं और कष्ट-दायक विचारोंसे मुक्त होकर अपने इस धोंसलमें रहकर केवल काल्यापन करते हैं । हमें न तो इस देहके जीवित रहनेसे किसी फलकी अभियापा है और न हम मरणद्वारा इसका विनाश ही चाहते हैं; क्योंकि हमलोग वर्तमान समयमें जिस प्रकार स्थित हैं, वैसे ही आगे भी स्थित रहेंगे । हमने प्राणियोंकी जन्म-भरण आदि दशाओंका अवलोकन कर लिया और हमारे मनने अपने चब्बल सख्तपरम सर्वथा त्याग कर दिया है । निरन्तर शान्ति प्रदान करनेवाले अपने अविनाशी सचिदानन्दघनखल्प ज्ञानमें स्थित होकर मैं इस कल्पवृक्षके ऊपर बैठ दुआ सदा कल्पकी कलाशूर्ण गतिको जानता रहता हूँ । ब्रह्मन् ! मैं रूप-सदृश चमकीले पुष्प-गुच्छोंके प्रकाशसे युक्त इस कल्प लतागृहमें बैठकर प्राणायामके द्वारा योगवल्लसे सम्पूर्ण कल्पकी वात जान लेता हूँ । मैं इस ऊँचे शिखरपर बैठ दुआ अपनी बुद्धिसे लोकोंके कालक्रमकी स्थितिको जानता रहता हूँ । मुनिवर ! मेरा मन सार और असार वस्तुओंका विभाग करनेवाले ज्ञानकी प्राप्तिसे उत्तम शान्तिको प्राप्त हो गया है, अतः इसकी चब्बलता नष्ट हो गयी है और अब यह शान्त होकर भलीभांति स्थिर हो गया है । अग्राध-बुद्धिसम्पन्न महर्ण ! सासारिक व्यवहारोंसे उत्पन्न मिथ्या आशारूपी पाशोंसे बैंधा दुआ भूलोकवासी साधारण कौआ जिस प्रकार सिसकारियोंसे मयभीत हो जाता है, उस प्रकार मैं मयभीत नहीं होता; क्योंकि उत्कृष्ट शान्तिरूप धर्मधारी तथा अत्यधिकारसे शीतल हृदय बुद्धिशारा जागतिक मायाको देखते हुए हमलोग धैर्यसम्पन्न हो गये हैं, इसलिये भयंकर दशाओंमें भी हमारी बुद्धि पर्वतके समान स्थिर रहती है । परम ऐश्वर्यशाली मुने । समर्जन भूतसमुदाय व्यवहारहृषिसे बाते और जाते हैं, परंतु परमार्थदृष्टिसे न कोई आता

है न जाता है; अतः इस विषयमें हमलोगोंको भय कैसा। क्योंकि प्राणि-समुदायरूपी तत्त्वोंसे युक्त तथा कल्पसागरमें प्रवेश करनेवाली संसर-सरिताके तटपर स्थित होते हुए भी हमलोग उसकी उपेक्षा कर रहे हैं। बिनके शोक, भय और आपास नष्ट हो चुके हैं तथा जो आत्माभसे संतुष्ट हैं—ऐसे आप-सरीखे उसम पुरुष हमलोगोंपर अनुग्रह करते रहते हैं; इसलिये हमलोग सारे हुआओंसे मुक्त हो गये हैं। गणन्। हमलोगोंका मन यथापि व्यक्तिहारार्थ इवर-उधर कायेमें व्यस्त रहता है, तथापि न तो वह एग आदि वृत्तियोंमें फँसता है और न तत्त्व-विचारसे शून्य ही होता है। क्योंकि हमारा आआ निर्विकार, शोभरहित और शान्त हो गया है, इसलिये विद्युप तद्वाले हमलोग पूर्णिमाके पर्वकालमें बड़नेवाले कल्पसागरकी भाँति प्रसुद्ध हो गये हैं। गणन्। इस समय आपके आगमनसे हमलोगोंका अन्तःकरण हर्षसे प्रसुद्धित हो रहा है। समस्त एषणाओंका परित्याग कर चुकनेवाले संत-महात्मा अपने शुभागमनद्वारा जो हमपर अनुग्रह करते हैं, इससे बढ़कर कल्पाणकारक मैं अपने लिये और बुळ नहीं समस्ता। भला, आपातरमणीय भोगोंसे कौन-सा अम मिल सकता है? अर्थात् बुळ नहीं। लिंगु संसाररूपी विनामणिसे तो सबके सारभूत यथार्थ कानकी प्राप्ति हो जाती है। सज्जन-हिरोमणे! आपकी याणी स्नेहपूर्ण, गम्भीर, कोमल, मधुर, उदार और धीरतायुक्त है; भेनि परमात्माको जान लिया है और आपके दर्शनसे मैं पवित्र हो चुका हूँ। इसलिये मेरी तो ऐसी धारणा है कि आज मेरा जन्म सफल हो गया; क्योंकि सच्च पुरुषोंका सङ्ग समस्त यद्योंका अपहरण करनेवाला होता है।

मुनीश्वर! युगान्तकालमें जब भीषण डफ़्फ़ झेने लगते हैं और प्रचण्ड वायु बहने लगती है, उस समय भी वह कल्पवृक्ष मुसिर रहता है। यह कभी भी कमित नहीं होता। अन्य लोकोंमें विकरण करनेवाले समस्त

प्राणियोंके लिये वह आगम्य है, इसीलिये हमलोग यहाँ शुखरूपक निवास करते हैं। ऐसे उठम शुक्षपर निवास करनेवाले हमलोगोंके निकट भव्य, आपत्तियों कैसे फ़लक सकती हैं।

श्रीकृष्णजीने पूछा—महाबुद्धिमान् मुश्यमुद्धार ! प्रलय-कालमें जब सूर्य और चन्द्रमाको भी गिरा देनेवाली उत्पातवायु बहने लगती है, उस समय तुम सतापरहित कैसे रह पाते हो ?

मुश्यमुद्धने कहा—मुनिश्रेष्ठ ! कल्पनात्मके समय जब सांसारिक व्यक्तिगता विनाश हो जाता है, उस समय जैसे कृतज्ञ आपत्तिकालमें सन्मिश्रको त्याग देता है, उसी तरह मैं इस घोंसलेको छोड़ देता हूँ और आकाशमें ही स्थित रहता हूँ। उस अवसरपर वासनाशून्य मनकी तरह मैं सारी कल्पनाओंसे रहित रहता हूँ और मेरा सारा शरीर निष्ठल हो जाता है। मिर ये ब्रह्माण्डके उस पार पहुँचकर समस्त तत्त्वोंके अन्तमूल एवं विशुद्ध परमात्मामें अचल सुखसम्पदाके सद्वा निर्विकल्पप्रणालियमें तबतक स्थित रहता हूँ, जबतक कल्पयोगी ब्रह्मा पुनः सुष्टिकर्ममें प्रवृत्त नहीं होते। सुष्टिरक्षना हो जानेके पश्चात् मैं ब्रह्माण्डमें प्रवेश करके पुनः अपने इस घोंसलेमें आ जाता हूँ।

श्रीकृष्णजीने पूछा—विहगराज ! कल्पनात्मके अवसरोंपर जैसे तुम धारणा, व्यान और समाधिके द्वारा अव्याप्तरूपसे स्थित रहते हो, वैसे अन्य योगी क्यों नहीं रहते ?

मुश्यमुद्धने कहा—गणन् ! यह तो परमेश्वरकी नियमित शक्ति है, जो सबको नियमद्वारा रखती है। उसका उछाल्हन करना कठिन है। ऐसी करण मुझे ऐसे रहना पड़ता है और दूसरे योगी दूसरी प्रकारसे रहते हैं। जो अवश्यमणी है, उसकी इदमित्यरूपसे अवधारणा नहीं की जा सकती; क्योंकि परमेश्वरकी नियमित शक्तिरूप स्वभावका ऐसा निष्पत्त है कि जैसा होनहार होता है, कैसे ही होता है। इसीलिये प्रत्येक कल्पमें

केशल मेरे संकल्पसे ही मेहगिरिके इसी शिखरपर इस प्रकार यह कल्पनृश्व बारंबार उत्पन्न होता है ।

श्रीकृष्णजीने पूछा—कल्पणाखरूप वायसराज ! तुम्हारी आत्म अत्यन्त लंगी है । तुम भूतकालीन पदार्थोंका निर्देश करनेवालोंमें अग्रगाम्य, ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न और धीर हो । तुम्हारी मनोगति योगसाधनके योग्य है । तुमने अनेक प्रकारकी असंख्य सुष्ठियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय भी देखा है । अतः अब यह बताओ कि इस गुणिक्रममें तुम्हें किस्त-मिस्त आश्चर्यजनक सुष्ठिका स्मरण है :

भुशुण्डने कहा—मुनिश्चेष्ट ! मुझे इस पृथ्वीके विषयमें ऐसा स्मरण है कि किसी समय यह शिला और शूक्रोंसे उत्पन्न थी । इसपर तृण और लता आदि भी नहीं थे; पर्वत, बन और भोति-भौतिके वृक्ष—ये कुछ भी नहीं थे और यह मेरके नीचे स्थित थी । वहाँ यह ग्यारह हजार घण्टोंका भरसे परिष्ठूर्ण रही—ऐसा मुझे सम्पूर्ण रूपसे स्मरण है । मुझे यह भी खूब याद है कि जब बड़े और ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त हुए असुरोंका धोर संग्राम चल रहा था, उस समय इस पृथ्वीका भीतरी भाग क्षीण हो गया था और यह युद्धसे भागे हुए जनोंसे परिष्ठूर्ण हो गयी थी । फिर एक चतुर्युगीतक यह उन मतवाले असुरोंके अधिकारमें रही, इसका भी मुझे पूर्ण स्मरण है । अन्य चतुर्युगीके दो युगोंतक यह भूमि बनैले शूक्रोंसे खचाखच भरी रही । उस समय उन शूक्रोंके अतिरिक्त और किसी पदार्थका निर्माण नहीं हुआ था—इसका भी मुझे ठीक-ठीक स्मरण है । एक समय यह बसुधा चारों युगोंसे भी अधिक कालतक बने पर्वतोंसे आच्छादित रही । उसपर मनुष्य चल-फिर भी नहीं सकते थे—यह भी मुझे स्मरण है । मुझे वह समय भी याद आता है, जब अन्तरिक्ष आदि लोकोंमें समस्त विमानचारी देवता भयके कारण अन्तर्वर्ण हो गये थे और यह पृथ्वी दृश्यशून्य होकर अन्धकारसे आच्छादित हो गयी थी । इनका तथा इनके अतिरिक्त अन्य बहुत-सी वातोंका मुझे स्मरण

है; परंतु इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ । जो सार बत्तु है, उसे मैं संक्षेपसे कहता हूँ, सुनिये । ब्रह्मन् । मुझे तो यहाँतक स्मरण है कि मेरे सामने ऐकड़ों चतुर्युगीयों भीत गयी और ऐसे असंख्य मनु समाप्त हो गये, जो सब-के-सब प्रभावाधिक्यसे परिष्ठूर्ण थे । मुझे एक ऐसी सुष्ठिका स्मरण है, जिसमें पर्वत और भूमिका नाम-निशान भी नहीं था । चन्द्रमा और सूर्यके बिना ही पूर्ण प्रकाश छाया रहता था और देवता तथा सिद्ध मानव आकर्षणमें ही रहते थे । मुझे ऐसी ही एक और सुष्ठिका स्मरण है, जिसमें न कोई इन्द्र था न भूपाल तथा उत्तम, मध्यम और अधमका भेद भी नहीं था । सब एकरूप था और दिशामण्डल अन्धकारसे छ्यास था ।

मुनिराज ! पहले सुष्ठि-चन्द्रनाका संकल्प हुआ, फिर तीनों लोकोंका निर्माण हुआ । उस त्रिलोकीमें अचान्तर प्रदेशोंका विभाग होनेके बाद उनमें सात कुलपर्वतोंकी स्थापना हुई । उन्हीं प्रदेशोंमें जम्बूदीपकी पृथक् स्थापना हुई । ग्रहाजीने उस जम्बूदीपमें ब्राह्मण आदि वर्ण, उनके धर्म और उन वर्णोंके लिये योग्य विधात्रिशोर्णोंकी सुष्ठि की । तत्पश्चात् अवनिमण्डल एवं नक्षत्र-चक्रकी स्थिति और भूवर्षण-लक्षण निर्माण किया । तात । तदनन्तर चन्द्रमा और सूर्यकी उत्पत्ति, इन्द्र और उपेन्द्रकी व्यवस्था, हिरण्यक्षद्वारा पृथ्वीका अपहरण, वराहरूपधारी भगवान्-द्वारा उसका उद्धार, भूपालोंकी रचना, मस्त्यरूपधारी भगवान्द्वारा वेदोंका लया जाना, मन्दराचलका उम्भूलूम, अमृतके लिये क्षीरसागरका मन्थन, गरुड़का शैशव, जब कि उनके पंख नहीं जमे थे, और सागरोंकी उत्पत्ति आदि जो निकटतम् सुष्ठिकी स्मृतियों हैं, उन्हें तो मेरी अपेक्षा अल्प आयुवाले योगी भी स्मरण करते हैं; अतः उनमें मेरी क्या आदर-बुद्धि हो सकती है ।

मुनिश्चेष्ट ! हयगीव, हिरण्याक्ष, कालनेमि, बल, हिरण्यकशिषु, क्राण, बलि और प्रसाद आदि असुरोंमें,

शिवि, न्यून, पृथु, उलाल्य, वैन्य, नाभाग, केलि, नल, मान्धाता, सगर, दिलीप और नद्युष आदि नरेशोंमें सथा आत्रेय, व्यास, बालभीकि, शुक, वास्यायन, उपमन्त्रु, मणीमहिं और मणीरथ आदि महर्षियोंमें दुःख तो स्फूर्त भूतकाल्यमें, कुछ लिकट्टम अतीतमें और कुछ इसी वर्तमान सुष्ठियोंमें उत्पन्न हुए हैं; अतः इनके समरणकी तो बात ही क्या है। मुनिवर ! आप तो ब्रह्माके पुत्र हैं ; आपके भी आठ जन्म हो चुके हैं। इस बाल्यों जन्मोंमें मेरा आपको साथ समागम होगा—यह मुझे पहलेसे ही ज्ञात था। यह वर्तमान सुष्ठि जैसी है, इसके जैसे आचरण हैं और जैसा इसका अवध्य-संस्कार एवं दिशागण है, वैक इसी तरहकी तीन सुष्ठियों पहले भी हो चुकी हैं, जिनका मुझे भलीभीति स्मरण है। अमृतके लिये, जिसमें भन्दराचलके आर्कषण-के प्रयाससे देवता और दैत्य व्याकुल हो गये थे—ऐसा यह बाहरबौं समुद्र-मन्थन है, यह भी मुझे स्मरण है। मुने ! प्रत्येक युगमें अव्येता पुरुषोंकी बुद्धियोंके न्यूनाविक होनेके कारण भ्रष्टचर्य आदि क्रियाओ, शिक्षा-कल्प आदि अङ्गों और स्वर आदिके उच्चारणपूर्वक पाठकी निचित्रतासे युक्त वेद भी मेरे स्मृतिपथमें वर्तमान हैं। निष्पाप महवें ! युग-युगमें जो एकार्थक, विस्तारयुक्त

तथा बहुत-से पाठमेदवाले पुराण प्रवृत्त होते हैं, उन सबका भी मुझे स्मरण है। पुनः प्रत्येक युगमें वेद आदि शालोंके ज्ञाता व्यास आदि महर्षियोंद्वारा विरचित महामारत आदि इतिहास भी मुझे याद हैं। इनके अतिरिक्त रामायण नामसे प्रसिद्ध जो दूसरा महान् आक्षर्यजनक इतिहास है; जिसकी लोक-संस्कार एक ल्याख है, उस ज्ञान-शालका भी मुझे स्मरण है। उस शालमें बुद्धिमानोंके लिये हायपर रखे हुए फलकी तरह ‘श्रीरामकी तरह व्यवहार करना चाहिये, परंतु रामायणके विलासी जीवनका अनुकरण नहीं करना चाहिये’ ऐसा ज्ञान बतलाया गया है। उसके निर्माता महर्षि वालभीकि हैं। अब उनके हाथ जगत्में जो (वसिष्ठ-राम-संशादरूप) दूसरे ज्ञानशालकी रक्तना की जायगी, उसका भी मुझे ज्ञान है और समयानुसार वह आपको भी ज्ञात हो जायगा। यह जगत्खरूप आन्ति जलमें डुल्खुलेके समान कभी स्थित-सी दीख पड़ती है, जिस बाल्यवर्षमें इसका विद्या भी कालमें अस्तित्व नहीं है। मेरे पिता अण्डके जीवनकालमें इस कल्पतरुकी जैसी शोभा और जैसा संगठन था, वह आज भी वैसा ही है; इसीलिये इस समय मैं यहाँ स्थित हूँ। (सर्ग २०-२२)

### जिसे मृत्यु नहीं मार सकती, उस निर्दोष महात्माकी स्थितिका, परमतत्त्वकी उपासनाका तथा तीनों लोकोंके पदार्थोंमें सुख-शान्तिके अभावका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—महाब्राह्म श्रीराम ! तदनन्तर कल्पवृक्षके अग्रमागमें आसीन इस वायसराज मुशुण्डसे मैने जाननेके लिये यह पूछा—‘पक्षियोंके श्रेष्ठ राजा ! जगत्में विवरण करनेवाले तथा व्यवहारमें लगे हुए प्राणियोंकी देहको मृत्यु कैसे बाधा नहीं पहुँचाती ?’

मुशुण्डने कहा—सर्वज्ञ क्रहन्। आप यद्यपि सब कुछ जानते हैं, मिर भी जो मुझसे जिज्ञासुकी तरह श्वर्षे हैं, वह वैक ही है; क्योंकि सामी प्रज्ञोंद्वारा

अपने सेवकोंकी वाक्यहुता प्रसिद्ध कराया करते हैं। फिर भी आप जो मुझसे पूछते हैं, उसका मै उत्तर आपको देता हूँ; क्योंकि आकाश पालन ही सज्जनोंकी सबसे बड़ी सेवा है, ऐसा मुनिलोग कहते हैं। महाराज ! पापरूप मोती जिसमें पिरोये गये हैं, ऐसी बासनारूपी तन्दुसंतति जिसके हृदय-कल्पमें ग्राहित नहीं रहती अर्थात् जो बासना और पापसे रहित है, उसको मृत्यु मारनेकी इच्छा नहीं करती। जो

शरीरल्नाके धूनख्य मानसिक चिन्ताओंसे और आशाओंसे रहती है, उसको मृत्यु मानेकी इच्छा नहीं करती । राग-द्रेषख्यपी विश्वसे परिणीत अपने मनख्यी निष्ठामें रहनेवाला लोभख्यी सर्प जिसकी नहीं हैंस्ता, उसे मृत्यु मानेकी इच्छा नहीं करती । शरीरख्यी समुद्रका बहवानिख्य अतएव समस्त विवेकख्यी जलको पी जानेवाला क्रोध जिसको दग्ध नहीं करता, उसे मृत्यु मानेकी इच्छा नहीं करती । तिलोंकी बड़ी राशिको पेर देनेवाले कठिन कोल्हू-की तरह उप्रतापूर्वक कामदेव जिसे पीड़ा नहीं पहुँचाता, उसे मृत्यु मानेकी इच्छा नहीं करती । जिसका चित्त एक निर्भय परम पवित्र सचिदानन्दघन खलख्य परमपदमें स्थित है, उसको मृत्यु मानेकी इच्छा नहीं करती । शरीरख्यी पुष्टित घनमें प्रवेशकर उद्धर-कूद मच्छनेवाला जिसका व्यथान् मन बानरकी तरह चक्षु नहीं है, उसको मृत्यु मानेकी इच्छा नहीं करती । प्रश्न । ये पूर्वोक्त महान् दोष संसारख्यी व्याख्यिके कारण हैं । ये दोष विक्षेपरहित चित्तको तनिक भी नहीं शक्तीयते । अङ्गानके कारण शरीरिक एवं मानसिक पीड़ाओंसे उत्पन्न नाना प्रकारके दुःख विक्षेपरहित चित्तको छिन्न-मिन्न नहीं कर पाते ।

जिसका चित्त परमात्माके स्वरूपमें सम्पूर्ण प्रकारसे स्थित है, वह पुरुष शाकानुसार व्यक्त्वार करता हुआ भी वास्तवमें न कुछ देता है न लेता है, न कुछ खाग करता है और न कुछ माँगता ही है । जिस महापुरुषका चित्त परमात्मामें स्थित है, उसे उपर्याजन करनेके अयोग्य दृष्ट धनादि, मुरे आरम्भ, राग-द्रेष आदि दुर्गुण, कठोर वचन, दुरुचार—ऐ सब विचलित नहीं कर सकते अर्थात् उसके निकट भी नहीं जा सकते । जिसका चित्त परमात्मामें स्थित है, उसके न चाहनेपर भी न्याय आदि गुणोंसे युक्त अनेक सम्पर्कियों उसके पीछे-पीछे दौड़ती हैं । इसलिये कल्याण-

कामी मनुष्यको चाहिये कि जो परिणाममें हितकर, सत्य, अविनाशी, संशयरहित एवं विषयाभिलापख्यी दृष्टिसे रहित है, उसी एक परमात्म-तत्त्वमें मनको स्थिर करे । जो सदा ही परम ग्राह है एवं जो आदि, मध्य और अन्तमें सुन्दर, मधुर तथा हितकरक है, उस परमात्म-तत्त्वमें मनको स्थिर करना चाहिये । जो अविनाशी है, मनके लिये सदा हितकर है, वास्तविक धूम सत्य है, आदि, मध्य एवं अन्तमें सदा-सर्वदा परिणीत है तथा जिसकी सभी संतानोग प्रीतिपूर्वक उपासना करते हैं, उस परमात्म-तत्त्वमें मनको स्थिर करना चाहिये । जो दुष्टिसे परे है, ज्ञानस्वरूप है, सबका आदिकारण है, निरतिशय परम अमृतख्य ख्य है तथा जिससे अधिक गङ्गालय दूसरा कोई नहीं है, उस परमनस्य परमात्मामें मनको स्थिर करना चाहिये; क्योंकि देवताओं, अहुरों, गन्धर्वों, विषाधरों, किलरों तथा देवाङ्गनाओंसे युक्त खर्गमें कुल भी सुस्थिर एवं उत्तम तत्त्व नहीं है ।

तात । वृक्षोंसे, राजा-महाराजाओंसे, पर्वत, नगर एवं ग्वालोंकी आशासु-भूमिसे तथा समुद्रसे युक्त भूमण्डलमें कुछ भी स्थायी और शोभन तत्त्व नहीं है । नागों, असुरों तथा असुरोंकी लियेसे युक्त समस्त पाताल-खोकमें भी कोई स्थिर एवं मङ्गलदायक पदार्थ नहीं है । जिसमें खर्ग, देखलोक, पृथ्वीसहित पाताल एवं दसों दिशामें हैं, ऐसे इस सम्भूर्ण जगतमें कोई भी स्थिर और मङ्गलदायक पदार्थ नहीं है । तात्पर्य यह कि त्रिलोकमय सम्पूर्ण संसारमें आधि, व्याधि, चिन्ता, शोक ही भरे हैं; वास्तविक धूम-शान्तिका नामोनिशान भी नहीं है । इसलिये नाशवान् क्षणभङ्गर संसारसे लीब्र वैराग्य करना चाहिये । अतएव सम्पूर्ण भूमण्डलका एकही सन्नाद् होना श्रेष्ठ नहीं, सबसे बड़े अग्निद इन्द्र, धूहरपति आदि देवता होना यानी सर्गका अधिपति होना भी श्रेष्ठ नहीं तथा पातालमें सम्पूर्ण पृथ्वीको

वारण करनमें समर्थ शेषनाग होना यानी पातालमें अधिपति होना भी श्रेष्ठ नहीं; क्योंकि ये सब क्षणभूर—नाशबान् हैं। जहाँ विवेकी पुरुषोंका मन पूर्णकाम होकर सुखशान्ति पाता है, ऐसी वास्तविक सुखशान्ति वहाँ लेखान्त्र मी नहीं है। आधिन्यावियोंसे प्रचुर चिरजीविता भी श्रेष्ठ नहीं, समस्त व्याधियोंका विनाशल्प मरण भी अद्यित दुःखोंकी निदान इह अकृतारूप होनेसे श्रेष्ठ नहीं है, तरक तथा स्वर्ग भी श्रेष्ठ नहीं; क्योंकि जहाँ विवेकी पुरुषोंका मन

पूर्णकाम होता है, वैसा वहाँ कुछ भी नहीं है। वस प्रकारके सम्पूर्ण विविय सुष्ठियोंके क्रम अङ्गानी मनुष्यको बुद्धिकी मृदुताके कारण ही रमणीय प्रतीत होते हैं। इसलिये जो शहान् संत हैं, वे अनिय, क्षणभूर, नाशबान् नायिक पदार्थोंमें चिरविश्राम ऐसे कर सकते हैं; क्योंकि उनमें वास्तविक सुखशान्ति और विश्रामका अत्यन्त अभाव है। इसलिये विवेकी पुरुषोंको उनमें अत्यन्त वैराग्य करके उनसे उपत्य हो जाना चाहिये। (सर्ग २३)

### ग्राण-अपानकी गतिको तत्त्वतः जाननेसे मुक्ति

भुशुण्डने कहा—महाराज ! कर्मी नष्ट न होनेवाली, संशयोंसे रहित एक परमामदहि ही समस्त ज्ञानोंमें सबसे उक्त और सबसे श्रेष्ठ है। महान् ! परमामविषयक विचार समस्त दुःखोंका अन्त कर देनेवाल्य तथा अनादिकालसे चले आते हुए अङ्गानसे परिशृण्ग, दुःखन-नुल्य संसाररूपी अमक्ष विनाश करनेवाला है। मगान् ! समस्त संकल्पोंसे रहित परमामविषयक भावनासे अङ्गानरूपी अन्धकारका, उसके कार्योंके साथ, मठी प्रकार विनाश हो जाता है। किंतु सामाय बुद्धिवाले ग्राणी समस्त करुणाओंसे अतीत इस परमदृढ़को कैसे प्राप्त कर सकते हैं ! अर्थात् साधारण पुरुषोंके लिये वह पद प्राप्त होना कठिन है। इस परमामविषयक भावनाके अनेक भेद हैं। उनमेंसे सम्पूर्ण दुःखोंका विनाश करनेवाली ग्राणमावनाका मैने आश्रय लिया है, वही यहाँ मेरे जीवनका आवार है।

श्रीवसिंहजी बोले—श्रीराम ! जब मननशील भुशुण्ड इस प्रकार कह रहे थे, तब जानते हुए भी मैने शान्त यात्रसे उनसे फिर कौतुकतया पूछा—‘समस्त संदेहोंको कटनेवाले अत्यन्त दीर्घजीवी सजनखमात्र भुशुण्ड ! तुम मुझसे टीक-टीक कहो कि ग्राणकी भावना किसे कहते हैं ?’

भुशुण्डने कहा—मुने ! आप समस्त वेदान्तके ज्ञाता हैं, समस्त संशयोंका विनाश करनेवाले हैं, तथापि सं० यो० या० अ० १४—

केवल विनोदके लिये ही मुह-जैसे कौपेसे इस विषयका प्रश्न कर रहे हैं—ऐसा मैं मानता हूँ। महाराज ! भुशुण्डको जिसने चिरजीवी बनाया है तथा जिसने भुशुण्डको आत्मस्वरूपकी प्राप्ति करायी है, उस प्राण-समाधिमानिस्त्वण मैं कहता हूँ, सुनिये। मुनिराज ! इदा और पिङ्गल नामवाली दो अत्यन्त सूखम नाड़ियों इस देहरूपी धरके बीच दाहिने और बायें भागमें स्थित फोड़में यानी कुक्षियोंमें रहती हैं। उनका किसीको भान नहीं होता, वे केवल नासापुट्टमें प्राणसंचारद्वारा प्रतीत होती हैं। उक्त देहमें यन्त्रके सदृश तीन यमलके जोड़े हैं। वे अस्थि-ग्रन्थामय एवं अत्यन्त श्रद्धा हैं। उनमें ऊपर और नीचे दोनों ओरसे नालदण्ड लगे हुए हैं और वे समुटित होकर एक दूसरेसे मिले हुए कोमड़ सुन्दर दलोंसे सुशोभित हैं। उन तीन दृश्य-कमलयनोंमें प्राणनीय समस्त शक्तियों ऊपर और नीचेजू ओर उसी प्रकार फैली हुई हैं, जिस प्रकार चन्द्र-विश्वसे किरणें फैलती हैं। इन प्राणशक्तियोंसे ही शीघ्रगति, अगति, विर्गण, हरण, विहरण, उत्पत्तन एवं निपत्तनकी क्रियाएँ निष्पत्त होती हैं। मुने ! दृश्य-कमलमें स्थित वही बायु परिदृश्यों-द्वारा प्राणके नामसे वही जाती है। इसीनी कोई एक शक्ति नेत्रोंको स्पन्दित करती है यानी नेत्रोंने निष्प-

उन्मेशकी क्रिया करती है। उसीकी कोई एक शक्ति स्पर्शका प्रहण करती है, दूसरी कोई शक्ति नासिकाद्वारा बास-ठथ्धासका निर्वाह करती है, कोई एक दूसरी शक्ति अन्वय परिपाक करती है तो कोई अन्य शक्ति वास्त्रोंका उच्चारण करती है। महाराज ! इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ । शरीरमें जो कुछ क्रिया या व्यापार होता है, वह सब शक्तिस्पर्श वायु ही करती है, जिस प्रकार यन्त्रचालक कठपुतलीसे नृत्यादि चेष्टा करता है। उसमें ऊर्ध्वामन और अधोगमन—ये दो प्रकारके संकेतवाले जो दो वायु प्रसुत होते हैं, वे दोनों श्रेष्ठ वायु प्राण एवं अपान नामसे प्रसिद्ध एवं प्रकट हैं। मुने ! मैं उनकी गतिका सदा अनुसरण करता हुआ स्थित रहता हूँ। उनका सख्त्य सदा शीतल और उष्ण

रहता है एवं वे दोनों निरन्तर शरीरके भीतर आकाश-मार्गकी यात्रा करते रहते हैं। उन प्राण और अपान नामक वायुओंकी—जो शरीरमें सदा संचरण करते हैं तथा बायत्-खग और सुषुप्तिमें सदा समानरूप हैं—गतिका अनुसरण करते हुए मेरे दिन सुषुप्ति-अवस्थामें स्थित मनुष्यकी मोति व्यतीत हो रहे हैं। एक हजार अंशोंमें विभक्त कमलतनुके लतमात्रकी अपेक्षा भी अस्तन्त दुर्लभ्य ये नाडियाँ हैं, अतः उनमें विद्यमान इन प्राण और अपान दोनों वायुओंकी भी गति दुर्बोध्य है। महात्मन् ! हृदय आदि स्थानोंमें निरन्तर विचरण करनेवाले प्राण और अपान वायुओंकी गतिके तत्त्वको जानकर उनका अनुसरण करनेवाला प्रसन्नचित्त पुरुष जना-भरणरूपी फौसीसे छूटकर सदाके लिये मुक्त हो जाता है। वह फिर इस संसारमें छौटकर नहीं आता।

( 'सर्ग २४' )

## पूरक, रेचक, कुम्भक प्राणायामका तत्त्व जानकर अभ्यास करनेसे मुक्ति और सर्वशक्तिमान् यरमात्माकी उपासनायकी भाइमा

मुगुण्डने कहा—प्रह्लाद ! इस प्राणमें स्फदन-शक्ति तथा निरन्तर गतिकिया रहती है। यह प्राण बाया एवं आन्तर सर्वाङ्गोंसे परिपूर्ण देहमें उपरके स्थानमें—हृदय-देहमें स्थित रहता है। अपानवायुमें भी निरन्तर स्पन्द-शक्ति तथा सततगति रहती है। यह अपानवायु भी बाया एवं आन्तर समस्त अङ्गोंसे परिपूर्ण शरीरमें नीचेके स्थानमें—नाभिदेशमें स्थित रहता है। मुनिवर ! किसी प्रकारके यज्ञके बिना भाणोंकी हृदय-कमलके क्रोशसे होनेवाली जो सामाजिक वहिर्मुखता है, विद्वान्लोग उसे रेचक कहते हैं। बाहर अंगुल्यर्थन्त बाया प्रदेशकी ओर नीचे गये हुए प्राणोंका छौटकर भीतर प्रवेश करते समय जो शरीरके अङ्गोंके साथ स्पर्श होता है, उसे शूरक कहते हैं। अपानवायुके शान्त हो जानेपर जबतक हृदयमें प्राणवायुका अम्बुदय नहीं होता, तबतक वह वायुकी कुम्भकवस्था ( निष्ठल स्थिति ) रहती है, जिसका योगीलोग अनुभव करते हैं। इसीको आम्बन्तर कुम्भक

कहते हैं। प्रह्लाद ! भृतिकाके अंदर असिद्ध घटकी स्थितिके सदृश बाहर नासिकाके अप्रभागसे लेकर बराबर सामने बाहर अंगुल्यर्थन्त आकाशमें जो अपानवायुकी निरन्तर स्थिति है, उसे पण्डितलोग 'बाया कुम्भक' कहते हैं। अतः बाहर प्राण-वायुके अस्तंगत होनेपर जबतक अपान-वायुका उद्गम नहीं होता, तबतक एकरूपसे स्थित पूर्ण ( दूसरा ) बाया कुम्भक रहता है, ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं। प्राण और अपानवायुके स्थानव्यूह ये जो बाया और आम्बन्तर कुम्भकदि प्राणायाम हैं, उनका भली प्रकार तत्त्व-रहस्य जानकर निरन्तर उपासना करनेवाला पुरुष पुनः इस संसारमें उत्पन्न नहीं होता। प्राणायामके तत्त्व-रहस्यको जाननेवाले योगीके समावतः अस्तन्त चब्बल ये वायु चलते, बैठते, जागते या सोते—सभी अत्राशांत्रोंमें उसके इच्छानुसार निरुद्ध हो जाते हैं। मनुष्य अपने भीतर बुद्धिपूर्वक सम्प्रकृ प्रकारसे इन कुम्भक आदि प्राणायामोंका समरण करता हुआ जो कुछ बहता है या

खाता है, उनमें वह कर्त्तव्य आदिके अभिनाशसे तनिक भी प्रस्तु नहीं होता।

महर्षे ! इस प्रकार प्राणायामका अभ्यास करनेवाले पुरुषका मन विचारकार बृहियोंके होनेपर भी बाधा विशयोंमें रमण नहीं करता। जो शुद्ध और तीक्ष्ण बुद्धिवाले महात्मा इस प्राणविषयक दृष्टिका अवलम्बन करके स्थित हैं, उन्होंने प्रापणीय पूर्ण ब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लिया और वे ही समझ खेदोंसे रहित हैं। बैठते, चलते, सोते और आगते—सदा-सर्वदा पुरुष यदि तत्त्व-खट्ट्य सम्बन्धकर प्राणायामका अभ्यास करें तो वे कभी कन्वनको प्राप्त नहीं होंगे। प्राण और अपानकी उपासनाद्वारा प्राप्त यथार्थ ज्ञानसे युक्त पुरुषोंका मन, जो मन्त्ररूप भौहसे रहित एवं स्थस्थ है, इस अन्तर्स्थित परमात्मामें ही सदा-सर्वदा ल्पा रहता है। शाश्वतिहित समूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी शुद्धान्तकरण निष्कामी ज्ञानी पुरुष प्राणापानकी गतिको तत्त्वतः जानकर भर्ती-मौति स्थस्थ हो सत्तिदानन्दधन परमात्माको प्राप्त कर लेता है। ब्रह्मन्। हृदय-कमलसे प्राणका अभ्युदय होता है और बाहर बाहर अंगुल्यर्थन्त प्रदेशमें यह प्राण बिलीन होकर रहता है। इसीको 'बाधा कुम्भक' कहते हैं। महामुने। बाधा बाहर अंगुलकी चरम सीमासे अपानका उदय होता है और हृदय-प्रदेशमें स्थित कमलमें उसकी गति अस्त हो जाती है; इसीको 'आनंदर कुम्भक' कहते हैं। जिस बाहर अंगुलकी चरम सीमाके आकाश प्रदेशमें प्राणकी समाप्ति हो जाती है, उसी आकाश-प्रदेशसे यह अपान उसीके बाद उत्थन हो जाता है। यह प्राण-वायु अग्नि-शिखाकी मौति बाधा आकाशके सम्मुख होकर बहता है और अपान-वायु ज यकी तरह हृदयाकाशके सम्मुख होकर निर्मनमार्गमें बहता है। चन्द्रमालय अपान-वायु शरीरको बाहरसे पुष्ट करता है और सूर्यरूप प्राण-वायु इस शरीरको भीतरसे परिष्कर कर देता है। प्राण वायु निर्मन हृदयाकाशकी सम्प्रस्कर पश्चात् मुखाप्रमाणके आकाशको तपाता

है; क्योंकि यह उत्तम सूर्य ही है। अपान-वायुरूप यह चन्द्रमा पहले मुखके अप्रमाणको पुष्टकर तदनन्तर हृदयाकाशका अपने अपृत-प्रश्नाहसे पोषण करता है। अपानरूप चन्द्रमाकी किरणका प्राणरूपी सूर्यके साथ आनंदर कुम्भकके समय जिस हृदयसे ब्रह्मसे सम्बन्ध होता है, उस ब्रह्मपदको प्राप्तकर पुरुष पुनः शोकनो प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार प्राणरूपी सूर्यकी किरणका अपानरूपी चन्द्रमाके साथ बाधा-कुम्भकके समय जिस बाधा-प्रदेशस्थित ब्रह्मसे सम्बन्ध होता है, उस ब्रह्मपदको प्राप्तकर मनुष्य पुनर्जन्म प्राप्त नहीं करता।

मुने। जो पुरुष हृदयाकाशमें स्थित प्राणरूप सूर्य-देवको उदय-अस्त, चन्द्रमा-रस्ति और गमनागमनसहित तत्त्वसे अनुभव करता है, वही यथार्थ अनुभव करता है। जैसे बाधा अन्धकारके नष्ट हो जानेपर बाहरके पदार्थ प्रस्त्राक्ष हो जाते हैं, उसी प्रकार हृदयस्थित अज्ञानके नष्ट हो जानेपर शुद्धस्तरूप परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है। प्राण-वायुके विलीन हो जानेपर और अपान-वायुके उदयके पूर्व बाधा कुम्भकका चिरकालतक अभ्यास करनेसे योगी शोकसे रहित हो जाता है। अपान-वायुके विलीन होनेपर और प्राण-वायुके उदयसे पूर्व भीतीरी कुम्भकका चिरकालतक अभ्यास करनेसे योगी शोकसे रहित हो जाता है। जिस हृदयवर्ती ब्रह्मरूप स्थानमें ये प्राण और अग्न दोनों विलीन हो जाते हैं, उस शान्त, अत्यनुखरूप प्रसारूप पदका अवलम्बन करनेसे योगी अनुनास नहीं होता। महर्षे ! जिस विन्यय परमात्मामें अपानके साथ प्राणका, प्राणके साथ अपानका तथा उन दोनोंके साथ बाधा एवं आनंदर देश-कालका विलय हो जाता है, उसी परमात्मरूप पदका आप दर्शन कीजिये।

जिस समय अपानके प्राकव्यसे पूर्व प्राण विलीन हुआ रहता है, उस समय किसी प्रकारके घटनके बिना स्वाभाविक सिद्ध ईर्ष जो बाधा-कुम्भक अवस्था है, उसीसे योगीलोग 'परम पद' कहते हैं। किसी प्रकारके घटनके बिना ही

सिद्ध हुआ अन्तःस्य कुम्भक सर्वसिंशयी ब्रह्मरूप परमपद है। यह परमात्माका वास्तविक रूपरूप है और यही सदा प्रकाशरूप परम विशुद्ध चेतन है। इसको प्राप्त कर मनुष्य शोकते रहता हो जाता है। जो प्राण-विलयका और जो अपान-विनाशका समीप एवं अन्तमें रहकर प्रकाशक है तथा जो प्राण और अपानके अंदर रहता है, इमलोग उस चेतन परमात्माकी उपासना करते हैं। जिसकी सत्ता-कृतिसे मन मनन करता है, बुद्धि विश्वय करती है एवं अहंकार अहंताको प्राप्त है, उस सविदा-अन्दरून परमात्माकी इमलोग उपासना करते हैं। जिस परमात्मामें समृद्ध पदार्थ विद्यमान है, जिससे सुमत्त जगत् उल्लङ्घन हुआ है, जो सर्वात्मक है, जो सब और स्थित है और जो सर्वमय है, इमलोग उस विश्वय परमात्माकी निरन्तर उपासना करते हैं। जो समूर्ध

ज्योतिर्योक्ता प्रकाशक है, जो समस्त पवित्रोंका भी परम पवित्र है, जो समूर्ध संकल्प-विकल्प आदि भावनाओंसे रहित है, उस चेतन परमप्रकाश परमात्माकी इम उपासना करते हैं। जहाँपर प्राण विलीन हो जाता है; जहाँ अपान भी अस्त हो जाता है तथा जहाँ प्राण और अपान दोनों उल्लङ्घन भी नहीं होते, हमलोग उस चेतन तत्त्वरूप परमात्माकी उपासना करते हैं। बाह्य और अस्त्वन्तर प्रदेशमें स्थित, योगियोंद्वारा अनुभूत होनेवाले जो दो प्राण और अपानकी उत्पत्तिके स्थान हैं, उन दोनोंके अधिष्ठानभूत चेतन तत्त्वकी हम उपासना करते हैं। जो प्राण और अपानके विवेकमें हेतु है, जो उनके अस्तित्वका झान करनेवाला है, जो सर्व रूपरहित है एवं जो प्राणोपासनासे प्राप्तव्य है, उस विश्वय विज्ञानानन्दध्वन परमात्माकी इम उपासना करते हैं। ( सर्ग २५ )

### भृशुण्डकी वास्तविक स्थितिका निरूपण, वसिष्ठजीद्वारा भृशुण्डकी प्रशंसा, भृशुण्डद्वारा वसिष्ठ-जीका पूजन तथा आकाशमार्गसे वसिष्ठजीकी सलोकप्राप्ति

भृशुण्डने कहा—महामुने ! मैंने प्राणसमाधिके द्वारा पूर्वोक्त रीतिसे विशुद्ध परमात्मामें यह चित्त-विश्रामरूप परम शान्ति क्रम्यः खयं प्राप्त की है। मैं इस प्राणायामका अवलम्बन करके दृढ़तापूर्वक स्थित हूँ। इसलिये उमेशवर्षतके विचलित होनेपर भी मैं घलयमान नहीं होता। चालते बैठते, जागते या सोते अथवा स्नानमें मी मैं अखण्ड ब्रह्मकारवृत्तरूप समाधिसे विचलित नहीं होता; क्योंकि तपस्त्रियोंमें महान् वसिष्ठजी। प्राण और अपानके संयमरूप प्राणायामके अभ्याससे प्राप्त परमात्माके साक्षात् अनुभवसे मैं समृद्ध शोकोंसे रहित आदिकारण परमपदको प्राप्त हो गया हूँ। त्रस्त् ! महाप्रलयसे लेकर प्राणियोंकी उत्पत्ति एवं विनाशको देखता हुआ मैं ज्ञानज्ञान हुआ आज भी जी रहा हूँ। जो वात चीत चुकी और जो होनेवाली है, उसका मैं कभी विचार नहीं करता। उपर्युक्त प्राणायामविशेषक

दृष्टिका अपने मनसे अवलम्बन करके इस कल्पवृक्षपर स्थित हूँ। न्यायशुक्त जो भी कर्तव्य प्राप्त हो जाते हैं, उनका फलभिलापाओंसे रहित होकर केवल शुद्धिके समान उपरत बुद्धिसे अनुग्रान करता रहता हूँ। प्राण और अपानके संगोगरूप कुम्भक-क्षालमें प्रकाशित होनेवाले परमात्मतत्त्वका निरन्तर स्परण करता हुआ मैं अपने आपमें स्वयं ही नित्य संदृष्ट रहता हूँ। इसलिये मैं दोषरहित होकर चिरकालसे जी रहा हूँ। मैंने आज यह प्राप्त किया और भविष्यमें दूसरा बुन्दर पदार्थ प्राप्त करँगा, इस प्रकारकी विना मुझे कभी नहीं होती। मैं अपने या दूसरे किसीके कार्योंकी किसी समय कहाँपर कभी स्तुति और निन्दा नहीं करता। हुमकी प्राप्ति होनेपर मेरा मन हर्षित नहीं होता और अशुक्ती प्राप्ति होनेपर कभी खिल नहीं होता; क्योंकि मेरा मन नित्य सम ही रहता है।

मुने । मेरे मनकी चञ्चलता शान्त हो गयी है । मेरा मन शोकसे रहित, स्वस्थ, समाहित एवं शान्त हो चुका है । इसलिये मैं विकार-रहित हुआ चिकित्सालसे जी रहा हूँ । 'लकड़ी, रमणी, पर्वत, त्रण, अस्ति, हिम, आकाश—इन सबको मैं समझाउसे देखता हूँ । यह और मरण आदिसे मैं भयभीत नहीं होता एवं राज्य-प्राप्ति आदिसे हरित नहीं होता । इसलिये मैं अनामय होकर जीवित हूँ । प्रह्लाद ! यह मेरा बन्धु है, यह मेरा शशु है, यह मेरा है एवं यह दूसरेका है—इस प्रकारधी क्षेत्र-मुद्दिसे मैं रहित हूँ । प्रह्लाद और विहार करनेवाला, बैठने और खड़ा रहनेवाला, आस तथा निदा लेनेवाला यह शरीर ही है, आत्मा नहीं—यह मैं अनुमत करता हूँ । इसलिये मैं विरजीवी हूँ । मैं जो कुछ किया यहता हूँ, जो कुछ खाता-पीता हूँ, वह सब अहंता-ममतासे रहित हुआ ही करता हूँ । मैं दूसरोंपर आक्रमण करनेमें समर्थ हुआ भी आक्रमण नहीं करता, दूसरोंके द्वारा खेद पहुँचाये जानेपर मी दुःखित नहीं होता एवं दरिद्र होनेपर भी कुछ नहीं चाहता; इसलिये मैं विकार-रहित हुआ बहुत कराउसे जी रहा हूँ । मैं आपत्तिकालमें भी चलायमान नहीं होता, वर्त पर्वतकी तरह अचल रहता हूँ । जगत्-आकाश, देश-काल, परम्पर-क्रिया—इन सबमें विन्मायरूपसे मैं ही हूँ, इस प्रकारकी मेरी बुद्धि है; इसलिये मैं विकाररहित हुआ बहुत कालसे स्थित हूँ । ज्ञानके पारंगत प्रह्लाद ! एकलाङ्ग आपकी आङ्गाका पालन करनेके लिये ही धृष्टापूर्वक मैंने, जो और जैसा हूँ, यह सब्र आपसे पर्यार्थरूपसे बता दिया है ।

श्रीकृष्णजीने कहा—ऐश्वर्यपूर्ण पक्षिराज ! यह एक हर्षका विषय है, जो आपने कानोंके लिये मूर्शण-खल्प यह अत्यन्त आर्थिकी अपनी अलौकिक स्थिति मुझसे कही है । वे महात्मा धन्य हैं, जो महाजीवीके समान स्थित अत्यन्त दीर्घजीवी आपके दर्शन करते हैं । ऐ मेरे नेत्र भी धन्य हैं, जो बराबर आपके दर्शन कर रहे हैं । आपने मुझसे बुद्धिको परिचय करनेवाला अपना सम्पूर्ण जीवन-शृंचान्त ज्यो-का-स्त्र्यों ठीक-ठीक कहा है ।



अहन्वतीसे पूजित मैंने भी सत्तर्ण-मण्डलको प्राप्तकर मुनियोंका दर्शन किया ।

श्रीराम ! सत्ययुगके प्रथम दो शतक जब ध्यतीत हो चुके थे, तब मैंहर पर्वतके उस कल्पवृक्षपर मुशुण्डके साथ मैंने पहले-पहल मेंट की थी । इस समय सत्ययुगके क्षीण हो जानेपर ब्रेतायुग धड़ रहा है और इस ब्रेतायुगके मध्यमें आप प्रकट हुए हैं । आजसे अठवर्ष पहले सुमेह पर्वतके दसी शिखरके ऊपर व्योंगा-

तों अजरलगधारी वह मुशुण्ड मुखसे फिर गिर गया था । इस प्रकारका विचित्र उत्तम मुशुण्ड-हृतान्त मैंने तुमसे कहा, इसका अध्यन और विचार करके जैसा उचित समझो, बैसा करो ।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—प्रद्वान् । मुद्दिमान् मुशुण्डस्ति इस उत्तम कथाका जो विशुद्धबुद्धि मनुष्य मली प्रकार विषेक-पूर्वक विचार करेगा, वह इसी शरीरमें जन्मादि मयोंसे परिणी इस माया-नदीको पार कर जायगा । ( सर्ग २६-२७ )

### शरीर और संसारकी अनिवितता तथा ब्रान्तिरूपताका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—निष्पाप श्रीराम ! इस प्रकार यह मुशुण्ड-हृतान्त मैंने तुमसे कहा । इस विषेक-शुक्ल यथार्थ बुद्धिसे मुशुण्ड मोह-संकटसे तर गया था । पूर्वोक्त ग्राण और अपाननकी उपासना करनेवाले सभी अनासक्तबुद्धि मनुष्य मुशुण्डकी तरह परमपदरूप परमरूपमें स्थिति प्राप्त करते हैं । श्रीराम ! इन सब विचित्र विज्ञानोपासनाओंका तुमने अध्यन किया । अब बुद्धिका अवलम्बन करके जैसा उचित समझो, बैसा करो ।

श्रीरामजीने कहा—भगवन् । आपने जो मुशुण्डका उत्तम, यथार्थ तत्त्वका बोधक और आश्वर्यजनक श्रेष्ठ चत्रिक कहा, उससे मुझे अत्यन्त हर्ष हुआ । प्रद्वान् । मांस, चर्म और अस्थिसे निर्धित शरीररूपी घरका जो आपने वर्णन किया है, उसकी किसने रचना की, कहूँसि वह उत्पन्न हुआ, किस तरहसे स्थित हुआ और उसमें कौन रहता है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—गधव ! पञ्चरूप परमार्थ-तत्त्वों जाननेके लिये तथा संसारके कारणरूप अनेक दोषोंके विनाशके लिये मेरे द्वारा तत्त्वतः कहे जानेवाले इस उपदेशको तुम हुनो । श्रीराम ! इस शरीररूपी घरका—जिसमें हृदियों ही लंबे हैं, मुख आदि नौ दरवाजे हैं और जो रक्त और मांससे लीपा गया है—

वास्तवमें किसीने भी निर्माण नहीं किया है । यह शरीर केवल आमासरूप ( झलकमात्र ) ही है—विना निर्माणाके ही अज्ञानसे भासित होता है । यह देह प्रतीत होता है, इसलिये इसे सद् कहा गया है और वास्तवमें यह नहीं है, इसलिये असद् कहा गया है । जैसे खम्भकालमें ही साम्राज्यिकपदार्थ सत्-से प्रतीत होते हैं, विना जाप्रतीत होनेपर ही सत्-सा रहता है, अन्य विचारकालमें वह असद् रहता है, वैसे ही देहकी प्रतीति होनेपर देह सत्-सी है और आत्माका यथार्थ ज्ञान होनेपर असत्य है, अर्थात् उत्तमा अत्यन्त अभाव है, तथा जैसे मृगलृणिकाका जल भी मृगलृणिकाकी प्रतीति होनेपर ही सत्-सा रहता है, अन्य विचारकालमें वह असद् रहता है, वैसे ही देहकी प्रतीति होनेपर देह सत्-सी है और आत्माका यथार्थ ज्ञान होनेपर असत्य है, अर्थात् उत्तमा अत्यन्त अभाव है । इसलिये ये शरीर आदि, जो केवल आमासरूप ही हैं, अज्ञानकालमें ही प्रतीत होते हैं ।

श्रीराम ! भला, अत्तद्वाओं तो सही कि मुख-शास्यापर सोये हुए तुम जिस खम्भ-देहसे विविध दिशाओंमें परिभ्रमण करते हो, वह तुम्हारी देह किस स्थानमें स्थित है । खम्भोंमें भी जो दूसरा खम्भ आता है, उस खम्भमें जिस देहसे बड़े-बड़े पृथिवी-नदीयोंपर तुम परिभ्रमण करते हो, वह तुम्हारी देह कहाँ स्थित है ? मनोराज्यके भीतर कल्पित दूसरे मनोराज्यमें बड़े-बड़े वैभवपूर्ण स्थानोंमें

संकल्पद्वारा जिस देहसे तुम भ्रमण करते हो, वह हुश्चारी देह कहो स्थित है अर्थात् कर्त्ता नहीं । श्रीराम ! ये शरीर जिस प्रकार मानसिक संकल्पसे उत्पन्न—अतएव सत् और असदृप हैं, योंकि उसी प्रकार वह प्रत्युत शरीर भी मानसिक संकल्पसे उत्पन्न—अतएव सदृप और असदृप हैं । यह मेरा धन है, वह मेरा शरीर है, यह मेरा देश है—इस प्रकाररका जो भ्रमजनित प्रतीति होती है, वह भी अज्ञानसे ही होती है; क्योंकि वह आदि सब कुछ वित्तजनित संकल्पका ही कार्य है । रघुनन्दन ! इस संसारको एक तरहका दीर्घ सम, दीर्घ वित्तभ्रम या दीर्घ मनोराज्य ही समझना चाहिये । स्वप्न और संकल्पोंसे ( मनोराज्योंसे ) जैसे एक विलक्षण बिना हुए ही जगत्का प्रतीति होती है, वैसे ही यह व्यावहारिक जगत्की स्थिति भी एक प्रकारसे संकल्प-जनित एवं विलक्षण ( अनिर्वचनीय ) ही है; क्योंकि वह बिना हुए ही प्रतीति होती है । श्रीराम ! पौरुष-प्रकरणसे मनको अन्तर्मुख बनानेपर जब परमात्माके तत्त्वका यथार्थ साक्षात्कार हो जाता है, तब यह जगदाकार संकल्प चिन्मय परमात्मरूप ही अनुभव होने लगता है, किंतु यदि उसकी विपरीत रूपसे भावना की जाय तो विपरीत ही अनुभव होने लगता है ( भावनाके अनुसार ही संसार है ) । क्योंकि ‘‘यह वह है’’, ‘‘यह मेरा है’’ और ‘‘यह मेरा संसार है’’—इस प्रकारकी भावना करनेपर देहादि जगदृप संकल्प जो सत्यसा प्रतीति होता है, वह केवल मुद्दद भावनासे ही होता है । दिनके व्यवहारकालमें मनुष्य जैसा अन्यास करता है, वैसा ही समझमें उसे दिखलायी पड़ता है ।

- उसी प्रकार बारबार जैसी भावना की जाती है, जैसा ही यह संसार दिखलायी देता है । जैसे स्वप्नकालमें योसा-सा समझ भी अधिक समय प्रतीति होता है, वैसे ही यह संसार अल्पकालस्थायी और बिनाशशील होनेपर भी स्थिर प्रतीति होता है ।

जैसे मर्यादी किरणोंसे महभूमिमें युगलूणा-नदी दिखायी देती है, वैसे ही ये पृथिवी आदि प्राय वास्तविक न होनेपर भी संकल्पसे मन्त्रसे दिखायी देने हैं । जिसप्रकार नेत्रोंके दोषपर संकल्पमें आकाशमें मोरपंख दिखायी देते हैं, वैसे ही बिना हुए ही यह जगत् मनके भ्रममें प्रतीत होता है । किंतु दोपरहिन नेत्रसे जैसे आकाशमें मोरपंख नहीं दिखायी देने, वैसे ही यथार्थ ज्ञान होनेपर यह जगत् दिखायी नहीं पड़ता । श्रीराम ! जिसप्रकार भ्रमपंख मनुष्य भी अपने कल्पन मनोराज्यके हाथी, बाघ आदिको ढेखकर भयभीन नहीं होता, क्योंकि वह समझता है कि यह मेरी कल्पनाके सिवा ओर कुछ नहीं है, वैसे ही यथार्थ ज्ञानी पुरुष इस संसारको काम्पित समझकर भयभीत नहीं होता; क्योंकि ये भूत, भविष्य, कर्त्तव्य—तीनों जगत् प्रतीनिमात्र ही है । वे वास्तवमें नहीं हैं, इसलिये सत् नहीं है और उनकी प्रनीति होती है, इसलिये उनको सर्वथा असत् भी नहीं कह सकते; अतएव अन्य कल्पनाओंका अभाव ही परमात्माका यथार्थ ज्ञान है । इस मसारमें व्यवहार करनेवाले सभी मनुष्योंको अनेक प्रकारकी आपटाएँ खाभाविक ही प्राप्त हुआ करती हैं । क्योंकि यह जगत्-समूह वैसे ही उत्पन्न होता है, बढ़ता है और विकसित होता है, वैसे समुद्रमें खुदबुदों-का समूह; फिर इस विषयमें शोक ही क्या । परमात्मा जो सत्य वस्तु है, वह सदा सत्य ही है और यह दृश्य जो असत्य वस्तु है, वह सदा असत्य ही है; इसलिये मायारूप विहृतिके दैत्यित्यसे प्रतीयमान इस प्रपञ्चमें ऐसा दूसरी कौन वस्तु है, जिसके विषयमें शोक किया जाय ।

इसलिये असत्यमूल इस तसारमें निकित भी आसक्ति नहीं रखती चाहिये; क्योंकि जैसे रज्जुसे बैल दृढ़ बैध जाता है, वैसे ही आसक्तिसे यह मनुष्य दृढ़ बैध जाता है । अत निष्पाप श्रीराम ! ‘‘यह सब मृदम् ही है’’ इस प्रकार समझकर तुम आसक्तिहित हुए इस संसारमें विकरण करो । मनुष्यको विचेक-शुद्धिसे आसक्ति और

अनासकिकात् परित्यग करके अनायास ही शास्त्रविहित कर्मोका अनुष्ठान करना चाहिये, शास्त्रनिषिद्ध कर्मोका कर्मी नहीं। अर्थात् उनकी सर्वथा उपेक्षा कर देनी चाहिये। यह द्वयमान प्रपञ्च केवल प्रतीतिमात्र है, बास्तवमें कुछ नहीं है—यों जिस मलुष्टके भक्तिमौति अनुभव हो जाता है, वह अपने र्मातर परम शान्तिको प्राप्त कर सकता है। अथवा पैरे और वह सारा प्रपञ्च चैतन्यरमक परमात्मरूप ही है—इस प्रकार अनुभव करनेपर अनर्थकारी यह व्यर्थ जगद्गृही आहम्ब्र प्रतीत नहीं होता। श्रीराम ! जो कुछ भी आकाशमें या खगोंमें या इस संसारमें सर्वोत्तम परमात्म-शस्त्र है, वह एकमात्र राग-देष्ट आदि के विनाशके ही प्राप्त हो जाती है। किंतु राग-देष्ट आदि दोषोंसे आकान्त हुई बुद्धिके द्वारा जैसा जो कुछ किया

जाता है, वह सब कुछ मृदोके लिये तत्काल ही चिपरीत रूप ( दुःखरूप ) हो जाता है। जो पुरुष शास्त्रमें निपुण, चतुर एवं बुद्धिमान् होकर भी राग-देष्ट आदिसे परिषूर्ण हैं, वे सासारमें शृगाल्के तुल्य हैं। उन्हें धिक्कार है। धन, अनुचर्ग, मित्र—ये सब बार-बार आते और जाते रहते हैं; इसलिये उनमें बुद्धिमान् पुरुष क्या अनुभग करेगा। कभी नहीं, उत्पत्ति-विनाशशील भोग-पदयोंसे परिषूर्ण संसारकी रक्षनात्मप यह परमेश्वरकी माया आमक पुरुषोंको ही अनर्थ गतेमि ढकेल देती है। राघव ! बास्तवमें धन, जन और मन सभ्य नहीं हैं, किंतु पितॄय ही दीख पड़ते हैं। क्योंकि आदि और अन्तमें सभी पदार्थ असत् हैं और वीचमें भी क्षणिक एवं दुःखपद है; इसलिये बुद्धिमान् पुरुष आकाश-बृक्षके सदृश कल्पित इस संसारसे कैसे ग्रेम करेगा। ( सर्ग २८ )

## संसार-चक्रके अशरोधका उपाय, शरीरकी नश्वरता और आत्माकी अविनाशिता एवं अहंकाररूपी चित्तके त्यागका वर्णन तथा श्रीमहादेवजीके द्वारा श्रीवसिष्ठजीके प्रति निर्गुण-

### निराकार परमात्माकी पूजाका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! जब केवल संकल्परूपी नाभिका भली प्रकार अशरोध कर दिया जाता है, तभी यह संमाररूपी चक्र धूमनेसे रुक जाता है। किंतु संकल्पात्मक मनोरूप नाभिके राग-देष्ट आदिसेक्षोभिन करनेपर यह संसाररूपी चक्र रोकनेवाली चेष्टा करनेपर भी वेगके कारण चलता ही रहता है। इसलिये परम पुरुषरूपका आश्रय लेकर श्रवण, मनन, निरिध्यासनकी युक्तियोंके द्वारा ह्लानरूपी बलसे चित्तरूपी संसार-चक्रकी नाभिका अवश्य अशरोध करना चाहिये। क्योंकि कहींपर ऐसी कोई वस्तु उपलब्ध है ही नहीं, जो उत्तम बुद्धि तथा सौजन्यसे परिषूर्ण शास्त्रसम्मत परम पुरुषरूपसे प्राप्त न की जा सके। \* श्रीराम ! आधि और व्याविसे निरन्तर दुःखिन, शथु आदिसे क्रिय तथा स्वयं विनाशशील इस

\* प्रशान्तैर्जन्यशुक्लै शास्त्रवच्छिन्नै च।

पौरवेण न यत्पात न तत्काचन लम्फते ॥

( निं० प० २९ । ८ )

शरीरमें उस प्रकारकी भी स्थिता नहीं रहती, जिस प्रकारकी चित्रलिखित पुरुषमें रहती है। चित्रित मलुष्टकी यदि भलीभौति रक्षा की जाय तो वह दीर्घ-काल्काल सुशोभित रहता है; किंतु उसका विष्वरूप शरीर तो अनेक यलोंसे रक्षित होनेपर भी शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। सभ्य आदिका शरीर खण्डकालीन संकल्पसे जनित होनेके कारण दीर्घकालीन सुख-दुःखोंसे आकान्त नहीं होता। यह शरीर तो दीर्घकालीन संकल्पसे उत्पन्न होनेके कारण दीर्घकालके दुःखोंसे आकान्त रहता है। संकल्पस्य यह शरीर स्वयं भी नहीं है और न आलोके साथ इसका सम्बन्ध ही है; अतः इस शरीरके लिये यह अज्ञानी जीव निरर्थक क्षेत्रका भाजन करता है; अर्थात् इसमें एकमात्र अहान ही है। जिस प्रकार चित्रलिखित पुरुषका क्षय या विनाश हो जानेपर आत्माकी कुछ भी

हानि नहीं होती । जिस प्रकार मनोरूपमें उत्पन्न शरीर आदि पदार्थोंका क्षय या विनाश हो जानेपर आत्माकी कुछ भी हानि नहीं होती, जिस प्रकार खन्नमें उत्पन्न फडार्थोंका क्षय या विनाश हो जानेपर आत्माकी हानि नहीं होती अथवा जिस प्रकार मृगतृष्णिका-नटीके जलका अथ या विनाश हो जानेपर शास्त्रविक जलकी कुछ भी हानि नहीं होती, उसी प्रकार एकमात्र सकल्पसे उत्पन्न, खगावत् विनाशशील इस शरीररूपी यन्त्रका क्षय या विनाश हो जानेपर आत्माकी कुछ भी हानि नहीं होती । अतः शरीरके लिये शोक करना निरर्थक ही है । चित्तके संकल्पसे कल्पित तथा दीर्घकालीन खन्नमय इस देहके अल्कोलसे भूषित या अधिन्यायिसे दूषित हो जानेपर चेन आत्माकी कुछ भी हानि नहीं है । श्रीराम ! देहका विनाश होनेपर चेतन आत्मा विनष्ट नहीं होता ।

अज्ञानरूपी चक्रके ऊपर स्थित हुआ जीवात्मा जिस देहके जन्म-मरणरूपी चक्रको देखता रहता है, वह उत्तरोत्तर अधिक भान्तिको देनेवाला, स्वयं भान्तिरूप, पतनोन्मुख सम्बन्धसे ग्रस्त, अपनी प्रकार अनर्थ-गतीमि गिराया गया, हृत एवं हृत्यमान ही दीर्घ पड़ना है । इसलिये मनुष्यको उत्तम धैर्यका भली प्रकार आश्रय लेकर इस अनादि दृढ़ीभूत भ्रमका परियाग कर देना चाहिये । मिथ्या अज्ञानके द्वारा एकमात्र मकल्पसे उत्पन्न हुआ यह शरीर सत्य-प्लान होनेका भी शास्त्रवर्ण असत्य ही है; क्योंकि जो वहु अज्ञानमें उत्पन्न हुई है, वह चित्ता समय भी सत्य नहों हो सकती । श्रीराम ! जड़ पर्यार्थके द्वारा जां कुछ लिया जाता है, कह लिया हुआ नहीं माना जाता, इमलिये यह देह कार्य करना हुआ भी कहीं कुछ भी नहीं करता । जड़ देह तो इच्छासे रहिन है और इस निर्विकार आत्मामें इच्छा रहती नहीं, इसलिये कोई कर्ता है ही नहीं । आत्मा शरीरका द्रष्टव्यमात्र है । अपने शरीररूपी धरसे चित्तरूपी बताल्करे हठा देनेपर इस मसाररूपी शून्य नगरमें पुरुष कर्ता भी नहीं ढरता । विष्णु बुद्धिसे अहंकारसी नासना द्वेषकर और अहकार-वरे सर्वथा नुकसान शीघ्रतिशीघ्र अपनी आत्माका

हो अबलम्बन करना चाहिये । अहंकारसे युक्त शुद्धिसे जो लिया की जाती है, विष्वर्षुको सदृश उसका कल मरणरूप ही होता है । चिनेक एवं धैर्यसे रहित जिस मूर्खने अपने अहंकाररूपी महोसुद्धका अनलम्बन किता, उसे तुम तत्काल विनष्ट हुआ ही लम्हो । गवद ! जिन वेचारोंको अहंकाररूपी पिशाचने अपने अर्थान बना लिया, वे सब नरकरूपी अग्नियोंके हृत्यन ही बन गये अर्थात् वे नरकमी जालासे जलते रहते हैं । पापशून्य राधम ! 'हा ! हा ! मैं मर गया हूँ, 'मे जल गया हूँ' इत्यादि जो दुःखवृत्तियाँ हैं, वे अहंकाररूपी पिशाचकी ही शक्तियों हैं, दूसरेकी नहीं । जिस प्रकार सर्वत्र व्यापक आकाश यहों किसीसे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार सर्वत्र व्यापक आत्मा भी अहकारसे लिप्त नहीं होता । श्रीराम ! प्राणवायुसे युक्त यह चब्बल देहरूपी यन्त्र जो कुछ करता एवं जो भुल लेना है कह सब अहंकारकी ही चेष्टा है ।

श्रीराम ! जड़ चित्तका, जो आत्मासे सर्वथा पृथक् है, चेन आत्माके साथ कभी सम्बन्ध हो ही नहीं सकता । चित्त ही आत्मा है—यो अज्ञानसे ही प्रतीत होता है । यह जो आत्मा है, वह आनन्दरूप ( चैतन्यरूप ), अविनाशी, सर्वत्र विद्यमान और व्यापक है, जब कि अहकाररूप चित्त नो मूर्ख और हृदयवन्ना सबसे बड़ा अज्ञान है । जिस पुरुषका चित्तरूपी चेताव शान्त हो चुका है, ऐसे पुरुषका गुरु, शास्त्र, वेद और वन्यु उसी प्रकार उद्धार करनेमें समर्थ हैं, जिसप्रकार अत्यर्कीचाहम फैसे हुए पशुका मनुष्य उद्धार करनेमें समर्थ हो । इस जगतरूपी महान् अरथमें अपनेद्वारा ही स्वयं दृग्नासे धैर्य वारणकर अपना उद्धार कर लेना चाहिये । श्रीराम ! मनुष्यको उचित है कि विषयरूपी सर्वोक्ता वाहिन्यर कर दे, आयोंके मार्गिका अनुसरण करे और महागव्योंके अर्थमें भर्त्य प्रस्तर विचार करके अपनी अद्वितीय आत्मवत् ही आश्रय ले । मनुष्यको अपवित्र, तुष्टि, भास्यरहित तथा दुष्ट आहृतिशीघ्र इस शरीरके आरामके लिये विषयमेंगमं कर्मा नहीं फूँसना चाहिये; क्योंकि डसमें फौंसे हुए पुरुषोंलं चिन्तारूप

कूर गन्धसी वा डाल्नी है। जैसे पथरकड़ पथरपन अपना जैसे घटका घटपना सामन्य सत्तासुररूप परमात्मा-से अभिन्न ही है, वैसे ही समष्टि-व्यष्टि मन आदि भी परमात्मा-से अभिन्न ही हैं। श्रीराम ! इस विषयमें आगे कही जानेशाली महान् अजानकी नाशक मानस-विष्णुजाम्प यह दूसरी बात तुम अवण करो, जो चन्द्रमौलि भगवान् शकरने कैलास पर्वतकी कल्दरामें जन्म-मरणरूप दुःखकी शान्तिके लिये मेरे समझ कही थी।

कैश्चनामक एक पर्वतोंका राजा है। वह अपनी ऊँचाईसे स्वर्गलोकको भी पार कर गया है और वह उमापति भगवान् श्रीशक्तरका निवासस्थान है। वहोपर स्थित प्रकाशमान भगवान् महादेवजी रहते हैं। पहले किसी समय उसी पर्वतपर उन देवाधिदेवकी पूजा करता हुआ मैं गङ्गाजीके किलारे आश्रम बनाकर रहता था। तपके लिये वहोपर मैंने दीर्घकालतक तपस्थियोंके आचरणका अनुसरण किया। वहोपर मेरे चारों ओर सिंहोंके समृद्ध रहते थे। मैं उनसे विधार-विनिमय करके दार्ढीय दुरुद्ध तत्त्वोंका अनुरूपालन करता था। मैंने फूल चुननेके लिये एक छलिया रख छोड़ी थी और अनेक शारीय पुस्तकों भी जुटा रखी थी। श्रीगम ! उस तरहके गुणोंसे सम्पन्न कन्यास्वनके कुञ्जोंमें तपस्थर्या करते हुए मेरा बहुत समय ब्यानीत हो गया। इसके अनन्तर किसी पृष्ठ समयकी बात है—आश्रणके कृष्णपक्षकी अष्टमी तिथि थी और रात्रिका प्रथम भाग यानी ग्रदोषकाल पूजा, जप, ध्यान आदिमें व्यतीत हो चुका था। उस समय उम आरथ्यमें मैंने तत्काल ही उत्पन्न हुआ एक बड़ा तेज देखा। वह तेज सैकड़ों बाल्लोंके तुल्य सफेद एवं असह्य चन्द्रमिकोंके सदृश धमकीला था, उस सेजकी चक्राचौधसे दिशाओंके समान कुछ चमक उठे। उसे देखकर मैंने भीतरकी प्रकाशमान द्विव्य-दृष्टिसे उसके विषयमें विचार किया और तदनन्तर फिर बाह्यदृष्टिसे विशेष अव्यवोंके अनुसंधानपूर्वक उसका अवलोकन किया। विचारकर ज्यों ही मैं सामनेका शिखर-प्रदेश



देखना हूँ, त्यों ही चन्द्रकल्पाधर महादेवजी उपस्थित हो गये। वहाँ अर्धपात्र लेकर साधान एवं प्रसन्न-मन में उन गाँरीपनिके नियट गया। तदनन्तर चन्द्रज्योत्सन-के समान कोमल, शीतल तथा समसा संतापोद्यम अपहरण करनेशाली उस महादेवजीकी दृष्टिका मैं दीर्घकाल-तक भाजन बना रहा। पुष्पोंके शिखरपर उपविष्ट तीनों लोकोंके साक्षी उन देवाधिदेवको मैंने समीप जापत अर्थ, पुण्य तथा पाण समर्पण किया। उनके सामने मैंने अनेक मन्दार-पुष्पोंकी अलमियाँ बिलेर दी और नानाविध नमस्कार एवं स्तोत्रोंसे शिवजीका अम्बर्दन किया। तदनन्तर मैंने शिवजीकी पूजाके सदृश ही पूजासे सखियोंसे युक्त तथा गणपण्डिलसे परिवेशिन भगवनी गौरीका उत्तम रीतिसे पूजन किया। पूजाकी समाप्ति होनेपर उनकी आशासे पुण्यमय शिखर-पर बैठे हुए भुजसे अर्धचन्द्रकी कला धारण करनेशाले भगवान् उपापति परिपूर्ण हिमोमुकी किरणके सदृश शीतल बाणीसे कहने लगे।

भगवान् उमापतिसे कहा—प्रसन् । शान्तिसे युक्त, परमात्मामें विश्राम लेनेवाली तथा कल्पण करनेवाली तुम्हारी वित्तवृत्तियों अपने स्वरूपमें अवस्थित हो हैं ? तुम्हारा कल्पणकारी तप निर्विचलितसे बराबर खल रहा है न ? तुमने प्राप्तव्य बस्तु प्राप्त कर की है न ? और सासारिक भय शान्त हो रहे हैं न ?

( भीवसिष्ठजी कहते हैं— ) रघुनन्दन ! समस्त लोकोंके एकमात्र हेतु देवाविदेव महादेवजीके उस प्रकार कहनेके अनन्तर विनययुक्त वाणीसे मैंने उनसे निवेदन किया—‘महेश्वर ! देवाधिदेव ! विलोचन ! आपकी निरन्तर स्वत्तिसे प्राप्त दुए उत्तम कल्पणासे सम्पन्न पुरुषोंके लिये इस संसारमें कोई भी कल्प दुर्लभ नहीं है और न किसी दरहके भय ही है । आपके निरन्तर स्वरूपसे जनित आनन्दके कारण विनक्षण विस आरो ओसे मुख हो गया है, ऐसे पुरुषोंको इस बगलोंमें सभी प्राणी प्रणाम करते हैं । एकमात्र आपके अनुस्मरणमें निरन्तर विनक्षण मन छाना रहता है, ऐसे पुरुष जहाँ स्थित रहते हैं, वे ही देश, वे ही जनपद, वे ही दिशाएँ और वे ही र्घुवं प्रशासनमें हैं । प्रभो ! आपका अनुस्मरण पूर्वसन्धित, वर्तमान और भविष्यके पुण्यसमूहकी दृढ़ि करता है । आपका अनुस्मरण ज्ञानस्त्री अमृतका एकमात्र आधार-शूल कलश है, धूतिरूपी अयोत्स्नाके लिये चन्द्रम है और मोक्षरूपी नगरका द्वार है । समस्त नृतोंके अविपर्वे ! आपके निरन्तर विन्तनरूपी उदाहर विन्तापणिसे शोभित मैंने समस्त वर्तमान और भविष्यत्कालीन आपत्तियोंपरसे दृक्षरा दिया है । श्रीराम ! सुप्रसन्न उन भगवान् शंकरजीसे यों कहकर फिर ननमस्तक हो मैंने जो कुछ कहा, उसे तुम सुनो ! ‘भावन् ! यथापि आपकी अनुकूल्यासे मेरे लिये समस्त दिशाएँ अभीष्ट पदार्थसे परिपूर्ण हैं, तथापि देवेश ! मुझे जो एक सदैह है, उसके विषयमें आपसे निर्णय पूछता हूँ । प्रभो ! वह देवार्चन-विधान किस तरहका है, जो उडेगका नाशक,

विकाररहित, समस्त पापोंका विनाशकमी तथा समस्त कल्पणोंका अभिवर्धक है । उसे प्रसन्नपतिसे आप मुझसे कहिये ।

श्रीमहादेवजीने कहा—ज्ञानानियोंमें आगाम्य मुनियर ! मैं तुमसे संस्कृत वह देवार्चनका विधान कहता हूँ, जिसका अनुष्ठान करनेसे तत्काल ही मनुष्य मुक्त हो जाता है । जो आदि और अन्तसे रहित, वास्तविक ज्ञानस्त्रूप है, वही ‘देश’ यहा जाता है । समस्ते सत्ता-स्कृति देनेवाला सत्-स्वरूप सचिदानन्दधन ब्रह्म ही ‘देश’ दात्तका वाच्य है, इसलिये उसीकी पूजा करनी चाहिये । कौन पूज्य है, इस प्रियपक्ष तात्त्विक ज्ञान रखने-वाले विद्वान् कहते हैं कि एकमात्र निर्गुण निराकार विज्ञानानन्दधन विशुद्ध परमात्मा शिव ही पूज्य है और उसकी पूजन-सामग्रीमें ज्ञान, समस्ता और शान्ति—ये सबसे श्रेष्ठ पूज्य हैं । महर्ये ! ज्ञानस्त्रूप परमात्मदेवकी ज्ञान, समस्ता और शान्तिस्त्रूप पुण्योंसे जो पूजा की जाती है, उसीको आप वास्तविक देवार्चन जानिये । परमात्मा ही विज्ञानस्त्रूप देव, भावान् दिव और परम कारण-स्त्रूप है । अतः ज्ञानस्त्रूप पूजन-सामग्रीसे उसीकी सदा-सर्वदा पूजा करनी चाहिये । वसिष्ठजी ! आप जीवात्माको चिन्मय आवाहनस्त्रूप अविनाशी अहंत्रिम सचिदानन्द परमात्मस्त्रूप ही जानिये । एकमात्र वह परमत्मा ही पूज्य है, उसके सिंह दूसरा कोई पूज्य नहीं है । अतः उस विज्ञानानन्दधन परमात्मकी पूजा ही पूजा है । महर्ये ! जो परमार्थतः सबसे श्रेष्ठ है, जो आपका—‘तत्’ पदार्थिक, मेरा तथा समस्त जगत्का स्वरूपभूल है, एवं जो स्वयं परिपूर्णस्त्रूप है, ज्ञानस्त्रूप सामग्रीसे पूजा करने योग्य उस देवका मैंने आपसे वर्णन कर दिया । सभी वन्तुओंका, समस्त जगत्का, दूसरेका, आपका और मेरा सर्वव्यापी चिन्मय परमात्मा ही परमार्थिन स्त्रूप है, दूसरा नहीं ।

( सर्ग २९ )

## चेतन परमात्माकी सर्वात्मता

श्रीमहादंवजीने कहा—ब्रह्मन् ! इस रीतिसे यह समस्त संसार एकमात्र परमात्मस्वरूप ही है । क्रम ही पूरम आकाश है और यही स्वसे अड़ा देव कहा गया है । इस परमदेवका पूजन सबमें कल्याणकर है । उसीसे सब कुछ प्राप्त होता है । वही समस्त जगत्-सूष्टिके आरोपका अविष्टुत है और उसीमें वह सब व्यवस्थित है । स्वाभाविक आटि-अन्तसे रहित, अद्वितीय, अखण्ड नित्य परमानन्द उभी एकमात्र देवके अर्चनसे प्राप्त होता है । वह सचिदानन्द कल्याणस्वरूप विव समस्त गुणोंसे अतीत और सम्पूर्ण सकलपोंसे रहित है । मुने ! देव और काल आदि परिच्छेदोंसे रहित, समस्त संसारका प्रकाश करनेवाला विशुद्ध सचिदानन्द परमात्मा ही देव कहा जाता है । वही परब्रह्म परमात्मा 'उम्', 'तत्', 'सत्'—इन नामोंसे कहा गया है । वह स्वाभावनः महान्, धूम, सत्यस्वरूप है, सर्वत्र समग्राक्षे व्यापक है; वही महान् चेतन और परमार्थस्वरूप कहा जाता है । पापशून्य मुने ! अरुचतीक्ष्ण और आपका जो चैतन्य तत्त्व है, पार्वतीजी-का, मेरा और गणोंका जो चैतन्य तत्त्व है नथा जो चैतन्य तत्त्व तीनों जगत्-में परिषुर्ण है, उत्तमनि तत्त्वज्ञ लोग उसे ही परमदेव परमात्मा समझते हैं । एकमात्र चिन्मय परमात्मा ही इस दृश्य सदाचारा सार है; इसलिये भक्त-सार-भूत वस्तुओंनी भी मार्गपताको प्राप्त हुआ वह सर्वमूल्य परम देव परमात्मा मे द्वै । ब्रह्मन् ! वह परमात्मा सर्वव्याप्ति होनेसे किंतीके लिये भी दूर नहीं है; अन वह किंतिके लिये दुष्प्राप्य भी नहीं है । वह शरीरके वाहन-भीनर—रूपव्र स्थित है । वही यह परमात्मा चिन्मय, सूक्ष्म, सर्वव्यापी और मायारहित है । देव, दानव और गन्धर्वों तथा फूर्त, समुद्र आदि से युक्त वह सम्पूर्ण ऋगत् उस चैतन्यमें स्थित होकर कर्मनुग्राम उसी प्रकार धूमना रहता है, जिस प्रकार जल-भैरवमें जल ।

ब्रह्मन् ! चिन्मय परमात्माने ही गदा, चक्र आदि आशुधोंसे युक्त चतुर्मुख विष्णुरूपसे समस्त असुर-समूहका उसी प्रकार विनाश कर दिया था, जिस प्रकार वर्षाकृष्ण इन्द्रघनुषसे युक्त मेघवृपसे आतपका विनाश कर देती है । चेतन परमात्माने ही धूपम और चन्द्रमाके चिह्नोंसे युक्त त्रिनेत्र रूप धारण कर गौरीको प्राप्त किया है । चेतन परमात्मा ही भगवान् विष्णुके नामि-कमलमें भगवत्के समान ध्यानमें तह्लीन एवं वेदत्रयीमूली कमलिनीका महान् सरोवरस्वरूप ब्रह्माजीका रूप धारण करता है । इसी महाचैतन्य परमात्माके सकलाङ्गसे सूर्य-चन्द्रमा आदि सदा प्रकाशित होते हैं । निर्मल चेतनमूली चन्द्रविम्बमें खरगोश-की तरह सम्बन्ध प्राप्तकर यह जगत्-में स्थित पठारोंकी शोणा सर्वत्र दिखायी पड़ती है । भद्र ! सुनो, यथापि इस देव-रूपी दृश्यमें हाथ, पैर आदि अपने अङ्ग ही शाखाएँ हैं और क्षेत्रोंका समूह ही सुन्दर लताओंका समूह है, नथापि यह वृक्ष क्या पर्याप्तरूपसे चेतनके सम्बन्धकेविना किंतु तरह शोभित हो सकता है ? चराचर पठारोंका निर्माण करनेवाला भी यह चेतन ही है, दूसरा नहीं । इसलिये एकमात्र चेतन ही अपने सकलपसे जगत्-रूपमें प्रकल्प है । ब्रह्मन् ! बस्तुतः इस शाश्वते द्वां प्रकाशका सर्वमूल-स्वरूप चेतन है—एक नो चब्बलस्वभाव 'जीवात्मा और दूसरा निर्विकल्प परम चेतन परमात्मा । वह चेतन परमात्मा ही अपने सकलपसे जीवात्माके मृणमें अपनेसे मिन-सा होकर स्थित है । वह चेतन परमात्मा ही अपने सकलपसे आकाश आदि पाँच भूतों, शब्दादि पाच विश्यों, प्राण-पानादि पाँच प्राणों और देश-कान्तके मृणमें परिणत होता है । सचिदानन्दवृत्त वही ही नामयण होकर समुद्रमें शयन करता है । वही होकर ब्रह्मश्वेतमें व्यानस्थित रहता है, हिमालय पर्वतपर पर्वतीके सहित महादेवजीका मृण धारण कर निवास करता है और शैकुण्ठमें देवश्रेष्ठ विष्णुका मृण धारणकर रहता है । वह परमात्मा ही मूर्य बनकर

दिवसका निर्माण करता है, भेष बनकर जल बरसाता है, वायु बनकर बहता है। सबका आत्मा, सर्वत्र व्यापक एवं अपनी समस्त सकल्पशक्तिके प्रभावसे सर्वस्वरूप होनेके कारण कह चिन्मय ब्रह्म जगत्-रूप हो जाता है।

वास्तवमें तो वह विश्वानानन्द परमात्मा आकाशसे भी बनकर निर्माण और सूक्ष्म है। वह परमात्मा जब-जब बहाँपर जिस मावसे जिस तरह सकल्प करता है, तब-तब वहाँ वैसा ही बन जाता है। ( सर्ग ३० )

### शुद्ध चेतन आत्मा और जीवात्माके स्वरूपका विवेचन

श्रीभद्रादेवजीने कहा—अहम् । चेतन जीवात्मा आकाशके कारण ‘मैं दुखी हूँ’ इस भावनासे अर्थ ही दुखी होता है और ‘मैं नहीं हो गया; मैं भर गया’ यों भावना करता हुआ रोता रहता है। किंतु जिस प्रकार प्रत्यर्थमें लेल नहीं रहता, उसी प्रकार शुद्ध चेतन आत्मामें दृश्य, दर्शन और द्रष्टव्य निष्पुटी नहीं रहती। जैसे चन्द्रमामें कालिमा नहीं रहती, वैसे ही शुद्ध आत्मामें कर्ता, कर्म और करण नहीं रहते। जिस प्रकार आकाशमें नवीन अङ्गुरका अभाव है, उसी प्रकार आत्मामें प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण—इन तीनोंका अभाव है। जिस प्रकार नन्दन-कन्तमें खैके कृष्णका अभाव है, उसी प्रकार शुद्ध आत्मामें मन, मनन और दृश्य विषयका अभाव है। जैसे आकाशमें पर्वतका अभाव है, वैसे ही शुद्ध चेतनमें मै-पना, दृ-पना और अह-पना आदि नहीं है। जैसे काजलमें सफेदी नहीं रहती, वैसे ही चेतनमें अपनी देह तथा परायी देहका भाव नहीं रहता। वह शुद्ध चेतन आत्मा केवल, निर्विकल्प, सर्वव्यापक, सम्पूर्ण देजोंको भी प्रकाशित करनेवाला, सच्च और परम ब्रह्म है। वह सम्पूर्ण पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाला, सर्वव्यापक, नित्य शुद्ध, नित्य प्रकाशरूप, मनसे रहित, निर्विकार और निरलन है। एक वही घट और पटमें, घट और दीपालमें, शक्ति और बानरमें, गदहे और असुरमें, सागर और आकाशमें भूतोंमें तथा नर और नागमें—सर्वत्र व्यापक होकर स्थित है। वह शुद्ध हुआ भी मणिन-सा, निर्विकल्प हुआ भी समिकल्प-सा, चेतन हुआ भी जड़-सा और सर्वव्यापी हुआ भी एकदेशीय-सा प्रतीत होता है।

वास्तवमें तो वह विश्वानानन्द परमात्मा आकाशसे भी बनकर निर्माण और सूक्ष्म है। वह परमात्मा जब-जब बहाँपर जिस मावसे जिस तरह सकल्प करता है, तब-तब वहाँ वैसा ही बन जाता है। कर्मनियोंकी प्रवृत्तिमें तप्तरता संकल्पसे होती है। वह संकल्प मननजनित है। वह मनन चित्तकी अशुद्धिके कारण होता है और उम सबका साक्षी आत्मरूप चेतन सर्वविष मछोंसे रहित है। जिस प्रकार स्टॉटिक-शिलामें अरण्य, पर्वत, नदी आदिका प्रतिविम्ब पड़ता है, उसी प्रकार अपने स्वरूपमें ही स्थित प्रकाशरूप नित्य चेतन-के अन्तःकरणमें इस जगत्का प्रतिविम्ब पड़ता है। इस जगत्को अपने संकल्पमें धारण करनेवाला अद्वितीय, निर्विकार चेतन न उत्पन्न होता है न विनष्ट होता है, न क्षीण होता है और न अदता ही है। अर्थात् वह सब प्रकारके विकारोंसे रहित है। असत्त्वरूप यह जगत् आज्ञानके कारण विशाल समझी तरह आत्मामें ही प्रतीत होता है। किंतु वास्तवमें शृगतुष्णिका-जड़के सदृश प्रतीत होनेवाला यह जगत् तनिक भी सत्य नहीं है। मुने ! यह परम चेतन आत्मा अपने पुर्यष्टकमें ही प्रतिविम्बित होता है, जैसे सच्च दर्पणमें ही प्रतिमा दिखलायी पड़ती है। महर्ण ! अनेक प्रकारकी कल्पनाओं-से प्रस्त यह पुर्यष्टकरूप दृश्यमधूम शुद्ध चिन्मय आत्मा-से ही उत्पन्न होता है, उसीमें स्थित और विलीन हो जाता है। इसलिये यह सम्पूर्ण विद्व विशुद्ध चेतन आत्मरूप ही है, दूसरा नहीं—यह जानिये ।

\* मनो शुद्धिरहंकारस्था तन्माशेषकरम् ।  
इति पुर्यष्टक ग्रोक देहोऽस्यवादिवादिक ॥

( नि० ४० ५१ ५० )

मन, शुद्धि, अहंकार एव पौच सदृम तन्माशार्द—इन आठोंका समूह ‘पुर्यष्टक’ कहा गया है और यही ‘आतिथार्टक’ देह कहा गया है ।

जिस प्रकार जड लोहा लोह-चुम्बकके सानिध्यसे संचरणशील होता है, उसी प्रकार सर्वव्यापी सत्त्वरूप परमात्माके सानिध्यसे यह जीवात्मा संचरणशील होता है। अर्थात् सर्वत्र स्थित परमात्माकिसे ही यह जीव चेष्टा करता है। यह जीव अङ्गानसे अपने आस्तकिक खरूपको भूल जानेके कारण देहके सम्बन्धसे बड़-सा हो गया है तथा अपना विशुद्ध वैतन्यरूप सभाव भूल जानेके कारण ही यह चेतन चित्त-सा बन गया है। अङ्गान्। परमात्माने ही शरीररूपी गाढ़ी खींचनेके लिये मनःशक्ति और प्राण-शक्ति—ये दो सुखक बैल उत्पन्न किये हैं। सचिदनन्दधन निर्विकर परमात्माके सम्बन्धसे ही यह जीव जीवन धारण करता है, जिस प्रकार दीपकके सम्बन्धसे भर शोभा देता है। अङ्गानके कारण इस जीवकी आधियाँ एव व्याधियाँ उसी प्रकार उत्तरोत्तर स्थूलता प्राप्त करती हैं, जिस प्रकार जलका तरङ्गरूप और उस तरङ्गरूपका फेनरूप उत्तरोत्तर स्थूलता प्राप्त करना है। सर्वशक्तिरूप होनेपर भी कही चेतन जीवात्मा अङ्गानके कारण ऐ चेतन नहीं है। इस भावनासे इस देहमें परवशता प्राप्त करता है, किंतु अपने खरूपके शानसे मोह-रहित हो जाना है। हृदयरूप कफल-पत्रके चेष्टा-रहित हो जानेपर ये प्राण शान्त हो जाते हैं, जिस प्रकार पंखेके कल्पनशून्य हो जानेपर पवनकी शक्तियाँ विलीन हो जाती हैं। हृदयरूप कफल-पत्रके सुरक्षासे यह पुर्यष्टक विस्थृत हो जाना है और हृदय-कफलरूप भन्न जब चलनेसे रुक जाना है यानी निश्चल हो जाना है,

तब वह भी विनष्ट हो जाता है। हिंजवर ! जबकि देहमें पुर्यष्टक विषयान रहता है, तबतक उह जीवित रहती है और जब देहमेंसे पुर्यष्टक विलीन हो जाता है, तब उह 'भ्रुत' कही जानी है। किंतु जब शरीरका हृदय-कफलरूपी वन्न सदा चलता रहता है, तब यह जीव अपने संकल्पवश प्रकृतिके अधीन हुआ कर्म करता रहता है। पर गग-द्वेषरहित विशुद्ध वासना जिनके द्वयमें रहती है, वे अटल एवं एकरूप रहनेवाले मनुष्य जीवमुक्त हैं। हृदय-कफलरूपी वन्नके रुक जाने तथा प्राणके शान्त हो जानेपर यह उह पृथ्वीपर ल्कडी और डेले आदिकी भौति गिर जाती है। मुने ! यो ही हृदयाकाशके वासुमें अर्थात् प्राणमें यह पुर्यष्टक नीन हो जाना है, त्यो ही मन भी प्राणमें ही विलीन हो जाता है। जिस प्रकार घरके लोगोके घर छोड़कर दूर चले जानेपर घर शून्य हो जाता है, उसी प्रकार मन एवं प्राणसे शून्य हुआ यह शहीर शब्दरूप हो जाता है। जिस प्रकार नाना प्रकारके पते उत्पन्न हो-होकर समय पाकर वृक्षसे भड़ जाते हैं, उसी प्रकार प्राणियोंके बीच शरीर भी झड़ जाते हैं—विनष्ट हो जाते हैं। जीवोंके बीच शरीर और वृक्षोंके पासे उत्पन्न और नष्ट होते ही रहते हैं, अनः उनके विषयमें शोक ही क्या है। चैतन्य-समुद्र परमात्मामें ये देहरूपी बुद्धबुद कही एक प्रकारके तो कहीं दूसरे प्रकारके उत्पन्न होते रहते हैं। बुद्धिमान् जन विनाशकील समझकर इनपर विचास नहीं करते।

( सर्ग ३१-३२ )

**संकल्पत्यागसे द्वैतभावनाकी निवृत्ति और परमपद-सत्त्वरूप परमात्माकी प्राप्तिपादन**  
श्रीकृष्णजीने पूछा—मत्सकमें अर्थवन्द्र धारण करनेवाले महादेव ! अपेक्षरूप अनन्त एवं अद्वितीय चेतन प्रक्षमन्त्वमें हित्य ( मेड ) कैसे प्राप्त हुआ ? प्रव उसका बुद्धिसे निवारण कैसे हो, ताकि जोषके दुखोंका सर्वथा नाश हो जाय ?

श्रीमहादेवजीने कहा—जब वह ग्रह सत्त्वरूप, अद्वितीय और सर्वशक्तिमान् है, तब उसमें यह भेद और अभेदकी कल्पना ही निर्मूल है। जैसे तरङ्ग, कण, कल्पोल और जलमवाह जलसे विमल नहीं रहते, वैसे ही प्रशक्ती सर्वशक्ति वास्तवमें ग्रहसे विमल नहीं रहती।

विस प्रकार फल, कौपल, पते आदि लतासे वास्तवमें मिज नहीं हैं, जैसे ही द्वित्य, एकत्व, जगत्त्व, उत्पन्न, मैं-पन आदि भी चेतनमें मिज नहीं हैं। चेतनका देश, काल, किया आदिरूप जो भेद किया गया है, वह भेद चेतनस्तरूप ही है। 'वास्तवमें चेतनमें हैत (भेद) है ही नहीं, तब उसमें भेद आया कहाँसे ?'— यह प्रश्न ही नहीं बनता; क्योंकि देश, काल और कियाकी सत्ता एवं नियति आदि शक्तियाँ खण्ड चेतनकी सत्तासे ही सचायुक्त होकर स्थित हैं, इसलिये वे सब चेतनस्तरूप परमात्मा ही हैं। वही यह चेतन तत्त्व परम ग्रह, सत्य, ईश्वर, शिव तथा निराकार, एक परमात्मा आदि अनेक नामोंसे कहा जाता है। इन नामों एवं रूपोंसे अतीत जो परमात्माका रूपरूप है तथा जो सम्पूर्ण मलोंसे रहित आत्मपदार्थ है, वह वाणी और मनका विचय नहीं है। जो यह संसार दिखायी दे रहा है, वह उस महाचेतन परमात्मारूपी लताके फल, पछुव तथा पुष्प आदिरूप ही है, अतः उससे मिज नहीं। किंतु अशानी जीवको अपने ही द्वैतसंकल्पसे एकमें ही द्वैतकी इसी प्रकार प्रतीति होती है, जैसे पुरुषकी वेताल-कल्पनासे उसे भयंकर-वेतालकी प्रतीति होने लगती है। जैसे मैं कुछ नहीं करता इस तरहके संकल्पसे पुरुषका कर्तृत्व निवृत्त हो जाता है, उसी प्रकार जीवात्मामें प्रतीति होनेवाला हैत भी अद्वैत-भावनासे निवृत्त हो जाता है।

द्वैत-संकल्पसे तो एक ही वस्तुमें द्वितीय प्राप्ति होती है, पर अद्वैतभावनासे अनेकलम्बक जगत्का भी द्वित्य नह छो जाता है। क्योंकि विकार आदिसे शून्य, सदा सर्वगामी तथा परमात्माका रूपभूत होनेसे आत्मामेंकभी द्वैतभाव नहीं रहता। मुने ! अपने संकल्पसे निर्मित भनोरुज्य और गन्धर्वनगरकी तरह जो वस्तु अपने संकल्पसे बनायी गयी है, वह संकल्पके अभावसे नह छो जाती है। केवल इस संकल्पसे जो वह

संसाररूपी दुःख प्राप्त हुआ है, वह केवल संकल्पके अभावसे ही नह छो जायगा, पिर इस विषयमें कलेजा ही क्या ? क्योंकि तनिक मी संकल्प करके यत्कु दुःखमें दूब जाता है और कुछ भी संकल्प न करके वह अविनाशी सुख पाता है। अतः मुने ! आपने विवेकरूपी पवनसे संकल्परूप मेघोंका विनाश करके शरकारालमें आकाश-मण्डलकी भौति तुम उत्तम निर्मलता प्राप्त करो। अविवेकरूप प्रबल प्रवाहसे उमड़ती हुई उन्मत्त संकल्प-रूप नदीको तुम मणिमन्त्रसे मुखा दो और उसमें बहते हुए अपने-आपको वैर्य देकर मनसे रहित हो जाओ एवं अपने-आप अपने संकल्पालम्बक कालुरूपका विनाश करके आत्माकी उत्तम विशुद्धता प्राप्त कर अविनाशी आनन्दरूप हो जाओ। यह आत्मा समस्त शक्तियोंसे परिपूर्ण है, अतः जब कभी वह किसी वस्तुकी जैसी भी भावना करता है, अपने संकल्पसे रखित उस वस्तुको उसी समय जैसी दी देखता है। ग्रहन् ! यह उत्पन्न हुआ मिथ्यारूप जगत् एकलात्र संकल्पालम्बक ही है; अतः केवल संकल्पके अभावसे ही कहीं भी विलीन हो जाता है। इसलिये संकल्परूप जड़को उखाड़कर अत्यन्त हृदताको प्राप्त हुई इस तृष्णारूपी करंजलताको आप सुखा ढालिये। जिस प्रकार गन्धर्वनगरकी उत्पत्ति और विनाश प्रभावितमात्र ही हैं, उसी प्रकार यह संसाररूप भ्रमकी उत्पत्ति और विनाश भी प्रतीतिमात्र ही हैं। मुने ! मैं एक हूँ, मैं परमात्मा हूँ—इस प्रकारकी भावना कीजिये। इस भावनासे आप परमात्मा ही हो जायेंगे।

महर्षे ! चेतन जीवात्माने अशानके कारण अपने संकल्पसे संसाररूपता प्राप्त की है; किंतु वास्तवमें भीहरूपी कलङ्कसे रहित वह असंसाधी है तथा वह ग्रहसे अभिक्ष और अद्वैत ग्रहरूप है। मैं दूस देवादि-रूप हूँ—इस प्रकार मोहको प्राप्त हुआ चेतन जीवात्मा संसारमें फैस जाता है; पर वही शुद्ध किन्तु

परमात्मस्वरूपको, जो अपनेसे अभिन्न है, अनुभव करके सप्तारके बन्धनसे निर्मुक्त हो जाता है। पुनरावृत्ति-रहित निरतिशयानन्दस्वरूप परमात्माके ज्ञानसे परिपूर्ण चेतन जीवात्मा परमपद प्राप्तकर समस्त श्रमोसे निर्मुक्त हुआ व्यापक ग्रहणदमे विश्राम करता है। मनसे रहित यही चेतन जीवात्मा शान्तिसे भुजोभित सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतियोंसे एवं अन्वकार-अङ्गान आदि जडतासे रहित तथा विस्तृत आकाशकी भौति परम सुन्दर है। वह दोपरहित जीवात्मा अपने धार्मिक परमात्मस्वरूपमें स्थित हो जब तुर्यांतीत अवस्थाको प्राप्त हो जाता है, तब वह परमपदको प्राप्त होता है। वह परमपद सभी उत्तमोत्तम अवस्थाओंकी परम अवधि है, परम मङ्गलस्वरूप होनेके कारण समस्त मङ्गलोंमें प्रधान मङ्गल है। वही

एक अद्बुद्ध परम पवित्र चेतनरूप है। मुने ! वह परमपद जाग्रत् आदि तीनों जगत्याओं और कल्पनासे अतीत है। उसीका आपसे मैंने वर्णन किया है। उसी पदमें आप सदा स्थित हों। वह पद ही अविनाशी पूज्य देव है। मुनीश्वर ! इस समस्त जगत्का उपादान वही परमलेख है—इस ज्ञानसे यह समस्त विश्व चिन्मय ग्रहणरूप ही है। यह विश्व ग्रहके संकल्पसे कल्पित होनेके कारण प्रतीत होता है; किंतु यथार्थ ज्ञान होनेपर वास्तवमें इसकी सत्ता नहीं रहती, इसलिये यह नहीं है। वह परमपद शान्ति, विश्व एवं बाणीके व्यापारसे अतीत है। ‘ॐ’ इस अक्षरकी जो आनन्दमयी तुरीयामात्रा है, वही परमगति है।

( सर्ग ३३-३४ )

### सबके परम कारण परम पूजनीय परमात्माका वर्णन

श्रीमहादेवजीने कहा—मुने ! आप पूर्वोक्त विचारका अवलम्बन करके अपने पारमार्थिक स्वरूपका ही प्रभाणोंसे शीघ्र निर्वारण करें एवं उसके विपरीत अनर्थरूप देह-भिमनका अवलम्बन न करें। जो इस सप्तारमें जाननेयोग्य है, उस परमात्माको तत्त्वज्ञानीने जान लिया। फिर संसारके भ्रमके साथ उसका कोई प्रयोजन नहीं रहा। अतः उस तत्त्वज्ञानीके लिये कर्तव्य या अकर्तव्य कुछ नहीं रहता, यह मैं जानता हूँ। आप हन शान्तिमय और अशान्तिमय विकल्पोंका यठि दलन करते हैं तो आप धीर हैं। यदि वैसा नहीं करते तो आप धीर नहीं हैं। इसलिये आस्था रहकर आप परमात्मदर्शी बन जाइये। ग्रहज्ञानके लिये शीघ्र ही उपर्युक्त दृष्टिका आश्रय करके मेरे द्वारा जो कुछ कहा जाय, उसे भुजिये। आत्मज्ञानके प्रयत्नके त्रिना चुपचाप बैठे रहनेसे क्या लाभ ? त्रिशूलधारी मायान् दंकर इस प्रकार कहकर किर बोले कि ‘आप बहुदेहमें आत्मवुद्धि मत कीजिये; क्योंकि यन्त्रकी भौति प्राणसे ही यह शरीर चेष्टा बहता है और प्राणवायुसे रहित

शरीर निश्चेष्ट हो मूकके सदृश स्थित रहता है; किंतु चेतन जीवात्मा आकाशसे बढ़कर निर्मल और अव्यक्त है। सत्त्वरूप परमात्माकी सत्ता ही चेतन जीवात्माके अस्तित्वमें कारण है। जीवात्माके त्रिना तो प्राण और देह—ये दोनों नष्ट हो जाते हैं और देह-वियोगसे प्राण वायुमें त्रिलीन हो जाता है; आकाशसे भी निर्मल चेतन आत्मा नष्ट नहीं होता। इसलिये संसार-भ्रमसे उसका क्या प्रयोजन है ; ग्रहज्ञानके द्वारा दोषोंसे रहित हो जीवात्मा परमशिव परमह परमात्मा हो जाता है। वह परमह ही हरि है, वही शिव है, वही हिरण्यगर्भ है, वही चतुर्मुख ग्रह है, वही इन्द्र है; वही वायु, वही चन्द्र एवं सूर्यरूप है और वही परमेश्वर है। वही सर्वव्यापी परमात्मा, सर्वचेतनोंका मूल स्रोत, देवेश, देवशृत, धाता, देवदेव और सर्वगता अविपत्ति है। जिस तरह पलुवोका मूलबीज वृक्ष है, उसी तरह सच्चिदानन्द परमह परमात्मा ग्रहा, विष्णु, शिव आदिका मूल बीज है। वही सच्चिदानन्दधन परमात्मा

ज्ञानी महात्माओंका बन्दनीय और पूजनीय है; क्योंकि सबका बल और नाम उसीके हैं। वही सर्वात्मक, प्रकाशरूप, समस्त ज्ञानोंका एकत्रात्र उत्पादक और सबको सत्तास्थानि देनेवाला है। महर्षे ! सबका आदि कारण तथा पूजा, नमस्कार, त्यौति और अर्थके योग्य एवं समस्त देवताओंका खामी वही परम चेतन परमात्मारूप है—यह वाप जान ले। यही वडे-वडे ज्ञातव्य पदार्थोंकी भी चरम सीमा है। जरा, शोक एवं भयके विनाशक इस परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार करके मनुष्य फिर सभारमें भूले दुपु भीजकी भौति जन्म नहीं लेता। विग्रेन् । तत्से जान किये जानेपर जो समस्त प्राणियोंको अभ्य कर देता है, जो सबका आदिकारण है और जो अनायास उपासनाके योग्य है, आप वही अज, परम एवं परमात्मरूप परमपद हैं।

मुने ! समस्त पदार्थोंके भीतर रहनेवाले अनुभवस्तररूप एकत्रात्र विशुद्ध प्रकाशमय परमचेतन परमात्माको मुनिलोग महादेवरूप परमेश्वर समझते हैं। वह परमचेतन तत्त्व समूर्ण कारणोंका कारण है, किंतु वास्तवमें उसका कोई कारण नहीं है; वह अपनी सत्तासे समस्त भावोंको सत्ता प्रदान करनेवाला है, किंतु खर्य भावनाका विषय नहीं है। वह विशुद्ध और अजन्मा है। वही समस्त चेतनोंका चेतन, दृश्य विशयोंका प्रकाशक और दृश्य-संसारका परम

आधार है। उसीको मुनिलोग चालु आदि एवं सूर्य आदि प्रकाशकोंको प्रकाशक, स्वयं चक्षु-सूर्य आदि प्रकाशकोंद्वारा प्रकाशित न होनेवाला, अलौकिक, समस्त ग्रीजोंका भी बीज, ज्ञानस्तररूप और विशुद्ध सचिदानन्दधन परमात्मा कहते हैं। सत्य प्रतीत होनेवाला दृश्य संसार और असृष्ट न प्रतीत होनेवाली प्रकृति—इन दोनोंका कारण होनेमें वह विन्मय परमात्मा तत्त्वरूप है; किंतु वास्तवमें वह प्रङ्गुति और ससारसे रहित, परमानन्त है। इस महान् विन्मय परमात्मामें पहले करोड़ों जगदीपी मह-मरीचिकाएँ हो चुकी हैं, आगे भी होती रहेंगी और वर्तमान कालमें भी हो रही हैं। महान् भैरवर्षत एवं महान् कल्प आदि काल उस चेतन तत्त्व परमात्मामें समाये दुए हैं। फिर भी वह सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतम है। कर्त्तव्यके अभियानसे रहित होनेके कारण यह परमात्मा कुछ न करते हुए ही संसारकी रचना करता है और यह संसारका उद्धाररूप महान् कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता। जिस परमात्माके संकल्पमें यह ममस्त संसार विद्यमान है, जिससे यह साया संसार उत्पन्न हुआ है, जो सर्वस्तररूप है, जो सब और अ्यात है एवं जो सर्वमय है, उस सर्वात्मक परमात्माको बार-बार नमस्कार है।\*

( सर्ग ३५-३६ )

### एतमशिव परमात्माकी अनन्त शक्तियाँ

श्रीमहादेवजीने कहा—महर्षे ! उस समस्त जगत्सत्त्वरूप मणिकी पिटारी परम चेतन सर्वेश्वर परमात्मामें उनकी शक्तियों प्रस्तुष आनिर्भूत होती रहती हैं। उनमेंसे परमात्माकी एक शक्ति महाकाशरूप दर्पणके अंदर अपनी सत्ताके ग्रतिविम्बके सदृश कल्प-निमेशनाभक निर्मल कालात्मक शरीर धारण करती है। जैसे धरमें दीपकके

रहनेपर धरमरक्षी विनार्दें प्रकाशित हो जाती है, ऐसे ही साक्षीरूपी उस प्रकाशात्मक, सत्यत्वरूप चेतन-तत्त्वके रहनेपर ही जगतरूप चित्तकी परम्पराएँ प्रकाशित होती हैं।

श्रीवासिठजीने पूछा—जगद्वके स्वामिन् ! इन सदाशिवकी कौन-सी शक्तियों हैं, वे किस तरहसे रहती हैं,

\* यसिन् तर्वे यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतथ्य यः। यथा सर्वगयो निर्वत तस्मै सर्वारप्ने नमः ॥

उनकी साक्षिताका क्या स्फुरण है, उनका व्यवहार क्या है और वे किसीनी हैं :

श्रीमहादेवजीने कहा—उत्तम ग्रन्थका पाठ्य करने-बाले सौम्य ! उस निराकार, सर्वात्मक, अप्रमेय, परम-शान्त, सचिच्छानन्दघन सदाशिव परमात्माकी इच्छासत्ता, ज्योमसत्ता, कालसत्ता तथा नियति-सत्ता और महासत्ता—ये पाँच सत्ताभक्त शक्तियाँ हैं। ( तत्पर्य यह है कि 'सोऽकामयत बहु स्याम' इस श्रुतिके अनुसार सबसे पहले उनकी इच्छासत्ता अभिव्यक्त हुई। तदनन्तर आकाशकी अभिव्यक्ति होनेपर आकाशसत्ता, तदनन्तर कालात्मक सत्त्रकी अभिव्यक्ति होनेपर कालसत्ता, सद्गुरके नियत संख्यानवाले भूत एवं भौतिक पदार्थोंका आविष्माव होनेपर नियति-सत्ता अभिव्यक्त हुई और तदनन्तर उनमें अनुस्यूत महासत्ता अभिव्यक्त हुई। ) इनके सिवा ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति कर्तृत्वशक्ति और अकर्तृत्वशक्ति आदि परमात्माकी अनेक शक्तियाँ हैं। उन सदाशिवस्फुरण परमात्माकी इन शक्तियोंका कोई अन्त नहीं है।

श्रीक्षिष्ठजीने पूछा—देव ! ये उपर्युक्त शक्तियाँ हुई किस निमित्तसे ? इनमें बहुत कैसे थाया ? इनका उदय कैसे हुआ ? एवं शक्ति और शक्तिमान् दोनोंमें परस्पर-सिद्ध मेद और अमेद किस युक्तिसे खद सकते हैं ?

श्रीमहादेवजीने कहा—महर्षे ! अनन्त असीम आकाशवाले सदाशिवस्फुरण परमात्माकी यह चिन्मात्रस्फुरण ही उसकी शक्ति कही जाती है। एकमात्र कल्पनासे ही वह चेतन परमात्मासे भिन्न-सी प्रतीत होती है, वास्तवमें कुछ भी भेद नहीं है। शास्त्रम्, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, साक्षित्व आदि कल्पनाओंसे परमात्माकी ये शक्तियाँ उसी प्रकार विविध स्फुरण धारण करती हैं, जैसे समुद्रमें तरङ्ग आदि भेद-कल्पनाओंसे जल विविध रूप धारण करता है। गमनशील ब्रह्माण्डस्फुरणी नृत्य-मण्डपमें शृणु, मास आदि काल नियति-क्रमदारा महाकालस्फुरणी नटसे उत्तम रीतिसे शिक्षित हुई उस प्रकारकी शक्तिस्फुरणियी नटियों नाचती हैं। यही परा और अपरा एवं नियति कही जाती है। ईश्वरकी क्रिया, कृति, इच्छा या काल इत्यादि उसीके नाम हैं। तुण्डे लेकर ब्रह्मार्पण जितने चराचर जीव हैं, उनको मर्यादामें रखनेवाली नियति कही जाती है। महर्षे ! नाव्यशाश्वतमें प्रसिद्ध स्वेद, स्तम्भ, रोगाश्व आदि विकारोंसे व्याप्त, चिरकालसे प्रवृत्त हुए इस संसारानामक नाटकके नाट्योंमें सारभूत नियति नटीके विलासमें अधिष्पति होकर देखनेवाला सदा उद्दितस्तमाच यह परमेश्वर अद्वितीय होकर ही स्थित है। यह परमार्थतः उस नटी और नाव्यसे भिन्न नहीं है।

( सर्ग ३७ )

### सचिच्छानन्दघन परमदेव परमात्मके व्यानस्फुरण पूजनसे परमपदकी ग्राहि

श्रीमहादेवजी कहते हैं—महर्षे ! उस परमात्म-देवके पूजनके जितने क्रम हैं, उन सबमें पहले देहाभिमानको प्रयत्नपूर्वक छोड़ देना चाहिये। ध्यान ही इस परमात्मदेवकी पूजा है। इसलिये तीनों मुन्नोंके आधारभूत इस परमात्मदेवकी नित्य प्रकारके ध्यानसे सदा पूजा करनी चाहिये। वह चेतन परमात्मा ज्ञानके द्वारा लाखों सूर्योंके समान देवीप्रमाण, सूर्य आदि समस्त प्रकाशकोंका भी प्रकाशक तथा सबसे परे रहनेवाला ज्ञानस्फुरण है। उसका मनसे विन्दन करना चाहिये।

इस नियति-नाटकके साक्षी परमात्माका इतना बहा स्फुरण है कि सबसे बड़े असीम आकाशका जो विपुल विस्तार है, वह उसकी गर्दन है; नीचेके आकाशका जो असीम विस्तार है, वह उसका धरण-सरोज है। सीमा-नृत्य दिवाओंके क्रियारोक्त यह जो विस्तार है, वही उसका भुजमण्डल है और उसीसे वह सुशोभित है; उन हाथोंमें उसने विविध ब्रह्माण्डोंमें विषमान बड़े-बड़े सत्य आदि लोकस्फुरण श्रेष्ठ आयुधोंको प्रहण कर रक्खा है। उसके हृदय-क्षेत्रके एक कोनेमें अनेक ब्रह्माण्ड-समूह

लिये हुए हैं। वह प्रकाशकरूप एवं तमसे परे है और उसके स्वरूपका कहीं पर भी भद्री पाया जा सकता। द्वौर्चक नियतिके नाटकका साक्षी यह परमात्मा ही परमदेव है। यही समस्त पदार्थोंका आशय, सर्वव्यापक, विन्मय और अनुभवरूप है। सभी सज्जनोंद्वारा यही सर्वदा पूजनीय है। यही परमदेव परमात्मा घटमें, पठमें, बटमें, दीषालमें, छकड़में और बानर आदि प्राणियोंमें समझावसे स्थित है। यही परमात्मा शिव, हर, हनि, महा, हनु, कुबेर और यमखरूप है। अनेक प्रकारकी घट-पट आदि आकृतियोंको लेकर असंख्य पदोंसे बोधिद्वारा नेत्रोंकी तथा उन आकृतियोंको छोड़नेपर एक यदसे बोधित द्वारेवाली सत्तारूप इस जगज्ञालका उत्पादक महाकाल इस परमात्मदेवका द्वारपाल है। पर्वतों एवं घौढ़हु गुबनोंके असीम विस्तारसे युक्त यह महाष्ठ-मण्डल इस परमात्मदेवके किसी एक देह-कोणमें स्थित होकर उसके अङ्गका अव्ययरूप ही गया है।

महर्ये ! जिसके हजारों कान एवं ओरें हैं, हजारों मस्तक हैं और जो स्थं द्वजारों भुजाओंसे विभूषित है, ऐसे शान्तस्थान महादेवका चिन्तन करना चाहिये। वह परमात्मा सभी जगह दर्शन-शक्तिसे परिपूर्ण है यानी सर्वत्र देखता है, सब और धारण-शक्तिसे समन्वित है, सर्वतः स्पर्शन-शक्तिसे युक्त है, सभी और रसन-शक्तिसे परिपूर्ण है, सर्वत्र अवण-शक्तिसे व्याप्त है, सर्वत्र भनन-शक्तिवाला है; तथापि वह सर्वथा संकल्पसे रहित है एवं सभी और सर्वश्रेष्ठ कल्याणस्थरूप है। उस परमात्मदेवका चिन्तन करना चाहिये। नित्य, समूर्ज जगत्के कर्ता, सबको अपने-अपने संकल्पके अनुसार समस्त पदार्थ प्रदान करनेवाले, सारे प्राणियोंके अन्तःकरण-गे स्थित और सभीके लिये एकमात्र साध्य, सर्वस्थरूप उस परमात्मदेवका चिन्तन करना चाहिये। इस प्रकार ध्यानके द्वारा उस देवाधिदेवकी पूजा करनी चाहिये। अनायास प्राप्त होने योग्य, शान्तिमय, अविनाशी,

असृतस्थरूप एकमात्र परमात्मस्थरूपके हानसे सदा इस देवकी पूजा की जा सकती है। जो यह इद्याधिदेशमें स्थित शुद्ध सचिवानन्दधन परमात्माका निरन्तर अनुभव है, यही श्रेष्ठ ध्यान है और यही परम पूजा कही गयी है। देखते-मुनते, स्पर्श करते सूँघते-खाते, चलते-सोते, भास-प्रभास लेते, बोलते, त्याग करते और प्रहण करते—सभी सभ्य मनुष्यको शुद्ध सिन्मय परमात्माके ध्यानमें ही तत्पर रहना चाहिये। इस परमात्माके लिये शुद्ध हानस्थरूप ध्यान ही प्रियतम बस्तु है, अतः ध्यानसे ही उसके लिये उपहार है। ध्यान ही उसके लिये अर्थ, पात्र और पुष्ट है। मुने ! यह परमात्मदेव ध्यानसे ही प्रसन्न होता है। इस प्रकार आठों पहर ध्यानद्वारा पूजन करनेसे मनुष्य परमधाममें निवास करता है। महर्ये ! जो यह परमात्मदेवका उत्तम पूजन मैने आपसे कहा है, यही परम योग है, यही वह उत्तम कर्म है। आत्मरूप वसिष्ठजी ! जो मनुष्य दुःख और विक्षेपसे रहित हो सारे पापोंके विनाशक एवं परम पवित्र इस ध्यानरूप पूजनको करेगा, उस समस्त बन्धनोंसे मुक्त और ब्रह्मतत्त्वको प्राप्त पुरुषकी जगत्में सुर एवं अमूर देसे ही बन्दना करेंगे, जैसे वे मेरी कन्दना करते हैं।

महर्ये ! यह ध्यान पवित्र करनेवालोंको भी पवित्र करनेवाला तथा समूर्ज अङ्गोंका नाशक है। अतः शरीरमें स्थित, समस्त ज्ञानोंके उत्पादक एवं बोधक परम कल्याणस्थरूप इस परमात्मदेवका अपने अन्तःकरणसे नित्य ही ध्यान करना चाहिये। सभीके दृद्यरूपी गुहायें स्थित, समस्त ज्ञान और शेषके ज्ञाता, समूर्ज कर्ताओंके कर्ता और समस्त ज्ञानोंके लार्ता, समूर्ज प्रकाशोंसे भी अधिक प्रकाशरूप तथा सर्वव्यापी परम रिव परमात्माका ध्यान करना चाहिये। वह परमात्मा मनवी भननामिका शक्तिमें, प्राण एवं अपानके मध्यमें तथा हृदय, कण्ठ, ताण्ड और भौंके मध्यमें स्थित ( ध्यापक ) है। वह कल्पनाओंकी कल्पनाओंसे रहित और देहके एक-

देशभूत सुन्दर हृदयकमलमें खिशेपरुपसे और समूर्ण देहमें समानरूपसे स्थित है। वह परमात्मा केवल चेतन और शुद्ध ज्ञानरूप है। उसका विन्तन करना चाहिये।

इसके सिवा ध्यानका एक दूसरा प्रकार यह है कि मैं जीवात्मा ही परिष्कृतशून्य आकाशाला, अनन्तस्तररूप, समूर्ण पदार्थोंसे परिपूर्ण, सब वस्तुओंका पूरक एवं अखण्ड अद्वितीय शिवरूप परमात्मा हूँ—इस प्रकार खच्छ और अवैक्षिक मात्रना करके देवमात्रसे परिपूर्ण यह जीवात्मा महान् परमात्मा बन जाता है। वह परमात्माको प्राप्त पुरुष सत्रमें सम रहता है। उसका व्यवहार भी समान होता है। उसका ज्ञान भी सम होता है। उसका भाव भी सम होता है। उस सौम्य पुरुषका उद्देश्य भी महान् सुन्दर होता है। वह देहपातर्पर्यन्त अखण्ड तत्त्वज्ञानसे युक्त होता हुआ चिरकालतक निरन्तर परमात्माका ध्यानरूप पूजन ही करता रहता है। इसलिये मनुष्यको उचित है कि सज्जनोंके हृदयमें रहनेवाली, चन्द्रमाकी भौति शीतल, मधुर-स्त्रभाव, दृढ़ मैत्रीसे हृदय-प्रदेशमें स्थित उम परमात्मदेवकी ध्यानरूप पूजा करे। दुष्टोंकी उपेक्षा, दुखियोंपर दया, पुण्यात्माओंके प्रति हृदयकी नित्य मुदिता ( प्रसन्नता ) की भावनासे, शुद्ध सामर्थ्यकी पद्धतिसे और ज्ञानरूप ध्यानसे उस परमात्मदेवकी पूजा करे।

प्रारब्धसे प्राप्त समूर्ण इष्ट एवं अनिष्ट पदार्थोंमें सर्वदा ही परम समताका आश्रय लेकर नित्य चेतन परमात्माका ध्यानरूप ब्रत करना चाहिये। अनुकूल और प्रतिकूल-की ग्रासिमें सम होकर नित्य विन्मय परमात्माके ध्यानरूप ब्रतका अनुष्ठान करना चाहिये। यह मैं हूँ और वह मैं नहीं हूँ—इस प्रकारके भेदको छोड़ देना चाहिये तथा यह सब ग्रन्थ ही है। इस प्रकार निक्षय ब्रतके नित्य विन्मय परमात्माके ध्यानरूप ब्रतका आचरण करना चाहिये। महर्ये ! इस परमात्माके ध्यानरूपपूजाके विधानमें

जो द्रव्य-सम्पत्तियों बतलायी गयी हैं, वे सब एकप्रति समतारूप रससे परिपूर्ण होनेके कारण मधुर-सतती ही हो जाती हैं। रसमयी शक्ति-समता मधुर और अतीनिदिय है। उस समतासे वो भी दृश्य विषय भावित होगा, वह तत्क्षण ही अमृततुल्य मधुर हो जायगा। समतारूप अमृतसे जो-जो भावित होता है, वह सब परम मधुरताको प्राप्त होता है। श्रक्षेत्र-दर्शनस्तररूप समतासे खर्य आकाशकी तरह विकारशून्य होकर मनके लघु होनेपर जो खामोशिक स्थिति है, वही परमात्माकी ध्यानरूप पूजा कही जाती है। महात्मा ज्ञानीको पूर्णचन्द्रकी भौति परिपूर्ण, समताके द्वारा समान ज्ञानवान्, एक, विन्मय, खच्छ और स्फटिक-शिलाकी तरह निर्मल एवं दृढ़ होना चाहिये। जो भीतर आकाशकी तरह विशाल और बाहर न्यायतःप्राप्त कार्योंको करनेवाला, आसक्तिसे रहित एवं परमात्माके वर्यार्थ तत्त्वका पूर्णतया ज्ञाता है, वही सच्चा उपासक है। अज्ञानरूप मेष्ठोंके नष्ट होनेपर खजमें भी जिसमें राग-द्वेष आदि हृदय-विकार नहीं देखे जाते तथा जिसका अहंता-ममतारूप छुहरा शान्त हो चुका है, ऐसे निर्मल आकाशके समान वह तत्त्वज्ञ सुशोभित होता है।

महर्ये ! यथासमय और यथाशक्ति आप जो कुछ भी कर्म करते हैं अथवा नहीं करते, उसीको विन्मय शिवस्तररूप परमात्माका अन्तःपूजन समझना चाहिये। इस प्रकारके पूजनसे ही साधक अपने पारमार्थिक निरतिशय आनन्दमय स्वरूपका अनुभव करता है। हिष्व, शान्त, अन्यसे प्रकाशित न होनेवाला, स्वप्रकाशरूप परमात्मा ही जगत्के रूपमें प्रतीत हो रहा है। ग्रन्थन्। भूत, भविष्य, वर्तमान—तीनों जगत्में व्यापक, परम शिषुद्ध चेतन-परमात्मारूप ईश्वरके स्वरूपका वाणीसे वर्णन भी नहीं किया जा सकता। इसलिये वसिष्ठजी ! तुम्हें दृष्टिका परित्याग करके और अपनी अखण्ड दृष्टिका आश्रय लेकर सम,

निर्मलग्रन्थ, शार्न्त, राग और दोधरे रहित तथा शोक-परमात्मदेशकी पूजा करते हुए स्थित रहे। रहित शुद्धिसे युक्त होकर आप न्यायतःप्राप्त पदार्थोंसे

( सर्ग ३८-४० )

## शालाभ्यास और गुरुपदेशकी सफलता, ग्रहके नाम-भेदोंका और स्वरूपका रहस्य एवं हुःख्नाशका उपाय

श्रीवसिष्ठजीने पूछा—देव ! शिव, परमात्मा, आत्मा और परमात्मा किसके नाम कहे गये हैं ? तीनों लोकोंके सामिन् ! मगवन् । 'तत्', 'सद्', 'किञ्चित्', ज किञ्चित्, 'शून्य' और 'विज्ञान' आदि भेद किसके कहे गये हैं ?

श्रीमहादेवजीने कहा—मुझे ! आदि और अन्तसे रहित, प्रकाशान्तरकी अपेक्षा न रखनेवाली, सत्-प्रकाश-स्वरूप जो सत् वस्तु अपनी महिमामें अपने-आप विवरण है, वही 'किञ्चित्' शब्दसे कही जाती है; और वह इन्द्रियोंके हातरा जाननेमें नहीं आती, इसलिये ज किञ्चित्' शब्दसे कही जाती है।

श्रीवसिष्ठजीने पूछा—ईशान ! जो युद्ध आदिसे युक्त चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियोंके जाननेमें नहीं आता, उस परमात्मका संशयरहित अविद्यारीद्वारा कैसे साक्षात्कार किया जाता है ?

श्रीमहादेवजीने कहा—महर्षे ! जिसमें अविद्याका नाममात्र अंश है, ऐसा केवल सात्त्विक और मोक्षकी वाह रखनेवाला साधक शालाभ्यास आदि सात्त्विक उपायोंसे अविद्याका प्रक्षालन करता है, तब अविद्याका क्षय होनेपर वह अपने-आप ही अपनेद्वारा परमात्मा-का अनुभव करता है। आत्मा ही परमात्माको देखता है और आत्मरूपसे ही उसका विचार करता है। इस संसारमें एकमात्र परमात्मा ही सद है, अविद्या नहीं; इसे ही अविद्याका क्षय कहते हैं। जो कुछ यह नानाविष विनाशशील दृश्य वस्तु है, इसे आप परमात्मा न समझिये; क्योंकि यह मिथ्या है। परत्रष्ठ परमात्मा तो सम्पूर्ण इन्द्रियोंके क्षयसे प्राप्त है। जो कल्प

जिसका नाम होनेपर प्राप्त होती है, वह वह उसके उपस्थित रहते कभी प्राप्त नहीं हो सकती। शिवके बोधके लिये किये गये युरुपदेशसे अनिर्देश्य और अन्यका परमात्मा उसे सब प्राप्त हो जाता है। युरुके उपदेशों और शालार्थोंके जिना भी परमात्माका ज्ञान नहीं होता; क्योंकि इन सबके संयोगसे ही परमात्माका ज्ञान होता है। कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय आदिका नाश तथा सुख, दुःख आदिका अमात्र होनेपर जो बच रहता है, वह विवरूप परमात्मा ही 'तत्'-सद् इत्यादि नामोंसे कहा गया है। वासादमें तो यह सम्पूर्ण जगत् है नहीं, बल्कि परमात्माका सकल्प होनेके कारण यह उसका स्वरूप ही है। वह सत्-स्वरूप परमात्मा आकाशसे भी अस्त्रन्त बदकर निर्भय और अनन्त है। विशुद्ध अनन्तःकरणवाले मुमुक्षु पुरुषोंने मोक्षके उपासकोंके बोधके लिये नाम-रूपरहित सविदानन्द परमात्मामें चेतन, ग्राह, शिव, आत्मा, ईश, परमात्मा और ईशर आदि पृथक्-पृथक् नाम होनेकी कल्पना कर रखी है। वसिष्ठजी ! इस तरह जगत्तत्त्व एवं शिवनामक परमात्मतत्त्व ही सर्वत्र सब तरहसे सब युक्त है। इसलिये आप इसे जानकर मुख्यपूर्वक स्थित हो जाएं। प्राचीन मुमुक्षु लोगोंने शिव, आत्मा और परमेश ईशादि नामोंसे उस परमात्मकी भिज-भिज फल्पना योगी हैं; वस्तुतः एक परमात्मा ही है, उसमें कुछ भी भेद नहीं है। मुनिनायक ! इस प्रकार ज्ञानरूपक व्यानरूप पूजा करनेवाला ज्ञानी पुरुष उस परमपदब्रह्म प्राप्त हो जाता है।

श्रीवसिष्ठजी बोले—मगवन् ! मिथ्या होने हुए भी

यह जगत् किस प्रकार सद्-सा ग्रसीत होता है, वह सब कुछ फिर संक्षेपमें मुझसे कहनेकी कृपा कीजिये ।

श्रीभग्वानेकीने कहा—मुने । बो यह मह, शिष्य, ईश्वर इथादि शब्दोंका अर्थ है, उसे ही विशुद्ध विन्मय परमात्मा समझिये जैसे जलके आधारभूत समुद्रमें जल ही तरङ्गके रूपमें प्रकट होता है, वैसे ही परमात्मा-में केवल अद्वितीय सदूप इष्ट ही जगत्के रूपमें प्रकट हो रहा है; क्योंकि सारा वह दृश्यसमूह चेतन परमात्म-रूप ही है, इस प्रकारका हानि होनेपर वह दृश्यसमूह यनोराज्यके संकल्पनगरकी तरह हो जाता है । यह जगत् परमात्माका संकल्प है, इस व्यार्थ अनुभवसे सम्पूर्ण दृश्य जगत् कल्याणमय परमात्मा ही बन जाता है ।

श्रीवसिष्ठजीने पूछा—भगवन् । इस जगत्की भले ही गन्धर्वनगरसे अथवा स्वप्नके मनुष्यसे उपग्रह दी जाय, फिर मी यह दुःखका कारण तो है ही । अतः दुःखके नाशके लिये यहाँ कौन-सी युक्ति है ।

श्रीभग्वानेकीने कहा—महर्षे । वासनाके कारण दुःख उपचल होता है और वह वासना सद् पदार्थमें इच्छा करती है; किंतु यह अगत् तो मृगतृष्णाके जलकी तरङ्गके समान मिथ्या ही है । इसलिये वासना कैसे, किसमें, किसको, कहाँसे होगी? स्वप्नावस्थाका पुरुष भला

कैसे मृगतृष्णाके जलका पान कर सकता है । दृष्टके सहित, अहंतासे शुक्त और मन तथा मनन आदिके साथ इस जगत्का जब स्वप्नवत् अस्तित्व ही नहीं है, तब जो शेष रह जाता है, वही सद्वत्तु परमात्मा है । उस परमात्मामें न तो कोई वासना रहती है, न कोई वासना करनेवाला और न कोई वासनाका विशय ही रहता है । किंतु एकमात्र वह परमात्मा ही रहता है, जिसमें कल्पना-ब्रह्मका अत्यन्त अभाव है । प्रतीत होनेके कारण सत्य और वास्तवमें असत्य संसाररूप वेताल शून्य-स्वरूप होनेके कारण जिस ज्ञानवान्‌की दृष्टिमें असत्य ही है, उसकी दृष्टिमें केवल परमात्माके सिवा और दूसरा क्या अवशिष्ट रह सकता है? अर्थात् कुछ नहीं । इस प्रकार शून्यमें ही वेतालकी तरह यह चित्त-वासना उपचल हुई है, जिसका नाम जगत् है । उसकी शान्ति हो जानेपर अक्षय शान्ति ही अवशिष्ट रहती है । किंतु अहंतामें, जगत्में तथा मृगतृष्णाके जलमें जिस अज्ञानी मनुष्यकी आस्था (सत्तावृद्धि) वैधी हुई है, उसको बार-बार धिकार है । वह अज्ञानी उपर्युक्त उपदेशके योग नहीं । इस जगत्में ज्ञानियोग जिज्ञासु विवेकी मनुष्यको ही उपदेश दिया करते हैं, न कि उस बालबुद्धियाले अविवेकीको, जो अनेक प्रकारकी भान्तियोंसे प्रस्त है, श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा स्पाल्य है एवं देह आदिमें अभिमान रखना है ।

( सर्ग ४१ )

**समष्टि-व्यष्ट्यात्मक जो संसार है, वह सब माया ही है—यह उपदेश देकर भगवान् ।**  
श्रीशंकरका अपने वास्तव्यानको जाना तथा श्रीवसिष्ठजी और श्रीरामजीके द्वारा अपनी-अपनी स्थितिका वर्णन

श्रीवसिष्ठजीने पूछा—भगवन् । सृष्टिके आदिमें देहके सम्बन्धसे संसारमें भ्रमण करनेवाला यह जीवात्मा मायारूप आकाशमें स्थित हृष्टा निः अवस्थाको प्राप्त करता है ।

भगवन् भ्रंकरने कहा—मुने । जिस प्रकार स्वप्न-मनुष्य स्वप्नके संसारको देखता है, उसी प्रकार वह

जीवात्मा भी परम सूक्ष्म मायामय आकाशमें कर्मात्मुसार शरीरोंको देखता है । जैसे आज भी स्वप्नमनुष्य चैतन्य-घन जीवात्माके सर्वत्र व्यापक होनेसे स्वप्नमें कार्य करता है, वैसे ही देहधारी जीवात्मा भी जाग्रदवस्थामें कार्य करता है । जिस तरह शून्यस्वरूप वेताल वालविक

इदिसे असदूप है, किंतु भ्रमसे सदूप प्रतीत होता है, उसी प्रकार यह समस्त जगत् वास्तवमें असत् है, किंतु भ्रमसे सदूप प्रतीत होता है; इसलिये जगत्का कारण वास्तवमें बहुकार ही है। यह ससार वास्तवमें सत् नहीं है; न यह कल्पित है न क्षणिक है, न यह कुछ उपज ही होता है और न कुछ विनष्ट ही होता है। वास्तवमें इसका अस्थन अमाव है। चेतन जीवात्मा ही सम्पूर्ण प्रपञ्चकी संकल्परूपसे अपनेमें उसी प्रकार कल्पना करता है, जिस प्रकार मनुष्य ख्रममें नगरका निर्माण और विनाश करता है पर जागनेपर वास्तवमें उसका ख्रमके देश और कालसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। इस विनाशशील संसारका वास्तविक खरूप तत्त्वसे सभा लेनेपर इस मायारूप संसारकी भेदसंताका अमाव हो जाता है। तदनन्तर ज्ञानपूर्वक ध्यानके अन्याससे कल्पाणमय शिवरूप परमात्मकी प्राप्ति हो जाती है। नहीं तो यह जीवात्मा अपने कर्मानुसार देह, इन्द्रिय आदिके संयोग-क्रमसे भूगी, छता, कीट, देव, असुर आदिरूप हो जाता है। नित्य, व्यापक, अनन्त हड़ और विश्वमें व्याप्त एवं विश्वके कर्ता जिस परमात्में यह जगत् कल्पित है, जिसके होनेपर वह जगत् न पूर है न समीप, न ऊपर न नीचे, न आपका है न मेरा, न पहले या न आज है, न प्रात्-कालमें है न सत् है न असत् और न सत् और असत्के मध्यमें है अर्थात् वास्तवमें यह कल्पनामात्र ही है। सुने ! जैसा आपने पूछ ; जैसा ही मैंने उत्तर दे दिया। आपका कल्पना हो ! अब हमलोग अपनी अभिलिप्ति दिशाकी ओर जारे हैं। पार्वती ! आओ, उठो ।

श्रीकसिंहजी बोले—श्रीराम ! ऐसा कहकर वे नीलकण्ठ मण्डान् शंकर जिनके ऊपर मैंने उस समय पुष्पाङ्गलि



समर्पित की थी अपने परिवारके साथ आकाशकी ओर उले गये। तब पहलेसे ही शान्तरूपमात्रवाला मैं श्रिमुखन-के अधिष्ठित उमापतिके जानेके बाद क्षणभर तुम रहकर उनके स्परणपूर्वक उनके हारा उपदिष्ट परमात्मदेवका ज्ञानपूर्वक व्यानरूप पूजन नवीन (परिष्कृत) और ग्रदा आदिसे पवित्र हर्ष दुदिसे करने लगा।

रघुनन्दन ! प्राहोदेव शंकरजीने स्त्रियोदानन्द परमात्माका व्यानरूप यह सर्वोक्तुष्ट पूजन मुझसे कहा है और सर्वमें भी उसे तत्त्वसे जानता हूँ। जिस तरहका यह जगत्का खरूप है, उसे तुम भी तत्त्वसे जानते ही हो। जैसे जलका द्रव्यत्व ख्रमाव है, जैसे वायुका स्फटत्व ख्रमाव है और जैसे आकाशका शून्यत्व ख्रमाव है, जैसे ही परमात्माका सर्गत्व (सूजन) ख्रमाव है ! श्रीराम ! नवसे लेकर आजतक उसी क्रमसे मैं शान्तिपूर्वक परमात्माका व्यानरूप पूजन करता आ रहा हूँ। इसलिये मनुष्यमें घन और बन्धुओंकी उत्तरति और विनाश होनेपर हर्ष

और बिगड़ नहीं करना चाहिये; क्योंकि ये सभी संसारके अनुमत्र सदा शिवशर ही हैं। श्रीराम ! प्रमथन-शील चित्र-चित्र परिस्थितियों जिस प्रकार आती है, जाती है और पुरुषको पराजित करती है, वह मध्य तुम भी जानते ही हो। इसी प्रकार प्रेम और धन आने रहते हैं और यों ही चले भी जाते हैं। वे जगत् के व्यवहार वासियों न तो तुम्हारे अदर हैं और न तुम ही उनके अदर हो। इस प्रकार यह जगत् तुच्छ ही है। केवल चेतनस्वरूप व्यापक देहाले श्रीराम ! यह जगत् तुम्हारा मक्तुव्य होनेके कारण तुम्हारा स्वरूप ही है। अतः तुम्हारे लिये हृषि और शोकका प्रसङ्ग ही क्या है। तान ! तुम चिन्मात्र स्वरूप हो। यह जगत् तुमसे पृथक् नहीं है। इसलिये तुमको किस प्रकार और कहो हैय और उपादेयकी कल्पना हो सकती है ? तुम सम, ज्ञानस्वरूप और उदारधी होकर सदा ब्रह्मके ध्यानमें तत्पर होते हुए समुद्रकी तरह परिषूर्ण ( परितृप्त ) रूपसे स्थित रहो। खुनन्दन ! यह सब तुमने सुना और परिषूर्ण-बुद्धि होकर तुम स्थित भी हो; इस विषयमें और जो कुछ पूछना चाहो, पूछो। पहले जो तुमने प्रश्न किये थे, उनमेंसे यदि कोई उत्तरके बिना रह गया हो तो उसे भी आब पूछ लो।

श्रीरामजीनं कहा—बहन् ! न तो आत्मा उत्पन्न होता है न मरता है और न मायासे कल्पित ही है तथा ‘यह सारा जगत् ब्रह्ममय है’ इम प्रकारका निश्चय मेरा है। भगवन् ! मेरा मन शुद्ध और सब प्रकारके प्रभोमे, सत्त्वाओंसे और इन्द्रियोंसे निष्टुत है। इस चराचर संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसकी मुझे डब्बा और अमिक्षाता हो तथा ऐसी कोई वस्तु भी नहीं है, जो मेरे लिये न्याय और ग्राध हो। मुझे न खांसी आकांक्षा है और न नरकसे द्वैप है; किंतु मन्दराचलकी तरह सशमरहित हुआ मैं अपने स्वरूपमें स्थित हूँ। यह जगत् जिस स्वरूपका दिखायी देता है, उसी स्वरूपका है, उससे मिश उसका कोई दूसरा स्वरूप नहीं है—यों जो मूर्ख जानता है, उसके हृदयमें ज्ञाताके सदृश अधिक संनापटायिनी, कुमिति संशय-ममूर्छोंसे होनेवाली यह वस्तु है और यह अवस्तु है। इस प्रकारकी कल्पनाएँ पर्याप्तरूपसे उत्पन्न होती रहती हैं। मूर्ख पुरुष जिन धन आदि विषयोंके लिये कृपणना करता है, जगत्की वे वस्तुएँ बालतामें हैं ही नहीं। परमेश्वर ! हमने सम्पत्तियोंकी अवधि जान ली, आपसियों-की सीमाका भी अन्त देख लिया। हम सर्वसार अपने स्वरूपमें दीननारहिन और परिषूर्ण हुए स्थित हैं।

( सर्ग ४२-४३ )

### ज्ञानकी प्राप्तिके लिये बासना, आसक्ति और अज्ञानके नाशसे मनके विनाशका वर्णन

श्रीशतिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! आसक्तिसे तथा कर्तृलाभिमानसे रहित एवं न्याययुक्त व्यवहार करने-वालं अन्तःप्ररणसे इन्द्रियोंके साथ तुम जो कुछ करते हो, वह कर्म कर्म ही नहीं है। जिस तरह प्रातिकालमें विषय तुष्टिकारक होता है, उसी तरह उसके बाद दूसरे कालमें नहीं होता। इसलिये बालबुद्धि अविवेकी ही क्षणिक सुख देनेवाले विषयोंमें आसक्त होता है, विवेकी नहीं। श्रीराम ! तुम आत्मज्ञानी हो। इसलिये

अहकार तुम्हारा पतन नहीं कर सकता; क्योंकि जिसने निरन्तर असीम सत्यस्वरूप ब्रह्मका स्मरण किया है और जो तत्त्वज्ञानस्वरूप मुझेह पर्वतके शिखरपर स्थित है, उस पुरुषका पुनर्जन्मस्वरूप पतन नहीं हो सकता। श्रीराम ! तुम्हारा जो यह समता एवं सत्यतामय स्वभाव मुझे दिखायी देता है, इससे मैं मानता हूँ कि तुम संन्देश-विकल्प और अविवेकसे रहित हो, अपने स्वरूपमें भलीमौति स्थित हुए तुम मानो मुझे वह

प्रत्यक्ष करा रहे हो कि सामरके समान पूर्ण समना तुममें विद्यमान है। जिस-जिस वस्तुको तुम ढेख रहे हो, उस-उस वस्तुमें समानभावसे सत्तारूप सचिदानन्द-धन परमात्मा स्थित है।

जिस प्रकार चित्रलिखित पुरुषमें ससारकी भावना नहीं हो सकती, उसी प्रकार इश्वर और दर्शनके सम्बन्ध-का अभाव होनेपर इदयमें जगतकी भावना डलन नहीं हो सकती। चित्तके संकल्पसे उत्पन्न जगत् चित्तके संकल्पका अभाव होनेपर उसी प्रकार विशेष हो जाता है, जिस प्रकार जगत्की चञ्चलतासे उत्पन्न तरङ्ग जलकी चञ्चलताका अभाव होनेपर विशेष हो जाती है। आसनाके द्यागसे, परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे अथवा प्राणोंके निरोधसे चित्तके संकल्परहित हो जानेपर जगत् कहाँसे उत्पन्न होगा? जब चित्त-संकल्पके अभावसे अथवा प्राणोंके निरोधसे चित्तका दिनाश हो जाता है, तब जो बच रहता है, वही परमपद है। नहीं चित्तका अभाव है, वहाँ वह सारा सुख खामोहिक

ब्रह्मसुखरूप ही है। वह सुख स्वर्गादि भोगभूमियोंमें नहीं हो सकता। चित्तका दिनाश होनेपर जो सचिदानन्द सुख होता है, वह वाणीसे भी नहीं कहा जा सकता। वह सुख सब समय एकरूप रहता है—न घटता है न बढ़ता है। परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे चित्तका अन्त (अमाव) हो जाता है। बालकत्पित बेनालकी तरह अज्ञानसे मोह बनरूपता प्राप्त करता है। उस अज्ञानसे ही चित्तकी सत्ता प्रतीत होती है। ब्रानीका चित्त चित्त नामसे नहीं कहा जाना, किंतु सत्त्व नामसे कहा जाता है। चित्तका स्वरूप वास्तवमें किसी भी कालमें नहीं है। उसका स्वरूप अन्तिमे प्रतीत होता है। इसलिये भान्तिका नाश होनेपर उसका दिनाश हो जाता है। वह मिथ्या भान्ति तत्त्वज्ञानसे शान्त हो जाती है; क्योंकि जो महूँ वस्तु है, उसका अभाव कभी नहीं होता। जैसे खगोशके सींगकी सत्ताका अभाव है, वैसे ही विकल्परूप मन आदिका भी अभाव है। वे सब आत्मामें आत्मोपित हैं। इसलिये उनका परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे दिनाश हो जाना है। (सर्ग ४४-४५)

### शिलाके रूपमें ब्रह्मके स्वरूपका प्रतिपादन

श्रीबिसिष्ठजी कहते हैं—राधेन्द्र। प्रेमाय होनेसे छिप (चिकनी), स्वयंभ्रकाश होनेसे स्पष्ट, आनन्द-मय होनेसे मुहुरुल स्पर्शवाली, अनन्त होनेके कारण महाविद्वारसे युक्त, प्रचुर होनेसे धन, नित्य विकल्परहित एक ब्रह्मरूप महती शिश्य है। उस महाशिलाके भीतर मनःकल्पनाओंसे अनन्त वे सभी पुनर्जागरण क्रमल विराज रहे हैं। यहाँपर मैंने यह कोई अपूर्व शिला ही दृष्टान्तरूपसे आपके समक्ष उपस्थित की है, जिसकी महाकुक्षिके भीतर यह सब जगत् प्रतीत होनेके कारण तो है, किंतु वास्तवमें नहीं है। तुमसे उस विन्यय ब्रह्मरूप शिलाका ही मैंने कथन किया है, जिसके संकल्पमें ये सारे जगत् विद्यमान हैं। इस सचिदानन्द ब्रह्ममें शिलाकी ऊँचे धनता, एकरूपता आदि

है। अत्यन्त धनीभूत अङ्गोशानी और पोटसे रहित इस सचिदानन्दघनरूप शिलाके अदर यह जगत्-समूह कलित है। यद्यपि उस चेननरूप शिलामें सुर्ग, पृथिवी, चायु, आकाश, पर्वत, नदियों और दिशाएँ विद्यमान प्रतीत होती हैं, तथापि उसमें वस्तुतः तनिक भी अवकाश नहीं है। इस चेननरूप शिलामें धनीभूत अवयवोशान्त्र जगद्‌यी क्रमल विकलित हो रहा है। वह यद्यपि उससे पृथक्-सा प्रतीत होता है, तथापि वास्तवमें उससे पृथक्-नहीं है। श्रीराम! जैसे पर्यमें चित्रकारकी मनःकल्पनासे शह, दगड़ आदि चित्र लिपित किये जाते हैं, वैसे ही पृक्षमात्र मनकी कल्पनासे इस चेननरूप शिलामें भूत, अर्द्धमान और भविष्यत—सारा ससार चित्रित किया गया है। प्राकृत शिलामें

जैसे पुतली आदि वास्तविक-से प्रतीत होते हैं, पर वास्तविक है नहीं; अपितु शिलारूप ही हैं, जैसे ही चेतन शिलामें सभी पदार्थ वास्तविक-से प्रतीत होनेपर भी वास्तविक नहीं हैं, किंतु चिन्मय प्रक्षा ही हैं। भीतर स्थित शब्द, कमल आदि आकारोंसे युक्त शिला अनेकरूपसे प्रतीत होती हुई भी जैसे घनीभूत एक शिला ही है, जैसे ही कल्पित आकारोंसे युक्त होकर अनेक आकृतियोंके रूपमें प्रतीत होता हुआ भी वास्तवमें घनीभूत एक प्रक्षा ही है। जिस प्रकार पाषाण-शिलाके भीतर शिल्पीद्वारा लिखित कमल, उस शिला-कोशसे अभिन्न होनेपर भी, अपने परिच्छिन्न आकारसे युक्त होकर उससे मिल-सा प्रतीत होता है, वसी प्रकार चेतनके स्वरूपसे अभिन्न होनेपर भी यह सुषिठ उससे अन्य—परिच्छिन्न आकारवाली होकर उससे मिल-सी प्रतीत होती है, वास्तवमें मिल नहीं है। वास्तवमें ये प्रतीत होनेवाले मुबन आदि विकार विकारादि अर्थोंसे शब्द ब्रह्मरूप ही हैं। वियोगका ग्रहण और अग्रहण भी ब्रह्मरूप ही हैं; क्योंकि प्रक्षा अनन्त है। विकार आदि रूपसे प्रक्षा ही अशस्यित है और प्रक्षा ही कमशः विकार आदिके रूपमें उत्पन्न हुआ है। इस चेतन शिलाके भीतर जो ये विकारादि पदार्थ प्रतीत हो रहे हैं, उन्हें तुम मृगतथा-जन्मके सदृश समझो। जिस प्रकार रेखाओं एवं उपरेखाओंसे युक्त एक ही स्थूल शिला दीखती है, उसी प्रकार अद्विनीय प्रक्षा ही त्रिलोकसे युक्त प्रसिद्ध जगतरूपसे दीखता है। जैसे इस छौकिक शिलाके भीतर सर्वदा स्थित शिलीके वासनाखरूप कमल आदि वास्तवमें न उद्दित होते हैं और न अस्त ही होते हैं, जैसे ही इस चेतन शिलामें मनोरूप जगतकी गति भी वास्तवमें न उद्दित होती है और न अस्त ही होती है। जिस तरह शिलाके भीतरकी रेखा आदि शिलासे मिल नहीं हैं, किंतु शिलामय ही है, उसी तरह कर्तृत्व आदि जगत् चेतनका संकल्प होनेसे

चिन्मय ब्रह्मसे मिल नहीं हैं, किंतु ब्रह्मरूप ही हैं। रघुनन्दन। देवा, काल, किया आदि भी ब्रह्मरूप ही हैं; अतः ‘यह अन्य है’, ‘यह अन्य है’ इस प्रकार शक्तिकी कल्पना यहाँ नहीं बन सकती। जिस प्रकार चिन्तामणिके अन्तर्गत चिन्तकोंके अनन्त फल पर्याप्त-रूपसे छहते हैं, उसी प्रकार परम चेतन परमामरूप मणिमें अनन्त जगत् रहते हैं। समुद्रमें स्थित आषर्त, तरङ्ग आदिरूप जलरूपन्दनके विलासकी तरह और शिलाके भीतर अद्वित फलकी तरह यह अद्वितीय चेतन परमात्मा जगद्रूपसे नाना प्रतीत होता है। जो वर्तमान-कालिक जगत् है, वह चेतनमें एक त्राहसे शिलामें खुदी गयी मूर्तिके सदृश है और जो जगत् वर्तमानकालमें नहीं है यानी भूत एवं भविष्यत्कालिक जो जगत् है, वह एक तरहसे चेतन शिलामें न खोदी गयी मूर्तिके सदृश है। जैसे कमल आदि शब्द और उनके अनेकों अर्थ शिलाको छोड़कर नाना-से प्रतीत होते हैं, वास्तवमें शिलासे उनका पृथक् अस्तित्व नहीं है। जैसे ही अद्य चेतन परमात्माको छोड़कर ये जगदादि शब्द और उनके अर्थ नाना-से प्रतीत होते हैं; वास्तवमें चिन्मय परमात्मासे पृथक् उनका अस्तित्व नहीं है, किंतु वे चिन्मय परमात्मा ही हैं। श्रीराम ! मह-मरीचिका मृगकी दृष्टिमें तो निर्मल जलराशि ही है, किंतु विवेक-शुद्धिसे सम्पन्न विद्वानोंको स्थलपर सूर्यकी किरणें ही पड़ती हुई दिखायी देती हैं। वहाँ जैसे सात्सरूप किरणें ही असत् जलराशि के रूपमें दिखायी पड़ती हैं, जैसे ही सचिदानन्द-स्वरूप तुम ही असत् जगद्रूपसे प्रतीत होते हो। वास्तवमें तो तुम सचिदानन्द-स्वरूप हो। जैसे सचिदानन्दधन परमात्मामें उत्पत्ति-विनाशका अभाव है; क्योंकि जिस प्रकार महभूमिमें सूर्यकी किरणें जलरूपसे प्रतीत होती हैं, उसी प्रकार प्रक्षा ही जगद्रूपसे प्रतीत होता है। जैसे सूर्यकी धूपसे कर्फ गलकर जलरूप ही हो जाता है,

बैसे ही मेरु, तुण, गुल्म, मन और जगत् आदि परमात्मा ही हो जाने हैं, यों ब्रह्मज्ञानी लोग जानते हैं। सारे पदार्थ परमात्माके यथार्थज्ञानसे परम विशुद्ध ( सर्ग ४६-४७ )

### परमात्माके स्वरूपका और अविद्याके अत्यन्त अभावका निष्पत्ति

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! अपने अतिशय परमानन्दमय स्वरूपका अनुभव करनेवाले ज्ञानी मुनि, देवतागण, सिद्ध और महर्षियोंग सर्वे तुरीय पदमें स्थित रहते हैं। व्यवहारमें लगे हुए जो लोग बाह्य इश्य विक्षयोंमें सम्पत्ताकी भावनासे रहते हैं, जो पुरुष विषयेन्द्रिय-सम्बन्धोंका परिविष्ट करके समाधियें नित्य हैं, विश्वलिङ्गित देवधारियोंकी भौति जो प्राणोंके स्फन्दनसे रहते हैं और उन्हींकी भौति जो मनोगतिसे भी शून्य हैं, वे सब अपने उस परमपद-स्वरूप परमात्मामें—जहाँ मनका एवं इश्यकी आसक्तिका अभाव है—समानभावसे नित्य रहते हैं। वह विशुद्ध चिन्मय परमात्मा न तो दृष्टिका विषय है और न उपदेशका ही विषय है। वह न तो अत्यन्त समीप है और न दूरवर्ती ही है; किंतु केवल अनुभवसे ही प्राप्य और सब जगह समानभावसे रहित है। शुद्ध सच्चिदानन्द परमात्मा न वेहस्वरूप है न इन्द्रिय एवं प्राणरूप है, न चित्तस्वरूप है न वासनारूप है, न स्फन्दस्वरूप है न ज्ञानरूप है और न जगद्रूप ही है, अस्तिक उन सबसे अति परे महान् श्रेष्ठ है। वह न सदूप है न असदूप है और न सद् एवं असदके मध्यवर्ती ही है। वह न तो शून्यस्त्ररूप है और न अशून्य-स्त्ररूप ही है; वह देश, काल एवं वस्तु भी नहीं है; किंतु ब्रह्मस्वरूप ही है, उससे भिन्न कुछ नहीं। वह ब्रह्म देह आदि समस्त पराणोंसे रहित है और जिसके रहनेपर वह इश्य जगत् आविर्भाव, तिरोभाव आदिरूपसे स्पन्दित होता है वह परमात्मपद ही है। ये हजारों देहस्त्ररूप घड़े उत्पन्न होते हैं और नष्ट भी होते हैं; किंतु बाहर एवं भीनर व्याप्त इस परमात्म-स्वरूप आकाशका नाश नहीं होता। अर्थात् जिस प्रकार

वर्षोंका नाश होनेपर भी घटाकाशका नाश नहीं होता। उसी तरह देहका नाश होनेपर भी परमात्माका नाश नहीं होता। व्यापकज्ञानियोंमें श्रेष्ठ श्रीराम ! उपर्युक्त देहादि सम्पूर्ण जगत् परमात्मरूप ही है, किंतु वह जगत् केवल अहानवश भी परमस्तासे पृथक्-सा प्रतीन होता है। तुम्हें तो अपनी पवित्र वृद्धिसे वह ज्ञात ही है कि वह विश्व परमात्मस्वरूप है। स्वादर एवं जड़म-स्वरूप जो कुछ वह जगत् दीखता है, वह सब ब्रह्म ही है; किंतु वास्तवमें वह ब्रह्म स्फुरणों और गुणोंसे, मलसे, विकारोंसे तथा आदि और अन्तसे रहित एवं नित्य, शान्त और समस्तस्वरूप है।

श्रीराम ! दही बन जानेसे दूध पुनः अपने दूध-स्वरूपमें नहीं आता। किंतु ब्रह्म-ऐमा नहीं है। आदि, मध्य और अन्य—किसी भी दशामें ब्रह्म तो निर्विग्रह ब्रह्मरूप ही ज्ञात होता है। इसलिये दूध आदिके समान भ्रह्ममें विकालिता नहीं है। समस्तस्वरूप ब्रह्मका आदि और अन्तमें जो क्षणभरके लिये विकार दिखलायी पड़ता है, उसे तुम जीवात्माका भ्रम समझो; क्योंकि अविकारी ब्रह्ममें कोई निकार नहीं हो सकता। उम ग्रहमें दृश्य-दर्शनका अस्तन अभाव है। शास्त्रमें वह ब्रह्म ससारके सम्बन्धसे रहिन, सच्चिदानन्दबन कहा गया है। आदि और अन्यमें जिस बलुका जो स्वरूप है, वही उसका नित्य स्वरूप है। यदि मध्यमें उसका अन्य रूप दिखलायी पड़ता है तो वह केवल अज्ञानके कारण ही दिखायी देता है। धास्तव्यमें परमात्मा तो आदि, अन्त और मध्यमें सर्वत्र सदा एकरूप है; क्योंकि स्वस्त्ररूप परमात्मत्व कभी भी विश्वभावको प्राप्त नहीं होता। निरामार, अद्विनीय

तथा नित्यस्वरूप होनेके कारण यह प्रक्षेप परमात्मा कभी गाव-विकारोंसे युक्त नहीं होता ।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—अहम् ! अद्वितीय तथा अस्यन्त शुद्ध नित्य ब्रह्ममें जीवात्माके भ्रमरूप अविद्याका आगमन कैसे हुआ ?

श्रीकृष्णसिद्धजीने कहा—श्रीराम ! विकार तथा आदि और अन्तसे रहित यह पूर्ण ब्रह्मनस्त्व पहले भी था, इस समय भी है और मनिष्यमें भी सठा रहेगा । वास्तवमें अविद्याका किंविद्युत्तमात्र भी अस्तित्व नहीं है, यह येरा इक निष्ठय है । ‘ब्रह्म’ इस शब्दसे जो ब्राह्म एवं ब्राह्मकक्षा पृथक्-पृथक् वर्णन किया जाता है, उसका भी भेदमें तात्पर्य नहीं है, किंतु वह समझानेके लिये ही है । श्रीराम ! तुम और मैं, यह संपार और दिग्गार्द, आकाश-और पृथ्वी अयवा अनल आदि सब के-सब आदि और अन्तसे रहित ब्रह्म ही है, अविद्या तो वास्तवमें है ही नहीं; क्योंकि मुनिन्द्रोग ‘अविद्या’को भ्रममात्र और असत् कहते हैं । श्रीराम ! वास्तवमें जो वस्तु है हो नहीं, वह सब कीमे समझी जा सकती है । वेद-रूप वाणीका रहन्य जाननेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ विद्वानोंने यह अविद्या है और यह जीव है’ इत्यादि कल्पना अज्ञानी जनोंको उपदेश देनेके लिये ही की है । केवल युक्तिसे ही बोव कलाकार इस जीवको परमात्मामें नियुक्त किया जा सकता है; क्योंकि जो कार्य युक्तिसे सम्पादित होना है, वह मैकडो अन्य उपायोंसे नहीं होता । अज्ञानी दुर्भनिके सम्मुच्च उसे सुदृढ़ समझकर ‘यह सब

कुछ ब्रह्म है’ यें जो पुरुष कहता है, उसका वह करण एक दूँठको दुःख निवेदन करनेके समान है । उससे कोई लाभ नहीं है । क्योंकि भूर्ख युक्तिसे प्रबोधित होता है और प्रात्र तत्त्वसे । युक्तिसे बोध कराये बिना भूर्खको ज्ञान नहीं होना । श्रीराम ! मैं ब्रह्म हूँ, मींनो जगत् ब्रह्म हैं, तुम ब्रह्म हो और यह दृश्य पृथ्वी भी ब्रह्म ही है; ब्रह्मसे पृथक् कोई दूसरी कल्पना ही नहीं है । रघुनन्दन ! सोते जागते, चलते-फिरते, बैठते, शास लेते—सब समय अपने हृदयमें ‘सर्वव्यापी सखिदानन्दधन परमात्मा ही मैं हूँ’ ऐसा समझना चाहिये । क्योंकि तुम वास्तवमें सम्पूर्ण प्राणियोंमें स्थित, शान्त, चिन्मय ब्रह्म हो यथा सर्वव्यापी, अद्वितीय, शुद्ध ज्ञान-स्वरूप, आदि और अन्तसे रहित, प्रकाशारमक परम-पदस्वरूप हो एवं ब्रह्म, तुरीय, आत्मा, अविद्या, प्रकृति—ये सब भी अभिन्न, अद्वितीय नित्य परमात्मस्वरूप ही हैं । जैसे मिद्दीसे घडा पृथक् नहीं है, वैसे ही परमात्मासे प्रकृति पृथक् नहीं है । जैसे शयु और उसका स्फूर्तन एक ही परायी हैं और नामते दोनों भिन्न होते हुए भी वास्तवमें भिन्न नहीं हैं वैसे ही परमात्मा और प्रकृति—ये दोनों एक हैं और नामसे भिन्न होते हुए भी वास्तवमें भिन्न नहीं हैं । जैसे अज्ञानसे रज्जुमें सर्पकी प्रतीति होती है, वैसे ही अज्ञानसे इन दोनोंमें भेद जान पड़ता है और वह भेद यथार्थ ज्ञानसे ही विनष्ट हो जाता है । तात्पर्य यह कि परमात्माके सिवा—उभसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है । ( सर्ग ४८-४९ )

### जीवात्माका अपनी भावनासे लिङ्गदेहात्मक पुरुषकृत वनकर अनेक रूप धारण करना

श्रीरामचन्द्रजीनं कहा—अहम् ! मुझे सम्पूर्ण ज्ञानश्च ( जानने योग्य ) वस्तुका ज्ञान है और अविनाशी श्रद्धाय वस्तुका अनुभव है तथा मैं आपके सर्वोत्कृष्ट शब्दानन्दरूप उपदेशाभ्युत्तसे तृप्त हूँ । सखिदानन्दधन पूर्णकृत परमात्मासे यह पूर्ण संसार परिपूर्ण है । पूर्ण-

प्रथ परमात्मासे ही यह संपार उत्पन्न होना है, पूर्ण-ब्रह्म परमात्मा द्वारा ही यह मसार पूरित है एवं पूर्णकृत परमात्मामें ही यह संपार स्थित है; तथापि अहम् ! बहुत लोगोंके ज्ञानकी अभिदृष्टिके लिये लीन्यासे मैं आपसे यह प्रभ पूछना हूँ । मृत प्राणीके श्रोत्र, चक्षु, त्वचा,

हसना और श्राण—ये इन्द्रियगोलक प्रत्यक्ष विषमान हहते हुए भी अपने अपने विषयोंका प्रहण कर्त्त्वे नहीं करते और जीते हुए प्राणीकी इन्द्रियों अपने-अपने विषयोंका प्रहण कैसे करती हैं ? जड़खृप होती हुई भी ये इन्द्रियों शरीरके भीतर खिल रहकर घटादि बाह्य पदार्थोंका अनुभव कैसे करती हैं और कैसे नहीं भी करती ? महर्ये ! यद्यपि मैं इन विशेषोंको ज्ञान रहा हूँ, तथापि आपसे फिर पूछना हूँ, उसे आप कुप्रापूर्वक पूर्णखृपसे कहिये ।

श्रीवसिष्ठजी कहते—श्रीराम ! इस सप्तारमे विशुद्ध सचिदानन्द ब्रह्मके सिद्ध इन्द्रिय, चित्त और घट आदि किसी भी अन्य पदार्थका पृथक् अग्रित्य नहीं है । अर्थात् एक विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही है । वह चिन्मय परमात्मा ही प्रकृति बन गया है । उसी प्रकृतिके अंशसे इन्द्रिय आदि एवं घट आदि उत्पन्न हुए हैं । किंतु आदि और अन्तसे रहित, विकार-रहित, प्रकाशस्तररूप, शुद्ध चैतन्यमात्र, अगत-कारणरूप ब्रह्म वास्तवमे� मायासे रहित हैं । यह अङ्गानीं जीवात्मा ही अङ्गानके कारण अपनी भावनाके अनुसार संसारका रूप धारण करता है । यह अह-मावनासे 'अहकार', ममनसे 'मन', लिक्षयकी भावनासे 'भूषि', इन्द्रियोंकी भावनासे 'इन्द्रिय', देहकी भावनासे 'देह' और घटकी भावनासे घट बन जाता है । इस प्रकार अपनी भावनाके कारण यह जीवात्मा पुर्णष्टक बन जाता है । ज्ञानेन्द्रियोंके व्यापारोंको लेकर मैं कर्ता हूँ, उन ज्ञान-कर्मेन्द्रियों-

के व्यापारोंसे जनित सुख-दुःखोंका आश्रय होनेसे मैं भोक्ता हूँ, उदासीन होकर सबकल प्रकाशन करनेसे मैं 'साक्षी' हूँ । इत्यादि अमिमानयुक्त जो चैतन्य है, वही 'जीव' कहा गया है । वही जीवात्मा अपनी भावनासे समय-समयपर स्थिर ही अनेकरूप हो जाता है । जैसे जल सौचनेसे बीजके पलुच आदि आप्तार होते हैं, वैसे ही भावनाके अनुसार उस जीवके भी शरीर, आदि, स्थान आदि एवं जगम आदि अनेक रूप होते हैं; क्योंकि वह जीवात्मा अङ्गानसे यह मान लेता है कि मैं चेतन आग्ना नहीं हूँ, किंतु शरीर आदि हूँ । वासनाओंके वसीभूत हुआ यह जीव कर्मानुसार विकल्पात्मक खार्ग-नरकत्वे आधारमनों-द्वारा नगरमें वृक्षता ही रहता है । इनमेंसे फौर्द तो विशुद्ध जग्मके कारण पहले जन्ममें ही परमात्माको यथार्थ जानकर आदि-अन्तसे रहित परमपद परमात्माको प्राप्त हो जाता है । कोई बहुत कठलत्वक अनेक योगियोंमें प्राप्त सुख-दुःखादि भोगोंके अनन्तर परमात्माके यथार्थ ज्ञान-द्वारा परमपदको प्राप्त होता है । श्रीराम ! वाद विषयोंके ज्ञानमें इन्द्रिय-सम्बन्ध ही सदा कारण है और वह इन्द्रियोंका सम्बन्ध वित्तसे युक्त जीवित पुरुषमें ही सम्भव है; मृत पुरुषमें कभी नहीं । जब शानपर चढ़े हुए चमकीले नवीन रसके समान आँखोंके तारेमें बाय दृश्य पदार्थ प्रनिविनित होता है, तब उस पदार्थका हृदयमें प्रतिविम्ब पड़नेके कारण, देहाभिमानी जीवके साथ सम्बन्ध हो जाता है । इस रितिसे बाय घरु चीड़-द्वारा हृदयमें जानी जाती है । ( सर्ग ५० )

पुरुषष्टक बने हुए जीवात्माको तत्त्वज्ञानसे परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति होनेका कथन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! व्यष्टि चेतन जीवात्मा गर्भमें चक्षु आदि इन्द्रियोंके प्रादुर्मविसे सम्पन्न पुर्णष्टकस्तररूप हो जानेपर जिस वस्तुकी जिस प्रकार भावना करता है, उसी प्रकार उसे अपनी भावनासे तत्काल ही अनुभव करने लगता है ; किंतु वास्तवमें अद्वितीय, असीम और अवेद्य होनेसे निर्विकार शुद्ध आत्मामें दूसरे किसी पदार्थका अस्तित्व है ही नहीं । अतः यह चेतन आत्मा वास्तवमें दृश्यके सम्बन्धसे कभी भी मनोरूपता, जीवरूपता अथवा पुर्णष्टकस्तरको नहीं प्राप्त होता । श्रीराम ! परमात्मा तो वास्तवमें विदा

आदिद्वारा नहीं जाना जा सकता और वह सदा विद्यमान होते हुए भी अश्रद्धालु विद्यासहीन पुरुषोंके लिये नहीं है। वही 'परमात्मा' इस नामसे कहा गया है तथा वही पाँचों हन्दिय और छठे मनसे अतीत है अर्थात् इनके द्वारा वह जाना नहीं जा सकता। 'उस परमात्मासे चेतन जीव उत्पन्न होता है' इत्यादि मननात्मक कल्पना एकमात्र शिष्योंको समझानेके लिये ही कही गयी है। वास्तवमें परमात्मासे मिल अन्य कुछ है ही नहीं। जैसे वृगतुण्णा-जलको प्रयत्नसे भी कितीने कहीं नहीं पाया, उसी प्रकार प्रतीत होनेपर भी जो अमावररूप पदार्थ हैं, वे प्रयत्नसे भी किस तरह पाये जा सकते हैं। क्योंकि असत् पदार्थ ही सत् प्रतीत होता है। उसकी सत्यता असदूप अविद्यासे ही है। ज्ञानसे तो जो बलु वास्तवमें जिस प्रकारकी रहती है, वह उसी प्रकारकी अनुभूत हो जाती है और आन्ति नष्ट हो जाती है। ये इन्द्रिय, मन, प्राण आदि आन्तरिक पदार्थ हैं और ये घट आदि बाह्य पदार्थ हैं—ऐसे विचारवाला जीवात्मा जिसकी जैसी भावना कर लेता है, उसे वैसी ही प्रतीति होने लगती है। हैत एवं अद्वैतरूप यह सम्भूर्ण जगत् उसी प्रकार परमात्मासे ही बना है, जैसे इच्छेके रससे खोड़ और मिहीसे महान् घट। खोड़, घट आदिमें—देश, काल आदिसे परिच्छिन्न होनेके कारण—अवयव-विन्यास, विकार आदि हो सकते हैं; परंतु वक्ष तो देश, काल आदिसे परिच्छिन्न नहीं है; छुतरा उसमें वे विकार आदि वास्तवमें हो ही नहीं सकते। केवल ब्रह्ममें जगत्की कल्पनामात्र है। न्योंकि जिस प्रकार भूषणमें स्थित सुर्कर्णमें यानी सुवर्णके आभूषणमें सत्य एवं असत्यरूप सुवर्णस्त्र और कटकत्व दोनों रहते हैं, उसी प्रकार परमात्मासे भी चेतनता और जड़ता दोनों रहती हैं। तात्पर्य यह कि जैसे रूर्ण ही आमूषणके रूपमें प्रतीत होता है, वैसे ही चेतन ब्रह्म ही जड़ जगत्के रूपमें प्रतीत होता है।

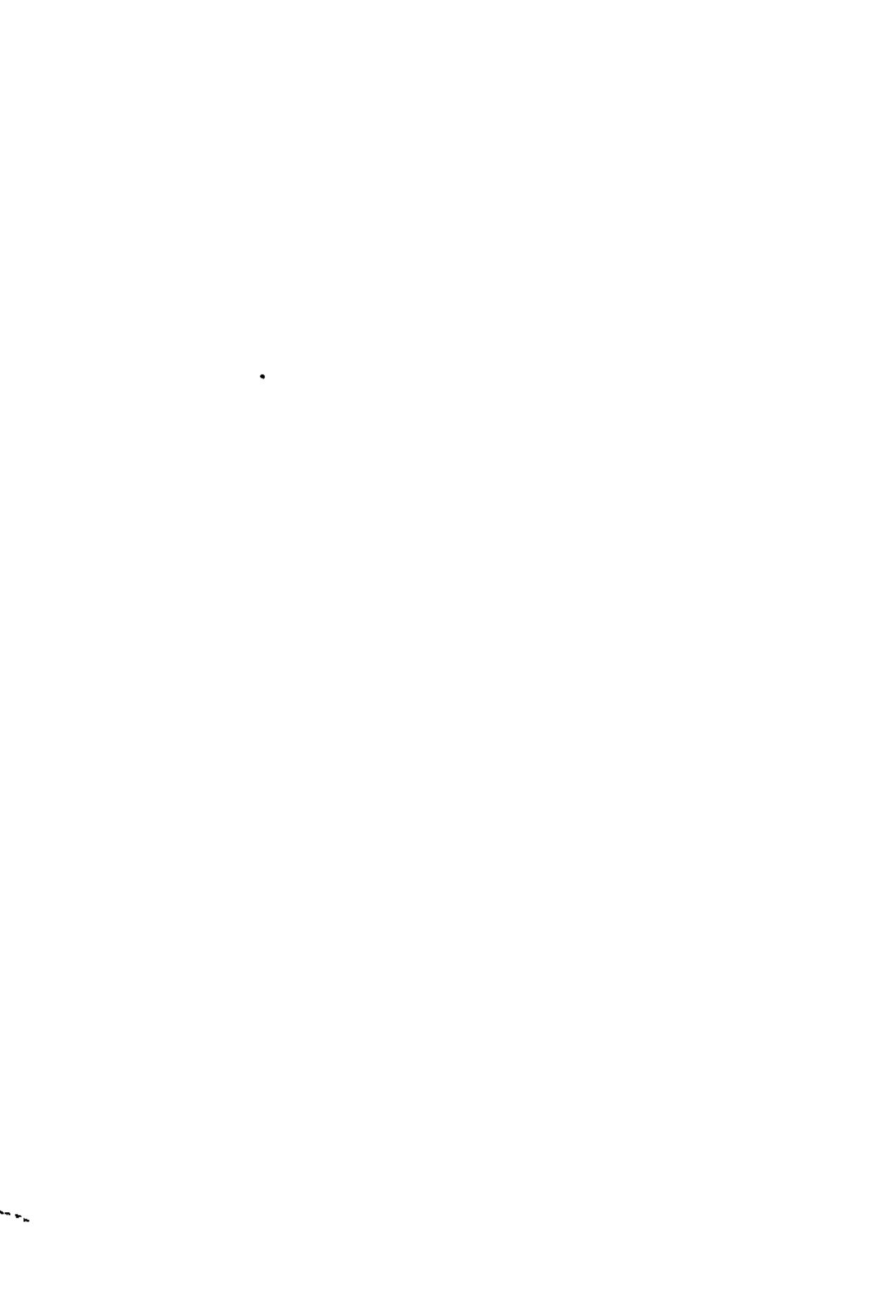
जैसे मनुष्य खप्रमें शीत्र ही दीशाल बनकर पट क्ल जाता है, वैसे ही मरणकालमें जीवात्मा दूसरा शरीर अपने-आप बन जाता है। खप्रमें अपने संकल्पसे ही जीवात्मा जन्मता-मरता है। वास्तवमें यह सब मिल्या है। इस जीवकी अपनी शासना ही पाष्ठभौमिक देह होकर उसी प्रकार आगे खड़ी हुई-सी रहती है, जिस प्रकार बालकके आगे कल्पित असत्य महान् प्रेत खड़ा हुआ-सा रहता है। मन, बुद्धि, अहंकार एवं पाँच सूक्ष्म तन्मात्राएँ—इन आठोंका समूह पुरुषक कहा गया है और यही 'आतिवाहिक' देह कहा गया है।\* सजीव पहाड़, शृङ्खरूप स्थावर आदि अवस्थाओंमें तथा कल्पवृक्षकी अवस्थाओंमें भी पावाण-दिलाके समान धनीमूत जड़तावाली ( तमोयुक्त ) यह आनिवाहिक देह ( लिङ्गशरीर ) सुपुत्रि-अवस्थामें स्थितकी ज्यों ही स्थित रहती है। जीवात्माके यथार्थ ज्ञानसे ही मुक्ति होती है और उसी ज्ञानसे वह परमात्मखरूपको प्राप्त हो जाता है। जीवात्माके यथार्थ ज्ञानसे जो मुक्ति प्राप्त होती है, वह शास्त्रोंमें दो प्रकारकी बतलायी गयी है—एक जीवन्मुक्ति और दूसरी विदेहमुक्ति। जीवन्मुक्ति ही तुरीयवस्था है। उसके परे तुरीयतीत परम ब्रह्मपद है। यथार्थ ज्ञान होनेसे यह जीव प्रब्रोधखरूप हो जाता है यानी उत्कृष्ट चैतन्यात्मक ब्रह्मरूप हो जाता है और वह यथार्थज्ञान या ब्रोध पुरुष-प्रयत्नसे साध्य है। जो जीवात्मा अपने मर्वश्यामी खरूपको यथार्थ ज्ञान जाता है, वह सचिदानन्दमय ही हो जाता है। किंतु जो जीव उपर्युक्त ज्ञानसे शून्य है, वह अज्ञानशरा हिलाकी तरह दृढ़ीकृत अपने हृदयमें दीर्घतम ससारखम-आन्तरिक तीव्र भयका अनुभव करता रहता है। जीवके

\* इन्हींको योगदर्जन ( २। १९ ) और साख्यकारिका ( ३ ) में अन्द स्वर्गरूप-स्व-गन्धरूप पञ्चविषयात्मक भूषण तन्मात्राएँ कहा गया है, एवं गीतामें आकाश-ब्रह्म-तेज-जल-पृथ्वीरूप सूक्ष्म महाभूत बताया गया है ( ७। ४; १३। ५ )।



श्रीरसागरमें शोब-शाव्यापर विराजित धगवान्दका जगत्की स्थितिको देखना

(उपशम-प्रकरण नंग ३८)



मीतर चिन्मय आत्माके सिवा दूसरा कुछ भी नहीं है। पर यह अशानके बारण उसी चेतन आत्माको जह देहके रूपमें समझकर व्यर्थ ही शोक किया करता है। जीवात्माके भीतर परमब्रह्मके सिवा दूसरा कुछ भी नहीं है। अहो! जहाँ-तहाँ यह जो जगत् प्रतीत होता है, वह मायाका ही परिणाम है।

श्रीराम ! वासनाओंका बन्धन ही इस जीवात्माके लिये बन्धन है, वासनाओंका अभाव ही इसका मोक्ष है और वासनाओंका ल्य ही सुपुसि-अवस्था है; और वही वासना स्वरूपमें नाना प्रकारसे प्रकट होती है। जब यह जीव वासनाओंकी बनतासे मोहित होता है, तब वह स्थानर आदि योनियोंको प्राप्त होता है; जब मध्यम प्रकारकी वासनाओंसे शुक्त होता है, तब पञ्च-पक्षी आदि योनियोंको प्राप्त होता है और जब क्षीण वासनाओंसे समन्वित होता है, तब मरुष्य-देव-गर्व आदि योनियोंको प्राप्त होता है। तास्थर्य यह कि वासनाओंके क्षयके तारतम्यसे उच्चरोचर शुमयोनिकी

प्राप्ति होती है। किंतु परमात्मा तो वास्तवमें न किसीका स्थाग करता है और न किसीका श्वर्ण ही करता है। वास्तवमें परमात्मासे पिन्न किसीका अस्तित्व ही ही नहीं। अतः वहाँ वादा और आन्तर कलात्मक जगत्के रूपमें यह परमात्मा ही अपने संकल्पसे प्रकाशित होता है, अतः परमात्माके सिवा और कुछ नहीं है। ये तीनों जगत्, चिन्मय परमात्माका सकल्प ही है। इसलिये भेदके विकल्पोंसे प्रथोजन ही क्या रहा। अब हम सचिनानन्द परमात्मामें नित्य स्थित हैं। इस वाद-आन्तर जगत्का भूत, भविष्य, वर्तमान—तीनों कालोंमें ही अत्यन्त अभाव है। अर्थात् वास्तवमें यह जगत् न पहले था, न अभी है और न भविष्यमें ही कायम रहेगा। जैसे समुद्र तरह आदि समस्त भेदोंसे रहित, सम्पूर्णरूपसे केवल विशुद्ध द्रव्यात्मक जलस्वरूप ही है, वैसे ही यह जगत् भी समस्त भेदों और विकल्पोंसे रहित केवल परमपद महसूरूप ही है।

( सर्ग ५१ )

### श्रीकृष्णार्जुन-आत्मानका आरम्भ—अर्जुनके प्रति भगवान् श्रीकृष्णद्वारा आत्माकी नित्यताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—महाबाहु श्रीराम ! अब कमल-नयन भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा कहे हुए उस शुभ अनासक्ति-योगको हुम सुनो, जिसका अश्लम्बन करके मनुष्य श्रीवन्मुक्त महामुनि बन जाता है। उस उपदेशको सुनुकर महाराज पाण्डुका पुत्र अर्जुन जीवन्मुक्तिरूप शुखसे शुक्त हुआ अपना जीवन वितायेगा।

श्रीरामचन्द्रजीने पृथ्वी-प्राप्ति—श्रावन् । कृपाकर आप मुझे यह बतायाहै कि यह पाण्डुनन्दन इस पृथ्वीपर कव उत्तम होगा और उसके प्रति अनासक्तिका वर्णन भगवान् श्रीकृष्ण किस तरह करेंगे ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! एक समय यह पृथ्वी स्तुलोकमें आये हुए भारतरूप पापी प्राणियोंसे व्याप्त, स० घो० द३० अ० १५—

बन-गुल्मोंसे सक्षीण-सी और दीन हो जायगी। उस समय पापी मनुष्योंके भारसे पीड़ित यह दीन पृथ्वी शरण पानेके लिये भगवान् विष्णुके समीप उसी तरह जायेगी, जिस तरह लुटेरोंसे दूदी गयी कातर खी अपने पनिके समीप जाती है। तब सम्पूर्ण देवांशोंके साथ भगवान् श्रीहरि नर और नरायणके अवताररूपमें दो शरीरोंसे पृथ्वीपर प्रकट होंगे। उनमेंसे श्रीहरिके नारायणस्वरूपस राक्षोदात अवतार एक तो ‘श्रीवामुदेश’ इस नामसे विद्यान होगा और दूसरा धनशावतार नररूपरूप पाण्डुपुत्र ‘अर्जुन’ इस नामसे विद्यात होगा और चारों समुद्रोंसे यिरी हुई सम्पूर्ण पृथ्वीका अधिपति एवं धर्मगुप्त पुत्र ‘उत्थिति’ इस नामसे प्रसिद्ध होगा। यह पाण्डुपुत्र धर्मह होगा, उसका

चरेगा माई 'दुर्योधन' नामसे विख्यात होगा और उस दुर्योधनका 'भीम' नामक द्वितीय पाण्डु-पुत्र बैसा ही प्रतिहन्द्वी होगा, जैसे सर्वका प्रतिहन्द्वी नकुल । पृथ्वीको अपने-अपने अधिकारमें करनेके लिये परस्पर युद्ध करनेमें तथापर उन दोनोंकी मरणकर अठाह अक्षीहिणी सेना कुक्षेश्वरमें होनेवाली महाभारतकी लडाईमें हक्की होगी । खुनन्दन । महान् गाण्डीज-वनुषधारी अर्जुनकी देहसे उन सेनाओंको नष्टकर श्रीशिष्ठुमगवान् ( श्रीकृष्ण ) पृथ्वीको भारसे मुक्त कर देंगे । युद्धके ग्राम्यमें भगवान् शिष्ठुका थंश अर्जुन प्राकृतमाथमें स्थित होकर हर्ष और शोकसे युक्त मनुष्य-धर्मवाला अन जायगा । दोनों सेनाओंमें पहुँचे हुए और मरनेके लिये तैयार अपने बन्धुओंको देखकर वह अर्जुन विषादको प्राप्त हो जायगा और युद्ध करना अखीकार कर देगा । राघव ! उस समय अर्जुनको उपस्थित कार्यकी सिद्धिके लिये श्रीशिष्ठुमगवान् अपने ज्ञानमय श्रीकृष्णखरूपसे इस ग्रकार उपदेश देंगे—

यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है; शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता । जो इस आत्माको मारनेवाला समझता है तथा जो इसको मरा मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते; क्योंकि यह आत्मा वास्तवमें न तो किसीको मारता है और न किसीके द्वारा मारा जाता है । अनन्त, एकरूप, सततरूप और आकृत्वासे भी अत्यन्त सूक्ष्म प्रभावशाली परम शुद्ध आत्माका किससे किस तरह क्या नष्ट होता है ? अर्थात् उसका किसी प्रकार कभी विनाश नहीं होता । अतएव ज्ञानखरूप अर्जुन ! तुम आदि और मर्यादे रहित, अनन्त एवं अव्यक्त अपने ज्ञानविक खरूपका अवलोकन करो । तुम अप्रमेय, दोषरहित, चैतन्यखरूप, अज, नित्य और विशुद्ध हो ।

( सर्ग ५२ )

### कर्तृत्वाभिमानसे रहित पुरुषके कर्मोंसे लिप्त न होनेका निरूपण एवं सङ्कल्प्याग, ब्रह्मार्पण,

### ईश्वरार्पण, संन्यास, ज्ञान और योगकी परिभाषा

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—अर्जुन ! तुम ख्यय जरा-मरणसे रहित नित्य चिन्मय वास्तवखरूप हो । तुम 'पारनेवाले' नहीं हो, अतः इस अभिमानरूप दोषका त्याग कर दो । क्योंकि जिस पुरुषके अन्तःकरणमें 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मात्र नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और कर्मोंमें लिप्त नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बँधता है । इसलिये 'अयम्' यानी यह संसार 'सोऽहम्' यानी वह मारनेवाला मैं, 'इहम्' यानी यह देह और 'तम्मे' यानी वे बन्धु आदि मेरे हैं—इस तरहथी अन्तःकरणमें उत्पन्न हुई बुद्धिका त्याग कर दो । क्योंकि भारत । इसी बुद्धिचृतिके कारण 'मैं पापोंसे युक्त हूँ', 'मैं विनाशकीज हूँ' इत्यादि भावनियोंके अधीन होकर

तुम धारों और सुख-दुःखोंसे संनत हो रहे हो । वास्तवमें सम्पूर्ण कर्म अपनी आधिके अंशरूप 'गुणोंके द्वारा ही विमागपूर्वक किये जाते हैं; तो भी जिसका अन्तःकरण अहंकारसे मोहित हो रहा है, वह अज्ञानी 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मानता है । महाभा पुरुषके अन्तःकरणमें 'मैं नामकी कोई वस्तु नहीं है; फिर तुम्हारे लिये कौन पदार्थ कल्पकारक है ? अर्थात् कोई नहीं । भारत ! बहुतोंने मिलकर एक साथ जिस कार्यका सम्पादन किया हो, उसमें यदि किसी एकको 'मैंने ही यह किया है' यों अभिमान-ज्ञान दुःख होता है तो वह हास्यास्पद ही है । क्योंकि कर्मयोगी मपत्वशुद्धिरहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा भी आसक्तिको त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं । तथा जिसका शरीर

अहंतारूपी विषसे दूषित नहीं हुआ वह रागादिरूपी हैजेसे मुक्त योगी कर्म करते हुए और न करते हुए भी लित नहीं होता । जैसे विशेषी और लीकिक विषयोंका शास्त्र होनेपर भी दुष्ट-प्रकृति पुरुष कहीं शोभा नहीं पाता, वैसे ही ममतारूपी दोपसे दूषित मनुष्य कहीं भी शोभा नहीं पाता । जो ममता और अहंकारसे रहित, सुख और दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावाल् है, वह मनुष्य कर्म करता हुआ भी उनसे लित नहीं होता । पाण्डुपुत्र ! यह शास्त्रविहित उत्तम क्षाश्रकर्म तुम्हारा खर्कर्म है । वह मनु-व्यवरूप होनेसे भूर होनेपर भी कर्तव्यखुदिसे किये जानेपर सुख, अनुदय और कल्याणका जनक है ।

धनंजय ! तुम आसक्तिको त्यागकर योग—सम्मतमें स्थित हुए कर्तव्यकर्त्तोंको करो । क्योंकि आसक्तिरहित होकर न्यायसे प्राप्त कर्म करनेवाला मनुष्य कर्मेंसि नहीं बँधता । तुम शान्तिमय ब्रह्मसूखप होकर कर्मको ब्रह्मपय बना दो । अपने सलक्षणोंको ब्रह्मार्पण कर देनेपर तुम शीघ्र ब्रह्म ही हो जाओगे । अपने सम्पूर्ण खायोंको परमेश्वरमें समर्पितकर तथा अपने-आपको भी परमेश्वरमें समर्पितकर पापरहित हुए एवं सर्वभूतोंका आत्मा बनकर इस भूतत्वको विश्वसित करते हुए तुम परमात्मा बन जाओ । तुम सभी संकल्पोंसे रहित हो; इसलिये अब समख्यरूप, शान्तिचित्त मुनि बनकर कर्मफलत्यागरूपी संन्यासयोगमें आत्माको युक्त करके कर्म करते हुए ही मुक्त हो जाओ ।

अर्जुनने पूछा—भगवन् । सङ्कृत्याग, ब्रह्मार्पण, ईश्वरार्पण, सर्वथा संन्यास तथा ज्ञान और योगका विषयाग्र क्षया है ? प्रभो ! मेरे मोहकी निष्ठुतिके लिये यह सब कहिये ।

श्रीभगवान्नने कहा—सारे संकल्पोंकी भलीभौति शान्ति हो जानेपर सम्पूर्ण वासनाओं और भावनाओंसे रहित जो विशुद्ध केवल चेतनतत्त्व है, वही परब्रह्म परमात्मा कहा गया है । संस्कारके द्वारा पवित्र शुद्धिवाले पुण्योंने उस परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिके साधनको ही ज्ञान कहा

है और उसीको योग कहा है तथा 'सम्पूर्ण संसार इस ही है', और 'मैं भी ब्रह्मरूप ही हूँ'—इस प्रकार अपने आपको ब्रह्ममें अर्पण कर देनेको ब्रह्मार्पण कहा है एवं सम्पूर्ण कर्मफलोंके त्यागको ज्ञानियोंने संन्यास कहा है । संकल्प-समूहोंका जो त्याग है, वही असत्त्व ( आसक्तिका अभाव ) कहा गया है । आसक्तिके अभावका नाम ही सङ्कृत्याग है । सभी संकल्प-विकल्प समूहोंमें जो एक ईश्वरकी भावना है तथा जीव और ईश्वरके एकत्रिकी भावना है, उसीको जीवात्माका ईश्वरमें अर्पण कहा गया है । क्योंकि अज्ञानके कारण ही चेतन परमात्मामें इन जीव और जगत् आदिका नामभाव ही मैद है । वास्तवमें यह नाम-रूपात्मक सम्पूर्ण जगत् ज्ञान-सूखप है; अतः जगत् एक ब्रह्मपय ही है, इसमें तनिक भी संवाद नहीं है । अर्जुन ! हिशार्दे मैं हूँ, जगत् मैं हूँ, आत्मा मैं हूँ और कर्म भी मैं ही हूँ । काल मैं हूँ, अद्वैत और हैत—सब मैं ही हूँ । इसलिये मुझमें मन लगाओ, मेरे भक्त बनो, मेरे पूजक बनो, मुझको प्रणाम करो । इस प्रकार आत्माको मुझमें निषुक्त करके मेरे पराणग होकर तुम मुझको ही प्राप्त होओगे ।

अर्जुनने पूछा—देवेश ! आपके पर और अपर—दो रूप नित प्रकारके हैं और परमपदरूप सिद्धिके लिये किस समय किस रूपका आश्रय लेकर मैं स्थित रहूँ ?

श्रीभगवान्नने कहा—निष्पाप अर्जुन ! यह जान लो कि मेरे दो रूप हैं—एक तो सामान्य रूप और दूसरा परम रूप । शङ्ख, चक्र, गदा और पश्च धारण करनेवाला चतुर्मुख साकाररूप तो मेरा सामान्य रूप है और जो वेरा विकारहित, अद्वितीय, आदि और अन्तसे रहित निर्णय निराकार रूप है, वह परम रूप है; वही इस, शुद्ध आत्मा, परमात्मा आदि शब्दोंसे कहा जाता है । तुम सम्प्रबुद्ध होकर परम दद्वाष, आदि और अन्तसे रहित मेरे उस रूपको जान जाओगे, जिसके जानसे प्राप्ती इस संसारमें किर उत्पन्न नहीं होता । अरिमिदन ! पर्ति

तुम ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करनेके योग्य हो तो मुझ परमेश्वर-  
की आत्माको और अपनी आत्माको एकरसकर व्यवहृत  
परिपूर्णत्वाका तत्त्वाल आश्रय ले लो । ‘यह मैं हूँ’ और  
‘यह मैं भी हूँ’ इत्यादि जो कुछ मैं कहता हूँ, वह सब  
इस आत्मतत्त्वाका ही उपदेश मैं तुम्हें देता हूँ । मैं  
समझता हूँ कि मेरे उपदेशसे तुम भली प्रकार प्रबुद्ध हो  
जुके हो, ग्रहणपदमें विश्रान्ति पा जुके हो और सर्व-  
संकल्पोंसे भी मुक्त हो जुके हो । अब तुम सत्य एवं  
अहितीय आत्मलक्षण होकर स्थित रहो एवं सर्वव्यापी  
अनन्त चेतनमें एकीमात्रसे स्थितिरूप । योगसे युक्त  
और सबको समभावसे देखनेवाले तुम आत्माको  
सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें कल्पित  
देखो—अर्थात् एक परमात्माके सिवा और कुछ नहीं है,  
ऐसा समझो । क्योंकि जो पुरुष ‘सब कुछ ग्रह ही है’  
मैं भी ग्रह ही हूँ इस प्रकार एकीमात्रका आश्रय लेकर  
सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित परमात्माको भजता है, वह सब  
प्रकारसे व्यवहार करता हुआ भी पुनः इस संसारमें  
उत्पन्न नहीं होता, अर्थात् वह परमपदको प्राप्त हो जाता  
है । ‘सर्व’ शब्दका अर्थ है—एकत्र और वह एकत्र  
परमात्माका वाचक है । वह परमात्मा प्रत्यक्ष प्रतीत न  
होनेके कारण सद् भी नहीं कहा जा सकता और धूम  
सत्य भवरूप होनेके कारण असद् भी नहीं कहा जा  
सकता; अतः वह सद-असदसे विलक्षण है । धृत  
जिसके अनुभवमें आ जाता है, उसे शीघ्र ही प्राप्त हो  
जाता है । जो तीनों लोकोंके अन्तःकरणके भीतर स्थित  
हुआ प्रकाश देता है और जो ज्ञानियोंके अनुभवमें  
प्रत्यक्ष है, निष्पत्य ही वही मैं परमात्मा हूँ ।

सम्पूर्ण शरीरोंके भीतर जो इस संसारसे रहित  
और सूखरूपसे व्यापक अनुभवस्तरूप है, वही यह  
सर्वव्यापी परमात्मा है । बाहर-भीतर प्रकाश करनेवाला  
तेजस्तरूप मैं देखोंके भीतर प्रत्यक्ष विश्वान रहता हुआ

भी प्रतीत नहीं होता । जिस तरह हजारों घड़ोंके बाहर  
और भीतर आकाश समभावसे व्यापक है, उसी तरह भूत,  
मविष्य, वर्तमान—तीनों जगत्‌में स्थित शरीरोंके भी बाहर  
और भीतर मैं व्यापक हूँ; किंतु लाखों देहोंके भीतर सम-  
भावसे व्यापक हुआ भी यह परमात्मा सूक्ष्म होनेके कारण  
प्रतीत नहीं होता । ब्रह्मसे लेकर तुष्णपर्यन्त जितना भी  
पदार्थ-समूह है, उसमें जो समभावसे नित्य स्थित है,  
विद्वान्‌ग्रेग उसे ही नित्य चिन्तय परमात्मा जानते हैं ।  
विनाशशील पदार्थोंमें साक्षीकी भौति समभावसे स्थित  
अविनाशी परमात्माको जो देखता है, वही यथार्थ देखता  
है । पाण्डुनन्दन । ‘समस्त शरीरोंमें चेतन ही मैं हूँ,  
शरीर मैं नहीं हूँ’ इस प्रकार जो मैं कहता हूँ, वह  
अहितीय परमात्मा मैं सबका आत्मा हूँ । तुम मुझे इस  
प्रकार तत्त्वतः जानो । जिस प्रकार पर्वतोंका वास्तविक  
स्वरूप पापाण ही है, शूक्रोंका स्वरूप काष्ठ ही है और  
तरङ्गोंका स्वरूप जल ही है, उसी प्रकार सम्पूर्ण पदार्थोंका  
वास्तविक स्वरूप परमात्मा ही है । जो पुरुष परमात्माको  
सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित और सम्पूर्ण भूतोंको परमात्मामें  
कल्पित देखता है एवं आत्माको अकर्ता देखता है, वही  
यथार्थ देखता है । अर्जुन ! नाना प्रकारके आकार-विकारों-  
वाले तरङ्गोंमें जैसे जल व्यापक है या कट्टे-कुण्डल आदियोंमें  
सुर्क्षण व्यापक है, वैसे ही विविध प्रकारके समस्त प्राणियोंमें  
परमात्मा समभावसे व्यापक है । तथा जिस प्रकार जलमें  
नाना प्रकारके चक्रल तरङ्ग-समूह हैं या सुर्वर्णमें कट्टे-कुण्डल  
आदि हैं, उसी प्रकार परमात्मामें ये समस्त भूत-ग्राणी  
भी हैं । इसलिये भारत ! सम्पूर्ण पदार्थ और भूत-ग्राणी एवं  
परम ग्रह—इन सबको एकत्रूप ही जानो, इनमें लेशमात्र  
भी पृथक्त्व नहीं है । इस प्रकारके उपदेशोंको सुनकर  
और निश्चयपूर्वक भीतर अभय ग्रहकी भलीभौति भावना करके  
समझुद्दि महात्मालोग जीवन्मुक्त होकर इस संसारमें विचरा  
करते हैं । जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिरूप दोषको जीत लिया है, जिनकी

परमात्माके सत्त्वरूपमें नित्य स्थिति है और जिनकी कामनाएँ विमुक्त ज्ञानीजन उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं। पूर्णरूपसे नष्ट हो गयी हैं—ने सुख-दुःखनामक द्वन्द्वोंसे ( सर्ग ५३ )

### श्रीकृष्णके द्वारा अर्जुनके प्रति कर्म और ज्ञानके तत्त्व-नहसका प्रतिपादन

श्रीभगवान् ने कहा—महाबाहो अर्जुन ! तुम फिर भी मेरे परम रहस्य और प्रभावयुक्त अचनको सुनो, जिसे मैं अतिरात्र ग्रेम रखनेवाले तुम्हारे लिये हितकी हच्छासे कहूँगा । कुन्तीपुत्र ! सर्वी, गर्भी और सुख-दुःख-को देनेवाले इन्द्रिय और विषयोंके संयोग तो उत्तिति-विनाशशील और अनित्य हैं; इसलिये भारत ! उनको तुम सहन करो । इन्द्रियों, इन्द्रियोंका विषय-संसर्ग, सुख-दुःख आदि दृढ़ या इनसे मिन जो कुछ भी पदार्थ हैं, वे सबके-सब एक समिदानन्दधन परमात्मासे तनिक भी पृष्ठक् नहीं हैं अर्थात् सब कुछ परमात्मा ही है । अतः फिर, सुख और दुःख कहाँ ? आदि-अन्तर्से रहित तथा अवयवहीन परमात्मामें पूर्णता और अपूर्णता कैसे हो सकती है । इसलिये जो पुरुष सुख-दुःखमें समान और धीर है, वह अमृतमय प्रक्षेपदको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है । वास्तवमें सभी तद्वारे सुख-दुःखोंका अस्तित्व तनिक भी नहीं है । परमात्मतत्त्व ही सर्वखलूप है, इसलिये अनासररूप संसारकी सत्ता कैसे स्थिर होगी । क्योंकि असत् वस्तुकी तो सत्ता है नहीं और सत् का अभाव नहीं है अतएव सुख-दुःख आदि हैं ही नहीं, केवल एक सर्वव्यापी परमात्मा ही है । अर्जुन ! यथापि आत्मा दृश्य पदार्थोंका साक्षीरूपसे साक्षात्कार करनेवाला चेतनखलूप है और शरीरके अंदर रहता भी है, तथापि वह सुखोंसे न तो दृष्टि होता है और न दुःखोंसे दुखित ही है । परमात्मसे पृष्ठक् देह आदि कुछ भी नहीं है और न दुःख आदि ही हैं; अतः वास्तवमें कौन किसका अनुभव करेगा ? क्योंकि एक परमात्माके सिवा दूसरी वस्तु है ही नहीं । भारत ! वह दुःख अज्ञानसे उत्पन्न एक प्रकारकी भाविति ही है

अतः परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे वह सर्वथा विनष्ट हो जाता है । जिस प्रकार रजुका यथार्थ तत्त्व न जाननेसे उत्पन्न हुआ रजुमें सर्पका भय रजुके यथार्थ ज्ञानसे नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार अज्ञानसे उत्पन्न हुए देह पर्व दुःखादिका अस्तित्व परमात्माके तात्त्विक ज्ञानसे नष्ट हो जाता है । यह विश्व नित्य एवं पूर्ण ग्रन्थ ही है । वह ग्रन्थ न तो नष्ट होता है और न उत्पन्न ही होता है, इसे ही भूत सत्य जानो । यही यथार्थ बोध है ।

अर्जुन ! तुम मान, मद, शोक, मय, इच्छा, सुख, दुःख—इस सम्पूर्ण असद्ग्रप्त जड़ द्वैत-प्रपञ्चसे रहित हो जाओ और एकमात्र अद्वितीय चिन्मय सत्त्वखलूप परमात्मामें तट्टूप हो जाओ । भारत ! सुख-दुःख, लाम-हानि, जय और पराजयके ज्ञानसे रहित होकर तुम एकमात्र शुद्ध ब्रह्मरूप हो जाओ; क्योंकि तुम ब्रह्मरूप ही हो । अर्जुन ! तुम जो कर्म करते हो, जो खाते हो, जो हृत्व करते हो, जो दार्त देते हो और समिध्यमें जो कुछ ज्ञानानुकूल अनुशान करोगे, वह सब परमात्मरूप ही है—इस प्रकारके ज्ञानमें स्थिर रहो । जो पुरुष अपने वस्त्वःकरणमें जिस पदार्थमा संकल्प करता है, वह निस्संदेह उसी रूपमें बदल जाता है । इसलिये अर्जुन ! सत्यखलूप ब्रह्मको प्राप्त करनेके लिये तुम सत्यखलूप ब्रह्म हो जाओ । क्योंकि जो पुरुष विनाशशील क्रियारूप संसारमें अक्रिय समिदानन्द ब्रह्मको स्थित देखता और अक्रिय समिदानन्द द्रष्टव्यमें विनाशशील क्रियारूप संसारको कल्पित देखता है, वह मनुष्योंमें ज्ञानवान् है और भव्यर्ग कर्त्तव्ये भर जुकता है—ऐसा कहा गया है—इसलिये अर्जुन ! तुम कर्मोंमें वासना तथा कर्माणवके अभियानसे रहित हो

जाओ । तुम्हारी कर्मोंको न करनेमें आसक्ति न हो और तुम योगमें स्थित हुए अनासक्तभावसे शास्त्रविहित कर्त्तव्यकर्मोंका आचरण करो । मृदुता, अकर्मस्थिता तथा कर्मोंमें आसक्तिके आश्रयसे रहित हुए सबमें समझाव होकर स्थित रहो । जो पुरुष समस्त कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्तिका सर्वथा त्याग करके संसारके आश्रयसे रहित हो गया है और परमात्मामें नित्य तृप्त है, वह कर्मोंको भलीभांति करता हुआ भी वास्तवमें कुछ नहीं करता । इसलिये अर्जुन ! तुम हर्ष-शोकादि हृदयोंसे रहित, नित्य वस्तु परमात्मामें स्थित, योग-क्षेमको न चाहनेवाले और स्वाधीन अन्तःकरणवाले हो जाओ एवं न्यायसे प्राप्त शास्त्रोंका कर्मोंको करते हुए पृथीको विभूषित करनेवाले आदर्श पुरुष बन जाओ । जो मृदुत्वद्वारा मनुष्य समस्त इन्द्रियोंको हठपूर्वक ऊपरसे रोककर मनसे उन इन्द्रियोंके विशयोंका चिन्तन करता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है । किंतु अर्जुन ! जो पुरुष मनसे इन्द्रियोंको वशमें करके अनासक्त हुआ समस्त इन्द्रियोंद्वारा कर्मयोगका आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है । जैसे नाना नदियोंके जल सब ओरसे परिषुर्ण, अचल प्रतिष्ठावाले समुद्रमें उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रब्रह्म पुरुषमें विस्तीर्ण प्रकारका विकार उत्पन्न किये जिन्हाँ ही समा जाते हैं, वही पुरुष परम शान्तिको प्राप्त होता है, मोर्गोंने चाहनेवाला नहीं । ( सर्ग ५४ )

### श्रीकृष्णके द्वारा अर्जुनके ग्रति देहकी नश्वरता, आत्माकी अविनाशिता, भलुध्योंकी मरणस्थिति और सर्व-नरकादिकी ग्रासि एवं जीवात्माके संसारभ्रमणमें कारणरूप धासनाके

#### नाशसे गुक्किका ग्रतिपादन

श्रीभगवान्ने कहा—पर्य ! बुद्धिमान् पुरुषको उचित है कि प्रारम्भानुसार न्यायसे प्राप्त भोगोंका त्याग न करे और अप्राप्त भोगोंको पानेकी इच्छा न करे एवं न्यायसे प्राप्त भोगोंका शाशान्कूल उपभोग करते हुए भी समझाव-से स्थित रहे । महाबाहु अर्जुन ! जन्मादि विकारस्थभाववाले अनारम्भ जड़ देहमें मै-पनकी भावना मत करो, अपितु जन्मादि विकारसे रहित सत्य विन्द्य आत्मामें ही आत्माकी भावना करो । देहका नाश होनेपर अविनाशी आत्माका नाश नहीं होता । इसलिये सम्पूर्ण परिग्रहोंसे

ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं । जो सम, सौम्य, स्थिर, स्वस्त, शान्त और सब पदार्थोंसे निःस्पृह होकर स्थित रहता है, वह कर्म करता हुआ भी वास्तवमें कुछ नहीं करता । इसलिये अर्जुन ! तुम हर्ष-शोकादि हृदयोंसे रहित, नित्य वस्तु परमात्मामें स्थित, योग-क्षेमको न चाहनेवाले और स्वाधीन अन्तःकरणवाले हो जाओ एवं न्यायसे प्राप्त शास्त्रोंका कर्मोंको करते हुए पृथीको विभूषित करनेवाले आदर्श पुरुष बन जाओ । जो मृदुत्वद्वारा मनुष्य समस्त इन्द्रियोंको हठपूर्वक ऊपरसे रोककर मनसे उन इन्द्रियोंके विशयोंका चिन्तन करता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है । किंतु अर्जुन ! जो पुरुष मनसे इन्द्रियोंको वशमें करके अनासक्त हुआ समस्त इन्द्रियोंद्वारा कर्मयोगका आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है । जैसे नाना नदियोंके जल सब ओरसे परिषुर्ण, अचल प्रतिष्ठावाले समुद्रमें उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रब्रह्म पुरुषमें विस्तीर्ण प्रकारका विकार उत्पन्न किये जिन्हाँ ही समा जाते हैं, वही पुरुष परम शान्तिको प्राप्त होता है, मोर्गोंने चाहनेवाला नहीं । ( सर्ग ५४ )

अङ्गानी मलुष्य ही आत्मामें आत्माको अनात्मरूपसे देखते हैं थानी देहको ही आत्मा मानते हैं । तथा यह नष्ट हो गया और यह प्राप्त हो गया—इत्यादि भावनाएँ कन्धा कीके पुत्रके समान मोहजनित रूप ( असत् ) हैं । असत् बस्तुकी तो सच्चा नहीं है और सत्तका अभाव नहीं है । इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वानी पुरुषोऽत्रा देखा गया है । नाशरहित तो तुम उसको जानो, जिससे यह सम्पूर्ण जगत्—दृश्यर्थी व्याप्त है । इस अविनाशीका विनाश करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है । इस नाशरहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप जीवात्मा-के ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं । इसलिये भरतवंशी अर्जुन । तुम युद्ध करो । आत्मा एक है और हैत है ही नहीं; अतः आत्माके सिवा दूसरे असद् पदार्थकी उत्पत्ति हो कैसे सकती है । क्योंकि सत्तका नाश नहीं होता, इसलिये यह सद्वूप परमात्मा अविनाशी और अनन्त है ।

अर्जुनने पूछा—भगवन् । तब तो मैं मर गया हूँ इस प्रकार मलुष्योंकी मरणस्थिति किस हेतुसे प्राप्त होती है और उस श्लिष्टिमें प्रभो ! लोगोंको प्रसिद्ध सर्ग और नरक कैसे प्राप्त होते हैं :

श्रीभगवान् ने कहा —अर्जुन ! पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन और बुद्धि—इनसे युक्त तन्मात्राओं-का जो समूह है, अङ्गानसे तत्त्वरूप हुआ ही जीव देहोंमें शित् रहता है । वह देहमें शित् जीवात्मा वासनासे उसी तरह खींचा जाता है, जिस तरह रसीसे बछड़ा । वह शरीरके अंदर पिंजरेमें पक्षीकी तरह बैठा रहता है । जब देश और कालसे जर्ब छुप शरीरसे यह जीव वासना लेकर निकल जाता है, तब इसीको लोग मरना कहते हैं । जैसे आगु गन्धकके स्थानसे गन्धको महण करके ले जाता है, वैसे ही यह जीवात्मा श्रोत्र, अङ्ग और स्वचाक्षों तथा रसना और ग्राणको महण करके पूर्व शरीरसे दूसरे शरीरमें चल जाता है । इसका शरीर

वासनामय ही है यानी केवल वासनाके अनुसार ही उत्पन्न हुआ है, अन्य किसी दूसरे कारणसे नहीं । अतएव वासनाका त्याग होनेपर लिङ्गदेह विनष्ट हो जाता है और उस लिङ्गदेहके विनष्ट हो जानेपर वह जीवात्मा परमपद-को प्राप्त हो जाता है । यह वासनामय जीव वासनासे परिपुष्ट होकर अङ्गानसे अनेक अर्थोंका मार दोता हुआ कर्मानुसार नाना योनियोंमें भ्रमण करता है; यही जीवात्मा-का जन्म-मरण है । कुर्त्तिपुत्र अर्जुन । शरीरसे जीवके निकल जानेपर देह इसी प्रकार उत्पन्नशून्य हो जाती है, जिस प्रकार वायुके शान्त हो जानेपर शून्य । जब शरीर जीवात्मासे रहित हो जाता है, तब वह ‘मर गया’ ये कहा जाता है । अनादि अविद्यासे भूद्युद्धि यह जीव अपने कर्म और वासनाके अनुसार नरक, सर्ग, ( इसी लोकमें ) पुनर्जन्म आदि, जिनमें भ्रमण करनेका उसने विकल्पसे अभ्यास किया है, अनुभव करता रहता है ।

अर्जुनने पूछा—जगत्से । इस जीवका सर्ग, नरक, मर्त्यलोक आदिमें जो भ्रमण होता है, उसमें कारण क्या है, यह आप मुझसे कहिये ।

श्रीभगवान् बोले—अर्जुन ! विरकालिक अभ्याससे ग्रीष्म हुई सून्तुतुल्या यह वासना ही जीवको संसाररूप भूलमुलैयामें ढालती है; इसलिये तत्त्वज्ञानके अभ्याससे वासनाका समूल क्षय ही जीवके द्विये घन्याणकारक है ।

अर्जुनने पूछा—देवदेवेश ! यह वासना किससे उत्पन्न हुई और वह किस प्रकार नष्ट होती है ?

श्रीभगवान् बोले—कौन्तेय ! अनात्मरूप देहमें आत्ममात्रारूप यह वासना अङ्गानस्वरूप मोहसे उत्पन्न हुई है और परमात्माके यथार्थ अनुभवरूप हानसे यह विनष्ट हो जाती है । तुम पश्चिमात्मा हो चुके हो और सूख बस्तुका विवेक भी तुम्हें हो चुका है । अब तुम ‘थहं’, ‘थहं’, ‘मैं’ और ‘ये दोग’ इत्यादि-रूप वासनासे रहित हो जाओ । क्योंकि भारत ! दूसरेके वधीन न रहनेशब्दा, तंकल्परहित वैर वर्दिनाशी

जीवात्माका परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे वासनासे छूट जाना ही उसका 'भोक्ष' है। महाबाहु अर्जुन । वासनाखण्ड रख्योंके बन्धनसे छूटा हुआ पुरुष 'मुक्त' कहा जाता है। अतः तुम वासनासे रहित होकर जीते-जी ही उस वास्तविक यथार्थ तत्त्वका अनुभव करो। जो

वासनासे रहित नहीं है,—मले ही वह समस्त धर्मोंके परायण क्यों न हो; सर्वज्ञ यानी समस्त सांसारिक विश्वोंका पण्डित ही क्यों न हो—फिर भी वह पिंजरेमें स्थित पंछीकी मौति सब औरसे वासना-जालसे बँधा हुआ है। क्योंकि वासना ही बन्धन है और वासनाका क्षय ही मौक्ष है।

( सर्ग ५५ )

### श्रीभगवान्‌के द्वारा अर्जुनके ग्राति जीवन्मुक्त अवस्था और जगद्वूप चित्रका वर्णन एवं वासनारहित और ग्राहस्वरूप होकर स्थित रहनेका उपदेश तथा इस उपदेशको मुनकर तत्त्वज्ञानके

#### द्वारा अर्जुनकी अविद्यासहित वासनाका और मोहका नाश हो जाना

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—अर्जुन ! इस प्रकार वासना-निवृत्तिखण्ड जीवन्मुक्तिके द्वारा तुम आनन्दरिक शान्ति प्राप्तकर बन्धुवधप्रयुक्त दुःखका निःशेरूपसे परित्याग कर दो। निष्पाप अर्जुन ! जरा और मरणसे रहित, आकाशकी तरह विशाल विचाले तथा इष्ट एवं अनिष्ट विश्वोंके संकल्पोंसे रहित होकर तुम धीतराग हो जाओ। सदासे चल आनेवाला स्वर्वर्मखण्ड कर्म जो समभावसे किया जाता है, वह तो जीवन्मुक्तोंके लिये स्वामाणिक ही है और वही जीवन्मुक्तता है। 'यह कर्म मैं छोड़ता हूँ' और 'इस कर्मको मैं बहुकार बताता हूँ'—इस प्रकार जो त्याग और प्रह्लणका निर्णय है, वह एकमात्र अज्ञानियोंके मनका खण्ड है; ज्ञानियोंकी तो उनमें सम स्थिति होती है। जिसकी इन्द्रियों कछुएके अहोंकी मौति इन्द्रियोंके विश्वोंसे हटकर अतःकरणमें स्थिर हो जाती है, वही स्थितप्रश्न और जीवन्मुक्त है। कमलनयन ! वास्तवमें यह संसार आकाशसे भी कहकर वैसे ही शून्यखण्ड है, जैसे सम्प्रमें क्षणमात्रमें वित्तमें होनेवाले तीर्नों लोकोंका नाश और उत्पत्ति—यह तुम जानो। क्योंकि आत्मा, मन और उसका कार्य यह वादा और आभ्यन्तर सम्पूर्ण जगत् खण्डकी तरह शून्य है ( असर ही है )। यह सब चित्रकालिक मनोराज्य है, इसलिये अज्ञानी मनुष्योंको इसमें सत्पत्तकी

प्रतीति होती है। किंतु वह सत्पत्तकी प्रतीति तत्त्व-ज्ञानखण्ड आलोकसे नष्ट हो जाती है। चित्रखण्ड चित्रोंके चित्रमें अवस्थित विशुद्धन आदि चित्रम् भूतियों आधारमूल भीतके न रहनेसे बाहर आकाररहित यानी मिथ्या ही हैं। अर्जुन ! वास्तवमें न तो उन चित्र-कर्त्तिपत मूर्तियोंका अस्तित्व है और न तुम्हारे शरीरका ही अस्तित्व है; इसलिये कौन किससे मारा जाता है ? अतः नाश्यनाशकक्षा मोह छोड़कर तुम निर्मल बनकर बद्धखण्ड परमपदमें स्थित हो जाओ। अर्जुन ! जैसे एकमात्र चित्रमें रहनेवाला मनोराज्यखण्ड चित्र आकाशरात्राला प्रतीत होता हुआ भी वास्तवमें शून्यखण्ड होनेसे असत् ही है, वैसे ही यह जगत् भी शून्यखण्ड है—यह तुम जानो। अर्जुन ! मन ही क्षणको कल्प कर देता है और असत्को उत्पन्न कर देता है—यह जो मनके विषयमें आकर्ष्य है, वह तो बहुत ही थोड़ा है; उससे भी अहकर तो आकर्ष्य यह है कि वह असत् जगत्को भी शीघ्र सदूप कर देता है। इसलिये यह जगद्वूप भान्ति इस प्रकारके आकर्ष्य पैदा करनेवाले मनसे ही उत्पन्न हुई है। क्षणभरके लिये ही अज्ञानवश चित्र-विचित्रत्वखण्ड प्रतीत हुआ जो यह मनोराज्य है, वही दृश्यमान इस प्रपञ्च-जालके खण्डमें प्रतीत होता है। यथापि ज्ञानियोंकी दृष्टिमें खतः नियमुक्त आत्मामें

अध्यरुद्ध और एकमात्र कल्पनासे उत्पन्न होनेके कारण प्रतीतिकाल्मात्रस्यायी यह तुच्छ जगत् क्षणिक ही है, तथापि इसी क्षणिक जगत्के विश्वमें इसके वासनिक स्वरूपसे अपरिवित अङ्गानी लोगोंने अङ्गसारकी तरह दृढ़ कल्पना कर रखी है अर्थात् इस असत् जगत्को सत्य मान रखा है। अहो ! अत्यन्त आर्थर्य है कि यह उज्ज्वल वित्र आधारके बिना ही उत्पन्न होकर सामने दिखलायी दे रहा है। यह जगद्रूप वित्र भलीमौति लोगोंका अनुरक्षण करनेवाला है और दृष्टि, मन आदिको भी छुपानेवाला है। यह नाना प्रकारके प्राणियोंसे युक्त है, अद्भुत है, आकाशके समान शून्यरूप है और नाना प्रकारके विलसोंसे बेहित भी है। इस प्रकारके इस जगद्रूप वित्रका शीघ्र ही अद्भुत चित्रोंका निर्माण करनेमें समर्थ वित्तरूप वित्रकाले आकाशमें ही वित्रण किया है।

अर्जुन ! चेतन आकाशस्वरूप ब्रह्मसे निर्भित सब कुछ ब्रह्म ही है। ब्रह्ममें ब्रह्मके द्वारा ब्रह्म विलीन होता है। ब्रह्ममें ही ब्रह्मके द्वारा ब्रह्मका उपमोग किया जाता है और ब्रह्मद्वय ब्रह्ममें ब्रह्मका ही वित्तार हुआ है। जैसे प्रतिकिञ्च अपने आधार दर्पणमें प्रतीत होता है, वैसे ही यह जगत् भी अपने आधार ब्रह्ममें ही प्रतीत होता है। अर्जुन ! जब ब्रह्ममें प्रतिमासित द्वेदन-भेदन आदि सम्पूर्ण व्यवहार और उनका विषय जगत्—ये सब ब्रह्मसे अभिन्न होकर एकमात्र विन्मय आकाश-स्वरूप ही हैं, तब किस कर्ता या करणसे किस प्रकारसे किस देश या किस कालमें क्या धिन्मिन किया जा सकता है। इसलिये बोधसे तुम्हारी वासनाओंका अभाव सिद्ध ही है। जो वासनासे रहित नहीं है, मले ही वह सुमत्त शाश्वीय कर्मोंके परायण हो और समस्त सांसारिक विचारोंका छाता हो; फिर भी वह वैसे ही अत्यन्त अद्भुत है, जैसे पिंजरेमें स्थित सिंह। जिसकी वित्तरूपी भूमिये अणुमात्र भी वासनारूप बीज पदा

रहता है, उसका संसाररूप जंगल पुनः बढ़ जाता है। जब सत्यस्वरूप परमात्माका यथार्थ ज्ञान अश्यासके द्वारा दृढ़यमें दृढ़ हो जाता है, तब वासना पूर्णतया नष्ट हो जाती है और वह फिर उत्पन्न नहीं होती। वासनाओंके पूर्णतया नष्ट हो जानेपर विशुद्ध जीवात्मा सांसारिक सुख-दुःखादि वस्तुओंमें बैसे ही प्रिय नहीं होता, जैसे पानीमें कपलका पता। अर्जुन ! असरूप वासनाओंसे रहित तुम मुझसे मुने हुए पवित्र उपवेशको भवीमौति समक्षकर परमात्मामें चित्त-को विलीनकर मय और मोहसे रहित एवं शान्त निर्वाण ब्रह्मस्वरूप हुए स्थित रहो।

अर्जुनने कहा—अच्युत ! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्फूर्ति प्राप्त कर ली है। अब मैं संज्ञरहित होकर स्थित हूँ, अतः आपकी आहाका पालन करूँगा।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—अर्जुन ! यदि परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे तुम्हारे दृढ़यमें रागादि दृतियों अशेषरूपसे शान्त हो चुकीं तो तुम जान लो कि तम्हारा सत्त्वासनात्मक चित्त भी भीनर शान्त होकर निर्वासनताको प्राप्त हो गया। इस सत्त्वावश्यमें सर्वस्वरूप जीवात्मा सम्पूर्ण वासनाओं और विषयोंसे मुक्त हो जाता है। उस जीवात्माके यथार्थ स्वरूपको कोई भी उसी प्रकार नहीं देख सकते, जिस प्रकार भूमिसे आकाशमें उड़कर दूर दैशमें गये हुए पक्षीको। पार्थ ! मन-इन्द्रियोंके प्रकाशक, शुद्धस्वरूप, संकल्परहित, निर्विषय इस जीवात्माको मन-इन्द्रियोंसे दूर समझो। जैसे अभिन्नके पर्वतपर पहुँचकर हिमकण सर्वथा नष्ट हो जाते हैं, जैसे ही शुद्ध सम्प्रिदानन्दधन परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे अविद्या भी नष्ट हो जाती है। नाना प्रकारके आकर और विकारेवाली यह अविद्या तभीनक रहती है, जबतक जीवात्मा अपने वासनिक स्वरूप—विशुद्ध विज्ञानानन्दधन परमात्माको भवीमौति नहीं जान सकता। जो समग्र परमात्मा अपने आपसे परिषुर्ग है, समस्त

इस्य संसारसे रहित है और वाणीसे अतीत है, उस अनुपम परम वस्तु परमात्माकी किसके साथ उपसा दी जा सकती है अर्थात् किसीके साथ नहीं। इसलिये अर्जुन ! तुम अभीष्ट कामनाओंकी निवृत्तिरूप युक्तिसे विषयात्मक विपसे उत्पन्न महामारीरूप अन्तकरणकी वासनाको निपुणतापूर्वक दूर कर संसारसे तथा समूर्ण भयोंसे रहित परमात्मस्तरूप ही हो जाओ।

श्रीकृसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! इस प्रकार उपदेश देकर त्रिलोकीके अविषयि भगवान् श्रीकृष्णवन्द्रके क्षणमरके लिये मौन धारण कर समझे स्थित हो जाने-पर वहाँ ( द्वापर युगमें ) पाण्डुपुत्र अर्जुन पुनः यह वचन करेगा ।

अर्जुनने कहा—मगवन् । आप सम्पूर्ण लोकोंका भरण-ग्रोषण करनेवाले हैं । आपके वचनसे मेरी यह बुद्धि शोकरहित और ज्ञानसम्पन्न हो गयी है ।

श्रीकृसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! इस प्रकारके वचन कहकर और उठकर गाढ़ीच-भुजुर्खी वह पाण्डुपुत्र अर्जुन, जिसके सारथि श्रीकृष्ण होंगे, सदेह-रहित हुआ रणलीला करेगा । वह अर्जुन पृथ्वीको ऐसी रक्षकी महानदियोंसे पूर्ण कर देगा, जिनमें आहत हुए बड़े-बड़े हाथी, घोड़े, सारथि आदि वह जायेंगे और आकाशको भी ऐसा बना देगा कि सूर्य बाणोंके तण धूलिके समूहोंसे आच्छादित हो जायगा । ( संग ५६-५८ )

### परमात्माकी नित्य सत्ता, जगत्की असत्ता एवं जीवन्मुक्त-अवस्थाका निरूपण

श्रीकृसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! जिससे यह समूर्ण जगत् उत्पन्न होता है, जिसमें समूर्ण जगत् स्थित रहता है, जो समूर्ण जगत्स्तरूप है, जो सब और विषयान है और जो सर्वमय है, उसीको नित्य परमात्मा समझो । वह परमात्मा अश्रद्धालुके लिये दूर होता हुआ भी अश्रद्धालुके लिये समीप ही है । वह सर्वव्यापी होनेसे सबमें स्थित है, एवं जात्वमें ज्ञान और ह्रेयसे रहित सम्बिदनन्द परमपदस्तरूप है । कहीं परमपद सबकी पराकाष्ठा है, वही समूर्ण दृष्टियोंमें सर्वोत्तम है, वही सारी महिमाओंकी सर्वोत्तम महिमा है तथा वही गुरुओंका भी गुरु है । वही सबका आत्मा है और वही विज्ञान है, वही शून्यस्तरूप है, वही परमद्वाह है, वही शान्त और ममूलमय द्वितीय है, वही परम विद्या है और वही परम स्थिति है । उस परमात्मामें यह जागत् अविद्यारसे ही सत्य-सा प्रतीत होता है, किंतु जात्वमें विवेकसूर्वक विचार करनेसे असत् है । आदि और अन्तर्से रहित आकाशके समान व्यापक मैं ही परमस परमात्मा हूँ, मुझसे अतिरिक्त यह संसार कुछ भी

नहीं है—यों निष्पत्य करनेपर फिर व्रजस्तरूप मुझमें परिमितता नहीं वह सकती । जो पुरुष इस प्रकारके विषयसे युक्त रहता है, वह बाहरसे लोक-शास्त्रकी मर्यादा-के अनुसार कार्य करनेपर भी वास्तवमें उत्पत्ति और विनाशसे रहित है । जिसका मन समसे-भी-सम ग्रहणमें लीन होकर फिर न उदित होता है और न अख्य होता है एवं जिसकी बुद्धिमें मनका अमाव है, वह महात्मा ग्रहस्तरूप ही है । एकपात्र ग्रहाभवनासे अद्वितीय परमपद पर आखड़ हुआ वह परमात्मा व्यवहार करता हुआ भी क्षोभको प्राप्त नहीं होता । व्यवहार करते हुए भी जिस पुरुषके हृदयमें मानापमानसे जनित सुख-दुःख आदि विकार तनिक भी नहीं होते, वह पुरुष मुकिका अधिकारी है ।

वह शान्त चेतन परमात्मा अपने-आप ही अपनेमें संकल्प करता है । उसका संकल्प ही संसार है और उसके संकल्प-का अमाव ही परमपद है । इसलिये परमात्माके संकल्पका अमाव होनेसे ही इस संसारका अमाव हो जाता है । अतः मुनिलोग परमात्माके संकल्पको ही ग्रामाता, प्रमाण एवं प्रमेय

आदिरूप संसार-चक्रकी परम्परा कहते हैं। जैसे सुकर्णमें कड़ा-कुण्डल आदि मुष्ठियोंसे पृथक् नहीं हैं, वैसे ही परमात्माका संकल्प यह संसार भी परमात्मासे पृथक् नहीं है। परमात्माके अधार्य ज्ञानसे ही भोग-वासना क्षीण हो जाती है और भोग-वासनाका अथवा ही ज्ञानीका उत्तम लक्षण है। ज्ञान और वैराग्यके कारण तत्त्वज्ञ पुरुषको संसारके भोग सम्भावसे ही रुचिकर नहीं होते। यह संसार सर्वात्मखलूप परमात्मा ही है—इस प्रकारका जिसके हृदयमें इह अनुग्रह है, वही जीवन्मुक्त कहा गया है। किंतु यह जीवात्मा जबतक अज्ञानसे आवृत रहता है,

रहता है, तबतक हृथ विम्बमोगोंमें स्थित हुआ संसार-का संकल्प करता रहता है। तब अन्तकरणमें उत्तम तत्त्वज्ञानका उदय हो जाता है, तब संकल्प-विकल्पका यह क्रम दुष्टे द्वारा दीपककी भाँति शान्त हो जाता है। सुखमार्गश, चैतन्यरूप, समूर्धपदार्थोंका आश्रय और विद्योन्मुखतासे रहित शुद्ध चेतनका जो स्वरूप है, उसे ही तुम परमपट जानो। यह संसार संकल्पमय ही है; इसलिये संकल्प नष्ट हो जानेपर संसार भी नष्ट हो जाता है और फिर सचिदानन्द परमात्मा ही रह जाता है। ( सर्ग ५९ )

### परमात्मा परमात्माके सत्ता-सामान्य संरूपका प्रतिपादन

श्रीकृष्णजी कहते हैं—श्रीराम। इस प्रकार सबका आदि परमतत्त्व सचिदानन्दघन ही परमपट है। उस सचिदानन्दघन परमात्माको अधार्य ज्ञानसे प्राप्तकर यह जीव अज्ञानियोंकी तरह मृत्युको नहीं प्राप्त होता ( अर्थात् वह जन्म-मरणसे छूट जाता है )। उसे प्राप्तकर वह शोचनीय नहीं रह जाता। उसे पा लेनेपर वह अज्ञानियोंकी तरह जीवन धारण नहीं करता ( अर्थात् वह कुछ विलक्षण ही बन जाता है ) और उसे प्राप्तकर वह सर्वज्ञापी होनेके कारण सीमाओंमें नहीं बैधता। आकाशके समान अनन्त परमात्माके सत्ता-सामान्य संरूपका यदि जीव योद्धी देर और योद्धा-सा भी चिन्तन करता है तो वह मुक्तवित्त मुनि बन जाता है और उस अवस्थामें संसारके समस्त कार्योंको करते हुए भी कली संतास नहीं होता।

श्रीरामचन्द्रजीमें पृथ्वी—महर्षें। 'सत्ता-सामान्य' शब्दसे आप किसे प्रहण करते हैं—मन, हुद्दि, अहंकार और नित्तका जहाँ लय हो गया है, उस ( निर्विशेष ) तत्त्वको या मन आदि विशेषताओंसे मुक्त ( सविशेष ) तत्त्वको !

श्रीकृष्णजीने कहा—श्रीराम। जो सर्वज्ञापक,

आदि और अन्तसे रहित तथा सदा समभावसे स्थित है, वह ज्ञानसे प्राप्तव्य तथा समूर्ध वस्तुओंका तत्त्वभूत प्रका ही यहाँपर 'सत्ता-सामान्य' शब्दसे कहा गया है। वह ब्रह्म आकाशमें आकाशरूपसे, शब्दमें शब्दरूपसे, स्पर्शमें स्पर्शरूपसे तथा तत्त्वमें तत्त्वरूपसे है। रसमें रसरूपसे, रसनेन्द्रियमें रसनेन्द्रियरूपसे विद्यमान है। रूपमें रूपरूपसे और गन्धमें गन्धरूपसे है। शरीरमें शरीररूपसे, पृथ्वीमें पृथ्वीरूपसे है। दृष्टिमें दृष्टिरूपसे, वायुमें वायुरूपसे, तेजमें तेजरूपसे, वुद्धिमें वुद्धिरूपसे, मनमें मनरूपसे और अहंकारमें अहंकाररूपसे विद्यमान है। वृक्षमें वृक्षरूपसे, पटमें पटरूपसे, घटमें घटरूपसे और घटमें घटरूपसे विद्यमान है। सावरमें सावररूपसे, जंगलमें जंगलरूपसे, जड़में जड़रूपसे और बैननमें बैननरूपसे विद्यमान है। देवोंमें देवनारूपमें, मनुष्योंमें मनुष्यरूपसे, तिर्यक्-योनियोंमें निर्यक्-योने और कृमियोनियोंमें कृमिरूपसे विद्यमान है। काढ़ने करनमें काढ़रूपसे, क्रतुओंमें क्रतुरूपने एवं त्रुटि, क्षण, निमेर आदिमें भी वह सर्वज्ञापी ब्रह्म ही उत्त-उत्त रूपलेन्द्रियमन है। इस प्रकार सभी पदार्थमें तत्त्वतत् रूपसे गता

बुआ वह परब्रह्म परमात्मा सत्ता-सामान्य स्वरूपसे उसी तरह उनसे अभिज्ञ है, जैसे समुद्रगत कल्पोल, जलकण तथा लहरें जलमाधार्यसे अभिन्न हैं। सर्वमें समान भावसे सत्त रूपमें व्यापक होनेके कारण वह परमात्मा ही सत्ता-सामान्य कहा गया है। श्रीराम ! सत्य चिन्मय-स्वरूप इस परमात्माका कल्पित होनेके कारण इन पदार्थोंकी अनेकरूपता वैसे ही मिथ्या है, जिस प्रकार

बालकद्वारा पछाईमें कल्पित ग्रेत ।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज ! मुनि वासिष्ठके इनला कह चुकनेपर दिन बीत गया, सूर्य अस्ताचलको चले गये, सभासद्गण भी सायंकालिक वृक्ष—स्नान, संथोपासना आदि करनेके लिये मुनिको नमस्कार करके उठ गये और गत बीतनेपर सूर्यदेवकी किरणोंके साथ ही फिर दूसरे दिन समाये प्रविष्ट हुए । ( सर्ग ६० )

### संसारके मिथ्यात्मक दिग्दर्शन तथा मोहसे जीवके पतनका कथन

श्रीरामजीने पूछा—मुने ! जिस प्रकार हमलोगोके लिये स्वप्नके नगर, राजधानियों तथा राज्य मिथ्या हैं, उसी प्रकार यदि ब्रह्म आदिके लिये भी शरीर-धारण एवं उत्पन्न हुआ यह समूर्ण जगत् मिथ्या ही है तो हमलोगोके इसकी सत्पत्तामें अत्यन्त दृढ़ विश्वास क्यों होता है ?

श्रीवासिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! प्रजापतिने इस सुष्ठिके पूर्व जो सुष्ठि-चना की थी, वह भी हमारे अनुभवमें आनेवाली वर्तमान सुष्ठिके समान ही सत्य प्रतीत होती थी, तथापि वह ब्रह्मजीका संकल्प होनेके कारण वास्तविक न थी । इसी प्रकार यह सुष्ठि भी वास्तविक नहीं है । सविदानन्द परमात्माके सर्वज्ञापी होनेसे जीव भी सर्व-व्यापी है और उस परमात्माकी सत्तासे ही यह संसार सत्य-सा भासित होता है । किंतु वास्तवमें यह संसार अज्ञानसे उत्पन्न होता है और तत्त्वज्ञानसे नष्ट हो जाता है । श्रीराम ! सोये हुए पुरुषको अपने तथा अन्य सभी पदार्थोंके रूपमें दीखनेवाला स्वप्न जैसे मिथ्या है, वैसे यह दृश्य संसार भी मिथ्या है । जो स्वप्नका संसार पुरुषसे उत्पन्न है, वह पुरुषका स्वरूप ही है—जैसे किमी बीजसे उत्पन्न वृक्षसहित फल वीजरूप ही है, यह बात भली प्रकार अनुभूत है । जो असत्यसे उत्पन्न होता है, उसे असत्य ही समझो । अतः स्वप्न-पुरुषसे उत्पन्न जो असत् पदार्थोंकी भावना है, वह हृषि

सत्परूपसे प्रतीत होनेपर भी असत्य ही है, इसलिये त्याग कर देने योग्य है । जैसे हमलोगोको स्वप्नमें प्रतीत होनेवाला सुष्ठि आदि कार्य दृढ़रूप ( सत्य ) दीखनेपर भी क्षणस्थायी ( मिथ्या ) ही होता है, उसी प्रकार सामने वर्तमान यह प्रजापतिके संकल्पसे रचित सुष्ठि भी मिथ्या ही है । जैसे द्रवद्रवके कारण आर्द्धरूप परिवर्तनमेंसे जल स्फुरित होता है, उसी प्रकार चिन्मय ब्रह्मके संकल्पसे यह सुष्ठि स्फुरित हो रही है । जो देश और कालमें, कियाओसे, द्रव्योंसे, मणियोसे तथा संकर्योंसे प्रकट हैं, ऐसे असंस्य पदार्थ गन्धर्व-नगरके सदृश ( मिथ्या ) होनेपर भी संस्यके समान प्रतीत होते हैं । इस संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो सत्य न हो; क्योंकि सब कुछ ब्रह्मका संकल्प होनेसे ब्रह्मका स्वरूप ही है एवं ब्रह्मका स्वरूप होनेसे सत्य ही है । साय ही ऐसी कोई वस्तु भी नहीं है, जो असत्य न हो; क्योंकि सब कल्पनामात्र होनेसे असत्य ही है । जैसे स्वप्नमें निपान युरुप स्वप्नकालमें वस्तुओंकी स्थिर स्थिति ही देखता है, उसी प्रकार इस सुष्ठिमें जिस अज्ञानीकी बुद्धि निपान है, वह सब विग्रहोंकी स्थिर स्थिति ही देखता है, किंतु यह सुष्ठि वास्तवमें स्वप्नवत् कल्पना-मात्र है । संसारको अत्यन्त स्थिर समझनेवाला यह जीव एक स्वप्नसे दूसरे स्वप्नमें प्रवेश करनेशालेजी तरह मोहके कारण एक भ्रमसे दूसरे भ्रममें पड़ जाता है । ( सर्ग ६१ )

## चार प्रकारका मौन और उनमेंसे जीवन्मुक्त ज्ञानीके सुपुत्र मौनकी श्रेष्ठता

इसके अनन्तर भिक्षु आस्थानका कर्णन करके उपादेय नहीं वह त्यज्य है। किन्तु इन तीनोंसे भिन्न चौथा श्रीविसिद्धजी कहते हैं—श्रीराम। मुनिवरोंने दो तरहके मुनि बतलाये हैं—एक काष्ठतपदी और दूसरा जीवन्मुक्त। परमात्माकी भावनासे रहित शुष्क क्रियामें बहुनिष्ठय और इससे सम्पूर्ण इन्द्रियोंको जीत रखनेवाला मुनि काष्ठमौनी कहा गया है। इस विनाशशील संसारके स्वरूपको यथार्थरूपसे जानकर जो विशुद्धात्मा और परमात्ममें स्थित ज्ञानी महात्मा बाहर न्यायशुक्त लौकिक व्यवहार करता हुआ भी भीतर विद्वानानन्दधन परमात्मामें तुम रहता है, वह जीवन्मुक्त मुनि कहा गया है। मौनको जानेवाले मुनियोंने मौनके चार भेद बतलाये हैं—वास्तीन, इन्द्रियमौन, काष्ठमौन और सुपुत्रमौन। वास्तीका निरोध वास्तीन, हठशूलिक विषयोंसे इन्द्रियोंका निप्रह इन्द्रियमौन और सम्पूर्ण चेष्टाओंका त्याग काष्ठमौन कहलाता है। एवं परमात्माके स्वरूपानुभवमें जो जीवन्मुक्त निरन्तर रहा रहता है, उसके मौनको सुपुत्रमौन कहते हैं। काष्ठमौनमें वास्तीन आदि तीनों मौनोंका अनन्तर्भव है और सुपुत्रमौनवस्थामें जो तुर्यावस्था है, वही जीवन्मुक्तोंकी स्थिति है। ऊपर जो तीन प्रकारका मौन कहा गया है, वह प्रस्फुरित हुए चित्तका चलन ही है। अतएव ये तीनों मौन

जो सुपुत्रमौन है, वह जीवन्मुक्तोंकी स्थिति है। इसमें स्थित जीवात्माका पुनर्जन्म नहीं होता। इसमें मध्यूर्ग इन्द्रिय-इरियों अनुकूलमें तो इरियत नहीं होती और प्रनिकूलमें धृणा नहीं करती। जो विभागरहित, अन्यासरहित एवं आदि और अन्तसे रहित है तथा जो ध्यान करते हुए या ध्यान न करते हुए सभी अवस्थाओंमें समप्राप्तसे स्थित है, वही सुपुत्रमौन कहा जाता है। अनेक प्रकारके विभ्रमयुक्त संसारके और परमात्माके तत्त्वको यथार्थरूपसे जाननेपर जो सदेहरहित स्थिति होती है, वही सुपुत्र मौन है। जो सर्वशून्य, आस्थान रहित, ज्ञानित्यस्थूप, ज्ञानमात्र तथा सत्-असत्से रहित स्थिति है, वह उत्तम सुपुत्र मौन कही गयी है। इस जगत्में विकार-रहित, सर्वात्मक तथा सत्ता-सामान्यस्वरूप परमात्मा मैं ही हूँ—इम तरहकी ज्ञानावस्थाको सौपुत्रमौन कहते हैं। ग्रहभूत श्रीरामभद्र। जाग्रदवस्थामें सब और भलीमौति व्यवहार करता हुआ अपना सम्पूर्ण व्यवहारोंको छोड़कर समाधियें स्थित हुआ जीवन्मुक्त देहयुक्त होनेपर भी सम्पूर्ण निर्भल ज्ञानित्यसिसे युक्त तुरीयावस्थामें ही स्थित एवं निवेदहस्तग ही है।

( सर्ग ६२—६८ )

## सांख्ययोग और अष्टाङ्गयोगके द्वारा परमपदकी प्राप्ति

श्रीविसिद्धजी कहते हैं—श्रीराम ! जह आकाशसे भी अखन्त स्वरूप चेतनस्वरूप परमात्माकाश है और उस परमात्माकाशभावकी प्राप्ति ही परम श्रेय ( मोक्ष ) है। वह कैसे प्राप्त की जानी है, यह मैं बतलाता हूँ; मुझो ! परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे और नित्य एवरस समाधियें जो सांख्ययोगके द्वारा ज्ञानी हुए हैं, वे सांख्ययोगी कहे गये हैं। जो प्राणादि वायुओंके संयमपूर्वक अष्टाङ्गयोगके द्वारा अनामय, आदि-अन्तसे रहिन परमपदको प्राप्त हो गये हैं, वे योग-योगी कहे गये हैं।

वह स्वामानिक परम ज्ञान्त पद सभी योगियोंके द्वितीयादेय है। कुछ लोग उस पदको सांख्ययोगद्वारा प्राप्त हो जुके हैं और कुछ लोग इसी देहने अष्टाङ्गयोगके द्वारा प्राप्त हो जुके हैं। जो सांख्य और योगनी एक समस्ता है, वही ठीक समस्ता है। क्योंकि जो परमपद सांख्ययोगियोंद्वारा प्राप्त किया जाता है; वही अष्टाङ्गयोगियोंद्वारा भी प्राप्त किया जाता है। जहाँ प्राण, मनकी वृत्ति तथा धातुनाशकी जानवर अखन्त अभाव है, उसीको परमपद समझो। धातुनाशकी ही चित्त

कहते हैं। वही संसारका कारण है। वह चित्त सुख्य या योग दोनोंमेंसे किसी एक साधनके द्वारा विलीन होकर संसारकी निवृत्तिका कारण हो जाता है। यह संसार मनके संकल्पसे उत्पन्न हुआ है। उससे उत्पन्न ममता, अहंता, संसुदि, उपदेश-उपदेशादि, बन्ध और मोक्षकी सत्ता ही कहाँ है अर्थात् सब संकल्पमात्र हैं। एक विज्ञानानन्दधन परमार्थ-तत्त्वका दृढ़ अभ्यास, प्राणोंका विलीन होना तथा मनोनाश—यही 'मोक्ष' शब्दके अर्थका संप्रह है यानी ये ही मोक्षके साधन हैं।

श्रीराम ! इन तीनों उपायोंमें मनोनाशको ही मुख्य साध्य जानो। मनोविनाश जितना ही शीघ्र होगा उतना ही शीघ्र कल्पण होगा। परमात्माके यथार्थज्ञानसे सभी पदार्थोंका अभाव हो जाता है, जिससे वासनाका विनाश होनेपर प्राण और चित्तका वियोग हो जाता है। पिर मलीभोति शान्त हुआ मन देह-खप्ताको नहीं प्राप्त होता। मनके विनाशसे ही जीवात्माको परमपदकी प्राप्ति होती है, अतः मुनिगण वासनाको ही मन जानते हैं। चित्तका स्वरूप केवल वासना ही है। उस चित्तका अभाव होनेपर परमपद प्राप्त हो जाता है। रामभद्र ! रज्जुमें सर्पधमके सद्शा मिथ्यारूप इस संसारका स्वयं ही विवेकज्ञानसे अच्छी तरह विनाश हो जाता है। एक विज्ञानानन्दधन परमार्थ-तत्त्वका दृढ़ अभ्यास, प्राणनिरोध और मनो-विनाश—ये जो तीन उपाय हैं, इनमेंसे किसी एकसी सिद्धि हो जानेपर ही दूसरे भी परस्पर सिद्ध हो जाते हैं। ताइके पत्तोंसे निर्मित फंडेको चलाना जब बंद कर दिया जाता है तब पत्रन जैसे अपने-आप शान्त हो जाता है, वैसे ही जब प्राणरूप बायुका स्पन्दन शान्त हो जाता है, तब मन भी अपने-आप शान्त हो जाता है। जैसे बायुका चलना रुक जानेपर गन्धका प्रसार भी रुक जाता है, वैसे ही मनका चलना रुक जानेपर प्राण-बायुओंका चलना भी रुक जाता है। सभी प्राणियोंके प्राण और

चित्त दोनों उसी प्रकार एक दूसरेसे निरन्तर मिले-जुले रहते हैं, जिस प्रकार पुष्प और गन्ध एवं तिल और तेल एक दूसरेसे निरन्तर मिले-जुले रहते हैं। आधार और आवेषके समान अर्थात् अग्नि और उष्णताके समान दोनोंमेंसे किसी एकका विनाश हो जानेपर दोनों विनष्ट हो जाते हैं और अपने विनाशके द्वारा वे दोनों जीवात्माके लिये एक महान् मोक्ष-नामक कार्य सम्पन्न कर देते हैं। एक ब्रह्मतत्त्वके दृढ़ अभ्याससे द्वैत-वासनासे रहित होकर मन शान्त हो जाता है और इससे प्राण भी शान्त हो जाता है; क्योंकि प्राणका स्वभाव मनके साथ विलीन हो जाना ही है। मनुष्यको एक सुदृढ़ परमात्मतत्त्वमें लबतक तदाकारवृत्ति बनाये रखनी चाहिये, जबतक उस वृत्तिका ही अभ्यासके द्वारा अभाव न हो जाय। क्योंकि निग्रहवृत्तिसे युक्त पुरुषोंका चित्त स्वयं ही प्राणोंके साथ विलीन हो जाता है और परमतत्त्व अविद्या रह जाता है। चित्त जिस किसी वस्तुमें तन्मय हो जाता है, वह शीघ्र तदूप ही बन जाता है; अतः दीर्घकालतक परमात्मतत्त्वके अभ्यासमें वह समस्त विशेषोंसे मुक्त होकर निर्विशेष ब्रह्मरूप ही हो जाता है। श्रीराम ! यदि परमपदमें चित्त मुहूर्तमात्र भी विश्रामको प्राप्त हो जाय तो उसे तुम ब्रह्मरूपमें ही परिणत हुआ समझो। जिसमें अविद्याका अभाव हो चुका है, ऐसा विशुद्ध चित्त 'सत्त्व'शब्दसे कहा जाता है। जिसमें संसारकी शीतरूपा वासना दग्ध हो गयी है, वह चित्त फिर कभी ब्रह्मरूपतासे अलग नहीं होता; क्योंकि वह ब्रह्ममें तदूप हो गया है। जिसकी अविद्या निवृत हो चुकी है, जो सत्त्वभावमें स्थित है, जो वासना-रहित हो चुका है, ऐसा कोई विरल मनुष्य आकाशके समान निर्गुण-निराकार विज्ञानानन्दधन परमतत्त्वको देखता है और तत्काल मुक्त हो जाता है। ( सर्ग ६९ )

## वेताल और राजाका संघाद

श्रीवसिष्ठी कहते हैं—रुद्रनन्दन ! जिस अवस्थामें जीव ब्रह्म हो जाता है और वित्तका विनाश हो जाता है तथा विवेकर्थक विचारसे अविद्याका अन्त—अमर हो जाता है, वही जीवात्माका मोक्ष कहा जाता है। मृगतृष्णा-जलकी तरह मिथ्या मन तथा अहंता आदि प्रपञ्च क्षणमनके लिये ही प्रतीत होते हैं और पूर्वीक विवेकर्थक विचारसे विलीन हो जाते हैं। भद्र ! इस संसाररूपी त्वय-विभागके सम्बन्धमें वेतालद्वारा किये गये इन शुभ प्रज्ञनोंको तुम सुनो, जो सुसे प्रसङ्गवश स्वरण हो जाये हैं। विन्याचलके महान् कलमें एक विशालकाय वेताल रहता था। किसी समय वह गवर्में भरकर ग्रामियोंको मार डालनेकी इच्छासे किसी नगरमें गया। पहले वह वेताल किसी एक सज्जन नामक राजाके देशमें रहता था। उस राजाद्वारा किये गये अनेक वधके योग्य मनुष्योंकी बलिके उपहारसे सदा तुम होकर वह शुखसे रहता था। सामने आये हुए निरपराधी मनुष्यको वह मूँहसे पीकित होनेपर भी अकारण नहीं मारता था; क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष न्यायके ही पक्षपाती होते हैं। किसी समय न्यायोचित भक्ष्य न मिलनेके कारण अरण्यासी वह वेताल कुछासे प्रेरित होकर न्यायासी मनुष्यका मक्षण करनेके लिये नगरके भीतर चला गया। उस नगरमें ग्राजा-रक्षाके लिये रानिमें विचरण करता हुआ राजा उसे भिड़ा। उस राजासे वह उम्र निशाचर भरकर शहदोंमें कहने लगा।

वेतालने कहा—राजन् ! इस समय मुझ भयंकर वेतालके द्वारा तुम पकड़ लिये गये हो। कहों जा दे हो ! अब तुम मर चुके। आज तुम-मेरे भोजन कर जाओ।



राजाने कहा—निशाचर ! यदि तुम यहाँ बलर्थक अन्यायगार्दसे मुसे खा जाओगे तो निक्षय ही तुम्हारे मस्तकके हजारों टुकड़े हो जायेंगे।

वेतालने कहा—राजन् ! मैं तुम्हें अन्यायर्थक नहीं खाऊँगा; परंतु तुम्हें मैं यह न्याय बतलाता हूँ कि तुम राजा हो, इसलिये तुम्हें अर्थियोंके समर्ग मनोरथ पूर्ण करने चाहिये। मेरी इस याचनाको, जो पूर्ण करने योग्य है, तुम पूर्ण करो। मैं यहाँ तुमसे जो प्रश्न कर रहा हूँ, इनका मतीमौति बंतर दो। राजन् ! किस सूर्यकी किरणोंके ये छप्पाणडर्हनी ढोटे अगु हैं और किस पवनमें महागणरूपी धर्मरेणु रुक्षित होते हैं ! एक स्वप्नसे दूसरे स्वप्नमें जाता हुआ दीनांना पहलेके सैकड़ों या हजारों स्वप्नोंके अतिकालकी ढोढता हुआ भी किस प्रकाशक सच्च यात्तिक स्वप्नपता परिणाम नहीं करता ! जिस प्रकार वेतालका खंभा भीदके भी

भीतर और उसके भी भीतर बार-बार देखनेसे केवल छिल्काभान्त्र ही रहता है, उसी प्रकार सबके भीतर-के भीतर और उसके भी भीतर ऐसा कौन अणु है, जो प्रकाशक रवच्छ आस्मत्वरूप है । फ़लाण्ड, आकाश, भूतोंके आधारभूत मुखन, सूर्यमण्डल तथा मेह—ये सब जो बड़े-बड़े महान् पदार्थ प्रसिद्ध हैं—ये अणुत्व

धर्म न छोड़नेवाले ऐसे किस अणुके परमाणु हैं : किस अश्वयव-रहित परमाणुरूप महागिरिकी शिलाके भीतर ये भूत, मविष्य, वर्तमान—तीनों जगत् हैं ? दुष्ट राजन् । यदि तुम इन प्रक्षेत्रोंका उत्तर मुझे न दे सकोगे तो तुम्हें खाकर फिर तुम्हारे नगरके प्राणियोंको वल्लर्विक पकड़कर उन्हें यमराजकी तरह निगल जाऊँगा । ( सर्ग ७० )

### बेतालकृत छः प्रक्षेत्रोंका राजाद्वारा समाधान

श्रीबसिष्ठजी कहते हैं—रामथद् । जब ऐसा कहकर बेताल चुप हो गया, तब वह राजा हँसकर यह कहने लगा ।

राजाने कहा—बेताल ! यह चराघर जगतरूपी फल उत्तरोत्तर दशगुण पञ्चभूतोंकी परतसे विरा हुआ है—अर्थात् इस जगत्के सब ओर पृथ्वीका वेरा है । उसके बाद पृथ्वीसे दसगुना जल, जलसे दसगुना तेज, तेजसे दसगुना वायु और वायुसे दसगुना आकाश है । ऐसे हजारों फल जहाँ विद्यमान हैं, ऐसी बहुत लँची एक शाखा है । उस प्रकारकी बड़ी-बड़ी हजारों शाखाएँ जहाँ विद्यमान हैं, ऐसा बड़े आकारवाला एक महान् शूक्ष है । इसी प्रकारके हजारों बृक्ष जिसमें हैं, ऐसा एक बन है । उसी प्रकारके हजारों बन जहाँपर हैं, ऐसा उन्नत विष्वरूपोंसे युक्त चारों ओरसे परिषूर्ण आकारवाला एक विशाल पर्वत है । जहाँपर वैसे हजारों पर्वत हैं, ऐसा अस्थन्त विस्तीर्ण विशाल खोहोवाला एक देश है । वैसे हजारोंदेश जहाँपर विद्यमान हैं, ऐसा बड़े-बड़े हृद और नदियोंसे युक्त एक बहुत बड़ा दीप है । वैसे अनन्त दीप जिसमें हैं, ऐसी चित्र-शित्र रचनाओंसे युक्त एक पृथ्वी है । उस प्रकारके हजारों पृथ्वीमण्डल जिसमें विद्यमान हैं, ऐसा एक अस्थन्त विस्तृत महान् मुखन है । उस तरहके अस्थन्त महान् मुखन जिसमें विद्यमान हैं, ऐसा विस्तृत आकाशके सदृश एक महान् प्रचण्ड फ़लाण्ड है । इस-उस तरहके अस्थन्त प्रशाण्ड जिसमें विद्यमान हैं ऐसा एक चक्रलत्तारहित

असीम जलनिधि है । उस तरहके लाखों सागर जिसमें कोमल तरहरूप है, ऐसा एक अपने स्वरूपमें विग्रह करनेवाला निर्मल महार्णव है । उस प्रकारके हजारों महार्णव जिसके उदरके जलरूप हैं, ऐसा एक कोई बड़ा भारी परिपूर्णकृति पुरुष है । ऐसे-ऐसे लाखों पुरुषोंकी माला जिसके वक्षःस्थलमें स्थित है, ऐसा एक परम पुरुष है, जो सब सत्ताओंका प्रधान है । इस प्रकारके अस्थन्त महापुरुष जिसके मण्डलमें स्फुरित हो रहे हैं, ऐसा एक महान् आदित्य है । ये सब कल्पनाएँ ही इस आदित्यरूप ब्रह्मकी रसियों हैं । ब्रह्माण्ड ही इस आदित्य ( प्रक्ष ) की दीतियोंके त्रसरेणु हैं । मैंने तुमसे जिस सूर्यका कथन किया था, सचिदानन्दभन ब्रह्म ही वह सूर्य है; इसीके प्रभावसे सारा जगत् प्रकाशित होता है । बेताल ! पूर्वोक्त अस्थन्त पदार्थ जिसमें प्रकाशित होते हैं, ऐसा विश्वानस्वरूप परम सूर्य है और ये जो विस्तृत ब्रह्माण्ड हैं, वे उसी सूर्यकी किरणोंमें स्फुरित होनेवाले त्रसरेणु हैं । इस 'प्रकार यह तुम्हारे प्रथम प्रक्षका उत्तर दिया गया ।

बेताल ! कालकी सत्ता, आकाशकी सत्ता, जीवात्मा-की सत्ता तथा शुद्ध चेतन आत्माकी सत्ता—इत्यादि-सब सूख होनेसे निर्दोष रज हैं । वे परमात्मारूपी महावायुमें कल्पित अनेक विकारोंसे चञ्चल होकर स्फुरित होते हैं । 'जगत्' नामक महास्वप्नमें एक स्वप्नसे दूसरे स्वप्नमें जाता हुआ जीवात्मा परम शान्तिको बढ़ानेवाले

अपने महान् शुद्ध आत्मस्वरूपको नहीं छोड़ता । वैसे केलेक्ता खंभा ज्यों-ज्यों छीला जाता है त्यों-त्यों उसके भीतर-भीतर केवल पता ही मिलता जाता है, वैसे ही परिणामशील यह विष ज्यों-ज्यों भीतर-भीतर देखा जाता है त्यों-त्यों उसमें ब्रह्म ही मिलता जाता है । वह धाकाश-के तुल्य निराकार, अनिर्वचनीय परमात्मा सद्, ब्रह्म, आत्मा आदि शब्दोंसे कहा जाता है । सूक्ष्म मन और इन्द्रियोंके द्वारा अप्राप्य होनेके कारण परमात्मा परमाणु कहा गया है । अनन्त होनेके कारण परमात्मा ही मेह आदि पर्वतोंका मूळ है । परमाणुस्वरूप होते हुए भी इस परमपुरुष अनन्त परमात्मामें ब्रह्माण्ड, आकाश, मुखन, सूर्यमण्डल और मेह—ये सब पदार्थ परमाणुकी तरह अतीव होते हैं । यह परमात्मा चक्षु आदि इन्द्रियोंसे प्राप्त

न होनेसे परमाणु कहा गया है और सब और परिर्द्ध होनेसे महापर्वत कहा गया है । बालाबादमें यह परम पुरुष परमात्मा अवश्वराहित है, किंतु दृश्यके सम्बन्धसे अवश्व-युक्त दिखायी पड़ता है । अक्षानी बैनाड़ । ये सब जगत् उस विज्ञानस्वरूप परमात्माके संकल्पसे कल्पित हैं । अतः तुम उस अनन्त, शान्त स्वभाव अपार परमपदको अनुभव करो और शान्त हो जाओ ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! राजाके मुखसे इस प्रकार प्रस्तौका समाधान सुनकर शुद्धान्तःकरण चेताल विचारयुक्त बुद्धिसे परम शान्तिको प्राप्त हो गया । निर्देश आलाको तत्त्वसे समझकर और भयंकर भूधाको भूनकर वह शान्तमन बेताल परमात्माके घानमें अचल स्थिर हो गया । ( सर्ग ७१—७३ )

### भगीरथके गुण, उनका विवेकपूर्वक वैराग्य और अपने गुरु वितलके साथ संचाद

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! देहयात्रार्थ प्रारब्धवश प्राप्त हुए अर्थसे संतुष्ट रहनेवाले प्रयत्नशील पुरुषके दुस्साध्य अर्थ भी भगीरथ राजाकी तरह सिद्ध हो जाते हैं । जिसका पूर्णरूपसे मन शान्त हो गया है, जिसकी बुत्तियों पर्याप्तरूपसे तुस हो गयी है, जिसकी आनन्दवनस्वरूप सम ब्रह्ममें निरन्तर निष्ठा है, उस प्रभापुरुषके दुर्लभतर अभीष्ट कार्य भी उसी प्रकार सिद्ध हो जाते हैं, जिस प्रकार भगीरथका सगरपुत्रोंके उद्धारके लिये संजीवन गङ्गावतरणरूप अत्यन्त दुर्लभ कार्य सिद्ध हो गया था ।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—प्रमो ! राजा भगीरथके चित्तकौशलसे गङ्गावतरणरूप दुस्साध्य कार्य किस रीतिसे सिद्ध हुआ था, वह मुझसे कहिये ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! समुद्रोंसे युक्त पृथ्वी-का एक अत्यन्त धार्मिक भगीरथ नामका राजा हो चुका है । वह राजमण्डलमें सबसे श्रेष्ठ था । चन्द्रमाकी तरह प्रसन्न-मुख एवं चिन्ताप्रणिके सदृश अमीष अर्पोंको देनेवाले

इस राजासे याचकगण अपने संकल्पके अनुसार ही अमीष अर्प प्राप्त करते थे । वह श्रेष्ठ पुरुषोंकी रक्षाके लिये निरन्तर धन देता था । न्यायसे प्राप्त तृण भी ले लेता था । वह याचकोंकी अमीष-तिदिके लिये चिन्ता-भणिके सदृश था । मृदू और शीतल स्पर्शशाला वह ग्रस्त-तत्त्वज्ञानियोंकी संनिधिमें उनके चिरको आत्मादित करना हुआ उसी प्रकार द्रवीशूत हो जाता था, जिस प्रमात्र चन्द्रमाकी संनिधिमें चन्द्रकान्तमणि । उसने अगस्त्य-मुनिहारा शोपित सागरको गङ्गाके प्रवाहसे उसी तरह पूर्ण धर दिया, जिस तरह याचकोंके समूहको धनरोपण किया था । पातालवासी अपने पूर्वजोंको उस लोकस्थाने गङ्गारूपी सीढ़ी ल्याकर ग्रहणकर्त्ता कर्त्ता वहाँ चापा । गङ्गादीको यहाँ लानेके उद्देश्यसे अपनी तपस्यासे गङ्गा, दोपर और जहुकी आराधना करते हुए उस दृढ़ निष्ठासे युक्त भगीरथने बार-बार कलेश सहन किया । श्रीराम ! इन लोकयात्राका सूख विचार करते हुए उस राजाको मुद्र-कथामें ही तीव्र वैराग्यकी छिन्नकणनाने रिंग्गुल निचार

उत्पन्न हुआ । वह राजा एकान्तमें असमझसमें पक्षकर व्याकुल हो इस संसारात्राका प्रस्तिदिन यों विचार करने लगा—‘इस संसारमें, जिसके प्राप्त हो जानेसे दूसरा कोई प्राप्य पदार्थ अवशिष्ट नहीं रहता, मैं उसी कर्मको सुकृत समझता हूँ । शेष कर्म तो विषूचिका ( हैजेकी बीमारी ) है । पुनः-पुनः पर्युषित कर्म करता हुआ भूद्ध-बुद्धि प्राणी लज्जित नहीं होता । कोई मर्यादाप्राणी तो अवश्य ही बाल्ककी तरह बार-बार एक ही कर्म करता रहता है ।’ इस तरह विचार करनेके अनन्तर संसारसे अनन्त भयमील उद्दिष्ट-मन राजा भगीरथने एक दिन अपने गुह क्रित्यासे पूछा ।



भगीरथने कहा—‘मिमो ! बहुत कालसे इन सारीन सांसारिक वृत्तिरूप बड़े-बड़े जंगलीमें भटकते हुए हम सब अनन्त खिल हो गये हैं । भगवन् ! संसारमें फँसानेवाले जरा-भरण-मोहादिरूप सब हुःखोंसा अन्त कैसे होता है ?

प्रितल थोले—‘निष्याप राजन् ! चिरकालसे अन्यसा अन्तःकरणकी समस्तासे उत्पन्न, निर्विशेष, अखण्ड और

व्यापक ह्रेय परमात्माके ज्ञानसे सब हुःख नष्ट हो जाते हैं, सारी ग्रन्थियों सब ओरसे टूट जाती है, सारे संशय तथा कर्म शान्त हो जाते हैं । राजन् ! तत्त्वज्ञानियोंने शुद्ध ज्ञानस्तरूप परमात्माको ही ह्रेय बतलाया है और वह परमात्मा सर्वव्यापी तथा नित्य है । वह उत्पत्ति-निनाशसे रहित है ।

भगीरथने कहा—‘मुनीश्वर ! यह तो मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि चिन्मय, निर्गुण, शान्त, निर्मल और अच्छुत परमात्मा है तथा देह आदि अन्य बुद्ध भी नहीं है—कल्पनामात्र है । किंतु भगवन् ! ह्रेयस्तरूप परमात्माके खरूपमें मेरी अचल स्थिति ( समावित ) नहीं हो रही है । इसमें क्या कारण है ? मैं किस उपायसे उसे प्राप्त करूँ ?

प्रितल थोले—‘हृदयाकाशमें यह चित्त जब ज्ञानके द्वारा ह्रेयस्तरूप परमात्मामें स्थिर हो जाता है, तब यह जीव सर्वात्मरूप परमात्माको प्राप्त होकर पुनः संसारमें उत्पन्न नहीं होता । पुत्र, श्वी, घर और घन आदिमें आसक्तिका अभाव, ममताका न होना तथा प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही चित्तका सम रहना, अनन्यगोगसे—आत्मा ही क्रस्त है, ग्रहके सिवाउद्दूसरा कोई पदार्थ है ही नहीं, इस प्रकारकी अमेदभावनासे निरन्तर आत्मामें ब्रह्म-भावना, एकान्त और शुद्ध देशमें रहनेका स्वभाव और विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमें प्रेमका न होना, अध्यात्म-ज्ञानमें नित्य-स्थिति और तत्त्वज्ञानके अर्थस्तरूप परमात्माको ही देखना—यह सब ज्ञान है और जो इससे निपीत है, वह अज्ञान है, ऐसा कहा गया है । राजन् ! अहंभावकी शान्ति हो जानेपर राग-द्वेषका विनाश कर देनेवाला तथा जन्म-मरणरूप संसार-व्याधिकी औश्वभ परमात्माका यथार्थ ज्ञान ही जाता है ।

भगीरथने कहा—‘महाभाग ! पर्वतमें दीर्घकालसे सुदृढ़ हुए वृक्षकी तरह अपने शरीरमें दीर्घकालसे सुदृढ़ हुए अहंभावका मैं कैसे त्याग करूँ ?

**श्रितल कोले—**राजन्। पौरुष-प्रयत्नसे विनय-भोगोंकी भाक्तवाका त्याग कर फिर परमात्माकी सत्ताका अनुभव करनेसे अहंकारका बिलाश हो जाता है। जबतक सम्पूर्ण पदार्थोंका सर्वथा त्याग नहीं किया जाता, तबतक यह अहंकार बना रहता है। यदि विवेकसूर्योक्त विचार-बुद्धिसे सबका परित्याग करके तुम निष्ठाल हौकर स्थित हो जाओ तो अहंकारका अमाव होकर तुम परमपद-स्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाओगे। यदि तुम्हारे सम्पूर्ण राजनीति आदि

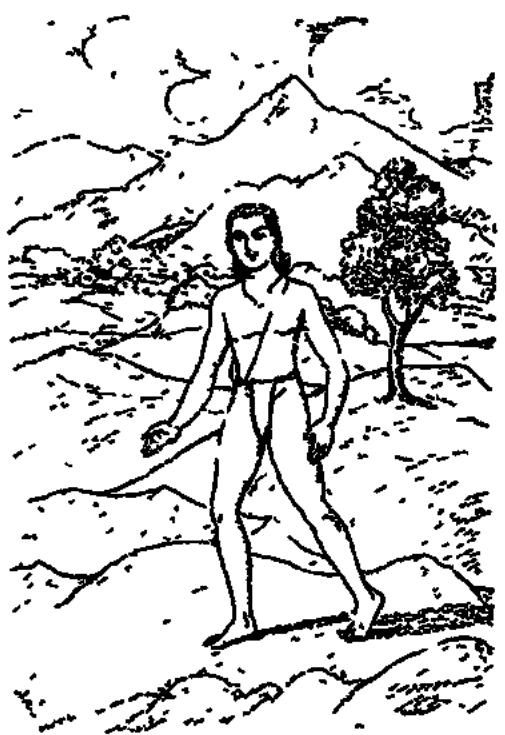
विद्योंका त्याग हो जाय, यदि तुम भयने रहित हो जाओ, यदि तुम समस्त धनादिकी इच्छाओंका त्याग कर दो, यदि तुम शत्रुओंके लिये ही समूर्ग ऐर्पणका त्याग करके और अकिञ्चनभावको प्राप्तकर अहंमास्ते निवृत्त हो जाओ, यदि तुम अपने देहके अभिमानसे रहित होकर उन सब शत्रुओंमें ही भिक्षाटन करने वाले तो तुम उच्च-से-उच्च स्थितिको प्राप्त होकर परमपदरूप परमात्माको प्राप्त हो जाओगे। ( सर्ग ७४ )

## राजा भगीरथका सर्वस्त्याग, भिक्षाटन और गुरु श्रितलके साथ निवास, भगीरथको पुनः राज्यप्राप्ति और ब्रह्मा, रुद्र आदिको आराधना करनेसे

### गङ्गाजीका भूतलपर अवतरण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! तदनन्तर उन गुरुजीके मुख्यसे इस प्रकारका उपदेश सुनकर राजा भगीरथ मनमें कर्तव्य निश्चित कर उसके अनुष्ठानमें तप्ति हो गया। कुछ ही दिन व्यतीत होनेपर राजा भगीरथने एकमात्र सर्व-

त्यागकी सिद्धिके लिये अग्रिष्ठोम यहां अनुष्ठान किया। उसमें उसने बादाणों तथा अपने बन्धुओंको गी, पृथ्वी, घोड़े, शुक्रवर्ण आदि समस्त धन दे दिया। तदनन्तर उसने सम्पूर्ण धनसे लाली तथा चिन्तामन मन्त्री, नागरिक, ग्रजा आदिसे युक्त अपने राज्यको लृणके समान समस्तकर सीमाके पासके अपने शत्रुको दे दिया। जब महल, मण्डल पृथ्वी राज्यपर शत्रुने अधिकार कर लिया, तब मनदादीन राजा भगीरथ एकमात्र कठिनता धारण किये अपने मण्डलसे निकल गया। अपने मण्डलसे निकलकर वैर्यवान् राजा भगीरथने अपनी राजधानीसे बहुत दूरके गाँवों और घनोंमें निवास किया, जहाँ लोग उसके नाम-रूपको नहीं पहचान सकते थे। इस प्रकार व्यक्तिर धरते हुए राजा थोड़े ही समयमें समस्त एषणाओंसे रहित हो उत्तम उपरिकोकारण परमात्मामें परम विश्रामको प्राप्त हो गया। वित्ती समय राजा भगीरथ बूमता हुआ अपने नगरमें ही चल आया और वहाँ उसने अनेक घरों, नागरिकों और मन्त्रियोंसे भिक्षाकी याचना की। दून नागरिकों और मन्त्रियोंने राजा भगीरथको पहचान लिया और उन विशादयुक्त लोगोंने पूजन-सामग्रीसे विभिन्न उत्सवोंपूर्वा की





‘प्रभो ! आप अपना राज्य ले लीजिये, इस प्रकार शमुद्धारा प्रार्थना किये जानेपर भी उस मननशीउ गगाने, जिसने सर्वत्याग कर दिया था, भोजनके सिवा तृणमाच भी प्रहण नहीं किया । बुद्ध दिन यहाँपर विनाकर वह अन्यत्र चला गया । लोगोंने उस समय ‘क्या ये ही भगीरथ हुआ हैं ! ये ही हमलोगोंको छोड़कर चले गये ! अहो ! महान् कठ हैं !’ इस प्रकार उसके विस्थायें शोक किया । तटनन्तर दूसरे स्थानोंमें विचरण करते हुए शान्तचित्त, स्थिरसुद्धि एवं परम सुखी वह नरेश किसी समय अपने आत्माराम चित्तल नामक गुरुके पास गया । प्रणाल आदिसे अपने गुरुका स्वागत-भक्तार वरके उनके साथ बुद्ध कालनक पर्वन, वन, गांव और नगरमें तथा अनेक समुद्रोंके बीच निवास किया । वे दोनों उत्तम मुनि अपने पूर्वकृत कर्मोंकी फलस्वरूप प्राप्त हुए सुन और दुःख-दोनोंका आदर करते थे । वे समस्त इष्टाभोंसे रहित थे और समको भी समरूप सविदानन्द ब्रह्ममें प्रकाश होकर परम शान्तिको प्राप्त हो गये थे ।

किसी एक अन्य देशमें निघमान उत्तम नगरमें पुन-

रहित राजाकी मृत्यु हो गयी थी । शासकके अभावके कारण जिनके देशकी प्रजा-पालन-भर्यादा नष्ट हो चुकी थी, उस देशके उडास मन्त्री आदि प्रजाशर्ण प्रजा-पालनयोग्य उडास गुण-कल्पीसे युक्त निती एक झुन्दर राजाकी खोड़में थे । वे मन्त्री आदि प्रजाशर्ण भिजाचरणमें रन, विक, तपत्वी भगीरथ मुनिके पास पहुँचे । वे उनको प्रजापालन-योग्य समझ द्युम गुणोंमें युक्त जानकर आदर-संकर-इक ले आये और उनको सेनासंस्थि गम्भपर अभित्तिक-



करके गजा बना दिशा । वर्णन्तर उम राज्यका दरिशान्न करते हुए राजा भगीरथके पास पहुँचे आदर पाये हुए कोमल देशके मन्त्री, पुरोहित आदि प्रजाशर्ण भी आये और राजाभिशम भगीरथसे सो कहने स्टो ।

प्रजाशर्ण रहा—राज्य ! अपोस्ता गम्य थोड़ने समय आपने मीमांसके पासमें स्थिन अपने जिस शाहुगंजमें राजदानमें पुरस्तृत किया था, उक्ती शून्ये लिन्द लिया है । इस कारण आपने दूरीजन्मी रक्षा करनेकी

आप दया कीविये । बिना इच्छाके ग्रात हुए राज्यका  
त्याग करना उचित नहीं ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! इस प्रकार प्रजाधरके  
प्रार्थना करनेपर राजा मगीरथने उनकी घस्त मान ली  
और वे सात समुद्रोंसे युक्त पृथ्वीके सामी हो गये ।  
राजा मगीरथ सर्वत्र सममाव रखनेवाले, शान्तिवित्त,  
मननशील, वीतराग एवं मत्सर-रहित हैं । जिन्होंने  
अप्सका अन्वेषण करनेके लिये भूमि खोदकर सागरके सदृश  
गर्त निर्माण किया था और जो कफिलकी क्रोधामिनिसे  
पाताललत्तमें भसीभूत हो चुके थे, उन अपने पितामहोंको  
तारनेमें गङ्गाजल ही समर्थ है, जब यह बात राबाने सुनी;  
तब मूलतपर गङ्गाजीको लानेके लिये जितेन्द्रिय पृथ्वी-  
पति मगीरथ मन्त्रियोंके सिरपर समस्त राज्यभार छोड़कर  
तपके लिये निर्जन अरण्यमें चले गये । उस अरण्यमें  
हजार वर्षतक अङ्गाजी, शंकरजी और जहु मुनियों वार-बार  
आराधना करके वे इस पृथ्वीताल्पर गङ्गाजीको ले आये ।  
तभीसे ये पुष्टतोया त्रिपथा गङ्गाजी, जो निर्मल  
तरह मालाओंसे रक्षित जास्ति शशिभूषण विष्वजीके  
महाकर्म सुशोभित तथा महात्माओंके महान् पुण्योंकी राहि  
है, आकाशतलसे पृथ्वीपर गिरती है । कझल तरह मालाओं-



से सुशोभित, अपने केनपुष्करूप हाससे युक्त, प्रसन्न  
पुण्यरूपा भद्रारीसे समन्वित तथा धर्मकी संततिस्त्वरूप  
यह त्रिमार्गामिनी गङ्गा उसी समयसे इस पृथ्वी-  
पर पृथ्वीपति मगीरथकी समुदरपर्यन्त भीति विस्तार करनेके  
लिये एक तरहकी वीथिका ही बन गयी है । ( सर्ग ७५-७६ )

## शिखिष्वज और चूडालाके आख्यानका आरम्भ, शिखिष्वजके गुणोंका तथा चूडालाके साथ विवाह और क्रीड़ाका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—घुनन्दन ! अब तुम मन्वन्तरकी चतुर्थ चतुर्दशीके द्वापर युगमें कुरुक्षेत्रमें  
अविचल राजा शिखिष्वजकी तरह शान्तिपूर्वक अपने  
संरूपमें स्थित रहो ।

श्रीरामजीने पूछा—गङ्गन् ! यह शिखिष्वज कौन था  
और उसने परमपद कैसे ग्रात किया ? गुरुवर ! उसका  
चरित्र मुझसे कहिये, जिससे मैं उसे अच्छी प्रकार  
जान सकूँ ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! अतीतकालीन सातवें

मन्वन्तरकी चतुर्थ चतुर्दशीके द्वापर युगमें कुरुक्षेत्रमें  
इसी महासंगमे शिखिष्वज नामका राजा हुआ था । जम्बूद्वीपमें प्रसिद्ध विष्वाचलके सभीपर्वती भालवदेशनी  
उज्ज्वलिनी नामीमें वह राजा राज्य करता था । वह दीर्घ,  
औदार्य आदि गुणोंसे युक्त था । उसमें क्षमा, धर्म, दम  
विद्यमान थे । वह वीतासे पूर्ण था । शुभ कर्मोंके कुमुदानमें  
लगा रहता था । मित्रमारी था । उस प्रजार दृष्टिमें  
गुणोंका सजाना था । समल घटोंका निर्वत्तर अनुदान

करता था । उसने बड़े-बड़े घुमारियोंको जीत लिया था । वह लोकोपयोगी शुभकार्योंको करता था और पृथ्वीका पालन करता था । वह क्रोमल, शिख और मधुर स्वभाववाला दक्ष तथा प्रेमका समूह-था । वह मुन्द्र, शान्त, मायशन्, प्रतापी और धर्मसंसाल था । वह विनयशुक्त वाङ्मयोंका प्रयोग करता था तथा याचकोंको सभी प्रकारके पदार्थ देता था । वह उत्तम पदार्थोंका भोक्ता, सत्सङ्गसे युक्त और समस्त वेद-शास्त्रोंका उत्तम श्रोता था । वह शिखिष्वज सब वातोंको जानते हुए भी बालकारीके अभिमानसे रहित था, श्री-न्यसन आदिकार्तों उसने तुष्टवत् स्थाग कर दिया था । बाल्यकालमें ही उसके पिता-स्वर्ग यज्ञ दिये थे । उसके बाद अपने बाहुबलसे उस जितेन्द्रिय शिखिष्वजने सोलह वर्षतक स्वयं ही दिविजय करके अखिल भूमण्डलको अपनी साम्राज्य-सम्पत्तिमें परिणत कर दिया । तदनन्तर निःशङ्क होकर धर्मसे प्रजाका पालन करते हुए वे बुद्धिमान् राजा शिखिष्वज मन्त्रियोंके साथ अपने यशसे दिशाओंको उलझल करते हुए स्थित थे ।

जब वे युधा हो गये, तब उन्होंने अनेक वन और उपवनोंमें, लीला-सरोकरोंमें, लतागृहोंमें तथा विविध भूमियोंमें विवरण किया । उन्होंने वन और उपवनके गुण-वर्णनसे युक्त शृङ्खरससे परिषूर्ण कथाओंमें रस लिया तथा सुवर्ग-कलशके सदृश ऊनवाली, हारसे सुशोभित शरीर तथा कश्छल केरोंसे युक्त कुमारियोंका मनसे आदर किया । चतुर मन्त्रियोंने राजाका अभिग्राय जान लिया । तदनन्तर राजाके विवाहके लिये विचार करके मन्त्रियोंने सौराश्रद्देशके राजासे युक्ती कन्याकी याचना की । राजा शिखिष्वजने नवीन यौवनसे सम्पर्क तथा अपने अनुरूप उस उत्तम कन्याके साथ विविष्वक विवाह किया । राजा शिखिष्वजकी पत्नी



संसारमें चूढाला नामसे विद्यात थी । वह भी अपने अनुरूप पति प्राप्तकर प्रफुल्लित हो रही थी । यजा शिखिष्वज नील कमलके सदृश नेत्रवाली उस चूढालाको ल्लेहसे प्रसन्न रखते थे । एक दूसरेके प्रति आर्पित चित्तवाले उन दोनोंकी प्रीति उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती थी । हाव, भाव, विलम्ब आदि शक्तिरम्भी चेष्टाविशेषोंसे परिषूर्ण जाङ्गोंके कारण वह चूढाला मुन्द्र नवीन लताके समान शोभित हो रही थी । शिखिष्वज राजाको मन्त्रियोंद्वारा सभी उपमोग-सामग्री समयानुसार समर्पित की जाती थी । उसकी प्रजा सुन्धवस्थित थी । परम सुखी वह राजा कमलिनीके साथ राजहसके सदृश उस प्रियतमाके साथ रमण करना था । वे दोनों निरन्तर एक दूसरेसे मिले हुए थे । एक दूसरेकी चेष्टाएँ उन्हें प्रिय लगती थीं । एक दूसरेसे शिक्षाग्रहण करनेके कारण वे दोनों सम्पूर्ण कल्पालोंके ज्ञाता हो गये थे । परस्पर अस्थन्त मित्रताको प्राप्त हुए वे दोनों एक दूसरेके हृदयमें

बस जानेके कारण मानो एकरूप ही हो गये थे । जैसे अध्यात्मिक नियतकालका गुह्यमुखसे अध्ययन करके समस्त शास्त्रोंका पण्डित हो जाता है, वैसे ही हुँच नियतकाल-तक अपने स्वामीके मुखसे सुन-मूनकर समस्त शास्त्रोंके तारार्थग्रंथ और चित्रकल्प आदिमें भी चाहुर्यग्रासकर चूडाला समस्त विग्रहोंका पण्डिता हो गयी थी तथा चूडालाके क्षारा इस शिखिष्वजने भी लृत्य, बाध आदि जितने कला-कौशल है, उन सबका शिक्षण ग्रहण किया और वे

कलज्ञोंके पारंगत निदान् हो गये । उन दोनोंकी बुद्धि चाहुर्यसे युक्त तथा सुन्दर थी । वे दोनों स्लेहसे प्रसन्न और मधुर लाते थे । शानतत्त्वका कथन करनेमें भी वे समान थे । श्रेष्ठ पुढ़ोंका अनुकरण करते थे । सदाचार-प्रारयण थे । प्रजाजनोंके वृत्तान्तका भी हान रखते थे । वे समस्त कलाओंके पण्डित एवं शृङ्खलादि नवरसरूपी रसायनोंसे लुशोभित थे ।

( सर्ग ७७ )

### कलमसे उन दोनोंकी वैराग्य एवं अध्यात्मज्ञानमें निष्ठा तथा चूडालाको यथार्थ ज्ञानसे परमात्माकी प्राप्ति

श्रीकृष्णजी कहते हैं—श्रीराम ! इसी प्रकार अनेक वर्णोत्तक दृढ़ प्रेमसे सम्पन्न उस दम्पतीने प्रतिदिन यौवनकी अस्तद लीलाओंहारा रमण किया । यों एकजैसे बाद एक करके अनेक वर्ष बीत गये और छठे हुए घड़से जलके क्षय होनेकी मौतिं धीरेखीरे ताश्चन्द्रका क्षय होते देख उन दोनोंने विचार किया—‘समुद्रकी तरफोंके समान चबूल, क्षणमधूर शरीरसे व्यवहार करनेशाले जीवका पक्षे हुए फलके पतनकी तरह मरण अक्षयमात्री है । अब इस देहमें चूडालवस्ता आनेकी तैयारी कर रही है; इयोंकि आयु निरन्तर, क्षीण होती जाती है । यह जीर्ण जीवन इन्द्रजालके सदृश अस्त्व दी है । यह शरीर वर्षकालमें बलके शुद्धद्रुक्की मौति क्षणभरमें ही किलीन हो जानेवाला है । विचार-करनेसे जगहका यह व्यवहार कदली-भग्नके सदृश निस्सार ही सिद्ध होता है । इस संसारमें ऐसी कौन वस्तु है, जो शुभ, सुस्थिर एवं अस्त्वत्त सुखद हो, अर्थात् कोई भी नहीं है ।’ उस दम्पतीने इस प्रकार निश्चय करके संसाररूपी व्याधिकी असन्ती औषध अध्यात्मशास्त्रका दीर्घकालाक्रम, विवेकपूर्वक विचार किया । केवल आत्मज्ञानसे ही संसाररूपी महामारी शान्त हो जाती है, यह निर्गंयकर वे दोनों आत्माका शान सम्पादन करनेमें लग्जर हो गये । अध्यात्मज्ञानमें ही उनका चित्र लग-

गया था । प्राण भी उसीमें लगे थे । उसीमें उनकी निष्ठा थी । अध्यात्मज्ञानका ही उन्होंने आश्रय लिया था । वे उसीकी अर्चनामें लगे रहते थे । उनकी इच्छा भी अध्यात्म-ज्ञानकी ही रहती थी और उस समय इस संसारसे वे दोनों विरक हो गये थे । उन्होंने अध्यात्मज्ञानमें ही दृढ़ अन्यास बढ़ा लिया था । वे एक दूसरेको अध्यात्मज्ञानशा ही प्रबोध कराते थे । उनकी ग्रीनि उसी ग्रानमें भी एवं परत्पर उनका समस्त आरम्भ उसीमें होता था ।

तदनन्तर वह चूडाला अध्यात्मविग्रहको जाननेवाले महात्माओंके मुखसे संसार-दुःखसुखसे पार करनेमें समर्प अत्मज्ञानोपयोगी मनोहर पदक्रममें संयुक्त आत्माओंका निरन्तर अवण करके बाद शरीरके व्यापारोंसे उपरत और उज्ज्वल उग्रबुद्धिसे युक्त हो अपनी आत्माके विग्रहमें इस प्रकार अहर्निश विचार करते लगी ।

‘आद मैं स्थै विवेचन करके अपने आपका पनाडानीं हूँ कि मैं क्या हूँ तथा यह संसाररूप मौह गिर्मानो, कैमे, कहाँसि प्राप्त हुआ है । यह दैद तो जट है; इत्तिये देह मैं नहीं हूँ, यह अटल निश्चय है । टाप, पैर आदि कर्मनिदिय-समुदाय भी इस शरीरसे छिन्न अक्षयरूप ही हैं । कभी अवप्य और धर्मरक्षमें भैंड नहीं होता, इसलिये वे भी जट ही हैं । शनेदिन-

समुदाय भी शरीरावयवरूप ही है, इसलिये वह भी जड़ ही दीख पड़ता है। संकल्पात्मक शक्ति स्वनेत्राला जो मन है, उसे भी मैं जड़ ही मानती हूँ; क्योंकि ज्ञानेत्रियाँ मनसे ही प्रेरित होती हैं। जैसे गोफनसे पापाण प्रेरित होता है, कैसे ही मन भी बुद्धिके निष्ठयोंसे प्रेरित होता है; इस तरह निष्ठयरूप बुद्धि भी जड़ ही है, यह अटलनिष्ठय है। अहंकार भी साराशून्य तथा मुद्रेके सदृश है, इसलिये जड़ ही है; क्योंकि बुद्धि अहंकारसे प्रेरित होती है। अहंकार भी जड़ ही है, क्योंकि वह जीवात्मा से अध्यस्त है। यह चेतन जीव प्राणवायुरूप उपाधिसे उपहित हुआ छूट्यामें रहता है। वह परमात्माका अंश होनेके कारण परमात्माकी सत्तासे ही सत्ताचान् है। चेतनस्वरूप आत्मा मिथ्या जड़ विषयोंके साथ तादात्म्य एवं संसर्गका अध्यास करके ही जड़-जैसा बन जाता है और अपने असली शुद्ध चिन्मय स्वरूपको भूल जाता है। चेतन जीवात्मा-की विशयोंके साथ एकाग्रता होनेपर वह एक क्षणमें अपने स्वरूपको भूलकर तत्स्वरूप हो जाता है। इस प्रकार जब विषयोंके सम्मुख होनेसे यह चेतन जीवात्मा जड़, शून्य, मिथ्याके समान हो जाता है, तब चिन्मय परमात्माके द्वारा प्रबोधित किया जाता है।'

इस प्रकार विचारकर फिर उस चूढ़ालाने यह सोचा कि किस उपायसे यह जीवात्मा प्रबुद्ध हो। बहुत समयके बाद उसने आत्मतत्त्वको जान लिया और वह कहने लगी—‘अहो! बड़े आनन्दका विषय है कि दीर्घकालके बाद मुझे उस निर्किंवार जानने योग्य परमात्माके स्वरूपका अनुभव हो गया, जिसे जान लेनेपर पुरुष फिर उससे ध्युत नहीं होता। वास्तवमें एक महान् चेतन परमात्मा ही इस संसारमें सत्यरूपसे निराजनान है। उसको महासत्ता भी कहते हैं। यह निष्कलङ्घ, समरूप, विशुद्ध और अहंकाररहित है। उसका स्वरूप शुद्ध विज्ञान ही है। वह परम महामय केवल सत्यस्वरूप है। वह अपने परमानन्द-

स्वरूपसे कभी विचलित नहीं होता। एक बार उसका साक्षात्कार हो जानेपर वह फिर सदा प्राप्यका रहता है, उसका कभी अमाव नहीं होता। वह ब्रह्म, परमात्मा आदि नामोंसे कहा गया है। ज्ञाता-ज्ञान-श्वेयरूप त्रिपुत्री इस परमात्मासे मिन्न कोई कल्प नहीं है। वह चेतन परमात्मा ही मन, बुद्धि, आदि इन्द्रिय पदार्थोंके रूपमें प्रकट होकर क्रियाशील होता है। जैसे समुद्रके जलमें तरङ्ग आदि वास्तवमें उत्पन्न न हुए भी उत्पन्न हुए-से प्रतीत होते हैं, जैसे ही महाचेतन-में जगत् वास्तवमें उत्पन्न न होते हुए भी उत्पन्न हुआ-सा प्रतीत होता है। इस नित्य चिन्मय परमात्माके जन्म, मरण, सद्वति, असद्वति या नाशकी कहीं सम्भालना ही नहीं है। यह परमात्मा अच्छेद, अदाह्य और परम विशुद्ध है। अहो! मैं बहुत कालके बाद शान्त होकर सब ओरसे परम निर्वाणपदको प्राप्त हुई हूँ। कुम्हार आदिके द्वारा बनायी गयी यृत्तिकाकी सेना जैसे यृत्तिका-रूप ही है, जैसे ही सुर, असुर आदिसे युक्त यह विश्व समावृतः परमात्मास्वरूप ही है तथा द्रष्टा एवं दृश्यरूप सत्ता भी एक चैतन्य-स्वरूप ही है। यह ऐक्य है, यह द्वैत है; यह मैं हूँ, यह मैं नहीं हूँ इत्यादि अमज्जित भोह कथा चौंक है और वह किस तरह, किसको, कहाँ-से और कहाँ हुआ है? अर्थात् किसीको कहीं नहीं। यह सब मिथ्या है। अतः मैं अपने अंदर अनन्त परमार्थिक स्वरूपको अनायास प्राप्तकर अब शान्तस्वरूपसे स्थित हूँ। न तो इदं है, न यह है और न दूसरा है एवं न भाव है और न अमाव ही है। सब कुछ शान्त, निरालम्ब केवल परमात्मास्वरूप परमात्मा ही है।' इस प्रकार परमात्माके भननमें परायण वह चूढ़ाला यथार्थ ज्ञानके द्वारा उस परमात्माके वास्तविक स्वरूपको तत्त्वसे ज्ञानकर राग, भय, भोह आदि अज्ञान-विज्ञारोके शान्त होनेसे उसी प्रकार शान्त हो गयी, जैसे शरत्-कालमें वाकाश बादलोंसे रहित हो जाता है। ( सर्ग ७८ )

## चूडालाको अपूर्व शोभासम्पद देखकर राजा शिखिभद्रका प्रसन्न होना और उससे बारालाप करना

श्रीकृष्णजी कहते हैं—श्रीराम ! चूडाला संसारके सम्बन्धों, सुख-दुःख आदि दृढ़ों, राग और इन्द्रियोंसे रहित हो गयी थी । वह न किसी पदार्थका ग्रहण करती थी और न किसीका स्वाग करती थी । केवल न्यायसे प्राप्त आचरण करती थी । सदारुपी महासमुद्रको वह पर कर गयी थी । संदेहरुपी जालसे मुक्त हो गयी थी । वह परमात्माके महान् लाभसे परिपूर्ण हो गयी थी । इस प्रकार सुन्दर वर्णवाली शिखिभद्रकी ब्रेष्ट धर्मपत्नी वह चूडाला भोजे ही काल्ये जानेयोग्य परमात्माको यथार्थ जान गयी । अपने विवेकके दृढ़ अन्यास-बलसे परमात्माका यथार्थ अनुभव हो जानेपर वह परम शोभा पाने लगी । किसी समय उस सुन्दर वर्णवाली चूडालाको अपूर्व शोभासे बुक्त देख राजा शिखिभद्रने हँसते हुए कहा—प्रिये । इस समय तुम देखे ही अत्यन्त



तुशोभित हो रही हो, जैसे तुमने अपृतका मार पी लिया हो या अलम्य परमात्मपदकी प्राप्ति कर ली हो अथवा आनन्दप्रवाहसे तुम परिपूर्ण हो गयी हो । इस समय मैं तुम्हारे चित्तको भोग लालसासे रहित, शान्त, विवेकसे बलिष्ठ, समताको प्राप्त, गम्भीर और चञ्चलतारहित देख रहा हूँ । तुम्हारे मनके साथ किसी भी विश्वानन्दकी वस्तुसे उपमा नहीं दी जा सकती । भर्ड । क्या तुमने अग्रत पी लिया है या किसी साम्राज्यकी प्राप्ति कर ली है या मन्त्रके प्रयोग या योगके साधनसे अमरता प्राप्त कर ली है ? नील कमच्चके सदृश नेत्रोंवाली । क्या तुमने राज्य, विन्द्यामणि और ब्रैंडोक्ष्यसे भी बदकर किसी अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति कर ली है ?

चूडालाने कहा—आर्य ! इस समस्त विनाशहीन संसारका स्वागतकर इससे मिल सत-असत-स्वरूप सर्वाशक परमात्माका मैने आश्रय लिया है, इसीलिये मैं परम श्रीसम्पन्न होकर स्थित हूँ । एकमात्र आकाश-सदृश विमल अद्वितीय केवल हृदयरूप विन्मय महार्गे अकेली ही मैं रमण करती हूँ, राजलीलाओंमें मैं कभी रमण नहीं करती; इसीलिये मैं परम श्रीसम्पन्न होकर स्थित हूँ । मृणवान् आसन, उधान और घरोंमें रहकर भी मैं परमात्माके स्वरूपमें स्थित रहती हूँ तथा विरय-योगोंसे दूर हूँ; इसीलिये मैं परम शोभायुक्त हुई स्थित हूँ । मैं सुख-सम्पति नहीं चाहती, न अर्य और अनर्थको ही चाहती हूँ; दूसरी किसी प्रकारकी स्थिति भी ही चाहती हूँ; दूसरी किसी प्रकारकी स्थिति भी नहीं चाहती । जो कुछ न्यायसे प्राप्तवानुसार आद होता है, उसीसे संतुष्ट रहती हूँ । राग और विद्वेष्को विनष्ट कर देनेवाली आमदिव्यक तुष्टि और शास्त्राद्विरूपी सखियोंके साथ मैं रमण करती हूँ; इसीलिये मैं परम शोभासम्पन्न होकर स्थित हूँ । (मं. ७९)

राजा शिखिभवका चूडालाके वचनोंको अयुक्त बतलाना, चूडालाका एकान्तमें योगाभ्यास करना  
एवं श्रीरामचन्द्रजीके पूछनेपर श्रीवसिष्ठजीके द्वारा कुण्डलिनीशक्तिका तथा विभिन्न  
शरीरोंमें जीवात्माकी स्थितिका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! परमात्माके स्वरूपमें स्थित उस चूडालाके इस प्रकार कहनेपर उसके वचनोंका रहस्य न जाननेके कारण राजा शिखिभव दृढ़ते हुए कहने लगे ।

शिखिभवने कहा—सुन्दरी राजपुत्रि । तुम बालबुद्धि हो । तुम्हारा वचन युक्तिसंगत नहीं है । तुम जिस प्रकार राजलीलाओंमें रमण करती आयी हो, उसी प्रकार रमण किया करो । भद्रे । बतलाओ तो सही जो वस्तु आकार-सामान्यका परिस्थाग करके कभी भी प्रत्यक्ष न होनेवाली निरक्षरताको प्राप्त हो सकती है, वह प्रत्यक्ष और अस्तित्वसे शून्य वस्तु कैसे शोभित हो सकती है ? धनादि समस्त भोग-वस्तुओंका परिस्थाग करके जो एक शून्य आकाशमें ही रमण करता है, वह शोभित होता है—यह कहना कैसे संगत हो सकता है ? जो धीरबुद्धि पुरुष ब्रह्म, भोजन, शश्या आदि सारे साधनोंका परिस्थाग करके अकेला स्वरूपमें ही स्थित रहता है, वह कैसे शोभित हो सकता है ? इसलिये सुन्दरी ! तुम बाल हो, मुधा हो और चपल हो । विलासिनि ! अनेक प्रकारके आलाप-विवासोंसे जिस तरह मैं क्रीड़ा करता हूँ, उसी तरह तुम भी क्रीड़ा करो ।

राजा शिखिभवने इस प्रकार अपनी प्रिया चूडालाके प्रति कहकर अदृष्टास करते हुए मध्याह्नमें स्नान करनेके लिये उठकर चूडालाके महलसे प्रस्थान किया । ‘बड़े दुःखका शिवय है कि अभीतक राजा अपने स्वरूपमें स्थित नहीं हुए हैं । मेरे वचनोंको भी वे न स्फळ सके—



इस प्रकारके विचारसे खिन्न हुई वह चूडाला अपने कार्यमें संक्षेप हो गयी । रामभद्र ! तदनन्तर वहींपर उस प्रकारके भिन्न-भिन्न आशयसे युक्त उन दोनोंका उस समय भी पहलेकी सांसारिक क्रीडाओंमें उसी तरह बहुत काउ चला गया । एक समयकी बात है, नित्यतुष्ट और इच्छारहित चूडालाको लीलाक्षण आकाशमें गमनागमन करनेकी स्फुरणा हुई । तब वह राजपुत्री आकाशमें गमनागमनकी सिद्धिके लिये समर्पण मौगोंकी अवहेलना करके और निर्जन स्थानमें आकर अकेली ही एकान्तमें आसन लगाकर उद्दूर्घामी प्राणवायुका निरोध करनेके लिये अभ्यास करने लगी ।



श्रीरामजीने कहा—प्रभो ! जो अनारम्भ पुरुष है, वे अपनी सफलताके लिये अयथा जो आमङ्ग हैं, वे केवल लीलाके लिये किस क्रमसे इन सिद्धियोंको सिद्ध करते हैं, वह मुझसे कहिये ।

श्रीवसिष्ठजी थोड़े—पिय राघव ! इस जगत्में सभी नाह माध्य पस्तु तीन तरहकी होती है—उपादेय ( प्रहृण करनेमें ), हैय ( त्यज्य ) और उपेक्षाके योग्य । सद्बुद्धे । जो वस्तु साक्षात् या परम्परासे मुखदायक होती है, वह उपादेय होती है; जो मुख्यनिष्ठतक होती है, वह हैय होती है; एवं जो वस्तु इन दोनोंके बीचकी होती है, वह उपेत्य होती है—ऐसा अनुभवी लोगोंका कहना है । परमामत्तत्त्वको जाननेवाले श्रेष्ठबुद्धि निहान्वती हृषियें जब यह सब परमामत्तरूप हो जाता है, तब इन तीनों पक्षोंसे कोई भी पक्ष नहीं रहता । किसी समय इनी व्यवहारकालमें नीलासे ही इस समस्त जगत्को

उपेक्षा-नुदिसे केवल देखना है और सभाधिकन्दमें नहीं देखता । ऐश्वर्यादि एक ही वस्तु शनीको हृषिये उपेक्षाके योग्य, मृदुकी हृषिये उपादेय और उसम वैराग्यसम्बन्ध पुरुषकी हृषिये हैय हो जाती है । श्रीराम ! आकाशगमन आदि सिद्धियोंका क्रम कैसा है, उसे तुम क्या सुनो ? देश, काल, क्रिया एवं इन्द्रियी अपेक्षा रखनेवाली सब तरहकी सिद्धियों यहाँ जीवको मोहित करती हैं । मणि, वौषधि, तप, मन्त्र और क्रियासे दोनेवाली सिद्धिके क्रमका निरूपण अनाकृत्यक है; क्योंकि यह अप्यामविषयमें विभ द्वारा हृषिये की विस्तारपूर्वक वर्णन करना अप्यामविषयमें हानिकर है । इसलिये शिखिष्वजकी कथाके प्रसङ्गसे प्राम सिद्धिखण्डी फलसे युक्त इस प्राणादि वायुकी अम्यास-क्रियाको तुम अवश्य करो । सद्य अर्थसे यि न पदार्थोंकी वासनाओंका त्याग करके गुदा आदि दोरोंके संकोचसे; सिद्धादि आसन, काया, मरुक और गर्दनकी समता, निवलता तथा नासिकाके अप्रभागमें हृषियोंसे स्थिर करना आदि योगशास्त्रोंके क्रियाओंसे; भोजन और आसनकी पश्चिमतासे, भलोर्मोति योगशास्त्रके परिशीलनसे, उच्चम आचरणसे, सज्जनोंके सहस्रे, सर्वत्यागसे, मुख्यसनसे वैठव रकुल कालतक प्राणायामके दृढ़ अम्याससे, कोश-संभ आदिके सर्वथा त्यागसे तथा भोगोंके त्यागसे एवं रेतक, शूक और कुम्भकका अच्छी तरह अम्यास हो जानेवर प्राणोपर पूर्ण प्रमुख हो जानेसे योगीके पांचों प्राण वसी तरह उसके बधीन हो जाते हैं, जिस सदृ राजाके सेवक राजाके वशमें होते हैं ।

राघव ! प्राणायामके द्वारा देहमें स्थित प्राण-वन्नन वायुके अपने अधीन हो जानेपर राज्यसे लेकर मेहरपेस सभी सम्पत्तियों मुख्यसाध्य हो जाती है । महदताशार ( गोल कुण्डलाकार ) से युक्त, मर्म ( नाभि ) स्थानमें

समाप्रित, सौ नाडियोंकी आधय आन्त्रवेष्टनिका ( मुषुम्ना ) नामकी नाड़ी है । श्रीराम ! देव, असुर, मनुष्य, मृग, नक्ष, सूर, कीट, पतल आदि सब प्रकार-के प्राणियोंमें वह नाड़ी स्थित है । गुदा से लेकर भौंहके बीचतक सब छिंदोंका स्पर्श करती हुई वह मुषुम्ना नाड़ी मनकी दृष्टियोंसे भीतर आश्रु और बाहर प्राणादिसे स्पन्दयुक्त होकर सदा स्थित रहती है । वह कुण्डलाकार बाहिनी है, इसलिये कुण्डलिनी नामसे कही गयी है । वह सब प्राणियोंकी प्रसा शक्ति है तथा प्राण, इन्द्रिय, बुद्धि आदि सभी शक्तियोंकी सत्तास्त्रहर्तिकी निर्वाहक होनेसे सभको वेग प्रदान करनेवाली है । वही अपने मुखसे प्राणवायुको उपर फेंकती है और अपानको नीचे खीचती है, इसलिये सदा सौंस खीचती हुई स्पन्दनमें हेतु बनी वह उपरकी ओर मुँह करके कुपित सर्पिणीकी तरह स्थित रहती है । यह कोमल सर्वश्वाली कुण्डलिनी कमलमें अमरकी तरह देहमें जैसे-जैसे सुरित होती है, वैसे-वैसे अन्तःकरणमें ज्ञान होता है । उस कुण्डलिनीमें इदयकोशकी समस्त नाडियों सम्बन्धित हैं । वे सब नाडियाँ सागरमें नदियोंकी तरह उसीसे बारंबार उत्पन्न होती हैं तथा उसीमें विलीन होती जाती है । प्राणरूपसे उसके उर्ध्वगमनमें उत्सुक होने तथा अपानरूपसे अधःप्रवेशकी ओर उभुख होनेसे एक वही सम्पूर्ण ज्ञानोंकी साधारण वीज कही गयी है ।

निष्पाप श्रीराम ! पञ्चांओंसे लेकर स्थावर आदि देहोंमें तथा मनुष्यादि शरीरोंमें जिस तारतम्यसे जीवात्मा रहता है, यह मैं तुमसे क्रमशः कहता हूँ, मूँगो । यह

सत्य, नित्य चेतन, विकारशून्य और अनामय जीवात्मा अपनी कल्पनासे पञ्चभूतोंके रूपसे स्थित होता है । पूर्वकृत कर्मोंके अनुसार जीवात्माकी कल्पनासे पञ्चभूत मनुष्यादि देहभावकी, तिर्यग् देहभावकी, सुवर्णभावकी, देशादिभावकी और द्रव्यादिभावकी ग्राहि होती है । रघुनन्दन ! इस तरह यह संसार केवल पञ्चभूतका विकासमान ही है और वह चेतन जीवात्मा ही यहाँ सर्वत्र विषमान है । वही जीवात्मा केवल पञ्चभूतोंके सम्बन्धसे मनुष्यादि देहोंमें बौद्धिक ज्ञानकी विशेषताके कारण चेतन-प्रधान, कहीं ( निर्यादिमें ) जड़-चेतन उभय-प्रधान और वृक्ष, पदाङ आदि स्थावर योनियोंमें जड़-प्रधान रहता है । निष्पाप श्रीराम ! देहादि आकाशमें परिणत पञ्चभूत जीवका संकल्प होनेके कारण जीव कहलाता है और पहाड़ आदि तो केवल जड़ ही हैं एवं वृक्षादि स्थावर बाहरकी बायुसे स्पन्दनशील ( चेष्टावान् ) होते हैं । । पञ्चभूतसमूहात्मक मेरु पर्वत आदि तो तुणकी भौति जड़ हैं; किंतु ये वृक्ष, कीट आदि स्थावर-जंगम प्राणी चेतन हैं । इनमें वृक्ष आदि स्थावर जातिकी वासना निद्राप्रस्त मनुष्यकी वासनाकी भौति प्रस्तुत है तथा मनुष्य और देवता आदिमें बुद्धिकी अधिकताके कारण उनकी वासना प्रशुद्ध है । पञ्च, पक्षी आदि मलिन वासनासे युक्त हैं, किंतु मनुष्योंमें कुछ मोक्षगार्मा मनुष्य वासनाओंसे रहित हैं; क्योंकि वे विवेकको प्राप्त हो गये हैं । अतः वे इस संसारमें पुनः जन्म-धारण नहीं करते; किंतु इनसे मिन्न अविवेकी मनुष्य बार-बार संसारमें भ्रमण करते रहते हैं ।

( सर्ग ८० )

### आधि और व्याधिके नाशका तथा सिद्धिका और सिद्धोंके दर्शनका उपाय

श्रीरामनन्दजीने पूछा—मुमीधर ! इस शरीरमें आधि ( मानसिक ) और व्याधि ( शारीरिक ) रोग

किससे उत्पन्न होने हैं तथा किससे बिनष्ट होते हैं ? यह मुमोक्षको समझाकर कहिये ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! आधि और व्याधि—  
ये दोनों दुःखके कारण हैं । श्रीवधादिके द्वारा इनकी  
निवृत्तिसे मुख प्राप्त होता है तथा ज्ञानके द्वारा इनका  
समूल नाश होता है । वही भोक्ता कश्छलाता है । शरीरके  
बांदर आधि और व्याधियों कभी परस्पर एक दूसरेकी  
कारण अनकर उत्पन्न होती है अर्थात् कभी आधिसे  
व्याधि हो जाती है और कभी व्याधिसे आधि हो जाती है ।  
कभी आधि-व्याधि—दोनों एक साथ हो जाती हैं और  
कभी सुखके अनन्तर दुःखरूप ये आधि-व्याधि कपसे  
उत्पन्न होती हैं । शारीरिक दुःखको व्याधि कहते हैं  
और वासनामय मानसिक दुःखको आधि । श्रीराम !  
यह जान लेना चाहिये कि अज्ञान ही इन दोनोंका  
मूल कारण है । यथार्थ ज्ञान होनेपर इनका क्षयश्य  
विनाश हो जाता है । यथार्थ परमात्मज्ञान और  
इन्द्रिय-नियन्त्रके अभावसे, राग-द्वेषमें फँस जानेसे तथा  
यह प्राप्त हो गया, यह प्राप्त होना शेष है—इस तरह  
रात-दिन विन्ता करनेसे जडताके कारण महामोहदायिनी  
आधियों ( मानसिक व्यथाएँ ) उत्पन्न होती है । प्रबल  
इच्छाओंके पुनः-पुनः स्फुरित होनेसे, मूर्खतासे, चित्तके  
न जीतनेसे, दुष्ट अन्त खानेमें तथा श्वशान आदि  
निकृष्ट स्थानोंमें निवास करनेसे शरीरमें व्याधियों  
( शारीरिक रोग ) उत्पन्न होती है । आधी रातमें तथा  
प्रदोषादि कालमें भोजन एवं मैथुनादि व्यवहारसे,  
दुर्जर्कर्म करनेसे, दुर्जनोंकी सङ्घटितरूप दोषसे तथा विष,  
सर्प, व्याघ्र और चोर आदिका मनमें भय होनेसे  
शरीरमें व्याधि उत्पन्न होती है । नाडियोंके ठिक्कोंमें  
अन्नके रसका प्रवेश न होनेके कारण नाडियोंके क्षीण  
होनेसे अपवा उन ठिक्कोंमें अन्नके रस एवं बायु आदिके  
आधिक प्रवेश हो जानेके कारण नाडियोंके एकदम भर  
जानेसे, कफ, विष आदिके प्रकोपमें, प्राण तथा शरीरके  
व्याकुञ्ज हो जाने आदि अनेक रोगोंके द्वारा रोग उत्पन्न  
होता है ।

अभिमतपठायोंकी प्राप्ति होनेसे व्यवहारिक व्याधियों  
तथा आधि ( अज्ञान ) के क्षयसे आधिसे दत्तन  
मानसिक व्याधियों भी मर्दीमौति न एहों जानी हैं ।  
गवव ! आज्ञानके बिना जन्मादि विकारोंकी उड़व्याधि ( अज्ञान ) न ए नहीं होती, क्योंकि उड़व्याधि  
यथार्थ ज्ञानसे ही रञ्जुमे प्रतीत होनेवाला सर्व न ए होता  
है । जैसे वर्याकालजी नहीं अपने टटके सभी वृक्षोंनी  
जड़से उखाड़ फेंकती है, वैसे ही सभूर्य आधि  
और व्याधियोंको बड़से उखाड़ फेंकनेवाला जन्मादि  
विकारोंकी मूल अज्ञानरूपी व्याधिका क्षय हो है, जो  
परमात्मा के यथार्थ ज्ञानसे होता है । सामान्य व्याधियों  
तो आयुर्वेदोक्त आपविधियों तथा ऋग्वेदि शुभ फर्मासे  
अथवा शूद्रोंकी परम्परासे कथित औपधोसे न ए हो जाती है ।  
श्रीराम ! तीर्थोंमें रनान, मन्त्र, औपध आदि उपाय,  
शूद्रजनोंसे प्राप्त दुर्द आपविधियों तथा आयुर्वेदशास्त्रको  
तो आप स्वयं खुब जानते हैं । इनसे अतिरिक्त और नै  
क्या आपको उपदेश दें ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—गुरुवर ! आधिसे व्याधि  
कैसे उत्पन्न होती है और औपधके अतिरिक्त मन्त्र,  
पुण्य आदिरूप युजिसे वह कैसे न ए होती है ?

श्रीवसिष्ठजी बोले—श्रीराम ! मानसिक पाण्डाओंमें  
चित्तके आकुल हो जानेपर शरीरमें क्षोभ हो जाता है;  
इसलिये क्रोधी मनुष्य अपने आगोका उचित मार्ग नहीं  
देख पाता । वह उचित मार्गमो न देवकर युग्मांग  
ओर उसी प्रकार दीड़ना है, जिस प्रकार धारासे धायत  
हुआ हरिण अपने स्वाभाविक मार्गको छोड़कर अन्य  
मार्गकी ओर दीड़ता है । प्राण-वायुके विद्यम उत्तरण  
कम, विष आदिके भर जानेसे नाडियों विरम झिरनेवाले  
प्राप्त हो जाती है, जैसे रातोंके अव्यवस्थित हो जानेवाले  
वर्षाश्रमकी मर्दीदा विषम-स्थिरिको—सिर्पुरको  
प्राप्त हो जाती है । प्राण-वायुके मंचरका घन दिनह  
जानेसे व्याया हुआ अन्न कुर्जीन्ता, अटोरेन्ता,

या अजीर्णनाखण दोषको ही प्राप्त होता है । इस तरह आधिसे व्याधि उत्पन्न होती है और आधिके अमावस्ये व्याधि भी मष्ट हो जाती है । जिस प्रकार मन्त्रोंसे व्याधियों बिनष्ट होती है—वह भी क्रम तुम सुनो । जिस तरह हरेका फल खानेसे खामालिक ही दखल लग जाते हैं, उसी तरह वायु, अग्नि, पृथ्वी, जल आदिके बीजरूप य र ल व आदि मन्त्रोंके वर्ण भी मान्त्रिक भाष्मानाके वशमें नाडियोंमें रोगकारमें परिणत अन्तरसोंका उत्पादन, पाचन आदि कार्य करते हैं । साधु-सेशाखण पवित्र पुण्यक्रियासे मन निर्मलताको प्राप्त होता है । चित्तके शुद्ध हो जानेपर शरीरमें आनन्द बढ़ता है । अतः— करणकी शुद्धिसे ये प्राणवायु अपने क्रमसे बढ़ते हैं और अनन्का उचित परिपाक करते हैं । इससे सब व्याधियों मष्ट हो जाती हैं । श्रीराम ! इस प्रकार आधि और व्याधिके नाश तथा उत्पादिके क्रमका वर्णन मैंने तुमसे कर दिया । अब तुम प्रकृत प्रसंगको सुनो ।

रात्रि ! पुर्येष्ठक नामक लिङ्गारामक जीवकी आधार-भूत कुण्डलिनीकों तुम सुगन्धिकी आधारभूत पुष्टमङ्गलीकी भौति जानो । पूरकके अम्बाससे जब प्राणी कुण्डलिनीको भर करके यानी कूमोकार नाडीमें प्राणवायुको रोक-कर समरूपसे स्थित होता है, तब मेह पर्णतके समान स्थिरता अर्थात् भैरवी सिद्धि तथा कायाकी गुरुता ( गरिमा नामक सिद्धि ) उसे प्राप्त होती है । जिस समय पूरकसे पूर्ण शरीरके भीतर मूलाधारसे लेकर प्रद्वारन्त्रपर्यन्त लंबा करके प्राणवायुको ऊपर खींचकर प्राणवायुके निरोन्नदे उत्पन्न गरमी और उत्प्रयुक्त शारीरिक और मानविक कष्ट सहन करनेके लिये सवित् ( कुण्डलिनी ), ऊपरकी ओर पहुँचायी जाती है । उस समय प्राणवायुको ऊपर खींचनेसे दण्डके सदृश लंबी द्वोकर वह कुण्डलिनी देहमें बैठी हुई छत्ताके समान सब नाडियोंमें अपने साथ लेकर अधिक अम्बास द्वोनंके कारण सर्पिणीकी भौति शीघ्र ऊपर चढ़ी

जाती है । उस समय नाडियोंमें वायु भर जानेसे पैसे लेकर मस्तकतक बिंदुल इलके हुए इस शरीरको कुण्डलिनी इस प्रकार ऊपर उठा ले जाती है, जिस प्रकार पवनमें पूर्ण जलगत माघी मनुष्यको जलके ऊपर उठा ले जाती है, यही योगियोंका आकाशगमन है । इस प्रकार अम्बाससे युक्त आकाशगामी योगसे\* अर्थात् आकाशके साथ शरीरका सम्बन्ध रखनेके लिये किये गये संयमरूप योगसे योगी लोग ऊर्ध्व गतिकी प्राप्त हो जाते हैं । जिस समय दूसरी नाडियोंके व्यापारको रोक देनेवाले ऐचक प्राणायामके प्रयोगसे ऊपरकी ओर खींच ली गयी कुण्डलिनीरूपा प्राणशक्ति सुषूप्ता नाडीके भीतर प्राणवायुके प्रवाहसे मस्तकके दोनों कणांडोंकी संधिरूप कपाट ( किंवाद ) के ऊपर-बारह अंगुल स्थानमें मुहूर्तभरके लिये स्थित रहती है, उस समय आकाशगामी सिद्धोंके दर्शन होते हैं;† किंतु अक्षनका आश्रय करनेवाला मलिन पुरुष इन्द्रियोंसे या दूसरे किसी अदिव्य उपायसे या इस पृथ्वीपर विचरण करनेवाला कोई भी पुरुष वायुस्तरूप आकाशगामी सिद्धोंको कभी नहीं देख सकता । परंतु रात्रि ! योगके अम्बाससे मनके सकृत हो जानेपर विषयोंसे दूर सस्थित बुद्धिरूपी नेत्रसे स्वभक्ति भौति आकाशगामी सिद्ध दिखायी देते हैं और वे अमीष वर्षोंको भी देते

\* इनका वर्णन योगदर्शनमें इस प्रकार आया है—  
कायाकाशायोः सम्बन्धसंयमाहुतुर्-  
लसमात्तेभासाशगमनम् ।<sup>12</sup>

( योग० विभूति० ४२ )

अतीर और आकाशके सम्बन्धमें संयम करनेसे अथवा इलकी बलु ( रुई आदि ) में संयम करनेसे आकाशमें चलनेकी शक्ति आ जाती है ।

† योगदर्शनमें वत्तलाया गया है—

भूर्ध्वश्चेतिपि भिन्नदर्जनम् ।<sup>13</sup> ( योग० विभूति० ३२ )

‘सिद्धकं कणालं एक छिद्र है, इसीको ब्रह्मरूप कहते हैं, वहाँ जो प्रकाशमयी ल्योति है उसमें संयम करनेवालेको पृथ्वी और स्वर्गके खींचमें विचरण करनेवाले सिद्धोंके दर्शन होते हैं ।’

है। जिस प्रकार स्वन्ममें पदार्थोंका अवलोकन होता है, उसी प्रकार सिद्धोंके भी दर्शन होते हैं। वेदव्य स्वन्मकी अपेक्षा विशेषता यही है कि सिद्धोंकी प्राप्तिमें संकाद, बंदोन आदि फल्लूप पदार्थोंकी प्राप्ति होती है।

रेचक प्राणायामके अन्यासरूप युक्तिसे मुखसे बारह-बारह अंगुल्यरिमित देशमें प्राणको चिरकालक स्थित रखनेपर योगी अन्य शरीरमें प्रवेश कर सकता है। सारे शरीरमें ग्रदीप उस जागरानिसे स्वभावतः शीत-शातात्मक वह शरीर ऐसे ही उप्पाताको प्राप्त होता

है जैसे सूर्यसे तीनों लोक। तारोंके आक रक्ते समान तथा हृदयपश्चमें सुवर्ण-भ्रमरके सहश वह तेज इम शरीरमें चारों ओर विचरता है, जो योगियोंकी—चिन्त्य दशाको प्राप्त है अर्थात् योगी लोग जिसकी उपासना करते हैं। इस प्रकारसे उपासित वह तेज प्रकाशस्वरूप ज्ञान प्रदान करता है, जिससे लाख योजनकी दूरीपर स्थित वस्तु भी सदा आँखोंके सामने दिखायी देती है। उषा-प्रहृति प्राणायाम अनिस्तरूप है तथा शीतल-प्रगृहनि अग्न वायु चन्द्र-स्वरूप है। छाया और धामकी भौति ये दोनों मुखरूप मार्गमें स्थित रहते हैं। (सा० ८१)

### ज्ञानसाध्य वस्तु और योगियोंकी परकाय-प्रवेश-सिद्धिका वर्णन

श्रीयसिद्धजी कहते हैं—श्रीराम ! योगके द्वारा साध्य अग्निमादि पदार्थोंका साधन तुम मून चुके। अब अवण-मूर्खण ज्ञानके द्वारा साध्य विषयको मूनो। इस संसारमें एक, अद्वितीय, कुद, सौध्य, अनिर्देश्य, सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर और शान्तिमय सचिदानन्दधूम परमाम परमाम ही है। न यह दृश्य जगत् है, न इसकी कोई क्रिया है। यह जीव इस मिथ्या शरीरको सङ्कल्प-भ्रमसे उसी प्रकार देखता है, जिस प्रकार बालक उद्घट प्रेतको। जब प्रज्वलित ज्ञानदीपसे उत्तम प्रकाश हो जाता है, तब इस जीवका सङ्कल्पमोह उसी तरह विनष्ट हो जाता है, जिस तरह शर्तकालमें भेद। आगनेपर जैसे प्राणी स्वन्मके संसारको नहीं देखता, थैसे ही सचिदानन्द परमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर जीवात्मा देहको आसम्बुद्धिसे नहीं देखता। अनात्मिक शरीर आदिमें तात्त्विक भावनासे यह जीव देहसे आवृत होकर स्थित रहता है; किंतु एक ज्ञानस्त्रकी भावनासे देहसे रहित, श्रीगान् और परम मुखी हो जाता है। अनात्म शरीर आदिमें जो आरम्भकी भावना है, वह इद्यका बड़ा भारी अन्धकार है। वह सूर्य आदिके प्रकाशसे दूर नहीं किया जा सकता। वह अज्ञान-

अन्धकार तो परमात्मामें ही आरम्भ-भावनासे—‘संग्राध्यायक निरजन और निर्वित सचिदानन्द दश में ही है’—इस यथार्थ ज्ञानरूपी सूर्यसे ही नष्ट होता है।

अन्य तत्त्वज्ञानी योगी लोग जिस पदार्थकी जिम रीनिमे भावना करते हैं, वे उस पदार्थको उसी रीतिसे शीघ्र अपनी उस दृढ़भावनाके बलसे देख लेने हैं किंतु राष्ट्र ! दृढ़भावनाके अनुसन्धानसे विमूळ ज्ञानी प्राणी नो दिव्य-को अष्टतके समान और अष्टतको भी विषयके सम्मन समझ लेने हैं। इस प्रकार दृढ़ भावनासे जिम दिव्य ज्ञानी प्राणीके द्वारा जिस पदार्थकी जिम रीनिमे भावना की जाती है, उसी समय वह प्राणी अद्वी दृग जाता है, यह संसारमें देखा भी जाता है। वैसे स्वन्मका संसार स्वन्ममें प्रत्यक्षकी ज्यों दांखना है, वैसे ही संचकी भावनासे देखा गया वह दारीर हो जाता है और असत्यकी भावनासे विषेकर्त्तृक देखा गया वह दारीर शून्यनाको—अभावको प्राप्त हो जाता है।

साधुस्त्रभाव श्रीराम ! अग्निमादि पदार्थी प्राप्तिमे त्रुट्टि इस प्रकारसे ज्ञानशुक्ति तो द्वन नी। अब तुम वह दृमी युक्त मूनो। जिस तरह वायु पुण्ड्रमेंसे गृह्य दीक्षहर उम्बर ग्राणेन्द्रियके साथ सम्बन्ध कर देता है, उसी तरह योगी

रेखके अन्यासरूप योगसे कुरडलिनीरूप घरसे बाहर निकलकर ज्यों ही दूसरे शरीरमें जीवका सम्बन्ध करता है, ज्यों ही यह शरीर परित्यक हो जाता है। जीवरहित यह देह चेष्टाओंसे रहित होकर काठ और मिट्टीके ढेलेके सदृश पड़ा रहता है। जैसे सिंचन करनेवाला पुरुष जलशूर्ण कुम्भसे शूक्ष और उत्ताको सीधनेकी इच्छा करता है, उसे ही सौचता है, वैसे ही अपनी इच्छिके अनुसार देह, जीव, मुस्ति, स्थावर और जलम सबमें उनकी सम्पत्तिका योग करनेके लिये जीवको प्रशिष्ट किया जाता है।

उक्त प्रणालीसे परदेहमें सिद्धिश्रीका उपयोग कर

स्थित हुआ योगी यदि अपना पहला शरीर विद्वाम रहा तो उसमेंपुनः प्रविष्ट हो जाता है और यदि न रहा तो दूसरे शरीरमें जबतक उसकी रुचि रहती है, तबतक उसमें प्रविष्ट होकर स्थित रहता है। अथवा देहादि सम्पूर्ण कल्पित पदार्थोंको और जगत्की सर्वव्यापी ज्ञानसे परिपूर्ण करके पूर्णरूपसे स्थित रहता है। श्रीराम-योगरूप ऐश्वर्यसे सम्पन्न चेतन जीवात्मा सदा प्रकट दोषशूल्य परमात्म-सत्त्वको जानकर जो भी कुछ जैसा चाहता है, वैसा ही उसे तत्काल प्राप्त कर लेता है। वास्तवमें अनावरणतारूप उत्तम पद ही यथार्थ पद है, यों अनुभवी योग कहते हैं। ( सर्ग ८२ )

**चूडालाकी सिद्धिका वैभव, गुरुपदेशकी सफलतामें किराटका आख्यान, शिखिष्वजका वैराग्य,**  
**चूडालाका उन्हें समझाना, राजा शिखिष्वजका आधी रातके समय राजमहलसे निकलकर**  
**चल देना और मन्द्राचलके काननमें कुटिया बनाकर निवास करना**

श्रीक्षिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन। इस प्रकार निरन्तर योगका अन्यास करनेवाली वह राजरानी सती-साध्वी चूडाला अणिमा आदि आष सिद्धियोंके गुणोंके ऐश्वर्यसे सम्पन्न हो गयी। मांह आदि दोषों तथा त्रिविध तापोंका उपशम हो जानेसे उसका हृदय गङ्गाजीको भौति निर्मल और शीतल हो गया। वह कभी आकाशगर्गसे गमन करती थी, कभी समुद्रके भीतर द्वीपोंमें पहुँच जाती थी और कभी स्वेच्छानुसार भूतलपर विचरण करती थी। यों विजयीकी प्रभाके समान चमकीले आमूषणोंसे विभूषित वह मुन्दरी चूडाला आकाशगर्गिनी होकर यत्र-तत्र घूमने। फिरने लगी। वह मोतियोंमें प्रविष्ट हुए धनोकी भौति कापु, तृण, पत्थर, भूत, आकाश, वायु, अग्नि, जल आदि सभी पदार्थोंमें निर्विज्ञतापूर्वक प्रवेश कर जाती थी। इस प्रकार उसने मेघगिरिके शिखरोंपर, लोकपालोंके नगरोंमें और दिशा एवं आकाशके मध्यमें स्थित सारे मुख्योंमें स्थूलरूपक विचरण किया तथा पश्च-पश्ची, भूत-पिशाच आदि एवं नाग, देवता, अमृत, विशाघर, अप्सरा



और सिद्धोंके साथ सम्बाषण आदि व्यवहार भी किया।

चूडाला अपने स्वामी राजा शिखिष्वजयोंको अनेक बार यज्ञपूर्वक ज्ञानाधृत राजपदेश करती, परंतु उनकी समझमें कुछ भी नहीं आता । जैसे बालकको विद्याके गुणका अनुभव नहीं होता, वैसे ही इतने लंबे कालके सम्पर्कमें रहनेवर भी राजा शिखिष्वज यह न जान सके कि मेरी पली चूडाला ऐसी गुणशालिनी है । चूडालाने भी अनधिकारी समझकर आत्मशान्तिकी प्राप्तिसे रहित राजाके सामने अपनी अणिमादि सिद्धियोंके ऐश्वर्यको दसी प्रकार प्रकट नहीं किया, जैसे शूदको यहकिया नहीं दिखलायी जाती ।

श्रीरामजीने पूछा—ऐश्वर्यशाली गुरुदेव ! इतनी बड़ी सिद्धयोगिनी चूडालाके प्रयत्नसे भी जब राजा शिखिष्वज ज्ञान नहीं प्राप्त कर सके, तब भला, अन्य सावारण अर्थको ज्ञानकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

श्रीविष्णुजीने कहा—रघुकुलमूल्यण राम ! गुरुद्वारा उपदेश प्राप्त करनेका क्रम केवल शास्त्र-मर्यादाका पालन-माप्र है । ज्ञान-प्राप्तिका कारण तो शिष्यकी विश्वासयुक्त विशुद्ध प्रका ही है; क्योंकि जाभनेयोग्य ग्रन्थ शास्त्रोंके अवणसे अथवा किसी पुण्यकर्मसे नहीं जाना जाता, उसे तो आत्मा ही जानता है ।

श्रीरामजीने पूछा—मुनिश्वेष ! यदि ऐसी ही बात है कि गुरुपदेश आपक्षानमें कारण नहीं है तो नगरमें जो यह क्रम प्रचलित है कि आत्मज्ञानका कारण गुरुपदेश है, यह कैसे उचित होगा ?

श्रीविष्णुजीने कहा—राघव ! (मैं इस विषयमें एक दृष्टान्त देता हूँ, सुनो—) विन्ध्याचलके जंगली प्रदेशमें एक किराट रहता था । वह धन-धान्यसम्पन्न होनेपर भी अत्यन्त कृपण था । श्रीराम ! एक बार वह उस जंगली मार्गसे कहाँ जा रहा था कि उसकी एक कौदी किसी वास-फससे ढके हुए स्थानमें गिर पड़ी । कृपण-शिरोमणि तो वह था ही; अतः उस एक कौदीको वह तीन सं० यो० खं० अं० १६—

दिनोंतक बारों और सारे वास-फसोंको उड़ाकर बोलनेका प्रयत्न करता रहा । उसके मनमें बारंबार ऐसी कल्पना उठ रही थी कि यदि यह कौदी मिट जाती तो समग्र-जुलार इस एकसे चार, चारसे छाठ, छाठसे ती, तीने इजार और इजारसे कई इजार कीड़ियोंहो जाती । उस समय सहजों मनुष्य उस कृपणका उपहास धर रहे थे; परंतु वह उनकी तनिक भी परवा न करके उम्र बनमें आलस्यरहित होकर रात-दिन खोजता ही रहा । तदनन्तर तीन दिनोंतक अथक परिश्रम करनेके पश्चात उसे उम्र जगलमें एक महान् विन्तामणि प्राप्त हुई, जो पूर्णिमाके चन्द्रगण्डल-सी आकार-प्रकार एवं ग्राकाशप्राणी थी । उसे



पाकर किराटका हृदय प्रसन्न हो गया और उड़ जान-द्युर्बक धर दौट आया । उह कितामणि जगहसे मग्न्हूं ऐश्वर्यके समान थी । उसकी प्राप्तिहो जानेसे उह मूर्द-शान्तिपूर्वक रहने लगा । निष्कार १३ : इह मूर्द शनिद्योग्यसे बतीत है और शर्णोन्देशमें तित्वनादी वृत्तियों उत्सन्न होती है, इसलिये गुरुपदेशमें उह—

प्राप्ति नहीं होती अर्थात् आपद्धानमें उपदेश कारण नहीं है। फिर भी गुरुपदेशके बिना आत्मतत्त्वकी प्राप्ति हो भी नहीं सकती; वह कृपण कौड़ीकी खोज न करता तो चिन्तामणिकी उपलब्धि उसे कैसे होती। इसलिये जैसे चिन्तामणिकी प्राप्तिमें कौड़ीकी खोज कारण है, वैसे ही इस महान् अर्थलूप आत्मतत्त्वकी प्राप्तिमें गुरुपदेश पूर्णतया कारण न होनेपर भी कारणताको प्राप्त है। क्योंकि श्रीराम। पुरुष कार्य तो कुछ और ही करता है और उसे उस कार्यका फल अन्य ही मिलता है। यह बात तीनों लोकोंमें देखो-मुझी जाती है; इसलिये आपद्धानके अनन्तर इस काश्पनिक जगत्को अनासक्ति और निष्काममायसे बहन करना ही श्रेष्ठस्तर है।

रात्रि। उनकान्तर राजा शिखिष्वज तरक्ष्यानरूप परम-पदकी प्राप्तिके बिना वैसे ही अत्यन्त मोहको प्राप्त हो गये, जैसे संतानहीन पुरुष पुत्र-आमावश्यपी तमसे अंधा-सा हो जाता है। उनका मन दुःखालिये संतप्त हो उठा। अतः प्रियर्ग-द्वारा अथी गयी भोग-सामग्रियों उन्हें आगकी उपट-सी प्रतीत होने लगी। वैराग्यके कारण उनका मन उनमें तनिक भी सुखका अनुभव नहीं करता था। उन्हें अब एकान्त प्रदेशोंमें, निर्झर-तटोंपर और गुफाओंमें ही निवास करना वैसे ही अधिक रुचने लगा, जैसे व्याघ्रके बाणप्रहारसे मुक्त हुआ जन्मु एकान्तमें छिपना ही पसंद करता है। रुचनन्दन। राजा शिखिष्वज सान्तवनापूर्वक अनुनय-विनय करनेवाले एवं समझाने-मुझानेवाले भूयोंके प्रार्थना करनेपर दिनका सारा काम-काज करते थे। परंतु उनका वैराग्य प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा था। उनकी बुद्धि अत्यन्त शान्त थी। वे परिवारक-की भाँति रहते थे। इसलिये विशाल विषयमोगों तथा राज्यश्रीका उपभोग करनेमें उनका मन खिल हो जाता था। दूसरोंको मान देनेवाले श्रीराम। वे देवकार्यके नियन्त्रण तथा ब्राह्मणों और सजनोंके लिये गौ, भूमि और सुर्वण आदिका सुले द्वायों दान करने लगे। वे तप करनेके



देशु कुञ्च-बान्धायण आदि ब्रतोंका अनुष्ठान तथा तीर्थों-बनों और आश्रमोंमें भ्रमण करने लगे। इतनेपर भी, उन्हें तनिव-सी भी शोकशून्य स्थिति वैसे ही नहीं प्राप्त हुई, जैसे धनर्थी पुरुषको खानरहित भूमिके लोदनेसे निविकी प्राप्ति नहीं होती। इस प्रकार महान् बुद्धिमान् होते हुए भी राजा शिखिष्वज चिन्तारूपी अग्रिमें संतप्त होकर सूखते जा रहे थे। तब वे संसाररूपी व्याखिकी ओषधिके विषयमें विचार करने लगे। यों चिन्तापरवश होकर वे दीन हो गये। उन्हें अपना राज्य विष-सा प्रतीत होने लगा। इस प्रकार उनकी बुद्धि विषयोंसे खिल हो गयी, अतः बहुमूल्य भोगपदार्थ सामने रखे जानेपर भी वे वैराग्यशुक्त राजा उनकी ओर ताकते भी नहीं थे। इसी स्थितिमें एक दिन चूड़ाला महलमें बैठी हुई थी, तब राजा उससे मधुर वाणीमें बोले।

शिखिष्वजने कहा—सूक्ष्माङ्गी प्रिये। मैंने बहुत दिनोंतक राज्यका उपभोग किया और विभवपूर्ण पदोंको



भी भोग लिया। अब मुझे वैराग्य हो गया है, अतः मैं बन जाना चाहता हूँ; क्योंकि बनवासी मुनिपर सांसारिक मुख, हुँच, आपसि, सम्पर्चि—ये कोई भी अपना अधिकार नहीं जमा सकते। न तो उन्हें देशके विनाशसे मोह-पूर्वक हुँच होता है और न संग्राममें ग्रजाजनोंका साथ ही करना-करना पड़ता है; अतः मैं बनवासी मुनियोंके मुखको राज्य-सुखकी अपेक्षा अधिक दस्तूर भानता हूँ। वैराग्ययुक्त मन जैसा एकान्तमें सुखका अनुभव करता है, वैसा सुख उसे न तो चन्द्रशेषनी रणणियोंके मुख-मण्डलमें मिलता है और न ग्राम एवं इन्द्रके अवनोमें ही प्राप्त होता है। इसलिये सुन्दरि! मैंने जो यह बन-गमनका उत्तम विचार किया है, इसमें बाधा ढालना उम्हारे लिये उचित नहीं है; क्योंकि कुलीन लियों स्वन्ममें भी पतिकी इच्छाको भङ्ग नहीं करती।

चूडाला थोली—जाय! जैसे बसन्त झट्ठुमें पुष्पकी शोभा होती है और शरद झट्ठुमें पुष्प भला मालूम देता है, उसी तरह जिस कार्यके करनेका अवसर प्राप्त हो,

उसीका सम्पादन करनेसे उम्हाकी दोषहोती ही कालके कार्यमें नहीं। इनमें जिनकं शरीर बुद्ध हो गये हैं, उन्हींके लिये बनका आधार लेना साप जैसे युवकोंके लिये नहीं। इसी कारण यह विचार मुझे पस्त नहीं है। ग्रियम्! जब वस्त्र आगेपर हम दोनोंके सिरके बाल उठाने पुष्प विलुप्त सफेद हो जायेंगे, उस समय हम दो साथ ही बरसे निकलकर बनको खले जाएंगे। राजन्। बिना समयके ही प्रजायात्मरूप कर्मका कर देनेवाले राजा के गव्यका विनाश ही जामाई उसे महान् पापका भागी होना पड़ता है अवसरके ही कार्य करनेशाले राजाओं प्रभारे होते हैं। इसी प्रकार न करनेयोग्य कार्यसे नीकर स्वामी क्षमामी नीकरको परस्पर भना करते ही हैं।

सिद्धिवज्जने कहा—क्षमन्नयनी ग्रिये! अभीष कार्यमें विज्ञ मत ढालो। अब तुम मुझे दूर एकान्त बनमें गया हुआ ही समझो। अनिन्दिय-कठोर-से-कठोर अहंवाली लियों भी बनशसके नहीं हो सकती, फिर तुम्हारे जङ्ग तो बदूत क्योंकि तुम अभी नवदूतती हो, अतः तुम्हें तो बनमें न चाहिये। बनशस तो पुरुषोंके लिये भी कठिन होता है; अतः तुम्हें तो प्रजात्म पान बना। इस उत्तम राज्यमें ही रहना चाहिये: क्योंकि दीर्घ जागेपर कुदुम्बका भाग बहन करना भीका रहेगा।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! अगली उम स्वप्नप्राणप्रियादे ऐसा अहकर जितेन्द्रिय राजा दिल्ली करनेके लिये उठवर बढ़ दिये और ज्ञान करने अपने सम्पूर्ण दैनिक कार्योंका सुन्नादन किया सम्पूर्णकाल हुआ, तथ पुनः संपादनीन ममन पूरा करके वे अपनी ग्रिय पनी नूटाणके साथ सो गये। तदनन्तर लाथी दरबार मन्दिर अब अस्ति नहीं रहा गया, सारी जल्दी गान्ध निष्ठने दीर्घ

और कोमल विवाहनसे युक्त पलंगपर सोथी हुई चूडाला भी गाढ़ निद्रामें निमग्न हो गयी, तब जिस पलंगके आधे विस्तरपर पहाड़ी सोथी हुई थी, उस पलंगसे राजा उठ खड़े हुए और ‘हे राजलक्ष्मि ! तुम्हें नमस्कार है’ यों कहकर अकेले ही अपने राजमहलसे चढ़ पड़े ।



चलते-चलते वे महासागरमें प्रवेश करनेवाले नदकी तरह एक भयंकर अरण्यमें जा पहुँचे । पुनः प्रातःकाल होनेपर राजा शिखिष्वज वेगपूर्वक बहांसे आगे चले और बारह दिनोंमें बहुत-से नगरों, देशों, पर्वतों और नदियोंको लौंघ गये ।

तत्पश्चात् वे मन्दराघटके टटवर्ती एक कामनमें जा पहुँचे, जो मनुष्यके लिये अति दुर्गम था । वहाँसे मनुष्योंकी वस्ती और नगर अत्यन्त दूर पड़ते थे । वहाँ उन्होंने एक चौरस एवं शुद्ध स्थानमें, जो जलसे विरा हुआ, शीतल, हरी-हरी धासोंसे आच्छादित होनेके कारण इयाम, किंवद्यता फलोंसे लदे हुए वृक्षोंसे सम्पन्न था, मञ्जरीयुक्त छताथोंसे बौधकर अपने लिये एक पर्णशाला बना ली । फिर राजा ने अपनी उस कुटियामें बौंसका विकला ढंडा, फलाहार-के लिये पात्र, अर्धपात्र, पुण्यपात्र, कमण्डल, रुद्राक्षकी माला, शीतका निवारण करनेके लिये गुदबी, चटाई और मृगचर्म आदि लाकर यथास्थान रख दिये । इनके सिवा और भी जो कोई वस्तु तापस-कर्मोंपर्योगी प्रतीत हुई, राजाने उसे भी लाकर वहाँ रख लिया । फिर दिनके प्रथम प्रहरमें प्रातःकाल उन्होंने संध्यापूर्वक जप और दूसरे प्रहरमें पुण्य आदिका संचय कर लेनेके बाद त्वान और देवार्चन किया । तत्पश्चात् कुछ जंगली फल, कल्द-मूल और कमलदण्ड आदि लाकर उन जितेन्द्रिय नरेशने जपपरायण हो अकेले ही वह रात बितायी । इस प्रकार मन्दराघटकी तलहटीमें अपने हारा बनायी गयी पर्णशाला-के भीतर बैठकर जप करते हुए मालव-नरेश शिखिष्वज खेदरहित होकर दिन बिताने लगे । वे अपने पूर्वानुभूत नित्य नूतन राजसी भोगविलासोंका कुछ भी स्मरण नहीं करते थे । मला, जिसके हृदयमें खिलेपूर्वक वैराग्यका उदय हो जायगा, उसके मनका अपहरण राज्यलक्ष्मियों कैसे कर सकती हैं ?

( सर्ग ८३-८४ )

सोकर उठी हुई चूडालाके द्वारा राजाकी खोज, धनमें राजाके दर्शन और राजाके भविष्यका विचार करके चूडालाका लौटना, नगरमें आकर राज्य-शासन करना, उदनांतर हुछ समय बाद राजाको शानोपदेश देनेके लिये ब्राह्मणकुमारके वेषमें उनके पास जाना, राजाद्वारा उसका सत्कार और परस्पर वार्तालापके प्रसंगमें कुम्भद्वारा कुम्भकी उत्पत्ति, वृद्धि और ब्रह्माजीके साथ उसके समागमका वर्णन

श्रीकृष्णजी कहते हैं—खुकुलभूषण राम ! इस वस्तुओंकी आवश्यकता पड़ती है, उन पदार्थोंका संग्रह करके कुटियामें रहने लगे । हृष्ण धरपर चूडालाने क्या

किया—अब उसे सुनो । आधी रातके समय जब राजा शिखिष्वज महलसे निकलकर दूर चले गये, तब अक्षसार, चूडालाकी नींद दूटी । वह तत्काल उठकर शव्यापर बैठ गयी और चिन्तामस्त होकर यों विचार करने लगी—

‘दुःखकी बात है, जो मेरे पतिदेव राज्यका परित्याग करके घरसे बनको चले गये; अतः अब मेरा यहाँ रहना किस कामका? मैं भी उनके समीप ही जाऊँगी; क्योंकि ब्रह्माने विषयोंके लिये पतिको ही एकमात्र गति निर्वासित किया है ।’ यों सोच-यिचारकर चूडाला पतिका अनुगमन करने-के लिये उठ खड़ी हुई और बरोखे के रास्ते निकलकर आकाशमण्डलमें स्थित होकर उसने अपने पतिको निर्देश बनमें भटकते देखा । फिर वह उनके मयिष्यके विषयमें पूर्णसूखसे विचार करने लगी । राघव! उसने अपने योगमण्डलसे राजाको जैसे, जिस निर्मितसे, जिस देश और कालमें जिसने कार्यक्रम जिस रीतिसे सम्पादन तथा जिस प्रकार निर्वाणकी प्राप्ति आदि करनी होगी, उन सभी अवश्यमावी विषयोंका योगके द्वारा अनुभव किया और फिर उन्हेंकि अनुकूल आचरण करनेके लिये वह ऐसा सोचकर आकाशसे लौट पड़ी कि दैवका यही निश्चित विधान मालूम पड़ता है कि कुछ कालके बाद ही मैं इनके सभीप जाऊँ, अतः अभी मेरा बनमें जाना ठीक नहीं है । इस प्रकार निष्य करके चूडालाने वहाँसे लौटकर पुनः अपने अन्तःपुरमें प्रवेश किया ।

दूसरे दिन उसने ऐसी बोकणा करा दी कि ‘किसी विशेष कारण बस महाराज इस समय बाहर गये हुए हैं ।’ इस प्रकार समस्त पुरावासी जनोंको आसनान देकर सुन्दरी चूडाला वहाँ रहने लगी । जैसे धानकी रखवाली करनेवाली लो समयानुसार पके हुए धानके खेतकी रक्षा करती है, जैसे ही वह समतापूर्वक अपने स्त्रामीकी शासनप्रणालीके अनुसार राज्यकी देख-भाल करने लगी । इस प्रकार बनमें राजा शिखिष्वजके और अपने महलमें

चूडालाके क्रमशः दिन, पक्ष, नास, श्रान्त और दर्द दीनजै लगे । यों सुन्दरी चूडालाको राजमहलमें और शिखिष्वजदो जंगली छताकुँझोंमें निवास करते अठारह दर्द धोन गये ।

तदनन्तर बहुत वर्षोंतक उस महाराजीउकी तलहटीमें निवास करते हुए राजा शिखिष्वज बृद्धवस्थाको प्राप्त हो गये । इधर चूडाला अपने पतिकी राणादि वासनाओंके परिपाकस्त्रै लक्ष्य करके उतने कालतक प्रतीक्षा करती रही । जब बनमें रहते हुए जरावरसासे शुक राजा शिखिष्वजके बहुत-से वर्ष व्यतीत हो गये, तब पतिके प्रनी अपने कर्तव्यकी भावनासे प्रेरित होकर चूडालाके मनमें ऐसा विचार उदय हुआ कि अब मेरे लिये पतिके समीप जानेका समय आ गया है । यों सोचकर वह मन्दराचटकी उपस्थिति-में जानेके लिये तैयार हो गयी और रात्रिके समय अन्तः-पुरसे निकलकर आकाशमार्गसे उद चढ़ी । यह आपु-मण्डलमें होकर यात्रा कर रही थी । जब वह आकाशके मध्यमें पहुँची, तब उसने वादटोंमें चमकती हुई विजलियोंका बारंबार अवलोकन किया । उस समय वह मन-ही-मन कहने लगी—‘अहो! प्राणियोंका स्वरूप जीवनपर्यन्त शान्त नहीं होता, इसी कारण आज मेरा भी मन उत्कण्ठित हो ही गया । किंतु सत्रे वित्त ! यह तुम्हारा कोई दोप नहीं है; क्योंकि तुम्हारी उत्पाद्य तो अपने स्त्रामीके प्रति है न । फिर भी तुम उत्पाद्यसे परिपूर्ण होकर स्थित हो, तुम्हारे मनीभौति उक्तिज्ञ होनेसे मेरा क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है; क्योंकि मेरे स्त्रामी तो अब तपत्ती हैं । उन वे कीणकाय एवं वासनाशूल्य हो गये होंगे । मैं तो देखा समझती हूँ कि उनका मन लब राघव आदि भोगेवी बोगेसे उपरत हो गया होगा । जैसे बर्दाचानकी हुड़ नदी महानदमें बिछकर उसीमें छिटीन हो जाती है, ऐसे ही उनकी वासनालता महान् आगमें एकनेह हो गयी होगी । वे एकाला होकर पकान्तने ही न रहते होंगे तथा उन वीतशंगकी वासनारें शान्त हो जाती हैं ।

मेरे विचारमें तो ऐसा आता है कि अब मेरे स्वामीकी स्थिति सूखे बृक्षकी-सी हो गयी होगी। तथापि चित्त । तुम्हें उक्कण्ठित होनेकी क्या आवश्यकता है । मैं खायं अपने योगबलसे परिदेवकी बुद्धिको उद्भुद करके उम्हें उक्कण्ठित कर दूँगी और फिर तुम्हारे साथ मिला दूँगी। मैं अपने मुनिसंखरूप स्वामीके इच्छारहित मनको समतायुक्त बनाकर राज्यमें ही नियुक्त करूँगी और फिर हम दोनों विरकाळक सुखशूर्वक निवास करेंगे । अहो ! निश्चय ही विरकाळके पश्चात् मैं इस शुभ मनोरथको प्राप्त करूँगी ।

यों सोचकर चूढाला आकाशमार्गसे उड़ती हुई पर्वतों, देशों, भैंदों तथा दिग्दिगन्तोंको आँखकर मन्दराचलमी उस

किसी एक प्रदेशमें पर्णद्वाया बनाकर उसमें बैठे हुए अपने पतिको देखा । जो पहले हार, बाजूबंद, कड़े और कुण्डल आदिसे विश्रित होकर द्वृमेरुके समान कान्तिमान् दीखते थे, उन्हींको आज चूढालाने कृशकाय, कृष्णर्क्षण तथा बीर्ण-शीर्ण पर्वती के तरह शुष्क शरीरवाला देखा । उनके सिरपर जटाएँ बैध गयी थीं तथा शरीरपर बल्कल बस शोभा दे रहा था । शान्त लोके थे ही; अतः अकेले ही शूमिपर बैठकर पुष्पोंकी माला गौँथ रहे थे । उन्हें देखकर सर्वाङ्गसुन्दरी चूढालाका मन शुल्क खिल हो गया; फिर वह मन-ही-मन कहने लगी—‘अहो ! मेरे पतिकी यह कैशी अज्ञानमरी मूर्खता है । इसी मूर्खताके प्रसादसे ही ऐसी दशाएँ आया करती हैं । ये शोभाशाली नरेश मेरे परम प्रिय पति हैं । इनका हृदय गाढ़ मोहरे आहत हो गया है, इसी कारण ये इस दशाको प्राप्त हो गये हैं । अतः अब मैं इन्हें सर्वोत्तम शान प्रदान करनेके लिये अपने इस रूपका परित्याग करके किसी अन्य रूपसे इनके समीप जाऊँगी; क्योंकि यदि मैं इसी रूपसे जाती हूँ तो ‘यह बाला मेरी प्रेयसी प्रिया है’ यों समझ कर ये मेरे कथनपर भलीभौति ध्यान नहीं देंगे, इन्हिये तपसीका वेष धारण करके इनके सामने उपस्थित होकर मैं क्षणमरमें इन्हें प्रबुद्ध कर दूँगी । इस समय मेरे स्वामीकी बुद्धि रागादि वासनाओंके परिपावकसे परिपक्ष हो गयी है, अतः अब इनके निर्मल चित्तमें आरमतत्त्व भलीभौति प्रकट हो सकता है ।’ यों मन-ही-मन विचार करके चूढाला योही देरतक ध्यानमन्न हो गयी । फिर, तक्काल ही जल-तरक्की तरह उसका रूप बदल गया और वह एक ब्राह्मणकुमारके रूपमें परिवर्तित हो गयी । फिर तो वह उसी रूपसे उस चर्गलमें उत्तर पड़ी और अपने पतिदेवके सामने जाकर खड़ी हो गयी । उस समय उपका मुख मन्द मुसकानसे द्वुशोभित हो रहा था ।

उस द्विजपुत्रका शरीर तपाये हुए शुकर्णके समान गौरवर्णका था, कंधेपर शुल्क यज्ञोपवीत लटक रहा था और



कन्दराके निकट जा पहुँची । वहाँ वह आहश्यरूपसे आकाशमें ही स्थित रही । फिर बृक्षों और लताओंके स्पन्दनसे गमनागमनको सूचित करनेवाली बायुकी तरह उसने घनके भीतर प्रवेश किया । वहाँ उसने घनके

वह दो निर्मल त्वच्छ बद्धोंसे आच्छादित था । इस प्रकार वह दूसरे भनसे आया हुआ मृत्युमालू तप-सा ही प्रतीति होता था । उस शोभाशाली हिन्दुमुमारको अपने सामने देखकर राजा शिखिष्वजने समझा कि यह कोई देवपुत्र आया हुआ है, अतः वे अपनी उड़ाऊँ छोड़कर तुरंत ही उठ सबे हुए और बोले—‘देवपुत्र ! आपको



ममस्तार है । आइये, इस आसनपर बिराजिये ।’ यो कहकर उन्होंने अपने हाथसे उसके सामने एक पत्तेका आसन रख दिया । तब ब्राह्मणकुमारने भी कहा—‘शर्जरें । आपको ग्रणाम है ।’

शिखिष्वजने कहा—‘महामाण देवपुत्र ! कहाँसे आपका शुभागमन हुआ है ? आज मुझे जो आपका दर्शन ग्रास हो गया, इससे मैं आजकर दिन सफल समझता हूँ । मानद ! आपका कल्प्याण हो । आपके लिये यह अर्थ है, यह पाप है, ये पुण्य है और यह तुम्ही हुई माला है—इन्हें आप महण करनेकी कृपा करें ।

थीकसिएँजी कहते हैं—निष्पाप राम ! ऐसा बहकत राजा शिखिष्वजने ब्राह्मणकुमारके वेषमें आयी हुई छन्नी उस प्रियतमा पत्नीको शाश्वतिभिके अनुनाम धर्घ्य था, पुण्य और माला आदि समर्पित किये ।

तत्पश्चात् ( ब्राह्मणकुमारके चेष्टमे ) चूड़ाला थोनी—सज्जनशिरोमणे ! आपने शान्त मनसे निर्वाणग्रामिके लिये फलकी कामनासे रहित उत्सृष्ट तपका संबंध को कर लिया है न ? क्योंकि सौंभूत ! आपने जो धन, धार्म-सम्पन्न राज्यका परित्याग करके महाननका आश्रय दिया है, आपका यह शास्त्र तत्त्वशास्त्रकी धारक समान है ।

मिलिष्वजने कहा—‘मगधन् । आपके लोकेश्वर चिह्न-संख्य सौंन्दर्यसे ही ज्ञात हो रहा है कि आप कर्ते देवता हैं, इसीसे सबु कुछ जानते हैं । इसमें आकर्षणकी कौन-सी बात है ? सौंन्दर्यशाली देव ! अभी मेरी भ्रियतमा भार्या बर्नेमान है । आजकल वह मेरे राज्यका मंथानन पर रही है । उसीके सारे अङ्गोंकी तरह आपके आँख उद्धित हो रहे हैं । अम्यागतका आदर-सत्कार परनेसे अपना जीवन सफल हो जाता है, इसलिये सरपुरुष अम्यागत-को देखतासे भी बदमर पूज्य मानते हैं । ( इसी प्रश्नग्रन्थे आपका आतिथ्य किया है । ) निर्वाण लग्दमात्रे हमान क्षमितमान् मुख्यालै देवपुत्र ! अब मेरे मनमें एक संदाय है, उसका आप निवारण कीजिये । वह संदाय यह है कि आप कौन हैं ! किसके पुत्र हैं ? और मुझपर एक करके कहाँसे और किस लिये यहाँ पधारे हैं ?

ब्राह्मणकुमार थोटा—‘राजन् । आपके प्रसन्नानुसार मैं सारी बानें कहता हूँ, सुनिये । इस जगन्मन्दित्ते मुनिश्वर नारद रहते हैं । उनका दृश्य परम विद्वान् है । उन्हें शरीरका झर्णा पुण्यलद्वीपके कमनीप मुखमें सुरांग-वर्णरूप-के लिनकके सदृश गौर है । जिसी समय ने ऐसी मेहमानिकी वन्दणमें प्यानादर्शित है । उम दुर्लभ-स्वरूप ही उच्चल तरङ्गोंकाली गङ्गाजी दृढ़ रटी है, जिनका उपर मेहमानिके सौंन्दर्यसे डब्बासित हो रहा था, निर्वाणे के

हारकी तरह सुशोभित हो रही थीं। उसी गङ्गा नदीके तटपर एक बार ध्यानसे विरत होनेपर नारद मुनि बैठे थे, तबतक उन्हें कङ्गणोंकी आनकारसे युक्त जलक्रीडाकी कल-कल ध्वनि सुनायी पड़ी। मूनते ही उनके मनमें कुछ कुरुक्षुल उत्पन्न हो गया और उन्होंने यह जानना चाहा कि यह क्या है। फिर तो कौतुकवश आरो ओर दृष्टि दीवानेपर उन्हें नदीमें रम्मा, तिलोत्तमा आदि अप्सराओंका दल दिखायी पड़ा, जो जलक्रीडासे निष्ठुर होकर बाहर निकल रहा था। भींग जानेके कारण उनके समस्त अङ्ग ऊपरसे नीचेतक ढीख रहे थे और ये परत्पर एक दूसरेमें प्रतिबिम्बित हो रहे थे, जिससे वे एक दूसरीके लिये दर्पण-सी बन गयी थीं। एक ही स्थानपर एकत्रित किये गये चन्द्रमण्डलके कलापुस्तकी भौति उस कमनीय नारीदलको देखकर जब सहस्रा नारदमुनिका विच्छ क्षुच्छ हो उठा, तब उनका वीर्य स्वरूपित हो गया।

तदनन्तर नारदमुनिने अपने मनरूपी उन्मत्त गजराज-को विशुद्ध बुद्धिरूपी रूपसे विवेकरूपी सुदृढ़ आश्राममें बौध दिया और उस स्थलित हुए वीर्यको, जो प्रलय-कालीन अग्निके तापसे पिवले हुए चन्द्रमके सदृश तथा पारद और सुर्वर्ण आदि शम्मुके दिव्य वीर्यके समान था, अपने पास ही पड़े हुए एक अमृत कान्तिमान् सफटिक कुम्भमें स्थापित कर दिया। फिर उन्होंने उस कुम्भको अपने संकल्पजनित दूधसे परिपूर्ण कर दिया, कुछ ही दिनोंमें वह घटस्थित शुभ गर्भ बृद्धिको प्राप्त हो गया। फिर तो जैसे मास चन्द्रमाको तथा वसन्त ऋतु पुष्पोंको उत्पन्न करती है, उसी प्रकार समय आनेपर उस घटने एक कमलदल-सदृश नेत्रोंवाले बालककी जन्म दिया। कुम्भ से वह बालक सम्पूर्ण अङ्गोंसे परिपूर्ण होकर निकला था। उस समय वह ऐसा जान पड़ता था मानो क्षीरसागरसे दूसरा श्यारहित पूर्ण चन्द्रमा विकला हो। शुल्पकके चन्द्रमाके समान वह कुछ ही दिनोंमें बढ़कर बड़ा हो

गया। उसका शरीर अनुपम सौन्दर्यसे शुक्ल था। जब वह जातकर्म आदि सभी संस्कारोंसे सम्पन्न हो गया, तब मुनिवर नारदने अपना सारा विद्याधन उस बालकमें दसी प्रकार स्थापित कर दिया, जैसे एक पात्रमें रखा हुआ धन दूसरे पात्रमें ढँडेल दिया जाता है। थोड़े ही दिनोंमें वह सम्पूर्ण धार्मिक विशिष्ट डाता हो गया। इस प्रकार मुनिवर नारदने उसे अपना प्रतिबिम्ब-सा बना दिया।

तदनन्तर नारदजी अपने पुत्रको साथ लेकर ब्रह्मलोक-को गये और वहाँ उससे अपने पिता ग्रहाजीके चरणोंमें अभिवादन करवाया। प्रणाम कर चुकनेके बाद ग्रहाजीने अपने पौत्रसे परीक्षार्थ वेदादि शास्त्रोंके विषयमें प्रश्न किये और उनका समुचित उत्तर पानेपर उन्होंने उसे पकड़कर अपनी गोदमें बैठा लिया। फिर तो, उन क्षमलयोनिने उस कुम्भ नामवाले पौत्रको केषल आशीर्वाद देकर सर्वज्ञ तथा ज्ञानका पारगामी विद्वान् बना दिया। साधुशिरोमणे। वह कुम्भ में ही हूँ। कुम्भसे उत्पन्न होनेके कारण मेरा ही नाम कुम्भ पड़ा है। मैं नारदमुनिका पुत्र और पद्मबन्धा ग्रहाका पौत्र हूँ। ब्रह्मलोक ही मेरा घर है। वहाँ मैं अपने पिताजीके साथ सुखपूर्वक निवास करता हूँ। आरो वेद मेरे सुदृढ़ हैं। मैं किसी कार्यक्षम नहीं, बल्कि कौतुकवश स्वेष्टानुसार सभी लोकोंमें विवरता हूँ। जब मैं भूल्यपर नहीं पड़ते, धूलिकण अङ्गोंका स्पर्श नहीं करते और मेरा शरीर कभी मलिन नहीं होता। आज मैं आकाशगांगसे जा रहा था कि सामने आप दिखायी पड़ गये, इसलिये यहाँ चला आया हूँ। बनवासके गुणों तथा तज्ज्ञ फलोंके ज्ञाता साथे। इस प्रकार अपने अनुसवके अनुसार मैंने सारा-का-सारा वृत्तान्त आपको बताया दिया।

श्रीवात्मीकिंजी कहते हैं—मुगे ! महर्षि वसिष्ठके इस प्रकार कहते-कहते वह दिन समाप्त हो गया। जब मगवान् सूर्य अस्ताचलकी ओर जाने लगे, तब वह सभा

विसर्जित हुई और सभी सभासद् मुनिवर विसिष्टको लिये स्नान करने चले गये और गति प्यतीत होने वाले पुनः नमस्कार करके साथकालीन विधिका सत्पादन करनेके सूर्योदय होते-होते सभामें जुट गये । ( सर्ग ८५-८६ )

### राजा शिखिभजद्वारा कुम्भकी प्रशंसा, कुम्भका ब्रह्मालीके द्वारा किये हुए हान और कर्मके विवेचनको सुनाना, राजाड्वारा कुम्भका विष्णुत्व-स्त्रीकार

राजा शिखिभजने कहा—-देवकुमार ! मैं तो ऐसा समझता हूँ कि जैसे आधी भेदोंको उड़ाकर पर्वतपर पहुँचा देती है, उसी प्रकार मेरी संचित पुण्यराशिने अप्रकटरूपसे फलदानोनुबंध होकर धायको वहाँ भेजा है । साथो । आपके वचनोंसे ली मानो अमृत टपक रहा है, अतः आपके साथ आज जो मेरा समागम हो गया, इससे अब मैं धर्मलिङ्गोंकी गणनामें सर्वप्रथम गिना जाऊँगा । प्रभो । सामृ-समागमसे वित्तको जैसी शान्ति उपलब्ध होती है, वैसी शान्ति राज्य-काभ आदि कोई भी पदार्थ नहीं दे सकते; क्योंकि सासङ्ग होनेपर सामान्यरूपसे अपरिहित प्रशानन्दरूप सूख प्रकट होने लगता है, जिससे कल्पनाजनित मुख प्रदान करने-वाले रागादि दोषोंका विचार ही नष्ट हो जाता है ।



(देवकुमके वेपमें) दूराता थोनी—साक्षुण्ठ ! हाँ-है इस कथाको । मैंने तो आपके प्रभानुमार क्षयना नाम वृत्तान्त आपको बता दिया । अब आप मुझे क्षयना परिचय दीजिये—आप कौन हैं ? इस पर्वतपर क्या कर रहे हैं ? आपको अरण्यदास करने किन्तु समय बीत गया और इससे आप अब कौन-सा कार्य मिल करना चाहते हैं ? — यह सब बताइये ।

शिखिभजने कहा—भगवन ! आप तो स्वयं ही देवकुमार हैं, अतः लोकवृत्तान्त और परमार्थतात्त्व पूर्ण ज्ञाता हैं । मेरे विषयमें भी आप सब कुछ पर्याप्तरूपसे जानते ही हैं, सिर, इसके अविविक्त में भीर क्या कहूँ । आर्य ! यद्यपि आप मुझे जानते हैं, सिर भी मैं आपसे अपना परिचय सक्षेपमें दे रहा हूँ, सुनिये । मैं शिखिभज नामका राजा हूँ और अपने राज्यका परिस्थित करके यहाँ चला आया हूँ । मैं नमा-स्त्रमें भीत ही गया हूँ, अतः इस दनमें निशास करना है । तात्पर ! मुझे सबसे बड़ा भय तो इस दानवा है जिसकी संसारमें मेरा पुनर्जन्म न हो जाय । यद्यपि मैं दिग्दिग्नतोंमें अमर कर रहा हूँ और दंटोंर हप भी कर रहा हूँ, तथापि मुझे अमी बातपरिपूर्ण शान्ति प्राप्त नहीं हुई है, शायद प्रक्रियाका समुचित रूपमें हास्यन करनेपर भी मुझे दुख-शर्दूल ही निन्मने न रहे हैं । मेरे लिये अमृत भी निरुद्ध हो गया है । ( नगरन : इसका क्या कारण है ? )

(देवकुमके त्वरितमें) दूराता थोनी—साधा ! दर्द किसी समय मैंने अपने नितान्त इत्यार्थिमें देखा इन्हें किया था—प्रभो ! इन द्वै दोनोंमें जो एकमात्र श्रेयस्त्र है, उसे मुझे दर्शानेही हमारे लिये ।

तब अज्ञानीने कहा—देखा ! ज्ञान और कर्ममें ज्ञान ही परम श्रेयस्कर है; क्योंकि उससे मलीभोगि कैशल्य-खल्प परमात्माः साक्षात् अनुभव हो जाता है; परंतु पुनः ! जिन्हें ज्ञान-दृष्टिकी प्राप्ति नहीं हुई है, उनके लिये कर्म ही सबसे बढ़कर है; क्योंकि जिसके पास रेशमी साल नहीं है, वह क्या साधारण कम्बलको भी छोड़ देता है ; अज्ञानीके सभी कर्म सफल हैं अर्थात् जन्म-मरणरूप फल प्रदान करते हैं; क्योंकि कर्मोंकी सफलतामें प्रयोजक वासनाएँ उसमें बनी हुई हैं; परंतु जो ज्ञानसम्पन्न हैं, उसके सभी कर्म निष्फल हैं अर्थात् वे जन्म-मरणरूप फल नहीं देते; क्योंकि उसकी सारी वासनाएँ नष्ट हो चुकी हैं। जैसे गृह्ण-परिवर्तनके समय पहली ऋतुके गुणोंका आगामी ऋतुमें विनाश हो जाता है, उसी तरह वासनाका क्षय हो जानेपर कर्मफल भी नष्ट हो जाता है। बस्तु ! वास्तवमें वासना कार्यवस्तु है ही नहीं, किन्तु जैसे मरुस्थलमें असत्यरूपसे जल प्रतीत होता है, उसी प्रकार वह मूर्खताके कारण अज्ञानीमें अहकार आदिका रूप नारण करके असत्यरूपसे प्रकट होती है। परंतु 'सर्व ज्ञान—सब कुछ ग्रन्थ ही है' ऐसी मानवा करनेसे जिसके अज्ञानका नाश हो गया है, उसके मनमें वासना उत्पन्न ही नहीं होती। ठीक उसी तरह, जैसे त्रुदिमान् पुरुषको मरुस्थलमें जलकी भान्ति नहीं होती। अपने नीतसे वासनामात्रका पूर्णतया परित्याग कर देनेसे जीव जरा-मरणरहित एवं पुनर्जन्मशून्य परमपदको प्राप्त हो जाता है।

( देवपुत्रके रूपमें ) चूडाला कहती है—राजर्ये ! इस प्रकार जब वे अज्ञा आदि मद्दापुरुष भी ज्ञानको ही परमोक्षण श्रेय बताते हैं, तब आप उस ज्ञानसे रहित क्यों हैं ? भूपाल ! 'इधर कमण्डल है, इधर दण्डकाप्त है, इधर कुशकी चटाई है'—ऐसे अनर्थोंसे परिपूर्ण इस संसारमें क्यों सुख मान रहे हैं ? राजन् ! मैं कौन हूँ ? यह जगत् कैसे उत्पन्न हुआ है और किस दियायसे

इसकी शान्ति कौनी ?—इन प्रश्नोंपर किसलिये आविचार नहीं करते ! क्यों अज्ञानी बने बैठे हैं ? नरेश जो सगुण-निर्गुणरूप परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले हैं, ऐसे महात्माओंके पास जाकर 'बन्धन कैसे हुआ और मोक्षक उपाय क्या है ?' यों प्रश्न करते हुए आप उन्हें चरणोंकी सेवा क्यों नहीं करते ? यहाँ पर्वतकी कन्दराओं बैठे इस कठोर तरस्यामें आप अपना जीवन करता रहे हैं ? जिस युक्तिसे संसार-बन्धनसे मुक्ति मिलती है, वह तो समतापूर्ण दृष्टिकाले महात्माओंके पास जाकर उनसे पूछनेसे, उनकी सेवासे तथा उन्हाँसमागमसे ही उपलब्ध होती है।

श्रीवस्तिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! उस देवरूपिणी कान्ता चूडालाने जब इस प्रकार ज्ञानोपदेशकिया, तब राजा शिखिष्वजकी आँखोंसे अश्रुधारा बह लगी और वे इस प्रकार बोले ।

शिखिष्वजने कहा—देवकुमार ! बहुत काढ़ पश्चात् आज आपने मुझे प्रबुद्ध कर दिया। अहो इतने दिनोंतक साड़ु समाजका परित्याग करके मैं उनमें निवास करता रहा, यह मेरी मूर्खताका परिचय है। आप जो ख्यय ही यहाँ पवारकर मुझे ज्ञानोपदेशकर रहे हैं, इससे तो मैं समझता हूँ कि निश्चय ही मैं सम्पूर्ण पापोंका विनाश हो गया। सुमुख ! अब आही मेरे गुरु हैं, आप ही मेरे पिता हैं और आप ही मेरे मित्र हैं। मैं आपका शिष्य हूँ और आपके चरणोंनतमस्तक हूँ, मुझपर कृपा कीजिये। भगवन् ! जिआप सर्वोत्तम समझते हों और जिसे ज्ञान लेनेपर मिश्रोक नहीं करना पड़ता तथा जिसाँ प्राप्त करते हैं मैं सुक्ष हो जाऊँगा, उस पश्चात्-तत्त्वका मुख्य शीघ्र हो उपदेश दीजिये ।

( देवपुत्रके रूपमें ) चूडाला बोही—राजर्ये ! यदि आमेरे वचनोंशो उपादेय मानते हों अर्थात् उन्हें सुननेवाला रखते हों तब तो मैं अपनी ज्ञानकारीके अनुस-

उस प्रकार उपदेश करूँगा, अन्यथा कुछ भी नहीं कहूँगा; क्योंकि अब्रदाल्छुके सामने कुछ कहना निरर्थक होता है। साथ ही जिनके बचनोमें श्रोताकी श्रद्धा नहीं होती और जिससे कौदृष्टसे प्रश्न किया जाता है, उस बचको बचन निष्पक्ष हो जाते हैं।

शिलिष्यजने कहा—गुरुदेव ! मैं आपसे यह सत्य प्रतिक्षा करता हूँ कि आप जो कुछ उपदेश देंगे, मैं उसे बेदके विचिन्ताक्षयकी मौति निष्पक्ष ही तुरंत प्रहण कर लूँगा।

( देवपुत्रके रूपमें ) चूडाला बोही—राजन ! ऐसे बोटा शिशु अपने पिताके बचनको बिना मनू-मद भित्ते प्रमाणभुद्विसे स्वीकार कर लेता है, वे से हाँ अब भी मेरे इन बचनोमों प्रहण कीजिये। राजन ! सुनिषें, मैं एक ऐसे मनोहर कथानकका वर्णन करूँगा, जो आपके चरित्रके सदृश है। वह विरकालके पक्षात् उन्निष्ठो प्राप्त होती हुई मन्दपनियोंजी युद्धिको उद्गुद रखनेवाला ही तथा उद्गुद युद्धिचालको शीघ्र ही भरमध्ये उढ़ाए प्रहण करनेवाला है।

( मर्ग ८७ )

### विरकालकी तपस्यासे प्राप्त हुई चिन्तामणिका त्याग करके मणिभुद्विसे कौन्चको प्रहण करनेकी कथा तथा विन्द्यगिरिनिवासी हाथीका आख्यान

( देवपुत्रके रूपमें ) चूडाला कहती है—राजन ! एक श्रीसूपन्न पुरुष या, जो कलाखोका ज्ञाता, अख-विद्यामें निपुण और व्यवहार करनेमें भी चतुर था। वह जिन-जिन कार्योंकि करनेका संकल्प करता, उन्हें पूरा करके ही छोड़ता था। इतना होनेपर भी उसे परमपदका ज्ञान नहीं था। तब वह अनन्त प्रथलोमें उपलब्ध होनेवाली चिन्तामणिकी प्राप्तिके लिये तपश्चर्यमें प्रवृत्त हुआ। उस उन्निष्ठी पुरुषके कुछ काल्पक महान् प्रयत्न करनेपर चिन्तामणि प्रकट हुई। मला, उधोगी पुरुषोंके लिये ऐसी कौन-सी वस्तु है जो मुझम नहीं हो सकती, क्योंकि यदि अक्षिचन भी कष्टकी परवा न करके अपनी दुर्दिके सहारे कार्यमें प्रवृत्त होकर उद्घम करता है तो उसे भी उस कार्यको निर्विजयतापूर्वक सम्पन्न करनेकी शक्ति प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार उस उद्घम भजिराजके प्राप्त होनेपर यह यह निष्पक्ष नहीं कर सकता कि यह चिन्तामणि ही है। तब थोर दुःख और परिश्रमसे उपलब्ध हुई उस चिन्तामणिकी उपेक्षा करके वह अपने विस्मययुक्त मनसे थों विचार करने लगा—यह चिन्तामणि है या नहीं है, क्योंकि यदि चिन्तामणि होती तो यह मेरे सामने प्रत्यक्ष नहीं

होती। मैं इसका स्पर्श करूँ या न करूँ ? यद्यों ऐसा न हो कि यह मेरे छुनेसे अदृश्य हो जाय। निष्पक्ष ही इतने ही समयमें उस वास्तविक मणिराजकी प्राप्ति नहीं हो सकती; क्योंकि शाश्वोका कथन है कि उसके लिये जीवनर्यन्त्र प्रथन करना पड़ता है। भला, मेरी देनी उद्गुद भाग्य-सम्पत्ति कहाँ हो सकती है, जो इतने योद्धे कालमें सभूर्ण सिद्धियोंयो प्रदान करनेवाली उम्म चिन्तामणिको मैं पाऊँ। मेरी नमस्या तो बहुत योद्धा है। मैं साधुओंमें एक तुच्छ मनुष्य हूँ और दूर्भाग्यका एजप्राप्त यात्रा हूँ। ऐसी स्थितिमें मिद्दियों मेरे निकाट यैंपे आ भक्ती है।

इस प्रकार वह मूर्ख तर्फ-प्रियकर्त्तके हिंडोनेमें द्वृष्टा हुआ बहुत देवतक विचार करना रहा। अनन्ती-गत्वा उसने उस यगिके महग जरनका विचार छोड़ दिया; क्योंकि मूर्खनांक घारण उमर्जी दुर्दि मृद हो गयी थी। ऐसा नियम भी है कि वो उन्नु जिसे जिस समय ( प्रारम्भके याम , प्रमात्र नहीं होती, वह उसे उम्म समय पा नहीं सकता ) देनेन, उम्म दुर्दिनें प्राप्त हुई चिन्तामणिकी भी उपेक्षा जा दी। इस प्रकार जब उस तर्फ-प्रियकर्त्त करना ही रह गया, तब वह नहिं उड़कर उहोसे रहना रहा। एवं, उसे उ

अवहेलना करनेवालेको सिद्धियाँ उसी प्रकार छोड़ देती हैं, जैसे धनुषसे छोड़ा हुआ बाण प्रस्थश्वाका परित्याग कर देता है। सिद्धियाँ जब आती हैं, तब वे सभी अभीष्ट पदार्थोंको देती रहती हैं, परंतु अवहेलना करनेपर जब वे आपस जाने लगती हैं, उस समय वे उस पुरुषकी बुद्धिका विनाश कर डालती हैं।

इस प्रकार उस चिन्तामणिके अद्वय हो जानेपर वह पुनः उस उत्तम रक्तकी प्राप्तिके लिये धन-पूर्वक चेष्टा करने लगा; क्योंकि अठल निश्चयवाले मनुष्य अपने कार्यसे उद्दिग्न नहीं होते। कुछ समयके बाद उसे अत्यन्त कान्तिमान् एक कौचका टुकड़ा दिखायी पड़ा। फिर तो, जैसे मोहप्रस्तु अज्ञानी पुरुष मिथीको सुर्वर्ण समझने लगता है, उसी प्रकार उस मूर्खने 'यही चिन्तामणि है' यों निश्चय करके उसकी उपादेयता स्थीकार कर ली। उस कौचकी मणिको लेकर उसने सोचा कि अब तो इस चिन्तामणिके ग्रामावसे मुक्ते सारी अभीष्ट वस्तुएँ अनायास ही मिल जायेंगी, फिर इन धन-सम्पत्तियोंको लेकर क्या करना है—ऐसा विचारकर उसने अपनी पहली सम्पत्तिका त्याग कर दिया। उसे विचास हो गया कि 'अब तो धरसे दूर जाकर इच्छानुसार सम्पत्ति-सम्पद होकर मैं सुखपूर्वक जीवन-यापन करूँगा—ऐसी धारणा करके वह मूर्खनिर्जन काननमें चला गया। वहाँ पहुँचनेपर, उसे उस कौच-खण्डसे कुछ मिलना-जुलना तो था ही नहीं, वह मारी विपत्तिमें फँस गया। मूर्खताके कारण जैसे हुःख मनुष्यके सामने आते हैं, वैसे हुःख तो मीपण आपत्तियोंमें फँसनेपर, बुढ़ापेसे तथा मृत्युसे भी नहीं प्राप्त होते। अतः एकमात्र मूर्खता ही सम्भूर्ण हुःखोंकी ग्रासिमें कारण है।

मूर्ख ! अब यह दूसरा मनोहर उपाल्पन सुनो। साधो ! यह आपके वृत्तान्तके ही अनुरूप है और बुद्धिको परमोत्कृष्ट ज्ञान प्रदान करनेवाला है। राजन्। विन्ध्यगिरिके किसी बनमें एक हाथी रहता था, जो

बड़े-बड़े यूथ तियोंके यूथका भी अधिपति था। उसके होनों दौत बहुत सफेद और लंबे थे तथा बज्रकी ज्वालाके साधान चमकीले एवं तीरण थे। एक बार एक महावतने उसे चारों ओरसे लोहेकी शृङ्खलासे जकड़कर बैसे ही बौन दिया, जैसे मुनिन्द्र अगस्त्यने विन्ध्याचलको और उपेन्द्रने अमुरराज घलिको बौध दिया था। बैधा तो वह था ही, उपरसे उसके गण्डस्थलोंपर शब्दोंकी मार भी पड़ रही थी, जिससे वह धैर्यशाळी गजराज भीपण यन्त्रणा भोग रहा था। उसे बड़ी पीड़ा हो रही थी। इस प्रकार लोहेकी जंजीरमें बैधे हुए उस गजराजको जब तीन दिन बीत गये, तब उसे बदा खेद हुआ और उस बन्धनको तोड़ डालनेके लिये तैयार होकर उसने चिंघाइना शुरू किया। फिर तो चार ही बड़ीमें और प्रयास करके उस हाथीने अपने दोनों दौतोंसे बन्धनको छिन्न-भिन्न कर दिया। उसका शत्रु महावत दूरसे ही उसकी बन्धन-छेदन-क्रियाको देख रहा था। जब उस हाथीका बन्धन टूट गया, तब वह महावत पहले एक ताड़बुक्षपर चढ़कर बड़ीसे अंकुशाद्वारा उस हाथीको बशमें करनेके लिये उसके सिरको लक्ष्य करके कूद पड़ा; परंतु उसके पैर हाथीके सिरपर नहीं पहुँच सके, जिससे वह धब्बाकर भूमिपर गिर पड़ा।

राजर्ण ! तिर्यग्-योनिमें भी प्रकाशमान एवं विशुद्ध गुणोंसे युक्त साधु-सभाश्वाले जीव देखे जाते हैं, इसीलिये अपने शत्रुभूत महावतको सामने गिरा हुआ देखकर उस गजराजके हृदयमें करूणा उत्पन्न हो गयी। वह सोचने लगा—'यदि मैं इस गिरे हुएको पैरोंसे कुचल दूँ तो इससे मेरा कौन-सा पुरुषार्थ सिद्ध होगा।' यो विचारकर हाथीने अपने शत्रुभूत उस महावतके प्राण नहीं रिये। जब वह हाथी वहाँसे जंगलकी ओर चला गया, तब महावत उठ बैठ। उसका शरीर और बुद्धि—दोनों स्वस्थ थे। हाथीके जानेके साथ-ही-साथ

उसकी व्यथा भी दूर हो गयी। इतने लंचे ताङ्कुको खोटीसे गिरनेपर भी उसका अङ्ग-भङ्ग नहीं हुआ था। वह पैदल चलनेमें बड़ा उत्साही था। इस प्रकार जब उस हाथीके शक्ति महावतका प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ और हाथी उसके हाथसे निकल गया, तब उसे महान् दुःख हुआ। वह पुनः यत्नपूर्वक उसमें शाढ़ियोंमें छिपे हुए उस हाथीकी खोज करने लगा। चिरकालके पश्चात् उसे वही गजराज मिला, जो एक जंगलमें शुक्षके नीचे बैठकर विश्राम कर रहा था। तब उस धूर्त महावतने, जहाँ वह हाथी बैठा था, उसके समीप ही हाथीके फँसाने योग्य एक गोलाकार गद्दा लोदकर तैयार किया और उपरसे उसे कोमल छाताओंसे ढक दिया।

कुछ ही दिनोंके बाद जब वह हाथी उनमें बिहार कर रहा था कि यकायक उसी गद्देमें जा गिरा। तब उस महावतने गद्देमें गिरे हुए उस हाथीको पुनः मुद्दल्पसे बौख दिया, जो आज भी भूर्गमीमें पड़ा दुःख

भोग रहा है। यदि वह हाथी अपने साथने गिरे हुए शक्तिको पहले ही मार डाले होता तो आज उसे नान्द-द्वारा गर्तव्यधनस्त्रप दुःखकी प्राप्ति नहीं हुई होती। जो मनुष्य मूर्खतावश वर्तमान कियाकोद्वारा ज्ञानादी कालका शोधन नहीं कर लेता, वह विन्ध्यगिरिनिवासी गजराजकी भाँति ही दुःखका भागी होता है। वह हाथी 'मैं शृङ्खलावन्धनसे मुक्त हो गया हूँ' इनमें गाढ़े ही संतुष्ट हो गया; परंतु दूर चले जानेपर भी वह पुनः अज्ञानवश वन्धनमें पड़ गया। भट्ठा, मूर्खना यहाँ नहीं बाधा पहुँचाती अर्थात् सर्वत्र बाधा देती ही है। महारम्भन्। 'वह दुआ भी मैं वन्धनरहित हूँ' इम प्रकारकी विचारण मूर्खताको ही परम वन्धन समझना चाहिये। अतः उससे छुटकारा पानेके लिये परमात्माके सव॑ल्पसे उपर्यन्त सम्पूर्ण ग्रिलोकीको परमात्माका स्वरूप समझना चाहिये। जिसे इस प्रकारका ज्ञान नहीं है और जो मूर्खतामें स्थित है, उसके लिये वह स्वयं ही सहस्र समस्त कन्धोंका कारण बन जाना है। (सर्ग ८८-८९)

### कुम्भद्वारा चिन्तामणि और काँचके आख्यानके तथा विन्ध्यगिरिनिवासी हाथीके उपाख्यानके रहस्यका वर्णन

राजा शिलिष्वजने कहा—देवपुत्र! आपने चिन्तामणिकी प्राप्ति तथा विन्ध्यगिरिनिवासी गजराजके वन्धन आदिका जो कथाप्रसङ्ग मुझे हुनाया है, उसका अब स्पष्टीकरण कीजिये।

(देवपुत्रके त्वयमें) चूडाला खोली—राजन्। मैंने आपको जो विचित्र कथा हुनायी थी, उसका रहस्य भी मुनिये। महीपते! उसमें जो वह शास्त्रार्थकुशल किंतु उत्तमज्ञानमें घूर्छ चिन्तामणिका साधक बतलाया गया है, वह तो आप ही हैं। साधो! अकृत्रिम सर्वस्व-स्थानको चिन्तामणि समझिये, जो सम्पूर्ण दुःखोंका अन्त बरने वाली है। शुद्ध बुद्धिपूर्वक आप उसीका साधन कर रहे हैं। किंतु निष्पाप गजन्। वास्तविक शुद्ध सर्व-

स्थाने ही सब कुछ ग्राप किया जा सकता है, एवं त्यागसे नहीं। यद्यपि आपने वी-पुत्र धन-शैल्य कीर बन्धु-वान्धवोंसहित सम्पूर्ण राज्यका परिपालन कर दिया है और उपने देशसे बहुत दूर आकर इस क्षेत्रमें अपना निवासस्थान बनाया है तथापि आपके इस सर्वस्व-स्थानमें अभी अर्काकारका स्थान शेष रह रहा है। अभी आपके मनमें ऐसी धारणा बनी दूर्ज है कि यदि मैं स्व-स्थान वह महान् अम्बुदयशाली परमानन्द नहीं हूँ। वह तो इससे भी उल्लेख छोड़ दमरी महान् चल दूँ। जो चिरकालकी साधनासे उपलब्ध होती है। दमी चिन्ता करनेसे धीरे-धीरे जब भासके स्कल्प-पृष्ठोंमें पर्याप्त वृद्धि हो गयी, तब वह स्थान कही क्षमत्र दर्श-

गया । जैसे वायुके स्पन्दनसे युक्त वृक्षका निश्चल रहना असम्भव है, वैसे ही जो योद्धी-सी मी चिन्ता-को अपने हृदयमें स्थान देता है, उसका स्थाग कैसे सिद्ध हो सकता है ?

राजन् ! चिन्ता ही चित्त कहलाती है । संकल्प से उस चित्तका दूसरा नाम है । भला, उस चिन्ताके खुरित रहते हुए वस्तुतः चित्तका स्थाग कैसे सम्भव है ? सामुशिरोमणे । क्षणमरमें ही त्रियोकीके आधार-भूत चित्तके चिन्ताग्रस्त हो जानेपर निरज्ञन सर्वस्थागकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? आपका ग्रात किया हुआ चिन्ता-मणिरूप स्थाग, अवहेलना कर देनेसे आपकी सारी उक्खृष्ट निश्चिन्तताको लेकर चला गया । कमललोचन ! इस प्रकार सर्वस्थागरूपी चिन्तामणिके चले जानेपर आपने अपने संकल्परूपी नेत्रोंसे देखकर तपरूपी कौञ्चको ही चिन्तामणि समझ लिया । जैसे दृष्टिभ्रम हो जानेपर जलमें प्रतिविम्बित चन्द्रमामें वास्तविक चन्द्रमाकी भावना हो जाती है, वैसे ही आपने इस दुःखमूल तपस्यामें ही दृढ़ ग्राहाभावना कर ली है । पहले तो आपने मनको बासनाशून्य करके अनासक्त भावसे सर्वस्थागका उपकम किया और पीछे बासनायुक्त होकर अमन्त तपस्याकी क्रिया स्फीकार कर ली । इस क्रियामें तो दुःख-ही-दुःख है । साझो ! अब तो आप वर्धमान दुःखोंसे परिषृण राज्यरूपी फदेसे निकलकर बलवास नामक एक दूसरे सुदृढ़ बन्धनसे बँध गये हैं । इस समय आपको शीत, बात और आतप आदिकी चिन्ता पहलेसे दुगुनी हो गयी है । मैं तो यह समझता हूँ कि बनवासके गुण-टोपकी जानकारी न रखनेवालोंके लिये बनवास बन्धनसे भी अविक्कषणप्रद हो जाता है । आपको मिल तो है कौञ्चका दुकड़ा, परंतु आप समझ रहे हैं कि मुझे चिन्तामणि मिल गयी । कमललोचन नरेश ! इस प्रकार मैंने पणि-नातिके प्रयत्नकी कथाके सद्धरा आपके चरित्रको सम्यक्रूपसे आपके सामने

प्रकट कर दिया । अब आप स्वयं ही अपनी बुद्धिसे उस निर्वाज्ञोध वस्तुका विधार कीजिये तथा सर्व स्थाग और तपस्या—इन दोनोंमें आपको जो उत्तम प्रतीत हो, उसे हृदयमें धारण करके परिपक्व बनाइये ।

राजसिंह ! अब आप पूर्ण तत्त्वव्योधके लिये विन्ध्य-गिरि-निवासी गजेन्द्रके वृत्तान्तकी व्याख्या सुनिये । वह बड़ी ही आश्वर्यजनक है । मैंने विन्ध्यान्तके बनमें निवास करनेवाले जिस हाथीका बर्णन किया था, वही इस भूमिपर आप हैं । उसके बीच दो दो इत्यर्थकोंके दोत थे, वे ही आपके वैराग्य और विदेश हैं । हाथीको आकान्त करनेमें तत्पर जो वह महावत था; वह आपका अज्ञान है, जो आपको दुःख दे रहा है । राजन् ! जैसे आयन्त्र बलशाली हाथीको निर्वल महावत दुःख दे रहा था, उसी प्रकार, यद्यपि आप आयन्त्र शक्ति-सम्पन्न हैं तथापि भूर्खलारूपी दुर्बल महावत आपको एक दुःखसे दूसरे दुःखमें तथा एक भयसे दूसरे भयमें पहुँचा रहा है । जिस बज्र-सदृश सुदृढ़ लोह-शृंखलासे वह हाथी बोंधा गया था, वह शृंखला आपका आशापाश है, जिससे आप सिरसे पैरतक बँधे हैं । राजर्ण ! आशा लोहकी जगीरसे भी बदकर भयंकर, विशाल और सुदृढ़ होती है; क्योंकि लोह तो काल पाकर पुराना होनेपर नष्ट भी हो जाता है, परंतु आशातुण्णा तो दिनोदिन बढ़ती ही चली जाती है । वहाँ पास ही छिपकर बैठा हुआ जो शत्रु महावत उस हाथीकी ओर देख रहा था, वह महावत आपका अज्ञान\* है, जो एकाकी बँधे हुए आपकी ओर क्रीड़ाके लिये आँख लगाये हुए है । साझो ! हाथीमें जो शत्रुद्वारा किये गये शृंखला-बन्धनको तोड़ डाला था, वह आपके भोग एवं अकष्टक राज्यके स्थागके समान है; क्योंकि शस्त्र और शृंखलाबन्धनका तोड़ डालना तो कदाचित् आसान भी हो सकता है, किन्तु मनसे भोगोंकी आशाका निवारण

\* यह अज्ञानमें चेतनात्मका आरोप करके कहा गया है ।

करना अपन्न दुष्कर है । जैसे हाथीद्वारा अन्धन लोड दिये जानेपर महावत ऊपरसे गिर पड़ा था, उसी तरह आपके राज्यका परित्याग कर देनेपर अज्ञानका पतन हो गया था । जिस समय आप अनके लिये प्रसिद्ध दुए थे, उसी समय आपने अज्ञानको क्षत-विक्षत कर दिया था, परंतु वायल होकर सामने पड़े दुए उसका मनस्त्यागखण्डी महान् खङ्गद्वारा बध नहीं किया । यहि कारण है कि वह पुनः उठ खड़ा हुआ और आपके द्वारा की गयी अपनी पराजयका स्मरण करके उसने आपको इस तपःप्रपञ्चखण्डी भीषण गढ़देमें ढकेल दिया । यदि आपने राज्य-स्थाग करते समय ही वैसी दुरुस्थामें पड़े दुए अज्ञानका बध कर दिया होता तो वह उसी समय नष्ट हो गया होता, फिर वह आपको तपखण्डी गर्तमें नहीं

गिरा पाता । राजन् । हाथीके द्वे उन्ह महावन्होंने ओ गोलाकार गढ़देमा निर्माण किया था, वह आउके लड़ानने तपखण्डी समूर्ण दुःखोंका गर्न बनाकर आपको मर्मिन किया है । वह गङ्गा जो कोमल उन्होंने आस्ताइन किया गया था, वह आपका तपोदुःख ही स्त्री गुणों तथा सज्जनोंके समानमसे आमृत है । नरेश । इस प्रकार आज भी आप इस अपन्त भयंकर तथा दृष्टियक तपखण्डी गर्तमें दौबे दुए पड़े हैं । भूपाट । वार गम हैं, आशाएँ जजीर हैं, अज्ञान अमृभूत भूमग्न है, उप्र तपस्याका आग्रह ही गर्त है, भूतउ शिष्यगिरि है । इस प्रकार मैंने आपका वृत्तान्त हाथीके राज्यान्द्वारा कह मुनाया, अब आप जैसा बाना उचित मर्ममें, वैसा ही कीजिये । ( सर्ग ०.००.१ )

—०००—

### कुम्भकी बाते सुनकर सर्वत्यागके लिये उद्यत हुए राजा शिखिष्वद्वारा अपनी सारी उपथोगी वस्तुओंका अधिमें शौकना, पुनः देहत्यागके लिये उद्यत हुए राजाको कुम्भद्वारा विच्छ-त्यागका उपदेश

( देवपुत्रके रूपमें ) चूडालाने कहा—हरजें । चूडाला वही नीतिनिपुण तथा हँस्य वस्तुके ज्ञानसे सम्पन्न है, “उसने उस समय जिस ज्ञानका उपदेश दिया था, उसे आपने क्यों नहीं स्वीकार किया ? वह तत्त्वज्ञियोंमें सर्वधेष्ठ है तथा जो कुछ कहती और करती है, वह सब सत्थ ही होता है; अतः आपको उसके कथनका आदर-पूर्वक पालन करना उचित था । नरेश ! यदि आपने चूडालाके वचनका आदर नहीं किया तो सर्वत्यागका ही पूर्णरूपसे आश्रय क्यों नहीं लिया ?

राजा शिखिष्वज बोले—प्रियवर ! मैंने राज्यछोड़ा, घर छोड़ा, धन-धान्यप्रधन देश छोड़ा, पक्षी भी त्याग दी; फिर भी आप कहते हैं सर्वत्याग क्यों नहीं किया—इसका क्या कारण है ?

( देवपुत्रके रूपमें ) चूडालाने कहा—राजन् ।

धन, खो, गृह, राज्य, भूमि, दृष्ट और अमृत-वृक्ष—ऐ सब आपके तो ही नहीं; फिर आपका सर्वत्याग इसकी कैसे ? आपका जो सबसे उत्तम भाग है, उसका त्याग तो अभी हुआ ही नहीं । उसका पूर्णरूपसे परित्यागकर हेनेपर ही आप सर्वत्यागी शोकरहित हो मरेंगे ।

राजा शिखिष्वज बोले—देव ! अरुण, यदि आप ऐसा मानते हैं कि यह जारा राजपाट नहीं है तो पर्यंत, वृक्ष और नदीओंसे परिपूर्ण यह धर्मग्रंथ तो मेरा ही न है मैं इसका परित्याग दर रखा हूँ ।

कुम्भने कहा—राजन् ! यह पर्वतका तट, धन, गर्त, जल और दृष्टके नानेकी गूमि—ऐ सब अपर्यंत, जो है नहीं; फिर आपका सर्वत्याग यैसे समर्पन इत्ता ! आपका जो सबसे उत्तम भाग है, वह तो उमी दिन स्थाना हुआ ही पड़ा है । उसका दूर-दूरसे दूर यह

देनेपर ही आप परम अशोक-पदको प्राप्त कर सकेंगे।

शिखिष्वज बोले—अच्छा, यदि ये बन आदि सारी वस्तुएँ मेरी नहीं हैं तो बाबली और चबूतरा आदिसे युक्त यह मेरा आश्रम ही मेरा सर्वस्त्र है। मैं इसका अभी त्याग किये देता हूँ।

कुम्भने कहा—यजन्। ये जो शूक्षा, बाष्पली (जलाशय), चबूतरा, गुल्म, आश्रम और लताओंकी पंक्तियाँ हैं, इनमें से कुछ भी आपका नहीं है; फिर आपका सर्वत्याग कैसे सिद्ध हुआ? अभी तो आपका सबसे उच्चम भाग पका ही है, आपने उसका त्याग किया ही नहीं। उसका पूर्णरूपसे त्याग कर देनेपर ही आपको उत्कृष्ट अशोक-पद मिल सकेगा।

\* शिखिष्वज बोले—थीक है, यदि ये सारी वस्तुएँ मेरी नहीं हैं तो ये पात्र आदि तथा मृगचर्म, दीवाल और कुटीर आदि ही मेरे सर्वस्त्र हैं। मैं इन्हींको छोड़ रहा हूँ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन। ऐसा कहकर राजा शिखिष्वजने माण्ड आदि उन समस्त सामग्रियोंको आश्रमसे निरामित कर एक जगह स्थापित किया, फिर सूखी लकड़ियाँ इकट्ठी करके अग्नि प्रज्ञलित की और उन सभी वस्तुओंको उस आगमें ढाककर बे पुनः आपने आसनपर बैठ गये। तपश्चात् उन्होंने अक्षमाला तथा मृगचर्मको भी उसी आगमें झोक दिया और कमण्डलु एक श्रोत्रिय महारणको दे दिया; क्योंकि ऐसा नियम है कि अपनी जो उच्चम वस्तु हो, उसे या तो किसी महारथाको दे दे अथवा अग्निमें जला दे। फिर राजाने अपनी कोमल चट्टाईको भी चिंचशुद्धि तथा चेनन त्रक्षमें विद्राम प्राप्तिके लिये उसी धन्वकली आगमें फेंक दिया। फिर कुम्भको सम्बोधित करके बोले—‘कुम्प! जो वस्तु त्याज्य है, उसे सदा शोग्र-से-शीघ्र त्याग देना चाहिये। साधो! मैं निकिय होनेके लिये अपनी कियोपयोगी सारी वस्तुओंका

त्याग कर रहा हूँ; क्योंकि अयोग्य वस्तुको कौन ढोता फिरे।’

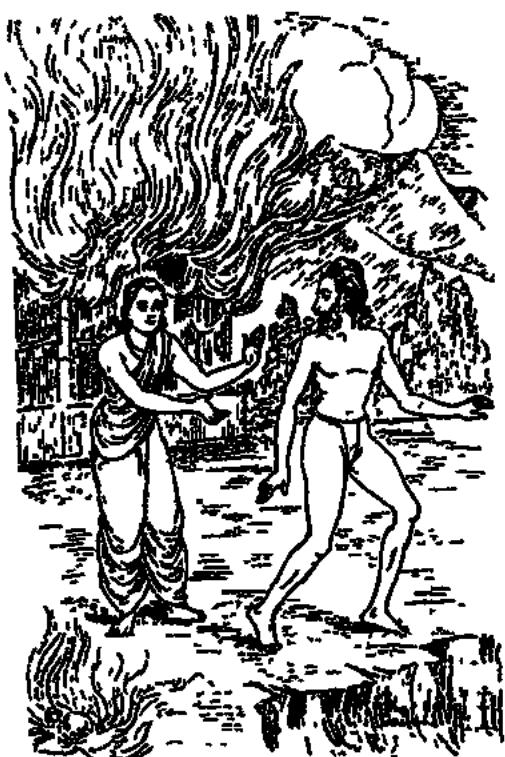
श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राघव! तदनन्तर राजा शिखिष्वजने अपनी सूखी फूसकी कुटियाको, जो अपने अज्ञानी भग्नके मिथ्याभूत संकलनद्वारा कलिपत थी, जड़ाकर भस्म कर दिया। उन मौर्मी राजाकी बुद्धि समतायुक्त हो गयी थी और मन उद्गमहित हो गया था, अतः उन्होंने वहाँ जो कुछ भी सामग्री देय रह गयी थी, उस सबको क्रमशः जला दिया। यहाँतक कि उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक अपनी लंगोटी और भोजनपात्र तथा भोजन आदिको भी कूँक दिया। जब सूखी लकड़ीके साथ-साथ वे बर्तन आदि सारे पदार्थ आगमें जल रहे थे, उस समय जिनका देहमात्र देय रह गया था वे राजा शिखिष्वज रागहित हो प्रसन्नतापूर्वक बोले।

शिखिष्वजने कहा—देवकुमार! आश्वर्य है, चिरकालके पश्चात् आपने अपने ज्ञानोपदेशद्वारा मुझे प्रशुद्ध कर दिया, जिससे अब मैं वस्तु-विषयक वासनाका परिष्ठाग करके सर्वत्यागी होकर स्थित हूँ तथा केवल, शुद्ध, सुखसे सम्पन्न और ज्ञानवान् हो गया हूँ। जिसमें ममता-सकलप्रयुक्त संप्रहक्षम वर्तमान है, ऐसी यह सामग्री किस कामकी। अब तो नाना प्रकारके बन्धनोंके हेतुभूत विशय ज्यों-ज्यों प्रक्षीण होते जा रहे हैं, त्यों त्यों मेरा मन परमानन्दमें निपत्त होता जा रहा है। मुझे ज्ञानित मिल रही है। मैं परमानन्दस्तरूपको प्राप्त हो रहा हूँ और विजयी हो रहा हूँ; अतः अब मैं पूर्ण सुखी हूँ। मेरे सम्पूर्ण बन्धन नष्ट हो गये; क्योंकि मैंने सर्वत्याग कर दिया। देवपुत्र! महान् त्याग करनेके कारण अब दिशाएँ ही मेरे लिये बदल हैं और दिशाएँ ही मेरे लिये घर हैं। यहाँतक कि मैं सब ही दिशाओंके समान स्थित हूँ। अब बताइये और क्या देय रह गया है?

कुम्भने कहा—महाराज शिखिष्वज! अभी भी आपने सभी वस्तुओंका पूर्णतया त्याग नहीं किया है,

अतः सर्वत्यागजन्म परमानन्दकी प्राप्तिका व्यर्थ ही अमिनय मत कीजिये । अपने सर्वोत्तम मागका तो अभी आपने त्याग किया ही नहीं, किसके पूर्णतः त्याग करनेसे ही आपको परम अशोक-पद्धती प्राप्ति हो सकेगी ।

शिलिष्वज चोले—देवतामज । अब तो सर्वत्यागमें मेरा यह शरीर, जो रक्त-भूमि-समय तथा इन्द्रियसे युक्त है, रोष रह गया है; इसलिये अब मैं पुनः उठकर बिना किसी विष-जाघाके इस शरीरको गढ़देमें गिराकर बिनष्ट कर दूँग और सर्वत्यागी हो आऊँगा ।



कुम्भने कहा—राजन् ! इस बैचारे निरपराध शरीरको आप क्यों महान् गर्तमें गिराना चाहते हैं ? आप तो उस अशामी बैठके सदा प्रतीत होते हैं, जो कुपित होनेपर अपने बछड़ेको ही मारता है । यह बैचारा शरीर तो जड़, मुँह और मूँहामा है । सदा ध्यानस्थ-सा बना रहता है । उसने आपका कोई अपराध भी नहीं किया है, अतः व्यर्थ ही आप इसका त्याग मत कीजिये । जैसे वायुदारा

स्वन्दन ( फलादिका यत्न ) होनेपर फलवान् वृक्षमाद कोई अपराध नहीं माना जाता, उसी प्रकार सुग-नुःग आदिका अनुभव-स्थान होनेमात्रसे शरीरको अपराधी नहीं कहा जा सकता । स्वन्दनशील वायु ही बन्दूर्धक फूँ, पहुँच और पुष्पोंको गिराती है, फिर बैचारे मायुस्तम्भव वृक्षका क्या अपराध ? इसी प्रकार साधु शरीरने साधु आरमाका कौन-सा अपराध किया है ? कमलनोचन । साय ही, शरीरका त्याग कर देनेपर भी आपका सर्वत्याग निष्ठ तो होगा नहीं; फिर व्यर्थ ही आप इस निरपराध शरीरको गड़में क्यों फौक रहे हैं ! देहका त्याग कर देनेपर सर्वत्याग सिद्ध नहीं होता । जैसे उन्मत्त गवराज शृङ्खलों तहस-नहस कर देता है, उसी तरह निसके द्वाग पह शरीर कुञ्ज हो बढ़ना है, उस पापामाका यदि आप पूर्णतया त्याग करते हैं तभी आप महान् त्यागी हैं । शूपते ! उस पापामाका परित्याग कर देनेपर देहादि समस्त पदार्थोंका अपने-आप त्याग हो जाता है । यदि उसका त्याग नहीं हुआ तो गर्तमें गिरकर नष्ट हुआ भी शरीर उस पापामासे बारबार उत्पन्न होता रहेगा ।

शिलिष्वज चोले—सौन्दर्यशाली देय ! इस शरीरपा संचालन करनेवाला वह पापामा कौन है ? जग्नाटि कर्मोंका बीज क्या है और किसका त्याग कर देनेपर सर्वत्याग सापन्न होता है ?

कुम्भने कहा—साधुस्तम्भव नरेश ! शरीर छपण रुज्यका त्याग कर देनेसे तथा कुटिया जलाकर भूम्य छर देनेसे सर्वत्याग सम्पन्न नहीं होता, वह तो सर्वभूमि एवं सर्वत्यापी सकलगद्वारा सबके एकमात्र कारणमूल सर्व नाशर परित्याग कर देनेपर ही निष्ठन होगा ।

शिलिष्वज चोले—समस्त तत्त्वानियोंमें ऐष्ट छुन ! बछड़ा, यह इतलाइये आपने निस सर्वभूमि एवं सर्वत्यागने योग्य, सर्वगत एवं सर्वानन्द बस्तुका नाम रिया है, वह सर्वत्याग किसे कहते हैं ?

कुम्भने कहा—नरेश ! आप दिल्ली ही भूमि

चित्तको ही पापान्मा पुरुष और चित्तको ही जगज्ञाल समझिये । यह चित्त ही 'सर्व' — सर्वाभ्या कहलाता है । महीपाल । जैसे बृक्षका बीज बृक्ष ही होता है, उसी तरह मन ही राज्य, देह और आश्रम आदि समस्त वस्तुओंका बीज है । अतः सबके बीज पूरूष उस मनका परित्याग कर देनेपर सबका त्याग खलः ही सिद्ध हो जाता है । भूपते । उस मनके त्याग-अत्यागपर ही भर्त्यत्यागका होना-न-होना निर्भर करता है । राजन् । ये राज्य अथवा कानन आदि सभी वस्तुएँ चित्तयुक्त वर्यात् चित्तके साथ सम्बन्ध रखनेवाले पुरुषके लिये केवल दुःखरूप हैं और जिसका चित्तके साथ सम्बन्धिष्ठेद हो गया है, उसके लिये ये ही परम सुखरूप हैं । जैसे बीज समय पाकर बृक्षरूपमें परिणत हो जाता है, वैसे ही यह चित्त ही जगत् एवं देहादि आकार धारण करके सबमें व्याप्त हो रहा है । जैसे वायुसे बृक्ष, भूकम्पसे पर्वत और लैहारसे घोकनी संचालित होती है, उसी प्रकार इस शरीरका संचालक चित्त है । राजन् । इस चित्तको आप समस्त प्राणियोंके उपभोगोंका, जरा-मरण और जन्म आदि देहधर्मोंका तथा महामुनियोंके धर्मोंका अदृट खजाना ही समझिये । चित्त ही अपने संकल्पद्वारा जगत् तथा देहादि विविध आकार धारण करके सबमें व्याप्त हो रहा है । महीपते । इस प्रकार चित्त ही सब कुछ बनता है; अतः उसका स्याग हो जानेपर सारी आधि-व्याधियोंकी सीमाका विनाश करनेवाला सर्वत्याग अपने-आप ही सिद्ध हो जाता है । त्यागके तत्त्वत्रेताथोंमें श्रेष्ठ राजन् । चित्तत्यागको ही सर्वत्याग कहा जाता है । महाबाहो । उसके सिद्ध ही जानेपर विज्ञानानन्दधन सत्य वस्तुका अनुभव अपने-आर ही अवश्य हो जाता है । चित्तका जमाव ही जानेपर द्वैत अद्वैत आदि सभी भावनाओंका सर्वथा विनाश हो जाता है और एकमात्र शान्त, निर्मल, अनाम्य परमपद ही जोप रह जाता है ।

चित्तको इस संसाररूपी धानका लेत कहा जाता है । जैसे जल ही तरफरूपसे दीख पड़ता है, वैसे विचित्र चेष्टाओंवाला चित्त ही अपने संकल्पसे भाव और अभावका आकार धारण करनेवाले पदार्थोंके रूपसे परिणत होता है । भूपते ! चित्तविनाशरूपी सर्वत्यागसे सर्वदा सभी वस्तुएँ वैसे ही सुलभ हो जाती हैं, जैसे साम्राज्यकी प्राप्तिसे सांसारिक पदार्थोंका समस्त अभाव मिट जाता है । जैसे राज्यादि समस्त वस्तुओंका त्याग कर देनेवर अकेले आप अवशेष रह गये हैं, वैसे ही सर्वत्याग कर देनेपर एकमात्र विज्ञानात्मा ही अवशिष्ट रह जाता है ।

राजन् । सर्वत्यागरूपी रसका आस्थादन कर लेनेपर जरा-मरण आदि कोई भी भय पुरुषको वाधा नहीं पहुँचा सकता । निर्मल कान्तिवाले महस्तकी प्राप्तिका कारण भी सर्वत्याग ही है । अब आप सर्वत्याग करनेके लिये प्रत्युत हो गये हैं, इसीसे आपको बृहत्तम बुद्धिस्थिरता प्राप्त हो रही है । नरेश्वर ! सर्वत्याग परमानन्दस्तरूप है— यों विचारण्वर्क स्वीकार करके जैसा आप चाहते हों, उसीके अनुसार आचरण कीजिये । सर्वत्याग करनेवाले पुरुषके पास प्रारब्धानुसार सभी वस्तुएँ अपने-आप उपस्थित होती हैं । सर्वत्यागके अद्वा आत्मप्रसादक ज्ञान वर्तमान रहता है । महाराज ! सर्वत्याग सारी सम्पत्तियोंका आग्रहयस्तान है, इसीलिये जो कुछ भी प्रहर नहीं करता, उसे सब कुछ दिया जाता है । भूपते ! सर्वत्याग करके आप शान्त, स्वस्थ, आकाशके समान निर्मल एवं सौम्य आदि जिस रूपमें होना चाहते हैं, उस रूपमें हो जाइये । महीपाल ! पहले आप सारी वस्तुओंका परित्याग कर दीजिये । तदनन्तर जिस मनसे उनका त्याग किया है, उस मनका भी दय कीजिये; किर त्याग-अभिमानरूपी मलसे भी रहित होकर जीवन्मुक्तस्वरूप हो जाइये ।

( सर्ग ९२-९३ )

## चित्तर्पी वृक्षको मूलसहित उखाड़ फेंकनेका उपाय और अविद्यारूप कारणके अभावसे देह आदि कार्यके अभावका वर्णन

श्रीकृष्णजी कहते हैं—श्रीराम ! इस प्रकार चित्तके परियागका उपाय कुम्भ अधिके बलानेपर अपने अन्तःकरणमें बार-बार विधार करते हुए वे सौम्य राजा शिखिष्यत यह वचन बोले ।

राजा शिखिष्यजने कहा—मुने ! जाल जैसे व्याकुल मछलीको पकड़ लेता है, वैसे ही इस चित्तको पकड़ लेना तो मैं जानता हूँ, परंतु इसका त्याग मैं नहीं जानता । भगवन् । सबसे पहले तो आप मुझे चित्तका क्या स्वरूप है, यह ठीक-ठीक कहिये । इसके बाद ग्रन्थो ! चित्तके परियागकी यथावत् विधि बताइये ।

कुम्भ बोले—महाराज ! बासनाको ही चित्तका स्वरूप समझिये । उसका त्याग अस्फल दुगम और दुखसाध्य है । यज्ञकी अपेक्षा उस त्यागमें अधिक आनन्द है और पुण्यकी अपेक्षा वह अधिक मुन्द्र है । मूर्खोंके लिये तो चित्तका परियाग करना बतना ही हुःसाध्य है, जितना कि पागके लिये साम्राज्य प्राप्त करना ।

राजा शिखिष्यजने कहा—मुने ! आपके वचनसे चित्तका स्वरूप बासनामय है, यह तो जानना हूँ, परंतु उसका परियाग अत्रको निगल जानेकी अपेक्षा भी अस्फल दुप्तव यानता हूँ । यह चित्त संसाररूपी दुग्धनिष्ठ पुण्य है, हुःखरूपी दाहजनक अप्ति है तथा शरीररूपी यन्त्रका संचालक है । इसका अनायास त्याग जिस तरह होता हो, वह बताइये ।

कुम्भ बोले—साधो ! इस चित्तका सर्वथा नाश ही संसारका भी नाश है, वही चित्तका अच्छी प्रकारसे त्याग है—ऐसा दीर्घदर्शी महात्मा ज्ञाने कहा है ।

राजा शिखिष्यजने कहा—मुने ! परमात्माकी प्राप्तिरूप सिद्धिके लिये मैं चित्त-त्यागकी अपेक्षा तो

चित्तका विनाश ही विशेष अथवा समझना है, परंतु सैकड़ों व्याधियोंके मूल इस चित्तका उभय कैसे होता है ?

कुम्भ बोले—राजन् ! जाला, फूल और पल्लवोंमें युक्त चित्तरूपी वृक्षका अद्वितीय वीज है । अत आप उस वृक्षको मूलसहित उखाड़ फेंकिये और करना हृदय आकाशके सदृश निर्मल बना दाइये ।

राजा शिखिष्यजने कहा—मुने ! चित्तका मूल क्या है, अद्वितीय क्या है और इसका कौन-सा देन है, इसकी शाखाएँ और सफन्य कौन हैं तथा यह मूलसहित कैसे उखाइकर फेंक दिया जाता है ?

कुम्भ बोले—महामते ! यह अद्वितीय ही इस चित्तरूपी वृक्षका वीज (मूल) है, इसे जाग जान कीजिये । परमात्माकी माया ही इस मायामय संसारका खेत है । इसलिये इस चित्तका भी यह परमात्माकी माया ही खेत है । इस प्रथम उत्पन्न मूलसे अन्यान्य देहमें आत्मविषयक निष्ठय (बुद्धि) ही इसका अद्वितीय है । जो निराकार निष्ठयामयक समझ है, वही दुष्ट वशी जाती है । इस दुष्टि नामक अद्वितीय जो सम्बन्धसंबन्ध स्थूलता उत्पन्न होती है, उसका चित्त और मन नाम पदा दुष्टा है । ये इन्द्रियों ही इस चित्तरूपी दुष्टके फैली हुई लघु विसृत शाखाएँ हैं और जन्म-जन्म-जन्म हजारों अन्योंके कारण दुष्ट और अद्वितीय दर्शनमें परिपूर्ण जो तुच्छ विषयभोग है, वे इसी दृढ़ी-पूर्णी अवान्तर शाखाएँ हैं । इस तरदूके इस जटिन दिग्मुहरी वृक्षकी शाखाओंमा (विद्यमानमें लासल्लिका) दृढ़ी-पूर्ण प्रतिक्षण है दून घरते हुए आप दृम्ये उद्दाम्यत दूषको उखाड़ फेंक देनेवाले निर्दानन्द दृम्य-दृष्टि चिन्तनमें पूर्ण प्रदन कीजिये ।

राजा शिखिष्यजनने कहा—मुने ! दृद्धाम् दृद्धी

शाखा आदिका छेदन करता हुआ मैं उसके मूलको अशेषरूपसे किस तरह उडाइ फेंकँ :

कुम्भ थोले—राजन् । फल और स्पन्दन आदिसे युक्त विशिष्ट वासनाएँ चित्तरूपी वृक्षकी शाखाएँ हैं । तीव्र विवेक-वैराग्यके द्वारा वे वासनारूपी शाखाएँ नष्ट हो जाती हैं; क्योंकि जिसका मन किसी विषयमें आसक्त नहीं है, जो मौनी और तर्क-वितर्कसे रहित है तथा जो न्यायसे प्राप्त हुए कार्यका शीघ्र सम्पादन कर लेता है, वह पुरुषका चित्त नष्ट हो जाता है । जो पुरुष अपने पुरुषार्थसे चित्तरूपी वृक्षकी शाखाओंको काटता रहता है, वह मूलका भी उच्छेद करनेमें समर्थ हो जाता है । चित्तवृक्षकी शाखाओंका छेदन करना तो गौण है और मूलका छेदन करना प्रधान है, इसलिये आप अहंकाररूप मूलका उच्छेद करनेमें तप्त हो जाएँ । महाबुद्ध ! मुख्यरूपसे इस चित्तरूपी वृक्षको मूलसहित जला डालिये । ऐसा करनेपर अविच्छिन्न हो जायगी ।

राजा शिलिष्वजने कहा—मुने ! अहंभावामक चित्तरूपी वृक्षके बीज ( मूल ) को जलानेमें कौन-सी अग्नि समर्थ होगी ?

कुम्भ थोले—राजन् । 'मैं कौन हूँ' इस विषयका विवेक-विचारपूर्वक व्यार्थ सान ही चित्तरूपी वृक्षके मूलको जलानेकी अग्नि कही गयी है ।

राजा शिलिष्वजने कहा—मुने ! इस विषयमें मैंने अनेक बार अपनी चुदिसे अठड़ी तरह विचार कर लिया है—मैं अहंकार नहीं हूँ और न पृथग्गी और उसके अन्तर्गत बनमण्डलादिसे यण्डन जगत् ही हूँ । जड़ होनेके कारण पर्वतका तट, विषिन, पत्र, स्पन्दन आदि और देहादि मैं नहीं हूँ तथा मास, हड्डी और रक्त आदि भी मैं नहीं हूँ । मैं न तो कर्मेन्द्रिय हूँ और न हानेन्द्रिय हूँ । जड़ होनेके कारण मन-चुद्धि भी मैं नहीं हूँ । जैसे नेत्रदोषसे आकाशमें प्रतीत होनेवाला वृक्ष आकाशसे

मिन्न नहीं है; वैसे ही परमात्माके संकल्पसे उत्पन्न होनेवाले सम्पूर्ण पदार्थ परमात्मासे मिन्न नहीं हैं, परमात्माके ही खलूप हैं । मगवन् । इस तरह अहंकाररूपी मूलका परिमार्जन जानता हुआ भी मैं अन्तर्यामी परमात्माको नहीं जान सका हूँ । इसलिये मैं रात-दिन चिन्मासे जल रहा हूँ । इस चित्तरूपी वृक्षके बीज अहंकाररूप मूलका स्थाग करना मैं नहीं जानता हूँ; क्योंकि बार-बार स्थाग करनेपर भी मैं उससे छुटकारा नहीं पा सका हूँ । मुने ! शरीर आदिमें अहंताभिमानरूप जो दोष है उसका कारण शरीर आदिका परिज्ञान ही है, यह मैं जानता हूँ । मुनीश्वर ! वह त्रिस उपायसे शान्त हो जाय, वह उपाय मुझसे कहिये । यह अहंमात्र जीवात्माको विषयोंकी ओर आकृष्ट करता है, जिससे दुःख ही प्राप्त होता है । इसलिये उस दुःखकी शान्तिके लिये विषयप्रोगरूपी द्रष्टव्यर्गका जिस उपायसे अभाव होता हो, वह मुझसे कहिये । मुने ! जिस पदार्थका प्रत्यक्षात्मक कोई एक खरूप उपचञ्च हो रहा है, वह असद-खरूप कैसे है ? हाय, पैर आदिसे संयुक्त तथा क्रिया-फलरूप विलास आदिसे समन्वित हमलोगोंसे सदा अनुभूत होनेवाला यह शरीर मिथ्या कैसे है ?

कुम्भने कहा—भूमिपाल ! इस संसारमें वास्तवमें जिस कार्यका कारण विद्यमान नहीं है, वह कार्य भी अपना अस्तित्व नहीं रखता, फिर उसका ज्ञान तो विभ्रम ही है । बिना कारणके यह शरीररूपी कार्य नहीं रह सकता । जिस द्रष्टव्यका बीज नहीं है, उसकी उत्पत्ति कहों कभी होती है ? अर्थात् कभी नहीं । बिना कारणके जो कार्य साधने सत्त्वकी मोति प्रतीत होता है उसे भूगतृष्णाजलके सदृश, देखनेवाले भ्रमसे उत्पन्न ( मिथ्या ) समझिये । मिथ्या भ्रमसे विद्यमान शरीर आदिको आप अविद्यमान ही जानिये; क्योंकि अत्यधिक यत्नशील मनुष्यको भी यह भूगतृष्णा-जल प्राप्त नहीं होता । राजन् । शरीर आदि अस्थिपञ्चरूपी यह कार्य

विना कारणके ही अनुभूत हो रहा है। इसलिये वास्तवमें किसीसे उत्पन्न न होनेके कारण इसे अविद्यमान ही जानिये।

राजा शिखिष्वज बोले—मुनीश्वर। हाथ, पैर आदिसे युक्त प्रतिदिन दिखायी देनेवाले इस शरीरका भला पिता कारण कैसे नहीं है !

कुम्हने कहा—राजन् ! कारणरूप पिताका भी अमाव होनेसे वास्तवमें पिता भी कारण नहीं है। जो पदार्थ असत्तसे उत्पन्न होता है, वह असत् ही है। कार्यभूत

पदार्थोंका कारण बीब कहा जाता है। इसलिये ऐसे कार्यका कारण नहीं है, वह कार्यभी कलात्मक वीज़क अमाव रहनेसे नहीं है। मनुष्यको जो उमजातान होता है वह तो शिल्कुल विषय है। अप्यही जो मनु वीजरूप कारणसे गहित है, वह ही ही नहीं। उसका जो मनुष्यको जान देना है, वह नेत्रदोरसे दीखनेवाले दो चन्द्रमा, महमूनिमें जड़ और दग्धपुराके समान द्वुद्धिका भ्रम ही है—मिथ्या है।

( मर्ग ०.१ )

### जगत्के अस्थन्तभावका, राजा शिखिष्वजको परम शान्तिकी प्राप्तिका तथा जाननेयोग्य परमात्माके स्वरूपका प्रतिपादन

राजा शिखिष्वजने पूछा—मुने ! त्रिहासे ऐकर स्तम्भ-पर्यन्त जो कुछ यह संसार भासित होता है वह यदि अमरूप ही है तो फिर वह दुखदायी कैसे है ?

कुम्ह बोले—राजन् ! वास्तवमें पितामहकी भी सत्ता नहीं है, फिर उनके द्वारा निर्मित प्रपञ्चकी सत्ता हो ही कैसे सकती है। जो वस्तु असत्, वस्तुसे सिद्ध की जाती हो, वह त्रिकालमें भी सिद्ध नहीं हो सकती। यह जो भूत-सृष्टि दिखायी पड़ती है, वह मृगतृष्णाजलके सदृश मिथ्या हो उदित हुई है, इसलिये शुकिसे रजत-ज्ञानके सदृश विचारसे ही उसका विलय हो जाता है। कारणका अस्तित्व न होनेसे कार्यभी सत्ता ही ही नहीं सकती। जो असत्, कारणसे असत्, कार्यकी उसति प्रतीत होती है, उसका स्वरूप मिथ्याज्ञानके अतिरिक्त और कोई दूसरा हो ही नहीं सकता। मिथ्याज्ञानके कारण दिखायी पड़नेवाला पदार्थ किसी कालमें भी अस्तित्व नहीं रख सकता, क्या कहीं किसीने मृगतृष्णा-जलसे घबे भरे हैं ?

राजा शिखिष्वजने कहा—मुनिश्वर ! अनन्त, अजन्मा, अन्यत्क, आकाशकी तरह निराकार, अविनाशी, शान्त,

परमप्र परमात्मा सृष्टिके आदिरचयिता, इत्यादा यात्रा नहीं नहीं है !

कुम्ह बोले—राजन् ! वास्तवमें युज निर्विनाश अद्वितीय ग्रन्थ न तो कार्य है और न कारण ही है; क्योंकि निर्विकार होनेसे उसमें कारणत्व और कार्य रहा अमाव है। इसलिये वस्तुत ग्रन्थ न कर्ता है, न कर्ता है और न कारण ही है। उसमा न कार्य निर्मित है और न कोई उपादान है। वह तर्कजा हित नहीं है, उन वह अविषेय है। जो बनवर्य, अविवर, ज्ञान, प्रिय-शृण्य और कल्याणकृप है, उसमे गर्वहृद कर्ता है। नैति-तृष्ण किस तरह, किसका, किससे कर्ता है जिन मात्र तोहर ! अतः यह जगत् वास्तवमें किसीसे उपन्त नहीं है ही। न इसकी मत्ता ही है। इसलिये क्या न कर्ता है ही ? न भोक्ता है; किन्तु सब कुड़यान्, भजन्, यजन् आदि प्रक्रम ही है। वास्तवमें कारणजी मत्ता ही नहीं है। इसलिये यह जगत् किसी सी भी उपर्युक्ती के द्वारा कारणका स्वरूप न रखनेमें ज्ञे द्वार्देष्ट्र, त्रिष्टुति है, वह केवल भव्य ही है ; जिन्हें इन हीमें इस सृष्टिका तीनों कार्योंमें हृष्ट इन ही हैं। ५८

जगत् जब किसी भी कारणका कार्य नहीं है, तब अनायास समस्त पदार्थोंका मिथ्यात्म सिद्ध हो जाता है। पदार्थोंका मिथ्यात्म सिद्ध हो जानेपर फिर ज्ञान किसका और जब ज्ञानका ही अमाव सिद्ध हो गया, तब अहंकारका कोई कारण ही नहीं रहता। इसलिये राजन्। आप शुद्ध मुक्त ही हैं। फिर बन्धन और मोक्षकी बात ही क्या है !

राजा शिखिष्वजने कहा—भगवन् ! मैं वास्तविक तत्त्वको जान गया। आपने बहुत ही उत्तम और शुक्रियुक्त कहा है। मैं यह भी समझ गया कि कारणका अमाव होनेसे ब्रह्म भी जगतका कर्ता नहीं है। अतः कर्ताके अभावसे जगतका अमाव है और जगतके अभावसे पदार्थका अमाव है। इससे उसके बीज वित्त आदिका भी अमाव है और इसीसे अहंता आदिकी भी सत्ता नहीं है। इस प्रकारकी लिंगि. होनेपर मैं विशुद्ध ही हूँ, सर्वक्ष द्वूँ और कल्याणखल्प हूँ; क्योंकि परमात्मासे मिन्न दृश्य विषय कुछ ही ही नहीं, यह आपने मुझे समझा दिया। इसलिये सब पदार्थोंका सखल्प जान लेनेपर 'अहम्' आदिसे लेकर अस्ततक जितने दृश्य पदार्थ हैं, वे सब असखल्प ही भासते हैं; हमलिये मैं आकाशकी भौति शान्त हुआ समभावसे नित्य लिंग हूँ। बहो ! देश, काल, कला एवं क्रियाओंमें युक्त यह जो जगतके पदार्थोंकी नाना दृष्टि थी, वह दीर्घकालके अनन्तर शान्त हो गयी अर्थात् मुझे दृश्य जगतके अभावका ज्ञान हो गया। अब केवल अविनाशी शान्त ब्रह्म ही लिंग है। अब मैं शान्तिमय मुक्तखल्प और परिपूर्ण हूँ। मैं क्रिया, उत्पत्ति और विनाशसे रहित हूँ। मैं अतिशय छुम्ह, कल्याणखल्प विशुद्ध परमात्मखल्प हूँ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! राजा शिखिष्वज पूर्णोक्त रैतिसे परमात्ममें विश्राम पाकर दो बड़ीतक थायुरहित खानमें दीपशिखाकी तरह निश्चल तथा

शान्तवित्त हो गये। फिर जब राजा शिखिष्वज निर्विकल्प समाधिमें लिंग है, तब अपनी सहज लीला-मरी ब्राणीसे कुम्भने उन्हें तत्काल जगाया।

कुम्भने कहा—राजन् ! आप आप अज्ञानरूपी निद्रासे आग गये हैं और कल्याणखल्प होकर लिंग हैं। प्रिय ! जब परमात्माका एक बार रूपरूपसे अलुभव हो जाता है, तब उसके लिये समस्त अनिष्टकारक पदार्थोंका अमाव हो जाता है। अनः अब आप समस्त कल्पनाखल्पी दोषोंसे रहित हो जीवन्मुक्त बन गये हैं।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! जब मुनिश्रेष्ठ उस कुम्भने राजा शिखिष्वजको इस तरह समझाया, तब वे ज्ञानी हो गये और महामोहसे रहित हो शोभा पाने लगे। ( तब ) कुम्भने कहा—महाराज ! मैंने पहले जिस आत्मतत्त्वका उपदेश दिया था, उसे ग्रहणकर अज्ञानखल्पी आवरणसे मुक्त हो जानेके कारण आप देदीव्यमान होकर खूब शोभा पा रहे हैं। अब आपको जाननेके लिये जो यह कुछ बच गया है, उसे सुनिये। राजन् ! यह जो कुछ भी स्थावर, जङ्गम नानाविव आकार-प्रकारसे भर द्युआ जगत् दिखायी पड़ता है, वह सब कल्पकी सगातिमें विनष्ट हो जाता है। उदनन्तर जब महाकल्पकी लीला समाप्त हो जाती है, तब एकप्राप्त प्रसन्न, गम्भीर, सर्वध्यापक सविदानन्द परमात्मा ही अवशिष्ठ रह जाता है। यह परमात्मा केवल विन्मय, विशुद्ध, शान्त, परम अनन्त, सम्पूर्ण कल्पनाओंसे रहित और परम दिव्य ज्ञानस्थल्प है। वह तर्करहित, अविद्य, समस्वरूप, कल्याणमय, निन्दारहित, ज्ञानसे परिपूर्ण पूर्ण निर्भाग व्रस्तवरूप है। इसलिये राजन् ! परमात्मासे मिन्न कोई भी दूसरी कल्पना इस संसारमें है ही नहीं। आपको जो निर्मल परमात्मतत्त्व ज्ञात हुआ है, वही परिपूर्ण और अविनाशी ग्रह्य है। सम्पूर्ण आकार-प्रकारोंसे युक्त हो प्रकृत हृता-मा वह सर्वस्त्रखल्प होकर सदा दी लिंग रहता है। प्रत्यक्ष आदि प्रणालोंसे

अगम्य होनेके कारण वह अनिवेचनीय, अतः उत्तम और विलक्षण पदार्थ है । वह सर्वस्वरूप परमात्मा सबका आत्मा है । वह अनि सूक्ष्म, शुद्ध तथा अनुभवस्वरूप है । वह बास्तवमें न कर्ता है, न कर्म है और न कारण ही है । वह सत्-चित्-शानन्दमय परमात्मा अविनाशी, अमर्य तथा खण्ड अनुभवस्वरूप है । यह जगत् यथार्थरूपसे जान लिये जानेपर परम बल्याणकारक हो जाता है; क्योंकि यह परमात्माके संकल्पसे वस्तव होनेके कारण परमात्माका स्वरूप ही है । किंतु यदि जगत् यथार्थरूपसे न जाना गया तो वह भयंकर हुँस देनेवाला और अकल्याणकारक होता है । जैसे अग्नि वित्र-विचित्र रूपसे आविर्भूत हुई भी बास्तवमें वह अपने ही स्वरूपसे रहती है, वैसे ही संकल्पसे अन्यान्य रूपोंमें आविर्भूत हुई भी ब्रह्मसत्ता अपने यथार्थ ब्रह्मरूपसे ही स्थित रहती है । बास्तवमें जगत्का कोई भी कारण नहीं है; अतः इसका हीनों कालोंमें अत्यन्त अपाव है । त्रस ही जगत्के रूपमें प्रतीत होता है ।

कुम्भने कहा—महाराज ! अपनी ही सत्तामें स्थित ब्रह्म बास्तवमें तो न किसीका उपादान कारण है और न किसीका निमित्त कारण है । वह केवल विशुद्ध अनुभवस्वरूप है । अनुभवस्वरूप उससे मिल दूसरा कुछ भी पदार्थ नहीं है । जो कुछ अहंता आदि जगत् प्रतीत होता है वह भी ब्रह्मका संकल्प होनेके कारण अनन्त ब्रह्मरूप ही है ।

राजा शिखिष्वज बोले—मुनिवर ! मैं मानता हूँ कि बल्याणमय परमात्मामें बास्तवमें अहंतादि जगत् नहीं हैं; परंतु उसमें जो जगत्का ज्ञान होता है, वह किस कारणसे होता है, इसे हीम सुनासे कहिये ।

कुम्भने कहा—साधो ! असीम जगत्का वित्तार करनेवाला जो अनादि-अनन्त त्रस है, वही अपने संकल्पसे जगत् और जगत्के ज्ञानके सदृश बनकर

ब्रह्मसित है; इसीउिये वहाँ जगत्-स्वरूप द्वा जान है । जिस प्रकार जड़में रस भर वस्तु है, उन्हें सब पदार्थोंकी सार वस्तु परमात्मा ही है । यदि इन्हन् प्रसारूप पद जगत्का कारण भाना जाय तो फिर निर्विकरण, अगम्य, अतर्कर्य आदि शब्दोंसे जो ब्रह्मका दर्गन दिया गया है, वह कैसे सिद्ध होगा ? इत सब युक्तियोंमें वह निश्चित होता है कि बास्तवमें वह ब्रह्म किसी भी जागृता भ निनित कारण है और न उपादान कारण ही है. अतः इग नृदेव अस्तित्व किसी कालमें हो ही नहीं । यिन्मय एवं अन्यके अतिरिक्त इस सुषिकी दूसरी कोई मना है दी नहीं, जिससे कि उसका वर्गन किया जाय । इसन्देश ह सिद्ध हुआ कि जड़ दृश्य जगत्का नहा है दी नहीं । जो भी कुछ वह दीखता है, वह एक तरहमें अनुभव ही अपने संकल्पमें स्फुरित हो रहा है । वही अहंभाव, जगत् आदि शब्द और गण्डार्थद इन्होंने युक्त-सा होकर भासता है । घट, पट आदि गण्डार्थ वस्तु चिन्मय नहीं हो मर्हनी, क्योंकि जगत्का, बल्तुओंका नाश अवश्यम्भावी है । मार्गे ! एह नैन है और यह जड़ है—इस प्रकार्यों । उपर्यन्त, दीर्घी है वह केवल चित्तकी चलता है, इसका एवं दीर्घी नहीं है । ससारमें केवल चेन्नतच भ्रम्यता है एवं नहीं है । द्वितीय और एकत्र ऊठ नहीं है, एवं उपर्यन्तमन्त्र है । रावन् ! इसन्देश जगत्-सदायोंकी मर्हनका अभाव होनेपर उनकी भान्नमें उपर्यन्त नैन सिद्ध हो जाती है । नम्पुण्य भान्नमार्गे । उपर्यन्त हीन-तो आपकी अहभावनाका अनिवार्य दृश्य है । अहमावका अभाव होनेदा निः दृश्या भर्हना ही है, जिसे कि चित्त करा राम । इन्होंने निः दृश्य अहंरूप है । उपर्यन्तमें मिल दृश्य, निः दृश्य पदार्थ है ही नहीं और जौन्होंने ही जानेदा ।

समिक्षानन्दप्रय हो जाते हैं। शुद्ध, चैतन्यद्विके सम्बन्धसे उड पदार्थकी कदापि सिद्धि न होनेके कारण, उड पदार्थकी मानवनामा भी अभाव हो जानेसे मानवनाजनित जीवरूप नहीं रहता, केवल स्वय परमात्मा ही रहता है। 'सब ब्रह्मरूप ही है' इत्यादि वेदार्थ-मानवनासे जनित ब्रह्माक्षात्कारद्वारा केवल चिन्मय ब्रह्म-

के ही प्रकाशित हो जानेपर फिर शोक कहाँ ! फिर तो, शोकका अस्पन्त अभाव हो जाता है। समस्त दैतका बाध हो जानेपर एक ब्रह्मरूप ही रह जाता है। वह ब्रह्म विशुद्ध, कारणशून्य, शाश्वत एवं आदि और मन्यसे रहित है।

( सर्ग ९५—९७ )

### चित्त और संसारके अत्यन्त अभावका सथा परमात्माके भावका निरूपण

कुम्भ कहते हैं—राजन् ! चित्त नामका पदार्थ किसी काल्पने, किसी देशमें या किसी वस्तुरूपमें कहाँ है ही नहीं। वह जो चित्त-सा प्रतीत हो रहा है, वह अधिनाशी ब्रह्म ही है। मर्मूर्ण चित्त आदि प्रपञ्च अज्ञानात्मक है, इसलिये उसका अस्तित्व ही नहीं है; क्योंकि जो अज्ञानात्मक बस्तु रहती है, उसका ज्ञानसे बाध हो जाता है। अतः अधिनाशी ब्रह्म अहम्, त्वम्, तत्, इत्यादि कल्पनाएँ कैसे रह सकती हैं ? जो कुछ भी यह प्रकट जगत् है, वह कुछ ही नहीं। सब ब्रह्म ही है; अतः कौन किसको कैसे जाने ? प्राकृत प्रश्नके अनन्तर सृष्टिके आरम्भमें जो यह चित्त आदि जगत् उत्पन्न प्रतीत होता है, वह वास्तवमें ही ही नहीं। मैंने 'यह चित्त-सा मालूम पड़ता है', इत्यादि रूपसे जो कहीं-कहीं निर्देश किया है, वह केवल आपके बोधके त्रिये ही किया है। उपादान आदि कारणरूपसे जो प्रसिद्ध हैं, उनका भी अस्तित्व नहीं है और दितने भावरूपसे प्रसिद्ध है, उनका भी अस्तित्व नहीं है, इसलिये इस असद् जगत्का ब्रह्म कारण नहीं है; क्योंकि अज्ञानजनित खानितरूप ही जगत् है, इसलिये उसकी किसी काल्पने सत्ता ही नहीं है। अतः यह जो दिक्षायी पड़ता है, वह मासनात्मक ब्रह्म ही है, दूसरा नहीं ; जो देव नाम और रूपसे रहित है, उस ब्रह्मरूप देवके विभयमें यह कहना कि

यह देव इस विद्या जगत्का निर्माण करता है, वास्तवमें न तो युक्तिसंगत है, न सत्य है और न अद्वैतवादियोंका वैसा अनुभव ही है। राजन् ! इसी प्रयोगसे चित्त-का अस्तित्व नहीं है; क्योंकि जब जगत्का ही अस्तित्व नहीं है, तब जगत्के अन्तर्गत चित्तका अस्तित्व कैसे हो सकता है ? चित्त तो वासनामात्ररूप है। वासना तब होती है, जब कि वासनाका विषय रहे। परंतु वासनाका विषय जो जगत् है, वह तो स्वयं असद् है, अतः चित्तका अस्तित्व ही कहाँ है ? वास्तवमें तो कारणके अभावसे ही यह दृश्य वासनाका विषय जगत् उत्पन्न ही नहीं हुआ है; फिर चित्त आया ही कहाँसे ?

अतः केवल चिन्मय विशुद्ध विज्ञानस्तरूप परमात्मा ही अपने संकल्पसे स्फुरित हो रहा है, इसलिये उससे मिन्न जगत्की सत्ता कहाँसे आयी ? समस्त अन्योंको उत्पन्न करनेवाला अहम्, त्वम्, जगत्, इत्यादि जो यह अनुभव होता है, वह वास्तविक नहीं है; उन्हें सदृश मिथ्या ही है। वासनाके विषय जगत्की असत्ता होनेसे वासनाकी सत्ता नहीं है, इसलिये फिर वासनात्मक विच वही कैसा, कहाँ, किससे और किस तरहसे हो सकता है ? जो परमात्माके वयार्थ ज्ञानसे रहित है, वे अज्ञानी ही चित्त और इस दृश्य जगत्को सत्य समझते हैं। वस्तुतः चित्त असद् है, उसका

कोई आकार नहीं है और न वह उत्पन्न ही हुआ है। क्योंकि लोक, शास्त्र और अनुभवसे इस्य बहुतमें अनादिता, अज्ञता और स्थिरता सम्मिलन नहीं है। जिसकी दुदिमें लोक, शास्त्र और वेद प्रयोग नहीं है, वह अत्यन्त मूर्ख है। अतः सज्जनको उम्रके कथनका कभी अवलम्बन नहीं करना चाहिये। आस्तीनमें जाग्रीय बोधसे सब कुछ ब्रह्म ही प्राप्त है। न तो कहाँ जगत् आदिका ज्ञान है, न कहाँ चित्तका ही भाव है और न अमाव ही तथा न कहाँ हैत है, न कहाँ अहैत ही है। यह समस्त जगत् आधरपरहित, परम शान्त, अवन्मा अनादि परमात्मरूप ही है। किन्तु यह जो अङ्गानियोद्धारा देसे गये रूपसे युक्त जगत् है, वह न नाना है और न अनाना ही है। अनः आप मौन प्रन वारण करके कठके सदृश स्थित रहिये।

राजा शिलिष्ठजने कहा—महामुने ! आपकी दयासे मेरा मोह नष्ट हो गया। मुझे ब्रह्मके खखलपकी स्मृति प्राप्त हो गयी, मेरा संदेह दूर हो गया। मेरी दुदि परम विश्रामको प्राप्त हो गयी, अब मैं आत्मवान् होकर स्थित हूँ। अब मैंने ज्ञेय वस्तु परमात्माके खखलपका अनुभव कर लिया, मैं महामौनी हो गया, मायालूपी महासुदृको पार कर गया; अब मैं शान्त हूँ, मैं अहंकारखलरूप नहीं हूँ, आत्मज्ञानी बनकर सम्पूर्ण विकारोंसे रहित होकर अवस्थित हूँ। अहो ! अति चिरकाल्पक में भवसागरमें परिभ्रमण करता रहा। परंतु अब मैं क्षोभरहित अश्रुय परमपटको प्राप्त हो गया हूँ। मुने ! इस तरह अवस्थित होनेपर मूर्खोंके माने हुए अहंतासहित ये भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों जागत् नहीं हैं। जो कुछ यह भागित हो रहा है, उसे ब्रह्मका संकल्प होनेके कारण मैं ब्रह्मरूप ही समक्षता हूँ।

कुम्भ थोले—राजन् ! आपका कष्ण नच है ; जिस चिन्मय परमात्मामें वस्तुनः यह जगत् ही नहीं है, वहाँ आकाशमें बिना हुए प्रनीत होनेवाले हैं। नगरके समान इन नरहका 'अह, भूमि' का, अनुभव कीमा, कहाँ, किस निर्मतमें और किस प्रकार तो महत्वा है ? जैसे कड़ा, कुण्डल आदि भावनाके गमन हो जानेवर सुवर्णमात्र अवशिष्ट रह जाना है, ऐसे ही जगदादि भावनाओंके शान्त हो जानेपर प्रकाश इन ही अवशिष्ट रह जाना है। 'देह आदि मैं हूँ' इन नामों<sup>१</sup> भावना अत्यन्त विनाशकारक घन्घनके द्विरे होनी है तथा 'देहादिक्षय मैं नहीं हूँ' इस नामकी भावना क्षिण्ड मोक्षके लिये होनी है। अहंकारन्तनानन्द अन्दर मोक्ष ही तथा अहंकारन्तन ही बन्धन है। इसनि-र राजन् ! ऐसे यह साक्षात् प्राप्त ही है, अहंकार मैं नहीं हूँ। इस प्रकारके शुद्ध कैवल्यात्मक बोधसे युक्त होना : यह आत्मवान् हो जाइये। जिस तरह ममुद्भव तरंग आदि वाक्यावस्थमें जलमात्र ही है, उसी तरह ब्रह्ममें गमार और सप्तसत्त्वके पदार्थ परमात्मका यथार्थ तान होनेपर प्रकाशपरमात्मरूप ही है। यह सुष्ठि ही सुष्ठि इसके अर्थसे रहित परमद्वारा है और परमद्वारा सृष्टि है ; इसेगि यही शाश्वत परब्रह्म 'सर्व व्यक्तिर्वृद्धि' इन पुनिवाक्यका अर्थ है। समस्त अन्द और उनके उर्द्दी भावनाका जहाँ अभाव है, वह शुद्ध, निन्द, चेतन, अन्द परमात्मा ही इह इष्टसे जग जान रहे हैं ; एवेनि परमात्माजा यथार्थ अनुभव हो जानेपर जग गर्द है, उनके अर्पण गमनारका गमन नहीं रहता, नहीं अज्ञ, शान्त निद यी अवशिष्ट गमन है। यह अन्दी भी गनि नहीं है।

ब्रह्मसे जगत् की पृथक् सत्ताका निषेध तथा जन्म आदि विकारोंसे रहित ब्रह्मकी सत्तः सत्ताका विधान

कुमने कहा—राजन् ! जिसमें कारणता है, उसका वह कार्य सिद्ध हो सकता है। वास्तवमें जो निर्विशेष ब्रह्म है वह तो किसीका कारण ही नहीं, मिर उससे कार्य होगा ही कैसे ? जो कार्य कारणसे उत्पन्न होता है, वह कारणके सदृश होता है। जो यहाँ उत्पन्न ही नहीं होता, उसमें भला सादृश्य आयेगा ही कहोसे ? भला आप बतलाइये तो सही, जिसका कोई बीज ही नहीं है, वह उत्पन्न कैसे होगा ? जो वस्तु अतक्य, अगम्य और निर्विशेष है, उसमें बीजता ही कहों छहरेगी ! देख और कालके बशसे सभी पदार्थ कारणसे युक्त और प्रमाणसे गम्य होते हैं। किंतु अकर्ता होनेसे ब्रह्म निवित्त और उपादान करणोंका प्रमाण कैसे सिद्ध हो सकता है ? क्योंकि कर्ता, कर्म और कारणशून्य कल्याणमय परमात्मामें कारणता नहीं है, इसलिये जगत् शब्दार्थ ज्ञानका वह कारण नहीं हो सकता। अतएव राजन् ! जो सत्त्वरूप निर्विशेष ब्रह्म है, वह मैं ही हूँ इस प्रकार आप निश्चय कीजिये। यह प्रतीति होनेवाला जगत् अज्ञानियोंकी दृष्टिमें ही सत् है; क्योंकि वह एक अद्वितीय चिन्मय अजर और शान्त निर्विशेष ब्रह्म ही वास्तवमें प्रमाणित है। किंतु अज्ञातचक्रके सदृश भ्रान्ति जो यहाँ जगत्, चित्त आदि दिखायी देता है, वह मृगतृष्णा-जल, दृष्टिदोषसे दो चन्द्रमा आदिकी भ्रान्ति तथा बालकल्पित ग्रेत आदिकी भ्रान्ति है। जो जगत् सर्वथा भ्रमात्मक है, वह भला सत्य नामसे कैसे कहा जा सकता है ? अज्ञानजनित भ्रान्ति ही अन्तःकरण और वित्तादि शब्दोंसे कही जाती है।

जैसे महरीचिकामें ग्रतीत होनेवाले जलका ज्ञान 'यह जल नहीं है,' इस यथार्थ ज्ञानसे नष्ट हो जाता है, वैसे ही यह चित्त है। इस रूपसे दृश्यमें दृढ़ हुआ जो अज्ञानात्मक विकार है, वह 'यह चित्त नहीं है' इस यथार्थ ज्ञानसे समूल विनष्ट हो जाता है। जैसे अज्ञान-

भ्रमसे उत्पन्न दुई रुजुमें सर्परूपता 'यह सर्प नहीं है' इस तरहके दृश्यमें दृढ़ हुए यथार्थ ज्ञानसे नष्ट हो जाती है, वैसे ही आत्मामें अज्ञान-भ्रमसे उत्पन्न हुआ मनोरूप चित्त 'यह चित्त नहीं है' इस तरहके दृश्यमें दृढ़ हुए यथार्थ विज्ञानसे विनष्ट हो जाता है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि सारे पदार्थ दृश्यमें अज्ञानसे उत्पन्न हुए हैं। वस्तुतः इस जगद्‌में चित्त नहीं है और इसी तरह अहंकारादिसे संयुक्त देहादि कुछ भी नहीं है, किंतु एकान्त निर्मल एक आत्मा ही है। अज्ञानी जीवोंके द्वारा ही अज्ञानसे मन, बुद्धि, चित्त, अहंकारकी रचना की गयी है। किंतु आज आपने संकल्पके अभावके द्वारा उन सक्षम परियाग कर दिया है; क्योंकि जो पदार्थ संकल्पसे आता है, उसका संकल्पका अभाव होते ही विनाश हो जाता है। जैसे जलसे समुद्र परिष्ठूर्ण है, वैसे ही सचिदानन्दधन परमात्म-तत्त्वसे यह सारा संसार परिष्ठूर्ण है। न मैं हूँ, न आप हैं, न अन्य हैं, न ये सब पदार्थ हैं। न चित्त है, न इन्द्रियों हैं और न आकाश ही है। केवल एक विज्ञानानन्दधन विशुद्ध परमात्मा ही है। घट-पटादि दृश्य-जगत्‌के आकाशरूपसे एक वह परमात्मा ही दिखायी देता है। 'यह चित्त है, यह मैं हूँ' इत्यादि तो असत्य कल्पनाएँ हैं। महीपते ! वास्तवमें तो इस त्रिलोकमें न कोई जन्म लेता है और न कोई मरता ही है। सत् और असत् भावनारूप यह केवल चेतनका संकल्पमात्र है। जब वास्तवमें एक सर्वात्मक व्यापक ब्रह्म परमात्मा ही प्रकट है, तब हित्व और एकत्र ऐसे रह सकता है और कैसे संशय तथा भ्रम ही रह सकता है ? मित्र ! केवल निर्मल अनन्त परमात्म-खरूप आपका न तो कुछ विनष्ट हो सकता है और न कुछ बढ़ ही सकता है; क्योंकि जो अज्ञाना, अजर, अनादि, अद्वितीय, विशुद्ध, सदा एकरूप, चिन्मय, संकल्परहित, सत्त्वरूप वस्तु है, वही परमात्म-तत्त्व है। ( सर्ग १०० )

**राजा शिखिष्वजकी ज्ञानमें हड़ स्थिति तथा जीवन्मृतिमें चित्तराहित्य एवं तत्त्वस्थितिका वर्णन**

श्रीवितिष्ठजी कहते हैं—खुबुलभूषण राम ! इस प्रकार कुम्भके खाभासिक वचनोंपर विचार करके राजा शिखिष्वज उसी क्षण स्वयमेव आत्मपदमें स्थित हो गये । मिल तो उनके मन और नेत्रोंका व्यापार बैद हो गया, जाणी ज्ञान हो गयी तथा वे ज्ञानस्थ होकर मनन करने लगे, उस समय उनके शरीरके सभी अवयव ऐसे निष्वल हो गये, मानो शिलातलपर खुदी हुई कोई मूर्ति हो । महाबाहो ! तदनन्तर दो ही घडीके बाद जब उनकी ज्ञानमुद्धा भंग हुई और वे विकसित नेत्रोंसे कुम्भकी ओर देखने लगे, तब कुम्भलपिणी चूहालाने राजसे प्रक्षन करना आरम्भ किया ।

कुम्भने पूछा—राजन् ! जो अस्त्वत् प्रकाशमान, शुद्ध, विस्तृत एवं मिर्दल है तथा जो निर्विकल्प-समाधिमें स्थित रहनेवाले योगियोंके लिये सुन्दर शब्दाके समान है, उस आत्मपदमें आपको आनन्दपूर्वक विश्रान्ति प्राप्त हो चुकी न ; आपका अन्तःकरण प्रवृद्ध हो गया न ; आपने भ्रान्तिका परित्याग कर दिया न ; ज्ञानव्यक्त ज्ञान प्राप्त कर लिया और द्रष्टव्य वस्तु देख ली न ।

शिखिष्वज घोरे—भगवन् ! आपकी कृपासे मुझे उस महती पदवीका साक्षात्कार हो गया, जो निरन्तरायानन्दकी भूमिका और समस्त उक्तर्थोंका पराक्रमा है । अहो ! जानने योग्य वस्तुओंके ग्रानसे सम्पन्न संन-महात्माओंका सङ्ग अपूर्व एवं सर्वोत्तम असृतमय होता है, अतः सर्वोक्तुष्ट फल प्रदान करनेवाला है । प्रभो ! जिस महामृतकी उपलब्धि मुझे सारे जन्ममें भी नहीं हुई, वही आज आपके नमागमसे अनायास ही सुलभ हो गयी । परंतु कमलज्ञेचन ! इम अनन्त, आश एवं अमृतखल्द्य आत्मगढ़की प्राप्ति मुझे पहले ही क्यों नहीं हो गयी ?

कुम्भने कहा—राजन् ! जब भोगेष्ठाओंका परित्यग कर देनेसे मन पूर्णतः ज्ञान हो जाता है और समूर्ण

इन्द्रियाणोंके भोगस्थ दोषोंकी निवृत्ति हो जानी है, तब स्थितमें उपदेशककी विभूत उक्तियों उमी प्रगत निन्दा हो जाती है, जैसे शुद्ध स्वच्छ कवचर कुंतुलमिश्र जैसे हीटे । कमलमयन ! आपके अपने ज्ञानाशन्त्य उन्नन्द दोषोंका, जो अनेक जन्मोंके ग्रीरोदाता नंगरहीन हिसे हुए है, परियोग आज प्रकट हुआ है । मामुदिगोमग ! कान्द्वारा परिपक्व होकर समूर्ग दो शरीरमें निरुद्ध जाने हैं । सखे ! शरीरसे ज्ञानाशक दोषोंके निरुद्ध जानेम युद्धदेव जो कुछ निर्मल उपदेश देते हैं, वह दीप श्री अन्तःकरणमें प्रविष्ट हो जाता है । महापते ! दोनोंग परियोग सम्बन्ध हो जानेपर आज भैं जारी उद्युग लिया है । इसी कारण आज ही आपके अनन्दमा दिनारा हो गया । आज आपके सभी दोन परियोग दो-दोपर नष्ट हो गये । आज ही आपने सम्प्रकृत्यसे ज्ञानोपदेश भावन लिया है । आज ही आप उपदेशसम्बन्ध हृद द्वारा हैं और आज ही आप प्रबोधशान् भी हुए हैं । मम्मज्ञके न्यायमें आज आपके समस्त शुभ-अशुभ कर्मोंका समूद्र दिनारा हो गया । महीयने ! जबनक इस दिनका द्वयभाग दोन रहा, तबतक आपके वित्तमें ‘पर’ मैं हूँ, यह मैं हूँ है, ऐसा अहान यन्मान था; परनु भूपते ! इन मन्त्रमें यथनोपदेश शब्दग करके आपने अपने हृदयमें उप अहानको निकाल फेंका हूँ, जिमसे आपने गिरना विनाश हो गया है; अन. जब आप भरीमौनि प्रवृद्ध हो गये हैं । राजन् ! जबतक हृदयमें मनका अन्तिर तरंग न रहता है, तबनक अहान रहता है, किन्तु ऐसे ही अन्तिर मूलसे वित्तका विनाश हुआ, जो ही इन्द्रज्ञ अद्वितीय है; जाना है । हैन और अद्वितीय दृष्टि ही यिन हैं तेरा—मी अहान भी कहा जाना है; इन दोनोंमी दृष्टियाँ दो विनाश हैं, वही ज्ञान और शरीर दरन नहीं हैं । नैश्च ! जो प्रतीन होनेके कारण सद द्वारा उन्नन्दन न दिलाया जाता है तदा वो मिट्टा उत्तर्दग्नि करण असत है तदा वो मिट्टा उत्तर्दग्नि करण

स्थान है, उस चित्तका तो आपने विनाश कर ही दिया। इससे अब आपका ज्ञान बाग उठा है और आप विमुक्त हो गये हैं। अतः अब आप शोकशून्य, आयासरहित नि.सङ्ग, अनन्य, आत्मज्ञानसम्पन्न, महान् अभ्युदयसे युक्त, मौनी एवं मुनि होकर आपने निर्मलखूरुपमें स्थित रहिये।

**शिलिङ्ग घोले—गणन् ।** यें आपके कथनानुसार जो मूर्ख जीवके लिये ही चित्त है, ज्ञानीके लिये नहीं; किन्तु प्रमो ! यदि आत्मज्ञानीके लिये चित्त है ही नहीं तो ये आप-जैसे जीवमुक्त मनुष्य मनसे रहित होकर जगत्में कैसे विचरण करते हैं ? यह व्रतलानेकी कृपा कीजिये ।

कुम्हने गहा—तत्त्वज ! आप जैसा कह रहे हैं यह ठीक वैसा ही है; इसमें थोड़ा-सा भी अन्तर नहीं है। जैसे पृथ्वरे अद्वार नहीं निकलता, उसी प्रकार जीवमुक्तोंका चित्त व्यापारशून्य हो जाता है; क्योंकि पुनर्जन्म लेनेमें सहायक जो धनीभूत वासना होती है, वही चित्त अद्वारे कही जानी है और वह आत्मज्ञानीमें रहती नहीं। आत्मज्ञानसम्पन्न पुरुष जिस वासनाद्वारा सांसारिक कर्मोंका व्यवहार करते हैं, उसे आप 'सत्त्व' नामानी नमकिये। वह वासना पुनर्जन्मसे रहित होनी है। जो मत्तमें स्थित हैं तथा जिनकी इन्द्रियों सम्पर्क-प्रकारसे क्षमामें हैं, ऐसे जीवमुक्त महात्मा आसत्तिरहित होकर विचरने हैं; परंतु चित्तस्थ पुरुष वैसा कभी नहीं कर सकते। गणन् ! अज्ञानसे आध्यादित चित्तको 'वित्त' कहने हैं और ग्रन्थ चित्त 'मत्त' कहा जाता है। जो अज्ञानी हैं ये 'वित्त' में स्थित रहते हैं और महाद्विमान् ज्ञानी लोग 'सत्त्वमें स्थित रहते हैं। भूपते ! चित्त वारंकारउत्पन्न होना है; किन्तु सत्त्व पुनः नहीं पैदा होना; इसीलिये अज्ञानी बन्दनमें पँडता है, ज्ञानी नहीं पँडना। राजन् ! मुझे यह ठीक-ठीक पता है कि आज आपने पूर्णरूपसे अपने चित्तका विनाश कर

दिया है जिससे आप सञ्चसम्पन्न हो गये हैं और महात्मागी बनकर स्थित हैं। आज आपकी सारी वासनाएँ नष्ट हो गयी हैं, जिससे आपकी विशेष शोभा हो रही है।

मुने ! मैं यह भी मानता हूँ कि आपका मन अक्षशक्ती तरह निर्मल हो गया है। आप परम शान्तिको प्राप्त हो गये हैं और सिद्ध होकर सर्वोक्तुष समर्थिति-में पहुँच गए हैं। राजन् ! यह वही महात्माग है, जिसमें आपने अपने सर्वख-खूप चित्तका परित्याग कर दिया है। भला, तप आपके कितने दुःखोंका विनाश करनेमें समर्थ होता। यह जो उपरनिखूप परम सुख है, यही अक्षय सुख है। यही वास्तवमें सत्य है। सुर्गादिका जो योग-बद्धुत सुख है, वह सत्य नहीं है; क्योंनि वह विनाशशील है तथा उत्पत्ति एवं विनाश-युक्त होनेके कारण वर्तमानकालमें ही प्रतीत होना है।

राज्ये ! जैसे आकाशसे भी अधन्त निर्मल सञ्चिदानन्द परमात्मासे सभी पदार्थ समुद्भूत होकर दृष्टिगोचर होते हैं, वैसे ही वे उसी परमात्मामें विनील भी हो जाते हैं। सकल्पसे ही जिनकी उत्पत्ति तुर्द है, ऐसे पदार्थोंको आत्मज्ञानी महात्मा लोग जलमें प्रानित्रिभिन्न सूर्योंकी तरह समझकर ग्रहण नहीं करते। सज्जनशिरोमणे ! जगत्में जिसका चित्त स्पन्दनरहित हो गया है, उसके समीप संसार आ ही नहीं सकता; क्योंकि महीपाल ! इस शिंगोकीमें जो जो दुःख जीवको प्राप्त होते हैं, वे सभी चित्तकी चपलतासे ही उत्पन्न हुए रहते हैं। इसलिये जिसका चित्त स्पन्दनरहित हो गया है, वही मनुष्य सदा परमानन्दमें निपान रहना है और वही साम्राज्य—परमात्म-पाक्षात्कारका पात्र होना है।

**शिलिङ्ग घोले—सम्पूर्ण संशयोंका उच्छेद करनेवाले विमो !** स्पन्दन और अस्पन्द—ये दोनों किस प्रकार एकत्राको प्राप्त होते हैं, वह विधि भुवो शीघ्र बतानेकी कृपा कीजिये ।

कुम्भने कहा—राजन् ! जैसे सागर जलरूपसे एक है, उसी तरह यह सारा बगत चिन्मात्रजलरूप होनेके कारण एक ही वस्तु है: अतः जैसे तरहें शुद्ध जलको ही उछालती हैं, वैसे ही बुद्धिरूपियों उसी चिन्मात्रको स्पन्दित करती हैं। तात ! श्रुतियों जिसका धर्म, चिन्मात्र, अमल और सत्य आदि नामोद्धारा गान करती हैं, उसीको मृद्ध लोग जगद्गूपसे देखते हैं। इस संसारका सरूप तो बेतन परमामात्र है, इसलिये यथार्थ दृष्टिवालोंके लिये तो इसका विनाश ही हो जाता है; परंतु जिन्हें यथार्थदृष्टिकी प्राप्ति नहीं हुई है, ऐसे

पुरुषोंको रखुमें सर्पभासितकी भौति ना भरन्नारहे हैं। प्रनीत होता । जैसे अनुरिद्धिरूप दोषादिन होनेपर एक ही चन्द्रमा दृष्टिगोचर होता है, उनी हठ निर्माणशास्त्रोंके अन्यात्र और नातुरोंमें, नहारे वन नदीय फवर चित्र शुद्ध हो जाता है, नव एकमात्र बेतन परमामात्रके सरूपका अनुभव होता है। मात्रो ! आप कहिं मारनेमें रात्रि स्व-सरूपको प्राप्त हो चुके हैं । देखाइं मार्नेमें अन्तर्मुख भेड़ भाव नहीं रह गया है, आर महान् नेत्रनम्भार हो गये हैं और आपका शोक नष्ट हो गया है, अनः अउ आप अपने उसी पदमें प्रविष्ट हुए स्थिन रहिये । (मर्ग १०१)

**कुम्भके अन्तहित हो जानेपर राजा शिखिष्वजका कुछ कालतक विचार करनेके पश्चात् गमधिग्रह होना, चूहालाका घर जाकर तीन दिनके बाद पुनः लौटना, राजाके ग्राहीरमें प्रवेश करके उन्हें जगाना और राजाके साथ उसका वार्तालाप**

कुम्भने कहा—महाराज शिखिष्वज ! जिस प्रकार यह समूर्ण विश्व उत्पन्न होता है और जैसे विश्वीन हो जाता है, वह सारा-का-सारा वृत्तान्त मैंने आपसे वर्गीन कर दिया । इसे छुनकर, समझकर तथा मनन करके स्पष्टरूपसे प्रथम प्राप्त परमपदमें आप स्वेच्छानुसार स्थित रहिये । संकल्पपरम्परासे तथा किंभी भी वस्तुकी अभिलापासे रहित आपको सदा आत्मदृष्टिमें ही स्थित रहना चाहिये; क्योंकि यही दृष्टि परम पावन है ।

श्रीचसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! कुम्भके योंकहनेपर राजा शिखिष्वज हाथमें कुछ लेकर कुम्भको प्रणाम करनेके लिये प्रतिवचन लोलना चाहते थे कि तबतक कुम्भ अन्तर्भाव न हो गये । इस प्रकार कुम्भके अन्तहित हो जानेपर राजाको बड़ा आर्थर्य हुआ । वे उसी विस्मयोत्पादक घटनाका विचार करते हुए चित्रलिखितसे अन्नाकू रह गये । फिर वे यों सोचने लगे—‘अहो ! प्रलापी दीला बढ़ी विचित्र है, जो कुम्भके व्याजसे मुझे सदा अस्युदयसरूप भ्रमका ज्ञान प्राप्त हुआ । अहो ! उन देवकुमारने मुझको अत्यन्त ही सुन्दर एवं युक्तिशुक्त उपदेश



दिया, जिसके प्रभावसे दिनहरे से दूर दूर दूर पहा हुआ मैं प्रसुप हो गया । अनो अनो अनो कर्मजालस्त्री दलदलमें, ज्वे ज्वे ज्वे ज्वे ज्वे ।

हुआ हूँ; क्योंकि मेरी तो ऐसी धारणा है कि इस जगतमें आपके समान मेरा बन्हु; आस, सुहृद्, भित्र, सखा, विश्वासपत्र व्यक्ति अथवा अनुयायी दूसरा कोई नहीं है।

शिखिष्वज चोले—अहो ! देवपुत्र ! असह द्वारे हुर मी जो आप मेरे ममागमकी इच्छा रखते हैं, इससे प्रतीत होता है नि आज निश्चय ही मेरे पुण्य सफल हो गये।

कुम्भने कह—राजन् ! आपको महानन्दसरूप परमपदमें विश्रामनी प्राप्ति हो गयी न ? आप इस भेदभय हुएसे मर्त्या रहित हो गये हैं न ? भोगकी नीरसताका विचार करके आपत्तरमणीय संकल्पोंसे आपका प्रेम एकदम निर्मल हो गया है न ? आपका मन हेय और उपादेयकी अवस्थाको अनिकाल्प भर गया है न ? वह शान्त, शम-सम्पन्न होनेसे समतायुक्त और प्रारब्धानुसार प्राप्तपदार्थमें उद्देश्य होकर ही स्थित रहता है न ?

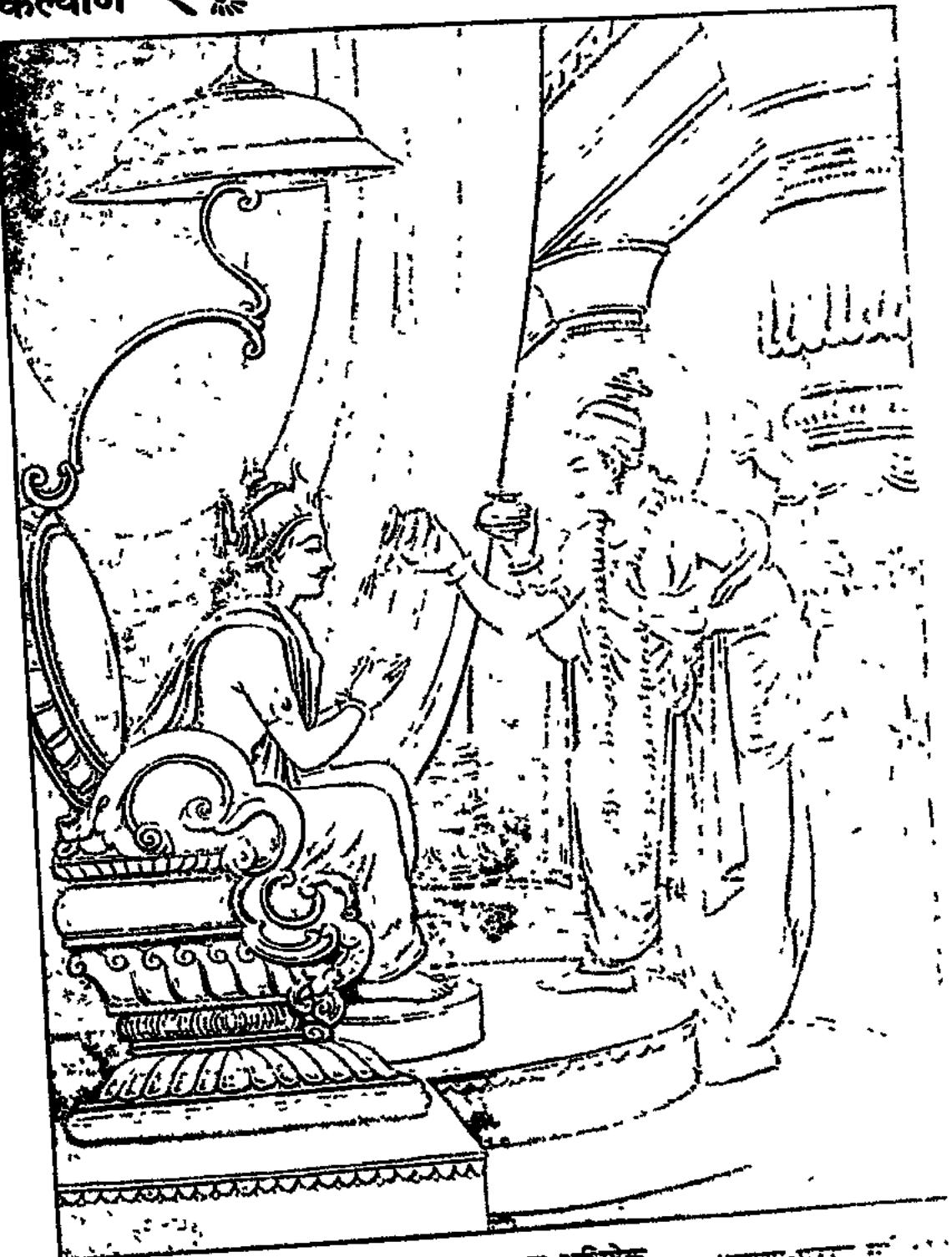
शिखिष्वज चोले—भगवन् ! चिरकालके पश्चात् योद्दे ही समयमें मैं निर्विकार होकर पूर्ण विश्रामको प्राप्त हो गया हूँ। मुझे सम्पूर्ण प्राप्तव्य पदार्थ उपलब्ध हो चुके हैं। अब मैं पूर्णतया तृप्त हो गया हूँ। जिस क्रहकामा मुझे न तो ज्ञान ही या और न जिसकी प्राप्ति ही हुई थी, उसमैंने ज्ञान लिया और प्राप्त भी कर लिया नथा उोड़ देने योग्य ससारका त्याग भी कर दिया। अब मेरा मन वासनारहित हो गया हूँ और मैंने परमामरुप परमतत्त्वका आश्रय भी ले लिया है। अब मेरे लिये कुछ भी शोषनहीं रह गया है। अब तो मैं सांसारिक वासनाओंसे शून्य गोह और भवसे रहित, वीतराग, नित्य ज्ञानसरूप, सर्वत्र समतायुर्ण, सर्वथा सौभ्य, सर्वात्मक, सारी कल्पनाओंसे मुक्त, आकाशमण्डलके समान निर्मलतथा एकरूप होकर स्थित हूँ।

( सर्ग १०२-१०३ )

कुम्भ और शिखिष्वजका परस्पर सौहर्द, चूडालाका राजासे आज्ञा लेकर अपने नगरमें आना और उदासन्मन होकर पुनः राजाके पास लौटना, राजाके द्वारा उदासीका कारण पूछनेपर चूडालाद्वारा हुर्षसाके शापका कथन और चूडालाका दिनमें कुम्भरूपसे और रातमें स्त्रीरूपसे राजा शिखिष्वजके साथ विचरण

श्रीक्षिष्वजी कहते हैं—युनन्दन ! वे दोनों कुम्भ और शिखिष्वज तत्पश्चानी तो थे ही, अतः वे परस्पर इस प्रकारकी अध्यात्मविश्यकी विचित्र कथाएँ कहते हुए तीन मुहूर्त-छः वशीतक उस बनमें बैठे रहे। तत्पश्चात् वे वहाँसे उठकर किसी दूसरे शिखपर जाकर वहाँके सरोवरपर तथा आनन्ददायक बनमें विचरण करने लगे। इस प्रकार उस महावनकी उन अनर्थीश्योंमें वैसा आचरण करते हुए नथा परस्पर वैसी कथाओंको कहते-सुनते हुए उन दोनोंके आठ दिन बीत गये। तब कुम्भने राजासे कहा—राजन् ! आओ अब हमलेग इस पर्वतपर किसी दूसरे बनमें चलें। राजाने कुम्भकी बात मानकर स्त्रीकार कर लिया। फिर तो वे दोनों वहाँसे खल

पड़े और अनेक तख्के बनो, जंगलों, जलाशयोंके तटों, सरोवरों, कुज्जों, भीपण शिखों, नदी प्रदेशों, ग्रामों, नगरों, उपवनों, पर्वतीय गोष्ठों, कुज्जों तीर्थस्थानों और आश्रमोंमें धूमते रहे। वे पूर्णतया शान्त तो थे ही, अतः एक ही साथ रहते थे। उनमें स्नेह, सत्त्व और उत्साह एक-सा था। राघव ! वे देवताओं और पितरोंकी पूजा भी एक ही साथ करते थे और उनका भोजन भी एक साथ ही हो रा या। श्रोराम ! ‘यह अपना घर है और यह नहीं है’ ऐसी वैकल्पिक धारणा उन दोनोंके मनका कभी अपहरण नहीं कर पानी थी। वे कभी अपने शरीरपर धूल लपेट लेते, कभी चन्दनका लेपन कर लेते, कभी मस्त रपा लेते, कभी दिव्य बल धारण कर लेते, कभी



भगवान्‌के द्वारा प्रहादका अभिषेक

(दर्शन-पत्र)



उसे पछोंसे आच्छादित कर लेते और कभी पुष्पोंसे सजा लेते । इस प्रकार वे दोनों मित्र साथ-साथ विचरण करते थे ।

बुद्ध ही दिनोंके बाद समविचार तथा सत्कर्ता उल्लङ्घनके कारण राजा शिखिष्वज भी कुम्भके ही समान शोभा पाने लगे । तब मानिनो चूडालाने राजा शिखिष्वजको देवकुमारके सहश्र उत्तम शोभासे सम्पन्न देखकर विचार किया कि 'अब मैं इस कानूनमें अब्जी बुद्धिसे सोचकर कुछ ऐसे प्रपञ्चस्ती रचना करूँ जिससे दूसरोंको मान देनेवाले ये मेरे खामी राजा शिखिष्वज मुझमें रति-मुखके इन्द्रुक हो जायें ।' यो सोच-विचारकर कानून-कुङ्गमें बैठी हुई कुम्भवेषधारिणी चूडाला अपने पतिसे बोली—

कुम्भने कहा—'राजन् ! मैं खर्ग जा रहा हूँ और सायंकाल होते होते वहाँसे निष्ठय ही लौट आँयेगा; क्योंकि आपका सङ्ग मुझे खर्गसे भी बढ़कर लुप्तप्रद है ।' 'अच्छा, आप शीघ्र ही लौटियेगा ।' राजाके ऐसा कहनेपर कुम्भ उस वनप्रान्तसे उड़कर शरकालीन मेघके सहश वाकाशमें जा पहुँचे । वहाँ आकाशमार्गसे जाते हुए कुम्भने राजाके ऊपर पुष्पाञ्जलि छोड़ दी । राजा शिखिष्वज भी जाते हुए कुम्भकी ओर तबतक टकटकी लगाये देखते ही रहे, जबतक वे उनकी ओर्खोंसे ओश्ल नहीं हो गये ।

उधर आकाशमें राजा शिखिष्वजकी ओर्खोंसे ओश्ल होते ही सुन्दरी चूडालाने कुम्भ-शरीरका परित्याग कर दिया और वह पुनः अपने पूर्वरूपमें आ गयी । फिर आकाश-मार्गसे चलकर वह खर्गके समान रमणीय अपने नगरमें जा पहुँची और अदृश्यरूपसे अपने अन्तःपुरमें जो सुन्दरी खियोसे खचाखच भरा था, प्रवेश कर गयी । वहाँ छटपट सारा राज्यकार्य सँभालकर वह पुनः राजा शिखिष्वजके समक्ष आ गयी । पर आज उसके चेहरेपर उदामी अयी थी । यो उदास-मन कुम्भको सामने देखकर राजा शिखिष्वज उठकर खड़े हो गये । उनका भी खित उदास हो गया, फिर वे आदरपूर्वक यों कहने लगे—

'देवपुत्र ! आपको नमस्कार है । आप शो दृढालन्में दीन पड़ते हैं । आप कुम्भ तो हैं न । इस उदासन्में दीड़िये और इस आसनपर विषयित । यिन्हें वेद वस्तुका ज्ञान प्राप्त हो चुका है तदा वो अन्ने स्वर्गमें स्थित हो गये हैं, ऐसे संन महात्माओंग हार्दि-दिग्दर्ढनिन विनिका उसी प्रकार आश्रय नहीं प्रदूज यहाँ, उमेर कमज़ूब जलका ।'

तब कुम्भने कहा—'राजन् ! जैसे जब यज्ञ मिठ है, तबतक तेवह रहता है, उसी तरह जबतक देह है, नदियम उसकी अच्छी-बुरी दशा भी होनी है । पर तु योगमें चिन्म-की जो समता होनी है, यही देहकी अच्छी-बुरी उदासन्में द्वाया प्राप्त हुःखसे रहित होना है । नदियमानी योग तो, जबतक प्राप्त हुए अन्तिम देहका पूर्व नहीं हो जाता बुद्ध आठिकी समता तथा धार्य-पैर जाडिये मनाँमें स्थितकर्त्त्वात्मीय विभानके अनुमान सम्पद दिलाने गए हैं ।'

जिसिष्वज योले—महामार्ग ! आप नो तारामनिदेवने ब्रेष्ट हैं । देवता होने हुए भी आपको देसी उदामी रिस्त वारणसे प्राप्त हूँ—यह यतन्मनेहो पृथा कीजिए ।

तब कुम्भने रहा—भद्र ! जब मैं यहाँसे चलूँ, तब आपको पुष्पाञ्जलि भवित्वन करके अपास रहो नी, कह हुआ खर्गमें जा पहुँचा । वहाँ यिन्होंने सायं तो दृढ़े समाधवनमें कमानुमार बैठा था । तब मम-दिग्दर्ढन्में यदृश आया और पिनाजीने मुझे जानेजी उदामी दी, दृढ़े ते उठकर यहाँ आनेके लिये खर्गने कह पद । उस नदीमार्ग-ने आ पहुँचा । आगे बढ़नेदर मैंने देवा रिमह—उन्होंने मध्यसे होकर मुनिश दूर्गसा दंड देन्मे । यह ही वा मे है । वे भूतलपर रिश्वन गदार्दीर्घी हैं । यह देह, दृढ़े दृढ़े जा रहे थे । तब मैंने भी जाकर उदासन्में ही रहो जाकर उन मुनिशेष्टको अनिश्वदन दिय, फैर महा—भूत-मैथके सदृश यथा भारत उदास उदामी—भूत-नातीकी स्वर त्वय रहे हैं । इसीको नाम देनेवाले महाराज ! यह छल्कर हुर्दसानी हुमें दार देने हुए

बोले—‘जाओ, इस दुर्बचनके कारण आजसे तुम प्रत्येक रात्रिमें स्तन और केश आदि ली-चिह्नोंसे युक्त होकर हाथ-भाव आदि विलासोंवाली कमनीया रमणीके रूपमें बदल जाया करोगे ।’ वृद्ध आश्रण दुर्वासाके मुखसे निकले हुए उस अश्रुम अवनको छुनकर, जबतक मैं कुछ योद्धा विचार करने लगा, तबतक वे मुनि अन्तर्भूत हो गये । इसी कारणसे मेरा मन उदास हो गया है और मैं सीधे आकाश-तलसे यहाँ चढ़ा आया हूँ । सज्जनशिरोमणे । इस ग्रन्थकार मैंने अपना सारा वृत्तान्त आपको छुना दिया । अब मैं रात्रिमें भी हो जाऊँगा । भला, रात्रिमें मैं इस खीलका निर्वाह कैसे कर सकूँगा ? अहो ! संसारमें होनहारकी बड़ी विलक्षण गति है । हाय ! रातमें जब मेरा खोरूप हो जायगा, उस समय मैं लज्जापरवश होकर गुह्यनों, देवताओं और शाक्षणोंके सामने निर्वाखरूपसे कैसे रह सकूँगा ।

शिखिल्लभज चौले—देवपुत्र ! जगत्में जो कुछ भी हुँस अथवा सुख प्राप्त होते हैं, वे सभी प्रारम्भानुसार शरीरके लिये ही होते हैं । उनमेंसे किसीका भी आत्मापर प्रमाण नहीं पड़ता । मुने । आप तो शाक्षको मूषणकी तरह धारण करनेवाले हैं, इसलिये किसी भी कार्यफलके कियमें विचार करना आपके लिये उचित नहीं है । फिर, यदि आप-जैसे विवेकी पुरुष भी यों विचार करने लांगे तो अन्य अविवेकी जनोंके खेद-नाशका क्या उपाय होगा ? मैं तो ऐसा समझता हूँ कि खेदका किय उपस्थित होनेपर कुछ खेदोचित बचन कहना चाहिये—इसी अविवेकी आपने ऐसा कहा है ।

श्रीघण्डिष्ठजी कहते हैं—राघव ! तदनन्तर जब चन्द्रोदयका समय आया, तब उन दोनों मित्रोंने उठकर संज्ञा-कद्मन किया और फिर बप-कर्म समाप्त करके वे लक्ष्माओंके एक समूहमें जा बैठे । वहाँ जब कुम्भ धीरे-धीरे खीरूपमें परिवर्तित होने लगे, तब वे सामने बैठे हुए

राजा शिखिल्लभजसे गद्गद बाणीमें बोले—‘राजन् ! मैं तो ऐसा समझना हूँ कि आपके सामने मैं लज्जाके साथ-ही-साथ भीमावको प्राप्त होता जा रहा हूँ ।’

दो धड़ीतक विचार करनेके पश्चात् राजा शिखिल्लभज इस प्रकार कहने लगे—‘अहो ! हुँ खक्की बात है । ये कुम्भमुनि, जो महान् सत्संसम्पन्न थे, वे ही अब सुन्दरी खी बन गये । साधुशिरोमणे । आप तो तत्त्वज्ञानी हैं । दैवकी गति भी आपसे छिपी नहीं है; अतः इस अवश्यम्भावी घटनाके कियमें विचार मत कीजिये । ये जो अवश्यम्भाविनी सुख-हुँखात्मक दशाएँ हैं सभी तत्त्वज्ञानियोंके केवल शरीरपर ही प्रभाव ढाल पाती हैं, उनके अन्तःकरणपर नहीं; परंतु ये ही अविवेकियोंके केवल शरीरपर ही नहीं, अन्तःकरणतक पहुँच जाती हैं ।’

कुम्भने कहा—राजन् । ठीक है, ऐसा ही हो । अब मैं रात्रिके समय अपने खी-भावको स्वीकार कर लेता हूँ और इसके लिये चिन्ता भी नहीं करूँगा; भला, दैव-का उलझन कौन कर सकता है ।

तदनन्तर जब ग्रातःकाल हुआ, तब कुम्भने उस शुक्रती खीके खलूपका परित्याग कर दिया और अपना वही कुम्भरूप धारण कर लिया । इस प्रकार वह राजरानी सुन्दरी चूडाला अपने पतिके पास पहले कुम्भरूपसे उपस्थित हुई, तपश्चात् खीरूप धारण करके आयी । वह रात्रिमें कुमारी-धर्मसे युक्त होकर और दिनमें कुम्भरूप धारण करके अपने पित्र एवं खासी शिखिल्लभजके साथ बनप्रान्तोंमें विचरण करती थी । योगवलसे उसका गमनागमन कहीं रुकता नहीं था । इस प्रकार वह नारी चूडाला पुष्पमालाओं एवं धारोंसे विभूषित होकर आगे मिश्र एवं प्रियतम पति-के साथ कैलास, मन्दर, महेन्द्र, मुमेन और सद्गुरित्के शिखरोंपर रवेच्छानुकूल विचरण करती रही ।

( सर्ग १०४-१०५ )

**महेन्द्र पर्वतपर अग्निके साक्ष्यमें मदनिका ( चूडाला ) और शिखिव्यजका विवाह, एक मुन्द्र कल्पनामें  
पुष्प-शूभ्रापर दोनोंका समागम, शिखिव्यजकी परीक्षाके लिये चूडालाडाग मार्याके बन्ने  
इन्द्रका ग्राकव्य, हन्द्रका राजासे खर्ग चलनेका अनुरोध, राजाके अस्तीकार करनेपर**

### परिवारसहित इन्द्रका अन्तर्धान होना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! तदनन्तर कुछ ही दिनोंके भीतनेके बाद कुम्भरूपधारिणी सती चूदाला अपने स्वामी राजा शिखिव्यजसे इस प्रकार बोली—“कमलपत्रसदृश नेत्रोंवाले महाराज ! मेरी यह बात सुनिये। मैं प्रतिदिन रात्रिके समय ली ही बनकर रहता हूँ, इसलिये मैं अपने इस प्रकारके ली भर्तको सफल बनाना चाहता हूँ। इसके लिये विवाहद्वारा अपनेको किसी थोग्य पतिके हाथों सौंप देनेका मेरा विचार है। इस विषयमें क्रिकेकीमें केवल आप ही मुझे पतिरूपसे पसंद आ रहे हैं, अतः विवाह-विधिसे आप सर्वदा रात्रिके समय पली-खूपमें मुझे स्त्रीकार कीजिये। राजन् । चारों ओरसे सारी वस्तुओंमें इच्छा, अनिष्टा स्था तज्जनित फलका स्थाग करके हमलोग इच्छा-अनिष्टासे रहित हो गये हैं अतः इस अभीष्ट कार्यको आप आवश्य सम्पन्न करें।

तब शिखिव्यज बोले—सुखे ! इस विशाहकार्यके करनेसे मुझे शुभ व्यथा अनुभ—किसी प्रकारके फल-की सम्भावना नहीं दीख रही है, असः आपको जैसा रुचे, वैसा ही कीजिये ।

कुम्भने कहा—महीणल । यदि ऐसी बात है तो आज यह श्रावणमासकी शुर्णिमा है, अतः आज ही शुभ लम्ह है; क्योंकि कल ही मैंने विवाहसम्बन्धी सारी गणना कर ली थी । महाबाहो । आज रातमें समूर्ण कल्पओंसे परिषूर्ण निर्मल चन्द्रमाके उदय होनेपर हम दोनोंका विवाह होगा । राजन् । उठिये और हम दोनों बनके भीतरसे अपने विशाहके लिये चन्द्रन और पुष्प आदि सामग्री एकत्र करें ।

यों कहकर कुम्भ उठे और गुजा शिखिव्यजके साथ-

साथ पुष्पोंके बुनने तथा मामणियोंके सम्बन्ध बनानेमें उत्तर गये । इस प्रकार एक मुन्द्र गुफामें मारी शिखिव्यजकी चुटाकर वे दोनों प्रेमी मित्र मदनिकी नदीमें नाम करनेके लिये गये । वहाँ नहा धोउत उन लोकोंने देवताओं, पितरों और शून्यियोंका शून्य शिखः कर्त्तृभि जैसे उन्हें क्रियाजनित फलकी इच्छा नहीं थीं। उसी प्रदर्श शास्त्रविहित क्रियाका स्थाग भी उन्हें प्रमद नहीं था । तदनन्तर कल्पवृक्षके उत्तरमध्ये दर्जके दन्त्यन् परमपदमध्ये तथा फल लाकर वे दोनों क्रमशः विशाह स्थानमें आये । फिर सूर्योक्त होनेपर उन्होंने मंया-क्षम्भवी विशि धूरी की और मन्त्र-जप तथा अवगर्भग आदि भी किया । इन्हें में ही कुम्भ लील्यमें परिणन सो गये । नद वे भी उन्हें लगे कि ‘यह बधू तो मैं बन गया । अब मुझे अद्वा दीर धरको दे देना चाहिये; क्योंकि सुप्रदोषविनष्टप्रजा सारा अवश्य करना चाहिये । यह मैं इधू हूँ और आज मेरे मनोनीत वर सामने उपस्थित है । यह आपके प्रियादि का समय है, अतः आप ये और मुझे प्रदेश दीर्घिन्दि ।’ यों विचारकर वह वरके सभी त्रै जो गामने नन्दीमें निकट स्थित तथा उगते हुए सूर्यके नगान तेजरीमें गयी और यों बोली—‘मानद ! मैं आपकी ध्यानम् । मेरा नाम मदनिका है । मैं आपके चरणोंमें दृष्टि अनुरूप ग्रागम करती हूँ । नाय ! अब आप गामोंके तिरि अनुसार अग्नि प्रज्ञविन करके मेरा दानिप्रदान दीर्घिन्दि ।’

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुबन्दन ! रघुबन्दन उन दोनोंने बेटीके समीक लहू दूर प्रभेहों दृष्टि नदी दूर लताओंसे सनाया । तिर उस बेटीदेशमध्यमें अदीर्घि स्थापना करके उसे चन्द्रनदी नदीउपरेमें उत्तरार्द्धि । अब लपटे निकन्नने लगी, तब दक्षिण द्यनमें उस अर्क-

की प्रदक्षिणा की । तत्पश्चात् उस अस्तिके सामने पहलवके आसनपर वे पूर्वाभिमुख हो दोनों आसीन हो गये । उस समय उन दोनों वर-वधुकी अद्भुत शोभा हो रही थी । फिर शिखिष्वजने उठकर खायं ही उस कान्ता मदनिकाका पाणिप्रहृण किया । उस समय उस वनमें उन दोनोंकी परस्पर शिव-गार्वनीके समान शोभा होरही थी । फिर उस मङ्गलस्तरूप दम्पतीने उस अस्तिकी प्रदक्षिणा की । उन दोनोंने परस्पर एक दूसरेको अपना छद्य, जो प्रेमके लिये लोकुप तथा सर्वोत्तम ज्ञानसे पूर्ण था, समर्पित कर दिया । उन्होंने अस्तिकी तीन बार



प्रदक्षिणा की और उसमें आजाहोग किया । इस प्रकार समान रूपसे संतुष्ट हुए वर-वधुने एक दूसरेहारा पकड़े गये अपने हाथको छुदा लिया । तदनन्तर उन दोनों प्रेमियोंने वहाँसे उठकर एक छुन्दर कन्दरामें, जिसका उन्होंने पहलेसे ही खायं निर्माण कर रखा था और जिसमें अमरकीले दीपक जल रहे थे, प्रवेश किया । और वे दोनों पुष्पशब्दापर बैठ गये । फिर तो, परस्पर प्रेमभरे तरह-तरहके मनोहर शाविलासोंसे, समयोचित आनंदम

आदि झट्ठोंसे, प्रेमबुक्त व्यवहारोंसे तथा नये-नये सुखोपभोगसे उस उत्तम दम्पतिकी वह लंबी यत एक सुदृढ़तके समान बीत गयी ।

रुकुलभूषण राम । इस प्रकार वे दोनों कुम्ह और शिखिष्वज उस महेन्द्राचलकी गुफामें खायं विवाहित होकर देवतुल्य परम प्रेमी दम्पती बन गये । दिनमें तो वे परम प्रेमी मित्र बन जाते थे और रातमें ग्रिय पत्ति-पत्ती हो जाते थे । प्रभा और दीपककी तरह वे परस्पर शुल्क-मिले रहते थे, अलग तो कभी होते ही नहीं थे । इस प्रकार जब धीरे-धीरे कुछ मास व्यतीत हो गये, तब देवपुत्रका खरूप धारण करनेवाली चूडाघाने विचार किया कि अब मैं नाना प्रकारके उत्तम-उत्तम उपभोगेहारा राजा शिखिष्वजकी परीक्षा करूँगी, जिससे इनका विच कभी भी भोगेमें अनुरक्त नहीं होगा । ऐसा सोचकर चूडाला-ने अपनी मायके बलसे उस वनस्पतीमें देवगणों तथा अप्सराओंके साथ पधारे हुए इन्द्रको दिखलाया । परिवार-सहित इन्द्रको अपने निकट आया हुआ देखकर वनवासी राजा शिखिष्वज उनकी विविष्ट पूजा करके पूछने लगे ।



शिखिष्वज बोले—देवराज ! आपने इतनी दूसरे  
यहाँ आनेका कठ बयो छाया ? आप जिस प्रयोजनसे  
यहाँ पधारे हैं, उसे बतानेकी कृपा कीजिये ।

इन्हने कहा—राजन् ! आपके गुणाधिकरणी सूत्रने  
हमारे इदयको बौध रखा है, जिससे हितकर हम आकाश-  
से यहाँ आ गये हैं । महाराज ! अब उठिये और सर्ग  
चलिये; क्योंकि वहाँ यूथ-के-यूथ देवता तथा देवाङ्गनाएँ  
आपके गुणोंको छुनकर विभय-विमुख हो रहे हैं और  
वे सब-के-सब आपके शुभागमनकी प्रतीक्षामें बैठे हैं ।  
इसलिये आप पादुका, गुटिका, खड़ और पारद आदि  
रसोंको भी लेकर तिद्वयार्गसे स्वर्गलोकमें चलना खीकार  
कीजिये । राजनें ! आप जीवन्मुक्त तो हैं ही, अतः  
देवलोकमें पवारकर आप अनेक प्रकारके भोगोंका उपयोग  
करें, इसी कारण मैं आपके पास आया हूँ । साथो !  
आपके समान जो संत-महात्मा हैं, वे न तो प्राप्त हुई  
लक्ष्मीका तिरस्कारद्वारा अपमान करते हैं और न व्यापास-  
की कामना ही करते हैं । महात्मन् ! जैसे भगवन्  
नारायणके शुभागमनसे त्रिलोकी पवित्र हो जाती है, वैसे  
ही आप जिन विभ-वाधाके सर्ग पधारें और  
यहाँ सुखार्थक विहार करें, जिससे वह सर्ग पवित्र  
हो जाय ।

शिखिष्वज बोले—देवेन्द्र ! मैं तो सभी देवोंसे  
स्वर्ग-सा ही मानता हूँ; क्योंकि मैं दिस दरमानको  
सर्ग मानता हूँ, उमकी सुदा मदा सर्व इन्द्रान है;  
अतः मेरे लिये कहींपर भी एकदेशी सर्ग नहीं है । प्रभो !  
मैं सभी जगह संतुष्ट रहता हूँ और सभी स्वर्णोंमें विश्वम  
करता हूँ । मेरे मनमें किसी प्रजारको इच्छा तो है नहीं,  
अतः मैं सर्वत्र आनन्दसे परिपूर्ण रहता हूँ । इन्द्र ! इन्हीं  
सब कारणोंसे एक स्थानमें स्थित रहनेकाले किसी ऐसे  
एकदेशी स्वर्गमें जानेकी तो मैं इच्छा ही नहीं करता ।  
इसलिये मैं आपकी आङ्गाका पाठ्यन नहीं फत सँझूँगा ।

इन्हने कहा—साधु दिलोपन ! जिन्हें इन्हन्य  
पत्तुका ज्ञान प्राप्त हो गया है तथा जिनकी शुद्धि  
परिपूर्ण हो गयी है, उनके लिये भोगोंका उपयोग करना  
और न करना बाध्य है; अतः आपके लिये भोगोंका  
सेवन करना उचित है । देवगज इन्हें यो कहनेपर भी  
जब राजा मौन ही रहे, तब इन्हने पुनः कहा—  
भाजन् ! जब आपकी ऐसी ही धारणा है, तब मैं ही  
यहाँसे चला जाता हूँ । यो कहकर ‘राजन् ! आपका  
कल्याण हो’ यह आशीर्णद देते हुए इन्द्र कही इन्द्रार्थन  
हो गये । देवराजके अद्वय होते ही उनके सामना  
देवसदूर भी क्षणभरमें अद्वय हो गया ।

( संग १०६-१०७ )

### राजा शिखिष्वजके क्रोधकी परीक्षा करनेके लिये चूडालाका मायाद्वारा राजाको बार- समागम दिखाना और अन्तमें राजाके विकारयुक्त न होनेपर अपना असली रूप प्रकट करना

श्रीवस्तिष्ठकी कहते हैं—श्रीराम ! इन्द्र-दर्शनकी  
मायाका उपसंहार करके चूडाला भन-न्हीं मन विचार  
करने लगी—‘क्षे सौभाग्यकी जात है, जो विषय-  
भोगोंकी लालसा इन नरेशके मनको आकृष्ट करनेमें समर्प-  
न हो सकी । इन्हें आनेपर भी ये निर्विकार शान्त ही  
रहे । इनके शरीरके अवयवोंकी स्थिति पूर्ववत् समान  
रही तथा जिन विभि प्रकारके क्षोभ एवं अश्वेलनाके

इन्होंने इन्हें साय उचित ध्याद्वार भी जिया । अतः  
अब मैं पुनः एक ऐसे गायाद्वयकी इच्छा करूँगी,  
जिसमें राग-द्रेष्टकी प्रधानना रहेगी और जो मुद्दिर  
अपहरण करनेकाला होगा । निर उपर्युक्त  
पूर्वक इनकी परीक्षा करूँगी ।’ ऐसा निष्कर उपर्युक्त  
चन्द्रोदय होनेपर उत्तने उस उनमें दृग्दर्शी मदमिकाका  
रूप धारण कर स्थिया । उस समय जब राम दिलिघद

नदीके तटपर संध्याकर्मन तथा जप-कर्ममें तत्पर होकर ध्यानस्थ थे और शीतल-मन्द-सुगम्ब वाशु बहु रही थी, तब मदनिका काम-मदसे विहृल हुई-सी संतानक बृक्षोंके एक छताकुञ्जमें प्रविष्ट हुई। वह कुञ्ज सघन पुष्पगुच्छों-से सुशोभित था तथा बनदेवियोंके शुद्ध अन्तःपुर-सा प्रतीत होता था। वहाँ पुष्पहारेसे मर्जी हुई मदनिकाने अपने संकल्पसे एक पुष्पशस्या तैयार की और उसपर मायानिर्मित एक सुन्दर जार पुष्पको लेकर उसके गलेसे लिपटकर लेट गयी।

उधर जपकर्म समाप्त होनेपर बब राजा शिखिष्वज उस स्थानसे उठे और एक कुञ्जसे दूसरे कुञ्जमें मदनिकाका अन्वेषण करने लगे, तब उन्हें उस लतागृहमें मदनिका दीक्षा पढ़ी। उसके गलेसे एक मनोहर जार पुष्प लिपटा हुआ था। उस पुष्पके कंधे लंबे केशोंसे आष्टादित थे और शरीरमें अन्दनका अनुलेप लगा हुआ था। उसके सिरकी सजावट शश्यापर इधर-उधरके परिश्वरन एवं परस्परके मर्दनसे अस्त-व्यस्त हो गयी थी। वह मदनिकाकी मुजाको, जिसकी कान्ति सुशर्णकी-सी थी तथा जो मोहनेके कारण दो मुजान्सी लग रही थी, तकिया बनाकर उसपर अपना कान, नेत्रप्रान्त, कपोल और केश रखकर छेटा हुआ था। तदनन्तर राजाने पुनः देखा—उन दोनों श्री-पुरुषोंके मुख परस्पर एक-दूसरेसे सटे हुए हैं और उनपर मुसकराहट खेल रही है। शयन करते समय उनके पुष्पहार हिल रहे हैं। वे कामवेगसे आत्मर और व्याकुल हैं। परस्पर आलिङ्गनके बहाने वे एक-दूसरेको अपना ग्रेम समर्पित कर रहे हैं। वे एक दूसरेके उन्मुख, समान आनन्दसे परिपूर्ण तथा प्रबल काममदसे भरपूर हो गये हैं। यह सब देखकर भी राजा शिखिष्वजके मनमें जरा-सा भी क्रोध-विकार उत्पन्न नहीं हुआ, उलटे वे परम संतुष्ट हुए और कहने लगे—‘अहो! ये दोनों ध्यामिचारी कैसे आनन्दमन्न हैं! सहसा राजाको आया हुआ देखकर जब वे दोनों ढर गये, तब राजाने कहा—

‘तात ! भय मत करो। तुम दोनों स्वेच्छामुसार सुखभूक्ष कैसे सोये हो, वैसे ही सोये रहो। मैं इसमें विज नहीं ढाढ़ूँगा।’ यों कहकर राजा वहाँसे चले गये।

तदनन्तर दो ही घड़ीके बाद चूड़ाला उस प्रथमका उपसंहार करके लतागृहसे बाहर निकली। उस समय उसका शरीर प्रियतमके साथ सम्मोग करनेके कारण प्रफुल्लित दीख रहा था। बाहर आकर उसने देखा कि राजा शिखिष्वज एकान्तमें एक सुन्दर शिलापर बैठे हैं। उनकी समाधि लग गयी है, जिससे उनके नेत्र थोड़े खुले हुए हैं। तब सुन्दरी मदनिका राजाके निकट गयी और क्षणमरतक चुपचाप खड़ी रही। उस समय उन्होंके कारण उसका मुख नीचे झुक गया था और उसकी कान्ति भलिन हो गयी थी तथा मन खिल था। क्षणमरके बाद बब राजा शिखिष्वज ध्यानसे विरत हुए, तब मदनिकाको पास ही खड़ी देखा। उसे देखकर उनकी बुद्धिमें जरा-सा भी क्षोभ नहीं हुआ। वे उससे अत्यन्त मधुर वाणीमें कहने लगे—‘सुन्दरि ! क्या किसीने शीघ्र ही तुम्हारे मुखमें विन्द ढाल दिया ? तुमने मुखका उपमोग तो किया है न ? ( इसमें लज्जित होनेकी क्या बात है; क्योंकि ) संसारमें जितने प्राणी हैं, वे सभी मुखके लिये ही तो प्रयत्न करते हैं। अतः तुम जाओ और पुनः अपनी प्रणयगर्भित चैषाओंसे अपने उस प्रियतमको संतुष्ट करो। मानिनि ! तुम्हारे इस कार्यसे मेरे मनमें किसी प्रकारकी उद्दिग्नता नहीं है। यहाँ मेरे और कुम्भमें तो रागका लेशमात्र भी नहीं रह गया है, अतः हम दोनों तो बीतराग हो चुके हैं। तुम तो हमलोगोंसे भिन्न एक तीसरी नारी हो, जो महर्षि दुर्वासाके शापसे उत्पन्न हुई हो; अतः तुम्हारी जैसी हृष्णा हो, वैसा ही करो।’

तब मदनिका बोली—महाभाग ! आपका कथन बिल्कुल सत्य है; परंतु मैं क्या करूँ, लियोंका खमाव ही बहु अश्वल होता है। उनमें पुरुषोंकी अपेक्षा कामका

वेग भी अठगुना बताया जाता है; अतः आप मुझपर क्रोध न करें। मशाराज ! जब आप संघाक्षयन तथा जपकर्ममें रह हो गये, तब रात्रिके समय इस गहन काननमें उस कामी पुरुषने मुझे पकड़ लिया। उस समय मैं दीन अवला कर ही क्या सकती थी। राजन् ! खियोंका ऐसा खमाच ही होता है कि वे अपने कामवेगको रोक नहीं सकतीं। अतः प्राणनाथ ! एक तो मैं अवला नारी, दूसरे नश्युश्ती और मृदु हूँ; इसी कारण मुझसे यह महान् अपराध हो गया। अब आप मुझे क्षमा करें; क्योंकि क्षमा करना साधु पुरुषोंका स्वभाव ही होता है।

शिखिष्वजने कहा—बाले ! तुम्हारे इस कृत्यसे मेरे अन्तःकरणमें क्रोध तो तनिक-सा भी नहीं है, परंतु मैं अब तुम्हें अपनी वधुके रूपमें केवल इस कारणसे स्वीकार करना नहीं चाहता कि साधुपुरुष इस कर्मकी ओर निन्दा करेंगे। इसलिये अहने ! अब हम दोनों पहलेकी तरह मित्रभावसे बीतराग होकर अनग्रान्तोंमें नित्य साथ-माथ ही सुखपूर्वक विचरण करेंगे।

श्रीचसिष्टजी कहते हैं—एहुनन्दन ! इस प्रकार जब राजा शिखिष्वज समस्यावादमें स्थित हो गये, तब उन्हें रागदेव की प्रावनाओंसे निरुक्त देखकर चूडालाका भन प्रसन्न हो गया और वह मन-ही-मन विचार करने लगी—‘अहो ! ये राजा शिखिष्वज अब सर्वोक्षण समताको प्राप्त हो गये हैं। रागसे शून्य हो जानेके कारण अब इनमें क्रोधका लेशमात्र भी अशक्ति नहीं है। अब ये सचमुच जीवन्मुक्त हो चुके हैं। तभी तो जिन्हें स्वयं इन्द्र प्रदान कर रहे थे, वे उत्तमोत्तम भोग, इनको विचलित नहीं कर सके तथा बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ, सुख, हुँस, आपत्ति और सम्पत्ति भी इन्हें अपनी ओर आकृष्ट करनेमें समर्थ न हो सकीं। एक जीवन्मुक्तमें जितनी निर्दोष महान् भूद्वियाँ बतायी जाती हैं, वे सब-की-सब इस समय अकेले इन्हींका आप्रय हैं रही

हैं, अतः ये दूसरे नाशयणकी तरह जान परते हैं। इसलिये अब मैं इस कुम्भलक्षण परिषद्ध छड़ने चूडाला ही जन जाऊँगी और इन्हें करने म्हणे दृश्यानन्दका स्वरण दिलाऊँगी।’ यों निचारकर चूटायाने दुर्मिल हैं। मदनिकाके शरीरको छोड़कर वही करनेवाले चूटायारे रूपमें प्रकट कर दिया। उस समय ऐसा जान पहुँचा, मानो चूडाला मदनिकाके उमी शरीरसे निजनी



है। तत्परात् एह योगधारणमें युक्त दोस्र गत्ते समने सुशोभित हुई। राजाने प्रेमशास्त्रार्थ गत्ता निर्दोष अहोवादी उस कसनीया मदनिकामें ही अपनी प्रियतमा भार्या चूडालाके रूपमें स्थित होना। एवं समय चूडाला भूमितारसे प्रकट हुई दृष्टि (मृदु) वे समान सुन्दरोभित हो रही थी हाल राजानन्द में निर्दोष हुई रसप्रभाकी भौति ठरीम हो रही थी। एवं एवं राजा शिखिष्वजने अपनी आनन्दियाशरे नाश्यने उन्नीश (संदर्भ १०८)

ज्ञानसे सब कुछ जानकर राजा शिखिष्वजका आशयचकित होना और प्रशंसापूर्वक  
चूडालाका आलिङ्गन करना तथा उसके साथ रात बिताना, प्रातःकाल संकल्प-  
जनित सेनाके साथ दोनोंका नगरमें आना और दस हजार  
धर्षोंतक राज्य करके विदेहमुक्त होना

श्रीविद्याली कहते हैं—रघुकुलभूषण राम !  
तदनन्तर अपनी प्यारी पत्नी चूडालाको देखकर आशयके  
कारण राजा शिखिष्वनके नेत्र प्रफुल्लित हो उठे ।  
तब वे आशययुक्त वाणीसे इस प्रकार बोले—‘मुन्दरि !  
तुम अपने शरीरसे, व्यवहारसे, मन्द-मुस्तकानसे, अनुनय-  
किनयसे तथा पत्नीसम्बन्धी विलाससे ऐसी उपलक्षित  
हो रही हो, मानो मेरी भार्या चूडालाकी ही प्रतिमूर्ति हो ।’

चूडालने कहा—प्रमो । हाँ, ऐसा ही समझिये,  
मिस्सवेह मैं चूडाला ही हूँ । आज मैंने अपने पहलेके  
खाभाविक शरीरसे साक्षात् आपको प्राप्त किया है ।  
इस बनमें मैंने जो कुभ्य आदिके देहनिर्माणद्वारा माया-  
प्रपञ्च प्रकट किया था, वह तो केवल आपको प्रबुद्ध  
करनेके लिये ही था । महाराज । अब आप मोहब्बता  
राज्यका परित्याग करके तपस्याके लिये बनमें चले  
आये, तभीसे मैं आपको ज्ञानसम्पन्न बनानेके लिये प्रयत्न  
कर रही थी । मूरते । इस कुम्भवेषसे मैंने ही आपको  
प्रबुद्ध किया है । मैंने मायाद्वारा जो कुम्भ मदनिका आदिके  
शरीरका निर्माण किये थे, उसका एकमात्र प्रयोजन  
आपको प्रबुद्ध करना ही था । वास्तवमें कुम्भ आदि  
कुछ भी सत्य नहीं है । एबन् । ( यदि मेरी बातोंपर  
विश्वास न आता हो तो ) अब तो आप ज्ञानयोग्य  
परमात्माको जान चुके हैं, अतः ध्यान लगानेसे आप  
यह सारा दृश्य अविकल्प रूपसे देख सकेंगे । इसलिये  
तस्मै । अब शीघ्र ही ध्यान लगाकर देखिये ।

चूडालके ऐसा कहनेपर राजा आसन लगाकर बैठ  
गये और ध्यानद्वारा उन्होंने अपना साय बृत्तान्त  
अच्छी तरहसे जान लिया । मुद्रार्थमात्रके ध्यानसे ही राजाने



राज्य-परित्यागसे लेकर चूडालके साक्षात्कारपर्यन्त अपने  
विषयमें जितनी घटनाएँ घटी थीं, उन सबको प्रायःक्रूरपर्याप्त  
देख लिया । तत्पश्चात् समाधि भंग होनेपर हर्षातिरेकसे  
राजाके नेत्रकमल विकसित हो उठे, मुबारें रोमाञ्चके  
कारण उज्ज्वल हो गयीं । उन्होंने तुरंत ही दोनों ही  
शुजाओंको फैलाकर अपनी प्रियतमा पत्नी चूडालाका  
गाह आलिङ्गन किया । उस समय स्नेह धनीभूत होकर  
ठपक रहा था, और उसे प्रेमाश्रु झर रहे थे और प्रेम  
स्फुरित हो रहा था । तदनन्तर शिखिष्वजने कहा—  
‘प्रिये । तुम बालचन्द्रमाके सदृश सुन्दरी हो, फिर भी  
तुमने अपने पतिके लिये विरकालतक कितना दारूण  
कष्ट उठाया है । मैं इस दुस्तर भवकूपमें भूम रहा था,

तुमने अपनी जिस सत्त्वमयी बुद्धिके आश्रयसे मेंग उससे उद्धार किया है, तुम्हारी उस बुद्धिकी उपमा भला, किमसे दी जा सकती है? वह अनुपमेय है। सुन्दरि! अलौकिक सौन्दर्यशाली नारियोंमें थी, श्री, कालिति, क्षमा, मैत्री और करुणा आदि उत्तम रूपवती मानी जाती हैं; परंतु तुम तो उन सभीमें मुख्य प्रतीत हो रही हो। तुमने घोर प्रथम करके मुझे ज्ञानसम्बन्ध बनाया है। इस उपकारके बदलेमें मैं ऐसा कौन-सा कार्य करूँ जिससे तुम्हारा मन प्रसन्न हो। प्रिये। जो कुलीन लियों होती हैं, वे उद्योगपरायण होकर अनादि कालसे चले आते हुए अस्त्वंत गहनमें सी गहन मोहरूपी सागरमें पड़े अपने पतिका उद्धार कर ही लेती हैं। यहाँनक कि कुलाङ्गनाएँ अपने पतिके लिये सखा, भ्राता, सुहृद्, भूत्य, शिक्षक, मित्र, धन, मुख, शाश्व, घर, दास आदि सब कुछ बन जाती हैं। अतः जिनमें इहलोक तथा परलोक—दोनोंका सम्पूर्ण सुख प्रतिष्ठित है, उन कुलाङ्गनाओंका सभी प्रयत्नोद्घाता सर्वदा सम्बन्धपसे आदर-सुकार करना चाहिये। रूप, सौजन्य और उत्तमोत्तम गुणरूपी रूपोंसे विभूषित प्रिये। तुम पतिका सती हो। तुम्हारी सारी इच्छाएँ शास्त्र हो गयी हैं और तुम संसार-सागरसे पार हो चुकी हो—ऐसी दशामें तुम्हारे इस उपकारका प्रतिशोध मैं कैसे कर सकूँगा।'

तब चूडाला थोली—पतिदेव! बारंबार शुक्र क्रियाजालमें फँसकर जब आपका आला ध्याकुल हो जाता था, तब उसे देखकर मैं आपके लिये अस्यम चिन्तातुर हो जाती थी; इसलिये आपके आत्माको ज्ञानसम्बन्ध बनाकर मैंने अपना ही तो स्वार्थ सिद्ध किया है—(अपनी चिन्मात्रा तो नाश किया है। इसमें आपका क्या उपकार किया।) आर तो व्यर्थ ही इस बातसे लेफ़र मेरी प्रशंसा कर रहे हैं।

शिखिधर्जने कहा—वहाँहो! थीक है, तुम जिस

प्रकारके ध्रुव न्यार्थज्ञ सम्पदन यह रही हो, ऐसा ही स्वार्थ सभी कुलाङ्गनाएँ सिद्ध करें।

चूडाला थोली—देव! यह करने, यह न करने, इसे प्राप्त करने। इम प्रकारकी युद्धदीर्घ दृढ़ार्थनि कोमलतारूप जो स्थिति थी, उसना क्षम नह जाने अंदर उपदास करते हैं। इनेकि ईमे उक्तानने दृढ़न नहीं दीख पड़ते, 'रमी प्रक। अप्सदे गे पद्मनेंद्र तुच्छ तृणाओंका समृद्ध तथा दुमिन गंगानदी बल्पनाएँ अब दृष्टिगोचर नहीं हो।' ही है। शिराम! अब आपका केत्ता स्वरूप देन गया है। गिरु रमनुमें आपकी निष्ठा है और आप क्या चाहते हैं? रियो। उत्त अपनी पितृनी आरीरिक चेटाओंको कंपा देते हैं।

शिखिधर्जने कहा—प्रिये! शिरु-जिसने अ॒र तुम थो, उमी-उक्तीके अंदर मैं उपरिथन हूँ। मैं इत्ता थो रूपासे तथा एकदेशनासे रहित हो गया हूँ, आकाशके समान निर्मल हूँ, शान्त हूँ और वास्तविक परमात्मा परमात्मा हूँ। भ्रमरत्तेचने। मैं समरत यश्नुओंपी निष्ठामे मुक्त एकमात्र चिन्मय परमारास्त्रप हूँ। परिदृश्य जो भद्रा वस्तु—महिमानन्दधन यह है, उठी मैं हूँ। इसके अतिरिक्त मैं और युद्ध नहीं यह भरता। स्वरूप-सहश चञ्चल कटाक्षवादी प्रिये! तुम मेरी गुरु हो, उमः मैं तुम्हें नमस्कार यरता हूँ। तुम्हारी ही वृत्तमें मैं इन भ्रमसागरने पार हो पाया हूँ। अ॒र मैं इत्ता, उत्तमे ज्ञानस्वरूपने स्थित कोप, द्रष्टव्याती, उमालि और एकदेशनासे रहित, मर्दन्याएँ और गरनर्मेन्टमें उर्द्ध निर्मल आकाशकी ताह स्थित हूँ।

चूडाला थोली—प्राप्तमात्र! ज्ञान स्तोः १८२ स्तोः सम्बन्ध तथा नेरे दृढ़रूप है। अ॒रहो दृढ़ दृढ़ है, ग्रन्थो! देवताओं, श्रीमी देवोऽहं दृढ़ दृढ़ दृढ़ हाहते हैं।

शिखिधर्जने दृढ़—१८३ है दृढ़ १८३ है

आसक्तिसे रहित हो जानेके कारण मैं प्रारूपवानुसार न्यायतः प्राप्त वस्तुकी न तो प्रशंसा करता हूँ और न निन्दा ही करता हूँ । अतः अब तुम्हारी जैसी इच्छा हो, बैठा ही करो ।

चूडाला बोली—जीवन्मुक्तस्वरूप महाराजा हो । यदि ऐसी बात है तो अब आप भेग मत सुनिये और उसे सुनकर तदनुकूल आवरण कीजिये । महाराज । सर्वत्र अद्वैतका बोध होनेसे हमलोगोंके अज्ञानका विनाश हो गया है, अतः अब हमलोग सारी इच्छाओंसे मुक्त होकर आकाशकी तरह निर्मल स्थित में स्थित हैं । प्रभो ! इस समय राज्य-श-सनद्धारा क्रमशः अपनी अवशिष्ट आयु विताकर कुछ कालके बाद हमलोग विदेहमुक्त हो जाएँगे । इसलिये नाथ ! अब आप अपने नगरमें लौट चलिये और राजसिंहासनपर बैठकर राजकाज संभालिये । रमणियोंकी मूषणस्वरूपा मैं आपकी पटरानी होकर रहूँगी । राजन् । न तो मुझे भोगेंकी इच्छा है, न विमूर्तियोंकी । मैं तो स्वभाववश जो कुछ भी न्यायतः प्राप्त हो जाता है, उसीसे निर्वाह करती हूँ । यह स्वर्ग, राज्य अथवा क्रिया—कोई भी मेरे लिये सुखदायक नहीं है । मैं तो आपने स्वरूपमें स्थित होकर तदनुकूल व्यापार-से युक्त हो अपनी वास्तविक स्थितिके अनुसार विना किसी खोबके स्थित रहती हूँ । यह सुख है और यह दुःख है । इस दृढ़के नष्ट होनेके साथ-साथ मैं शान्त परमपदमें सुखपूर्वक स्थित हूँ ।

जिसिवज्जने कहा—विशाल नेत्रोंधारी प्रिये । तुमने अपनी निर्विकार बुद्धिसे जो कुछ कहा है, वह ठीक ही है । हमें राज्यके प्रहृण अथवा त्यागसे क्या प्रयोजन है । हमलोग सांसारिक मुख-दुःखकी अन्त्ता और मत्सरसे रहित भस्तरशून्य और ग्रहस्वरूपमें स्थित हुए यथा प्राप्त स्थितिके अनुसार निवास करेगे ।

इस प्रकार वहाँ उन दोनों निर्देश पर्वं प्रेमी पति-पत्नीके बहुत देतक परस्पर वार्तागत करते हुए सायंकाल हो गया । तब उन दोनोंने उठकर अपना दैनिक कार्य

सम्पन्न किया । वे दोनों जीवन्मुक्त तो थे ही, अतः स्वर्गकी सिद्धिका अनादर करके सर्वथा समर्चित हो वे दोनों एक ही शश्यपर बैठ गये । उनकी यह राजि तरह-तरहकी प्रेमपरी चेष्टाओंकी पूर्तिमें ही बीत गयी ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! तदनन्तर प्रातः-काल होनेपर वे प्रेमी दम्पति उस सुन्दर कन्दरामें विक्षे हुए कोमल एवं चिकने पत्तोंके आसनपर उठकर बैठ गये । उस समय चूडालाने कहा—'प्रणो ! आपका यह शान्त तेजःस्वरूप केवल मुनियोंके योग्य है, अतः इसका परिवाग करके अब आपको इन्द्रादि अष्ट लोकपालोंके समान तेजस्वी रूप धारण करना चाहिये ।'

उस वर्षमें चूडालाके योंकहनेपर राजा शिखिवज्जने 'ठीक है, ऐसा ही करलूँगा' यों कहकर महाराजका स्वरूप धारण कर लिया और अपनी प्रिया चूडालासे कहा—'कमलदलके सदृश नेत्रोंवाली प्राणवङ्घमे ! अब तुम्हें चाहिये कि क्षणभरमें ही अपने स्वप्नसंकल्पसे महान् वैभवसे युक्त विशाल सैन्धवल एकत्र कर दो ।' अपने परिकी यह बात सुनकर सैन्धवी चूडालाने ज्यों ही सेनाका संकल्प किया, त्यों ही उन दोनोंने देखा कि एक विशाल सेना साफ्ने प्रत्यक्ष खड़ी है, जिसने उस काननको ठसाठस भर दिया है । यह हाथी-बोडोंसे मरी-पूरी है तथा पंताकांओंसे आकाशको पूर्ण-सा कर रही है । जिसकी तुरही आदिके शब्द पर्वतोंकी गुफाओं तथा गहन कोटरोंको प्रतिष्ठनित कर रहे हैं । तब उस सेनामें, जिसके चारों ओर राजाल्लेग मण्डलाकारमें खड़े थे तथा हृष-पुष्ट सामन्त जिसकी रक्षा कर रहे थे ऐसे एक मदत्तावी गजराजकी पीठपर वे राजदम्पति सवार हुए । तत्पश्चात् अपनी ग्रियतमा महाराजीसहित महाशब्दी राजा शिखिवज्जने पैदल सैनिकों तथा रथोंसे खाजाहच भरी हुई उम विशाल सेनाके साथ उस वनसे प्रथान किया । उस महेन्द्र पथमें चलकर राजा शिखिवज मार्गमें काननोसहित पर्वत, देश, नदी

और ग्रामोंको देखते हुए तथा अपना सारा वृत्तान्त एवं तदन्तर्गत घटनासङ्क अपनी प्रिया चूडालाको दिखाते हुए योहे ही समयके बाद अपनी पुरीमें जा पहुँचे, जो सर्वके समान शोभायमान हो रही थी ।

वहाँ पहुँचनेपर जय-जयकारके तुमुल नादसे बद राजाके सम्मानित सामन्तोंको पता लगा कि महाराज पधार रहे हैं, तब वे उनके सागतके लिये सेना लेकर नगरसे बाहर निकले । उस समय तुरहीके तुमुल नादसे निरादित हुई दोनों सेनाएँ एकमेक हो गयीं । तत्पश्चात् राजा शिखिष्वजने उन दोनों सेनाओंके साथ नगरमें



प्रवेश किया । उस समय नगरकी नारियों गङ्गारे उपर अजलि भर-भरकर लाजा और पुरोंको जर्न कर रही थी । राजा शिखिष्वज व्यापारियोंके मार्गदरो, जो हम्मोऽस्त्र परम रमणीय था, देखते हुए राजमहलमें प्रविष्ट हुए । वह महल व्यजा-पताकाओंमें गृह सनादा रथ पा है । राजाके योग्य सारी माझटिक वरतुलोंमें सादृश ना । वहाँ राजाने नमस्कार करते हुए प्रजामर्त्ता । व्यापारियोंने सम्मान किया । उस प्रयत्न सात दिनोंतक नगरमें हड़ घूमधामके साथ रास्ते प्रभावकर राजा बरने हृष्णःपुरमें निवास करते हुए अपने गत्यका पात्तन धरने लगे । श्रीराम ! इस प्रकार भूतपृथक चूडामार्दि भाव द्वं द्वजार वर्णोत्तम राज्य करनेके पश्चात् राजाका देहात्मान हो गया । वे महाशुद्धिमान् नरेश इस शरीरदो द्वारा कर परमपदस्थरूप निर्वाणको प्राप्त हो गये ।

श्रीराम ! राजा शिखिष्वजके भय और शिराट नह दो गये थे । मान और मातृर्पत्तिसे वे रहित हो गये थे मरण वे न्याययुक्त प्राप्त शाश्वत शाश्वतिक कर्मोंय । राजामन करनेवाले थे । शोगोंमें उनकी दृश्यदृष्टि हो गयी थी है । वे सबमें समरूप द्विदृष्टिसे युक्त हो गए थे । इस प्रसार उपर्युक्त दोधके द्वारा उन्होंने शृङ्खुको—हृष्ण द्वारा ही जीतकर दस हजार वर्षोंका एकांशक गत्य दिया था ।

( मं १००-१० )

### शृङ्खलिपुत्र कचकी सर्वतथाग-साधनसे जीवन्मुक्ति, मिथ्यापुरुषदी आख्यायिका और उसका तात्पर्य

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! यह शिखिष्वज-की कथा मैंने तुमसे आधोपान्त कह दी । श्रीराम ! राजा शिखिष्वजने जिस प्रकार व्यवहार करते हुए गत्य किया, उसी प्रकार तुम भी गत्य-व्यवहार करो । शिखि-

ष्वजकी तरह ही दृष्टिनिके पुण्य छनने वी हृष्ण प्राप्त किया या ।

श्रीरामनन्दर्जने द्वारा—मरण ! दुर्गात्मि हुए समल दैमश्वेते पर्वद्वारा करने दिया गया है द्वा

किया था, उम क्रमको संक्षेपमें मुझसे कहिये ।

श्रीविज्ञुशचिदात्मैक—श्रीराम ! देवताओंके आचार्य वृहस्पतिके पुत्र श्रीमान् कबने राजा विष्णुवज्रकी तरह ही सर्वोत्तम ज्ञान प्राप्त किया था । इसकी कथा तुम मुझो । कवका अभी बाल्यकाल समाप्त ही हुआ था और ज्यों ही यौवन आरम्भ हुआ । त्यों ही वह संसार-सागरको तर जानेके लिये कठिनद द्वे गया । वह पद और पदार्थकल्प यथार्थ ज्ञाता था । वह अपने पिता वृहस्पतिसे कहने लगा—

कबने कहा—भगवन् ! सब धर्मोंका ज्ञान रखने-वाले पिताजी ! मैं इस संसाररूपी ज्ञालसे कैसे बाहर निकल सकता हूँ, यह आप बताइये ।

वृहस्पति बोले—पुत्र ! अनर्थरूप हजारें मगरोंके निवासस्थान इस संसार-सागरसे किसी प्रकारके उद्घेगके बिना किये गये सर्वस्थागसे नस्काल ही प्राणी बाहर निकल जा सकता है ।

श्रीविज्ञुशजीने कहा—श्रीराम ! अपने पिताका यह परम पवित्र बचन सुनकर कब सब कुछ परित्याग करके एकान्त बनमें बड़ा गया । पुत्रके चले जानेसे वृहस्पतिको चित्तमें जरा भी उद्घेग महीं हुआ; क्योंकि जो महान् होते हैं, उनका मन संयोग और वियोग—दोनोंमें मुमेल पर्वतके सदरा अचल रहता है । बनमें जानेके अनन्तर उसे जब अंठ वर्ष व्यतीन हो गये, तब किसी महारण्यमें उस कबने अपने पिताजीका दर्शन किया । कबने पहले अपने पिताजीकी विधिपूर्वक पूजा की, फिर उन्हें ग्रनाम किया । वृहस्पतिने भी अपने पुत्रका आलिङ्गन किया । इसके बाद कबने अस्तन मधुर वाणीमें वृहस्पतिसे कहा—

कबने कहा—पिताजी ! मैंने जो सर्वस्थाग किया है, उसका आज यथापि आठवीं वर्ष है, तथापि मुझे अभीतक निर्मल शान्ति प्राप्त नहीं हुई ।

श्रीविज्ञुशजी बोले—श्रीराम ! कब अरण्यमें इस प्रकार दीन बचन बोल ही रहा था कि ‘समीक्षा त्याग करो’ यों कहकर वृहस्पति आकाशमें जाकर अद्व्य हो गये । वृहस्पतिके चले जानेके अनन्तर कबने अपने शरीरपरसे वहकल आदिका भी परित्याग कर दिया और शरद् कालके आकाशकी तरह वह दिग्म्बर हो गया । वह अनावृत दिशाओंमें रहने लगा । उसका शरीर शान्त और मुन्न हो गया था तथा वह यासमात्र ले रहा था । तीन वर्षके बाद खिळ-वित्त उसने किसी एक जंगलमें फिर अपने गुरु उन्हीं पिताजीका दर्शन किया । भक्तिसे उसने अपने पिताजीका पूजन-अभिवादन आदि किया । पिताजे भी अपने पुत्रका आलिङ्गन किया । इसके अनन्तर कब दुःखित होकर गङ्गा वाणीसे पूछने लगा ।

कबने कहा—पिताजी ! मैंने सबका त्याग कर दिया, कल्या, दण्ड, कमण्डलु आदिका भी त्याग कर दिया । तथापि अपने आरम्भपदमें मेरी स्थिति नहीं हुई । अब मैं क्या करूँ ?

वृहस्पति बोले—पुत्र ! चित्त ही सब बुझ है; अतः उसीका त्यागकर तुम अपने स्वरूपमें स्थित हो जाओ । सर्वज्ञ लोग चित्तस्थागको ही सर्वस्थाग कहते हैं ।

श्रीविज्ञुशजीने कहा—श्रीराम ! पुत्रसे ऐसा कहकर वृहस्पति शीक्रनासे आकाशमें उड़ गये । इसके अनन्तर अन्तःकरणसे खेद निकालवार वह कब त्यागके उद्देश्यसे चित्तकी खोज करने लगा । खोज करनेपर भी जब उसे चित्तकी प्राप्ति नहीं हुई, तब उसने विवेक-पूर्वक विचार किया कि ‘देह आदि जो भी कुछ ये प्रसिद्ध पदार्थ हैं, वे तो चित्त नहीं कहे जा सकते और उनमें चित्त कहाँ रहता है, इसका भी निखण नहीं हो सकता । इसलिये वेदारे अपराधशून्य देह आदिका मैं व्यथे ही क्यों त्याग करूँ ! इस परिस्थितिमें अब चित्तस्थारूप महाशत्रुको जाननेके लिये पिताजीके पास

ही जाता हूँ । उनसे जानकर मैं उसका त्याग करूँगा । तदनन्तर शीघ्र ही सप्तस शोकोंसे मुक्त हो जाऊँगा ।'

धुश ! ऐसा निवारकर यह कथ स्वर्गमें चला गया तथा शृहस्यनिके पास जाकर उसने स्नेहरूके बन्दना और प्रणाम किया । फिर, एकान्तमें उसने उनसे पूछा—भगवन् ! चित्र क्या है ? इसका आप मुझे



उपदेश दीजिये और चित्रका स्वरूप भी बताइये, जिससे कि मैं उसका त्याग करूँ ।'

शृहस्यतिने कहा—आयुधत् । चित्र-तत्त्व भवानु-भाव अने अहंकारको ही चित्र जानते हैं; अतः प्राणीका जो यह भीतरी अहंभाव है, वही चित्र कहा जाता है ।

कथने कहा—तैसीस करोड़ देवताओंके गुण ! महामते ! अहंभाव ही चित्रका स्वरूप कैसे हो सकता है, उसे मुझसे कहिये । योगियोंमें भ्रेष्ट ! मैं तो मानता हूँ कि इसका त्याग इतना असम्भव-सा है कि किसी प्रकार

सिद्ध हो ही नहीं सकता । इसमें इसका राज कौसे होगा ?

शृहस्यतिने कहा—युत्र ! अहंकाररूप दिल्ला त्याग तो छन्दोंके भर्दनसे भी और नेत्रोंके शीघ्रमें भी अर्थन्त सुलभ है; अनः इसके त्यागमें तनिष्ठ भी कोना नहीं है । तनय ! इसका त्याग दिस उग्रदमें सुरम होता है, वह उपाय में तुम्हें बननाता है, एवं । जो बस्तु केवल अज्ञानसे उत्पन्न होनी है, उसका परमात्मके यथार्थ ज्ञानसे विनाश हो जाता है । युत्र ! असे निर्दा खम कुछ वस्तु नहीं है, वैसे ही अहंकार भी बास्तवमें कुछ ही नहीं । अज्ञानियोंकी दृष्टिसे यह उत्तीर्णप्रदर्श असद् होता है जो भी सब सा प्रतीत होता है, जिस प्रकार बालकसी दृष्टिसे असद् देनान प्रतीत होता है । जैसे रुद्रमें भावितसे यिना हृषे ही सौप दिल्ली दरता है, जैसे महामूर्मियोंमें यिना हृषे ही जल दिल्लीयी पद्मस है, वैसे ही अज्ञानसे अहंकार भी यिन्या ही दृष्टिम होता है । जैसे चन्द्रमा एक ही है; परतु नेत्र-दोषमें यिन्या ही दो दिल्लीयी देना है, वैसे ही यह अहंकार अज्ञानसे दो दिल्लीयी देना है । यह जाननपे द्वितीय होता है; इसमें भी अमाय नहीं है, और बास्तवमें है नहीं; इसमें नाय नहीं है । एक, आदि और एकमें रहिन, चैत्यमात्र, सभी भोगे निर्वाच, ब्रह्मानन्दमें भी अर्थन्त स्वरूप सर्वानुपश्चस्य परमात्मा ही है । एक हृषु है । सभी जगह और यग्मी प्राणियोंमें यिन्या यह ओसे प्रकाश करनेवाला ही है । इन्द्र-द्युष्मन-परमात्मा उसी प्रकार प्रकाशित होता है, जिन ददार समुद्रवी अज्ञन अनन्त सर्वोंमें जल। दिवेशूर-सिंह करना चाहिये कियह अटंकतर नान्दी हैन हर्षु है । ये चित्र प्रकाश दिससे उत्तम हैं ! भवान्तके कारण ही यह प्रमाणित होता है; वह जिय है । इसमिये पुत्र ! यह देह अदि मैं हूँ, इन हृषा, परिमिताकार और देव-का रूपे यापिंद्रसनिया दिल्लीमहो

छोड़ दो । तुम तो देश, काल आदि परिष्ठेदोंसे शून्य, खच्छ, निरन्तर उदय-स्वमाव, व्यापक, सब पदार्थोंके रूपसे भासमान, निर्मल, अद्य केवल सचिदानन्दमय हो । तुम सर्वदा ही अत्यन्त विशुद्ध, अनन्त, नित्य चिन्मय परमात्मा हो । कच ! सत्त्वरूप तुम्हारा यह अहंभाव क्या बस्तु है ? अर्थात् कुछ नहीं है ।

श्रीकृष्णजी कहते हैं—श्रीराम ! देवगुरु वृहस्पति-से अपनी आसमाको परमात्माके साथ एकरूपतासे सम्बन्ध करानेवाला उत्तमोत्तम इस प्रकारका परम उपदेश पाकर उनका पुत्र कच जीवन्मुख हो गया । जिस प्रकार वृहस्पतिका पुत्र कच ममता और अहंकाररहित, ज्ञानवृद्धि होकर ब्रह्ममें स्थित रहा, उसी प्रकार तुम भी निर्विकार होकर स्थित रहो । इस अहंकारको तुम असद् समझो; क्योंकि मिथ्या खरोशके सीरोंका स्थाग और ग्रहण क्या ? तुम एकदेशी नहीं हो । संकल्परहित, सर्वभावरूप सर्वव्यापी, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर, मनसे रहित केवल सचिदानन्दधन-स्वरूप हो । निष्पाप श्रीराम ! यह मायामय समूर्ण जगत् अज्ञानसे तो सद-सा दिखायी पड़ता है और ज्ञानसे वह सब प्राप्तरूप ही है; क्योंकि यह अत्यन्त गाढ़, जो संसारकी माया है, उसका पार पाना यथापि अत्यन्त कठिन है, तथापि जैसे शरद् ऋतुसे कुद्दरा नष्ट हो जाता है, वैसे ही यह माया परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे हुरंत नष्ट हो जाती है ।

श्रीरामजीने कहा—गुरुवर ! ज्ञातव्य तत्त्वके ज्ञानसे तूम हुआ भी मैं आपसे यह ग्रन्थ पूछता हूँ । भला बतलाइये तो सही कि कौन ऐसा प्राणी है, जो तूम होता हुआ भी सामने रखे हुए अमृतरूपी पैरेको न पीयेगा ? मुनिश्रेष्ठ ! मुझसे शीघ्र यह बतलाइये कि मिथ्या-पुरुष नामकी कौन वसु है, जिसने सत्य बस्तु ब्रह्मको असत्य-सा बना रखा है और असत्य बस्तु समस्त जगत्को सत्य-सा बना डाला है ।

श्रीकृष्णजी धोले—राघव ! मिथ्यापुरुषको जाननेके लिये वह सुन्दर हास्यमद आख्यायिका तुम हूँनो, जो मेरे द्वारा कही जाती है । महाबाहो ! कोई एक माया-यन्त्रमय पुरुष था । वह केवल बालकके सद्गत तुच्छबुद्धि, मूँह और अज्ञानसे आवृत था । वह किसी एक निर्जन एकान्त प्रदेशमें उस्पन्ज हुआ था और उसी शून्य प्रदेशमें रहता था । वह वास्तवमें आकाशमें नेत्रदोषसे दिखायी पड़नेवाले केशोंके शुंद-सद्दश और महभूमिमें मृगतृष्णाजलके सदृश मिथ्या ही था । वहों वृद्धिको प्राप्त हुए उस मिथ्यापुरुषके मनमें वह संकल्प हुआ कि मेरी मिथ्यसे प्रिय बस्तु आकाश है, अतः उसे कहीं पर रखकर स्वर्य मैं ही उसकी बड़े आदरसे रक्षा करें । इस प्रकार विचार करके आकाशकी रक्षाके लिये उसने एक वरका निर्माण किया । रघुनन्दन ! तदनन्तर उस वरके अंदर उसने यह आत्मा बाँध ली कि यह आकाश मेरा है और इसकी मैंने रक्षा की है और उस गृहाकाशसे वह संतुष्ट हो गया । इसके अनन्तर कुछ कालके बाद वह उसका घर नष्ट हो गया । जब वह नष्ट हो गया, तब मिथ्यापुरुष इस प्रकार शोक करने लगा—‘हा गृहाकाश, तुम नष्ट हो गये, अरे ! तुम एक ही क्षणमें कहाँ चले गये । हा हा ! तुम दूट गये । तुम बड़े अच्छे थे ।’

इस प्रकार सैकड़ों बार शोक कर फिर उस दुर्बुद्धि मिथ्या-पुरुषने वहाँपर आकाशकी रक्षा करनेके लिये एक कूपका निर्माण किया और उसी कूपाकाशकी रक्षामें तत्पर होकर संतुष्ट हो गया । रघुकुलश्रेष्ठ ! कालसे उसका वह घट भी नष्ट हो गया । भाग्यहीन जिस किसी दिशाका ग्रहण करता है, वही नष्ट हो जाती

है। घडेके आकाशका शोक कर लेनेके बाद उसने आकाशकी रक्षाके लिये कुण्डका निर्माण किया और पहले-की तरह ही कुण्डाकाशकी रक्षाके लिये तत्पर होकर संतुष्ट हो गया। कुछ कालके बाद उसका कुण्ड भी उसी प्रकार विनाशको प्राप्त हो गया, जिस प्रकार तेजसे अच्छकारका नाश हो जाता है। कुण्डाकाशके विषयमें भी उसने महान् शोक किया। कुण्डके आकाश-का शोक करनेके बाद उसने आकाशकी रक्षाके लिये एक ऐसे घेरेका निर्माण किया, जिसमें चारों ओर कमरे तथा बीचमें एक बड़ा कमरा था, फिर उसीके आकाश-की रक्षामें तन्मय होकर वह संतुष्ट हो गया। जिसने अनेक प्रजाओंका प्राप्त कर लिया है, समयपर वह काल इस घरको भी खा गया। उससे भी वह शोक-निर्माण हो गया। उस चतु:शाल घरके शोकके बाद उसने आकाश-की रक्षाके लिये मेघाकार कुसूल (कोठार) बनाया और फिर उसीके आकाशकी रक्षामें निरत हो संतुष्ट हो गया। उसके उस कुसूलको भी कालने द्वारा अपहन कर दिया, जैसे वायु मेघको अपहन कर लेता है। उस कुसूल-विनाशके शोकसे वह अस्यन्त सन्तान हो गय। इस प्रकार धर, चतु:शाल, कुण्ड और कुसूल आदिसे आकाश-की रक्षा करते हुए उस मिथ्यापुरुषका यह कभी समाप्त न होनेवाला काल बीतता ही जाता था। श्रीराम! इस प्रकार गहन धर, कृप, कुण्ड आदि उपाधियोंसे आकाश-को आत्मबुद्धिसे पकड़कर स्थित हुआ यह मिथ्यापुरुष गमनागमनकी आसक्षिसे भूङ और विवश होकर एक दुःखसे अति झटिन दूसरे दुःखमें आता और जाता रहता है।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा — प्रभो ! निधापुरहरने प्रमाण-  
से आपने इस मायान्य पुरुषका कथन दिय , वह किस  
अभिप्रायसे किया है और उसके द्वारा किसे गये आशदा-  
रखणका भी क्या अभिप्राय है , वह सुनसे कहिये ।

श्रीकृष्णजी चोले—भ्रीराम ! हुनो । कमी नो देंदे  
मिथ्यापुरुषकी कथा मुझसे कही है, उसका दण्डन सर्व  
तुमसे प्रकट करता हूँ । रघुनन्दन ! मैंने नारद-गवर्णर  
जिस मिथ्यापुरुषका उस कथामें उल्लेष किया है, उसके दोष  
अहंकार ही जानो । वह शून्य आकाशमें भाषासे उन्नन  
हुआ है । जिस भाषामप आकाशके एक कोनेमें घट  
जगत् स्थित है, वह स्वर्य लृष्टिके आदिमें भी लौटा,  
असत् और शून्यरूप ही रहा है । उस भाषामध्ये  
थंडर प्राणियोंसे असत् अगम्य परमदद उन्नामा  
विराजमान है और उसी ब्रह्मरूप भाषाकाशमें हातमन्ते  
अहंकारका वैसे ही उदय होता है, जैसे भासादमें दाढ़  
और गायुसे स्पन्दनका उदय होता है । वह अहंकार ही  
पूर्वोक्त कथाका भाषापुरुष है और वही मिथ्यापुरुष है;  
क्योंकि भाषासे जो अहंकार उन्नन हुआ है, वह असत्  
एवं मिथ्यारूप ही है । कुँआ, कुण्ड, चतुर्दार, पदा  
आदि शरीरोंकी रचना कर मैंने उनके भवद्वयी रूप  
की—यों अहंकारने ही आकाशमें संक्षिप्त रिया था ।  
जगद्वकाररूप विभिन्नोंसे यह अहंकार ही जीर्णमयो  
मोहित करता है । उस व्यापक, शून्य, भूमध्याद्वय  
महामें यह बगत् निष्ठय ही नियमा है । उर्ध्वं पह  
अहंकाररूप पुरुष मिथ्या ही सुख-दुःखजा उमुद-उत्तम  
हुआ स्थित था । श्रीराम ! भासादमें दासद्वयी रूप  
करते हुए उस मिथ्यापुरुषने घट लृष्टिग निर्भाव  
उनके आकाशोंमा रक्षण थरनेमें लगेन ताके जो हैं ।  
ही अनुभव रिया था । जो आता है, वह तो छाँट हो  
भी चहा है, परम हुद है, उन्नन धूम है, वह  
कल्पणरूप तथा हुभ है । उमरी दैन दरर छाँट  
है और कौन उसकी रक्षण कर रक्षा है ? उसे लृ  
आदिके द्विनाट हो जानें र यह उद्वा १३८  
नाट नहीं होता, ऐसे ही दैनें राज हो । १३९  
जीद्वयदा यमी निवासी है । १४० १४१  
आरम्भ हुद, केहा, विमद तदा उद्वा १४२ १४३

अस्यत् सूखम् तथा अहंकारसे रहित नित्य स्वप्रकाशरूप चेतन ही है; इसलिये आकाशके समान उसका जाश नहीं होता। वास्तवमें तो कहीं, किसी समय न कुछ उत्पन्न होता है और न गरता ही है, केवल ज्ञान ही

बगतके रूपमें प्रकाशित हो रहा है। आदि, मध्य, और अन्तसे तथा उत्पत्ति और विनाशसे रहित वह परमात्मा एक, अद्वितीय, सत्य, परमपदरूप और शान्तिमय है।

( सर्ग १११, ११२, ११३ )

### सब कुछ ज्ञान ही है—इसका प्रतिपादन

श्रीकृष्णिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन। सृष्टिके आदि-कालमें परब्रह्मसे यह संकल्प-विकल्पात्मक समष्टि मन उत्पन्न हुआ। वह उस परब्रह्ममें स्थित हुआ ही अनेक मिन्न-मिन्न कल्पनाओंका निमित्त बनकर आजातक विद्यगमन है। जैसे फलोंमें सुगन्ध, सागरमें बड़े-बड़े तरङ्ग और सूर्यमें किरणें खामोशिक ही रहती हैं, वैसे ही ब्रह्ममें मन भी खामोशिक ही रहता है। किंतु राघव! जो पुरुष इन किरणोंकी आदित्यसे अलग भावना करता है, उसपुरुषके लिये ये किरणे, आदित्यसे अलग ही हैं। जिसने केयूरकी सुवर्णसे पृथक् रूपसे भावना की, उसकी दृष्टिमें सुवर्णसे पृथक् ही केयूर प्रतीत होता है; क्योंकि उसकी भावनामें केयूर सुवर्ण नहीं है। परंतु जिसने किरणोंकी आदित्य-स्वरूपसे ही भावना की, उसकी दृष्टिमें वे किरणें आदित्यरूप ही ठहरती हैं और वह यह कहता है कि आदित्य रक्षितेदोंसे शून्य ही है यानी आदित्य और किरणोंका परस्पर कोई भेद नहीं है। जिसने तरङ्गकी जलभिन्नरूपसे भावना की, उसमें एकमात्र तरङ्ग-बुद्धि ही स्थित रहती है, जल-बुद्धि नहीं। किंतु जो पुरुष तरङ्गकी जलरूपतासे भावना करता है उसे सामान्य जल-बुद्धि ही होती है। ऐसा पुरुष जल और तरङ्गके भेदसे निर्मुक्त निर्विकल्पक कहा जाता है। जो पुरुष केयूर स्वर्णसे मिन्न नहीं है, ऐसी भावना करता है, वह सामान्य स्वर्ग-युद्धाला भेदशून्य निर्विकल्प कहा जाता है। ज्ञालापङ्कि अनिसे मिन्न है, जो पुरुष ऐसी भावना करता है उसे अनिबुद्धि उत्पन्न नहीं होती, केवल ज्ञान-बुद्धि ही रहती है।

किंतु ज्ञानाकी पङ्कि अनिसे मिन्न नहीं है, इस प्रकार जो भावना करता है उसको केवल अग्नि-बुद्धि ही रहती है और उसे निर्विकल्पक कहा जाता है। जो पुरुष निर्विकल्प है, वही महान् है। उसकी बुद्धि कभी क्षीण नहीं होती, सदा एकत्र से रहती है। उसने प्राप्तव्य वस्तु परमात्माको प्राप्त कर लिया। इसलिये वह सांसारिक पदार्थमें कभी नहीं फँसता। स्वप्रकाश स्वयं आत्मा ही अपने आप जग्न संकल्प करता है, तब वह आत्मा ही मिन्नकी तरह भासनेवाला संकल्पात्मक मन हो जाता है। फिर मन ही अपनी विश्वाकार आकृति-की भावना कर लेता है। वह विश्वाकार संकल्परूप चित्त इस जगत्की जिस रूपसे कल्पना करता है, तत्काल हीं संकल्पोंसे वह तद्रूप हो जाता है। वह जो जगद्रूप विश्वाल आकार देखा जाता है, सब मनका संकल्प ही है। वह सत्य तो इसलिये नहीं है कि वह वास्तवमें संकल्परूप होनेके कारण मिथ्या है और सर्वथा सत्य इसलिये नहीं कहा जाता कि वह प्रतीत होता है। किंतु स्वज्ञोंके सदृश अनिर्वचनीय ही उत्पन्न हुआ है; क्योंकि वह स्वप्नके संसार-जालके समान है। जैसे साधारण प्राणीके मनका संकल्प सुन्दर लगता है, वैसे ही हिंदूयार्गसंका भी यह व्यापक मनका संकल्प सुन्दर लगता है। ‘जगत् परब्रह्म-स्वरूप है’ इस प्रकार्वी भावना करनेपर वह जगत् द्वारमें बिलीन हो जाता है। वास्तवमें तो यह देखा जाय, तो यह जगत् कुछ भी नहीं है। किंतु यदि द्वय जगत्को अपरमार्थतः देखा जाय, तो वह

हजारों शाखा-प्रशाखाओंमें विभक्त हो जाता है। अतः ही गहा है। इसनिये उम्र जग्मे बिज़ ३१ तुम तुम जो कुछ करते हो, उसे निर्भल चिन्मय ब्रह्म ही भी नहीं है।  
समझो; क्योंकि ब्रह्म ही जगत्के रूपमें बृद्धिको प्राप्त

(गत ३१)

**भृगीशके प्रति महादेवजीके द्वारा महाकर्ता, महाभोक्ता और महान्यायीके लक्षणोंका निरूपण**  
श्रीवित्तिष्ठी कहते हैं—श्रीराम । किसी समयकी शोक नहीं करता और दर्पजनक परिस्थितियोंमें इसका बात है कि पुरुषेर पर्वतके अग्निसदृश उत्तरीय शिखर-पर अपने समस्त परिवारके साथ भगवान् शङ्कर विराजमान थे। अपने परिवारके साथ वे द्वृए उमापतिसे साधारण आत्मज्ञान रखनेवाले महान् तेजस्वी विनम्र भृगीशने, जो बहीपर उपस्थित था, अच्छलि बीधकर पूछा—‘महाराज ! इस क्षणमहुर कगड़पी धरके अंदर विश्रामसुखसे किस आन्तरिक निष्ठयका आवलम्बन करके मैं समग्र चिन्ताउभृतसे भुक्त होकर निष्ठलरूपसे लिखत रह सकता हूँ ?’

भगवान् शङ्कर बोले—अनन्द ! तुम समस्त शङ्काओंसे रहित होकर अविनाशी अचल धैर्यका अश्वलभूत कर महाकर्ता, महाभोक्ता और महान्यायी हो जाओ ।

भृगीशने कहा—प्रभो ! ऐसे वे कौन-से लक्षण हैं, जिनकी प्राप्ति ही जानेपर पुरुष महाकर्ता, महाभोक्ता और महान्यायी कहा जा सकता है, उन्हें मुझसे भली-भौति कहिये ।

भगवान् शङ्कर बोले—महाभाग ! अहंता, पाप और मात्स्यर्थसे रहित जो मनवशील पुरुष उद्गेगसे रहित हो शाश्वतिरहित क्रियाओंका अनुग्रान करता है, वह महाकर्ता कहा जाता है। जो कहींपर भी स्नेह नहीं रखता, जो साक्षीके सदृश निर्विकार रहता है और जो न्याययुक्त प्राप्त कार्यका निष्काममाध्यसे आवरण करता है, वह पुरुष महाकर्ता कहा जाता है। उद्गेग और दर्षसे रहित जो पुरुष निर्भल समशुद्धिसे शोकजनक परिस्थितियोंमें

नहीं करता, वह महाकर्ता बहा जाता है। जो इनका मुनि अथवे प्रारब्धसे निस समय जो भी दोई दार्दी-द्वारा व्यार्थ प्राप्त हो जाय, उस समय उम्र बार्षिको इनकी रहित हो करता है, वह महाकर्ता बहा जाता है। अन्य, स्थिति और विनाशमें तथा डार्दी-द्वारा पदार्थोंमें निसक्षण मन मम ही रहता है, वह नहीं कहा जाता है।

जो किसीसे द्वेष नहीं करता, वो दिनेशी अभिलापा नहीं करता और जो प्रारब्दे इनका न्याययुक्त प्राप्त हुए सारे पदार्थोंका उपभोग दरता है, वह महाभोक्ता कहा जाता है। जो पुरुष अहकारसे रहित और परमात्मामें स्थित होनेवें एवं न्यायपूर्वक इन्द्रियोंसे प्रियोंका भग्न एवं हुआ भी ग्रहण नहीं करता, कर्मोंका आचरण दरना हुआ भी आचरण नहीं करता एवं पदार्थोंका उपभोग इनका हुआ भी उपभोग नहीं करता, वह महान्यायी कहा जाता है। जो पुरुष बुद्धिकी दिलचासे रहित दोषर लाभोंके सदृश समस्त लोकतरवद्वारोंका किसी इच्छाविरुद्ध न किना अनुपयोग करता है, वह पुरुष महान्यायी कहा जाता है। जैसे समुद्र नाना नदियोंके दर्शनों से उत्तम रूपसे ग्रहण दरना है, ऐसे ही जो इन्द्रुद्धे एवं द्वे-द्वे सुर-दु लोकों स्वानन्दसदृशसे रहता रहता है, वह महाभोक्ता कहा जाता है। जो दुर्दण द्वारा नमधीन, सोने, धीटे, सोरे, गड्ढु दा रागदू नी-नीरों प्राप्त अस्त्रों समान दुदिये एवं सेना है—इन द्वारा भोक्ता कहा जाता है।

काम्य कर्म, निषिद्ध कर्म, मुख, दुःख, जन्म और मृत्युका जिसने विवेकपूर्वक सर्वथा त्याग कर दिया है, वह महात्मागी कहा जाता है। सम्पूर्ण इच्छाओं, समस्त संशयों, बाणी, मन और शरीरकी सभी वेष्टाओं तथा सम्पूर्ण सांसारिक निष्ठयोंका जिस पुरुषने विवेक-पूर्वक सर्वथा त्याग कर दिया है, वह महात्मागी कहा जाता है। यह जितनी भी सम्पूर्ण इश्यरूप मनकी कल्पना दिखायी दे रही है, उसका जिस पुरुषने अच्छी तरहसे त्याग कर दिया है, वह महात्मागी कहा जाता है।

‘विष्णाप श्रीराम ! देवदेवेश भगवान् शङ्करने बहुत दिन पहले यज्ञीशको इस तरहका उपदेश दिया था।

श्रीराम ! सदा प्रकाशमान, निर्मलस्तरूप, आदि और अन्तसे शून्य केवल परमात्मा ही है, जबसे अतिरिक्त कुछ भी पदार्थ नहीं है; क्योंकि इस संसारमें जो कुछ भी प्रतीनि होता है, वह सब कुछ कल्पोंके कार्यक्रम एकमात्र मूल कारण निर्विकार परमात्मस्तरूप परमात्मा ही है। वह परमात्मा बड़े-बड़े अनेक सर्गोंसे निशाल आकारवाला होनेपर भी वास्तवमें आकाशके समान निराकार ही है। कहींपर कुछ भी पदार्थ, फिर चाहे वह स्थूल हो, सूक्ष्म हो अथवा कारणरूप हो,—सदा एकरस परमात्मासे मिल किसी तरह नहीं हो सकता; इसलिये तुम मैं सद्बूप त्रिता हैं,’ इस प्रकारका अपने अंदर निष्ठय करके स्थित हो।

( सर्ग ११५ )

### सर्वथा विलीन हुए था विलीन होते हुए अहंकार-रूप चित्तके लक्षण

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—सर्वधर्मज्ञ ! भगवन् । अहंकार नामक चित्त जिस समय सर्वथा विलीन हो जाता है या विलीन होने लग जाता है, उस समयके वासनारहित अन्तःकरणका क्या स्तररूप होता है ?

श्रीचसिंहजी बोले—श्रीराम ! वासनारहित अन्तःकरणको बन्धुरूपक उत्पन्न हुए भी—लोभ, मोह आदि दोष वैसे ही लिप नहीं कर सकते, जैसे कमलपत्रको जल लिप नहीं कर सकते। अहंकार नामक चित्त और पापके विलीन हो जानेपर पुरुष सदा शान्त प्रसन्नमुख रहता है। उस समय साधककी वासनाओंका समूह छिन-मिन-मा होकर धीरे-धीरे बिल्कुल क्षीण होने लग जाता है। क्रोध और मोहका क्षय होने लगता है। काम और लोभ चले जाते हैं। इन्द्रियों और दुःख विकसित नहीं होते। ये सुख-दुःख आदि प्रतीत होनेपर भी, तुच्छ होनेके कारण, उस साधकके मनको लिप नहीं कर सकते। चित्तके विलीन हो जानेपर उस श्रेष्ठ साधक पुरुषकी देवतागण भी प्रशंसा करते

हैं। उस पुरुषके हृदयमें शीतल चौदन्तीरूपी समता उत्पन्न होती है। ऐसा श्रेष्ठ साधक पुरुष उपशमान्त, कमनीय, सेव्य, अप्रतिरोधी ( दूसरेकी इच्छाका विधात न करनेवाला ), विनीत, बलशाली और स्वच्छ श्रेष्ठ शरीरवाला होकर रहता है। जो बुद्धिकी तीक्ष्णतासे प्राप्त करने योग्य है और जिसकी प्राप्ति होनेपर समस्त आपसियाँ अस्त हो जाती हैं, उस परमात्म-वस्तुमें जो मनुष्य मोहके कारण प्रवृत्त नहीं होता, उस नगधमको धिकार है। श्रीराम ! दुःखरूपी रसोंकी खानि और जन्म-मरणरूप संसार-सागरके पार होनेकी इच्छावाले पुरुषको निरतिशयानन्दमय परमात्मामें नित्य निरन्तर समुचित विश्राम पानेके लिये ‘मैं कौन हूँ’ यह जगत् क्या है, परमात्मतत्त्व कैसा है ? इन तुच्छ भोगोंसे कौन-सा फल मिलेगा ?’ इन प्रश्नोंपर विवेकपूर्वक विचारकरना चाहिये। यही परम साधन है। इसलिये मनुष्यको उपर्युक्त साधनका आश्रय लेना चाहिये।

( सर्ग ११६ )

महाराज मनुका इक्ष्वाकुके प्रति, 'मैं कौन हूँ, यह जगत् क्या है!—यह बताने दूर देशमें  
आत्मशुद्धिका परित्यागकर परमात्मभावमें वित्त होनेका उपदेश

भीकरिष्ठजी कहते हैं — श्रीराम। तुम्हारे धन्दके एक ही जन अंतर्क तादोंके स्वरमें प्रवीन होना है, आदिपुरुष इत्याकु नामक राजा जिस प्रकारके विवेक- उसी तरह एक महिलानन्दगद इच्छा हो जाती है, अनेक रूपोंमें प्रतीत होता है। उम इयके उनिहिं, उन्हें तुम नहीं है, इसलिये राजन् ! तुम इन्ह और मिथुने द्वितीय होकर विर्यप्रदात्य परमानन्द दे, प्राप्त हो ॥ ३ ॥

अज्ञानवी उपाधिसे युक्त जं र कर्मनुभव हृषी ॥ ५ ॥  
भीगते हुए अवेक योनियोंमें भ्रमण रस्ते शहो ॥ ६ ॥  
किन्तु वास्तवमें धूम-दूध और मोह अदि दिग्गज इन्हें ही होते हैं, आभामें नहो । परमेश्वर न है, इन्हें साध्यायद्वारा और न गुरुके द्वारा ही दिलायी देते हैं ॥ ७ ॥  
वह तो अपनी सुन्दरी — धरातुक परिं द्वै दिग्ग

इक्षवाकुने कहा—भगवन्! आपकी दया ही आपसे पूछनेके लिये मुझे प्रेरित कर रही है। करुणामिथे! यह सुष्ठि कहोंसे आयी है, इसका स्वरूप कैसा है तथा कथ किसने इसकी रचना की है? यह आप कहिये। भगवन्! शिस्तुत जालमें फँसे हुए पक्षीकी भौति मैं इस विश्वम संसारजालसे किस प्रकार मुक्त हो सकूँगा ?

मनु बोले—राजन् । तुम्हारे अंदर सुन्दर विकास-  
पुक्त विवेकका उदय हुआ है, तभी तुमने यह  
प्रसन्न किया है । यह प्रश्न किया मिथ्या संसारजागरका  
उच्छेद फूलनेवाला तथा सब प्रकृतोंका सार है ।  
महीनते ! यह जो कुछ जगत् दिखायी दे रहा है,  
वस्तुतः कुउ भी नहीं है । यह आकाशमें प्रतीत  
होनेवाले गन्धर्वनगरकी भाँति तथा भूस्थलमें प्रनीन  
होनेवाले जड़की भाँति मिथ्या है । किन्तु जो अविनाशी  
प्रत्रिष्ठा है, वहो 'रुद' और 'परमात्मा' हृत्पादि नामोंसे  
कहा जाना है । उस परमात्मा रूप दर्पणमें यह हृदयरूप जगत्  
प्रतिविधिसी तरह प्रतीतिमात्र है । इसलिये वस्तुतः  
संसारमें न तो किसीका वन्धन है और न भोक्ष है । वेदठ  
एकमन्त्र सब विकाशेसे शून्य रूप ही है । जैसे समुद्रमें

अज्ञानवी उपाधिसे युक्त जं र कर्मनुभूति है । ए  
भीगते हुए अनेक वौनियोंमें भावद रसाये होते हैं ।  
किन्तु वास्तविक सुख-दुःख और मोह अदि इत्यादि इनमें  
ही होते हैं, आत्मामें नहीं । परन्ते यह दोनों दोषोंके  
साध्यायद्वारा और न गुरुके द्वारा ही दिलायी जाते हैं ।  
वह तो अपनी सत्त्वता — ध्रदायुक्त परिच द्वारा दिया  
शुद्धिसे ही बाने आय रियाही जेता है । इन्हीं  
जैसे मार्गमें राग-द्वेरहित शुद्धिये परिष्कृते होते हैं,  
हीं, वैसे ही अपनी राग-द्वेरहित शुद्धिये हीं । ए  
अपनी इन्द्रिय आदिकां व्यवस्थेका इतना धृति ।  
अपनी शुद्धिये देखाति पदार्थाकरण दूर ही  
त्यागकर अपने अन्तःकरणको शाश्वत धन्दा इत्यादि  
परमात्मपथ हो जातो । ऐसी देख हैं या दूरी है या वही  
फैसानेवाली है । इन्हिं शुद्धिये पूर्णोदाय या दूरी  
शुद्धिको कभी नहीं जानना भविते । ऐसी दूरीमें  
भी सूक्ष्मतर संसिद्धानन्दगम है — ऐसी जो निया । ॥  
शुद्धि है, एव संसार-क्षेत्रमें दूरी ही । ॥ ५ ॥  
केवल, कड़े, शुद्धिहृ वहि जन् न लोका अज्ञा ॥ ६ ॥  
ही है, वैसे तो न लोको क्षर्यस्त्र तप्तम् ॥ ७ ॥ ८ ॥  
परमामध्य नक्षत्र दौरन्ते दृष्टा मा ॥ ८ ॥ ९ ॥  
अनाम देहादि दृष्टम्भूतो अनाम ॥ १० ॥ १० ॥  
अन-प्रसंगो शास्त्राद्विषय दृष्टि, दृष्टि वा ॥ ११ ॥  
ज्ञानायाम भूदृष्टि निरन्तरो ॥ १२ ॥ १२ ॥ १२ ॥  
ही है छ- छेन, शुद्धिहृ अर्थात् अनि ॥ १३ ॥ १३ ॥ १३ ॥  
अन्तर्गत शुद्धिहृ देख है, वैसे ही दृष्टि ॥ १४ ॥ १४ ॥

सचिदानन्द ब्रह्म ही नाना प्रकारके आकारोंमें प्रकट होता है। ऋस । तुम सकलरूपी कलहृदैसे रहित चित्तको परमात्मामें स्थापित करके कर्म करते हुए भी कर्मात्मके अभियानसे रहित, शान्त और मुख्यरूपक ब्रह्मके स्वरूपमें स्थित हुए राज्य-यात्रा करो।

जैसे धन्द, सूर्य, अग्नि, तप्तलोह एवं इति आदिके प्रकाश, वृक्षोंके परे तथा भूर्नोंके क्षण कल्पित हैं, वैसे ही इम ब्रह्ममें जगत् तथा बुद्धि आदि भी कल्पित ही हैं तथा वही ब्रह्म जगद्रूप होकर अङ्गानियोंके लिये दुःखप्रद हो रहा है। अहो! विश्वको मोहमें ढाल देनेवाली यह माया कौमी विचित्र है, जिसके कारण संपूर्ण अङ्गोंमें भीतर और बाहर सब जगह व्याप्त परमात्माको यह जीव नहीं देख सकता। इसलिये बहंकारसे रहित निर्मल सात्त्विक अन्त, करणसे 'सभी पदार्थ निराकार सचिदानन्द ब्रह्म ही है'—ऐसी मावना करे। 'यह रमणीय है और यह

रमणीय नहीं है'—इस प्रकारकी मावना ही तुम्हारे दुःखका कारण है। वह भावना जब सर्वत्र सदसद्विल्पी अस्तिसे जल जाती है, तब कहीं भी दुःखका नामोनिशान भी नहीं रह जाता। निर्वासनारूप ब्रह्मसे प्रियाप्रियरूप विषमताको परम पुरुषार्थके द्वारा तुम स्वयं ही काट डालो। राजन्! तुम निर्वासनारूप ब्रह्मसे आसनारूप कर्म-ननको काटकर सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर ब्रह्ममाय प्राप्तकर शोकरहित हो जाओ। पुत्र! तुम सदसद्विल्पके विवेकरूप विचारसे युक्त होकर समस्त कल्पनाओंसे रहित हो जाओ तथा समस्त विशाल मुवनोको परमात्माके स्वरूपसे परिपूर्ण समश्वे। तदनन्तर जन्म-मरणरूप रोगसे रहित होकर परब्रह्म परमात्माके आनन्दका अनुभव करते हुए दीर्घकाल तक स्थिर रहो और समता तथा शान्तिसे युक्त होकर निर्मय चेतन ब्रह्मस्वरूप बन जाओ।

( सर्ग ११७—११९ )

**सात भूमिकाओंका, जीवन्मुक्त महात्मा पुरुषके लक्षणोंका एवं जीवको संसारमें फँसानेवाली और संसारसे उद्धार करनेवाली भावनाओंका वर्णन करके मरु महाराजका ब्रह्मलोकमें जाना**

मनु महाराजने कहा—राजन्! सबसे पहले शाक और सज्जनोंकी संगतिसे अपनी बुद्धि शुद्ध और तीक्ष्ण करनी चाहिये। यही योगीके योगकी पहली भूमिका कही गयी है। इसका नाम 'श्रवण' भूमिका है। सचिदानन्द ब्रह्मके स्वरूपका निरन्तर चिन्तन करना 'मनन' नामक दूसरी भूमिका है। संसारके संगसे रहित होकर परमात्माके ध्यानमें नित्य स्थित रहना 'निदिध्यासन' नामक तीसरी भूमिका है। जिसमें बासनाका अथन्त आभाव है, वह ब्रह्म-साक्षात्कारसे अङ्गाम आदि निविल प्रपञ्चकी निवृति करनेवाली 'विलापनी' नामकी चौथी भूमिका है। इस 'महावित्' पुरुषको संसार स्वप्रवत् प्रतीत होता है। विशुद्ध चिन्मय आनन्दस्वरूपकी प्राप्ति पोचवी भूमिका है। इस भूमिकामें जीवन्मुक्त पुरुष आधे सोये या आगे हुए पुरुषके सदृश रहता है। अर्धसुप्त पुरुषको संसारकी

जैसी प्रतीति होती है, वैसी ही इस 'ब्रह्मविद्वर' जीवन्मुक्त पुरुषको होती है। छठी भूमिकामें एक विज्ञानानन्दवन परमात्माका ही अनुभव रहता है, संसारका अनुभव ही नहीं रहता। जैसे सुपुत्रि अवस्थामें मनुष्यको संसारकी प्रतीति नहीं होती, वैसे ही इस 'ब्रह्मविद्वरीयान्' योगीको जग्नद् अवस्थामें भी संसारकी प्रतीति नहीं होती। इसे स्वसंवेदनरूप शान्तिमय 'तुर्यविश्वा' कहते हैं। वैवल विदेह-मुर्णिरूप अवस्था ही सप्तम भूमिका है। यह अवस्था समता, स्वच्छता और सौम्यतारूप है\*। ( इस

\* शास्त्रज्ञनसम्भक्तेः प्रशापादौ विवर्धयेत् ।  
प्रथमा भूमिकैषोक्ता योगस्तैव च योगिनः ॥  
विचारणादितीया स्वात्मृतीयाऽउद्भवात्मना ।  
विलापनी चतुर्थी स्वाद्वासनविलयात्मिका ॥  
शुद्धसंविन्ययानन्दरूपा भवति पञ्चमी ।  
अर्धसुप्तप्रबुद्धाभो जीवन्मुक्तोऽन् तिष्ठति ॥

तुर्यांतीत सप्तम भूमिकामें स्थित योगीको 'प्रक्षन्निद्वरिष्टि' कहते हैं। इसमें गाढ़ सुषुप्तिकी तरह संसारका अत्यन्त अमाव हो जाता है। छठी भूमिकामें स्थित योगीको तो दूसरेके द्वारा जगाये जानेपर प्रबोध होता है। किंतु सातवीं भूमिकामें स्थित योगी मुर्देकी मौति दूसरेके द्वारा जगाये जानेपर भी नहीं जागता; क्योंकि वह जीता हुआ ही मुर्देके त्रुत्य है। वह जीता है तो भी योड़े समय ही जीता है। मरनेपर उसकी आत्मा ब्रह्ममें विलीन हो जाती है, तब उसको भी विदेहमुक्त कहते हैं। यह तुर्यांतीत अवस्था परम मुक्तिरूप है।

इन सातोंमें जो पहलेकी तीन भूमिकाएँ हैं, वे बाप्रदूप ही हैं और जो चौथी भूमिका है वह तो सून ही कही गयी है; क्योंकि 'उसमें जगत् खण्डके सदृश प्रतीत होता है। आमन्दके साथ एकात्ममाव हो जानेसे पाँचवीं भूमिका अर्ध-सुषुप्तरूप है तथा अन्य पदार्थोंके झानसे रहित एकमात्र स्वसंबेदनरूप छठी भूमिका तुर्य शब्दसे कही जाती है। तुर्यांतीत शब्दसे कहलानेवाली अवस्था सातवीं भूमिका सबसे अन्तिम है। यह अवस्था मन और वाणीसे परे है तथा केवल स्वप्नकाश परिष्करण ही है। राजन्। इस सप्तम भूमिकाके अश्लभ्यनसे सब दृश्योंको प्रक्षमें विनीत करके तुम यदि दृश्यके विन्तनसे रहित हो जाओगे तो निष्ठय ही मुक्त हो जाओगे, इसमें सन्देह नहीं; क्योंकि जिसकी बुद्धि मोगों और सुख-दुःखोंसे लियायमान नहीं होती, वही पुरुष जीवमुक्त है। 'मैं जीवन-मरण, सत्-असद् सबसे रहित हूँ'— इस प्रकार जो मनुष्य आत्माराम द्वाकर स्थित रहता है, वह जीवन्मुक्त कहा गया है। मनुष्य व्यवहार करे चाहे न करे, गृहस्थ हो चाहे अकेला विचरण करनेवाला

स्वसंबेदनरूप च वही भवति भूमिका।  
आनन्दैकल्पकारा सुषुप्तवदशस्थितिः ॥  
तुर्यांतस्योपशान्ताप्य मुक्तिरेवै त्रेवलम् ।  
समता स्वस्त्रता सौम्या ज्ञाती भूमिका भवेत् ॥

(नि० प० १२० १२० १-५)

यति हो, परंतु 'मैं बास्तवमें कुछ भी नहीं हूँ, केवल सम्बिदानन्द भ्रम ही हूँ' ऐसा निष्ठय करनेसे सदा शोकसे मुक्त ही रहता है। 'मैं निर्लेप, अजर, राग-रहित, वासनाओंसे शून्य, शुद्ध अनन्त विनय भ्रम हूँ'—ऐसा मानकर पुरुष सदाके लिये शोकसे मुक्त हो जाता है। 'मैं अन्त और आदिसे रहित, शुद्ध-शुद्ध, अजर-अमर और शान्त हूँ तथा सभी पदार्थोंमें समरूपसे स्थित हूँ'—ऐसा मानकर पुरुष सदाके लिये शोकसे परे हो जाता है। क्षीण वासनासे युक्त हो या सर्वया वासनासे रहित होकर जो पुरुष जिस अर्थका सेवन करता है वह अर्थ उस पुरुषके लिये न सुखजनक होता है और न दृःख्यनक ही होता है। अनव। वासनारहित शुद्धिसे जो कर्म किया जाता है, वह कर्म जले हुए बीजके सदृश रहता है। वह सिर आहुर उत्पन्न नहीं करता अर्थात् भावी जन्मको देनेवाला नहीं होता। देह, इन्द्रिय आदि जो भिन्न-भिन्न करण हैं, उन्हींके द्वारा कर्म किये जाते हैं। ऐसी स्थितिमें जीवात्मा कर्ता नहीं है, इसनिये भोक्ता भी नहीं है। यह परमात्म-विवरक ज्ञानकी धृति यदि भीतर एक बार उत्पन्न हो जाय तो उर्ध्वाभूमिमें बोये गये धानके सदृश अनिवार्यरूपसे दिन-घर-दिन बढ़ती ही जाती है।

राजन्। अष्टिचेतनको जब्रतक विषयमोगकी अभिन्नाया बनी रहती है, तभीतक उसकी 'जीव'-संज्ञा है। यह अभिन्नाया भी अज्ञानके कारण ही है। जब यथार्थ झानसे विषयमोगकी अभिन्नाया नष्ट हो जाती है, तब यह अष्टिचेतन जीवत्वरहित और निर्विकार होकर प्रश्वसरूप हो जाना है। राजन्। कर्मनुसार ऊरके लोकसे नीचेके लोकमें तथा नीचेके लोकसे ऊपरके लोकों दीर्घकालतक आवागमन करते हुए तुम संसाररूपी अरहट्टकी चिन्तारूपी रसनुमें घडेके सदृश मन बनो। 'ये पुत्र-कल्प आदि मेरे हैं और मैं इन पुरुषकल्प आदिका हूँ' इस प्रकारके व्यवहारहर्षी द्वारा अमर्ता जो शठ मोहसे सेवन करते हैं, वे नीचीसे भी नीची योनिको

प्राप्त होते हैं। 'पुत्र-कल्प आदिका मैं सम्बन्धी हूँ और पुत्र, कल्प आदि परिवार मेरा सम्बन्धी है तथा मैं ऐसा हूँ' इस प्रकारके मोहकों जिन लोगोंने कुद्दिपूर्वक छोड़ दिया है, वे महानुपात ऊँचेसे भी ऊँचे लोकको प्राप्त होते हैं। इसलिये राजन्। तुम अपने आप ही प्रकाशित होनेवाले चिन्मय परमात्माका शीघ्र ही आश्रय लेकर स्थित हो जाओ और समस्त जगत्को परिपूर्ण अनन्त विज्ञानानन्दवनरूप ही देखो। जिस समय तुम इस प्रकारके सर्वव्यापी, पूर्ण, चिन्मय परमात्माके स्वरूपको यथार्थरूपसे जान जाओगे, उसी समय मंसारसे तर जाओगे और परमात्मा हो जाओगे; क्योंकि जो पुरुष विज्ञानानन्दवन-खरूप हो गया है, जो संसाररूपी मृत्युसे पार हो चुका है और जिसका चित्त किलीन हो गया है, उस मृत्युपुरुषको जो परमानन्द प्राप्त होता है, उसकी उपमा किस आनन्दसे दी जा सकती है; इस परमात्माके स्वरूपको प्राप्त करनेपर अविद्याशान हो जाती है। पिर, उसके लिये ब्रह्मकी प्राप्तिके सिवा मोक्ष नामका न कोई देश है, न कोई काल है और न कोई स्थिति ही है; क्योंकि यह जो वासनारूपी अविद्या है, वह अहंकाररूपी मोहके विनाशसे बिनीन हो जानी है और अविद्याका यह अभाव ही परिद्धि मोक्ष है। जब योगीपुरुषकी अविद्या नष्ट हो जानी है, तब उसकी नाना प्रकारके शास्त्रोंके विचारकी चञ्चलना आन्त हो जाती है। काव्य, नाटक आदि विद्याओंकी उल्लङ्घन नष्ट हो जाती है और उसके सारे विकल्प-विभ्रम छिलीन हो जाते हैं। वह केवल शाश्वत और सम परमात्मस्वरूप होकर मुख्यरूपक स्थित रहता है।

जो वाणीसे अतीत व्याप्ति स्थित है तथा विम्ब-कामनासे रहित है, वह पुरुष संसारमें परम शोभासं

सम्पन्न है। वह गम्भीर, प्रसन्न तथा निरन्तर परमात्माके आनन्दमें भृत योगी लघुं ही अपने आत्मस्वरूप परमज्ञानमें रमण करना रहता है। वह सम्पूर्ण कर्मोंके फलोंका स्याग करनेवाला, ब्रह्मानन्दमें निष्प तृप्त और संसारके आश्रयसे रहित योगीपुरुष पुण्य-प्राप्त और हर्ष-शोक आदि विकारोंसे लिपायमान नहीं होता, जनसमझमें विचरण करता हुआ भी वह महाज्ञानी अपनी देहके छेदन या पूजनसे शोक या हर्षका अनुभव नहीं करता। उस प्रज्ञानी पुरुषसे प्राणियोंको उद्देश उद्देश्यान् नहीं होता। वह भी दूसरे प्राणियोंकी प्रतिकूल चेष्टासे उद्देश्यान् नहीं होता। वह ज्ञानीपुरुष अपने शरीरका किसी तीर्थमें स्याग कर दे या किसी चाण्डालके घरमें स्याग कर दे अथवा कभी भी शरीरका स्याग न करे या वर्तमान क्षणमें ही त्याग कर दे, फिर भी वह ज्ञानप्राप्तिकालमें पहलेसे ही अन्तःकरणसे रहित और जीवन्मुक्त हो चुका है। अहंकारकी भान्ति ब्रह्मनकारक है और ज्ञानसे अहंकारका नाश होकर मोक्ष-की प्राप्ति होनी है। विभूति और वैभव चाहनेवाले पुरुष-को प्रयत्नरूपक उपयुक्त ज्ञानी महात्मा पुरुषकी पूजा, स्तुति, नमस्कार, दर्शन और अभिशादन करना चाहिये। प्रिय पुत्र ! जो सांसारिक दोषोंसे सर्वथा रहित हैं, उन जीवन्मुक्त आत्मज्ञानी सज्जनोंकी श्रद्धाभक्तिरूपक सेवा-पूजा करनेसे जो परम पवित्र पद प्राप्त होता है, वह न तो यहाँ और तीर्थोंसे पाप होता है एवं न तपस्याओं तथा दानोंमें ही।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं - श्रीराम ! यो कद्दकर मनु-भगवान् ब्रवान्नोकको चले गये और इत्याकु भी उस बोवरूप दृष्टिका अवलम्बन करके स्थिर हो गये।

( सर्ग १२०-१२२ )

## श्रीवसिष्ठजीके द्वारा श्रीरामचन्द्रजीके ग्रति जीवन्मुक्त पुरुषकी विशेषता, रागसे थन्धन और वराग्यसे मुक्ति तथा तुर्यपद और ब्रह्मके स्वरूपका प्रतिपादन

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—ज्ञानीयोंमें श्रेष्ठ भगवन् ! ऐसा होनेपर श्रेष्ठबुद्धि आत्मज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुषमें अन्य सिद्धोंकी अपेक्षा कौन-सी विशेषता होती है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी पुरुषकी बुद्धि सचिदानन्द परमात्मामें ही इकलूपसे जम जाती है । यही कारण है कि वह निष्पत्त शान्तविद्या पुरुष परमात्म-स्वरूपमें ही स्थित रहता है । मन्त्र, तप एवं तन्त्रकी सिद्धिसे युक्त सिद्धोंके द्वारा प्राप्त की गयी जो आकाशगमन आदि सिद्धियों हैं, उनमें कौन-सी अपूर्व ( महत्त्वकी ) विशेषताकी बात है ? मन्त्रसिद्धि आदिसे युक्त उन सिद्धोंने प्रयत्नपूर्वक साधन कर जिन अणिमादि सिद्धियोंकी प्राप्ति की है, उनमें ब्रह्मज्ञानी पुरुष कोई विशेषता नहीं समझता । उस जीवन्मुक्त महाबुद्धिका मन सभी बस्तुओंमें आपकिके परित्यागके कारण रागरहित तथा निर्मल ही बना रहता है और वह कभी भी विषयभोगोंमें नहीं फँसता है । जिसका स्वरूप समस्त बाहरी विद्योंसे रहित है तथा तत्त्वज्ञानसे दीर्घकालिक सासारिक भ्रमकी निवृत्ति हो जानेके कारण जो परम शान्तिको प्राप्त हो जुका है, उस ज्ञानी महापुरुषमें काम, क्रोध, विषाद, मोह, लोम आदि आपत्तियोंका नियंत्रण अस्फृत अपाव ही रहता है ।

प्रिय श्रीराम ! महासुरोंके आरम्भमें ग्राणी उस परमात्मासे निकलकर अपने अपने कर्मोंके अनुसार अनेक प्रकारके जन्मोंका अनुभव करते हैं । परमात्मासे निकलनेके बाद उन जीवोंके अपने-अपने जो कर्म हैं वे ही सुख और दुःखके कारण होते हैं तथा अपनी-अपनी समस्तके अनुसार उपर दूआ जो संकल्प है वही शुभाशुभ कर्मोंका

कारण होता है । निष्पत्त श्रीराम ! ये इन्द्रियों जिस-जिस विषयकी ओर निरन्तर दौड़नी हैं, उस-उस विषयमें पुरुष रागके द्वारा बँध जाता है । इसलिये उन विषयोंमें राग न करनेवाला पुरुष ही मुक्त होता है । अनएव उपसे लेकर देशादि शरीरतरुके जितने स्थान-जड़परूप विनाशकील पदार्थ हैं, उनमें तुमको रुचि नहीं करनी चाहिये । तुम जो कुछ करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ हथन करते हो और जो कुछ दान करते हो, उन सब क्रियाओंमें तुम शास्त्रमें न कर्ता हो और न मोक्ष हो; क्योंकि तुम उन सबसे मुक्त और शान्तस्वरूप हो । जो महाराम पुरुष हैं, वे न तो अमीतके विषयमें शोक करते हैं और न भविष्यके विषयमें चिन्ता ही करते हैं । वे तो बर्णमानकालमें जो कुछ न्याययुक्त कर्म प्राप्त हो जाना है, उसीका उचितरूपमें सम्पादन करते हैं । श्रीराम ! तुथा, मोह, मद आदि जितने स्थान्य भाव हैं वे सब भनमें ही स्थित रहते हैं, इसलिये मुद्दिमान् पुरुषको अपने विवेक-विचारयुक्त मनके द्वारा ही मनसहित उनका विनाश कर देना चाहिये; क्योंकि जैसे अति तीक्ष्ण लोहेमें लोहा काटा जाता है, वैसे ही सब भ्रमोंकी शान्ति-के लिये अति तीक्ष्ण विवेक-विचारयुक्त मनमें दोषसहित मन काटा जाता है ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—मुनिनायक ! जापत्, स्वप्न और सुपुसि—इन तीनों अवस्थाओंमें व्यापक और अनश्चिन जो तुर्यरूप है, उसका विशेषरूपसे विवेचन करते हुए बतालाइये ।

श्रीवसिष्ठजी बोले—श्रीराम ! जो असूक्ष, सुम और स्वच्छ स्वरूपस्थित हैं वशी तुर्य है । जिसमें जीवन्मुक्त पुरुषोंकी स्थिति है, जो स्वच्छ, समरूप और शान्त है तथा जो व्यवहारकालमें साक्षीरूप है, वही तुर्यवस्था कही

जाती है। संकल्पोंका अभाव रहनेके कारण यह अवस्था म जाग्रत् है, न स्थन है और अक्षानका अभाव होनेसे यह न सुषुप्त ही है अर्थात् यह इन तीनों अवस्थाओंसे अतीत है। ज्ञानके द्वारा सामने दिखायी देनेवाले इस जगत्की जो निष्ठा है, परमात्मामें स्थित एवं मलीमौति प्रशुद्ध हुए ज्ञानी पुरुषोंकी उसी अवस्थाकी तुर्यपद कहते हैं। अहकारका त्याग होनेपर और किन्तुके विलीन हो जानेपर जब समताकी उत्पत्ति हो जाती है, तब उसे तुर्यवस्था कहते हैं।

श्रीराम ! इसके अनन्तर अब तुम्हें मैं एक द्व्यान्त अतला रहा हूँ, उसे सुनो। किसी एक विस्तृत घने जगलमें महामौन भारण करके बैठे हुए किसी एक अद्वृत मुनिको देखकर एक व्याधने उनसे पूछा—‘मुने मेरे बाणके द्वारा घायल एक भूग इधर आया था, वह कहाँ चला गया ?’ इस ग्रकारका उस व्याधका प्रश्न सुनकर उस मुनिने उस व्याधको उत्तर दिया—‘सुखे ! हम जंगलके निशासी मुनि समता और शील्यान् द्वारा होते हैं। अथवाहरका कारण जो अहंकार है, वह हमलोगोंमें नहीं है। सम्पूर्ण इन्द्रियोंका क्षर्य अकेला अहकाररूप मन ही करता है और वह मेरा मन निःसदै विकालसे विलीन हो चुका है। जाग्रत्, स्थन और सुषुप्तिनामककिसी भी अवस्थाको मैं नहीं जानता। इन अवस्थाओंसे अतीत एकमात्र तुर्यपदमें हो, जहाँ दृश्यका अभाव है, मैं स्थित रहता हूँ।’ ऐनन्दन ! उस मुनिश्रेष्ठके ऐसे वचन सुनकर वह व्याव उनके अर्थको न समझकर अपनी अभीष्ट दिशाकी ओर चला गया। इसीलिये मैं कहता हूँ कि महाबाहो ! तुर्यसे श्रेष्ठ अन्य कोई अवस्था नहीं है। कल्पनासे रहित सविदानन्द परमात्मा ही तुर्य है और वही यहाँ विष्ठमान है, उसके सिवा अन्य कुछ नहीं है;

क्योंकि जाग्रत्, स्थन और सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ वित्तका ही विकार होनेसे उसका स्वरूप है। जाग्रत् अवस्थाका वित्त शेर है, स्थन अवस्थाका वित्त शान्त है और सुषुप्त अवस्थाका वित्त भूआ है। जाग्रत्, स्थन, सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंसे रहित हुआ वित्त भूत है। जो ‘मृत’वित्त है, उसमें एकमात्र सत्त्व ही समरूपसे स्थित रहता है। इसीका सम्पूर्ण योगीजन वह यत्के साथ सम्पादन काते हैं और मुक्त हो जाते हैं।

समस्त दृश्य-जगत्का बाध करना ही सम्पूर्ण अथवाभासोंका परम सिद्धान्त है। वहाँ न तो अविद्या है और न माया ही है; किंतु एक अद्वितीय, क्रियारहित शान्त विज्ञानानन्दघन पञ्चक ही है। जो शान्त, चेन्न, स्वच्छ, सर्वत्र एकरूपसे विष्ठमान तथा सर्वशक्तिसम्पन्न ‘अहम्’ नामसे कहा गया है, उसे अपनी-अपनी दुष्क्रिये अनुसार निर्णय करके कोई शून्य, कोई विज्ञानमात्र और कोई ईश्वररूप कहते हुए आपसमें विवाद किया करते हैं। मनुष्यको (मणीय या अरमणीय वस्तु)को देखकर उनमें समझावसे स्थित रहना चाहिये। वस, इतने ही अपने साधनसे यह संसार जीत लिया जाता है। सुख या दुःख अथवा सुख-दुःख-मिश्रित पदार्थके प्राप्त होनेपर उनकी ओर अथवा नहीं देना चाहिये। वस, इतने ही अपने साधनसे वास्तविक ज्ञात्य अनन्त सुखरूप परमात्मा-की प्राप्ति हो जाती है। जिसने तीनों लोकोंकी सभी वस्तुओंके साररूप परमात्माका ज्ञान कर लिया है, जो ही मायप्राप्त तथा अमृतमय है और जिसका अन्तःकरण पूर्ण चन्द्रमण्डलके सदृश शान्त है, ऐसा परमपदमें स्थित ज्ञानी महात्मा पुरुष विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त करता है। वह कर्मोंको करता हुआ भी कुछ नहीं करता।

( सर्ग १२३—१२५ )

## योगकी सात भूमिकाओंका अध्यात्मकाम और लक्षण, योगभ्रष्ट पुरुषकी गति एवं महान् अनर्थकारिणी हथिनीरूप इच्छाके स्वरूप और उसके नाशके उपाय

श्रीरामचन्द्रजीने पृथ्वी—मुने । सातों योगभूमिकाओंका काम्यास कैसे किया जाता है तथा प्रत्येक भूमिकामें योगीके चिह्न किस तरहके होते हैं ?

ओकसिटुड्जीने कहा—खुनन्दन । जीव चौरासी लाख योनियोंमें धूमता हुआ अस्तमें मनुष्य-जन्ममें भाग्योदय होनेपर विवेकी बन जाता है । ‘अहो ! संसारकी यह व्यवस्था बिल्कुल असार है । इस व्यवस्थासे मुझे क्या प्रयोजन है ? इन व्यर्थ कर्मोंसे ही मैं अपना दिन क्यों चिता रहा हूँ ? मैं वैराग्यवान् बनकर विस तरह संसार-सामरको तैर जाऊँ’—इस प्रकारके विचारमें जब सद्बुद्धि प्राणी तत्पर होता है, तब उसके हृदयमें योगों और सांसारिक सकल्योंमें हर समय वैराग्य रहता है । वह सत्सग, स्वाध्याय, ईश्वरोपासना आदि उत्तम क्रियाओंका अनुष्ठान करता है और उन्हींमें प्रसर रहता है । मुख्य व्यर्थ चेष्टाओंमें उसे निरन्तर वैराग्य रहता है । वह दूसरोंके दोषोंको प्रकट नहीं करता और स्वयं यह, दान, नप, सेवा-पूजा आदि पुण्य कर्मोंका ही सेवन करता है । वह किसीके भी मनमें उद्गेन न पहुँचानेवाले शास्त्रविहित विनयशुल्क कर्मोंका आधरण करता है, शास्त्रविपरीत कर्मसे सदा डरता रहता है और सांसारिक विश्वमोर्गोंकी कभी अभिलापा नहीं करता । वह स्नेह और प्रणयसे पूर्ण, कोमल, सत्य, प्रिय और हितकारक तथा देश-कान्तिकृत वचन बोलता है । वह मन, कर्म एवं वाणीसे सत्युल्योंका संग और सेवा करता है । जिस-किसी जगहसे ज्ञानदायक शाखोंको प्राप्त करके उनका विदेश-विचारपूर्वक स्वाध्याय करता है । सांसार-जागरको तैर जानेके लिये इस प्रकारके विचारसे सम्पूर्ण प्रथम ‘कुमेढ़ा’ नामक भूमिकाको प्राप्त होता है । इसमें उसे आत्मोदारके सिवा और कोई भी इच्छा नहीं रह जाती । इसीको ‘भ्रवण’ भूमिका भी कहते हैं ।

इसके बाद अधिकारकी प्राप्ति होनेपर वह पूर्ववार नामक दूसरी योगभूमिकामें प्रवेश करता है । उस समय वह श्रुति, सूनि, सदाचार, धारणा, ध्यान और कर्ममें तत्पर रहनेवाले पुरुषोंमें, जिन्होंने अध्यात्मशाखोंकी प्रशस्त व्याख्या करनेके कारण अच्छी स्थानि प्राप्त कर ली है, उन श्रेष्ठ विद्वानोंका आश्रय लेकर उनके उपदेशानुसार साधन करता है । वह अध्यात्मशास्त्रधन श्रवण करके कार्य और अकार्यके स्वरूपको तत्त्वतः जान लेता है । वह मद, अभिमान, मास्तु, मोह और लोभको उसी तरह छोड़ देता है, जिस तरह सौभग्य देतुम्हें । उपर्युक्त व्यर्थ निश्चयसे युक्त पुरुष सत् शाश्वत, गुरु और सज्जनोंकी सेवासे व्रहस्पदियक रहस्यको विवेक-विद्या-पूर्वक यथार्थरूपसे पूर्णतया जान लेता है और उसके अनुसार मनन करता है । वह अध्यात्मविद्यक दातानोंके वाक्यार्थमें अपनी वृद्धिको निश्चन्नपूर्वक स्थापित करता है, तपसियोंके आश्रयोंमें निवास करता है, अध्यात्मशाखोंकी कथाओंका मनन करता है तथा निर्धनीय संसारके विषय-भेदग्रहण पदार्थोंसे देशाग्य करने, पत्थरकी चढ़ानरूपी शर्यापर आसीन हो करनी आगु चिताता है । अध्यात्मविद्यक सद-शाश्वतोंके अपारन-मननरूप अध्यासुसे तथा निष्काम पुण्यकर्मोंके अनुग्रहनमें उस पुरुषको अध्यात्मविद्यक व्यर्थ दृष्टि प्राप्त हो जानी है । इस भूमिकाका नाम ‘विचारणा’ है । इनीहों ‘मनन’ भी कहते हैं ।

तीसरी भूमिकामें पहुँचकर निष्क्री पुरुष दो प्रकारके असङ्गका अनुभव करता है । श्रीराम ! हुग उमरं इम भेदको द्वनो । यह असङ्ग दो तरह है— एव उमरं न और दूसरा श्रेष्ठ (विशेष) । मैं न कर्ता हूँ और न भोका ही; मैं सांसारिक कर्मोंके लिये जाप्य नहीं हूँ और न दूसरोंके लिये बाधक हूँ । इस प्रकारके निष्पत्ति

विषयभोगोंकी आसक्तिसे रहित होना ही सामान्य असङ्ग है। 'मुख या दुःखकी प्राप्ति पूर्वकर्मके अनुसार निश्चित और ईश्वरके अधीन है अर्थात् ईश्वरके विधानके अनुसार होती है। इसमें मेंग कर्तृत्व कैसा? ये विस्तृत विषयभोग अन्तमें संताप देनेवाले होनेके कारण महारोग हैं तथा ये सांसारिक सारी सम्पत्तियाँ परम आपत्तियाँ हैं। संयोगका अन्तमें नियोग निश्चित है और ये मनके सारे विकार बुद्धिकी व्याख्यायाँ हैं। सब पदार्थोंको ग्रास बना लेनेके लिये काल सदा तैयार रहता है।' इस तरह अध्यात्मविषयक वचनोंके अर्थमें संलग्न विस्तवाले पुरुषकी सम्पूर्ण पदार्थोंमें जो आन्तरिक विद्यास्त्रकी भावना है, वह भी सामान्य असङ्ग कहलाता है। इस पूर्वोक्त अभ्यासयोगसे, महापुरुषोंकी संगतिसे, दुर्जनोंकी संगतिके त्यागसे, आत्मज्ञानके प्रयोगसे तथा लगातार अभ्यासयोगद्वारा अपने पुरुष-प्रथमसे संसारसामग्रके पार, सबके सार, परम कारणभूत परमात्माके ध्यानकी स्थिति हस्तामल्कवत् दृढ़रूपसे खूब स्पष्ट हो जानेपर जो नाम-रूपकी भावनासे रहित होकर 'न मैं कर्ता हूँ, न ईश्वर कर्ता है, न प्रारब्ध कर्ता है'—यों शान्त और मौनरूपसे स्थित रहना है वही श्रेष्ठ ( विशेष ) असङ्ग कहलाता है। तथा जो शान्त, आदि-अन्तसे रहित सुन्दर सद्विद्वानन्दवन प्राप्त है वही श्रेष्ठ असङ्ग कहा जाता है। वही श्रेष्ठ असङ्ग नामक तीसरी भूमिका है। इसीको 'निदिष्यासन' भी कहते हैं। इस भूमिकामें स्थित पुरुष सम्पूर्ण संकल्पोंकी कल्पनाओंसे शून्य होकर परमात्माके ध्यानमें स्थित हो जाता है।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—भगवन्! असत्कुलमें उत्पन्न, कामोपभोगमें ही प्रवृत्त, अधम तथा योगी महारामके सङ्गसे रहित मृदु भनुप्यका उद्धार कैसे होगा? तथा पहली, दूसरी, तीसरी भूमिकामें आरुक होकर मरे हुए ग्राणीकी कैसी गति होती है?

श्रीकृष्णजीने कहा—श्रीराम! प्रदद रागादि दोषों-

वाले मृदु पुरुषको सैकड़ों जन्मोंके बाद जबतक काकतालीय न्यायसे या महापुरुषोंके सङ्गसे वैराग्य उत्पन्न नहीं हो जाता, तश्वतक उसका यह विस्तृत संसार रहना ही है अर्थात् विना वैराग्यके उसका उदार होना कठिन है। वैराग्य उत्पन्न हो जानेपर प्रथम भूमिकाका उदय प्राणीको ध्यानस्थ होता है और तदनन्तर उसका संसार नष्ट हो जाता है, यही शास्त्रोंका परम सिद्धान्त है। प्रथम आदि भूमिकाओंमें पहुँचकर मरनेवाले प्राणीका भूमिकाओंके अनुसार ही पूर्वजन्मका दुष्कृत नष्ट हो जाता है। तदनन्तर वह योगी देवनाथोंके विमानोंमें, लोकपालोंके नगरोंमें तथा सुमेह पर्वतके बन-कुँडोंमें, अप्याथोंके साथ रमण करता है। उसके बाद पूर्वजन्ममें पिये गये पुरुषों और पापोंका मोगसमूहोंके द्वारा नाश हो जानेपर वे योगी लोग पृथ्वीपर पश्चिम, गुणवत्तन और लक्ष्मीवान् सज्जनोंके धर्यें जन्म लेते हैं और वहाँ जन्म लेकर वे लोग पूर्वजन्मके योग-साधनके संस्कारोंके अनुसार योगका ही साधन करते हैं। वहाँपर पूर्व जन्ममें की गयी भावनाओंसे अम्बस्त हुए योगभूमिकाओंके क्रपटा स्परण करके वे बुद्धिमान् लोग आगेके भूमिका-क्रमका भलीभौति अभ्यास करने लग जाते हैं।

श्रीराम! ये पूर्वोक्त तीनों भूमिकाएँ जाग्रत् कही गयी हैं; क्योंकि इन भूमिकाओंमें यथाधर्त् भेदबुद्धि रहनेसे वह सम्पूर्ण दृश्यसमूह उस जाग्रत्-कालकी तरह ही दिखायी पड़ता है। इन तीनों भूमिकाओंमें योगसुरु पुरुषोंमेंकेवल आर्यता ( श्रेष्ठता ) का उदय होता है, जिसे देखकर मृदुबुद्धि पुरुषोंको भी मुक्त होनेकी अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है। जो मनुष्य शाश्वतिहित कर्तव्य-कर्मोंका भलीभौति सम्बादन करता है तथा शाश्वतिहित कर्मोंको सर्वथा नहीं करता है एवं सदाचारमें स्थित रहता है, वह आर्य कहा गया है। श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा आचरित, शास्त्रोक्त तथा मनको प्रिय और हितकर यथोचित व्यवहारोंको जो प्रहृण करता है, वह आर्य बहा रथा है।

योगीकी वही आर्यता प्रथम भूमिकामें अद्वृति, द्वितीय भूमिकामें श्रिवेकके द्वारा विकसित तथा तृतीय भूमिकामें संसारके असङ्ग और परमात्माके व्यानरूप फलसे कलित होती है। इस तीसरी भूमिका ( आर्पता ) की प्राप्तिके बीचमें ही मुहुरुको प्राप्त हुआ योगी पुरुष शुम संकल्पयुक्त भोगोंका विरकालतक उपभोगकर पुनः योगी ही होता है। क्रपशः तीनों भूमिकाओंका अभ्यास करनेसे अज्ञानके मष्ट हो जानेपर वास्तविक ज्ञानका उदय होनेके बाद जब चित्त पूर्ण-चन्द्रोदयके सदृश हो जाता है, तब चौथी भूमिकामें पहुँचे हुए युक्तिचित् योगीलोग सम्भूर्ण जगद्में विमलगसे तथा आदि और अन्तसे रहित समभावसे परिष्ठूर्ण सविदानन्द ग्रहका ही अनुभव करते हैं। द्वैतके सर्वथा शान्त हो जानेपर जब अद्वैत ही अचल रह जाता है तब चौथी भूमिकामें गये हुए योगीलोग समक्ष संसारको स्वप्नके समान अनुभव करते हैं। इसलिये पूर्णक तीम भूमिकाओंको तो जाप्रत् कहते हैं और चौथी भूमिकाको खण्ड कहते हैं।

जो पुरुष पञ्चम भूमिकामें पहुँच गया है, वह केवल सततरूप ब्रह्म बनकर रहता है। इस अर्थसुपुरुष पञ्चम भूमिका-को प्राप्त करके पुरुष समस्त विकारोंसे मुक्त हो जाता है और अद्वैत परब्रह्मरूप तत्त्वमें नित्य स्थित हो जाता है। पौँचवीं भूमिकामें स्थित पुरुष अन्तर्मुख हृतिसंरहता है। बाह्य व्यापारमें लगा हुआ भी निरन्तर चारों ओरसे शान्त होनेके कारण तन्द्रामें सदृश दिखायी देता है। वह कभी तो बाहरी अवधार करता है और कभी अटल समाविमें स्थित रहता है। इस भूमिकामें वासनाशून्य होकर अभ्यास करता हुआ पुरुष क्रमशः तुर्या नामकी छठी भूमिकामें चला जाता है। उस भूमिकामें निर्विकल्प होनेके कारण योगी द्वैत और अद्वैतकी भावनासे रहित हो जाता है। वह चिन्ह-ग्रन्थिसे और संदेहसे रहित हो जाता है। वह वासनाओंसे रहित जीवन्मुक्त योगी चिन्ह-लिखित प्रदीपकी भाँति निर्वाणको न प्राप्त हुआ भी

निर्वाणको ग्राप्त हुआ-सा स्थित रहता है। ( उमको बाहरी ज्ञान नहीं रहता। किंतु दूसरोंके चेष्टा करनेमें बाह्य ज्ञान हो सकता है। ) वह नीश्वन्मुक्त योगी बाहर और भोतत्से शून्य आज्ञानमें स्थित बड़की तरह बाहर-भीतर संसारसे रहित रहता है तथा सागरमें परिष्ठूर्ण शटके समान बाहर-भीनर ब्रह्मसे परिष्ठूर्ण रहता है। तदनन्तर छठी भूमिकामें स्थित हुआ वह योगी सातवीं भूमिकामें पहुँचता है। सातवीं योग-भूमिका विदेहमुक्तता कही गयी है। वह शान्तरूप, वाणीसे अगम्य और सभी भूमिकाओंकी सीमा है।

शैव उसे शिव कहते हैं, वेदान्ती उसे ईश कहते हैं और साध्यवादी उसे प्रकृति और पुरुषका यथार्थ ज्ञान कहते हैं। इस प्रकार मिळ-भिन्न लोगोंने अपनी बुद्धिके अनुसार अनेक रूपोंसे सततम भूमिकाकी भावना की है। यथापि यह भूमिका सर्वथा उपरेशयोग्य नहीं है, तथापि किसी तरह इसका उपरेश किया ही जाता है। ( इस भूमिकामें स्थित योगीको दूसरोंके द्वारा चेष्टा करनेपर भी संसारके ज्ञान नहीं होता। ) श्रीराम ! ये सातों भूमिकाएँ मैंने प्रमाणसे कह दीं। इनके अभ्यासयोगसे मनुष्य मर्यादा दूःखोंसे रहित हो जाता है। धीरे-धीरे चलनेवाली अत्यधित मदो-मद्दत, लहराई कलनेमें सदा तत्पर, अपने बढ़े-बढ़े दौरोंमें दग्धनिको प्राप्त करनेवाली तथा अनन्त अनयोंको पैदा करनेवाली एक हृथिनी है। उसे यहि किसी तरह मार दिया जाय तो मनुष्य इन उपर्युक्त समक्ष भूमिकाओंमें विजयी यन सकता है। वह मदोभूमत हृथिनों जवानक पाकामसे जीत नहीं ली जाती, तबतक कौन ऐसा दीर ढंगा है, जो उपर्युक्त भूमिका-उपायितरूपी शमरभूमियोंने प्रवेश करनेमें भी समर्थ हो !

श्रीरामजीने पूछा — मग्नन् ! इह प्रमाण हृथिनी कीजे है, वे समरभूमियाँ कौन हैं, वह यंते मारी जानी है तथा वह चिरकालतक कईं रमण करनी हैं ?

श्रीकृष्णजीने कहा — श्रीराम ! 'मुसंयह मिद जाय,'

ऐसी जो 'इच्छा' है, उसीका नाम हथिनी है। वह शरीर-खड़ी जंगलमें रहती है और मत होकर अनेक तरहके शोक, मोह आदि विकारोंको डम्पन करनेमें लगी रहती है। मतवाले इन्द्रियोंके समूह ही उसके उप्र प्रकृतिके अन्ते हैं। वह बीमसे मनोहर भाषण करती है, शुभाशुभ कर्मखड़ी दो दौड़ोंसे युक्त वह मनखड़ी गद्दन स्थानमें लीन रहती है। चारों ओर दूरतक फैले हुए वासनाओं-का समूह ही इस हथिनीका मद है। और श्रीराम ! संसार-की स्मृतियाँ इसकी युद्धभूमियों हैं। यहाँपर पुरुष बार-बार जय और पराजयका अनुप्रव करता है। वह इच्छा नामदाती हथिनी लोभी मनुष्योंको मारती है। वासना, इच्छा, मनन, विनतन, सकलन, भावना और सूक्ष्म हथाहि इसके नाम हैं। यह अन्तःकरणरूपी कोशके अंदर रहती है। बहुत दूरतक फैली हुई तथा सब पदार्थोंमें निवास करनेवाली इस इच्छारूपी हथिनीपर अहेलनापूर्वक 'थैर्ण' नामक सर्वश्रेष्ठ अक्षसे प्रहार करके सब प्रकारसे विजय प्राप्त कर लेनी चाहिये।

'यह बस्तु मुझे इस प्रकार प्राप्त हो जाय !' यह इच्छा जबतक अन्तःकरणके भीतर प्रकट रहती है, तभीनक यह महामयंकर कुरिसित संसार रूपी महाविश्वसे उत्पन्न विशुचिकाखड़ी महामारी बनी रहती है। 'यह मुझे मिल जाय' यह जो संकल्परूप इच्छा है, वह, यही संसार है तथा इसका शान्त हो जाना ही मोक्ष है, यही ज्ञानका सार है। इच्छारहित विशुद्ध अन्तःकरणमें महापुरुषोंके पवित्र और सात्त्विक प्रसन्नता पैदा करनेशाले हितमय उपदेश दर्पणमें तेल-विन्दुकी भीमि जग जाते हैं। एकमात्र विषयोंके स्मरणका परिव्याग कर देनेसे इच्छारूपी संसारका अहुर उपरम नहीं होता। विषयके तुल्य अनेक प्रकारका अनर्थ पैदा करनेशांती इस इच्छाको तनिक-सी बढ़ते ही विषयोंके विस्मरणरूप शब्दसे काट डालना चाहिये। इच्छा से युक्त

बीबास्मा दीनताको कभी भी नहीं छोड़ सकता। मुन्दर असवेदनमें यानी उच्चम रूपसे विषयोंका स्मरण न होनेमें श्रेष्ठ प्रथम यही है कि विष अपने अंदर संबल्पोंसे रहित होकर मृतककी तरह स्थित रहे।

'यह मुझे मिल जाय' इस तीव्र इच्छाको ही उत्तम पुरुष 'संकल्प' कहते हैं और जो संसारके पदार्थोंकी भावनासे रहित होना है, उसीको 'संकल्पका त्याग' कहते हैं। श्रीराम ! संकल्पको ही तुम स्मरण समझो। और विस्मरण ( संकल्पके अभाव ) को विद्वान्-ओग कल्याण-रूप समझते हैं। संकल्पमें पहलेके अनुभव किये हुए पदार्थोंकी तथा भविष्यमें होनेवाले पदार्थोंकी भी भावना की जाती है। मैं ऊपर हाथ उठाकर बार-बार ढूँचे खासे विश्वाकर यह कह रहा हूँ, किंतु इसे कोई सुनता नहीं कि संकल्पत्याग ही परम श्रेष्ठका सम्प्रादक है। इसकी भावना लोग अपने हृदयमें क्यों नहीं बताते ?

श्रीराम ! सम्पूर्ण इन्द्रियों और मनके व्यापारोंसे रहित और व्यान-समाधियोंलीन बैश्व द्वुआ पुरुष उस परम ददको प्राप्त करता है, जहाँ एकच्छ्रव साम्राज्य भी तृणके सुदृश तुल्य है। इस विषयमें अनिक कहनेकी कथा आवश्यकता है : संक्षेपसे मैं इतना ही कहता हूँ कि संसारका संकल्प ही सबसे बदकर बन्धन है और उस संकल्पका अभाव ही मोक्ष है। संसारके स्मरणके अभावको ही स्वामनिक 'विच-विनाशस्वरूप योग' कहते हैं और वह अक्षय योग शान्तरूपसे नित्य स्थित है। श्रीराम ! शिव, सर्वज्ञापी, शान्तिमय, चिन्मय, अज और कल्याणरूप ब्रह्मके साथ जो जीव-ब्रह्मके एकत्वका निष्पत्य है, वही वास्तविक सर्वत्याग है। श्रीराम ! अहंता-ममताकी भावना रखनेशाला मनुष्य दुःखसे कभी छुटकारा नहीं पाता; किंतु अहंता-ममताकी भावनासे रहित हुआ मनुष्य मुक्त हो जाता है।

( सर्ग १२६ )

## भरद्वाज मुनिके उत्कण्ठापूर्वक प्रश्न करनेपर श्रीवाल्मीकिजीके द्वारा जगत्की असत्ता और परमात्माकी सत्ताका प्रतिपादन करते हुए कल्याणकारक उपदेश

श्रीभरद्वाजजीने पूछा—गुणो ! निष्ठय ही श्रीराम-महद् तो परम योगी, सबके बन्दनीय, देवताओंके भी ईश्वर, जन्म-परणसे रहित, विशुद्ध ज्ञानमय, समस्त उत्तम गुणोंकी खान, समस्त ऐश्वर्योंके आधार तथा तीर्थोंलोकों-के उत्पादन, रक्षक एवं अनुग्रह करनेवाले थे । उन प्रश्नानन्दसे परिपूर्ण पूर्णज्ञानी और विशुद्धबुद्धि रुद्धकुलश्रेष्ठ श्रीराममहाने मुनिवर वसिष्ठजीके द्वारा उपदेश इस अति प्राचीन समस्त इमरुपी सारका श्रवण कर क्या और भी कुछ पूछा था ।

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—भरद्वाज ! वसिष्ठ मुनिके वेदान्तशास्त्रके सम्बन्धपूर्ण वचनोंका अवश्य कर अखिल विज्ञानोंके ज्ञाता कमल्लोचन श्रीराममहद् अपने चिन्मय आनन्द-स्वरूपमें स्थित रहे । उस समय वे प्रश्न, उत्तर और विभाग आदि कानेकी पद्धतिसे उपरत हो गये थे । उनका चित्र आनन्दस्वरूप अमृतसे पूर्ण था । वे चिन्मय और सर्वज्ञापी होनेके कारण अपने महाअमय स्वरूपमें ही समन्वयसे नित्य स्थित थे । अतः उन्होंने उस समय वसिष्ठजीसे कुछ भी नहीं पूछा ।

श्रीभरद्वाजजीने पूछा—मुनिनायक ! कहाँ तो मेरे-जैसे मूर्ख, स्तन्य, अस्पत्ता, पापी और कहाँ भ्रष्टा आदि देव ना भी जिसकी आकाङ्क्षा करते हैं—उन भगवान् श्रीरामनन्दजीकी अपने स्वरूपमें स्थिति । मुनीश्वर ! अहो ! मैं किस प्रकार परमात्मपदमें विश्राम पा सकूँगा और इस दुस्तर संसाररूपी महासागरके मोहरूपी जलसे किस प्रकार पार हो सकूँगा ? यह शीघ्र मुहससे कहिये ।

श्रीवाल्मीकिजी घोले—शिष्य ! श्रीवसिष्ठजीके द्वारा कथि आरम्भसे अन्ततक सम्पूर्ण राम-वृत्तान्त, मैंने हुमको लुना दिया, अब तुम अपनी दुदिसे पहले विवेक-पूर्वक विचारकर पीछे उसका मनम करो । मैं भी इस

विषयमें तुमसे जो वर्णन करने योग रहत्य है, उसे कहता हूँ, सुनो । मद् ! यह जो यहाँ संसाररूप अविद्या-प्रपञ्च दीख रहा है, वह तनिक भी सत्य नहीं है । अर्थात् समस्त संसाररूप प्रपञ्च सर्वथा मिथ्या ही है । विवेकी पुरुष वास्तविक तत्त्वको विवेचनपूर्वक प्राहण कर लेते हैं, विनु अविद्येकी मनुष्य वाद-विश्वाद करते रहते हैं । ग्रिय दिन । वास्तवमें सच्चिदानन्द परमात्मासे अनिरिक्त कोई दस्तु ही नहीं है अतः प्रपञ्चसे तुम्हारा क्या प्रयोजन है ? मैं तुमसे आगे जो वेदान्तशास्त्रोंके रहस्य बताता हूँ, उनके अभ्याससे तुम अपने चित्तको परम विशुद्ध बना दालो ।

मित्र ! यह जो संसाररूप प्रपञ्च दीखता है, इसके मूलमें भी सत्ताका अभाव ही है और इसके अन्तमें भी सत्ताका अभाव ही है । मध्यकाशमें भी विचार करनेपर इसकी कोई सत्ता न होनेके बाबत केवल प्रतीतिमात्र ही है । अतः विवेकी पुरुष इस संसारमें किसी तरहका विद्यास नहीं करते; वयोऽकि अनादि भासनाके दोषसे ही यह असत् संसार द्विवद्यायी देता है । इसका गन्धर्वनगरके सदृश मिथ्या स्वरूप है और यह अनेक प्रकारके भ्रमोंसे भरा है । मद् ! तुम चिन्मय कल्पागरुदी अमृत-न्दाना अध्यास न यह विषय-वासनारूपी विलताका आश्रय कर क्यों व्यर्य मोहमें फैसे हो ? सखे ! यह समस्त जगत् न तो आरम्भमें है और न अन्तमें ही है । इसकिये तुम यह भी समझ लो कि मध्यमें भी यह है ही नहीं । इस जगदका सारा दृतान्त स्थम-जैसा है । अहानमद्वय ये मारे भेद बद्धमें दुदृदुर्शीकी तरह क्षग-न्जनमें दररन होते रहते हैं; और अहानका नाश दोते ही दशमात्र हानरूप मद्दुद्वये विलीन हो जाते हैं । अकेन अद्वादरुगी सद्गुर ही समस्त जगदको व्याप करके स्थित है । इस लमुद्वये

अविद्यारूप शायुसे उत्तम सबसे बड़ा यह 'अहम्' नामका नरक है। उन-उन विवरोंमें चित्तके गिरनेके जो नाना प्रकार हैं, उनके हेतुमूल राग आदि दोष इस समुद्रके छोटे-छोटे कल्पित तरङ्ग हैं। ममता ही इसमें आवत है, जो स्वतः ही इच्छानुसार प्रवृत्त होता रहता है। इस समुद्रमें राग और दोष बड़े-बड़े मार हैं, उन्हीं द्वारा मारोसे मनुष्य पकड़ लिया जाता है और उसका निश्चय ही अनर्थकी पातालमें प्रवेश हो जाता है। यह प्रवेश किसीसे भी रोका नहीं जा सकता। भद्र ! प्रशान्त तथा अमृतरूप तरङ्गोंसे पूर्ण केवल आनन्दामृतके समुद्रमें ही प्रवेश करना चाहिये। व्यथे हैतरूप मकरोंसे पूर्ण लक्षणसागरके तरङ्गोंमें क्यों प्रवेश करते हो ?

प्रसिद्ध परमात्माका जो सूक्ष्म तत्त्व है, वह अज्ञानी लोगोंके लिये अज्ञानसे आहृत रहता है। इसलिये जैसे साधारण मनुष्यको जलमें स्थल और स्थलमें जलका भ्रम हो जाता है, वैसे ही अज्ञानी मनुष्योंको अनात्ममें आत्माका और आत्मामें अनात्माका भ्रम हो जाता है। मित्र ! बास्तवमें न तो असदू वस्तुकी उत्पत्ति होती है और न सदू वस्तुका कभी अभाव होता है। केवल मायाद्वारा रचित वित्त-वित्त रचनाओंके ये आविर्भाव और तिरोभाव होते रहते हैं। इसलिये प्रवण्ड बने हुए अज्ञानकी इस व्यापोह-शक्तिको विशुद्ध सत्त्वके बदलसे जीतकर विश्वासयुक्त मनसे अद्वितीय, सत्य, अस्तित्व, प्रकृत्यर्थ, अपरिप्रह आदि साधनांमा अनुष्ठान करो। इसके अनन्तर ध्यान-समाधिके द्वारा अपने-आप ही परमात्माके शुद्ध खलपका अनुभव करो, जिसके द्वारा अज्ञानसे आन्तरिक तुम्हारी दुखिणी रात्रि दिनके रूपमें परिणत हो जाय। केवल पुरुष-प्रयत्नरूप कर्मोंसे महेश्वरकी कृपा प्राप्त होनेपर ही मनुष्य प्राप्तश्च वस्तु परमपदरूपी परमात्माकी प्राप्ति कर लेते हैं। भरद्वाज ! तुम अपने विवेकसे इस मोहका स्पृहरूपसे लाग कर दो। फिर तो हुम असाधारण परमात्माके पथार्थ ज्ञानको प्राप्त कर लेंगे। इसमें संदेह

नहीं है। पुत्र ! कामना और आसक्ति हाँनेपर शशुद्धरूप हुए जिस पुण्यकर्मसे तुम्हें इस प्रकारका वन्धन प्राप्त हुआ है, कामना और आसक्तिसे रहित होनेपर मित्रस्तरूप हुए उसी पुण्यकर्मसे ज्ञानके द्वारा हुम मोक्ष पा जाओगे; क्योंकि रागादि दोषोंसे रहित सज्जनोंका यह सरकरोंका सवेग प्राणियोंके पूर्वजन्मके पापोंको नष्ट करता हुआ उनके विविध तारोंको बैसे ही शास्त्र कर देता है, जैसे वर्षका जलसमूह दाशानलको।

मित्र ! संसारचक्रके आवर्तरूपी भ्रममें यदि हुम भ्रमण करना नहीं चाहते तो सारे काम्य-कर्मोंको छोड़कर केवल ब्रह्ममें आसक्त हो जाओ। भ्रह्ममें प्रीति न होकर जबतक ब्रह्म विषयोंमें आसक्ति है, तभीतक विकल्पसे उत्पन्न हुआ यह सब जगत् दिखायी देता है। जैसे जलके तरङ्गयुक्त हाँनेपर ही समुद्र अपने तरङ्गों और बाकर उससे टक्करखा करके विक्षिप्त होता है, जलके निश्चल रहनेपर तो वह केवल जलरूप ही दिखायी देता है। इसी प्रकार भ्रह्ममें चित्तकी स्थिरता होनेपर केवल ब्रह्म ही दिखायी देता है। किन्तु जैसे समुद्रकी तरङ्गोंसे तृण विश्वित रहते हैं, वैसे ही जो हृष्ण और शोकसे विश्वित हो जाते हैं, वे लोग श्रेष्ठ नहीं माने जाते। सखे ! वह सारा जीवसमूह हर्ष-विपाद आदि अवस्थारूप झलेग, निरन्तर आख्लाद है। इसे राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि रूप छः ज्ञानोंमें शुलाकर काल कीड़ा करता है। अतः इसमें हुम खिज क्यों हो रे हो ? इस तरह कीड़ा करनेवाला काल ही अनंक उग्रोंसे एकके पीछे एक अनेक सृष्टियोंको उत्पन्न करता है, विनाश करता है, फिर तत्काल ही उत्तम करता है और फिर विनाश करता है। जब देवगण भी दुष्ट कालके पिण्डसे कुटकारा नहीं पाते, तब क्षणभूर विनाशशील शरीरोंकी तो बात ही क्या ? इसीलिय भरद्वाज ! अनेक तरङ्गोंसे युक्त इस जगत्को क्षणभूर देखकर ज्ञानी पुरुष तनिक भी

शोक नहीं करता । अतः तुम अपमलरूप शोकको छोड़ दो, कल्यागकारी वस्तुओंका विचार करो और विशुद्ध सविदानन्दवन परमात्माका चिन्तन करो । जो पुरुष देव, हिंज और गुरुओंके ऊपर परिपूर्ण श्रद्धा रखकर निर्मल विचाराले हो गये हैं और जो बेदादि सत्-शास्त्रोंमें विश्वासपूर्वक प्रामाण्य बुद्धि रखते हैं, उन पुरुषोंके ऊपर परमात्माका परम अनुप्राह होता है ।

भरद्वाजजीने कहा—भगवन् । आपके प्रसादसे मैंने पूर्णरूपसे ब्रह्म और जगत्का सारा तत्त्व जान लिया । वैराग्यरूप साधनसे बदकर दूसरा कोई बन्धु नहीं है और संसारकी प्रीतिसे बदकर दूसरा कोई शत्रु नहीं है । अब मैं भद्राशान वसिष्ठजीद्वारा समस्त भन्यमें कहे गये शामरूपी रहस्यका सम्झूल निचोड़ थोड़े शब्दोंमें छुनमा चाहता हूँ । कृपाकर कहिये ।

श्रीबालमीकिजी दोले—भरद्वाज । मुझे देनेवाले इस महान् ज्ञानको तुम मुनो । इसके केवल मुननेमें ही तुम फिर ससारखी मागरने नहीं दृढ़ोगे । तो मैं यात्त्वमें एक होता हुआ भी म्रता, रिनु, नहें जांच भेदोंसे अनेक प्रकारका होकर स्थित हूँ, उम नविदानन्द-रूप परमात्माको नमस्कार है । जब सारे प्रणामसा जग्ने कारणमें लय किया जाता है, तब जिस उपायमें परम नन्द प्रकाशित होना है, उस उपायको तुम्हें न्यौतेमें शुनिए अनुसार कहता हूँ । अगले अन्तःकरणमें तरवरा भाव द्वारा विचार करना चाहिये । इसीमें यह परमात्मा प्राप्त किया जा सकता है । उमके प्राप्त होनेवाले पुरुष निर्शोक नहीं करता । सत्सङ्घ और सद-शास्त्रसे प्राप्त निर्देश से वैराग्ययुक्त होकर पुरुषको उसी तत्त्वका बार-बार निन्दन करना चाहिये । ( सर्ग १२७ )

**श्रीबालमीकिजीके द्वारा लय-क्रमका और भरद्वाजजीके द्वारा अपनी स्थितिका धर्णन, बालमीकिजी-द्वारा मुक्तिके उपायोंका कथन, श्रीविश्वामित्रजीद्वारा भगवान् श्रीरामके अवतार**

**ग्रहण करनेका प्रतिपादन एवं ग्रन्थश्रवणकी महिमा**

श्रीबालमीकिजीने कहा—भरद्वाज । निषिद्ध कर्म, सक्षम कर्म तथा विषयोंके साथ इन्द्रियोंके सम्बन्धसे जनित मुख्य-भोगसे रहित शम, उम और श्रद्धासे युक्त पुरुष को मोक्ष आसनपर बैठकर वित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको लीन करके तत्त्वतक उच्चारण करता रहे, जब-तक मन पवित्र और प्रसन्न न हो जाय । तदनन्तर अपने अन्तःकरणकी विशुद्धिके लिये प्राणायाम करे और उसके बाद विषयोंसे इन्द्रियोंको धीरे-धीरे खींच ले । देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और स्वेच्छा इनमें जिस-जिसकी जिससे उत्पत्ति हुई है, उस-उसको जानकर उन-उनके उपादानकारणमें उन सबको विलीन कर दे । पहले अपने-आपको चराचर विषयमें अनुभव करे । इसके बाद सारे विषयको अपने आत्माके अंदर अनुभव करेः फिर विवेकके द्वारा इसका भी आभाव करके केवल आत्मामें ही

सं० यो० द० अ० १८—

स्थित रहे । तदनन्तर प्रकृतिमहिन मामके व्यापारमें आत्ममावना करे । इसके पश्चात् परम पाराणन्दव वे न भिर्विशेष निराकार शुद्ध सविदानन्दवन परमात्मामें आत्ममावना करे ।

( अब देह, इन्द्रिय आदिमें जिसी निम्नमें उत्पत्ति हुई है, उसका उममें लय करनेवाल प्रश्न बतलाते हैं—) अपने स्थूल देहके टांस जांच, जो जांच भाग हैं उनका पृष्ठियामें, रक्त आदि जो जांच भाग हैं उनका जलमें तथा जो तैजस भाग है उनका इनिमें विवेकके द्वारा विद्युत कर दे । इवति प्राग्नगुणमदान्तुमें और आकाश-अंशका आकाशमें लय छाँ दे । उन्नेश्रोत्रेन्द्रियका दिशाओंमें और रक्तादियरा निरुद्धमें उप कर दे । चक्षुरेन्द्रियका मूर्यमें तथा उमलेन्द्रियरा उन्नेश्रेत्राको वल्लमें ( पव द्व्येन्द्रियका इक्ष्वाकुनामें ) न देवता वल्लमें

कर दे । समष्टि प्राणका वायुमें, वाणीका अग्निमें और हस्तेन्द्रियका हन्द्रमें लय कर दे । अपने पादेन्द्रियका विष्णुमें तथा गुदा-हन्द्रियका मित्रमें लय कर दे । उपस्थेन्द्रियका कश्यपमें लय करके मनका चन्द्रमामें लय कर दे । बुद्धिका ब्रह्ममें लय कर दे । मित्र ! इन्द्रियोंके रूपमें देवता ही स्थित हैं । इनका मैं तुम्हें तस्वीपदेश-द्वारा लय करनेका आदेश श्रुति-वाक्यको प्रमाण मानकर ही दे रहा हूँ । मैंने अग्ने मनसे किसी तरहकी कोई कल्पना करके इन अर्थोंको तुम्हारे सामने प्रकट नहीं किया है । इस तरह अपनी देहको उसके कारणमें विलीन करके 'मैं विराट् हूँ' ऐसा चिन्तन करे । ( इसके बाद पूर्वोक्त क्रमसे परमात्मामें आत्मभावना करे । ) सारे ब्रह्माण्डके भीतर जो यह सदाशिवरूप परमात्मा व्यापक है, वही समूर्ण भूलोका आधार तथा कारण कहा गया है । वही परमात्मा जगत्‌के व्यवहारमें यज्ञके रूपमें स्थित है ।

( अब पृथ्वी आदि भूतोंके लयका क्रम बतलाते हैं— )  
योगीको चाहिये कि वह पृथ्वीका जलमें लय करके उस जलको फिर तेजमें लीन कर दे । तेजको वायुमें विलीन करके उस वायुको फिर आकाशमें विलीन कर दे और आकाशका समस्त भूतोंकी उत्पत्तिके कारणभूत महाकाशमें लय कर दे । योगी उस महाकाशमें एकमात्र लिङ्गशरीर धारण किये हुए स्थित रहे । वासनाएँ, सूक्ष्मभूत, कर्म, अविद्या, दस हन्द्रियों, मन और बुद्धि—इन सबको पण्डितशोग लिङ्गशरीर कहते हैं । \* तदनन्तर वह योगी बाहर निकलकर वहाँ 'मैं शुद्ध आत्मा हूँ' यों चिन्तन करे । फिर वह धूदिमान् योगी सूक्ष्म और निराकार अन्याकृत प्रकृतिमें अग्ने लिङ्गशरीरको भी विलीन करके स्थित रहे । जिसमें यह समस्त जगत् रहता है वह

व्यासना भूतसूक्ष्म कर्मायिदे हैच च ॥

दसोन्द्रियमनेष्टदिरेतलिङ्ग विकुर्विषः ।

( निं० पू० १२८ । १८-१९ ।

अव्यक्त अन्याहृत ( माया ) नाम और रूपसे रहित है । उसीको कोई प्रकृति, कोई माया तथा कोई परमणु एवं कोई अविद्या कहते हैं । उस अन्याहृतमें प्रलयकालमें सभी प्राणीपदार्थ लयको प्राप्त होकर अव्यक्तरूपसे अवस्थित रहते हैं । जबतक दूसरी सृष्टि नहीं होती तबतक वे सभी प्राणी-पदार्थ परस्परके सम्बन्धसे शून्य तथा आस्थादसे रहित होकर उस अन्याहृत ( प्रकृति ) स्वरूपमें ही स्थित रहते हैं और प्रलयके अनन्तर सृष्टिकालमें फिर उसी प्रकृतिमूल अन्याहृतसे 'सब उत्पन्न हो जाते हैं । सर्वके आदिमें प्रकृतिसे अनुरोध-क्रमसे प्रकृतमें सभी सृष्टि विलीन हो जाती है । इसलिये जाग्रत्, स्वप्न और सूषुप्ति तीनों अवस्थाओंसे रहित होकर अविनाशी त्रियोग पदकी प्राप्तिके लिये ब्रह्मका ध्यान करे । पूर्वोक्त प्रकारसे लिङ्गशरीरको भी कारणमें विलीन 'करके सब सविदानन्द परमात्मामें प्रविष्ट हो जाय ।

श्रीभरद्वाजजीने कहा — महाराज ! मैं अब लिङ्गशरीर-रूपी बेहीके बन्धनसे सर्वथा मुक्त हो गया हूँ और सविदानन्दका अशहोनेसे सविदानन्दब्रह्ममें प्रविष्ट हो गया हूँ । अंश और अशीका बस्तुतः अमेद होनेके कारण 'अब मैं समस्त उपाधियोंसे रहित परब्रह्म परमात्मा ही हूँ । मैं कूटस्थ, शुद्ध और व्यापक हूँ । जैसे जलमें छोड़ा हुआ जल, दूधमें छोड़ा हुआ दूध और धीमें छोड़ा हुआ धी—सब-के—सब विनष्ट न होते हुए ही तद्रूप हो जाते हैं, किसी पृथक्कूपसे गृहीत नहीं होते, वैसे ही सर्वभावसे नित्य आनन्दस्वरूप सर्वसाक्षी, परम कारण चेतन परब्रह्म परमात्मामें प्राप्त होकर मैं तद्रूप ही हो गया हूँ । नित्य, सर्वव्यापी, शान्त, सर्वदोपरहित, अक्रिय, शुद्ध, परब्रह्म परमात्मा मैं ही हूँ । पुण्य और पापसे रहित, जगत्‌का परम कारण आद्वतीय, आनन्दमय, अविनाशी और चिन्मयस्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही मैं हूँ । इस प्रकारके लक्षणोंसे युक्त, प्रकृतिके सख, रज, तम—तीनों गुणोंसे अतीत, सर्वव्यापक और

सर्वस्वरूप ब्रह्मका निष्काम भावसे अपने कर्तव्यका पालन करते हुए सदा व्यान करना चाहिये । इस रीतिसे परब्रह्मविशेषक, अन्यास करनेवाले पुरुषका मन ब्रह्ममें विलीन हो जाता है और मनके विलीन हो जानेपर उसे स्थाय ही अपने आत्मस्वरूपका अनुभव हो जाता है । आत्माका अनुभव होनेपर सम्पूर्ण दुःखोंका अन्त होकर आत्मामें आनन्दका अनुभव होने लगता है तथा आत्मा स्थाय ही अपने लाप अपने परमानन्द परमात्मस्वरूपको प्राप्त हो जाता है । सदनन्तर 'मुझसे अलिंगिक कोई दूसरा सचिदानन्दमय परमात्मा नहीं है । मैं ही अद्वितीय परमात्मा हूँ'—इस प्रकार छहयोंमें परमात्माका अनुभव हो जाता है । गुरो ! आपके द्वारा कहा गया यह सब ज्ञान मुझे अवगत हो गया । मेरी बुद्धि सर्वथा निर्भल हो गयी । अब मेरा यह सदाचार चिरकाल-तक स्थिर नहीं रह सकता । भगवन् । अब मैं यह ज्ञानना चाहता हूँ कि ज्ञानियोंके लिये कौन-सा कर्म विहित है । क्या उन्हें कर्मोंका अनुष्ठान नहीं करना चाहिये और यदि करना चाहिये तो क्या केवल प्रवृत्तिरूप कर्मोंका ही अनुष्ठान करना चाहिये या निषुत्तिरूप कर्मोंका भी ?

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—मुमुक्षु पुरुषोंको वही कर्म करना चाहिये, जिसमें कोई दोष नहीं हो, विशेष करके मुमुक्षुको काम्य और निषिद्ध कर्म कभी नहीं करना चाहिये । संकल्पोंसे रहित होकर जब जीवात्मा ब्रह्मके लक्षणोंसे युक्त हो जाता है, तब उसकी सभी इन्द्रियों शान्त हो जाती हैं और वह सर्वव्यापी परब्रह्म परमात्मस्वरूप बन जाता है । 'वेद, इन्द्रिय, मन और बुद्धिसे परे जो जीवात्मा है तथा उससे भी परे जो सचिदानन्द मात्र है, वही मैं हूँ' इस प्रकार निष्कर्षपूर्वक जब जीवात्मा एकत्रमावसे व्याप करता है, तब वह सदाके लिये मुक्त होकर परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है । जब जीवात्मा कर्तृत्व, मोक्षतृत्व और ज्ञात्युत्सवे तथा सम्पूर्ण देहादि उपाधियोंसे एवं सुख और हुँ-खोंसे रहित होता

है, तब वह सर्वथा मुक्त समझा जाता है । अब जीवात्मा सम्पूर्ण भूतोंमें आत्माको तथा आत्मामें सम्पूर्ण भूतोंको अभेदरूपसे देखने लगता है, तब यह जीवात्मा संसारसे सर्वथा मुक्त हो जाता है । जाग्रत्, ऊपर और सुन्दरि—इन तीनों अवस्थाओंसे रहित होकर जब जीवात्मा तुरीय आत्मानन्द-रूपमें प्रवेश करता है, तब वह सर्वथा मुक्त समझा जाता है; कर्मोंके शालोंके विवेकपूर्वक विचासे, गुरुके वाक्योंका अर्थ और भाव यथार्थ समझनेसे तथा श्रवण, मनन, निदित्यासनके अभ्याससे सब प्रकारसेतिदि प्राप्तहोती है अर्थात् वह सदाके लिये मुक्त हो जाता है, यह बेदोंका आदेश है । इसलिये भरद्वाज ! तुम सब कुछ छोड़कर केवल व्यान समाधिके लिये अभ्यासमें अपना मन तत्परतापूर्वक स्थिर करो । जब महाभासा साधु-त्रैभाव श्रीगणमन्दजी अपने ब्रह्मरूपमें समाधिस्थ थे, उस समय ज्ञानियोंमें सर्वश्रेष्ठ श्रीविश्वामित्रजी कहने लगे ।

श्रीविश्वामित्रजीने कहा—ब्रह्मपुत्र महाभाग वसिष्ठजी ! आप महान् हैं । आपने अपना गुहात्व शीघ्र ही हमलोगोंको दिखला दिया; कर्मोंकि अपने दर्ढन, त्वर्ग और वाक्यप्रयोगसे जो कृपा करके शरीरमें शिष्य-स्वरूप परमात्मावका समावेश करा दे, वही सदा गुरु है । गुरुत्वाक्य-श्रवणसे होनेवाले ज्ञानमें शिष्यकी अद्वा-पूर्वक पवित्र बुद्धि ही करण है । यह ज्ञानकी प्राप्ति ही गुरु और शिष्यके समागमका वास्तविक प्रयोग है । विमो ! आप तो परमपदमें स्थित हैं, परंतु दूसरोंग अभीतक यज्ञादि कार्योंमें लगे हुए हैं । वहे कल्पके साथ जिसके लिये मैंने व्यथं राजा दशरथसे प्रार्थना की है और जिस उद्देश्यसे मैं यहाँ आपके पास जाया हूँ, उम मेरे निर्भम यज्ञसिद्धिरूप कार्यका स्मरण करवे हुए आप श्रीरामचन्द्रजीको अब समाधिसे उठानेवी कृपा कीजिये । मुने ! मेरे उस समस्त कार्यको आप अपने शुद्ध मनसे व्यर्द

न बनाइये, क्योंकि भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके समाधिसे उठनेपर उनके अवतारके जो अन्य प्रयोजन, देवताओं और त्रृष्णियोंके कार्य हैं, उनका भी हमलोग सम्पादन कर लेंगे। जब मैं श्रीरामचन्द्रजीको अपने आश्रममें ले जाऊँगा, तब वे राक्षसोंका नाश करेंगे और उसके बाद अहल्याको शापसे मुक्त करेंगे। तदनन्तर निष्पत्यपूर्वक भगवान् शङ्खरका धनुप तोड़कर जनकदुलारी सीताके साथ अपना विवाह करेंगे। इस संसारमें पिना-पितामहके राज्यका स्थागकर शनवासके निमित्त बनमें पहुँचकर अपय और निःस्पृह श्रीरामचन्द्रजी राक्षसोंका वध करके दण्डकारण्यके निवासी मुनियों, अनेक तीर्थों तथा अन्यान्य प्राणियोंका उद्धार करेंगे। सीताहरणके निमित्त रावण आदिका वध करके श्रीरामचन्द्रजी इन्हेंके घटदानद्वारा युद्धमें मरे हुए वानर आदिको पुनर्जीवित हुए दिखायेंगे। तदनन्तर साध्वी सीताकी अग्निमें प्रवेशके द्वारा शुद्धिके उद्देश्यसे भगवान् श्रीरामचन्द्रजी अपने चरित्रकी आदर्शता दिखायेंगे। जो लोग भगवान् श्रीरामका दर्शन करेंगे, उनके चरित्रका स्मरण तथा श्रवण करेंगे एवं जो लोग भगवान्के स्वरूपका दूसरोंको योग्य करायेंगे, उन सम्पूर्ण अवस्थाओंमें स्थित अपने भक्तोंको भगवान् श्रीरामचन्द्रजी जीवनमुक्ति प्रदान करेंगे। इस प्रकार तीनों लोकोंका तथा मेरा भी हित इन महापुरुष भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा सम्पूर्णरूपसे सम्पन्न होगा। सज्जनो! आप सब लोग इन भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको नमस्कार कीजिये। इनके नमस्कारसे ही आपलोग सारे संसारको जीत लेंगे अर्थात् आपलोगोंको किसी दूसरे साधनकी आवश्यकता न होगी। आपलोग चिरकालतक बढ़ते रहें।

श्रीचालभीकृजीने कहा—भरद्वाज ! इस प्रकारका विश्वामित्रजीका भाषणरूप श्रीरामचन्द्रजीकी भावी चरित्ररूप दुर्लभ कथा सुनकर श्रीवसिष्ठ आदि सभी श्रेष्ठ

योगीन्द्र तथा सिद्ध पुनः भगवान् श्रीरामकी चरणकमलरजके आदरमें यानी नमस्कारमें तथा उनके स्परण में स्थित हो गये। जानकीपति श्रीरामकी भावी कथा सुननेसे भगवान् वसिष्ठजी तथा और दूसरे महर्षि भी तुस नहीं हो सके। इसलिये उन सबने दूसरोंके द्वारा कहे गये उन गुणसागर भगवान्के गुणोंका पुनः श्रवण किया तथा सुने हुए गुणोंका दूसरोंसे वर्णन किया। तदनन्तर महर्षि भगवान् वसिष्ठजी मुनिव्र विश्वामित्रजीसे कहने लगे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—मुनि विश्वामित्रजी ! इन श्रोताओंको आप साफ-साफ बतला दीजिये कि ये राजीव-लोकन रघुनन्दन श्रीरामचन्द्रजी पूर्वमें देव या मनुष्य क्या थे ।

श्रीविश्वामित्रजीने कहा—सज्जनो ! आप सब लोग इन्हीं श्रीरामचन्द्रजीमें विश्वास कीजिये कि परमपुरुष परब्रह्म परमात्मा ये ही हैं। इन्होंने ही विश्वके कल्याणके निये विष्णुरूपसे क्षीरसागरका मन्थन किया थ। गूढ़ अभिप्रायसे भरे उपनिषदादि शास्त्रोंके तत्त्वगांचर साक्षात् परमात्मा ये ही हैं। परिष्वर्णपरानन्द, समस्वरूप, श्रीकृष्णके विहसे सूशोभित भगवान् विष्णुरूप यही श्रीरामचन्द्रजी जब भक्तिसे मलीभौति प्रसन्न होते हैं, तब सब प्राणियोंको परम पुरुषार्थरूप मोक्ष देते हैं। कुपित होकर यही श्रीरामचन्द्रजी विष्वरूपसे संसारका महाराजा करते हैं और यही ब्रह्मरूपसे विनाशशील संसारकी रचना करते हैं। यही विश्वके आदि, विश्वके उत्पादक, विश्वके धाता, पालनकर्ता तथा महासखा भी हैं। यही भगवान् ऋक्, यजु., सामवेदमय हैं, तीनों गुणोंसे परे अति गहन यही हैं और शिश्वा, कल्प आदि छः अङ्गोंसे समन्वित वेदात्मा अहूत पुरुष भी यही हैं। विश्वका पालन करनेवाले चतुर्मुख विष्णुभगवान् यही हैं, विश्वके रघ्ययिता चतुर्मुख ब्रह्मा यही हैं और सारे संसारका सहार करनेवाले विलोक्न भगवान् शिव भी यही हैं। ये अजन्मा होते हुए भी

अपनी योगमायाके सम्बन्धसे अवतार लेते हैं। ये सबसे महान् हैं। ये सदा जागते रहते हैं और रूपरहित हुए भी ये विश्वरूप हैं। ये मगवान् ही इस विश्वको अपने संकल्पसे धारण करते हैं। ये राजा दशरथजी धन्य हैं, जिनके पुत्र परमपुरुष परमात्मा हुए। वह दशश्रीष रावण भी धन्य है, जिसका ये अपने चित्तसे चिन्तन करेंगे। क्षीरसागरमें शयन करनेवाले विष्णुमगवान् ही श्रीरामचन्द्रजीके रूपमें अवतारी हुए हैं। ये ही श्रीरामचन्द्रजी सच्चिदानन्दधर अविनाशी परमात्मा हैं। अपनी इन्द्रियोंको रोक रखनेवाले योगीलोग ही श्रीरामचन्द्रजीको वस्तुतः जानते हैं। हमलोग तो इनके इस सगुण साकार स्वरूपका ही निरूपण या दर्शन करनेमें समर्थ है। वसिष्ठजी! हमलोगोंने ऐसा सुना है कि ये ही मगवान् श्रीरामचन्द्रजी रथुरंशके पापोंका सर्वथा विनाश करनेवाले हैं। अब आप कृशकर इन्हें व्यवहारमें ल्याइये।

श्रीबाल्मीकिजीने कहा—भरद्वाज ! यों कहकर महामुनि विश्वामित्रजी चुपचाप बैठ गये। तदमन्तर महानेजस्ती वसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजीसे कहने लगे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—विन्मय महापुरुष महाबाहु श्रीराम ! यह विश्रामका समय नहीं है। उक्ते और इस संसारके लिये आनन्दकारक बनो। पुत्र ! विनाशशील राज्य कार्योंका अवलोकन करके देशताओं और मुनियोंको सकटसे उद्धार करनेके भारका वहन करो और सुखी रहो।

श्रीबाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज ! गुरु वसिष्ठजीके उत्तर्युक्त वचनोंको सुनकर मगवान् श्रीरामचन्द्रजी समाधिसे सचेत हो गये और साध्यान होकर कहने लगे।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—महामुने ! चेदो, आगमों, पुराणों और स्मृतियोंमें भी गुरु-वाक्यका पालन करना ही

विधि कहा गया है और उसके विरुद्ध अवरण करना निषेध कहा गया है। यों कहकर उन महात्मा विमिष्ठजीके चरणोंमें अपने सिरसे नमस्कार कर मबके अत्यमद्वयप करुणासागर श्रीरामचन्द्रजी सभसे दोल—‘सम्म पुरुणो ! आप सब लोग हमारे इस निर्णयको अच्छी तरह हुन लीजिये। इससे आपलोगोंका बड़ा कल्याण होगा। कल्याणकामी पुरुषके लिये इस सकारमें परमात्मज्ञान तथा परमात्मज्ञानी गुरुसे बदकर कुछ भी नहीं है।’

सिद्ध आदि सब लोगोंने कहा—श्रीरामचन्द्रजी ! आप जैसा कह रहे हैं, वैसा ही आपकी दयामें हमलोगोंके मनमें यहलेसे ही स्थित है और अब तो वह सब आपके इस संबादसे और भी विशेष दृढ़ हो गया है। महाराज श्रीरामचन्द्रजी ! आप सुखी होये, आपको नमस्कार है। अब हमलोग वसिष्ठजीसे भी अनुमति लेकर जहाँसे आये थे, वहाँ जा रहे हैं।

श्रीबाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज ! यों फटकर मगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी सुनि झलने हुए वे संघ-के-सभ चल दिये। श्रीरामचन्द्रजीके ऊपर पुष्टोंकी कृति होने लगी। श्रीरामचन्द्रजीकी यह सब कथा मैने तुमसे बहु सुनायी। इसी क्रमयोगसे तुम भी साधन करते हुए सुर्पी रहो। मुनिवर वसिष्ठजीकी वधन-पक्षस्थिरी रक्षमालासे विभूषित यह जो श्रीरामचन्द्रजीकी कथा मैने तुमसे कहा है, वह सम्पूर्ण कवियों और योगियोंके लिये सेवनयोग्य है तथा परम गुरुकी दशादृष्टिसे वह मुकिमगंडों दंती है। जो कोई ग्रन्थ वसिष्ठजी और श्रीरामचन्द्रजीके इस संशादको प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक सुनेगा, वह किसी अनस्थामें रहते हुए भी एकमात्र श्रवणसे ही मुक्त हो जायगा और परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेगा।

( सर्ग १२८ )

## निर्वाण-प्रकरण ( उत्तरार्ध )

कल्पना या संकल्पके स्थागका स्वरूप, कामना या संकल्पसे शून्य होकर कर्म करनेवाली प्रेरणा, दृश्यकी असच्चा तथा तस्विकानसे मोक्षका प्रतिपादन

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—ग्रहान् ! जब पुरुष देह, प्राण आदिमें अहता, ममता आदि कल्पनाओंकी स्थाग देगा, तब निर उससे कोई भी कर्म नहीं बन सकता । ऐसी दशामें शरीरके भरण-पोषणकी चेष्टासे भी विरत हो जानेके कारण उस घेहधारी जीवका शरीर शीघ्र ही गिर सकता है । अतः जीवित पुरुषके लिये यह कल्पना-स्थागपूर्वक व्यवहार कैसे सम्भव है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! जीवित पुरुषके लिये ही कल्पनाओंका स्थाग सम्भव है । जो जीवित नहीं है, उसके लिये नहीं । इस कल्पना-स्थागका यथार्थ स्वरूप क्या है, यह बतलाता हूँ, सुनो । कल्पना-के स्वरूपको जाननेवाले विद्वान् अहमावना ( आत्माको देहमात्र मान करने ) को ही कल्पना कहते हैं तथा आत्माको आकाशके समान अपरिमित, अनन्त और ध्यापक जानकर परमात्माके वासाविक स्वरूपका निरन्तर चिन्तन करना ही तस्वीर पुरुषोंके मतमें कल्पनाका या संकल्पका स्थाग कहलाता है । संकल्पशून्य होकर उपचाप स्थित रहनेसे ही उस परमपदकी प्राप्ति होती है, नहीं उस कोटिका साम्राज्य भी निनकेके समान तुष्ट प्रतीत होता है । समख्य कर्म और उनके विस्तृत फलोंको सोये हुए पुरुषकी मौति सर्वथा भूत्कर प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए कार्यके लिये संकल्पशून्य होकर भनुष्यको चेष्टा करते रहना चाहिये । अपने कर्मोंमें यदि वासना-रहित प्रवृत्तिका अभ्यास हो जाय तो यही उसकोटिका धैर्य है, जो भावी जन्मस्थी अवकाश निवारण कर देता है । वासना और संकल्पसे शून्य होकर प्रारब्धवश प्राप्त हुए कार्यका अनुमरण करते हुए चाकके ऊपर धूमनेवाले घट आदिका मोति धीरे-धीरे उपरत होते हुए कर्मोंमें लगे रहना चाहिये ।

सम, शान्त, कल्पाणमय, सूखम, द्वित्व और एकत्रसे रहित, सर्वत्र व्यापक, अनन्त तथा शुद्धस्वरूप परमात्मा परमात्माके प्राप्त होनेपर किसलिये कौन खिल हो सकता है ? जो पुरुष संकल्पशून्य और शान्त हो गया है अर्थात् जिसे परमात्मा परमात्माकी प्राप्ति हो गयी है, उसे अपने शरीरके रहने या न रहनेसे कोई प्रयोजन नहीं है तथा इस लोकमें किसी कर्मके किये जाने अथवा न किये जानेसे सी उसका कोई, किञ्चित् मात्र भी प्रयोजन नहीं है । रघुनन्दन ! जैसे सुवर्ण ही कड़े और बाजूनन्दके रूपमें प्रतीत होता है; किन्तु वास्तवमें सुवर्णमें पृथक् इन आशूरणोंके नामरूप-की सत्ता नहीं है, उसी प्रकार यह जो कुछ जगतरूपमें दिखायी देता है, प्रतीतिमात्र ही है । परमात्मासे पृथक् इसकी सत्ता नहीं है । परमात्मासे मिथ्ये इसकी सत्ताका अनुभव न होनेको ही ज्ञानी पुरुषोंने इस जगतका नाश माना है । जगद्-प्रमका निवारण हो जानेपर इसके अधिष्ठानरूपसे अवशिष्ट जो परमात्मा है, वही परमार्थ सत्य है ।

श्रीरामजीने पूछा—ग्रभो ! ‘मैं’ और ‘मेरा’ इत्यादि जो दृश्य है, उसको असत्, मानकर उसका चिन्तन न करनेवाले ज्ञानी पुरुषको कर्मोंके स्थागसे कीम-सा अशुभ और कर्मोंके सम्बद्धनसे कौन-सा शुभ फल प्राप्त होता है ।

श्रीवसिष्ठजी बोले—रघुनन्दन ! जबतक देहरूपी स्थापित विद्यमान है, तबतक इस भ्रवनामय सूखम कर्मका क्या स्थाग हो सकता है और क्या अनुशुश्रान । देहके रहते हुए यह जीव-चेतन बाहा और आभ्यन्तर जिस-जिस वस्तुकी भावना करता है, वह-वह तत्काल उसकी

प्रतीत होने लगती है। भले ही, उसका आकार सत्य हो या अमरे मरा हुआ असत्य। यदि वह किसी वस्तु-की भावना नहीं करता तो इस संसार-अमरे पूर्णतया मुक्त हो जाता है। वह अम सत्य हो या असत्य, इस विचारसे क्या प्रेयोजन है? बोध होनेके पश्चात् इस दृश्यकी प्रतीतिका स्थाय ही लथ हो जानेसे जो इसका अव्यन्तरभाव सिद्ध होता है, उसीको जगत्का त्याग, अनासक्ति एवं मोक्ष माना गया है। इसलिये जबतक

यह शरीर विषमान है, तबतक कर्मोंका सबैथा त्याग नहीं हो सकता। परंतु जो अङ्गोंकी कर्मका आदर करते हैं, वे उनके मूलको नहीं छोड़ते हैं। मनका जो श्रावनाभक्त सकल्पन, वही अपने कर्मका मूल है। जबतक यह शरीर है, तबतक ज्ञानके बिना उस मानसिक सकल्पका दृष्टेद नहीं हो सकता। परंतु जो तत्त्वज्ञानके द्वारा मनों संकल्पोंका निवारण कर देता है, वह संसारहृषी शूलरा मूलेष्ठेद कर डालता है। ( सर्ग १-२ )

### समूल कर्मत्यागके खलपका विवेचन

श्रीकृष्णिष्ठकी कहते हैं—रघुनन्दन! जब यह सर्व-सम्पत्ति सिद्धान्त है कि न तो असत् वस्तुकी सत्ता हो सकती है और न सद्-वस्तुका अभाव ही, तब दृश्य विषयोंके प्रति उन्नुखताका निवारण स्थायं पूर्ण हो जाता है। ( क्योंकि दृश्यकी अवचाका प्रतिपादन किया जा चुका है। जो वस्तु है ही नहीं, उसका चिन्तन कोई समझदार मनुष्य कैसे करेगा? ) विवेकी पुरुषको चाहिये कि वह अपने शुभाशुभ कर्मोंको नष्ट कर दे। आत्माके साथ कर्मका कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा कर्तृत्व और मोक्षत्व दोनोंसे रहित है। इस तत्त्वज्ञानके द्वारा कर्मोंका नाश स्थानः सिद्ध हो जाता है। समस्त कर्मोंके मूलभूत मानसिक संकल्पका विनाश करनेसे संसार पूर्णतः शान्त हो जाता है। जब कर्मके मूल कारणका भलीभौति विचार किया जाता है, तब समस्त कर्मोंका अभाव अपने-आप ही सिद्ध हो जाता है। ( क्योंकि जब चित्त और उसका सकल्प ही मिथ्या है, तब उससे होनेवाला कर्म सत्य कैसे हो सकता है? ) अथवा चिन्मय आत्मा अपने भीतर जिस चित्त नामक कर्मबीजका—किया, करण और कर्तारूप त्रिपुटीका निर्माण करता है, वह उस आत्मासे किञ्चिन्मात्र भी मिल नहीं है। इसलिये बाहर और भीतर ( जाग्रत् तथा स्वप्न-

स्वप्नतिमें ) जो पदार्थोंकी प्रतीति होती है, वह आत्म-स्वरूप ही है, आत्मासे मिल नहीं है।

किंतु वास्तवमें रघुनन्दन! सम्पूर्ण कर्मोंका वित्तार यह शरीर है। उसका मूल अहंकार है और शास्त्र-प्रशास्त्राएँ संसार। चिन्तन या भावनाका जहाँ बाब हो जाता है, उस अहंकारशृण्य स्थितिसे इस संसारका मूलेष्ठेद हो जानेके कारण वह उसी तरह शान्त हो जाता है, जैसे स्पन्दनशृण्य वायु। जैसे नर्दिके प्रशाद्वारे पक्षा हुआ तृण-काष्ठ आदि सब कुछ स्नायतः बहसा रहता है, उसी प्रकार ज्ञानियोंकी कर्मेन्द्रियोंसे किसी प्रकारके मनोविकारके बिना ही अधसोये पुरुषकी मानि स्वाभाविक ज्ञेष्ठा होती रहती है। वासनाशृण्य निरनिशय ब्रह्मामन्दके प्राप्त हो जानेपर विषय-सुख अव्यन्त भीरस द्वे जाने हैं। फिर न वे बाहर अपना प्रभाव ढाल पाते हैं, न भीतर। विषयों और वासनाओंसे रहित, शान्त और दृनाशृनद अनुसंधानसे हीन जो सकल्परहित स्थिति है, उसीको कर्मत्याग कहते हैं। शीर्षकालके भूले हुए कर्मकी मौलि विषयोंका पुनः स्मरण न होनेवाले पुरुषमूल-त्यागके बिना केवल कर्मेन्द्रिय-समरूप त्याग करते हैं, वे मूँह पन्नु तुच्छ हैं। उनको वह कर्मत्यागरूपिणी पिण्डाची रा जाती

है। किंतु जो मूलसहित कर्मत्यागके द्वारा शान्ति पा जुके हैं, उनके लिये इस जगतमें किसी कर्मके कारणे या न करनेसे कोई प्रयोजन नहीं है। जिसका समूल त्याग कर दिया जाता है, वही वास्तवमें त्याग है। मूलका उच्छेद किये बिना जो उपरसे कर्मका त्याग किया जाता है, वह वृक्षकी जड़ न काटकर उसकी शाखा काटनेके समान व्यर्थ है। जिस कर्मखण्डी वृक्षकी जड़ न काटकर केवल शाखामात्रका उच्छेद किया जाता है, वह उन्हें सहजोंशाखाओंसे विस्तारको प्राप्त हो केवल दुःख देनेके

लिये बहुता रहता है। प्रिय रामभद्र ! संकल्पशून्यतारूप त्यागसे ही वास्तवमें कर्मत्याग सिद्ध होता है, दूसरे किसी क्रमसे नहीं। ज्ञानके द्वारा कर्मत्यागके सिद्ध हो जानेपर वासनारहित जीवन्मुक्त पुरुष घरमें रहे या बनमें, दीन-हीन अवस्थाको पहुँच जाय या छैकिक सुन्नतिको प्राप्त हो, उसके लिये सभी अवस्थाएँ एक-सी हैं। जिसका विचार शान्त है, उस पुरुषके लिये घर ही दूरवर्ती निर्जन वन है। परंतु जिसका विचार शान्त नहीं है, उस पुरुषके लिये निर्जन वन भी जनसमुदायसे भरा हुआ नगर है। ( सर्ग ३ )

## संसारके मूलभूत अहंभावका आत्मबोधके द्वारा उच्छेद करके परमात्मस्वरूपसे स्थित होनेका उपदेश

श्रीक्षिप्तजी कहते हैं—रघुनन्दन ! चेतन आत्माके स्वरूपका तत्त्वतः बोध प्राप्त होनेपर जब अहंता आदिके साथ ही सम्पूर्ण जगत् शान्त हो जाता है, तब तेल समाप्त होनेपर बुझे हुए दीपककी मौति सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्चका त्याग सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं। 'कर्मोक्ता त्याग त्याग नहीं है। 'जहाँ जगतका मान ही नहीं है, वह एकमात्र शुद्ध आत्मा ही अहंता आदि विकारोंसे रहित एवं अविनाशी है।'—इस प्रकारका बोध ही वास्तविक त्याग कहा गया है। 'यह ची, पुत्र, धन आदि सब मेरे हैं, यह शरीर, इन्द्रिय आदि ही मैं हूँ' इस प्रकारकी अहंता-ममताका सर्वथा अमावहोनेपर जो शैय रहता है वही कल्पणमय, शान्त, बोधस्वरूप परमात्मा है। उससे मिन्न दूसरी कोई वस्तु नहीं है। परमात्माके यथार्थ ज्ञानके द्वारा अहंताका क्षय हो जानेपर ममताका आधारभूत सारा संसार ही बिनष्ट हो जाता है। फिर सर्वत्र परिपूर्ण एकमात्र शान्तस्वरूप सचिदानन्दनभूत परमात्मा ही स्थित रहता है।

आहंकारकी भावना करनेवाला जीवात्मा एकमात्र अहं-मांवनाका त्याग कर देने मात्रसे बिना किसी विज्ञ-वाधाके शान्तस्वरूप हो जाता है। यह मुक्ति इन्हें ही मात्र साधनसे सिद्ध हो जाती है। तब फिर संसारमें भटक-कर व्यर्थ कष्ट क्षणों उठाया जाय। 'मैं देह आदि नहीं हूँ। विशुद्ध चेतनमात्र हूँ।' इस शुद्धिको भी यदि कोई द्वैतभ्रम ही कहे तो उसके लिये यह उत्तर है कि यह शुद्धि परमार्थ-स्वभावको छोड़कर और कुछ भी नहीं है। चिन्मय परमात्मा तो जाकाशके समान विशद है। उसमें भ्रम कहों छहर सकता है; न भ्रम है, न भ्रमका साधन है, न भ्रमका फल है और न भ्रमका कोई आश्रय ही है। यह जो कुछ दिखायी देता है, सब अज्ञानजनित ही है। ज्ञानका प्रकाश होते ही यह अज्ञानजन्य अन्धकार नष्ट हो जायगा। यह जो सब और फैला हुआ प्रपञ्च इष्टिगोचर होता है, वास्तवमें यह ही ही नहीं, केवल एक शान्तस्वरूप परमात्मा ही है।

जो अपने अंदरकी मनोवृत्तिको जीत रहा है या जीत चुका है, वही विवेकका पात्र है और उसे ही पुरुष कहते हैं; क्योंकि उसीने पुरुषार्थ करके अपना जीवन सफल किया है। जब मनुष्य अल-शरोंकी मार और रोगोंकी पीड़ाएँ भी सह लेता है, तब ऐसे यह शरीर आदि नहीं हूँ इतनी-सी मात्रामात्रको सह लेनेमें कौन-सा कष्ट है; क्योंकि संसारके जितने पदार्थ हैं, उन सबका अक्षुर (कारण) अहंमात्र ही है। इसलिये ज्ञानके द्वारा उस अहंभावका उम्मलन हो जानेपर संसार-की जड़ अपने आप उखड़ जाती है। जैसे मुँहसे निकली हुई माप निःसार होनेपर भी सारथान् खच्छ दर्पणको मलिन कर देती है और उसके मिट जानेपर वह दर्पण पुक्षः खच्छ हो जाता है, उसी प्रकार इस अहंभावरूपी निःसार बाध्यसे भी सारथान् परमामरूपी दर्पण मलसे आशृत-सा हो जाता है; किंतु उस अहंभावके शान्त होते ही शुद्ध खच्छरूपसे प्रकटित होने लगता है। अहंभावशून्य परमात्मा में विलीन हुई यह अहंता भी ब्रह्मरूप ही हो जाती है, अतः उसका

पुण्य कोई नाम रूप नहीं रह जाता। अहंकार ही इस जगत्का बीज है। परंतु ज्ञानात्मिके द्वारा जब वह अहंकाररूपी बीज दग्ध हो जाता है, तब जगत् और बन्धन इत्यादिकी कल्पना ही नहीं रह जाती।

वह परत्रस परमात्मा सत्त्वरूप और कल्याणमय है। जैसे घट-वृद्धिसे घटमें एकदेशिता होनेपर मृत्तिकाके सखरपका विस्मरण हो जाता है, उसी प्रकार अहंतासे परमात्माके सखरपकी विस्मृति हो जाती है। अहंकाररूपी बीजसे ही यह दृश्य-प्रपञ्चकी सत्त्वरूपिणी लता उत्पन्न हुई है, जिसमें अनन्त जगतरूपी फल पैदा होते और नष्ट होते रहते हैं। नित्य परमात्म-तत्त्वके ज्ञानसे जब अहंकारको सर्वथा नष्ट कर दिया जाता है, तब यह संसाररूपिणी मृगतृष्णा सर्वथा शान्त हो जाती है। नित्याप रघुनन्दन। किसी दूसरे सहायक साधनोंके बिना ही अपने ग्रयत्तमात्रसे सिद्ध होनेवाली अहंभावकी निवृत्तिके सिंवा मुझे दूसरा कोई कल्याणकारी साधन नहीं दिखायी देता। ( मर्ग ४ )

उपदेशके अधिकारीका निरूपण करते हुए वसिष्ठजीके द्वारा शुशुण्ड और विद्याधरके संघादका  
उल्लेख—विद्याधरका इन्द्रियोंकी विषयपरायणताके कारण प्राप्त हुए दुःखोंका  
वर्णन करके उनसे अपने उद्धारके लिये प्रार्थना करना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! जैसे खच्छ निर्मल वस्तुपर नेत्रकी एक बैंद भी पड़ जाय तो अपना प्रभाव ढाल देती है, उसी प्रकार शुद्ध वित्तवाले पुरुषको दिया हुआ थोड़ा-सा भी उपदेश उसपर अपना प्रभाव ढाल देता है। परंतु जिनका वित्त अहंभावके कारण बढ़ा हुआ है, उन्हें दिया हुआ उपदेश उसी तरह द्वारा नहीं होता, जैसे दर्पणमें मीती नहीं धुस सकता। इस विशयमें विद्वान्लोग इस प्राचीन इतिहास-

का उदाहरण दिया करते हैं, जिसे यहूत दिन पहले सुमेह पर्वतके शिखरपर मुशुण्डजीने मुक्तसे यहा पा।

प्राचीन कालकी बात है, सुमेह पर्वतके शिखरकी पक्के एकान्त गुफामें किसी समय अध्यात्मचर्चकि प्रसन्नमें मैंने मुशुण्डजीसे पूछा—‘मुशुण्डजी ! यह तो बताइये, कौन ऐसा मूढ़वृद्धि, आत्मज्ञान-शून्य तथा चिर-जीवी पुरुष है, जिसका आपको स्वरण है ?’ प्रिय श्रीराम ! मेरे इस प्रकार पूछनेपर मुशुण्डजीने यह उत्तर दिया।



सुषुण्डजी बोले—महर्ये ! पूर्वकालमें लोकालोकान्तर पर्वतकी चोटीपर एक विद्याधर रहता था । उसकी इन्हियाँ उसके वशमें नहीं थीं । इसके कारण उसे वडा लेद था । अतएव वह सूख-सा गया था । यथापि उसे जात्मतत्त्वका ज्ञान नहीं था, तथापि वह श्रेष्ठ और विचारशील था । उसने अनेक प्रकारसे तप किये थे, यम और नियमोंका पालन किया था । इससे उसकी आशु कभी क्षीण नहीं होती थी । इसीलिये वह पहले थार कल्पोंतक बीचित रहा । तदनन्तर औथे कल्पके अन्तमें उचित कारण-सामग्री छुट जाने अर्थात् विरकालसे अन्यस्त तप और नियम आदिका ग्रभाव पहनेसे उसके भीतर विचेक्का उदय हुआ । उसने सोचा—वारंवार जन्म, बारं बार मरण और बारंबार वृद्धावस्थाकी प्राप्ति न हो, इसका क्या उपाय है । अन्तक संसारबन्धनसे मुक्त न होनेके कारण मुझे लज्जा होती है; अतः ऐसी कौन-सी पूँज वस्तु है, जो मदा निर्विकारमात्रसे स्थित रहती है । यों सोचकर पौँच प्राण, दस इन्द्रिय, मन, मुद्दि तथा

स्थूलशरीर—इन अठारह अवयवोंसे युक्त अपनी पुरीको विरकालतक धारण करनेसे विरक-चित्त होकर वह विद्याधर कुछ पूछनेके लिये मेरे पास आया । अब उसे संसारमें कोई रस नहीं मिल रहा था । मेरे समीप आकर उसने बड़े आदरके साथ मुझे नमस्कार किया, तब मैंने भी उसका आतिथ्य-सल्कार किया । तत्पश्चात् अवसर पाकर उसने यह उत्तम घात कही ।



विद्याधरने कहा—सुषुण्डजी ! जो परम उदार, हुँसाहीन, क्षय और शूद्धिसे वर्जित तथा आदि और अन्तसे रहित है, उस पावन पदका आप मुझे शीघ्र उपदेश दीजिये । महर्ये । इतने समयतक मैं जड़स्तरुप बनवार मौहेंकी प्रगाढ़ निहामें सोया हुआ था । अब तीव्र वैराग्यके कारण अन्त करण शुद्ध हो जानेसे मैं जाग उठा हूँ । मनके महान् रोग कामसे मैं बहुत पीड़ित हूँ । अज्ञानकी वृत्तियों और दूर्वामनाओंमें पड़कर क्षम्भ हूँ । मेरी चेष्टाओंका अन्त होना बहुत कठिन हो रहा है । अहभावके रूपमें स्थित जो मौह है, उससे आप मेरा

शीघ्र लद्धार कीविये । पहले सहजों बार उपभोगमें लाये हुए शब्दादि विषयोंसे ही अत्यन्त मुँछ सुखके लिये जो इन्हियोंद्वारा सम्पर्क स्थापित किया जाता है, वह अपने आपको धोखा देना है । ऐसी विहम्बनाओंसे बारंबार ठगे जाकर मनुष्य चिरकालसे अत्यन्त खिल्म रहते हैं । विषय-भोग आरम्भमें रमणीय प्रतीत होते हैं । किंतु वे क्षणमें ही नष्ट हो जानेवाले हैं । उनमें शीघ्र ही विकार पैदा हो जाता है । वे संसारवन्धनके हेतु हैं; अतएव बड़े भयकार हैं ।

मेरा नेत्र सुन्दर रूप निहारनेके लिये अत्यन्त चक्रल तथा सुन्दरी नारीका सुँह देखनेके लिये जालायित रहता था । बाया और आध्यन्तर प्रकाशकी सहायतासे मनको शूषित करनेके लिये विषयोंके साप सम्बन्ध स्थापित करके इसने मुझे मारी हुःखमें ढाल दिया । नारीके शरीरमें जो ये बछ और आमूण आदि हैं, ये ही उसकी शोमा बढ़ा रहे हैं, वास्तवमें वह रक्त-भास आदि-का पिण्ड है । इस तरहका विचार न करके केवल रूपमात्रका अनुसरण करनेके खमाचसे युक्त होनेके कारण ये नेत्र अयोग्य विषयकी ओर भी दौड़ पड़ते हैं ।

तात । यह ग्राणेन्द्रिय इस समारम्भे अनर्थकी प्राप्तिके लिये ही चारों ओर दौड़ लगा रही है । तेज दौड़नेवाले घोड़ोंकी मौति इसे मैं रोक नहीं पाता हूँ । मेरी यह रसना शास्त्रके अनुसार भक्तग्रामक्षणका विचार न करके चिरकालसे भाना प्रकारके रसोंका आलादन कर रही है । इसने मुझे गजराजों और गोदांवोंसे भरे हुए हुँसके, पहाड़ोंपर चढ़ाकर बड़ा तंग किया है । जैसे मीष झटुमें, प्रचण्ड किरणोंसे तपते हुए सूर्यके तापको रोकना असम्भव है, उसी प्रकार मेरी त्वगिन्द्रियमें जो दूसरोंके आलिङ्गनकी लम्पटता आ गयी है, उसे मैं रोक नहीं सकता । मुने । जैसे नयी-नयी धास चरनेमी इच्छा हरिणको विषम सकटमें ( तिनकोंसे ढके हुए कूपमें ) ढाल देती है, उसी प्रकार मेरी ये अवणशक्तियाँ

सुमधुर शब्दोंके रसास्तादनकी अग्निलापा लेकर मुझे विषम संकटमें ढाल देती हैं । विषम सेवकोंके मुखसे निकली हुई, ग्रियकारिणी ( आनन्ददायिनी ), विनयरूप तथा वायनीतकी मधुर व्यंजिसे मिली हुई सुन्दर शब्द-सम्पत्तियोंका मैंने अवण किया है ।

खनखनाते हुए मणियोंके आमूण जिनकी शोभा बढ़ाते हैं, ऐसी सुन्दरी खियों तथा जो अपनी सौन्दर्य-सम्पदासे सबके मनको हर लेती हैं, ऐसी राज्यविमयों, दिशाओं तथा समुद्र और पर्वतोंकी तटभूमियोंफ़ा मैंने बारंबार अवलोकन किया है । मैंने विनयशालिनी प्रियतमाओंद्वारा लाये गये, स्वादिष्ठ मधुर आदि रसोंके चमत्कारोंसे मनको भोग लेनेवाले तथा उत्तम गुणोंसे छुशोभित छः प्रकारके रसोंका चिरकालतक आस्तादन किया है । मैंने सब और भोगभूमियोंमें देशमी मुलायम धखों, सुन्दर कामिनियों, मनोहर हारों, छढ़-बिंदु शत्पाखों तथा शीतल, मन्द, सुगन्ध हवाओंका विना किसी शिष्म-वाधाके भलीभौति र्पर्श ( आलिङ्गन ) प्राप्त किया है । मुने । चन्दन, अगुरु आदि औषधियों, भौति-भौति के फूलों तथा ढेर-के-ढेर कपूर एवं कस्तूरी आदि-के संचयसे प्रकट होनेवाली सुगन्धोंका, जो मन्द-मन्द बायुसे प्रेरित होकर मेरी नासिकातक पहुँचती थी, मैंने दीर्घकालतक अनुभव किया है । मैंने शब्द आदि विषयोंका बारंबार श्रवण, स्पर्श, दर्शन, रसास्तादन तथा सुगन्ध-सेवन किया है । पर अब तोड़ वैराग्यके कारण ये विषय मेरे लिये रसाहीन हो गये हैं । अतः शीघ्र बताए, अब मैं पुनः किस वस्तुका सेवन करूँ ? चिरकालतक अकण्ठ राज्य किया, सुन्दरियोंका उपभोग किया और शत्रुओंकी बड़ी भारी सेनाखोंको मिट्टीमें दिला दिया । यह सब करके अब कौन-सी अर्थ वास्तविक वस्तु शेष है, जिसकी ग्राहि वी जाय ।

विषयोंकी इन दुरन्त वनश्रेणियोंमें इन्द्रसूरी लुटेरोंने मुखे चिरकालतक डली तरह लगा है, जैसे घूं

किसी भोले-भाले बच्चेको ठग लेते हैं। मतवाले हाथी ऐरावतके कुम्हश्लको विदीर्ण कर देना सरल है; परंतु कुम्हार्गमें प्रशृत हुई अपनी इन इन्द्रियोंको ऐकना सरल नहीं है। जो ज्ञाग जितेन्द्रिय तथा महान् सत्त्वगुणसे सम्पन्न हैं, वे ही इस भूतलपर मनुष्य कहे जाने योग्य हैं, इनके अतिरिक्त शार मानवोंको तो मैं यांसकी बनी हुई चक्षी-सिरती गशीरें समझता हूँ। मोगोकी आशाका परित्याग कर देनेके सिवा दूसरे कोई ऐसे साधन नहीं हैं, जो इन्द्रियरूपों महान् रोगोंकी शान्ति कर सकें। इनकी शान्तिके लिये न तो औपचियों, न तीर्थ और न मन्त्र ही लाभकारी सिद्ध होते हैं। जैसे विशाल शनमें बहुतसे-बहुतेरे यात्रा करनेवाले अकेले परिषद्को महान् कष्टमें डाल देते हैं, उसी प्रकार विषयोंकी ओर दौड़नेवाली इन इन्द्रियोंने मुझे अथन्त खेदजनक अवस्थामें पहुँचा दिया है। गहरे गहरे और

इन्द्रियों एक-सी ही हैं, दोनों ही प्राणियोंको नीचे गिरानेमें अथन्त कुशल हैं। उनमें दोषरूपी विष्वर सर्प वास करते हैं तथा इनमें विषरूपी लाखों खखे कौटे होते हैं। राक्षस और अपनी इन्द्रियों दोनों एक-से सामाजिक लाभनेले हैं। दोनों अपने ही पालन-योग्यमें तत्पर, अनार्थ, दुःसाहसी तथा अन्धकारमें विहार करनेवाले होते हैं। जीर्ण बौस आदिकी लकड़ियाँ और इन्द्रियों भी तत्त्वसे खोखली, निस्सार, टेकी, गौठवाली तथा एकमात्र जलानेके ही योग्य होती हैं। दुखियोंका उद्धार करनेवाले महात्मन्। इस प्रकार इन इन्द्रियोंके कारण मैं विपत्तिके समुद्रमें डूबा हुआ हूँ। मेरे पास आत्मरक्षाका कोई साधन नहीं है। आप खयं ही कृपा करके मेरा उद्धार कीजिये; क्योंकि संसारमें जो कोई भी श्रेष्ठ संत-महात्मा है, उनका समागम बड़े-से-बड़े शोकको हर लेनेवाला है, ऐसा सभी सम्युक्त कहते हैं। ( सर्ग ५-६ )

### मुशुण्डजीद्वारा विद्याधरको उपदेश—हृष्य-ग्रपञ्चकी असच्चा वताते हुए संसार-वृक्षका निरूपण

मुशुण्डजी कहते हैं—ग्रहन् ! विद्याधरके उस पवित्र वचनको सुनकर मैंने उसके प्रश्नके अनुसार सुन्दर पदोंसे युक्त वाणीद्वारा उसे इस प्रकार उत्तर दिया—‘विद्याधर ! यह वर्षा अच्छी बात है कि तुम अपने कल्याणके लिये जाग उठे हो। सौमधायका निपथ है कि तुम्हे चिरकालके बाद संसाररूपी अन्न गारपूर्ण शूपसे ऊर छठनेको इच्छा हुई है। आज विशेषसे युक्त हुई तुम्हारी पवित्र बुद्धि अप्रिसे व्याप सुवर्णका भाँति अद्भुत शोभा पा रही है। मुझे विश्वास है कि विशेषसे निर्मल हुई तुम्हारी बुद्धि मेरी उपदेशवाणीके सामर्थ्यको सुन्दर ढगसे अनायास ही प्रहण कर सकती है; क्योंकि खल्च दर्पणमें पड़ार्थोंका प्रतिविम्ब अनायास ही प्रकट हो जाता है। इस समय में जो कुछ कह, वह सब तुम्हे लौकार कर लेना चाहिये; क्योंकि मैंने चिरकालक अनुर्मवान् करके इस

विचारको निश्चिन किया है। अतएव तुम्हें इस विषयमें कोई दूसरा विचार नहीं करना चाहिये। जो कुछ अहंकार आदि तुम्हारे अन्तःकरणमें प्रतीत हो रहा है, वह सब तुम नहीं हो। इन दृश्योंमें ही कोई जात्मा है, जिसे दृढ़कर प्राप्त करना है, ऐसा विचारकर यदि चिरकालतक अपने भीतर ढूँढते रहेंगे तो भी तुम्हें अपने खरूपमूल आत्माकी उपलक्ष्मि नहीं होगी। इसलिये दृश्यमात्र ही जिसका व्यक्तण है, उस अज्ञानको छोड़कर तुम उसके साक्षीको आत्मा समझो।

जैसे मृगतृष्णामें बलकी प्रतीति होनेपर भी वास्तवमें वही जल नहीं होता है, उसी प्रकार सारा विश्व ज्वरस्तु-रूप होनेके कारण सदृप्से प्रतीत होनेपर भी असत् ही है। अथवा ऐसा समझो कि यह जो कुछ भासित होता है, वह सब छह ही हैं या यो समझो कि वह कुछ

मी नहीं है अथवा कोई अनिर्वचनीय वस्तु ही है। तुम अहताको ही इस विश्वका बीज—मूलकारण समझो; क्योंकि उसीसे पर्वत, समुद्र, पृथ्वी और नदी आदिके सहित यह जगत्-खण्डी वृक्ष प्रकट हुआ है और इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्तिखण्डी रससे परिषूर्ण जो ऊपरके भुवन हैं, वे ही इस वृक्षके मूल भाग हैं। चारों युग इसमें लगे हुए धुन हैं। अज्ञान ही इसकी उत्थतिकी भूमि है। जीवमात्र इसपर बसेरे लेनेवाले करोड़ों पक्षी हैं। भ्रान्ति-ज्ञान इस वृक्षका विशाल तना है और तत्त्वज्ञानसे उपलब्ध होनेवाला

मोक्ष ही इस वृक्षको दग्ध करनेवाली अभिर्ह है। इन्द्रियों-द्वारा विषयोंकी उपलब्धि और मनसे होनेवाले मनस्तन्त्र-विकल्प आदि इस वृक्षके विविध भौति-भौतिके सौरभ (सुगन्ध) हैं। निशाल आकाश महान् ब्रह्म है। अनुरूप इसकी विचित्र शाखाएँ हैं, उसों द्विराएँ उपग्राहिएँ हैं। इस तरह संसारखण्डी वृक्ष अपने मूर्तभागसे पानाटको, मध्यभागसे सम्पूर्ण दिशाओंको और गिराभागसे अन्तरिक्षको परिषूर्ण करके वास्तवमें असदूप होता हुआ भी सद्के समान प्रतीत होता है। ( सर्ग ७ )

### मंसार-बृक्षके उच्छेदके उपाय, प्रतीयमान जगत्की असत्ता, ब्रह्ममें ही जगन्की प्रतीति तथा सर्वत्र ब्रह्मकी सत्ताका प्रतिपादन

मुकुण्डजी कहते हैं—विद्याधर! पातालसहित यह पृथ्वी जिसका आवार (मूर्त्यमान) है, लोकालोकपर्यन्त फैले हुए पर्वतोंकी कन्दराएँ जिसकी बेटी हैं, ऐसा यह संसार-खण्डी वृक्ष अहंकाररूप बीजसे उत्पन्न होता है। ज्ञानखण्डी अग्निसे जब इसका बीज दग्ध हो जाता है, तब कुछ भी उत्पन्न नहीं होता। यहाँ जो कुछ प्रतीत हो रहा है, सब असत्य ही है। मायाके हाथी-घोड़ोंकी तरह कहींसे यों ही पैदा हो गया है। संकल्प-विकल्पको त्याग देने-मात्रसे इस संसार-भ्रमका नाश हो जाता है। शुद्धामन। तुम पहले पतनके हेतुभूत अविवेक-पदमें स्थित थे। किंतु अब उससे भिन्न उस पुण्यमयी दूसरी विवेक-पदबीको प्राप्त हो गये हो, जो तीनों लोकोंको पवित्र करनेवाली है। अतः येरा अनुमान है कि इस मनके हारा अब फिर तुम नीचे नहीं गिरोगे। इसलिये तुम मन और बाणीकी चेष्टासे रहित, निर्मल, सच्चिदानन्द परमामपदका आश्रय लेकर सम्पूर्ण दृश्यसमूहको त्याग दो।

निष्पाप विद्याधर! दृश्यको धार न रखते हुए सब प्रकारके तापसे शून्य पञ्च शान्त सच्चिदानन्दधन-स्वरूपसे स्थित रहो। अहंकारकी सत्ता नहीं है, इस भावनासे अहंकाररहित होकर यहि तुम्हारा चेनन-खण्डी विन्मय परमात्मामें पूर्णरूपसे मिलकर एक हो जाय तो दूसरी कोई प्रकाशित वस्तु ही नहीं। किं तुम्हारे खल्लभूत ब्रह्मकी किससे उपमा दी जाय।

विन्मय परमात्मासे भिन्न गाने गये इस जगत्के स्वरूपको तुम विन्मय परमात्मासे ही उल्लङ्घन हुआ जानो; क्योंकि काष्ठ, बल और दीवार सबमें ही परन्तु परमात्मा विद्याज्ञान है। सभी स्थानोंमें सृष्टिका समूह परस्त गुणा हुंआ स्थित है। द्रव और जगत्-में जो भेद छढ़ा गया है, वह असत् है। जैसे द्वुवर्ण और कटकमें भेद नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्म और जगत्-में भी भेद नहीं है। ( सर्ग ८-१० )

## चिन्मय परब्रह्मके सिवा अन्य बस्तुकी सत्त्वाका निराकरण, जगत्की निःसारता तथा सत्सङ्ग, सत्-शास्त्र-विचार और आत्मप्रयत्नके द्वारा अविद्याके नाशका प्रतिषादन

मुशुण्डजी कहते हैं—विद्यावर। जैसे 'महाकाशमें बटाकाश उत्पन्न हुआ है' अपने मनसे इस तरहकी कल्पना करना भ्रममात्र ही है; उसी प्रकार परमात्मामें प्रपञ्चात्मक असदूप अर्हभावकी भावना केवल भ्रम ही है। समूर्ण कल्पनाओंका अधिष्ठान वह ब्रह्म परम सूक्ष्म है। उसीकी कल्पना यह आकाश आदि जगत् है। देश, काल आदि जगत् तथा इसके सहस्रों अवान्तर कार्यरूपी विस्तारोंमें भी एकमात्र बन, सूक्ष्म, चिन्मय ब्रह्मके विस्तारके सिवा दूसरा कोई वास्तविक रूप हो, यह सम्भव नहीं है। चिन्मय परमात्माका विस्तार होनेसे ही काल, आकाश, नौका, जल, स्थल, निशा, जाप्रत् और स्वप्नमें भी जगत् उत्पन्न हुआ-सा प्रतीत होता है। विद्याधर! यह जगत् किसी पटपर अङ्गित द्वारा विशाल शयके वित्रके समान सुन्दर जान पड़ता है। इसमें सहस्रों खुर (पैर), मरुक, नेत्र, हाथ और मुख, मुखोंकी चेष्टाएँ तथा तर्क-वितर्क दृष्टिगोचर होते हैं। इसमें परिषित जगहमें ही नाना प्रकारके पर्वत, शरीर, दिशा, देश और नदी आदि दृश्य बस्तुओंका वित्रण हुआ है। यह मीतरसे शून्य और निःसार है। अनेक प्रकारके रंगोंसे रँगा हुआ है। वैराग्य-भावके प्रकट होते ही इसका विनाश हो जाता है। इस वित्रमय जगत्में देवता, असुर, गन्धर्व, विद्याधर, वडे-वडे नाग और मनुष्य आदि प्राणी अङ्गित हैं। जैसे नूतन वित्र अंगुलियोंद्वारा किया गया मर्दन नहीं सह सकता, उसी तरह यह जगत् विचारको नहीं सहन कर पाता अर्थात् जैसे हाथसे राङनेपर वित्र मिट जाता है, उसी तरह विवेकपूर्वक विचार करनेपर यह जगत् भी नहीं टिक पाता है। मानसिक संकल्प-विकल्पसे ही यह प्रकाशमें आता है। छद्यको शुच्य कर देनेवाली काम-वासनारूप जालके समूहोंसे निवाह, समूर्ण आवर्त-

रूपी विकारोंसे युक्त, जी-पुत्र आदिमें फैलते हुए स्नेहसे मिश्रित तथा मिथ्या होनेके कारण अजात विषयोंके बारंबार आखादनके द्वारा प्रसारको प्राप्त हुआ जो जीवात्माका सकल्प है, वह चित्रलिखित विशाल राघ्यके रूपमें वर्णित यह संसार है। विद्याधर! मन, अहंकार, दुदि आदि जो कुछ भी विकल्पक ज्ञान है, उस सबको युम एकमात्र अविद्या ही समझो, जो पुरुष-प्रयत्नसे शीघ्र नष्ट हो जाती है।

इतना ग्रस्तंग सुनानेके बाद श्रीवित्तिष्ठजीने कहा—  
रुद्रनन्दन। सपार-सागरको पार करनेकी इच्छावाले विरक्त श्रेष्ठ पुरुषके साथ तथा परमात्मज्ञानीके साथ भी बैठकर इस संसारके विषयमें विवेकी मनुष्यको विद्यार करना चाहिये (कि यह क्या है? इसका परिणाम, मूल और सार क्या है? तथा इससे मुक्त होनेका क्या उपाय है?)। विवेकी पुरुषको उचित है कि वह जहाँ-कहाँसे भी विरक्त, ईर्ष्यारहित एवं परमात्मज्ञानी श्रेष्ठ पुरुषको दूँढ़ निकाले और यत्पूर्वक उसका संग और सेवा करे। ज्येष्ठ तत्त्वका ज्ञान रखनेवाले विद्वानोंमें श्रेष्ठ श्रीराम। तुम यह अच्छी तरह जान लो कि श्रेष्ठ पुरुषका संग सिद्ध हो जानेपर साधकको महान् श्रेष्ठ अवश्य प्राप्त होती है, जिससे अविद्याका आधा भाग तन्काल नष्ट हो जाता है। इस प्रकार अविद्याका आधा भाग तो सत्संग-से नष्ट होता है और एक चौथाई भाग शारोंके तात्पर्यकी आलोचनासे दूर हो जाता है; मिर जो चतुर्थ भाग शेष रह जाता है, उसे मनुष्यको अपने प्रयत्नसे परमात्म-साक्षात्कारके द्वारा नष्ट कर देना चाहिये। यदि सपार-बन्धनसे मुक्त होनेकी एकमात्र उक्त इच्छा उत्पन्न हो जाय तो वह इच्छा वैराग्यके द्वारा उस पुरुषको भोगों और उसके साधनोंसे दूर हटा देनी है। भोग-इच्छाका नाश हो जानेपर अविद्याका चतुर्थ अंश अपने यत्नसे नष्ट

हो जाना है। सत्संग, शाखोके अर्थका विवेकपूर्वक विचार और अपना प्रयत्न—इन सब साधनोंकी एक साथ प्राप्ति होनेपर एक ही समयमें अथवा एक-एक साधन-के प्राप्त होनेपर क्रमशः अविद्यारूपी मलका नाश होता है। अविद्याका नाश हो जाना ही जिसका एकमात्र स्वरूप है, ऐसा जो अविद्याकी निवृत्तिके पक्षात् तत्त्व शेष रहता है, उसके नाम और अर्थसे रहित परम बस्तुको वास्तवमें नित्य सत्य होनेके कारण सत् और प्रतीत न होनेके कारण

असत् भी कहा गया है। यह परमार्थ करतु आनन्दघन, जरा आदि विकारोंसे रहित, अनन्त और एकमात्र अहितीय दृष्टि ही है। संकल्पमात्रमें झुणित हीनेशान्न नाम-खण्डक जगत् तो वास्तवमें ही नहीं। प्रभगता, प्रभाण और प्रभेयसी जो त्रिपुरी हैं। उसके माइडसे तुम सर्वथा रहित हो। अनः निर्वाण ब्रह्मस्थलसे सर्वत्र व्याप हुए सदा शोकशृण्य अपस्थामें स्थित हो।

( सर्ग ११-१२ )

### ब्रह्मणुके उदरमें इन्द्रका निवास और उनके गृह, नगर, देश, लोक एवं त्रिलोकके साग्राह्यकी कल्पनाका विस्तार

मुशुण्डजी कहते हैं—विद्याधर। किसी समयकी बात है, कहाँ किसी कल्पवृक्षमें उसकी युगल शाखामें ब्रह्मण्डरूपी गूलका फल प्रकट हुआ। उसके भीतर तीनों लोकोंके सामी देवताओंके राजा इन्द्र उसी तरह निशास करते थे, जैसे शहदके छत्तेमें मधु-मदिलयोंका सामी। वे गुहके उपदेश और अपने अग्न्याससे अविद्याके आश्रणका नाश करके महात्मा हो गये थे। अपने अन्त-करणमें सदा परमात्माके स्वरूपका चिन्तन करते रहते थे। पूर्वापरका ज्ञान रखनेवाले विद्वानोंमें उनका सबसे ऊँचा स्थान था। तदनन्तर एक समय प्रभाकराली मागवान् नारायण और शिव आदि, जब कहाँ अपने लोकातीत परमधारमें विराजमान थे, उस समय उन देवराज इन्द्रने अकेले ही अक्ष-शक्तरूपी अग्निज्ञालाको धारण करनेवाले महापराक्रमी असुरोंके-सा युद्ध किया, उसमें उनकी परायन दुर्लभ और उन्हें तुरंत ही युद्धभूमिसे मार्गना पड़ा। शत्रु उनके पीछे पढ़ गये थे; अतः वे बड़े वेगसे दसों दिशाओंमें भागते फिरे। उन्हें कहाँ भी ऐसा आश्रय नहीं मिला, जहाँ वे विश्राम ले सकें। इतनेमें ही उनके शत्रुओंकी दृष्टि कहाँ इधर-उधर चली गयी। उस समय इन्द्रको छिपनेके लिये थोड़ा-सा अवसर मिल गया। उन्होंने अपने संकल्पनानित स्थूल

संकार रूपको शान्त करके अपने अन्त करणके भूत्तर ही सूक्ष्मभूतमें बिलीन शर दिया और अग्न्यन्त अणुरूप होकर बाहर सूर्यकी विरणोंमें भित्त किसी ब्रह्मणुके भीतर संकल्पमात्रसे प्रवेश किया, वहाँ उन्हें शीत्र ही विश्राम प्राप्त हुआ। फिर तो उन्हें युद्धकी बात भूड़ गयी और इसीकिये बहाँमें बाहर निकलनेवा सकल्प भी निवृत्त हो गया। वहाँ उन्होंने अपने रहनेके लिये एक धरकी कल्पना की और आणभरमें उन्हें अनुभूत हुआ कि वर्षा। निर्माण हो गया और मैं उसमें रह रहा हूँ। उस संकल्पकल्पित भवनके भीतर एक कमलके आसनपर बैठकर वे उसी तरह आनन्दका अनुभव करने लगे, जैसे अपने स्वर्गीय सदनमें निहायनगर बैठकर विश्राम करते थे।

उस बरमें रहते हुए इन्हनें एक ऐसा कन्तित नगर देखा, जिमके परखांट और महत्व मणि, मोर्ची नथा मैंगे आदिसे बने हुए थे। उस नगरके भीतर ज़कर देवराजने जब इधर-उधर दृष्टिशान किया, तब उन्हें एक देश दिखायी दिया, जो अनेकानेह एवं, शास, गोशाला, नगर और काननोंसे सुनीभिन था। नारथाद जैसे ही संकल्पसे युक्त हुए इन्हनें एक विगाह तैयार

अनुभव किया, जिसमें बहुत-से पर्वत, समुद्र, पृथ्वी, नदियाँ, नरेश और उनके राज्यकी सीमाएँ दृष्टिगोचर होती थीं। वह लोक किया तथा काल आदिकी कल्पनाओंसे युक्त था। इसके बाद उसी तरहके मक्कलयका आनन्द लेनेवाले देवेन्द्रने वहाँ तीनों लोकोंको देखा, जो पाताल, पृथ्वी, आकाश, सर्ग, सूर्य और पर्वत आदि अनेक पदार्थोंसे भरे-रहे थे। फिर उसी त्रिलोकीमें मोगरायिसे विभूषित हुए इन्द्र देवराजके पदपर प्रतिष्ठित हुए। कुछ कालके बाद उन्हें एक पराक्रमी पुत्र प्राप्त हुआ, जिसका नाम था कुण्ड। तत्पश्चात् वे प्रशंसाके योग्य देवराज इन्द्र जीवनके अन्तमें शरीरका परित्याग करके

मोक्षको प्राप्त हो गये। इसके बाद उनके पुत्र कुन्द त्रिलोकीके राजा हुए। फिर वे भी अपने एक पुत्रको जन्म देकर जीवनके अन्तमें कालके अधीन हो परमपदको प्राप्त हुए। तदनन्तर कुन्दका पुत्र भी पिताकी ही भौति दीर्घकालसक राज्य करनेके पश्चात् अपने पुत्रको राजसिंहासनपर बिठाकर जीवनके अन्तमें परमपदको प्राप्त हो गया। छुन्दर। इस प्रकार उस देवराज इन्द्रके सहजों पौत्र राज्यपर प्रतिष्ठित हुए और कालके गालमें चले गये। आज भी वहाँ उन्हींके पौत्रोंका राज्य है, जिनमेंसे अंशक इस समय राजसिंहासनपर प्रतिष्ठित है।

( सर्ग १३ )

**इन्द्र-कुलमें उत्पन्न हुए एक इन्द्रका विचार-दृष्टिसे परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार करके इस त्रिलोकीके इन्द्रपदपर प्रतिष्ठित होना तथा अहंभावनाके निष्पृत होनेसे संसार-भ्रमके यूलोच्छेदका कथन**

मुशुण्डजी कहते हैं—विद्याधर। पहले जिनकी वर्चा की गयी है, उन्हों इन्द्रके कुलमें कोई उत्तम गुणोंसे सम्पन्न शान्तिमान् बालक उत्पन्न हुआ, जो देवताजके पदपर प्रतिष्ठित हुआ। कुछ कालके पश्चात् वृहस्पतिके उपदेशसे उन इन्द्रके उस वशजको आरम्भतत्त्वका साक्षात्कार करानेवाला ज्ञान प्राप्त हुआ। फिर तो उसे जानने योग्य आत्मतत्त्वका ज्ञान हो गया। वह प्रारम्भके अनुसार जो कुछ प्राप्त होता, उसीमें संतोष करता था। इस प्रकार रहते हुए उस इन्द्रविश्वी देवराजने तीनों लोकोंका राज्य किया।

ज्ञान-बलसे मुशोभित होनेवाले उन देवेन्द्रके मनमें किसी समय ऐसी इच्छा उत्पन्न हुई कि भी मरीभौति ध्यान लगाकर प्रक्षन्तरका साक्षात्कार करें। ऐसा विचार कर वे एकान्तमें बैठ गये और बाहर-भीतरके सम्पूर्ण विक्षेपोंसे रहित शान्त-विच्छिन्न हो ध्यान-समाधि लगाकर परमात्मके स्वरूपको विचार-दृष्टिसे देखने लगे। उन्होंने अनुभव किया कि परमात्मा सम्पूर्ण

शक्तियोंसे सम्पन्न है। सर्व-वस्तुस्वरूप, सर्वत्र व्यापक, सब प्रकारसे सर्वदा सर्वमय है। सबके साथ सर्वत्र विद्यमान है और सबमें व्यापक है। उसके सब और हाथ-पैर हैं, सब और नेत्र, मस्तक और मुख हैं तथा सब और कान हैं; क्योंकि वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है। वह सम्पूर्ण इन्द्रियोंके गुणोंसे युक्त है। आसकिरहित होनेपर भी सबका धारण-प्रोत्पत्ति करनेवाला है तथा निर्गुण होकर भी गुणोंको भोगनेवाला है। वह चाराचर सभी प्राणियोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है। अचर और चररूप भी वही है। सूक्ष्म होनेके कारण वह जाननेमें नहीं आता है। वह अति समीपमें है और दूरमें भी है। चम्द्रमा और सूर्यके रूपमें वही है। उसीने पृथ्वीका रूप धारण कर रखा है और वही पर्वत तथा समुद्रके रूपमें है, वह सर्वत्र सारभूत एवं गुरु है। वही आकाशरूपसे विद्यमान है। सर्वत्र संसृति और चगतके रूपमें भी वही है। वह सभी ग्राहकोंमें मोक्षरूपसे

विद्यमान है। सभी जगह वह चिन्मय तत्त्वरूपसे स्थित है। वह सर्वत्र सभी पदार्थोंके रूपमें है और शास्त्रमें सब ओरसे सबसे रहित है। इस प्रकार परम बुद्धिमान् और उदाराचित्त उस इन्द्रने द्वैरतक व्याप्त आकार समूर्ण प्रश्नापृष्ठको एकमात्र परमात्मामें स्थित देखते हुए हमलोगोंके द्वारा अनुमतिमें लाये जानेवाले इस जगत्का भी अक्लोकन किया। तदनन्तर इस सुष्ठिके प्रश्नापृष्ठमें विचरता हुआ वह इन्द्र वहाँके इन्द्रलोकमें पहुँचकर जब इन्द्रके समीप गया, तब उसका ऐं इन्द्र हूँ यह संस्कार जाग उठा और वह प्रारम्भवश वहाँका इन्द्र हो गया। तत्पश्चात् वह सैकड़ों शृणुत्वोंसे सुशोभित इस त्रिभुवनके रुज्यका शासन करने लगा। प्रसरेणुके उदरमें निवास करनेवाला जैसे वह परम

कान्तिमान् तथा इन्द्रजुलमें उत्पन्न इन्द्र बनाया गया है, जैसे ही इधर-उधर ऐसे व्यवहारवाले लाखों इन्द्र इस चैतन आकाशमें हो कुके हैं और सौजूद हैं।

विद्याधर ! तुम यह अस्ती तद्द समझ लो कि जगत् अहंकारका कार्य है। अहंकारके भीतर जगत् कल्पित है और जगत्के अदर अहंकार बगार है। जो पुरुष सकल्य-जून्यतारूप ज्ञानसे जगत्के वीजभूत अहंभावका मार्जन कर देता है, उसने मानो जगत्-रूपी मलको जलके द्वारा ही पूर्णरूपसे धो दाला है। अतः विद्याधर ! अहता मामको भी कोई वल्यु गड़ी नहीं है। वह क्षात्रियिक होनेके कारण धरणोंशके सांगकी भौति असत् एवं विना कारणके ही प्रवर्ण हुई है।

( सर्ग १४-१५ )

शुद्ध चित्तमें थोड़े-से ही उपदेशसे महान् प्रभाव पढ़ता है, यह ज्ञानेके लिये कहे गये भुशुण्डवर्णित विद्याधरके प्रसंगका उपसंहार, जीवन्मुक्त या विदेहमूक्तके अहंकारका

नाश हो जानेसे उसे संसारकी प्राप्ति न होनेका कथन

भुशुण्डजी कहते हैं—मुने ! मैं इस प्रकार उपदेश दे ही रहा या कि उस विद्याधर-राजका सारा दृश्य-

विद्यक संकल्प जान्त हो गया। उसकी समाधि लग गयी। मैंने बारवार उसे इधर-उधरसे हिंदु-जुलाकर जगाया; परंतु परम निर्बणी पदको प्राप्त वह विद्याधर जिस आपनेके दृश्य विषयोंकी ओर उन्मुख नहीं हुआ।

श्रीवसिंहजीने कहा—रघुनन्दन ! भुशुण्डजीका बताया हुआ विद्याधरका इनिहास मुझे स्मरण हो आया; इसीरूपे मैंने तुमसे कहा था कि शुद्ध चित्तमें उपदेश उसी तद्द प्रमाण ढालता है, जैसे पानीमें तेलकी धूँद। अहंभावना ही दुःखनामक सेमरके वृक्षका मुख्य बीज है। उस अहंभावनाके समान ही ‘यह मेरा है’ ऐसी बुद्धि भी उण वृक्षका आदिकारण है; क्योंकि यही रागांटर्द्धा, गी शालाओंके विस्तारका कारण है। वहले दौड़लिनी अहंभावना होती है। फिर वृक्षरूपिणी नमगमना होती है। तत्पश्चात् शालारूपिणी इच्छा (राग) की प्रवृत्ति होती है। यह इच्छा ही इनप्रदादेके रूपमें सैकड़ों अनयोंको उत्पन्न करनेवाली तथा संसार-भूमि धारण-नोरण करनेवाली है।



खुनन्दन । मेह पर्वनके शिखरपर पश्चिराज मुक्तामा मुनि काकभुण्डजी मुझसे पूर्वोक्त विद्याधरकी कथा सुनाकर चुप हो गये । श्रीराम । तत्पथाद् मै उन मुनिसे और उस सिद्ध विद्याधरसे मी बिदा लेकर मुनिमण्डलीसे मणिदत अपने आश्रमपर आ गया । इस प्रकार आज मैंने तुमसे काक-भुण्डजीद्वारा कही गयी कथासे प्रनिपादित विश्यका वर्णन किया है, जिसके अनुभाव यह छात हुआ कि भुण्डजीके थोड़े से उपदेश से ही विद्याधरको तत्पक्षान प्राप्त होकर परम शान्ति मिल गयी । खुनन्दन । पश्चिराज भुण्डके साथ जब मेरा समागम हुआ था, तबसे आजतक ग्यारह महायुग व्यतीत हो चुके हैं ।

श्रीराम । यह नशको ज्ञात है कि बीजके भीतर सैकड़ों शाखाओंसे युक्त तथा पत्र, पुष्प और फलसे सम्पन्न वृक्ष

विश्वमान है; क्योंकि बीजारोपणके पश्चात् प्रकाठ हुए उस वृक्षको सब लोग अपनी ऊँखोंसे देखते हैं, इसी तरह अहंकाररूपी सूक्ष्म बीजके भीतर समर्प्त दृश्यमानसे युक्त यह शरीर वर्तमान है, यह विवेकी पुरुषोंने विचार-दृष्टिसे देखा है । परमात्माका यथार्थज्ञान होनेपर सचिदानन्द-परमात्मस्वरूप हुए जीशन्मुक्त पुरुषका शरीर लोकदृष्टिसे विश्वमान होनेपर भी वह अहतामृतक अभिमानको नहीं प्राप्त होता । अतएव उससे संसाररूपी वृक्षका प्राकृत्य नहीं होता अथवा जो विदेहमुक्त होकर निरतिशय आनन्दस्वरूप परमात्मामें प्रतिष्ठित हो चुका है, उस पुरुषके बोधरूपी महानिसे दग्ध हुए असदस्वरूप अहंतारूपी बीजके भीतरसे फिर इस संसाररूपी वृक्षका ग्रादुर्भाव नहीं होता । ( सर्ग १६-१७ )

### मृत पुरुषके प्राणोंमें स्थित जगत्के आकाशमें भ्रमणका वर्णन तथा परब्रह्ममें जगत्की असत्ताका प्रतिपादन

श्रीविद्विजी कहते हैं—खुनन्दन । समूर्णतः नाश-रूप मृत्यु कभी नहीं होती है । अग्रने दूसरे संकल्पोंका कुछ कालतक स्थिर रहना ही मरण कहलाता है । प्राणके भीतर वित है और चित्तके भीतर विविध आकार-प्रकारसे युक्त जगत् वैसे ही विश्वमान है, जैसे बीजके भीतर वृक्ष । पुरुषकी मृत्यु हो जानेपर उसके शरीरसे निकले हुए प्राण बाजाकाशमें भरे हुए वायुमयहके साथ ऐसे मिल जाते हैं, जैसे समुद्रके जल नदियोंके जलके साथ मिलकर एक हो जाते हैं । आकाशमें विश्वमान वायुके भीतर मृत प्राणियोंके प्राण हैं । उन प्राणोंके भीतर उनका मन है और उस मनके भीतर जगत्को उसी प्रकार स्थित समझो, जैसे तिलमें तेल रहता है । खुनन्दन । जैसे वायुमें स्थित सुगन्ध इधर-उधर ले जायी जाती है, उसी तरह प्राण-वायुमें स्थित आकाशात्मक जगत् इधर-उधर यत्र-तत्र ले जाये जाते हैं । जैसे घडेको एक स्थानसे दूसरे स्थानमें पहुँचा देनेपर उसके भीतरके

आकाशमें कोई भैद नहीं होता, उसी प्रकार स्पन्दन आदिसे युक्त चित्तमें तीनों जगत्का भ्रम रहनेपर भी चेतन आत्मामें वस्तुतः वह स्पन्दन और भ्रम नहीं होता है । जगत् और इहका भ्रम दोनों उदित नहीं हैं । यदि उदित हों तो भी वायुद्वारा किये गये इस पृथ्वीके परिम्रिष्ण आदिको इसके ऊपर स्थित हुए प्राणी उसी तरह नहीं देख पाते हैं, जैसे नौकाके भीतर बैठे हुए मनुष्य उसकी गतिको नहीं देखते हैं । वे तीनों लोक देश, काल, क्रिया तथा द्रव्यरूप ही हैं और अहंकार भी इन देश, काल आदिके साथ सम्बन्ध रखनेके कारण देश-कालादि रूप ही है । अतः देश-कालादिरूप जगत् और अहंकारमें भैद नहीं है । अज्ञानीमें जिस प्रकार विकल्प-सम्पत्तिका उदय होता है, उस प्रकार ज्ञानीमें निश्चय ही उसका उदय नहीं होता है । चेतन आकाशरूप परमात्मा सर्वव्यापी और अनन्त हैं । इसलिये वह विकल्प-सम्पत्ति उसका स्वरूप न होनेके कारण सदस्वरूपा नहीं है ।

परम चेतन—परब्रह्म परमात्मा सर्वस्वरूप सर्वशक्तिमान् है इसलिये उसमें गुण, बस्तु, क्रिया और जाति आदिसे अनन्तरूपताको प्राप्त तथा नाना प्रकारके कार्यों-का आरम्भ करनेवाले दिग्न्तवर्ती जनसमुदायसे परिषुर्ण

ये सब संसार चक्रल जलाशयके भीतर प्रनिविष्ट धर्मभूर नगरों पर्व अपने अन्तकरणमें स्थित समस्त उपकरणोंसे भरे महानगरोंके समान असदृपसे ही स्थित हैं। ( सर्ग १८ )

### जीवके स्वरूप, सभाव तथा विराट् पुरुषका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! जो वास्तवमें वर्परम अणुरूप कहा जा सकता है और न स्थूल, शून्य या अन्य कुछ ही, वर्त जो चिन्मय, सानुभवरूप और सर्वशापक है, वही जीव कहा जाता है । जिस-जिस पदार्थका जो माव—असाधारण स्वरूप है, उसके रूपमें उम-उम पदार्थमें स्थित होकर जो तदाकार मासित होता है, उसे तुम जीव ही समझो; क्योंकि बारंबार देखनेपर उन-उन पदार्थोंके आकारमें उसीका अनुभव होता है । श्रीराम ! जीव जहाँ जिस प्रकार जो-जो संकल्प करता है, वहाँ वह तत्काल वैसा ही आकार धारण कर लेता है । जैसे चलना या हिलना-हुलना आदि चेष्टा वायुका सभाव है, उसी प्रकार विवित वस्तुओंका अनुभवरूप ससार जीवका सभाव ही है । इस वातका अपने अनुभवसे ही निर्णय कर लेना चाहिये । बालकको होनेवाले यश्चभवके समान इसका हम उपदेशके प्रारंभ साधन नहीं करना चाहते । जीव चैतन्यवन्नस्वरूप होनेके कारण ही अहभावनासे ही देश, काल, क्रिया और दृष्टिक्षमियोंका निर्माण करके स्थित होता है ।

सर्वप्रथम परब्रह्म परमात्मासे मनोभयरूपसे उदित विराट् पुरुष ( हिरण्णगर्भ ) प्रकट हुआ । अतः वह आकाशके समान विशद, शान्त, नित्य, अनन्तस्वरूप और प्रकाशमय है । वह अद्वितीय विराट् पुरुष सबसे उत्कृष्ट परमेश्वररूप है । वह पञ्चभूतात्मक न होनेपर भी पञ्चभूतमक्षसा भासित होता है । वह अपने ही संकल्पसे कल्पित अनेक कल्पोंमें तथा क्षणमत्रमें स्वेच्छा-

नुसार स्थं प्रकट होता है और बारंबार प्रकट होकर फिर स्थय ही अदृश्य हो जाता है । वह आकाशस्वरूप, सर्वव्यापी, अनन्त परमेश्वर स्थूल, सूहम, व्यक्त एवं अव्यक्तरूप हो सबके बाहर-भीतर स्थित है । वह वास्तवमें किंचिद्भूप न होनेपर भी ध्यश्वारकालमें किंचिद्भूप अवश्य है ।

श्रीराम ! उस विराट् पुरुषके मूर्त्तिरूपस्वरूप आठ अङ्ग हैं—पौच ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियसहित प्राण, छठी इन्द्रिय मन और अहकार । उसी पुरुषने चार मुखोंसे युक्त होकर शब्द और अर्थकी कल्पनासे युक्त इस क्षम् आदि चारों वेदोंका गान किया है । उसीने आरोप सदाचारकी मर्यादा स्थापित की है, जो आज भी यथावतरूपसे चली आ रही है । ऊपर जनन्त आकाश उस पुरुषका मस्तक है । नीचेका भूतल आदि उसके पैरोंका तल्ला है । मध्यवर्ती आकाश उसका उद्धर है तथा यह ग्रहाण्डमण्डप उसका शरीर है । अनन्त लोक-लोकान्तर उस पुरुषके पार्श्वमाग है । जल रक्त हैं । पर्वत मातपेशियों हैं और सदा अविद्युतज्ञभावसे वदन्तनानी नदियों उसकी नाडियों हैं । समुद्र रक्षके आधार ( रक्ष-सच्चयकी पेशियों ) हैं । दोप ही क्षेत्रोंमें आवेदित वहने-वाली थोंतें हैं । दिशाएँ फैनी हुई भुजाएँ हैं । तानिराँड़ रोमाली हैं । उन्त्रास घातस्वरूप प्राणजागु ॥ १ ॥ सूर्य-मण्डल प्रत्यंण नेत्र है और बइवानन्द उसका पितृ है । चन्द्रमण्डल संक्षम्पात्मक मन है तथा परम्परा ही सारन् आत्मा है । चन्द्रपात्ती मन ही शरीरकी पृष्ठसा मूर्त्ति कर्मरूपी विटपका धीज तथा सम्भूर्ग भावपदार्पणका उत्पादन

एवं संवर्धन करनेसे आनन्दका कारण है। इस प्रकार मौति-मौतिके आचारोंसे युक्त विराट् पुरुष सहस्रों बार प्रकट हो चुके हैं तथा सैकड़ों महाकल्प वीत चुके हैं, अविष्यमें होनेवाले हैं और इस समय भी विषमान हैं।

रघुनन्दन। जो ब्रह्मसे अभिन्न है; अतएव जिसका महान् सम्बन्ध ज्ञानन्त कालतक बना रहता है, उस अनुभवरूप अविष्टान-सत्ताके द्वारा परम विराट् पुरुष सब देश-कालमें स्थित रहता है। ( सर्ग १९ )

### जगत्की संकल्परूपता, अन्यथादर्शनरूप जीवभाव तथा अहंभावनारूप महाग्रन्थिके मेदनसे ही मोक्षकी ग्रासिका कथन और ज्ञानवन्धुके लक्षणोंका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! यह पञ्चमूतास्मा संकल्पपुरुष ( विराट् ) खयं जैसा-जैसा संकल्प करता है, वह ब्रह्मरूप आकाश भी वैसा ही प्रतीत होने लगता है। अतः विद्वान् पुरुष समस्त जगत्को विराट् पुरुषका एक संकल्प ही ग्यनते हैं। वास्तवमें कहीं कोई वरतु न तो स्थूल है और न सूक्ष्म ही है। अपसे वहाँ जिस प्रकारके कल्पनाका विस्तार होता है, वहाँ तत्काल वैसा ही अनुभव होने लगता है। मन चन्द्रमासे उत्पन्न हुआ है और चन्द्रम मनसे। जैसे कुहरेसे आच्छादित छई वस्तुका यथार्थ ज्ञान न होकर विपरीत ज्ञान होता है, उसी तरह अज्ञानसे आचृत आत्माका भी यथार्थ ज्ञान न होकर, जो अन्य प्रकारसे देखना या समझना है, वही जीवका स्वरूप है। इसीलिये विषयात्मक वस्तुओंमें उसकी प्रवृत्ति होती है। वह प्राण और इन्द्रिय आदि जड वस्तुओंसे तादात्मा प्रकारको प्राप्त होकर अपने यथार्थ-स्वरूपको उक्षी प्रकार नहीं देख पाता, जैसे जन्मान्व मनुष्य मार्ग नहीं देख सकता। जगत्के रूपमें बड़ी छई अविद्या-शक्तिसे आचृत होकर जीव अपने आचृत स्वरूपमें ही इष्ट-दृश्य आदि दैतकी कल्पना करके उसमें अभिनिवेश ( सुदृढ़ आपह ) कर बैठता है। जैसे वायु स्पन्द-शक्तिसे आचृत होती है, उसी तरह उस अविद्या-शक्तिसे आच्छादित हुआ जीव अपने यथार्थ स्वरूपको नहीं देख पाता। अज्ञानकी सबसे बड़ी गौठ है आहंभावना। वह मिथ्या विषयभूत और असत् है। उसका जो भेदन है, उसीको तत्त्वज्ञ पुरुषोंने मोक्ष कहा है।

श्रीराम ! मनुष्यको सदा ज्ञानी ही होना चाहिये, ज्ञानवन्धु नहीं। मैं अज्ञानीको अच्छा समझता हूँ, परंतु ज्ञानवन्धुको नहीं।

श्रीरामजीने पूछ—मुने ! ज्ञानवन्धु किसे कहते हैं और ज्ञानी कौन बताया जाता है ? ज्ञानवन्धु होनेका क्या फल है और ज्ञानी होनेपर कौन-सा फल प्राप्त होता है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! जैसे शिल्पी जीविकाके लिये ही शिल्पकलाको सीखना है, उसी प्रकार जो मनुष्य केवल भोगोपार्जनके लिये शास्त्रको पढ़ता और उसकी व्याख्या करता है किंतु खयं शास्त्रके कथनानुसार अनुष्टानमें लगनेका प्रयत्न नहीं करता, वह ज्ञानवन्धु कहलाता है। शास्त्रोंके अभ्याससे जिसे शास्त्रिक बोध तो प्राप्त हो गया है, परतु विनाशशील भोग-व्यवहारोंमें उनसे वैगम्य आदिके रूपमें उस बोधका कोई फल भी दिखायी देता, उसका वह बोध केवल शिल्प है—तत्त्व-ज्ञानकी कथा कहकर दूसरोंको ठगनेके लिये चारुर्यपूर्ण कलायात्र है। उस कलासे केवल जीवननिर्धार्ह मात्र करने-वाला होनेके कारण वह पुरुष ज्ञानवन्धु कहलाता है। जो केवल भोजन और वसामात्रसे संतुष्ट हो भोजन आदिकी प्राप्तिको ही शास्त्राध्ययनका फल समझते हैं, वे शास्त्रोंके अर्थको शिल्पकलाके रूपमें धारण करनेवाले हैं। ऐसे पुरुषोंको ज्ञानवन्धु जानना चाहिये। तत्त्वज्ञ पुरुष परमात्म-ज्ञानको ही ज्ञान मानते हैं। उससे मिल जो दूसरे-दूसरे ज्ञान हैं, वे ज्ञानाभासमात्र हैं; क्योंकि उनके द्वारा सार-

तत्त्व परम्परा परमात्माका बोध नहीं होता । जो परमात्मा-ज्ञानको न पाकर अन्य प्रकारके ज्ञानलेशकी प्राप्तिसे ही संतुष्ट हो जौकिक द्वाखके लिये कष्ट-साध्य चेष्टाएँ किया करते हैं, वे ज्ञानबन्धु माने गये हैं । मनुष्यको चाहिये कि इस संसारमें आद्वारकी प्राप्तिके लिये शाश्वानुकूल

अनिन्द्य कर्म करे । आद्वार भी उत्तना ही करे, जिननेमें प्राणोंकी रक्षा ही सके । प्राणरक्षा भी तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये ही करे । तत्त्वज्ञानकी इच्छा सबके लिये अन्यन्त आवश्यकहै, जिससे फिर कभी अन्य-मरण आदि दृग्भौतिकी प्राप्ति न हो ।\*

( सर्ग २०-२१ )

### ज्ञानीके लक्षण, जीवके बन्धन और भोक्षका स्वरूप, ज्ञानी और अज्ञानीकी विभिन्नता

#### इश्यकी असत्ता सथा परम्पराकी सत्ताका ग्रन्थियादन

जीवसिद्धिकी कहते हैं—खुनान्दन । जो तत्त्वज्ञानके द्वारा ज्ञातव्य परम्परा परमात्मामें दृढ़ निष्ठा हो जानेके कारण पूर्वकृत कर्मोंके फलस्वरूप सुख-दुःखादि प्रारब्धका, शब्द आदि जड़ विषयोंका तथा चित्तका भी सदृप्से अनुभव नहीं करता है, वह ज्ञानीकहलाता है । परमात्माके स्वरूपको यथार्थ रूपसे जान लेनेपर जिस तत्त्वज्ञके समस्त अवहार वस तत्त्वज्ञानके अनुरूप ही होते हैं एवं जिसके लियाँ सम्पूर्ण वासनाओंका अभाव हो चुका है, वह ज्ञानी कहलाता है । जो परमात्म-लाभसे संतुष्ट हो स्वाभाविक-रूपसे परम शान्त है तथा जिसकी सभी चेष्टाओंमें बुद्धिमान् पुरुषोंको आन्तरिक शान्तिका अनुभव होता है, वह ज्ञानी कहलाता है । जो बोध भोक्षका कारण है, पुनर्जन्मका कभी नहीं, उसीका नाम ज्ञान है । उसके दिवा दूसरा जो शब्दज्ञानका चारुर्य है, वह शिल्प-जीविका—जीवननिर्वाहकी कलामात्र है । उसे भोजन, वहनको जुटानेवाली व्यवस्था समझना चाहिये । प्रारब्धके अनुसार जो भी कार्य प्राप्त हो जाय, उसमें जो पुरुष कामना और संकल्पसे रहित होकर प्रकृत होता है तथा जिसका हृदय शरत्कालके आकाशकी भौति आवरण-क्षून्य ज्ञानके आलेकसे प्रकाशित है, वह पण्डित ( ज्ञानी ) कहलाता है ।

ये जो जगत्के विविध पदार्थ हैं, वे किसी कारणके बिना ही उत्पन्न-से होते हैं । इसलिये ये वारत्वमें ही ही नहीं, तो भी विद्मानकी भौति प्रतीत होते हैं । जो असत्य होते हुए भी मासित हो रहे हैं, उन पदार्थोंकी प्रतीतिमें एकमात्र यह अज्ञान ही कारण है । इम अज्ञानका ज्ञानकालमें तत्काल नाश हो जाता है । यह जीव अपनेसे भिन्न जड़ अहंकार और शरीर आदिका जब अनुभव करता है, तब तत्काल ही उनके साथ अपना ताटाभ्य मानकर उनको अपना स्वरूप समझ बैठता है । यही इसका संसार-बन्धन है और जब यह अपनेको चिन्मय समझता है, तब सचिदानन्द परमात्मस्वरूप ही हो जाता है । यही इसका मोक्ष है । यह जीव जो अज्ञान-निद्रामें पद्धतर अचेत हो रहा है, जब जाग उठता है, तब परमात्मरसके आवेशसे परमात्मरूपताको ही प्राप्त हो जाता है—टीक उसी प्रकार जैसे हे मन्त्र अत्ममें सोया हुआ-सा आमना शृक्ष उसन्त अत्ममें रसायेशके कारण प्रचुर-सा होकर जब पछिन एवं पुष्टि हो जाता है, तब ‘सहकार’ नाम धारण करता है । जो इस्य शोभाके पारदर्शी ज्ञानी पुरुष परादृष्टि ( तत्त्वज्ञान ) को प्राप्त कर चुके हैं, उन्हें इस विस्तृत इत्यग्रन्थके विद्मान होनेपर भी इसका भान नहीं होता ( वे सद्बयों परम्परा ही समझते हैं ) । जो परादृष्टिको प्राप्त हो चुके

\* अत्राहरये कर्म कुर्यादनिर्मयं कुर्यादाहरं प्राप्तसंवरणयम् ।

प्राणा संधार्याद्यत्वविज्ञानार्थं तत्त्वं विजात्य येन भूयो न दुःख्य ॥

( निः ३० २३ । १० )

हैं, उन्हें दृश्य-प्रपञ्चका मान न होनेके कारण उनकी जेष्ठा भी वास्तवमें जेष्ठा नहीं होती। इनी पुरुष दृश्य-दर्शनके अभिमानसे बँधते नहीं, इसलिये बन्धनमुक्त सौङ्की भौति सांसारिक कर्मवन्धनके सम्बन्धसे रहित रहते हैं। वे प्रारब्धानुसार प्राप्त दुए कर्मोंके लिये उसी तरह काम और संकल्पसे रहित होकर जेष्ठाएँ करते हैं, जैसे बृक्षके पत्तोंको कमित करनेमें वायु। जो संसारके पारदर्शी पुरुष सर्वोऽकृष्ट ग्रसदृष्टिको प्राप्त कर चुके हैं, वे कर्मकी प्रशंसा नहीं करते हैं—ठीक उसी तरह, जैसे नदीके तटपर निवास करनेवाले पुरुष कूपकी प्रशंसा नहीं करते। किंतु अज्ञानी पुरुषोंकी इन्द्रियों अधःपतनके हेतुभूत विषयोंपर इस प्रकार गिरती हैं, जैसे गीष मासके ऊपर दूट पड़ता है। इसलिये विद्वान् पुरुषको चाहिये कि वह इन सम्पूर्ण इन्द्रियोंको मनके द्वारा वशमें करके समाहित-चिन्त हो उस परमात्माके चिन्तनमें लग जाय।

जैसे सुवर्ण कटक, कुण्डल आदि आभूतणोंसे मिज नहीं है, उसी तरह वह भी सूषिट्से मिज नहीं है; इसीसे 'सुषिट' आदि शब्दोंका अर्थ तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिमें कल्याणमय भ्रम ही कहा गया है। जैसे कल्पके अन्तमें जब एकमात्र अन्धकारही छा जाता है, तब यह सारा व्यवहार निर्विभाग और निरामास ही रहता है, दैसे ही सञ्चिदानन्दघम भ्रममें यह जगत् विमाग और आभाससे रहित ही रहता है। दैसे अवयवरहित आकाशमें दिशाओंके विमागरूप आकाशके अवयवोंकी अमिज सृष्टि भासित होती है, उसी प्रकार अवयवरहित शिवलक्षणरूप परमात्मामें यह हैताहैत सृष्टि भी अभिन्नरूपसे विद्यमान है। इस प्रकार जगत्के भीतर अहंकार और अहंकारके भीतर जगत् है। ये दोनों एक दूसरेमें उसी प्रकार स्थित हैं, जैसे केलेके तनेकी छालमें तना और तनेमें उसकी छाल होती है।

जिस ग्वालेका मन ग्वेशालाके बर्तनों ( दूध हुनेके पार्श्वों ) में लगा हुआ है, वह घरमें रहकर घरके काम करता

हुआ भी उन्हें नहीं देख पाता, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी पुरुष जीवन-निर्बाहके लिये सब कार्य करता हुआ भी ब्रह्मचिन्तनमें रत होनेके कारण उन्हें नहीं देखता है। जिसके भीतर तुच्छ दृश्य-प्रपञ्चकी भावना नहीं है, वह जीते-जी आकाशके समान निर्मल और बन्धनसे छूटे हुएकी भौति मुक्त है। जो पुरुष सांसारिक पदार्थोंमें अभावरूपताकी भावना नहीं करता, भौक्षके लिये यत्न करनेवाले उस पुरुषका जन्म-मरणरूपी अनन्त दुःख कभी शान्त नहीं होता। तत्त्वज्ञानी पुरुष यहाँ सम्राट्के समान शोभा पाता है। उसे प्रारब्ध-वश जो कोई भी वस्तु देकर उसके शरीरको ढक देता है, जो कोई भी भोजन करा देता है तथा वह जहाँ-कहाँ भी सो जाता है। वह समग्र विशुद्ध वासनाओंसे युक्त होकर भी वासनारहित ही रहता है। भीवरसे शून्य होता हुआ भी परिपूर्णत्वा होता है अर्थात् उसका अन्तःकरण पूर्ण परमात्मकी भावनासे भर होता है और जैसे आकाशमें वायु चलती है, उसी तरह उसकी भी सौंस चलती रहती है ( परंतु वह देह और उसकी वासनाओंसे रहित हुआ परमात्मरूपसे ही स्थित रहता है )। तत्त्वज्ञानी पुरुष निर्बाण-दशाको प्राप्त हो मनके द्वारा ग्राहमात्मका भनन करनेसे जब परमानन्दमें निमग्न हो जाता है, तब नीदमें पहे दुए मनुष्यकी भौति आसन, शर्वा अपवा सवारीमें स्थित वह गत्पूर्वक जगानेसे भी नहीं जागता। खुनन्दन। तत्त्वज्ञानी और अज्ञानी—दोनोंके सम्पूर्ण उत्पत्ति-विनाशशील कर्मोंमें वासना-जून्यताके सिवा दूसरा कोई अन्तर नहीं होता ( अर्थात् ज्ञानी वासनारहित होकर कर्म करता है और अज्ञानी वासनायुक्त होकर )।

यह सारा दृश्य-प्रपञ्च नष्ट होता है और नष्ट होकर फिर उत्पन्न होता है, इसलिये असत् है। परंतु जो न को कभी नष्ट हुआ औरन उत्पन्न ही हुआ, वही सत्त्वरूप परमात्मा है और वह परमात्मा ही तुम हो। ज्ञानसे जगत्-रूपी भ्रमका शूल ( अज्ञान ) नष्ट हो जाता है। फिर

तो हँडनेपर भी इस अमका पता नहीं चलता । जैसे मुग्धल्णा जड़ नहीं दे सकती, उसी तरह निर्मल हुआ अम सासारखी अंकुर नहीं उत्पन्न कर सकता । जैसे नला हुआ बीज अंकुरित नहीं हो सकता, उसी प्रकार परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से छिन्ह हुई अहंमावना दिखायी देनेपर भी मनोभूमि में संसारखी वृक्षका अंकुर नहीं उत्पन्न कर सकती । मानसिक विकारों से रहित वीतराग तत्त्वज्ञानी पुरुष कर्म करे या न करे, उसकी स्थितिमें कोई अन्तर नहीं आता । वह तो मनके संकल्प से रहित एवं निष्य शान्त हुआ परन्नदा परमात्मामें ही स्थित रहता है । जो लोग योगकृ धाश्रय लेकर शान्त बने हुए हैं, वे योगी भी वित्तका उपशमन होनेपर ही भवीभौति

शान्त हो पाते हैं, अन्यथा नहीं; क्योंकि उनकी भोग-वासनाएँ भूत्तः क्षीण नहीं होती । ( कारण यह ही कि इन वासनाओंकी खानख प जो चित्त है, वह तो उनका दना ही रहता है । ) अनन्त, अन्यत एवं सुन्दर चिट्ठाकाशस्थ पर्यंत अपने भीतर स्थै जो चमकार प्रकार करता है, उसीको वह जगत्खण्डसे जानता है । रघुनन्दन ! इन तरह यह जगत् तत्त्वज्ञानी पुरुषको उसका सासारिक भम दूर हो जानेके कारण प्रकाशमयतया शान्त अक्षय शङ्खस्थ ही भासित होता है, जब कि अज्ञानीको यद परमार्थतः परमह फामात्मामें स्थित होकर भी भोगजनित आनन्दके अनुगत ही प्रतीत होता है । ( इस प्रकार दोनोंकी दृष्टियोंमें भैद है । )

( सर्ग २२ )

### मरुभूमि के भार्गमें मिले हुए महान् धनमें महर्षि वसिष्ठ और महिका समागम एवं संचाद

श्रीवासिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! पहलेकी बात है । महिनामसे प्रसिद्ध एक ज्ञान थे, जो बड़े कठोर प्रकार पालन करते थे । उन्हें मेरे उपदेशसे किस प्रकार निर्वाणपदकी ग्रासि हुई, यह बताता हूँ, मुझे । एक समय तुम्हारे पितामह राजा अजके किसी कार्यसे तुलानेपर मैं आकाशमण्डलसे इस पृथ्वीपर आया । तुम्हारे पितामहकी नंगरी अयोध्याको आते समय मैं भूतल्पर विचरता हुआ किसी ऐसे विशाल धनमें आ पहुँचा, जहाँ वही कढ़ाकेकी धूप पढ़ रही थी । श्रीराम ! अविच्छिन्नरूपसे धूल उड़नेके कारण वह सारा जंगल धूसर हो रहा था । वहाँ तपी हुई बाल्के कण खूब अमक रहे थे । उस धनका कहीं और-छोर नहीं दिखायी देता था । वहाँ कहीं-कहीं निरुष्ट ब्रेणीके गाँवके चिह्न दृष्टिगोचर होते थे । मैं उस जंगलमें जाकर ज्यों ही इवर-उधर धूमने लगा, ज्यों ही मुझे अपने सामने एक पथिक दिखायी दिया जो धर्मसे घककर इस प्रकार कह रहा था ।



पथिक कह रहा था—अहो ! जैसे दूष पुरुणोंका पापपूर्ण सङ्ग संताप देनेवाला ही होता है, उसी प्रकार

प्रथम्ण आतपसे तपते हुए ये सूर्योदय इस समय सब ओरसे खेद ही प्रदान कर रहे हैं। मेरे सारे मर्मस्थल मानो बलते जा रहे हैं। इस धूपमें आग-सी जल रही है। सारी बन-श्रेणियाँ तस हो उठी हैं। इनके पारे और छूल सिकुड़ गये हैं। इसलिये यह सामने जो छोटा-सा गौंव दिखायी दे रहा है, मैं पहले इसीमें प्रवेश करता हूँ। वहाँ श्रीप्रतापूर्वक थकावट दूर करके तीव्र गतिसे अपना रास्ता छूँगा। ( यों कहकर वह सामने के छोटे-से गोंवमें, वहाँ किलातोंकी बस्ती थी, जों ही भुसने लगा थ्यों ही मैंने उससे यह बात कही—सुन्दर शरीरवाले साथी ! जान पड़ता है, तुम्हें तीतराग अकिञ्चन पुरुषों-के संचरण योग्य भार्गका ज्ञान नहीं है। महभूमिके भार्ग-में मिले हुए इस महान् जंगलके राही ! तुम्हारा स्वागत है। नीचेके भार्गसे घलनेवाले राहगीर मनुष्य देशके इस भार्गपर, वहाँ जनसमुदायसे भरे हुए गौंवका अभाव है, थोड़ा-सा विश्राम कर लेनेपर भी चिरस्थायी विश्राम प्राप्त नहीं कर सकोगे। ( तात्पर्य यह कि तुम सकाम कर्मके पथपर चल रहे हो। इस सकाम-कर्मोपासनाद्वारा दक्षिणभार्गसे स्वर्गादि लोकोंमें जाकर मुछ काल्पतक भनोड़नुकूल सुख भोगनेपर भी वहाँ देहाभिमानसे बैधे रहनेके कारण चिरस्थायी परमानन्दस्वरूप मोक्ष नहीं पा सकोगे। ) पार्थरोंके आवासस्थान इस गौंवमें (देहाभिमानियों-के निवासस्थान इस शरीरमें) विश्राम नहीं मिल सकता। जैसे नमकीन पानी पीनेसे व्यास बढ़ती ही है, बट्टी नहीं, उसी प्रकार यहाँ सुखमोगकी इच्छा बढ़ती है, परंतु पूरी नहीं होती। यहाँ रहनेवाले ग्राणी काम, घनकी आसक्ति और द्रेष आदिमें ही पुरुषार्थकी पराकाष्ठा समझते हैं। इनके विचार जले हुए हैं। इसलिये ये आपातरमणीय सकाम कर्ममें ही रथते रहते हैं, जिससे उनमें कुलीनता-के कारण विस्तारको प्राप्त होनेवाली, उदार, शीतलतथा, श्रद्धामन्दसे सुशोभित होनेवाली विवेकयुक्त मुद्दि नहीं होती। जैसे मधुमिश्रित विषके कण यज्ञमरके छिये खादमें मीठे

होते हैं, किंतु दूसरे ही क्षण अपनी ओरसे विराग उत्पन्न कर देते हैं और अनिवार्यरूपसे मृत्युदायक होते हैं, उसी प्रकार भाग्य सुखमोग क्षणभरके लिये मधुर प्रतीत होते हैं किंतु दूसरे ही क्षण विराग पैदा कर देने तथा प्रायः मार डालनेवाले होते हैं ( अतः इनके उपभोगसे तुम्हें विरविश्रामकी उपलब्धिनहीं हो सकती ) ।' निष्पाप श्रीराम । जब मैंने ऐसी बात कही, तब भेरे वचनसे उसे इतनी शान्ति मिली, मानो उसने अमृतमय जलसे स्नान कर लिया हो। तत्पश्चात् वह मुझसे इस प्रकार बोला ।

पथिकने कहा—भगवन् । आप कौन हैं ? आप भीतरसे पूर्णकाम आत्मज्ञानी महात्मा जान पड़ते हैं। आप इस जगत्को शान्तमावसे देख रहे हैं। क्या आपने अमृतका पान किया है ? क्या आप समादृया विराट् पुरुष हैं ? सम्पूर्ण अर्थोंसे रिक्त होते हुए भी आप परिपूर्ण चन्द्रमाके समान सुशोभित हो रहे हैं। मुने ! आपका शान्त, कान्तिमान्, अप्रतिहत, सब ओरसे निवृत्त तथा शक्तिशाली तेजस्वी रूप जो दिखायी देता है, यह कैसे ? आप पृथिवीपर स्थित होकर भी ऐसे जान पड़ते हैं, माझे समर्थ लोकोंके ऊपर आकाशमें खड़े हों। आपकी संसारमें कहीं भी आसा नहीं है, तथापि मुझ-जैसे लोगों-के द्वाराके लिये आप अत्यन्त दृढ़ आसासे युक्त दिखायी देते हैं। आप पूर्ण चन्द्रमाके समान सम्पूर्ण कलाओंसे युक्त होते हुए भी निकलद्दू हैं। आपका अन्तःकरण शीतल है। आप ग्रकाशमान, समर्थबुद्धिसे युक्त तथा रसायनकी राशिसे सम्पन्न होकर अपनी सहज शोभासे प्रकाशित हो रहे हैं। महाभाग ब्रह्मर्थे ! मैं शापिदल्य गोत्रमें उत्पन्न ब्राह्मण हूँ। मेरा नाम महिं है। मैं शीर्यश्रावके लिये निकला था। मैंने दूरतकका रास्ता तैयारकरके बहुत-से तीर्थोंका दर्शन किया है और अब दीर्घ-कालके पश्चात् अपने घरको जानेके लिये उपर दूधा हूँ। इस गङ्गापादके भीतर विचक्षीकी चमकके समान छान-

महुर भूतोंको देखकर मेरा मन संसारसे बिरक्त हो रहा है । अतः अब मुझे घर लौटनेका उत्साह नहीं है । भगवन् ! मुझपर कृपा करके आप अपना यथार्थ परिचय दीजिये; क्योंकि साजु पुरुषोंके हृदयरूपी सरोवर स्वच्छ एवं गम्भीर होते हैं । दर्शनमात्रसे ही भिंत्रता करनेवाले आप-जैसे महात्माओंके सामने आ जानेपर ही समस्त प्राणी कल्पोंके समान विकसित और आश्रित होते हैं । प्रभो ! मैं समझता हूँ कि मेरा यह मन मोहब्बत संसार-धर्मजनितदुःखको मिटानेमें समर्थ नहीं है । अतः आप मुझे तत्त्वज्ञानका उपदेश देनेकी कृपाद्वारा अनुगृहीत कीजिये ।

तब मैंने कहा—महाबुद्ध ! मैं आकाशवासी विसिष्ट मुनि हूँ । राजर्पि अजके कित्ती आवश्यक कार्यसे मैं इस वर्गपर उपस्थित हुआ हूँ । ग्रहण । अब तुम विवाद न करो; क्योंकि मनीषी पुरुषोंके भाग्यपर आ गये हो और प्रायः संसार-सागरके दूसरे तटपर आ पहुँचे हो । जो महारथा नहीं है, उसकी बुद्धि और वाणी इस तरहके वैराग्य-वैभवसे उदार नहीं होती तथा उसकी आकृति भी

इतनी शान्तिपूर्ण नहीं दिखायी देती । जैसे धीरे-धीरे सानपर विसर्गेसे मणि साफ होकर चमक उठती है, उसी प्रकार राग आदि मर्तोंके पक जानेसे विचमे विवेकका उदय होता है । बताओ, तुम क्या जानना चाहते हो ? और इस संसारको क्यों छोड़नेकी इच्छा रखते हो ? मैं तो यह मानता हूँ कि साधक अपने ही प्रयत्नोंसे महात्माओंके दिये हुए उपदेशको सफल बनाता है । जिसकी वासना रागादि मर्तोंसे रहित ही गयी है, अतएव जिसका हृदय वैराग्य आदि उत्तम साधनोंसे सम्पन्न है तथा जिसकी बुद्धि नित्यानित्य एवं सारासारके विवेकसे सुशोभित है, ऐसा साधक ही श्वापुरुषों-के उपदेशरूपी तेनसे शोकरहित विशुद्ध परमात्म-तत्त्वको प्राप्त करनेका अधिकारी होता है, दूसरा नहीं । इसनिये जन्म आदि सम्पूर्ण हुःखोंसे पार होनेकी इच्छा रखनेवाले तुमसे मैं यह कहता हूँ कि तुम उपदेश पानेके योग्य हो । अतः अपना पूर्व वृत्तान्त बताओ ।

( सर्ग २३ )

### महिंके द्वारा संसार, लौकिक सुख, मन, बुद्धि और तृष्णा आदिके दोषों तथा उनसे होनेवाले कष्टोंका वर्णन और वसिष्ठजीसे उपदेश देनेके लिये प्रार्थना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! जब मैंने ऐसी बात कही, तब महिंके मेरे चरणोंमें साषाङ्ग प्रणाम करके नेत्रोंमें आनन्दके आँसू भरकर मार्गमें चलते हुए ही इस प्रकार थोड़े ।

महिंने कहा—मगवन् ! जैसे नेत्र बारंबार दसों दिशाओंको और दृष्टिपात करते हैं, उसी प्रकार मैंने भी संन-महात्माओंको खोजके लिये अनेक बार दसों दिशाओंमें भ्रमण किया; परंतु संशयका विनाश करनेवाला कोई श्रेष्ठ महापुरुष मुझे नहीं मिला । आज आपको पाकर

मैंने समस्त शरीरोंके सारोंके भी सार इस ज्ञानशरीरका फल पा लिया । भगवन् । संसाररूपी दोष प्रदान करनेवाली दशाओंको देखते-देखते मैं उद्दिष्ट हो उठा हूँ । मुने ! संसारके सभी सुख अन्ततोगत्या अवश्य ही हुःखरूपमें परिणत हो जाते हैं, इसनिये वे अवश्य हुःखरूप ही हैं । इन संसारिक सुखोंकी व्यापेशा तो हुःख ही श्रेष्ठ है । अन्तमें मुद्दद हुःखकी प्राप्तिकलनेके कारण ये लौकिक सुख मुझे हुःखमें ही टाल रहे हैं । मानो मेरे लिये हुःख ही सुखके रूपमें प्राप्त हुआ हो ।

२०. मित्रका दूसरा अर्थ सर्व है । सर्वके सामने कमल खिलते हैं, अतः यहाँ ‘मित्रका’ शब्द भैंडी तथा मूर्दस्त्रवा

दाँत, केश और आँतोंके साथ ही मेरी अवस्था भी अब जरासे बर्जर हो गयी है। मेरा मन पीपलके ढडते हुए सूखे परे अदिके संचयसे गढ़े गौंबोंके मध्यभागकी भौति मणिन हो गया है तथा मेरी जीविका भी नाना प्रकारकी भोग-वासनारूपी दुर्गन्धोंको अपने अङ्गमें धारण करनेवाली गृहप्रतुल्य इन्द्रियोंके कारण मिकृष्ट गौंबोंकी स्थितिके समान अत्यन्त पापशूर्ण एवं दृश्यायिनी हो गयी है। मेरी बुद्धे काटेदा, बृशपर कलनेवाली बे अके समान विकराल एवं कुटिल है। आयाससे युक्त और अज्ञानान्वकारसे आच्छादित जो विषयोंकी निरन्तर चिन्ता है, उसमें रत रहकर मैंने अपनी मारी आयु अर्थ गवां दी है। ब्रह्म-साक्षात्कार-रूपी प्रकाश मुझे इस जीवनमें अमीनक नहीं मिला। स्ख गतोंमें आपक हुआ यह जीवन जीर्ण हो चला, परंतु अद्वनक मैं संसारको पार न कर सका। जन्म-मरणका भय देनेवाली मोर्गोंकी अभिलापा दिनों-दिन बढ़नी जा रही है। कण्ठग्रयुक्त और अपवित्र स्थानमें स्थित भिलावेके घृभक्ती भौति मेरा मन भी कूर्त्तासे युक्त और अपवित्र विषयोंमें रत है। यह सारे शरीरमें फैलने या रोगनेवाले अर्जुनवात नामक रोगके समान चञ्चल हैं तथा असूत् होनेपर भी सजलद्वारा बड़े-बड़े कर्मोंका आरम्भ

करनेवाला है। इसकी इच्छाएँ कभी पूरी नहीं हुई तथा शरीरोंके मरनेपर भी इसकी शूलु नहीं हुई। यह केवल हुःख देनेके लिये ही उठल-कूद मचाता है। मैंने अवस्थाको ही बस्तुं समझा है। मेरा मनरूपी द्वारी मतवाल हो गया है और इन्द्रियों मुझे काटे डालती हैं। न जाने मेरी क्या दशा होगी। मैंने ज्ञानी पुरुषोंकी सेवा करके वह शाकीय दृष्टि नहीं प्राप्त की, जो संसार-सांगरसे पार करनेके लिये नौकाके समान है। तात। इसलिये इस प्रकार सब ओरसे अनर्थोंकी ही प्राप्ति होनेके कारण मैं अत्यन्त भयंकर मोहमें दूष गया हूँ। इस योह सागरसे उद्धार पानेके लिये भविष्यमें जो कल्याणकारी उपाय हो, उमीको मैं पूछ रहा हूँ। अनः कृपा करके आप उसे बताइये। श्रेष्ठ महामा पुरुषका सङ्ग प्राप्त होनेपर मोहक नाश हो जाता है और समस्त आशाएँ निर्मल हो जाती हैं— ठीक उसी तरह जैमे शरक्ताल आनेपर कुर्हरे मिट जाते हैं और समूर्ण दिशाएँ स्त्रुच्छ हो जाती हैं। संतोंकी महिमाके विषयमें जो ऐसी आत कही गयी है, वह आपके द्वारा मुझे भवरोगको शान्त करनेवाले बोधकी प्राप्ति करनेके साथ ही सत्य एवं सफल हो। ( सर्ग २४ )

### संसारके चार बीजोंका वर्णन और परमात्माके तत्त्वज्ञानसे ही इन बीजोंके विनाशपूर्वक मोक्षका प्रतिपादन

श्रीविष्णुजीने ( मैंने ) कहा—महान् ! संत्रेदन, भैव्रना, वासैना और कल्लेना—ये चार ही शब्द ऐसे हैं, जिनके अर्थ इस संसारमें अनर्थ पैदा करनेवाले हैं। ये सभी मिथ्या होनेके कारण निष्प्रयोग्यन हैं, तथापि

१. पहले-पहल इन्द्रियोंसे जो विषयोंका उपभोग होता है उनीको संवेदन करते हैं। २. विस्त्रेंके नष्ट हो जानेपर उनका बारबार चिन्तन ही भावन कहा गया है। ३. बारंबार विषय-चिन्तनसे जो चित्तमें विषयोंका दृढ़ स्वरूप बम जाता है, उसका नाम वाक्या है। ४. उस वासनाके कारण मृत्युकलमें भवी शरीरके लिये जो स्मृति होती है, उसको कलना कहते हैं।

अविद्यासे विस्तारको प्राप्त हो रहे हैं। वेदन और भावन—इन दोको समस्त दोषोंका आश्रय समझो। इनमें भी जो भावन है, उसीमें सारी आपत्तियाँ निवास करती हैं— ठीक वैसे ही, जैसे वसन्तऋतुके द्वारा प्रवर्तित रसमें ही पुष्प, पलुव आदिसे समुद्र लताएँ विद्यमान रहती हैं ( क्योंकि लताका सारा वैभव उस रसका ही परिणाम होता है )। यह संसारमार्ग बड़ा गहन है। इसपर वासनाका आवेश लेकर चलते हुए प्राणीके ऊपर विद्युत परिणामवाले अनेक प्रकारके घटनान्वक आते रहते हैं। जो

विवेकी है, उसका संसारभ्रम बसन्तके अन्तमें ग्रीष्म श्रावणके तापसे सूख जानेवाले पृथ्वीके रसकी मौनि वासना-सहित नष्ट हो जाता है। यिस प्रकार बसन्त श्रावणका रसप्रवाह कहलीशनमें फैलनेवाली करनीका विस्तार करती है, उसी प्रकार वासना श्वारुली कठिनादार वाषी-का प्रसार करती है। यहाँ अद्वेताय विशुद्ध सचिदानन्द-धन परमात्माके सिवा दूसरा कुछ भी नहीं है। जैसे अनन्त आकाशमें शून्यरूपताको छोड़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है, उसी प्रकार अनीय परमात्मामें चैतन्य सत्ताके सिवा और कोई वस्तु नहीं है। जैसे बालकको खेतालके न होनेपर भी अज्ञानवश उसके होनेका अप हो जाता है, उसी प्रकार असत् छोड़कर भी सत्तकी भाँति भासित होनेवाला यह संसार परमात्मसत्त्वको न जाननेके कारण ही अनुभवमें आ रहा है। परमात्मतत्त्वके ज्ञानका प्रकाश होते ही यह क्षणमरमें नष्ट हो जाता है। जो वस्तु तत्त्वज्ञानसे ज्ञात होती है, वह ज्ञानरूप ही कही जाती है; क्योंकि अज्ञान ज्ञानका विरोधी है, इसलिये वह ज्ञानरूपसे नहीं जाना जाता। इस तरह विचार

करनेसे जेय और ज्ञान दोनों एकरूप सिद्ध होने हैं। उनमें कोई भेद नहीं है। इष्टा, दर्शन और दृश्य—इन तीनोंमेंसे प्रत्येककी वौधरूपता ही सार है। जैसे आकाशमें शूल नहीं होता, उसी तरह इष्टा भग्निकी त्रिपुरीमें ज्ञानरूपतासे मिल दूसरी कोई वस्तु नहीं होती। 'यह मेरा है' इस तरहकी ममता ही वन्धनमें दाननेवाली है और मैं यह करीर आदि नहीं हूँ। इस प्रकार जो अहंताका अभाव है, वह ममनाके वन्धनबड़े दूर करने मुक्ति प्रदान करनेवाला है—जब यह समझ पूर्णता ग्रहणे अवीन हो जाय, तब अज्ञान बहाँ रहा। अपनी वासना और अभिमानके अनुसार यह आदि रमसे रक्षित लोग हथेलीसे तादित हुए गेंदके समान खूब इधर-उधर उछ-कूदकर अन्तमें नरकोंके गर्तगे गिर जाते हैं। वहाँ दीर्घ-कालीक ताह-नरहकी वासनाओंके कंठद्वारा से भग्नीभौमि जर्जर ही कालान्तरमें पुनः साथर, हृषि-मीठ आदि दूसरे-दूसरे रूपोंमें प्रकट होते हैं। (मानव-जन्म तो उनके लिये दुर्लभ ही बना रहता है।) (सर्ग २५)

### भावना और वासनाके कारण संसार-दुःखकी प्राप्ति तथा विवेकसे उत्तरी शान्ति, सर्वथ्र ब्रह्मसत्त्वका प्रतिपादन एवं मङ्गिके मोहका निवारण

श्रीकृष्णजी कहते हैं—ग्रहान्। संप्रारके ये सभी पदार्थ वनमें विकृरे हुए प्रस्तर-खण्डोंके समान एक-दूसरेसे कोई लगाव नहीं रखते। भावना ही हन्ते एक-दूसरेसे जोइनेके लिये शृङ्खला है। अहो ! किनने आर्थिकी बात है कि वासनाके वशीभूत होकर विवश हुए ये समस्त प्राणी विभिन्न जन्मोंमें विवित प्रकारके मुख-दुःखोंको भोगते रहते हैं। अहो ! यह वासना बही विषम है, जिसके वशमें होकर लोग अपस्त विषयोंसे ही अपने मनमें तृप्तिका अनुभव करते हैं, यथापि यह तृप्ति उनका अप ही है। जैसे रूपका अवश्योक्त्व दृष्टिका प्रसारमात्र है, उसी प्रकार

अहंकारयुक्त जगद् जीवात्माके अविवेक और प्रमाणमें पूर्ण मानसिक मरणका विलारमात्र है। जैसे वायु अपनी चेष्टाका प्रसार करती है, उसी प्रकार इन्द्रजि जीवात्मा वासनामें शुद्ध होनेपर भी किंचित् अविवेक-जनित् प्रसरणमात्रसे अहकारयुक्त अपत् जगद्वग विस्तार करता है। जैसे जड आकाश शून्यमात्र है, वायु स्पन्दनमात्र है और लहर आदि जलमात्र ही है, उसी प्रकार यह जगद् भी जीवात्मकी ग.ग.ग. या सङ्कल्पमात्र ही है। 'हम' शब्दसे निस मत्ताग्र प्रतिपादन किया जाता है, वही मध्यूर्ग पदार्थका उत्ता गत्तिका रूप है। हममें किसी साहस्री गत नहीं

है। इसलिये सब कुछ अविनाशी ब्रह्मपय ही है।

श्रिय विग्रह। आकाशके समान निर्मल आत्मामें मनको विलीन करके स्थित हुए ज्ञानयोगीको नाम और रूपकी प्रतीति ही नहीं होती। सरूपस्थितिके लिये उसके द्वारा किया गया अभ्यास जबतक दृढ़ नहीं हो जाता, तभी तक उसे अपने मनमें सभ-विकारके समान नाम-रूपका भान होता है। मन जहाँ जो कुछ निर्माण या प्रसार करता है, वहाँ वह स्थित हो उन-उन वस्तुओंका रूप धारण करके स्थित हो जाता है। अतः मनसे मिन किसी दृश्य वस्तुकी सत्ता न होनेके कारण यह दृश्य-प्रपञ्च ब्राह्मत्रमें है ही नहीं। फिर कौन कहो कि सभी सुष्ठुप्ति करता है? जब जीवात्मामें अहंताकी रेखा खिच जाती है, तभी वह संसार-भ्रमरूप भाव-विकारसे बुल्ह हो जाता है और जब अहंताकी वह रेखा पिट जाती है, तब वह अपने सरूपमात्रमें स्थित हो सहज शान्तिसे सुशोभित होता है। परमात्मा मोक्षसरूप, मनसे रहित, मौनी, कर्ता, अकर्ता और शीतल है। वह ज्ञानसरूप एवं शान्त ही है। वह दृश्य-प्रपञ्चसे शून्य होता हुआ ही सर्वत्र परिपूर्ण है। जैसे किसी यन्त्रद्वारा बनाये गये पुतलेका शरीर वासना और चेष्टासे शून्य होता है, उसी प्रकार ज्ञानसरूप आत्मा वास्तवमें वासनारहित एवं स्पन्दनशून्य है। वह ध्यनद्वारा-परायण प्रतीत होकर भी अपने यथार्थ सरूपमें ही स्थित रहता है।

जैसे झूलते हुए झूलेमें सोये हुए बालकके अङ्ग नहीं हिलते, झूलेके हिलनेसे ही उन अङ्गोंका हिलना प्रतीत होता है, उसी प्रकार आत्मानी पुरुषमें सरूपानु-

संधानके सिवा दूसरी कोई चेष्टा नहीं होती; वे परेष्ठासे ही चेष्टाशील दिखायी देते हैं, खतः नहीं। आशा, चेष्टा, धृषणा और कामना आदिसे रहित तथा विहर्मुख शृंचिसे शून्य जो अखण्ड आत्मबोध है, वह शान्त, अनन्त आत्मसरूप ही है। अतः उसे शरीर आदिका अनुसंधान होना कैसे सम्भव है। समस्त कामनाओंसे रहित जांघन्मुक्त ज्ञानी पुरुषको, जो इष्टा, दृश्य और दर्शनको विपुलीसे रहित निराकार ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार कर चुका है, शरीरका अनुसंधान कैसे हो सकता है। समस्त वस्तुओंकी अपेक्षा ( इच्छा ) ही सुदृढ़ बन्धन है और उनकी उपेक्षा ही मुक्ति है। जो उस मुक्तिमें विश्राम कर रहा है, उसे किस वस्तुकी इच्छा हो सकती है। तत्त्वज्ञानी विद्वान् केवल अपने यथार्थ सरूपमें ही स्थित रहता है। उसकी सारी इच्छाएँ और चेष्टाएँ शान्त हो जाती हैं तथा उसकी सब उत्कण्ठाएँ दूर हो जाती हैं। उसे अपने शरीरका भी भान नहीं होता।

श्रीराम! मेरे इस उपदेशको सुनकर महिने वहाँ अपने महान् मोहको भी उसी तरह पूर्णसरूपसे स्थान दिया, जैसे सौंप अपनी केन्द्रको छोड़ देता है। प्रारब्धवश प्राप्त हुए कार्यको वासनाशून्य होकर करते हुर महिमुनि सौ वर्षोंके पश्चात् एक पर्वतपर समाधिमें स्थित हो गये। वे आजतक वहाँ प्रस्तरके समान निश्चल होकर बैठे हैं। उनकी नेत्र आदि समस्त हन्दियों शान्त हो गयी हैं। कभी-कभी दूसरोंद्वारा जगाये जानेपर ज्ञानयोगी महिं समाधिसे जग भी जाते हैं।

( सर्ग २६ )

आत्मा या ब्रह्मको समता, सर्वरूपता तथा द्वैतशून्यताका प्रतिपादन; जीवात्माकी ब्रह्मभावनासे संसार-निष्ठुर्चिक्षा वर्णन

श्रीकृष्णिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! सर्वत्र व्यापक है। उसमें अङ्गानवश ही अनेकताकी कल्पना हुर्द है। परमात्मा एक होता हुआ ही सभी रूपोंमें विराजमान ज्ञान हो जानेपर तो न वह एक है और न अनेक

य सर्वलुप ही; फिर उसमें नानास्थकी कल्पना कैसे हो सकती है। आदि-अन्तसे रहित सारा आकाश चित्तस्थ—सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मासे परिपूर्ण है। फिर शरीरकी वस्तुति और विनाश होनेपर भी उस चेतन तत्त्वका खण्डन कैसे हो सकता है। अग्रावास्याके बाद जब प्रनिपदाको चम्भमाकी एक कला उद्दित होती है, तब समुद्र आनन्दके मारे उछलने लगता है और जब प्रथम्यकालकी प्रचण्ड वायु चलती है, तब वह सख जाता है। परंतु आत्मतत्त्व कभी किसी अवस्थामें न तो क्षुब्ध होता है और न क्षीण ही होता है। वह सदा सममावसे सौम्य बना रहता है। जैसे नावपर यात्रा करनेवाले पुरुषको स्थावर वृक्ष और पर्वत आदि चलते-से प्रनीत होते हैं तथा जैसे सीधीमें लोगोंको चाँशीका भ्रम होता है, उसी प्रकार चित्तको चिन्मय परमात्मामें देहादिरूप जगत्की प्रतीति होती है। यह शरीर आदि चित्तकी कल्पना है और शरीर आदिकी दृष्टिसे चित्तकी कल्पना हुई है। इसी प्रकार देह और चित्त दोनोंकी दृष्टिसे जीवमावकी कल्पना हुई है। वास्तवमें ये सब-के-सब परमपदखलूप परब्रह्म परमात्मामें विना हुए ही प्रतीत होते हैं अथवा ये सब-के-सब चिन्मय परम तत्त्वसे मिश्र नहीं हैं; ऐसी दशामें हैत कहों रहा ? परब्रह्म परमात्माका यथार्थ ज्ञान होनेपर यह सब कुछ एकमात्र शान्तखलूप ग्रह ही सिद्ध होता है। अतः ग्रहके सिवा नगत् आदि दूसरा कोई पदार्थ

नहीं है और न दूसरी कोई भावित ही है। रघुनन्दन ! वासनायुक्त जीवाश्माकी भाषणाने ज्ञात् सम्पत्तिका प्रादुर्भाव होता है और वासनाग्रन्थ जीवाश्माकी वस्त्रमावनासे संसारको निवृत्ति होती है। जीवन्मका जो वासनारहित विशुद्ध स्पन्दन ( भावना ) है, उसे समुद्रमें भव आदिके द्वारा भीतर शुभती हुई तरह स्पन्दनशील होनेपर भी स्पन्दनशून्य ही पानी जाती है। किंतु जन्मकी कारणभूता जो जोवास्माकी दृश्यमात्रा है, उसके भीतर जो वासनारस विद्यमान है, वही अनुर प्रकट करता है; अनः उसीको असङ्गलूप अग्निसे जलाकर भस्म कर देना चाहिये। मनुष्य कर्म करता हो या न करता हो; परंतु शुभाशुभ कार्योंमें वह जो मनसे दृष्ट नहीं जाता, उसकी इस अनासक्तिको ही विद्यान् पुरुष अमर् मानते हैं अथवा वासनाको उखाइ फेंकना ही अमर् विद्या गया है। अहंभावका त्याग करना ही ममार-मागासे पार होना है और उसीका नाम वासनाक्षय है। इसके लिये अपने पुरुषार्थके सिवा दूसरी वोई गति नहीं है। श्रीराम ! तुम तो आत्माराम और पूर्णकाम हो दी ही। सारी इच्छाओंसे रहित निदशक हो समस्त कार्य करते हुए भी केवल अपने चिन्मय खलूपमें ही स्थित हो। मय तुमसे सदा दूर ही रहता है। अन. कृष्णनी सहज शान्तिके द्वारा सबके मनोऽभिराम बने रहे।

( सर्ग २७-२८ )

**परमार्थ-तत्त्वका उपदेश और खलूपभूत परमात्मपदमें प्रतिष्ठित रहते हुए व्यवहार करने रहनेका आदेश देते हुए वसिष्ठजीका श्रीरामके प्रश्नोंका उत्तर देना तथा संगारी मनुष्योंको आत्मज्ञान एवं मोक्षके लिये प्रेरित करना**

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! तुम आकाशके समान विशद और तत्त्वके ज्ञाता हो। एकमात्र सच्चिदानन्दवन परमात्मपदमें तृम्भारी स्थिति है। तुम सर्वत्र सम सौम्य और समूर्णानन्दमय हो, तुम्हारा अन्तः-

करण इत्यखलूप एवं विशाल है। निष्पात रघुनन्दन ! जो पुरुष अपनी इन्द्रियोंको बहुत्संग दरने सका ग्रहाकरन्दनेने निपान हो आमरान, शान्त दृष्ट उद्दीपन भावसे कार्य करता है, वह जन्मानन्दे दीर्घे रहिए

होता है। जो समस्त संकल्प-विकल्पोंसे रहित अपनी बुद्धिगूहा—द्वयाकाशमें विराजमान परमात्मपदमें रवेष्टानुसार स्थित रहता है, वह अपने आत्मामें ही रमण करनेवाला परमेश्वररूप ही है। जो लोग सदा अन्तर्मुख रहकर बाहरके कार्योंका सम्भादन करते रहते हैं, उनके अधिकृत रहते हुए भी उनके मनमें उसी तरह वासना नहीं उत्पन्न होती, जैसे जट पत्थरोंमें वह नहीं उत्पन्न होती। जगत् न तो द्वैतरूपमें है और न अद्वैतरूपमें ही।

श्रीरामजीने पूछा—मुनिश्रेष्ठ! यदि ऐसी बात है तो अहंमात्रकी प्रतीतिरूप वसिष्ठ-नामक आप यहाँ कैसे स्थित हैं? यह बताइये।

श्रीकाल्मोकिजी कहते हैं—भरद्वाज! श्रीबुनाथजीने इस प्रकार प्रश्न करनेपर वकारोंमें श्रेष्ठ वसिष्ठजी आधे मुहूर्तक चुपचाप ही बैठे रह गये। उनकी यह चेष्टा सुस्पष्ट ज्ञात हो रही थी। उनके चुप हो जानेपर समावें जो बड़े-बड़े लोग बैठे हुए थे, वे संशयके समुद्रमें गोते लगाने लगे। तब श्रीरामचन्द्रजीने फिर पूछा—‘भगवन्! आप मेरी ही तरह चुपचाप क्यों बैठे हैं? संसारमें कोई ऐसा प्रश्न नहीं है, जिसका उत्तर आप-जैसे श्रेष्ठ पुरुष न दे सकें।’

श्रीवसिष्ठजीने कहा—निष्पाप रघुनन्दन! मुझमें कुछ कहनेकी शक्ति न होनेके कारण मेरे पास युक्तियोंका अमाव हो गया हो ऐसी बात नहीं है। परंतु यह प्रश्न जिस कोटिका है, उसमें चुप हो जाना ही इसका उत्तर है। प्रश्नकर्ता दो प्रकारके होते हैं—एक तत्त्वज्ञ और दूसरे अज्ञानी। अज्ञानी प्रश्नकर्ताको अज्ञानी बनकर ही उत्तर देना चाहिये और ज्ञानीको ज्ञानी बनकर। परम मुन्द्र श्रीराम! तत्त्वज्ञ पुरुषको उसके प्रश्नका कलङ्कयुक्त उत्तर नहीं देना चाहिये। परंतु कोई भी ऐसी वाणी नहीं है, जो निष्कलङ्क हो और तुम केवल ज्ञानी ही नहीं,

परम ज्ञानी हो। अतः तुम्हारे प्रश्नका मौन ही उत्तर है। जो परमपद है, वह तत्त्वज्ञानके पूर्व इस रूपमें उपस्थित किया जाता है जिससे उसके विषयमें उपदेश वाणीकी प्रवृत्ति हो सके। अतः अज्ञानसे, ही उसको ससकल्प वाणीका विषय बताया गया है एवं उसका कल्पित स्वरूप ही उपदेशका विषय होता है। किंतु तत्त्वज्ञानके पश्चात् जो उसका यथार्थ स्वरूप प्रकट होता है, उसे मौन अर्थात् वाणीका अविषय ही कहा गया है। इसीलिये तुम-जैसे तत्त्वज्ञानिरोमणिको मौनके रूपमें ही सुन्दर उत्तर दिया गया है। प्रिय रघुनन्दन! वका पुश्प स्वर्य जैसा होता है, उसके अनुरूप ही वह उपदेश करता है। मैं ज्ञेय वस्तुरूप ही हूँ। अतः उस परमपदमें प्रतिष्ठित हूँ, जहाँ वाणीकी पहुँच नहीं है। जो वाणीसे अतीत पदमें प्रतिष्ठित है, वह वाणीरूप मल्को कैसे प्रहण कर सकता है। मैं मौन रहकर उस तत्त्वका प्रतिपादन कर रहा हूँ, जो अनिर्वचनीय है—जिसका वाणीज्ञान ठीक-ठीक वर्णन हो नहीं सकता, क्योंकि वाणी संकल्परूप कलङ्कसे युक्त होती है।

श्रीरामजीने पूछा—मगवन्! वाणीमें जो-जो दोष आते हैं, उनका आदर न करके विधिरूपसे और विषेशरूपसे यह बताइये कि वास्तवमें आप कौन हैं?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—तत्त्ववेच्छाओंमें श्रेष्ठ रघुनन्दन। यदि तुम मुझसे मेरे स्वरूपका परिचय सुनना चाहते हो तो इस विषयको यथावत् सुनो। ‘तुम कौन हो,’ ‘मैं कौन हूँ’ और ‘यह जगत् क्या है’ इसका विवेचन किया जा रहा है। तात! यह जो निर्विकार अनन्त विन्मय परमात्मा है, वही मैं हूँ। इसमें बाद्ध और आम्बन्तर विश्योंका सर्वथा अभाव है तथा यह समस्त कल्पनाओंसे परे है। मैं निर्मल अनन्त चेतन हूँ, तुम अनन्त चेतन हो, सारा जगत् अनन्त चेतन है और सब कुछ अनन्त चेतनमात्र ही है। विशुद्ध ज्ञानस्वरूप परमात्मामें मैं विशुद्ध

ज्ञानस्तरप परमात्मा ही हूँ। मुझमें ऐद्वानकी हृषि है ही नहीं। अतः मैं किसी भी वस्तुको अपनेसे यिन्ह कहना नहीं जानता। जीवित रहकर व्यवहारपरायण होता हुआ भी जो परम शान्त है, उस ज्ञानी पुरुषकी जो मुद्देके समान स्थिति है, उसीको परमपद कहते हैं। जो बाहर-मीतरके साधनोंसे रहित, शान्त, अनन्त, साधनस्तरप और सम प है, जिसे न सुख कहा जा सकता है न दुःख, जो 'अह' भी नहीं है तथा 'यत्र नान्यद् पश्यति' इत्यादि श्रुतिके द्वारा जिसके खलूपका निर्देश कराया गया है, वह कल्याणस्तरप तत्त्व ही परम पद है। उसे मैं अपनेसे भिन्न नहीं समझता।

**वस्तुतः** उसे दूसरा कोई नहीं जानता। लोकैषणासे विरक्त ज्ञानों पुरुषके द्वारा आत्मामें ज्ञातापनकी भौति उसका लय ही अनुभव किया जाता है। उस परम पद-में न अहंता ( मैं-पन ) है न त्वत्ता ( तू-पना ), न अहंताका अधार है और न अन्यता ही। वह केवल निर्वाणस्तरप विशुद्ध कल्याणमय कैवल्य ही है। इस चेतन जीवात्माका चेत्य विषयोंकी ओर उन्मुख होना ही विच्छिन्नता है, यही इसका सत्तार है और यही महान् कष्ट हेनेकाल बन्धन है। चेतन जीवात्माका चेत्य विषयोंकी ओर उन्मुख न होना ही अचेत्यस्तरा है। इसीको मोक्ष समझो। यही शान्त एवं अविनाशी परमपद है। जो दिशा और देश-काल आदिकी सीमासे बैठा हुआ नहीं है, वह शान्तस्तरप शान्तात्मा परमात्मा ही सर्वत्र विराजमान है, उसमें चेत्य ( धृश्य ) की सम्भावना ही नहीं है। फिर कौन, किसका और किस प्रकार विन्दन करता है? ये जो मन-बुद्धि आदि हैं, ये सब अन्तर्मुख दशामें चैतन्यस्तरप ही हैं। मन-बुद्धि आदि ज्ञानोंके अर्थस्तरपसे भावित होनेवर वे ही जड़स्तरप मानी गयी हैं। समस्त ध्ययोंका बाध हो जानेवर जो विशुद्ध चैतन्यस्तरप परमात्मा अवशिष्ट रह जाता है, उसमें और शून्य आकाशमें क्या अन्तर है—इसे साधारण लोग नहीं

जानते—निदान् ज्ञानी पुरुष ही जानते हैं। उनका कहना है, कि वह परम त्या चिन्मय और निरतिशयानन्दस्तरप है, इसनिये वाणीका विषय नहीं होता। जैसे अन्धकारमें देवनेका प्रयत्न करनेसे नेत्रोंमें कुउ सदसद्गुप आभास दीखता है, उभी प्रकार ज्ञानमें जो आभास परिवर्क्षित होता है, वही यह जगत् है। 'मैं अज्ञानी हूँ' इस रूप-में जो जीवोंको अपने ज्ञानका बोध होता है, उसमें स्मृतिक्षित अज्ञानस्तरी वायुका सहारा पाकर उनकी अविद्याग्नि प्रज्ञालित होती रहती है। फिर जब उन्हें 'मैं ब्रह्म हूँ' यह यथार्थ बोध होता है, तब वही वायु उस अविद्याग्निको दुर्बल पाकर बुझा देती है।

अनावृत स्वप्रकाश निरनिशयानन्दस्तरपसे स्थित द्वारा तत्त्वज्ञानी पुरुषोंकी संसारके भानसे रहित तथा दुःखस्तरप क्षोभसे शून्य जो स्थिति है, उसेको मोक्ष कहते हैं और वही अविनाशी पद है। परमात्मज्ञानके साथ सांसारिक पदार्थोंके ज्ञानसे युक्त ही मनुष्य मुनि बन जाता है। परंतु जो परमात्माके अज्ञानके साथ-साथ सांसारिक पदार्थोंके ज्ञानसे शून्य होता है, वह पशु एवं शूक्र बन जाता है। जैसे सुग्रुषाशस्तरमें सम्भका लय हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानस्तरप परमात्माका यथार्थ ज्ञान होनेवर उस तत्त्वहके समाहित अन्तःकरणके भीतर सारे दृश्य-प्रदर्शका लय हो जाता है। फिर तो केवल अपना परमात्मस्तरप ही उप्लित होता है। जैसे आकाशमें नीटिमाझी प्रतीति भ्रममात्र ही है, उसी प्रकार कल्याणस्तरप परमात्मामें पृथ्वी आदि पात्रभौतिक जगत्की प्रतीनि भ्रमके तिथा दूसरी कोई वस्तु नहीं है। जैसे आकाश नीट आदि ज्ञानोंसे रहित निर्मल है, उसी प्रकार निर्वद्वयप परमात्मा भी दृश्य-प्रदर्शसे रहित एवं निर्मल है। जिस पुरुषकी बुद्धिमें वह निश्चय हो गया है कि यह सारा दृश्य-प्रदर्श असद् ( मिथ्या ) ही है, वह समस्त विशुद्ध गतिनालोंसे युक्त होनेवर भी उन वासनालोंसे रहित ही है। सर्वव्यापी शुद्ध-शुद्ध परमात्मामें कर्तृत्व और मोक्षदर्श

होना असम्भव है; इसलिये यहाँ न दुःख है न सुख, न पुण्य है न पाप और न किसीका कुछ नष्ट ही हुआ है। विस अहंकारमें यह ममताबुद्धि होती है, वह भी दो चन्द्रमा और सूप्तके नगरकी भौति असत् (मिथ्या) ही है; इसलिये सब कुछ निराकार एवं निराधार है। समस्त द्वेषसे रहित तथा पुरुष व्यवहारपरायण हो अथवा काष्ठ या पापाणके समान निष्ठल होकर चुपचाप दैठा रहे, सभी अशम्याओंमें वह ग्राहस्तरप्रताको ही प्राप्त है। खुनन्दन ! जो ग्राहकानी पुरुषोंद्वारा पूर्णरूपसे सेवित है, जिमें कूमरा कोई हीन नहीं सकता तथा जो इन स्तरपर, निर्मल, शिव, अजन्मा, अविनाशी, निष्पत्ति, भग, परमार्थ भूत्य तथा शान्त ग्राहपद है, वही तुप हा। तुम उस परम्परामें निष्पत्ति प्रतिष्ठित हो।

अहंमावना ही सबसे बड़ी अविद्या है, जो मोक्षकी प्राप्तिमें रुक्षावट ढाढ़नेवाली होती है। मूँह मनुष्य उस अविद्याके द्वारा ही जो मोक्षका अन्वेषण करते हैं, वह उनकी पाणियोंकी-सी चेष्टा है। अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाली अहंता ही अज्ञानकी सत्ताका पूर्ण परिचय देनेवाली है; क्योंकि जो तत्त्वज्ञानी शान्त पुरुष है, उसमें ममता या अहना नहीं रहती। अहंताका भीतीमात्रा भौति त्याग करके आकाशकी भौति निर्मल तथा सुक कुआ जानी पुरुष सदाके लिये निष्पित्त हो जाता है; उसका शरीर रहे या न रहे; उसकी उपर्युक्त स्थितिमें कोई अन्तर नहीं आता। जो तत्त्ववेदा पुरुष

भीतरकी मानसिक तरङ्गोंसे कभी झुञ्ज नहीं होता, वाहरसे भी अस्तगत सूर्योंकी भौति शान्त रहता है और जिसे सदा प्रसन्नता बनी रहती है, वह सुक कहलाता है। इष्ट और अनिष्ट वस्तुओंकी भौति होनेपर भी वह सदा शान्त बना रहता है—हर्ष और शोकके वशीभूत नहीं होता। व्यवहारमें संलग्न रहनेपर भी द्वैतभावका अनुभव नहीं करता तथा भीतरसे पूर्ण परमानन्दमें निमग्न रहता है। जैसे समुद्रमें जलरूप आधारकी सत्ता ही नांदों या जहाँजोंको क्रय-विक्रयकी वस्तुओंका दुःखद मार बहन करनेके लिये अवधार देती है, उसी प्रकार जीव और जगत्की अड सत्ता ही तृष्णाके पाणियें बैधे हुए मनुष्योंको इस जगत्में केवल दुःखका मार बहन करनेके लिये प्रेरित करती है। जो-जो वस्तु संकल्पसे प्राप्त होती है, वह संकल्पसे ही नष्ट भी हो जाती है। इसलिये यहाँ इस संकल्पकी सम्मावना ही नहीं है, वही सत्य एवं अविनाशी पद है। विचार करनेसे जिन पुरुषोंके सम्पूर्ण विशेष ( भेदभाव ) शान्त हो जुके हैं, उनके लिये केवल अहंताका नाश करनेवाली मुक्तिका उदय होता है। उनका कुछ विगड़ता नहीं। अज्ञानी पुरुषों। मोक्षकी प्राप्तिके लिये भोगोंके त्याग, विवेक-विचार तथा मन और इन्द्रियोंके निग्रहरूप पुरुषार्थ—इन तीनके सिवा और्धी किसी वस्तुका उपयोग नहीं है। अतः अनास्तरवस्तुका त्याग करके तुमलोग शीघ्र अपने आत्माकी ही शरणमें आ जाओ।

( सर्ग २९-३० )

### निर्वाणकी स्थितिका तथा 'मोक्ष स्वाधीन है' इस विषयका सद्युक्तिक वर्णन

शीघ्रसिद्धजी कहते हैं—खुकुलभूषण राम। ग्रहके अतिरिक्त न नाश है न अस्तित्व, न अनर्थ है न अन्म-मृग्य, न आकाश है न शून्यता और न नानास्त ही है। अर्थात् सब कुछ ग्रस्त ही है, उससे मिन्न कुछ भी नहीं। जसे मिथ्या अवमासित होनेवाले संकल्पनगरका

नाश किसी प्रकार सम्भव नहीं—क्योंकि वह तो मिथ्या है ही, फिर उसका विनाश कैसा, उसी तरह जगत् और अहंकार आदि भी असत् हैं, अतः उनके लिये 'नाश' शब्दका प्रयोग नहीं होता; क्योंकि असत् वस्तु स्वयं ही विषयान नहीं रहती। सम्पुरुषकी भौति जिन

अज्ञानियोंकी दृष्टिमें वह संसार विद्मान है, वे पुरुष तथा वह सुष्ठि—सब-के-सब मृगतृष्णाकी जडतरङ्गके समान मिथ्या ही हैं। यही कारण है कि जो लोग असत्पदायोंको ही सद्बन्धा मानते हैं, उनकी उस मान्यताको हमलेग कव्यापुत्रकी वाणीकी तरह निर्णयात्मक नहीं समझते। इसीलिये जलसे परिपूर्ण महासागरकी तरह तत्त्वज्ञानियोंकी पूर्णता कोई अपूर्व ही होती है—वे सदा विदानन्दसे परिपूर्ण रहते हैं; क्योंकि वे द्रष्टा और दृश्यांशके फेरेमें नहीं पड़ते। वे व्यवहारशुक्र हीं अथवा व्यवहारशून्य—किसी भी अवस्थामें पर्वतकी भौति निष्ठल और वायुशून्य स्थानमें रखे हुए समग्रकाशयुक्त दीपककी तरह एकरस रहते हुए सदा अपने खरूपमें ही स्थित रहते हैं।

श्रीराम ! अज्ञानी पुरुष तो इस जगद्में वासनारूप ही है और वह वासना तत्त्वदृष्टिसे विचार करनेपर ठहरती नहीं; परतु कोई भी उस वासनाके असुली खरूपपर विचार नहीं करता, इसी कारण वह संसार उपस्थित हुआ है। वास्तवमें तो जिस पुरुषको इस संसारका भ्रम है, वह असत् ही है और असत् पदार्थ तत्त्वदृष्टिसे देखनेपर मृगतृष्णाके जलकी भौति लक्षित होता नहीं; फिर किसीके लिये भी कौन-सा संसार कहाँसे आ गया। 'यह सारा दृश्य जगद् सद्ग्रस्त ही है' ऐसा स्पष्ट हान ही जानेपर कल्पाणपय अहसरूपका उदय होता है। जिसे परम पदमें विश्राम प्राप्त हो चुका है, ऐसे समदर्शी—तत्त्वज्ञानीके आचरणमें शान्तरूपता अथवा राग-द्वेषशून्य व्यवहार दोनों परिलक्षित होते हैं। अथवा जो निर्वाणरूप सत्तम भूमिकामें पहुँच चुका है, उस हानीकी शान्तरूपता ही अवशेष रह जाती है; क्योंकि वह तो वासनारहित मुनि ही जाता है, फिर वह व्यवहार कैसे कर सकता है। परतु जबतक उस हानीका निर्वाण ( सत्तम भूमिकाकी प्राप्ति ) सुदृढ़ नहीं हो जाता, तबतक वह राग-द्वेष और भय

आदिसे रहित हो व्यवहार करता है। तथा सत्तम भूमिकामें सुदृढ़ रूपसे स्थित हुए हानीका मन शान्त हो जाता है। उसके राग-द्वेष, भय, क्रोध कादि विकार सर्वथा नष्ट हो जानेहैं तथा वह मुनि होकर दिल्ला न होते हुए भी शिलाकी तरह सदा निश्चलरूपसे स्थित रहता है।

राघव ! आमा ही वाक्षताकी भाषना वरन्से वाप और आमत्वकी भाषना करनेसे आत्मरूप होता है, इसीलिये परमह-तत्त्वमें तद-तत्त्व भाषना ही उसके वाप और आत्मर होनेमें कारण है। अन्तःकरणमें जो जापत्-स्प्रांत्रिकी विभान्ति है, वही वाक्षता कही जाती है। वरतृत तो जैसे दूधको दो पात्रोमें रख देनेसे उस दूधमें कोई भेद नहीं होता, उसी तरह स्वर्ण और जापत्-स्प्रा भी अन्तर नहीं है। उनमें जो जापत्-स्प्रामें स्थिता और रूपमें अस्थिरताकी प्रतीति ह ती है, वह तो केवल भ्रातिमाप्र है। उसी तरह जापत्-में आधारता और स्वर्णमें आधेयता-की प्रतीति भी जन और उसकी तरही भौति भेदशून्य ही है। जैसे आम के अन्यत्रज्ञानसे स्वर्णज्ञानके पदार्थमें भी अन्यताकी प्रतीति होती है और अत्मैस्वरका द्वान दो जानेपर उस आमासे भिन्न कुन नहीं दीखता, उमी तरह जापत्-क्लालमें जबतक शुद्ध आमताद्वना द्वान नहीं हो जाता, तभीतक पदार्थमें अन्यरूपता प्रतीत होती है। आमत्वका वीध हो जानेपर तो सभी एकरूप-से ही दीखते हैं। परमात्माका जो कल्पनाकोमें रहत नया शान्त रूप है, उसकी जिस जिस रूपमें भ द्वा यी जाती है, वह उसी रूपमें परिणत हो जाना है। स्वप्नादिके द्वानके भौतिभौति द्वान्त हो जानेपर परमात्माका जो शुद्ध रूप अशिषिष्ट होता है, उसे 'ह ह' है। न तो ऐसा ही कह सकते हैं और न 'य' नहीं है। ऐसा ही कह सकते हैं; अतः हट धनीवा विषय नहीं है।

बत्स राम ! चितिका जो वाह पदार्थोंकी ओर प्रसरण है, वह तो (अज्ञानयुक्त) अनुभव से ही सिद्ध है। जब विचार से उस अनुभवका बाध हो जाता है, तब पुरुषको असद पदार्थका अनुभव नहीं होता। उस समय उसके अनुभवमें यह बत्त आती है कि जैसे वालक असत्य प्रेतका अनुभव करता है, वैसे ही मैं भी वर्ष्य ही अवतक असद पदार्थका अनुभव करता रहा। जब अपने अंदर 'वह मैं हूँ' ऐसा अनुभव होने लगता है, तब वह अहंमाव भी दुःख (बन्धन) का ही कागण होता है और जब अहंकारका अनुभव नहीं होता, तब वह मुकिका कारण बन जाता है; अतः बन्धन और मुक्ति तो अपने ही अधीन हैं। श्रीराम ! जिस पुरुषकी वासना सुदृढ़ हो गयी है, वह जैसे संकल्पद्वारा रचित रूपान्त्रोक और मानसिक व्याख्यायोंका अनुभव करता है, उसी तरह असद दुःखका भी सुभद्राष्टकी तरह आश्रय ग्रहण करता है; परंतु जिसकी वासनाएँ क्षीण हो गयी हैं, उसे जैसे संकल्प-शून्य रूपान्त्रोक और मानसिक व्याख्यायोंका अनुभव नहीं होता, वैसे ही वह प्राणगुमार प्राप्त हुए दुःखका भी सोये हुए पुरुषकी मौति उपभोग नहीं करता। इसलिये जैसे देश, काल और क्रियाके सम्पर्कसे पदार्थोंमें उत्पन्न हुई भावना पदार्थलृपताको प्राप्त होती है, वैसे ही वासना ही अत्यन्त सूक्ष्म होकर मुक्तिमें कारण होती है। जैसे आकाशमें उत्पन्न होनेवाले गेव और कुहरा आदि अत्यन्त सूक्ष्म हो जानेसे उसी आकाशके रूपमें

परिणत हो जाते हैं, वैसे ही वासना अत्यन्त सूक्ष्म होकर मुक्तिके खलपमें परिणत हो जाती है।

आत्मामें जो यह जगत् आदि मासिन होता है, वह पैर कौन हूँ ? और वह कैसे उत्पन्न हुआ ? इस प्रकारके विचारसे ही शान्त हो जाता है। 'जब अहंताकी सत्ताका अमाव ही मोक्ष है, तब हत्तेको ही लेकर मूढ़ताका आश्रय क्यों ग्रहण किया जाय ?' ऐसा ज्ञान सरसङ्ग और विचारसे शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है। जैसे प्रकाशसे अन्वकारका और दिनसे रात्रिका विनाश हो जाता है, वैसे ही तत्त्वज्ञानीके सङ्गमे अहंतारूपी बन्धन नष्ट हो जाता है।

रघुनन्दन ! जैसे आकाशमें चाहे जितने घने बादल छा जायें और महासागरमें तरहँ उठने लगें, किंतु उनसे आकाश तथा महासागरमें किसी प्रकारकी द्वानि अथवा वृद्धि नहीं होती, उसी प्रकार समूर्ण संकल्पोंसे रहित ज्ञानीको इष्ट-अनिष्टकी प्राप्तिये कुछ भी लाभ-हानिका अनुभव नहीं होता। समस्त विकारोंसे शून्य एवं परिपूर्ण-स्वरूप शान्त प्रह्लदक विचार कर लेनेपर—परमात्माका वर्णार्थ ज्ञान हो जानेपर वह सारा जगत्-प्रपञ्च मृगत्रुणाके जलकी मौति असद सिद्ध हो जाता है। उस समय अहंताका भी विनाश हो जाता है; तब भना, उस ज्ञानीको संसारके मनन आदिका भ्रम कहाँ, वैसे और किस कारणमें ही सकता है।

( सर्ग ३१-३२ )

## जीवकी वहिर्वृत्ताके निवारणसे आनन्दकल्पनाके निष्ठत्वक उपाय तथा परलोककी चिकित्साका वर्णन

श्रीकृतिष्ठजी कहते हैं—बत्स राम ! यदि सत्पुरुषोंके सम्मानसे विकासको प्राप्त हुई अपनी वृद्धिरूप पुरुषार्थके द्वारा पुरुषको तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति नहीं हुई तो फिर उसके अतिरिक्त उसकी प्राप्तिका दूसरा कोई उपाय नहीं है। एकलात्र अहंताको छोड़कर दूसरी कोई अविद्या है ही

नहीं। उसकी भावना न करनेसे जब उस अहंताका शमन हो जाता है, तब दूसरा कोई मोक्ष पाना शेष नहीं रह जाता अर्थात् अहंताका नाश ही मोक्ष है। फलतरके सदृश निष्ठल मृत्तिशाले जिस पुरुषके लिये वह सारा जगत् असद छोटा हुआ भी सदृशी तरह शान्त हो गया

है, उस महामार्गो नमस्कार है। जिसका वित्त परमाणुमें पूर्णतया छीन हो गया है, उसे पत्थरके सदृश बाहरका शान नहीं होता और भीतर चितिरूपताकी भावनासे उसकी संकल्प-शृन्य-सी अवस्था हो जाती है, जिससे उसके लिये यह सारा दृश्य-ग्रापण शान्त हो जाता है।

श्रीराम ! प्राणियोंके लिये दो व्याधियाँ बड़ी भयंकर हैं—एक तो यह लोक और दूसरा परलोक । क्योंकि हम्ही दोनोंसे पीड़ित होकर ममी ग्राणी भीषण हुँख भोगते हैं । इनमें जो अज्ञानी जीव हैं, वे इस लोकमें व्याधिग्रस्त होनेपर उसके निवारणके लिये भोगरूपी कुसित औषधोंद्वारा जीवनपर्यन्त यथाशक्ति प्रयत्न करते हैं; परंतु परलोकरूपी व्याधिके लिये वे कुछ भी चिकित्सा नहीं करते । तथा जो उसम पुरुष है, वे परलोकरूपी महाव्याधिकी चिकित्साके लिये अमृत-तुल्य शम, सत्सङ्घ और आत्मविचाररूप उपायोंद्वारा प्रयत्न करते हैं । जो लोग परलोकरूपी व्याधिकी चिकित्साके लिये सदा सावधान रहते हैं, वे मोक्षमार्गकी उत्कर इच्छा उत्पन्न होनेपर अपनी शम-शक्तिद्वारा विजयी होते हैं । जो पुरुष इस लोकमें ही नरकरूपी व्याधिकी चिकित्सा नहीं कर लेता, वह रोगप्रस्त्र होकर औषधरहित स्थान ( नरक ) में जाकर फिर क्या करेगा । इसलिये अज्ञानियो ! तुमलोग हल्लोकरी चिकित्सामें ही अपने जीवनको मत गँवा दो । इसीके साथ-साथ आत्मज्ञानरूपी औषधोंद्वारा परलोककी भी चिकित्सा कर लो । थेरे ! यह आयु तो धायुके केसे हिलते हुए पत्तेके ऊपर पड़े हुए छोटेसे जल-कणके समान क्षणमङ्गुर है, अतः पूर्ण प्रयत्नपूर्वक शीघ्र ही परलोकरूपी महाव्याधिकी चिकित्सामें छुट जाओ; क्योंकि शीघ्र ही यस्तूर्वक परलोकरूपी महाव्याधिकी चिकित्सा कर लेनेपर इस लोककी व्याधि तकाल ही अपने-आप मष्ट हो जाती है ।

राघव ! जितने जन्म है, वे सभी संविन्द्रज (आत्माके ही स्वरूप) हैं और उस संविन्दके संबंधमा जो विसार है, वही जगत् है । ऐसा यह साध जगत् एक छोटे-से परमाणुके भीतर सैकड़ों पर्वतोंके द्वित्तारसहित दिव्यान है । आत्मचितिका ओ प्रसरण है, वह बाय नया आनन्द विषय है । उन विषयोंका विस्तार चेन्न-आकाशमें ही अनुभव होता है, इसलिये जगत्का भग कभी सब नहीं हो सकता । यदि मनुष्य अपने पुरुषार्थके चमक्कार-से भोगरूपी कीचड़के समुद्रमें फँसे हुए अपने आभास कउद्धार नहीं कर लेता तो फिर उसके उद्धारका दूसरा कोई उपाय नहीं है । जो मनुष्य अपने आभासों काढ़में नहीं कर सकता है, अतएव विषयभोगरूपी दलदलमें फँसा है, वही गुड सम्पूर्ण आपत्तियोंका पात्र है । जैसे बाल्यावस्था जीनवरी प्रथम सीढ़ी मानी जाती है, वैसे ही, भोगोन्म सर्वदा स्थान, जो राणोंसे शान्ति प्रदान करनेवाला है, मोउका प्रथम सोपान है; परंतु जो अज्ञानी है, उनकी जीवन-रूपी नदियों करुण-कल्पनोंसे युज होनेके कारण अत्यन्त भयावनी होती है । उनमें धार्महतियोंसे उत्पन्न अनेक प्रकारके विशेषरूपी कल्पोंट साध-साध वहनेवाली भौवरियाँ हैं । जैसे अहानसे दो चन्द्रमा, बाल-पेताल, भूगत्त्वाका जल और स्वन्न-संसार—ये सभी प्रकट होते हैं, वैसे ही अहानियोंके द्वाये डीरसी वहिर्मुखताके कारण अनेक प्रकारके सर्व उत्पन्न होते होते हैं । सवित्रकी वहिर्मुखताके घमसे आकाश-भण्ड-उम्बर ( गङ्गारू-नगर आदि ) दहुत-से जगत् सर्व-से अनुभूत होने लगते हैं; परंतु विचार करनेपर वे सत्य नहीं छहने लगते हैं । सवित्रका निर्वाण—वहिर्मुखताका न होना उद्दश व्याध है और सवित्रका उन्मीलन जगत् है । उन्मीलने न कुछ अंदर है न बाहर, जो कुछ है वह नन्दन-स्थ ही है ।

चिद्रूप, अजन्मा, अज्यक्त, एक, अविनाशी, हैशर, स्वत्व और भावत्वसे रहित छह ही सर्वत्र व्याप्त है। वह आकाशसे भी अल्पन्त शान्त है। जैसे आत्मामें स्वप्नका अनुभव भान्ति है, वैसे ही ग्राहरूपी समुद्रमें अविद्याजनित संसाररूपी तरङ्गें भी भान्तिरूप ही हैं। वास्तवमें तो परमात्मामें न स्वप्न है न सृष्टि ही है। मग्न एक ही है, उसमें न तो कोई आभास है, न चित्तरूप कोई दूसरा धर्म है और न जड़ता है। वह न सत् है, न असत् है; बल्कि वह सत्-असत्-से विलक्षण सम, अविनाशी और द्वैतभावसे रहित है। पूर्वोक्त स्थितिके अनुसार आचरण करनेवाले जिस सत्पुरुषको यथार्थ आत्मान उत्पन्न हो गया है, उसे मुनियोंमें श्रेष्ठ कहा जाता है। जैसे संकल्प-जनित नगरकी सृष्टि पुनः उसका संकल्प न करनेसे नष्ट हो

जाती है, वैसे ही विषयानुभवसे उत्पन्न अहंकाररूप जगत् पुनः अनुभव न करनेसे चिद्रूपकमें लीन हो जाता है। वास्तवमें तो यहाँ किसी भी पदार्थका कोई समावृत्त है ही नहीं। ये जितनी अनुभूतियाँ हैं, ये सभी महाचित्तरूप जलकी द्रवखलपा हैं। वे ही अनुभूतियाँ महाचेतनरूपी वायुके स्पन्दन हैं तथा इन्हींको ग्राहरूपी आकाशकी शून्यता भी जानना चाहिये। जैसे वायु और उसका स्पन्दन—दोनों अभिन्न हैं, वैसे ही वृक्ष और उसकी सृष्टिमें भी कोई सेद नहीं है। परंतु अपने सख्तरकी भान्ति हो जानेपर उनमें विभिन्नता प्रतीत होती है, यथापि वह स्वप्नमें देखी गयी अपनी भूत्युके समान असत्य है। जबतक व्याप्तिवात्मा त्वष्ट नहीं हो जाता, तभीतक वह भान्ति रहती है; परंतु विचार स्पष्ट होते ही वह भान्ति ग्राहरूपताको प्राप्त हो जाती है।

( सर्ग ३३ )

### जगत्के स्वरूपका विवेचन और ग्राहके स्वरूपका सवित्तर वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—खुकुलमूलण राम ! तुम हो सकते हैं। ज्ञान भी आत्मस्वरूप ही है, अतः ऐसा समझो कि सुखके प्राप्त होनेपर द्वुःखका और द्वुःखके प्राप्त होनेपर सुखका नाश हो जाता है; अतः ये दोनों ही नाशवान् हैं और जिसका नाश नहीं होता, वह अविनाशी आत्मा है। बस, अब इस विषयमें विशेष शास्त्रोपदेश करना व्यर्थ है। जिसके मनमें इच्छाओंकी परम्यता बनी हुई है, उसे सुख-द्वुःखादि अवस्था ही प्राप्त होते रहते हैं। इसलिये यदि उन सुखादि रोगोंकी भलीभांति चिकित्सा करना असिंग्रेत है तो पहले इच्छाका ही परिणाम करना चाहिये। परमपदरूप परमात्मामें अहंकार और इस जगत्की भान्ति है ही नहीं। वह तो शान्त, निरालम्ब, सर्वात्मक, अविनाशी भोक्तुरूप है। वास्तवमें तो न अहं है, न जगत् है; क्योंकि जो शान्त और अद्वितीय है, वह तो सर्वात्मकरूप है। ऐसी दशामें उसमें कर्त्तुरूप और भोक्तुरूप कैसे और कहाँसे सम्भव

हो सकते हैं। ज्ञान भी आत्मस्वरूप ही है, अतः जो कुछ दीखता है, वह सब त्रूप ही है। इसलिये अहंकारसंदित सारा जगत् परमात्मासे अभिन्न है। एक आत्मा ही जब आङ्गानके कारण अनेकरूपताको प्राप्त हुआ-न्सा हीखता है, तब वही संसार कहलाता है और वह संसार स्वयं असत् है, इसी कारण तत्प्रवृद्धिसे विचार करनेपर उसकी सत्ता उपलब्ध नहीं होती। जैसे प्रवृद्धणशील होनेके कारण सागर तरङ्गोंके रूपमें प्रतीत होता है, उसी तरह चिद्रूप होनेके कारण वह ग्राह ही अपनी सत्तासे निर्मल जगत्के रूपमें विकसित हुआ-न्सा जान पक्षा है। जैसे मेवाञ्छादित आकाशमें सुख, हाथी, घोड़े और शृग आदिका आकार परिवर्णित होता है, वैसे ही अवपत्त एवं आकाररहित परमज्ञमें सृष्टि और अहंकारका रूप दीख पक्षता है। यह सारा जगत् परज्ञमें उसका अवयव-न्सा प्रतीत होता है। रामभद्र ! उसकी उपमा यों समझो—जैसे बट्टुमूँ और

उसके बीजमें कार्य-कारणभाव है, वैसी ही कार्य-कारणता जगत् और प्रक्षमें है। वस्तुतः तो न तुमलोग हो, न हमलोग हैं, न ये जगत् हैं और न आकाश आदि ही हैं; बल्कि सर्वोपर्दृशशब्दन्य अपरोक्ष प्रक्षम ही सर्वत्र अशेषरूपसे बर्तमान है।

**रघुकुलत्रिलङ्क** । ऐसे वायु और स्पन्दनमें भेद-प्रतीति होती है, वैसे ही अद्वितीय ब्रह्म और जीवात्मामें भी अज्ञानसे भेद प्रतीत होता है; अतः इस विषयमें ऐसा समझना चाहिये कि चित् और अचितका भेददर्शन ही संसार है तथा अद्वितीय ब्रह्म और जीवात्माकी एकता ही मोक्ष है। इस प्रकार यह सारा जगत् निर्विकार परमात्मय है, अतः इसे भी निर्विकार, आदि-अन्तरहित और निरामय ही समझो। संकल्पजनित नगरके समान द्वैत-विकाररूप यह जगत् जीवके अपने ही संकल्पसे उत्पन्न होता है और अपने ही संकल्पसे नष्ट भी हो जाता है। वस्तुतः इस जगत्-रूप ब्रह्ममें कुछ भी उत्पन्न नहीं होता—ठीक ऐसे ही, जैसे जलकी तरङ्गका छठना वास्तवमें उत्पन्न होना नहीं है और उसका नष्ट होना वास्तवमें नाश नहीं है; क्योंकि दोनों अवस्थाओंमें वह एकमात्र जल ही है।

**रघुनन्दन** । क्षणमात्रमें ही एक देशसे दूसरे अस्पत्त दूर देशमें प्राप्त हुए संवित् ( ज्ञान ) का उन दोनों देशोंके मध्यमें जो निर्मल रूप होता है, वही परमात्मा परमात्माका सर्वोक्तुष्ट रूप है। जीवन्मुक्तोंकी स्थिति तथा आचारके अनुसार अस्त्वार करते हुए उस निरामास, सत्य तथा वासना और हृच्छासे रहित चित्तस्वरूपसे बुझेन-गिरिकी तरह कभी चलायमान न होना ही विद्या है तथा भलीमौति विवेक-विचारपूर्वक अन्वेषण करनेपर जिसकी उपलब्धि नहीं होती, वही अविद्या है। अविद्याका अभाव हो जानेपर क्या कहीं चित्ति और चेत्यका भेद सम्भव हो सकता है? अर्थात् नहीं। और भेदका अभाव हो जानेपर फिर चित्ति अपने

अंदर कैसे किसीको प्रकट कर सकेगी; इन्हिये शान्ति—विश्वशब्दन्य चिन्मात्र स्थिति ही रूपतः प्रस्त होती है। वास्तवमें तो दृश्य और जगत् दृश्य ही हैं। अज्ञानके कारण वे अनेकन्से अर्थात् चिभिन्न लान पड़ते हैं। अज्ञानसे ही सर्वज्ञायी, परिदूर तथा हुदूद ब्रह्म अपूर्ण एवं अशुद्ध-सा प्रतीत होता है। वही इव अज्ञानसे निर्विकार होते हुए विकारयुक्त, दान्त एवं समरूप होते हुए अशान्त एवं विद्यम, सत् होते हुए अदृश्य हृषीकेके कारण असत्, तद्रूप होते हुए अन्तःरूप, विभग-रहित होते हुए विभागावाला, जटतारहित होते हुए जडतायुक्त, निर्विकाय होते हुए विभवी, अश्यशब्दन्य होते हुए सावयव, स्वप्रकाश होते हुए घनान्धमार और पुण्यन द्वारा होते हुए नूतनके समान प्रतीत होता है। वह परमात्मुसे भी अपन्त सूक्ष्म होकर जगत्-समग्रोंको अनेन उद्दरये समेट 'लेनेवाला है।

**वस्तु राम** । वह अनन्त और अपार द्वैतर भी तिसी एक स्थानपर नियतरूपसे स्थित नहीं रहता तथा क्षाकाशमें भी वनकी कल्पना और पर्वतका निर्माण करनेमेतत्पर रहता है। ( अर्थात् असम्भवको भी सम्भव कर सकता है। ) वह सूक्ष्म पदार्थोंमें सबसे सूक्ष्म, स्थूलोंमें सबसे स्थूल, गरिमोंमें सबसे अधिक गरिमा और श्रेष्ठोंमें सदसे बड़कर श्रेष्ठ है तथा कर्ता, कर्म और कारणसे रहित है। वह जगत्का उद्गमस्थान होकर भी नियत अण्डर्सी भौमि शूल्य है और असंख्य पर्वतोंकी कठोरतासे युक्त होनेपर भी आकाशके ल्वाशसे भी कोमल है। वह प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक कालस्वरूपहोकर प्रायः सबसे परे, प्राचीन होनेपर भी कोमल और नवीन, प्रकाशस्वरूप होकर भी झन्धवारके सदृश मनिन और प्रलयक्षालीन तमस्तरूप होउत्र भी प्रकाशरूपसे सर्वत्र व्याप्त है। वह प्रलय द्वारा होते हुए भी और खोलोंकी पहुँचके बाहर, परोक्ष होने हुए भी माने उपस्थित, चिद्रूप होते हुए भी जट है और जट द्वेषे हुए भी चिद्रूप है। वह इस जन्मभूतरूप होनेत लट्टभव लौ

अहंभावरूप होकर अनहंभाव तथा अन्यरूप होकर आत्मरूप और आत्मरूप होकर अन्यरूप-सा स्थित है। इस चिह्नी परिपूर्ण सागरके भीतर ये निमुक्तमरूपी तरङ्गे, द्रवता ही जिनका स्वभाव है, रुक्ति-सी हो रही हैं। यह चिह्नरूप परमदेव यथापि देव-काल आदि अवयवोंसे रहित है, तथापि रात-दिन असदृप जगत्का वैसे ही विस्तार करता रहता है, जैसे जल तरङ्गसमूहका। इस चिह्नी जलकी जो द्रवता है वही जगत् कहलाता है। उस जगत्के संवितद्वारा उपलब्ध स्वादिष्ट रूप, रस आदि निषय ही अहं हैं और वह भुषनरूपी आवतोंसे युक्त है। इस उरीत चिह्निके प्रकाशित रहने-

पर सम्पूर्ण प्रकाशशील पदार्थोंकी श्री उसके सामने शान्त हो जाती है और पुनः उसीसे उत्पन्न भी होती है, जैसे सूर्य आदिके तेजसे उनका अपना प्रकाश। यह चिदाकाश रक्षामूर्तिके समान है, इसमें निष्ठि ( ईश्वरका विवान ) रूपी नर्तकी भुषन-रचनारूपी नाटकके विवरणोंसे युक्त होकर अनवरत कार्यमें संलग्न हो उत-दिन नाचती रहती है। इस परजात परमात्माका उम्मेद ही जगत्का सौन्दर्य है और निमेश ही प्रलयका सूचक है। वास्तवमें तो वह उम्मेद और निमेशसे रहित होकर अपने खरूपमें ही स्थित रहता है।

( सर्ग ३४-३५ )

**जीवन्मुक्तिकी ग्रन्थसा तथा 'इच्छा ही बन्धन है और इच्छाका त्याग ही मुक्ति है' इसका हृष्टनेके उपायका निरूपण**

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—खुबुलभूषण राम ! जितने अनर्थरूप सांसारिक पदार्थ हैं, वे सभी जलमें आवर्त-की भौति मिळ-मिल रूप धारण करके चमत्कार पैदा करते हैं अर्थात् इच्छाओंको उत्पन्न करके विद्यको मोहने-दाल देते हैं; परंतु जैसे सभी लहरें जलस्वरूप ही हैं, वैसे ही सम्पूर्ण पदार्थ वस्तुतः नभर स्वभावके ही हैं। जैसे बालककी चिन्तासे कल्पित यज्ञ-पिशाच आदिका रूप उसके सामने आकाशमें दीख पड़ता है; परंतु मुझ-जैसे ज्ञानीके लिये वह कुछ भी नहीं है, उसी तरह मेरी इच्छामें तत्त्वः यह विश्व कुछ नहीं है, परंतु अज्ञानीके विचारमें यही सत्य-सा प्रतीत होता है। यह विश्व पर्यटपर छुदी छुई पुतलियोंकी सेनाकी भौति रूपालोक तथा बाया और आम्यन्तर विषयसे शून्य है, किंतु इसमें विश्वता कैसी ? परंतु अज्ञानियोंके लिये यह रूपालोक और मनन आदिसे युक्त प्रतीत होता है। श्रीराम ! जगत्को जगद्वृपसे जानना भय है और इसे जगद्वृपसे न जानना भयशून्यता है। राघव ! त्वत् और अहता आदि सारे विभ्रम-विलास शान्त, विश्व तथा

शुद्ध ब्रह्मस्वरूप ही हैं, इसीलिये मुझे ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं दिखायी पड़ता—ठीक वैसे ही जैसे आकाशमें कानन दृष्टिगोचर नहीं होता।

श्रीराम ! जिसकी चेष्टा ग्राव्यप्राप्त कर्मोंमें कठपुतली-की तरह इच्छाशून्य तथा व्याकुलतारहित होती है, वही विश्रान्त मनवाला जीवन्मुक्त मुनि है। जीवन्मुक्त ज्ञानीको इस जगत्का जीवन बाँसकी तरह बाहर-भीतर-से शून्य, रसहीन और वासनारहित प्रतीत होता है। जिसकी इस दृश्य-प्रपञ्चमें रुचि नहीं है और दृश्यमें जिसे चिन्मात्र अदृश्य ब्रह्म ही अच्छा लगता है, उसने मानो बाहर-भीतरसे शान्ति प्राप्त कर ली और वह इस भवसागरसे पार हो गया।

∴ रुचन्दन ! शाकजड़ोंका कहना है कि मनका इच्छारहित हो जाना ही समाधि है; क्योंकि मनको जैसी शान्ति इच्छाका त्याग कर देनेसे प्राप्त होती है, वैसी सैकड़ों उपदेशोंसे भी उपलब्ध नहीं होती। इच्छाकी उत्पत्तिसे जैसा दुःख प्राप्त होता है, वैसा दुःख तो नरकमें भी नहीं भिलता; और इच्छाकी शान्तिसे



शेषनागपर भगवान् विष्णु, सर्वमें इन्द्र और पातालमें प्रहार

(उपराम-प्रकाश, संख्या ४२)



जैसा सुख मिलता है, वैसे सुखका अनुभव तो ब्रह्मलोकमें भी नहीं होता । इसीलिये समस्त शास्त्रों, तपस्याओं, यमों और नियमोंका पर्यवसान इतनेमें ही है कि इच्छा-मात्रको ही दुःखदायक चित्त कहते हैं और उस इच्छा-की शान्ति ही गोक्ष कहलाता है । प्राणीके हृदयमें जैसी-जैसी और जितनी-जितनी इच्छा उत्पन्न होती है, उतनी-उतनी ही उसके दुःखोंके बीचोंकी मूँठ बढ़ती जाती है तथा विवेक-विचारद्वारा जैसे-जैसे उसकी इच्छा क्षीण होती जाती है, वैसे-वैसे ही उसके दुःखोंकी चिन्ताखण्डी विशृचिका शान्त होती जाती है । सांसारिक विषयोंकी इच्छा आसक्तिवश योऽयो धनीभूत होती जाती है, योऽयो दुःखोंकी चिन्ताखण्डी विवैली तरफ़े बढ़ती जाती है । यदि अपने पौरुष-प्रणनके बलसे इस इच्छाखण्डी व्याधिकी चिकित्सा न की जा सकती तो मैं यह दृढ़तापूर्वक समझता हूँ कि इस व्याधिसे छूटनेके लिये दूसरी कोई जीवध नहीं । यदि एक ही साथ सम्पूर्ण इच्छाओंका पूर्णतया त्याग न किया जा सके तो धीरे-धीरे योक्ष-योक्ष करके ही उसका त्याग करना चाहिये । इन्हना चाहिये इच्छा-त्यागके साधनमें संलग्न ही; क्योंकि सन्मार्गका पथिक दुःखमारी नहीं होता । जो नराधम अपनी इच्छाओंके क्षीण करनेका प्रयत्न नहीं करता, वह मानो दिन-परदिन अपने-आपको अन्वकूपमें फेंक रहा है । इच्छा ही दुःखोंको जन्म देनेवाली इस संसृतिखण्डी बेलका बीज है । यदि उसे आत्महानखण्डी अग्निसे भलीभौति जला दिया जाय तो यह पुनः अद्वित नहीं होती ।

रघुकुलमूर्यण राम । इच्छामात्र ही संसार है और इच्छाका अवेदन—अमाव ही निर्वाण है । इसलिये निर्यक नाना प्रकारके उल्ट-पेरमें न पड़कर केवल

ऐसा यत्न करना चाहिये कि इच्छा उन्धन ही न हो । जिसे अपनी बुद्धिसे इच्छाका विनाश करना दुस्साम्य प्रतीत होता हो, उसके लिये गुरुका उपरोक्त और शास्त्र आदि निष्पत्ति ही निर्यक हैं । जैसे जागनी जन्म-मृणि जंगलमें हरिणीकी शूलु निष्पत्ति है, ऐसे ही नानाविष दुःखोंका विलार घटनेवाली इच्छाखण्डी विकारसे युक्त इस जगत्में मनुष्योंकी शूलु दिन्दुर्त निष्पत्ति है । यदि मनुष्य इच्छाद्वारा बाल्कों-जैसा मृद न बना दिया जाय तो उसे आत्मज्ञानके लिये दृढ़ धोदा ही प्रयत्न करना पड़े । इसलिये मध्य तरहसे इच्छायोंकी शान्ति करना चाहिये; क्योंकि उसकी शान्तिने दरम पदकी ग्राति होती है । इच्छारहित हो जाना ही निर्वाण है और इच्छायुक्त होना ही वन्धन है; इसलिये यथाशक्ति इच्छाको जीतना चाहिये । भला, इतना करनेमें कौन-सी कठिनाई है? जन्म, जरा और शूलुप्प करका और लैंके वृक्ष-समृद्धोंमा बीज इच्छा ही है, अतः उसे शमखण्डी अग्निसे सदा भीतरही-भीतर जन्म आलना चाहिये । जहाँ-जहाँ इच्छाका अभाव है, यहाँ-जहाँ मुक्ति निष्पत्ति ही है; अनः विवेक-वैराग्य छानि उपायोंकी ग्रासिपर्यन्त अपनी शक्तिके अनुमार उत्पन्न हुई इच्छाका सर्वथा विनाश कर आलना चाहिये । इसी तरह जहाँ-जहाँ इच्छाका सम्बन्ध है, यहाँ-जहाँ पुण्य-प्राप्तमयी दुःखराशियों तथा विस्तृत पीड़ाओंसे युक्त वन्धन-पारोंमें उपस्थित ही समझो । योऽयो पुरुषमी जान्तरिक इच्छा शान्त होती जाती है, योऽयो उसका भैक्षणि निये कल्याणकारक साधन थकता जाता है । विवेकानन्द आत्मकी इच्छाको जो भलीभौति पूर्ण करना है, उसी मानो संसारखण्डी विष-वृक्षको सीचना है ।

( सं ३६ )

तत्त्वज्ञान हो जानेपर इच्छा उत्पन्न होती ही नहीं और यदि कहीं उत्पन्न होती-सी दीखे तो वह ग्रहस्खल्प होती है—इसका संयुक्तिक वर्णन

श्रीबसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! यदि आत्माके अतिरिक्त यहाँ कोई दूसरी वस्तु विद्यमान हो, तब तो इच्छागूर्वक उसे प्राप्त करनेकी चेष्टा की जाय; परंतु जब उसके सिवा दूसरी किसी वस्तुकी सत्ता है ही नहीं, तब आत्मासे भिन्न किस पदार्थकी इच्छा कैसे की जाय ? वह विद्यमा आकाशरूप है और सर्व आकाश ही आकाशरूप विद्य और उसका झाता है तथा ज्ञातका आमास भी आकाशस्खल्प ही है—ऐसी दशामें यहाँ इच्छाका विषय ही क्या है। यहाँ निर्णय है, वहाँ दृश्य-प्रपञ्च आदि नहीं रहते और यहाँ दृश्य-प्रपञ्च कर्तमान है, वहाँ निर्वाणका रहना असम्भव है। इस प्रकार छाया और आत्मकी भौति इन दोनोंके परस्पर सहयोगका अनुभव नहीं होता। यदि ये दोनों एक साथ रहते तो परस्पर वाधित होनेके कारण दोनों असत्य हो जाते और असत्यमें निर्वाण रहता नहीं; क्योंकि निर्वाणका अनुभव अज्ञ-अमर और हुःखरहित रूपसे होता है। अधम प्राणियों दृश्य-प्रपञ्च तो आत्माको बन्धनमें ढालनेवाला है, अतः तुम्हेग उसे मस्त कर्यों नहीं कर ढालते और स्पष्टरूपसे स्फुरित होती हुई परमार्थ-स्तुका दर्शन कर्यों मही करते।

जब कार्य-कारणभाव आदि संबंध मुछ ग्रहस्खल्प ही भासने लगता है तभी इस विस्तृत विनाशस्खल्प प्रस्थगात्मामें ब्रह्मता सिद्ध होती है। अतः जो लोग इस एकमात्र चिदाकाशस्खल्प सर्वात्मक ग्रहके सर्वत्र व्याप रहते हुए ब्रह्मज्ञानके लिये अन्य साधनोंका अन्वेषण करते भिजते हैं, उन मृगरूपी शिष्योंसे हमारा कोई प्रयोगन नहीं है। जब न हुःख है न सुख है, जगत् भी शान्त और महस्तम्य है तथा विनाशतासे भिन्न दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, तब इच्छा कहाँसे

उत्पन्न हो सकती है। जैसे भिन्नीके बने हुए योद्धाओंकी सेनामें भिन्नीके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, वैसे ही सदात्मक जगत् और अहंता आदि दृश्य-प्रपञ्चमें ब्रह्मके सिवा और कुछ नहीं है।

श्रीरामजीने पृथ्वी—मुनीश्वर ! यदि ऐसी बात है तब तो इच्छाका उदय हो या न हो; क्योंकि वह भी तो ग्रहस्खल्प ही छहरी ! ऐसी दशामें उसके विविध विषयसे कौन-सा प्रयोगन सिद्ध होगा ?

श्रीबसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! आत्मतात्वका व्याख्यान हो जानेपर इच्छा ग्रहस्खल्प ही हो जाती है, उससे भिन्न नहीं रहती; अतः तुमने जैसा समझा है वह विन्मुक्त सत्य है; किंतु इस विषयमें भैरी यह बात और मुनों । जब-जब आत्मज्ञानका उदय होता है, तब-तब इच्छा शान्त हो जाती है। जैसे सूर्योदय होनेपर रात्रि विलीन हो जाती है, वैसे ही आत्मज्ञान हो जानेपर इच्छा आदि सभी विकार शान्त हो जाते हैं। ज्यों-ज्यों ज्ञानका उदय होता है, स्यों-स्यों दैतकी शान्ति और बासनाका विनाश होता जाता है। ऐसी स्थितिमें मला, इच्छा कैसे उत्पन्न हो सकती है। सम्पूर्ण दृश्य पदार्थोंसे वैराग्य हो जानेके कारण जिसकी किसी विषयमें इच्छा उत्पन्न होती ही नहीं, उस पुरुषकी अविद्या शान्त हो जाती है और निर्मल मुक्तिका उदय हो जाता है। फिर तो उसका दृश्य-प्रपञ्चविषयक वैराग्य और अनुराग—दोनों नष्ट हो जाते हैं। उस समय उसका एकमात्र ऐसा खमाल ही हो जाता है कि उसे द्रष्टा और दृश्यकी शोभा रुचती ही नहीं। ऐसी परिस्थितिमें उस तत्त्वज्ञानीकी इच्छा और अनिच्छा—दोनों ही ग्रहस्खल्प ही हैं, इसमें तात्त्विक भी संशय नहीं है अथवा तत्त्वज्ञानीमें अक्षय ही इच्छा उत्पन्न ही नहीं होती। यदि किसी मनुष्यको तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो

गयी तो उसकी इच्छा शान्त हो जाती है; क्योंकि प्रकाश और अन्धकारस्थी तरह इच्छा और तत्त्वज्ञान—ये दोनों एक साथ रह ही नहीं सकते। और बिसकी सारी इच्छाएँ शान्त हो गयी हैं, उसको भला, कौन किस प्रयोगनके लिये क्या उपदेश दे सकता है। जो इच्छाओंका अव्यक्त ज्ञान हो जाना, समस्त प्राणियोंको आहादित करना अथवा आस्मानभक्ता अनुपम है, वही तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिका अक्षण है। तत्त्वज्ञानीको जब किसी भी मोगपदार्थमें खादका अनुपम नहीं होता, तब सारा दृष्टि-प्रयोग उसे फीका लाने लगता है। उस समय उसकी इच्छाका प्रसार रुक जाता है और तभी उसे मुक्ति भी मिल जाती है। तत्त्वज्ञान हो जानेसे जो एकता और अनेकता अर्थात् द्वैताद्वैतके प्रफङ्गसे मुक्त होकर शान्त हो गया है, उसके इच्छा और अनिच्छा आदि सभी भाव शिवात्मक—परमात्मरूप हो जाते हैं। उसका न इच्छासे न अनिच्छासे, न सद्वस्तुसे न असद्वस्तुसे, न अपनेसे न परायेसे, न जीवनसे न मरणसे—यों किसीसे भी सरोकार नहीं रह जाता।

खुशीर ! जिसे निर्वाणका तत्त्वज्ञान हो गया है, उसके हृदयमें तो इच्छा उत्पन्न होती ही नहीं। यदि कदाचित् उसमें इच्छा-सी उत्पन्न हो भी जायतो वह शाश्वत ब्रह्मरूप ही होती है। ‘यह जगत् न दुःखरूप है ज सुखरूप, बल्कि अज, शिश्वरूप और शान्त है’— ऐसी भावनासे जिसका अन्तःकरण शिलाकी भोति दृष्ट हो गया है, उसे विद्वान् लोग तत्त्वज्ञ कहते हैं। इस प्रकार पूर्ववर्णित परमात्मनरूप परमात्माकी भावनासे विषको जमृतरूपमें परिवर्तित कर देनेकी भौति दुःखका सुखरूपमें अनुभव करता है, वह प्रबुद्ध कहा जाता है। जंगत्की सत्ताका अभाव समझमें आ जानेपर जब एकमात्र द्वयानुभवरहित विन्यय आकाश ही सर्वत्र व्याप-

दीखता है, तब सबमें नमानरूपसे रहनेवाले, भौत्य, इन्द्रिय एवं आनन्दमय परमात्मामें सिनि हो जानेग जीवजा अहंताका भ्रम मिट जाना है। यह जो कुछ चराचरतम्भ जगत् द्विखायी पढ़ रहा है, वह सब शान्त चिदाकाशात्मक ब्रह्मरूप ही है। इसके सिवा और जो कुछ दीन्हा है, वह दूसरेके मनोराज्यके नगरकी तरह असद है। न्यजमें देखे गये नगर और बादकदार कन्दिन प्रेनकी नाम यह जो कुछ दीख रहा है, उसमें अमरपनाके अनिरिक और क्या है अर्थात् वह निष्ठय ही अमर है। वैकुंठ सत्य भ्राता ही ‘अहम् ब्रह्म’ कादि स्तुतेसे असदन्ना भासित होता है, इसलिये यह भ्रान्ति भ्रान्तिप्रत्त पुरुषके विना ही स्फुरित होती है; अतएव वह असत्य है।

रामभद्र ! बासत्रमें तो यह इच्छा ही या अनिच्छा, सुषिं हो अथवा प्रलय; इससे यहो न तो किसीकी कोई हानि है और न इससे कुछ नाम ही है। ये जो इच्छा-अनिच्छा, सद-असद, भाव-अभाव और सुख-नुख आटिकी कल्पनारूप हैं, इनमेंसे किसीका भी तत्त्वज्ञानीके चिदाकाशमें उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। विवेकद्वारा प्राप्त हुए ज्ञातिमें हृषि द्वार जिस विवेकीकी इच्छाएँ दिन-गर-दिन ज्ञान होनी जानी हैं, उसीको मोक्षका अधिकारी जहा जाता है। रितु जिस अविवेकीका दृष्ट इच्छायी छुरीसे गिर हो गया है, उसमें ऐसी भीरण देखना होता है, जिसे ये मनि, मन्त्र और महांग्रह आदि भी मिटानेमें समर्प नहीं हो सकते। वस्तुतः तो इस परमात्मामें जगत् जटि कुछ भी पदार्थ न तो उत्पन्न होना है और न बन ही होना है; बल्कि निद्रागत रूपद्वयी जह ये दो प्रनिभासित होता है। प्रनिभासण होनेके पर्याप्त वृद्धी आदि कारणोंसहित इस दैहिकी भी सरा नहीं है, केवल चिन्मात्र यह ही स्थित है।

खुकुचतिलक ! योगीशोग हानहर भिजौरु-नुर्देव प्रयोगसे आधे क्षणमें ही जगत्को अवद्वारूपने हैं।

आकाशको तीनों लोकोंके रूपमें परिवर्तित कर देते हैं। जैसे आकाशमें सिद्धसकलपद्मारा कल्पित असंख्य नगर गुप्तरूपसे स्थित रहते हैं, वैसे ही अनन्त चिन्मय परमात्मके संकल्पमें सहजों सुषिर्णों अन्तर्भूत रहती हैं। जैसे महासागरमें उठी हुई विशाल लहरियों परस्पर संयुक्त होनेपर भी एक-दूसरीसे पृथक्-सी स्थित जान पड़ती हैं; परंतु वास्तवमें वे जलसे भिज नहीं हैं, वैसे ही महान्-चेतन-ब्रह्ममें बहुत-सी बड़ी-बड़ी सुषिर्णों परस्पर मिली हुई होनेपर भी पृथक्-सी स्थित हैं। वास्तवमें तो वे उपरसे पृथक् नहीं हैं। श्रीराम ! सारे भूत-प्राणी अविनाशी परम शिवस्वरूप ब्रह्ममें

स्थित हैं और उसीमें ये सारी सुषिर्णों भी आकाशमें शून्यताके उल्लासकी भौति स्वच्छदरूपसे स्थित हैं। राघव ! काल, उसके अन्तर्गत ब्रह्माण्ड-समूह, उसके भीतर चौदह भुवन, उन भुवनोंमें 'आह' 'त्वं' आदि भोक्ता, भोक्ताओंके भोगोंके साधनभूत इन्द्रियसमूह, इन्द्रियोंके विषय शब्द-स्वर्ण आदि और अकृत भोग—यह सब कुछ एकमात्र शान्त, अज, अन्यय चिदाकाश ही है—यों निश्चय हो जानेपर राग आदि किसी भी विकारका उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। ( सर्ग ३७ )

### चेतन ही जगत् है—इसका तथा तत्त्वज्ञानी और जगत्के स्वरूपका वर्णन

श्रीचतिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! ब्रह्मका स्वरूप सबसे सूक्ष्म है, इसलिये जो-जो वस्तु जिस-जिस रूपसे वास्तव अणुस्वरूप है, वह-वह उसी-उसी रूपमें सूक्ष्मभूत ब्रह्मस्तु है। ऐसी दशामें ब्रह्मस्तु ही सर्वत्र वर्तमान है। जैसे बट्टादि पदार्थ अगल-बगल तथा ऊपर-नीचे सर्वत्र मिही ही है, उससे भिज नहीं, वैसे ही इस बगतको जिसने जिस रीतिसे परीक्षा करके देखा, उसे वस्तुतः यह ब्रह्मस्वरूप ही दीख पड़ा। जैसे मुख्यके भूषणादि सैकड़ों रूपोंमें परिवर्तित हो जानेपर भी उन रूपोंमें मुकुर्णत्व ही वर्तमान रहता है, वह दूसरा कुछ नहीं हो जाता, वैसे ही शान्त ब्रह्मके अनेकों जगद्-भाव तथा जीवभावमें परिणत होनेपर भी वह उनमें अपने शान्तब्रह्मस्वरूपसे ही स्थित रहता है।

राघव ! जिस महात्मा पुरुषकी दृष्टिमें सारा विश्व ही निराकार चेतनाकाशरूप ब्रह्ममें प्रतीत होता है, उस मनो-च्यापाग्रन्थ योगीको किसी निमित्तसे किसी पदार्थकी इच्छा कैसे उत्पन्न हो सकती है ? जो पूर्णतया शान्त तथा विशेषरूपसे इच्छाओंसे रहित हो गया है, उस सत्ता-असत्ता अर्थात् वैमव एवं दार्शित्वके समानरूपसे देखनेवाले ज्ञानीको महिमाका आकर्ण करनेमें कौन

समर्थ हो सकता है। जो विशुद्ध ज्ञानस्वरूप, आत्म-प्रकाशसम्पन्न और चिदाकाशरूप हो गये हैं, उनका न कुछ विगड़ता है और न कुछ बनता है; किंतु जो अहानी है, उसके मृगतंत्राखणी नदीके तटके समान शान्त आत्मामें जन्म-मरण असद् होते हुए भी अमवश्य सत्-से प्रतीत होते हैं। जब उनकी सम्यक्-रूपसे परीक्षा कर ली जाती है, तब न तो भान्ति रह जाती है, न परीक्षक रहते हैं और न जनन-मरणका ही नाम-निशान रह जाता है। उस समय केवल अविनाशी शान्त ब्रह्म ही रह जाना है। जो मैं हूँ, जो तुम हो, जो इच्छाएँ एवं दिशाएँ हैं, जो क्रिया, काल और आकाशादि हैं, तथा जो लोकाल्पेक आदि पर्वत हैं, उन सबमें शिव-स्वरूप चिदाकाश ब्रह्म ही व्याप्त है। इसी तरह जो ब्रह्म और आन्तर विषय हैं, जो भूत आदि तीनों काल हैं, जो जगत् है तथा जो जरा, मरण और पीड़ा आदि हैं, वे सभी महाचिदाकाशस्वरूप ब्रह्म ही हैं। जो वासनारहित हो गया है, जिसे वर्तमान भोग नीरस मालूम देते हैं और मात्री भोगोंकी विसे इच्छा नहीं है, ऐसे साधकके लिये सत्-शास्त्रके अतिरिक्त आत्मसुखकी प्राप्तिका हेतु और क्या हो सकता है।

रघुनन्दन । जिसे संसारको क्षीण कर देनेवाले सामान्यिक सत्य अर्थका साक्षात्कार हो गया है, वह पुरुष संकल्परहित हो जाता है; क्योंकि वह संकल्पको आत्मासे पृथक् जानता ही नहीं, इसलिये यह संकल्पामास असत् है । जिसके आवरण क्षीण हो गये हैं और जिसकी सारी इच्छाएँ शान्त हो गयी हैं, वह परमानन्दरूपी अमृतसे परिष्ठीर्ण हो जाता है और निरतिशयानन्द-खलूप प्रक्ष-सत्तासे ही सुशोभित होता है । जैसे पूर्णिमाके चन्द्रमासे सारा आकाश-मण्डल उद्धीत हो जाता है, वैसे ही जिसकी बुद्धि ज्ञानालेकसे प्रकाशित है और जो समस्त सदिहरूपी घोर अन्धकारामक कुम्भसेको छिन-मिन कर देनेके लिये बायुके समान है, उस पुरुषसे सारा देश उद्घासित हो उठता है । विचारजन्य तत्त्वज्ञानसे देखनेपर जिसका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता, वह सदाके लिये सत्ताहीन है; इसलिये जगत्का रूप खलूपरहित है और क्रम खंग अपने ही रूपमें स्थित है ।

श्रीराम ! जैसे स्वप्नद्वारा पुरुषोंको स्वप्न सत्-सा प्रतीत होता है, वैसे ही अज्ञानियोंकी दृष्टिमें मेरा शरीर भी सत् ही है; परंतु मेरी दृष्टिमें वह निश्चय ही उसी प्रकार असत् है, जैसे सुधुमु पुरुषकी दृष्टिमें स्वप्न । उसके

साथ जो भेरा अवहार होता है, वह स्व-स्वरूपनियन्द द्वारा स्वरूप ही है; परंतु वे जो युद्ध देखने हैं, भौति द्वा देख करें, उनसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है । मैं उन्ने वसिष्ठरूपमें तो युद्ध नहीं है, नितु स्व-स्वरूपमें द्वारा नै स्थित हूँ । यह व्यापक ब्रह्मसत्ता मनों तुष्टाने तो इन्हें वसिष्ठरूपसे प्रकट हुई है और मेरी यह धर्मी भी इन्हें सत्तारूप ही है । जिसे प्रतिकूँड दुरुस आदि एवं अनुकूँड प्रतीत होते हैं, उस शुद्ध ब्रह्मसम्पद नस्तज्ञानीके द्वारा न तो भोगोंकी इच्छा ही जाप्त दोती है और न मोक्षेत्तरा ही । मनुष्योंका जो यह बन्धन और मोक्षरूप मन है, यह तो समावके ही अधीन है । यह नस्तज्ञानी ने मोहके कारण ही उत्पन्न हुई है । कैसा आधर्म है जो गीके लुम्बे सागरका भ्रम हो रहा है । अब-जब इन-खलूप सूर्य अपने पूर्ण प्रकाशसे स्थित होता है, तब-नव भोगरूपी अन्धकारका नाश हो जाता है और उनमें अस्तित्व रहते हुए भी वह अनुभवमें नहीं जाता । यो भोगान्धकारके नष्ट हो जानेपर बुद्धि आदि रसगोग्य समूह अज्ञानकी सत्तासे रद्दित हो जाता है और ब्रह्मरूप-वृत्तिके प्रकाशसे उद्घासित हो उठता है । इर्मानिये यह दीपकके प्रकाशकी तरह शम्भूत होमर जाने और भासित होने लगता है । ( सर्ग ३८-३९ )

### जीवन्मुक्तके द्वारा जगत्के सरूपका ज्ञान, स्वभावका लक्षण तथा विद्य और विश्वेश्वरकी एकता और स्वात्मभूत परमेश्वरकी पूजाका वर्णन

श्रीविसिंहजी कहते हैं—रघुनन्दन ! विषयमें मश्वरूपी महान् रोग है, भाई-अन्यु आदि सुदृढ़ बन्धन हैं और धन-सम्पत्ति महान् अर्थके कारण हैं—यो सम्बान्ध अपने द्वारा आत्मामें ही शान्तिं-आभ करना चाहिये । जैसे सुषुप्ति-अवस्थामें पहुँचे हुए पुरुषको स्वप्नका भान नहीं होता और स्वप्नदृष्टाको सुषुप्तिका ज्ञान नहीं होता, वैसे ही ब्रह्मखलूपमें स्थित पुरुषको जगत्का भान नहीं होता और जगत्कालमें फैसा हुआ ब्रह्मसरूपसे अनभिह रहता है । परंतु जिसकी बुद्धि पूर्णतया शान्त हो गयी है तथा

जो जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञानी है, वह ऐसा ज्ञानके प्रकाशमान रूपमें वैसे ही जानता है, जैसे नाम और स्वप्नदृष्टाको कमशा उनके स्वप्नकी ज्ञानमानी रहती है । तत्त्वज्ञानीज्ञे इस सम्पूर्ण जगत्के यज्ञपूर्व ब्रह्मरूप धीक-तीक ज्ञान हो जाता है, जिन्हें वह इन्द्रजीव भेदके समान शुद्धात्मा होकर न धीर्घानि इन्हें ही रहता है ।

रामद्र ! जैसे जटीं सूर्य गंगेने जटे भ्रह्मरूप, अवस्थाभावी हैं, उसी प्रकार इन्हें नस्तज्ञानद्वारा दुर्द्वारा हैं, वहाँ विषयोंसे पूर्ण आप्य रहेगा है । वह इन्हें निर-

जो कर्ता, कर्म और करण आदि सामग्रियोंसे रहित, द्रष्टा, दृश्य और दर्शनसे शून्य नया उपादेय पदार्थोंसे हीन है, दीवालरूपी आधारके बिना ही आविर्भूत हुआ है। तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो जानेसे जाग्रत्-कालमें जो रग और वासनासे रहित सुपुस्ति-अवस्था प्राप्त होती है, उसे तत्त्वज्ञ पुरुष सभाव कहते हैं, और उसमें परिलिङ्गित हो जाना सुकृति कहलाती है। ऐसी निष्ठा प्राप्त हो जानेपर तत्त्वज्ञानीको कर्ता, कर्म और करणसे हीन, द्रष्टा, दृश्य और दर्शनसे शून्य तथा वाक्य और आनन्दतर विषयोंसे रहित ब्रह्म जगद्रूपसे स्थित जान पड़ता है अर्थात् जगत् ब्रह्मस्तररूप ही प्रतीत होता है। उस समय उस ज्ञानीको ऐसा लक्षित होता है कि प्रकाशमान वस्तुमें प्रकाशमान वस्तु प्रकाशित हो रही है, पूर्णमें पूर्ण स्थित है और द्वैताद्वैतरहित प्रत्यगात्मामें द्वैताद्वैतशून्य ब्रह्म ही अखण्ड एकत्रस्तररूपसे स्थित है। वस्तुतः तो ब्रह्मके सुष्ठुरूपमें स्थित होनेपर भी आकाशमण्डलके सदृश शान्त एवं सत्यतारूप स्थयं परमात्मा ही अपने सत्यस्तररूपमें द्विभाजन-जटकी भाँति अशुद्ध हुआ स्थित है। जैसे भविष्यमें जिस नवीन नगरका निर्माण करना होता है, उसका नक्शा पहलेसे ही विचारमें वर्तमान रहता है, उसी तरह यह पूर्ण प्रकाशस्तररूप जगत् ब्रह्ममें ही स्थित है। जैसे गन्धर्वनगर एवं तलभलिनता आदि दोषोंका वाप हो जानेपर आकाश अक्षत्सात् ही अपने शून्यताभावसे दीखने लगता है, उसी तरह तत्त्वज्ञान हो जानेपर जब सुष्ठुरूपत्ति-विनाशसे रहित मिथ्या सिद्ध हो जाती है, तब हवात् आनन्दधन ब्रह्म ही विशेषरूपसे भासित होने लगता है।

खुकुलभूषण राम ! जैसे किसी सहायककी अपेक्षा किये बिना ही वायुमें स्पन्दन होता है और जैसे सूर्य आदिकी प्रभाका प्रसार होता है, कैसे ही यह जगत् परमात्मामें स्थित है और उसीसे प्रादुर्भूत होता है। जैसे जलमें द्रवल, आकाशमें शून्यता और वायुमें

स्पन्दन ओतप्रोत है, वैसे ही परमात्मा वरमात्मामें अनिर्वचनीय विवर्तरूप यह जगत् है। महाचिद्रूप ब्रह्मनगरमें जो यह जगत् भासित होता है, वह चिद्रूप ही है, जो मणिमें उसकी निर्मलताकी तरह सुरित होता है। जैसे वायु और उसके स्पन्दनका मेद कथनभाव है, वारुदविक नहीं, वैसे ही विश्व और विशेशरका मेद भी अस्त-रूप ही है। जो तीनों कालोंमें सत् है और जिसमें द्वैतकी सम्भावना नहीं है, वह महाचिद्रूप ब्रह्म ही विश्वरूपमें भासता है। वास्तवमें तो न विश्व ही सत् है और न विश्वका स्वरूप ही। जो रूप ब्रह्मका है, वही रूप जगत्का है तथा जो रूप आकाशका है, वही रूप उसके गुण सारी शून्यताका है; फिर इनमें द्वैन-अद्वैतका होना असम्भव है। परमरपर खुदी द्वै द्वै सेनामें पाषाणव्यक्ती तरह एकात्मा, सर्वव्यापक, निर्मल, चिन्मात्र, सर्वस्तररूप परब्रह्म परमात्माके स्थित रहते कर्त्त-करणकी विनिक्रिता कहोसे और कैसे सम्भव हो सकती है तथा द्वैके सम्भव न होनेके कारण आकाशमें आकाशशून्यता कैसे हो सकेगी।

कत्सु राम ! ज्ञान-ग्रासिके लिये पूर्ण विवेकस्तररूपी उपचारसे यथाप्राप्त पूजन-सामग्रीहारा बुद्धिपूर्वक सभाव-रूप परमेश्वरकी पूजा करनी चाहिये; क्योंकि विचार, शम, सासङ्घ और त्यागरूपी पुर्णोद्घारा पूजित हुआ परमेश्वर तुरत मोक्षरूपी फल प्रदान करता है। सज्जन-विशेषणो ! वह परमेश्वर तो अपना आत्मा ही है। एक-मात्र यथार्थ अनुभवरूपी द्वौजन-सामग्रीसे पूजित होनेपर, जो सर्वोत्तम मोक्ष-फल प्रदान करनेवाला है, वह आत्मा-रूपी ईश्वर बहों वर्तमान है, वहों उसे छोड़कर भन्न, कौन ऐसा मूर्ख होगा, जो किसी दूसरेका आश्रय ग्रहण करेगा। मनुष्यको अपने अदर शमरूपी अमृतके सिंचन-से विवेकको धीरे-धीरे ऐसा बढ़ाना चाहिये, जिससे वह विषयोंकी भ्रान्तिसे पुनः नष्ट न हो जाय। उसे चाहिये कि वह ढेहकी सत्ताकी अवहेलना करके उसमें स्थित तात्त्विक वस्तुका साक्षात्कार करे और लज्जा, भय,

विषाद, ईर्ष्या, सुख और दुःखपर समानरूपसे विजय प्राप्त करे ।

राधव ! जैसे संकल्पकी शान्ति हो जानेपर संकल्प-नगर सदा के लिये शान्त हो जाता है तथा जैसे जाग्रत् पुरुषके लिये खल नष्ट हो जाता है, वैसे ही आत्म-शानीकी दृष्टिमें यह सारा जगत् सदा के लिये असत्सा दीख पड़ता है । यदि कोई पुरुष अविद्या-खलपर जिस-किसी कल्पनिक उपदेशसे 'मैं कृतार्थ हो गया हूँ' यों अपनेको मानने लगता है तो अज्ञानी होनेके कारण कह वास्तवमें अकृतार्थ ही है । पूर्खतासे विमोहित

होनेके कारण ही वह अपनेको इनर्स भननेवाला है, परंतु दूसरे ही क्षण जब उसे माना प्रज्ञनके अभ्यास के विरुद्ध है, तब उसे अपनी अकृतार्थनाम हान होता है । विद्वानोंका मन है कि जो इन्द्रिय उन्हैं है, वह शुश्नभरमें ही भाव, अभाव और इन्द्रिय विद्वानसे दुःखदायी हो जाना है; अनः परा ऐन्ड्रिय उपाय नहीं है । जगद्भूमध्य पूर्णनाम इन गों उन्नेश जो वासनारहित स्थिति प्राप्त होनी है, उन्होंनो निर्दारण कहा जाता है । उसके प्राप्त होनेके समूर्य गिर्व सत्तः ही नीरस हो जाते हैं । ( सर्ग ४०-४२ )

### जगत्की असारताका निरूपण करके तत्त्वज्ञानसे उसके विवादका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुवीर ! जो अज्ञानरूपी अरसे मुक्त हो गया है और जिसका आत्मा ज्ञान-प्राप्ति-से शान्त हो गया है, उसका यही छक्षण है कि उसे फिर भोगरूपी जल स्विकर नहीं लगता । जैसे स्वरमें दृष्टिगोचर हुए पदार्थ जाग जानेपर उस स्वप्नद्रष्टाको न तो किसी प्रकारका आनन्द देते हैं और न उसकी दृष्टिमें उनकी सत्ता ही रहती है, उसी तरह 'यह मैं हूँ, यह जगत् है' इत्याक्षरक भ्रमसे प्रतीत हुए पदार्थ तत्त्वज्ञानीके लिये न तो आनन्ददायक होते हैं और न अपना अस्तित्व ही रखते हैं । जैसे विश्वमस्तरूप यज्ञनागर वास्तवमें मिथ्या हैं, वैसे ही अहंता और जगत् भ्रमरूप ही हैं । वस्तुतः तो वे मिथ्या ही हैं । जैसे आवरणवृत्त्य होनेके कारण विश्वमरूपी यज्ञ जंगलमें प्रतीत होते हैं, वैसे ही ये चौदह सुवन भी प्रतीत होते हैं । सत्ताकी उत्पत्तिसे शून्य यह विस्तृत दृश्य-प्रपञ्च द्रष्टाके संकल्पसे होनेवाला होनेसे द्रष्टाका रूप ही है अथवा कुछ भी नहीं है; क्योंकि परमार्थ चिद्रूप सत् क्या कहीं तुच्छ दृश्यरूपसे स्थापित किया जा सकता है ? अर्थात् कदापि नहीं । जैसे वसन्तऋतुका रसप्रवाह कृक्ष और ऊताओंके रूपमें दृष्टिगोचर होता है, वैसे ही अपने स्वरूपमात्रसे परिपूर्ण

कर देनेवाली आध्यात्मनता ही दृष्टिके रूपमें परिवर्त्तिहै ।

रघुदृढ़ ! यह जो जगत्का आत्मास है, दा रित्युद चिन्याक्तव्य आत्मासरूप ही है; फिर इसमें एवं ये द्वितीयी कल्पना कीसे ही सम्भवी है । नन्दन ! तुमत्रोग चिन्मय आकाशरूप हो जाओ, परम रम निरतिशयानन्दका पान करो और निर्यातनन्दसरूप नन्दनवनमें निरसाक्ष होमर निगरु रहो । अरे भ्रात्तद्वुद्धि मुमुक्षो ! तुमत्रोग सत्तारूपी रानन्दः इन अत्यन्त शून्य महसूसियोंमें शृगमरीचिराकं पीछे भान्त द्वार हिरन्योंकी तरह क्यों भटक रहे हो । तुमदोषोऽनुद्धि त्रिलोकीरुपी यज्ञत्रिपाके जन्मस्त्री चक्रचर्यवर्षमें दद्वय अंकी हो गयी है और तुम्हारे द्विपर्यासे ज्ञाने लगा कर लिया है, अनः तुमगेन व्यप दोष तृष्णाके देवों मन दींदो । जग और आनन्दिक भैनरद्वारा शृगमरीचिराकं जलमान पान करनेवाले एतिनरूपीं जीवो ! तुमर्याग व्यर्द ही परिश्रम करके अपनी आत्म नन गैंदग्जे, नन गैंद उँ । यह जगत् गन्धर्वनगरके समान है । एन्न रित्युद अपहरण करनेवाले मङ्गन् ज्ञानपरसे तुम होग तुम्हें अपना विनाश मत करो । इन छुलरूपरूप दृश्यदेवों द्वारा भी ग

विषयमोगोंको दुःखदूष ही समझो । मनुष्यो ! ये  
मानव-देव वायुके झोंकेते चश्छल हुई पीपलबृक्षकी उपरी  
शाखाके पत्तोंपर स्थित ओसकी बूँदोंके सदृश क्षणभूर हैं  
अतः तुमलोग इन अन्धकारपूर्ण गर्भशय्याओंपर शयन मत  
करो । आदि-आत्महित पारमार्थिक ग्रन्थभावमें लगातार  
शान्तभावसे स्थित रहो । दृष्ट-दृश्य आदि विश्व स्वामारुपी  
दोषसे अपना पनन मत घर ढालो । यह संसार तो  
अज्ञानीकी ही दृष्टिमें सत्य है । वास्तवमें तो इसमें कुछ  
भी सत्य नहीं है । यह मैं हूँ और यह मेरा है  
इस प्रकारके अभिगानरूपी आनन्दकी सर्वथा शान्ति ही  
मुक्ति है और वह मुक्ति जिस-किसी भी प्रकारसे स्थित  
योगीकी अपने खलूफ्की सत्ता ही है ।

रघुकुशतिलक राम। जो संसार-मार्गमें चलते-चलते  
अक्षवटसे चूर हो गया है, उस परिकले लिये निर्वाणता,  
धासनाशन्तता, त्रिविध तापशून्यता और उत्कृष्ट ज्ञान—ये  
शान्ति प्रदान करनेवाले विश्रामस्थान हैं। यह जगतखणी  
पदार्थ परस्पर अनिवृच्छीय है। इसे तत्त्वज्ञानी जैसा  
समझता है, वैसा भूर्ख नहीं जानते और जैसा भूर्ख जानता  
है, वैसा तत्त्वज्ञानी नहीं समझते अर्थात् अज्ञानीके लिये  
यह दुःखमय है और ज्ञानीके लिये आनन्दमय झक्का है।  
जीवभूक्त ज्ञानीके लिये भ्रान्तिकी शान्ति हो जानेपर  
जगत्कृत स्वरूप भी नष्ट हो जाता है। उसकी दृष्टिमें  
तो एकमात्र परमात्मा ही विद्यमान दीखता है।  
जैसे खूब जले हुए धास-क्षसोंकी भस्मराशि बायुके क्रेसे  
उड़कर न जाने कहाँकी कहों चली जाती है, वैसे ही  
सत्युल्लोकी संगतिसे आत्मस्वरूपमें विश्राम प्राप्त हो जानेपर  
इस जगत्कृत अस्तित्व न जाने कहाँ विजीन हो जाता  
है। क्योंकि जो समस्त प्राणियोंकी रात्रिके समान है, उस  
परमानन्दमें संयमी पुरुष जागता रहता है और जिस संसारमें  
प्राणी जागते रहते हैं, वह तत्त्वज्ञ ज्ञानीके लिये रात्रिके  
समान है। जैसे जन्मान्धको रूपकर्म अनुभव नहीं होता,  
वैसे ही ज्ञानीको जगत्कृत अनुभव नहीं होता और यदि

कदाचित् होता भी है तो वह अम-नुल्य परं असद्गृह ही होता है। अज्ञानियोंके स्थिते दुःखरूपसे प्रसिद्ध जो तीनों लोक हैं, वे अज्ञानियोंकी ही दृष्टिमें हैं, तरंगज्ञानीयोंकी दृष्टिमें उनका अस्तित्व नहीं है; क्योंकि वे सत् नहीं हैं।

श्रीराम ! जैसे नदियोंका बल जबतक समुद्रमें नहीं  
 मिल जाता तबतक नदी, प्रवाह आदि सैकड़ों नाम-रूपोंमें  
 व्यवहृत होता है, ऐसु जब वह समुद्रमें मिलकर एकत्वार  
 हो जाता है, तब एकत्वात्र जल ही कहलाता है, जैसे  
 ही धारा और आम्यन्तररूपमें जो अर्थे एवं अन्योंका  
 समुदाय संकल्पसे प्रतीत होता है, वह क्यापक मन ही  
 है; क्योंकि उसीसे अर्थोंभी प्रतीति होती है। जैसे बल  
 और उसकी तरफ़ों कोई मेद नहीं है, जैसे ही मन और  
 सांसारिक पदार्थोंमें भिनता नहीं है।

संसारके सभी पदार्थ संकल्परूप ही हैं, इसलिये विवेकी पुरुष उनकी कामना नहीं करते। मन भी संकल्परूप है, इसी कारण सम्यक् ज्ञान हो जानेसे मन और पदार्थ दोनोंकी शान्ति हो जाती है। जैसे मिट्ठीकी मूर्तिमें कोई पुरुष अज्ञानवश शत्रुताकी धत्तना कर लेता है, किन्तु यो ही विवेकसे उसे झात होता है कि यह मिट्ठी है, त्यो ही उसकी शत्रुता और भय—दोनों उस मूर्तिसे निकल जाते हैं, वैसे ही ज्ञानीके ये अर्थ और मन—दोनों ही सतः नष्ट हो जाते हैं। जैसे पास ही सोये हुए पुरुषका समझ और डरपोक बच्चेके सामने दीखनेवाला पिशाच असद है, उसी तरह प्रारब्धानुसार प्राप्त होनेवाले सुख-दुःखादि भोगोक्ता साधनभूत जगत्, संसारकाल दैवकृत जन्मादि विकार, उसका भोक्ता अज्ञानी और अज्ञानीके शब्दादि विषय—ये सभी असद हैं। जैसे धीर-धीर पुरुषकी दृष्टिमें पिशाचबुद्धिका अस्तित्व नहीं रहता, वैसे ही ज्ञानीकी दृष्टिमें अज्ञानीके जगत्की सच्चा नहीं रहती। अज्ञानी तो चिरस्तावतक ज्ञानीको भी अज्ञ ही समझता है; क्योंकि उसकी दृष्टिमें तो कथ्या भी पुनर-पौत्रोंके विस्तारद्वारा बढ़ती है, जो सर्वथा असम्भव है।

रामभद्र ! यह संसार तो मनसे ही उत्पन्न होता है

और परमात्मानसे शान्त हो जाता है, परंतु मनुष्य सीधीमें चाँदीके भ्रमकी भौति संसारभ्रममें पहुँचत वर्य ही कष्ट उठाता है । संसारके अमाव और परब्रह्म परमात्माके वास्तविक खलुपको व्यार्थ जान लेना ही ज्ञान है । निर्वाणसे भिन्न 'अहम्' इत्याकारक अमरूप जो सत्ता है, वह तो दुःखका ही कारण होती है । इस अहंकारक खलुप मृगानुष्णाके जलके सदृश असत् एवं शून्य है—ऐसा ब्रह्मान हो जानेपर अहंकार पूर्णतया शान्त हो जाता है । वौवासुरूप ब्रह्मतत्त्वका ज्ञान न होनेसे यह अज्ञानी जीवात्मा देश-काल आदि सामग्रीके बिना ही

जगद्रूपताको प्राप्त हो जाना है । बन्धुनः तो पृथिव्या एक ही है । यदपि श्रुद विश्रामामें अल्प लज्जें जिन्हें होना सम्भव नहीं है, तदपि अल्पानन्दगमें इज् इन्हें विघ्नके लिये उसमें उसकी कन्द्रिया अर्थ नहीं ज्ञानी है । अतः तस्मानके द्वारा मृगानुष्णाका उपयन ही जनेत्र इन मनुष्योंका अभिमान नष्ट हो जाना है, तब ते प्रभु एवं परमात्मामें लीन हो जाते हैं । उन्हें निर्विजयनन्दनों प्राप्ति हो जाती है, जिससे वे शान्त पृथिव्येन द्वारा होकर निरन्तर सविदानन्दधन परमात्मामें ही समाप्ति होते हैं । ( नं २३ )

### प्राणियोंके श्रान्त द्वाए मनस्ती मृगके विश्रामके लिये समाधिरूपी कल्पद्रुमकी उपयोगितारूप वर्णन

श्रीरामजीने कहा—मुनिवर । अब आप समाधिरूपी दृश्यके खलुपका, जो विवेकी पुरुषोंके जीवनोपयोगी फलोंसे सुशोभित, छताओंसे परिवैष्टित, पुष्पोंसे सुरभित और मनस्ती मृगको विश्राम देनेवाला है, क्रमशः वर्णन कीजिये ।

श्रीकृष्णसुजी बोले—रघुनन्दन ! मैं उस समाधिरूपी वृक्षका वर्णन कर रहा हूँ, सुनो । वह विवेकी पुरुषरूपी वनमें उत्पन्न हुआ है और ऊपरको बढ़ता ही जा रहा है । पत्रो, पुष्पों और फलोंसे छदा हुआ वह वृक्ष ज्ञानी जनोंको सर्वथा जीवन प्रदान करनेवाला है । विद्वानोंका कहना है कि दुःखके कारण अथवा सर्व ही—जिस-किसी भी प्रकारसे इस संसाररूपी वनसे उत्पन्न हुआ जो परम वैराग्य है, वही उस समाधिरूपी वृक्षका बीज है और विच्च उस बीजके उगनेके लिये उत्तम क्षेत्र है, जो शुभकर्म-समूहरूपी हूँसे जोता गया है, रात-दिन शान्ति आदि जलसे सीचा गया है और प्राणायमरूपी जल-प्रशाहसे शुक्त है । जब विवेकी जनस्ती कमननमें विच्चरूपी भूमि विवेकद्वारा परिष्कृत हो जाती है, तब संसारसे वैराग्यरूप समाधि-वृक्षका बीज सर्व ही जाकर

उस भूमिमें गिरता है । उस समय दृढ़ युद्धिन्द्र-पुरुषको चाहिये कि अपने चित्तरूपी भूमिमें गिरे हुए उस व्यान-समाधिवीजको खेदरहित दोपत्र यन्मृदुंग सीचता रहे तथा क्रायिक, वाचिक और मानसिक तथा दूर दानसे, अमानित्व आदि गुणोंसे और तीर्थरम्भोंमें निवासरूपी शान्तिमयी वृत्तिसे उस वीजपूजा दृश्यक रक्षा करता रहे । इस प्रकार निकल आयी देवता पथात जब उस वीजमें अद्वूर निःश्वास, गृह उसकी रक्षाके लिये रखनार्थी धरनेमें अपन्न निष्ठा-सतोष नामक पुष्पको उसकी ग्रिवरनी मुर्दिनांश् तथा रक्षकरूपमें नियुक्त धर देना चाहिये । “दक्षात् उन अद्वूरका धिनाश धर दान्धनेके लिये दृढ़ परन्तरे दृश्यवासनाग्रामें स्थित आशास्त्री दिल्ली, पुर्वार्द्धे अनुरागरूपी पक्षियों और ग्रामनवं इति गीतं ग्रामजे उन रक्षकके द्वारा भगा देना चाहिये । नि इम् दृश्यवासनसे अस्थन्त क्षोमन सम्भाग्नी दृश्यवासने दृश्यवासन तथा अविन्य व्यासरूपी लालैर प्रदान उपर्युक्त रूपी सूर्यकी धूपसे नमोगुणराज अद्वूर दृश्यवासन कर देना चाहिये । उस अद्वूरजा निःश्वास दृश्यवासने

लिये उसपर तरङ्गोंके समान चक्र एवं विनाशी सम्पत्तिरूपी नारियों तथा दृष्टिरूपी मेघोद्धारा ग्रेरित वत्र दूटे पड़ते हैं, इसलिये धैर्य, लौदार्य, दया आदि मन्त्रों तथा जप, स्नान, तप और दम आदिके सहयोगसे ग्रणवार्य-चिन्तनरूपी त्रिशूलके द्वारा उनका निवारण कर देना चाहिये। इस प्रकार जब उस ध्यान-वीजकी भलीभौति रक्षा भी जाती है, तब उससे विवेक नामक नवीन अद्वार उत्पन्न होता है, जो जन्मसे ही उचिति-शील और सीन्दर्यशाली होता है।

राध ! तदनन्तर उस अद्वारसे अपने-आप दो पते निकलते हैं, जिनमें एक है 'शास्त्र-चिन्तन' और दूसरा है 'सत्यरूपोंका सङ्क'। आगे चलकर जब यह संतोषरूपी त्वासे बेक्षित और वैराग्यरूप रससे अनुख्लित होता है, तब यह तना, इहमूलता और समुन्नतिको धारण करता है। इस प्रकार शास्त्र-चिन्तनरूपी वर्षके जलसे आज्ञायित होकर जब इसका हृदय वैराग्यरूपी रससे परिपृष्ठ हो जाता है, तब यह अपनी बायुके पोठे ही समयमें परमोक्ष उचितिको प्राप्त हो जाता है। धीरे-वीरे शास्त्रार्थचिन्तन, सत्यरूप-समागम और वैराग्यरूपी रससे जब वह अथन्त छृ-मुष्ट हो जाता है, तब राग-द्वेषरूपी कंदरोद्धारा क्षुब्ध किये जानेपर वह जरा-सा भी कमित नहीं होता। तदनन्तर विज्ञानसे अलंकृत आकारवाले उस वृक्षसे आमरससे सुशोभित तथा दूर देशक किसार करनेवाली ये खुट्टता ( आमतत्वका स्पष्ट आविर्भाव ), सत्यता, सचा ( आत्मरूपसे स्थिति ), धीरता, निर्विकल्पता, समता, शान्तता, मैत्री, करुणा, कीर्ति और आर्थता आदि लतारें ( शास्त्र-प्रशास्तारें ) उत्पन्न होती हैं। ये गुण-रूपी पत्तों तथा यशरूपी पुष्टोंसे लदी हुई इन लताओंसे समृद्ध हुआ वह ध्यान-समाधि-वृक्ष संचासी ( अहंकार-त्यागी ) के लिये कल्पवृक्षका काम करता है।

रामभद्र ! इस प्रकार जब वह उत्तम ध्यानरूपी

( समाधिरूपी ) वृक्ष लता, पल्लव और पुष्टोंसे विभूषित हो जाता है, यशरूपी पुष्टगुच्छोंसे उसकी अद्वृत छटा दीखने लगती है, उसमें गुणरूपी पल्लव वहलहाने लगते हैं और उसकी आकृति प्रकाशरूपी मङ्गरियोंसे सुशोभित हो जाती है, तब वैराग्य-रसको टपकानेवाला वह वृक्ष दिन-भर-दिन आगामी ( मूलाद्वानके उच्छेदक व्रतसाक्षात्काररूपी ) ज्ञानका प्रदाता होता है। उस समय वह वर्षाकालीन मेघकी तरह सारी दिशाओंको शीतल कर देता है और समूर्ध सांसारिक तापको वैसे ही शान्त कर देता है, जैसे दिनमें प्रकट हुए सूर्यके तापको रातमें कन्द्रमा शान्त कर देता है, जैसे मेघोंकी धटा छाया पैदा कर देती है, वैसे ही वह वृक्ष उपशमरूपी छायका विस्तार करता है। वह उपशम चित्तको ऐसा मुद्द करनाता है, जैसे पूर्वी हवा बादलको धना कर देती है, वह परमाम्भानके मूलवन्धको वैसे ही अपने-आप सुदृढ़ कर लेता है, जैसे कुल्पर्वत अपने मूलको। तथा वह अपने ऊपर कैवल्य नामक फलके उत्पन्न होनेमें सहायक शान्ति आदि मङ्गलिक पुष्टगुच्छोंकी रचना करता है। पुरुषके हृदय-काननमें जब प्रतिदिन छायाक्षितानसे संयुक्त विवेकरूपी कल्पवृक्ष वृद्धिगत होता रहता है, तब भूतलके त्रिविधि तापोका हरण करनेवाली दुदिरूपी छता उछुसित हो उठती है और उससे मनोहर शीतलता प्रकट होती है। उसी छायामें मनरूपी मृग, जो अनेक जन्मोंमें भटकनेवाला प्राचीन बटोही है और मार्गमें नानावादियोंके कोलाहलसे व्यग्र हो गया है, संसारटीमें भटकते-भटकते थकन्तर—यहाँ विश्राम पाकर सुखकी सर्वेस लेता है।

राघवेन्द्र ! सत्तामात्र ही जिसका आत्मा है, ऐसे पुरुषरूपी चमड़ेका अपहरण करनेके लिये काम आदि छः शत्रु उसके पीछे पड़े हैं और वह नाना प्रकारके असार शरीरादिरूप कैटीली शाहियोंमें अपनेको छिपाता फिरता है, जिससे उसका मुख छिन्नभिन्न हो गया है।

वासनारूपी बायुसे प्रेरित होकर संसारटीमें भटकना हुआ यह मनोमृग अहंतारूपी मृगमरीचिकाकी ओर सर्वदा दौड़ते रहनेसे अत्तक्षणकी तृष्णारूपी विषके दाहसे अत्यन्त व्याकुल हो गया है। घडें-बडें भोगोंमें यह आदरबुद्धि रहनेवाला है। इसी कारण दूर देशमें उपज हुए हरे-भरे तुण्ठली विषय-भोगोंके लिये दौड़ते रहनेसे इसका शरीर जर्जर हो गया है और पुत्र-पौत्रके पालनकी व्यग्रतासे संतप्त होकर यह अनर्थरूपी गढ़देमें जा गिरा है। सम्पत्तिरूपी ल्तामें फैस्कर जब यह लड़खड़ाकर गिर पड़ता है, उस समय प्राप्त हुए सकटोंसे इसका शरीर धायल हो जाता है और जब यह ताप-शान्तिके लिये तृष्णारूपी-सुहावनी सरिताके निकट जाता है, तब हर्ष-शोक आदि तरङ्गोंसे आहत होकर दूर जा पड़ता है। फिर वह व्याधिरूपी हुष्ट व्याधोंके भयसे भाग हूँठनेमें ही छा जाता है। उस समय उसे दैत्य-प्रारूपकी कुछ भी सम्मानना नहीं रहती, जिससे वह मानो व्याघ आ पहुँचा है—इस प्रकारके भयसे अपने आकारको संवृच्चित कर लेता है।

राजघुमार ! यह मनोमृग ज्ञानेन्द्रियोंके आसादके विषयमूल स्थानोंसे उपज हुँखरूपी बाणोंसे भयभीत, काम-क्रोधादि शकुञ्छोंके आकमणसे व्यग्र और पथरके प्रहारके सद्वा हुँखानुभवके संस्कारोंसे युक्त है। खर्ग-नरकरूपी ऊँचेनीचे स्थानोंमें बारंबार चढ़ने और गिरनेसे यह अत्यन्त व्याकुल हो गया है। काम-क्रोधादि विकल-रूपी पत्थरोंकी निरन्तर चोट लगानेसे इसका शरीर चूर-चूर हो गया है। तृष्णारूपी मुन्दर लताकुञ्जोंमें प्रवेश करते-करते हसकी देह भ्रत-विक्षत हो गयी है। इसे परमात्माकी मायका कुछ भी ज्ञान नहीं है, इसलिये इसने अपनी बुद्धिसे नाना प्रकारके मिथ्या व्यवहारोंकी कल्पना कर ली है। जिसे काबूमें अना अत्यन्त कलिन है, ऐसे कामरूपी गजेन्द्रकी गर्जनासे यह भयभीत हो

गया है और इन्द्रियसमूहरूपी गोंदोंमें पहुँचन तुन मारे भागनेमें ही तत्पर है। निर्वाणी लक्षणोंके अत्यन्त विवेले छक्कारोंसे इसे मृद्गं अ देख है। यह कामुक व्यामिनीरूपी भूमिमें दूरदूर प्रायः विषयस्तसे अत्यन्त मर्दित हो गय है। क्रोधरूपी दात्रानलसे दग्ध हो जानेके कारण इसजी पीछपर छाले पड़ गये हैं, जिसकी गर्मसे यह उपया रहा है और सदा विषयोंमें बारंबार भ्रमण करनेके कारण भीषण हुँखोंकी ग्राहिते उसके भीतर भी जलन देखी है। अपने आत्मामें संत्रम नाना प्रकारमें अभियापाएँ ही भानो मच्छर हैं, जो इसे दैम जनेन्त लिये इसके पीछे पड़ गये हैं। भोगोंके लोभने उपज मनोहर प्रमोदरूपी सियार बहुत दिनोंसे रहने एंदे दौड़ रहा है। एक तो यह यों ही अपने कर्म और कर्तृत्वके चक्रमें पड़कर उद्भ्रान्त हो गय है, उपरसे दरिक्षितरूपी सिंह इसका पीछा कर रहा है। यह पुष्ट-कलत्रादिमें आसक्तिरूपी व्यामोंके उत्तरानेमें अंधा हो गया है, जिससे इसका शरीर जरुरतमें पर्याप्त शिखरसे छुटकार गहृतमें गिर रहा है। भगवन्नी निर्जन दहाड़से इसका छद्य कर्प उठा है, जिसमें यह उद्धर्म हो गया है और प्रसिद्ध शुखरूपी व्याघ्रसे प्रष्टर उत्तरेन अगस्त्य-पुण्यस्ती तरह शुखरूप, चिर्दीर्ग ज्ञानेंगेष दृग्मा रहा है। निर्जन बनमें गर्वरूपी अजगर इसे दीप ही निगल जानेके लिये ताक द्वाये देता है। अनेकनिःकामनाओंकी सिद्धिके लिये यह जहोन्हों असने परादुर्ग-तुल्य दोतोमो छिपाता सिर रह है अर्पण, दीनन्दा प्रदर्श कर रहा है। युवाम्यशस्त्ररूपी मिष्यन फर्जने द्वाये दिन-सा आलिङ्गन थरके इससे परिव्यग यह दिन है। यह संसारात-सदश कुपिन हुरे इन्द्रियोंमें इसे नामादि दुर्लभ स्थानोंमें ले जापर ढाल दिया है। इस प्रकार यह मनोमृग जब जन्मान्तरर्दिन पुष्टजै उद्दस्ये रहा। इन्हीं साधनसे उक्त होपर इस पूर्वोक्त समन्वित-नंति द्वा-

जाता है, तब वह जैसे ही विश्राम-सुखका अनुभव करता है जैसे रातके अंधकार और दीतसे पीड़ित प्राणीको सूर्योदय होनेपर आनन्द प्राप्त होता है।

श्रोताओ ! आत्मज्ञानसे शूद्र्य मूर्खलोग ताली, तमाल और मौलसिरीके बृहु-गुलमों में वने हुए विश्रामशानोंमें

प्रचुर पुर्णोंके विलासरूपी हासोंके समान तुच्छ अनिष्ट भोगमें फैसे रहनेके कारण जिस निरतिशयानन्दका नाम भी नहीं जान पाते, उस मोक्षनाभक परम आनन्दको तुम्हेंगेंक अपना मनरूपी मृग इस समाधि-वृक्षके नीचे आनेदे प्राप्त कर सकता है। ( सर्ग ४४ )

### जीवात्माके ध्यान-वृक्षपर चढ़नेका और वास्तविक सुखकी प्राप्तिका वर्णन

श्रीविश्वामी कहते हैं—दात्रूमूदन राम ! इस प्रकार जब इस मनोभूगको उस समाधि-वृक्षकी छायामें विश्राम-सुखका अनुभव होने लगता है, तब वह उसीसे प्रेम करने लगता है; और किसी वृक्षके नीचे नहीं जाता। तदनन्तर इतने समयके बाद वह विवेकरूप समाधिवृक्ष पारमार्थिक आत्मखारूपभूत मोक्षफलको पूर्णरूपसे प्रकट करता है। तब उस उत्तम वृक्षके नीचे बैठ हुआ अपना वह मनोभूग उस ध्यानद्वानकी शाखाओंके अग्रभागमें लटकते हुए मोक्षरूपी पाक्ष फलको देखता है। उस फलका आत्मादान करनेके लिये विशाल अध्यवसायसे युक्त तथा बड़ दृश्यवर्गका अत्यन्त अमाव कर ढेनेवाला विरक्त पुरुष ही उस वृक्षपर चढ़ता है। उस उत्तम फलको ग्राप्त करनेकी इच्छादें विवेकरूप ध्यान-वृक्षपर चढ़ा हुआ पुरुष पुरानी केंचुलका परित्याग करनेवाले सौंपकी तरह अपने प्राकृत संस्कारोंका त्याग कर देता है। वह अपनेको उस ऊंचे स्थानपर चढ़ा हुआ देखकर बाह्यास करने लगता है और विचारता है—“ओह ! इतने समयतक मैं कैसा दीन करा रहा ?” उस समय वह कहणा\* आदि जिनका स्वरूप है, ऐसी उस वृक्षकी शाखाओंके मध्यमें भ्रमण करता हुआ लोभरूपी सर्पको वशमें करके सघाटकी तरह सुशोभित होता है। न तो वह ग्रापत्स्तुकी उपेक्षा करता है और न अप्राप्तकी

इच्छा; वल्कि सर्परूप द्वृतियोंमें उसका अन्तःकरण चन्द्रमाकी भोगि सौम्य एवं शीतल हो जाता है। वह उसकी दृष्टिमें खी, पुत्र, मित्र और धन-सम्पत्ति आदि सारे पदार्थ स्वप्नमें उत्पन्न हुएके समान लगने लगते हैं उन्मत्तकी चेष्टाके समान जिसका आकार है तथा जो तरङ्गोंकी तरह क्षणभूर आधारवाली है, ऐसी संसाररूपरूप नदीकी चालोंको अपने सामने उपस्थित देखकर वह हँसता है। उसमें लोकैषणा, दारैषणा, वित्तैषणा आदि कोई भी एषणा नहीं रहती। पूर्वपदमें विश्रान्त होनेवाले कारण वह जीता हुआ ही मृतक-तुल्य हो जाता है उसकी दृष्टि केवल शुद्ध-वैवस्तरूप सर्वोत्कृष्ट उस परमात्म ज्ञानरूप फलपर ही लगी-रहती है, जिससे वह परमोद्देश्यानपर आखड़ हो जाता है। संतोषरूपी अमृतसे परिपुर्ण हुआ वह पुरुष अपनी पूर्वदाशका वारंवार स्मरण करते अनर्थस्वरूप अयोके ( धनोंके ) नाश हो जानेपर भी परम संतुष्ट ही रहता है।

रुद्रनन्दन ! इस प्रकार परमार्थरूप फल ग्रदान करनेवाली उस महापद्धतीपर गमन करता हुआ वह ज्ञान-पुरुष वाणीके अगोचर भूमिका—जीवन्मुक्त स्थितिको प्राप्त हो जाता है। दैववश विना ग्रंथल किये ही कहींसे अकत्याद् भोगोंके प्राप्त हो जानेपर भी वह उनसे विरक्त ही रहता है। वह मौनी पुरुष सासारिक द्वृतियोंसे उपराम, परम आनन्दयुक्त और अंदरमें परिपूर्ण मनवाल होकर किसी अनिर्वचनीय स्थितिको प्राप्त हो जाता है। वह योगी पुरुष जागाशकी तरह समतायुक्त होकर समूर्ण

\* अधिपदसे यहो—

‘अमर्य सत्यसंशुद्धिज्ञानयोग्यस्थितिः ।’

( गीता १६ । १-३ में वर्णित )

देवीसम्पत्तियोंका ग्रहण है ।

इस बुद्धिका परिणाम यत्के निरतिशयानन्द ब्रह्मावरूप फलके प्रश्न करता है और उसीसे परिस्तुत होता है। इस प्रकार जो लोकैनासे विरक्त हो गया है, दारै पणका त्याग कर चुका है और धनैश्चासे पूर्णतया मुक्त हो गया है, वही उस परमपदमें विश्राम पाता है। जिस पुष्टयकी इस पदार्थोंमें आत्मनिकी विरक्ति देखी जाती है, वही वास्तवमें तत्त्वज्ञानी है; क्योंकि अज्ञानीमें इसका त्याग बहनेमें सामर्थ्य ही नहीं है। परमात्मनिष्ठ होनेके कारण जो तृष्णासे रहित हो गया है तथा तीनों एषणाओका परिणाम कर चुका है, उस ज्ञानीका ज्ञान इच्छा न रहते हुए भी अपने-आप होता रहता है।

खुबीर ! जिगयोंसे जो आत्मनिक विरक्ति है, वही समाधि कहलाती है। जिसने उसका सम्पादन कर : छिया, वह निष्ठय ही मनुष्यरूपमें परमम है, उसे हमारा प्रणाम है। जिसकी विग्रह-विरक्ति अत्यन्त मुद्द हो गयी है, निसर्देह उसके ध्यानको इन्द्रसहित देखता और असुर भक्त करनेमें समर्थ नहीं हो सकते। बुद्धिमानो ! विश शब्दका अर्थ तो मूँछोंके त्रिये ही है, वह पण्डितोका विषय नहीं है; इसकिये जिस परमानन्द इहमें तत्त्वज्ञानी और मूर्ख तथा विश और विश्वेशका अमेदरूपसे भान होता है, उसीमें तुमलोग भी विश्राम करो; क्योंकि इस जगत्में मनन आदि भूमिकाओंमें आरुद्ध हुनेमी इच्छाकाले विवेचितों अण्डा परमानन्द-भूमिकामें आरुद्ध हुए सिंडो—सर्वाने यह निर्वाचन निर्णय है कि पदार्थोंमें परमान्नसे अनिरिक्त सुन्दरताना इच्छा द्वारा अद्वित नहीं है। इस निर्वाणरूप प्राप्तिके लिये नीन इच्छा उपाय हैं—एक शाकार्थविद्वन्, दूसरा नागर्जुनिदेवी संगति और तीसरा ज्ञान। इनमें उन्नतेन्द्र श्रेष्ठ है। यद्यपि जगद्भावन्ति निर्णय है, तथारे जिस अन्तिम ज्ञानसे उसका शीघ्र ही प्रिनाम नहीं हो जाने उन ज्ञानसे मनुष्यस्य अज्ञान उसी प्रसर नहीं हो देता, और वे चित्रशिखित अप्सिसे सर्वा नहीं निट्टी। जैसे अज्ञानीके अज्ञानके कारण जगद्भूमि दृढ़ा जाता है, वैसे ही तत्त्वज्ञानीके ज्ञानके प्रभावसे दृढ़ भूमि नहीं हो जाता है। तत्त्वज्ञानीके वित्तमें जगहर्य गिरे संप्रबलमात्र ही है; क्योंकि वो वह ही जानेग इलार्य दृष्टिमें निस्सदेह न तो अहंकार नहीं जाना है और वे जगत्की स्थिति ही रहती है। उनमें तो दारा-प्रक्षेपश्वलरूप जगत्की योद्दे अरुद्दी विधि गत्ती हैं, परंतु जो पूर्ण ज्ञानी नहीं है, उसमा वित्त दूर ही नहीं गोले काष्ठकी भौमि वो वह और अवोध—दौनोंमें नहीं रहता है। इन दोनों ज्ञान और अन्तमें जैराम प्रव्रत्त होता है, वह कृप दोग्र ही रहता है, निरुत्त तत्त्वज्ञानी कल्पके सिवा जगत्में भाव-भावानी भावनाने विकृत नहीं मानता। ( स. ४५ )

—३३३—

ध्यानरूपी कल्पद्रुमके फलके आसादनसे मनकी स्थितिका तथा मुक्तिके विभिन्न माध्यमोंका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—खुनन्दन। जब परमार्थरूप फलका ज्ञान हो जाता है और मुक्तिकी स्थिति दृढ़ हो जाती है, नव ब्रोध भी ज्ञान हो जाता है और अनन्त परमामत्तरूपका प्रकाश करनेवार्थी परमार्थ-दशा ही देख रह जाती है। मनस्ता—मननस्वभावता न भास्य कहाँ विजीन हो जाती है और निर्वाचि, विभागरहित, सर्वच्यापक, पूर्ण, विशुद्ध, सद्बूपिणी परमानन्दभपता ही रह जाती है। उस समय जीवात्माके परमार्थरूपताको प्राप्त

होनेमी इच्छाकाले विवेचितों अण्डा परमानन्द-भूमिकामें आरुद्ध हुए सिंडो—सर्वाने यह निर्वाचन निर्णय है कि पदार्थोंमें परमान्नसे अनिरिक्त सुन्दरताना इच्छा द्वारा अद्वित नहीं है। इस निर्वाणरूप प्राप्तिके लिये नीन इच्छा उपाय हैं—एक शाकार्थविद्वन्, दूसरा नागर्जुनिदेवी संगति और तीसरा ज्ञान। इनमें उन्नतेन्द्र श्रेष्ठ है। यद्यपि जगद्भावन्ति निर्णय है, तथारे जिस अन्तिम ज्ञानसे उसका शीघ्र ही प्रिनाम नहीं हो जाने उन ज्ञानसे मनुष्यस्य अज्ञान उसी प्रसर नहीं हो देता, और वे चित्रशिखित अप्सिसे सर्वा नहीं निट्टी। जैसे अज्ञानीके अज्ञानके कारण जगद्भूमि दृढ़ा जाता है, वैसे ही तत्त्वज्ञानीके ज्ञानके प्रभावसे दृढ़ भूमि नहीं हो जाता है। तत्त्वज्ञानीके वित्तमें जगहर्य गिरे संप्रबलमात्र ही है; क्योंकि वो वह ही जानेग इलार्य दृष्टिमें निस्सदेह न तो अहंकार नहीं जाना है और वे जगत्की स्थिति ही रहती है। उनमें तो दारा-प्रक्षेपश्वलरूप जगत्की योद्दे अरुद्दी विधि गत्ती हैं, परंतु जो पूर्ण ज्ञानी नहीं है, उसमा वित्त दूर ही नहीं गोले काष्ठकी भौमि वो वह और अवोध—दौनोंमें नहीं रहता है। इन दोनों ज्ञान और अन्तमें जैराम प्रव्रत्त होता है, वह कृप दोग्र ही रहता है, निरुत्त तत्त्वज्ञानी कल्पके सिवा जगत्में भाव-भावानी भावनाने विकृत नहीं मानता। ( स. ४५ )

जाती है; फिर इस विश्यमें विचार ही कौन करे ।

विश्योंसे जो दृढ़ वैराग्य और परम उपरति है, वही व्याज कहलाता है और वही जब मलीमाँति परिपक हो जाता है, तब वज्रके समान सुषुद्ध अर्थात् व्याघ्राभ्यान हो जाता है । यह जो भोगोंसे वैराग्य है, वही अद्विति होनेपर परम उपरति होकर, व्याज अंहा जाता है और दृढ़ होनेपर उसीकी समाधि संज्ञा होती है । जो द्रव्यापद्धतें खादसे मुक्त हो गया है और जिसे यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति हो चुकी है, उस सुनिवृत्ति तो अविद्याम निर्विकल्प समाधि लाती रहती है । जब भोग क्षम्भे नहीं लाते, तब यथार्थ ज्ञानका उदय होता है और जिसे विषय-भोग हचिकर नहीं लाते, वह ज्ञानी कहा जाता है । जिस ज्ञानीको अपने स्वभावमें विश्राम प्राप्त हो चुका है, उसका स्वभाव भोगी कैसे हो सकता है; क्योंकि आत्मविद्ध स्वभव ही भोग है, फिर उस समावके क्षीण हो जानेपर भोगिता कहाँसे और कैसे प्राप्त हो सकती है । श्रीराम ! साधकको चाहिये कि वह पहले वेदान्त श्रवण करे, फिर स्वाध्याय करे, तत्पश्चात् प्रणव आदिका जप करे । तदनन्तर ध्यान-समाधिमें लीन हो । समाधिसे विरुद्ध होनेपर वह यक्ष इथा साधक पुनः पूर्ववत् श्रवण, पाठ और चपका ही आश्रय ले ।

राघवेन्द्र ! जो संसारका भार ढोतेढोते अत्यन्त थक गया है और संकटोंको झेलतेझेलते जिसका शरीर जर्जर हो गया है, अतएव विश्राम करना चाहता है; उसके उस विश्रामकामको सुनो—जैसे परिक यज्ञ-यूपोंसे दूर हट जाता है, वैसे ही ऐसा पुरुष अज्ञानियोंको दूरसे ही ल्याग देता है जौर नस्वानियोंमें अनुगामी होकर स्नान, दान, नप और यज्ञ आदिका अनुष्ठान करता है तथा सदा परोपकारमें तत्पर रहता है, जिससे 'परप्रशान्त' कहा जाता है । वह सभी जनोंका प्रिय तथा शास्त्रानुवूल पवित्र कर्मोंका रसिक होता है और

सभीके साथ सौम्य व्यक्तिगत करता है । ऐसे पुरुषकी नवीन संगति, जो नवनीतके समान खच्छ, स्लेहमरी, करेमल, मनोहर और सुखादु होती है, सम्पर्कमें आनेवाले जनको सुख प्रदान करती है । विवेकी पुरुषके चरित्र, जो बन्दमाके शिरणसमूहकी तरह अत्यन्त शीतल और पवित्र होते हैं, सुननेवाले भनुष्यको पूर्ण रूपसे शीतल कर देते हैं ।

संसुर्घणोंके सङ्गसे जैसी निर्भय शान्ति प्राप्त होती है; वैसी शान्ति राशि-राशि पुरुषोंसे भरे हुए उषानखण्डमें भी नहीं मिलती । ज्ञानी पुरुषोंकी संगति मन्दाकिनीके जलकी तरह लोगोंके पापोंका प्रक्षालन करके विशुद्धता प्रदान करती है । संसार-सागरसे पार जानेकी इच्छावाले विरक्त ज्ञानी पुरुषोंके समागमसे मनुष्यता दृढ़ वैसे ही शीतल हो जाता है, जैसे हिम और पुष्पझरोंसे निर्मित घरोंमें निवास करनेपर होता है । क्रमशः किये गये व्यापोचित निष्काम कर्मसे बुद्धि विशुद्ध हो जाती है और बुद्धिके निर्मल होनेपर जैसे स्वच्छ दर्पणप्रतिक्रियाको तुरन्त धारण कर लेता है, वैसे ही मनुष्य शाश्वोंके अभिप्रायको अपने अन्तःकरणमें यथार्थरूपसे ग्रहण कर लेता है । फिर विवेकी पुरुषके दृढ़में शास्त्रार्थ-संसारसे सुशोभित उत्तम प्रक्षा उन्नतिको प्राप्त होती है । जिसका आत्मा साधु-समागमसे शुद्ध तथा शास्त्रार्थ-चिन्तनसे परिमार्जित हो गया है, वह प्राक्ष पुरुष परम शोभा पाता है, प्राक्ष पुरुष शाश्व और संतुरुषोंके सङ्गका ऐसा अनुसरण करता है, जिससे इनमें अत्यन्त आसक्ति होकर इन्हींका अनुभव होना रहता है । क्रमशः सज्जनताको प्राप्त करके वह शास्त्रार्थी भावमासे पूर्णनया भावित हो जाता है । फिर भोगोत्तम निरस्कार करके वह पिंजरेसे छूटे हुए सिंहवारी तरह शोभा पाने शुगा है । भोगोंके पीछे दौड़ना बहुत बड़ा दूरीगय है, उमरिये दिन-पर-क्रिन उसका ल्याग करनेवाले विवेकी पुरुषके द्वारा उसका कुछ उसी प्रकार चमकने जाना है, जैसे चन्द्रमासे तारोंका समूह ।

राघव ! जिन्होंने तीनों लोकोंको रुण-तुल्य समझ  
लिया है, उनकी प्रदर्शना महात्माग्रेग ऐसे ही करते  
हैं, जैसे स्वर्गलोकमें खर्गीषासी कल्पवृक्षका गुण गते  
हैं । ऐसा पुरुष भूतचर्पर उदित हुए चन्द्रमाके समान  
होता है, अतः जिनके नेत्र विलयसे उत्फुल्ल हो गये  
हैं ऐसे साधु-महात्मा सौहार्दवश उसका दर्शन करनेके  
लिये आते हैं । भोगोंके प्रति उसकी आदरखुदि सदाके  
लिये नष्ट हो जाती है । इसलिये न्याययुक्त भोगोंके  
प्राप्त होनेपर भी वह उनका आदर नहीं करता ।  
तदनन्तर जैसे स्वास्थ्य चाहनेवाला व्यक्ति वैधका आश्रय  
प्राप्त करता है, उसी प्रकार सर्वोन्हुष्ट कल्याणकी  
प्राप्तिके लिये वह स्वयं ही सर्वसङ्ग करता है । उस  
सर्वसङ्गके परिणामवरूप उसकी धुदि परम उदार हो  
जाती है, जिससे वह अत्यन्त निर्भृत जल्दाले सरोबरोंमें  
प्रविष्ट हुए गजराजकी तरह शारीर्य-चिन्तनमें नियम  
हो जाता है । जैसे सूर्योदेव अन्धकारमध्या प्राणीजो अपने  
निकट आनेपर अपने प्रकृत्यासे पूर्ण कर देते हैं, ऐसे  
ही सञ्जन पुरुष अपने सम्पर्कमें आये हुए मनुष्यजो  
विपक्षियोंसे उत्तरकर दैवी सम्पत्तियोंसे युक्त कर देता है ।

जो विवेकी है, उसकी बुद्धि पहले से ही दूसरे का धन प्रहृण करने से विरत रहती है; क्योंकि उसे प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए अपने ही धन से संतोष रहता है तथा पर-धन के प्रहृण से विरत एवं संतोषामृत से परिपूर्ण हुआ वह क्षमशः अपने स्वार्थीकी भी उपेक्षा कर देना चाहता है। वह याचकक्षी झण और शाक आदि जो कुछ अपने पास मौजूद रहता है, वह सब दे देना है। यहाँतक यि उसी अभ्यासयोग से वह अपना शरीर भी दे डाला है। विवेकी पुरुषको चाहिये कि पहले वह पर-धन के प्रहृण से अक्षरपूर्वक विरत हो जाय। तब इसका पूर्णनिधि अभ्यास हो जाय, तब उसे विवेकवल्लसे स्वार्थी से आमतिक हटा लेनी चाहिये।

श्रीराम ! जैसे सरोवर शंक्रि उड़ते ही मान है,  
उसी तरह मनुष्यम् अन्तःग्रहण संतोषसे ही पहिरं  
छीता है । जैसे वसन्त झट्ठुके आलाल्लसे सुन्दर पुष्टेमे  
छद्दे हुए छुश्शेसे बन लद्धश्च उठना है, जैसे ही मनु  
पुल्य संतोषसे ही गम्भीर, गोत्तर, मन्त्रोदर, प्रसन्न  
और रसगांधिर्णा ओजस्तिताम् पक्षर गोमिन तेने  
ग्याता है । किंतु जो असुष्टुप्त है और इन धन्ते  
लिये व्याघ्रिन रहता है, उसकी प्रदृशि दीन द्यो जानी  
है और वह पाढ़पीठ ( खड़ाऊँ या पनही ) की लगड़ने  
पिसे हुए कीड़ेकी भाँति चेपा फत्ता रहना एं तग एं  
दृःखसे दूसरे दृःखको ग्रास होता रहना है । जो धनके  
बोधी होते हैं, उनकी आकृति बिकृत हो जानी है ।  
उन्हें क्षुध समुद्रमें गिरे हुए तथा लद्दोंके ध्येयोंमें  
च्याकुल हुए जीवोंकी भाँति कभी स्वस्य स्त्रिनि प्राप्त  
नहीं होती । अर्थसम्पत्ति और नारी—ये दोनों ही  
उत्ताल तरफोंकी तरह क्षणप्रियंती हैं और तर्फने फलनरी  
छब्बायाके समान हैं, अतः जौन विद्वान् उनमें एन  
आक्रोशा । धनके उपार्जन और रक्षणमें जो धनकर्ता  
भोगनी पड़ती है, उन्हें जानना हुआ भी जो यह  
धनकर्ता अभिलापा फत्ता है, यह मनुष्य होते हुए नी  
पशु-नुल्य है; अतः उसका रसरात्रिंश नहीं ग्रहना  
चाहिये । \* जो सतोपर्ख्यो हैंसुअसे मनके धार दिग्दिग-  
व्यापारोंको और आन्तरिक संग्रन्थ जादिको दृग् मार दी  
कर्त टालना है, उसका भ्रेत्र—दानवीर्णी उत्तरित  
स्थान हृदय—प्रकाशित हो उठता है । पुरुषों चरिते  
कि पवले संसारसे गिरकि प्राप्त दरे । उत्तर  
ज्ञानेन सम्पुल्होका महा भी शाश्वत अव्याप्त है ।  
शाश्वतोंके अधेयी दृढ़ धारना जरूर, अंगोंमें दृढ़ हो ।  
नव वर्षा उसे मनोंग सुच दृन् ३८५२५२८  
हृदत्तसे परमार्थतत्त्वस्त्री प्राप्ति देंगी है । (स्त्री ४६-४७)

५. सम्बन्धः प्रसादास्त्रिव तत्त्वोपदेशभवति। कल्पास्त्रिवाच्छब्दं यु रमे ५५॥

सम्बद्धः प्रभदाव्यव तरामुकुन्नेति विश्वासाद् । अपेक्षांस्त्रियां वृत्त्वा वृत्त्वा वृत्त्वा । य चेति ग्रह वद्यो दद्यन्ते स न मंगलो र

## बैराग्यके दृढ़ हो जानेपर पुरुषकी स्थिति, आत्माहारा विवेक नामक दूतका भेजा जाना, विवेक- ज्ञानसम्बन्ध पुरुषकी महिमा तथा जीवके सात रूपोंका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुकुलभूपण राम ! जब संसारसे विरक्ति सुधृद हो जाती है, सत्युरुपोंका सङ्ग प्राप्त हो जाता है, शुद्धिहारा शाखों—‘तत्त्वमसि’ आदि महावाक्योंके अर्थका ज्ञान हो जाता है, भोगोभी तृष्णा नष्ट हो जाती है, विश्व नीरस लगाने लगते हैं, अप्रताक्षण उदय हो जाता है, चिन्मय आत्मा प्रत्यक्ष हो जाता है तथा हृदयमें परमात्मातिकी पूर्ण श्रद्धा हो जाती है, उस समय विवेकी पुरुष उसी प्रकार धनकी कङ्गमना नहीं करता, जैसे लोग अन्धकारको नहीं चाहते और जो सम्पत्ति उसके पास पहलेसे मौजूद रहती है, उसे वह जँड़ी पराऊँकी तरह व्याग देता है । यद्यपि इन्द्रियोंके भोगरूपी विश्व वारंवार उसकी इन्द्रियोंके सम्पर्कमें आते हैं तथापि उसे उनका अनुभव नहीं होता; क्योंकि उसका मन सर्वथा शान्त हो गया रहता है । अतः विवेकी पुरुष एकान्त स्थानोंमें, दिशाओंके छोरोंमें, सरोवरोंपर, काननोंमें, उद्धानोंमें, पुराण-प्रदेशोंमें अथवा अपने ही घरोंमें, हृतिर वाटिकाओंमें, आयंजित भोजनादि व्यापारोंमें तथा शाखोंके तर्कशूर्ण विचारोंमें आसक्ति न होनेके कारण वहाँ चिरकालतक स्थित नहीं रहता । यदि कहीं वह उन स्थानोंमें तुल देरतक छहर गया तो वहाँ भी वह तत्त्वज्ञका ही अन्देश करता है; क्योंकि वह विवेकी, पूर्ण शान्त, इन्द्रिय-निग्रही, स्वात्माराम, मौनी और एकमात्र विज्ञानरूपमहाका ही कर्मन करनेवाला होता है । इस प्रकार अन्धासके बलसे वह शान्त विवेकी पुरुष खयं ही परम पदखरूप परमात्मामें विश्राम प्राप्त कर लेता है ।

गव्य ! एकमात्र बोधके साथ अत्यन्त धनिष्ठ सम्बन्ध होनेके कारण जहाँ वस्तुतः न बोधता है, न पदार्थ है और न पदार्थोंका अभाव है, उसे परमपद कहते हैं ।

जिन्हें परमात्मतत्त्वसाक्षात्पाररूप . परम पदमें विश्राम प्राप्त हो चुका है तथा जो मनोलयकी अवस्थाको पहुँच चुके हैं, ऐसे सज्जनोंको विषय उसी प्रकार नहीं रुचते, जैसे हृदयहीन परथरोंने दूधके स्वादका अनुभव नहीं होता । जैसे दीपक अन्धकारका नाश कर देता है, ऐसे ही निर्मल परमात्मपदमें स्थित शानी पुरुष अपने हृदयस्थित अज्ञानरूपी अन्धकारको तथा बहुरी राग, दैय, भय आदिको दूर हटा देता है । जिसमें तमेगुणका सर्वथा अभाव है जिसके समूर्ण अंश रजोगुणसे रहित हो गए हैं तथा जो सत्त्वगुणको भी लौंघ चुका है, वह मनुष्यरूपमें सूर्य है; अतः उसे प्रग्राम करना चाहिये । ये जितने चराचर जीव तथा भूत-ग्राणी हैं, वे सद्वकेसद्व स्वेच्छा-नुसार उपहार-सामग्री प्रदान करके निरन्तर उसी परमात्माका पूजन करते हैं । इस प्रकार जब अर्नेंक जन्मोंतक यथाभिमत हृद्ग्रासे वह परमात्मा पूजित होता है, तब अपने पुजारीपर प्रसन्न हो जाता है । किंतु तो प्रसन्न हुआ स्वयंदेवाधिदेव महेश्वररूप परमात्मा पूजककी शुभ कामनासे उसे ज्ञान प्रदान करनेके लिये अपने पाक्षन दूतको मुरंत प्रेरित करता है ।

श्रीरामजीने पूछा—मुने ! परमेश्वररूप परमात्मा किस दूतको प्रेरित करता है और वह दूत किस प्रकार ज्ञानोपदेश करता है—यह मुझे बतलाइये ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रामभद्र ! परमात्मा जिस दूतको प्रेरित करता है, उसका नाम विवेक है, वह सदा वानन्द देनेवाला है । वह अविक्षारी पुरुषके हृदयरूपी गुफामें वैसे ही स्थित हो जाता है, जैसे आश्रममें चन्द्रमा । वही विवेक वासनायुक्त अज्ञानी जीवके ज्ञान प्रदान करता है और धीरेभीरे इस संसारसागरसे उद्धार कर देता है । यह ज्ञानरूप अन्तरात्मा ही सबसे

बड़ा परमेश्वर है । वेद-सम्बन्ध जो प्रगति है, वह इसी-  
का बोधक श्रूप नाम है । नर, नाग, मुर, अतुर—सभी  
जा, होप, तप, दान, पाठ, यज्ञ और कर्मकाण्डद्वारा निष्प  
इसीके प्रसन्न करते हैं । वही परमात्मा सर्वत्र  
विचरण करता है, जागता है और देखता है ।  
इसीके इसके आंख, कठन, हाथ, पैर सर्वत्र व्यापक\*  
हैं । यही विन्मय परमात्मा विकेन्द्र-दूतके उद्युद करके उसके  
द्वारा विद्वारुपी प्रियाचिन्ते मारकर जीवको अपनी दिव्य  
अनिर्बचनीय स्थितिक पहुँचा देता है । इसके  
सम्पूर्ण संकल्प-विमुखोंसे, विश्वरोक्तों तथा अर्थतंस्तोको  
त्रिये इकत्र अपने पुरुषार्थसे खयं ही उस विन्मय परमात्माको  
सम्भव कर लेना चाहिये; क्योंकि इस संकारुपी रानिके  
ने अन्धकारमें, जिसमें मनरुपी प्रियाच श्रूप हा है  
और अहानरुपी काची घटा लायी हुई है, परमात्मा  
पूर्णिमाके चन्द्रमाकी तरह सर्वत्र प्रकाश करता है ।

यह संसार एक भीयग समुद्रके समान है । इसका  
तरी भाग मरणरुपी व्याघ भैवरोके कछो भ्रेसे आकुड़  
रहा है । यह तृणारुपी तरहोंसे चञ्चड हो रहा है ।  
अपना मनरुपी प्रवचण वायु उद्वेष्ट कर रही है ।  
चराचर भूतरूप ज़क़रोंसे व्यत है और इदिव्य-  
मकरोंसे भरे रहनेके कारण अस्तमत गहन है ।  
समुद्रके पर करनेके त्रिये विवेक ही महान् जहाज  
इस प्रकार शास्त्रविद्वित अर्माण्ड पूजनसे प्रसन्न हुआ  
था पहले विवेकरुपी पश्चन दूत भेजकर सलसह,  
व्यापक और परमार्थ वस्तुके उत्तम ज्ञानद्वारा जीवको  
मीय, निर्मङ एवं सर्वोच्च पदतक पहुँचा देता है ।  
ये ! जिनका विवेक परिषुष्ट हो गया है और

\* सर्वत्रपाणिपाद तर्पयतोऽक्षिभिरुपुलम् ।  
सर्वतःशुभिमलोके सर्वमाहूत्त तिष्ठति ॥

( गीता १३ । १३ )

वेष्टतश्चकुर्त विश्वतोमुखो विश्वतेग्राहुरुत विश्वतस्यात्  
मृतियों भी ऐसा ही प्रतिपादन करती है ।

जिन्होंने वासनारुपी मठमा परिचय छर दिया है,  
उन महात्माओंके अंदर कोई अदृश्य ही मन्त्र उत्तम होनी  
है । वस्तुतः आतिके व्यापका पर्याय इन ही जनों  
वासना और आत्मि अपनेश्वर निहत ही जनों  
है । मठ समक्ष समरूपसे जान हो जानेव उसमें  
सत्यतरी भावना निसे हो सकती है । कम्बनाम  
अमाव ही संसारका उपग्रह है । कम्बना ही  
महाकाय प्रियाचिनी है, इसीके उत्तिमन् हेतु  
इसका विनाश करनेमें क्षम्य रहते हैं ।

पूर्वाभ्यासशय पुरुषोंमी अहानप्रायुक्त उभयना ईसे-ईसे  
उत्पन्न हुई रहती है, ईसे-ईसे ही यह जानके भर्त्यमनि  
अन्यता होनेसे समयानुसार धरे-रोरे निरुप ही हो जाती  
है । जानी पुरा ज्ञानपात्रमें दीक्षित होनेव यनन्दनी  
यूग्महस्तभ्रम्भो सुधारुलसे गाड देना है और  
सापानी असत्ताके अनुभवद्वारा विध-विजय वरके  
सर्वत्रत्यागरूप दक्षिणा देवत सर्वेष भगवन् प्राप  
पर लेता है । उस समय याहे अंगरोक्ते ईरिः हो,  
प्रव्यादमी वायु चरने तो अन्य भूतउ उत्तर  
आपासमें चढ जाय, परतु जानी पुरा ज्ञाने यनन्दन  
ही समझावसे खित रहता है । रुद्र प्रेत्यसे निरुप  
मन सर्वग शान्त हो गया है और नितने द्वारे  
मनको पूर्णतया निरुद नर निया है, ऐसा पुरुर सत्ता  
व्याप्त्युत्प छुट्ट समाप्तिमें ही खित रहता है । इसने  
अतिरिक्त उसमी दूसरी खिति नहीं होती; कहेंसे  
वायु पदारोसे अन्यत दैवाय हो जानेसे यह हैर  
र्णवरुपसे शान्त होता है, दैवा शान्त पूर्व मन्त्रान्  
शास्त्रान्यास, उत्तरेता, तप और द्विद्यनिष्ठा उद्दिष्टे  
नहीं होता ।

वासनासे रहित हो जानेव तो सभी जीव राजन है,  
फिर वासनामे विभ्वानके जरूर ते दूरे ऐसेही तात्प  
उद्द-उद्दकर दिभिन्न र्घन्नन्दन उद्दि ते जनेमें खितते हैं ।

श्रीरामननीने कहा—भगवन् ! ईसे ईश्वर रहते

सातों समुद्रमें क्षीर आदि के भेदसे सात प्रकारके जल हैं उसी प्रकार सात प्रकारके स्थानोंको धारण करनेवाले जीवोंके भेदको आप वर्णन करनेकी कृपा करें ।

श्रीवसिष्ठजी कहे—रघुनन्दन ! किंतु ग्रामीन कल्पके निसी जगतमें कहाँपर कुछ जीव सुषुप्ति-अवस्था-में स्थित थे । वे अपने प्राणसुक्त शरीरोंके कारण जीवित ही थे । उनमें जो लोग स्वप्न देख रहे थे, उनके सम्प्रसाद ही इस जगतको समझना चाहिये और उन्हीं जीवोंको 'समजागर' कहा जाता है । उन सेथे हुए जीवोंका जो अपने-आप प्रकट हुआ स्वप्नप्रब्रह्म है, वही कमी-कभी जब हमलोगोंका विषय बन जाता है, तब हमलोग उनके 'स्वप्ननर' कहलाते हैं । चिरकाल-के पश्चात् जब उनका वह स्वप्न जाग्रत-रूप हो जाता है, तब उनके स्वप्नोंने जीव 'खग-जाग्रत्' कहे जाते हैं । वास्तवमें वे उनके स्वप्नमें ही स्थित हैं । इस स्वप्नप्रब्रह्मके समान होनेवर यदि ज्ञान हो गया, तब तो वे तत्त्वज्ञान ग्रास करके मुक्त हो जाते हैं और यदि ज्ञान न हुआ तो गाढ़ निद्राके वशीभूत होकर वे स्वप्नप्रब्रह्म उर्मी प्रकारके हूसे शरीर धारण कर लेते हैं और उसी तरहका दूसरा कल्पित जगत्कल्प देखते हैं; क्योंकि कल्पनाभासरूपी आकाशकी कही निरवकाशता

नहीं रहती । चिरकालके अभ्याससे जिन जीवोंके जागराभिमान घनीभूत संकल्पमें है तथा जिनके मनकी चेष्टाएँ भी संकल्पमें ही हैं, वे जीव 'संकल्पजागर' कहलाते हैं । वे संकल्पका उपशमन हो जानेपर पुनः पूर्ववत् अथवा उससे भी विलक्षण व्यवहार करने लगते हैं, अतः उनके शरीरमें हमलोग 'संकल्प-पुरुष' रूपसे स्थित माने जाते हैं । जो विश्वाल आत्मावाले प्रधान पुरुष ऋषाके रूपसे अक्षीर्ण हुर हैं और पहलेके तत्त्वतिनिकासरूप स्वप्नसे रहित हैं, वे 'केवलजागर' कहे गये हैं । पुनः वे ही जीव जब ग्राद होकर जन्मान्तरमें जन्म धारण करते जाते हैं और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिमें विचरते रहते हैं, तब 'चिरजागर' कहलाते हैं । वे चिरजागर जीव ही जब पापरूप दुर्घटसे की आवेदसे अड-सावररूपमें प्रकट होते हैं और जाग्रत्-अवस्थामें भी घनीभूत अज्ञानसे परिपूर्ण हो जाते हैं, तब 'धनजागर' कहे जाते हैं । जो शास्त्रार्थचिन्तन और सल्लक्षणे द्वारा उपदेश भ्रह्म वर्के ज्ञानसम्बन्ध हो गये हैं और जाग्रत्को भी स्वप्न-सरीखे देखते हैं, वे 'जाग्रत्स्वप्न' कहलाते हैं । जिन्हें यथर्यज्ञानकी प्राप्ति हो गयी है और जो परमपदमें विश्राम कर चुके हैं, तुरीय भूमिकाको प्राप्त हुए वे जीव 'क्षीणजाग्रत्' कहे जाते हैं ।

( सर्ग ४८-५० )

इस्य जगत्की असत्ता, सत्की एकभाव अध्यरूपता तथा तत्त्वज्ञानसे होनेवाले लाभका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! सुष्टिका वास्तवमें शोर्ह कारण नहीं है, इसीलिये न यह उत्पन्न होनी है और न नष्ट । जैसा कारण होता है, वैसा ही कार्य उत्पन्न होता है । परंतु जब सुष्टिका कारण ही कल्पित एवं मिथ्या है, तब उससे होनेवाला सृष्टिरूप कार्य भी कल्पित और मिथ्या ही मिद्र होता है । जैसे प्रशान्न महासागरके भीतर छहर और मैवर आदि उससे अभिन्न रूपमें ही स्थित हैं, उसी प्रकार शोभरहित परमसमें जगत् और चिन आदि स्थित हैं, जो इस वृक्षसे भिन-

नहीं है । जैसे अपने भीतर अनेक वर्तनोंको रखनेवाल मिट्टीका लोंदा एक रूपसे ही स्थित रहता है, उसी प्रकार अपने उदरमें अनेक ब्रह्मण्डमाण्डको धारण करनेवाला मर्वाला निर्मल ब्रह्म भी एक ही है । जैसे सुशर्ण अपने मीठर कडा, कुण्डल जादि अनेक नाम-रूपवाले आभूतगोंको वारण करता है और उन सबके रूपमें स्वयं ही स्थित होता है, उसी प्रकार सुवर्गस्थानीय ग्रस ही दृश्यजगत्के रूपमें स्थित है । ज्ञानी पुरुष स्वप्नकालमें स्वप्नको ही जाग्रतरूप जानते हैं; क्योंकि

उन्होंने वासनाओंसे व्यथ मनको प्रहण नहीं किया है और वे जाग्रत्-कालमें जाप्रत्को मी समझते हैं; क्योंकि उन्हें सत्यस्वरूप आसाक्ष थोथ हो चुका है ।

जैसे पता लगानेपर मृगतृष्णाका बछ मिथ्या सिद्ध होना है, उसी प्रकार वारंवार इन्द्रियोंके समर्कमें आनेपर भी वह दृश्य-प्रपञ्च तत्त्वान होते ही मिथ्या सिद्ध हो जाता है । जैसे प्रज्ञलिङ् अग्निमें थी और इन्धन सब विलीन होकर एकरूप हो जाते हैं, वैसे ही विकानकालमें जगत्, मन और द्रष्टा आदि सब एकमात्र ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाते हैं । जाग्रत्-को समझत् मिथ्या समझ लेनेपर वह अपनी दृढ़ताको छोड़ देता है और अस्यन्त कोयल बन जाता है । तात्पर्य यह कि उसके मिथ्यात्वात् दृढ़ निष्ठय हो जाता है । देव, कालरूप निमित्तके बिना ही जाग्रत् और समका निर्माण करके यथास्थित थोधस्वरूप साक्षी चेतन आरपा ही जगत्के रूपमें धनीमाक्षको प्राप्त-सा हुआ है । इस प्रकार विचारके द्वारा जब जाग्रत् भी श्रान्भहुरया मिथ्या सिद्ध हो जाता है, तब सत् श्रीण होने लगता है और उसके प्रति होनेवाली वासना उसी प्रकार घटने लगती है, जैसे वर्षाका जल शरत्कालमें श्रीण होने लगता है । विवेकी 'पुरुषकी दृष्टिमें अस्यन्त शुच्छताको प्राप्त हुई दृश्य-रूपमी विद्यमान होनेपर भी रुचिकर नहीं लगती ।

स्वप्रकी भौति उसे मिथ्या समझ लेनेपर ज्ञान दृढ़ तुम्हें रस नहीं लेना है । मदामने ! जैसे इस ही दृढ़ दृश्य-पुरुषोंके सामने दिखायी देनेपर भी दृग्-दृष्टि, दिखाय जल उनकी पाम नहीं हुए बदला, जैसे यहाँ असत्य विश्व किसी भी दृष्टि तुम्हारे जैसे दृष्टियाँ प्रतीत हो सकते हैं ।

श्रीराम ! जिसे असत्य समझ दिया दृढ़, उम्हे उपादेयवुद्धि कहते रह सकती है । यह कौन यह भरा है, जो स्वप्नवर्ते सम समझ लेनेपर उम्हमें ही है इसको लेनेके लिये श्रीडता है । जब इस चारुर समकं समान मिथ्या भवति त्रिया गया, कब इसके प्रति होनेवाली आसकि दूर हो जाती है तब द्रष्टा दृष्टि दृश्यमें जो चेतन और जब प्रश्निस्त्व दृष्टि प्राप्त है, उसका उच्छेद हो जाना है । गन्धर्वनारायण-दृष्टि दीखनेवाला जो भ्रातृत्वरूप सन्दूरं रगत् है, अज्ञानसे ही है । तत्त्वदान होनेपर सब झेर हैं एवं दीपकके प्रकाशके समान यह प्रगतिलं इक्षु है और इसकी अन्धमारण्यता दूर हो जाती है । जैसे बाढ़लोंके दृष्टि जानेपर केवल स्वातु वाराणी दिल्ली होते हैं, उसी प्रकार जगत्-रूप भावित दूर हो जानेपर दृष्टि दृष्टि दृद्ध परमात्मा ही अनुभव हो जाता है ।

( सर्व ५१ )

### सुषिकी असत्यता और एकमात्र अखण्ड ब्रह्मसत्त्वाका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—ऐनन्दन ! यह जगत् मृदु पुरुषकी दृष्टिमें है; इसीलिये उसके मनमें भी है । परंतु जो विवेकी पुरुष है, वह शाश्वदाय निष्ठित नया पूर्वापरसे समन्वित अर्थको ही देखता है और उसीको प्रहण करता है । शाश्वदिष्ट वस्तु दृष्टिपथमें आ जाय तो भी वह न तो उसकी ओर देखता है और न उसे प्रहण ही करता है ।

सभी प्रकारोंसे युक्त यह जो कुछ भी स्थावर-जड़म

जगत् दिखायी देता है, वह सब फलने भलने नहीं है जाता है । सुषिके पहले जो संततर्यी देव नहीं हो चुकी थी, वही जिर अविर्भूत दृष्टि है—इसका इनेका करना असम्भव है; व्योगि नहीं है, अस्तुर्गि दिव इन्हीं कीसे सम्भव हो सकती है । यदि न धृष्टि इन्हीं देव नव वह संदेह यिद्या जा सकता है, यिद्या यहीं या अन्य । परंतु हम नी अनुभव, स्वरूप, इन्हीं हैं; अतः न दृष्टि दृश्यति कीसे संज्ञा कर हमारे हैं । जै-

वलु उपलब्ध होकर भी अपाव दशाको प्राप्त हो जाती है, वह न पट ही है; क्योंकि उपलब्धका अदर्शन ही नाश है। यदि नाशकी कोई और परिमाण हो तो वह कैसी है, पहुँच तुम्हीं बताओ। यदि कहें कि न पट हुई वलु ही फिर उपलब्ध हुई है तो ऐसी प्रतीति किसको होती है? अतः जो वस्तु उपलब्ध है, उसका नाश अवश्य होता है। और पुनः-पुनः दूसरेकी ही उद्दति या प्रदृष्टि होती है; यही कहना उचित है।

कृष्णके वीच-वीचमे जो स्तन्त्र, शाखा, उपशाखा, पत्र, पुष्प तथा फलादिरूप अववत है, उनमें समस्त वृक्ष-शस्त्रीयको व्याप करके स्थित एक वीज-सत्ता ही है। जब सर्वत्र एक ही सत्ता है, तब उसमें व्यार्थसारगभावकी कल्पना कर्से की जा सकती है; विचार तथा अपने अनुभवरूप प्रमाणसे यह सब शान्त, अनादि, अनन्त और आपातके समान निर्मल केवल बोधखलरूप परवाता ही है, क्योंकि सब कुछ परमात्मा ही स्वरूप है। वह परमपदखलरूप परवाता वाणीमत्ता अविनय, अन्यक, इन्द्रियातीत, नाम-रूपसे रहित, सर्व-भूतखलरूप, शून्यपर्य है तथा सद-एव असद भी यही है। वस्तुतः वह न वायु है, न आकाश है, न मन है, न बुद्धि आदि है और न शून्यरूप ही है। वह कुछ न होकर भी सर्वखलरूप है। कोई और ही ( विव्याग एव अनिर्बद्धनीय ) परम व्योम ( विश्वपर्य आकाशरूप ) है। उस परमपदमें स्थित एवं समस्त कल्पनाओंसे मुक्त तत्त्वज्ञानी ही उस परमात्मवस्तुका अनुभव करता है, दूसरे लोग तो केवल अभ्यासमें लाये गये शास्त्रोंके अनुसार ही उसका वर्णन करते हैं। वास्तवमें वह परमात्मा न काल है, न मन है, न जीव है, न सत् है, न असत् है, न देश है, न

दिशा है, न इनका मत्त्य है, न अन्त है, न बोध है और न अबोध ही है।

योगी लोग उस परमात्मपदमें सर्वात्मक और समस्त पदार्थोंसे रहित देखते हैं। वह आदि पद ज्ञानयोगी महात्माओंकी दृष्टिमें सर्वरूप, सर्वात्मक, सर्वार्थरहित और सर्वार्थपरिषुर्ण है। जिसका अन्तःकरण स्वच्छ है, जो तत्त्वज्ञ एवं शान्त है और परम प्रकाशखलरूप परमात्माको प्राप्त है, वही उसके यथार्थ स्वभावमें देखा या समझ पाता है। जैसे सुश्रवर्ण-पिण्डिके भीतर आमूण तथा मुद्रा आदिका समूह कलित है, उसी प्रकार यह, 'पुण' और 'पी' इत्यादिके रूपमें प्रतीत होनेवाला भूत, वर्तमान और भवित्वगत्वके जगत्का भ्रम उस परमात्मामें कल्पनासे ही स्थित है, वास्तवमें नहीं। परमप्रकाशरूपी काष्ठ-खलमें यह ग्रीष्मीखण्डिगी पुत्री यद्यपि खुदी हुई नहीं है तो भी प्रतीत हो रही है, साझीखण्डी शिल्पीकी दृष्टिमें समायी हुई है। एम्बेमें तो खुदी हुई पुर्णभ्रूंही दृष्टिगोचर होती है। परंतु उस क्षेत्रहित परमपद परमात्मारूपी महासागरमें विना हुए ही ये सुटिसी तरङ्गे दृष्टिगोचर हो रही हैं, नित्य निरतिशयानन्दपर्य जल्से भरे हुए, चैतन्य-खण्डी सरोवरमें चिन्मय मेवोंकी अमृतपर्य वर्गके समान ये दृष्टिगत सुषियों भासित हो रही हैं। वह परमात्मा विभागशून्य—अखण्ड एकत्र है तो भी उसमें ये सुष्ठु-दृष्टियों विभागपूर्वक स्थित प्रतीत होती हैं। ग्रह क्षेत्रहित है तो भी उसमें ये क्षुमित-सी देखी जाती है तथा वह परमात्मा सर्विदानन्दधन है। उसमें इन दृष्टिगत सुषियोंका कहीं पता नहीं है तो भी ये उसके भीतर प्रतीत होती हैं।

( सर्ग ५२ )

## परमात्मामें सुष्ठुप्रभावकी असम्भवता, पूर्ण ब्रह्मके स्वरूपका निरूपण तथा सवक्ती ब्रह्मरूपताका प्रतिपादन

श्रीकृष्णपदजी कहते हैं—रघुनन्दन! उस शुद्ध बुद्ध परमात्मामें सुष्ठुके कारणभूत मत्त, आकाश, वीज, पाया,

मोह और भ्रम आदि किमीका भी होना वास्तवमें सम्भव नहीं है। वह केवल ( आदितीय ), शान्त, अस्थन्त निर्मल

और आदि-अन्तसे रहित है। वह इतना सूख है कि उसके भीतर आकाश भी प्रस्तारके समान स्थूल कहा जा सकता है। जिसकी उपस्थिका कोई कारण नहीं है, उस दृश्य-प्रपञ्चकी सत्ता यहाँ कदापि सम्भव नहीं है। तथा जो सदा खानुभवैकगम्य नित्य परमात्मवस्तु है, उसकी सत्ताका निराकरण करनेकी शक्ति किसमें है? ससार ग्रहालरूप होनेके कारण वैतन्यमय ही है। इसमें जो बड़ा आकाशकी प्रतीति होती है, वह अमसे ही है। इसलिये सब कुछ एक, अजन्मा, शान्त, द्वैताद्वैतसे रहित तथा निरामय प्रसा ही है। पूर्ण परब्रह्म परमात्मासे पूर्णकृत ही विस्तार हो रहा है। पूर्णमें पूर्ण ही विरुद्ध रहा है। पूर्णसे पूर्णकृत ही उदय हुआ है तथा पूर्णमें पूर्ण ही प्रतिष्ठित है। वह पूर्ण त्रैश शान्त, सम, उत्पत्ति-विनाशसे रहित, निराकर, अजन्मा, आकाशकी भौति व्यापक, विशुद्ध और अद्वितीय है। वह सर्वरूप है और सत्-असत्, सरूप तथा एक होकर ही सदा स्थित रहता है। सबका आदि वही है। मोक्ष उसका अपना ही सरूप है तथा वह उक्त शान्तरूप है।

'तू, मैं और वह जगत्'—इत्यादि जो शब्द हैं, इनका अर्थ त्रितीय ही है और वह ग्रहमें ही विद्यमान है। वह ग्रह शान्त, सबमें समानरूपसे ही प्रकाशित होनेवाला तथा सदृ है। वह पृथक् स्थित न होकर ही अपने सरूपमें प्रतिष्ठित है। समुद्र, पर्वत, मेघ, पृथ्वी तथा विस्फोट आदिसे युक्त होकर भी वह जगत् बालवामें अजन्मा तथा काष्ठमीनके समान निष्क्रिय सरूप ही है। उस ग्रहमें न तो ज्ञातापन है, न कर्तापन है, न जड़ता है और न भोक्तापन है, न शून्यता है, न अर्थरूपता है और न आकाशरूपता ही है। वह सत्य, वन, अद्वितीय, जन्म आदिसे रहित, सर्वव्यापी, सर्वरूप, शान्त, अनादि, अनन्त तथा एक रूप ही है। मरना-जीना, सत्य-असत्य तथा कुम और जशुम जो कुछ भी है, वह सब एकमात्र जन्मरहित चेतनाकाश-

सरूप है। जैसे उद्दरोंका समुदाय इन्हें नहीं है, उसी प्रकार सब कुछ इस ही है। इन्हें भी परम शान्त चेतनाकाशसरूप इसका ही नव या उद्दृढ़ है, जो आदि और अन्तमें अव्यक्त तथा अव्यक्तमें ही इस प्रकार व्यक्त होता है। जैसे जड़ ही उद्दृढ़ आदिके रूपमें दृष्टिगोचर होना है, उसी प्रकार इस ही जगतरूपमें भासित होता है। जो उद्यम होता है और उद्यम है, वह कठ्ठरूप तथा जो उद्यम नहीं होता है और उद्यम नहीं है, वह जगतरूप ही उद्यम चेतन परमात्मासे भिन्न नहीं है। अनः इन सुषिखर इन्हें दिन कोई कारण नहीं है। जैसे प्रपञ्चरूपका गोज उद्यम भी खगोलके संग्रह पना नहीं आ जाता, ऐसे ही इस सुषिख का सामिक फोर्म जगत् नहीं उपलब्ध होता।

श्रीरामजीने पूछा—क्षमता! जैसे अद्यतनके भान्त भावी विशाल वृक्ष विद्यमान होता है, वैसे ही उद्यम परमाणु परमात्मामें वह सारी सुषिख विद्यमान गया है। ऐसा क्यों न मान लिया जाय!

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! जटी दीन्दा है, जो बद्यक्षकी विशाल शाला हो सकती है; अंदि, जो सहकारी कारणोंसे उद्यम होती और रीत्वा है; जो उ जव समूर्ण भूतोंका प्रलय हो जाता है, तज दीन्दा वीज देय रह जाना है और उत्तम नार्ता। कारण भी क्या रहता है; जिसके सम्बोधने उन्टर्नी उत्पत्ति हो। जो शान्त परम्परा है, उसमें उद्यम भूलपना हो सकती है। उसमें तो परमाणुरूप भी देव नहीं होता, तिर वीजत्व कैसे जा जाता है। एवं प्रकार विचर करनेवाल दीन्दा हैं जो उस सर्वथा असम्भव है, तथा उन्हें भूमि गिर दिया, किस साधनसे, मिस निवित्तमे, वही उद्यम हो ही सकती है, इसलिये जो हृष्णरूप फल्लाह है, वही अपने सरूपभूत संकल्पसे यह उद्यम उन्हर दिन

है। यहाँ न तो कोई बत्ता उत्पन्न होती है और न और जल्में द्रव्यत्व है, उसी प्रकार परमात्मामें सुहि उसका नाश ही होता है, जैसे आकाशमें अवकाश स्थित है। ( सर्ग ५३-५४ )

— — — — —

प्रह्लामें ही जगत्की कल्यना तथा जगत्का ब्रह्मसे अमेद, पाषाणोपाख्यानका आरम्भ—बसिष्ठजीका  
लोकगतिसे विरक्त हो सुदूर एकान्तमें कुटी बनाकर सौ वर्षोंतक समाधि लगाना

श्रीबसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! उत्पत्ति, विनाश, प्रह्लण, त्याग, स्थूल, सूक्ष्म, चर, अचर आदि सभी पदार्थ सुषिके आरम्भ-कालमें उत्पन्न नहीं हुए थे; क्योंकि इनकी उत्पत्तिका कोई कारण नहीं था। जैसे नदियोंकी तैरङ्ग-लेख पहलेकी भौति आज भी वह ही है, वैसे ही चेतनका संकल्प ही कल्पके आदिसे प्रलयपर्यन्त पदार्थोंके समावका व्यवस्थापक है। पदार्थोंकी रचना दृष्टियोंमें ही प्रकट है। उनकी वास्तविक सत्ता नहीं है। जैसे जल-तरङ्गोंकी शोमा ही नदियोंकी रचना बन गयी है, उसी तरह चेतन आकाशमें विषमान चैतन्यरूप बीजकी सत्ता ही उसके भीतर दृष्टिरूपताको प्राप्त हो गयी है अर्थात् सुषिकी सत्ता चेतन सत्तासे पृथक् नहीं है। सब प्रकारके भेदज्ञानका निवारण हो जानेपर पुरुषमें जो एक शुद्ध ज्ञानका उदय होता है, तदूप ही वह बन जाता है। इसीसे वह मुक्त कहा जाता है। इसलिये उसमें बन्धन और मोअकी दृष्टियों कैसे वह सक्रीय है ? चेतन आकाशमें जो वह जगत्-नामक मलिनता प्रतीत हो रही है, पूर्णोक्तरूपसे विचार करनेपर वह निष्कलक एवं निर्वाणरूप व्रक्ष ही सिद्ध होता है। कोई भी ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ वह व्रक्ष व्याप्त न हो। वह जगत् अनेक रूप नहीं है, अपितु आकाशमें शृण्यत तथा समुद्रमें द्रवत्वके समान ब्रह्मसे अभिन्न ही है।

रघुनन्दन ! चिन्मय आकाश परमात्मा परमात्मामें सर्वत्र और सदा सब कुछ भलीभांति विषमान है। साथ ही वह सर्वथा सच्छ है अर्थात् वह अपनी मलिनतासे नकारों दूषित नहीं करता है। वैसे ही जैसे सम्पूर्ण

आकाशमें नीलरूपसे भासित होनेवाली शून्यता अपने मल्से मलिनता पैदा करके उसे दूषित नहीं करती। श्रीराम ! इस विषयमें पाषाणास्थान सुना रहा हूँ, सुनो—यह अविष्वारूपी ऐगको दूर करनेके लिये रसायन है। पूर्वकालमें मैंने ही जो कुछ देखा था, उसीका इस आख्यायिकामें वर्णन है। यह विद्यि होनेके साथ ही इस प्रसागके अनुकूल है। एक समयकी बात है, मैं जानने योग्य परमात्म-तत्त्वका ज्ञान ग्राह कर लेनेके कारण पूर्णकाम हो गया था। इसलिये मेरे मनमें यह इच्छा हुई कि घनीभूत अपसे भरे हुए इस लोकस्वरूपको छोड़ दूँ, तब व्यानमें एकत्तान होकर धीरे-धीरे दीर्घकालिक विश्रामके लिये सम्पूर्ण चब्बलताका स्थाग करके मैंने एकान्त स्थानमें रहनेकी अभिलाषा की और शीघ्रतापूर्वक शान्तिकी ओर अप्रसर होने लगा। उस समय मैं किसी देवताके स्थानमें स्थित था और जगत्की विविध एवं क्षणभूत गणियोंका अवलोकन कर रहा था। इनमें ही मैं वह सोचने लगा कि उस लोककी अवस्था कहीं नीरस है। देखनेमें सुन्दर और परिणाममें विनाशशील होनेके कारण आपातरमणीय है, इसलिये मैं ऐसा मानता हूँ कि वह कहीं किसीको, किसी भी कारणसे और कभी भी सुख नहीं ढे सकती। अतः कौन-सा ऐसा प्रदेश होगा, जो विकुल सूना हो और जहाँ रहनेसे इन पौंछोंवाला निषयोर्का वेदनारें अनुभवमें न आवे ? मेरे विचारसे तो वह आकाश ही, जो सब ओरसे सूना होनेके कारण त्रिक्षेपके उपकरणोंसे रहित है, मेरी समाधिके लिये अधिक उपयोगी होगा।

मैं इसके किसी दूरवर्ती कोनेमें उत्तम योगशुलिका आश्रय सेन्टर स्थित रहूँगा, आकाशके एक कोनेमें संकल्पसे ही कुटी बनाकर उसके भीतर सुदृढ़ हो वासनारहित होकर निवास करूँगा ।

ऐसा सोचकर निर्भल आकाशमें ज्यों ही मैं आगे बढ़ा, ज्यों ही देखना हूँ कि इस आकाशका भी साथ अन्तःप्राण्ल विक्षेपके कारणोंसे व्याप्त है । अनेक प्रकारके भूतगण यहाँ विचर रहे हैं । तब मैं आकाशवर्ती भूतगणोंको त्यागकर वहाँसे दूरतिदूर प्रकान्त स्थानमें जा पहुँचा, जो अत्यन्त विल्लुत और सना था । वहाँ बहुत धीमी-धीमी हवा चल रही थी । स्थानमें भी भूतगण वहाँ नहीं पहुँच सकते थे । न तो वहाँ मङ्गलसूचक शुभ शक्तुल होते थे और न उत्पातसूचक अपशक्तुल । हुम उस स्थानको संसारी पुरुषोंके लिये अलग्य समझो । उस शून्य प्रदेशमें मैंने अपने संकल्पसे ही एक कुटीका निर्माण किया । उसका भीतरी भाग सच्छ एवं विशद था । उसकी दीशारोमें कहाँ ऐद नहीं थे । इसलिये वह घनीभूत जान पड़ती थमता ।

यी तथा देखनेमें कमल-बौद्धके मन मुन्द्र रखती है । फिर मैंने मन-ही-मन यही भक्त्य लिया कि यह सूनी समान्त भूतोंके लिये अगम्य हो जाय । नम्बद्धत में उन सब भूतोंके लिये अग्म्य कुटीरमें प्रतिष्ठित हूँ । दोनों प्रभासन लगाकर अन्तःक्षिति हो जैन अन्त्य भैन दर्शन कर लिया । साथ ही यह निष्ठय लिया कि मैं इसके दृढ़ ही मैं इस समाधिसे उठूँगा । इसके दृढ़ में निर्विज्ञ-समाधिमें स्थित हो गया । दोन स्फुरण एमा जान पाना या मानो मैंने निष्ठाकी मुद्रा धारण कर ली है । मैंने बुद्धिमें समता थी । मैं निर्मल आकाशके समान द्वुद्वयमें अपने खस्तरमें प्रतिष्ठित था । ऐसा लगता था मैंने आकाशसे खोदकर मेरी प्रतिमा प्रकट रखी गयी है । इस सी वर्णोंका समय मेरे लिये एक फलके सफल व्यर्तीन हो गया; क्योंकि समाधिमें चित्तको एकाप्र धूरनेमें पुराने लिये बहुत समयक रहनेवाली यात्राकी गणित भी योद्धी प्रतीत होती हैं । तदनन्तर काल्पनिक अद्यतरलग्नी पिशाच इच्छारूपिणी पत्नीके साथ बदौसे नेरे भान जा नहीं थे ।

( तर्ज ५५-५६ )

### अहंकाररूपी पिशाचकी शान्तिका उपाय—सुष्टिके कारणका अभाव होनेसे उसकी असरा तथा चिन्मय ब्रह्मकी ही सुष्टिरूपताका प्रतिपादन

श्रीवासिष्ठजी कहते हैं—श्रीरामभद्र । अहोनसे अपने अन्तःकरणमें अहंभावरूपी पिशाचकी कल्पना कर ली गयी है, जो वास्तवमें है नहीं । जैसे हाथमें दीपक लेकर हूँडनेवालेको अच्छकारका खरूप नहीं दिखायी देता, वैसे ही विचारणील पुरुष यहि देखे तो उसे अशानकी उपलब्धि नहीं हो सकती । अज्ञात-रूपिणी पिशाचीके खरूपपर विचार करते हुए जैसेजैसे उसकी ओर देखा जाता है, वैसेक्षी-वैसे वह छिपती जाती है । सुष्टिकी सत्ता होनेपर ही अविद्याका अलिङ्ग सम्भव हो सकता है, और किसी हेतुसे नहीं । परंतु वह सुष्टि तो कभी उत्पन्न हई ही नहीं । केवल

अज्ञातियोंके अनुभवमें आती है । वास्तवमें यह है नहीं । जैसे आकाशमें कभी वृक्ष पंदा नहीं हुआ, उसी प्रकार सुष्टिका कोई कारण न होनेसे वह पूर्णत्वमें ही उत्पन्न नहीं हुई थी । मनसाठिन उः इतिहासे इन न होने-वाल निराकार परमात्मा न्यन्तरिन उः इतिहासे इतिहास-भूत साकार जगत्का दस्तुन कारन रहने हो लगता है । कहते हैं बीबरूपी कारनसे जड़रखर्दी यद्य इदम होना है । परंतु जहाँ योज भी नहीं है, वह अद्य फैसे ही सवाल है । कारनां द्विं जर्नां द्वर्दे कदापि सम्भव नहीं है । उकाशमें जर, निष्ठान, योग-सा इति स्पृश्यमें देव य एव्य है । न्या न्यान्ते

हनेवाला चिन्मयाकाशरूप ईश्वर ही अपने खलूपमें सुष्ठि-  
रूपसे सुरित हो रहा है। उसका खमार्द ही सुष्ठिके  
नामसे विल्यात है। अतः चिन्मय होनेके कारण वह सुष्ठि-  
चैतन्यरूप ही है। सुष्ठिके आरम्भमें विषयानशून्य जो  
शुद्ध एक अजन्मा अव्यय आदि और अन्तसे शून्य परमात्मा  
स्थित था, वही हमारे समक्ष सुष्ठिरूपसे निराब्रमण है।  
वास्तवमें यहाँ सुष्ठि नामकी कोई वस्तु है ही नहीं और  
न ये भूगोल तथा खगोल आदि ही हैं। सब कुछ  
शान्त, अवश्लम्बनशून्य, प्रसामान ही है और प्रसामें ही  
स्थित है। माव्य, मालक और माव आदिकी जो निरन्तर  
उत्पत्ति प्रतीत होती है, वह सब खण्ड चिन्मयाकाश ही  
खण्ड अपने आपमें स्थित है। ऐसी अवस्थामें कहोसे सुष्ठि  
हुई, कहोसे अविद्या आयी और कहों अङ्गता एवं अहंकार  
आदिकी स्थिति है; सब शान्त, विद्वक ग्रह ही तो  
है। इस प्रकार मैने तुमसे अहंकारकी शान्तिका उपाय  
वताया है। अहंमार्थको यदि अच्छी तरह जान लिया

जाय तो बाल्कलित पिशाचकी मोति वह खतः शान्त  
हो जाता है।

समस्त सुष्ठियों ग्रहमें ही कल्पित हैं—इस दृष्टिसे  
परमात्मा ग्रहका कोई अणु अंश भी ऐसा नहीं है, जो  
सुष्ठियोंसे ठसाठस भरा हुआ न हो। परंतु वे सुष्ठियों भी  
वास्तवमें कहीं उपलब्ध नहीं होती हैं। वह सब कुछ परमात्मा-  
रूप आकाश ही है। सुष्ठियोंमें कोई सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग  
भी ऐसा नहीं है, जो सदा ग्रहखलूप न हो। इसलिये ग्रह  
और सुष्ठि इन नामोंमें ही उद्धारणग्रामका भेद है, इनसे  
प्रतिपादित होनेवाली वस्तुमें नहीं। सुष्ठि ही परमात्मा है  
और परमात्मा ही सुष्ठि है। अग्रि और सूर्यकी उण्ठताओंके  
समान इनमें तनिक भी भेद नहीं है। श्रीराम! व्यवहारमें  
लो हुए ज्ञानीके लिये भी यह सब कुछ शान्त, एक,  
अनादि, अनन्त, खण्ड, निर्विकार, शिलके सदृश अत्यन्त  
क्षम और मौल प्रब्रह्मरूप ही है। ( सर्ग ५७-५८ )

### समाधिकालमें वसिष्ठजीके द्वारा अनन्त चेतनाकाशमें असरव्य ब्रह्माण्डोंका अवलोकन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राघवेन्द्र! तदनन्तर, ( सौ वर्षोंके पश्चात् ) मैं ध्यानसे जगा—समाधिसे निरत हुआ। उस समय वहाँ सुन्ने एक मधुर च्छनि सुनायी  
दी, जो वही मनोरम थी; परंतु उसके पद और अस्तर  
अधिक स्पष्ट नहीं थे। वह च्छनि पदार्थ और वाक्यार्थ-  
का वाध करनेमें समर्प नहीं थी। किसी नारीके काष्ठसे  
निकली हुई वाणीके समान उसमें सामाचिक कोमलता  
और मधुरता थी, खर्में काञ्जी लोच था, उच्चखर्मसे  
उच्चारित न होनेके कारण उस च्छनियें गम्भीरता ( धूर्से  
सुनायी देनेकी योग्यता ) नहीं थी। इस प्रकार उसके  
विषयमें मैने कुछ कालतक तर्कनिर्विका किया, वह  
आवाज ऐसी लगती थी, मानो भ्रमरोक्त गुंजारव हो रहा हो,  
तन्त्रीके तर झंझन होने लगे हों। वह न तो किसी  
बाल्कका रोदन था और न द्विजबाल्कके वेदाव्ययनका  
खर ही। कर्मलक्ष्मीपर्यन्त गुंजारव करनेवाले भ्रमरकी च्छनि-

से वह आवाज मिलती-जुलती थी। उस शब्दको सुन-  
कर मुझे बड़ा विस्मय हुआ। मैं दसों दिशाओंमें हृषि  
फैलाकर वह शब्द करनेवाले प्राणियोंका अन्वेषण करने  
लगा। उस समय वहाँ मेरे हृदयमें वह विचार उत्पन्न  
हुआ—‘अहो! आकाशका यह भाग लग्जों योजनकी  
दूरी लोककर बहुत ऊँचाईपर’ स्थित है। जिन मार्गोंसे  
सिद्ध पुरुष ही विचरण करते हैं, उनसे भी शून्य यह  
प्रदेश है। इसलिये इस एकान्त स्थानमें ऐसे शब्दकी  
उत्पत्ति कहोसे हो रही है; मैं यत्पूर्वक दृष्टिपात करने-  
पर भी शब्द करनेवालेको नहीं देख रहा हूँ। मेरे सामने  
यह जो अनन्त निर्मल आकाश है, सब औरसे सूना-ही-  
सूना दीख रहा है। प्रयत्नपूर्वक देखनेपर भी यहाँ मुझे  
कोई प्राणी नहीं दीखता है। अच्छा तो मैं अपने इस  
वेणुकाशको ध्यानके द्वारा यहीं ज्यों-कास्त्रों स्थापित  
करके चेतनाकरशखरूप होकर अव्याकृत आकाशके

साय उसी तरह एक हो जाता हूँ, जैसे जटिल दु साधारण जल्के साय मिलकर एकरूप बन जाता है।' यों सोचकर मैं इस शरीरका त्याग करनेके लिये पश्चासनसे बैठ गया और समाधि ल्पानेके लिये भैनि पुनः अपनी ओँखें बंद कर ली। तदनन्तर हन्त्रिय-सम्बन्धी वाह विषयोंका तथा आन्तरिक विषयोंका भी स्फर्त्त त्यागकर मैं एकमात्र संकल्परूप विचाकाश बन गया। इसके बाद कल्पः उस विचाकाशको भी त्यागकर मैं बुद्धितत्त्वके स्थानमें पहुँच गया। पिर उसे भी छोड़कर चेतनाकाशमय अपने वास्तविक रूपमें पहुँच गया।

फिर तो चैतन्यमय महाकाशके साय एक होकर मैं असीम और सर्वव्यापी बन गया। निराकार और निराधार रहकर समस्त पदार्थोंका आधार बन गया। तब वहाँ मुझे कुण्ड-के-कुण्ड ब्रैह्मोक्त, सैकड़ों संसार तथा लाखों या असंख्य ग्राहाण्ड दिखायी देने लगे। वे सब ग्राहाण्ड मायामय निर्मल आकाशमात्र रूपवाले थे। अतः वे परस्पर एक दूसरेकी दृष्टिमें नहीं आते थे। वे नाना प्रकारके आधार-विवरोंसे सम्पन्न थे; परंतु एक दूसरेके लिये शून्यरूप ही थे। परम चेतन आकाशके कोषमें स्थित हुए वे सब लोक शून्यतारूप ही थे, सत्य नहीं थे। कल्पे उनकी सृष्टि हुई थी, यह किसीको क्षात नहीं था। वे सब-के-सब अज्ञानरूप दोषसे युक्त विन्मय परमात्मामें अनादिकालसे ही कल्पित थे। चैतन्यके चमत्कारसे चमत्कृत चेतनाकाशमें सैकड़ों समुद्र, सर्व, अकाश तथा मेरे आदि पर्वतोंसे युक्त खालके समान वे लोक भासित होते थे तथा खोगुण और तमोगुणसे

कछुआगिन जान पड़ते थे। अनन्दमें अनन्दोदय दून होनेसे कारणरहित पृथ्वी आदिक्र अनुभव नो भावान्त ही था। अतः असरूप अविष्टुनम् भूम रेत्त तो ये सब जगत् विद्यमान थे। उस अविष्टुन भूम्भूते लेखर तो वे खरूपनः विद्यमान नहीं ही थे। दून-नून-जे जल-प्रवाह तथा आकाशकी भीतिमाने भूम वे अन अमरूप अनुभवसे ही उत्पन्न हुए थे। उन अन्नमः सत्य नहीं थे। परंतु सत्यरूप अविष्टुनवै भूम्भूते भूम जान पड़ते थे। परमात्मके गृह्णनमें भोग अदि विचित्र रसोंसे परिपूर्ण मलाण्डरूपी दृढ़ ज्ञे थे, जो हवाके झोकोंसे श्वम रहे थे। देवना, अमूर और अनुश आदि प्राणी उन फलोंके भीतर जन्मुओंके भूम द्राव्य होते थे। हुम, मैं और यह आदि अभिनानपूर्ण सुनिके दृश्ये अत्यन्त दृढ़ बनाये गये वे सब लोक गीत्री निर्दिष्ट रूप दृश्ये हुए उन खिचीनोंके समान जान पड़ते थे, जो दूरदूरी निराणोंसे सूखकर कड़े हो गये हों।

वास्तवमें वे जगत् परमार्थ चैतन्यरूप ही थे, तात्परी उससे मिलके समान प्रतीन दृते थे। उन्नम रोग भी ग्रास-से जान पड़ते थे तथा सदा असद रोग भी सद्गूपसे भासित होते थे। परमात्मकी भूमते तेज़े भीतर वे केन्द्र आभासरूप थे और शाशुद्धे रस्तन्दर्द भाँति खतः उत्पन्न हुए थे। श्रीराम। उस स्मारितामें मैंने अनन्त चेतनाकालके भीतर असराम भी उत्पन्न दृश्य विनष्ट होनेवाले धृत्तसे लेकर होते, जो मिनि रैग ( तीवी ) से युक्त ऊँलोंवाले पुराणे इस दृश्ये भूमात्र ही सिद्ध होते थे। ( नं ५१ )

**श्रीवसिष्ठजीका समाधिकालमें अपनी स्तुति करनेवाली श्रीका अवलोकन और उमर्की उपेता दर्शक अनेक विचित्र जगत्का दर्शन करना तथा महाप्रलयके समय मद जीवोंके प्रहृनि-र्त्तन तो जानेपर पुनः किसको सृष्टिका ज्ञान होता है, श्रीरामके इस प्रभन्दा उत्तर देना।**

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—खुलन्दन ! तदनन्तर अर्थुक रूपसे पूर्वोक्त शब्दके करणका विचार करता सौं यो० थ० अ० २०—

हुआ मैं आवर्णरैत चेन्नग्गम्प दृश्य दृश्य तक इधरउधर भूम भूम रहा। इन्हे दृढ़ दृश्य

चलने के समान वह शब्द मेरे कानोंमें पड़ा । क्रपशः उसके पद स्पष्ट होने लगे । फिर मुझे यह मार्ग हुआ कि किसी-के द्वारा आर्या छन्दका पद गाया जा रहा है । फिर जहाँसे वह शब्द प्रकट हो रहा था उस स्थानपर श्विषि पढ़ी । वहाँ मुझे एक छोटी दिखायी दी, जो दूर नहीं थी । वह मुर्वण्डवके समान गौरकान्तिसे आकाशमण्डलको प्रकाशित कर रही थी । उसके गलेके हार तथा शरीरके बजे कुछ कुछ हिल रहे थे । उसके नेत्रान्त अङ्गकावलियोंसे किंचित् आवृत हो रहे थे । उसे देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो दूसरी लक्ष्मी आ गयी हो । उसका मुखमण्डल पूर्ण घन्दमाके समान भनोहर था । वह जब हँसती थी, तब छाँटोंके द्वारा झरते जान पड़ते थे । आकाशका कोश ही उसके रहनेका धर था । उसका सौन्दर्य चन्द्रमाकी किरणोंको लजित कर रहा था । वह ऐसी जान पड़ती थी मानो मोतियोंके समूहसे उसका निर्माण हुआ हो । वह कमनीय क्षमित-मती नारी मेरा अनुसरण करनेके लिये उघत जान पड़ती



थी । मेरे पास खड़ी हो मधुर मुखान और उत्तम भाव-विकास-

से मुश्योभित वह मनोहारिणी छी मधुर खरसे कोणल वाणीमें इस आर्या छन्दका पाठ करने लगी ।

असुदुचितरिक्षेत्रम्-

संसूदिसरिति प्रमुहामानाम् ।

अथलम्बनस्तटविद्यनि-

मनिनौमि भवन्तमेव मुने ॥

‘मुने । आपका अन्तःकरण उन राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दोषोंसे सर्वथा शून्य है, जो असमुद्धों-के ही छद्यमें रहने योग्य हैं । आप संसार-सरितामें दृष्ट्वा गोहित होनेवाले प्राणियोंके आश्रयमूल तटवर्ण बृक्ष हैं; अतः मैं सब ओरसे आपकी ही स्तुति करती हूँ ।’

श्रीराम ! यह सुनकर मैंने उस भनोहर मुख एवं मधुर स्तराली छोटी ओर देखा और यह सोचकर कि ‘कह तो छी है, इससे मेरा क्या प्रयोजन है ?’ उसकी अव-हेलना करके मैं आगे कह गया । तदनन्तर लोकसमूहोंसे युक्त माया दिखायी दी, उसे देखकर मुझे बड़ा विस्मय हुआ । फिर उसका भी अनादर करके, मैं आकाशमें चिन्हण करनेको उघत हुआ । इसके बाद मैंने आकाशमें स्थित हुई जगन्मायाका निरीक्षण करनेके लिये चिन्मया-काशाल्पसे ज्यों ही चेष्टा की, त्यों ही वे सारे-केसारे उप जगत् उसी तरह शून्यल्प हो गये जैसे खम, संकल्प (मनोरूप) तथा कहानीमें वर्णित जगत् शून्यल्प होते हैं । इस प्रकार बताये गये वे सभी लोक होनेवाले प्रलयकालके दृश्यको बैसे ही नहीं जान पाते हैं, जैसे एक ही घरमें सोये हुए अनेक पुरुष एक दूसरेके लक्ष्में होनेवाले रण-कोलाहलयोंनहीं सुनते हैं । श्रीराम ! चेतन-में ही सब कुछ है, चेतनसे ही सब कुछ है, चेतन ही सब कुछ है और चारों ओरसे चेतन-ही-चेतन है । सारी सत्ता चिन्मय तथा सद्गुप्त ही है । यही मैंने वहाँ पूर्णल्पसे देखा ।\* यह जो दृश्योक्त दर्शन होता है, वह भ्रममत्र

\* चिति सर्वं चितः सर्वं चित्तर्वं सर्वतम चित् ।

चित्सत्तर्वात्मिकेतत् दृष्टं तत्र मयासित्यम् ॥

( नि० प्र० ८० ६० । २३ )

है। आकाशमें प्रतीत होनेवाले बृक्षश्च भज्ञती है। सब कुछ चेतनाकाशका खलूप ही है। इस बातका मुझे वहाँ अनुभव हुआ। समष्टि बुद्धिरूप आकाशके साथ एकरूप होकर व्यापक, अनन्त एवं बोधखलूप हुए भैने इसका अनुभव किया। सम्पूर्ण जगत्का यह मायाजाल ब्रह्माकाशरूप ही है, दसों दिशाएँ प्रकाशक ही हैं तथा कला, काल, देश, द्रव्य और क्रिया आदि भी ब्रह्माकाशरूप ही हैं। जो सब प्रकारके नाम और रूपसे रहत, पापाणकी प्रतिमाके समान मौन और ज्योति-खलूप है, वही परमात्मा परमात्मा यत्किञ्चित् नाम-रूपात्मक होकर जगत् कहलाता है। वहाँ समाधि-कल्यामें ऐसे लाखों जगत् भी अनुभवमें आये थे, जिनमें चन्द्रमपल्ल भी उण्ठ थे और सूर्य भी शीतल्ताकी मृत्ति जान पड़ते थे। श्रीराम ! कोई जगत् गिर रहे थे, कितने ही आकाशमें उड़ रहे थे और बहुतरे सम्पूर्ण दिशाओंमें भान्तिपूर्ण पदोंमें प्रतिष्ठित थे। इस तरह चैतन्य समुद्रके चश्चल बुद्धुदोंके रूपमें दिखायी देनेवाले उन असंख्य लोकोंमें ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो भैने न देखी हो।

श्रीरामजीने पूछा—मुने ! महाकल्पके विनाशकालमें जब समस्त भूतोंका समुदाय मूलप्रकृतिमें विनीत हो जाता है, तब पुनः किसको किस तरह सृष्टिका ज्ञान होना है?

श्रीविष्णुजीने कहा—श्रीरामभद्र ! महाप्रयत्नकालमें पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश—इन सम्पूर्ण विशेष पदार्थोंका विनाश हो जानेपर ब्रह्मसे लेकर स्थावरतकके सभी जीव-जगत् जब मूलप्रकृतिमें विनीत हो जाते हैं, तब पुनः जिस प्रकार इस जगत्का अनुभव होता है,

वह अनाना है, मुनो। मात्रउद्यक्ते पद्धत् जो प्रत्यंग रहता है, वह शम्भादि व्यप्राप्ते उपर्यन्त जहाँ दोहर नहीं होता। उसे मुनिजन परमार्थ चैतन्यद्वय जानते हैं। उगत् उसका छद्य है। अन. उनसे भिन्न नहीं है। वही परमात्मदेव यह संसर्व यज्ञ है कि उगत् में उपर्यन्त अपना स्वभाव और छद्य है। चन्द्रिम्बसे वह जगत्की सत्ता नहीं रहना है। इस प्रकार २१ एवं विवार करते हैं, तब उगत् नामर्पणे दोरं रनुनां रनेहैं। किर क्या नष्ट होता है और क्या उत्तरन् । जैसे पाण कारण परमात्मा अविनाशी है, वैसे ही उमग एवं भी है। महाकल्प आदि भी उसके अप्रभव ही हैं। उन्हें वे भी परमात्मासे भिन्न नहीं हैं। केवल अहन ही यहाँ जगत् और परमात्मामें भेदभाव प्रतीति रहता है, परन् विचारपूर्वक देखा जाय तो उस अद्वानमा भी यहाँ दक्षा नहीं थाना है। अनः एवमात्र गणिदानन्दगण परमात्मा ही सदा और सर्वत्र विराजमान हैं। उगत् उसकी उपर्यन्त तथा विनाश सर्वथा मिथ्या घटना है। इसप्रिये कर्मण यज्ञी किसीका कुछ भी न नीं नष्ट होना है और न उगत् ही होना है। यह जो दृश्य उगत् है, वह नव राजन्, अजन्मा, प्रदात्तपते ही स्थित है। यह अनांद उगत् कभी उपन्न नहीं हुआ है। यहाँ इस उगत् राजन् के बाहर ज्ञानस्वरूप परमात्मा रहना ही है। इस प्रकार विचारपूर्वके देवनेत्र उट निदियन्ते तुम ऐसं भी तृणके समान नि सार ही स्तिद होता है। भेद—भेद, वायु अविनाशी पुरुष अपनें इष्वानमान निधन नहीं, अपने आत्मामें ही पूर्ण संतुष्ट रहता है। ( सं ६००५ )

वसिष्ठजीके द्वारा चिदाकाशरूपसे देखे गये जगतोंकी अपनेसे अभिनवताका कथन, आयांगठ रहनेवाली स्त्रीके कार्य तथा सम्भाषण आदिके विषयमें श्रीरामके प्रश्न और वसिष्ठजीके उगरमा दर्शन

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—मग्नम् ! उस समय आपने पक्षियोंकी भोति आकाशमें उड़ते हुए जो जगत्-सूहका

अवदान दिला था, जो उक्त दिन भिन्न होना

था या मग्नर्ग विनाशकाशम् इष्वानम् ।

श्रीवसिष्ठजी बोले—रघुनन्दन ! उस समय तो मैं सर्वज्ञापी, अनन्तात्मा चिन्मयाकाशरूप हो गया था, उस अवस्थामें मेरा कहीं आना-जाना कैसे सम्भव हो सकता था ? न तो एक स्थानपर खड़े हुए पुरुषकी भोटि ही स्थित था और न गतिशील ही था, इस प्रकार परमात्मरूप चिदाकाशमें ही रहकर मैंने अपने इस व्यापक शरीरके द्वारा यह सारा जगत्समूह देखा था। जैसे शरीर-भिमानीके रूपमें स्थित होनेपर मैं पैरसे लेकर मरुक्तक-के अने सभी अङ्गोंको देखता हूँ, उसी प्रकार मैंने इन चर्मचक्रभूओंके बिना भी विभ्यमय नेत्रसे सारे जगत्समुदाय-का अङ्गोंका देखा था। इस विषयमें तुम्हारे लिये प्रमाण है, सपनेमें देखा हुआ संसार-विभ्रम; क्योंकि स्वन्ममें जो दृश्य अनुभूत होता है, वह चेतनाकाशरूप ही है, उसके सिवा दूसरा कुछ नहीं है। जैसे चूक्ष अपने पंच, पुष्ट और फल आदिको देखता है, वैसे ही मैंने भी अपने ज्ञानरूपी नेत्रसे सारे जगत्को देखा था। जैसे अथवानी अपने अवयवोंको अपनेमें ही अभिन्नरूपसे देखता है, उसी प्रकार मैंने इन समस्त सर्गोंको अपनेसे अभिन्न ही देखा और समझा था। श्रीराम ! योधरूप परमात्माके साथ एकताको प्राप्त हुआ मैं आज इस समय भी उन विविध सर्गोंको शरीर, आकाश, पर्वत, जल और स्थलको भी उसी तरह देख रहा हूँ।

श्रीरामजीने पूछा—प्रश्न ! कमलनयन ! आप जब इस प्रकार अनुभव कर रहे थे, तब आर्याछन्दका पाठ करने-वाली उस कान्तिमती नारीने क्या किया ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! वह भी चिन्मयाकाशरूप-से ही आकाशमें मेरे समीप विनयपूर्वक खड़ी थी और उसी आर्याछन्दका पाठ कर रही थी। उस समय वह देवाङ्गनासी जान पड़ती थी। जैसे मेरा शरीर चिन्मयाकाशमय था, उसी प्रकार उसका भी था। मैंने उस पूर्वजीरसे बैसी लड़ना कभी नहीं देखी थी। मेरा शरीर चेतन-आकाश-

मात्र था, वह भी चेतनाकाशमय रूप धारण किये हुए थी और सारा जगज्ञाल भी उस समय वहाँ चिन्मयाकाशरूप-से ही स्थित था।

श्रीरामजीने पूछा—प्रश्न ! शरीरमें स्थित जीम, तालु, थोठ तथा प्राणोंके प्रयत्नोंसे उत्पन्न हुए बणोद्धारा जो वाक्य सम्पन्न होता है, वह आकाश-शरीरधारिणी उस खीके मुखसे कैसे प्रकट हुआ ? विशुद्ध चेतनाकाशरूप आत्माओंको रूपका दर्शन और आध्यन्तरं मनका अनुगम होना कैसे सम्भव है ? उस समय आपने जो जगत्के दर्शन और सम्भाषण आदि व्यवहार किये थे, उनकी सङ्खति कैसे लगती है ? आप इस विषयमें अपना यथार्थ निश्चय बताइये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! जैसे स्वप्नमें चिन्मयाकाश आत्मा ही बाक्ष तथा आध्यन्तर पदार्थोंके रूपसे प्रकट होता है वैसे ही मेरे उस समाधिकालमें भी वह सारा दृश्य प्रपञ्च चिन्मयाकाशरूपसे ही स्थित था। केवल वही दृश्य चिन्मयाकाशरूप रहा हो, ऐसी बात नहीं है, किंतु ये जितने पदार्थ हमलोगोंकी बुद्धिके विषय हैं, ये सब-के-सब तथा वह सारा संसार भी खड़े चिन्मयाकाशरूप ही है। हमारे लिये जैसा वह था, वैसा ही सारा जगद् है। जैसे स्वप्नमें पृथ्वीपर खेती आदिके रास्तोंपर आने-जाने-के तथा पर्वत-प्रासाद आदिके ऊपर दृश्यन आदिके जो व्यवहार होते हैं, वे सब चिदाकाशरूप ही हैं, उसी तरह उस समय ‘मैं’, ‘तुम’, ‘वह जी’ तथा ‘वह’ और ‘यह’ सब कुछ चिदाकाशरूप ही था। रघुनन्दन ! तदनन्तर जैसे स्वप्नमें समग्रत मनुष्योंके साथ व्यवहारकार्य चलता है, उस समय उस जीके साथ मेरा वार्तालाय-व्यवहार भी उसी तरह आरम्भ हुआ। जैसे वह स्वप्न-सदृश व्यवहार चिदाकाशरूप ही था, उसी प्रकार तुम मुझको, इस आत्माकी तथा जगत्को भी चिदाकाशरूप ही समझो।

## समझगतकी भी ब्रह्मरूपता एवं सत्यताका प्रतिपादन

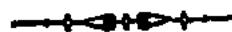
श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—मुख, जीम आदि प्रत्ययोंसे रहित एकमात्र संकल्परूप देहसे आपका उस जीवके साथ सम्भाषण आदि व्यवहार कैसे हुआ ! उस दशामें प्राप्तेन क चट तप आदि वर्णोंका कैसे उच्चारण किया ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! विदाकाशस्त्ररूप उत्सङ्गानियोंके संकल्पमय देहाले मुखसे क चट तप आदि वर्णोंका किसी कालमें भी वैसे ही उच्चारण नहीं होता, जैसे गृहकोंके मुखसे कोई अक्षर नहीं निकलता है । ( समकी भौति ही वहाँ भी हुआ । )

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—भगवन् ! जब यह जगत् स्वप्नरूप ही है, तब जाग्रत्-रूपसे कैसे स्थित है ? तथा असत्य होकर ही यह सत्य-सा कैसे हो गया ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! यह सब जगत् कैसे समझ ही है, यह सुनो—समके समान ही ये जगत् न तो आत्मासे भिन्नरूप हैं, न आत्माके समान सम्प्रथरूप हैं और न स्थिर ही हैं । ये सञ्च-के-सञ्च एकमात्र अनिर्वचनीय आत्मसत्त्वासे स्थित हैं । वे सब जगत् एक-दूसरेको किंचिन्नात्र भी नहीं देख पाते तथा कोठीके मीतर रखे गये जड़ वीजोंकी एक राशिकी तरह भीतर-ही-भीतर सङ्गलकर नष्ट भी हो जाते हैं । नष्ट होकर भी वे चेतन-रूप ही रहते हैं, सर्वथा शून्य नहीं हो जाते । वे आपसमें एक-दूसरेको नहीं जानते । अज्ञानसे उनका चेतना-रूप ढक जानेके कारण निरन्तर सोये हुएके सदृश समका अनुभव करते हैं । सोये हुए स्वप्नरूप जगज्ञालकी व्यवस्थाके अनुसार व्यवहार करनेवाले जो राक्षस सममें समग्र देवताओंद्वारा मारे गये, वे अब भी उसी

सममें स्थित हैं । श्रीराम ! ब्रह्माओं तो सही, इस तरह जो सममें मारे गये, वे क्या करते हैं ? अज्ञानके कारण मुक्त नहीं हुए तथा चेतन होनेके कारण पत्तरके सदृश भी स्थित न रहे । वे लोग पर्वत, सागर, पृथ्वी तथा अनेक जीव-जन्मुओंसे भरे इस सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्चरूपको विकाल-तक उसी तरह अनुभव करते हैं जैसे हमनेग ( इसीलिये उनका अपना-अपना सम्प्रचिकालकी अनुशृतिसे हमलोगोंके अनुभवकी तरह आपदवस्थारूप ही हो जाता है । ) उनके कल्प और जगत्की स्थिति भी वैसी ही है, जैसी हमलोगोंकी है और हमलोगोंके जगत्की स्थिति भी वैसी ही है जैसी उन लोगोंकी है । उनके समके वे पुरुष अपने तथा अन्य पुरुषके भी अनुभवसे सत्य ही हैं; क्योंकि अपनी तथा दूसरेकी सत्ताका निमित्तभूत जो अधिष्ठानस्त्ररूप चेतन है, वह सर्वव्यापी होनेके कारण सत्य एवं सम है । जैसे आत्मामें वे स्वप्नके पुरुष सत्य हैं, वैसे ही दूसरे पुरुष भी, जिनका प्रत्येक सम्प्रमें मुझे अनुभव होता है, वे सत्य ही हैं । तुमने अपने सम्प्रमें जो अनेक नगर तथा नागरिक देखे थे, वे सब वैसे ही अब भी स्थित हैं; क्योंकि सर्वव्यापी इस सर्वस्त्ररूप है । भीतरमें, आकाशमें, पापाणमें, जलमें और स्थलमें सर्वत्र भिन्न-भिन्न पदार्थोंके अंदर चिन्मात्र परमात्मा ही विराजमान है । वही सम्पूर्ण विश्वरूपसे स्थित है; अतः चिन्मात्र परमात्माके सर्वव्यापी होनेसे नहीं तहीं सर्वत्र ही जगत् है । इनकी संख्या यहाँ कैसे ब्रह्मायी जा सकती है ? तस्वङ्गानियोंकी इष्टिमें शह सारा जगत् परमात्मा ही है; परंतु अज्ञानियोंके मनमें दृश्य-प्रपञ्चरूपसे स्थित है । ( सर्ग ६३ )



## श्रीवसिष्ठजीके पूछनेपर विद्याधरीके द्वारा अपने जीवन-शृणान्तका वर्णन, अपनी युवावस्थाके वर्षथ्र॑ वीतनेका उल्लेख

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! तदनन्तर मैंने उस सुन्दरी ललनासे, जिसके नेत्र नील कमल-से बिलसित, खिले हुए मालती-पुष्पके समान शोभा पाते थे, उसकी ओर देखकर कौतुकमूर्षक पूछा—‘कमलपुष्पके भीतरी भाग—केसरकी-सी सुनहरी कान्तिवाली सुन्दरी ! तुम कौन हो ? मेरे पास किसलिये आयी हो ! किसकी पुत्री या पत्नी हो ? क्या चाहती हो ? कहों गयी थी ? और कहाँकी रहनेवाली हो ?’



विद्याधरीने कहा—मुने ! मैं अपना शृणान्त ठीक-ठीक बतल रही हूँ, मुनिये । यथापि परायी खीके साथ एकान्तमें गतात्मिप करना उचित नहीं है तथापि मैं थड़े कट्टमें हूँ और संकटसे छुटकारा पानेके हेतु ग्रार्थना करनेके लिये आयी हूँ; अतः आप करुणावश मुझसे

बिना किसी हिचकके मेरा समाचार पूछ सकते हैं । महर्षे ! परमोक्षम विनमय आकाशके किसी छोटे-से कोनेमें आपका यह आश्रमरूपी विलक्षण संसार बसा हुआ है । इसमें पाताल, भूतल और खर्म—ये तीन प्रकोप ( बहे-बहे औंगन ) हैं । वहाँ हिरण्यार्थ प्रलोकके आकारमें स्थित हुई मायाने कल्पना नामक एक कुमारी ( गृह-स्त्रामिनी ) का निर्माण किया है । इन तीनोंमें जो भूतल है, वह कंगनकी-सी आकृतिवाले द्वीपों और समुद्रोंसे बिरा हुआ है; अतः उनके रंगोंसे अनुरक्षित हो तात्रवर्णकल दिखायी देता है; साथ ही कुछ ऊँचा भी है । इस प्रकार यह भूतल उपर्युक्त कंगनसे विभूषित जगछासीकी कलाईके समान जान पड़ता है । द्वीपों और समुद्रोंके अन्तमें चारों ओरसे दस हजार योजनोंतक सुशर्णमयी भूमि स्थित है । उसके अन्तिम छोरपर लोकालोक नामसे विद्यात पर्वत है, जो जगछासीकी ऊँची कलाईके समान शोभा पानेवाले इस भूपीठको कंगनके समान चारों ओरसे घेरे हुए है । उस लोकालोक पर्वतके शिखरोंपर रत्नमयी बड़ी-बड़ी शिलाएँ हैं, जो आकाशके समान निर्मल हैं । उन शिलाओंके बीचमें लोकालोक पर्वतके उत्तर भागमें उसके पूर्ववर्ती शिलरक्षी जो एक शिल है, उसके भीतर मैं निवास करती हूँ । उस शिलमत्ता स्थान-भाग कभी क्षीण न होनेवाले ब्रह्मसार मणिके समान कठोर है । विद्याताने मुझे वहाँ बौद्ध रखा है और इस प्रकार विद्या होकर मैं उस प्रस्तार-मन्त्रमें बास कर रही हूँ । मुने ! मैं समझती हूँ कि उस शिलमें रहते हुए मेरे असंख्य युग बीत गये । केवल मैं ही नहीं बैठी हूँ, मेरे पतिदेव भी उसके भीतर बैसे

ही बैधे हैं, जैसे साधकालिक कमश्कोशमें नमर बैध जाता है। उस शिल्पके कोटरमें, उसके संकीर्ण स्थानमें पतिके साथ खड़कर मैंने दीर्घकालतक सुख-दुःखका अनुभव किया है और इस अनुभवमें मेरे असंख्य वर्ष-समूह जीत गये हैं; किंतु अभीतक हम दोनों अपने एकमत्र दोष ( कामना ) के कारण मोक्ष नहीं पा रहे हैं। उसी तरह परत्पर मप्रता बौधि हम दीर्घकालसे वही रहते हैं।

मुनीश्वर ! उस पाषाणके संकटमें केवल हमीं दोनों नहीं बैधे हैं, हमारा सारा परिवार भी वहीं बैधा पशा है। उसमें बैधे हुए भेरे पति प्राक्षणकुलमें उत्पन्न हुए हैं और प्राचीन कालके बृह पुरुष हैं। यथापि वे सैकड़ों वर्षोंसे जी रहे हैं तथापि एक स्थानसे दूसरे स्थानतक चल नहीं सकते। वे बचपनसे ही प्रक्षाचारी हैं। वेदाध्ययनमें तप्त रहते और छात्रोंको पढ़ते हैं, किंतु आलसी हैं। एकान्त स्थानमें अनेक ही बैठे रहते हैं। उनके बर्तावमें कुटिलता नहीं है। वे चप्पलतासे कोसों दूर रहते हैं। वेदवेताओंमें श्रेष्ठ महर्षे ! मैं उन्हींकी भार्या हूँ; किंतु मुझमें एक व्यसन है। मैं उन पतिदेवके विना पलभर भी देह धारण करनेमें समर्थ नहीं हूँ। बहन् ! भेरे पतिने मुझे पलीखूपमें किस प्रकार प्राप्त किया और हम दोनोंका यह स्वाभाविक स्नेह परत्पर किस प्रकार बढ़ा, यह बनाती हूँ, बुनिये।

पहलेकी बात है, भेरे पतिने जन्मके पश्चात् ज्ञात्यावस्थामें ही किन्चित् ज्ञान प्राप्त कर लिया और एक सखुरूपकी भोति अपने निर्मल गृहमें वे रहने लगे। उन दिनों उन्होंने विचार किया कि मैं वेदोंके स्वाध्यायमें संलग्न रहनेवाला प्राक्षण हूँ। मुझे अपने ही अलुरूप ऐसी भार्या कहांसे प्राप्त हो सकती है, जो

उत्तम जन्मके कारण शोभा पा रही हो ? इस प्रकार चिरकालतक चिन्तन करके उन्होंने अपने कर्तव्यका निश्चय किया और खयं ही भेरे नायने अनिन्य सौन्दर्यसे युक्त अङ्गाली मुझ नारीको प्रानमिक संकल्पसे प्रकट किया। मानो चन्द्रदेवसे निर्मल बाँदनी प्रकट की हो। फलसे उत्पन्न होनेके कारण मैं उनकी मानसी भार्या हुई और जैसे क्षसंत नृत्तमें मन्दार वृक्षकी उत्तम एवं सुन्दरी मङ्गरी बढ़नी है, उसी प्रकार मैं भी बढ़ने लगी। मैं निरत्तर लीलनिलासमें ही निरत रहने लगी। भेरे नेत्र लील-पूर्ण तिरछी चित्तवनसे देखने लगे। मुझे सदा गाना-बजाना ही प्रिय लगने लगा। भोगोंसे कभी मुझे तृप्ति नहीं होती थी। भेरा दिनोदिन भोगोंमें अनुराग बढ़ता गया। आदरणीय महर्षे ! भेरे पतिदेव दीर्घसूत्री और स्वाध्यायशील होनेके कारण तपस्यामें ही लगे रहे। उन्होंने किसी तरहकी भी अपेक्षा भनमें लेकर भेरे साथ अस्तक कियाह नहीं किया। इसलिये यौवनसम्बन्ध तरुणी ली मैं उन्हें प्राप्त न कर सकनेके कारण व्यसनकी आगसे उसी प्रकार जलने लगी, जैसे कोई कमलिनी आगसे हुल्स रही हो। फ्लॉकी वर्षोंसे हरीभरी सारी उधान-भूमियों मेरे लिये तपी हुई बालुकरणशिसे आच्छादित सूनी मरुभूमियोंकी भोति दाहक प्रतीत होने लगी। जो पदार्थ सुन्दर उचित, खादु और मनोहर हैं, उन्हें देखकर भेरी ये ऊँचे आँखुओंसे भर आतीं। मैं रमणीय स्थानमें रोती। जो स्थान न रम्य है न अरम्य—मर्यम कोटिक्षण है, वहाँ मैं सौम्य हो जाती और जो वासुन्दर स्थान है वहाँ मैं प्रसन्न रहती। न जाने मुझ दीना नारीकी ऐसी अवस्था कैसे हो गयी ? भगवन् ! इस प्रकार मेरे नशीन यौवनके बहुतसे दिन वर्ष जीत गये।

( संग ६४ )

## विद्याधरीका वैराग्य और अपने तथा पतिके लिये तत्त्वज्ञानका उपदेश देनेके हेतु उसकी वसिष्ठ ग्रनिसे प्रार्थना

विद्याधरी बोली—मुझे ! तदनन्तर जैसे शर्काल जीतनेपर रसहीन हुए पछ्योकी लाली मिट जाती है, उसी प्रकार दीर्घकालके पश्चात् मेरा वह अनुराग विशेषके रूपमें परिणत हो गया । मैं सोचने लगी—मेरा सार्थी बूढ़ा होनेके कारण एकान्तवासका रसिक, नीरस और स्नेहगूण्य हो गया । यद्यपि उसकी बुद्धिमें कुछिल्ला नहीं है, तो भी वह मेरी ओरसे सदा मौन ही रहता है; अतः मेरे समझती हूँ कि मेरे जीवनका कोई फल नहीं है, इसलिये अब इसे रखनेसे क्या लाभ । बचपनसे ही विद्या हो जाना अच्छा है, मर जाना भी अच्छा है अथवा रोगोंका आक्रमण तथा दूसरी-दूसरी विपरियोंका दृट पक्षना भी अच्छा है; परंतु जिसका स्वभाव मनके अनुकूल न हो, ऐसे पतिका मिलना अच्छा नहीं । उसी कीका जीवन सफल है, जिसका पति सदा उसके अनुकूल चलता है; वही धन-सम्पत्ति सर्वक है, जिसका साधु-पुरुष उपयोग करते हैं तथा वही बुद्धि, वही साधुता और वही समदर्शिता उत्तम है, जो मधुर एवं उदार है । पर्दि पति और पक्षी एक-दूसरेके प्रति पूर्ण अनुराग रखते हो तो उनके मनको आविष्यावियों, विपरित-समूह तथा दुर्भिक्षु लानेवाले उपर्युक्त भी कष्ट नहीं पहुँचा सकते । जिन लियोके पति प्रतिकूल स्वभाववाले हों अथवा जो लियों विद्या हो गयी हों, उनके लिये फूलोंसे भरी हुई पुष्प-शाटिकाएँ तथा नन्दनवनकी भूमियों भी मरुभूमिके समान हुँखद हो जाती हैं । संसारके सारे पदर्थ लियोंद्वारा स्वेच्छानुसार त्याग दिये जाते हैं, परंतु वे किसी भी दशामें पतिको नहीं त्याग सकतीं ।

मुनीश्वर ! अब मेरा वह पतिविषयक अनुराग वैसे ही

विशेषरूपमें परिणत हो गया है, जैसे पालेकी मारी या बलायी कमलिनीका राग क्रमशः नीरस हो जाता है । मुझे ! अब मुझे समस्त पदार्थोंके प्रति वैराग्य हो गया है, इसलिये मैं इस समय आपके उपदेशसे अपनी मुक्ति चाहती हूँ । जिन्हें मनोवाञ्छित वस्तुओंकी प्राप्ति नहीं हुई, जिनकी हुद्दि परमात्मपदमें विश्राम न पा सकी तथा जो मरणतुल्य हुःखोंके प्रबाहरमें वहे जा रहे हैं, ऐसे लोगोंके लिये जीनेकी अपेक्षा मर जाना अच्छा है । मेरे पतिदेव भी अब मोक्ष पानेके लिये ही दिन-रात चेष्टा करते रहते हैं । जैसे राजा किसी राजाकी सहायतासे दूसरे राजापर विजय पानेके लिये सचेष होता है, इसी प्रकार मेरे पति भी मनके द्वारा ही मनको जीतनेके प्रयत्नमें साधारणीके साथ को हुए हैं । ब्रह्मन् । आप मेरे उन पतिका और मेरा भी अद्वान दूर करनेके लिये न्याययुक्त वाणीद्वारा उपदेश देकर आत्मतत्त्वका ज्ञान कराये । जब मेरे पति मेरी उपेक्षा करके ही परमात्म-तत्त्वके चिन्तनमें छा गये, तब वैराग्यने मेरे लिये सासाकी स्थितिमें नीरसता पैदा कर दी ।

मैं संसारकी वासनाके आवेदनसे शून्य हूँ, इसलिये आकाशमें विचरनेकी शक्तिरूप सिद्धि प्रदान करनेवाली स्वेच्छी मुद्रानामक तीव्र एवं अभीष्ट धारणाको बाँधकर सुस्थिरचित्त हो गयी हूँ । उक्त धारणाके द्वारा आकाशमें विचरनेकी शक्ति पाकर मैंने पुनः दूसरी धारणाका अन्यास किया, जो सिद्ध पुरुषोंका सङ्ग एवं उनके साथ सम्बाषणरूप फल देनेवाली है । ( इसलिये आज यहों आकर आपके साथ वार्तालाप करनेका सौभाग्य प्राप्त कर सकती । ) तत्पश्चात् मैं अपने निवासभूत ब्रह्माण्डके

पर्वतपर भागधरित ( नीचे-ऊपरके सम्मूर्ण ) आकाशको मलीमोति देखनेवाली इच्छासे तदाकार आकाशमध्यी धारणा बौधकर स्थित हुई । वह धारणा भी मेरे लिये सिद्ध हो गयी । सिर मैं अपने उस ग्रहाण्डके अंदरकी सभी वस्तुओंको देखकर जब बाहर निकली, तब वह लोकालोक पर्वतकी स्थूल रिंच सुने दिखायी दी । मेरे पतिदेव केवल छुद्ध धेदायके एकान्तविन्दनमें ही लगे रहते हैं । उनकी सारी एषणाएँ दूर हो चुकी हैं । वे न तो किसीका आना जानते हैं न जाना—उन्हें न तो भूतकालका पता रहता है, न चर्तमान और भविष्यका ही । अहो ! उनकी कैसी अद्भुत स्थिति है ! परन्तु वे मेरे पति निहन् होते हुए भी अवश्यक परमपदको प्राप्त न कर

सके । अब वे और मैं दोनों ही परमपदको पानेवाले इच्छा रहते हैं । ब्रह्मन् । आपको हमारी यह प्रार्थना सस्त करनी चाहिये; क्योंकि महापुरुषोंके पास आये हुए कोई भी वाचक कभी विमलमतोरेय नहीं होते । दूसरोंको मान देनेवाले महर्ये ! मैं आकाशमण्डलमें सिद्ध-सम्भावोंके धीन सदा धूमती रहती हूँ; परंतु यहाँ आपके सिथा दूसरे किसी ऐसे महात्माको नहीं देखती जो अङ्गानके गहन बनको दग्ध करनेके लिये दावानलके मुख्य हो । ब्रह्मन् । करुणासागर ! संतभद्रामा अकारण ही प्रार्थनाओंकी मनोवाञ्छा पूर्ण किया करते हैं, इसलिये आपकी शारणमें आयी हुई मुझ अवलम्बन आप तिरक्कार न करें । तत्त्वज्ञानका उपदेश देकर मुझे और मेरे पतिको कृतार्थ करें । ( मर्ग ६५ )

—————  
श्रीवसिष्ठजीका विद्याधरीके साथ लोकालोकपर्वतपर पापाणशिलाके पास पहुँचना, उस शिलामें उन्हें विद्याधरीकी बतायी हुई सुषिका दर्शन न होना, विद्याधरीका इसमें उनके अभ्यासाभावको कारण बताकर अभ्यासकी महिमाका वर्णन करना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! ग्रहाण्डके पूर्ववर्णित ऊर्ध्व आकाशमें संकल्पद्वय कल्पित आसनपर बैठे हुए मैंने, उसी आकाशमें कल्पित आसनपर स्थित हुई वह नारी जब मेरे शूलनेपर उपर्युक्त बातें कह चुकी, तब मुझः उससे प्रश्न किया—‘चाले ! शिलाके घेटमें तुम-नैसे देहधारियोंकी स्थिति कैसे हो सकती है ? उसमें हिङ्गा-नुलना कैसे होता होगा ? तथा तुमने वहाँ किस लिये घर बनाया ?’

विद्याधरी बोली—मुने ! जैसे आपलोगोंका यह संसार बहुत ही विस्तृतरूपसे प्रकाशित हो रहा है, उसी प्रकार उस शिलाके ढदरमें सुषि और संसारसे युक्त हम-लोगोंका जगत् भी स्थित है । वहाँ भी यहाँकी भौति ही

देवता, वायुर, गन्धर्व, पृथ्वी, पर्वत, पाताल, समुद्र, वायु, अग्नि, आकाश, सूर्य और चन्द्रमा आदि सब वस्तुएँ हैं ।

मुने ! यदि आप मेरी बातको असम्भव समझते हों तो आहये, उस सुषिको अच्छी तरह देख लीजिये, मेरे साथ चलनेके लिये कृपा कीजिये; क्योंकि वहे लोगोंको आधर्ययुक्त वस्तुएँ देखनेके लिये बड़ा कौशल होता है । रघुनन्दन ! तब मैंने ‘बहुत अच्छा’ कहकर उसकी बात मान ली और शून्य ( आकाश )-रूप हो, शून्यरूपवारिणी उस नारीके साथ शून्य आकाशमें उसी तरह उड़ा आरम्भ किया, जैसे ओंधी या बबंदरके साथ कल्पोंमें सुगन्ध उड़ती है । तदनन्तर दूरतकन्त्र राजा तै करनेके बाद आकाशकी शून्यताको लौकिकर मैं उस नारीके साथ

आकाशवर्ती भूतसमुदायके पास जा पहुँचा । चिरकालके बाद आकंशमें प्राणियोंके संचारमार्गको पारकर मैं लेकालोक पर्वतके शिखरके ऊपर आकाशभागमें पहुँच गया, उस शिखरके पूर्वोत्तर भागमें स्थित चन्द्रतुल्य उच्चल बादलके पीछामागसे नीचे उत्तरकर वह नारी मुझे उस ऊँची शिलाके पास के गयी, जो तपाये हुए सुर्वांकी वनी जान पड़ती थी । मैंने उस चुम्ब शिलाको जब अच्छी तरह देखना आरम्भ किया, तब उसमें वह जगत् मुझे नहीं दिखायी दिया । केवल वह सुवर्गमयी शिला ही अस्तित्व ( सुमेह ) के उच्चतम तटकी भौति दृष्टिगोचर हुई । तब मैंने उस कान्तिमती नारीसे पूछा—‘तुम्हारी वह सृष्टिमूर्ति कहाँ है ? उस लोकके लद, सूर्य, अङ्ग और तारे आदि कहाँ हैं ? उस तथा भूर्णवः आदि सातों मित्र-भित्र लोक कहाँ हैं ? समुद्र, आकाश और दिशाएँ कहाँ हैं ? प्राणियोंके जन्म और नाश कहाँ हो रहे हैं ? बड़े-बड़े मेघोंकी घटाएँ कहाँ हैं ? दिरी हुई हैं ? तारोंकी तड़क-मइकसे युक्त आकाश कहाँ कहाँ दिखायी देता है ? कहाँ हैं शैलशिखरोंकी वे श्रेणियाँ ? कहाँ है महासागरोंकी पहुँचों ? कहाँ है मण्डलकर सातों दीप और कहाँ है तपाये हुए सुर्वांके सद्शा वह भूमि ? कार्य और कारणकी कल्पनाएँ कहाँ हैं ? भूतों और उनके मवनोका भ्रम कहाँ हो रहा है ? कहाँ हैं शिथाधर और गन्धर्व ? कहाँ हैं मनुष्य, देवता और दानव तथा कहाँ हैं ऋषि, रुजा और मुनि ? नीति-अनीतिकी रीतियाँ कहाँ चलती हैं ? हेमत श्रुतुकी पौँच पहरवाली रातें यहाँ कहाँ हो रही हैं ? स्वर्ग और नरकके भ्रम कहाँ हैं ? पुण्य और पापकी गणना कहाँ हो रही है ?

कल्प और कालकी क्रीडाएँ कहाँ होती हैं ? देवताओं और असुरोंमें कहाँ वैर देखे जाते हैं तथा हैप और स्नेहकी रीतियाँ कहाँ उपलब्ध होती हैं ? मेरे इस प्रकार पूछनेपर निर्मल नेत्रवाली उस छुन्दरीने आश्चर्यचकित दृष्टिसे मेरी ओर देखकर इस प्रकार कहा ।

विद्यावरी जोली—सर्वसख्तप्रकाशिते ! मैं भी अब पहलेकी भौति अपने उस समूर्ण जगत्को तो इस शिल के भीतर नहीं देख रही हूँ; परंतु मैंने जिन मनुष्य, गन्धर्व आदिका पहले वर्णन किया है, उन सबको दर्पणमें स्थित प्रतिविम्बकी भौति इस शिलमें प्रतिविम्बित देखती हूँ । इस समय जो कुछ दीखता है, वह पहले देखे गये नगरसे भिन्न-सा है । मुझे ! मुझे जो उस जगत्का कुछ-कुछ दर्शन हो रहा है, उसमें नित्यका मेरा अनुभव ही कारण है । आपको यह अनुभव नहीं है, इसीलिये आपको उसका दर्शन नहीं हो रहा है । इसके सिंश चिरकालतक हृपलोगोंमें जो यह एक अद्वैतकी चर्चा चलती रही है, उससे विशुद्ध आतिशाहिक ( सूक्ष्म मनोमय ) देहका विसरण हो गया है । इसके कारण मी आपको वह जगत् नहीं दीखता और मुझको सुट्ठूपसे उसका दर्शन होता है । मैंने चिरकालसे जिसका अत्यन्त अभ्यास किया था, मेरा वह जगत् भी आकाश-लताके समान अदृश्य हो गया है; क्योंकि मैं स्पष्टरूपसे उसे नहीं देख पा रही हूँ । जो संसार पहले मेरे लिये अत्यन्त ग्रक्षण था, उसीको इस समय मैं दर्पणमें प्रतिविम्बितकी भानि अत्पृष्ठरूपसे देख रही हूँ । नाथ ! हम दोनोंमें परस्पर दीर्घकालतक जो सम्मानण हुआ, उससे अपने अत्यन्त विशुद्ध एवं ध्यापक स्वास्थ्य

( धारणाभ्यास-अनित मनोमयदेहरूपता ) का विस्मरण हो गया । प्रगते । जो अभ्यासजनित संस्कार छुट्ट चैतन आकाशके इससे उद्बुद्ध होकर प्रकाशित होता है, उसीके आकारका आन्तरिक चित्त भी हो जाता है । बाल्यावस्थासे लेकर अबतक वही वस्तुस्थिति देखी जाती है । भगवन् । यह जो आपके साथ संशाद हुआ है, इसने अपने जगत्के निरन्तर अभ्यासके कारण पूर्व जगत्के भ्रमसे युक्त हुई मुझको निष्पत्य ही वस्तुमें कर लिया । इसीलिये वह संस्कार खुस-सा हो गया । भूत और वर्तमानकालके दो भ्रमोन्मिसे वर्तमानकालका भ्रम ही बदलान् होनेके कारण विजयी हुआ ।

मैं एक पापाण-शिलामें निवास करनेवाली अबला हूँ, बाला एवं आपकी शिथ्या हूँ; फिर भी मैं तो इस शिलके मीतर स्थित हुई सूषिको देखती हूँ और आप सर्वक्ष होकर भी नहीं देखते । देखिये, यह अभ्यासका विस्तार कैसा आव्यर्यजनक है । अभ्याससे अड़ानी भी धीरे-धीरे छानी हो जाता है, पर्वत भी चूर्ण हो जाता है और बाण अपने महान् लक्ष्यको भी बेख ढालता है । देखिये, यह अभ्यासकी प्रबलता कैसी है ? मुने ! अभ्याससे कदु पदार्थ भी ममको प्रिय लगने लगता है—अभीष वस्तु बन जाता है । अभ्याससे ही किसीको नीम अच्छा लगता है और किसीको मषु । निकट रहनेका अभ्यास होनेपर जो माई-बन्धु नहीं है, वह भी माई-बन्धु ( आरम्भीय ) बन जाता है और दूर रहनेके कारण बारबार मिलनेका अभ्यास न होनेसे माई-बन्धुओंका स्नेह भी घट जाता है । मात्रनाके अभ्याससे ही यह आतिवाहिक शरीर

भी, जो केवल विश्वाद्वचेतनाकाशरूप है, आधिमौतिक बन जाता है । यह आधिमौतिक भरीर भी धारणाके अभ्यासकी भावनासे पक्षियोंके समान आकाशमें उड़नेकी सिफ्फि प्राप्त कर लेता है । देखिये, अभ्यासकी कैसी भर्हिमा है । निरन्तर अभ्यास करनेसे दुस्साध्य पदार्थ भी सिद्ध ( छुलम ) हो जाते हैं, शत्रु भी मित्र बन जाते हैं और विष भी अमृत हो जाते हैं । जिसने इष्ट वस्तुके लिये अभ्यास होइ दिया है, वह मनुष्योंमें अधम है । वह कभी उस वस्तुको नहीं पाता । ठीक उसी तरह जैसे बन्ध्या सी अपने गर्भसे पुनर नहीं पाती । जो मराधम अपनी अभीष वस्तुके लिये अभ्यास ( बारंबार प्रयत्न ) नहीं करता, वह अनिष्ट वस्तुमें ही रत रहता है; इसलिये वह अनिष्टको ही प्राप्त होता है और एक नरकसे दूसरे नरकमें गिरता रहता है । जिससे सुसार असार बन जाता है । पर विवेकका सेशन भरनेवाले जो श्रेष्ठ पुरुष आत्म-विचार नामक अभ्यासको नहीं छोड़ते, वे निश्चय ही इस बढ़ी-चढ़ी विस्तृत माया-भट्टीको पार कर जाते हैं । इष्ट वस्तुके लिये किया गया चिरकानिक अभ्यासरूपी सूर्य प्रजागनोंके समक्ष ऐसा प्रकाश फैलाता है, जिससे वे देहरूपी भूतल्पर रहकर जन्म-मरण आदि सहजों अमर्योंको पैदा करनेवाली इन्द्रियरूपिणी रात्रिको नहीं देखते । बारंबार किये जानेवाले प्रयत्नको अभ्यास कहते हैं, उसीका नाम पुरुषार्थ है । उसके बिना यहाँ कोई गति नहीं है । अपने विवेकसे उत्पन्न दुए इष्ट अभ्यास नामक अपने कर्मको यत्त कहने हैं । उसीसे यहाँ तिदि प्राप्त होती है, और किसी उपायसे नहीं । इन्द्रियोपर विजय पानेमें समर्प धीरपुरुषके लिये अभ्यास-

रुपी सूर्यके तपते रहनेपर भूमियें, जलमें और आकाशमें भी ऐसी कोई अभिलयित वस्तु नहीं है, जो सिद्ध नहीं हो सकती। भूमण्डलमें तथा पर्वतकी समस्त निर्जन

गुफाओंमें जितने भवके कारण हैं, वे सब अन्यासशाली पुरुषके लिये अभयदायक बन जाते हैं।

( सर्ग ६६-६७ )

### श्रीविष्णुजीके द्वारा आतिवाहिक शरीरमें आधिमौतिकताके अमका निराकरण

विद्याधरीने कहा—अतः मुने ! अब हम दोनों निर्मल परमात्मामें सर्वबोधाद्वक्षुल समाविलेप धारणा-द्वारा अपने प्राचीन आतिवाहिक भावका पुनः अन्यास करें। ऐसा करनेसे ही इस शिलाके भीतरका जगत् प्रकट होगा।

श्रीविष्णुजी कहते हैं—श्रीराम ! उस पर्वतपर विद्याधरीने जब यह युक्तियुक्त बात कही, तब मैं पश्चासन छाकर बैठ गया और समाधियें स्थित हो गया। उस समय सम्पूर्ण बाह्य पदार्थोंकी भावनाका स्थाग हो जानेपर चिन्मात्रस्तर छोकर मैंने उस पूर्वके अर्थकी—आधिमौतिक देहादिकी भावना एवं उसके संस्कार-मलका भी सर्वथा स्थाग कर दिया। तत्पश्चात् चेतनाकाशस्तरताको प्राप्त हो जैसे उसमें साक्षीकार निर्मलताकी धारण कर लेता है। तदनन्तर सत्यस्तर उपरांत भावनाके सुदृढ़ ध्यानान्याससे भेरी देहमें आधिमौतिकताकी आन्ति निश्चय ही दूर हो गयी तथा तत्काल ही उदय एवं अस्तसे रहित होनेपर भी नित्य उदित रहनेवाली और अन्यन्त निर्भृत महाचेतनाकाशस्तरता प्रकट-सी हो गयी। इसके बाद जब मैं साक्षीस्तर अपने ही निर्मल तेजसे देखने

लगा, तब बास्तवमें मुझे न तो वह आकाश दीख पड़ा और न वह पात्राणशिला ही कहीं दिखायी दी। सब कुछ केवल परमतत्त्वमय ही दृष्टिगोचर हुआ। मैंने स्तरूपबोधके पहले कभी जिसकी आकृति शिलामयी देखी थी, बोधके पश्चात् उसे स्तरूप चिदूपन ब्रह्माकाशस्तर ही देखा, पृथ्वी आदि विकारोंके रूपमें उस सद्वस्तुको कहीं नहीं देखा। प्रिय श्रीराम ! यह जो वर्तमान-कालमा दृश्य-प्रपञ्च मनको प्रत्यक्ष दिखायी दे रहा है, यह आधिमौतिक देह आदिकी कल्पनाद्वारा अत्यन्त असदृप्से ही प्रकट हुआ है। अतः इसे तुम प्रत्यक्ष ही अस्त् समझो और उस योगिप्रत्यक्षको ही मुख्य प्रत्यक्ष जानो; क्योंकि उसमें सदृप्प परमात्माके यथार्थ स्तरूपका साक्षात्कार होता है। अहो ! परमेश्वरकी माया कैसी विचित्र है, जिससे प्राक्-प्रत्यक्षमें ( अर्थात् पहलेसे ही जो प्रत्यक्ष है, उस साक्षी चेतनमें ) ते परोक्षताका निश्चय हो रहा है और इस परोक्ष मन्दे प्रत्यक्षभावकी कल्पना आ गयी है। यथापि सुशर्णुसे कहा जनता है—इसका समीको अनुभव है, तर्थां यह निश्चय है कि सुवर्ण कहा नहीं है। उसी प्रका सूक्ष्मशरीरमें आधिमौतिकता नहीं है। यह जीव विचान करनेके कारण भ्रमको यथार्थ और यथार्थको भ्रासमझ रहा है। अहो ! यह कैसी मृदता है। जैसे

सीधीमें चोदी, मृगतृष्णामें जल और एक चन्द्रमामें दो चन्द्रमाकी शुद्धि मिथ्या ही है, उसी प्रकार आतिथाहिक ( सूक्ष्म ) शरीरमें आधिमीतिक्ता ( स्थूल-रूपता ) की शुद्धि भी मायासे ही हो रही है, वह वास्तविक नहीं है। जो असत् है, उसे सत्य मान लिया गया है और जो सत्य है, उसे असत् समझ लिया गया है। अहो ! जीवके अविचारसे उत्पन्न हुए इस मोहकी कैली महिमा है। जो आदि प्रत्यक्ष ( सूक्ष्मशरीर ) को छोड़कर इस वर्तमान प्रत्यक्ष ( स्थूलशरीर ) में ही सम्मुद्दि करके स्थित है। वह मानो मृगतृष्णाका जल पीकर तुसिका अनुभव करता हुआ सुखर्षक बैठ है।

विषयोंका जो सुख है, वह क्षणभूत है, इसका सक्षम बारंबार अनुभव होता है। इसलिये उस सुख-

को दुःखरूप ही कहा गया है तब जो नित्य अनादि और अनन्त आत्मसुख है, उसको यात्मनित्य सुख बताया गया है। अज्ञानीकी दृष्टिमें यह जगद् प्रान्ति ही मत्यरूपताको प्राप्त हो गयी है। परिण वीकर मतवाले हुए पुरुषको ये सुस्थिर वृक्ष और धर्म हा नाचते-से प्रतीत होते हैं। जो योगियोंके प्राण्यक्ष अनुभवमें आये हुए, सर्वत्र अग्रतिहन, अद्वैत शोधरूप, पूर्णानन्द-करस चित्त-रूपरूप प्रह्लादी सत्ता प्रत्यक्ष होनेवर भी दूसरे तुच्छ प्रत्यक्ष नेत्र आदि इन्द्रियोंसे दौखनेवाले रूप आदि विद्यको सत्य मानकर उसका आश्रय लेते हैं, वे महान् शुर्ख हैं। अपने-आपको ही धोखा देन-वाले उस घृणतुल्य अथवा पुरुषोंसे हमारा कोई प्रयोगन नहीं है।

( सर्ग ६८ )

### विद्याधरीका पाषाण-जगत् के ब्रह्माजीको ही अपना पति बताना और उन्हें समाधिसे जगाना, उनके और देवतादिके द्वारा वसिष्ठजीका स्वागत-सत्कार, वसिष्ठजीके पूछनेपर ब्रह्माजीका उन्हें अपने यथार्थ स्वरूपका परिचय देना और उस कुमारी नारीको वासनाकी देवी बताना

श्रीकरिष्णजी कहते हैं—श्रीराम ! तदनन्तर अवाध चैक्षवाली वह विद्याधरी उस शिळाके भीतर स्थित हुई सृष्टियें प्रविष्ट हुईं। फिर मैं भी उसके साथ संकल्परूप होकर वहाँ जा पहुँचा। वह उषमशील तंथा उक्षष शोभासे शुक्ल नारी उस जगत् के ब्रह्मांडमें पहुँचकर ब्रह्माजीके सामने बैठ गयी और बोली—मुनिशेष्ट ! यहीं मेरे पति हैं, जो मेरा पात्न करते हैं। इन्होंने पूर्वकालमें मेरे साथ विवाह करनेके लिये अपने मनके द्वारा मुझे उपर्यन्त किया था। ये पुरातन पुरुष हैं और मैं भी अब जराख्याको आ पहुँची हूँ। इन्होंने आजतक मेरे साथ विवाह नहीं किया; इसलिये मैं विरक्ष हो गयी हूँ। इनको भी बैराम्य हो गया है। ये उस परम पदको प्राप्त करना चाहते हैं, जहाँ न कोई श्रद्धा है, न दृश्य है और न शून्य ही है। इसलिये मुनीश्वर ! आप मुझको और इनको भी तत्त्वज्ञानका उपदेश देकर उस परकाश

परमात्मके पामें छाए दीजिये, जो वैद्यानिक प्रल्पयनक रहनेवाली सारी सुष्ठियोंके भूल कारण हैं।

मुझसे ऐसा कहकर वह उन ब्रह्माजीको जगानेके लिये इस प्रकार बोली—नाथ ! ये मुनिनाथ वसिष्ठजी आज इस धरमें पधारे हैं। ये मुनि दूसरे क्रसाण्ड-रूपी धरमें रहनेवाले ब्रह्माजीके पुत्र हैं। ग्रीष्म ! गृहस्के धरपर आये हुए अतिथिके योग्य पूजाद्वारा आप इन गृहागत गृहर्षिका पूजन कीजिये। समाधिसे उठिये और अर्च, पाद देकर इन मुनीश्वरकी पूजा कीजिये; क्योंकि आप-जैसे महात्माओंको महापुरुषोंकी पूजासे प्राप्त होनेका अमहान् फल ही रुचता है।

श्रीराम ! उस विद्याधरीके ऐसा कहनेवर ने परम बुद्धिमान् ब्रह्माजी समाधिसे जाग उठे। नीनिके डाना उन विद्यान् ब्रह्माने धीरेसे अपनी ऊँसें खोलीं। मनो शिशिर अतुकी समाधि होनेपर वस्तन्त अतुर्जे पृथीपर

उत्पन्न हुए हो मूलोंको विकसित कर दिया हो । उनके बे विभिन्न अङ्ग धीरे-धीरे अपनी-अपनी सजगता ( ज्ञानयुक्त चेष्टा ) प्रकट करने लगे, मानो वसन्त श्रान्तके नूतन पछ्य नूतन रसकी अभिव्यक्ति कर रहे हो । तदनन्तर देवताओं, सिद्धों और असराओंके समुदाय चारों ओरसे वहाँ उसी तरह आ पहुँचे, जैसे प्रातःकाल विकसित कर्मलोंसे मुश्योभित सरोवरमें झुंड-के-झुंड हंस आ गये हो । ग्राहाजीने सामने खड़े हुए मुझको और उस विष्यस-शाळिनी विषाधरीको देखा । देखकर वे प्रणवर्षक खरसहित उद्घरित होनेवाली मुन्दर वेदवाणीके समान मधुर वचन बोले—

उस दूसरे संसारके ग्राहाजीने कहा—मुने ! आपने हायपर रखे हुए जॉब्लेके समान इस असार संसारके सारतलज्जों देखे और जान किया है । आप ज्ञानरूपी अमृतकी वर्षा करनेवाले महामेध हैं । आपका सागत है । महें । इस समय आप इस अत्यन्त दूरकर्ता मार्गपर आ पहुँचे हैं । बहुत दूरका रासा तै करनेके कारण आप बहुत शक गये होगे । यह जासन है, इसपर वैष्णवे ।

उनके ऐसा कहनेपर मै बोला—‘भगवन् । मै आपको प्रणाम करता हूँ ।’ ऐसा कहता हुआ मै उनकी दृष्टिके संकेतसे दिखाये गये एक ‘मणिमय पीठपर बैठ गया । फिर तो देवता, श्रुति, गन्धर्व, मुनि और विषाधरोंद्वारा मेरी स्तुति की जाने लगी । इसके बाद पूजा, नमस्कार तथा अन्य समुचित नीतियुक्त व्यवहार सम्पादित हुए । दो घंटीमें जब सम्पूर्ण भूतगणोंद्वारा किया गया प्रणाम-समारोह शान्त हुआ, तब उन ग्राहाजीसे मैने कहा—‘भूत, वर्तमान और भविष्यके सामी ब्रह्मदेव । यह क्या बत रहा कि यह नारी मेरे पास गयी और कहने लगी कि ‘आप अपने ज्ञानोपदेशसे प्रणवर्षक हमें बोधकी प्राप्ति करायेंगे’ देव ! आप तो सम्पूर्ण भूतोंके सामी तथा समस्त ज्ञानोंमें पारंगत हैं ।

जगत्परे ! बताइये, यह काममूढ़ा की आपके विषयमें क्या कहती है । देव ! जब आपने इसे अपनी पती बनानेके लिये ही उत्पन्न किया था तब लिंग इसे उस पदपर क्यों नहीं प्रतिष्ठित किया, इसको वैराग्यकी ओर आप क्यों ले गये ?

दूसरे जगत्के ग्राहाजी बोले—मुने ! सुनिये, जैसी बात है, उसे आपके सामने थीक-ठीक क्या रहा हूँ; क्योंकि सत्यरूपोंके सामने सब बातें यथार्थ और पूर्णरूपसे कहनी चाहिये । मुने ! वह जो शान्त, अजन्मा, अजर एवं अनिर्वचनीय परमार्थ सद्वत्तु ब्रह्म है, उसीको चेतन अथवा चित्तत्व कहते हैं । चैतन्य ही उसका एकमात्र स्वरूप है । उसी परमात्माने अपने स्वरूपभूत चैतन्यसे मुझे प्रकट किया है । मै चिदाकाशरूप ही हूँ और सदा अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता हूँ, जब सुष्ठि उत्पन्न होकर यथाकृत रूपसे स्थित हो जाती है, तब मेरा व्यावहारिक नाम स्वयम्भू होता है । वास्तवमें न तो मै उत्पन्न होता हूँ और न कुछ देखता ही हूँ । मै समस्त आवरणोंसे मुक्त रहकर चेतनाकाशरूप हो चेतनाकाशमें ही स्थित हूँ । यह वो आप मेरे सामने है और मै आपके सामने हूँ तथा हमन्नोंमें जो यह परस्पर सम्भाषण हो रहा है यह वैसा ही है, जैसे समुद्रमें एक तरङ्गके आगे दूसरी तरङ्ग ही और खंयं समुद्र ही उन तरङ्गोंके धात-प्रतिधातके रूपमें शब्द कर रहा हो । इस विषयमें मेरी ऐसी ही मान्यता है । इस प्रकार समुद्रसे तरङ्गोंकी कल्पनाके समान जिसने अपनी और दूसरोंकी दृष्टिसे देखे जानेवाले मेदकी किंचित् कल्पना कर ली है तथा धार्मकाशात् अपने स्वरूपको भी किंचित् मुला देनेके कारण जिसकी आकृति कुछ मलिन-सी हो गयी है, वह मै चिदामासमात्र ही हूँ । ऐसे रूपवाले मुझ ग्राहाके अन्तःकरणमें जो ममना और अहंताकी वासना

उदित हुई है, वह उस कुमारी कीसे मिल जो आप हैं, आपको अन्य-सी प्रतीत होती है और मुझे अनन्य-सी जान पड़ती है। वह वासना हम ढोनोंकी दृष्टिसे उदित ( प्रकट ) भी है और अनुदित ( आकट ) भी। चलुतः मै अविनाशिती सत्तावाल हूँ; क्योंकि कमी मेरी उत्पत्ति नहीं हुई है। मै आत्मरूपसे अपने आपमें ही स्थित हूँ। खमावसे ही मै अव्युत, अपने आत्मामें रमण करनेवाला तथा खर्च ही सब कुछ करनेमें समर्थ हूँ। वह कुमारी

खीके रूपमें जो सामने खड़ी है, वासनाकी अविद्याकी देवी ही है। यह न तो मेरी गृहिणी है और न गृहिणी क्वानेके निमित्त मैंने इसका सज्जन ही किया है। अपनी वासनाके आवेशवश इसके मनमें यह भाव उत्पन्न हो गया कि 'मै ऋषाजीकी पत्नी हूँ।' इस भावनाको लेकर वह खर्च ही अत्यन्त हुआ उत्त्र रही है और वह भी व्यर्थ। यही सारे जगत्के भीतर वासना बनकर थीठी हुई है। ( मर्ग ६९ )

### पापाण-जगत्के ब्रह्माद्वाय वासनाकी क्षयोन्मुखता एवं आत्मदर्शनकी इच्छा बताकर शिलाकी चितिरूपता तथा जगत्की परमात्मसत्त्वसे अभिशताका प्रतिपादन करके वसिष्ठजीको अपने जगत्में जानेके लिये प्रेरित करना।

अन्य जगत्के ऋषाजी कहते हैं—मुनिश्रेष्ठ ! ( मैंने अपने संकल्पसे कल्पित दो परार्थ क्षेत्रकी आयु बिना दी ) अब चिदाकाशरूप मै निरतिशयानन्दसरूप, ब्रह्माकाशमयी परम कौचल्यरूप खितिको प्राप्त करना चाहता हूँ, इसीसे यहाँ मेरी वासनाद्वारा त्वे गये इस सप्तारमें नित्य, नैषितिक, दैनन्दिन और आत्मनिक ये चारों प्रकारके प्रलय उपस्थित हो गये हैं। मुनीश्वर ! इस महाप्रलयकालमें अब मैंने इसे त्याग देने—इस वासनाका मूलोच्छेष करके इसे अपनी सत्तासे गिर देनेके उद्देश्य का निश्चित रूपसे आरम्भ कर दिया है, इसीसे यह विसरताको प्राप्त अर्थात् विनाशोन्मुख हो गया है। जब मै चिन्ताकाशरूपताको त्यागकर आदि चेतनाकाशरूप महाक्षण होने जा रहा हूँ, तब यहाँ महाप्रलयका आना और वासनाका विनाश होना अवश्यम्भावी है। यही कारण है कि यह विग्रह होकर मेरे मार्गकी ओर दौड़ रही है। भन्न, ऐसा कौन उदारबुद्धि प्राणी है, जो अपने जन्मदत्ताका अनुसरण न करना हो ! आज यहाँ चारों शुगोका विनाश उपस्थित है, अन्तिम कल्प, अन्तिम मन्वन्तर तथा अन्तिम कल्पितुंगकी समाप्तिका समय आ गया है, इसलिये आज ही प्रजा, मनु, हनु तथा देवताओंका यह

अन्तकाल आ पहुँचा है। आज ही यह कल्पका अन्त, महाकल्पका अन्त, मेरी वासनाका अन्त और मेरे देहाकाश-वर भी अन्त होनेवाला है। ग्रहन ! इसीलिये यह वासना अब क्षीण होनेको उद्धार है, जब वसन्तसे भर हुआ सरोवर ही सुख रहा हो, तब गन्धलेख महो छहर सकती है : केवल अभिमान ही त्रिसक शरीर है, लेकिं इस वासनाको खमावन : खर्च ही आत्मदर्शनकी इच्छा होती है। आत्मसाक्षात्कारके लिये किंतु गये धारणात्मामरूप योगसे इसने अन्य ब्रह्मण्डमें जान ले ली आपके जगत्का दर्शन किया, जहाँ धर्म आदि चारों घोंकि अनुग्रहनमें लगी हुई खनन्त्र प्रजा नियम बनती है। आकाशमें विचरती हुई इस विद्यार्थीने उसी मिदिमी सामर्थ्यसे लोकान्तरके पर्वतके ऊपरीमी निय देगी, जो इसके अपने जगत्की आधारभूत है नथा इन्हीं दृष्टिमें केवल आकाशरूप ही है। जिस जगतरूपी पर्वतपर यह जगत् है और जिसमें उसकी विद्यमन्तपा है, वह नदी हृषारे जगतरूप पदार्थोंमें ऐसे-ऐसे अनेक दसरे जगत् भी हैं। यह जगतरूपी आदित जिनरी मन्त्रमें आ गयी अर्थात् जिनकी दृष्टिमें यह चेन्नामानं, मन्त्र एकरूपताको प्राप्त हो गयी, वे कर्मी भोद्दमें नहीं पढ़ते

हैं और शेष जितने लोग हैं, वे अपने ही मारी होते हैं।

मुने ! इस विद्याधरीको धैरायके कारण उत्पन्न अपने मनोरथको सिद्ध करनेकी इच्छा हुई। इसीलिये इसने अन्य बहुत-सी धारणाओंका अभ्यास करके उनके प्रभावसे आपका दर्शन प्राप्त किया। आदि-अन्तसे रहित एवं अनामय विद्यारूपा ब्रह्मकी चिन्मयी मायादक्षिणी सब और व्याप्त है। इस जगत्में कोई भी कर्त्त्व न तो कभी उत्पन्न होते हैं और न नष्ट ही होते हैं। केवल चित् द्वीप द्रव्य, झाल और क्रियाके रूपमें प्रकाशित हो तप रही है। ये जो देश, जाति, जिया, द्रव्य, मन और बुद्धि आदि हैं, सबके-सब चेतनरूपी शिलाकी मूर्तियाँ हैं। इनका न कभी उदय होता है और न अस्त ही। इस बातको आप अच्छी तरह समझ लें। यह विच्छक्ति ही शिलाका आकार धारण करके स्थित है। जैसे स्पन्दन वायुका खरूप है, उसी प्राप्त रासा जगत्-समुदाय इस विच्छक्तिका अभिम आज है। यह जो वितरूपा

शित्र है, आदि-अन्तसे रहित है। किंतु भ्रमसे सादि और सान्त बन जाती है। निश्चार होती हुई भी साकार हो जगत्-रूप अङ्गोंसे युक्त बनकर स्थित हो जाती है। जैसे महाकाशके भीतर दूसरे-दूसरे आकाश ( घटाकाश, भठाकाश आदि ) महाकाशकी सत्तासे ही विद्यमान हैं, अपना पृथक् अस्तित्व नहीं रखते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् शून्यरूप होते हुए भी शान्तसरूप सर्वव्यापी वेतनाकाशा परमात्मामें उसीकी सत्तासे सर्वत्र विद्यमान है। परंतु वे अपनी पृथक् सत्ता नहीं रखते हैं, इस दृष्टिसे उनके विषयमें 'हैं' और 'नहीं हैं'—ये दोनों बातें कहीं जा सकती हैं। मुनिवर वसिष्ठ ! अब आप यहाँसे अपने जगत्को जाइये और इस समय अपने पूर्व-कल्पित एकान्तकर्त्ता आसनपर समाधि लगाकर परम शान्तिका अनुभव कीजिये। मेरे जो कल्पित बुद्धि आदि जागतिक पदार्थ हैं, वे प्रलयको प्राप्त हो परम अव्यक्त तत्त्वमें मिल जायें; क्योंकि इस समय हम परमात्मपदको प्राप्त हो रहे हैं। ( सर्ग ७० )

### पापाण-शिलाके भीतर वसे हुए ब्रह्माण्डके महाप्रलयका वर्णन तथा ब्रह्माके संकल्पके उपरंडीसे सम्पूर्ण जगत्का संहार क्यों होता है, इसका विवेचन

श्रीविष्णुजी कहते हैं—खुनन्दन ! ऐसा कहकर वे भगवान् ब्रह्मा सम्पूर्ण ब्रह्मलोकवासियोंके साथ पशासन लगाकर बैठ गये और फिर कभी न टूटनेवाली समाधिमें स्थित हो गये। उन्हींका अनुसरण करती हुई वह वासनाकी अधिष्ठात्री देवी सती-सार्थी कुमारी विद्याधरी भी उन्हींकी भोगि ध्यानमग्न हो शान्त झो गयी। उसका कोई भी जश ( स्मृति-बीजमेद ) रोग नहीं रह गया। वह आकाशरूपिणी ( शून्यस्वरूपा ) हो गयी। ब्रह्म-जीका संकल्प धीरे-धीरे विरस होने लगा। जिस समय उनके संकल्पमें विरसता आयी, उसी श्रणसे तुरंत ही पर्वत, हीप सौर समुद्रोसहित पृथ्वीकी तुण, गुह्य, लता और धान आदिको उत्पन्न करनेकी सारी शक्ति धीरे-धीरे

नष्ट होने लगी। जैसे हमलोगोंके अङ्ग संवेदनशक्तिके क्षीण होनेपर नीरस हो जाते हैं, उसी प्रकार ब्रह्माजीकी अङ्गभूता पृथ्वीकी संवेदनशक्तिका उपरंडीहोनेसे वह नीरसताको प्राप्त हो गयी। ब्रह्माजीके हारा उपेक्षित होनेपर पृथ्वी आदि तथा अमुर आदि—ये दो तरहके महाभूत सब औरसे क्षुब्ध हो उठे। चन्द्रमा, सूर्य, चायु, इन्द्र, अश्वि और यम—ये सबके-सब महाप्रलयके कोलाहलसे व्याकुल हो गये। उनका अधिकार एवं प्रभाव ब्रह्मलोकमें मिल गया। वे अपने स्थानसे नीचे गिरने लगे। भूकम्पोंके कारण बड़े-बड़े पर्वत जोर-जोरसे झोमने और ग्लोके लगने लगे, मानो वे झूल झूलनेवाले सुखका अनुभव कर रहे हों। उनके उपरकी शूक्रश्रेणियों

फटकट शब्दके साथ दूष्ट-दूष्टकर गिरने लगी । भूकम्पके कारण कौलास, मेरु और मन्दराचलकी कन्दराएँ हिलने लगीं और कल्पवृक्षोंसे दूष्टकर लाल रंगके पुष्पमुखोंकी वर्षा होने लगी । रुचनन्दन । लोकान्तर-भर्त, नगर, समुद्र और बनपर्यन्त सारा जगत् कल्पान्तरकालकी उत्पत्ति-वायुके शोकेसे परस्पर टक्करकर हताहत होते हुए प्राणियोंके कोलाहलसे व्याप्त एवं जीर्ण-शीर्ण हो गया, मानो खदेवके बाणोंसे दग्ध हुआ त्रिपुरनगर भरे हुए समुद्रमें गिर रहा ही ।

रुचनन्दन । जब विराट-रूप स्थग्नम् भ्रान्ते अपने प्राणोंका आकर्षण एवं निरोध किया, तब बातस्तक्ष्यनामसे स्थित आकाशजन्मा वायुने अपनी मर्यादा ( प्रह, नक्षत्र आदिको धरण करनेमें जिम्मेदारी ) छोड़ दी । भ्राजीने जब प्राणवायुरूप वातस्तक्ष्य का अपने भीतर उपसंहर करना आरम्भ किया, तब पूर्वोक्त मर्यादाको त्यागकर साम्यावस्थाको पहुँचनेके लिये वायुमें क्षोम उत्पन्न हुआ और उस क्षोम-के कारण निराधर होकर आकाशमण्डलसे तारे दृष्ट-दृष्टकर वैसे ही भूमिपर गिरने लगे, जैसे कहीं आग लगानेपर यदि जोरसे हवा चलती हो तो घड़े-घड़े हुआठे उड़ने और गिरने लगते हैं । उस समय आकाशसे भूतल्पर गिरते हुए तारे वृक्षसे झड़ते हुए फूलोंके समान जान पड़ते थे । भ्राजीका संकल्परूप इंधन जब प्रलयोन्मुख हो गया, तब जैसे जलती हुई ल्पटें बुझ जाती हैं, वैसे ही सिद्धोंकी गतियों भी शान्त हो गयीं, अपनी शक्तिका नाश हो जानेपर प्रलय-वायुके वेगसे पतली रुईके समान आकाशमें उड़ते और भटकते हुए सिद्धसमुदय भूक होकर नीचे गिरने लगे । भूकम्पसे चक्षुल हुए देखगिरि सुमेहोंके शिख, इन्द्रादि देवताओंके नगरों तथा कल्पवृक्षोंके समृद्धोसहित धड़ाधड़ धराशायी होने लगे ।

रुचनन्दन ! पहले न तो कोई असद् वस्तु थी और

न सद् ही; किंतु सभी विकारोंसे रहित एकत्र चिन्मय परमाकाश ही था; जो अकेश ही समूर्ग द्विषांओंमें व्याप्त था । उसी परमाकाशने अपने स्वरूपसा परिस्थित करके निर्विकर रहते हुए ही अपनी आकाशजन्मा अपनेसे भिन्न वस्तुके रूपमें बदलना की । उसे अपनेसे पृष्ठक् घैत्यके रूपमें जाना, चिन्द्रप् होनेसे वह चेन्न कहा गया है । जैसे व्योग संकल्प-नगरको शून्यरूप होते हुए भी सकार देखते हैं, वैसे ही अजन्म परमात्मा शून्यरूप आकाशको ही देहरूप देखने लगा । आकाशमें आकाशको ही अपना शरीर मानने लगा । श्रीराम ! इस प्रकार विचार करनेसे सिद्ध होता है कि ये जो ब्रह्म हैं, वे ही यह वर्तमान जगत् बनकर स्थित हैं । विराट् ब्रह्मका जो देह है, वही यह जगत् है । संकल्पाकाशरूप भ्राजीको जो भ्राम हुआ है, वही इस जगत्-के रूपमें भासित हो रहा है और उसीको भ्रामण यहा गया है । संकल्पसे ही जिसकी कल्पना हुई है, वह यह सारा जगत् आकाशरूप ही है । बास्तवमें न तो जगत् है और न कहीं तत्त्व-मत्ता ( 'तुम' और 'मैं' के भ्राम ) ही हैं । चिन्मात्र परमज्ञ परमात्मा स्थूल ही अद्वैत आत्माकाशमें जगत् आदिरूप प्रकाशसे प्रकाशित हो आलादः या अनुभवका विश्य हो रहा है । जैसे यायु अपनी गनिशीलताके कारण अनुभवमें आती रहती है । यह जगत् अद्वैतको छोड़ देनेपर कुछ है, ऐसा जान पड़ता है और द्वैतको त्याग देनेपर कुछ भी नहीं है, ऐसा प्रतीन होना है । बास्तवमें जगत् द्वैत और अद्वैत—दोनोंसे रहिन, शून्य, निर्मल और निरामय चेतनाकाशरूप ही समझे । राघवेन्द्र ! अनादि, निरपुनुभवरूप जो एकमात्र सान्नीवेतन है, वही दृश्य बनकर स्थित है । उसमें भिन्न दूसरी कोई दृश्य नामक वस्तु नहीं है । सत्यनुभव-रूप परमात्मामें जो अनेक प्रकारके अद्वान प्रतीन पाते हैं, वे ही विचित्र भ्रम पैदा करके सुविस्तृत दृश्य जगत्-महान् दृश्य उपस्थित करते हैं । ( सर्ग ७१-७२ )

ब्रह्मा और जगत्की एकताका स्थापन तथा द्वादश सूर्योंके उदयसे जगत्के प्रलयका रोमाञ्चकारी वर्णन श्रीयसिष्ठी कहते हैं—राघवेन्द्र ! ये विराटरूपधारी विधाता ममषि मनस्त्वं ह्योनेके कारण स्थं ही मन है, अतः इनके लिये दूसरे मनकी आवश्यकता नहीं है। यही नहीं, ये विराट् पुरुष स्थं ही इन्द्रियों हैं। अतः इन्हें दूसरी इन्द्रियोंके उपयोगकी आवश्यकता नहीं होती। इन्होने ही तो अन्य सब शरीरोंमें इन्द्रियोंकी सृष्टि की है। इन्द्रियसमुदाय इनकी कल्पनामात्र ही है। इन्द्रिय और वित्तमें अवयवावयवी-भाव् सम्बन्ध है। इन्द्रियों अवयव है और चित्त अवयवी—इन दोनोंका शरीर एक है, अन् इनमें थोड़ा-सा भी भेद नहीं है। पूर्णतः एकता है। संसारके जो क्रोड़ भी कार्य हैं, वे सबके-सब उस विराट् पुरुषके ही हैं। क्योंकि ग्रहाके संकल्प ही विभिन्न व्यष्टि वृत्तिसे अपनेमें भेदभाव आरोप करके जगद्-व्यवहारके रूपमें चल रहे हैं। उसीकी सत्तासे अनन्ताकार जगत्की सत्ता है और उसके संकल्पके उपसंहारसे ही जगत्का संहार है। वायु और उसकी चेष्टामें जैसी एकता है, वैसी ही एकता या एकसत्ता ब्रह्मा और जगत्की भी है। जगत्, ब्रह्मा और विराट्—ये तीनों पर्यायवाची शब्द हैं। जगत् और ब्रह्मा शुद्ध चेतनाकाररूप परमात्माके संकल्पमात्र ही हैं।

खुन्नदन ! मेरे सामने ब्रह्मलोक था। ब्रह्माजी अथवामन हो गये थे। मैंने बीरे-धीरे सम्पूर्ण दिशाओंमें दृष्टि ढाली। उस समय अपने सम्मुख देखा, मध्याह वालमें तपते हुए सूर्यके अतिरिक्त पश्चिम दिशामें भी एक दूसरा सूर्य प्रकट हुआ, जो स्पष्ट दिखायी देता था वह पश्चिम दिशाके मध्यभागमें दाह-सा उत्पन्न कर रहा था, मानो किसी पर्वतके ऊपर थहाँकी धनस्तरीमें दावानल प्रज्ञाति हो उठा हो। आवाशमें अग्निलोक प्रकट हो गया हो अथवा भ्रह्मसागरमें बढ़वानि उद्दीप हो उठी हो। फिर तो क्रमशः नैऋत्यकोण, दक्षिण दिशा, अग्निकोण, पूर्वदिशा, ईशान कोण,

उत्तर दिशा, वायव्यकोण तथा पश्चिम दिशामें भी एक-एक सूर्य प्रकाशित हो उठा। उन सबको देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैं विधाताकी प्रतिकूलतापर विचार करने लगा। इतनेमें ही भूतलसे भी शीघ्र ही एक सूर्य प्रकट हुआ, मानो समुद्रसे बद्वानल ऊपरको उठ गया हो। फिर दिशाओंके मध्यवर्ती आकाशमें ग्यारहवाँ सूर्य उद्दित हुआ। दिशाओंके मध्यवर्ती सूर्यको ग्यारहवाँ कहा गया है, इससे सिद्ध होता है कि उसके ऊपर भी बारहवाँ सूर्य प्रकट हो चुका था। इस प्रकार एक भूतलपर, एक मध्य आकाशमें और एक उससे भी ऊपर—तीन सूर्य एकके ऊपर एकके क्रमसे दिखायी देते थे। इस तरह कुछ मिलकर बारह सूर्य प्रकट हुए थे। इनमें ग्यारहवाँ सूर्य भावान् रूपका ही शरीर था और उसके भीतर तीन सूर्योंके रूपमें मानो तीन नेत्र प्रकट हो गये थे। वह अकेला ही बारह सूर्योंके बराबर देवीष्मान था। वह बारह सूर्योंका समुदाय-सा जान पड़ता था, जो सम्पूर्ण दिशाओंमें प्रचण्ड दाह उत्पन्न कर रहा था। जैसे दावानल सूर्ये कनको जला देना है, वैसे ही वह समस्त जगत्को दग्ध करने लगा। इन सूर्योंके उदय होनेसे समस्त भ्रह्माण्डमण्डलको सुखा देनेवाला श्रीष्ठ ऋतुका भीषण दिन प्रकट हो गया था। कहीं भी उल्मुको ( लुआओ ) के समूह नहीं दिखायी देते थे। लिना अग्निके ही अग्निशाह हो रहा था ( अर्थात् सूर्यकी प्रचण्ड किरणोंसे ही सब कुछ स्वाहा हो रहा था, लौकिक अग्नि नहीं दिखायी देनी थी )। कफलनयन श्रीराम ! लिना अग्निके ही होनेवाले उस अग्निशाहसे मेरे सारे अङ्ग दावानलसे कुम्भे हुएकी भौंनि व्यथिन हो उठे। तब मैं उस प्रदेशको छोड़कर बहुत दूर चला आया।

१. पश्चिम दिशामें सूर्यके प्रकट होनेका बो पहले बर्णन आ गया है, उसका शब्द अनुवादमात्र है। तात्पर्य यह कि अवतार आठों दिशाओं तथा मध्याह्नकालिक सूर्यको लेकर नौ सूर्य अग्निलोके दृष्टिपथमें आ गये थे।

राघवेन्द्र ! कहोसे मैंने दसो दिशाओंमें उदित हो तपते हुए बाह्य नृयोंके समुदायको देखा, जिसके प्रचण्ड तंजसे सातों विशाल महासागर काढ़ेकी भौति खौल रहे थे और उनसे फृहन् खल-खल शब्द प्रकट हो रहा था । समस्त लोकों और नगरोंके मीठरी भाग प्रचण्ड ज्वालाओं तथा अंगारोंसे भर गये थे । आगकी व्यष्टे अल रंगके गढ़े कपड़ोंके समूहकी भौति दिखायी देती थी, जिन्होंने सारे पर्वतोंको सिन्धूरी-रंगका बना दिया था । लोकपालोंके जलते हुए बड़े-बड़े घरोंमें आश्रम्यास दिशारूपी वज्र सुरित निशुल्की भौति दीसिमान् दिखायी देते थे । नगरोंके समूह कटकट और चटचट शब्दके कोणाहलसे परिष्ठूर हो रहे थे । भूतन्त्रसे शिलाके समान बनीभूत दण्डाकार धूम प्रकट करके वे बाह्य सूर्य समस्त भुवनोंके निशसमग्रपको मानो सहजों कौचक्रे खम्भोंसे सुशोभित कर रहे थे । प्राणियोंके निवास भूत नगरोंके धराशायी होने और फटनेसे भयानक चटचट शब्द हो रहे थे । तारे हृष्ट-हृष्टकर गिर रहे थे । सभी खानोंमें अपने-अपने घरोंके भीनर तापसे जन्मते हुए जन-समुदाय इधर-उधर भाग रहे थे । चीखने-चिलानेके साथ मरे-पचे प्राणियोंके दग्ध शरीरोंसे सम्पूर्ण दिशाओंमें दुर्बन्ध फैल रही थी । समुद्रकी नपी हृष्ट जलाशयमें रोधे जाते हुए जलचरोंके समुदाय छपटा रहे थे । सम्पूर्ण दिशाओंमें फैली हृष्ट आगसे गोंधों और नगरोंका सब कुछ क्षाहा हो गया था । वहाँ कोई रोनेवाला भी नहीं रह गया था । दिग्गजोंके शरीर दग्ध होकर फट गये थे । वे अपने डौनोंसे निगन्त पर्वनोंको उठाये हुए ही जल गये थे । पर्वनोंकी गुफाओंमें भरे हुए धूममण्डल उन सूर्योंके कुण्डलेसे जान पढ़ने थे । वराशायी होते हुए पर्वतोंसे पिसकर किनने ही नगरोंके समुदाय चूर्चूर हो गये थे । गिरिराजोपर निवास करनेवाले गजगजोंको वे सूर्यमण्डल पच-पचकी आशाजके साथ पकड़ रहे थे । सनापसे तत होकर उछलते हुए प्राणियोंको देखकर ऐसा जान पड़ता था, मानो उनके निवास भूत

समुद्रों और पर्वतोंको भी बर आ गया हो । उन सूर्योंके तापसे हृष्ट फट जानेके कारण नि सार हुर निदायर और उनकी अह्नारे नीचे गिर रही थीं । हुट और जोर-जोरसे रोने-चिलानेके कारण यक गये थे जौर कुछ योगी लोग ब्रह्मरम्भके फौड़कर ऊर्ध्वासितो प्राप्त हो अमर पद ( मोक्ष ) में प्रनिष्ठित हो चुके थे । स्वर्गाश्रेष्ठमें जलनी हृष्ट ज्वालाओंद्वाग भूतलसे लेकर पातालकक्ष भाग खत्त तय रहा था । सखते हुए समुद्रमे निरन्तर पढ़ने हुए भयकर जलचर उछलते और हृष्टपटाते दिखायी देते थे । जलरूपी इन्वन न मिलनेसे मानो बड़वानल उछलकर आकाशमें चला गया था और वहो सहजों ख्य प्रारंग करके मानो गणनाकूनाओंके पकड़कर नृत्य कर रहा था । महाग्रलयकालकाल प्रचण्ड अनल ज्वालरूपी पलशा-पुष्टके समान लाल रंगवाले बदलसे सुशोभित हो नदराजनी भौति नाष्टव नृत्य-सा करनेके लिये उद्धन हुआ था । उन्मुक्त ही मानो उसके लिये पुण्यहार थे । वेगसे फटने हुए बौस आदिके फट-फट शब्द मानो उसके पैरेवती धमक थे । वह उद्धट भट्टी भौति शीरोचित अन्द करता हुआ कालरूपी भुजाओंको ऊपर उठाये, धूमरूपी केला छिटकाये, जगदरूपी जीर्ण कुटीमें नृत्य कर रहा था । उस समय वनोंके समूह, ग्राम, नगर, मण्डल, द्वीप, दुर्ग, जंगल, स्थल, पृथ्वीके समस्त छिद्र, उसके ऊपरका महान् आकाश, दसों दिशाएँ, द्वादशेक तथा उसके ऊपरका भाग-ये सबकै-सब जल रहे थे । गह्ने, हृष्ट, बाजार, हाट, अद्विक्षा और नगरसमूहमे सुशोभित दिशाओंमें तद्रान्त, पर्वनोंके शिखर, यिदोके मनूह, पर्वन, नगर, सरोवर, नालाब, तलैया, नदी, देवना, अमुर, मनुष, सर्प नथा पुरुष-समूह सूदेवके नेत्रोंमी सन्सनानी हृष्ट ज्वालओंसे दर्थ हो रहे थे ।

अनेक सूर्योंके उदय और अस आदिगे दिन-धन्दन भी व्यथित हो उठा था । आपात खन्दगानी कमलसे सुशोभित भगेवके भग्न दिम्बयी देना था ।

धूममालाएँ भ्रमरावल्लियोंका भ्रम उत्पन्न करती थीं। उस महाप्रलयकालमें छाती पीट-पीटकर रोती हुई जगल्लकमीके हृदयस्थल्यर रखे हुए हाथकी कल्परूपीं यह दरब द्वारा हुई पृथ्वी सोनेके कांगन-सी जान पड़ती थीं। समुद्र कायके समान दिखायी देते थे, फैल-चाहिके चिकाससे पुष्ट हो रहे थे तथा सूर्यके प्रतिक्रियरूपी तिल्बसे अलंकृत अपने मुख्यर तरफरूपी हाथोंसे आधात करते हुए मानो ( सिर पीट-पीटकर ) रो रहे थे। सुवर्ण-द्वय, निकटवर्ती पर्वत, हन्द, कल्पवृक्ष, देवागर तथा गुहाएँहोंसे युक्त मुन्दर आकाशबाला सुग्रेर पर्वत उस समय उसी तरह पिछल गया, जैसे कभी धूप होनेपर कर्फ गल जाता है। बाहर-भीतरसे शीतल एवं कुद्र

हिमवान् पर्वत उस प्रचण्ड प्रलयानिसे लाखके समान क्षणभरमें पिछल गया। श्रीराम ! उस अवस्थामें भी मल्य-पर्वत अपने निर्मल सौरभको नहीं छोड़ सका था; क्योंकि उदारतेता महापुरुष बिनाशके समय भी अपने उत्तम गुणका परिस्थाग नहीं करते हैं। महान् पुरुष स्वयं नष्ट होता हुआ भी दूसरोंको आङ्गाद ही प्रदान करता है। किसीको भी हुःख नहीं देता है। ठीक वैसे ही, जैसे चन्दन दरब होनेपर भी जीववारियोंको आनन्द ही देता है। \* उत्तम वस्तु कभी अवस्तुता ( असत्ता या निष्कृष्ट अकस्या ) को नहीं प्राप्त होती, जैसे सोना प्रलयानिसे दग्ध हो जानेपर भी सर्वथा नष्ट नहीं होता है। ( सर्ग ७३—७५ )

### प्रलयकालके मेघोद्वारा भयानक वृष्टि होनेसे एकार्णवकी बृद्धि तथा प्रलयानिका दृश्य जाना

श्रीवसिठजी कहते हैं—रुनन्दन ! जब भूषणदल और पर्वत-समूहका विसार अंगर-राशिसे भर गया, सर्वत्र आल्यमालाओंका समूह छा गया और द्वादश सूर्योंका तेज सुस्पष्टरूपसे प्रकाशित होने लगा; जब ब्रह्मरूपी प्रस्तररहित सरोवरमें ज्यालरूपी दलोंसे सुशोभित एवं चिनगारीरूप केसरो एवं उल्मुकोंसे युक्त प्रलयानिरूपी कल्पनिके वायुप्रधान सर्प एवं पर्वतरूप मूळ प्रातालतक महान् अङ्गररूपी कीचड़में मान हो गये, तब आकाशको सचरणके योग्य देख मरुकर्म मानी दोनेवाले उँटेंकी सेनाके समान कल्पान्तकालिक संर्वतक नामवाले भेदोंके समूह जो काजलकी भोक्ति करते थे, गर्जन-तर्जन करते हुए निकट आ गये। जिर तो वहाँ प्रबल प्रचण्ड धार वृष्टि होने लगी। आकाशमें वप्रकी कठोर गडगडाहट सुनायी देने लगी, मानो सारा क्रहणद फूटा और फटा जा रहा हो। जैसे दावानलके प्रज्वलित होनेपर सारे घनमें भीपण ल्पते छा जाती हैं, उसी प्रकार आकाशरूपी घनमें विद्युतका प्रकाश छा जानेके कारण वह

वर्षा वडी मरावनी जान पड़ती थी। पृथ्वी घटचट शब्दके साथ टूटने लगी, उसकी अङ्गरराशियों फूट-फूटकर बुझने लगी। भेदोंकी गर्जनाओंके साथ ही बढ़ती हुई धोर वृष्टिसे छेक-छोकान्तर धराशायी होने लगे। अंगरयुक्त जगतरूपी गेहमें विलस करनेवाली वह वृष्टि वरतीकी ज्वालारहित वाष्प-शोभासे सत्कृत हुई। उस शोभाने प्रकट होकर मानो सखीकी भौति उसकी अगवानी की।

तदनन्तर जब पृथ्वी, जल, तेज और वायु—इन चारों महाभूतोंमें परम विक्षेप उत्पन्न हो गया, तब उस महाप्रलयकी देखभावमें तीनों लेक ऐसे जान पड़ते थे, मानो तमालके बन उड़ रहे हों। सारी त्रिलोकी भस्ममेघ, धूम-मेघ, महाकल्पान्तकारी मेघ, वाष्परूपीं मेघ तथा ऊपर छाये हुए जलकणरूपी मेघ—इन पौँच प्रकारके भेदोंसे आङ्गादित हो रही थी। आकाशमें लगातार खम्भोंके समान मोटी मूसलधार वृष्टि हो रही थी, कल्पान्तकालकी

\* तस्यामपि दशाया हु मल्योऽमल्यौरमः । आसीत्यन्त्युदारास्या न नाशेऽप्युत्तमं गुणम् ॥

नश्चनपि महान् हाद न सेदं सम्प्रवच्छति । चन्दन दण्डमध्यात्मानन्दायैष जीवताम् ॥

आगको सुझा देनेवाली उस अन्धाखुंब वर्पसि ढम-ढमकी धनी और आवाज हो रही थी । उस समय सारे समुद्र नदियोंके समूहोंद्वारा, जिनमें गङ्गा एक छोटी तरफ़-सी जान पड़ती थी, भरे जा रहे थे । आकाशवर्ती भयानक मेघोंकी ही भाँति वे सरिताएँ भी अपनी जलराशिसे समुद्रोंके परिपूर्ण कर रही थीं । पर्वतोंका आवारपीठ भूतल जीर्ण-शीर्ण होकर खण्ड-खण्ड हो जुका था, इसलिये उन पर्वतोंके तटान्त गळ गये थे । इबर उन्हें प्रलय-कालकी बायु उड़ा रही थी । इस अवस्थामें उन छुटकते हुए पर्वतोंके गिरनेसे संसारके सारे समुद्र उनके हारा सक्रीर्ण-से हो रहे थे । समुद्रकी तरफ़ोंद्वारा ऊपर फेंके गये प्रस्तरखण्डोंसे बादलोंको छिन-मिन कर देनेवाली प्रलयवायु समुद्रकी गर्जनाके समान भीषण एवं गम्भीर धोप करती हुई त्रिलोकीकी सारी दिशाओंके तटान्तको नष्ट-भ्रष्ट किये देती थी । प्रच-ड बायुके टकरानेसे पर्वत-समूहोंकी गुफाओंमें जो भौय-मौयकी आवाज उठ रही थी, उससे सारा संसार ध्यास हो गया था । छोकरालोंके नगर थोके खा-चकर चक्र करते हुए

सब और शिर रहे थे । बड़े-बड़े पर्वतोंके विस्तृत भाग नष्ट हो गये थे ।

उस समय धूम और भस्मके बाढ़ल प्रकट होने लगे, पानीकी बाढ़से जनपद और नगरोंके भूमूळ ध्यादायी होने लगे । ऊँची-ऊँची तरफ़ उठने लगी और भूत-ड तथा पर्वत हुए लगे । मैवरोंमें पदकर धर्यं-ल्लनि दरने-बाले और आपसमें टकराकर एक धूमरेको विदीर्घ जर देनेके लिये उधत ऊँचे-ऊँचे पर्वत संमुख्यमें द्विरे पर्वतोंके समान चक्र काट रहे थे । धूमते हुए भूकर्णों धूमकेतुओंके उत्पात उठ रहे थे । इससे इस जगत्की ओर देखना अस्यन्त कठिन हो गया था । सातवें पातालतकम्भा सारा संसार अपने स्थानसे ध्युत हुए द्वीपों और सागरोंसहित भूमण्डलके बड़े-बड़े गङ्गों और लुकाते हुए अन्य पाताल-मण्डलोंसे पूर्ण-ना जान पड़ता था । नीचे सातवें पातालतक, मध्यमें भूमण्डल एवं पर्वतोंतक और ऊपर आकाश-मण्डलक एकार्णव कवना हुआ सारा बगत् प्रलय-ध्यासे परिषूर्ण हो गहा था ।

( सर्ग ७६-७७ )

### बढ़ते हुए एकार्णवका तथा परिवारसहित ब्रह्माके निर्वाणका वर्णन

श्रीवासिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! जब बायु, वर्षा, द्विम और दूसरे-दूसरे उत्पातोंके आगमनसे भूमण्डल नष्ट-भ्रष्ट हो गया, तब समुद्रके जलका वेग इस तरह बढ़ने लगा जैसे कलियुगमें राजाना देग । वह एकार्णव आकाश-भग्नाके प्रवाहमें पड़ी हुई मेघधाराओंके गिरनेसे वेगपूर्वक बढ़ने लगा । तत्काल प्रकट हो मेह और मन्दराचलके समान प्रक्षरणित होनेवाली सहस्रों सरिताओंने भी उसे बढ़ानेमें योग दिया । इस प्रक्षरण जलसे भरे होनेके कारण वह एकार्णव उत्थाताके अभिमानसे युक्त हो गया । उसने बड़े-बड़े पर्वतोंको सुखे तिनकोंके समान पकड़कर अपनी विस्तृत मैवरोंमें ढाल दिया । वे बहीं चक्र चक्र काटने लगे । उस एकार्णवने ऊँची ऊँची उठती हुई उत्ताल तरफ़ोंके अभ्यासे सूर्यमण्डलको भी निगल लिया । प्रचण्ड बायुके द्वाग उन्मन्त किये गये अपूर्व जल-प्रवाहरूपी कुछ पर्वतोंमें युक्त हुआ वह महार्णव महान् धुर्युर और भयानक धर्यं-ल्लनि नाम अपने विशाल वेगको बढ़ाता जा रहा था । नगरण-गरणोंके बरंबार एक-दूसरेसे टकरानेके कहरण उसरी उम्रमा बढ़ती जा रही थी और वह लपर-नीचे जलों योद्धनेनम फैले हुए उद्धतम पदार्थोंको भी आत्माद झला जा रहा था । पंखयुक्त पर्वतोंके समान उठी हुई अम्बर तन्त-समूहरूपी मुखाओंद्वारा वह मण्डगर पुष्ट और दृश्यं-ग नामक बल्पान्तकरी मेघोंना भानो आग्नेय जर ग ॥ ८ ॥ त्रिलोकीको अपना ग्रास बनाकर दृश्यं नृन ही परं खरमें गीत-सा ग रहा था और उमरन्तर पी व्याप्त-से

अर्लकून अपनी तरङ्गभ्यी मुजाओंको उठाकर तृत्यसा कहता जान पड़ा था । रुद्रनन्दन ! उस समय न तो आकाश था, न दिग्नन्त था, न नीचेका लोक था, न ऊपर-का लोक था, न कोई भूतर्का था और न कहीं सृष्टि ही थी । सर्वत्र बेश्वर बल-ही-बल दृष्टिगोचर होता था ।

रुद्रनन्दन ! जब तपोलोकपर्यन्त सारा जगत् प्रथम-कालके एकार्णवमें निमग्न हो गया, तब सत्यश्वेतके निकट आकाशमें स्थित होकर मैंने महान् प्रकाशसे युक्त ब्रह्मलोक-पर उसी प्रकार दृष्टि ढायी, जैसे सूर्य प्रातःकाल संसार-पर अपनी प्रगति विसरेते हैं । दृष्टि ढालते ही समाधिमें अविच्छिन्नभावसे स्थित हुए परमेष्ठा ब्रह्म अपने मुख्य-मुख्य परिवारके साथ दिखायी दिये, वे ऐसे जान पड़ते थे मानो पत्यरकी बनी हुई प्रतिमा हो । वहाँ देवताओं तथा दुर्द अन्तःकरणवाले मुनियोंका समुदाय भी दैश था । शुक, घृहसप्ति, इन्द्र, कुबेर, यम, सोम, वश्वा, अग्नि तथा अन्य देवतियों भी वहाँ देखनेमें आये । देव, गन्धर्व, सिद्ध और साध्योंके नायक भी वहाँ उपस्थित थे । वे सबके सब पश्चासन लगाये इस तरह ध्यानमन होकर बैठे थे, मानो चित्रमें अङ्कित किये गये हों । वे निष्ठाणके समान वहाँ चेष्टाशून्य होकर बैठे थे । तदनन्तर पूर्वोक्त बाहु दूर्य भी उसी स्थानपर आये और उन्हीं लोगोंकी भौति पश्चासन लगाकर ध्यानमें मान हो गये । इसके बाद दो ही घड़ीमें मैंने अपने सामने बैठे हुए ब्रह्माजीको इस अवस्थामें देखा । वे ब्रह्मका चरम साक्षात्कार प्राप्त करके अविद्याकल्पित सारे प्रपञ्चका बाष हो आनेसे निदारहित ( प्रबोधको प्राप्त ) हो गये थे । जैसे जाग दुआ पुरुष स्वर्णमें देखे गये पश्चार्थसमृद्धको वापित और केवल अपनेको ही अवशिष्ट देखता है, वैसे ही वे आत्मावशिष्ट दिखायी दिये । फिर, ब्रह्मलोकमें ब्रह्माजीके परिवारके बित्तने लोग थे, उन सबको मैंने वहाँ वैसे ही तिरोहित पाया, जैसे तत्त्वज्ञानी महापुरुषोंकी वासना तत्त्वज्ञानसे वापित होकर

अदृश्य हो जाती है । जैसे स्वर्णसे जगा हुआ पुरुष अपने सामनेके स्वर्णगत नगरको नहीं देखता है, वैसे ही मैंने वहाँ किंतीको भी नहीं देखा । उस समय वह ब्रह्मश्वेत तथा उमका ब्रह्माण्ड, जो ब्रह्माजीके सकल्पसे ही बना था, निर्जन बन-सा सूना हो गया । जैसे भूतज्ञपर अक्सरात् कोई भयकर दुर्विद्वना होनेसे कोई नगर सर्वथा नष्ट हो गया हो, वही दृश्य उस ब्रह्माण्डकी हुई थी । तदनन्तर आकाशमें स्थित हुए मैंने ध्यान लगाकर यह जाना कि सभी लोग ब्रह्माजीके समान ही नाम-रूपका परिस्थिति करके निर्वाण-पदको प्राप्त हो गये हैं । वासनाका लक्ष्य हो जानेपर वे सब-के-सब अपने विशुद्ध प्रशस्तरूपमें स्थित हो जानेके कारण अदृश्य हो गये थे । जैसे जगे हुए पुरुषोंके स्वर्णलोक उनके स्वर्णरूपमें ही लीन हो जानेसे दृष्टिगोचर नहीं होते हैं । जैसे स्वर्णमें अपना शरीर आकाशमें उड़ता दिखायी देता है, किंतु जगनेपर वह वासना ज्ञान्त हो जानेके कारण कुछ भी नहीं दीखता है, इसी प्रकार जाग्रत्-कालमें भी वासना रहनेपर ही शरीर दिखायी देता है । तत्त्वज्ञानके द्वारा वासनाका सर्वथा क्षय हो जानेपर कुछ भी नहीं दिखायी देता । वासनाका क्षय होनेसे दृष्टि, दृश्य और दर्शनरूपी रोग शान्त हो जाता है, वासनाकी सत्ता रहनेपर ही यह सुष्टिनामक पिशाची प्रकार होती है ।

रुद्रनन्दन ! सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्माको सृष्टि रचनेकी इच्छा उत्पन्न होती है । तदनन्तर पूर्वकालकी जगत् वासनाओं-का जगद्वप्नमें उद्भव होता है । इसलिये वासनाकी शान्तिको निर्वाण समझना चाहिये और वासनाकी सत्ताको ही संसाररूपी अम जानना चाहिये । चित्तकी हृतिको जगाकर बहिर्मुख कर देनेसे बन्धन होता है और उसे परमात्मामें लीन कर देनेपर निर्वाण प्राप्त होता है । चित्तद्वित्तिका जागरण ही संसाररूपी शिशुको प्रकट करनेवाला गर्भाशय है । उससे उत्पन्न हुआ यह जगत् असत् होकर भी सबके समान भासित होता है । चित्तके संकल्पका जाग्रत्

होता ही बन्धन बताया गया है और उसे मुख्यकर—आत्मामें  
लीन करके अपने चैतन्य-स्वरूपका अनुभव करना ही मोक्ष  
कहा गया है। खुनन्दन! बन्ध, मोक्ष आदिकी सारी शङ्काएँ  
छोड़कर निर्णयरूप, वासनाशून्य, अनन्त, अनादि,

विशुद्ध, केवल बोधस्वरूप, द्वैताद्वैतसे रहित, परि-  
पूर्ण ब्रह्मस्वरूप हुए आकाशके समान विशद अन्तः-  
करणसे युक्त, बन्धनसुक्त तथा शान्तमाशसे स्थित रहना  
चाहिये। ( सर्ग ७८-७९ )

**ब्रह्मलोकवासियों तथा द्वादश सूर्योक्त निर्वाण, अहंकाराभिमानी रुद्रदेवका आविर्भाव, उनके  
अवयवों तथा आगुधका विवेचन, उनके द्वारा एकार्णवके जलका पान तथा शून्य**

**ब्रह्माण्डकी चैतन्याकाशरूपताका प्रतिपादन**

वीजसिद्धजी कहते हैं—खुनन्दन। इस तरह ब्रह्म-  
लोकके वे सभी निवासी जैसे वर्ती जल जानेसे दीपक  
बुझ जाते हैं, वैसे ही वासनाका नाश होनेसे अदृश्य  
हो गये। ब्रह्मजीके ब्रह्मलीन हो जानेपर पूर्णोक्त बाहु  
सूर्य अपनी प्रभासे प्रकाशित हो पृथ्वी आदि जगत्की  
भौति उस ब्रह्मलोकको भी जलाने लगे। ब्रह्मजीके  
लोकको दध्य करके उन्होंकी भौति व्यापरण्य हो  
वे भी तैलरहित दीपककी भौति शान्त हो गये—  
निर्णय पद्मको प्राप्त हो गये। तदनन्तर जैसे रातमें  
अन्धकार भूनष्ठलोंसे व्याप्त कर लेना है, वैसे ही उत्ताल  
तरङ्गेसे युक्त उस एकार्णवकी बाढ़ने विधाताके उस  
लोकको भी जलसे आप्लाशित कर दिया। इस प्रकार जब  
ब्रह्मलोकयर्थन्त वह सारा ब्रह्माण्ड एकार्णवके जलसे परिषुर्ण  
हो गया, तब वे कल्पान्तकारी मेघ छिन्नभिन्न हो उस  
जलराशिमें ही निलीन हो गये।

इसी वीचमें मैंने वहाँ एक भयकर रूप देखा, जो  
आकाशके मध्यमागसे प्रकट हुआ था। उसे देखकर  
मैं कुछ ढर गया। उसकी आकृति कल्पान्तकालिक  
जगत्के समान कान्धी थी। उसने सरे अक्षशको  
व्याप्त कर रखा था और देखनेमें ऐसा जान पड़ता था,  
मानो कल्पभरकी सारी गतोकर एकत्र संचित हुआ  
अन्धकार ही देह धारण करके खड़ा हो गया हो। वह  
प्राप्तकान्धके एक लाल सूर्योक्त प्रकाशमान नेत्र अकेन्द्र

ही धारण करता था। उसके तीन नेत्र थे, जो तीन  
सूर्योंके समान दिखायी देते थे और मुखिर विद्युत-  
समूहके समान भयंकर जान पड़ते थे। उन नेत्रोंकी  
प्रभासे उसका मुखमण्डल अत्यन्त देवीप्रमाण दिखायी  
देता था। वह पुरुष अपने अङ्गोंसे ज्वालापुक्त निखेर  
रहा था। उसके पाँच मुख, दस मुजाएँ और प्रत्येक  
मुखमें तीन-तीन नेत्र थे। उसने अपने हाथमें एक  
विशूल ले रखा था। उस अनन्त आकाशमें उसका  
वह विशाल शरीर व्याप्त हो रहा था। वह पुरुष आगेपी  
ओर बढ़ा आ रहा था। आकाशके समान विशाल और  
मैथके समान श्याम शरीरको धारण करके वह खड़ा था।  
एकार्णवमें इसे हुए हुए ब्रह्माण्डसे बाहर आकाशमें उसकी  
स्थिति थी। वह ऐसा प्रतीत होता था मानो आकाश  
षाष्ठ्य-पैर आदि शरीरको धारण करके दृष्टिमें आ रहा  
हो। अपनी नासिकासे निकली हुई सौंसके आने-जानेसे  
वह उस एकार्णवको कम्पित किये दे रहा था। वह अपने  
ब्राह्मदण्डसे क्षीरसागरको विशुद्ध कर देनेवाले भगवान्  
विष्णुके समान जान पड़ता था। ऐसा लगता था, मानो  
उस कल्पान्तकालीन महासागरकी जलराशि ही पुरुषरूप  
धारण करके खड़ी हो गयी हो अथवा जिसका कोई  
कारण नहीं, वह सक्षम करणभूत अद्वितीय ही मूर्तिगन्  
होकर आ गया हो या कुल्यर्पतोका समूह ही अपने  
पंखसमूहोद्धार उड़नेकी श्रील करता हुआ समस्त

आकाशको परिष्ण करके ऊपरको उठ गया हो । उसके हाथमें त्रिशूल था और उसके तीन नेत्र थे । इन लक्षणोंसे मैंने पहचान लिया कि ये भगवान् रुद्ध हैं । तब मैंने दूसे ही उन परमेश्वरको नमस्कार किया ।

श्रीरामजीने पूछा—मुझे । रुद्रदेवने वैसा भयंकर रूप क्यों धारण किया था ? वे काले और विशालकाय क्यों हुए थे ? उनके पाँच मुख कौन-कौन और कैसे हैं ? वे कैसे और कौन-सी दस भुजाएँ धारण करके वहाँ उभस्थित हुए ? उनके तीन नेत्र कौन-कौन-से थे ? उनका शरीर ऐसा भयंकर क्यों था ? वे अकेले क्यों थे ? वहाँ प्रकट होनेमें उनका प्रयोगन क्या था ? वे जिससे ग्रंथित होकर आये थे ? उन्होने वहाँ क्या किया था ? और उनकी छाया कौन थी ? ये सब बातें मुझे बताइये ।

श्रीवासिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! वे परमेश्वर वहाँ अहंकारके अभिमानीरूपसे रुदनामधारी होकर प्रकट हुए थे । उस समय उनकी जो मूर्ति दिखायी दी थी, वह निर्मल आकाशरूपी ही थी । वे महातेजसी भगवान् रुद्र आकाश-रूपधारी होनेके कारण आकाशके समान ही श्यामरूपसे मुक्त दिखायी देते थे । चेतनाकाशमात्र ही उनका सारभूत स्वरूप है, इसलिये वे आकाशमात्र कहे गये हैं । सम्पूर्ण मूर्तोंके आत्मा और सर्वव्यापी होनेके कारण ही वे विशालकाय बताये गये हैं । उन अहंकाररूपी रुद्रकी प्रत्येक शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाली जो पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, उन्हींको ज्ञानी पुरुष उन रुद्रदेवके पाँच मुख क्षाते हैं । इसीलिये ज्ञानेन्द्रियाँ सब ओरसे प्रकाशस्वरूप कही गयी हैं । पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, पाणि, पाद, पायु, उत्तरस्य ) तथा उनके पाँच विषय ( वोक्ता, प्रदृशन करना, विचरना, मछल्याग करना और विषयसुखकी उपलक्ष्य करना )—ये दस क्रमशः उनकी दाहिनी-नायीं भुजाएँ हैं । उस प्रलयकालमें सम्पूर्ण मूर्तोंसे परिवर्त

होकर आकाशमात्र रूपधारी वे रुद्रदेव एक क्षणतक वहाँ सबको विशुद्ध करते हुए-से स्थित रहते हैं । फिर कारणभूत अहंकार-शरीरसे रहित हो परमशान्त हो जाते हैं । सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण; भूत, भविष्य और वर्तमान—ये तीन काल; चित्त, अहंकार और बुद्धि—ये त्रिविध अन्तःकरण; अ, ठ और म—ये प्रणवके तीन अक्षर तथा शब्द, साम और यजुष्—ये तीन वेद ही उन भगवान् रुद्रदेवके नेत्ररूपसे स्थित हैं । उन्होंने अपनी मुहीमें त्रिलोकीरूप त्रिशूलग्रे धारण कर रखा है । उस समय समलूप भूतगणोंमें भी उनके सिवा दूसरा कोई स्थित नहीं था । इसलिये वे वहाँ अहंकारात्मक रुद्रके रूपमें देवमिमानी-से होकर खड़े थे ।

श्रीराम ! तदनन्तर मैंने देखा, वे परमेश्वर वहाँ उद्यमार्घीक शास-वायुके वेगसे उस महासागरको पी जानेके कार्यमें प्रवृत्त हुए । उनके फैले हुए मुखका भीतरी मांग ज्वालामालाओंसे व्याप्त दिखायी देता था । उनकी शास-वायुसे आकृष्ट हुआ महासागर उनके भीतर उसी तरह समा गया, मानो वह बड़वानलमें बिलीन हो गया हो । अहंकारस्वरूप भगवान् रुद्र ही कल्पर्पन्त बड़वानल होकर समुद्रमें निवास करते हैं और उसका जल पीते रहते हैं । किंतु प्रलयकालमें वे सारे समुद्रको ही पी जाते हैं । जैसे जल पातालमें, सौप बिलमें और पाँचों प्राणवायु प्राणियोंके मुखाकाशमें प्रविष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार वह सारा समुद्र वेगपूर्वक रुद्रदेवके मुखके भीतर एक ही क्षणमें समा गया । उन श्यामरूपधारी रुद्रने घोड़ी ही देरमें उस जलमें इस तरह पी लिया, जैसे सूर्यदेव अन्वकारको और सत्युग्रोका सङ्ग दोष-समूहको पी जाता—नष्ट कर देता है । तत्पश्चात् ऋग्लोकासे लेकर पातालकां सारा स्थान धूलि, धूम, वायु, समुद्र तथा भूतगणोंसे रहित होकर शून्य, सम एवं शान्त आकाशमात्र रह गया । रुदनन्दन ! उस समय वहाँ आकाशके समान निर्मल तथा चेष्टारहित केवल ये

चार पदार्थ ही दिखायी देते थे—एक तो वे नील गगनबी-सी आकृतिवाले भगवान् रुद्र ही दिखायी देते थे, जो आकाशके मध्यभागमें बिना किसी आधारके स्थित थे। दूसरा ब्रह्माण्ड-सदनका निचला भाग था, जो सातों पातालोंसे भी नीचे बहुत दूर दृष्टिगोचर होता था। वह पृथ्वी और आकाशके तल्भाग-सा जान पड़ता था। तीसरा पदार्थ था, ब्रह्माण्डमण्डलके ऊपरका भाग, जहाँ अत्यन्त दूर होनेके कारण दृष्टि नहीं पहुँचती थी; अतएव वह दुर्लक्ष्य आकाशके समान नील जान पड़ता था। ब्रह्माण्डके बे ऊर्ध्व और अधोभाग अत्यन्त दूर होनेके कारण एक दूसरेसे विच्छ थे। उन दोनोंके बीचमें जो अनादि, अनन्त और विस्तृत द्रुतके समान निर्मल आकाश था, उसीको उस समय मैंने चौथे पदार्थके रूपमें देखा था। इन चारोंके सिवा दूसरी कोई वस्तु यहाँ मेरे देखनेमें नहीं आयी।

पार्थिव पदार्थोंका वह भाग, जो ब्रह्माण्ड-क्षमाल कहलाता है, क्षमलदलके समान स्थित है। जल आदि वस्तुएँ आधाररूपसे आश्रय लेनेके लिये उसीकी ओर

दौड़ती हैं, जैसे जन्मे अपनी माँकी ओर दौड़े जाते हैं। जैसे याससे प्राणी जलकी ओर मारे जाते हैं, उसी प्रकार वे जलादि पदार्थ ब्रह्माण्ड नामक महाशरीरके निकटतम भागकी ओर दौड़ते हैं। जैसे शरीरसे छुड़े हुए हाथ-पैर आदि अवश्य अपनी अपन्त द्वा दुर्योगकी स्थितिको नहीं छोड़ते हैं, वैसे ही तैजस आदि पदार्थ भी शरीरसे ब्रह्माण्ड-शरीरका ही आश्रय ले अपनी स्थितिको नहीं छोड़ते हैं।

इस ब्रह्माण्डको यथापि बिंदीने धारण नहीं किया है तथापि वह परमात्माकी अविनित्य धारणात्मिक शक्तिसे अच्छी तरह धारित ही है। उसीके कारण यह पतनों-नुख होनेपर भी गिरता नहीं है। यह सारा जगत् आकाशरहित होनेपर भी खमनगरणके समान साकार दिखायी देता है। जैसे चैतन्य शक्तिका प्रकाश होता है, वैसा ही यह जगत् भी स्थित है। जैसे आकाशमें स्थानता और शून्यता है, जैसे वायुमें गतिशीलता है, उसी तरह चैतन्याकाश परमात्मामें यह जगत् स्थित है।

( सर्ग ८९ )

### रुद्रकी छायारूपिणी कालरात्रिके स्वरूप तथा ताण्डव-नृत्यका वर्णन

श्रीशिंहजी कहते हैं—स्वनुन्दन। तदनन्तर उस समय उस महाकाशमें मैंने देखा, भगवान् रुद्र मत्त-से द्वैतकर अवश्य ताण्डवमें प्रवृत्त हो रहे हैं। उनकी आकृति बहुत दूरतक फैली दुई थी। उनका शरीर आकाशके समान ही व्यापक दिखायी देता था। उनका आकार बहुत बड़ा था। उन्हें देखकर ऐसा लगता था, मानो एकर्णविका जल ही तल्लाल देख धारण करके खड़ हो गया हो। इसके बाद मुझे दिखायी दिया कि उनके शरीरसे छाया-सी निकल रही है, जो ताण्डव-नृत्यमें उनका अनुकरण एवं अनुसरण करनेवाली है। उस समय मेरे मनमें यह प्रक्ष उद्य कि द्वादश सूर्योंके विद्यमान न रहनेपर जब आकाशमें महान् अन्धकार छा

रहा है, तब यह छाया कैसे स्थित हुई है? मैं इस प्रकार विचार कर ही रहा था कि वह तल्लाल नृत्य करती हुई दीनामूर्ख उनके आगे जाकर खड़ी हो गयी। उसका शरीर भी बहुत विस्तृत या तथा वह भी अपने तीन नेत्रोंसे सुशोभित हो रही थी। उसका रग घोर कला था। वह बहुत ही दुर्बृत थी। उसके अङ्गोंमें नस-नाडियोंके जल मुस्पष्ट दिखायी देते थे। वह जरासे जर्बर हो रही थी। आकृति विशाल थी, मुखपर आगशी ज्वालाएँ व्याप थीं। उनके चक्रोंपर पत्र-मुण्ड आदि मुकुट बनकर उसके मस्तककी शोभा बढ़ाते थे। वह कोयलेके समान काली थी मानो काली रात्रि ही उसका रूप धारण करके आ गयी हो, अन्धकारलक्ष्मी ही भूतिमत्ती

हो गयी हो । वह बहुत लड़ी थी । उसका मुँह विकराल दिखायी देता था । वह इस तरह खड़ी थी मानो आकर्षको नापनेके लिये उपयोग हो । अपने बड़े-बड़े घुटनों और भुजाओंके भ्रमणसे वह समस्त दिशायोंमें मानो नाप लेना चाहती थी । वह ऐसी दुर्बल थी मानो बहुत कालतक उसे उपशास करना पड़ा हो । उसके विशाल शरीरमें सर्वत्र गड़े-ही-गड़े दीख रहे थे । वह काजलकी-सी काली और मेघगालकी भौंति शोभा के गसे बद्धल जान पड़ती थी । जब वह बहुत बड़ी और दुर्बल होनेके कारण खड़ी होनेमें भी असमर्थ हो गयी, तब विश्वाताने मानो उसे नस-नादियोंकी लंबी रस्सियोंसे बाँध दिया ( जिससे वह अच्छी तरह खड़ी रह सके ) । नस-नादियों और अंतिमियोंकी रस्सियोंद्वारा उसके सिर और हाथ-पैर आदि सभी अङ्क इस तरह बँधे हुए दिखायी देते थे, मानो घूसे लेकर शाखाओंके अग्रभगतक सूतोंसे बँधी हुई कॉटेदार बृक्षकी शाढ़ी हो । अनेक वर्णोंके सूर्यादि देवताओं तथा दानवोंके मल्तकरुपी कमलोंके सम्महोकी माला उसके कण्ठमें शोभा दे रही थी । हनसे प्रज्ञालिततया निर्भूत प्रभासे पूर्ण अग्निकी ऊआ ही उसके लिये आँचल थी । उसके लंबे-लंबे कानोंमें नाग छूल रहे थे । उसने दो मनुष्योंकी लाशोंको हुण्डलके रूपमें आण कर रखा था । जैसे सूखी लौकीकी छसामें दो बड़े-बड़े फल लटक रहे हों, उसी प्रकार उसकी छातीमें कुछ-कुछ हिलते हुए काले रंगके दो सान दिखायी देते थे, जो बहुत बड़े होनेके कारण जाँघ-तक छटक रहे थे । उसके शरीरको देवकर मैने यह अनुमान कर लिया कि यह वही काल्यानि है, जिसके विशयमें साधु पुरुषोंने यह निर्णय किया है कि 'ये भगवती काली है ।' उसके तीन नेत्र आगकी ज्वालासे परिपूर्ण थे । ललाट्यान इन्द्रनील मणिके समान चमक रहा था । उसकी दोनों लोकियों गहरी होनेके कारण भयंकर जान पड़ती थी । बात-स्कृत्य ( प्रवह आदि

शब्द )-रूपी तागोमें पिरोथी हुई तारावलियाँ उसके कण्ठदेशमें मुकुलाहरका काम दे रही थीं । वह वर्षा करनेवाले कल्पानन-काळके मेघोंकी भौंति शोभा पानेवाली भ्रमणशील मुजाओंद्वारा सम्पूर्ण दिल्लमण्डलको व्याप्त करके छढ़ी थीं । वे मुजाएँ अपने नखोंकी कानित विरोध रही थीं । हिमालय और सुमेरु पर्वत उसके दोनों कानोंमें चौंदी और सोनेकी बालियाँ बनकर शोभा बढ़ा रहे थे । अक्षाण्डरुपी धूँधुरुओंसे बनी हुई विशाल माला उसके कटिमारमें करधनीका काम दे रही थी । शिष्ठ, बन और नगररुपी पुष्पमुच्छोंसे सुक्त तथा पुराने नगर, बन, द्वीप और ग्रामरुपी क्रोमल पलुओंसे अलंकृत सातों कुल्लर्पत उस भगवती कालीके गलेकी पुष्पमालाएँ बने हुए थे ।

श्रीराम ! उस देवीके अङ्गोंमें मैने पुर, नगर, शहर, तीनों थोक, मास तथा दिन-रातरुपी फलोंकी मालाएँ देखी थीं । उसके शरीरमें व्यक्त रूपसे स्थित नगर, ग्राम और पर्वत आदि मानो पुनर्जन्म पानेके आनन्दसे उल्लसित हो उसके साप-साथ नाच रहे थे । कभी-कभी वह नहीं नाचती थी तो भी पर्वत, बन और बाननोंसहित नाना आकर्षवाला सारा जगत्, जो मरकर फिर छौटा था, नाचता ही रहता था । वह काल्यानि जब चतुराईके साथ चूथ करने लगती थी, तब चन्द्रमा, सूर्य, दिन और रात उसके नदाप्रभागकी रेखाओंके भीतर विद्यमान प्रभामें मिलकर धूमते हुए सुवर्ण-सूत्रके समान दीर्घकार प्रतीन होते थे । जब भगवती काल्यानिका नाण्डन-चूल्य होने लगता था, तब इन्द्र आदि देवना और असुर अपनी-अपनी अविकार-प्रवृत्तिसे और-ही-और बनकर बायुसे उड़ाये गये मण्डरोंके समान अङ्गता अस्थिर विगुतके समान आते-जाते दिखायी देते थे । भगवतीके शरीरमें जो सर्ग दिखायी देता था, उसमें सृष्टि-प्रलय, मुख-दुःख, भग-अभग,

इच्छा-अनिच्छा, विधि-निपेध, जन्म-मरण एवं भ्रम आदि विशुद्ध शरीरवाली है। वह देवी (सूप) कुदाल, विभिन्न प्रेक्षकोंके भाव कभी सदा एक साथ और कभी ओखली, चटाई, फ़ल, घट, पिटारी, मूसल, डोल या पृथक्-पृथक् रूपसे सुशोभित होते थे। सम्भूर्ण बालटी, अटलेई और दुम्भे—इत्यादि वस्तुओंको भी अत्याओंसे युक्त देवी काल्पनिक चैतन्य-शक्तिरूप फ़लके सम्मान मानकर उनकी माला धारण करके दूसरे जगन्मयी, अनन्त एवं विशाल आकाशकोशके सदृश करती थी। (सर्ग ८१)

### रुद्र और काली आदिके रूपमें चिन्मय परमात्म-सच्चाकी ही स्फुर्तिका प्रतिपादन तथा सच्चिदानन्दवनका विलास ही रुद्रवेदका वृत्त्य है—इसका कथन

श्रीगमचन्द्रजीने पूछा—भगवन् ! जब प्रलय-कालमें सब कुछ नष्ट हो गया, तब वह देवी काल्पनिक अपने किस शरीरसे नाच रही थी ? सूप, फ़ल और घट आदिसे (जो उस समय नष्ट हो चुके थे) उसका माला धारण करना क्या है ? यदि ये सब वस्तुएँ थीं ही तो फिर त्रिलोकीकृत नाश क्या हुआ ? और यदि त्रिलोकी नष्ट हो गयी थी तो कालीके शरीरमें इन सब वस्तुओंकी स्थिति क्यों और कैसे सम्भव हुई ? निर्वाणको प्राप्त हुआ जगत् फिर आकर नाशने कैसे लगा ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! वास्तवमें न वह पुरुष था, न वह खीं थी, न वह नृत्य हुआ न वे दोनों रुद्र और काली वैसे विशेषणोंसे युक्त ही थे। उनके आचार-व्यवहार भी वैसे नहीं थे और उनकी वे आकृतियाँ भी नहीं थीं। जो वद्वरणोंका भी परम कारण है,—वह अनादि, चिन्मय आकाशवत्तरूप, अनन्त, शान्त, प्रकाशरूप, अकिनाशी, सर्वव्यापी, सच्चिदानन्दवन, चित्रस्वरूप साक्षात् ब्रह्म ही भैरव (रुद्र) के आकारमें दिखायी देता था। जगत्का नाश हो जानेपर उस रुद्रवेदके रूपमें स्थित हुआ वह चेननाकाशवत्तरूप परमात्मा ही था। चेनन होनेके कारण वह परमात्मा अपने चैतन्यस्वभाव वैभवको छोड़कर नहीं रह सकता। जैसे सुवर्ण ऋटक-कुण्डल आदिके रूपमें अवस्थित होता ही है, वह उन आकृतियोंका सर्वथा

लाग करके नहीं रहता, उसी प्रकार परमात्मा भी लीलाके लिये उस, महेश्वर आदि सगुणरूप धारण करता ही है। वह अपने लीला-स्वभावको सर्वथा छोड़ नहीं सकता। बुद्धिमान् रुद्रनन्दन ! तुम्हीं क्वालो, सुवर्ण कटक-कुण्डल आदि आकृतियोंको क्यों नहीं धारण करेगा ? क्योंकि वह उसका स्वभाव है। इसी प्रकार ग्राम भी सकल्पद्वारा एकसे अनेक रूपमें प्रकट होता है, वह उसका श्रुतिप्रसिद्ध स्वभाव है। कोई भी पदार्थ अपने स्वभावके लिए कैसे रह सकता है ?

रुद्रनन्दन ! जन्म, मरण, माया, मोह, मन्दता, अवस्था, वस्तुता, विवेक, वन्ध, मोक्ष, शुभ, अशुभ, विद्या, अविद्या, निराकारता, मातृता, क्षणकाल, शीर्षकाल, सत्, असत्, सदसद्वाप, मूर्खना, पाण्डित्य, देश, काल, क्रिया, द्रव्य, कल्पना, केलि, कल्पना, रूप आदि विषयोंका वाया इन्द्रियोदारा ग्रहण, उन्हीं विश्योंका मनके द्वारा चित्तन, शानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, तेज, जल, वायु, आकाश तथा पृथिवी आदिके त्वरणमें जो यह दृश्य-प्रपञ्च फैला हुआ है, यह सब शुद्ध, निरामय चेतनाकाशरूप परमात्मा ही है। यह अपनी शुद्ध चिदाकाशरूपताका परिणय न करना हुआ ही सर्व-स्वरूप होकर स्थित है। मैंने जिस चिन्मय परमात्मकर बर्णन किया है, वह परमात्मा ही यहाँ शिव कहा गया है। यह मनासन पुरुष है। यही विष्णुरूपसे स्थित होना है

और यही पिनामह ब्रह्मा है। यही कन्द्रमा, सूर्य, इन्द्र, वृषभ, यम, कुद्रे, अग्नि, वायु, भेष और महासागर है। यही भूत, भवित्व और वर्तमान काल है। जो वस्तु है और जो नहीं है, वह सब परमाकाशरूप परमात्मा ही है।

श्रीराम! मैंने जिस चिन्मय परमाकाशरूप परमात्माका वर्णन किया है, वही श्रुतियोंमें शिव कहा गया है और वही प्रलयकालमें रुद्र होकर नृत्य करता है। विद्वानों और पुण्यात्माओंमें श्रेष्ठ खुनन्दन। उस रुद्रदेवती जो आकृति बतायी गयी है, वह वास्तवमें उसकी आकृति नहीं है। उस समय सचिदानन्दधनरूप आकाश ही उस आकाशमें स्फुरित होता है। तत्त्वदृष्टिसे मैंने वह आकृति उस समय शान्त चेतनाकाशरूप ही देखी। मैंने ही

उसे यथावतरूपसे जाना। दूसरा कोई पुरुष जो तत्त्वदृष्टिसे रहित है उसे उस रूपमें नहीं देखता है। जैसे सुर्कर्ण ही विभिन्न आकृतियोंसे सुशोभित होनेवाले कटक-कुम्हल आदि अलङ्कारोंके रूपमें स्थित होता है, वैसे ही सत्त्वरूप चेतन ब्रह्म ही अपने स्वभावसे सदरूप धारण करके विराजमान होता है। जो चिद्रूपन परमात्माका स्पन्द है, वही भगवान् शिवका स्पन्द ( सुरण ) है। वही हम लोगोंके सामने वासनावश नृत्यरूपके रूपमें प्रकाशित होता है। अतः प्रलयकालमें वे भगवान् शिव भयंकर आकृतिवाले सद्र होकर जो वेगपूर्वक नृत्य करते हैं, उसे सचिदानन्दधन परमात्माका अपना सहज विलास ही समझना चाहिये।

( सर्ग ८२-८३ )

### शिव और शक्तिके यथार्थ स्वरूपका विवेक

श्रीरामजीने पूछा—मुने ! अब यह बताइये कि जो काली नृत्य करती है, उसका क्या स्वरूप है ? तथा वह जिन सूप, फाल, कुदाल और भूसुल आदि वस्तुओंकी माला धारण करती है, उनका स्वरूप क्या है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! वे जो भैख या रुद्र बताये गये हैं, उन्हींको चेतनाकाश-स्वरूप शिव कहते हैं। उनकी जो कलोमयी स्पन्दशक्ति है, उसे कली समझो। वह शिवसे भिन्न नहीं है। जैसे वायु और उसकी गति-शक्ति एक हैं, जैसे अग्नि और उसकी उष्णता या दाहक-शक्ति एक ही हैं, वैसे ही सचिदानन्दधन शिव और उनकी स्पन्दशक्ति ( क्रियशक्ति )-रूपा मया दोनों सदा एक ही हैं। जैसे गतिशक्तिसे वायु और उष्णताशक्तिसे अग्नि ही लक्षित होते हैं, उसी प्रकार अपनी स्पन्दशक्तिके द्वारा निर्मल चिदानन्दधन शान्तस्वरूप शिवका ही प्रतिपादन होता है। स्पन्दन या मायाशक्तिके द्वारा ही शिव लक्षित होते हैं, अन्यथा नहीं। शिवको ब्रह्म ही समझना चाहिये, उस शान्त-

स्वरूप शिवका वर्णन बड़े-बड़े बाणीक्षितारद विद्वान् भी नहीं कर सकते। मायामयी जो स्पन्दनशक्ति है, वही ब्रह्मस्वरूप शिवकी इच्छा कही जाती है। वह इच्छा इस दृश्यामास-स्वरूप जगत्का उसी तरह विस्तार करती है, जैसे साकार-पुरुषकी इच्छा काल्पनिक नगरका निर्माण करती है। इस प्रकार शिवकी इच्छा ही कार्य करती है। निराकार ब्रह्म-शिवकी वह मायामयी स्पन्दनशक्तिरूपा इच्छा ही इस सम्पूर्ण दृश्यजगत्का निर्माण किया करती है। वही अपने अन्तर्गत चिदामासके द्वारा उदीत होकर जीव-चैतन्य अथवा चितिशक्ति कही गयी है। वही जीनेकी इच्छा-वाले प्राणियोंका जीवन है। वह स्वयं ही जगत्के रूपमें परिणत होनेके कारण समस्त सुष्ठिकी प्रकृति ( उपादान ) है। दृश्यामासमें अनुभूत होनेवाले उत्पाद्य, आप्य, संस्कार्य और विकार्यरूपी चार प्रकारके फलोंका सम्पादन करनेके कारण वही किया भी कहलाती है। ब्रह्माण्डस्वरूप धारण करनेवाली वह शक्ति या कली प्रलयकालमें जब समुद्र आदिके जलसे भीगी होती है, तब ब्रह्मवासिनिकी शिखाके समान तपनेवाले ग्रीष्मऋतुके

प्रचण्ड सूर्य आदिकी ज्योतियोंसे मुखायी जाती है; इसलिये उसे 'शुक्का' भी कहते हैं। दुष्टोपर स्मभावतः अत्यन्त क्रोध करनेके कारण वह 'चण्डिका' कही गयी है। उसकी अङ्गकान्ति उत्पल—नील कमलके समान है; इसलिये उसका नाम 'उत्पला' भी है। एकमात्र जयमें प्रतिष्ठित होनेके कारण उसे 'जया' कहा गया है। सिद्धियोंका आश्रय होनेसे वह 'सिद्धा' कही गयी है। चौंकि जया है, इसीलिये 'जयती' भी है। विजयका आश्रामभूत होनेसे उसे 'विजया' कहा गया है। अत्यन्त पराक्रमके कारण वह 'अपराजिता' नामसे प्रसिद्ध है। उसका निप्रह करना किसीके लिये भी दुष्कर कार्य है, अतः उसका नाम 'दुर्गा' है। औंकारकी सारमूता शक्ति होनेसे वह 'उमा' कही गयी है। अपने मन्त्रका गान या जप करनेवालोंके लिये त्राणकारक तथा परमपुरुषार्थरूप होनेके कारण उस देवीका नाम 'गायत्री' है। जगत्के प्रसवकी भूमि होनेसे उस जगज्जननीका नाम 'सादिती' है। सर्ग और अपवर्गके साधनमूत कर्म उपासना एव ज्ञानमयी दृष्टियोंका प्रसार करनेके कारण उस देवीको 'सरखती' कहा गया है। पार्वतीरूपमें उस देवीके अङ्ग और शरीर अत्यन्त गौर हैं, इसलिये वह 'गौरी' कहलाती है। वह महादेवजीके आवे शरीरमें संयुक्त है ( अतएव भगवान् शिवको 'अर्धनारीश्वर' कहते हैं )। सुप्त और जाग्रत् जितने भी त्रिमुखनके प्राणी हैं, उनके हृदयमें नित्य-निरन्तर अकारादि मात्राओंसे रहित शब्दब्रह्म ( प्रणव ) के नादका उच्चारण होता रहता है। वह नाद अर्थमात्राखरूप होनेसे 'इन्दुकला' कहलाता है। वह इन्दुकला ही 'उमा' है। शिव और शिवा ( रुद्र और काली ) दोनों ही आकाशरूप हैं। अतः उनका शरीर काला देता है ( इसीलिये उन्हें काल-मैरु और काली कहते हैं )।

स्पन्दन (सुरण ) मात्र ही जिसका एक खरूप है, वह भगवती काली 'कियाशक्ति' है। वही 'दान दे',

'स्नान करे' और 'अग्निमें आहुति दे' इत्यादि विधि-वाक्योद्धारा विहित दान, स्नान और यज्ञ आदि श्रेष्ठ शरीर धारण करती है। वास्तवमें वह अनादि, अनन्त चित्तिशक्ति है और अपनी इच्छासे ही अपनेमें सम्पूर्ण वैदिक क्रियाखलपसे प्रकाशित होती है। वह आकाश-रूपिणी है। वही स्पन्दन ( सुरण ) रूप धर्मवाली क्षमितामती दृश्य लक्ष्मीके रूपमें प्रकट होती है। उस काली देवीके जो नाना प्रकारके अभिनय और नृथ हैं, वे ही जपाजीकी सृष्टिमें ये जन्म, जरा और मरणकी रीतियों हैं। वह नील कलालिनीके समान कानितवाली होनेके कारण 'भालाली' कहलाती है। वही 'कियाशक्ति' एवं 'ब्रह्माण्डकालिका' कही गयी है। वह अपने ही अवयवभूत हस दृश्य लक्ष्मीको हृदयमें धारण करती है।

खुनन्दन जैसे शून्यता आकाशका अङ्ग है, गतिशीलता वायुका अङ्ग है, चौदानीमें खिलनेवाले कुमुद आदि पुष्प चौदानीके अङ्ग हैं, उसी तरह क्रिया एवं दृश्य-जगत् चित्तिशक्तिके अङ्ग हैं। वास्तवमें उसका स्वरूप शिव, शान्त, आयासरहित, अविनाशी एवं निर्मल समझना चाहिये। उसमें योद्धी-सी भी निश्चलता या चेष्टाशीलता नहीं है। इसलिये चित्तिशक्तिके खजानेमें मौजूद सारी सुष्ठिप्रभाराएँ आत्माकी सूखताके कारण ही स्वयं प्रतीत होती हैं। वह भी उसीको, जो उनकी भावना करता है। दूसरेके लिये वे सब-की-सब असत्य ही है। भूत, मविष्टत् और कर्त्तव्यनके जितने भी संकरूप तथा खमके नगरसमूह है, वे सब सत्य ही हैं, अन्यथा वह पराया सर्वरूप है, यह कथन कैसे ठीक हो सकता है? अन्य देशोंमें स्थित जो पर्वत, ग्राम आदि हैं, वे वहों जानेसे दूसरेको भी उपलब्ध होते हैं, उसी तरह कोई योगसिद्ध पुरुष यदि परकार्यावेश-सिद्धिके द्वारा सम्प्रदायके हृदयमें जाकर उसका मनरूप होकर देखे तो वह उसके स्वप्नगत पदार्थोंके उपलब्ध कर सकता है। जैसे गाढ़ निद्रामें

सोये हुए पुरुषको उठाकर एक स्थानसे दूसरे स्थानपर रख दिया जाय तो भी उसके शरीरके छुड़के होनेपर भी उसका स्थानात् नगर नहीं छुड़कता है; वैसे ही चूत्य करती हुई कालरात्रिके शरीरके चालित होनेपर

भी उसके भीतर सोया हुआ जगत् न तो चालित होता और न लोटता है। जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्ब होता है, उसी तरह कालीके शरीरमें जगत्की स्थिति है। ( सर्ग ८४ )

### प्रकृतिरूपा कालरात्रिके परमतत्त्व शिवमें लीन होनेका वर्णन

श्रीचित्प्रज्ञी कहते हैं—ध्युनन्दन। जो तत्त्व नहीं है, उसकी दृष्टिमें वह चित्तशक्ति ही क्रिया-रूप है। वह अनामय ( निर्विकार ) है तथापि स्थावरसे ही चूत्य करती है। उस क्रियारूपा चित्तशक्तिके कुदाल और पिटारी आदि आभूषण हैं। जैसे वायुकी गति या चेष्टा वायुसे भिन्न नहीं है, वैसे ही शिवसरूप परमात्माकी इच्छा-स्वरूपा वह कालरात्रि उससे भिन्न नहीं है। जैसे वायुके भीतरकी चेष्टा वायुरूप ही है; अतएव उसे चेष्टा नहीं भी कह सकते हैं, वैसे ही शिवकी इच्छा शिवके स्वरूपसे भिन्न नहीं है, अतएव शिवरूप ही है। इसीलिये वह अनिच्छा ही है। इस दृष्टिसे शिवमें इच्छाका अभाव है।

वह कालरात्रि जब उस महाकाशमें चूत्य कर रही थी, उस समय उसने प्रेमावेशवश स्थय अपने आवरणकारी धूशको हटाकर निकटवर्ती शिवका वैसे ही स्पर्श कर लिया, जैसे समुद्रनलङ्की रेखा अपने नाशके लिये ही बढ़वानलक्ष्मा स्पर्श कर लेती है। परम कारणरूप शिवका स्पर्श होते ही वह कालरात्रि धीरे-धीरे क्षीण होकर अव्यक्त भावको प्राप्त होने लगी। पहले तो वह अपने विशाल आकारका परिस्थाग करके पर्वतकार बन गयी। फिर नगरकार होकर विचित्र कल्पना-रूप पछुओंसे मुश्यमित वृक्षके समान मुन्दरी बन गयी। इसके बाद उस आकारको भी छोड़कर वह व्योमाकार ही शिवके ही स्वरूपमें वैसे ही प्रविष्ट हो गयी, जैसे नदी अपने वेगको शान्त करके महासागरमें मिल जाती है। तदनन्तर शिवसे रहित हो वे शिवसरूप परमात्मा एकत्रिकी शिवरूपमें ही शेष रह-

गये। उस पूर्ववर्णित आकाशमें वे सर्वसंहारकारी रुद सारे उपद्रवोंकी शान्ति होनेपर अकेले शान्तमावसे स्थित हुए।

श्रीरामजीने पृथ्वी-मगवन्। शिवजीका स्पर्श प्राप्त होते ही वह परमेश्वरी शिवा क्यों शान्त हो गयी? यह मुझे यथार्थरूपसे बताइये।

श्रीचित्प्रज्ञीने कहा—श्रीराम! वह शिवा परमेश्वर शिवकी इच्छारूपा प्रकृति कही गयी है। वही जगन्मायाके नामसे विस्त्रित है। वह परमेश्वर शिवकी स्वामायिक स्फन्द-शक्ति है। वे परमेश्वर प्रकृतिसे परे पुरुष कहे गये हैं। वायु भी उन्हींका सरूप है। वे शिवरूप-धारी शान्त परमात्मा शरकालके आकाशकी मोति निर्मल एव परमशान्तिमान् हैं। स्फन्दन ( स्फुरणा या चेष्टा ) मात्र ही बिसका स्वरूप है, वह परमेश्वरकी इच्छारूपा चित्त-शक्ति भ्रमरूपिणी प्रकृति है। वह तभी-तक इस संसारमें अमण करती है, जबतक कि नित्य-दूस, निर्विकार, अजर, अनादि, अनन्त एवं अद्वैत परमात्मा शिवका साक्षात्कार नहीं कर लेती। यह प्रकृति एकमात्र चैतन्यवर्धिणी है। अतः उसे चित्त-शक्ति ही समझना चाहिये। यह चित्त देवी जब शिवका स्पर्श करती है, तब पूर्णतः शिवसरूप ही हो जाती है। जैसे नदी समुद्रका स्पर्श करते ही अपने नाम और रूपको त्यागकर उसके भीतर समा जाती है, वैसे ही प्रकृति पुरुषका स्पर्श प्राप्त करते ही उसके भीतर एकताको प्राप्त हो अपनी प्रकृति-रूपताका परिस्थाग कर देती

है। उस समय प्रकृति चिति—निर्वाण-रूप परम पदक्षेत्रे प्राप्त हो तदूप बन जाती है, जैसे नदी समुद्रमें मिलकर समुद्ररूप हो जाती है। खुनन्दन। वह चिति शक्ति तभीतक मोहक्षा इन व्याकुल सुष्ठिपरम्पराओं

और उनकी जन्म आदि दशाओंमें भ्रमण करती रहती है, जबतक कि परमात्मा परमात्माका दर्शन नहीं कर लेती। उनका दर्शन कर लेनेपर वह तत्काल उन्हींमें समा जाती है। (सर्ग ८५)

### स्त्रदेवका ग्रहणाप्तव्याण्डको निगलकर निराकार विदाकाशरूपसे स्थित होना तथा वसिष्ठजीका उस पाषाण-शिलाके अन्य भागमें भी नूतन जगत्को देखना और पृथ्वीकी धारणाके द्वारा पार्थिव जगत्का अनुभव करना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम। जब मैं खड़ा-खड़ा वह सब देख रहा था, तब मुझे दिखायी दिया कि वे भगवान् रुद्र तथा ग्रहणाप्तके वे दोनों खण्ड या कगाल चित्र-चित्रितके समान निश्चेष्ट हैं। तदनन्तर एक ही मुहूर्तमें आकाशके बीच रुद्रदेवने ग्रहणाप्तके उन दोनों खण्डोंको अपनी सूर्यरूपिणी दृष्टिसे उसी तरह देखा, जैसे चुलोक और भूलोकको देख रहे हों। फिर पत्थर भारते-भारते उन दोनों ग्रहणाप्तव्याण्डोंको अपनी शास्त्र-वास्तुके द्वारा शींचकर उन्होंने पाताळ-गुफाके समान मुँहमें डाल दिया। इस प्रकार ग्रहणाप्तव्याण्डरूपी दुर्घटार तथा मिथुआश्रामिको अपना ग्रास क्नाकर वे भगवान् रुद्र उस समस्त आकाशमें विदाकाशरूप होकर अकेले ही रह गये। तदनन्तर वे एक ही मुहूर्तमें बादलोंके समान हल्के और छोटे हो गये। फिर छड़ीके समान और उसके बाद चित्ते भरके हो गये। तत्पश्चात् जिन्हें वैसे विशाल रूपमें देखा गया था, वे रुद्र मुझे कोंचके टुकड़ेकी एक कणिकाके समान दिखायी दिये। इसके बाद मैंने आकाशसे दिव्याद्विद्वारा देखा, वे परमाणुके बाबर हो गये थे। परमाणुरूप होनेके पश्चात् वे अदृश्य हो गये। इस तरह भर-भूरे जगत्से लेकर रुद्र-शरीरतक वह सारा महान् आरम्भ भेरे देखते-देखते शरत्कालके भेषखण्ड-की भौति बिलीन हो गया। श्रीराम। जैसे मूळ हिरन छोटेसे पत्तेको निगल जाता है, उसी प्रकार भगवान् रुद्रने जब इस प्रकार आवरणोंसहित समस्त ग्रहणाप्तको

उदरस कर दिया, तब दृश्यरूपी पत्ते रहित केवल चेतनाकाशरूप शान्त परमात्मा परमात्मा ही शेष रह गया। उसका न कहीं आदि है न अन्त। चिन्मय आकाशमन्त्रही उसका स्वरूप है। खुनन्दन। इस तरह मैंने पाषाण-खण्डके कोटरमें दर्पणमें दीखनेवाले प्रतिविम्बकी भौति उस महान् विभ्रमरूप ग्रहणाप्त एवं उसके महाप्रलयका दृश्य देखा था।

तदनन्तर उस विद्याधरीका, उस शिलाका नथ उस संसारध्रमका स्मरण करके मैं वैसे ही आर्थ्य-चकित हो गय, जैसे कर्वई गौंवका रुहनेवाल गौंवर पहले-पहल राजद्वारपर पहुँचकर विस्मयसे विमुख हो जाता है। इसके बाद मैंने पुनः उस मुश्वर्णशिलाको आनंदे देखना आरम्भ किया। फिर तो मुझे कालीके शरीरमें स्थित हुए संसारकी भौति उसमें सर्वत्र नूतन सर्ग दृष्टिगोचर होने लगे। वह घनीभूत मण्डलाकार सुर्वर्णमयी विस्तृत पाषाणशिला एकरूपमें ही स्थित थी और सत्याकालके मेषकी भौति परम सुन्दर दिखायी देती थी। इसके बाद मैंने आर्थ्यचकित हो उस शिलाके दूसरे भागके विषयमें भी उसी पराद्विष्टसे विचार करना आरम्भ किया। विचार करते-अलंते देखता हुँ तो उस शिलाका दूसरा भाग भी उसी तरह जगत्के आरम्भसे उत्साह भरा हुआ है। वहाँ पूर्ववर् एक छिद्र (आकर्षण) में नाना पदार्थोंसे सुन्दर संसार बसा हुआ था। उस शिलाके जिस-जिस प्रदेशको मैंने देखा, वहाँ-जहाँ दर्पणमें प्रतिविम्बकी भौति मुझे निर्मल जगत्का दर्शन हुआ।

रघुनन्दन ! तदनन्तर चेतनाकाशखल्लप्य निर्विकार अनन्त एवं सर्वव्यापी ब्रह्मलूपसे स्थित हुए मैंने जब सपाहित-चित्त होकर देखा तो अपने शरीरके भीतर ही मुझे सुष्ठिल्पी हृक्ष एक अद्भुतके रूपमें स्थित दिखायी दिया । जैसे डेहरीके भीतर रखा हुआ धीज वर्षके जलसे भीग जानेपर अद्भुतित हो जाता है, उसी प्रकार मेरे भीतर सुष्ठिलीज अद्भुतित हुआ था । जैसे बीजके भीतर विद्यमान अद्भुत सींचनेसे विकसित हो उभरकी ओर निकल आता है, उसी प्रकार मूर्ति, अमूर्त, जड और चेतन सभी वस्तुओंमें जगत् विद्यमान है । जैसे मुपुसावस्थासे खमारस्थाको ग्रास हुए चिन्मात्र पुरुषकी अपनी ही चेतनासे खमजगत्की दृश्य-लक्षणीका विकास होता है अथवा जैसे स्वप्नावस्थाके हृष्ट जानेपर जगे हुए पुरुषके समझ जाग्रत्-कालका दृश्य-प्रपञ्च विकासको ग्रास होता है, उसी तरह जिसने सुष्ठिके धारम्भमें अपने खरूपका पृथक् रूपसे अनुभव किया है,

ऐसे आत्मामें इस सुष्ठिका उदय होता है । छद्यकाशमें उदित हुआ यह सर्ग चेतनाकाशसे पृथक् नहीं है ।

तदनन्तर पृथ्वीकी धारणासे युक्त होकर मैं ध्यान करने लगा । पृथ्वीकी धारणा करनेपर उसके अभिमानी जीवकी खरूपता ग्रास करके मैं द्वीप, पर्वत, तृण और वृक्षादिरूपी देहसे युक्त हो वहाँके जगत्का अनुभव करने लगा । मैं सम्पूर्ण भूमण्डल बन गया । नाना प्रकारके घन और वृक्ष मेरे शरीरके रोम हो गये । नाना प्रकारकी रक्षावलियाँ मेरे शरीरमें व्याप्त थीं और अनेकानेक नगर मेरे लिये आभूषणका काम दे रहे थे । पृथ्वीका रूप धारण करके मैं नदी, घन, समुद्र, दिगन्त, पर्वत तथा द्वीप नामक ग्राणियोंके भोग्यस्थलों और जंगल-समृद्धोंसे व्याप्त हो गया । नाना प्रकारके फटायोंकी श्रेणियोंसे भरे हुए अनेकानेक मण्डल-कोश दृष्टिगोचर होने लगे तथा मैं लता, सरोवर, सरिता और कमलसमृद्धोंसे सुशोभित होने लगा ।

( सर्ग ८६-८७ )

### श्रीविष्णुजीके द्वारा जल और तेजस्-तत्त्वकी धारणासे ग्रास हुए अनुभवका उल्लेख

श्रीरामजीने पूछा—प्रगत् ! अब यह बताएं कि उस समय आपने विभिन्न सूभाग्योंके भीतर कहाँ प्रकाण्डोंके दर्शन किये थे या नहीं ?

श्रीविष्णुजीने कहा—रघुनन्दन ! पहले शिलामें जैसे सम्पूर्ण जगत् देखा गया था, वैसे ही उस समय भूमण्डलके सभी स्थानोंमें मुझे जगत्का जाल-सा विछाहुआ दिखायी दिया । वह सारा दृश्यमय प्रपञ्च द्वैतमय होता हुआ भी वास्तवमें शान्त अद्वैत ही है । सभी स्थानोंमें जगत् है और सर्वत्र सबके आधाररूपसे ब्रह्म विश्वमान है । अतः सब कुछ परम शान्त चिदाकाश-स्वरूप ब्रह्म ही है और सभी अनेक प्रकारके आसम्भोंसे परिषुर्ण है । रघुनन्दन ! यद्यपि यह दृश्य भूता और ‘अहम् दृश्यादि रूपसे अनुभवमें आता है, तथापि उसका अस्तित्व

परमार्थ-दशामें है ही नहीं और यदि है तो वह सब अजन्मा—निर्विकार ब्रह्म ही है ।

मैंने धारणाद्वारा पृथ्वीका रूप धारण करके जैसे वहाँ नाना प्रकारके जगत् देखे थे, वैसे ही जलतत्त्वकी धारणासे जलरूप होकर वहाँ भी वैसे ही जगत्का दर्शन किया । जैसे काढ़-छोटकर स्वच्छ किये गये इन्द्रनीलमणिके समान नील वर्णाकाले भगवान् विष्णु शेषनागके अङ्गोंपर भगवती लक्ष्मीजीके साथ विश्राम करते हैं, उसी प्रकार श्याम-शरीरवाले मैंने भी बाढ़ोंके आसनोंपर विषुन्मयी बनिताके साथ विश्राम किया । रसरूप होनेके कारण मैंने जिह्वासम्बन्धी एक-एक अणुके साथ रहकर उत्तम अनुभव ग्रास किया, जिसे मैं अपने शरीरका नहीं केवल ज्ञानरूप आत्माका, ही

अनुभव भानता हूँ । जलकणका रूप धारण करके हवाके रथपर चढ़कर मैंने आकाशकी निर्मल गलियोंमें सुगन्धकी मौति विचरण किया । जलकी समतु प्राप्त करा देनेवाली उस जलमयी धारणाके द्वारा अजड होकर भी जड ( जल )-सा बनकर तथा समस्त पदार्थोंके भीतर ज्ञातारूपसे रहता हुआ भी दूसरोंके द्वारा अज्ञात होकर रहा ।

खुलन्दन । तत्पश्चात् मैं तेजस्त-तस्वकी बड़ी हुई धारणाके द्वारा चन्द्रमा, सूर्य, तारा और अग्नि आदि विचित्र अथवोंसे युक्त तेज बन गया । तेजके सदा सच्च-प्रधान होनेके कारण मैं प्रकाशरूप बनकर चमक उठा । संसारमें जितने भी रूप हैं, वे सब प्रकाशके ही अह हैं । अतः सदा प्रकाशकी गोदमें शयन करनेवाले शुक्र, कृष्ण और अरुण आदि समस्त वर्णोंका मैं स्वरूपदाता पिता हो गया । अपने तेजःस्वरूपसे मैं दिव्यधूमोंके लिये स्वच्छ दर्पण बन गया । रात्रिरूपी कुहरेको नष्ट करनेके लिये वायु-स्वरूप हो गया । चन्द्रमा, सूर्य और अग्निका तो जीवन-सर्वत्व ही था । मैं खर्गलोकके लिये कुंकुमका आलेप बन गया । मैं तेज बनकर सुर्कर्ण आदि सुन्दर वर्ण ( रंग ) बन गया, मनुष्य आदिमें पराक्रम हो गया, रक्त आदिमें ध्वकाधौंषध पैदा करनेवाली कान्ति बन गया और वर्षाचातुरमें विशुद्धका प्रकाश हो गया । तेजकी धारणासे तेजोमय होकर मैं उन वृत्र आदि अहुरोंके मरुक्षपर वज्रका प्रहार बन गया; जो अपने थप्पड़से शत्रुओंका सिर फोड़ ढालते थे । साथ ही सिंह आदिके हृदयमें पराक्रम बनकर बैठ गया । रणझणमें निर्भय विचरण करानेशाला जो उद्घट पराक्रम शीरपुरुषोंके भीतर प्रसिद्ध है, वह भी मैं ही बन गया । वह भी साधारण पराक्रम नहीं, अपितु जो कठोर लोह-कल्पोंको तोड़नेवाले खड़ोंके परस्पर आघातोंसे उत्पन्न हीरे टक्कारचनिसे अत्यन्त पदु तथा महान् आङ्गमरसे

युक्त हो । सर्वस्वरूप होकर मैंने दसों दिशाओंमें फैले हुए किरणरूपी द्वारोंसे जगतरूपी पक्षीको, जिसके बड़े-बड़े पर्वत अङ्ग थे, पकड़ लिया । उस समय मुझको यह सारा भूतल एक छोटेसे गाँवके समान दिखायी दिया । चन्द्रमाके रूपमें प्रकट होनेपर मेरा आकर अमृतसे भरी हुई शीछेके समान हो गया । मैं युलोकत्त्वी सुन्दरीका मुख धन गया । निशारूपिणी निशाचरीके हास्य-सा लगाने लगा और रात्रिमें यत्र-तत्र प्रवेश करनेवाले पुरुषोंके लिये प्रकाशदीपका काम देने लगा । मैंने अग्नि बनकर दावानल्की ऐसी ज्वाला फैलायी, जिससे लकड़ियोंका तकाल विदारण हो जाता था और मेरी हुर्मिशार दीसि बढ़ जाती थी । बड़े-बड़े काष्ठोंके झटने और फटनेसे अत्यन्त कठोर शब्द उत्पन्न होते थे । यज्ञाग्नि बनकर मैंने हविष्यादिका भी कल्पणकारी कार्य सम्पन्न किया । कहीं लोहार आदिकी प्रयोगशालाओंमें मैंने तस लोहपिण्ड आदिमें रखकर हथैडे आदिसे ताङ्गित होनेपर उन ताङ्गनकर्ताओंको जलानेके लिये आकरी चिनगारियों प्रकट की थी ।

श्रीरामजीने पूछा—मानदाता मुने । उस अवस्थामें आपको सुखका अनुभव हुआ या दुःखका ? यह मुझे मेरी जानकारीके लिये बताइये ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—खुलन्दन ! जैसे सोया हुआ पुरुष चेतन होता हुआ भी जडताका अनुभव करता है, वैसे ही चेतनाकृश अपने संकल्पसे हृश्यमायको प्राप्त होकर जडताका-सा अनुभव करता है । जब ज्ञात अपनेको पृथ्वी आदिके रूपमें समझता है, तब सुसक्षी भौति जड-सा बनकर स्थित रहता है । हसका जो सचिदानन्दतम्यक यथार्थ स्वभाव है, उसका कभी अन्यथामात्र नहीं होता ।

( सर्ग ९०-९१ )

## धारणाद्वारा वायुरूपसे स्थित हुए वसिष्ठजीका अनुभव

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! तदनन्तर मैं अगदको देखनेके कौतूहलसे धीर-किरदानिके द्वारा वायु-मयी विस्तृत धारणा करके वायुरूप हो गया और उदावल्लीरूपिणी ललनाओंको नचाने लगा। कमल, उत्पल और कुन्द आदि पुष्पसमूहोंकी सुगन्धका संचय करके उसकी रक्षा करने लगा। नन्दननन्दनमें मेरा आना-जाना अत्यन्त मधुर और उदार होता था; क्योंकि वहाँ बड़ी मधुर सुगन्ध सुलभ होती थी। चन्द्रमण्डलमें जो श्रेष्ठ अमृत है, उसका विषकाल-तक उपमोग करके पूर्णरूपसे विरे हुए मेघोंकी घटारूप शब्द्यापर सोकर तथा कमलबनोंको कम्भित करके मैं प्राणियों-के अपका निवारण किया करता था। आकाशरूपी पुष्पका मैं ही सौरभ था। अतएव उसके गुणभूत सभी शब्दों-का मैं सहोदर भाई बन गया। प्राणियोंके अङ्गों और उपाङ्गोंमें ग्रेहक बनकर उनकी नाशीरूप नालियोंमें जल-सा हो गया था। मैं सुगन्धरूपी रत्नोंका छुटेरा, विमान-रूपी नगरोंकी आधारभूमि, दाहरूपी अन्वकारका निवारण करनेके लिये चन्द्रमा तथा शीतरूपी चन्द्रमाकी उत्पत्तिके लिये क्षीरसागर था। एक ही क्षणमें मैं समस्त पर्वतोंको उखाइकर फेंकनेमें समर्थ था। वायुरूप बनकर मैंने छः प्रकारकी कियाएँ करते-करते प्रलयपर्यन्त कभी भी विश्राम नहीं किया। मेरे बे छः कर्म इस प्रकार थे। हिम और धी आदिको जमा देना—उसका पिण्ड बनाना, कीचड़ आदिको सुखाना, मेष आदिको धारण करना, दृण आदिमें हल्काल पैदा करना, सुगधको इधर-उधर ले जाना तथा ताप हर लेना।

श्रीराम ! इस प्रकार उस समय पृथ्वी आदि पौच्छ भूतोंका रूप धारण करके मैंने उस त्रिलोकीरूप कमलके उदरमें भलीभौति विहार किया। पृथ्वी, जल, वायु और

तेजके समूहरूप वृक्षोंके शरीरमें निवास करते हुए मैंने मूल-जालके द्वारा पृथ्वीका रस पीया और उसके स्वादका अनुभव किया। अष्टूतसे पूर्ण वनीभूत अङ्गवाले तथा चन्दन-द्रवके समान शीतलता आदि गुणोंसे मुश्शोभित चन्द्रविष्वेषपर जो वर्षकी बनी हुई शब्द्याओंके समान थे, मैंने अच्छी तरह लोट-पोट किया है। उपभोगके बाद बचा हुआ पुष्परस भ्रमरको देते हुए मैंने सभी दिशाओं और सभी अशुद्धियोंमें समस्त वनसमूहोंके भीतर नाना प्रकारकी सुगन्धोंसे परिपूर्ण पुष्पराशियोंका अच्छी तरह सेवन किया है। कुमुद, कहार और कल्पोंसे पूर्ण नलिनी-बनमें मैंने मधुर बोली बोलनेवाली हसियोंके साथ लीला-पूर्वक कोमल कल्पक नाद किया है। रघुनन्दन ! मेरी हृषासे प्रसन्न हुए सूर्य आदि देवताओंने शरीरसे कृष्ण, रक्त, श्वेत, अङ्गवेत, पीत एवं हरित वर्णोंसे हरे वृक्षोंकी मौति मेरे शरीरमें स्थिति प्राप्त की थी। समुद्रोंसे विरी हुई तथा सात द्वीपोंके कारण मानो सात रूप धरनेवाली इस भूमि-को मैंने अपनी कलाइमें कंगनकी भौति धारण कर लिया था। श्रीराम ! समस्त ब्रह्माण्डरूप होनेके कारण यथापि सारे पाताल मेरे चरण, बन गये थे, मैं भूतलको उदरके रूपमें धारण कर रहा था और आकाश मेरा मरुक था, तथापि मैंने अपनी परम सूक्ष्म चिन्मात्रखलरूपताका कमीत्याग नहीं किया था। इस प्रकार विदाकाशरूपसे स्थित हुए मैंने भूमि, जल, अग्नि और वायुका खरूप धारण किया। जैसे प्रसिद्ध वित्ति शक्ति स्थै ही स्थनमें नगर आदिका रूप धारण करती है, उसी प्रकार मेरेद्वारा भूमि आदिका स्वरूप-धारण माया शक्तिका विस्तार ही था।

( सर्ग ९२ )

## कुटीमें लौटनेपर धसिष्ठजीको अपने शरीरकी जगह एक ध्यानस्थ सिद्धका दर्शन, उनके संकल्पकी निवृत्तिसे इटीका उपसंहार, सिद्धका नीचे गिरना और धसिष्ठजीसे उसका अपने वैराग्यपूर्ण जीवनका शुचान्त बताना

श्रीधसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! इस प्रकार धरणाके द्वारा सिद्ध हुए पृथ्वी आदिके रूपसे जगत्-शरीरका अबलोकन करनेके बाद पूर्वोक्त कौतुकदर्शनके संकल्प और प्रयत्नसे निष्टुत हो मैं पुनः पहलेके समाधि-स्थान आकाश-कुटीके प्रदेशकी ओर लैट आया । वहाँ आनेपर देखता हूँ कि मेरा अपना शरीर कहाँ भी स्थित नहीं दिखायी देता है । वहाँ अपने सामने बैठे हुए किसी दूसरे ही सिद्धपुरुषको मैं देख रखा हूँ, जो अफेला है । वह सिद्ध समाधिनिष्ठ होकर बैठा था और आमीष परम पदको प्राप्त हो चुका था । उसने पश्चासन बौध रखा था । वह परम शान्त था और समाधिमें चित्तके स्थिर हो जानेसे उसका शरीर हिलता-हुलता नहीं था । भस्मनिर्मित त्रिपुण्ड्रकी रेखाओंसे शुक्ल, सौम्य तथा समान विद्वावाले कंधोंसे उसकी ग्रीष्मा वक्षी सुन्दर दिखायी देती थी । उसका मन उदार गहरतस्थमें विश्राम ले रहा था । इसलिये उसका शरीर सुस्थिर और मुख अथवा ग्रसन था । उस प्रसन्न मुखसे सुशोभित उसके मस्तककी जो निश्चल अवस्था थी, उसके कारण वह सिद्ध बड़ा सुन्दर दिखायी देता था । नाभिके निकट उत्तानभावसे रखे हुए उसके दोनों हाथोंकी शोभा दो प्रकृष्ट कमलोंकी शोभाके समान जान पड़ती थी । उन हाथोंकी शोभाके रूपमें मानो छद्यकमलके प्रकाश ही बाहर प्रकट हो गये हों—ऐसा जान पड़ता था । उन करकमलोंकी प्रभासे यह सिद्धपुरुष प्रकाशित हो रहा था । उसके दोनों नेत्रोंकी पलकें बंद थीं । उसकी वाघेन्द्रियोंके सारे व्यापार क्षीण हो गये थे । विक्षेपसे रहित तथा पूर्णरूपसे शान्त, अन्तःकरणरूपिणी गुफाकी उसने अपनी धीर मनोवृत्तिके द्वारा इस तरह

धारण कर रखा था, मानो समस्त उत्पातोंसे रहित शान्त आकाशको धारण किया हो । उस कुटीमें जब मैंने अपना शरीर नहीं देखा और सामने उस भुनिको ही देखा, तब मैंने अपने छुद्ध चित्तके द्वारा वहाँ वों विचार किया ।

“जान पड़ता है ये कोई महान् सिद्ध महात्मा हैं, जो मेरी ही तरह सोच-विचारकर एकान्त महाकाशमें विश्राम लेनेकी इच्छासे इस दिग्नात्में आ पहुँचे हैं । मैं समाधिके योग्य एकान्त स्थान पा जाऊँ, इस किन्तामें ही पड़कर ये सत्यसंकल्पशाली महात्मा इधर आये हैं और इन्हें यह कुटी दिखायी दी है । उसके बाद दीर्घकालिक जब मैं नहीं लौटा हूँ, तब मेरे पुनः आगमनकी बात इनके ध्यानमें नहीं आयी है और इन्होंने शक्तिप्रदे हुए मेरे शरीरको वहाँसे हटाकर सर्व इस कुटियामें आसन जमा लिया है । मेरा वह शरीर तो अब नष्ट हो गया । अतः अब इस आत्मवाहिक देहसे ही मैं अपने सत्तविलोकनो चलूँ—”—ऐसा निष्क्रिय कर मैं ज्यों ही वहाँसे चलनेको उत्तम हुआ, त्यों ही मेरे पूर्वसंकल्पका क्षय हो जानेसे वह कुटी अदृश्य हो गयी और वहाँ केवल आकाशपण्डल रह गया । सिर तो समाधिमें स्थित हुए थे सिद्धवावा निराधार होकर नीचेकी ओर गिरने लगे ।

मैंने पहले यह संकल्प किया था कि जबतक मैं वहाँ रहूँ, तबतक यह कुटी भी रहे, परंतु अब वह संकल्प क्षीण हो जानेसे कुटिया नष्ट हो गयी और सिद्ध महात्मा क्षण-मरमें वहाँसे गिर पड़े । तब सुजनता या कौतुकवश मैं उन गिरते हुए सिद्धपुरुषके साथ उस मनोग्रन्थ ( आत्मवाहिक ) शरीरसे ही आकाशसे भूतलकी ओर चला । गिरते समय उनका पैर पूर्वकर पुर्वीसे जा लगा और

मस्तक ऊपरकी ओर ही उठा रहा । वे पश्चासन लगाये हुए ही वहाँ गिरे थे । उनके प्राणने अपन बायुको ऊपरकी ओर खींच रखा था । इसीलिये वे पहले जिस प्रकार बैठे थे, उसी अवस्थामें आकाशसे नीचे आ गये । वे सिद्धपुरुष इतने ऊँचेसे गिरनेपर भी समाधिसे जगे नहीं; क्योंकि चित्तके परमात्मामें दृढ़तापूर्वक लो रहनेके कारण वे अचेतन-से हो रहे थे । साथ ही उनका कोई अङ्ग भी मङ्ग नहीं हुआ; क्योंकि वे योगके प्रभावसे रुद्धि देखकी भौति बहुत ही हल्के बन गये थे । तब मैंने उन्हें समाधि-से जगानेके लिये प्रयत्न आरम्भ किया और बादलका रूप धारण करके आकाशमें गर्जन-तर्जनके साथ कर्वा आरम्भ कर दी । ओलं और बज्र गिरने लगे । जैसे बादल या कर्वा मोरक्को जगाती है, उसी प्रकार मैंने अपने बुद्धि-कौशलसे उस दिग्नात्में उन सिद्धपुरुषको जगाया । समाधिसे जागनेके बाद उनके समस्त अङ्गोंकी शोभा प्रकाशित होने लगी और उनके नेत्र भी चिकिसित हो उठे । उस समय वे ऐसे लगते थे, मानो घरकालमें धाराधारिक वृष्टिसे चिकिसित हुआ कमलोंका थन हो । समाधिसे जागनेपर मैंने उनसे शुद्ध भावसे पूछा—  
भुनीश्वर ! आप कहो हैं और यह क्या कर रहे हैं ? आप कौन हैं ? इतनी दूरीसे आप नीचे गिरे हैं, फिर भी आप अपने चित्तमें उसका अनुभव क्यों नहीं कर रहे हैं ? मेरे इस प्रकार पूछनेपर उन्होंने मेरी ओर देखा । फिर अपनी पूर्णगतिका स्मरण करके वे मुझसे उसी तरह सुन्दर वचन बोले, जैसे चातक मेघसे बोलता है ।

सिद्धने कहा—शक्ति ! जबतक मैं अपने वृत्तान्तका स्मरण न कर दें, तबतक आप मेरे उत्तरके लिये प्रतीक्षा कीजिये । मैं आपसे अपना सारा पिछला वृत्तान्त कहूँगा ।

इतना कहकर उन्होंने अपने पूर्व वृत्तान्तको शीघ्र ही स्मरण कर दिया । इसके बाद वे चन्द्रमाकी किरणोंके समान शीतल एवं मनोहर धारीमें मुझसे बोले ।

सिद्धने कहा—शक्ति ! इस समय मैंने आपको पहचान लिया है । अतः प्रणाम करता हूँ । अबतक ऐसा न करनेसे मेरेद्वारा जो अपराध बन गया है, इसे आप क्षमा करें; क्योंकि क्षमा सत्पुरुषोंका स्वभाव है । मुने ! जैसे कमलोंमें मौरा अमण करता है, उसी प्रकार मैंने सुदीर्घकालतक भोगरूपी सुगन्धसे पूर्ण मोहकारक देवीयन-भूमियोंमें चिरकालतक अमण किया है । तदनन्तर चित्तरूपी जल-तरङ्गोंके हिलोरोंसे युक्त दृश्य-रूपिणी नदीमें उसके मण्डलकार आवर्तों ( भैरवों ) द्वारा निरन्तर बहाये जाते हुए मैंने दीर्घकालके बाद विवेकका आविर्भाव होनेपर संसारसे उद्दिश्य हो इस तरह विचार किया—‘अहो ! इस संसारमें शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गन्धमात्रको छोड़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है; अतः इतने ही मात्रमें—ऐसे तुच्छ विषय-भोगमें मैं क्यों रमण करूँ ? विषयमें विशेषकी विषमता भरी है, सुन्दरी लियो कठमरुप मोहको ही देनेवाली है तथा राग सरस पुरुषको भी विरसता प्रदान करनेवाले हैं; इनमें लोटनेवाला कौन पुरुष नष्ट नहीं हुआ ? इस शरीरमें शीघ्र प्राप्त होनेवाली जीर्ण-शीर्ण वृद्धावस्था एक विशाल बगुलीके समान है । यह यही सोचती रहती है कि मैंने इस जीवनरूपी कीचड़ या सेवारमें बहुत बड़ी मछली पा ली है । इसी भावसे वह इस शरीरको तस्काल उद्दरण्य कर लेना चाहती है । यह शरीर समुद्रमें दीखनेवाले बुलबुलेके समान शीघ्र ही नष्ट हो जानेवाला है । यह सामने सुरित होता हुआ ही सहसा दीपशिखाके समान बुझकर अदृश्य हो जाता है ।

‘यह जीवन एक महानदी है । इसमें नाना प्रकारके विसेप वडी-बडी लहरोंके समान हैं । काल-चक्र ही इसमें भैरवे बनकर उठता है । जन्म और मरण ही इसके दो ऊँचे और विशाल तट हैं तथा इसमें सुख-दुःखकी छोटी-छोटी तरङ्गें उठती रहती हैं ।

यैवनका उल्लास ही इसकी कीचड़ है। बृद्धाशस्थाके सफेद केश द्वी इसके धब्बल फेल हैं। कली काकतालीय संयोगसे इसमें सुखके बुद्धुद भी उठ जाते हैं। ध्वनिहार ही इसके महाप्रवाहकी रेखा है। इसमें नाना प्रकार के जडन्त्र (मर्खोंके कोलाहल) ही जल्त्र (जलकी धनि) हैं। राग-द्वेषरूपी बादल इसे बढ़ाते रहते हैं तथा भूतलपर इसका शरीर सदा ही चञ्चल रहता है। औम और मोहके महान् आवर्त इसमें उठते रहते हैं। पात और उत्पातसे इसमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। इस प्रकार यह जीवन नामक नदी शब्दमात्रसे तो अत्यन्त शीतल है; परतु वास्तवमें विविध सार्पोंसे असन्त संतत रहा करती है। यह महान् खेदका विषय है। ससाररूपी नदीके जलस्थानोंय जो इष्ट, मित्र, पुत्र आदिके समागम और धन है, उनमें पहले-पहलेके तो चले जाते हैं और नयेनये आते रहते हैं। (इस प्रकार यहों कुछ भी स्थिर नहीं है।) यहों जो पदार्थ प्राप्त है, वे नष्ट हो जाते हैं। अतः उन क्षणभूत पदार्थोंसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। जब प्राप्त द्वार्ड वस्तुओंकी यह दशा है, तब जो नये पदार्थ प्राप्त होते हैं, उनपर भी यहों कैसे आस्था हो सकती है? ससारमें जितनी नदियों हैं, उन सबका जल उद्भवस्थानसे आता और समुद्रकी ओर जाता रहता है। परंतु इस शरीररूपी नदीका जो आयुरुपी जल है, वह केवल जाता ही है, फिर आता नहीं। भव्यकर शत्रुभूत विषयरूपी चतुर चोर चारों ओर निचरते रहते हैं, वे विवेकरूपी सारा धन हर के जाते हैं। अन मुझे निरन्तर जागते रहना चाहिये। यहों मैं सो कैसे रहा हूँ? आज यह हुआ, कल यह होगा, यह इसका है और यह मेरा है—इस प्रकार संकल्प-विकल्प करना हुआ मनुष्य बीती ही आयु और आयी हुई मौतको नहीं जान पाना है। यह केसी आर्थर्यमी बान है। सब खानी लिया, अनन्त बनमूलियोंमें विचरण कर-

लिया और बहुत-से सुख-दुःख भी देख लिये। अब यहों और क्या करना या पाना शेष रह गया है? मैंने ऊंचे शिखरोंवाले मेरु पर्वतकी उधान-मूमियोंमें अच्छी तरह खमण किया। लोकपालोंके ब्रेष्ट नगरोंमें भी मैं घूम लिया। परंतु वहों भी कौन-सा स्थामानिक सुख प्राप्त हुआ?

‘धन, मित्र, सुख और भाई-बन्धु कोई भी कालप्रस्त मनुष्यकी रक्षा नहीं कर सकते। मनुष्यका जीवन धूलि-राशिके समान अस्तिर है, उसकी स्थिति सुदृढ़ नहीं है। वैसे पर्वतशिखरोपर गिरा हुआ वर्पका जल प्रतिक्षण वर्ष्य नष्ट होना है, वैसे ही भीतरसे विप्रयोगें आसक्त मनुष्य क्षग-क्षगमें क्षीण हो अन्तमें पुरुषार्थशृन्य रुक्कर ही अस्त (मृत्युको प्राप्त) हो जाना है। कोई भी भोग भेरे मनको नहीं लुभा रहे हैं। यहोंके वैभव भी मुझे सुन्दर नहीं लगते हैं। यह जीवन भी मदमत युवनीके कठाक्षणातकी भौंति चञ्चल एवं क्षगभूत है। मुने। यहों कहों, किसको, किस तरह और किस उपायसे आशासन प्राप्त हो। पापिनी मृत्यु आज या कल मस्तकपर पैर रख ही देगी अथवा माथेपर विपत्तिका पहाड़ ढाल ही देगी। यह शरीर एक दिन पत्तके समान छाड़ जानेवाल है। जीवनकी स्थिति भी जीर्ण-क्षीर्ण ही है। दुष्क्रियाधीतासे प्रस्त है और विप्रयोंके रस नीरम हो गये हैं। नीरस विषय और उनके मनोरथ भेरी विस्तृत आयुको ले बीते। इनसे भेरे लिये कोई चमकारजनक पुरुषार्थ नहीं सिद्ध हुआ। आज मेरा मोह मन्द पड़ गया है। इस शरीरका इस जगतमें कोई उपयोग नहीं है। विप्रयोगें आस्था या आसक्ति न करना ही ऊंची स्थिति है और जीवनके प्रति आश्या रखना ही सबसे अवम अवस्था है। अहो! यह सम्भति क्या मिली, विपत्ति ही सिरपर आ पड़ी है, जो भारी मोहमे डालनेवाली है। विवेकी पुरुषको सदा ऐसा ही मानना चाहिये और इस ससारमें कभी आमत्तु नहीं होना चाहिये।

जैसे समुद्रपली सरिताएँ भूतलघर अपने शरीरको आन्दोशित करती हुई समुद्रकी ओर दौड़ रही हैं, उसी प्रकार अनन्त विषयोंकी ओर दौड़ी जा रही है। यहाँ आयु ही उत्पात-वायु है। मित्र ही बड़े मारी शत्रु हैं। बन्धु ही बन्धन हैं और धन ही बड़ी मारी मौत है। मुख ही अथवा दुःख है। सम्पत्तियों ही मारी विपत्तियों हैं। भोग ही संसारके महान् रोग हैं तथा रति ही मारी अरति ( दुःख ) है। यहोंका सुख केवल दुःख देनेके लिये है और जीवन भी मृत्युकी धरोहर है। अहो ! यह मायका विस्तार किनाना दुःखद है ! \* विषय-सेक्षनरूप जो भोग हैं, उन्हें सर्पोंका फन ही समझना चाहिये; क्योंकि वे थोड़ा-सा भी स्फर्या होनेपर ढँस ही लेते हैं। किंतु विचार-इष्टिसे देखनेपर प्रतिक्षण किनाश-शील ही हैं। जो भोगोंकी अभिलाषासे उनके प्रति तुष्णा धौंधे देठे हैं, उन लोगोंका उसी तरह पग-पगपर अपमान होता है, जैसे बन्धन-स्त्राम्भमें धौंधे हुए जंगली हाथियोंका हुआ करता है।

‘सम्पत्तियों और युक्ती क्षियों ये तरङ्गोंकी गोदके समान क्षणमनुहृ हैं। इतना ही नहीं, वे सर्पके फनकी छाया हैं। कौन विवेकी पुरुष उनमें आसक्त होगा ! जो आरम्भमें रमणीय प्रतीत होनेवाले किंतु अन्तमें अथवा नीरस सिद्ध होनेवाले विषयभोगोंमें रमते हैं, वे नरकोंमें ही गिरते हैं ।’ धन राग-द्वेषादि इन्द्र दोगोंसे

\* उत्पातवायुरेषायुर्मित्रार्थेनातिगत्रयः ।

बान्धवो बन्धनान्वेष धनान्वेवतिनैधनम् ॥

सुखान्वेवतितुःस्वानि सम्पदः परमापदः ।

भोग भवमहरेण रतिरेव परारतिः ॥

आपदः सम्पदः सर्वाः सुर्सु दुःखाय येवलम् ।

जीवित मरणयैव यत मायाविवृभितम् ॥

( निर्वाणप्रकरण ड० ९३ । ७१-७२ )

† अपातररमणीये रमन्ते विषयेषु ये ।

अथवात्विरमान्तेषु फनन्ति निर्येषु ते ॥

( निं प्र० ड० ९३ । ८० )

आकान्त हैं। उनका उपार्जन करना भी अथवा उपार्जन कठिन होता है तथा प्राप्त हो जानेपर भी वे स्थिर नहीं रहते हैं। अतः वे अधम पुरुषोंके लिये ही सेवन करने योग्य हैं। जो आरम्भमें मधुर लगती है, परंतु अन्तमें दुःख ही देनेवाली है, वह लक्ष्मी ( लौकिक सम्पत्ति ) जगत्को मोहमें ही छालती है\*। उसका विलास क्षणभरके लिये ही होता है। कोई महान्-से-महान् पुरुष क्यों न हों, उनके जीवनमें भी एक दिन मृत्यु अक्षय उपस्थित होगी। वैष्णवियोंकी आयु शास्त्रके अप्रभागमें लटकी हुई ओसकी बूँदेके समान शीघ्र ही नष्ट होनेवाली है। जरा अवस्थाको प्राप्त होते हुए पुरुषके केश पक जाते हैं, दोंत भी टूट जाते हैं। उनकी और सब वस्तुओं भी जीर्ण होकर क्षीण हो जाती हैं। परंतु एकमात्र तुष्णा ही ऐसी है जो जीर्ण नहीं होती है, वह नित्य नयी ही बनी रहती है। † हाथकी अङ्गलियें रखे हुए जलकी भौंति यह जीवन शीघ्र ही त्वचित्वं हो जाता है। वह मदीके प्रशाहकी भौंति चला जाता है और लौटा नहीं है। इस जगत्मे जो रमणीय जान पड़ते हैं, उन पदार्थोंमें मैंने आरम्भीयता देखी है। स्थिर वस्तुओंमें भी अस्थिरताका दर्शन किया है और सभ्य दीखनेवाले पदार्थोंमें भी सुक्ष्म अस्थिरता दिखायी दी है। इसीलिये मैं यहाँसे विरक्त हो उठा हूँ। मनके सर्वथा वासनाशून्य हो जानेपर जब परमात्मामें विश्रान्ति प्राप्त होती है, उस समय जो आनन्द मिलता है, वह पाताल, भूतल और सर्गके भी किन्ही भोगोंमें नहीं मिल सकता ।

मुने । इस तरह दीर्घकालक विचार करनेसे अब अहंकारशून्य हो मैंने अपनी बुद्धिके द्वारा स्वर्ग और

\* आपातमात्रमनुरा दुःखपर्यक्षासिनी ।

मोहनायेव लोकस्य लक्ष्मीः धर्णविलासिनी ॥

( निं प्र० ड० ९३ । ८२ )

† जीर्णन्ते जीर्णतः केश दन्ता जीर्णन्ति जीर्णतः ।

जीर्णते जीर्णते सर्वं तृष्णयैका न जीर्णते ॥

( निं प्र० ड० ९३ । ८६ )

अपर्गीसे भी विरक्ति प्राप्त की है। इस कारण मैं भी आपकी ही भौति चिरकालतक एकान्तमें विश्रापके लिये आकाशके इस स्थानतक आया और यहाँ सुने आपकी कुटी दिखायी दी। आपकी ही यह कुटी है और आप पुनः यहाँ पथारेगे, यह बात उस समय मैंने नहीं सोची थी। यह सब तो सुने आज ही बात हुआ है।

उस समय तो अनुमानसे मैंने यही जाना था कि यह कोई सिद्धपुरुष था, जो यहाँ अपना शरीर त्यगकर निर्वाण पदको प्राप्त हो गया है। भगवन् ! यही मेरा वृत्तान्त है और यह मैं आपके सामने उपस्थित हूँ। मैंने सब बातें आपको बता दीं। अब आप जैसा उचित समझें, करें। . . . ( सर्ग ९३ )

**श्रीवसिष्ठजी और सिद्धका आकाशमें अभीष्ट स्थानोंके जाना, वसिष्ठजीका मनोमय देहसे सिद्धादि लोकोंमें भ्रमण करना, श्रीवसिष्ठजीका अपनी सत्य-संकल्पताके कारण सबके दृष्टिघरमें आना, व्यवहारपरायण होना। तथा 'पार्थिव वसिष्ठ' आदि संज्ञाओंको ग्राह करना, पाण्डितोपाल्यानकी समाप्ति और सबकी विन्मयव्रातरूपताका प्रतिपादन**

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! तपस्थान मैंने सिद्धसे इस प्रकार कहा—महाल्लू ! मैंने भी तो आपके विषयमें कोई विचार नहीं किया, इसीसे उस कुटीको आकाशमें स्थिर नहीं कर दिया। उसे लिप्त कर दिया होता तो आपकी स्थिति भी सुसिर हो गयी होती। आपको इस प्रकार नीचे नहीं गिरना पड़ता ( अतः हम दोनोंसे परस्पर व्यपराध हुए हैं, इसलिये दोनों ही दोनोंको क्षमा कर दें )। उठिये, अब हम दोनों सिद्धलोकोंमें चलकर पूर्ववद् निवास करें।<sup>१</sup> तदनन्तर हम दोनों गुलेलसे फेंके गये दो पत्थरकी गोलियोंके समान एक साथ ही तीव्र गतिसे आकाशमें उड़ें। उस समय हमारी स्थिति हो तारेके समान हो रही थी। ऊपर जाकर हम दोनोंने एक दूसरेको प्रणाममूर्खक बिदा किया। फिर वे सिद्ध महाल्ला अपने अभीष्ट स्थानको चले गये और मैं अपने अभीष्ट स्थानमें आ गया।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—भगवन् ! आपका यह शरीर तो पृथ्वीपर गिरकर धूलके परमाणुओंमें मिल गया होगा। फिर आप किस शरीरसे सिद्ध लोकोंमें विष्वरे ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! हाँ, मुझे यद आ गया। उसके बादका मेरा वृत्तान्त सुनो। बगतरूपी

गृहमें, सिद्धोंने समूहोंमें तथा लोकपालोंकी पुरियोंमें भ्रमण करते हुए सुख वसिष्ठजी आत्मकथा इस प्रकार है—एक दिन मैं हन्तपुरीमें गया, परंतु यहाँ स्थूल शरीरसे रहित हो आतिवाहिक ( सूक्ष्म ) देहसे गये हुए सुखको न तो किसीने देखा और न पहचाना ही। मनका मनन ही एकमात्र मेरा स्वरूप था। मैं पृथ्वी आदिसे सर्वथा रहित था। संकल्प-कल्पित मुहूर्षकी भौति मेरा कोई हृश आकर नहीं था। सुखसे किसीका स्पर्श न होनेके कारण मैं बट-पट आदि पदार्थोंका अश्रोत्वक नहीं था। बगतके पदार्थ-समुदाय भी मुझे कहीं आने-जानेसे रोक नहीं पाते थे। मैं अपने अनुमत्की ओर ही दम्भुख था अर्थात् अपने बहुधन ही मेरा शरीर था तथा अपने समान स्थितिवाले मनोमय पुरुषोंके साथ ही मैं व्यवहार करता था।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—भगवन् ! यदि वेहरहित एवं आकाशखलप होनेके कारण आप किसीको दिखायी नहीं देते थे तो उस सिद्धने आपको उस सुवर्णमयी भूमिमें कैसे देखा था ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! मुह-जैसा ज्ञानयोग-से सिद्ध हुआ पुरुष संकल्पकल्पित पदार्थोंका जिस तरह अपलोकन करता है, उस तरह असंकल्पित पदार्थोंको

नहीं प्रश्न करता; क्योंकि उसका शरीर सत्यमंकल्पमय होता है। निर्मल अन्तःकरणवाला सूक्ष्म शरीरधारी पुरुष भी लौकिक व्यवहारमें मन होनेपर क्षणभरमें ही अपना सूक्ष्म शरीर भूल जाता है। उस समय मैंने यह संकल्प किया था कि यह सिद्धपुरुष मुझे देखे। इसलिये उसने मुझे देखा; क्योंकि वह मेरे संकल्पित वर्थका भाजन था। परस्पर सिद्ध एवं निरुद्ध भनोरेखाले दो सिद्धोंमें जो अविक्षित शुद्ध अन्तःकरणवाला और पुरुषोचित प्रयत्नसे युक्त होता है, कहीं अपने अमीष-साधनमें बिनयी होना है। जब मैं सिद्धसमूहों तथा लोकपालोंकी पुरियोंमें भ्रमण कर रहा था, उस समय व्यवहार-समूहोंके प्राप्त होनेसे मुझे अपनी आतिशाहिकता विस्मृत हो गयी थी—मैं अपने सूक्ष्म शरीरको भूल गया था। जब ऐसी स्थिति था गयी, तब मैं उस महाकाशमें दूसरोंके साथ व्यवहार करनेमें ग्रहृत हुआ। परंतु मेरा रूप ऐसा चञ्चल था कि वहाँ मुझे कोई देख नहीं पाता था। उस समय न तो मुझे दृश्य, चन्द्रमा तथा इन्द्र आदि देख पाते थे और न देवता, सिद्ध, गन्धर्व, किन्नर एवं अप्सराओंकी ही मुख्यपर दृष्टि पहती थी। वे लोग मेरी वाततक नहीं मूँग पाते थे। यह सब सोचकर किसीके हाथ निके हुए सत्यरूपकी भोगि मैं मोहमें पढ़ गया—किञ्चर्त्तव्यविभूद-सा हो गया। इसके बाद मैंने सोचा, ‘मैं तो सत्यकाम हूँ। जो भी संकल्प करूँगा—सत्य होगा’, यह बात ध्यानमें आते ही मैंने संकल्प किया—‘ये देशनालोग मुझे देखें।’ ऐसा संकल्प होते ही उस देश्योक्तमें मेरे सामने रहनेवाले सभी देवता मुझे तत्काल देखने लगे, जैसे नगरमें आये हुए इन्द्रजालम्य वृक्षको सभी दर्शक शीघ्र ही देखने लगते हैं। तत्पश्चात् देवताओंके घरोंमें मेरा सब व्यवहार चलने लगा। मैं अपने योग्यित आचारका पालन करता हुआ निःसंकोच वहाँ रहने लगा जिन लोगोंको मेरे वृत्तान्तका ज्ञान नहीं था, उनमेंसे जिन्होंने सर्वप्रथम मुझे अपने ओंगनमें आविर्भूत हुआ देखा, उन लोगोंने

पृथ्वीसे ही मेरी उत्पत्तिकी कल्पना करके मुझे ‘पर्यावरणसिद्ध’ कहा—फिर इसी नामसे लोकमें मेरी प्रसिद्धि हुई। जो लोग आकाशमें रहते थे, उनमेंसे जिन महानुभावोंने मुझे आकाशमें मगधान् सूर्योदेवकी वितरणोंसे प्रकट हुआ देखा, उन्होंने लेकर ‘तैजस् वसिष्ठ’ नाम देकर मुझे प्रतिष्ठ दिया तथा जिन आकाशवासी सिद्धोंने वायुसे मेरा प्राकल्प देखा, उन्होंने मुझे ‘वातवसिष्ठ’ की संज्ञा दी तथा जिन मुनीश्वरोंने मुझे बलसे उठाते देखा, उन्होंने मुझे ‘वारिसिष्ठ’ नाम दिया। इस प्रकार दृष्टिभेदसे मेरी यह जन्मपरम्परा कल्पित हुई है। तभीसे लोकमें मैं कहीं पर्यावरण, कहीं जलमय, कहीं तैजस् और कहींपर मारुत-वसिष्ठ नामसे विल्पयात हुआ।

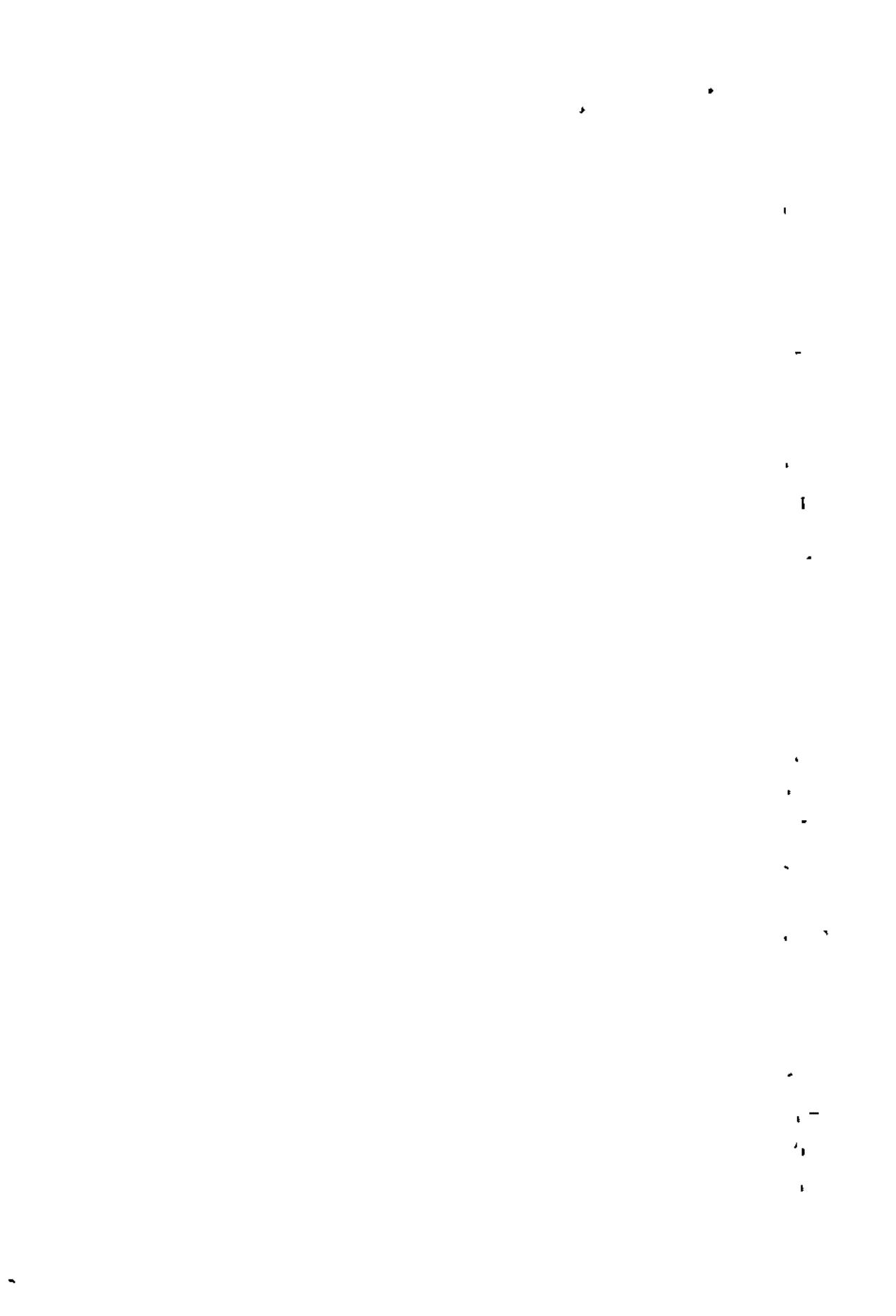
इस तरह कहीं आकाश आदि पञ्चभूतरूपसे सुरित होनेपर भी मैं एकमात्र चिन्मय समाववाला निरुक्तार, चेतनाकाशरूप परमात्मा ही हूँ तथा तुमलोगोंके बीच उपदेश आदि व्यवहारकी सिद्धिके लिये स्थूल आकाशसे युक्त भी दिखायी देता हूँ। जैसे जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञानी पुरुष सारा व्यवहार करता हुआ भी ब्रह्मकाशरूपसे ही स्थित रहता है, उसी तरह विदेहमुक्त भी ब्रह्मरूपसे ही स्थित होता है। किंतु जिस पुरुषकी बुद्धि संसारवासनावश देह और इन्द्रियके द्वारा भोगनेयोग्य अयोग्य वस्तु—विषयभोगमें आसक्त होती है तथा जिसके मनमें कभी मोक्षकी आकाश्चान्त्र नहीं जाग्रत् होती, वह मन्दबुद्धि मामव मनुष्य नहीं, कुत्ता अथवा कीदा है\* ( क्योंकि वह भोगरूपी गंदी चीजको पसंद करता है, मनुष्य तो वही है जो मोक्षके लिये प्रयत्नशील है )। श्रीराम ! चित्तका सर्वथा शान्त एवं शीतल होना मोक्ष है तथा उसका संतास होना ही बन्धन है। ऐसे मोक्षमें भी लोगोंकी

\* संसारवासनामावरुपे रक्ता नु यस्य थीः ।  
मन्दो मोक्षे निराकाशी स श्वा कीटोऽयथा जनः ॥  
( निः० प्र० उ० ९५ । २६ )



राजा बलि और शुक्राचार्य

(उपशम-प्रकरण सर्ग ४५-४६)



कहि नहीं हो रही है। अहो ! यह संसार किनना मुझ है ! यह मानव-समुदाय स्वभावसे ही विषयोंके वशीभूत है। इसीलिये एक दूसरेकी ली और भनका अपहरण करनेके लिये लोहप हो रहा है। जब वह मुमुक्षु होकर शारोंके अथेका विचार करता है, तब यथार्थ दृष्टि ( तत्त्व-साक्षात्कार ) प्राप्त करके सदाके लिये मुखी हो जाता है।

श्रीवास्त्मीकिन्नी कहते हैं—भरद्वाज । जब वसिष्ठ मुनि इतना उपदेश दे चुके, तब वह दिन भीत गया। भगवान् सूर्य अस्ताचल्को चले गये। इधर उस राज-सभाके लोग सार्थकात्मिक कृत्यके द्वेष ज्ञान करनेके लिये मुनिकर वसिष्ठको नमस्कार करके उठ गये तथा उत वीतनेपर सूर्यदेवकी किरणोंके उदयके साथ ही पिर उस सभामें लौट आये।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—कर्तव्यका ज्ञान रखनेवाले खुनन्दन ! यह मैंने तुमसे पापाणोपाल्यान कहा। इस आख्यायिकासे जो विज्ञानदृष्टि प्राप्त होती है, उससे यही समझना चाहिये कि सारी सुष्ठियोंचेतनाकाशमें ही स्थित हैं। यहाँ जो कुछ भी दीखता है, उसे चिन्मय ब्रह्म ही समझना चाहिये। जैसे स्वप्न-दर्शनके समय जो नगर प्रकट होता है, वह अपने चिन्मय स्वरूपसे कदापि भिन्न नहीं है। वस्तुतः यह सुष्ठि नहीं है, एकमात्र चैतन्य-शक्ति ही विराज रही है। जैसे सौनेके आमूपणमें सोना ही सत्य है, अंगूठी आदिके नाम और आकार नहीं। जैसे स्वप्नमें निर्विकार चिति-शक्ति ही पर्वतके रूपमें प्रकाशित होती है, उसी तरह निराकार ब्रह्म ही सुष्ठिके रूपमें भासित हो रहा है। ब्रह्मके दिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है। यह सारा दृश्य चिन्मय आकाशरूप, अनन्त, अब्रम्भा और अविनाशी भग्न ही है। वस्तुतः सहस्रों महाकल्पोंमें भीन तो यह उत्पन्न होता है और न इसका नाश ही होता है। पुरुषचेतनाकाशरूप ही है। यह जो आप पुरुषोरुम बैठे हैं, चेतनाकाशरूप ही है। मैं भी अजर-अमर चेतनाकाश ही हूँ।

और ये तीनों लोक चेतनाकाश ही हैं। मैं अद्वितीय विन्मात्र ब्रह्म ही हूँ। ये शरीर आदि मेरे नहीं हैं। जब ऐसा वौघ प्राप्त हो जाता है, तब जन्म-मरण आदि अनर्थ कहाँ रह सकते हैं ? मैं विन्मात्र निर्विन ब्रह्म हूँ।' इस आत्मानुभवको जो स्वयं ही कुतकोंद्वारा खण्डित करते हैं वे आत्महत्यारे हैं। उन्हें विपरियोंके महातामरमें छाना पड़ता है। मैं आकाशसे भी स्वच्छ, नित्य अनन्त एवं निर्विकार चेतन हूँ, ऐसी दशामें क्या मेरा जीना, क्या मरना अथवा क्या मुख-दुःख भोगना है ? मैं परमाकाशस्वरूप चेतन ब्रह्म हूँ। ये शरीर आदि मेरे कौन होते हैं ?' इस तरह विद्वानोंके द्वारा अन्तकरणमें किये गये अनुभवका जो कुतकोंद्वारा अपलाप या खण्डन करता है, वह पुरुष आत्मघाती है। उसे बारंबार धिक्कार है। मैं खच्छ चेतनाकाश हूँ।' जिस पुरुषका यह रूप अनुभव नष्ट हो गया हो, उसे विद्वान् पुरुष जीनित शब्द समझते हैं अर्थात् वह जीता हुआ भी मुर्देके समान है। मैं ज्ञानखरूप परमात्मा हूँ। देह और इन्द्रियों भेरी कौन होती हैं ?' इस प्रकार अपरोक्षज्ञानके द्वारा जिसने आत्माको उपलब्ध कर लिया है, अविद्या आदि भलोंसे रहित उस विशुद्ध पुरुषको भृत्य आदि आपदाएँ विनोदित नहीं कर पातीं। जो शुद्ध विन्मय परमात्माका आश्रय लेकर मुसिर हो गया है, उस महापुरुषको मानसिक विनाश उसी तरह मोहित नहीं कर पाती हैं, जैसे महान् पत्थरको तुच्छ बाण। जिन पुरुषोंने अपने चिन्मय स्वभावको मुलाकार नश्वर शरीरपर ही आत्मा वौघ रखी है, उन्होंने वास्तवमें सुधर्णको त्यागकर भस्मको ही सोना मानकर ग्रहण किया है। मैं देहरूप ही हूँ।' इस यात्रामें पुरुषके बछ, बुद्धि और तेजश्च नाश हो जाता है तथा 'मैं चेतन आत्मा हूँ' इस दृढ़ निश्चयसे उसके बछ, बुद्धि और तेजकी उत्तरोत्तर बृद्धि होती है। मैं न तो छेदा जाता हूँ और न जलाया ही जाना हूँ; क्योंकि मैं बछके समान सुधृद चिन्मय परमात्मा हूँ। मेरी

अपने चिन्मय स्वरूपमें ही नित्य स्थिति है। मैं देहाभिमानी नहीं हूँ।' जिस पुरुषको ऐसा निश्चय हो गया है, उसके लिये यमराज भी तृणके समान तुच्छ है। चेतनपुरुष इस जगत्में जिस-जिस वस्तुको जिस रूपसे देखता या समझता है, उस वस्तुका उसी रूपसे

अनुभव करने लग जाता है। यह अनुभवसिद्ध बात है। इसलिये ये सब पदार्थविषाघृत (विषको अघृत-) दृष्टिसे देखे गये के समान स्थित हैं। अतः कोई भी वस्तु चेतन आत्मासे भिन्न नहीं है, यह बात पूर्णतः सिद्ध हो जुकी है।

(सर्ग ९४—९६)

### परमपदके विषयमें विभिन्न मतवादियोंके कथनकी सत्यताका प्रतिपादन

- श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! 'यह जगत् परमात्माका स्वप्न है, इसलिये चिन्मय है, ब्रह्माकाशरूप है, अतः सब कुछ वृद्ध ही है।' इस दृष्टिसे सबको सत्य जगत्का ही अनुभव होता है, असत्यका नहीं। 'पुरुष चिन्मय एवं अकर्ता है। अव्यक्त प्रकृतिसे महत्वत्व आदि-के क्रमसे इस जगत्की उत्पत्ति होती है।' ऐसी दृष्टि रखनेवाले आचार्य महानुभावोंके मतको भी सत्य ही समझना चाहिये; क्योंकि इस भावका चिन्तन करनेसे ऐसा ही अनुभव होता है। 'यह सारा दृश्य महस्त्व विनाश है—त्रैष ही इस दृश्यजगत्के रूपमें भासित हो रहा है।' ऐसी बातें कहनेवाले महापुरुषोंका मत भी सत्य ही है; क्योंकि इस तरह आलोचना करनेपर इसी रूपमें समस्त पदार्थोंका अनुभव होता है। इसी प्रकार जो लोग 'सम्पूर्ण जगत्को परमाणुओंका समूहरूप' ही मानते हैं, उनका वह मत भी सत्य ही है; क्योंकि उन्हें जिस-जिस पदार्थके विषयमें जैसा-जैसा अनुभव हुआ, उस-उस अनुभवके अनुसार की गयी उनकी कल्पना भी ठीक ही है। 'इस लोक या परलोकमें जो कुछ जैसा देखा गया है, वह वैसा ही है। उसे न सत् कह सकते हैं, न असत्। वास्तविक तत्त्व इन दोनोंसे, विलक्षण एवं अनिर्वचनीय है।' इस तरहका जो प्रौढ़ आध्यात्मिक मत है, वह भी सत्य ही है; क्योंकि वे वैसा ही अनुभव करते हैं। कुछ लोगोंका कहना है कि 'आहा—पृथ्वी आदि चार भूतोंका समुदाय ही जगत् है। इससे भिन्न अन्तर्यामी आत्माकी सत्ता नहीं है।' ऐसा कहनेवाले जो नास्तिक

हैं परतु वे भी अपनी दृष्टिसे ठीक ही कहते हैं; क्योंकि वे हन्दियातीत आत्माको अपने स्थूल देहमें ही दृঁढ़ते हैं, परंतु उसे पाते नहीं हैं। क्षणिक विज्ञानवादी जो 'प्रायेक पदार्थको क्षणगम्भूर' बताते हैं, उनका वह मत भी युक्ति-संगत ही है; क्योंकि सभी पदार्थोंका निरन्तर परिवर्तन एवं उल्ट-फेर देखनेमें आता है।

परमपद सम्पूर्ण शक्तियोंसे युक्त है। इसलिये उसके विषयमें जो जैसा कहता है, वह सभी सम्भव है। 'जैसे घडेके भीतर बंद हुआ गौरैया घडेका मुँह खोल देनेपर उड़कर बाहर चला जाता है, वैसे ही देहके भीतर बंद और देहके बराबर आकाशबाला जीव कर्मक्षय हो जानेपर उड़कर परलोकमें चल जाता है।' इस मतको भाजनेवाले लोगोंकी कल्पना भी उनके मतानुसार ठीक है। इसी तरह म्लेच्छोंका यह मत है कि 'जीव देहके बराबर ही बड़ा है। उसे ईश्वरने उत्पन्न किया है। जहाँ शरीर गाढ़ा जाता है, वह वहीं रहता है। ईश्वर काल्पन्तरमें उसके विषयमें विचार करते हैं। तब उन्हीं-की इच्छासे उसकी मुक्ति होती है अथवा वह स्वर्ग या नरकमें डाढ़ा जाता है।' आत्मसिद्धिके लिये की हुई म्लेच्छोंकी यह कल्पना उनके भावके अनुसार ठीक कही जा सकती है और उनके देशोंमें वह दूषित नहीं मानी जाती है। जो संत महात्मा हैं, वे 'ब्राह्मण, अग्नि, विष, अमृत, मरण और जन्म आदिमें भी समभाव' रखते हैं। यह भी ठीक ही है; क्योंकि विभिन्न विचारधाराके विद्वानोंका जो मत है, वह संब्र सर्वत्मा ब्रह्मसे भिन्न नहीं है।

इसलिये अपने-अपने मतके अनुसार साधन करनेपर उन्हें तदनुसार सिद्धि अवश्य प्राप्त होती है। आस्तिकोंके मतमें ऐसे यह लोक हैं, जैसे परलोक भी हैं। अतः पारलैकिक लाभके लिये किये गये तीर्थ-ज्ञान और अग्निहोत्र आदि निष्फल नहीं हैं।' ऐसी जो उनकी मानित भावना है, उसे सत्य ही समझना चाहिये। यह जात् न तो शून्य है और न अशून्य ही है, किंतु अनिर्वचनीय है। इस प्रकार माननेवाले बादियोंका मत भी असत्य नहीं है; क्योंकि सर्वशक्तिमान् ब्रह्मकी जो मायाशक्ति है, वह न तो शून्यरूप है और न सत्य ही है किंतु उसे अनिर्वचनीय समझना चाहिये। इसलिये जो अपने जिस निष्ठयमें दृढ़नामूर्खक स्थित है, वह यदि बालोचित चपलता या मूढ़ताके कारण उस निष्ठयसे हटे नहीं तो उसका फल अवश्य पाता है।

बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि सबसे पहले श्रेष्ठ चर्तुके

विषयमें विद्वानोंके साथ विचार कर ले, विचारके बाद जो निश्चित सिद्धान्त स्थापित हो, उसीको प्रहण करे। दूसरे जैसे-नैसे निष्ठयको नहीं ग्रहण करना चाहिये। शास्त्रोंके साम्याय और सद्व्यवहारकी दृष्टिसे जिस देशमें जो भी उत्तम बुद्धिसे युक्त हो, उस देशमें वही विद्वान् या पण्डित है। अतः सद्व्यवहारकी प्राप्तिके लिये उसीका आश्रय लेना चाहिये। उत्तम शास्त्रके अनुसार व्यवहार करनेवाले तथा तत्त्वज्ञानके लिये परस्पर वाद-विवाद करनेवाले सत्युल्लोकमें जो सबको आहाद प्रदान करनेवाला और अमिन्दनीय हो, वही श्रेष्ठ है। अतः उसीका आश्रय लेना चाहिये। रघुनन्दन। प्रत्येक जातिमें कुछ ऐसे नामी विद्वान् होते हैं, जिनके सूर्यनुल्य प्रकाशसे दिन प्रकाशित एव सार्थक होते हैं। जो मृदृ हैं, वे सभी बोहरूपी महासागरमें ससारचक्रके आवर्तन-प्रत्यावर्तन-से ऊपरनीचे होते हुए तृणके समान वहते रहते हैं।

( सर्ग ९७ )

### तत्त्वज्ञानी संतोंके शील-स्वभावका वर्णन तथा सत्संगका महत्व

श्रीकृष्णजी कहते हैं—श्रीराम। जो विवेकीं पुरुष संसारसे विरक्त हो परम पद परमात्मामें विश्राम कर रहे हैं, उनके लोभ, मोह आदि शत्रु स्वतः नष्ट हो जाते हैं। वे तत्त्वज्ञानी महात्मा न कोई अनुकूल वस्तु पापक दृष्टिं होते हैं, न किसीके प्रतिकूल कर्तव्यसे कुप्रिय होते हैं। न आवेशमें आते हैं, न आहारका संप्रह करते हैं, न लोगोंसे उद्दिग्न होते हैं और न स्थं ही लोगोंको उद्देश्यमें ढालते हैं। वे किसी भी बुरी-आच्छी कामनासे हठपूर्वक कष्टसाथ वैदिक कर्मोंके अनुष्ठानमें नहीं प्रवृत्त होते हैं। उनका आचरण मनोरम और मधुर होता है। ये प्रिय और कोमल वचन बोलते हैं। चन्द्रमाकी किरणोंके समान अपने सङ्गसे अन्तःकरणमें आहाद प्रदान करते हैं। कर्तव्योंका विवेचन करते और क्षणभरमें ही विवादका निर्णय कर-

देते हैं। उनका आचरण दूसरोंको उद्देश्यमें डालनेवाला नहीं होता है। वे सबके प्रति बन्धुभाव रखते हैं और बुद्धिमानोंके समान समुचित वर्तमान करते हैं। बाहरसे उनका आचरण सबके समान ही होता है, किंतु भीतरसे वे सर्वथा शीतल होते हैं। तत्त्वज्ञानी महात्मा शास्त्रोंके अर्थोंमें बक्ष रस लेते हैं। जगत्-में क्या उत्तम, अधम अथवा भला-भुरा है, इसका उन्हें अच्छी तरह ज्ञान होता है। स्याज्य और प्रादृश्यका भी वे ज्ञान रखते हैं तथा प्रारब्धकश जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसका अनुसरण करते हैं। लोक और शास्त्रके विस्तृत कार्योंसे वे सदा विरत रहते हैं। सज्जनोंके बीच रहने या सत्संग करनेके रसिक होते हैं। घरपर आये हुए याचकरूपी भयकका वे प्रफुल्ल कमलोंके समान अपने ज्ञानका ज्ञानाहृत सुगंध फैलाकर तथा उत्तम आश्रय एवं सुखद भौजन

देकत आदर-स्वार करते हैं। जनताको अपनी ओर खींचते हैं और लोगोंके पाप-ताप हर लेते हैं। बर्गकालके भौतिकी भौति वे स्त्रिय एवं शीतल होते हैं। धीर खम्भवताले ज्ञानी पुरुष राजाओंके नाशक और देशको छिन्न-भिन्न करनेवाले व्यापक जन-भोगको उसी प्रकार रोक देते हैं, जैसे पर्वत भूकम्पको।

ज्ञानी पुरुष चन्द्रमण्डलके समान सुन्दर अङ्गवाली गुणशालिनी पल्लीके समान विपरिकालमें उत्साह एवं धैर्य प्रदान करते हैं और समर्पितके समय सुख पहुँचाते हैं। माधुपुरुष वैशाख मास या वसन्तके समान अपने सुप्रशाली पुष्टसे सम्पूर्ण दिशाओंको निर्भल बनाते, उत्तम फलकी प्राप्तिमें कारण बनते और कोकिलके समान मीठी वाणी बोलते हैं। आपदाओंमें, बुद्धिनाशके अवसरोंपर भूख-स्थाप, शोक-मोह तथा जरापरण—इन छः ऊर्मियोंके प्राप्त होनेपर, व्याहुलताकी दशामें तथा घोर संकट आनेपर सांघु पुरुष ही सत्पुरुषोंके आश्रयदाता

होते हैं। काल-सर्पसे भरे हुए अस्त्रत भयंकर संसार-सागरको सत्पुरुषोंकी जहाजके बिना दूसरी किसी नौकासे पार नहीं किया जा सकता। उपर्युक्त उत्तम गुणोंमेंसे एक भी गुण जिसमें उपर्युक्त हो, उसके उसी गुणको सामने रखकर उसमें दीखनेवाले सब दोषोंकी उपेक्षा करके उसका आश्रय लेना चाहिये। सारे कालोंको छोड़कर सत्पुरुषोंका सङ्ग करे; क्योंकि यह सप्तसंग्रहीय कर्म निर्बाधरूपसे इहलोक और परलोक दोनोंका साधक होता है। किसी समय कहीं भी सत्पुरुषसे अधिक दूर नहीं रहना चाहिये। विनयधुक्त वर्ताव जलते हुए सदा सात्पुरुषोंका सेवन करना चाहिये; क्योंकि सत्पुरुषके समीप जानेवाले मनुष्यका उसके शान्ति आदि प्रसरणशील उत्तम गुण अनायास ही स्पृश करते हैं, जैसे सुगन्धित पुष्टवाले वृक्षके निकट जानेसे उसके पुण्य-पराग बिना यत्नके ही सुलभ हो जाते हैं।

( सर्ग ९८ )

### सत्का विवेचन और देहात्मवादियोंके भ्रतका निराकरण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रुचुनन्दन ! जो वस्तु शाश्वीय विचारसे उपलब्ध होती है तथा जिसकी सत्ता हेतुओं और युक्तियोंहारा सिद्ध है, वही सद् कही गयी है। शेर सभी वस्तुएँ प्रतीतिमात्र हैं। जो तीनों कालोंमें कभी हुई ही नहीं, वह वस्तु सद् कैसे हो सकती है ? मूर्खता दृष्टिमें इस संसारका जैसा सरूप है, उसे वही जानता है। हमलोगोंको उसका अनुभव नहीं है। मृग-तुण्याकी नदीके जलमें जो मछली रहती है, वही उसकी मिथ्या चञ्चल लहरोंके आवर्तन-ग्रस्यावर्तनको जानती होगी। तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिमें तो केवल एकमात्र चेतनाकाश ही बाहर-भीतर, तुम-मैं इत्यादि सब कुछ बनकर प्रकाशित हो रहा है।

श्रीरामजीने पूछा—ग्रहन् ! जिन लोगोंका यह फक्ष ( मक्ष ) है कि ‘जबतक जीवे, तबतक मुखसे

जीवे, मृत्यु अप्रलक्ष नहीं है। जो शरीर जलकर भस्म होकर ब्रह्म गया, उसका पुनः आगमन कहाँसे ही सकता है ?’ उनके लिये इस संसारमें दुःख-शान्तिका बन्ध उपाय है :

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! संवित्का जो-जो निश्चय होता है, वह अपने भीतर अखण्डरूपसे उसीका अनुभव करती है। इस बातका सब लोगोंको ग्रस्यक अनुभव है। अन्तःकरणमें नित्य-निरन्तर जैसी शुद्धिका उदय होता है, मनुष्य वैसा ही हो जाता है। यदि सवित्के बोधसे पुरुष हुखी हुआ है तो जबतक यह विश्व बोध रहेगा, तबतक जीव दुःखमय बना रहेगा। यह जगत् सचिदानन्दरूप ब्रह्मकाशका स्फुरणमात्र ही है, ऐसी मात्रा इद्ध हो जाय तो वह दुःखका बोध कैसे हो सकेगा ? जो जगत् वस्तुतः कूटस्थ अद्वितीय चेतनाकाशरूप

है, उस जगतसे किसको कैसे दुःखका बोध हो सकता है। जीवकी जैसी छड़ मावना होती है, उसीके अनुसार वह सुखी या दुखी होता है, ऐसा निश्चय है। जिनके मतमें चेतनसे शरीरोंकी कल्पना हुई है, वे श्रेष्ठ पुरुष

बन्दनीय हैं; परंतु जिनके मतमें शरीरसे चेतनकी उत्पत्ति होती है, उन नराधमोंसे बालतक महीं करनी चाहिये। ( ऐसे लोग दुःखसे कैसे छूट सकते हैं। )  
( सर्ग ९९-१०० )

## सबकी चिन्मात्ररूपताका निरूपण तथा ज्ञानी महात्माके लक्षणोंका वर्णन

श्रीकृसिंघजी कहते हैं—खुनन्दन ! चिन्मात्र ही पुरुष है, वही हस प्रकार नाना रूपोंमें अवस्थित है। उस चिन्मात्र परम पुरुष परमात्माके सिवा दूसरी किस वस्तुकी सत्ता यहों सम्भव हो सकती है ; मेरे सारे अङ्ग चूर्छूरहोकर परमणुके तुल्य हो जायें अथवा बढ़कर सुमेरु पर्वतके समान विशाल हो जायें, इससे मेरी क्या क्षति हुई अथवा क्या वृद्धि हुई ? क्योंकि मेरा वास्तविक सरूप तो सचिदानन्दमय है। हमारे पितामह आदिके शरीर मर गये, किंतु उनका चैतन्य तो नहीं मरा है। यदि वह भी मर जाता तो मृत आत्मावाले उनका तथा हमलोगोंका फिर जन्म नहीं होता। किंतु पुरुष अविनाशी चिन्मय ही है। वह आकाशके समान नित्य है। उसका कभी नाश नहीं होता है। ‘मैं नष्ट होता हूँ या मरता हूँ’ इस तरहका जो शोक है, वह सर्वथा व्यर्थ है। इसलिये न तो मरण दुःखरूप है और न जीवित रहना सुखरूप। यह सब कुछ नहीं है। केवल अनन्त चेतन परमात्मा ही हस तरह स्फुरित हो रहा है।

श्रीरामजीने पूछा—अहम् ! आदि और अन्तसे रहित परमतत्त्व परमात्माका भलीभौति ज्ञान हो जानेपर उसम पुरुष कैसा—किन-किन लक्षणोंसे सम्भव हो जाता है ?

श्रीकृसिंघजीने कहा—श्रीराम ! जिसे ब्रेय वस्तु परमात्माका भलीभौति ज्ञान हो गया है, ऐसा जीवन्मुक्त श्रेष्ठ पुरुष कैसा होता है तथा वह जीवनपर्यन्त कैसे स्वभावसे युक्त हो किस आचारका पालन करता रहता है, वह बताया जाता है, मुझो। ऐसा पुरुष यदि जंगलमें रहता

हो तो वहों पथर भी उसके मित्र हो जाते हैं। उनके बृक्ष बन्धु-आन्ध्रव और वन्य मुग्गोंके बच्चे उसके सजन बन जाते हैं। यदि वह विशाल राज्यमें रहता हो तो वहों जनसमुदायसे मरा हुआ सान भी उसके लिये शून्य-सा ही हो जाता है। विपत्तियाँ वही भारी सम्पत्तियाँ हो जाती हैं और नाना प्रकारके व्यसन ही उसके लिये सुन्दर उत्सव बन जाते हैं। उसके लिये असमाधि भी समाधि है। दुःख भी महान् सुख ही है। ज्ञानीका व्यवहार भी गौम है और कर्म भी अकर्म ही है। वह जाप्रत-अवश्यमें रहकर भी सुषुप्तिमें ही रित है ( क्योंकि निर्विकल्प आत्मामें उसकी सुदृढ़ स्थिति है )। वह जीवित रहता हुआ भी देहाभिमानसे शून्य होनेके कारण मृतके ही तुल्य है। वह समस्त आचार-व्यवहार-का पालन करता है, तो भी कर्तृत्वके अभिमानसे रहित होनेके कारण कुछ भी नहीं करता है। वह रसिक होकर भी अव्यन्त निरक्षा है। करुणारहित होकर भी सबको अपना बन्धु मानकर सबके प्रति स्नेह रखता है। निर्दय होकर भी अस्पृश करणसे मरा हुआ है और खर्य तुल्यासे शून्य होकर भी पराये हितके लिये तृष्णा रखता है। उसके आचारका सभी अभिनन्दन करते हैं तथापि वह सभी आचारोंसे बहिष्कृत है। शोक, भय और आयाससे शून्य होनेपर भी वह दूसरोंका दुःख देखकर शोकयुक्त-सा दिखायी देता है। उस पुरुषसे जगतके प्राणियोंको कभी उद्गेग नहीं प्राप्त होता तथा वह भी उनसे कभी उद्दिग्न नहीं होता। संसारमें ( ज्ञान-

नन्दका ) रसिक होकर भी वह संसारी मनुष्योंसे अन्यन्त विरक होता है । वह प्रात् हुई वस्तुका न तो अभिनन्दन करता है और न अप्राप्त वस्तुकी अभिजापा ही । अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थका अनुभव होनेपर भी वह हर्ष और विशादमें नहीं पड़ता । वह दुखी पुरुषके पास दुखियोंकी ही चर्चा करता है, दुखीके पास सुखकी ही कथा कहता है और स्वयं सभी अवस्थाओंमें हार्दिक हुःख-मुखसे पराजित न होकर सदा एक-सा स्थित रहता है । शास्त्रविहित शुभकर्मसे मिल दूसरा कोई नियिद्व कर्म उसे किंचिन्मात्र भी अच्छा नहीं लगता । महात्मा पुरुषोंका यह समाव ही है कि वे शास्त्रविपरीत चेष्टा कभी नहीं करते हैं ।

जीवन्मुक्त महात्मा न तो कहीं आसक्त होता है और न किसीसे अकल्पात् विरक ही होता है । वह धनके लिये याचक होकर नहीं घूमता है और भीतरसे वीतराग होकर भी उपरसे रागयुक्त-सा जान पड़ता है । शास्त्रके अनुसार व्यवहार करते हुए क्रमशः जो सुखदुःख प्राप्त होते हैं, उनसे वस्तुतः वह अछूता रहता है तो भी उनका त्यक्ष-सा करता जान पड़ता है । वह उन सुख-दुःखोंसे हर्ष और विशादके वशीभूत नहीं होता । अक्षय ज्ञानी महात्मा दूसरोंके सुखसे प्रसन्न और दूसरोंके ही दुःखसे दुखी देखे जाते हैं, परंतु वे भीतरसे अपने समताशूर्ण स्वभाव-का परिणाम कभी नहीं करते; क्योंकि वे संसारखूपी नाट्यशालाके नट हैं । अपने कहै जानेवाले पुत्र आदि जितने पदार्थसमूह हैं, वे सब वस्तुतः पानीके दुल्हुओंके समान मिथ्या हैं । अतः तत्त्वदर्शी महात्माज्ञा उनके प्रति ( भोहरूप ) स्नेह नहीं होता है । पर वह ज्ञानी महात्मा त्सेहरहित होनेपर भी घनीभूत स्नेहसे आर्द्ध हृदयवाले पुरुषकी भाँति यथायोग्य वात्सल्य-हृत्सिका दर्शन करता हुआ व्यवहार करता है । वह बाहरसे समस्त द्विष्ठाचारोंके पालनमें संलग्न रहकर भी भीतर सर्वथा शान्त बना रहता

है । उसके अन्तः करणमें किसी प्रकारका आवेश नहीं होता तो भी बाहरसे कभी-कभी आविष्ट-सा दिखायी देता है ।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—मुनीश्वर । अश्वके सदृश ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए कल्पित चिरवाले दम्भी मनुष्य भी तो छाठमूँहमें अपनी तपस्याकी ढदता दिखलानेके लिये ऐसे लक्षणोंसे युक्त हो सकते हैं । किंतु, कौन सन्चे महात्मा हैं और कौन दम्भी, इसे कौन जान सकता है ?

श्रीकृष्णजीने कहा—रघुनन्दन । ये लक्षण सत्य हैं या असत्य, किंतु ऐसे लक्षणोंसे युक्त खरूपका होना वर हालतमें अच्छा ही है ( इन लक्षणोंसे सम्पन्न पुरुष दम्भी हो तो भी आदरणीय ही है ) । जो वेदार्थतत्त्व-परमात्माके ज्ञाता हैं, उनमें तो ये गुणसमूह सामाजिक अनुभवके बलसे ही प्रतिष्ठित रहते हैं । वे जीवन्मुक्त पुरुष वीतराग तथा क्रियाके फलोंमें आसक्तिसे शून्य होते हुए ही रागयुक्त पुरुषोंके समान चेष्टा करते हैं । वे दुखियोंको देखकर सहसा करुणासे भर जाते हैं । चित्त-खृपी दर्पणमें प्रतिविमित हुए समस्त दृश्यप्रकाशको वे कपटभूमिके समान असद् देखते हैं । सून्धमें हस्तगत हुए सुवर्णको जैसे जाग्रत्तकालमें असद् माना जाता है, वैसे ही वे इस बगर्तको असद् समझते हैं ।

जिन्हें ह्रेय पदार्थ—परमात्माका मलीभौति ज्ञान हो चुका है और जो उन ज्ञानी महात्माओंके समान ही पवित्र अन्तःकरण-वाले हैं, वे ही उन महात्माओंके महत्वको ठीक-ठीक जान पाते हैं, जैसे सौंपके पदचिह्नोंको साँप ही समझ पाते हैं । श्रेष्ठ पुरुष तो अपने सर्वेत्तम भावको छिपाये फिरते हैं । भला, गाँव और नगरोंके धनोंसे जिसका खरीदा जाना असम्भव है, ऐसी कौन-सी चिन्तामणि बाजारमें बिकनेके लिये आती है ? उन तत्त्वज्ञानी महात्माओंका भाष अपने गुणोंको छिपाये रखनेमें ही होता है, दूसरोंके सामने प्रदर्शन करनेमें नहीं; क्योंकि वे बासनासे शून्य, द्वैत-

हीन एवं अभिमानसे रहित होते हैं । \* श्रीराम । उन महात्माओंको एकान्तसेवन, असम्भान, मुरी स्थिति तथा साधारण लोगोंद्वारा की गयी अवहेलना—ये सब चीजें जैसा सुख पहुँचाती हैं, वैसा सुख उन्हें बड़ी-बड़ी समृद्धियाँ भी नहीं दे सकतीं ।

तत्त्वज्ञानकीं सारभूत जो निरतिशय आनन्द है, वह एकमात्र अपने अनुभवसे ही जाननेयोग्य है, उसे दूसरेको दिखाया नहीं जा सकता । तत्त्वज्ञ पुरुष भी उसे नहीं देखता, केवल स्वप्रकाशखलपरसे उसका अनुभव करता है । ‘लोग मेरे इस गुणको जानें और मेरी पूजा करें’ ऐसी इच्छा अहंकारियोंको ही होती है । जिनका विच्च अहंकारसे मुक्त है, उनके भीतर ऐसी इच्छाका उदय नहीं होता है । + रघुनन्दन ! आकाशमें गमन आदि जो क्रियापूर्व हैं, वे तो मन्त्र और वौषधके प्रभावसे अज्ञानियोंके लिये भी सिद्ध ( सुलभ ) हो जाते हैं । कोई ज्ञानी हो या अज्ञानी, जो लक्ष्यसिद्धिके लिये जैसा क्लेश सहन करनेमें समर्प हो, वह वैसा ही फल कर्मानुसार अवश्य प्राप्त कर लेता है । चन्दनकी सुगम्यकी मौति विहित और निषिद्ध कर्मोंका फल सभीके उदयमें अद्वृत्त रूपसे विद्यमान है । समय पाकर प्रकट हुए उस फलको उसका अधिकारी जीव अवश्य पाता है । + यह आकाशगमन आदि फल कुछ भी नहीं है—अत्यन्त तुच्छ है अथवा मनका भ्रममात्र है, या अधिष्ठानभूत खिदाकाशमात्र है— जिसे ऐसा ज्ञान हो गया है, वह बासनाशून्य तत्त्व-

\* भावं निगृहयन्त्येते तसुत्तमनुत्तमाः ।  
ग्राम्यैर्जनैः किलान्तर्याः कर्मिन्तामभिरप्येऽपि ॥  
तस्मिन्निगृहने भावो यतस्तेवा न दर्शने ।  
निर्बाधना गतदैता गतमानाः किलाङ्गते ॥

( निः प्र० उ० १०२ । २७-२८ )

\* गुणं मयेयं जानातु अनः पूजा करोदु ने ।  
इत्यहकारिणामीहा न त्वं तन्मुक्तेतत्त्वम् ॥

( निः प्र० उ० १०२ । ११ )

पुरुष कर्मकी वर्वदररूप उन मन्त्रौविषि-साध्य क्रियाओंका साधन कैसे करेया ? उस महापुरुषका इस विश्वमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मोंके न करनेसे ही किसी भी प्राणीमें उसका क्रिक्षिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता । इस पृथ्वीपर, स्वर्गमें अपवा देवताओंके यहाँ भी कहीं कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो उस उदारतेता परमात्मज्ञानीको लुमा सके । \* जिसके लिये सारा संसार ही तिनकोके समान तुच्छ हो गया है, जिसमें रजोगुणका लेश भी नहीं है, उस ज्ञानी महात्माके लिये एकमात्र परमात्मासे भिन्न दूसरी कौन-सी वस्तु उपादेय हो सकती है :

लोकसंग्रहकं लिये जिसने जगत्के व्यवहारोंका पूर्णरूपसे निर्वाह किया है, जिसका इद्य परिष्ठ॑ ( निष्ठाम ) है, वह मननशील जीवनमुक्त पुरुष अपने स्वरूपमें ज्यो-कृष्ण-स्वयं स्थिर रहकर यथाप्राप्त शिष्टाचारका अनुसरण करता है । जो भीतरसे नित्य ज्ञान और मौली है तथा जिसकी भनोभूमि सत्त्वगुणमय हो गयी है, वह महात्मा भरे हुए महासागरके समान सब ओरसे पूर्ण होता है । तथा उसका आशय गम्भीर होनेके साथ ही दुर्लक्ष होता है । तत्त्वज्ञानी पुरुष अमृतसे भरे हुए सरोबरके समान अपने आत्मामें स्वयं ही आनन्दकी हिलेंरे लेता है तथा निर्मल एवं पूर्ण चन्द्रमाके समान दूसरोंको भी आहाद प्रदान करता है ।

\* यह सारा विश्व भ्रममात्र है, विद्या इन्द्रजाल है— ऐसे इदं निष्ठयके कारण ज्ञानी पुरुष इच्छाओंसे सर्वथा रहित हो जाता है । ज्ञानी महात्मा अपने शरीरके सर्दी-गरमी आदि दुःखोंको भी इस तरह अवहेलन-पूर्वक देखता है, मानो वे दूसरेके शरीरमें हों ।

\* न तदति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा कचित् ।  
यद्युदारमनोहृत्येऽमाय विदितात्मनः ॥

( निः प्र० उ० १०२ । १८ )

केवल परहितके लिये फल-कूल धारण करनेवाली लताके समान धीर शृंगिसे तथा कल्पाके कारण उदाहर शृंगिसे वह महात्मा दुखी प्राणियोंका परिष्ठालन खरता है। वह संसारसे विरक्त होकर ऐसी सारभूत स्थितिको अपनाता है, जिसमें जलमात्र भ्रष्ट करके भी संतोष माना जाता है। साधारण लोगोंके समान यथाग्रात् व्यवहारका सम्पादन करता हुआ वह महात्मा चराचर भूतोंके ऊपर ( परमात्मामें ) ही स्थित होता है।

कोई महात्मा पर्वतकी गुफाको ही धर मानकर उसमें रहता है। कोई पवित्र आश्रममें निवास करता है। कोई गृहस्थाश्रमी होता है और कोई प्रायः इधर-उधर घूमता रहता है। कोई भिक्षाचर्यासे निर्वाह करता है, कोई एकान्तमें बैठकर तपस्या करता है, कोई मौनमत धारण किये रहता है, कोई परमात्माके व्यानमें संलग्न होता है, कोई प्रख्यात पण्डित होता है, कोई श्रुतियोंका श्रोता होता है, कोई गजा, कोई शारण और कोई भूदके समान स्थित रहता है, कोई सिद्ध गुटिका, अंजन और खड़ आदिसे सिद्ध होकर आकाशगामी बना रहता है, कोई शिल्पकलासे जीवन-निर्वाह करता है, कोई पामरके समान रूप धारण किये

रहता है। कोई सारे वैदिक आचारोंका परिवाग कर केता है तो कोई कर्मकाण्डयोंका सरदार बना रहता है, मिसीका चरित्र उन्मत्तोंके समान होता है और कोई संन्यास-मार्गका आश्रय लेता है।

शरीर आदि और चित्र आदि कुछ भी पुरुषका स्वरूप नहीं है। केवल चेतना-तत्त्व ही पुरुष है। उसका कभी नाश नहीं होता है। यह आत्मा अच्छेष है—इसे कोई काट नहीं सकता। यह अदात है—इसे कोई जला नहीं सकता। यह अक्लेष है—इसे कोई पानीसे मिगो या गला नहीं सकता। यह अशोष्य है—इसे कोई बुखा नहीं सकता। यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, अचल, सिर रहनेवाला और सनातन है। तत्त्व पुरुष पातालमें सुमा जाय, आकाशको लौंबकर उसके ऊपर चला जाय अथवा सम्पूर्ण दिशाओंमें वेगपूर्वक भ्रमण करे, जिससे पर्वत आदिसे टकराकर वह पिस जाय या चूर-चूर हो जाय, परंतु उसका जो चिन्मात्र स्वरूप है वह अजर-अमर बना रहता है, वह कभी नष्ट नहीं होता; क्योंकि वह आकाशके समान अनन्त सदा शान्त, अजन्मा और कल्प्याणमय परमात्मवरूप ही है।

( सर्ग १०१, १०२ )

### इस शास्त्रके विचारकी आवश्यकता तथा इससे होनेवाले लाभका प्रतिपादन, वैराग्य और आत्मधोधके लिये ग्रेषणा तथा विचारडारा धासनाको क्षीण करनेका उपदेश

श्रीषतिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! शम, दम आदि साधनसे सम्पूर्ण पुरुषको चाहिये कि वह उद्देश छोड़कर प्रतिदिन गुरु-श्रुत्वा आदि नियमपूर्वक करता हुआ इस महारामायण नामक शास्त्रका विचार करे। यह शास्त्र इहलोक और परलोक दोनोंके लिये हितकर तथा कल्याणकारी है। आप सब समासदू भौति-भौतिकी असम्भावना एवं विपरीतमावना आदिको अपने हृदयमें स्थान दिये हुए हैं। इसलिये मिल-जुल्मकर अन्यास न करनेसे आप लोगोंका जाना हुआ भी यह आत्मज्ञान मूल जानेके कारण अनन्तान्त्रा हो रहा है। जो जिस वस्तुको चाहता है,

वह उसके लिये यत्न करता है। वह यदि शक्तकर उस प्रयत्नसे निवृत्त न हो जाय तो अपनी अभीष्ट वस्तुको अश्वय प्राप्त कर लेता है। इस शास्त्रके सिवा कल्याणका सर्वश्रेष्ठ साधन आजतक न तो हुआ है और न आगे होगा ही। इसलिये परम बोक्ती प्राप्तिके लिये इसीका बारंबार विचार एवं मनन करना चाहिये। इस शास्त्रका मलीभौति विचार, करके स्थित हुए पुरुषको खर्च ही उसम परमात्मतत्त्वका बोध एवं अनुभव होने लगता है। वरदान और शापकी भौति यह विलम्बसे अपना फल नहीं प्रकट करता।

यह परमात्मजोघ संसार-भारीके भ्रमको हर लेनेवाल है । जो न तो पिताने, न माताने और न जुम कर्मने ही अबतक सिद्ध किया है, वही आपका परम कल्पण यह महारामायण-शास्त्र तत्काल सिद्ध कर देगा, यदि आप अष्टासूर्यक इसे भलीभौति जान लें । साधुकिरोमण ! यह संसार-न्यन्तरमयी विशृचिका ( हैंगा ) वकी भयंकर है और दीर्घकालतक टिकी रहनेवाली है । आत्मजानके सिवा दूसरी किसी दबासे यह कभी शान्त नहीं होती ।

मनुष्यो ! आपातभवुर, शून्य एवं निस्सार विषयोंका आत्मादन करते हुए तुम्हेग खाली हशा चाठनेवाले सर्वोंके समान आकाशरूपी अनन्त सुसारकी ओर पैर न बढ़ाओ । वहे काटकी बात है कि तुम्हारे दिन केवल औकिक व्यवहारमें ही इस तरह बीत रहे हैं कि वे कब आये और कब गये, इसका तुम्हें पता ही नहीं लगता । इन्हीं बीतते हुए दिनोंके द्वारा तुम्हेग केवल अपनी भौतिकी यह देख रहे हो । लोगो ! तुम मन और मोहसे रहित होकर तत्कालानके द्वारा उत्तम मोक्ष-पदको प्राप्त करो । अधम संसार-गतिमें न पढ़ो । आत्मजानके द्वारा वही-से-वही आपत्तियोंका मूलोच्छेद कर दिया जाता है । जो बाज ही परमरूपी आपसिसे छवनेका उपाय नहीं करता है, वह मूँह स्पानवसामें, जब जीत सिरपर सवार हो जायगी, तब क्या करेगा ?

आदरणीय समासदो ! मैं न तो मनुष्य हूँ, न जाते हैं ।

( सर्ग १०३ )

### मोक्षके स्वरूप तथा जाग्रत् और स्थमतीकी समताका निरूपण

श्रीसिद्धजी कहते हैं—निर्मल आत्मरूपका ज्ञान प्राप्त हो जानेपर जो औकिक हुँस और मुखसे रहित अक्षय परमानन्दरूपता प्राप्त होती है, वही मोक्ष है । यह शरीरके रहने वा न रहनेपर भी समानरूपसे ही उपलब्ध होता है । उसी मोक्ष-सुखमें सबका पूर्ण विश्राम हो ।

गमने हूँ, न देवता हूँ, न राक्षस ही हूँ, अपितु आप लोगोंका सूक्ष्म संविद्रूप विशुद्ध आत्मा हूँ और इस प्रकार उपदेश देनेके लिये वहाँ वैद्य हूँ । आपलोग भी ज्ञान वैतन्यमात्र ही हैं । आपन्त निर्मल किन्मत्रत्वरूप मैं आपलोगोंके पुण्यसे ही वहाँ उपस्थित हूँ । आपकी आत्मासे मिल नहीं हूँ । जबतक भौतिके काले दिन नहीं आ रहे हैं, तभीतक सब वस्तुओंमें वैरामरूपी पहला सार पदार्थ समेकत्व रख ले । जो इस शरीरमें रहते हुए ही भरकरूपी रोगकी विकिसा नहीं कर लेता, वह औषधशान्त प्रदेश ( फ्लोक ) में पहुँचकर उस रोगसे पीड़ित होनेपर क्या करेग ? जबतक समस्त पदार्थोंकी ओरसे वैराग्य नहीं प्राप्त होता, तबतक उन पदार्थोंकी वासना क्षीण नहीं होती है । महामते ! आत्माका पूर्णरूपसे उद्धार करनेके लिये वासनाको क्षीण करनेके सिथा दूसरा कोई उपाय कभी सफल नहीं होता । पदार्थोंकी सत्ता होती है, तभी उनमें अनुकूलता हुई होनेसे वासना होती है । किंतु ये पदार्थ तो खरगोशवे सींग आदिकी भौति हैं ही नहीं । ( किंतु उनमें वासना बनी रहनेका क्या कारण है ? ) जगत्के सर्व पदार्थ तभीतक भनोहर प्रतीत होते हैं, जबतक विउनके स्वरूपपर सम्बद्ध विचार नहीं किया जाता । विचार करनेपर उनकी सत्ता ही सिद्ध नहीं होती । अत वे जीर्ण-कीर्ण होकर न जाने कहाँ बिलीन क्ष

श्रीरामचन्द्रजीने पूछ—स्वप्न और जाग्रत्-दोनों एक समान कैसे हो सकते हैं ?

श्रीसिद्धजीने कहा—रुद्रनन्दन ! स्वप्न देखनेवाल पुरुष स्वप्नके संसारमें लक्षणत बन्धुजनोंके साथ विद्युत करनेके पश्चात् वहाँ गुस्तुको प्राप्त होता है । स्वप्न शरीरकी निरूपि ही स्वप्नशृणकी गृह्य है । स्वप्न-संसार

मरकर जीव जब समग्रत प्राणियोंसे वियुक्त होता है, तब इस जाग्रत्-संसारमें जागता है और निद्रासे मुक्त कहलाता है। जो स्वप्नका दृष्टि है, वह सम-संसारमें अनेकानेक शुख-दुःख-दशाओंका, मोहका तथा रात और दिनके उलट-फेरका अनुमत करके वहाँ मरता—स्वप्न-शरीरका ल्याग करता है। फिर निद्रा दूट जानेके कारण निद्राके अन्तमें वह यहाँ शयनस्थानमें मानो नया जन्म लेना है और जाग्रत्-शरीरसे सम्बद्ध होता है। तदनन्तर व्ये समझें देखे गये अनुभ्याभ्य सत्य नहीं थे। इस विद्याससे युक्त होता है। जैसे स्वप्न देखनेवाला पुरुष स्वप्नके संसारमें मृत्युको प्राप्त होकर अर्थात् स्वप्न-शरीरका ल्याग करके दूसरे जाग्रनमय स्वप्नको देखनेके लिये पुनः जन्म लेता था जाग्रत्-शरीरसे सम्बद्ध होता है, उसी तरह जाग्रनमय स्वप्न देखनेवाला पुरुष जाग्रत्-संसारमें मृत्युको प्राप्त होकर दूसरे जाग्रनमय स्वप्नको देखनेके लिये पुनर्जन्म ग्रहण करता है। जैसे एक जाग्रतमें मरकर दूसरे जाग्रतमें उत्पन्न हुआ पुरुष पूर्व जाग्रत् प्रपञ्चके विषयमें वह स्वप्न एवं असत् था ऐसी प्रतीतिको नहीं प्राप्त होता, उसी तरह एक स्वप्नसे दूसरे स्वप्नको प्राप्त हुआ पुरुष बादबाले स्वप्नमें स्वप्नकी प्रतीतिको नहीं प्राप्त होता, वरं जाग्रत्की ही प्रतीति ग्रहण करता है। यह उसकी बुद्धिकी मूढ़ताका ही परिणाम है। जैसे बादबाले स्वप्नमें जाग्रत्की प्रतीति अग्रमात्र ही है, वैसे ही पूर्व-जाग्रत्को स्वप्न और असत् न समझना भी मूढ़ता ही है। स्वप्नदृष्टि पुरुष स्वप्नमें भी फिर अन्य स्वप्न-दर्शनका अनुमत करता हुआ उस स्वप्नको ही जाग्रत्-रूपसे ग्रहण करता है। इस

प्रकार जाग्रत् और स्वप्न नामकी दो अवस्थाओंमें जीव न तो स्तः उत्पन्न होता है और न मरता ही है। किंतु उन-उन जाग्रत् और स्वप्नके शरीरोंमें अभिमान करता और छोड़ता है। यही उसका जन्म लेना और मरना है। स्वप्न-दृष्टि जीव स्वप्नमें मरकर इस जाग्रण अवस्थामें जागा हुआ कहलाता है और इस जाग्रतमें मरा हुआ जीव अन्यत्र जाग्रत्-रूप स्वप्नमें जागा हुआ कहला जाता है, (इस तरह स्वप्न और जाग्रत्की समता ही सिद्ध होती है)। एक स्वप्नसे दूसरे स्वप्नमें विष्टि होनेपर दूसरा स्वप्न ही पहले स्वप्नकी अपेक्षा वर्तमान होनेसे जाग्रत् समझा जाता है। इसी प्रकार जाग्रत्में मरकर दूसरे जाग्रत्-रूप स्वप्नमें जगे हुए पुरुषके लिये पहली जाग्रदवस्था अवश्य ही स्वप्न हो जाती है। इस दृष्टिसे जाग्रत् और स्वप्न—दोनों ही अतीत घटनाके समान हैं। वर्तमानकालमें दोनोंमेंसे किसीकी भी सत्ता नहीं है। इस कारण वे परस्पर एक दूसरेके उपमान और उपमेय बने हुए हैं। वर्तमान अवस्थामें तो स्वप्न भी जाग्रत्के समान ही प्रतीत होता है और बीता हुआ जाग्रत् भी स्वप्नके समान ही है। वास्तवमें दोनों ही असत् हैं। केवल चिदाकाश ही स्वप्न और जाग्रत्के रूपमें स्फुरित होता है। सौभाग्यशाली रघुनन्दन। जैसे स्वप्नमें दीखनेवाले नगर, पर्वत और गृह आदि विभ्य आकाश ही हैं, उसी तरह जाग्रतमें भी ये नगर, पर्वत आदि चिदाकाश-मय ही हैं। स्वप्न और जाग्रत्—दोनों अन्तमें विकल्प-शून्य, शान्त, अनन्त, एक विन्मात्र ही शेष रह जाते हैं। इस प्रकार तत्के विषयमें वादियोंका विवाद व्यर्थ है।

( सर्ग १०४-१०५ )

### चिदाकाशके स्वरूपका प्रतिपादन तथा जगत्की चिदाकाश-रूपताका वर्णन

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—क्वान्। चेतनाकाशरूप जो परम है, वह कैसा है? यह कृपापूर्वक फिर बताइये।

आपके मुखारविन्दसे इस अपृतमय उपदेशको सुनते हुए सुझे तृप्ति नहीं हो सकी है।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! जैसे समान रूप-रंगबाले दो झुड़वें भाइयोंके व्यवहारके लिये दो पृथक् नाम रखे जाते हैं, जैसे ही अखण्ड सचिदानन्दधन स्फटिक शिल्पमें प्रतिविम्बकी भौति स्थित हुए जो दो प्रपञ्च हैं, उनके व्यवहारके लिये दो नाम रख दिये गये हैं—जाग्रत् और स्वप्न । जैसे दो जलोंमें भेद नहीं होता, उसी प्रकार इन जाग्रत् और सम अवस्थाओंमें भी वास्तविक भेद नहीं है; क्योंकि वे दोनों ही एक, निर्भल विन्मात्र आकाशरूप ही हैं । जिसमें सब कुछ लीन होता है, जिससे सबका प्रादुर्भाव होना है, जो सर्वरूप है, जो सब और व्याप्त है तथा जो नित्य सर्वमय है, उस परब्रह्म परमात्माको ही चेतनाकाश या चिदाकाश कहते हैं । सर्वगमें, भूतलमें, बाहर-भीतर तथा दूसरेमें जो सम नामक ज्योति-सरूप परमतत्त्व प्रकाशित हो रहा है, वह चिदाकाश कहलाता है । सम्भूर्ण विश जिसका अहु है, जिस नित्य सर्वव्यापी परमात्मामें यह मर्त्त और अमर्त्त जगत् उसी तरह प्रकट है, जैसे मनवृत तांगोंमें माला, उसीको चिदाकाश कहते हैं । सुषुप्ति और प्रलयरूप लिद्धाकी मिश्रित होनेपर जिससे विश प्रकट होता है और जिसकी विक्षेपणकिंके शान्त होनेपर उसका ल्य हो जाता है, उस परब्रह्म परमात्माको चिदाकाश कहते हैं । जिसके उन्मेष और निमेषसे ( पलकोंके उठाने और गिरानेसे ) जगतकी सत्ताके ल्य और उदय होते हैं, जो सामूहकरूप होकर अपने हृदयमें स्थित है,

### राजा विपश्चित्‌के सामन्तोंका वध, उच्चर दिशाके आक्रमणसे राजपरिवार

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! इस मूल आदिके रूपसे इश्यकी ग्रतीति होना ही अविद्या है । जिन अज्ञानियोंके अन्तःकरणमें अविद्या विद्यमान रहती है, उनकी उस अविद्याका ( ज्ञानके बिना ) कोई अन्त नहीं है, जिस प्रकार ग्राहका कोई अन्त नहीं है । इस विषयमें मैं तुम्हें एक कथा कहता हूँ, सुनो । लोकालोक पर्वतकी

उसे चेतनाकाश समझना चाहिये । श्रुति ने ‘यह नहीं, यह नहीं’ इस प्रकार निषेधमुख्यसे सबका निराकरण करके जिसे उस निषेधकी अवधि बताकर उसके लक्ष्य लक्षणका सर्वथा निर्णय कर दिया है तथा जो सदा सब कुछ होकर भी बस्तुतः कुछ नहीं है, वह सर्वाधार परमात्मा चिदाकाश कहलाता है । बाध और आन्धन्तर विग्रोंसे युक्त यह इस तरह दृष्टिगोचर होनेवाला सारा विश जैसा है, उसी रूपमें चेतनाकाशमय ही है । अतः इन्द्रियोंसे विग्रयोंका अनुभव करते हुए भी अन्तःकरणको वासनाशून्य रखकर तत्त्वज्ञानद्वारा छुद्द-बुद्ध एकमात्र सचिदानन्दधनरूप ही सुषुप्तिकी भौति स्थित रहना चाहिये । वासनाशून्य शान्तवित्त हो जीवित रहते हुए भी पापाणके समान मैन धारणकर सचिदानन्दधन परमात्मामें निमग्न रहते हुए ही बोलना, चलना और खाना-पीना चाहिये ।

पृथ्वी आदिसे रहित जो स्वप्न-जगत् है और पृथ्वी आदिसे युक्त जो जाग्रत्-जगत्कालका जगत् है—ये दोनों ही प्रकारके जगत् चिदाकाशरूप हैं । जैसे स्वप्न आदि अवस्थाओंमें केवल चिन्मयमणि ( आत्म ) ही विभिन्न वस्तुओंके रूपमें भासित होती है, उसी प्रकार इस जाग्रत्-जगत्कालिक दृश्यप्रपञ्चके रूपमें केवल चिदाकाश ही सुरित हो रहा है । इस चिदाकाशका जो स्वानुभवैकाशून्य निराकार रूप है, वही भूतल आदिके रूपसे दृश्य नाम धारण करके प्रतीतिका विषय हो रहा है । ( सर्ग १०६-१०७ ) सेनापतिका धार्यल होकर आना तथा शशुओंके और प्रजाओं धरवाहट

किसी खण्डमध्यी-सी शिल्पके भीतर विषयमान चिदाकाशके एक क्षेत्रमें किसी प्रदेशके अन्तर्गत एक शिलोकी वसी हुई है, जो इसी त्रैलोक्यके समान है और वहाँ भी यहाँकी अवस्थाके अनुसार देश, काल आदिकी मर्यादा नियत है । वहाँ जन्मदूषीप नामक एक भूमार है, जो सम्भूर्ण भूमण्डलका भूपणरूप है । वहाँकी समतल भूमिपर जहाँ गमनगमनादि

व्यवहार सुगमतापूर्वक होते हैं, एक नगरी थी, जिसका नाम था ततभिति । उस नगरीमें विपश्चित् नामसे विद्यात क्रोह राजा थे, जो अपनी विद्याके कारण श्रेष्ठ समासदोंसे मुशोभित अपनी राजसभामें विशेष शोभा पाते थे । राजा विपश्चित् वडे खामियानी नरेश थे । उनकी बुद्धि सदा ग्राहणोंके हित-चिन्तनमें ल्यी रहती थी । इसीलिये वे देवताओंमें ग्राहणखल्प अग्निदेवका ही मक्षिपूर्वक पूजन करते थे । अभिके सिवा दूसरे किसी देवताको वे नहीं मानते थे । राजा विपश्चित्के मन्त्रियोंमें चार प्रधान थे, जो चारों दिशाओंमें स्थित चार महासागरोंके समान मर्यादा-यालनके लिये नियुक्त थे । समुद्र मत्स्यों और मारेंके समूद्रमें युक्त होते हैं तो वे मन्त्री हाथी और घोड़ोंके समुद्रायसे सम्बन्ध थे । समुद्रोंमें आवतों ( भैंश्रों ) का व्यूह होना है तो इनके मन्त्रीलोग सैनिकोंके चक्रव्यूहसे युक्त थे । समुद्र तख्तमालाओंसे व्याप होते हैं तो मन्त्रीलोग सैनिकोंकी श्रेणियोंसे विरो हुए थे । समुद्रोंमें निष्कल्प पर्यातोंके कल्पी अधिकता होती है तो ये मन्त्रीलोग अडिग सैनिकोंकी गतिसे सर्वथा बढ़े-बढ़े थे ।

एक दिन उनके पास पूर्वदिशासे एक चतुर गुप्तचर आया । उसने एकान्तमें राजासे मिलकर यह बड़ी भयंकर चात छुनायी—‘महाराज ! पूर्वदिशाके सामन्तकी जरसे मृत्यु हो गयी है, मानो वे शत्रुविजयी आपकी आज्ञा पाकर यमराजको जीतनेके लिये गये हैं । उनके मरनेके बाद आपके दूसरे सामन्त दक्षिण देशके नायक सब औरसे पूर्व और दक्षिण दिशाको जीतनेके लिये आगे बढ़े, परंतु शत्रुने पूर्व और पश्चिमकी सेनाओंद्वारा आकमण करके उन्हें भी मार डाला । उनके मरनेपर आपके तीसरे सामन्त जो पश्चिम दिशाके शासक थे, अपनी सेनाके साथ दक्षिण और पूर्व दिशाओंको शत्रुओंसे हुड़ानेके लिये प्रसिद्ध हुए, इनमें ही शत्रुओंने पूर्व और दक्षिण देशके राजाओंके साथ

मिलकर बीच रास्तेमें ही युद्ध करके उन्हें भी सर्गलोकमें पहुँचा दिया ।’

बहु गुप्तचर इस प्रकार कह ही रहा था कि एक दूसरा गुप्तचर प्रलयकालके जल-प्रवाहकी भौति राजमहलमें प्रविष्ट हुआ । वह बड़ी उतारकीके साथ आया था और अत्यन्त पीकित जान पड़ता था ।

उस नये गुप्तचरने कहा—‘देव ! उत्तर दिशाके सेनाध्यक्षपर शत्रुओंने आक्रमण कर दिया है । वे बौघ दूटनेपर वेगसे बहनेवाले जल-प्रवाहकी भौति सेना-सहित इधर ही आ रहे हैं ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—‘घुनन्दन ! यह सुनकर राजाने अब समय बिताना व्यर्थ समझा और अपने सुन्दर महलसे बाहर निकलते हुए इस प्रकार कहा—‘सामन्त-नरेशों और मन्त्रियोंको कल्पन आदिसे सुसज्जित करके शीघ्र घुलाया जाय, शत्रुगार खोल दिये जायें, भयानक अक्ष-शाल बोटे जायें, समस्त योद्धा अपने-अपने शरीरमें कल्पन बौघ लें, पैदल सैनिक शीघ्र तैयार होकर आ जायें, सेनाओंकी तुरंत गणना की जाय, श्रेष्ठ सैनिकोंको प्रोत्साहित किया जाय, सेनापतियोंकी नियुक्ति हो और सब और गुप्तचर भेजे जायें ।’

राजा विपश्चित् रोषावेशमें भरे थे । वे बड़ी उतारकीके साथ जब इस प्रकार आज्ञा दे रहे थे, उसी समय द्वारपाल भीतर आकर महाराजको ग्रणाम करके बवराये हुए खरमें बोला ।

द्वारपालने कहा—‘देव ! उत्तर दिशाके सेनापति दरवाजेपर खड़े हैं और जैसे कमल सूर्यके दर्शनकी इच्छा करता है, उसी प्रकार वे राजाविराज महाराजका दर्शन चाहते हैं ।

राजा बोले—‘द्वारपाल ! जल्दी जाओ । पहले सेनापतिको ही भीतर ले आओ । उनसे सब वृत्तान्त

मुनकर मैं यह जान सकूँगा कि दिग्न्दर्शनमें कैसी घटना घटित हुई है।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राघव ! राजाके इस प्रकार आदेश देनेपर द्वारपालने सेनापतिको तत्काल भीतर भेजा। राजाने देखा, उत्तर दिशाके नायक सामने खड़े होकर मुझे प्रणाम कर रहे हैं। इनका सार शरीर क्षत-विकृत हो गया है। प्रथेक अङ्गमें बाण धंसे हुए हैं, जोर-जोरसे सौंप चल रही है, मुँहसे खून निकल रहा है, निर्बल होनेपर ही ये शत्रुसे पराजित हुए हैं। सेनापतिने लातार सौंप लेते हुए भी वैर्यरूपक अपने शरीरकी व्यापाको सहन करके महाराजको प्रणाम किया और शीक्षतार्थीक इस प्रकार कहना आरम्भ किया।

सेनाभ्यक्त बोले—देव ! आपके तीन दिशाओंके समन्त बहुत बड़ी सेनाके साथ मानो आपकी आज्ञासे ही यमराजको जीतनेके लिये यमचेतनको छले गये। उद्भवन्तर उनके देशोंकी रक्षा आदि करनेमें मुझे असुर्य सम्मान बहुत बड़ी सेना आ गयी है। अब जो कर्तव्य प्राप्त है, उसे कीजिये। शत्रुओंको मार भगाइये। महाराजके लिये किसीपर भी विजय पाना कठिन नहीं है।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—खुलन्दन ! मुद्रस्त्रमें क्षत-विकृत होनेसे अत्यन्त पीड़ित हुए उत्तर दिशाके सेनानायक जिस समय उपर्युक्त वातें कह रहे थे, उसी समय सहसा दूसरा पुल्य भीतर आकर यों बोल—‘नरेश्वर ! इस भण्डछके बहुतसे लोग पीपछके पचेकी तरह कौप रहे हैं। चारों ओर शत्रुओंकी बड़ी भारी सेनाएँ खड़ी हैं। जैसे लोकालोक पर्वतके तट सारी वसुधाको धेर हुए हैं, जैसे ही हमारे शत्रुओंने इस भूमिके धेर लिया है। उनके हाथोंमें चक्र, गदा, प्राप्त और भालोंके समाह चमक रहे हैं। पलाकाओं, अङ्ग-शस्त्रों, अन्य चपल समग्रियोंसे तथा योद्धाओंसे युक्त रथ इधर-उधर दौड़ रहे हैं। वे ढक्कनेवाले त्रिपुरसमूहोंके समान आन पड़ते हैं।’

यो कहकर प्रणाम करके वह पुल्य तुरंत औट गया, मानो समुद्रकी लहर कोलाहल करके शान्त हो गयी थी। राजाके महलमें खलबली मच गयी। उसकी दशा प्रचण्ड औंधीसे व्याप्त हुए विशाल बनके समान हो गयी थी। मन्त्री, राजा, योद्धा, आज्ञाकारी सेवक, शासी, धोड़े, रथ, खियां, परिचारकर्ता और नागरिकोंके समुदाय सभी धरतये हुए थे। सबने भयके क्षण आत्मरक्षाके लिये अपने हाथोंमें हस्तियां उठा लिये थे।

( सा १०८ )

राजा विपवित्का अपने भूतकर्मी आहुतिसे अग्निदेवको संतुष्ट करके चार दिव्यरूपोंमें प्रकट होना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—खुलन्दन ! इसी वीथमें जिनके अन्तर्लिख लोकामर दैत्योंने आक्रमण किया हो, उन देशराज इन्द्रके समीप जैसे मुलि आते हैं, उसी प्रकार राजा विपवित्का पास उनके अन्य सब मन्त्री आये और इस प्रकार बोले—‘देव ! हमने यही निर्णय किया है कि अब हमारे शत्रु साम, दान और भेद—इन तीन उपायोंहारा वशमें किये जाने योग्य नहीं रह गये हैं। इसलिये उनपर दण्डका भी ग्रयोग कीजिये।

राजा बोले—अच्छा, अब आपलोग शीघ्र ही युद्धके लिये जाइये और नगररक्षा एवं व्यूहस्तना ( मोर्चाकांडी ) की व्यवस्था कीजिये। मैं जान करके अग्निदेवका पूजन करनेके पश्चात् समराज्यमें आऊँगा।

ऐसा कहकर राजाने गङ्गाजलसे भरे हुए धूँदूँदारा ज्ञान किया। तत्पश्चात् मैं अग्निशालमें गये। वहाँ शासीय विविसे अग्निदेवका आदर्शरूपक पूजन करके उन्होंने इस प्रकार विचार किया—‘मैं विजय प्रदान करनेवाले

देवता अग्निके यहाँ अपने मस्तककी आहुति दे दूँ ।

ऐसा निश्चय करके राजा बोले—देवेश अग्निदेव !  
मेरा यह मस्तक आपको आहुतिके रूपमें समर्पित है ।  
आज मेरे द्वारा यह अपूर्व पुरोडाश दिया जा रहा है ।  
भगवन् ! यदि मेरे द्वारा दी दूर्द मस्तककी इस आहुति-  
से आप संतुष्ट हों तो आपके इस कुण्डसे मेरे चार शरीर  
प्रकट हों । वे चारों भावान् नारायणकी चार भुजाओंके  
समान बल्लान् और शोभासे दीसिमान् हों । उन चार  
शरीरोंद्वारा मै चारों ही दिशाओंमें किना किसी विज्ञ-  
वाधाके शत्रुओंका वध करूँ । प्रभो ! मेरे मनमें आपके  
दर्शनकी इच्छा है; अतः आप मुझे दर्शन देनेकी भी  
कृपा करें ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—खुनन्दन । ऐसा कहकर  
उन महीपालने तल्ल्यार हाथमें लेकर अपने मस्तकको  
उसी प्रकार शीघ्र कट ढाला, जैसे किसी बाल्कने  
खेल-खेलमें ही कुछ हिलते हुए कमल्को तोड़ लिया  
हो । फिर उन्होंने अग्निदेवके उद्देश्यसे कटे हुए उस  
मस्तककी झों ही आहुति दी, झों ही वे नरेश अपने  
शरीरके साथ ही अग्निमें गिर पडे । उस शरीरको  
अपना आहार बनाकर अग्निदेवने उसे चौगुना करके  
उन्हें लैया दिया । सच है, महापुरुषोंके उपयोगमें  
आयी दूर्द वस्तु तत्काल ही वृद्धिको प्राप्त हो जाती है ।  
तदनन्तर वे पुर्णीनाप चार शरीर घारण करके अग्नि-

कुण्डसे बाहर निकले । उस समय वे तेजःपुष्टसे  
प्रज्ञलित हो रहे थे और क्षीरसागरसे प्रकट हुए  
तेजस्वी नारायणदेवके समान जान पड़ते थे । राजाके  
वे चारों शरीर सूर्यकी-सी प्रभासे प्रकाशित हो रहे थे  
और साथ ही उत्पन्न हुए उत्तम मुकुट, आभूषण,  
अङ्ग-शश एवं ब्रह्मोंसे सम्पन्न थे । कवच, शिरक्षण,  
किरीट-रस, कदण, बाजूबंद, हार और बहें-बहें मुण्डलोंके  
साथ ही वे चारों शरीर प्रकट हुए थे । वे सबकी रक्षा  
करनेमें समर्थ और उच्च आशयवाले थे । सबकी आहुति  
एक-सी थी । वे समान अवध्योंसे छुश्योभित थे और  
सब-के-सब चञ्चल उच्चैःश्रवाके समान उत्तम अस्त्रोंपर  
आसूद थे । उन सबके पास सुनहरे बाणोंसे भरे हुए  
तरक्षस थे । वे चारों महामनस्वी थे और सभी एक  
समान ढोरीवाले धनुष धारण किये हुए थे । उन सबके  
शरीरोंमें सर्वथा समानता थी और वे सभी शुभ लक्षणोंसे  
सम्पन्न थे । वे पुरुष जिस हाथी, रथ और बोडेपर  
सवार होते थे, वह शत्रुओंद्वारा प्रशुक्त मन्त्र, तन्त्र,  
ओषधि, यन्त्र तथा अङ्ग-शश आदि दोषोंका लक्ष्य नहीं  
होता था । वे चारों चन्द्रमाकी प्रभाके समान अपनी  
हास्य-छटासे चारों ओर प्रकाश विसरते थे और  
आहुति पाकर प्रज्ञलित हुए अग्निदेवसे सुन्दर  
विग्रहधारी चार विष्णु, चार समुद्र अथवा चार वेदोंके  
समान प्रकट हुए थे । ( सर्ग १०९ )

### चारों विपक्षितोंका शत्रुओंके साथ युद्ध, भागती हुई शत्रुसेनाका पीछा करते हुए उनका समुद्रतटतक जाना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—खुनन्दन । तदनन्तर नगर-  
के सभीप पहुँचे हुए शत्रुओंके साथ चारों दिशाओंमें बढ़ा  
भयंकर युद्ध छिड़ गया । चारों विपक्षित चारों ओर  
शत्रुओंसे लेहा लेनेके लिये चतुरणिणी सेनाके साथ  
समराहगमें जा पहुँचे । उन्होंने शत्रुओंकी सेनाको  
समुद्रके समान उमड़ती देख उसे पी जानेका विचार

किया और सब ओर वायव्यावधका संधान किया, उसके  
साथ ही पर्जन्यावधको भी छोड़ा । फिर तो उनके भीषण  
धनुपोंसे जान आदि अस्त्रोंकी नदियों बहने लगी । साथ  
ही तष्ठार आदिकी वर्षा होने लगी । उस महान्  
युद्धमें शत्रुओंकी सेनाका धोर संहार हुआ । समस्त  
सैनिक, जो मरनेसे बच गये थे, माराने लगे । वे चारों

विपश्चित् इस तरह भागते हुए शत्रुओंकी सेनाका पीछा करते-करते बहुत दूर चले गये । सम्पूर्ण शक्तियोंसे परिष्ठीर्ण एकमात्र चेतन परमेश्वरसे प्रेरित हो समान अभिग्रायकाले उन चारों वीरोंने सम्पूर्ण दिशाओंमें विजय प्राप्त कर ली । जैसे नदियोंके प्रवाह समुद्रतक जाते हैं, वैसे ही उन्होंने समुद्रके किनारेतक शत्रुओंका पीछा किया । दूरतक विना विश्राम किये छलते रहनेसे विपश्चित्के सैनिकोंके जीवन-निर्वाह और युद्ध आदिके सारे साधन प्रतिदिन छोटी-छोटी नदियोंके जलकी भौति क्षीण होते गये । उनके शत्रुओंका भी यही हाल हुआ । प्रतिदिन दौड़ते हुए उनकी और शत्रुओंकी सारी सेनाएँ समुद्रुओंके पुष्ट और पापकी भौति निरन्तर नष्ट होने लगी । अब सारे सैनिक नष्ट हो गये, तब उनके बे दिव्याल सफल होकर आकाशमें ही शान्त हो गये, जैसे जलने योग्य ईधन आदिका अमाव हो जानेपर आगकी ज्वालाएँ स्थंय ही बुझ जाती हैं । म्यानों, तरकसों तथा रथ, घोड़े, हाथी और बृक्षसमुदाय आदि स्थानोंमें पढ़े हुए अख-अख संयंकाल घोसलोंमें छिपकर नीद लेनेवाले पश्चियोंके समान निश्चेष्ट हो गये । उस समय शून्यतारूपी जलसे भरा हुआ निर्मल आकाश बढ़े हुए विस्तृत एकार्णवके समान जान पड़ता था । उसके अख-अखरूपी जल-जन्म मानो शान्त होकर कीचड़में विलीन हो गये थे । ब्राणरूपी जलकणोंकी विशेषके कारण

फैला हुआ कुदरा वहाँसे हट गया था, चक्ररूपी सैकड़ों अङ्गरूपी अव नहीं उठते थे । वहाँ निर्मल सौम्यता विराज रही थी । बादलोंके केगपूर्वक वर्षा झरनेसे उचुक्त तरफ़ों-की भौति ऊँची-ऊँची जलधाराएँ शान्त हो चुकी थीं । नक्षत्ररूपी रजाराशि अदर छिप गयी थी और सूर्यरूपी बहवानल-उसके एक देशमें विद्मान या । सूर्य आदिके विस्तृत प्रकाशसे बुका, गम्भीर एवं प्रमाणी, धूलहित वह खच्छ आकाश महात्माओंके रजोयुग्णरहित, आरम-प्रकाशसे पूर्ण, गम्भीर एवं प्रसन्न मनकी भौति शोभा पा रहा था । उन चारों विपश्चितोंने चारों समुद्रोंके आकाशके छोटे भाइयोंके समान देखा, जो विमल, विस्तृत एवं सम्पूर्ण दिशाओंको परिष्ठीर्ण करके स्थित थे । ऊँची-ऊँची तरफ़ों, जिनमें जल-जन्म भी उपरको रठ जाते थे, इस तरह नीचे निरती थी, मानो आकाशके दुकड़े-दुकड़े होकर नीचे गिर रहे हैं । अपनी उठती हुई तरफ़ों-द्वारा अगवानी-सी करते हुए शारसमुद्रके विशाल तटपर जब विपश्चितकी सेना पहुँची, तब उन्हें अपने सामने गगनचुम्पी पर्वतके शिखरपर भ्रमरोंके समान कड़ली बनपङ्क्ति शोभा पाती दिखायी दी, जो इलायची, लौंग, मौलसिरी, थौंकल, तमाल, हिताल और ताढ़के पर्वोंके ताप्तन-नृत्यसे विमक-सी जान पड़ती थी ।

( सं ११०—११३ )

### विपश्चित्के अनुचरोंका उन्हें आकाश, पर्वत, पर्वतीय ग्राम, मेघ, युद्ध, कोए और कोकिल आदिको दिखाकर अन्योक्तियोंद्वारा विशेष अभिग्राय सूचित करना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—खुनन्दन ! तदनन्तर वहों पर्वतीय मन्त्री आदिने उन चारों विपश्चितोंको उस समय भिक्ष-यिक्ष वन, शूक्र, समुद्र, पर्वत, ग्राम, मेघ और अनुचर दिखाये ।

तत्पश्चात् उन अनुचरोंने कहा—डेव ! देखिये, यहाँ युद्धमें छो हुए सीमग्रान्तके राजाओंके अख-अखोंकी राशियों चमचमा रही हैं और इनकी चतुरङ्गी सेनाएँ

इधर-उधर विचर रही हैं । देखिये, देखिये, युद्धमें वीरोंद्वारा समुद्र भरे गये सहस्रों वीरोंको विमानोपर चढ़ा-चढ़ावतर संखार्य अप्सराएँ उन विमानोंद्वारा आकाशमें लिये जा रही हैं । जो युद्धमें सामने आये हुए योद्धाओंपरे धर्मकी अशुद्धि छलते हुए योग्य अक्षयमें धब फूरता है, वही शून्यार

१. योग्य अवश्याले तास्यर्य यह है कि यदि विपक्षी ऐदल हो तो स्वयं भी उसके साथ पैदल ही लड़ा जाय अथवा उसे

तथा स्वर्गका अधिकारी है, दूसरा नहीं । महाराज ! देखिये, आकाश ग्रबल मेघरुपी महासागरसे भरा हुआ है । उधर दृष्टिपात कीजिये, उसने चक्षु तारोंके विशाल हार पहन रखे हैं । यह देखिये, इस धने अन्धकारके समान वह नीला दिखायी देता है । उधर दृष्टि ढालिये, वह चन्द्रमाकी उज्ज्वल किरणोंसे धोया हुआ-सा जान पड़ता है । आकाश यथापि जगत्के सम्पूर्ण दोषोंसे पूर्ण है, फिर भी वह सदा ही अविकारी रहता है । मैं समझता हूँ इस आकाशको तत्त्वज्ञानी पुरुषकी भौति सर्वानन्द-शून्यताका सुख प्राप्त है । धूम, बादल, धूल, अन्धकार, सूर्य, चन्द्रमा, संच्चा, ताराहृन्द, विमल, गरुड़, पर्वत, देवता और असुर—इन सबके क्षोभ आकाशमें ही होते हैं तो भी उनसे प्रभावित होकर यह अपने स्वभाव ( निर्विकरता एवं शान्ति ) का कमी व्याप नहीं करता । अहो ! जिसका आशय महान् है, उसकी स्थिति अर्थन्त उन्नत एवं विचित्र दिखायी देती है ।

यह जो त्रिमुखनरूपी भवन है, इसमें काल और क्रिया—ये दो दम्पति चिरकालसे रहते और इसकी रक्षा करते हैं, ठीक उसी तरह, जैसे माली और मालिनी कल्पोंसे भरे हुए उपवनमें रहते और उसकी देव-भाल करते हैं । यथापि काल और क्रियाके द्वारा इस निमुक्तन-भ्रमनवी रक्षा नहीं होती, अगरु प्रतिदिन इनके द्वारा इसके नाशकी ही व्यक्षणा होनी रहती है तथापि आजतक नष्ट नहीं हो रहा है, यह कैसी आश्वर्यजनक माया है !

माझम होना है आकाश। दृक्ष आदिकी अधिक उच्छितिको रोकता है—उन्हें बहुत ऊँचा नहीं बढ़ने देता । यदि कहें कि आकाशमें कोई निरोधक व्यापार है ही नहीं, फिर वह किसीकी उच्छितिके अन्वरोधकात् कर्ता कैसे हो सकता है तो कहें योग्य सबारी दे दी जाय । इसी तरह यदि वह शक्तरहित हो तो स्वयं भी शक्तिहीन होकर उसके साथ मुद्द किया जाय अथवा उसे भी शक्त दे दिया जाय ।

वह थीक नहीं है । यथापि आकाश अकर्ता ही है, तथापि महान् है और महान्में उसकी महिमासे ही कर्तृत्वका उदय हो जाता है । जहाँ ज्ञाने जगत् उत्पन्न और विजीन होते हैं, उस आकाशको शून्य कहा जाता है । शून्यतात्त्वादीके इस प्रौढ़ पाण्डित्यको विज्ञान है । समल प्राणी आकाशसे ही उत्पन्न होते, आकाशमें ही स्थिर रहते और आकाशमें ही विलीन होते हैं । इसलिये शशसिद्ध ईश्वरका अक्षुण आकाशमें घटित होनेके कारण वह ईश्वररूप ही है । जिसमें इस जगत्करुपी अमत्ता उदय और अस्ति होता है, जो असीम होनेके कारण समस्त वस्तुओंको अपने इरीमें धारण करता है और त्रिलोकीरुपी मणियोंमा मुनिस्तुत आधार है, वह महाकाश चिरस्तरूप है और परमात्मा ही है; ऐसा मेरा विश्वास है ।

देखिये, यहाँ सुषेद्ध पर्वतके शिखरपर निर्मल कान्तिवाली एक सुर्वर्णमयी शिला है, जो सारी-की-सारी सूर्यकी किरणोंके पहनेसे अपनी प्रभासे इस तरह उद्भासित हो रही है, मानो तटतक -आनंदशाली समुद्रकी चक्षु लहरोंसे फेंका गया बहवानलक्ष्मा ओर्ड कण प्रक्षाशित हो रहा हो । इस पर्वतीय ग्रामकी गौद्योंके सुन्दरमें तुरंत दिख़ती हुई कलिकाओंके दर्शनेके भीतर छिपे-छिपे गुज्जारव ऋनेशाले मदान्ध भ्रमगोंके डर्जनसे उद्धीतित क्रमनाशाले गिरि-गहरनिवासी पामर लोगोंको भी जो आनन्द प्राप्त होता है, वह नन्दनकन्नमें लिहार अरनं-वाले देवताओंको भी सुखम नहीं है । इस पर्वतराज-के जंगलोंमें वसे हुए ये गोंव अपनी शोभा और महत्त्वसे चन्द्रमाको भी पराजित कर रहे हैं । जिनके एक बगलमें प्रक्षाशित मनोहर चन्द्रमण्डल मण्डन ( आभूषण ) का काम दे रहा है और दूसरी बगलमें जलके भारसे भारे हुए मेघरुपी गजराज विश्राम करते हैं; ऐसे पर्वत-तटोपर वसे हुए इन

गौणोंमें जो विलासलक्ष्मी लक्षित होती है, वह भ्रष्टाजीके वैभवशाली राज्योंमें भी कहों सुलभ है :

देखिये, स्फटिक मणिके खम्भोंकी राशियोंके समान छुरम्य एवं मोटी धारसे गिरनेवाले निर्झर-स्त्रिलिङ्गे छुशोभित इस ग्रामगुफामें ये मोरनियाँ कैसा नृत्य कर रही हैं। जहों निर्झरोंसे झरते हुए जलकला नाद फैल रहा है, ऐसे इस पर्वतीय ग्रामके कुख्योंमें विलासिनी मयूरियों और फूलोंके भारसे कुक्की हुई लताएँ भी नाच रही हैं।

( अब मेघके व्याजसे जिसी ऐसे दाताको छश्य करके निश्चाहित बात कही जाती है, जो दान करते समय पात्रापात्र और गुण-अगुणधर्म विचार न करता हो, ऐसे अन्योक्ति कहते हैं— ) मेघ ! तुम्हारा शील-त्वभाव श्रीमानोंके समान है, आशय ( हृदय ) महान् ( उदार ) है। तुम आतप ( संताप ) को हर लेते हो। तुम्हारी आकृतिसे ही उच्चता और गम्भीरता व्यक्त होती है। तुम पर्वतों ( अथवा राजाओं ) के दिव्यभूषण हो और भूतलके लिये रसके एकमात्र आधार हो। इस प्रकार तुममें बहुतसे गुण हैं, परंतु यह एक ही बात हमारे हृदयको छेदे डालती है कि तुम हर्षसे वर्षा ( दान ) करते समय ऊसर भूमियोंमें, ताल-तालैयोंमें और वहाँके कट्टीले छाँझोंमें मी उसी तरह जलकला विभाजन करते हो, जैसा सुन्दर उपजाऊ खेतोंमें किया करते हो ( गोगता-अगोगताका कोई विचार नहीं करते हो ) ।

( अब दान देनेके पूर्व दान लेनेवालोंके प्रति कठोर और कहुच्चन सुनानेवाले दाताको छश्य करके निश्चाहित बात कही जाती है, यह भी मेवान्योक्ति ही है— ) जलद ! तुम प्रतिदिन समुद्र और गङ्गा आडि उसम तीर्थोंकी जलराशिसे स्नान करते हो, उच्चे स्थानपर बैठे हो, ऊद होकर बनभूमियों निवास घरते और मुनियोंके समान मौनक्रत्या आश्रय लेते हो। यद्यपि शरत्-क्रष्णमें सब कुछ लुटाकर तुम खाली हो जाते हो तो भी तुम्हारे

शरीरम अस्त्र उत्तम उद्घात कान्ति ही लक्षित होती है। परंतु ऐसे होकर भी जो तुम जलदानके लिये उपर उच्चर किनालीके साथ बजानी गडगडाहट पैदा करने हो, यह कथ है ! तुम्हारे ऐसा तुच्छ आचरण क्यों होता है ?

अयोग्य स्थानमें पठ जानेपर सारी अच्छी वस्तु भी खुरी हो जाती है। देखो न, मेघरुपी दूरित स्थानको पाकर छ्वेत जल भी काला हो गया है। अहो ! मेघने जलकी वर्षा भी बाँर उस जलसे मारी पृथ्वी आग्रावित हो गयी। जैसे धनाढ्य पुरुष अपने दीन-दूर्ली प्रेर्मान्ते धन-दौलतसे पुष्ट करते हैं, उसी प्रेक्षार जलने भूतकर्मी मुर्खियी हँई खेतीको हरी-भरी एवं पुष्ट कर दिया। यह कित्तने हर्षकी बात है ।

— ( शूलीर और कायरमें अन्तर शतानेवाली अन्योक्ति—) सिंह और कुत्ता दोनोंमें समानरूपसे पशुता विद्यमान है—दोनों पशु जातिके ही जीव हैं परंतु मेघार्जन आदिसे होनेवाले कोआहलको सिंह और ही प्रकारसे सहस्र है और कुत्ता और ही प्रकारसे। सिंह उस कोआहलको सुनकर मनमें क्षोभ या भयका अनुभव नहीं करता। वह उपेशासे ओँखे कद करके सहन करता है। परंतु कुत्ता मेघ-गर्जनको सुनकर मन-ही-मन भयसे कौप उठता है और भयसे ही ओँखे बंद करके उस कोआहल-को सहन करता है ।

( कुत्ते-बैसे सभवशालं मनुष्यमो उत्ता करके अही गयी अन्योक्ति—) सदा अपनित्र रहनेवाले कुत्ते ! तू अपने प्रियजनों ( सजातीय कुत्तों ) के ही निकट आनेपर भौंभौं किया करता है। तेह सारा समय गली-कूचोंमें मारेभारे फिरनेमें ही व्यतीत होता है। मालूम होता है तुसे अपनी चित्तवृत्तिके ही अनुरूप मानकर किसी मूर्खने तुम्हारों अपने इन दुर्गुणोंकी दिक्षा दे दी है। जीवके कर्मोंकी विषमतावश किशम जगदर्थी रचना अत्तनेवाले विवाताने अपनी पुत्री देवशुनी सरपाके पुत्ररूप अपने

दौहित्र कुत्तमें उसके अनुरूप सभी धर्मोंका एकत्र दर्शन करनेके लिये निम्नाङ्कित सब बातें एक साथ ही रख दाढ़ीं ! वे सब बातें इस प्रकार हैं—अपने ही क्नाये हुए कूड़े-करकटके अपवित्र गमेमें रहना, गूह और पीव खाना, जहों सक्की दृष्टि पड़ती हो, ऐसी सबकों या खुली जगहोंमें कुत्सित मैथुनकी इच्छा तथा सबसे निन्दनीय शरीर। इन सबकों विवाहाने कुत्तोंके ही हशाले कर दिया।

किसीने कुत्तेसे पूछा—‘तुमसे बदकर नीच कौन है ?’ ऐसा प्रश्न करनेवालेसे कुत्तेने हँसकर कहा—‘जो मूर्खता ( अज्ञान ), अपवित्र देहादिका अभिमान तथा अन्धता ( विचाररूपी दृष्टिसे विजित होना )—इन दुर्गुणोंका एवं अशुभ वस्तुशक्ति सेवन करता है, वह मुझसे भी अधिक नीच है ।’ प्रश्न करनेवालेने फिर पूछा—‘तुम्हामें कौन-से ऐसे गुण हैं, जिसके कारण तुम्हे मूर्खसे अच्छा समझा जाय ?’ कुत्तेने उत्तर दिया—‘शूरता, खाभाचिक खामियां और धृति ( धोड़ेमें ही संतोष कर लेनेकी क्षमता )—ये मुन्द्र गुण जो मुझमें हैं, लाखों प्रथम करके छूँडनेवर भी मूर्खके पास नहीं पाये जा सकते ।’ कुत्ता सदा अपवित्र वस्तु खाता है, अपवित्र विष्णुके द्वेरमें ही सदा रमता है, नेकले, घूँहे आदि जीवित प्राणियोंको भी चुपचाप खा जाता है और निर्विल बकरीके वन्चे आदिको भी बिना किसी अपराधके ही क्षट खाता है तथा कुतियाके साथ मैथुनमें प्रहृत होनेपर सब लोग आकर उसे छेले गाते हैं। विवाहाने संसारमें बेचारे असर्प्य कुत्तोंको जन्मभर दुःख भोगनेके लिये ही रखा है।

( कोई अनुचर शिवलिङ्गपर बैठे हुए कौस्ती ओर गजाक्ष ध्यान आकृष्ट करता हुआ कहता है—) शिव-लिङ्गके ऊपर बैठकर कौंव-कौंव करता हुआ यह कौआ अपने आपको ही द्व्यान्तरूपसे दिखाकर कहता है—‘छोगो ! अधोगतिमें छालनेवाले जितने पातक हैं, उन सबमें श्रेष्ठ है शिव-सम्पत्तिका उपमोग । इस महान् पातकमें स्थित हुए मुझ कौएको प्रत्यक्ष देखो ।’

नीच कौए ! दूसदा कानोंको कटु प्रतीत होनेवाली कौंव-कौंवकी आवाज किना करता है और इसके द्वारा दूने मीठी बोली बोलनेवाले हंस आदिके गुणोंको अवलित कर लिया है—मिटा दिया है । अब सरोवरके भीतर कीचढ़में घूमता हुआ जो दूसरी अपनी कठोर बोलीसे भ्रमरें-के मधुर गुज्जारकनो छिपाये देता है, वह मेरे सिरपर बाणोंके प्रहारकी-सी बेदना पैदा करता है ।

कौथा सरोवरमें आनेपर भी जो नरकसमूह ( गन्दी चीजों ) को ही खाता है और कमलकी नालको छोड़ देता है, इस विषयमें आपको कोई आर्थ्य नहीं होना चाहिये । जिसको जिस वस्तुके खानेका अन्यास है, उसे सदा वही स्वादिष्ट प्रतीत होती है ।

माना प्रकाशरके वन-पुष्टोंके केसर लग जानेसे कौएका शरीर सफेद-सा दिखायी देने लगा । इतनेसे ही लोगोंने उसे हंस समझ लिया; किंतु जब उसने सहेगले कीड़ों-मकोड़ोंको निगल्ना आरम्भ किया, तब उसका असली रूप पहचानमें आ गया—सबने जान लिया कि यह कौआ है ।

कौओंके हुँडमें बैठ हुआ कोकिल मौन, चेष्ट, किंहार, रूप-रंग और आकाश-प्रकाशमें कौओंके साथ पूरी समानता रखनेपर भी मीठी बोलीके द्वारा दूरसे ही पहचान लिया जाता है कि यह कौआ नहीं, लचिर कान्तिवाल कोकिल है—ऐक उसी तरह, जैसे मूर्खोंके बीचमें बैठे हुए पण्डितकी पहचान हो जाती है । अपनी आकृतिसे ही भव्य गुणोंको सूचित करनेवाले सभी पुरुष अनुरूप आन्तरिक चमत्कारसे ही विद्युत हो जाते हैं ।

मैया कोकिल ! इस समय यह मधुर कलरव करनेसे कोई लाभ नहीं । इससे तुम्हारा बहुमूल्य गुण नहीं प्रकट हो रहा है । किसी विशाल कृष्णकी कन्दराके भीतर जीर्ण-शीर्ण पत्तोंसे देके हुए खोखलेमें चुपचाप बैठे रहो । यह कर्ण-कटु कौंव-कौंवकी रट लगानेवाले कौओंसे मरा हुआ शिशिरक

समय है। सखे! इस समय यह क्षमताका उत्सव नहीं है।

यह क्षेयलक्ष्मा बन्धा अपनी माता करकीको छोड़कर जो चला गया, यह एक आश्वर्यकी बात है। फिर यह करकी मौं, जो इस बच्चेको चौंच और पंजोसे मार रही है, यह दूसरा आश्वर्य है। मैं इन बातोंपर क्षणभर ज्यों

ही सोच-विचार करने लगा, यद्यों ही यह क्षेयलक्ष्मा बन्धा भी अपनी मौंके समान बदनेके लिये उत्साहसे समझे हो गया। यह तीसरा आश्वर्य हृषिगोचर हुआ। वास्तवमें समाव-सुभग भाग्यशाली पुरुष जिस दिशामें आता है, वही उसके लिये माहात्म्यदायिनी बन जाती है।

( सर्ग ११४-११६ )

### सरोवर, अमर और हंसविषयक अन्योक्तियाँ

विषयितके सहचरोंने कहा—राजन् ! देखिये, यद्यों सामने पर्वतके शिखरपर जो सुन्दर सरोवर है, उसमें कहार, कमल और उत्पलोंकी नालेके लिये लड़कते हुए विचित्र कल्पव करनेवाले हंस आदि पक्षी सब और फैले हुए हैं। इससे वह सरोवर ऐसा जान पड़ता है, मानो नक्षत्रोंसहित आकाश ही उसमें प्रतिविनिष्ट हो रहा है। यह सरोवर इस पृथ्वीपर कमलासन ब्रह्माजीका गृह-सा जान पड़ता है। इसमें जो सहस्रदल-कमल खिले हुए हैं, उनकी नालें बहुत ऊपरतक उठी हुई हैं और उनके कोशस्थलोंमें सुन्दर शोभाका भार लिये राजहंस बैठे हुए हैं ( ब्रह्मलोकमें भी यही विशेषता है )। इसके सिंधा ब्रह्माजीके भवनमें अमरोंके समान काली इन्द्रनीलमणिकी चौकीपर ब्राह्मणलोग विराजमान होते हैं। इस सरोवरमें काले-काले भौंरे ही इन्द्रनीलमणिकी चौकी हैं। उनसे संयुक्त छाँपोंपर बैठे हुए पक्षियोंके समूह ही ब्राह्मण-बृहदका स्थान ग्रहण किये हुए हैं।

पवित्र-हृष्टयके समान निर्मल कमलोंसे भरा हुआ और हृष्टयके अत्यन्त आङ्गाद प्रदान करनेवाला यह स्वादिष्ट' जलसे परिपूर्ण सरोवर सत्सागरके समान सुशोभित होता है। सासंग भी हृष्टयारभिन्दको पवित्र करनेवाला, मनको आनन्द देनेवाला, अस्पन्द सरस और मधुर होता है। हेमन्तऋतुमें सरस सारसोंसे युक्त यह सरोवर कुहासेसे ढक जानेके कारण कुछ-कुछ दिखायी देता है। बफ्फसे ढके रहनेके कारण इसकी श्यामता दूर हो गयी

है। यह सफेद-सा दीखने लगा है। अतएव वर्षके बादल-सा जान पड़ता है। इसके जलसिन्दुओंको दूसर कहनेवाली वायु बड़ी कठोर जान पड़ती है।

राजन् ! जैसे यह हृष्टजगत् ब्रह्मसे मिल नहीं है—विकार आदिसे रहित ब्रह्मरूप ही है, तथापि ब्रह्मसे पृथक-सा प्रतीत होता है, उसी तरह इस जलमें जो तरङ्ग आदि हैं, वे जलसे मिल नहीं हैं तो भी उससे पृथक्-से स्थित हैं। हाय ! अपने ही जलसे बहाये जाकर चक्राकार भैंवर प्रकट करनेवाले इन जलशयोंकी एकके बाद दूसरीके क्रमसे उठनेवाली तरङ्ग-परम्परा बड़ी विषम है। ( इसका दूसरा वर्ष यों समझना चाहिये—) जिनका अन्तःकरण जड़ या मूँह है, वे अपने ही अज्ञानसे संसारके प्रधाहमें बहते हैं और अपने लिये शुभाशुभ कर्मोंकी चक्रका निर्माण करते हैं। उनके मनोरथरूपी तरङ्गोंकी परम्परा संकटमें ढालनेवाली होती है।

जलमें उत्पन्न होनेवाले कमल, उत्पत्त आदिके संसारसे जीर्ण हुए इस सरोवरकी उपमा विविध जड़ योनियोंके सम्बन्धसे जर्जर हुए देहधारी जीवके मनसे दी जाती है। सरोवरमें कमल आदिकी तथा मनमें मिल-मिल योनियोंके शरीरोंकी जर्जर-दशापर्याप्त जो तरङ्ग ( विषय-भोगोंकी अभिलाषाएँ ) उठती हैं, उनके बेगमे व्यास इच्छा-दृष्टे आदि वृत्तियोंके परिकर्तनोंकी भोगि जो असंख्य कमल प्रकट होते हैं, उन्हें क्षीन मिल सकता है :

अहो । जड अथवा जलके संगमका कैसा शिनिव्र प्रभाव है कि मुकुलशस्त्रामें कमल भी अपने सौन्दर्य, सौगम्य और माधुर्यादि गुणोंको दोषोंकी तरह गलेके भीतर छिपाये रखता है तथा कुरुप कोंबोंको सबके समने प्रकट करके दिखाता है ( यह कुसंगतिका फल है ) । जो गुण कमलके तनुओंकी भाँति छिक्षयक्त ( सदोष ), कमजोर, सूक्ष्म, छिपाये हुए, जलासे स्थुक्त और अधिक होनेपर भी सारदीन हों, उनसे कोई लाभ नहीं है ।

भगवान् विष्णुके वक्त्रःस्थलमें विराजमान, सौन्दर्य-माधुर्यकी देवी भगवती छासी भी शोभाके लिये ही दृष्टिमें कमल धारण करती हैं; कमलकी इससे बहकत्र प्रशंसा और क्या हो सकती है ?

जो भ्रमर कमलोंके मधुर मकरन्दके मद और आगोद-से मतनाले हो उन्हीं कमलोंपर गुजारव करते हैं, वे अन्य छोड़ोंके स्वास्थ्यादनसे संतुष्ट हुए दूसरे भौंरोंका भालो उपहास करते हैं ।

### बगुले, जलकाक, मोर और चातकसे सम्बन्ध रखनेवाली अन्योक्तियाँ

अब राजाके सहचर-सहचरियोंने कहा—राजन् ! देखिये, बगुल ग्रायः गुणहीन होता है, तो भी इसमें एक गुण अश्वय है, यह 'ग्रावृद्ध-ग्रावृद्ध' कहकर सदा कर्त्तव्यात्मक स्मरण दिलाता है ।

ओ बगुले ! सल्लादमें बैठनेपर तू अपनी सफेद पौँछों-से हंस-सा ही जान पड़ता है, परंतु मेरी एक सलाह मान के—जलकाकमेंके साथ मैत्री, प्राणिवक्ती क्षूरता और कर्णकदु वाणी—इन दोषोंपर त्यागकर तू स्पृष्ट रूपसे हंस बन जा । ( तू अपनेमें रूपरंगके साथ गुण भी हंसेके ही संचित कर । )

'इस तरह स्वार्थके लिये लोगोंका गल्ल धोय जाता है इस बातको अपने व्यवहारसे दिखाता हुआ महु ( जलकाक ) मेरा गुह बन गया है—ऐसा कहकर हुए लोग उसकी प्रशंसा करते हैं ।

अरे भ्रमर ! तू नाना प्रकारके छोड़ोंके स्वभाव आस्थादन करता हुआ समस्त पर्वतोंके छाताकुलोंमें जो प्रतिदिन चक्र लगाता रहता है, उससे आजतक संतुष्ट कपों नहीं हो रहा है ! जान पड़ता है तेरा हृदय शुद्ध नहीं, दूषित है । मालूम होता है अकर्तक तुम्हे कर्नोंसे सारलत्त नहीं प्राप्त हुआ ( तभी तो तुम्हामें असंतोष क्वा रहता है ) ।

मधुप ! तू कमलकुलोंके मकरन्दका आस्थादन करनेमें प्रवीण है; अतः कमलोंसे भरे हुए सरोबरमें ही चल जा । मकरन्दसे पुष्ट हुए अपने इस दारीखोंको बेरोकी शावियोंमें इनको कण्ठकरूपी आरोसि किंदीर्ण न कर ।

हंस ! हुम जलकाक, बगुले और कौए आदि हिंसक जन्मुओंसे भरे हुए इस तालाबमें सदा अबेले न रहा करो । आपसिकाळमें भी समान शील, अवस्था और मालाशाले स्वजनकर्त्ता के साथ रहना ही अच्छा फल देने वाल होता है ।

( सर्ग ११७ )

गर्दन ऊँची किये और सुन्दर सफेद पंख फैलाये बगुलेको आकाशमें उढ़ता देख लोगोंने जाना कि यहाँ हंस ही आ गया, किंतु जब वह तलेयामें उत्तरकर कीचड़-भरे जलसे मछली पकड़ने लगा तो सब लोगोंको निश्चय हो गया कि यह बगुल ही है ।

जो बहुत सम्पत्तक अपनी अत्यन्त अपलक्षाकृत परिवर्य दे चुके थे, वे ही बगुले जब मछलियोंको पकड़नेके लिये तपस्यका ढोंग रखने लगे—तपस्तीकी तरह ध्यान लगाकर बैठे; तब वहाँ हसी स्वप्नावशाले धूतोंको अन्धकारकी ग्रतीक्षामें ध्यान लगाकर बैठा देख तटपर छाड़ी हुई एक चतुर नारीको बड़ा विस्मय हुआ ।

बगुल, जलकाक और अन्यान्य हिंसक जलजम्बु सदा एक ही सानमें रहते हैं तो भी मूर्ख और विद्वानोंकी दुष्किके समान इनकी बुद्धिका एक-दूसरेसे मेल नहीं है ।

वह देखिये, खड़नकी छोंचमें पहा हुआ कीट किन्तु किन्तु रहा है । यह उसके पूर्वसंचित पाप या दुर्भाग्यकी पताका है, जो ऊँचे स्थानमें फहरा रही है ।

मोरका हृदय ऊँचा और उदाहर होता है । वह जब इन्द्रसे जलकी याचना करता है, तब इन्द्र उसके उसी गुणसे संतुष्ट होकर वर्धारा सारी पृथ्वीको जलसे भर देते हैं ।

ये मोर स्तन पीनेवाले बछोंकी तरह मेघोंका अनुसरण करने हैं । इससे यह अनुमान होता है कि मलिनका पुत्र मलिन ही होता है ।

सपुरुषोंके हृदयकी भौति निर्मल महान् सरोवरको छोड़कर मोर मेवका यूका हुआ पानी क्यों पीता है ? मेरी समझमें उसका एक ही कारण है, खामियानी मयूर किसीके सामने सिर झुकाना नहीं चाहता । मेवका पानी पीते समय उसका सिर ऊँचा रहेगा; किन्तु सरोवरका जल पीते समय उसके सामने नतपस्तक होनेका भय है ।

राजन् ! देखिये, जिनके पालुरुपी मेघ सुशोभित हो रहे हैं तथा जो अपने पालोंके कान्तिमान् चन्द्रचिह्नको

कषित कर रहे हैं, वे मोर वर्षा अनुके बछोंकी भौति नाच रहे हैं ।

चकिन चातक । तुम गरम्ये बनप्रान्तके भीतर सूखे शूक्रके खोलेमें रहनेका जो आप्रह दिखा रहे हो, इससे तुम्हारा अस्त्वन्त अभिमान सूचित हो रहा है । यह अभिमान दावानलमें जल जानेकी सम्माननासे दूखित है, अतः तुम्हारे लिये सुखद नहीं हो सकता । मैया ! मेरी सदाह मानो तो कद्दली-बनके निकटवर्ती शीतल हरित तिनकोंको चरो, नहरोंके पानी पीओ और कद्दली बनमें विश्राम करो । ( मेघसे बसते हुए जन्डके सिंधा दूसरे किसी जन्डको नहीं पीकँगा, इस हुराप्रहको छोड़ दो । )

ओ मधुर ! यह समुद्रकी जलराशिसे मरे हुए पेट-बाल और आकाशमें ऊर उठनेकी इच्छावाला जलधर ( मेघ ) नहीं है । दावानलसे जले हुए बनशूक्रके खोलेमें प्रकट होनेवाली घूममालाका मण्डल है, जो इस पर्वतसे अभी-अभी उपरको डढ़ा है ।

( सर्ग ११८-११९ )

वायु, ताढ़, पलाश, कनेर, कल्पवृक्ष, चन्द्रश्ली और चम्पकबनका वर्णन करते हुए सहचरोंका महाराजसे राजाओंकी भेंट स्वीकार करके उन्हें विभिन्न मण्डलोंकी शासन-च्यवस्या सौंपनेके लिये अनुरोध करना तथा विपश्यितोंका अग्रिमे वरदान प्राप्त करके इसकी अन्तिम सीमा

देखनेके लिये उद्यत होना

सहचर कहते हैं—राजन् ! यहाँ पुष्ट-पराणोंसे विभूषित नाना ग्रकारकी वायु वह रही है, जो केलेकी कलियोंके खच्छ गुच्छको विकसित करनेमें विशेष निपुण है ।

यह ताड़का पेड़ खम्भेकी तरह सीधा खड़ा है; अतः इसपर किसीका चढ़ना कठिन है । इसीलिये यह किसी याचकको किंचिन्मात्र भी न तो फल देता है और न पता है । इसकी यह ऊँची आँखें भी याचकोंकी अभिलालाको पूर्ण न कर सकनेके कारण क्षपहीन ही है—जोभा नहीं पाती है ।

राजन् ! जो गुणहीन जड़ ( वृक्ष अथवा उदारता आदि गुणोंसे रहित मूर्ख ) है, उसके लिये राग ( शूक्रर ) ही शोभावर्द्धक होता है । वह फूल हुआ पल्लावका पेड़ गग—फूलोंके शूक्ररसे ही वनमें राजाकी भौति दृश्योभित होता है ।

मैया ! आओ, मैंने कुछ और ही समझा था; परंतु यह कनेर है, विकारका ही भाजन है । इसे देख मनमें यह सोचकर विषाद होता है किकहाँ-से-कहाँ मैं इसके पास आ गया । इसमें सुगन्ध तो नाममात्रको नहीं है । गुणहीन अनुकी भौति इसका अनुसरण करनेसे क्या लाभ होगा ॥

पृथ्वीनाथ ! देखिये, कल्पवृक्षोंके बनकी शीतल छायामें विश्राम करते हुए ये सिद्ध और विद्याधररूप परिक्षण कीजा आदि वार्षोंके साथ गीत गा रहे हैं । देखिये न, बनमें इस कल्पवृक्षके एक-एक पत्तेपर देव-सुन्दरियों विश्राम करती, गाती और हँसती हैं ।

उदाहर भुविंश्वाले । ये सिद्ध, विद्याधर आदि नन्दनबन-में भी बैसा आनन्द नहीं पाते हैं, जैसा कि इन कुद, शान्त, नीरव बनस्पतियोंमें पाते हैं । ये रमणीय और निर्जन बनस्पतियों मुनिके विरागी चित्तको और विषयके रागी हृदयको समानरूपसे आनन्द प्रदान करती हैं ।

देखिये, खिले हुए चन्द्रके बन जब इवासे हिलते हैं, तब जलते हुए पर्वतोंके समान जान पड़ते हैं । उस अवस्थामें बहाँते दूर मैंडराते हुए भ्रमर और छाये हुए मेघ धूममालाके समान प्रतीत होते हैं ।

महाराज ! देखिये, क्षार समुद्रके तटका यह भूभाग उपहारहाथमें लेकर आये हुए राजाओंसे भर गया है और उन सशक्त कोलाहल यहाँ व्याप हो गया है, जो बड़ा भला मालूम होता है ।

देव ! पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तरके क्षार सागर-तक इस जम्बूदीपमें जो नरेश इस भयकर युद्धसे जीवित बच गये हैं, उन सबके मस्तकपर अपने चरण रखनेका अनुग्रह कीकिये तथा भिज-भिज जनपदोंके भूभागकी प्रत्येक दिशामें चिरकालिक रक्षाके लिये नीतिशालके अनुसार क्षमारूपक योग्य व्यक्तियोंको शान्त चित्तसे शासन-न्यवस्थाका अधिकार दीजिये । तत्पर्यात् अज्ञ-शक्त और अनुपम सेनानीका बँटवारा कर दीजिये ।

श्रीकृष्णजी कहते हैं—खुनन्दन ! तदनन्तर उन चारों विषयितोंने समुद्रतटकी भूमिपर बैठकर राज्यका यह सारा प्रयोजन (मण्डलकी सीमा बोधने आदिका कार्य) सिद्ध किया । इतनेमें हो येवमालाके समान काली रात आयी और सब और फैल गयी । तत्पर्यात् वे सभी

विषयित जो दिनका कार्य पूरा कर चुके थे, सोनेके लिये अपनी शश्याखोंपर आरूढ़ हुए । वे नदियोंके प्रवाहकी भौति बहुत दूर समुद्रतक चले आये थे । इसलिये मन-ही-मन आश्चर्यसे चकित हो इस प्रकार विचार करने लगे— ‘यह सब और फैली हुई दृश्य-जगत् की शोभा कितनी विस्तृत होगी ? इस जम्बूदीपके बाद खारे पानीका समुद्र है । उसके बाद लक्ष्मीपक्षी भूमि है । तत्पर्यात् क्षार समुद्रसे दुगुना बड़ा इक्षुरसका समुद्र है । उसके बाद कुशदीप है । तदनन्तर द्विराका सागर है । इसी प्रकार क्रमसे सात समुद्र और सात हीपोंके बाद अन्तमें क्या होगा ? फिर उसके बाद भी क्या होगा ? यह दृश्यरूपिणी माया न जाने कितनी बड़ी और कैसी होगी ? इसलिये हमलोग मगवान् अग्निदेवसे प्रार्थना करें । उनके वरदानसे हम अनायास ही इन सम्पूर्ण दिशाओंका अन्तिम सीमातक अवलोकन कर सकेंगे ।’ ऐसा सोचकर यथा-साम बैठे हुए वे सब विषयित एक साथ ही मगवान् अग्निका आवाहन करने लगे । तब मगवान् अग्निदेव इन चारोंके समक्ष साकार होकर प्रकट हुए और बोले—‘पुत्र ! मुझसे बर माँगो ।’

विषयित बोले—देव ! सुरेश्वर ! हम इस पञ्चभूतात्मक दृश्यजगत्का अन्त देखना चाहते हैं, जहाँतक इस देहसे जाना सम्भव हो सके, बहाँतक इस देहसे, जहाँ यह न जा सके वहाँ मन्त्रके प्रभावसे संस्कारयुक्त किये गये इसी शरीरसे, तथा जहाँ इस संस्कारयुक्त शरीरकी भी गति न हो सके, वहाँ मनसे जाकर हम दृश्य जगत् का अन्त देखें । जो जिस रूपमें मनसे प्रत्यक्ष होनेयोग्य तथा जाननेयोग्य हो उन सभी पञ्चभूतात्मक पदार्थोंका हम दर्शन कर सकें—यह उत्तम बर आप हमें दें । प्रभो ! सिद्ध योगी अपने योगके प्रभावसे जहाँतक जा सकते हों, बहाँतक-का मार्ग हम इसी शरीरसे तै करें । जहाँ योगियोंकी भी पहुँच न हो, उस अगम्य दृश्यको हम मनसे ही देखें । सिद्ध योगियोंके गम्य भागपर चलते समय हमारी पृथु ज

हो तथा जिस मार्गमें देहका रहना सम्भव ही न हो, वहाँ हमारा मन ही यात्रा करे ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—खुनन्दम ! उनके इस प्रकार वर माँगनेपर 'ऐसा ही होगा' यों कहकर अग्निदेव सहसा एक ही क्षणमें अदृश्य हो गये, मानो बद्वानलूपसे

समुद्रमें जानेके लिये उन्हें जलदी लगी रही हो । इस तरह वर देवता अग्निदेव जले गये । तत्पश्चात् रात्रि आयी और कुछ देर ठहरकर वह भी जली गयी । इसके बाद सूर्यदेव आये । साथ ही उन विपश्चितोंके हृदयमें विशाल समुद्रको लौधनेकी इच्छा भी आयी । ( संग १२०-१२१ )



### चारों विपश्चितोंका समुद्रमें प्रवेश और प्रत्येक दिशामें उनकी पृथक्-पृथक् यात्राका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! तत्पश्चात् प्रातः— काल मुख्य-मुख्य मन्त्रियोंके मना करनेपर भी वे चारों विपश्चित्-हठपूर्वक नीनिशाशके अनुसार पृथ्वीके राघविभाग और उनकेशासनकी भलीभौति पूरी व्यवस्था करके दिग्नन्तके दर्शनकी अतिक्षम उस्कण्ठासे भर गये, मानो उनके शरीर-पर किंतु ग्रहका आवेश हो गया हो । उस समय उनका सारा परिवार रोते हुए मुखसे करुणाजनक कान्दन कर रहा था । उन चारोंने उन्हें ऐसा करनेसे रोका और स्थंय आसक्ति-शून्य होनेके कारण अभिमान, ईर्ष्या, लोभ, राजुओंके परामर्शकी इच्छा, राज्य, खी एवं पुत्र आदिको त्यागकर ये यह कहते हुए चल दिये कि 'हमलोग समुद्रके पार जा दिग्नन्तका दर्शन करके अभी क्षणमें लौटे था रहे हैं ।'

अग्निदेवकी प्रसन्नतासे प्राप्त मन्त्रकी शक्तिसे पाँचों भूतोंपर विजय प्राप्त करके वे उत्तम सिद्ध हो गये थे । अतः उस समय उन्होंने पैदल ही समुद्रमें प्रवेश किया । वे चारों विपश्चित् प्रत्येक दिशामें समुद्रके भीतर प्रविष्ट होकर सलकी ही भौति जलमें भी पैरोंसे ही चलने लगे । जलके भीतर भूषुष्की भौति तरङ्गसभूष्मों-पर पैर रखकर अकेले-ही-अकेले जानेको उपत वे चारों विपश्चित् अपनी सेनासे बहुत दूर निकल गये । वे एक-एक पग चलकर अब महासागरके भीतर प्रवेश करने लगे, तब तटपर खड़े हुए उनके सम्बन्धी उन्हें तबतक देखते रहे, जबतक कि वे शरकालके आकाशमें प्रविष्ट हुए मेष-खण्डोंके समान अदृश्य नहीं हो गये । यथापि उन्हें चलने गजराजोंके समान उठी हुई तरफगाढ़ाबोंसे टक्कराना पड़ता

था, तथापि वे तटपर बने हुए पश्चिमे पर्कोटोंके समान अपना धैर्य नहीं छोड़ते थे । वे चारों विपश्चित् समुद्रकी जलराशिमें आगे बढ़ने लगे । जलके मार उनके सहचर ( साथी ) थे । वे शौर्यसूर्यन नाकों और केकड़ोंसे व्याप्त भैंशरोंमें चारों ओरसे चिर जाते थे । बीचमें जानेपर बहु-संख्यक मेघोंके समान रुपवाली और व्यक्ताव्यक्त विज्ञ-राशिसे दुशोभित होनेवाली भान्त मुक्तामणियों तथा बृक्षों-की लताके समान दीखनेवाली जलभय तरङ्गोंके जलकण-रूपी फ्लॉट्सारा वे पग-पगपर अपने शरीरको छिपूचित एवं सुशोभित करते जा रहे थे ।

उन चारों विपश्चितोंमेंसे जो पश्चिम दिशाका अन्त देखनेके लिये प्रसिद्ध हुआ था, वह अपनेको अमर मानने-वाले एक मस्त्यके हारा मिगल लिया गया । वह मस्त्य मस्त्याकतारवाली भगवान् विष्णुके कुलमें उत्पन्न हुआ था और उसका वेग श्वेतमको प्रखर धारमें बहनेवाली नौकाके समान तीव्र था । किंतु उस मस्त्यके लिये उस राजाको पचाना बसा कठिन काम था । इसलिये क्षीरसागरमें पहुँचकर उसने उसे उगल दिया; तब वह क्षीरसारको छौंबकर दूर दिग्नन्तमें चल गया ।

दक्षिण दिशाका अन्त देखनेके लिये चला हुआ विपश्चित् जब इक्षुसके समुद्रमें पहुँचा, तब उसके टट्कर्ता यक्षनगरमें निवास करनेवाली एक यक्षिणी, जो वशीकरण विषामें असम्मत विपुण थी, उसे देखा । देखकर अपने विषाके खड़ने आकृष्ट करके उसे अपना प्रेमी बता लिया ।

पूर्व दिशाकी चरम सीमा देखने के लिये आगे बढ़ा द्रुआ विपश्चित्, जब गङ्गार्जी के मुहानेपर पहुँचा, तब उसने एक मगरपर आक्रमण किया, जो उसे निगल जाने के लिये उथन था। उसने उस मगरको गङ्गामें खींचकर चीर ढाला, तब गङ्गाने विपश्चित्को पीछे लौटाकर कान्यकुन्ज नगरमें छोड़ दिया।

उत्तर दिशाका अन्त देखने के लिये चले हुए विपश्चित् ने उत्तर कुरुदेशमें श्रीउमा-महेश्वरकी आरावना करके धणिमा आदि सिद्धियोंको प्राप्त कर लिया। उस सिद्धिके कारण दिग्नन्तमें मरणका भय उसे बाधा नहीं पहुँचाता था। मार्गमें कितने ही मगर और जलहस्ती उसे निगलते और उगड़ते गये, किंतु उस मिथिके प्रभावसे ही उसके शरीरको कोई झटि नहीं पहुँची। वह बहुतसे ही प्राणीतरों और कुलपर्वतोंको लौटता हुआ आगे बढ़ गया।

पश्चिम दिशामें गये हुए विपश्चित्को जिसकी कङ्ग-कान्ति कुशके ही समान थी, कुशद्वीपमें पश्चिमाज गङ्गाने अग्री पीठपर बिठा लिया और बड़े वेगसे अनेक समुद्रोंके पार पहुँचा दिया।

पूर्व दिशावाला विपश्चित् कान्यकुन्ज देशसे उल्कर जब कौशद्वीपके एक पर्वतपर गया, तब वहाँ बनके भीतर रहनेवाला कोई राक्षस उसे निगल गया। परंतु उस राजाने राक्षसकी शैँचियोंको काटकर उसके बक्षःस्थलको विदीर्ण कर दिया।

दक्षिण दिशाकी ओर गया हुआ विपश्चित् दक्षके शापसे भ्रममें यक्ष हो गया। फिर सौ वर्षोंके बाद शाकद्वीपमें उसे उस शापसे ह्रुटकारा मिला।

उत्तर दिशाका यात्री विपश्चित् छोटे-बड़े नदी-नाले और समुद्रोंको बड़े वेगसे लौटता हुआ खादिष्ठ जलवाले महासागरके उस पार सुप्रसिद्ध सुतर्णमयी भूमिमें जा पहुँचा, किंतु वहाँ एक सिद्धके शापसे शिळा हीं गया। तदनन्तर सी वर्षके बाद अग्निदेवके अनुग्रहसे उस सिद्धने विपश्चित्को शापसे मुक्त कर दिया। इससे वह बहुत प्रसन्न हुआ।

पूर्वका यात्री विपश्चित् आठ वर्षोंतक नारियलके बूझोंसे भरे हुए एक देशके निवासियोंका राजा होकर रहा। वह बड़ा धर्मात्मा था। इसलिये उसे वहाँ अपने पूर्व-जन्मकी स्थृति हो आयी। वह नारियलके फलोंसे जीवन-निर्बाह करने लगा। मेरु पर्वतके उत्तर एक कल्पवृक्षका बन था, जिसमें एक अप्सराके साथ उसने दस वर्षोंतक निवास किया।

पश्चिम जानेवाला विपश्चित् पश्चियोंपर विश्वास जमाने-उन्हें वशमें कर लेनेकी विद्याका मर्मज्ञ था ( अंतएव पहले गङ्गाने उसे पीठपर बिठाकर समुद्रके पार पहुँचा दिया था )। फिर वह शाल्मणिद्वीपके सुविद्यात सेमलके बृशपर एक मादा पक्षीके घोसलेमें उसके साथ कीड़ा करता हुआ कई वर्षोंतक रहा। फिर क्षेमल लता-बछरियोंसे अलंकृत मन्दराचलपर मन्दार वृक्षोंके निकुञ्ज-भवनमें मन्दरी नामवाली एक किनरीने विपश्चित्की एक दिन सेवा की।

तत्पश्चात् पूर्व दिशाके विपश्चित्द्वारे श्रीरसगर-नदीर्ष्टी बनके भीतर कल्पवृक्षोंकी शनभ्रेणियोंमें लन्दनबनकी देवियों-अप्सराओंके साथ कामासरक होकर सत्तर वर्ष व्यतीत किये।

( सर्ग १२२-१२३ )

### विपश्चित्तोंके विहारका तथा जीवन्मुक्तोंकी सर्वात्मरूप स्थितिका वर्णन

श्रीरामजीने पृथ्वी—ग्रहान्। जब वे सभी विपश्चित् ही था, तब शरीर एक होते हुए उनकी इच्छाएँ विभिन्न एक वैतन्यमय थे और उन सबका शरीर भी एक कैसे हो गयीं ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—राघवेन्द्र ! जैसे स्वभावस्थामें वित्त स्वयं अपनेमें ही स्वप्न-दृष्टि पदार्थोंके रूपमें नाना प्रकारका हो जाता है, उसी तरह एक चैतन्य धनाकाश सर्वव्यापी अखण्ड होते हुए भी मायावश मिलन-सा बन जाता है। इसन्तिये जिस विपश्चितके समक्ष जो वस्तु आयी, वह उसीमें तन्मयताको प्राप्त होकर उसीके बशमें हो गया। एक देशमें स्थित रहते हुए भी योगी सर्वत्र व्याप्त होकर तीनों कालोंमें सब काम करते और सब पदार्थोंका अनुभव करते हैं। दसों दिशाओंमें स्थित वे विपश्चित् यद्यपि वास्तवमें एक चैतन्यमय थे, तथापि उन्होंने अज्ञानवश वैसा ही व्यवहार किया, जिससे उन्हें मुख-दुःख आदिकी प्राप्ति हुई। जिसके परिणामस्थल्प उन्होंने भूमिपर शयन किया, द्वीप द्वापान्तरेमें सुख-दुःखा उत्पन्न किया, बन-श्रेणियोंमें विद्वार किया, महायज्ञोंकी यात्रा भी, परंतु यात्राओंमें निवास किया, सागर-कुक्षियोंमें भ्रमण किया, अनेक द्वीरोंमें विश्र.म किया, मेघमालाओंसे आष्टादित पर्वतशिखरोंपर गुप्तरूपसे वास किया, सागरनाला ओंमें जन्म धारण किया तथा ओंचियोंमें, जलतरङ्गोंमें, पर्वतों और समुद्रोंके तटोंपर एवं नगरोंमें विविध कीट ऐं कीं।

श्रीरामजीने पृष्ठा—भगवन् ! एक देशमें स्थित रहते हुए भी योगीलोग चारों ओर व्याप्त होकर तीनों कालोंमें सम्पूर्ण कार्य कैसे करते हैं ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! इस जगत्में अज्ञानियोंकी दृष्टिमें जो स्थूल वस्तु है, उससे हम ज्ञानियोंका कोई प्रश्नोजन नहीं है; किंतु ज्ञानियोंकी दृष्टिसे जो चिन्मात्र वस्तु है, उसका वर्णन करता हूँ; मुझो ! तत्त्वज्ञोंकी दृष्टिसे चिन्मात्र सत्त्वासामान्यके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। इसके अत्यन्ताभावका ज्ञान होनेपर सुष्ठि और प्रलयकी दृष्टिका विनाश होनेके पश्चात् चिन्मात्र सत्त्वासामान्यमें निरन्तर विश्रामको प्राप्त हुए सर्वेशरका यहाँ सर्वदा सर्वत्व और

सर्वस्मित्व ही वर्तमान है। ऐसी दशामें मला बताऊ तो सही, कौन कैसे कहों कव्र और क्योंकर उसका निरोध कर सकता है ? वह सर्वव्यापी सर्वत्तमा जब जहाँ जिस रूपमें प्रकट होना चाहता है, तब वहाँ उसी रूपमें प्रकट हो जाता है; क्योंकि उस सर्वत्तमामें कौन-सी वस्तु नहीं है ! मुम ऐसा समझो कि अतीत, वर्तमान और मन्त्रित्य, स्थूल-सूक्ष्म, दूर निकट तथा निमैष और कल्प आदि जितनी वस्तुएँ हैं, वे सब की सब अपने स्वरूपका स्थाग किये बिना ही सत्त्वासामान्य-स्वरूप सर्वदा ही वर्तमान हैं। किंतु वास्तवमें मायासे उछासको प्राप्त हुआ यह दृश्य-प्रपञ्च न उत्थन्न हुआ है और न निरुद्ध हुआ है; बल्कि ज्यों-कान्यों स्थित है।

महावाहु श्रीराम ! वे विपश्चित् पूर्णतया प्रबुद्ध नहीं थे, बल्कि बोधदृष्टि तथा अबोधन-दृष्टिके मध्यमें वे दोलायमान-से स्थित थे। उन अर्धप्रबुद्ध विपश्चितोंमें चारों ओरसे विष्य मोक्ष तथा बन्धनके लक्षण दृष्टिगोचर होते थे। उस पूर्वोक्त संशयप्रस्तु धारणासे युक्त होनेके कारण वे विपश्चित् परमात्म-प्राप्त योगी न थे, किंतु धारणासे प्राप्त हुए सिद्धिवाले धारणा-योगी थे। राजीवन्नेबन राम ! मिन्हें परम ज्ञानकी प्राप्ति हो गयी है तथा जिनमें अविद्याका लेशमात्र भी नहीं है, वे विपश्चित् यदि ऐसे ज्ञानयोगी होते तो क्या वे अविद्याकी ओर दृष्टिप्राप्त करते ? वे तो अग्निदेवके वरदानसे सिद्धिप्राप्त धारणा-योगी थे। उनमें अविद्या वर्तमान थी, इसी कारण वे आत्मविचारहीन थे। जीवन्मुक्तोंका भी शरीर देहधर्मसे युक्त रहता है; किंतु उस शरीरके भीतर जो उमका चित्त है वह अचल ही रहता है अर्थात् उसमें देहधर्म नहीं व्याप्त होते। अतः जीवन्मुक्त पुश्पके शरीरको चाहे दुकड़े-दुकड़े करके काट दाला जाय अथवा उसे राजसिंहासनपर बैठाया जाय—इस प्रकारकी रोने और हँसनेकी दोनों अवस्थाओंमें उसे न तो कुछ हुःखका अनुभव होता है और न मुखका ही।

जीवन्मुक्त पुरुषोंका शरीर आदि आत्मखामावसे कभी पृथक् नहीं है। इसीलिये जीवन्मुक्त पुरुष मरा हुआ भी मरता नहीं, रोता हुआ भी रोता नहीं और हँसता हुआ भी हँसता नहीं अर्थात् वह मरणादि अवस्थाओंमें हर्षशोकसे युक्त नहीं होता। तथापि व्यवहारकालमें अज्ञानी और ज्ञानी

जीवन्मुक्तके आचरण प्रायः एक-से ही होते हैं। प्रह्लाद, बलि, बृत्र आदि यथपि वीतराग जीवन्मुक्त ही थे पर उनके व्यवहार रागियोंके-से होते थे। हाँ, बन्धन तथा मोक्षका कारण तो वासना और वासनाशून्यता ही है।

( सर्ग १२४-१२५ )

**मेरे हुए विपक्षितोंके संसारअभ्यासका तथा उत्तरदिशागमी विपक्षितके अभ्यासका विशेषरूपसे वर्णन**

भीरामजीने पूछा—मुनिश्रेष्ठ ! तदनन्तर वे विपक्षित उन दिग्न्तोंमें तथा द्वीपों, सागरों, कानों और पर्वत-भूमियोंमें जाकर क्या करते हुए निवास करते रहे ?

जीवसिद्धजीने कहा—वस्त्र राम ! उनमेंसे एक विपक्षित कौशल्हीपके सीमा-भूत पर्वतके पश्चिमी तटपर एक हाथीहारा दाँतों एवं गण्डस्थलोंसे उस पर्वतकी शिलापर कमलकी तरह पीस ढाला गया। दूसरे विपक्षितको, जिसका शरीर क्षत-विक्षत हो गया था, एक राक्षसने आकाशमार्गसे ले जाकर समुद्रवर्ती बहवानलमें झोक दिया, जिससे वह वहीं जळकर मर्म हो गया। तीसरेको एक विद्याधर इन्द्र-सभामें ले गया। वहाँ उसने इन्द्रको प्रणाम नहीं किया, जिससे इन्द्रने कुपित होकर उसे शाप दे दिया। उस शापसे वह जळकर मर्म हो गया। चौथा कुशल्हीपकी सीमापर स्थित पर्वतकी तलहटीमें बहवेवाली नदीके कळारमें वस्त्री साधधानीसे जा रहा था, परंतु किसी महाबली मगरने उसके आठ दुकड़े कर दिये, जिससे वह मर गया। इस प्रकार वे चारों भूपाल ( विपक्षित ) दिग्न्तोंमें जाकर मूल्यको प्राप्त हो गये। मृत्युके पश्चात् उन विपक्षितोंकी संवित्तने पूर्व-संस्कारवश आकाशात्मा बनकर आकाशमें ही पृथ्वीमण्डलको देखा फिर दृश्य और दर्शनके मध्यमें, मूर्मण्डलका अनुमत्र ही जिसकी आकृति है, उस अविचाकी निष्ठा—इत्ताको देखनेके लिये वे द्वीप-द्वीपान्तरोंमें भटकते रहे।

राष्ट्र ! उनमें जो विपक्षित पक्षिम दिशाकी ओर

चला था, वह सातों द्वीपों तथा सातों महासागरोंको लौंघकर उनभूमि ( पृथ्वीक सर्वमयी भूमि ) में जा पहुँचा। वहाँ उसे भगवान् जनार्दनके दर्शन हुए। फिर उन्हीं भगवान्से अनुपम ज्ञान ( ब्रह्मविद्या ) प्राप्त करके वह उसी स्थानमें पौंच वर्षतक समाधिष्य हुआ बैठा रहा। तदनन्तर वह देहका परिस्थाग करके निर्वाणको प्राप्त हो गया। पूर्व दिशामें गया हुआ विपक्षित, पूर्णिमाके चन्द्रमण्डलके निकट अपने शरीरको स्थापित करके उसमें चन्द्रस्वकी मावना करता रहा। विश्वालके बाद जब उसका पूर्वशरीर नष्ट हो गया, तब वह चन्द्रलोकमें स्थित हो गया। राजकुमार राम ! दक्षिण दिशागमी विपक्षित शाल्पल्हीपमें जाकर अपने शत्रुओंकी जब उत्थाप करके आज भी वहाँ राज्य कर रहा है। और उत्तर दिशाको प्रस्थान करनेवाला विपक्षित, सतमाम्बुधि—सादूदक-सागरमें जा पहुँचा, जिसमें चश्वल एवं विशाल तरङ्गें किलोल कर रही थीं। वहाँ उसने एक मगरके पेटमें एक हजार वर्षतक निवास किया। उस समय वह उसी मगरके पेटका मांस खाकर जीवन-निर्वाह करता था। इस प्रकार जब वह मगरराज मर गया, तब वह उसके पेटसे निकलकर दूसरे मगरकी तरह समुद्रसे बाहर आया। तदनन्तर हिमके समान खुच्छ जलसे भरे हुए उस सागरकी अस्ती हजार योजनकी विस्तारवाली बनी भूमिको लौंघकर वह उस हजार योजनके विस्तारवाले एक विश्वाल मैदानमें जा पहुँचा, जिसकी भूमि सर्वमयी थी और मध्यमाग बहुत बड़ा

था । उसमें देवतालोग विहार करते थे । वहाँ उसकी मृत्यु हो गयी । उस भूमिमें देवगणोंके मध्य मरनेसे उस विपक्षितको उसी प्रकार उत्तम देशवक्ती प्राप्ति हो गयी, जैसे अग्निके बीच पड़ा हुआ काष्ठ क्षणमध्यमें ही अग्निरूप हो जाता है । फिर वह एक ग्राधान देवता होकर उस लोकालोक पर्वतपर गया, जो भूमण्डलरूपी दृश्यका थाला-सा स्थित है ।

रामभद्र ! उसका दिग्न्तदर्शनरूपी पूर्वसत्कार उसे पूर्णतया अन्यत्त या ही, अतः वह उस उत्कृष्ट निष्पत्यसे प्रेरित होकर ज्यों ही आगे बढ़ा, त्यो ही उस लोकालोक-गिरिके शिखरसे अनन्धकारमय गर्दमें जा गिरा । वहाँ उसने देखा कि पर्वत-शिखर-सरीखे विशालकाय मासमध्यी पक्षी उसके उस देव-शरीरको नोच-नोचकर खा रहे हैं और पूर्वविनित दिग्न्तदर्शनके कार्यमें उसका मनोमय शरीर ही प्रसार कर रहा है; क्योंकि जहाँ उसकी मृत्यु हुई थी, वह प्रदेश परम पायन था । इसी कारण उस निर्मल हृदयवाले विपक्षितको अपने सूखमशरीरमें आविष्यैतिकताका बोध तो नहीं हुआ, परंतु मनके व्यापारसे रहित शान्त स्थितिरूप उत्तम बोधकी प्राप्ति नहीं हुई । उसे तो आतिशाहिक शरीरका ही विशेषरूपसे ज्ञान था, इसी कारण उसने अपने मनको आगे बढ़ाते हुर देखा । आतिशाहिकके ज्ञानसे उसे गर्भवास-तुल्य अन्धकार दीख पड़ा । उस अन्धकारकी समाप्तिपर ब्रह्माण्डकटाहरूपी भूखण्ड दृष्टिगोचर हुआ, जो वड्र-सद्द्वा सारशान्, स्वर्णमय और करोड़ों योजन विस्तारवाला है । उसके बाद उसे उस भूखण्डसे आठगुना विस्तारवाला जल मिला, जो ब्रह्माण्डकटाहकी भूमिके समान समुद्रकी पीठकी भौंति स्थित था । उसे पार करनेके बाद वह एक तेजयुक्त स्थानमें जा पहुँचा, जो ग्रल्यासिनकी घनीभूत लपटोंके पिण्ठीभूत कोटरके समान चमकोला था और जहाँ बहुत-से सूर्य अपना

प्रकाश फैला रहे थे, जिससे वह अस्थन्त भीषण लग रहा था । उस तैबस आवरणमें वह दाह-ज्वोक आग्निसे रहित मनोमय देहसे विकरण कर रहा था । इतनेमें उसे ऐपा भान हुआ कि वह वायुरूप आवरणमें आ पहुँचा । उस समय उसे यह ज्ञात हुआ कि मेर सूक्ष्म आत्मा ही ले जाया जा रहा है और वह चित्तमात्र आत्मा किस प्रकार ले जाया जा रहा है—यह भी मात्र हुआ । ऐसे ज्ञानके बलसे उस धीरामाने उस वायुसागरको पार किया । उसके बाद वह उससे भी दसगुने विस्तृत शून्य स्थानमें जा पहुँचा । उसे लोक्षकर वह असोम महान् आकाशमें प्रविष्ट हुआ । जिसमें सब कुछ विलीन होना है, जिससे सब कुछ आविर्भूत होता है तथा जो कुछ नहीं हैं और सब कुछ है, उस महान् आकाशमें मनोमय देहसे भ्रमण करता हुआ वह बहुत दूर चला गया । वहाँ उसने पृथ्वी, जल, तेज, वायु, तथा जगत् देखा । फिर संसारकी रचनाएँ, सृष्टियाँ और दिशाएँ दृष्टिगोचर हुईं । तत्पश्चात् पर्वत, आकाश, देवता-मनुष्य और पञ्चमहामूर्तोंके अन्तमें घनीभूत आकाश दीख पड़ा । पुनः जगत्, दिशाएँ, आकाश और दूसरी अव्यवस्थित सृष्टियाँ परिलक्षित हुईं । यों दीर्घकालसे विहार करता हुआ वह आज भी वहाँ स्थित है । चिरकालसे अन्यत्त हुए अपने जगत्-स्थितरूप निष्पत्यसे वह विरत नहीं हो रहा है; क्योंकि अविद्याका अन्त तो है नहीं किंतु जब उसकी सत्यता जान ली जाती है, तब वह भी ब्रह्मरूप हो जाती है । वास्तवमें तो पूर्णांगा ब्रह्ममें अविद्या है ही नहीं । यह दृश्य है, यह अविद्या है, यह तो उसकी कल्पना है । राष्ट्र । वह विपक्षित आज भी तत्त्वज्ञान न होनेके कारण उन पूर्वदृष्ट स्थानोंमें ही तथा उन्हींके सद्वा अन्य सृष्टियों तथा बनकृष्णोंमें अपनी वासनाकी उल्कटाके कारण चिरकालसे दूर-से-दूर आरबार भ्रमण कर रहा है ।

( संग १२६-१२८ )

## शेष दो विपक्षितोंके बृत्तान्तका वर्णन तथा मृगरूपमें श्रीरामचन्द्रजीको प्राप्त हुए एक विपक्षितका राजसभामें लाया जाना

श्रीरामजीने पूछा—मुनिश्रेष्ठ ! अब यह बतलाइये कि एक विपक्षित तो भावकृपासे मुक्त हो गया और दूसरा अभीतक अविद्यामें भ्रमण कर रहा है । शेष चन्द्रजीक और शाल्मणिद्विषमें निरुद्ध हुए उन दोनों विपक्षितोंकी फिर क्या दशा हुई ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! उन दोनों विपक्षितोंमेंसे एक विरकालसे अन्यस्त हुई वासनाओंके वशीभूत होकर अनेक प्रकारके शरीरोंसे द्वौप-झीपान्तरोंमें भ्रमण करता हुआ उत्तर-दिग्वर्ती विपक्षितकी ही गतिको प्राप्त हुआ । उसीकी तरह परमाकाशरूपी खोखलेमें क्रमशः ग्रहाण्डके आश्रणोंका परित्याग करके लाखों सृष्टियोंको देखा हुआ वह आज भी उसी तरह स्थित है । उन दोनोंमेंसे जो दूसरा था, उसकी चन्द्रमाके निकट अपने शरीरको रखरख अन्यास करनेके कारण चन्द्रमूर्गमें पूर्णतया आसक्ति हो गयी, जिससे वह प्रतिमास चन्द्रमाके साथ भ्रमण करनेवाली देहोंसे युक्त हो गया । तत्पर्थात् उनका परित्याग करके वह पर्वतपर मृगरूपमें स्थित है ।

श्रीरामजीने पूछा—ग्रहन् ! चारों विपक्षितोंकी एक ही वासना थी, फिर वह उत्तम अभ्यम फल प्रदान करनेवाली भिन्न-भिन्न कैसे हो गयी ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दी ! ग्राणीकी भनीभौति अन्यस्त हुई वासना देश, काल और क्रियाके वशसे कोमल और अत्यन्त परिपाकजय छड़मूल होती है । उनमें जो कोमल है, वह अन्यरूपताको प्राप्त होती है, किन्तु जो नद्दमूल है, उसमें शीघ्र अन्यरूपता नहीं होती । देश, काल और क्रिया आदिकी जो एकता है, वही वासनाकी एकता है । उन दोनोंमें भिन्नता आ जानेपर जो बलवती होती है, उसीकी विजय होती है । इस प्रकार वे

विपक्षित एक साथ उत्पन्न होकर शरीर-मेदसे और रूपों-में हो गये । उनमेंसे आदिके लोकों तो अविद्याने आकृष्ट कर लिया, एक वासनाके वशीभूत होकर मृग बन गया और एककी मुक्ति हो गयी ।

श्रीराम ! इस प्रकार उन विपक्षितोंका सारा बृत्तान्त मैंने स्पष्टरूपसे तुम्हें कह सुनाया । यह अविद्या कारण ग्रहकी भौति अनन्त ही है; क्योंकि वह तत्त्वरूप ही है । यों वे अहानी विपक्षित उस ग्रहाण्ड-मण्डपके अंदर भटकते रहे, परंतु उन्हें अविद्याका ओर छोर नहीं पिला । यह अनन्तरूपा अविद्या ग्रहरूप ही है; क्योंकि वह ग्रहमयी है । इसीलिये जबनक इसका यथर्य हान नहीं हो जाता, तभीतक इसकी सत्ता है; तत्त्वज्ञान हो जानेपर तो इसका अलिख्य ही पिट जाता है । इसी कारण वे विपक्षित परग्रहाकाशमें अन्यत दूर पहुँचकर अविद्याद्वारा कल्पित कलिपय अन्य संसार-रूपोंमें भटकते रहे । उनमेंसे एक मुक्त हो गया, एक मृग बन गया । शेष दो अपने प्राकृत प्रबल सुस्कारके वशीभूत होकर आज भी कहाँ भटक रहे हैं ।

श्रीरामजीने पूछा—मुनिवर ! यह तो आपने हमारे लिये महान् आर्थर्यजनक बृत्तान्त सुनाया है । मेरे ऊपर आपकी विशेष अनुकूल्या है । अच्छा, अब यह बतलानेकी कृपा कीजिये कि वे विपक्षित जिन लोकोंमें उत्पन्न हुए थे, वे यहाँसे कितनी दूर हैं और वे कितनी दूरीपर कैसे लोकोंमें भ्रमण कर रहे हैं ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! वे दोनों विपक्षित, जिन लोकोंमें स्थित हैं, वे लोक प्रयत्नपूर्वक विचार करनेपर मीं मेरी बुद्धिके विषय नहीं हुए । हाँ, मृग-योनिको प्राप्त हुआ तीसरा विपक्षित, जिस लोकमें स्थित है, वह संसार सम्भवतः हमारी बुद्धिमें है । वह विपक्षित,

जिसकी बुद्धि तत्त्वको संसार-प्रमणसे खिल नहीं हुई थी, आन्तिधश बहुत-से लोकोंमें भ्रमण करके उस ब्रह्माण्डमें किसी पर्वतकी कल्दरामें मृगयोनिमें उत्पन्न हुआ ।

श्रीरामजीने पूछा—शहन् ! यदि ऐसी बात है तो यह बतलाइये कि वह किस दिशामें, किस मण्डलमें, किस पर्वतपर, किस घनमें मृगस्थपसे स्थित है ? कहाँ वह क्या करता है ? शत्यश्यामला भूमिमें निवास करता हुआ कैसे दूब चरता है ? बुद्धायेके समान शिथिल ज्ञानवाला वह अपने उस उल्लृष्ट विपश्चित्-जन्मका काम समरण करेगा ?

श्रीबसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! त्रिगर्ताजने जिस क्रीडामृगको तुम्हें भेटखपमें प्रदान किया है और जो तुम्हारे क्रीडामृगागर ( अजायबघर )में विद्यमान है, उसीको तुम वह विपश्चित् समझो । तब श्रीखुनाथजीकी आज्ञासे बाल्कोद्वारा लाया गया वह मनोहर मृग उस विशाल रुजसभामें प्रविष्ट हुआ । फिर तो सभी सभासद्

टकटकी लगाकर उसकी ओर देखने लगे । वह शरीरसे तगड़ा था और उसका चेहरा भी प्रसन्न था । वह अपने शरीरकी चित्तियोंसे तारारूपी बिन्दुओंसे युक्त आकाशकी लिङ्गना कर रहा था, नील कमलरूपी नेत्रोंको बारंबार गिरानेसे सुन्दरी नायिकाओंके ब्रह्मल कटाक्षोंका तिरस्तार कर रहा था । उसके दर्शनके लिये लालअर्पित हुई सभाकाला अनाहर करनेवाले अपने मनोऽमिराम चकित कटाक्षोंसे खम्भोंमें जही हुई मरकत्तमणिकी नींदी कान्तिको तृण सम्प्रकर उसे स्थानेकी इच्छासे वह चञ्चलतापूर्वक इधर-उधर दौड़ रहा रहा था, क्षणभरमें अपने कान, नेत्र और गर्दनको ऊपर डाल लेता और फिर तुरंत ही नीचे कर लेता—यों अपनी चपलतासे सभासदोंको कौतूहलमें डाल रहा था । इस प्रकार राजा, मुनि और मन्त्रियोंसहित सभी लोग उस मृगको देखकर ‘भगवान्की माया अनन्त है’ यों कहते हुए वहुत देरतक आधर्यमें दूवे रहे । ( सर्ग १२९ )

**श्रीबसिष्ठजीके व्यानसे उत्पन्न हुई अभिमें मृगके प्रवेशका तथा उसके विपश्चित्-देहकी ग्रासिका वर्णन**

श्रीबाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज ! तदनन्तर श्रीरामने बसिष्ठजीसे पूछा—‘मुने । किस उपायद्वारा प्राक्तन विपश्चित्-देहकी प्राप्ति होकर इस विपश्चित्को हुःख-का अन्त होगा ?’

श्रीबसिष्ठजीने कहा—रामभद्र ! जैसे आगमें ढाल देनेसे सुधर्ण अपने निर्मल रूपको प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार इस विपश्चित्को लिये भी अप्ति ही शरण है । उसमें प्रवेश करनेसे यह मृग अपने पूर्व विपश्चित्-देहको प्राप्त हो जायगा । यह सब मैं अभी करता हूँ और सुमलोगोंको कृतुक दिखलाता हूँ । यह मृग अभी हुमलोगोंके सामने आगमें प्रवेश करेगा ।

श्रीबाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज ! उत्तम विचार-बाले मुनिवर श्रीबसिष्ठने व्यर्थ यों कहकर अपने कमण्डलके

जलसे विपश्चित्क आचमन करके इन्द्रनरहित ज्ञाल-पुस्तखरूप अमिका व्यान किया । उनके अप्तन करते ही सभाके मथ्यमागसे अमिकी ल्पटें ल्पछाने लगी । उन ज्ञालओंका आकार अङ्गरसे रहित था, उनमें हृष्णका भी सम्पर्क नहीं था; धूम और कल्पकांका तो नामनिशान नहीं था । वे निर्भल ज्ञालाएँ धक्क-धक्क करके धबक रही थीं । उनकी परम मनोहर कान्ति फैल रही थी और वे खर्ण-मन्दिर-सी सुन्दर लग रही थीं । खिले हुए पलाशका-सा तो उनका आकार या और वे संध्याकालीन मेषकी सी रंगवाली प्रकट हुई थीं । उस ज्ञालसमूहको देखकर समासदूरण तो दूर हट गये थे, परंतु पूर्वजन्मके भक्तिभावसे आदरसाहित देखते हुए उस मृगको उनके दर्शनसे परम हर्ष हुआ । उस अमिका अवलोकन करनेसे उस मृगका पाप क्षीण हो गया और उस अनिमें

प्रबेश करनेके लिये उसकी इच्छा जाप्रद् हो डठी । फिर तो वह तुरंत ही सिंहकी तरह उछलकर दूरतक पीछे हट गया । इसी बीचमें मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजी ध्यानमन होकर विचार करने लगे और अपने दृष्टिपातोंसे मृगफ़ा पाप नष्ट करते हुए अप्रिदेवसे यों बोले—

‘ऐश्वर्यशाली हृव्यवाहन ! इस मनोहर मुगकी पूर्वजनकी भक्तिका स्मरण करके इसपर कृपा कीजिये और इसे विपश्चित् बना दीजिये ।’ रुज्जसभामें वसिष्ठ-मुनिके यों कहनेपर वह मृग दूरसे दौड़कर उसी प्रकार अप्रिमें प्रबेश कर गया, जैसे केगपूर्वक छोड़ा गया वाण अपने लक्ष्यमें प्रविष्ट हो जाता है । उस ज्ञालसमूहमें प्रविष्ट हुए उस मृगका शरीर दर्पणमें प्रतिविम्बकी भौति संथाकालीन मेघमें विश्रान्त हुआ-सा स्पष्ट दीख रहा था । तदनन्तर समाप्तदोके देखते-देखते ही वह मृग ज्ञालओके बीचमें मनुष्यके रूपको प्राप्त हो गया । ज्ञालओं-के अंदर वह पुण्यकृति पुरुष दिखायी पड़ा । वह सर्ण-सा कार्णितमान् था । उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग कमनीय थे, जिनसे वह बढ़ा ही सुन्दर लग रहा था ।

तदुपरान्त वह ज्ञाल-मुख वायुके झोकेसे छुके हुए दीपकके समान उस सभाके मध्यसे ऐसे अदृश्य हुआ, जैसे आकृत्तिसे सायंकालके भेव विलीन हो जाते हैं । फिर तो वहाँ देवालयकी दीवालोंके द्वृट जानेपर उसके मध्य स्थित देव-प्रतिमाके समान तथा परदेके अंदरसे बाहर निकले हुए नटकी तरह केवल वह पुरुष ही छड़ा रह गया । वह परम शान्त था । उसके गलेमें रुद्राक्षकी भाल शोमा पा रही थी, कंधेपर सर्णमय यज्ञोपवीत लटक रहा था और शरीर अप्रिलापसे निर्मल हुए बछोसे आश्चादित् था । इस प्रकार वह तुरंत ही उद्दित हुए चक्रमाके समान गला लग रहा था । सूर्यकी प्रभा-सरीखा वह परमोत्कृष्ट आगामे सुक्ष था । उसके शरीरकी कान्ति-देखकर समाप्तदोके-मुखसे बरबर निकल पड़ा—‘अहो ! कैसी असृत भा ( शोमा ) है !’ इसलिये वह

‘मासु नामसे विद्यात् हुआ । तत्पश्चात् वह भास वही ध्यानमन होकर बैठ गया और मन-क्षी-मन अपने पूर्वजन्मोंके समूर्ण वृत्तान्तोंका स्मरण करने लगा । उस समय सारे समासदू आश्चर्यचकित होकर चुपचार्प बैठे थे । तबतक भास दो ही बच्चीमें अपने समूर्ण वृत्तान्तोंका स्मरण करके उन पूर्वजन्मोंकी स्मृतिसे लौट आया और उसका ध्यान भङ्ग हो गया । उसने उठकर त्रिमूः सारी समापर दृष्टिपात किया । फिर हर्षपूर्वक वसिष्ठजीके निकट जाकर उन्हें प्रणाम किया और यों कहने लगा—‘म्रदन् ! आप ज्ञान-सूर्योदीपी प्राण प्रदान करनेवाले हैं, आपको मेरा प्रणाम है ।’ तब वसिष्ठजी भी उसके सिरपर हाथ फैलते हुए यो बोले—‘राजन् ! चिरकालके बाद आज तुम्हारी अविद्याका सर्वथा विनाश हो जाय ।’ तदनन्तर जब वह ‘श्रीरामजीकी जय हो’ यो कहता हुआ उनके चरणोंमें प्रणाम कर रहा था, उसी समय राजा दशरथ अपने आसनसे कुछ उठकर उससे हँसते हुए-से बोले ।

श्रीदत्तरथजीने कहा—‘मो राजन् ! आपका स्वागत है । आप अनेक जन्मस्त्री संसारमें भ्रमण करनेसे थक गये हैं । अतः आहये, यहाँ इस आसनपर विराजिये और विश्राम कीजिये ।

श्रीचाल्मीकिंजी कहते हैं—महराज ! महाराज दशरथके यो कहनेपर वह भास नामक विपश्चित् विश्वामित्र आदि सभी मुनियोंको प्रणाम करके आसनपर बैठ गया ।

तब श्रीदत्तरथजी बोले—‘अहो ! खेद है, जैसे बंगली हाथी आलानमें बैंधे रहनेके कारण दुख मोगता है, उसी तरह इस विपश्चित्तने भी चिरकालतक अविद्याके वशीभूत होकर दुःखका अनुभव किया है । अंहो ! अज्ञानसे उत्पन्न हुई दुर्दृष्टिकी कैसी विषम गति है ! यह आकृत्तिमें ही अनेक सृष्टियोंके आदम्बर-भ्रमका

दर्शन करती है। यह कम आश्चर्यका विषय नहीं है, अंदर इस प्रकारके अनेकों जगत्के रूपमें जो सर्वव्यापक आत्मामें ये किलने ससार फैले हुए हैं, अहो ! जिनमें यह विप्रधित विश्वास्तक भ्रमण करता रहा। अहो ! अपने सभावरूप विभवसे सम्बन्ध इस चेतन आत्माके संकल्पधरी, जो बस्तुतः शून्य है, कैसी अहुत महिमा है। यह शून्य होते हुए भी परमात्मानखरपी आकाशके

प्रतीत होता है।

तदनन्तर श्रीविश्वामिन्द्रजीके द्वारा शूडे जानेपर विप्रधित भासने अपने देखे हुए विभिन्न दृश्यों, स्थानों, लोकों तथा प्राणियोंका विस्तार्युर्धक वर्णन किया।

( सं १३०-१३१ )

### प्राणियोंकी उत्पत्तिके दो भेद, मच्छरके मुगायोनिसे दृष्टकर व्याधरूपसे उत्पन्न होनेपर उसे एक मुनिका ज्ञानोपदेश

उपर्युक्त प्रसाहनमें ही विप्रधित भासने आकाशसे एक विश्वाल शब्दके गिरनेकी कथा मुनायी। तदनन्तर अग्निदेवके साथ हुए अपने संबादकी चर्चा करते हुए भासने कहा कि मेरे पूछनेपर अग्निदेवताने शब्दका आदिसे अन्ततक पूरा दृतान्त सुने सुनाया और यह कहा कि वह शब्द मच्छरकी योनिको प्राप्त हुआ था। उस अतिक्षुद्र शरीर-काले स्वेदज मच्छरकी आशु केवल दो ही दिनोंकी हुई। उसका शरीर इतना हल्का था कि वह छँक मारनेसे ही उड़ जाता था। इस बातको सुनकर श्रीरामचन्द्रजीके मनमें जिज्ञासा उत्पन्न हुई, तब उन्होंने श्रीवसिष्ठजीसे पूछा।

श्रीरामजीने पूछा—प्रभावशाली गुहदेव ! इस जगत्में क्या समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति योनिसे ही होती है अथवा क्या जिसी प्रकारसे भी सम्भव है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—सुनन्दन ! ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति दो प्रकारसे होती है—एक ब्रह्मासे अनुभवसे ब्रह्मल हुए शरीरतादात्म्यके भ्रमवश प्राणियोंकी जो उत्पत्ति होती है, वह भ्रान्तिज कही जाती है; क्योंकि वह दृश्यके समान होती है। नित्यमुक्त ब्रह्मानों कभी भी जगद्-भ्रान्ति तो होती नहीं, फिर भी वह सुष्टिके आदिमें चतुर्थिं जीवरूपसे जो स्थान अपने संकल्पसे उत्पन्न होता

है, उसका वह जन्म प्राप्तमय कहा जाता है। व योनिज महीं होता। श्रीराम ! उस मच्छरने जगद्वान्मिश्र वश जन्म घारण किया था। वह ब्रह्म-विश्वसे न उत्पन्न हुआ था। अब ( अग्निके द्वारा कहा गया उसका आल ब्रह्मान्त विप्रधितसे हुनो )

( अग्निने आगे कहा— ) उसने पृथ्वीपर ईशके हुए सुन्दर हरी-हरी बासोंपर तथा मैर्ज-कास आदिके अंशोंमें गूँजे हुए दूसरे मच्छरोंके साथ स्थान भी गूँजते एवं कीठा कहुए अपनी आयुका आवा दिन पूरा-का-मूरा भोग-विज्ञ में व्यतीत कर दिया। फिर वह ब्राह्म-लीलावश अपनी। मच्छरीके साथ हरी-हरी बासोंके मध्यभगरूपी हिंडो बहुत देतक छाला छालता रहा। छालेके परिशमसे वक जब वह कहीं कहीं विश्राम कर रहा था, तककां हरित सुराप्रखरी पर्वतके गिरनेसे अकलाचूर हो गया। प्राणिर करते समय उसकी दृष्टि इरिणके मुख्यर लगी थी, इस पूर्व भावनाके अनुसार वह और आम्यन्तर इन्द्रिय प्रहृण करके वह मुगायोनिमें पैदा हुआ। वह इरिण धूम रहा था कि एक व्याघ्रने उसे अपने धनुशद्वारा छाल। मरते समय उसकी दृष्टि व्याघ्रके मुख्यर थी, हस्तिये अगले जन्ममें वह व्याघ्र होकर पैदा हुए। वह व्याघ्र अनेक बनोंमें धूमता-धमता जिती सुनने में जा पड़ता। वहाँ वह विश्राम कर रहा था उसकी मुनिसे भेंट हो गयी। तब मुनि उसे बालने करने ले—

रे व्याख्या । तू क्यों भयमें पड़ा है ? इस क्षणभूत संसारमें अपने दीर्घकालव्यापी हुःखके लिये धनुयसे इन मृगोंको क्यों मारता है ? अहिंसा-अमयदान आदि शास्त्रमर्यादाका पाठन क्यों नहीं करता ? अरे पुत्र ! वायुसे टकराये हुए मेघमण्डलमें लटकते हुए जलकी दूँहकी भाँति आयु विनाशी है । मोग बादलोंकी घटाके मध्य कींधनेवाली विजलीकी तरह चक्षु हैं । जशानीके मोग-बिलास जलके बैगके समान चपल हैं । शरीर क्षण-विवर्जनी है ; अतः इस संसारसे भयभीत होकर तू निर्वाणकी ही खोज कर ।'\*

तथ व्याधने पूछा—मुनिराज ! यदि ऐसी बात है तो बताइये कि हुःखका पूर्णतया विनाश करनेके लिये जो न कठोर हो और न कोमल हो—ऐसा कौन-सा व्यवहारक्रम हो सकता है ?

मुनिने कहा—व्याख्या । तू इसी समय वाणोंसहित इस धनुषको सड़ाके लिये त्याग दे और मुनिके-से आचरणका आश्रय लेकर हुःखरहित हो यहाँ निवास कर ।

श्रीवत्सिंघी कहते हैं—राममद्भुत । उक्त मुनिके यों उपदेश देनेपर उसने धनुष और वाणोंका परित्याग करके मुनियोंका-सा आचरण अपना लिया । फिर विना भौंगे जो कुछ मिल जाता था, उसीपर जीवन-निर्वाह करते हुए वह वही रहने लगा । कुछ ही दिनोंमें सारासारकी विवेक-शीलताने उस मौनीके मनमें उसी प्रकार प्रवेश किया, जैसे पुष्प गन्धारा मनुष्योंके हृदयमें अपना स्थान बना लेता है ।

तदनन्तर व्याधद्वारा किये गये प्रश्नके उत्तरमें मुनिने धारणाके अभ्याससे परकाय-प्रवेशद्वारा ढेखे गये स्वप्नका,

दो जीवोंके सम्मेलनसे हुगुने विश्वदर्शनका, एकता होनेपर एक विश्वके दीखनेका, विस्तारपूर्वक प्रलयदर्शनका, प्रलय-सागरके हटने, गाँवमें ब्राह्मणरूपमें स्थिति, दूसरेके शरीरसे बाहर निकलने आदिका वर्णन करनेके पश्चात् कहा ।

मुनि कहे—व्याख्या । सुष्ठिकी उत्पत्तिका वस्तुतः कोई कारण नहीं है । अतः उसकी उत्पत्तिका अभाव स्पष्ट है । इसलिये सुष्ठि शब्द और उसका अर्थ दोनों ही सर्वथा नहीं हैं । ऐसी स्थितिमें कहाँ शरीर है, कहाँ हृदय है, कहाँ खून है, कहाँ जल आदि है, कहाँ ज्ञान है, कहाँ अज्ञान है और कहाँ जन्म-मरण आदि है ? वास्तवमें तो वह निर्मल चिन्मात्र ही है, जिसकी अपेक्षा आकाश अत्यन्त सूक्ष्म होते हुए भी उसी प्रकार स्थूल लगता है जैसे परमाणुओंके निकट पर्वत । वह चिदाकाश अपने आकाशरूप शरीरके विषयमें स्वमावतः जो कुछ संकल्प करता है, उससे वह अपनेको जगद्रूपसे जानता है । जैसे खन्नमें केवल चेतन जीव ही नगररूपसे प्रतीत होता है, वास्तवमें वहों नगर आदि कुछ भी नहीं है, वैसे ही आत्माकाशमें शान्त, अखण्ड, अप्रस्थ चिन्मात्र ही जगद्रूपसे मासित होता है । जैसे नेत्रोंमें तिमिर रोग हो जानेसे प्रकाशमय आकाशमें खुओंसा-सा दीख पड़ता है, उसी तरह चिन्मात्री दृष्टिमें अज्ञानरूपी तिमिर रोगके कारण जगतका मान होता है । परतु वस्तुतः न भान है न अभान, न प्रातिमासिक जगत् है न व्याधारिक तथा भृताकाश भी नहीं है; बल्कि केवल निरक्षर, अनादि, अनन्त, अद्वितीय चिदाकाश ही है । जिस हेतुसे कारणके बिना खन्नमें केवल शुद्ध दृष्टि ही मासित होता है, उसी हेतुसे जाग्रत्में भी कारणका अभाव है और उसमें न दृष्टि है न दर्शन । जैसे एक काल सुष्ठि और प्रलय-दोनों रूपोंमें व्याप्त है अथवा बीज अङ्गुरसे लेकर पुष्प-फलपर्यन्त सभी अवस्थाओंमें वर्तमान है, उसी प्रकार ब्रह्म सर्वव्यापी है । जो एककी दृष्टिमें महान् दीवालरूप है, वही दूसरेकी

\* आकुर्वादुविष्टिताश्चपदलीलम्यामुक्तुरुं

भेदग भेदवितानमध्यभिलस्त्वैद्यमनीचल्लाः ।

लोला यैवनल्लना जलयः कल्यः क्षणापायान्

पुत्र जातसुपेत्य संस्तिविग्नाक्षिर्वाण्मनिव्यताम् ॥

दृष्टिमें निर्मल आकाश-सा दीखता है। यह बात स्थिर-स्थान, संकल्प और भग्न आदि अवस्थाओंमें देखी गयी है। जैसे आत्मा एक निर्मल चिदाकाशखण्डप होकर खण्डमें जाग्रत्की तरह प्रतीत होता है, उसी तरह जाग्रनमय स्थानमें भी भासित होता है। दोनों अवस्थाओंमें उसकी दरानी भी अन्यथाप्रतीति नहीं होती। अतः व्याध ! समर्थ मनोभ्यापारका स्थाग कर देनेपर तुम जैसा रहते हो, यही तुम्हारा निरामय खण्डप है, तुम वस्तुतः बाहर-भीतर सर्वत्र अनन्त आत्माखण्डसे निरन्तर स्थित हो।

ब्रह्मा आदि जो स्थयंभू अपने-आप उत्पन्न होनेवाले हैं, वे सुष्ठिके आदिमें स्थयं ही प्रकट होते हैं; क्योंकि उनके शरीर ज्ञानमात्रस्थानप होते हैं। अतः उनके जन्म और कर्म नहीं होते। उनकी दृष्टिमें न संसार है, न द्वैत है और न कल्पनाएँ हैं। विशुद्ध ज्ञानस्थानप शरीरवाले वे सदा सर्वाभ्यास्थानमें स्थित रहते हैं। सुष्ठिके आत्मकालमें जैसे परमस्थानप ब्रह्मा आदि प्रकट होते हैं, उसी तरह सैकड़ों-हजारों दूसरे

जीव भी प्रकट होते हैं; किंतु जो आहानी हैं, वे अपनेको ब्रह्मसे मिन्न मानते हैं। वे असात्तिक जीव इस जड दृश्यमय द्वैत प्रपञ्चको सत्य समझकर ही पहले मृत्युको प्राप्त हुए थे। अतः अब उनका कर्मसुहित पुनः जन्म दिखायी देता है; क्योंकि उन्होंने स्थयं ही अचेतन देहस्थानप होकर अवस्थुका आश्रय ग्रहण किया है। सर्वाभ्यास्थानकी निर्मलता स्थानाभिक है। नित्यब्रह्म स्व-स्वभावमें ही स्थित है। जिसे वह परमाभ्य-स्वस्थान ज्ञात हो गया है, उसका वह कर्म नष्ट हो जाता है। तब जिसका अस्तित्व ही नहीं है, उसके विनाशमें कठिनाई ही कौन-सी है। जबतक पाण्डित्यकी—परमाभ्यस्वस्थानपके ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो जाती, तभीतक मया संसारभयको उत्पन्न करनेमें समर्थ होती है। पाण्डित्य वही है, जिससे पुनः इस संसारधक्षमें पतन नहीं होता। इसलिये विशुद्ध ज्ञानसे भरपूर उस पाण्डित्यकी प्राप्तिके लिये अविराम प्रयत्नकरना चाहिये। इसके सिवा अन्य किसी उपायसे तुम्हारा यह संसार-भय नष्ट नहीं हो सकता।

( सर्ग १३६-१४२ )

### पाण्डित्यकी प्रशंसा, चित् ही जगत् है—इसका युक्तिपूर्वक समर्थन

मुनि चोले—व्याध ! जो परमधामरूपी गन्तव्य स्थानके मार्गके ज्ञाता हैं तथा जिन्हें आत्मज्ञानका पूर्णविद्य है, ऐसे पण्डित जिस गतिको प्राप्त होते हैं, उसके सामने इन्द्रका ऐश्वर्य जीर्ण-शीर्ण तुणके समान तुच्छ है। मुझे तो पाताल, भूतल और स्वर्गलोकमें कहीं भी ऐसा सुख अपना ऐश्वर्य नहीं दीख रहा है; जो पाण्डित्यसे बढ़कर हो। जैसे ज्ञान हो जानेसे मालामें सर्पकी भान्ति तुरंत मिट जाती है, वैसे ही ज्ञानीकी दृष्टिमें यह अविद्यात्मक दृश्य-प्रपञ्च क्षणमात्रमें प्रकाशरूपमें परिणत हो जाता है। ब्रह्मका जो प्रतिमास है, वही यह नगर, कहा जाता है। इसी कारण ये पृथी आदि पञ्चभूत कहाँ हैं और इनका कारण कहाँ है अर्थात्

जगत्की उत्पत्तिमें इन कारणोंकी अपेक्षा नहीं है। जैसे स्वनद्रष्टाको स्वप्नमें दीखनेवाले मनुष्योंकी स्थिति काल्यनिक है, वास्तविक नहीं है, उसी तरह जाग्रत्स्वरूप स्थानमें दीखनेवाले मनुष्योंकी स्थिति भी पूर्णकामनाके अनुसार कल्पित है, यथार्थ नहीं है।

व्याध ! जैसे स्वनाधस्थानमें तुम्हारे अन्तःकरणके संकल्पमें नगर दीखता है, वैसे ही ब्रह्मके संकल्पमें यह सुष्ठि वर्तमान है और जैसी कार्यकारणता तुम्हारे स्वनकालमें कही नगी है, वैसी ही कार्यकारणता यहाँ भी है।

यथापि यह समर्था जगत् असद् है तथापि स्थानकी तरह इसका अनुमय होता है। यदि 'जगत् नहीं है' यों कहा जाय तो पूर्ण चेतन ही इस दूरमें

विकसित होता है। जैसे हमलोगोंका यह जगत् है, वैसे ही आकाशमें अन्य प्राणियोंके लाखों जगत् हैं; परंतु उनकी परस्पर अनुभूति नहीं होती। सरोबर, सागर और कूपमें पृथक्-पृथक् निवास वरनेवाले मेहरोंको अपने-अपने निवासस्थानका ही अनुभव रहता है, उन्हें परस्पर एक-दूसरेके दृश्यादिका कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। जैसे एक ही धरमें सैकड़ों मनुष्योंके सैकड़ों सम्बन्धर होते हैं, उसी प्रकार आकाशमें बहुत-से जगत् भासित होते हैं; परंतु अङ्गनियोंके अनुभवमें आनेसे ही उन आकाशीय जगतोंकी सत्ता है और ज्ञानियोंके अनुभवका विषय न होनेसे वे असत् हैं। जैसे एक धरमें सैकड़ों मनुष्योंके सैकड़ों सम्बन्धर विकसित होते हैं और नहीं भी होते, उसी तरह आकाशमें जगत् है और नहीं भी है।

यह सुनन चिन्मात्रमें स्थित है। 'स्वप्न', 'अहम्' आदि रूप जगत् भी विच्छय है। इस व्याप्तसे उत्पन्न न होता

हुआ भी जगत् परमाणुके अंदरतक चला जाता है अर्थात् अव्यक्त सूक्ष्म हो जाता है। मैं परमाणुरूप हूँ, अतः समस्त जगत्के आकाशमें स्थित हूँ। इसी कारण मैं सर्वत्र यहौंतक कि परमाणुके अंदर भी विषमान हूँ। यह चिदाकाशरूप में चिन्मात्र परमाणु होकर जगद्रूपसे जहाँ स्थित रहता हूँ, वहीं तीनों लोकोंको देखता हूँ। मेरे अन्तरालमें तीनों लोकोंका जैसा रूप विकसित होता है, जैसा बाहर नहीं होता; क्योंकि कहीं भी किसीने उसे देखा नहीं है। खप्न अथवा जाप्रदमें जब-जब अथवा जहाँ-जहाँ जगत्का जो मान होता है, वह बाह्य एवं आम्नतर-सहित समस्त दृश्य चेतन आत्माका मान ही है। जब खप्नमें प्राणीका विस्तृत जगत् भासित होता है, तब वह चिदाकाशरूप आत्माका ही मान होता है और वह खप्न-खप्न-स्थानरूपसे होता है।

( सर्ग १४३-१४४ )

### मुनिका व्याधके प्रति बहुत-से प्राणियोंको एक साथ सुख-दुःखकी श्रासिके नियन्त्रण कियण करना

इस प्रकार खप्न, सुषुप्ति आदिके भेदोंका कर्णन करके मुनिने पुनः कहा—‘व्याध ! यथापि जाप्रत, खप्न, सुषुप्ति एवं दुरीय खरूपवाला आत्मा आकाररहित होकर भी सर्वाकार है, कल्पनाओंसे शून्य होते हुए भी सृष्टिरूपी शरीर धारण करनेवाला है और शून्यरूप दृश्यात्मक चित्-शरीरसे शून्यप्रभवको व्याप्त करके स्थित है, तथापि यह आकाशात्मक चिन्मात्र अपने शुद्ध चिदाकाशखरूपसे कुभी भी तनिक भी भिन्न नहीं है। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, लोकान्तर और मेघ आदि भूत-भौतिक पदार्थों-संहित यह दृश्यजगत् सुषुके आदिमें भी कारणका अनुभव न होनेसे केवल चिदात्मक ही है। वास्तवमें यह नाम-रूपसे रहित और वोधस्तरूप ही है; क्योंकि अन्ततो-गता मनोल्य हो जानेपर यह साग-का-साग शुद्ध शानखरूप ग्रह ही रह जाता है, कोई अन्य वस्तु नहीं।’

व्याधने पूछा—मुने ! प्रलय आदि सैकड़ों महावृत्तान्तों-से जिसकी अनेकों सुष्टियों समाप्त हो चुकी हैं, ऐसे आपका उन्नतुन लोकोंमें कैसा वृत्तान्त धरित हुआ था, उसका दृश्य क्तलाइये ।

मुनिने कहा—सहाचारकी स्फूर्ता रखनेवाले साधुखभाव व्याध ! स्वप्नागत किसी प्राणीके ओजमें स्थित होनेपर उस प्राणीके दृश्यस्थित ओजमें जो अपूर्व वृत्तान्त धरित हुआ, उसे सुनो। उस समय कहाँ मेरा आत्मज्ञान-सम्बन्धी सारा चमकार विस्तृत हो गया और वर्ष-शत्रुरूप काढ धीरे-धीरे व्यतीत होने लगा। मेरा आत्म-चिन्तन छूट गया और दुर्दि पुत्र-कल्प आदिमें अनुरक्ष हो गयी। इस प्रकार उस गृहस्थाप्रमये रहते मेरे सोलह वर्ष बीत गये। तदनन्तर किसी साध्य एक सुमान्य चिदान्-मुनि अतिथिरूपसे मेरे घर पधरे।

वे मननशील तथा अगाध ज्ञानसम्पन्न हैं। उनकी तपस्या कई उम्र थी। मैंने उनका भलीभौति आदर-सम्मान किया। तात! जब वे भोजन करके संतुष्ट हो आसनपर शयन करने लगे, तब मैंने जनताके सुख-दुःखके क्रमका विचार करके उनसे यों प्रश्न किया—‘भगवन्! चूँकि आप महाज्ञानी हैं। जगत्की सारी गतिविधियों आपको विदित हैं। आपमें कोध तो लेशमात्र भी नहीं दीखता तथा सुखमें आपकी तनिक भी आसक्ति नहीं है; अतः यह अतानेकी कृपा कीजिये कि जैसे शरकालमें फलार्थी पुरुषोंको धान आदिकी प्राप्ति होती है, वैसे ही कर्मशील जीवोंके अपने शुभाशुभ कर्मोंके फलस्वरूप सुख-दुःख प्राप्त होते हैं। तो क्या ये सारी प्रजाएँ एक साथ ही अशुभ कर्म करती हैं, जिनके फलस्वरूप हुर्मिक्षादि सभी दोष हन्दे एक साथ ही प्राप्त होते हैं? यदि हुर्मिक्ष एवं अनावृष्टि आदि उपद्रव सक्तेको लिये एकन्से ही होते हैं तो इसका क्या रहस्य है तथा किस-किसके हुर्कर्म समान होते हैं? मेरा यह प्रश्न सुनकर वे भुनि मेरी ओर देखकर मुस्कराये और अपृत-प्रवाहवर्ती लहू सुन्दर एवं प्रशंसनीय वचन बोले।

समागत मुनिने कहा—साधो! यह तो बतलाओ, अन्त-कारणके दूर्णतया विकेक्षणस्मृत्ति होनेपर इस दृश्यका जो सद् या अस्तरूप कारण है, उसे किससे जानते हो। तुम कौन हो और इस जगत्में कहाँ स्थित हो—यों अपने आरमाका पूर्णरूपसे समरण करो। मैं कहाँ हूँ? यह दृश्य क्या है? क्या सार है? क्या असार है? यह सब स्वप्नमात्र ही प्रतीत होता है। इसे तुम क्यों नहीं समझते हो? मैं तुम्हारे लिये स्वन्म-पुरुष हूँ और तुम मेरे लिये स्वन्म-पुरुषके तुल्य हो। यह जगत् निराकार अनिर्वचनीय अनादि और कल्पनारहित है। यह चिन्मत्ररूपी कौचक्षी चमकतेके समान स्थित है। इस सर्वव्यापक चिन्मत्रका स्वाभाविक रूप ही ऐसा है कि यह जहाँ जैसा समझता है, वहाँ वैसा ही हो जाता है। जब ‘यह बहुओंके सकारणत्वकी कल्पना करता है, तब सब कुछ समारण है

और जब अकारणत्वकी कल्पना करता है, तब सभी कुछ अकारण है। साधुपुरुष! जैसे बहुत-से वृक्षोंपर एक साथ विजली गिरती है, वैसे ही कुछ प्राणियोंके कर्तिपथ हुर्कर्म रहनेपर एक साथ ही हुःख आदिके पहाड़ हूट पड़ते हैं। कर्मोंकी कल्पनासे जीवास्त्वाको अपने कर्मोंका फल भोगना पड़ता है, परंतु जब वह कर्मोंकी कल्पनासे उन्मुक्त हो जाता है, तब उसे कर्मफलका भोग नहीं प्राप्त होता। स्वप्नमय नगरकी भौति इस जगत्में सहकारी कारण आदि कोई भी कारण नहीं है। इसलिये वह अनादि, चेतन, अजरु, मङ्गलमय परमाणु ही है। यह स्वप्नवत् जगद्भूमि कोई बिना कारणके प्रतीत होता है और कोई कारणके साथ। वास्तवमें तो यह मिथ्या ही है।

महामते! ये सारी सुष्ठियों पहलेसे इसी तरह अकारण ही प्रहृत होती था रही हैं। जैसे बाक्षरामें देवतक देखते रहनेसे नेत्रोंके सामने चक्राकार गोले दीखने लगते हैं, वैसे ही जगत्में ये देव-की-देव सुष्ठियों चक्र काटती रहती हैं। चित्-शक्तिने ही अपनेमें पै ही अमुक हूँ यों जिस-जिस मानात्मक रूपकी स्थितः कल्पना की, वह आज मी वैसा ही स्थित है। पुनः वही चित् उससे भी उल्कष दूसरे महान् घनसे उसे अन्यथा करनेमें भी समर्थ है। चिद्वाग जहाँ कारणकी कल्पना की जानी है, वहाँ तो कारणकी सारता रहती है और जहाँ उसकी कल्पना नहीं की जाती, वहाँ कारणहीनता ही है। यह विस्तृत जगत् फूले क्यंडरकी तरह असद् ही आमासित हुआ और उस समय जैसा भान तुआ वैसा ही आज भी स्थित है। कुछ लोग अपना शुभ-अशुभ पुण्य-पापरूप कर्म मिला-जुलाकर करते हैं, अतः उन्हें उनका फल भी उसी तरह समिक्षित रूपमें मिलता है।

( सर्ग १४५—१४९ )

मुनिके उपदेशसे आत्महानकी ग्रासि, पूर्वदैहमें गमनकी असमर्थताके विषयमें ग्रन्थ करनेपर  
देह आदिके भस्त्र होनेके प्रसंगमें मुनिके आश्रम और दोनों शरीरोंके जलने तथा  
वायुद्वारा उस अग्निके शान्त होनेका वर्णन

मुनिने कहा—व्याघ ! उस समय उन मुनिने इस प्रकारकी युक्तिसे मुझे ऐसा ज्ञानोपदेश किया, जिससे तत्काल ही झेय-तत्त्व मेरी बुद्धिमें बैठ गया। जिन मुनिने यह चन्द्रोदयके समान मनोहर बचन कहा था, वे ही ये मुनिवर तुम्हारे वगलमें बैठे हैं। (उक्त मुनिको दिखाकर कहा—) उनकी ओर दृष्टिगत करो। ये मूर्तिमान् यज्ञके समान हैं। इन्हें इश्यके पूर्वापरका पूर्ण ज्ञान है। ये ही मेरे अज्ञानका निनाश करनेवाले हैं। यद्यपि मैंने इनसे कहनेके लिये प्रार्थना नहीं की थी, तथापि इन्होंने ही मुझसे यह बात कही थी।

अग्नि बोले—विपक्षित् ! उन मुनिकी वह बात मुनिवर वह व्याघ उस समय विचारने लगा कि यह समसृष्टि प्रत्यक्ष फैसे हो गयी। यों सोचकर उसे महान् विसय हुआ।

तब व्याघने कहा—मुने ! भवन्तापक्ता अपहरण करनेवाले आपने अभी-अभी जो बात मुझसे कही है, वह तो महान् आश्चर्यजनक है और मेरे मनमें नहीं बैठ रही है। मुनिवर ! समझमें जिनका आपने अपने उपदेशक-रूपसे वर्णन किया था, उन्हींकी जाग्रत्तमें प्रत्यक्षता बताल रहे हैं और मैं भी उन्हें प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। इसीलिये मैं इसे परम विस्मयकी बात मानता हूँ।

मुनि बोले—महामाग व्याघ ! तदनन्तर यहाँ मेरी कौन-सी विस्मयजनक घटना थी, उसका मैं संक्षेपमें वर्णन करता हूँ; मुझो। सदसा उताक्षी मत करो। तुम्हारे समीप बैठे हुए इन मुनिवरने उस समय वहाँ मुझे ज्ञानोपदेश करनेके लिये ऐसा वर्णन किया था और मैं उन महात्माकी उस बाणीसे तुरंत ज्ञानसम्पन्न हो गया। तत्पश्चात् उनकी बाणीके प्रभावसे मुझे अपने पहलेके अनादिसिद्ध सन्मानरूप निर्मल स्वभावका स्वरण हो आया,

फिर तो मेरे हृदयमें यह भावना जाग उठी कि मैं ही वह मुनि था। ऐसा व्यान आते ही प्रचुर आश्चर्यवश स्नान किये हुएकी तरह मेरा हृदय आँख हो गया। मैं विषय-भोगकी आसानीसे इस-अवस्थाको प्राप्त हो गया है—दीक उसी तरह जैसे अज्ञानी पर्याप्ति मार्गके परिश्रमसे धीरित होकर जलके लिये मिथ्यामृत भूगतप्ताके पीछे दौड़ता है। अहो ! आश्चर्य है, बढ़ते हुए इस मिथ्याज्ञानने, जो सर्वार्थशून्य है, मुझे यह जिस दशाको पहुँचा दिया। वास्तवमें तो न मैं हूँ, न यह रही है और न यह अम ही है—यह सब कुछ मिथ्या है, फिर भी सद-सा प्रतीत होता है। यह महान् आश्चर्य है। अच्छा, अब इस विषयमें मुझे क्या करना चाहिये। मेरे अंदर बन्धनको तोड़ डालनेमें समर्पण की ग्रहाकर बृत्तिरूप थक्कुर है, वह भी काट डालने योग्य है, अतः तबतक मैं उसीका पत्तियाग करता हूँ। यों सोच-विचारकर मैंने वहाँ उन मुनिसे इस प्रकार कहा—‘मुनीस्वर !’ मैं अपने आश्रमस्थित मुनि-शरीरका तथा जिस शरीरको देखनेके लिये प्रवृत्त हुआ हूँ, उसका भी निरीक्षण करनेके लिये जाता हूँ।’

यह मुनिवर ने मुनिवर उस समय टप्पकर हँस पड़े और मुझसे कहने लगे—‘वे दोनों शरीर अब हैं कहाँ। वे तो अब बहुत दूर चले गये। अथवा बृत्तान्तज्ञ। तुम स्वयं ही जाओ और उस बृत्तान्तको देखो। वहाँ बृद्धि हुई घटनाको जब तुम यथार्थरूपसे देख लोगे, तब स्वयं ही जान जाओगे।’ मुनिके यो कहनेपर मैंने अपने उस प्राप्तन मुनि-शरीरका समरण करके वहाँ जानेकी इच्छासे इस स्वप्नकल्पित रूपका पत्तियाग कर दिया और निदामारूप अपने जीवनको प्राणके द्वारभूत पवनसे संयुक्त

कर दिया । चलने समय मैंने उन मुनिसे कहा—  
‘मुने ! अपने प्राकृत शरीरका अवलोकन करके जबतक  
मैं लौकिक हूँ, तबतक आपको यहाँ बैठे रहना चाहिये ।’  
यों कहकर मैं वायुमे प्रविष्ट हुआ । तदनन्तर मैं बड़ी  
उत्ताप्तीके साथ उस वायुरूपी रथपर आरुह होकर पुष्पकी  
सुगम्यकी तरह उस अनन्त आकाशमें जाकर विरकालतक  
भ्रमण करता रहा । परंतु बहुत देरतक भटकते रहनेपर  
भी मुझे वहांसे निकलनेके लिये उस प्राणीके गलेका  
छिद्र आदि कोई मार्ग प्राप्त नहीं हुआ । तब मैंने मुनिके  
पास जाकर उनसे पूछा—‘मुनिराज ! यथापि मैं स्थावर-  
पर्यन्त अपने विस्तृत संसारमण्डलमें विरकालतक भ्रमण  
करता रहा, तथापि मुझे वह गलेका छिद्र नहीं प्राप्त  
हुआ—इसका क्या कारण है ?’ मेरे यों प्रश्न करनेपर  
वे महाशय मुनि बोले—‘कमलनयन । तुम उस शरीर-  
वृत्तान्तका ( उपदेश किये गये बिना ही ) स्थय अपनी  
बुद्धिसे कंसे जान गये । यदि योगसे एकाप्र द्वृढ़ बुद्धिके  
द्वारा तुम स्थय ही इसका अवलोकन करते हो तब तो  
हाथपर ऐसे हुए कमलकी तरह तुम्हें उसका पूर्णतया  
ज्ञान है ही । तथापि यदि तुम्हें मेरे सुखसे मुननेकी इच्छा  
है तो मैं उस यथाविट वृत्तान्तका पूर्णरूपसे वर्णन  
करता हूँ, मुनो— ॥

‘तुम अपनेको जैसा समझते हो, वैसे व्यष्टि जीवरूप  
नहीं हो । तुम तो समस्त प्राणियोंके तपरूपी कमलके  
ठिये सूर्यरूप, कल्पाणरूपी कमलोंकी खान और मगाशान्  
श्रीहरिके नाभिकमलकी कर्णिका अर्थात् हिरण्यगम्भी हो ।  
वही तुम किसी समय व्यष्टिभावरूप स्वन देखनेकी इच्छासे  
तपम्यामें स्थित होकर उस पुष्ट द्वृढ़ बुद्धिद्वारा किसी  
प्राणीके इन्द्रियमें प्रविष्ट हुए । जिस दृदयमें तुमने प्रवेश  
किया था, वहाँ पृथी और सर्वाश्रोक जिसका उदर है,  
उम विस्तृत विश्वकीको देखा था । इस प्रकार यथापि तुम  
वहाँ वडी देरनक स्वन देखनेमें व्यग्र थे, तथापि तुम्हारे  
अग्रीरमें तथा महावनगें सोये हुए उस जीवके शरीरमें,

जिसमें तुम स्थित थे, आग लग गयी । फिर तो धुएँसे  
धूमिल हुए मेघरुपी बलोंसे बाढ़ादित आकाश चैदोका-  
सा पाल्घम पड़ने लगा । अग्रतचक्र-सी उक्ती हुई बशी-  
कवी विनगारियाँ सूर्यमण्डल एवं चन्द्रमण्डल-सी ज्ञान पड़ने  
लगीं । उस अग्निने जले हुए मेघोंपर भस्मार्ण धुएँके मेघ-  
रूपी कम्बलोंद्वारा आकाशको ऐमा आच्छादित कर दिया  
था मानो वे नीले आकाशादलकी रक्षा कर रहे हों । दूर  
देशमें स्थित लोगोंने उसे एक जगह स्थिर हुई विजली-  
सा देखा । उसकी प्रभासे आकाश पिघले हुए खर्ख रसेसे  
अनुलिपि फर्श-सा लग रहा था । उमकी दीसिमती  
विनगारियाँ उड़-उड़कर आकाशमें पहुँच रही थीं, जो  
ताराओंकी संख्याको हुगुनी बना रही थीं । वह वक्षःस्थलमें  
स्थित उत्तालरूपी बालवनिताओंके कटाक्षोंसे ज्ञानन्द प्रदान  
कर रही थी । उस दावाग्निने, जो प्रलयाग्निके समान भीमण  
थी तथा वेगपूर्वक रेंगते हुए सर्पकी तरह चारों ओर फैल  
रही थी, तुम्हारे आश्रमके साथ-साथ तुम्हारे तथा उस  
प्राणीके शरीरको भी जलाकर भस्म कर दिया ।’

व्याघने पूछा—‘मुने ! वहाँ उस अग्निद्वारकी उत्पत्ति-  
का प्रधान कारण क्या है तथा वह क्या और आपके वे  
शिष्य—सब-के-सब एक साथ ही कैसे नष्ट हो गये ?

मुनिने कहा—‘व्याघ ! वैसे संकल्प आदिके विनाश  
और उदयमें संकल्पकताकी मनका स्पन्दन ही कारण है,  
वैसे ही त्रिजगतका संकल्प करनेवाले विचाताका मनः-  
स्पन्द ही त्रिजगत है और वही त्रुत उसके विनाश और  
उदयका कारण है । चूँकि ब्रह्माका संकल्पनगर ही  
जगत् है, इसलिये उनके मनका स्पन्दन ही इस संसारमें  
प्रजाओंकी उत्तरि, क्षय, क्षोभ, बृहि और अवृहि आदिका  
कारण है, अनः यह त्रिलोकी कल्पित है । विद्वानोंका  
निर्मल दृष्टिमें चिदाकाशमें चिदाकाशकी ही ओमा  
विकसित होती है, किंतु जो भर्ख है, उनकी दृष्टिमें

वह जैसी अथवा जिस प्रकारकी भासती है, तन्मयी ही है। वास्तवमें तो वह सद् नहीं है।

समागत मुनिने कहा—मुने ! वहाँ उस प्राणीने दोनों शरीर, आश्रम, नगर, वे धर और वे दृष्टि आदि सबको सूखे तिनकेके समान शीघ्र ही जलाकर राखका ढेर बना दिया तथा अत्यन्त दाहके कारण जिसकी बड़ी-बड़ी शिलाएँ फट गयी थीं, ऐसे तुम्हारे उस आश्रममें सोये पढ़े हुए वे दोनों शरीर भस्म हो गये। इस प्रकार समूर्ण बनको पूर्णरूपसे जलाकर वह आग धीरे-धीरे उसी प्रकार शान्त हो गयी, जैसे समुद्रके जलको पीकर व्यगस्थजी शान्त हो गये थे। तत्पश्चात् वह अग्नि अदृश्य हो गयी। उस अग्निके अदृश्य हो जानेपर वायु उस समूर्ण भस्मराशिको, जो पहले इवाके लगनेसे उद्दीप्त होकर फिर अत्यन्त शीतल हो गयी थी, पुष्पराशिकी भौति कण-कण करके उड़ा ले गयी। इससे अब पता ही नहीं चलता कि वह आश्रम कहाँ था और वे दोनों शरीर कहाँ चले गये तथा जो पेटीकी तरह बहुत-से ल्योगोंका निवास-स्थान था, वह नगर जाग्रत्पुरुषके सम्बन्धगतकी तरह कहाँ बिलिन हो गया। इस प्रकार जब तुम्हारे तथा उस प्राणीके शरीरका अभाव हो गया, उस समय तुम सभके भ्रमसे प्रस्त थे, पूर्तु इस समय तुम्हारी संविद् ही स्फुरित हो रही है। इसलिये कहाँ वाहर निकलनेका द्वारमूल

उस प्राणीके गलेका छिद्र और कहाँ तुम्हारा वह चिरपृथक्या अर्थात् दोनोंमें महान् अन्तर है; क्योंकि ओजसहित जले हुए उस प्राणीका ओजसहित शरीर मी तो जल गया था। मुने ! इसी कारण तुम्हें वे दोनों शरीर प्राप्त नहीं हुए हैं; क्योंकि इस समय तुम, जिसका अन्त नहीं है, ऐसे खण्ड-संसाररूपी जाग्रत्-अवस्थामें स्थित हो। छुत्रत ! इस प्रकार तुम्हारा वह सब्जन ही जाग्रद्वायको प्राप्त हो गया है और हम सब लोग तुम्हारे खण्डपुरुष हो गये हैं। यों तुम हमारे खण्डपुरुष हो और हमलोग तुम्हारे खण्डपुरुष हैं, किंतु यह चिदाकाशरूप आत्मा सर्वदा अपने स्वभावमें ही स्थित है। खण्डपुरुष होते हुए जबसे तुम्हें ‘मैं जाग्रत्-पुरुष हूँ’ ऐसी प्रतीति हुई, तबसे तुम जाग्रत्-पुरुष बनकर पूर्णरूपसे गृहस्थाश्रममें स्थित हो। तात ! इस प्रकार वहाँ जैसी घटना घटी थी, वह सारा प्रसंग मैंने तुम्हें पूर्णरूपसे सुना दिया। अब यदि तुम्हें मेरे कथनमें संदेह हो तो तुम ख्यय ही व्यानद्वारा इस अनुभूत दृश्यको देख सकते हो। इस प्रकार जो आदि और मध्यसे रहित है, जिसका रूप अनन्त है तथा शरीर अपनी चिकिसन-शक्तिके उत्कर्षसे चञ्चल हो रहा है, ऐसा यह संविद्वधन ( ज्ञानस्वरूप ) चिन्मयात्मा ही ख्यय अपने आपमें अनेक शुभाशुभ सृष्टियोंके रूपमें आकाशमें फैले हुए सूर्यके सुनहले धामकी तरह चिकिसित होता है।

( सर्ग १५०-१५१ )

### व्याध और उस मुनिके वार्तालापके प्रसंगमें जीवनमूल्क ज्ञानीके स्वरूपका वर्णन तथा अभ्यासकी प्रशंसा

समागत मुनिने कहा—मुने ! उस प्राणीके शरीर तथा मेरे शरीर आदिका वास्तवमें अस्तित्व न होनेके कारण यह सब आदि-अन्तरहित चिदाकाश ही है। इसका रूप कर्ता, कर्त्ता और करणसे हीन, क्रमशः अन्य चिदूधन है। ये घट, पट और अश्व आदि चिदाकाशके विकास हैं, अतः ये स्पष्ट आकाशवाले कहाँसे हो गये। वस्तुतः यह चिन्मात्रका भी विकास नहीं है, वल्कि केवल चिन्मात्राकाश

ही है; फिर उसका कैसा और क्या विकास ? क्या कहाँ आकाशका विकास होता है ? भला, शून्य वस्तु कैसे विकसित होगी ? चिन्मात्रका विकास महान् चिदूधनरूप शुद्ध व्रज है। वही जगत्की तरह अवभासित हो रहा है। ऐसी दशामें दृश्य कहाँ और द्रष्टापन तो फिर आ ही कहाँसे सकता है ? असः जो कालतः आदि-अन्तशून्य, देशतः आदि-मध्यहीन, वस्तुतः अद्वितीय, कारण, कर्त्ता

और तदधीन प्राणियोंसे परे, सचामय, मुक्त, शैल और दिग्नन्तोंके कारण नाना-अनानास्वरूप, अप्रभेय, सर्वव्यापक चेतन है, वही सब कुछ है ।

मुनि बोले—व्याध ! ऐसा निर्णय करके मैं इस दृश्यमें स्थित हूँ। मेरा सताप और राग नष्ट हो गया है। मैं आशङ्का और अहकारसे शून्य होकर निर्वाणस्वरूप हो गया हूँ। न मेरा कोई आधार है और न मैं ही किसीका आधार हूँ। मैं मान और आश्रयसे रहित होकर अपने चित्-स्वभावमें स्थित हूँ तथा सर्वथा शान्त होकर सुष्ठुरूपसे प्रकट हूँ। मैं शान्ति-लाभ कर रहा हूँ, चारों ओरसे निर्वाण-मुख्यमें निपत्र हूँ और केवल आत्मसुखमें स्थित हूँ। मैं विधि-निषेधसे परे हो गया हूँ। अब मेरे लिये न कुछ बाधा है न आन्तर। इस प्रकार मैं यहाँ यथाप्राप्त स्थितिके अनुसार निवास करता हूँ। तुम तो आज सहसा मेरे सामने आ गये हो ।

व्याधने कहा—मुनिवर ! यदि ऐसी बात है तो मैं, आप और ये समस्त देवता आदि सबके-सब परस्पर एक-दूसरेके सद-असद-स्वरूप स्वप्नपुरुष हो जायेंगे ।

मुनि बोले—व्याध ! तुम्हारा कथन ठीक है; मर्योंकि यह सब-का-सब परस्पर स्वप्नके समान स्थित है तथा अपनेमें एक-दूसरेका सद-असद-सा अनुभव होता है। जिसने दृश्यको जैसा समझा है, उसे तदनुकूल ही वसका अनुभव होता है। वह दृश्य वस्तु अनेक है और एक भी है। ( अहानियोंके लिये अनेक है, किंतु जो तत्त्वज्ञानी है, उनके लिये ) जाग्रत्-कालमें वह स्वप्न-नगरके समान तथा पहले न देखे हुए दूर देशमें स्थित दृश्यमान नगरके सदृश प्रतीतिमात्र ही है; अतः वह न एक है, न सद है, न असद है और न सद-असद ही है। लुभ्यक ! इस प्रकार मैंने तुमसे सब कुछ वर्णन कर दिया। मेरे निरन्तर ज्ञानोपदेश करते रहनेसे तुम

ज्ञानसम्पन्न हो गये हो। यों तो तुम खयं ही ज्ञानवान् हो और सब कुछ जानसे हो; अत तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा करते। प्राप्त ! यह ज्ञान अभ्यासद्वारा परिपक हुए बिना मनके अंदर वैसे ही नहीं प्रवेश करता, जैसे कमण्डल आदिके आकारमें परिणत हुए दिना काष्ठमें जल नहीं टिक सकता। एकमात्र गुरु और शास्त्रके सेवनरूपी अभ्याससे बोधमें विश्राम प्राप्त होनेपर जब हृत और अहृतकी दृष्टि शान्त हो जाती है, तब विद्या निर्वाण कहलाता है। जो अभिमान और मोहसे रहित हैं, जिन्होंने सङ्कटोप—थासक्तिपर किंजय प्राप्त कर ली है, जो नित्य अध्यात्म-ज्ञानमें लीन रहते हैं, जिनकी कामनाएँ पूर्णरूपसे निवृत्त हो गयी हैं तथा जो सुख-दुःखसङ्कट इन्होंसे विसुक हैं, ऐसे ज्ञानी पुरुष ही परमात्माके उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं ।\*

यह मुनकर वह अपने व्याध-कर्मका परिवाग करके मुनियोंके साथ रहकर तपस्या करनेको उचित हो गया। पिर तो उसने उन्हीं मुनियोंके साथ उन-उन भावनाओंसे मावित होकर सदा उसी लोकमें निवास करते हुए अनेकों-सहस्र वर्षोंतक अत्यन्त धोर तपस्या की। अपने तप-कालमें ही उसने उन मुनिसे पुनः पूछ—‘मुनिवर ! मुझे आत्मविश्रान्ति कब प्राप्त होगी ?’ तब मुनिने कहा।

मुनि बोले—व्याध ! मैंने हुम्हें जिस ज्ञानका उपदेश दिया था, वह तुम्हारे हृदयके अंदर गौजूद तो है, किंतु वह पुरानी लकड़ीके अंदर स्थित थोड़ी-सी अविनियोगिता रही है, इसलिये जिसे जला जावना चाचित है, उस दृश्यपर वह आक्रमण करनेमें असमर्थ

\* निर्मानमोहा जितसङ्कटोदोष अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।

इन्द्रैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंगच्छन्त्यमूढाः परमव्यय तत् ॥

( नि० प्र० च० २५४ । १८ )

यही इलोक शीमद्गङ्गद्वीता ( १५।५ ) में र्घ्यो-कान्त्यो है ।

है। अन्यासकी कमीके कारण अमी तुम्हें वल्याणग्रद पश्चात् अभ्यासके सुख हो जानेपर तुम्हें पूर्ण विश्राम ज्ञानमें विश्रामकी प्राप्ति नहीं हुई है। कुछ कालके प्राप्त हो जायगा। ( सर्ग १५२—१५५ )

## मुनिको परमपदकी प्राप्ति, व्याधके महाशुवका वर्णन, अभिका स्वर्गलोक-भ्रमन, भासद्वारा आत्म-कथाका वर्णन तथा बहुत-से आशयोंका वर्णन करके आत्मतत्त्वका निरूपण

तदनन्तर मुनिने मविष्यमें व्याधके तप करके प्रश्ना-जीसे बद्धान प्राप्त करने, उसकी कायाकी चृदि होने, मृत्युको प्राप्त होने, फिर राजा सिंधु बनकर मन्त्रीके मुखसे तत्त्वसुननेकी बानका सविस्तर वर्णन करके कहा—“व्याध ! मैंने मविष्यमें होनेवाली सारी घटनाओंका अतीतकी तरह तुमसे वर्णन कर दिया। अब इस समय तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा मलीभौति सोच-समझकर करो !”

अभिने कहा—विषेषित ! मुनिका पूर्वोक्त वचन सुनकर व्याधका वित्त विस्तयसे पूर्ण हो गया। वह क्षणमतक ठगा-सा खड़ा रहा। फिर तुरंत वह तथा वे मुनि ज्ञान करनेके लिये चले गये। इस प्रकार अकारण ही सुहृद् बने हुए वे दोनों व्याध और महामुनि शास्त्र-चिन्तन करते हुए वहाँ तपस्या करने लगे। तदनन्तर थोड़े ही समयमें मुनिको निर्वाणकी प्राप्ति हो गयी। वे आयुके अवसानमें अपने पाञ्चमौनिक शरीरका त्याग करके परमपदमें लीन हो गये। उधर व्याध चिरकालतक तपस्या करता रहा। जब सैकड़ों दुग बीत गये, तब उसकी कामना पूर्ण करनेके लिये पद्मयोनि भगवान् प्रश्ना वहाँ आये। वेकारा व्याध अपनी वासनाके आवेशको निवारण करनेमें समर्थ न हो सका; अतः मुनिद्वारा पहले ही बनायी हुई अपने वरकी व्यर्थताको जानते हुए भी उसने ब्रह्माजीसे वही वर माँगा। तब ब्रह्माजी ‘एवमस्तु—ऐसा ही हो’ यों कहकर अपनी अभीष्ट दिशाकी ओर चले गये और वह व्याध अपनी तपस्याका फल भोगनेके लिये पक्षीकी तरह आकाशकी

ओर उड़ चला। वहाँ वह गङ्गाड़के सदृश महान् वेगसे उपर-नीचे टेढ़ी-मेढ़ी अनेक उड़ानें भरता हुआ आकाशको पूर्ण-सा करने लगा। यों करते-करते उसका बहुत-सा समय बीत गया। इतने लघे समयके बीतनेके पश्चात् भी जब उसके अविद्या-भ्रमका अन्त नहीं आया, तब उस विपयसे उसे दैराय हो गया। तदनन्तर वैराग्य हो जानेके कारण उसने आकाशमें ही प्राणोंका विरेन्द्र करनेवाली योगधारणा बाँधकर अपने प्राणोंका परिस्थाग कर दिया और उसका शरीर मुर्दा-सा होकर नीचेकी ओर लटक गया। उसका प्राणवायुसम्बित विच्छ तो उस अव्यक्ताकावश्यमें ही राजा विदूरथकी शत्रुहृष्पा पूर्वोक्त सिन्धुताको प्राप्त हो गया। ( अर्थात् पूर्वोक्त राजा विदूरथके शत्रु राजा सिन्धु-का रूप धारण कर लिया ) जो सारे भूमण्डलका पालन करनेवाली थी तथा वह शरीर सैकड़ों मेरुका-सा विशालकाय होकर महाशवके रूपमें परिणत हो गया। फिर तो दूसरी पृथ्वीके सदृश वह विशाल शव अशनि एवं बज्रके गिरनेका-सा शब्द करता हुआ आकाशसे भूतलपर गिर पड़ा।

विषेषितमें श्रेष्ठ पुरुष ! इस प्रकार मैंने तुमसे उस महाशवका वर्णन कर दिया। जिस भूमण्डलरूप जगत्-में वह शव गिरा था, वही यह जगत् है, जो हमलोगोंके सम्बन्धके सदृश स्फुरित हुआ है।

भो श्रेष्ठ विषेषित ! साधुशिरोमणे ! तुम पुनः प्रकृत व्यवहारके समान स्थिर भूमण्डलमें अपनी अभीष्ट दिशाको चले जाओ। गतिक्रोचिद् ! प्रजावर्गके खामी इन्द्र स्वर्गलोकमें अपने सौबंध व्यक्ता अनुष्ठान करना चाहते

हैं। उन्होंने मन्त्रद्वारा मुझे आमन्त्रित किया है, अतः मैं तो वहाँ जाता हूँ।

भास घोले—राजन् ! यह कहकर भगवान् अग्नि अपने खरूपसे तो वही अन्तर्धान हो गये, परंतु अग्निरूपसे वे निर्मल आकाशमें विजलीकरी अग्निकी तरह जाते हुए दीख पड़े। तथा मैं भी चित्तद्वारा अपनी प्राक्तन अविद्याके संस्कारोंको वहन करता हुआ पुनः स्थूल अपने दिग्नन्तरगमनरूप कर्मका निर्णय करनेके लिये आकाशमें भ्रमण करता हुआ स्थित रहा। उस समय आकाशमें मुझे फिर अग्नित जगत् दृष्टिगोचर हुए। उमकी रूपरेखाएँ भिस्त-भिस्त थीं तथा उनके आचार-विचार भी अनेक तरहके थे। भूपाल ! उन लोकोंमें कहाँ बहुत-से प्राणी एकीभूत हो गये थे, जिससे उनके अङ्ग छत्ते-सरीखे भासित होते थे। उनमें चेतना थी। वे मन्दगतिसे चलते थे और दर्शकोंके हृदयोंको हर लेते थे। ऐसे बहुत-से प्राणी मुझे आकाशमें दृष्टिगोचर हुए। इस प्रकार मैं चिरकालतक देखता रहा, किन्तु स्वप्नकालिक भवोमात्र देह होनेके कारण उनका विनाश होते हुए तो देखा; परंतु मुझे अविद्याका अन्त नहीं दीख पड़ा। तब मैं उस दृश्यकर्णसे उद्धिरन हो गया और किसी एकान्त सामनें जाकर मोक्षसिद्धिके लिये तपत्वा करनेको उचित हुआ।

उसी समय इन्द्रने मुझसे कहा—‘विष्णुक्षित ! चिराकाशमें तुम्हारे लिये दूसरी मृगयोनि उपस्थित हैं; क्योंकि तुम्हारी यह चित्-कर्ति चिरकालतक मृगयोनिमें ही संसरण करना चाहती है। इस प्रकार मैंने तुम्हारे अवश्यम्भावी बुद्धान्तको देख लिया है। तुम मृगयोनिमें उपर्यन्त होकर राजा दशरथकी उस महापुण्यरूपा समामें पहुँचोगे। वहाँ मेरे द्वारा कहा हुआ सारा-का-सारा ज्ञान तुम्हारी समझमें आ जायगा। इसलिये अब तुम सासारसे खिन होकर भूतलपर मृगयोनिमें जन्म चारण

करो। वहाँ तुम्हें इस सम्पूर्ण कल्पित आत्मवृत्तागतका पूर्णरूपसे स्मरण होगा। पुनः जब मृगयोनिसे मुक्त हो जाओगे, तब तुम्हें पुरुषरूपकी प्राप्ति होगी। उस समय जब ज्ञानाभिद्वारा तुम्हारा दूरीर दग्ध हो जायगा, तब तुम्हारा हृदयस्थ आसम्भान स्फुरित होगा। उस आसम्भानके स्फुरणसे तुम उस अविद्या नामक भ्रान्तिको, जो विरकालसे तुम्हारे हृदयमें स्थित है, ध्यानकर स्पन्दरहित वायुके समान उत्तम निर्बाणको प्राप्त हो जाओगे।’

देवराज इन्द्रके यों कहनेपर उसी समय इस बनमें मैं यह मृग हूँ ऐसी भैरी लिखित प्रतिभा उद्भूत हुई। तमीसे मैं उमी श्रेष्ठ पर्वतनगर मन्दार-बनके भीतरी कोनेमें तृण और दूर्वाकुरोंका आहार करनेवाला मृग हो गया। रचूद्ध ! तदनन्तर एक समय सीमावर्ती एक सामन्त दिक्कार खेलनेके लिये वहाँ आया। उसे देखकर मैं मयमीत हो गया और छर्चांग मारकर भगा; परंतु उसने आक्षमण करके मुझे पकड़ लिया और धर ले जाकर तीन दिनतक वहाँ रखा। तत्पश्चात् वह तुम्हारे मनोविनोदके लिये मुश्को यहाँ ले जाया। निर्भाप राम ! यों मैंने अपनी सारी आमकायाका, जो सासारकी मायाके समान तथा जागा प्रकारके आश्चर्यरूपी रससे पगी हैं, तुमसे वर्णन कर दिया। इस प्रकार नाना प्रकारकी शाखा-प्रशाखाओंके विस्तारसे युक्त यह अविद्या अनन्त है। यह आसम्भानके अतिरिक्त और किसी भी उत्तरसे शान्त नहीं हो सकती।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज ! जब वह विष्णुक्षित वहाँ इतना कहकर चुप हो गया, तब उसी धृण प्रशसनीय बुद्धिवाले श्रीराम उससे यों बोले।

श्रीरामजीने पूछा—प्रभो ! यदि दूसरेका सकल्पभूत शृग अपने आसमामें दृष्टिगोचर हुआ है तो इससे सिद्ध हुआ कि इसी प्रकार असंकल्प पुरुष दूसरेके सकल्परूप सृष्टिमें बस्तुएँ देख सकता है। परंतु यह कैसे सम्भव होगा—इसे बतलानेकी कृपा कीजिये।

विषयश्विनूने कहा—राघव ! पहले जिस जगत्के भूतलपर वह महाशब्द गिरा था, उसी भूमिपर इन्द्र यज्ञके गर्वसे गव्वलि होकर विचरण कर रहे थे । वहाँ आकाशमें महर्षि दुर्वासा व्यानमग्न होकर डैटे थे । इन्द्रको यह पता नहीं था कि ये मुनि हैं । उन्होंने अज्ञानवश मुर्दा समझकर उन्हें पैरसे ठोकर मार दी । इससे महर्षि दुर्वासा कुपित हो गये और इन्द्रको शाप देते हुए बोले—‘देवराज ! तुम जिस भूतलपर जाना चाहते हो, तुम्हारे उस अवनितलको ब्रह्माण्डके समान विशाल एवं महाभयकर शब्द शीघ्र ही चूर-चूर कर देगा । मुर्दा समझकर जो तुमने मेरा अतिकरण किया है, उस कारण मेरे शापसे तुम शीघ्र ही उस पृथ्वीको प्राप्त होओगे ।’ वस्तुतः तो एक ( व्यावहारिक ) जगत् न सत् है और न दूसरा ( कल्पित ) जगत् असत् ही है, क्योंकि ये दोनों, जैसी प्रतिग्राम उद्दित होती हैं, तदनुकूल प्रतीत होते हैं । इसलिये इनमें किसे सत् कहा जाय अथवा किसे असत् कहा जाय । अथवा राघव ! इस ग्रसगमें मैं तुम्हें एक दूसरी शुक्ति बतलाता हूँ, जिससे बात स्पष्टरूपसे समझमें आ जायगी, उसे सुनो । महामाग ! जिसमें सब कुछ है, जिससे सबकी उत्पत्ति हुई है, जो ख्याय सर्वाभिक एवं सर्वव्यापक है, उस ब्रह्ममें सभी कुछ सम्भव है । इसीलिये सर्वात्मामें सकल्पनानित पदार्थ परस्पर मिलते हैं—यह बात अथगत होती है, क्योंकि लोकमें भी देखा

जाता है कि जहाँ छाया रहती है, वही धूप भी रहता है । ऐसा सम्भव न हो तो उसे सर्वाभिताकी ग्रासि ही कैसे होगी ? इसलिये सर्वात्मामें संकल्पनगर परस्पर नहीं मिलते हैं—यह भी सत् है और परस्पर मिलते हैं—यह भी सत् है । इस प्रकार जो सत्य नहीं है, उसका अस्तित्व नहीं है और जो मिथ्या नहीं है, वह भी नहीं है; क्योंकि सर्वात्मामें सब कुछ सर्वत्र सर्वथा एवं सर्वदा सर्वमान है ।

रघुनन्दन ! यह ब्रह्मसत्ता ऐसी है, जो ख्यय ही अपनेसे अपना सूजन करती है तथा उसीके प्रमाणसे अविद्या सादि एवं अनादिरूपसे अनुभूत होती है । इस ज्ञानदृष्टिसे सभी कुछ क्षणभरमें ही प्रमाणभूत हो जाता है और अन्य दृष्टिसे ऐसा नहीं होता, इसीलिये विद्वान्-लोग ज्ञानदृष्टिसिद्ध वस्तुको ही सारभूत मानते हैं । पूर्ण हृषि होनेपर ज्ञानता तथा अज्ञानता एवं सत् और असत्की स्थितिका कुछ भी भेद नहीं है; क्योंकि सत्य ब्रह्ममें सत् और असत्—दोनों एक-से हैं, इसलिये सब कुछ काष्ठवत् मौन अर्थात् चिद्रूप ही है । जो दृश्य है, वह अनन्त है, वही ब्रह्मता है और वही परमपद है, इसलिये यह सब कुछ चिद्राकाशमयी सर्गश्री भी सुष्टिके आदिमें खण्ड-मुल्य शान्त ब्रह्मरूप ही है—यह खतः सिद्ध हो जाता है । ( सर्ग १५६-१५९ )

**राजा दशरथका विषयश्वितको पुरस्कार देनेकी आज्ञा देते हुए सभाको विसर्जित करना,  
दूसरे दिन सभामें वसिष्ठजीद्वारा कथाका आरम्भ, ब्रह्मके वर्णनद्वारा अविद्याके  
निराकरणके उपाय, जितेन्द्रियकी प्रशंसा और इन्द्रियोंपर विजय पानेकी युक्तियाँ**

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज ! विषयश्वित यह कह ही रहा था कि सूर्यवेष मानो उस दृत्तान्तका अवेश्वण करनेके लिये अपने दूरतक फैले हुए किरणरूपी पादोंसे दूसरे लोकको चले गये । तब दिनका अन्त सूचित करनेवाला नगाढ़ा अपने शब्दसे दसों दिशाओंको पूर्ण

करता हुआ-सा उसी प्रकार बज उठा मानो संतुष्ट हुई दिशाओंसे जय-जयकारकी घ्वनि आ रही हो । इधर महाराज दशरथ विषयश्वितको अपने राज्यके अनुरूप क्रमशः गृह, स्त्री और धन आदि विस्व प्रदान करनेके लिये आदेश देते हुए सिंहासनसे उठ पड़े । फिर तो राजा दशरथ

श्रीराम और वसिष्ठ आदि सभी समासदोंने परस्पर क्रमानुसार एक-दूसरेका प्रणाम आदिके हाथा सल्कार किया और फिर सभा विसर्जित करके वे अपने-अपने निवास-शानको चले गये। वहाँ उन्होंने ज्ञान-संचय आदि नित्यकर्मसे निवृत होकर मोजन किया और रात बिताकर प्रातःकाल वे पुनः सभामें आ गये। फिर तो वह सभा पहलेके ही तरह पूर्णरूपसे स्थित हो गयी। तदनन्तर जैसे चन्द्रमा अपनी किरणोंसे अमृतकी धर्षा करता है, वैसे ही सुनिश्चने अपने मुखरूपी किरणोंसे आङ्गाद उगड़ते हुए उस यथाप्रस्तुत कथाका क्रमशः वर्णन करना आरम्भ किया।

राजन्! यह अविद्या नहीं है। यह असद् द्वारी हुई सद्-सी स्थित है। उपर्युक्त प्रकारका महान् प्रयत्न करने-पर भी विपक्षित् उसका निर्णय नहीं कर सका। इस प्रकार जश्तक इस अविद्याका पूर्णतया ज्ञान नहीं हो जाता तभीतक यह अनन्त प्रतीत होती है; किंतु पूर्णरूपसे ज्ञान लिये जानेपर तो मृगतृणा-नदीके समान इसका अस्तित्व ही मिट जाता है।

श्रीरामजीने पूछा—गुरुदेव! भासद्वारा वर्णित मुनि और व्याधका जो सुख-हुःखादि नाना दशाओंसे युक्त वृत्तान्त है, यह क्या किसी कारणान्तरसे बटित हुआ या या स्वभावज है :

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! यह अपना आत्मा परमात्मारूप महासागर है। इसमें हसी प्रकारके घन्यात्मक प्रतिमारूप आवर्त निस्तर अनेकाप सामाजिकही उठते रहते हैं।

श्रीराम! सत्य वस्तुमें ‘यह जाग्रत् है, यह स्वन है’ इस प्रकारकी जो भिन्नता प्रतीत होती है, उसका उन दोनोंकी समानरूपताका पूर्णरूपसे अद्विषय हो जानेपर विनाश हो जाता है। जो जाग्रत् है, वही स्वधन है और जो स्वधन है, वही जाग्रत् है; क्योंकि

कालान्तरमें ‘निश्चय ही यह ऐसा नहीं है’ ऐसी वाधुद्वय दोनोंमें समान होती है। जैसे जीवनपर्यन्त नियमरहित सैकड़ों स्थान होते हैं, उसी तरह निर्वाणरहित महान् अङ्गानमें सैकड़ों जाग्रत् भी होते हैं। जैसे लोग उपच होकर नष्ट होनेकाले बहुत-से स्थानोंका स्मरण करते हैं वैसे ही पूर्वजन्मकी स्मृति करानेवालं योगसे सम्पन्न प्रबुद्ध पुरुषोंको सैकड़ों जन्मोंका भी स्मरण होता है। जैसे दृश्य और जगत्-दोनों निष्य ही एकार्थक हैं, वैसे ही जाग्रत् और स्वधन—ये दोनों शब्द भी एकार्थक कहे जाते हैं।

रघुकुलभूषण राम! जैसे तरङ्गे नदीके जलमें द्वारुपसे स्थित हैं, उसी तरह सुष्ठिरुपी लहरे चित्तखाम (चेतनका सकल्प) होनेके कारण चेतनमें ही स्थित हैं। यह चित्तकी छाया ही ‘जगत्’ नामसे प्रस्फुरित होनी है। यह आकाररहित होते हुए भी मूर्तिमती-सी होकर द्रष्टव्यकी छायाके समान व्याप्त है। आत्मा ही अपना बन्धु है और आत्मा ही अपना शत्रु है। यदि आत्मद्वारा आत्माकी रक्षा न की गयी तो फिर उसकी रक्षाका दूसरा कोई उपाय नहीं है। जीवकी बाल्यावस्थाको छानहीन होनेके कारण पशुता-सी और बृद्धावस्थाको मृत्यु-मुरुग्य ही समझना चाहिये। यदि विवेकसम्पन्न हो तो युवावस्था ही उसका बीबन है। इस संसारको, जो विजयीके कीर्तनके समान ब्रह्मल है, प्राप्त होकर सद्-शाश्वत-चिन्मत एवं सत्यरूपोंके समझद्वारा अङ्गानरूपी कीवद्दसे आत्माका उद्धार करना चाहिये। आहो! खेद है। ये मनुष्य कैसे कूर हैं, जो कीवद्दमें फँसे हुए अपने आत्माका भी उद्धार नहीं कर रहे हैं। मला, इनकी जया गति होगी।\* जैसे मिट्ठीकी

\* आसेव आत्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।  
आत्माऽऽस्माना न चेत् त्रसद्वादुपायोऽस्मि नेतृतः ॥  
शैवार्थं वार्षकं लेयं तिर्यक्लं मृतिरेव च ॥  
तावप्यगेव जीवस्य जीवित तद्विनेकि चेत् ॥  
संसारमिगमासाद्य विशुस्मातचक्षुर्भूम् ।  
सच्छाङ्गत्वाद्वृत्तप्यकं कर्दमत् रामयुद्दरेत् ॥

वक्त्री हृई वेताल-सभा उसके रहस्यसे अनमित्र ग्रामीण पुरुषको भय आदि दुःख प्रदान करनेवाली होती है, किंतु जिसे उसके यथार्थ रहस्यका यों ज्ञान हो गया है कि यह मृग्यमयी ही है, उसके क्षिये वह दुःखायिनी नहीं होती, वैसे ही यह ग्रामीणी दृश्यलक्ष्मी अज्ञानीको भग्नादि क्षेत्र पहुँचाती है; किंतु 'यह दृश्य प्रक्ष नहीं है' यों यथार्थ ज्ञान हो जानेपर वह कष्टशयिनी नहीं होती। इस दृश्यके तत्त्वका परिज्ञान हो जानेसे यह अशान्त होता हुआ भी आन्त नथा स्थिन होता हुआ भी विलीन हो जाता है और दृश्यमान होता हुआ भी दिखायी नहीं पड़ता। जैसे अपने स्वनकालमें स्वष्टरूपसे अनुभवमें आया हुआ भी खान-जगत् उसका पूर्ण ज्ञान हो जानेसे अथवा जाग जानेसे असत्य ही हो जाता है, वैसे ही चिदाकाशमें अनुभूयमान अतएव सत्य-सी स्थित हृई भी यह सृष्टि तंत्रका पूर्ण ज्ञान हो जानेसे केवल शून्यरूप ही अवशिष्ट रह जाती है।

‘श्रीरामजीने पूछा —मुनिवर ! जब इन्द्रियोंपर विजय पाये त्रिना इस अज्ञानका उत्तरमन नहीं होता, तब मुझे यह बर्ताअमेकी कुपा कीजिये कि इन इन्द्रियोंको कैसे जीता जा सकता है ?

‘श्रीकृष्णस्तुजीने कहा—राघवेन्द्र ! जैसे मन्द दृष्टिवाले पुरुषके क्षिये सूक्ष्म पदार्थके निरीक्षणमें दीपक उपयोगी नहीं होता, उसी तरह प्रचुर भोगोंमें आसक्त, भौतिक पुरुषार्थ-सम्पादनमें संक्षय, जीविकोपार्बनमें दत्तचित्त तथा इन्द्रियजयविहीन पुरुषके लिये केवल शाक्तादि साधन उपयोगी नहीं होते। इसलिये तुम इन्द्रियजयमें निमित्तभूत इमं युक्तिको अविकल रूपसे अवलम्बन करो। इस युक्तिके आधारसे अपने प्रयत्न द्वारा सम्यादित खोड़ी-सी भी साधन-सम्बन्धि सुखपूर्वक मिद्दिको प्राप्त हो जाती है। इस

अद्वैत नरः कूरा गस्तः कैगा भविष्यनि ।

कुर्वन्ति कर्दमोन्मने नामन्वापि निवेदयम् ॥

( निं० प्र० ३० १६२ । १८, २१ से २२ )

इन्द्रियरूपी सेनाका चित्त ही सेनापति है, अतः उसपर विजय पा लेनेसे इन्द्रियोंपर खतः विजय प्राप्त हो जाती है—ठीक उसी तरह, जैसे जूतेसे सुरक्षित पैरवाले पुरुषके क्षिये सारी प्रभुती ही चर्माच्छादित-सी हो जाती है। जो चित्तावच्छिन्न चेतन जीवको संविदाकाशरूप ( ज्ञान-रूप ) ब्रह्ममें एकीभूत करके अपने स्वरूपमें स्थित है, उस पुरुषका मन शारदीय कुहरेकी तरह स्वयं ही शान्त हो जाता है। जिसने निरन्तर अपने संवेदन ( ज्ञान ) रूपी प्रयत्नके द्वारा विचर्वितिको विषयरूपी माससे हटा लिया है, उसे तत्त्वज्ञानियोंका खारात्य पद प्राप्त हुआ ही समझिये। जो स्वर्धमंविरुद्ध कार्योंमें आत्मप्रवृत्तिका स्थाग करके शम और संतोषका उपार्बन करता हुआ स्थित है, वही जितेन्द्रिय है। जिसका मन अपने अंदर आत्मरूपिका और बाहर नीरसताका अभ्यास करनेमें उद्धिन नहीं होता, उसका मन शान्त हो जाता है। प्रयत्नपूर्वक मलीभौति निरोध कर देनेसे मन अपने आश्रय-स्थान ( विषयानुधावनरूप दुर्धर्षसन ) का स्थाग कर देता है और जब वह चक्रलतासे निर्मुक्त हो जाता है तब विवेककृती और मुड़ता है। विवेकसम्पन्न मन उदारात्मा और नितेन्द्रिय कहा जाता है। पिर वह मध्यसागरमें बासनारूपी तरङ्गोके बेगसे विमोहित नहीं होता। इस प्रकार जितेन्द्रिय होकर वह साधु-समागम और सद-शास्त्रोंके अनुशीलनसे जगत्को यथार्थरूपसे सत्यव्रत-स्वरूप देखने लगता है। उस सत्यव्रतके अवलोकनसे संसारभ्रम उसी प्रकार शान्त हो जाता है, जैसे जलका ज्ञान हो जानेपर मरुस्थलमें प्रतीत होनेवाली जलकी आन्ति मिट जाती है। चेत्यभिन्न चिन्मात्र ही यह जगद्वप्तसे लियत है—ऐसा सत्य बोध जिसे प्राप्त हो गया है, उसे बन्ध-मोक्षकी दृष्टि कहाँसे प्राप्त हो सकती है ? ‘अहं’ ‘त्वं’ आदिरूप यह जगत् अविद्यामात्र ही है। यह मिथ्या होनेके कारण शान्त अतएव केवल शून्य-स्वरूपवाला है और चिदाकाशमें ही स्थित है।

रुचनन्दन। जिनका चित्त उस ब्रह्ममें रम गया है और ग्राण उसीमें लीन हो गये हैं, वे परस्पर शानोपदेश करते तथा ब्रह्मविषयक चर्चा करते हुए संतुष्ट होते हैं और आनन्द मनाते हैं। इस प्रकार निरन्तर परमात्मा में युक्तचित्तबाले तथा प्रेमपूर्वक भजन करनेवाले धोगियोंको उस बुद्धियोगकी प्राप्ति होती है, जिससे वे उस परमपद-को प्राप्त हो जाते हैं।\* जब तृणमात्रके सरक्षणमें भी यत्न-पूर्वक किया गया साधन ही उपकरणी होता है, तब भला, त्रिलोकसमूहका संरक्षण यन्त्रके बिना कैसे सिद्ध हो सकता है। मनका अड़ुरख्य जो राज्यादि सुख है, वह क्या कोई सुख है? अथात् वह तो अत्यन्त ही तुच्छ है; क्योंकि तत्त्वज्ञानमें पूर्णतया विश्राम प्राप्त हो जानेपर देवराजका पद भी तुणवत् लगने लगता है। जैसे दृश्यप्रपञ्चमें रत पुल्ल सुसावसा वायजा जाप्रदवस्थामें दृश्यको ही देखते हैं, वैसे ही दृश्यसे त्रिरक्त हुए शान्त ज्ञानी महामा

उस परमपदरूप परमात्माको ही देखते हैं। श्रीराम! इस परमपदको तुम महान् अभ्यासरूपी शूक्रका फल समझो। यह बिना धोर प्रस्तुत किये कभी सिद्ध नहीं हो सकता। यदि अज्ञानी भी मेरे द्वारा कहे गये इस शासकका बारंबार आवृत्तिद्वारा आसादन करे, अवलंग करे अथवा वर्णन करे तो वह तत्त्वज्ञानी हो सकता है। विचारपूर्वक मनन किये गये इस उत्तम शास्त्रसे जो ज्ञान उत्पन्न होते हैं, उन ज्ञानोंसे अन्य शास्त्र भी उसी प्रकार हस्तिकर लगते हैं, जैसे नमकसे व्यज्ञन। तत्त्वज्ञोक्त विषयमूल जो परम अस है, वह सभी अवस्थाओंमें भेदादि मल्लसे रहित सदा एकत्रस ही रहता है। उसमें कभी किंविन्मन्त्र भी दैतादि मल्का अस्तित्व नहीं रहता। विद्याकाशमें जो यह जगत् सुरित होता है, वह विद्याकाशका समाव है, जो सर्वकी प्रभाके समान इस विद्याकाशमें ही विस्तृत होता है।

( सर्ग १६०-१६५ )

### दृश्यजगत्की चैतन्यरूपता, अनिर्बद्धनीयता, असत्ता तथा ब्रह्मसे अभिभासात्मा प्रतिपादन

श्रीयसिषुजी कहते हैं—रुचनन्दन! चिन्मय परमात्मा ही इस दृश्यप्रपञ्चके रूपमें फैला हुआ है। इसलिये ये घट, गहु और पट आदि सब पदार्थ वस्तुतः शुद्ध चैतन्यरूप ही हैं। जैसे खम्ममें शुद्ध चेतना ही घट-पटादि पदार्थोंके रूपमें भासित होती है और जैसे जल ही तरङ्गरूपमें प्रतीत होता है, वैसे ही विशुद्ध चेतन-तत्त्व ही इस दृश्यरूपमें प्रकाशित हो रहा है। तत्त्व पुरुप घट-घट आदि समस्त भौतिक पदार्थोंको ब्रह्मधन, चैतन्यधन, परमार्थधन और शान्त-रूप एकत्रस आनन्दधनका ही प्रसार मानते हैं।

श्रीराम! आत्मस्थाति, असत्तस्थाति, अद्याति और अन्यग्राह्याति—ये जो शब्दार्थ-दृष्टियों हैं, तत्त्वज्ञानी पुरुषके लिये खरगोशके सींगकी भोति असत् हैं। इनमेंसे कोई कभी भी सम्बन्ध नहीं है। केवल चेष्टाशून्य, शान्त-रूप, व्यावहारिक नाम आदिसे रहित, ज्ञाता ( साक्षी ) परमात्मा ही सर्वत्र विराजमान हैं। यह जो चिन्मय प्रकृत्याके स्वरूपसे आकाशस्वरूप शरीर ( मृत्यु जगत् ), जो कि बिना दीवालके द्वित्र-सा पदार्थोंकी सत्तामात्र है, प्रतीत होता है; वास्तवमें अविनाशी ही है। जैसे जलमें तरङ्ग होती हैं, उसी प्रकार शान्तरूप परमात्मामें सदा और सर्वत्र वह जगत्

\* तत्त्विचासाद्वाराप्राणा वोवयन्तः परस्परम् । कथयन्तर्थ तत्त्वित्य तुष्टिन्ति च रमान्ति च ॥

तेषा सततयुक्ताना भगवत् प्रीतिपूर्वकम् । अगते बुद्धियोगोऽसौ येन दे यान्ति तत्पदम् ॥

( निं० प्र० ८० १६३ । ४०-४१ )

चिन्मयलूपसे ही क्रियमान है। जगत् जिस रूपमें प्रतीत हो रहा है, वैसा ही प्रतीत होता हुआ भी चेतनाकाशरूप होनेके कारण न सर्वथा असत् है और न सत् ही है। सार दृश्य खुँछ है और नहीं भी है। सर्वथा अनिर्वचनीय है। जिस रूपमें इस जगत्की स्थिति है, ऐसा ही इसका रूप है, या ऐसा नहीं है, यह सत् है या असत् है—संसारचक्रके चिकियमें उठनेवाले इन प्रक्षेत्रोंका यथार्थ उत्तर—जगत्का यथार्थ सरूप तत्त्वज्ञानी महात्मा ही जानता है, दूसरा नहीं।

खुनन्दन! चिन्मय आकाशमें ही जो चिन्मय आकाशका सुरुण हो रहा है, उसीने उसीको जगत् समझा है। तत्त्वज्ञान होनेके पश्चात् वह जगत् कहाँ टिक पाता है :

पूर्णपरब्रह्म परमात्मासे ही यह पूर्ण ब्रह्ममय जगत् उसके प्रकटन करनेपर भी प्रकट हुआ-न्ता प्रतीत होता है। यह प्रतीति भी ज्ञानस्तररूप परमात्मा ही है। जो स्थंभ मेरे अनुभवमें आ रहा है, उस आत्मसत्त्वको इस प्रकार अत्यन्त विशदरूपसे बारंबार उच्चलरसे प्रकट कर रहा है, तो भी कुछ भन्दाविकारी लोगोंके भीतर जो मूढ़ता घर किये वैदी है, वह स्वप्न-तुल्य जगत्में ‘यह जाग्रत् सत्य ही है’ ऐसे विश्वासका आज भी त्याग नहीं कर रही है। यह महान् खेदका विषय है। जो सम्झदार होनेके कारण तत्त्वज्ञानका अधिकारी है, वह भी उस भान्त धारणाको शीघ्र नहीं छोड़ सकता है। यह कैसा मोह है!

( सर्ग १६६—१६८ )

### जीवनमुक्त तथा परमात्मामें विश्रान्त पुरुषके लक्षण तथा आत्मज्ञानीके सुखपूर्वक यथनका कथन

श्रीवासिष्ठजी कहते हैं—खुनन्दन! जिसकी बुद्धि अन्तर्मुखी है—आत्मस्तररूप परमात्मामें लगी हुई है तथा जिसे मुखके साथन मुख और हुँखके साथन हुँख नहीं दे पाते हैं, वह जीवनमुक्त कहलाता है। जैसे आङ्गिनियोंकी चित्तहृति सब ओर फैले हुए त्रियमोगमें असत्ता हो उनसे दूर नहीं हटती है, वैसे ही सचिदानन्दघन परमात्मामें अविचल निश्च रखनेवाले जिस तत्त्वज्ञानी पुरुषकी विवेकज्ञालिनी बुद्धि वहाँसे विचलित नहीं होती, वह जीवनमुक्त कहलाता है। जिसका चित्त अपनी घपलता छोड़कर चिन्मात्रस्तररूप परमात्मामें विश्राम लेकर वही रम गया है, वह जीवनमुक्त कहलाता है। जिसका भन परमात्मामें विश्राम लेनेके पश्चात् फिर वहाँसे हटकर इस दृश्यजगत्में नहीं रमता है, वह जीवनमुक्त कहलाता है।

जो विशुद्ध बोधस्तररूप ज्ञानी महात्मा एकमात्र चेतनाकाशमय परमात्माके चिन्तनमें अनायास ही दृढ़तार्थक संज्ञा होनेके कारण किसी छैविक सुखका अनुभव नहीं करता है, वह परमात्मामें विश्रान्त कहलाता है। जिसके

सभी पदार्थके विषयमें सारे संदेह विवेकद्वारा धार्तकमें नष्ट हो गये हैं, वह परमपृद्धत्तररूप परमात्मामें विश्रान्त कहलाता है। व्यवहारमें उसे होनेपर भी जिसके मनमें कहीं किसी भी पदार्थके प्रति अनुराग या आसक्ति नहीं है, वह परमात्मामें विश्रान्त कहलाता है। जो प्रारब्धके अनुसार जो कुछ मिल जाय, उसीसे निर्वाह करता है तथा जिसके सभी कर्त्त्व कामना और संकल्पसे शून्य होते हैं, वह परमात्मामें विश्रान्त कहा गया है। जिस महापुरुषने विश्राम-शून्य, आधाररहित तथा उन्हें संसारमार्गमें उसकी चिन्मात्ररूपताका साक्षात्कार करके आत्ममें विश्राम पा लिया है, उसकी सर्वत्र विजय है। जन्म-जग आदि सांसारिक हुँखसे उपर उठकर भवसागरके पार पहुँचा हुआ श्रेष्ठ ज्ञानी महात्मा परम विश्रान्ति-सुखका अनुभव करता हुआ आत्ममें प्रतिष्ठित होता है।

सारे जगत्का अभाव करके परम पूर्णताको प्राप्त हुआ आत्मज्ञानी पुरुष खूब छैविक ब्रह्मानन्दमय अमृतका पान करता और सुखसे सोता है; कैसी अद्भुत बात है? आत्मज्ञानी

पुरुष विषयानन्दके अभावमें भी निरतिशय महानन्द पाकर महान् आनन्दमें निमग्न हो जाता है, अनिनाशी अहैत सुखकर अनुभव करता है तथा दूसरे प्रकाशोंसे प्रकाशित न होनेवाले परमात्माके महान् प्रकाशसे सम्पन्न हो सुखसे सोता है; यह कैसी विलक्षण स्थिति है ? जिसके काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि रूप अन्धकारका नाश हो गया है, जो परमात्माके महान् प्रकाशका रसिक बन गया है तथा केवल अमूर्त आनन्दरसमें ही आखादका अनुभव करता है, वह आत्मज्ञानी पुरुष ही सुखसे सोता है; यह कितनी अद्भुत बात है ! आत्मज्ञानी पुरुषका जो मुख्यरूपक शयन है, उसमें अनन्त दुःखोंके अनुभवके विषयमें वह विरत होता है और विश्वाशमोचित व्यक्तिहरमें लोकसंग्रहके

लिये वह लगा रहता है—उससे विरत नहीं होता । वाह पदार्थमें उसकी आसक्ति नहीं होती है तथा वह आन्तरिक सुखका निरन्तर अनुभव करता रहता है । जो सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म तथा स्थूलसे भी स्थूल है, उस आत्माको चिदाकाशरूपी शम्पापर मुलाकर आत्मज्ञानी पुरुष अपूर्व सुखसे सोता है । इस हमारे जगतको अपने आत्मस्वरूप चेतनाकरणके एक कोनेमें समझके सम्पन्न देखता हुआ वह विशद चिदाकाशस्वरूप आत्मज्ञानी पुरुष सुखसे सोता है । अेक-परम्पराके अनुसार प्राप्त व्यवहाररूप मनोरम तृणणशिसे निर्मित चटाईपर विश्रामकरे प्राप्त हुआ आत्मज्ञानी पुरुष सुखरूपक सोता है । ( सर्ग १६९ )

### जीवन्मुक्तके स्वर्कर्म नामक मित्रके ली, पुत्र आदि परिवारका परिचय तथा उस मित्रके साथ रहनेवाले उस महात्माके स्वभावसिद्ध गुणोंका उल्लेख, तत्त्वज्ञानीकी स्थिति, जगतकी ब्रह्मरूपता तथा समस्त वादियोंके द्वारा ब्रह्मके ही प्रतिपादनका कथन

श्रीरामजीने यूठ—श्रान् ! जीवन्मुक्त पुरुषका मित्र कौन है जिसके साथ वह क्रीड़ा करता है ? उसकी क्रीडाका क्या स्वभाव है ? अपने आत्मस्वरूपमें अवस्थिति ही उसकी क्रीड़ा है अथवा रमणीय भोग-स्थानोंमें विद्वार करनेसे जो प्रसन्नता प्राप्त होती है, उसीको वह अपनी क्रीड़ा समझता है :

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! जो अपना परम्परा-प्राप्त सहज कर्म है, जो लोकसंग्रहके लिये किया जाने-वाला अपना शारीर कर्म है तथा जो प्रयत्नसे अभ्यासमें लगा गया सत्-शास्त्रोक्ता अभ्यास, विचार, सम्पादन, शाप, दम, तितिशा, उपरति, शीच, संतोष, ईश्वर-ध्यान और संयम आदि अपना कर्म है—ये तीनों प्रकारके कर्म, जो निन्द्य या निपिद्ध नहीं हैं, वास्तवमें एक ही हैं । केवल उपाधिभेदसे तीन नामोंवारा कहे गये हैं । वह एकमात्र विविध कर्म ही जीवन्मुक्त पुरुषका स्वाभाविक मित्र है । वह मित्र पिताके समान आशासन

देनेवाला, जीके समान लज्जाद्वारा अकर्तव्यसे रोकनेवाल तथा जिनका निवारण करना कठिन है, ऐसे सकटोंमें भी सदा साथ देनेवाल है । उसके सेवनमें किसी प्रकारकी शङ्काके लिये स्थान नहीं है । वह परमानन्दकी सिद्धिमें पूर्ण सहायक है तथा क्रोधके अवसरोंपर भी कोपरहित होनेके कारण सान्त्वनारूप अमृत प्रदान करनेवाला है । ऐसे स्वर्कर्म नामक अपने सकौटीक मित्रके साथ वह जीवन्मुक्त पुरुष स्वभावसे ही रमता है, किसी दूसरेसे प्रेरित होकर नहीं ।

श्रीरामजीने यूठ—मुनीश्वर ! उसके इस मित्रकी ली और पुत्र आदि कौन है तथा उनका स्वरूप क्या है ?—उनमें कौन-कौन-से गुण हैं ? वह सक्षेपसे ही मुझे बताइये ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—महामते ! इस स्वर्कर्म नामक मित्रके 'प्लान,' 'द्वान,' 'सप' और 'व्यान' नामवाले चार महात्मा पुत्र हैं । उनके सद्गुणोंसे सभी प्रजा उनमें

भलीमौनि अनुरक्त रहती है। इसकी पल्लीका नाम 'समता' है, जो इसे बहुत ही छ्रिय है। वह सदा अपने प्रियतमकी द्वयन्त्रुमा होकर रहती है। अन्दरेखाके सम्मन दर्शन-मात्रसे ही लोगोंको आहूद प्रदान करती है। सदा संतुष्ट रहती और प्रियतममें अनुराग रखती है। कल्पणाके कारण सब और अपना वैभव वैटती रहती है। चित्तको चुरा लेनेवाली और आनन्दकी जननी है। सदा फिरके साथ रहती और कभी अच्छा नहीं होती है। साधो! जो सदा धैर्य और धर्ममें छायायी जाती है, वह 'बुद्धि' ही इस समता गुणीकी प्रतीक्षायी ( द्वारपालिका ) है। वह सदा उसके सामने विनम्र रहकर उसे सुख देनेमें तत्पर रहती है। वह उस धर्म-धुरुत्वर धन्यभागी वीर पुरुषके आगे-आगे दैवती है। इस महातेजस्वी राजाके मित्रकी दूसरी ली 'मैत्री' है, जो राज्यपर बड़े हुए शत्रुओंको पराजित करनेके लिये राजाको उचित मन्त्रणा प्रदान करती है। वह सदा 'समताश्च'के साथ राजाके कंचे-से-कंचा मिलाकर चलती है। इसके सिवा इन माननीय नरेशको आर्य-मर्यादारूपी समस्त कार्योंके विश्वमें बड़ी चतुराईके साथ उपदेश देनेवाली आचार्यस्त्रूपा 'सत्यता' इसका सार्थ सिद्ध करनेवाली धनाध्यक्षा है। इस तरहके उत्तम परिवारवाले मित्र एवं मन्त्रीरूप अपने कर्मके साथ सर्वत्र व्यवहार निर्वाह करता हुआ जीवन्मुक्त पुरुष न तो छैकिक लाभमें हर्ष मानता है और न हानि होनेपर कुपित ही होता है। निर्बाण मोक्षमें मन लगाये रहनेवाला वह मननशील मुनि युद्धादि व्यक्ष्यारमें तत्पर होनेपर भी चित्रछिक्षित योद्धाकी भौति ज्यों-क्षत्यों ही निर्लेप स्थित रहता है। निरर्थक वादविवादोंमें वह पत्सरंवी प्रतिमाकी भौति भूक बना रहता है। बेमतख्यकी वातोंको सुननेमें वह परले सिरेका बहरा बना रहता है। छोकचारके विश्व सभी कर्मोंमें सुदूरेके समान निश्चेष्ट होता है और सदाचारका विवेचन करते समय वह सहस्र बिहावाले बास्तुकि एवं देवगुरु वृहस्पतिके समान

बत्ता बन जाता है। उंसकी बाणीसे सदा पवित्र चर्चा ही प्रकट होती है। अपने या दूसरोंके कुटिलतार्थ दोषोंको वह शीघ्र ही ताढ़ लेता है। वस्तुत्रिष्पक अत्यन्त दुर्लक्ष संदेहका भी पलक मारते-मारते निर्णय करके शीघ्र ही उसके खरूपका विवेचन कर देता है। उसकी दृष्टिमें समता और द्वयमें उदारता होती है। वह दानबीर होनेके कारण सबको यथायोग्य धन वितरण करता है। उसका खाभाव कोमल, स्नेहमय और भषुर होता है। वह सुन्दर एवं पुण्यकीर्ति-होता है। जिनकी बुद्धि प्रबुद्ध—तत्त्वज्ञानके प्रकाशसे आलोकित है। वे प्रथलसे ऐसे नहीं बनते हैं। जैसे चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि आदि कभी दूसरेकी प्रेरणासे प्रकाशित नहीं होते, वह प्रकाश उनका खाभाविक गुण होता है, वैसे ही जीवन्मुक्त पुरुषोंका यह खाभावसिद्ध गुण कलाया गया है।

शान्त तत्त्वज्ञानी पुरुष चलते-फिरते, खड़े होते, जागते और सोते समय भी सदा एकमात्र सचिदानन्द परमात्मामें ही समाहित रहता है। जो मैदामें भी अमेदनिष्ठ है, दुःखमें भी सुखमयी स्थितिवाल है और बाद्ध संसारमें रहकर भी अन्तर्मुख होनेके कारण संसारमें नहीं है। ऐसे ज्ञानी महात्माके लिये दूसरा कौन-सा कर्तव्य या प्राप्तव्य शेष रह जाता है? बाहरके कार्य—व्यवहार करता हुआ भी तत्त्वज्ञ पुरुष द्वयसे न तो कुछ ल्याग करता है और न ग्रहण ही करता है। वह सदा अकार्य निष्य परब्रह्म परमात्मामें ही स्थित रहता है। ज्ञानीपुरुष अज्ञानके आवरणसे मुक्त होता है। उसका अन्तःकरण सदा शान्ति और आनन्दका ही अनुभव करता है। उसके शत्रु-मित्रादि-निषयक विकल्प नष्ट हो जाते हैं। उसमें आत्मसुखस्त्रूप सर वस्तुकी ही प्रचुरता होती है तथा वह सदा परम शान्तिरूप अमृतसे तृप्त रहता है।

चारों ओर सुन्दर जगत्के रूपमें वह प्रत्रक्ष ही सुनित हो रहा है। वह सुरुण और असुरण ( सृष्टि

और प्रलयकाल ) मे भी अपने निर्विकार स्वरूपमें ही अकेल स्थित रहता है। दृश्य-प्रपञ्चके रूपमें भासित होकर भी निर्मल, प्रशान्त चेतनाकाशरूप ही है। परंतु अज्ञानियोंकी दृष्टिमें अनादिकालसे प्रलय और सृष्टिके उदयरूपसे ही उदित है।

अज्ञ जनताके निश्चयको छोड़कर तत्त्वज्ञानी पुरुषकी दृष्टिमें ज्यों-का-स्थो स्थित हुआ यह जगत् सदा निर्विकार ब्रह्मरूप ही है। यदि तरह चेतन हो और वह युक्तिसे यह समझ ले कि मे तरह नहीं, जल ही हूँ तो उसकी तरहता कैसे रह सकती है ? वेदान्तियों, जैनियों,

संस्कृतादियों, दौदों, व्यास आदि आचार्यों, पाशुपतों तथा कैण्व आदि आगमोंने भलीभौतिसे प्रतिपादन करके जो-जो दृष्टिकोण उपस्थित किये हैं, उन सबके रूपमें भी हमारा प्रतिपाद ब्रह्म ही स्फुरित हो रहा है। उन्होंने अपनी-अपनी दृष्टिसे विभिन्न नामोद्धारा उस ब्रह्मका ही प्रतिपादन किया है। उन वादियोंके अपने-अपने निश्चयके अनुसार पारलौकिक ऐहलौकिक सुख-रूप सारे फलोंके रूपमें वह ब्रह्म ही उपलब्ध होता है। मक्षकी ऐसी ही महिमा है; क्योंकि उसका स्वरूप सर्वात्मक है। ( सर्ग १७०—१७३ )

**निर्वाण अथवा परमपदका स्वरूप, ब्रह्ममें जगत्की सत्ताका खण्डन, चिदाकाशके ही जगद्वरूपसे स्फुरित होनेका कथन, ब्रह्मके उन्मेष और निमेष ही सूष्टि और प्रलय हैं, मन जिसमें रस लेता है वैसा ही बनता है, चिदाकाश अपनेको ही दृश्य-रूपसे देखता है तथा अज्ञानसे ही परमात्मामें**

### जगत्की स्थिति ग्रतीत होती है—इसका प्रतिपादन

श्रीनसिंहजी कहते हैं—रघुनन्दन ! सृष्टियों ब्रह्मरूपी समुद्रकी तरह हैं। उनमें चैतन्य ही जल है। जीवमुक्तोंके अनुभवमें आनेवाला वह चिन्मय जगत् अज्ञानियोंके दुःखमय जगत्से भिन्न है। वह सचिदानन्दमयी दूसरी ही सृष्टि है। उसमें हैत और एकत्र आदिके दुःखमय भेद किस निमित्तसे रह सकते हैं ? दृश्यता अथवाभावरूप जो बोध है, उसीको परमपद कहा गया है। वही ब्रह्म है और वह ब्रह्म मैं हूँ इस प्रब्रह्मका ज्ञान मोक्ष है। ब्रह्म ही सब कुछ है। ( क्योंकि 'तत्सर्वमभवत्' इस शुल्किसे यही बात सिद्ध होती है ) तथा वह कुछ भी नहीं है। ( क्योंकि 'नेति-नेति' कहकर श्रुतिने इसीका समर्थन किया है )। रघुनन्दन ! ज्ञानी पुरुष ब्रह्मको इसी रूपमें जानता है। सम्यक् ज्ञानसे परम निर्वाणरूप मोक्षकी प्राप्ति बतायी गयी है। उसमें ज्यों-का-स्थों स्थित हुआ यह सारा विश्व अत्यन्त प्रलयको पास हो जाता है। वहाँ न अनेकत्व है, न पृथक्त्व; न कुछ है, न कोई है। वह समस्त सद्सद्गमांकी सीमाका अन्त कहा गया है। वहाँ

दृश्यकी सत्ता अत्यन्त असम्भव है, जो शुद्ध बोधकर उद्य रूप है, जहाँ समस्त विक्षेपोक्त अभाव हो जाता है तथा जो निरनिश्चयानन्दरूपसे स्थित और परम शान्त है, उस चिन्मय परमात्माको ही परमपद समझना चाहिये ।

यह परमात्मा जश्नक अज्ञान रहता है, तभीतक अविद्यारूप मलकी स्थिति है। इसका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर सब कुछ विशुद्ध परब्रह्म ही है, यह अचल निश्चय हो जाता है। जो अनादि, अनन्त, चिन्मय परमाकाशरूप है, उस परमात्मामें मल कहाँसे हो सकता है ( क्योंकि ज्ञान होते ही अविद्यारूपी मल शुद्ध जाता है )। प्रिय श्रीराम ! विचारदृष्टिसे देखा जाय तो कुछ भी सुरिण नहीं होता है; क्योंकि वह परम चेतन तो अत्यन्त विशुद्ध कहा गया है। जो एकमात्र सचिदानन्दमय है, उसका अपने आपमें कल्पित संकल्प ही इस दृश्य-प्रपदके रूपमें फैला हुआ है। वास्तवमें तो परब्रह्ममें न पृथकी आदि भूत है, न शरीर है और न चैतन्यसे पिण्ठ दूसरा ही कोई दृश्यभाव है; किंतु एकमात्र चिन्मय परमात्मा ही अपने संकल्पद्वारा

समष्टि मनोरूप होकर जगत्के आकारमें बारंबार स्फुरित हो रहा है । विचारहस्तिसे देखनेपर यह जगत्का सुलग्न भी कुछ नहीं है । केवल सच्चिदानन्दव्यतीत ही स्थाय अपने स्वरूपमें भासित हो रहा है । जहाँसे वाणीं लैट आती है, उस निरतिशयानन्दभय परमदेवकी प्राप्तिसे तुष्णीम्भाष—स्वरूपमूल निश्चलता ही शेष रहती है ( वह निश्चलता व्यवहारकलमे भी नहीं हटती है ) । जीवन्मुक्त पुरुष संसारके व्यवहारमें तत्पर रहता हुआ भी शुद्ध चिदाकाशरूप ही होता है और उसी रूपमें वह मूकवत् स्थित रहता है । ज्ञानवानोंमें श्रेष्ठ रघुनन्दन ! चिदकाश, ब्रह्म, चिन्मात्र, आत्मा, चिति, महान् और परमात्मा—इन सब शब्दोंको पर्यायवाची ( समानार्थक ) ही समझना चाहिये । ब्रह्म नेत्रकी भौति उन्मेष और निमेषरूप है अथवा बायुके समान स्पन्द और अस्पन्दरूप है । उसका जैसा प्रलयरूप निमेष है, ऐसा ही सुष्टिरूप उन्मेष भी है । इन्हींका नाम जगत् है । उसने थोड़े खोले तो संसारकी सुष्टि ही गयी और थोड़े बंद की तो जगत्का प्रलय ही गया । परंतु वह परब्रह्म परमात्मा निमेष और उन्मेष—दोनों अवस्थाओंमें एकरूप ही रहता है । सौम्य रघुनन्दन ! इस कारण यह सम्पूर्ण जगत् जिस रूपमें स्थित है, उसी

रूपमें इसे शान्त, अजन्मा, अजद, सभी अवस्थाओंमें सु  
और चिदाकाशरूप ही समझना चाहिये ।

जिसका चित्त जिस वस्तुमें रस लेता है, उसका व  
चित्त वैसा ही हो जाता है। अतः एकमात्र परम  
परमात्माका रसिक हुआ जो ज्ञानीका मन है, वह ग्राहभाव  
को ही प्राप्त हो जाता है और जिसका मन जिसमें र  
पाता है, उसने उसीको सत् समझा है। जिसकी ज्ञानदृष्टि  
दृश्य-अदृश्य, सत्-असत् तथा मूर्त्-अमूर्त् सब कुछ ग्राह ह  
है, उसकी दृष्टिमें यहाँ अपेक्षा और कहीं भी न तो कले  
भोक्ता जीविती सत्ता है और न उसका अमात्र ही  
( क्योंकि एकमात्र वही ग्रहरूपसे शेष रह जाता है )

सहजों बादी मिलकर भी सत्से अतिरिक्त बल्लव  
सत्सक्षम उपपादन नहीं कर सकते तथा उससे फिर  
जगदुक्ति कोई यथार्थ कारण नहीं उपलब्ध होता।  
इसलिये खतः: यह बात सिद्ध हो गयी कि आदिकालसे  
चिदाकाश अपने आपको ही दृश्यरूपसे देखता है।

जैसे सभमें 'खगं चिन्मय जीवात्मा ही स्वप्न-जगा  
के रूपसे मासित होता है, वैसे ही यहों सुषिके आरम्भ  
में चिदाकाङ्क्षाके सिवा हस दृश्यका अन्य कोई कलारण न  
पाया जाता। ( सर्ग १७४-१७६ )

## सूटिकी अलाहुपताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! तस्मानीकी  
दृष्टिमें कोई अज्ञानी है ही नहीं ( वह एकमात्र ब्रह्मके  
सिना दूसरी निस्ती वस्तुको देखता ही नहीं है ) । अतः  
जिसका अस्तित्व ही नहीं है, ऐसे आकाश-ब्रह्मके सदृश  
अज्ञानीके विषयमें विचार करना कैसा होगा ? अज्ञानका  
बोधस्थूप आत्माके ही भीतर मान होता है; अतः  
वहू उसका अविद्यान है । जगत् अज्ञानका अङ्ग है,  
अन् अज्ञानस्थूप ही है । जैसे सूख और सूखुमि-दोनों  
निह्राके अन्तर्गत होनेसे निद्राके ही अङ्ग हैं; इसलिये

उन्हें केवल निश्चरूप ही कहा जा सकता है, ही  
ही जगतका सरूप भी अपने अधिष्ठानमूर्ति चिन्ह  
परमात्मा से मिल नहीं है। जैसे शुद्ध जलशिरमें लह  
भेंटर और द्रवता आदि के रूपमें जल ही प्रतीत हो  
है, वैसे ही ब्रह्ममें सर्ग नामक ब्रह्म ही भासि  
होता है। जैसे निर्मल वायुमें स्पन्दन, आकर्ति वं  
सिर्क्ति आदि की प्रतीति होती है, वैसे ही ब्रह्मल  
वायुमें सुष्ठिरूपी स्पन्दन मासित होता है। ही  
महाकाशमें अनन्तता, छिद्रता और शून्यता आदि।

आकाशरूप ही है, उससे भिन्न नहीं है, उसी प्रकार सृष्टि भी परापर ब्रह्मरूप ही है। जैसे निदा आदि स्पष्टरूपसे उपलब्ध होनेपर भी ये सारे स्वभावत पदार्थ असुन्य ही हैं, उसी प्रकार ये सृष्टिके पदार्थ भी हैं, सतः इनकी सत्ता नहीं है। परतु सखरूप परमात्मामें उपलब्ध होनेके कारण उससे अभिन्न ही हैं। जैसे निदाकालमें गत्यु एक सभसे दूसरे सभामें स्थित होता है, वैसे ही अजन्मा परमात्मा अपनी सत्तामें ही एक सभसे दूसरे सर्गके रूपमें स्थित होते हैं। जैसे साम्राज्यिक सर्वदर्शनरूप परमात्मामें वर्तमान घट, पट आदि शब्द और उनके अर्थ स्थित हैं, उसी प्रकार अद्वितीय महाचैतन्यरूप परमात्मामें भूत और यदिष्य कालकी सारी सृष्टियाँ स्थित हैं। जैसे परमात्मामें ही सृष्टिरूप परमात्माका भान होता है, वैसे ही चितिमें ही विन्यय शब्द और उनके अर्थभूत सर्गोंका चितिके द्वारा ही भान होता है।

इस जगत्‌में न कोई आकृति है, न संसार है, न संसारका अमावस्यरूप मोक्ष है, न जन्म है, न नाश है, न सत्ता ( यावचिकार ) है और न असत्ता ही है। केवल परम शान्त ब्रह्मका ही अपने आपमें सुरण होता है अथवा

यहाँ ब्रह्मसे मिल किसी प्रकारका सुरण भी नहीं है। यद्यपि ब्रह्म अनेकानेक सृष्टिरूपी पुतलियोंके समुदायसे भरा हुआ है, तथापि वस्तुतः उसमें जगत्‌रूपी लाएँ, उनकी चोटियाँ, जड़ें, उनकी रचनाएँ और उनकी जड़ोंका भूमिमें प्रवेश—ये सब अलौक्य हैं। वह आदि-अन्तसे रहित है, कालके द्वारा भी उसके जन्म और नाश नहीं होते तथा वह पूर्णरूपसे विशुद्ध एव संविदानन्दधन है।

विन्यय प्रकाशरूप परमार्थिकाश ही, जो सब पदार्थोंसे रहित है, स्वभावी मोक्ष दृष्टा, दृश्य और दर्शन रूपसे प्रतीत हो रहा है। इसलिये यह जगत्‌ एकमात्र चेतनाकाश ही है। आकाशमें भ्रमकरा होनेवाली बृक्षसमूहकी सुरणाके समान ब्रह्मरूपी समुद्रमें जो नाम-रूपात्मक जलकणोंका सुरण हो रहा है, कही यह सृष्टि है। आकाशमें जो बृक्षसमूहकी प्रतीति होती है, वह तो आकाशसे भिन्न-सी लगती है; क्योंकि उसमें आकाशकी शून्यता नहीं दिखायी देती। परतु पञ्चमरूपी महासागरमें जो सृष्टिरूपी जलविन्दु विश्वमान हैं, वे उससे किंचिन्मात्र भी भिन्न नहीं हैं।

( सा १७७-१७९ )

श्रीरामका कुन्ददन्त नामक ब्राह्मणके आगमनका प्रसंग उपस्थित करना और वसिष्ठजीके पूछनेपर कुन्ददन्तका अपने संशयकी निष्पुत्ति तथा तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके स्वीकार करते

### हुए अपना अनुभव घटाना

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—मगवन् ! मेरे मनमें एक संवेद है, आप उसका निवारण कीजिये। एक दिनकी बात है, मैं विशेषान्दिरके भीतर विद्वानोंकी समामें बैठ था। उसी समय विदेश जनपदसे वहाँ एक श्रेष्ठ तपसी श्रीसम्पन्नः विद्वान् ब्राह्मण आया। आकर उसने उस ब्राह्मणसभाको प्रणाम किया। फिर जब वह एक आसनपर बैठ, तब मैने भी उत्कर उसे प्रणाम किया और पूछा—‘ब्रह्मन् ! आप लंबा रास्ता तै करके आये हैं;

इसलिये यक गये होगे। किसी विशेष उद्देश्यकी सिद्धिके लिये यलशीलसे दिखायी देते हैं। बताइये, आज कहाँसे आपका शुभागमन हुआ है ?’

ब्राह्मणने कहा—महाभाग ! आपका कहना ठीक है। मैं अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिये विशेष प्रयत्नशील हूँ। यहाँ जिस प्रयोजनसे आया हूँ, उसे भी मुझ लीजिये। मैं विदेश देशका ब्राह्मण हूँ और विद्याध्ययन कर चुका हूँ। मेरे दोनों कुन्दके छलकी मोति उज्ज्वल

हैं; इसलिये मुझे लोग 'कुन्ददन्त' कहते हैं। एक दिन मेरे मनमें संसारसे बैराग्य हुआ और मैं भ्रमजनित भैश्वर्यी आन्तिके लिये देवताओं, ब्राह्मणों तथा मुनीश्वरोंके स्थानोंमें भ्रमण करने लगा। तब श्रीपर्वतपर एक तपस्तीसे भेट होनेपर वे मुझे गौरी-आश्रममें स्थित हृदय तपस्तीके पास ले गये। हृदय ताम्रीने श्रीपर्वतवासी तपस्तीकी, उनके सात भाइयोंकी, उन सबके तपस्ती, वरदान और शापकी एवं वरके अंदर ही उन सातोंके सतहीपाधिपति होकर अंतमें ग्रल्य-कालमें विलीन होनेकी बतौ बतायीं। तदनन्तर उन आठवें अपने मित्र तपस्तीकी मृत्युसे दुखी हुआ मैं उन कदम्ब वृक्षके नीचे रहनेवाले तपस्तीके पास गया। वे तीन मास प्रतीक्षा करनेके बाद समाधिसे विरत हुए। तब मैंने नम्रतापूर्णक उनके साफने अपना प्रश्न उपस्थित किया। इसपर वे इस प्रकार बोले।

कदम्ब वृक्षके नीचे रहनेवाले तपस्तीने कहा—  
निष्पाप ब्राह्मण ! मैं समाधिसे विरत होकर एक क्षण भी नहीं रह सकता; अतः शीघ्र ही वही उताक्खीके साथ मैं फिर समाधिमें ही प्रवेश करूँगा। इस समय मेरा वास्तविक उपदेश भी अभ्यासके बिना तुम्हें नहीं लगेगा। इसलिये दूसरी शुक्रि मुनो और वैसा ही करो। अयोध्या नामसे प्रसिद्ध जो पुरी है, वहाँ दशरथ नामक राजा राज्य करते हैं। उनके पुत्र श्रीराम नामसे किल्यात हैं। तुम उन्हींके पास चले जाओ। उनके कुलगुह मुनिवर वसिष्ठ समामें भोक्षके उपायकी दिव्य कथा कहेंगे। ब्रह्मन्। चिरकालतक उस कथाको सुनकर तुम भी मेरी ही मौति पावन परमपदमें विश्राम ग्रास करोगे।

ऐसा कहकर वे तापस मुनि समाधिरूपी अगृहतके महासागरमें निमन हो गये और मैं इस देशमें आपके पास आया हूँ।

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—गुरुदेव ! वही यह कुन्ददन्त नामक हिंज है, जिसने मेरे पास वैष्णव यहाँ भौक्षोपय नामक इस सम्पूर्ण संहिताको सुना है। आप इससे पूछिये। इसका संशय निष्पृत हुआ या नहीं।

श्रीकाल्मीकिंजी कहते हैं—मरदाज ! श्रीरुद्रायजीको ऐसा कहनेपर वक्ताओंमें श्रेष्ठ मुनिवर वसिष्ठने कुन्ददन्तकी ओर देखकर पूछा—‘निष्पाप विश्वर कुन्ददन्त ! कहो, क्या तुमने मेरे इस उत्तम भौक्षदायक उपदेशको सुनकर ज्ञेय तत्त्वको जाना ?’

कुन्ददन्त बोला—मगवन् ! समत्त संदर्भोंका विनाश करनेवाल मेरा चित्त ही इस समय मेरी विजयका सूक्ष्म है। मेरे सारे संदेहोंकी निष्पृति हो गयी और मैंने अस्त्य जाननेके योग्य अखण्ड निष्पत्त्वको जान लिया। विशुद्ध ज्ञेय तत्त्वका मुझे ज्ञान हो गया। मैंने क्षयरहित द्रष्टव्य वस्तुका दर्शन कर लिया और पाने योग्य सब कुछ मैं पा गया। इस समय भ्रस्तरूप परमपदमें विश्राम कर रहा हूँ। मैंने आपके मृत्युसे सुनकर चिन्मय परमात्मात्वका ज्ञान प्राप्त कर लिया। यह जो कुछ दिखायी देता है, सब परमार्थ सचिदानन्दभन्नरूपी मेव है, जो चिन्मय आकाशमें अपनेसे अभिन्न जगत्के रूपमें छाया है। सर्वात्मक होनेके कारण सर्वरूपी सर्वव्यापी परमात्माका सर्वत्र, सदा सबके द्वारा और सब कुछ होना पूर्णरूपसे सम्भव है। सरसोंके एक दानेके छिद्रके भीतर असंख्य क्षाणाङ्घोक्ष किस प्रकार होना सम्भव है और किस प्रकार उनका होना कदापि सम्भव नहीं है, यह सब मैंने पूर्णरूपसे समझ लिया। जो-जो वस्तु जब जिस रूपमें वहाँ भासित होती है और सम्पूर्ण प्राणियोंके अनुभवमें आती है, वह-वह उस समय उस रूपमें केवल सर्वत्र सर्वव्य वरमात्मा ही है। इस तरह विचार करनेसे सिद्ध हो जाता है कि सब कुछ आदि-अन्तसे रहित एक नित्य विज्ञानानन्दभन्न परमात्मा परमात्मा ही है।

( सर्ग १८०—१८५ )

सब कुछ ब्रह्म है, जगत् वस्तुतः असत् है, वह ब्रह्मका संकरण होनेसे उससे भिन्न नहीं है;  
जीवात्माको अज्ञानके कारण ही जगत्की प्रतीति होती है—इसका ग्रतिपादन

श्रीकालमीकिंचि कहते हैं—भरद्वाज । कुन्ददन्तके इस प्रकार कहनेपर प्रश्नासनीय महारामा भगवान् वसिष्ठ मुनिमे यह परमार्थोचित बचन कहा ।

श्रीवसिष्ठजी बोले—हर्षकी बात है कि महात्मा कुन्द-दन्तको शास्त्रश्रवणसे विद्वानानन्दधन परमात्मामें विश्राम प्राप्त हो चुका है । समूर्ण विश्व ब्रह्म ही है—इस तत्वको ये हाथपर रखे हुए औंचलेकी तरह देख रहे हैं । निश्चय ही भगवान् जिसका स्वरूप है, ऐसा यह विश्व इन्हें अजन्मा ब्रह्म ज्ञात होने लगा है । आनन्द इनके लिये ब्रह्मरूप ही हो गयी है । वही ब्रह्म जो शान्त, एक और निर्विकार है । जो जैसे, जिसके द्वारा, जहों, जिस प्रकारका, जितना, जब और जिस हेतुसे है, वह जैसे, उसके द्वारा, वहों, उस प्रकारका, उतना, उस कालमें और उसी हेतुसे कल्याणमय, शान्त, जन्मादिरहित, मौन, अमौन, अजर, सर्वव्यापी, सु-ज्ञान्य, अशून्य, आदि-अन्तसे रहित एवं अक्षय ब्रह्म ही है । व्यवहारमें ब्रह्म स्वयं दृश्य, स्वयं द्रष्टा, स्वयं चेतन, स्वयं जड, स्वयं सब कुछ और स्वयं कुछ भी नहीं है । वास्तवमें वह सच्चिदानन्द परमात्मा अपने आपमें ही स्थित है । दृश्यजगत् ही परब्रह्म है और परब्रह्म ही दृश्यजगत् है । यह न तो शान्त है, न अशान्त है; न निराकार है और न साकार ही है ।

जैसे जागनेपर स्वप्न आदि निराकार भासित होते हैं, वैसे ही ब्रह्म-साक्षात्कार हो जानेपर यह शरीर भी निराकार ही प्रतीत होता है । चैतन्यमान् ही इसका स्वरूप है । यह स्वधम्की भोति अनुमत्वमें आनेपर भी असद ही है । ये भ्रमवश दिखायी देनेवाले सुष्ठि, स्थिनि और प्रलय आदि भाव ब्राह्मत्वमें नहीं हैं । जैसे वित्रलिङ्गित वित्रवधू वित्रसे अतिरिक्त नहीं है, वैसे ही यह दृश्यमान जगत् परमात्मासे भिन्न नहीं है । जैसे वित्रकारद्वारा बनायी जानेवाली

चित्रगत सेना कुद्दिस्य वित्रसे भिन्न नहीं है, वैसे ही ब्रह्मकी वित्ताता-दक्षामें भूत् सुष्ठि नामा रूपोंमें प्रतीत होती हुई भी उससे भिन्न न होनेके कारण नानात्मसे रहित है ।

रुद्रनन्दन ! जैसे समुद्रमें जलराशिका स्फुरण होनेपर ही उसमें मैंवर उठते हैं, उसी प्रकार विशुद्ध विदाकाशका अपने सत्यसंकल्पके अनुसार जो स्फुरण है, उसीको जगत् कहते हैं । परमात्मवैतन्यमें समुद्रमें जलराशिकी भोति वस्तुतः विदाकाश जगत्-मात्रोंका जो वक्त्सात् भाव होता है, उसे मनीषी पुरुष संकल्प आदि नाम देते हैं । कालसे, अन्यासयोगसे, विचारसे, समझावसे, जातिकी सारित्वकालसे और अन्तःकरणके सात्त्विक एवं निर्मल होनेसे सम्पद्मान-सम्पन्न यथार्थदर्शी तत्त्वज्ञ पुरुषकी सुद्धि हीत और अहंतसे रहित विन्मात्रस्वरूप हो जाती है । चिदाकाशरूप परमात्मा विदाकाशमें ही सुरित होनेवाले अपने इस रूपको—द्रष्टा-दृश्यरूप जगत्को देखता हुआ सदा साक्षीरूपसे प्रकाशित होता है । वह उससे भिन्न नहीं है । एक चेतनसत्त्वाके उपजीवी होनेसे द्रष्टा और दृश्य दोनों एक हैं; क्योंकि चिदाकाश सर्वव्यापी है । जैसे शून्यत्व और आकाशमें कोई भेद नहीं है, उसी तरह जगत् और ब्रह्ममें भी भेद नहीं है ।

श्रीराम ! सृष्टिके आरम्भकालमें परमात्माके मनमें अपने प्रकृतिसहित विलीन हुए प्राणियोंके पूर्वज्ञत कर्म-ब्राह्मनानुसार जो कुछ नियत रूपसे भाव हुआ, वह जैसा या और जिस प्रकारके कार्य-कारणभावसे स्थित या, नह आज भी उसी रूपमें स्थित है और वही जगत् कहलाता है । सर्वशक्तिमान् परमात्माको जिस-जिसका जैसे संकल्प होता है, वह-वह उसी रूपमें ही जाता

है । सत्यसंकल्प परमात्माकी संवित् ( अनुमूलि ) मारकूप है । अतः उपे जिस वस्तुका भान हुआ, वह अमानरूप कैसे हो सकता है ?

रघुनन्दन ! चेतन जीवकी जो उत्पत्ति बतायी गयी है, उसका अभिप्राय इतना ही है कि जीव ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, यह बात समझमें आ जाय । जीवकी उत्पत्ति वास्तविक है, यह बताना अमीष्ट नहीं है । वस्तुतः चेतनस्वरूप जीव चिन्मय परब्रह्म परमात्माका अंश है; इसलिये कृत्रिम नहीं है । किंतु अज्ञानसे ब्रेत्य अर्थात् दृश्य जगत्की ओर उन्मुख हो जानेके कारण ही वह जीव शब्दसे कहा जाता है । जीवनसे अर्थात् प्राण और कर्मेन्द्रियोंको धारण करनेसे तथा चेतनसे अर्थात् ज्ञानेन्द्रियोंको धारण करनेसे वह जीव कहलाता है । मैं ब्रह्म हूँ इस यथार्थ आत्मस्वरूपको भूलकर चिन्मय जीवात्मा जब वह

देखने लगता है कि मैं यह मनुष्य आदि शरीर हूँ और यह पृथ्वी आदि मेरा आधार है, तब वह उसीमें दृढ़ आस्था बौब लेता है । असत्यमें सत्यबुद्धि करके ही जीव भावनावश बँध जाता है और अपने भीतर बारंबार भावना एवं नानास्थका अनुसरण करने लगता है । जो जिसमें अत्यन्त असक्त होगा, वह उसे क्यों न देखेगा ? जगत्की जो भ्रान्ति हो रही है, वह असत्य ही है, तो भी भावनाके कारण इस प्रकार प्रौढताको प्राप्त हो गयी है । सबके कारणभूत सनातन ग्रहसे भिन्न दूसरा कोई जगत्का कारण नहीं है । वह कारण मी कार्यताके बिना सम्भव नहीं है और निर्विकार कूटस सचिवानन्दघन अद्वितीय वस्तुमें कार्यता और कारणता आदिका होना कलापि समव नहीं है । इसलिये इस जगत्की प्रतीति अज्ञानके कारण ही हो रही है ।

( सर्ग १८६-१८७ )

### श्रीरामजीके विविध प्रश्न और श्रीवसिष्ठजीके द्वारा उनके उच्चर

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! ज्ञानकी ज्ञेयता-पर्दि अर्थात् जो ज्ञानस्वरूप है, उसे ज्ञेय—जड़ दृश्य समझ लेना ही बन्धन है और उस ज्ञेयता—जड़ दृश्यबुद्धिका सर्वथा निवारण ही मोक्ष कहलाता है ।

श्रीरामजीने पूछा—ज्ञान ! ज्ञानकी ज्ञेयता-बुद्धिका निवारण कैसे होता है ? उस ज्ञेयता-बुद्धिका सर्वथा निवारण हो जानेपर यहाँ बन्धताबुद्धि कैसे निवृत्त होती है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—शम, दम आदि साधनोंसे युक्त सचिवानन्द परमात्माका सम्यग्ज्ञानरूप प्रबोध प्राप्त होनेसे भ्रान्ति-बुद्धि दूर हो जाती है । उस भ्रान्ति-बुद्धिके दूर हो जानेपर इस प्रकार ज्ञेयता—जड़ दृश्यबुद्धिकी अत्यन्ता-भावरूपा परम ज्ञानितमी स्वरूपभूता निराकार मुक्ति प्राप्त होती है ।

श्रीरामजीने पूछा—ज्ञान ! कैवल्य बोधरूप सम्यग्ज्ञान क्या कहलाना है, जिसकी पूर्णरूपसे प्राप्ति हो जानेपर वह जीव बन्धनसे क्षुद्रकारा पा जाता है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! सबका अधिष्ठानभूत जो चिन्मात्र ज्ञान है, वह त्रिकालमें भी ज्ञेयरूप नहीं हो सकता । वह केवल अज्यय ज्ञान अवर्णनीय है । इस प्रकार जो आन्तरिक बोध है, उसे सम्यग्ज्ञान कहा गया है ।

श्रीरामजीने पूछा—ज्ञानस्वरूप चिन्मय परमात्माके अंदर उससे भिन्न ज्ञेयता क्या है ? यह बतायें, साथ ही इस बातपर भी प्रकाश छालिये कि 'ज्ञान' शब्दकी व्युत्पत्ति कैसे करनी चाहिये । अबबोधनार्थक 'ज्ञा' धातुसे भावमें ल्युट् प्रस्त्रय होनेपर ज्ञान शब्द बनता है या करणमें प्रस्त्रय होनेपर ?\*

\* 'ल्युट् च' ( पा० स० ३।३।११५ ) इस सूत्रसे भावमें ल्युट् प्रस्त्रय होता है तथा 'करणाधिकरणयोक्ता' ( पा० स० ३।३।११७ ) इस सूत्रसे करण और अधिकरण अर्थमें ल्युट् प्रस्त्रय होता है । 'भावमें' प्रस्त्रय होनेपर ज्ञान शब्दका अर्थ होगा—ज्ञानना, उम्ज्ञाना, नीच होना । करणमें प्रस्त्रय होनेपर ज्ञानका अर्थ होगा—ज्ञानका साधन, जिससे ज्ञाना ज्ञाय वह करण ।

श्रीबसिष्ठजीने कहा— रघुनन्दन ! बोधमात्र ही ज्ञान है । अतः यहाँ मात्र साधनमात्र ज्ञानको ही प्रदान किया गया है अर्थात् भावमें प्रत्यय करनेसे जो ज्ञान शब्द बनता है, वही यहाँ अभीष्ट है । ज्ञान और ज्ञेयमें कोई भेद नहीं है, जैसे पवन और स्पन्दनमें ( पवन और उसकी गतिशीलतामें ) भेद नहीं होता है ।

श्रीरामजीने पूछा—यदि ऐसी बात है तो यह ज्ञान, ज्ञेय आदिका भ्रम, जो खरगोशके सांगती मौति मिथ्या ही है, तीनों कालोंमें व्यवहारके योग्य कैसे सिद्ध होता है ?

श्रीबसिष्ठजीने कहा—बाद एवरोके भ्रमसे ही यहाँ भ्रमबुद्धि उत्पन्न हुई है, ऐसा जानना चाहिये । वास्तवमें किसी ही बात अथवा आम्यन्तरिक पदार्थका अस्तित्व सम्भव नहीं है । इसलिये ज्ञान और ज्ञेय आदिका भेद-भ्रम मिथ्या ही है । ( खण्डकालमें अथवा आन्तज्ञानमें सहजों असत् पदार्थ व्यवहारमें आते हैं । अतः यह ज्ञान और ज्ञेय आदिका भ्रम असत् होनेपर भी इसका अज्ञानियोंके व्यवहारमें आना असम्भव नहीं है । )

श्रीरामजीने पूछा—मुने । तुम, मैं आदि जो यह प्रत्यक्ष दृश्यपदार्थ हैं, जो भूत आदिरूपसे अनुभवमें आता है, वह है ही नहीं, यह कैसे समझा जाय ? कृपया मुझे बताइये ।

श्रीबसिष्ठजीने कहा—निष्पाप रघुनन्दन ! सृष्टिके थारमकालमें विराट् पुरुष ब्रह्म आदिके रूपमें कोई भी पदार्थ उत्पन्न ही नहीं हुआ । इसलिये किसी ज्ञेय अथवा दृश्य वस्तुकी सत्ता सम्भव ही नहीं है ।

श्रीरामजीने पूछा—मुने । भूत, भविष्य और कर्त्तमान कालमें होनेवाला जो यह जगत्का दर्शन है, जिसका प्रतिदिन सबकों अनुभव हो रहा है, इसके होते हुए आप यह कैसे कह रहे हैं कि यह जगत् कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ; इसलिये कभी किसीको इसका दर्शन भी नहीं हुआ ।

सं० घो० अ० अ० २३—

श्रीबसिष्ठजीने कहा—भ्रीराम । उसके पदार्थ, मृगतृष्णाका जल तथा संकलिपत पदार्थ—वे सब न तो कभी उत्पन्न हुए और न वास्तवमें कभी देखे गये । फिर भी, भ्रमवश इनकी प्रतीति हो जाती है । इसी लक्ष्य मैं, तुम आदि रूप जो जगत् हैं, यह न कभी उत्पन्न हुआ और न तत्त्वदृष्टिसे देखनेपर कभी उपलब्ध ही हुआ । इसलिये सर्वथा मिथ्या है, तथापि भ्रमवश इसकी प्रतीति होती है ।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन् । मैं, तुम, यह इत्यादि रूपसे पूर्णतः अनुभवमें आनेवाला यह जगत् सृष्टिके आदिमें उत्पन्न ही नहीं हुआ, यह कैसे समझा जाय ?

श्रीबसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! कारणसे ही कर्त्य उत्पन्न होता है, अन्यथा नहीं । यह एक निष्प्रित सिद्धान्त है । प्रलयकालमें तीनों छोकोंका जो पूर्णतः अय हो गया, तब पुनः इसकी उत्पत्तिके लिये कोई कारण ही नहीं रहे गया था ( कारण न होनेसे सृष्टि हुई ही नहीं, इसलिये जो कुछ दीखता है, सब मिथ्या प्रतीति मात्र है ) ।

श्रीरामजीने पूछा—मुने । महाप्रलय हो जानेपर जो अजन्मा, अविनाशी परमद्वा अवशिष्ट रह गया, वही नदान सृष्टिकी उत्पत्तिका कारण कैसे नहीं हो सकता ?

श्रीबसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! कारणमें जो कार्य सत्-रूपसे विषमान है, वही उससे प्रकट होता है, जो उसमें ही ही नहीं, वह कैसे प्रकट हो सकता है । क्या कभी घटसे पटकों उत्पत्ति होती है ? कभी नहीं ।

श्रीरामजीने कहा—महाप्रलय आनेपर जगत् मूल-रूपसे ब्रह्ममें रहता है । वही सृष्टिके समय पुनः उससे प्रकट हो जाता है ।

श्रीबसिष्ठजी बोले—परम हुद्दिमान् निष्पाप रघुनन्दन ! महाप्रलयके अन्ततक उस ब्रह्ममें जगत्की सत्ताका

किसने अनुभव किया है तथा उसके वह सत्ता वहाँ किस रूपमें रहती है :

श्रीरामजीने कहा—प्रह्लादे जगत्की सत्ता उस समय ज्ञानस्वरूपा ही होती है और ज्ञानियोंके अनुभवमें भी आती है। अतः वह प्राकृत आकाशके समान शून्यरूप तो नहीं होती। इसलिये उस सत्ताको असत् नहीं कहा जा सकता।

श्रीकृष्णजी बोले—महानाहो। यदि ऐसी बात है तो वह ज्ञान ही तीनों लोकोंका स्वरूप है। किंतु जो विशुद्ध ज्ञानस्वरूप है, उसके बन्ध और भ्रण कैसे हो सकते हैं?

श्रीरामजीने पूछा—भगवन्। यदि इस प्रकार सुष्ठु उस प्रह्लादेमें स्थित नहीं है तो यह आन्ति कहाँसे और कैसे आ गयी? यह मुझे चताएँ।

श्रीकृष्णजीने कहा—श्रीराम। कार्यकारणसाक्ष अमाव होनेसे ही ग्रहमें न सुष्ठु है न प्रलय। यह जो जगत् भासित होता है, वह निसको और जिस रूपमें भास रहा है। वह सब ज्ञाता, ज्ञान और द्वेषरूपी त्रिपुटी केवल आत्मा ही है।

श्रीरामजीने पूछा—यह बात तो असंगत-सी लगती है। जो यन्त्रका चालक केतल है, वह जड़ यन्त्ररूप कैसे हो सकता है? दृष्टि ईश्वर स्वयं ही दृश्य कैसे बन सकता है? काठ दाढ़क बनकर अग्निको जला दे, क्या यह कभी सम्भव है?

श्रीकृष्णजीने कहा—रघुनन्दन! दृष्टि दृश्यमावको नहीं प्राप्त होता; क्योंकि दृश्यकी सत्ता सम्भव ही नहीं है। केवल दृष्टि ही प्रकाशित होता है, जो एकमात्र समिदानन्दधनस्वरूप एवं सर्वरूपा है।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन्। तब सुष्ठुके आदिमें अनादि, अनन्त, शुद्ध चिन्मय ग्रह ही जगत्का

संकल्प करता है। इसीसे इस जगत्का भान होता है। यदि ऐसा न होता तो चेत्य जगत्का प्राकृत्य कैसे हो सकता या?

श्रीकृष्णजीने कहा—किसी भी चेत्यकी उपरिय सम्भव नहीं है; क्योंकि उसका कोई कारण ही नहीं है। चेत्यके अत्यन्त अमावके ही कारण चेतनकी नित्यमुक्तता और अर्धानीयता सिद्ध होती है।

श्रीरामजीने पूछा—यदि ऐसी बात है तो ये अहंता आदि चेत्य कैसे और कहाँसे उपरिय द्वारा हैं, जगत्का भान कैसे होता है और स्पन्दन आदिका अनुभव क्यों होता है?

श्रीकृष्णजीने कहा—श्रीराम! मैं पहले ही बता चुका हूँ कि कारणकी सत्ता न होनेसे आदिकालमें ही किसी वस्तुकी उत्पत्ति नहीं हुई थी। ऐसी दशामें चेत्य कहाँसे होगा? इसलिये सब कुछ शान्तस्वरूप परमात्मा ही है। सुष्ठुकी प्रतीति केवल अममात्र है।

श्रीरामजीने पूछा—मुने! जो वाणीकी पहुँचसे बाहर है, चेत्य और चलन आदिसे रहित है, सदा स्वप्रकाश और निर्मल है, उस नित्यमुक्त परमात्ममें किसको किस निमित्तसे और कैसा भ्रम हो सकता है (जब ग्रहके सिवा दूसरा कोई है ही नहीं और वह नित्यमुक्त ज्ञानस्वरूप है तो उसमें किसको और कैसे भ्रम हो सकता है?) मिर यह जगत् नामक भ्रम क्या बल है? ) इसका उत्तर मुझे दीजिये।

श्रीकृष्णजीने कहा—श्रीराम! सुष्ठुरूप भ्रमकर्ता कोई कारण नहीं है; इसलिये यह निष्प्रितरूपसे काया जा सकता है कि उसकी सत्ता त्रिकालमें भी नहीं है। तुम, मैं आदि सब कुछ एकमात्र शान्तस्वरूप निर्विकार त्रैम ही है।

श्रीरामजीने पूछा—मुने! मिर तो देश, काल, क्रिया, द्रव्य, भेद, संकल्प और चित्त सभी वस्तुओंकी सत्यता

असम्भव ही है, फिर इन सबकी सत्ता कैसे उपस्थित हो गयी ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! देश, कल, क्रिया, द्रव्य, भेद, संकल्प और चित्त इन सबकी सत्ता अहानमात्र ही है। अहानसे मिन्न इनकी सत्ता न है, वह पहले कभी थी।

श्रीरामजीने पूछा—क्षमन् । तत्पृष्ठिसे कारणके अभावमें हैत और पृकल्पकी सम्मावना ही नहीं रह जाती। फिर न कोई बोध रह जाता है न बोधक। बोध-बोधकके अभावमें बोधका होना भी कैसे सम्भव होगा ? ( जिसका बोध होता है कह कर्म कारक तो होना ही चाहिये । कर्म माननेपर हैतकी आपत्ति होती है और कर्म न माननेपर बोध किस वस्तुका हो, यह प्रश्न खसा हो जाता है । )

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! अहानी जीव ही बोधके द्वारा अपने अहानविनाशरूप फलका आश्रय होकर आत्मबोधता ( बोधकर्मता ) को प्राप्त होता है। इसीसे बोध शब्द भी बोधला ( बोधरूप फलवाली सकर्मकला ) को प्राप्त होता है। ये सब बातें अहानियोंको समझानेके लिये ही कहने योग्य हैं। हम-जैसे जीवन्मुक्तोंके लिये नहीं ( जीवन्मुक्त पुरुष तो जाता, ज्ञान और ब्रह्मरूपी त्रिपुरीसे रहित हो शुद्ध ज्ञानरूप हो जाता है । उसके लिये बोधकी सकर्मताका निरूपण अनावश्यक हो जाता है ) ।

श्रीरामजीने पूछा—क्षमन् ! मैं जीवन्मुक्त हूँ ऐसा अनुभव होनेसे यह सिद्ध है कि बोध ही अहंतारूप परिणामको प्राप्त होता है। यह बोध अहंभावको प्राप्त हुआ तो यथार्थ बोध नहीं रह गया। उसमें भिन्नता आ गयी। अनन्त, जलसे भी बढ़कर निर्मल, विन्मय, परमात्मरूप आप-जैसे जीवन्मुक्त पुरुषोंमें यह बोधभिन्न अहंता कैसे सम्भव होती है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! बोधरूप जीवन्मुक्तकी स्वरूपभूता जो बोधता है, वही उसमें विशुद्ध अहंता कहलाती है। तत्त्वज्ञानीका मैं और तुम भी उसके स्वरूपभूत ज्ञानसे मिन्न नहीं हैं। उसमें जो द्वैतरूप व्यवहार देखा जाता है, वह वायु और उसके स्पन्दनकी भाँति अहैतरूप ही है।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन् । संसारको स्वप्नकी भाँति मिथ्या समझ लेनेमात्रसे कौन-सा अभीष्ट फल सिद्ध होता है ? स्वप्न आदिमें पदार्थोंकी साकारता कैसे शान्त होती है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! अध्यात्मशास्त्रके पूर्वपारके विवेकपूर्वक विचारसे ज्ञानोदय होनेपर पदार्थोंमें साकारता या स्थूलताकी भावना शान्त हो जाती है। वे सब-के-सब विन्मय ब्रह्मरूप ही हैं, ऐसा अटल निष्ठय हो जाता है। इसी तरह स्वप्नके पदार्थोंमें भी ( जागनेपर ) स्थूलताकी भावना निष्टृत हो जाती है।

श्रीरामजीने पूछा—जिसकी भावना स्थूलताको छोड़कर अत्यन्त सूक्ष्मताको प्राप्त हो गयी है, वह जगत्को कैसा देखता है ? उसका यह संसारभ्रम कैसे शान्त होता है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वासनाके क्षीण हो जानेपर पुरुष जगत्को उठाड़ा हुआ, असत्के सदृश, आकाशमें दीखनेपाले गन्धर्वनगरके समान और वर्षाद्वारा मिटाये गये विश्रके तुल्य देखता है।

श्रीरामजीने पूछा—मुने ! वासनाके क्षीण हो जानेपर जिसके लिये जगत्की स्थिति स्वप्नके तुल्य हो जाती है, उस पुरुषकी जागतिक पदार्थोंके विषयमें जब स्थूलताकी भावना मिट जाती है, तब फिर क्या होता है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! जिसकी दृष्टिमें जगत् केवल संकल्परूप है, उस पुरुषकी वह अति सूक्ष्म वासना भी उसरोत्तर क्रमसे विलीन हो जाती है।

इस तरह सर्वथा वासनाशून्य होकर वह शीघ्र ही निर्वाण ( मोक्ष ) को प्राप्त हो जाता है ।

श्रीरामजीने पूछा—भक्त ! जो अनेक जन्मोंसे बद्धमूल अनेक शासा-प्रशासा थोंसे ब्रुशोभित तथा जन्म-प्रणाली वस्थनमें ढालनेवाली है, वह वौर वासना किस उपायसे पूर्णतः शान्त हो जाती है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! यथार्थ तत्त्वज्ञानसे जब यह भगवान् इत्यनक्त स्थूलरूपतासे रहित अनुभूत हो जाता है, तब क्रमशः उसकी वासनाका कथ होने लगता है ।

श्रीरामजीने पूछा—मुने । जब इत्यनक्त स्थूलाकारतासे रहित अनुभूत हो जाता है, तब और कथा होता है ? पूर्ण शान्ति कैसे होती है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! स्थूलाकारताका अग्र मिट जानेपर जब जगत्की केवल निरामात्रस्तपता अग्रवत हो जाती है और वित्तवृत्तियोंके निरोधसे जगत् में गौरवमुद्दि नहीं रहती है, तब जगत्के प्रति होनेवाली आस्था शान्त हो जाती है ।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन् ! वित्त कैसा है ? उसका विचार कैसे किया जाता है ? और उसके स्तरपक्ष का मध्यमोत्ति विचार कर लेनेपर कथा होता है ? यह बताइये ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! चेतनका चेतनीय विषयोंकी ओर उन्मुख होना ही वित्त कहलाता है । इस समय जो चर्चा चल रही है । यही इसका विचार है । इससे इसकी वासना शान्त हो जाती है ।

श्रीरामजीने पूछा—भक्त ! वित्तके रहते हुए चेतनका अचेत्य परमात्माकी ओर उन्मुख होना नितनी देरके लिये सम्भव हो सकेगा । ( क्योंकि वित्तहृतियोंका निरोध होनेपर ही परमात्मामें अटल स्थिति हो पाती है ) अतः यह बताइये कि निर्वाण-पद प्रदान करनेवाली जो

वित्तकी अवित्तता है, उसका उदय कैसे हो सकता है ? ( दूसरे शब्दोंमें वित्तके नाशका ही उपाय वासनेकी कृषा करें । )

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन । जब चेत्य जगत्की उत्पत्ति सम्भव ही नहीं है, तब चित्तिशक्ति जीवात्मा कैसे और कहाँसे उसका विन्तन या अनुभव करेगा ? चेत्यकी सत्ता न होनेसे वित्तकी सत्ता भी चिरकालसे ही नहीं है । फिर किसके नाशका उपाय वासना जाय ?

श्रीरामजीने पूछा—जिस चेत्यका सबको अनुभव होता है, उसका होना कैसे सम्भव नहीं है ? जिसका अनुभव ही रहा है, उसका इस तरह अपडाप, उसकी सत्ताको अस्तीकार कैसे किया जा रहा है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—अज्ञानीकी दृष्टिमें जो जगत्-का स्तरप है, वह सत्य नहीं है और अज्ञानीकी दृष्टिमें उसका जैसा स्तरप है, वह अद्विनीय ग्रहणमय होनेके कारण वाणीका विषय नहीं है । ( अतः यहाँ अज्ञानियोंके ही जगत्की सत्ताका निराकरण किया गया है । )

श्रीरामजीने पूछा—मुने । अज्ञानियोंका वैलोक्य कैसा है और वह सत्य कैसे नहीं है तथा तत्त्वज्ञानियोंका जगत् जैसा है, वह वाणीका विषय कैसे नहीं हो सकता ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—अज्ञानियोंका जो जगत् है, वह आदि-अन्तसे युक्त तथा हृतस्तरप है । परंतु तत्त्वज्ञानियोंकी दृष्टिमें वह नहीं है । उनकी दृष्टिमें जगत्की सत्ता सम्भव ही नहीं है; क्योंकि आदिकालसे ही कभी उसकी उत्पत्ति नहीं हुई ।

श्रीरामजीने पूछा—मुने । जो आदिकालसे ही वर्तमान नहीं हुआ, उसकी सत्ता कभी सम्भव नहीं है । वह असद्गृप और बामासशून्य है । यदि जगत्का भी यही स्तरप है तो उसका अनुभव कैसे हो रहा है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! जाग्रत्-जगत् स्वप्न जगत्के समान असत् होता हुआ ही सत्-केतुल्य प्रतीत हो रहा है । इसकी कभी उत्पत्ति नहीं हुई; क्योंकि उत्पत्तिका कोई कारण नहीं है । यह स्वप्नके तुल्य प्रकट होकर अर्थ-किंशकारी भी प्रतीत होता है ।

श्रीरामजीने पूछा—मगधन् ! स्वप्न आदिमें और संकल्प एवं मनोरथ आदिमें जो दृश्यका अनुभव होता है, वह जाग्रत् व्यवहारके अनुभवसे उत्पन्न जाग्रत्-रूप संस्कारसे होता है । किंतु यह जाग्रत् किससे अनुभवमें आता है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! यदि जाग्रत्-के संस्कारसे ही स्वप्नका भान होता है तो सप्नेमें गिरा हुआ अपना धर कैसे प्रातःकाल जागनेपर सुरक्षितरूपसे उपलब्ध होता है ।

श्रीरामजी बोले—मगधन् ! जाग्रत्-पदार्थका स्वप्नमें भान नहीं होता; किंतु अन्य पदार्थ ही स्वप्नमें भासित होता है । वह अन्य पदार्थ ब्रह्म ही है, यह बात मेरी समझमें आ गयी । अब इतना ही पूछना शोष है कि वह अन्य पदार्थरूप ब्रह्म अपूर्व जगत्-के रूपमें कैसे भासित होता है ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! सब कुछ अपूर्व-सा ही भासित होता हो, ऐसा नियम नहीं है । कोई पदार्थ जिसका पहले अनुभव नहीं हुआ है, चित्तमें असूर्व प्रतीत होता है और कोई जिसका पहले अनुभव हो चुका है, अपूर्व नहीं प्रतीत होता । वह अनुभव सुषिके आदि, अन्त और मध्यमें किये हुए अन्यासके अनुसार ही भासित होता है ।

श्रीरामजीने पूछा—मगधन् ! इस तरह आपके सुपदेश-से यह बात तो समझमें आ गयी कि जाग्रत्-जगत् भी स्वप्नके समान ही है । किंतु यह स्वप्न-तुल्य प्रतीत होनेवाला जगत्-रूपी यक्ष भी कूर प्रह्लकी गौति काट देता है । अतः किस प्रकार इस रोगकी चिकित्सा की जाय ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! यह जो संसार-सं० यो० द० अ० २४ —

रूपी स्वप्न है, इसका क्या कारण हो सकता है ? कार्य-से कारण मिल नहीं है, यह बात सर्वत्र देखी गयी है । इस प्रकार इस विषयमें विचार करो ।

श्रीरामजी बोले—साम्रकी उपलब्धिका कारण है चित्त । इसलिये स्वप्न-जगत् चित्तरूप ही है । इसी प्रकार शाप-के विचारसे यह जाग्रत्-जगत् भी जो आदि-अन्तसे रहित और असार है, चित्तरूप ही है । इस निश्चयसे जगत्-रूपी रोगकी चिकित्सा स्वतः सिद्ध है ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—महामते ! मैं कह चुका हूँ कि चेतनका चेत्यकी ओर उन्मुख होना ही चित्त है । इस दृष्टिसे चित्त महान् वैतन्यवन ही है । वही जगत्-के आकाशमें स्थित है । अतः सिद्ध हुआ कि स्वप्न, जाग्रत्, आदि कुछ भी चिन्मय प्रकाशसे मिल नहीं है; क्योंकि आदिकालसे ही वह जगत् कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ है । इसलिये यह सारा दृश्यमान प्रपञ्च अजर-अपर, शान्त, अजन्मा एवं अखण्ड सचिदानन्दवन भ्रम ही है ।

श्रीरामनन्दजी बोले—मगधन् ! आपके सदुपदेशसे मैं यह मानता हूँ कि जीवात्माको भान्तिके कारण द्रष्टावन और भोक्तापनके साथ सुषिके जन्म नाश आदि सारे भ्रम परमपद-स्वरूप परमात्ममें प्रतीत हो रहे हैं ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—राघवेन्द्र ! जो रससे भी रस-तत्त्वके ज्ञाता है—सारसे भी सार वस्तुको भयकर निकालमें और जाननेमें समर्थ हैं, ऐसे विद्वानोंकी विचार-व्यापारसे युक्त जो कोई नवीन दृष्टि है, वह पहली है तथा समस्त विचारों और शास्त्रके अवल, मनन, निदिष्यादानके परिणामसे परिनिष्ठित जो परम तत्त्वरूप अर्थ है, उसका अपरोक्ष अनुभव करनेवाली जो तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त महारमाणोंकी दृष्टि है, वह दूसरी है । उन्हीं दो दृष्टियोक्ता अवलम्बन करके मैंने सम्पूर्ण विषयके तत्त्वरूपर तबतकके लिये इस प्रकार विचार किया और विचार करना आवश्यक समझा है, जबतक कि वह बोध न हो जाय

कि जितनी भी दृष्टियाँ और उनके द्रष्टाके द्रष्टापन हैं, वे कोई शून्यता है और न भ्रम ही है। नित्य-निरन्तर, सब त्रिकालमें भी नहीं हैं। सारा जगत्-असत् है— सर्वत्र एकमात्र अपरोक्ष परमानन्दस्वरूपं परब्रह्म ही शून्य है। उसकी प्रतीति भ्रममात्र है। वस्तुतः तो न विराजमान है। ( सर्ग १९० )

अज्ञानसे ब्रह्मका ही जगतरूपसे भान होता है। वास्तवमें जगत् का अत्यन्ताभाव है और एकमात्र ब्रह्म ही विराजमान है, इस तत्त्वका प्रतिपादन

श्रीरामजी बोले—मुनिश्चेष्ठ ! यदि ऐसी बात है तब तो यह सारा जगत् सदा सर्वपदार्थरूप परमार्थमय प्रसा ही है, जो न कभी उत्पत्त होता है और न कभी नष्ट ही होता है। जगत् की प्रतीतिके रूपमें यह भान्ति ही मासित हो रही है। तात्त्विक दृष्टिसे तो वह भान्ति भी नहीं है, केवल परब्रह्मकी ही सत्ता है।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! दृश्यकी उत्पत्ति सम्भव न होनेके कारण न दृष्टा है और न दृश्य ही है। द्रष्टा, दृश्य और दर्शन आदिमें त्रिपुटी कुछ नहीं है। केवल निर्विकार विदाकाश ही है। जैसे स्वप्न आदिमें एक ही पुरुष द्रष्टा, दृश्य और दर्शनकी त्रिपुटीरूप होता है, वैसे ही जाग्रत् में भी एकमात्र वह जीवात्मा ही स्वयं द्रष्टा, दृश्य और दर्शनकी त्रिपुटीको धारण करके विराजमान होता है। अतः भासने योग्य पदार्थ, मान तथा मासक स्वयंप्रकाश चेतन ही है, सर्ग आदिमें सुष्ठिके तुल्य स्फुरित होता हुआ वह स्वयं ही प्रकाशित होता है। अज्ञानी लोगोंको यह सुष्ठि भले ही आश्वर्यके तुल्य प्रतीत

हो। परंतु ज्ञानी महात्माओंकी दृष्टिमें तो यह स्वभावभूत ब्रह्मरूप ही है। सुष्ठिके आदिमें जब कि एक विशुद्ध चेतन ही विशमान है, तब उसमें संसारकी उत्पत्तिका क्या कारण हो सकता है ? दृश्यकी सत्ता किसी तरह भी सम्भव न हो सकनेके कारण केवल ब्रह्म ही जगतरूपसे मासित हो रहा है। इस तरह विदाकाशस्वरूप परमात्मा ही सुष्ठिके आरम्भमें सुष्ठिरूपसे स्फुरित होता है। अतः यह जो जगत् है, परमात्मा ही है। शून्यता और आकाशके मेदकी कल्पनाके समान जगत् ! और ब्रह्मके मेदकी कल्पना भी अज्ञानमात्र ही है। श्रीराम ! इस तत्त्वको समझ लेनेपर भी जबतक यह स्मृत्तर अनुभवसे युक्त एवं इड न हो जाय, तबतक साधकको पाषाणकी भाँति मौन एवं निर्विकल्प होकर एकमात्र परमात्मामें ही स्थित रहना चाहिये। जिन विषयभोगोंको बार-बार भोगकर परम वैराग्यके कारण स्थाग दिया गया है, उन्हें अज्ञानी पुरुषोंके कहनेपर भी ग्रहण नहीं करना चाहिये। ( सर्ग १९१ )



श्रीरामचन्द्रजीके मुखसे ज्ञानी महात्माकी स्थितिका एवं अपने परब्रह्मस्वरूपका वर्णन

श्रीरामचन्द्रजी बोले—मुने ! यहाँ सब कुछ शान्त, आलम्बनरहित, विज्ञानस्वरूप, अनन्त, रागशून्य, कल्पन-रहित एवं विशुद्ध अद्वितीय सञ्चिदानन्दधनं परब्रह्म ही है। उसके अतिरिक्त न यह दृश्य है न दृष्टा है न सुष्ठि है, न जगत् है, और न जाग्रत्, स्वप्न एवं स्मृति आदि ही है। यह जो कुछ दीखता है वह सब असत् ही

है। मुने ! इस भान्तिकी उत्पत्ति कहाँसे होती है ? इस बातका विचार करना भी उचित नहीं है; क्योंकि भान्तिके अमावका अनुभव हो जानेपर भ्रान्ति रहती ही नहीं, तब उसके कारणका विचार करना कहाँतक संगत हो सकता है ? निर्विकार एवं ज्ञानस्वरूप परब्रह्ममें भ्रान्ति ही ही नहीं सकती। यह जो भ्रान्तिरूपताका ज्ञान है वह

मी ग्रस्तरूप ही है। ब्रह्मसे मिल नहीं है। जैसे मृगतृष्णामें अलका, गन्धर्वनगरका और नेत्रदोषके कारण उत्पन्न दो चम्पामाका भय विचारसे उपलब्ध नहीं होता, उसी प्रकार अविद्या नामक भयकी भी विचारसे उपलब्ध नहीं होती। मुने। वह भान्ति कहाँसे आयी और क्यों आयी, यह प्रश्न भी यहाँ शोमा नहीं पाता है; क्योंकि जो वस्तु है, उसीपर विचार करनेसे लाभ होता है। जो है ही नहीं, उसपर विचार करनेसे क्या लाभ होगा? इसलिये कभी कोई भान्ति सम्भव नहीं है। यह आवरणरहित नित्य विज्ञानामन्दवन ब्रह्म ही सब और ज्यात है। आज यहाँ जो कुछ भी जगत् भासित होता है, यह परमात्मा ही है। निरतिशय आनन्दसे परिषुर्ण परमात्मामें यह पूर्ण परमात्मा ही निराज रहा है। अन्मरहित, अपर, इन्द्रियोदारा ग्रहण करनेके अयोग्य, श्रेष्ठ पुरुषोदारा सेवित, निर्विकार तथा सब औरसे निर्दोष परमपदरूप परमात्मा ही सब और परिषुर्ण हो रहा है। वही 'अहम्' ( मैं ) पदसे कहा गया है। फिर भी वह अहंकारसे सर्वथा रहित है। अनेक रूपसे प्रतीत होनेपर भी वह एक है तथा विज्ञुद एवं सदा प्रकाशपान है।

आदि, मध्य और अन्तसे रहित जिस परमपदको

देवता तथा अ॒षि भी नहीं जानते हैं, वही यह सर्वत्र प्रकाशित हो रहा है। कहाँ है जगत् और कहाँ उसकी अ॒श्यता? दैत और अद्वैतकी भाषणको उभाङनेवाले जो वाक्य संदेह और भ्रम हैं, उनसे हपारा क्या प्रयोगन है? वास्तवमें सबका आदि, अनामयस्वरूप एक परम शान्त ब्रह्म ही परिषुर्ण है। अपरिष्ठिक उद्यवाले—सर्वव्यापी इस परमात्मा साक्षात्कार ही जानेपर ज्ञानीकी दृष्टिमें स्फुरित होनेवाला संसाररूपी पिशाच तत्त्वज्ञकी दृष्टिमें नष्ट हो जाता है। वह जड़की भौति व्यवहारमें लगा हो तो भी उस ज्ञानीकी पूर्वकी भेदबुद्धि उसी तरह गल जाती है, जैसे जलके भीतर लहर नष्ट हो जाती है। यहाँ वास्तवमें न सो अंजान है, न भ्रम है, न दुःख है और न सुखका उदय ही है। पिशा-अविद्या, सुख-दुःख—सब कुछ मिर्च ब्रह्म ही है। जितना और जो भी यहाँ है, वह सब विज्ञुद सुविदानन्दवन ब्रह्म ही है। असन्। वह प्रसा में ही हूँ। सदा ही सब कुछ एकमात्र में ही हूँ। मेरा कहाँ अन्त नहीं है। मैं परम शान्त हूँ, सब कुछ हूँ, अपश्चा कुछ नहीं हूँ। एकमात्र सत्-स्वरूप ही हूँ अपवा वह भी नहीं हूँ, मैं ही परम आश्चर्यरूप निर्वाण नामक परमशान्ति-स्वरूप हूँ।

( सर्ग १९२-१९३ )

### श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा बोधके पश्चात् होनेवाली शान्त एवं संकल्पशून्य स्थितिका वर्णन

श्रीरामचन्द्रजीकहते हैं—मुने! जिसको बोध प्राप्त हो गया है, वह ध्यानस्थ महामा केवल अपने वित्तमाव-में स्थित रहता है। वह न कुछ ग्रहण करता है और न कुछ स्वाग ही करता है। समाधि या ध्यानसे उठनेपर भी वह सदाजैसे-का-तैसा अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता है, जैसे दीपक प्रकाश फैलता हुआ भी कुछ करता नहीं है, ऐसे ही ज्ञानी सब कुछ देखता हुआ भी निष्क्रिय बना रहता है। वह मनके मननसे युक्त होनेपर भी कही आसक्त न होने-के कारण वास्तवमें मन, अभिमान और मननसे रहित ही

है। उस योगीको समाधिसे उठनेपर विश्वरूप नामक और समाधिकालमें ब्रह्म नामक विभ्मात्रस्वरूप परमार्थ सत्यका ही सर्वत्र दर्शन होता है। उसे सृष्टि और संहार सब विन्मात्र ही प्रतीत होते हैं। संसार त्रिविध तापोसे अत्यन्त संतत है और निर्वाण अत्यन्त शीलत है ( क्योंकि उसमें नमस्त तापोको शान्ति हो जाती है )। वास्तवमें अत्यन्त शीलत निर्वाण ही शाश्वत है। यह तस संसार तो तीनों कालोंमें ही ही नहीं। जैसे स्वरूपमें अपने भाई-बच्चुके माने या जीनेपर भी स्वरूपसे जगे त्रिपुरुषकी उस अप्यात

वृत्तान्तमें सत्यता-बुद्धि नहीं होती ( अतएव उसे वहाँकी घटनासे हर्ष और शोक नहीं होते हैं ) । वैसे ही तत्त्वज्ञानी पुरुषकी दृश्य पदार्थोंमें सत्यता-बुद्धि नहीं होती ( इसलिये अनुकूल-प्रणिकूल घटनाओंसे उसे हर्ष-शोकका अनुभव नहीं होता । ) भगवन् ! सम्यक् ज्ञान होनेपर देहसे सम्बन्ध रखनेवाले भोगपदार्थों और उनकी प्राप्तिके उपर्योगेसे ज्ञानीको उसी तरह सर्वथा विरक्ति रहती है, जैसे स्वप्नसे जगे हुए पुरुषकी स्वप्नगत पदार्थोंमें ममता और आसक्ति नहीं रहती । वैराग्यसे बोधकी और बोधसे वैराग्यको बुद्धि होती है । वे दोषाल और प्रकाशके समान एक-दूसरेसे अभिव्यक्त होते हैं । अनन्धकारमें दीपक जलानेसे दीपाल अभिव्यक्त होती है और दीपालपर पड़नेसे प्रकाशकी विशेष अभिव्यक्ति होती है । जिस बोधसे वैराग्य सम्बन्ध होता है, वस्तुतः उसीका नाम बोध है । जिससे धन, सी, पुत्र आदिकी सुख-सुविधा-बुद्धि पहलेसे भी बढ़ जाती हो, वह बोध या बुद्धिमानीके रूपमें जड़ता ही स्थित है । बोधका बोधत्व हतना ही है कि उससे वैराग्यकी बुद्धि

हुई अर्थात् वैराग्य होनेसे ही बोध सार्थक समझ जाना है । जिस पुरुषमें वैराग्य नहीं है, उसकी विद्या भी भूलना ही है । बोध और वैराग्यरूपी उत्कृष्ट सम्पत्ति ही मोक्ष कहलाती है । उस मोक्षरूप अनन्त शान्तपदमें स्थित हुए पुरुषको कभी शोक नहीं बरना पड़ता । जो सदा अपने आत्मामें ही रम रहा है, शान्त, विरक्त एवं अहंकारहीत हो गया है, उस ज्ञानीपुरुषकी आकाशके भग्नान सकल्प-रहित एवं निर्मल स्थिति हो जाती है । सहस्र-सहस्र प्रव्याख्या-शील पुरुषोंमेंसे कोई विरला ही ऐसा बलशान और उत्साही होता है, जो उठकर बासनाजालको उसी तरह छिन्न-मिन्न कर देता है, जैसे कोई-कोई सिंह पिंजड़ेको तोड़ डालता है । जिसका अन्तःकरण शुद्ध है, उस पुरुषके भीतर बासनाशून्य भाव प्रकट होनेपर उसे यह सुदृढ़ बोध ग्रास हो जाता है कि सारा दृश्य ब्रह्म ही है । इससे उसकी बुद्धि एकमात्र निर्वाणरूप परमानन्दमें ही सुस्थिर हो जाती है । तत्पश्चात् उसमें मोक्ष भाग्य अनन्त शान्तिका उदय होता है । ( सर्ग १९४ )

### श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा जगत्की असत्ता एवं 'सर्व ज्ञान' के सिद्धान्तका प्रतिपादन ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन । ज्ञानशान् पुरुषकी समाधि-अवस्थामें अथवा व्यवहारकालमें जो शिलाके समान घनीभूत निश्चल स्थिति है, वह निर्मल मुक्ति कहलाती है । राश्रव ! पाप और दुःखका निवारण करनेवाले उस मोक्षपदमें स्थित होकर हमलोग समाधि और व्यवहारमें भी इसी तरह सम्प्रभावसे रहते हैं ।

श्रीराम जोले—ब्रह्मन् ! जैसे मुग्धत्यामें जल, समुद्र आदिके जलमें तरह और भेषज, सुवर्णमें कटक-कुण्डल आदि आभूषण तथा क्षण और संकल्पमें पर्वत—ये सब विना हुए ही प्रतीत होते हैं, वैसे मक्षमें यह जगत् कभी उपरक नहीं हुआ, कभी ग्रकाशमें नहीं आया । उसका आरम्भ भी नहीं हुआ और उसमें कोई आकार भी नहीं है । इस प्रकार सर्वथा अमद् होकर भी

वह अहोनियोंको मासित होता है । वहले ही यह कुछ भी कभी उत्पन्न नहीं हुआ; वर्णोंकि इसकी उत्पत्तिका कोई कारण नहीं है । इसलिये वन्धुपुत्रके समान इस जगत्की सत्ता केवल काल्पनिक है । कल्पनाके सिवा और किसी रूपमें इसकी सत्ता नहीं है । इस जगत्-भान्तिका कारण ही क्या है, जिससे यह प्रकट होती ? कारणके दिना किसी भी कार्यका होना कहीं भी सम्भव नहीं है । वस्तुतः निर्विकार, अज्ञ, अमर वृक्ष भी इसका कारण नहीं हो सकता; वर्णोंकि पूर्वावस्थाका क्षय हुए विना कोई भी वस्तु यहाँ कहीं भी सविकार नहीं हो सकती । यदि वाणीका अविषय ब्रह्म ही कारणरूपसे विषमान है तो कडँ, किसको धौर किस प्रकार जगत् शब्दके अर्थकी प्रतीतियाँ होंगी । वास्तवमें यह जगत् आकाशके भग्नान निर्मल, शिलाके भग्नान घनीभूत

और पाषाणके समान मौन, शान्त, अक्षय ग्रस्त ही है । यह परम समस्वरूप, एक, अनादि, अनन्त, शान्त ग्रस्त, महाकाश ही है । इसमें जगत्की बात ही कहाँ है ? जैसे जलमें लहरोंके उठने और शान्त हुँनेसे जलमें भिन्नता नहीं आती, उसी प्रकार ग्रस्तमें सुष्ठि और प्रलयसे भी कोई भिन्नता नहीं आती । सारासार-तत्त्वके ज्ञाता कोई महात्मा पुरुष इस विशुद्ध परमपदमें उसी तरह एकनाको प्राप्त हो जाते हैं, जैसे जनकी दूँढ़ जलराशिमें मिलकर एक हो जाती है । परमात्मामें परमात्मरूप ही जो अपर जगत्—मासिन ह ता है, वह विचार करनेसे परमात्मा ही सिद्ध होता है; क्योंकि निर्मल, शान्त, परमात्ममें जगत् और उनके व्यवहारोंका होना सम्भव नहीं है ।

श्रीक्षिष्ठजीने पूछा—रघुनन्दन ! यदि ऐसा मान ले कि यह इथर जगत् कारणभूत ग्रस्तमें उसी प्रकार स्थित है, जैसे बीजमें अकुर तो यहाँ सुष्ठि आदिकी सत्ता कैसे नहीं सिद्ध हो सकती ?

श्रीरामने कहा—मुने ! बीजमें अकुर यदि अकुररूपसे ही रहता तां उसमें दृढ़नंपर मिलता । किन्तु बीजको फोड़कर देखनंपर वह दिखायी नहीं देता है । यदि कहाँ बीजके भीतर अवयवोंकी सूक्ष्म सत्ता है तो वह तो बीज ही है, अकुर नहीं है । ग्रस्तके भीतर भी जगत्की सत्ता इसी तरह सिद्ध नहीं होती है । जो जगत्-सत्ता उपलब्ध होती है, वह यदि सूक्ष्मरूपसे ग्रस्तमें हो तो वह तो नित्य ग्रस्त ही है; क्योंकि ग्रस्त अविकारी है । अतः ग्रस्तसे भिन्न जगत्का सत्ता कठपि सिद्ध नहीं होती है । यह जो कोई अनिर्वचनीय जगत् दीखता है, तत्त्वज्ञान हो जानेपर अनुभवमें ही नहीं आता है । अज्ञानात्मकामें भी प्रतीत होनेके कारण सत्ता, और वस्तुनः असत्तासे परिपूष्ट यह जगत् स्वानुभवैकगम्य होनेसे अनिर्वचनीय ही है । सारा प्रपञ्च

परम शान्त, निक्षिप्त, अखण्ड, आमासंग्रन्थ, अनादि, अनन्त एवं स्वर्यप्रकाश ग्रस्त ही है । मुझे अपने उस परमात्मस्वरूपका व्यापार्थ अनुभव है, जो जन्म और मृत्युसे रहित, शान्त, अनादि, अनन्त, महान् उपाधिशून्य और निराकार है । जो संविद् ( विच्छृच्छि ) भीतर सुरित होती है, वही वाक्यरूपमें बाहर प्रकट होती है । जैसे जो बीज भूमिमें बोया गया है, वही अकुररूपसे प्रकट होता है । यह जगत् ज्ञानीकी दृष्टिमें सत्य है और ज्ञानवान्‌की दृष्टिमें मिथ्या । जो इसे ग्रस्तरूपमें देखता है, उसके लिये व्रद्ध है तथा जो शान्त महात्मा पुरुष हैं, उनके लिये यह शान्त होकर अन्तमें शून्यरूप ही रह जाता है । ग्रहन् ! मैं चिदाकाश हूँ । आप चिदाकाश हैं । चिद् चिदाकाश है । जगत् चिदाकाश है और चिदाकाश स्वयं चिदाकाश है । आप एकमात्र चिदाकाश-भावको ग्राह हो एकाकाशरूपतामें ही स्थित हैं । गुरुदेव ! आप मनुष्योंमें श्रेष्ठ हैं और व्रहाकाशभावमें ही स्थित हैं । मैं अपने आकाशतुल्य विशुद्ध स्वरूपानुभवके द्वारा सर्वत्यक चिदाकाश-सदृश आपको होय, पूर्णनन्द ग्रस्तसे अभिन्न जानकर प्रणाम करता हूँ । वास्तवमें चिद् रूपरूप होनेके कारण ही यह जगत् जिना किसी कारणके द्वारा उत्पन्न और विळीन होता-सा भासित होता है । अतः यह निर्मल परमाकाशरूप ही है । सम्पूर्ण शास्त्रीय शुक्रियों तथा समस्त पदोंसे अतीत जो निर्झन्द ग्रस्तरद हैं, उसीको पाकर आप ग्रस्ताकाशस्वरूप हो गये हैं । समस्त शास्त्रोंके वर्णनसे परे, चिह्न अथवा आकारसे रहन, नाभरूपसे हीन, अनुभव-स्वरूप, शुद्ध, चिन्मय, एक, अजन्मा एवं सबका आदि निर्मल चिदाकाश ही यहाँ विराजमान हैं । उसमें किसी प्रकारके नाशकी कल्पनाके लिये स्थान नहीं है । उस ग्रस्तमें मलकी आशहा ही व्यर्थ है—वह नित्य निर्मल सच्चिदानन्दधन है । ( सर्ग १९५ )

श्रीरामचन्द्रजीके प्रश्नके अनुसार उत्तम बोधकी प्राप्तिमें शास्त्र आदि कैसे कारण बनते हैं, यह बढ़ानेके लिये श्रीधरसिंहजीका उन्हें कीरकोपाख्यान सुनाना—लकड़ीके लिये किये गये उद्योगसे कीरकोंका सुखी होना

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—दूसरोंको मान देनेवाले गुरुदेव ! जो यह सख्तरूप ब्रह्म केवल अपने अनुभवसे ही जानने योग्य है, वडे-वडे महापुरुषोंकी वाणी भी इसका यथार्थ निरूपण नहीं कर सकती । ऐसी अवस्थामें समस्त संकल्प-विकल्पोंसे रहित जो परम हीय ब्रह्म स्थर्य प्रकाशरूप है तथा जाप्रत् आदि तीनों अवस्थाओंसे अतीत तुरीयरूपसे उपलब्ध होता है, वह अस्यन्त दुर्गम ( दुर्बोग ) हो गया है ( क्योंकि गुरु और शास्त्र आदि जाप्रत् अवस्थाके ही अन्तर्गत हैं । उनसे ) उस तुरीय पदका ज्ञान होना कठिन है । विकल्परूपी सारकाले शब्द-अर्थरूप शास्त्रोंसे ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती । फिर भान्तिरूप अनर्थपरम्पराकी प्राप्तिके लिये गुरु, शास्त्र आदिकी कल्पना क्यों की गयी है ?

श्रीवसिंहजीने कहा—राघवेन्द्र ! गुरु और शास्त्र आदि जिस प्रकार उत्तम बोधके प्रति कारण होते हैं, वह संक्षेपसे बताता हूँ, मुझे—कभीकी बात है, कीरक देशमें कुछ ऐसे लोग थे, जो बहँगी ढोकर जीवन-निर्वाह करते थे । वे चिरकालसे दरिद्रता एवं दुर्मायिका सामना करते थे । दुःखसे वे इस तरह सूख गये थे, जैसे ग्रीष्मकी प्रचण्ड धूपसे पुराने पैदे सूख जाते हैं । वे चियड़ोंकी गुदड़ी सीकर उसे खोकर थे । दुर्लभ दरिद्रताके कारण उनका सुँह उदास और हृदय दुखी हहता था । जैसे तालाबका पानी निकल जानेसे कमल सूखने लगते हैं, उसी तरह वे भी क्षीण हो रहे थे । अपनी दुर्गतिसे संतप्त होकर उन लोगोंने आजीविकाके लिये विचार किया कि हम लोग किस युक्तिसे अपना पेट भर सकते हैं । इस विषयपर विधिपूर्वक सोच-विचारकर वे इस निश्चयपर पहुँचे कि हमलोग दिनभर सुखहसे शांमतक लकड़ीका बोझ ढोयेंगे और उसीको

बेचकर जीविका बलायेंगे । ऐसा निश्चय करके वे लकड़ी लानेके लिये बनके भीतर गये । वे जिस किसी युक्तिसे जीविका चलाते थे, वही आर्पात्में पड़ जाती थी । वे जिस दिन जो कमाते, उसी दिन वह खा जाते थे । इस तरह प्रतिदिन जंगलमें जाकर वहाँसे लकड़ी लाने और उसे बेचकर किसी तरह जीवन-निर्वाह करने लगे । जिस बनके भीतर वे जाते थे, उसमें शुत्र और ग्रकटरूपसे सब प्रकारके रत्न, उत्तमोत्तम काष्ठ और सुखर्ण भी थे । उन बोझ ढोनेवाले लकड़ीहारोंमेंसे कुछ लोग कुछ ही दिनोंमें उन सुखर्णों और रत्नोंको भी पा गये । मानद । कुछ कीरकनिवासी चन्दनकी लकड़ियाँ, कुछ अच्छे-अच्छे फल और फल ला-लाकर बेचते और चिरकाल-तक उनसे जीविका चलाते रहे । कुछ खोटी बुद्धिवाले भाग्यहीन लोग, जो धनकी गलियोंमें धूम-धूमकर जीविका चलानेवाले थे, कभी अच्छी चीजोंको न पाकर सराब लकड़ियाँ ही लाते और उन्हें बेचकर जीवन-निर्वाह करते थे । लकड़ी लानेके लिये उच्चत रहनेवाले वे सब लोग एक बार एक महान् जंगलमें पहुँच गये । वहाँ कुछ लोग उत्तमोत्तम रत्न आदि पाकर दरिद्रतारूपी उनसे शीघ्र ही मुर्ज हो गये । एक दिन उस बनके एक प्रदेश-से एक लकड़ीहारेको चिन्तामणि नामक मणि प्राप्त हो गयी । उस चिन्तामणिसे उन्हें सारे धन-वैमव मिल गये । और वे सभी वहाँ परम सुखी हो बड़े आनन्दसे रहने लगे । लकड़ी लानेके लिये उच्चत होकर वे बनमें जाते थे किन्तु सौभाग्यक्षम उन्हें समूर्ण मनोवाञ्छित पदार्थोंको देनेवाली मणि मिल गयी और वे सर्गके देवताओंकी भाँति निर्वाह हो सुखसे रहने लगे । लकड़ीके लिये किये गये उद्योगसे ही बहुमूल्य चिन्तामणि पाकर वे उसके द्वारा समस्त धन-वैमवके सार-सर्वस्त्रसे सम्पन्न हो महान्

बन गये। उनके दरिक्ताजनित भय, मोह, विशद और हुःख सदाके लिये मिठ गये और वे मन-ही-मन आनन्दमें मान

रहकर दूसरी लाभ-हानिके विषयमें समताको प्राप्त हो गये। ( सर्ग १९६ )

कोरकोपाख्यानके स्पष्टीकरणपूर्वक आत्मज्ञानकी प्राप्तिमें शास्त्र एवं गुरुपदेश आदिको कारण बताना श्रीरामचन्द्रजी बोले—दूसरोंको मान देनेवाले पूरा विश्वास हो जाता है, तब तदनुकूल परमार्थिक सुनिश्चेष्ट। ऐसी कृपा कीजिये जिससे बहुँगी दोनेवाले उन कीरकोंके इस प्रसंगका तात्पर्य भलीभांति समझमें आ जाय और कोई संदेह न रह जाय।

श्रीकृष्णजीने कहा—महातपसी श्रीराम! ये जो भूमण्डलके भनुष्य हैं, वे ही वे बहुँगी दोनेवाले कीरक हैं और उनका जो दारिद्र्यजनित हुःख था, वह इन भनुष्योंका महान् अन्नान है। जो महान् बन बताया गया है, वह सदूगुरु, सद-शास्त्र आदिका क्रम है। वे जो आहार शुद्धानेके लिये उषोगशील थे, उसके द्वारा इन् मोगार्थी भनुष्योंकी ओर संकेत किया गया है। अत्यन्त कृपण भनुष्य अन्य सब कायोंकी उपेक्षा करके मुझे भोगराशियों प्राप्त हों, इस उद्देश्यसे शास्त्र आदिमें—उनके बताये हुए उपयोगे प्रवृत्त होता है। मोगरवश होकर भोग-सामग्रीके लिये ही शास्त्रोंमें प्रवृत्त होनेपर भी जीव क्रमगः अन्यास करके अपने लिये परम अमीष आदिपद ( पश्चात् परमात्मा ) को प्राप्त कर लेता है। जैसे उकड़ीके लिये उष्टुत हुए भारवाहकको मणि प्राप्त हो गय, वैसे ही भोग-संश्लेषके लिये शास्त्रमें प्रवृत्त हुए मनुष्य भी निष्ठाम भावसे शास्त्रोक्त साधनोंका अनुष्ठान करके परमपदको प्राप्त कर लेते हैं। कोई-कोई यह सोचकर कि 'देखूँ तो शास्त्र और विवेक-विचारसे क्या लाभ होता है' यो सन्देहयुक्त कौतुकवश शास्त्रोंमें प्रवृत्त होता है। फिर तदनुकूल साधन करके उत्तम पदको प्राप्त कर लेता है। जिसे परमपश्चात् उत्तम सत्यका साक्षात्कार नहीं हुआ, वह पुरुष धन और मोगके लिये सन्देहपूर्वक शास्त्र आदिमें प्रवृत्त होता है ( जब उसे अमोह वस्तुकी प्राप्ति होनेसे शास्त्र आदिपर

श्रीरामचन्द्रजी बोले—परन्तु बहुँगी दोनेवाले कीरकोंको जैसे मणि मिल गयो, वैसे ही उन्हें भी और ही उकड़ा-फल ( मोह ) की प्राप्ति हो जाती है।

जो स्वामात्रसे ही निरन्तर परोपकार्ये लगा होता है, वह साधु कहा गया है। उसकी वेष्टा, उसका आचार-व्यवहार सबके लिये प्रमाण होता है। साधु पुरुषोंके सदाचारसे ग्रेरित होकर ही अज्ञानी जीव शास्त्रोक्त कर्ममें संदेह रहते हुए भी भोगप्राप्तिकी आशासे शास्त्र आदिमें प्रवृत्त होते हैं। भोगके लिये शास्त्रोक्त कर्ममें प्रवृत्त हुआ पुरुष उससे योग और मोक्ष दोनों प्राप्त कर लेता है, जैसे उकड़ीकी इच्छा रखनेवाले कीरकोंकी कनसे चिन्तामणि प्राप्त हो गयी थी। जिस प्रकार वनसे किसीको चन्दन काढ़, किसीको साधारण रन और किसीको चिन्तामणि मिल जाती है, उसी प्रकार शास्त्रसे कोई काम, कोई अर्थ, कोई धर्म, कोई धर्म-अर्थ-काम तीनों और कोई सम्पूर्ण मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। रथुनमदम्। शास्त्र आदिमें विवरण ( धर्म, अर्थ और काम ) का ही मुख्यरूपसे उपदेश है। प्रश्नकी प्राप्ति तो बाणीका विषय ही नहीं है। इसलिये ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रोंमें भी पद और वाक्योंकी मुख्य वृत्तिसे उसका निरूपण सम्भव नहीं हो सका है। जैसे वसन्त आदि अतुष्टुतियोंकी शोभा उनके लाये हुए छन्द, फल और पहलव आदिको उत्पत्तिसे सूचित होती हुई स्थै अपने अनुभवसे ही प्रतीत होती है, उसी प्रकार ब्रह्मकी प्राप्ति

शास्त्रके सम्पूर्ण वाक्यार्थोंसे अपल्लनाहृतिद्वारा अनित होनो हुई केवल अपने अनुभवसे ही जानी जाती है। जैसे सुन्दरी युक्तिमें मणि, दर्पण और चन्द्रमा आदि सबसे बढ़कर खच्छ छावण्य उपलब्ध होता है, ऐसे ही यथार्थ शास्त्रमें धर्म आदि तीनों वर्गोंसे उत्कृष्ट भ्रामकान विद्यमान है, तथापि समस्त पदोंसे परे जो परम बोध है, वह अश्रद्धालु भ्रामकों न तो शास्त्रसे, न गुरुके उपदेश-शाक्यसे, न दानसे और न ईश्वरके पूजनसे ही प्राप्त होता है। रुग्नन्दन ! ये शास्त्र आदि यथार्थ अश्रद्धालुको प्रह्लाद-प्राप्ति करनेमें कारण नहीं हैं, तथार्थ अश्रद्धालुको एकमात्र परमात्मामें विश्राम प्राप्त करनेके पूर्णतः कारण बन जाते हैं; कैसे ? सो बताया जाता है, सुनो। शास्त्रका बारबार अभ्यास करनेसे अश्रद्धालुको विचुद्ध हो जाता है, तब वह अनायास शीघ्र ही उस पावन परमपदका साक्षात्कार कर लेता है। सद-शास्त्रसे अविद्याका सार्विक भाग उभय बनाया जाता है और उस सार्विक भागसे इसका तामसिक भाग क्षीण हो जाता है। सद-शास्त्ररूपी उत्कृष्ट अद्वयसे अविद्यानवित मलको खोनेवाला पुरुष अचिन्त्य वस्तु-शक्तिके प्रमाणसे परम शुद्धिको प्राप्त कर लेता है। जैसे इसके रससे अपने ही अनुभवसे

खादिष माझुर्यकी उपलब्धि होती है, उसी प्रकार सद-शास्त्र और सदगुरुके उपदेशरूप उपायसे 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यार्थका साररूप आत्मज्ञान प्राप्त होता है। जैसे आकाशमें आलोकके सब और फैले रहनेपर भी प्रभा और दीवालके संगसे ही वह सुस्पष्टरूपसे अनुभवमें आता है, उसी प्रकार महावाक्यके अवण और उसके अधिकारी पुरुषके थोगसे ही आत्मज्ञानका अपरोक्ष अनुभव होता है। वही शाश्वतशरण सफल है, जिससे ज्ञान प्राप्त होता है, वही ज्ञान सफल है, जिससे समता प्राप्त होती है और वही समता सफल है, जिसके जाग्रत् होनेपर जाग्रत्में भी सुशुस्त्रिकी भौति परमात्माके स्वरूपमें निर्विकल्प स्थिति हो जाती है। इस प्रकार यह सब कुछ सद-शास्त्र एवं सदगुरुके उपदेश आदिसे प्राप्त हो जाता है। इसलिये पूरा प्रथम करके सद-शास्त्र आदिका अभ्यास करना चाहिये। श्रीराम ! शास्त्रोंके अर्थका विचार करनेसे, गुरुजनोंके उपदेश-शाक्यसे, सरसंगसे, शीच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-शारण—इन नियमोंके पालनसे और मन एवं इन्द्रियोंको ब्रह्ममें करनेसे वह सम्पूर्ण विशेषदसे अतीत, सर्वेश्वर, सबका आदि, अनादि एवं समिदानन्दमय परमपद प्राप्त होता है।\*

( सर्ग १९७ )

### श्रीवसिष्ठजीके द्वारा समर्पण एवं समर्दर्शिताकी घूर्ण-भूरि प्रशंसा

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रुकुलतिलक राम। बोधकी द्व्यताके लिये मैं पुनः कुल बातें बता रहा हूँ, सुनो। जो बात बार-बार कही जाती है, वह अहानीके द्वयमें निश्चय ही दैठ जाती है। रुग्नन्दन ! पहले मैंने स्थिति-प्रकरणका वर्णन किया था, जिससे यह बात भलीभौति समझमें आ जाती है कि इस प्रकार उत्पन्न हुआ जगद् केवल भ्रमपात्र है। तत्पर्यात् उपशमकी युक्तियोद्वारा यह बात बतायी गयी

थी कि इस जगद्में उत्पन्न हुए प्रत्येक पुरुषको उत्कृष्ट उपशमके गुणसे गौरवजाली होना चाहिये। उपशम प्रकरणमें कहे गये उपशमके क्रमिक साधनोंद्वारा मनुष्यका अत्यन्त उपशान्त होकर वहाँ संकापरहित हो जाना चाहिये। जिसने प्राप्तम्य वस्तुको प्राप्त कर लिया है, उस तत्त्वज्ञानीको सांसारिक अवहारोंमें कैसे रहना चाहिये, यह थोड़ी-सी बात मेरे मुँहसे तुम्हें और मुननी है। जगत्में जन्म पाकर

\* शास्त्रार्थमावनवशेन गिरा गुरुर्वा सदस्त्रेन नियमेन शमेन राम।  
स्वाध्यते सकलविशेषदादीर्तं तर्वेश्वरं परममात्रमनादिशर्म ॥

( निं० ३० १९७ । ३४ )

मनुष्यको वाल्यावस्थामें ही जगत्की इस घास्तविक स्थिति-  
ज्ञ ज्ञान प्राप्त करके यहाँ विन्तारहित होकर रहना चाहिये ।  
निष्ठाप श्रीराम ! जो सबके साथ सौहार्द ( मैत्री ) को  
जन्म देनेवाली है और सबको आस्थासन प्रदान करती  
है, उस समताका पूर्णखल्पसे अध्रय लेकर संसारमें विचरण  
करना चाहिये । समताखण्डिणी सुन्दर छाका फल परम  
पनित्र होता है, जो समूर्ण साधन-सम्पत्तियोंसे युक्त  
होनेके कारण सुन्दर तथा समप्र सौभाग्यकी बृहि करने-  
वाला है । रघुनन्दन ! जिनकी समप्र चेष्टायें समताके  
कारण सुन्दर होती हैं तथा जो न्यायसे प्राप्त वर्णाश्रम  
ध्यवहारमें लगे रहते हैं, उन महापुरुषोंकी सेवामें यह  
सारी सांसारिक विमूर्ति सेविकाओं भौति उपस्थित हो  
जाती है । समतासे जो सारभूत अध्रय सुख प्राप्त होता  
है, वह न तो राज्यसे मिल सकता है और न प्रेयती  
जनोंके समागमसे ही सुखभ हो सकता है । राघवेन्द्र ! तुम  
समताको समूर्ण हृद्दोकी शान्तिकी चरम सीमा, रोबावेश  
तथा संशयखणी रोगका नाश करनेवाली और समूर्ण  
दुःखखणी आत्प ( धूप ) के तापसे बचानेके लिये मेघ  
समझो । जो समनाखणी अमृतसे शोत्रप्रोत है, उसके लिये  
सारे शत्रु भित्र बन जाते हैं । वह यथार्थदर्शी होता है  
ऐसा भनुय तीनों भोक्तोंमें दूर्लभ है । प्रबुद्ध हुए अपने  
वित्तखणी चन्द्रमाके सारभूत अमृतसे भी बड़े-बड़े साम्यका  
अनुपत्र करते हुए ही जनक आदि समस्त तत्त्वज्ञ जीवन  
निर्वाह करते हैं । संगताका अन्यास करनेवाले जीवका  
क्रोध, लोम आदि अपना दोष भी शान्ति एवं उदारताके  
खूपमें परिणत होकर गुण बन जाता है, दुःख भी नित्य-  
सुख हो जाता है और शुशु जीवन बन जाती है ।

समताखणी सौन्दर्यसे सुन्दर लगनेवाले महात्मा-  
पुरुषको योगशास्त्रवर्णित सुखी, दुखी, पुण्यात्मा और  
पापात्माके प्रति क्रमसे मैत्री, करुणा, सुदिता और  
उपेक्षाखण्डिणी भहिलायें सदा गले लगती हैं । उसके  
प्रति वे आसक्त-सी रहती हैं । समतासे युक्त पुरुष सदा

अभ्युदयशील होता है । समतायुक्त पुरुषके चिरमें कभी  
विन्ताका उदय नहीं होता तथा इस जगत्में ऐसी कोई  
सम्पत्तियों नहीं हैं, जो समनासम्पन्न पुरुषकों प्राप्त न हुई  
हैं । जो अपने और पराये सभीके कार्योंमें समग्र रूपेवा-  
ला है, साधुत्वमात्र (अपराधियोंको भी क्षमा करनेवाला)  
है, जिसका सबके प्रति उत्तम व्यवहार है तथा जो  
विन्तामणिके समान उदार है, ऐसे पुरुषको मनुष्य और  
देवता सभी चाहते हैं । श्रीराम ! जो सदाचारसम्पन्न  
और सबका हित करनेवाला है, अत्यन्त ग्रसन्न गृह्णता है  
तथा जिसका चित्त सबके प्रति समान है, ऐसे मनुष्यको  
न तो आग जलाती है और न जल ही डुबाना या गलाता  
है । जो पुरुष आनन्द और उद्गोरसे रहित होकर जो  
कार्य जैसे होता चाहिये, उसे उभी तरह करता है तथा  
सबको समान दृष्टिसे देखता है, उसकी तुलना करनेमें  
कौन समर्थ हो सकता है ? सदाचारसम्पन्न और सबका  
हित करनेवाले तत्त्वज्ञ पुरुषपर भित्र, बन्धु, शत्रु, राजा,  
ध्यवहारपरायण मनुष्य तथा बदेन्द्रे बुद्धिमान् लोग भी  
विश्वास करते हैं । तत्त्वज्ञानसम्पन्न समदर्शी पुरुष अपने  
न्यायप्राप्त स्वाभाविक कर्मकी परम्पराओंमें लगे हुए न तो  
अनिष्टकी ग्रासिसे भगाते हैं और न इष्टकी वासिसे सन्तुष्ट होते  
हैं । समतासे प्रसन्नवित्तवाले महात्मा पुरुष समस्त देवताओं-  
द्वारा पूजे जाते हैं । समदर्शी पुरुष जो कुछ करता है,  
जो भोजन करता है, न्यायप्राप्त होनेसे जिमपर आक्रमण  
करता है और अनुष्ठित जानकर जिसकी निन्दा  
करता है, उसके उन सब कार्योंकी सारी जनता सदा  
प्रशंसा करती है । समदर्शी पुरुषद्वारा किया गया कार्य  
ज्ञान दिखायी देया अशुभ, देवसे पूरा हुआ हो या आज ही  
लकाल हो गया हो, उसे सब लोग उत्तम मानकर  
उसका अभिनन्दन करते हैं ।

छातारबदे भयानक सुख-दुःख उपस्थित होनो भी  
समदर्शीपुरुष उनसे योड़ा-सा भी बहिर्भ नहीं होते हैं ।  
राजा शिविने अपनी इस समदर्शिताके ही कारण शरणमें

आये हुए कवृतरकी रक्षाके लिये प्रसन्नचित्तसे अपना शरीर काटकर निकाला हुआ मांस दे दिया था। प्रिय रुद्रनन्दन। समनायुक्त हृदयवाले एक भूपाल (शिखिष्वज) प्राणोंसे भी बढ़कर प्रियतमा मार्याको अपने सामने ही परपुरुषके हारा आक्रान्त हुई देख सुन्न नहीं हुए थे। त्रिगत देशके राजाने सैकड़ों मनोरथोंसे ग्रास हुए हकलैते पुत्रको, जो दावमें हारा गया था, अपनी समदुद्धिके ही कारण विना किसी घबराहटके राक्षसके हाथमें सौंप दिया। राजाओंमें श्रेष्ठ भूपाल जनक उत्सवके लिये सजायी गयी अपनी मिथिलानगरीमें आग लग आनेपर समग्रावसे ही उसे देखते रहे (उनके मनमें विषाद नहीं हुआ)। समदशी शालवराजने न्यायतः वेचे गये अपने ही मस्तकको कमलदलकी भाँति तत्काल काट डाला था। सौंधीरनरेशने कुन्दपुर्योंको राशिके समान कान्तिमान् तथा इतेतर्पर्वतके समान सुशोभित ऐराथन हाथीको, जो उन्होंने इन्हसे जीता था, यद्यमें शूष्टिजोंके काफ़नेसे सूखे तिनके भी भाँति त्याग दिया—इन्हको वापस लौटा दिया। ऐसा उन्होंने अपनी समतायुक्त बुद्धिसे ही प्रेरित होकर किया था। समदुद्धिसे ही अपनी जीविकाके लिये काम-धधा करनेवाले कुण्डप नामक एक चाण्डालने एक गौको मजदूरीमें लेनेकी शर्त ठहराकर एक आशाणकी पौँच गौओंको, जो कीचड़में फैस गयी थीं, निकाला और मजदूरीमें मिली हुई उस एक गायको पुष्करतीर्थमें उसी ब्राह्मणके हाथोंमें दान कर दिया था। इससे तत्काल आये हुए विमानपर चढ़कर

वह देवलोकको चला गया। समताका भरपूर अन्यास करनेवाले कठम्बवनवासी एक राक्षसने सप्रस्त प्राणियोंका विनाश करनेशब्दी अपनी राक्षसी शृणिका ल्लाग कर दिया। बालबन्दमाके समान सुन्दर जडभरतने अपनी समदुद्धिताके कारण हीमिकामें मिले हुए आगके अङ्गांगोंके गुदके लड्हकी भाँति खा लिया था। अृषि-मुनि और सिद्ध, जो देवताओंहारा सम्मानित हुए हैं, वे ग्रन्थ एवं तपस्याकी समुद्धिका संक्षय करते समय समदर्शितावें ही कारण उद्धिग्न नहीं हुए थे। रन्तिदेव आदि राजा एवं धर्मज्याध आदि दूसरे साधारण मनुष्य भी समदर्शिताका इड़ अन्यास करनेसे महापुरुषोंके भी पूजनीय हो गये थे। इहलोक और परलोकमें सुखकी सिद्धिके लिये और मोक्षरूप पुरुषार्थमें प्रवृत्तिके लिये भी उत्तम बुद्धिशले पुरुष सदा समदर्शितासे ही व्यवहार करते हैं। किसी-को भी किसी तरहकी पीड़ा न देता हुआ पुरुष न मरणकी हृष्णा करे न जीवनकी। न्यायसे जो कर्तव्य प्राप्त हो जाय, उसका समतापूर्वक आचरण करता हुआ विचरे। जो समतावश गुण और दोषोंको एक-सा जानता है, जिसकी दृष्टिमें सुख-दुःख और छोटे-बड़े समान हैं, जो मान और अपमानको एक-सा समानता है और प्राप्त व्यवहारोंका भी सुषारुपसे सम्बादन करके पवित्र हो गया है। समनासे सुशोभित होनेवाला वह पुरुष सर्वत्र निर्वन्द्रम वसे विचरण करता है।

( सर्ग १९८ )

### कर्मोंके त्याग और ग्रहणसे कोई प्रयोजन न रखते हुए भी जीवन्मुक्त पुरुषोंकी स्वभावतः सत्कर्मोंमें ही प्रशुतिका प्रतिपादन

श्रीरामने पूछा—मुझे । जीवन्मुक्त पुरुष सदा एकमात्र ज्ञानमें ही स्थित रहते और आत्मामें ही रमते हैं। ऐसी दशामें वे कर्मोंका परिणाम क्यों नहीं कर देते हैं? क्योंकि उन्हें कर्मसे कोई प्रयोजन नहीं है।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रुद्रनन्दन! जिसकी है दृष्टि और उपादेय रहि अर्थात् अमुक कर्म त्याग है और

अकर्म प्राप्त है—ये दोनों दृष्टियाँ क्षीण हो गयी हैं, उसे कर्मका त्याग करनेसे क्या प्रयोजन है? अथेवा कर्मका आश्रय लेनेकी भी क्या आवश्यकता है? ज्ञानीके लिये इस जगतमें कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जो उद्देश्यकारक दृग्नेके कारण त्याग्य हो बथवा ऐसा कर्म भी नहीं है, जो तत्त्वज्ञके लिये अवश्य करने योग्य नहीं होता। तत्त्वज्ञ

पुरुषको न तो कर्मोंके स्थानसे कोई प्रयोजन है और न कर्मों-का आश्रय लेनेसे । इसलिये वर्ण और आश्रमके अनुसार वो कर्म जैसे होता आ रहा है, उसे वह उसी प्रकार करता रहता है । श्रीराम । ब्रह्मतक आयु है, तबतक यह शरीर निष्ठितरूपसे चेष्टा करता रहता है, अतः वह शान्तप्राप्तसे यथाप्राप्त चेष्टा करे । उसका ध्यान करनेकी क्या आवश्यकता है ? श्रीराम । सदा निर्विकार खनेवाली समायुक्त निर्मल शुद्धिसे जो कर्म जैसे किया जाता है, वह सदा निर्दोष ही होता है ।

इस भूतलपर कितने ही गृहस्य जीवन्मुक्त हैं, जो असंग शुद्धिसे यथाप्राप्त नर्णाश्रम-र्थमंडका अनुसरण करते हैं । उनके सिवा दूसरे राजा जनक-जैसे तत्त्वज्ञ राजर्भि तथा अन्य वीतराग पुरुष भी हैं, जो अनासुकचित एवं चिन्तारहित होकर मुम्हारे सदृश राज्य करते हैं । कुछ लोग वर्ष और आश्रमके अनुसार प्राप्त वेदोक्त व्यवहारका अनुसरण करते हुए सदा अग्निहोत्रमें लगे रहते हैं और पञ्च-महायज्ञोंसे अवशिष्ट अमृतमय अमरका भोजन करते हैं । चारों धर्णोंमेंसे कुछ लोग सदा ध्यान और देव-पूजन आदि स्वर्कर्मका अनुष्ठान करते हुए नाना प्रकारकी चेष्टाओं एवं प्रयत्नोंमें लगे रहते हैं । कुछ महान् आश्रयनाले महापुरुष अपने अन्तःकरणमें सम्पूर्ण फलोंकी आसक्तियोक्ता ध्यानकर सब प्रकारके नित्य-नैमित्तिक कर्म करते हुए तत्त्वज्ञानी होकर भी अज्ञानीकी भोगि स्थित रहते हैं । कुछ लोग उन सूनी बनस्थलियोंमें ध्यान लगाते हैं, जहाँ सपनेमें भी भनुओंके दर्शन नहीं होते और भोले-भाले भृगछाँने भरे रहते हैं । कुछ लोग उन पुण्यतीर्थों, आश्रमों या देशाल्योंमें रहते हैं, जो पुण्यकी शुद्धि करनेवाले हैं, जहाँ सदा पुण्यात्मा पुरुष निवास करते हैं तथा जहाँका सदाचार भग और इन्द्रियोंके निप्रहसे सुशोभित होता है । कुछ समता-पूर्ण छट्यवाले पुरुष राग-द्वेषका परियोग करनेके लिये शहु-निशेंसे भरे हुए अपने देशको छोड़कर अन्य देशमें चले जाते और वहाँ आश्रम बनाकर रहने लगते हैं ।

कितने ही विद्वान् संसार-बन्धनका उच्छेद करनेके लिये एक बनसे दूसरे बनमें, एक गौवसे दूसरे गौवमें, एक स्थानसे दूसरे स्थानमें तथा एक पर्वतसे दूसरे पर्वतपर धूमते फिरते हैं । महापुरी वाराणसीमें, परम यावत तीर्थराज प्रयागमें, श्रीपर्वतपर, सिद्धपुरमें, बदरिकाश्रममें, परम-पुण्यमय शालग्राम तीर्थमें, कल्पप्राप्तकी गुफामें, पुण्यमयी मधुरापुरीमें, कालझार पर्वतपर, महेन्द्र बनकी झाडियोंमें, गन्धमादन पर्वतके शिखरोंपर, दर्दुर पर्वतकी छोटियोंपर, सदा गिरिके भूमाणोंमें, विन्ध्यगिरिके कछुरोंमें, मलय पर्वतके मध्यमाणमें, कैलासके बनसमूहोंमें तथा ऋक्षशान् पर्वतकी गुफाओंमें—इन सबमें, अन्य पर्वतोंपर एवं अन्यान्य धर्मों और आश्रमोंमें अनेक बहुदर्शी तपसी रहते हैं । इनमेंसे कुछ लोगोंने विविधरूप संन्यास लेकर अपने पूर्व-आश्रमके कर्मोंका ध्यान कर दिया है । कोई कमशः ब्रह्मचर्य आदि आश्रमोंमें स्थित है । किंतुकी शुद्धि तत्त्व-ज्ञानसे प्रबुद्ध है और कितने ही नित्य उन्मत्तों-सी चेष्टा करते हैं । कोई त्वदेशसे दूर चले गये हैं । कितने ही अपना धरन्दार छोड़ चुके हैं । कुछ लोग एक ही सानपर प्रसन्नतापूर्वक रहते हैं और कुछ लोग रमते राम होकर भ्रमण करते हैं । महामते । आकाश और पातालमें निवास करनेवाले इन देवता, दैत्य आदि महापुरुषोंमेंसे किंतुकी शुद्धि प्रबुद्ध होती है, वे लोक-भूतस्यके शाता, सम्यू ज्ञानसे निर्मल तथा निर्गुण-सरुण तत्त्वका साक्षात्कार किये होते हैं । कुछ लोगोंकी शुद्धि सर्वथा प्रबुद्ध नहीं होती है, इसलिये उनका वित्त संशयके छालेमें छुलता रहता है । वे पापाचारसे निवृत्त होकर समुद्रोंका अनुसरण करते हैं । कुछ लोगोंकी शुद्धि आधी प्रबुद्ध होती है, वे ज्ञानके अमिमानमें आकर शाश्वीक कर्म और आचारको ध्यान देते हैं और लोक-परलोक दोनोंसे भट्ट हो जाते हैं ।

श्रीराम । इस प्रकार इस जनसमुदायमें जन्म-मरणरूप संसारसे छुटकारा पानेकी इच्छावाले बहुत-से लोग नहा-

प्रकारसे व्यवहार करते हुए स्थित हैं। उनकी दृष्टियों वहुविध प्रारम्भ-मोगके अनुकूल होती हैं। संसार-सागरसे पार होनेमें न तो बनश्चास कारण है, न अपने देशमें ही रहना कारण है और न कछुआध्य तपत्वा ही कारण है। कर्मका परियाग करना अथवा कर्मोंका आश्रय लेना भी संसारकी निवृत्तिमें कारण नहीं है। सत्कर्मोंके आचरणोंसे जो स्वातिलाभ और ऐश्वर्य आदि विचित्र फलस्मृ॒ह प्राप्त होते हैं, वे भी संसार-वन्धनसे छुटकारा दिलानेमें कारण नहीं हैं। संसार-सागरसे उद्धार पानेके लिये तो एकमात्र अपने वास्तविक खरूपमें स्थिति ही कारण है। जिसका मन कहीं भी आसक्त नहीं है, वह भवसागरसे पार हो जाता है। जिसका मन आसक्तिसे रहित है, वह मुनि नित्य शुभ कर्मोंका अनुष्ठान और अशुभ कर्मोंका त्याग करता हुआ फिर संसार-वन्धनमें नहीं आता। जिसकी शुद्धि खोटी—विषयोंमें आसक्त है, जिसने अपने मनको विषयोंमें खुला छोड़ रखा है, वह शठ संसार-समुद्रमें हूँचता ही है। जिसकी शुद्धिने विषयोंमें रसानुभव किया है, उसकी वह शुद्धि हुःख्यपर हुःख देनेवाली है। शहदके घड़ेमें शुसी हुई मक्खीकी तरह उसे न तो कहोसे हटाया जा सकता है और न मारा ही जा सकता है। कार्कतालीय संयोगसे कदाचित् मोक्षकी सिद्धिके लिये अपने चित्तकी स्थर्य ही परमत्पराक्षात्कारकी ओर प्रवृत्ति हो जाती है।

परमात्माका साक्षात्कार होनेपर तत्त्वकी उपलब्धि करके निर्भृत्वाको प्राप्त हुआ चित्त निर्दृढ़, अनासक्त एवं निर्विकार ब्रह्म ही हो जाता है।

**महात्मन् ! रघुनन्दन !** तुम स्वभावसे ही परमार्थ-स्वरूप और राग आदि दोषसे रहित हो। तुम्हारी शुद्धि सम है। तुम्हारा स्वरूपानुभव नित्य उदित है। तुम महात्मा हो। अतः शोक और शङ्खासे रहित एकाकी रहो। जन्म और मरणसे मुक्त जो पावन परमपद है, वह तुम्हाँ ही है। विशुद्ध चिन्मय ब्रह्मरूप जगतमें प्रकृति, मल, विकार, उपाधि, उपाधिका वौध आदि कहीं किञ्चिन्मात्र भी नहीं हैं। सुस्पष्टरूपसे नित्य चैतन्यनाम ब्रह्म ही विराज रहा है। ‘वह ब्रह्म मैं ही हूँ’ ऐसा समझकर निःशङ्खभावसे एकाकी रहो।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज ! जब मुनीस्वर वासिष्ठजी ऐसा उपदेश दे चुके, तब उस समाके सभी सदस्य समस्त एपगाथोंसे रहित और ध्यानमें एकाग्र हो अपनी निर्मल शुद्धिके द्वारा ब्रह्मपदको प्राप्त हो गये। साथ ही वे मुनि भी मौन हो ब्रह्मानन्दके सहज अपरोक्ष अनुभूतिमें प्रवृत्त हो गये। ढीक उसीतरह, जैसे कमलोंकी राशिमें गुनगुनाता हुआ भ्रमर चुप होकर मक्खनदका पान करने लगा हो। ( सर्ग १९९ )

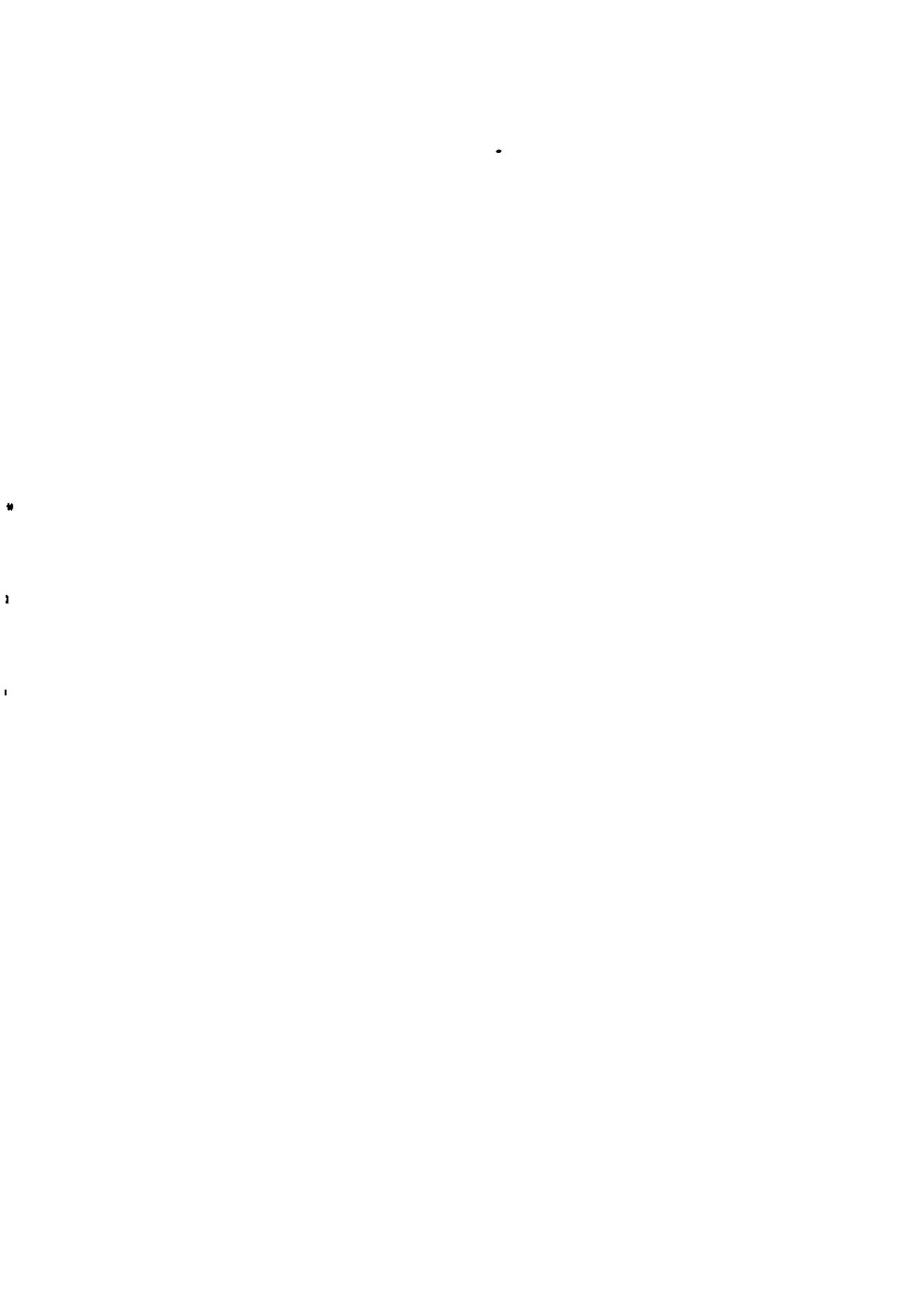
**सिद्धों और सभासदोंद्वारा श्रीवसिष्ठजीको साधुवाद, देव-दुन्दुभियोंका नाद, दिव्य पुष्पोंकी वर्षा, गुरुपूजनमहोत्सव, श्रीदशरथजी और श्रीरामजीके द्वारा गुरुदेवका सत्कार, सम्भों और सिद्धोंद्वारा पुनः श्रीवसिष्ठजीकी स्तुति**

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज ! निर्विणसम्बन्धी वाक्यसंदर्भ ( उपदेश ) की समाप्ति होनेपर मुनीस्वर वासिष्ठजीने जब क्रमः प्राप्त हुए अन्तिम वाक्यका विराम कर दिया, जब समस्त सभासद् तथा आकाशचारी देवना भी मुनिके वचनोंके शक्तिसे शान्त एवं विशुद्ध मनोवृत्तिसे शुक्त होकर निर्विकल्प समाधिके समान

ग्रहोकरसताको प्राप्त हो गये तथा जब शालडानसे सुशोभित होनेवाले उन सब लोगोंका अन्तरात्मा सत्त्वकी परकाष्ठाको पहुँचकर परम पावन हो गया, तब गगनगुफामें थास करनेवाले सिद्धोंके मुखसे शीत्र ही ऐसा साधुवाद निकला, जो आकाशमें गैंज उठा। इसी तरह सभामें बैठे हुए मानितात्मा मुनि विश्वामित्र आदिके द्वारा



गन्धर्वों और विद्याधरियों के द्वारा भोगोका प्रलोभन देनेपर भी उद्घारकका उनकी ओर ध्यान न देना  
(उपशम-प्रकरण सर्ग ५४)



उच्चतरसे दिये गये साधुवादकी खनि भी वहाँ गैँडने लगी। इन सबसे ऐसा महान् कोलाहल प्रकट हुआ, जिसने समूर्ण दिशाओंको भर दिया। वह कोलाहल वायुप्रसिति छिद्रबाले कीचकोकी मुरली-जैसी अनिके समान मधुर था। सिद्धोंके साधुवादके साथ ही देवताओंकी दुन्दुभियों भी बजने लगी, जिनकी प्रतिव्यनिसे समला पर्वत व्याप्त हो गये। देवताओंकी दुन्दुभियोंके बजनेके साथ ही दिशाओंकी ओरसे फूलोंकी वर्षा होने लगी, जो हिमकी धाराधिक वृष्टिके समान मनोहर जान पड़ती थी। उसने समूर्ण दिव्यमण्डलको आच्छादित कर दिया। साधुवादके शब्दोंके साथ देवताओंकी अनि तथा पुष्पवृष्टिके घोषका वह मिलित शब्द-समुदाय वहाँ बड़ी शोभा पाने लगा। सारा भुवन भारी कोलाहलसे भरकर अद्भुत शोभा पाने लगा। उससबसे मतवाल हो उठा। देवताओं और चारणोंसे भर गया तथा भौति-भौतिके फूलोंसे अलकुत होकर राजमन्दिरके समान ही शोभा पाने लगा। धीरेन्द्रीरे दुन्दुभियोंकी तुमुल व्यनि, सिद्धसमूहोंके साधुवादजनित कोलाहल और पुष्पराशियों एक साथ ही बुलोक और भूलोकों अन्तरालमें उसी तरह फैलने लगी, जैसे सागरमें उठी हुई उचाल तरह तटवर्ती पर्वतके पास पहुँच जाता है। देवताओंका वह कोलाहलपूर्ण समारम्भ जब क्षणभरमें शान्त हो गया, तब सिद्धोंके ये वचन कानोंमें सुनायी देने लगे।

**सिद्ध बोले—** कल्पपर्यन्त सिद्धपुरुषोंकी अनेकानेक समाधोंमें भोक्तुके उपायोंकी सहजों बार व्यास्थाएँ हुई थीं और सुनी गयीं, परंतु उनमें जो भोक्तुके उपाय बताये गये, वे कोई भी ऐसे नहीं थे। मुनिके इस वाक्य विभाससे—  
इस महारामायणके श्रद्धाप्रेमपूर्वक श्रवणसे तिर्यग्योनिके जीव, कियों, बालक और सर्प भी परमानन्दको प्राप्त हुए हैं, इसमें संशय नहीं है। श्रीवसिष्ठजीने नाना ग्राकारके द्वार्णतों, देवताओं और युक्तियोंद्वारा जैसे श्रीरामचन्द्रजीके प्रति परमाल्प तत्त्वके ज्ञानका वर्णन किया है, कैसे ये साक्षात् अपनी

धर्मपली अरुन्धतीजीके प्रति भी करते हैं या नहीं, इसमें संशय है। मुनिवर्णित मोक्ष-उपायके अनुष्ठानसे तिर्यग्योनिके जीव भी दुःखशोकसे मुक्त हो गये हैं। पिर इस भूतलयर कौन-से ऐसे मनुष्य हैं, जो इसके अनुष्ठानसे मुक्त न होंगे। हम छोग अपने कानोंकी अङ्गालिसे इस ज्ञानामृतका पान करके परम उल्कृष्ण श्री-श्रीको प्राप्त हुए हैं। हमारी सिद्धियों पूर्ण तथा नवीन हो गयी हैं।

सिद्धोंकी इस वात्सी बुनरे हुए वहाँके लोगोंने आशयसे चकितनेव छोकर देखा कि समाजी भूमि कमल, पारिशह, पारिजात, संतानक और हरिचन्द्रम आदि फूलोंकी धाराधाहिक वपसि भर गयी है। फूलोंके मारसे वहाँका विशाल चैंदोबा इस तरह लटक रहा था, मानो जड़से मरा हुआ बादल नीचे हुक आया है। इस प्रकार उस समाजी अद्वैत शोभाका दर्शन करते हुए समासदोने उस समयके अनुरूप भूरि-भूरि प्रशंसापूर्ण साधुवाद देकर सर्वथा उथत हो समूर्ण इन्द्रियोंके द्वारा साधारण प्रणाम करके नपस्तायुक दुस्तुमाङ्गलिसे वसिष्ठजीका पूजन किया। सभामें आये हुए राजाओंकी प्रणामपरम्परा जब सुछ शान्त हुई, तब हाथमें अर्धपात्र लेकर राजा दशरथने मुनिकी पूजा करते हुए कहा—

**राजा दशरथ बोले—** अरुन्धतीनाय। गुरुदेव। आपके सद्गुप्तेशसे ग्रात हुए बोधसरूप, ध्य-द्विद्विहित, सर्वोल्कृष्ट निरतिशयानन्दमय आत्मवस्तुसे मेरे भीतर परम पूर्णता प्रकट हो गयी है। श्रमन्। इस भूतलयर तथा स्वामिं देवताओंके यहाँ भी ऐसी कोई महापूर्ण वस्तु नहीं है, जो आप धूष्य महापुरुषको कभी पूजनके रूपमें ग्राप्त न हुई हो, तथापि मैं अपने लिये अवश्यकर्तव्य इस गुरुशननकी विधिको सफल बनानेके लिये अवसरके अनुरूप कुछ ग्रार्थना करता हूँ। आप क्षमा करेंगे। मैं पलियोंसहित अपने इस शरीरसे, लौकिक और पारलौकिक सुखके लिये संचित किये गये शुभ कर्मसे

तथा समस्त भूम्यों और सामन्तों सहित इस विशाल राज्यसे आपकी पूजा करना है । प्रभो ! ये सारी वस्तुएँ निजी आश्रमकी भौति ही आपके अधीन हैं । आप अपनी अभीष्ट इच्छाके अनुसार मुझे अपनी आशाके पालनमें नियुक्त करें ।

श्रीकृष्णजीने कहा—भूपाल । हम ब्राह्मणलोग प्रणाममात्रसे ही सतुर्ज हैं । केवल प्रणामसे ही हम प्रसन्न हो जाते हैं । वह प्रणाम आपने किया ही है । राज्यका पालन करना आप ही जानते हैं, यह आपको ही शोभा देता है । अतः यह सब राज्य यहाँ आपके ही अधिकारमें रहे । ब्राह्मण कहाँ भूमण्डलके पालनका भार उठाते हैं ।

राजा दशरथ बोले—मुने ! आपके इस गौरवपूर्ण उपदेशके सामने यह राज्य है ही कितना । इस तुच्छ वस्तुओं अर्पित करते हुए हम विशेष उल्लिखित हो रहे हैं । अतः मगवन् । आप जैसा उचित समझे वही करें ।

श्रीवार्णीकिंजी कहते हैं—भरद्वाज ! जब महाराज दशरथ इस प्रकार कह चुके, तब श्रीराम उन महागुरुके चरणारविन्दोंमें पुष्पाङ्गलि अर्पित करनेके लिये उनके सामने खड़े हुए और नतमस्तक होकर बोले—‘असन् ।’ आपने महाराजको निश्चर कर दिया है । प्रभो ! मेरे पास तो प्रणामके सिवा दूसरी कोई सार वस्तु है ही नहीं । अतः मैं यही लेकर आपके इन दोनों चरणोंकी बन्दना करता हूँ ये कहकर श्रीरामने गुरुके चरणोंमें मस्तक रखकर बन्दना की और अपनी अङ्गलिके शूल उसी प्रकार चढ़ाये, जैसे वन पर्वतके चरणप्रान्तमें अपने पल्लवोंसे ओसके कण समर्पित करता है । उस समय उनके दोनों नेत्र आनन्दके अँसुओंसे भरे हुए थे । व्यवहारनीतिके ज्ञाता खुचीरने वही भक्तिके साथ गुरुदेवको वारंवार प्रणाम किया । शत्रुघ्न, अस्मण तथा उन्हींकी तुलनामें आनेवाले जो श्रीरामके दूसरे-दूसरे सखा निकट खड़े थे,

उन सबने भी उन्हींकी भौति दीक्षितापूर्वक उन मूनीश्वरको प्रणाम किया । दूर खडे हुए राजाओं, राजकुमारों और मुनियोंने दूसरे ही पुष्पाङ्गलि समर्पण एवं प्रणाम करते हुए बसिष्ठजीकी बन्दना की । उस अवसरपर वहाँ की गयी पुष्पाङ्गलियोंकी वपसि आङ्गादित मुनिवर बसिष्ठजी उसी तरह दिखायी नहीं देते थे, जैसे हिमकी कृष्णिसे आच्छन्न हो गिरिराज हिमालय दिखायी नहीं देता है ।

जब दिशोंकी बातें बंद हुईं, नगार्दोकी गड़गड़ाहट शान्त हुई, आकाशसे शूलोंकी कर्पा यम गयी और समाक्र बोलाहल कम हो गया तथा प्रणाम करनेके अनन्तर श्रीराम आदिके साथ पूजा करनेवाले समासद् जब शान्त वायुवाले भेषकी भौति सौम्यभावको प्राप्त हो गये, तब सबका साक्षात् सुनते हुए अनिन्द्यात्मा मुनिनायक बसिष्ठ विश्वामित्र आदिको सम्मोहित करके मधुर वाणीमें बोले—‘शाधिकुल्कमल मुनिवर विश्वामित्र, वामदेव, निमि, कल्प, भरद्वाज, पुलस्त्य, अत्रि, धृष्टि, नारद, शार्णिलि, भास, मृग, भारण्ड, वल्स और वाल्स्यायन आदि मुनियो ! आपलोंगेने जो मेरा यह तुच्छ भापण सुना है, इसमें जो कोई बात स्पष्ट नहीं कही गयी हो, दूषित अर्थसे युक्त हो अथवा निरर्थक हो, उसे इस समय कृपा करके आप मुझे बतावें ।’

समाप्त बोले—‘अहमन् ।’ एकमात्र परमार्थ-तत्त्वसे सुशोभित होनेवाले आपके बचनमें कोई दूषित या अनुचित अर्थ होगा, यह आज नयी ही बात हमारे सुननेमें आयी है । अनन्त जन्मदोषसे हमारा जो पाप या मल संचित या, उसे आपने आज यहाँ उसी तरह धो ढाला है, जैसे आकाशमें फैली हुई शीतल चन्द्रमाकी दीप्तिसे कुमुद विकसित होते हैं, उसी तरह पञ्चाङ्गकी व्याख्या करनेवाली और परमानन्दमयी शीतल आपकी वाणीद्वारा हम सब लोग विकासको प्राप्त हुए हैं । समस्त प्राणियोंको महान् बोध प्रदान करनेवाले, एकमात्र गुरु आप मुनिनायकको ये हम सब लोग प्रणाम करते हैं ।

श्रीबाल्मीकिजी कहते हैं—तदनन्तर उन सबने पुनः भैषजीर्ण गर्जनाके समान गम्भीर तथा ऊँची आवाजमें एक साथ ‘आप मुनिनाथको नमस्कार है’ यह कहकर आकाशसे सिद्धोद्वारा छोड़े गये नवीन पुष्याङ्गलि-समूहोंसे विस्तृजीको उसी तरह आच्छादित कर दिया, जैसे बादल हिमकी वर्षासे पर्कतको ढक देते हैं। इसी प्रकार रघुनाथ-जीके अवतारका वृत्तान्त जाननेवाले उन सिद्धोंने राजा दशरथकी तथा चार स्वरूपोंमें प्रकट हुए लक्ष्मीपति नारायणके अवतार श्रीरामकी भी प्रशंसा की।

सिद्ध घोले—हमल्लोग चार स्वरूपोंमें प्रकट हुए भाईयोंसहित नियमुक्त राजकुमार श्रीरामको, जो इसरे नारायणके समान विराज रहे हैं, नमस्कार करते हैं। चारों समुद्र जिसके लिये खाईके समान हैं, उस सम्पूर्ण भूमण्डलके पालक तथा भूत, भविष्यत् और वर्तमानकालमें भी कभी नष्ट न होनेवाले राजविहोंसे द्वयोभित महाराज दशरथको भी हम सिर हुकारे हैं। मुनिसेनाके सामी,

भूमण्डलके पालक, भगवान् मास्तकके समान भूरि तेजस्वी एवं उत्तम यशसे सम्पन्न मुनिवर वसिष्ठको तथा तपोनिविविश्वामित्रको भी हम प्रणाम करते हैं; क्योंकि इन्हींके प्रभावसे हम सबने आन्तिके विद्वारको मगानेवाली इस परम उत्तम ज्ञानयुक्तिको सुना है।

श्रीबाल्मीकिजी कहते हैं—ऐसा कहकर आकाशसे सिद्धोंने पुनः फ़लोंकी वर्षा की और प्रसन्नवित्त होकर पुनः त्रुपचाप समाये बैठ गये। इसी प्रकार आकाशगामी सिद्धोंने वहाँ उपस्थित हुए जनसमुदायकी पुनः प्रशंसा की तथा सभासदोंने भी प्रञ्चुर सुति करते हुए वहाँ उन सब सिद्धोंका पूजन किया। आकाशमें विचरनेवाले मुनीस्तरों, महर्षियों एवं देवताओंने और पृथ्वीपर विचरनेवाले ब्राह्मणों तथा राजाओंने भी पुष्यमुक्त अर्थदानके साथ उच्चाणी-द्वारा बेगूर्बक वहाँ उपस्थित जनसमुदायकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। ( सर्ग २०० )

**गुरुके पूछनेपर श्रीरामचन्द्रजीका युनः अपनी परमानन्दमयी स्थितिको बताना तथा वसिष्ठजीका उन्हें कुतकृत्य बताकर विश्वामित्रजीकी आङ्ग एवं भूमण्डलके पालनके लिये कहना, श्रीरामद्वारा अपनी कुतार्थताका प्रकाशन**

श्रीबाल्मीकिजी कहते हैं—तदनन्तर सभामें धीरे-धीरे साधुवादकी ध्वनि शान्त हो गयी, ज्ञानोपदेश याकर राजाल्लोग अस्यन्त उस्त्रसित-से दिखायी देने लगे। सब लोगोंका संसारभ्रम दूर हो गया और सभी लोग सत्यका अनुसरण करनेवाले चित्तके द्वारा अपने पूर्व चरित्रिका, जो अक्षानसे कल्पित था, खय ही उपहास करने लगे। सभामें बैठे हुए विवेकी पुरुष वित्तवृत्तिको अन्तर्मुखी करके ज्ञानस्वरूप सचिदानन्दबन ब्रह्मके अनुभवमें तथ्यर ही ध्यानमन्नकी भोगि परम शान्त हो गये। भाईयोंसहित श्रीरामचन्द्रजी गुरुके आगे उन्हींके दीर्घिमान् मुखपर दृष्टि लगाये हाथ जोड़े पद्मासन बोधे बैठ गये तथा महाराज दशरथ ध्यानस्त-से होकर अपने

भीतर आदि, मध्य और अन्तमें पवित्रता बढ़ानेवाली श्रीन्मुक्तली अलैकिंक स्थितिका अनुभव करने लगे। उस समय लोगोंके मनोरथका आदर करते हुए मुनिवर वसिष्ठजी अपने भक्त राजा आदिके द्वारा की जानेवाली पूजा ग्रहण करनेके लिये क्षणभर त्रुपचाप बैठे रहकर फिर शान्त वाणीमें बोले—‘कमलनयन श्रीराम ! तुम रुकुल्के आकाशमें चन्द्रमाके समान प्रकाशित हो रहे हो। कताओ, अब अपनी इच्छाके अनुसार और क्या सुनना चाहते हो ? आज कैसी स्थितिका तुम खय अनुभव करते हो ? यह स्पष्ट-रूपसे कहो। मुनिवर वसिष्ठके इस प्रकार आदेश देनेपर राजकुमार श्रीराम गुरुदेवके मुखकी ओर देखते हुए शान्त, भयर एवं मुस्पष्ट वाणीमें बोले—

श्रीरामने कहा—प्रभो ! मैं आपके कृपाप्रसादसे परम निर्मल हूँ। मुने ! मैं अपने आशमें ही विश्राम-सुखका अनुमति करता हूँ। बाक्ष इन्द्रियोंकी दृष्टिसे परे हूँ। मनकी भी मुक्तिका पहुँच हीनी कठिन है। मैं सर्वथा निर्धिकार हूँ। जैसे आकाशको मुट्ठियोंसे नहीं बांधा जा सकता, उसी प्रकार आशाएँ मुझे बांध नहीं सकती हैं। जैसे सुगन्ध वृक्षगत पुरासे ऊपर उठकर आकाशमें पहुँचकर उस पुर्पसे परे हो जाती है, उसी प्रकार मैं देहातीत और सर्वत्र सम्भावसे लिंग हूँ। जैसे अग्निद्वा और प्रशुद्वा सभी राजा बहुत काम-धन्वेवाले राज्योंमें सुखरूपका विचरते हैं, उसी प्रकार मैं हर्ष, विदाद और आशासे रहित, शिरु एक तथा समतापूर्ण इडिसे सम्पन्न एवं आत्मनिष्ठ होनेके कारण सर्वत्र निःशब्द होकर विचरता हूँ। प्रभो ! मैं सर्वोपरि सच्चिदानन्दखलरूप हूँ। मुझमें विषयसुखकी विलक्षण इच्छा नहीं है। मुझे अपनी इच्छाके अलुसार आज्ञा-पालनके कार्यमें निशुक्त कीजिये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! जैसे आकाश शान्त आकाशमें विश्राम प्राप्त करता है, उसी प्रकार तुम्हें अत्यन्त सम एवं शीतल आत्मामें पूर्ण विश्राम प्राप्त है। बस्तु ! बड़े सौमाग्यकी बात है कि ज्ञानस्वरूप तुमने अपने बोधके द्वारा रघुनुल्की भूत, भविष्य और वर्तमान परम्पराको पवित्र कर दिया है। रघुनेन्द्र ! अब तुम मुनीश्वर विश्वामित्रजीकी याधना

पूर्ण करके पिता के साप इस पृथ्वीका पालन करते हुए सुखसे रहो। सौमाग्यशाली राजकुमार ! तुम्हैसे महापुरुषके साथ रहकर पुत्र, भूत्य, बन्धु-आन्ध्र, पैदल, रथ, हाथी और अश्वमण्डलसहित समस्त रघुवंशी शरीरसे नीरोग, मनसे निर्मय तथा वरोंमें सुखिर लक्ष्मीसे सम्पन्न हो सदा अन्युदयशाली बने रहें।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—सभामें वसिष्ठजीकी यह बात सुनकर सब राजा तथा अन्य लोग अमृतकी धारासे सांचे हुएकी भौंति मनमें अत्यन्त शीतलता-एवं शान्तिका अनुमति करने लगे। कमलनयन श्रीराम अपने मनोहर मुखचन्द्रसे उसी प्रकार सुशोभित हो रहे थे, जैसे सुधाभरे चारु चन्द्रमाके उदयसे सम्पूर्ण क्षीरसागर उछालित हो उठता है। तत्त्वज्ञानविशारद वामदेव आदि मुनि वडे आदरसे जोले—‘आहो ! भगवान् वसिष्ठने अमृत ज्ञानका वर्णन किया’। शान्त अन्तःकरणवाले राजा दशरथ भी प्रसन्नतासे प्रकाशित हो रहे थे। उनके सारे अङ्ग संतोषसे ही दृष्ट-पृष्ठ हो गये थे। उनपर ज्ञानकी नयी दीपि छा रही थी।

तत्पश्चात् श्रीराम जोले—मुने ! मैं ऐसे परमानन्दमें सदा निमग्न हूँ, जिसके प्राप्त होनेपर फिर किसीको कमी लेद नहीं हो सकता। मैं चिरसुखी हूँ। सदा उद्दित हूँ एवं सनातन पुरुगर्थस्वरूप हूँ।

( सर्ग २०१-२०२ )

मध्याह्नकालमें राजासे सम्मानित हो सकता आवश्यक कुत्यके लिये उठ जाना और दूसरे दिन प्रातःकाल सबके सभामें आनेपर श्रीरामका गुरुके समक्ष अपनी कृतकृत्यता प्रकट करना

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—मरदाज ! जब इस प्रकार मुनिकर वसिष्ठ तथा श्रीरामचन्द्रजी परस्पर विचार कर रहे थे, उस समय मानो उन दोनोंका संवाद सुननेके लिये भगवान् भास्कर आकाशके मध्यमागमें आ पहुँचे। तुरत ही सम्पूर्ण दिशाओंमें पदार्थसमूहोंको प्रकाशित करनेके

उदाम वाशुसे प्रूति हो प्रलयकालकी प्रचण्ड वायुसे व्याप्त हुए महासागरोंके समान गम्भीर धोष करते हुए बज उठे। उस समय लिदावकी ज्ञालको शान्त करनेके लिये सौभाग्यकी खिरोदारा छिद्रके गये कर्मरभित्रित जलसे वहाँ नदून जलदमाला-नी क्षा गयी। फिर महाराज दशरथ समस्त सामन्तों, भूप्रालों, परिजनों एवं अहरक्षक सेनकों आदिके साथ समासे उठे। मुनिवर वसिष्ठ, श्रीराम तथा संसदके अन्य सदस्य भी उठ गये। राजा, राजकुमार, मन्त्री और मुनि परस्पर एक-दूसरेसे सम्मानित हो वही प्रसन्नताके साथ अपने-अपने निवासस्थानको गये। तत्पथाद् जब मध्याह्नकालके वार्षोंकी खिनि दीवालोंसे टक्करकर नहि-चनित हुई, तब वाक्यग्रयोगमें नियुन मुनिवर वसिष्ठने यह बात कही—“धूमन्दन।” तुमने सुननेयोग्य सब आते सुन लै, इय तत्त्वोपदेशको पूर्णरूपसे जान लिया। अब तुम्हारे लिये दूसरी कोई जाननेयोग्य उत्तम बात शेष नहीं है। जैसा मैंने तुम्हें उपदेश दिया है, जैसा तुम शाश्वोंसे देखते हो और जैसा ख्यत अनुभव करते हो, उन सबकी एकवाक्यता कर लो। महामते! अब समयोचित कार्य घरनेके लिये उठो। हमलोग भी स्नान वरनेके लिये जा रहे हैं। यह हमारे मध्याह्न-कालिक उपासनाका समय व्यतीत हो रहा है। मह! यदि तुम्हें कोई और शुभ प्रश्न पूछना हो तो उसे कल प्रातःकाल पुनः पूछ लेना।”

मुनिनाथ वसिष्ठके ऐसा कहनेपर धर्मात्मा राजा दशरथने उस समामें आये हुए समस्त साधुपुरुषों, मुनियों, ब्राह्मणों, राजाओं तथा आकाशचारी देवताओंका भी वसिष्ठ आदिकी बतायी हुई विधिसे श्रीरामके साथ पूजन किया। मणियों और मुक्ताओंकी राशियों भेंट की, दिव्य पुण अर्पण किये, नाना प्रकारके रत्न प्रदान किये, मौतियोंके हार समर्पित किये, प्रेमरूपक ग्रणाम किया, धन दिया, बर, आसन, अन्नान, सुवर्ण, भूमि, धूप, गन्ध और पुष्पमालारें प्रदान

कीं। इस प्रकार उन प्रश्नसनीय भूपालने शास्त्रोक्त रितिसे उन समीक्षा पूजन किया। तदनन्तर दूसरोंको मान देनेवाले वे नरेश वसिष्ठ आदि देवर्पियों तथा समासदोंके साथ उस समासे उसी प्रकार उठे, जैसे सायंकाल चन्द्रमा आकाशसे उदित होते हैं। मधुर वाणी वोलनेवाले वे दशरथ आदि सब राजा और साधु-मुनि एक दूसरेसे सम्मानित हो परस्पर विदा ले त्सेहयुक्त संतुष्ट हृदयसे अपने-अपने आश्रमोंको गये, मानो सातो छोकोंके निवासी देवता हन्त्रपुरीसे अपने-अपने धाममें जा रहे हैं। एक दूसरेका क्रमशः प्रेमरूपक समादर करके सब विदा ले अपने-अपने घरमें आये और दिनके आवश्यक कार्यमें लग गये। वसिष्ठ आदि समस्त मुनियों तथा दशरथ आदि राजाओंने दिनके आवश्यक कार्य पूर्ण किये। जब वे सब लौग न्यायसे प्राप्त दैनिक कार्य सम्पन्न कर चुके, तब आकाशपरिक सूर्योदय क्रमशः आगे बढ़ते हुए अस्ताचलको जा पहुँचे। महामति श्रीराम तथा अन्य लोग रातमें भी बैसी ही ज्ञान-चर्चा करते रहे; इसलिये उनकी वह रात शीघ्र ही व्यतीत हो गयी। फिर अन्धकाररूपी धूल और ताररूपी पुष्पराशियोंके कूबे-करकलड़ोंहटाकर जगत्-रूपी भूमनको वरकी तरह साफ-सुपरा बनाते हुए सूर्योदयका झुम्गामन हुआ। तत्पथाद् राजा, राजकुमार, मन्त्री और वसिष्ठ आदि मुनि फिर राजा दशरथकी समामें आये, उस समय जब दशरथ आदि नरेश और सुमन्त्र आदि सचिव आसनपर विराजमान मुनिवर वसिष्ठकी भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे थे, कमङ्गनयन बुद्धिमान् श्रीराम गुरु और सिताके सामने उपस्थित हो क्षोपन वाणीमें इस प्रकार बोले—

श्रीरामने कहा—“क्षमा! आप जैसा कहते हैं, बैसा ही मैं भी मानता हूँ कि मेरी बुद्धि कृतकृत्य हो रही है। मैं परम निर्वाणस्वरूप एवं शान्त हूँ। मुझे किसी बातकी आकर्षा नहीं है। जो कुछ

कहने योग वात थी, आपने कह दी और मैंने क्षेय प्राप्त हुई आपकी यह बाणी विश्राम करे ।

( सर्ग-२०३ )

**श्रीवसिष्ठ और श्रीरामका संचाद, उभयका परिमार्जन, सबकी चिदाकाशरूपताका प्रतिपादन,**  
**श्रीरामका प्रश्न और उसके उत्तरमें श्रीवसिष्ठद्वारा प्रश्नसिके उपाख्यानका आरम्भ**

श्रीवसिष्ठजी बोले—महामाहा ! तुम फिर मेरी उत्तम वात सुनो; क्योंकि जैसे दर्पण बारं बार पौँछने वा परिमार्जित करनेपर अधिक स्वच्छ एवं शोभित होता है, उसी प्रकार बारंबार चर्चा होनेसे भ्रमका निवारण होता है । जिससे बोध छुद्ध होकर निखर उठता है । रूप और नाम—दो ही प्रकारके इश्य हैं । इनमें पहला अर्थ है और दूसरा शब्द—दोनों ही अम हैं और इनका मार्जन आवश्यक है । अर्थ क्या है ? भ्रमको समझनेका एक संकेत । अर्थकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है । एक वस्तुको समझनेके लिये अनेक शब्द प्रयुक्त होते हैं, उन सबके अर्थ पृष्ठ-पृष्ठ, होनेपर भी उनसे अनेक वस्तुओंकी उपलब्धि नहीं होती । इस तरह अर्थ-भ्रमका परिमार्जन हुआ । अर्थके विषा शब्द जल्के कल्पकल नादकी भौति निरर्थक है, अतः वह शब्दताको छोड़कर अर्थरूपताको प्राप्त होता है; इस तरह अर्थभ्रमके मार्जनके साथ उस शब्द-भ्रमका मार्जन भी हो जाता है । वास्तवमें यह इश्य स्वप्नकी भौति चेतनका संकल्पमात्र है । जगत्की उत्पत्ति कब और कहाँ हुई है ? जब जाग्रत् ही मिथ्या है, तब स्वप्नकी क्या वात है । क्योंकि जाग्रत् ही संस्कारद्वारा स्वप्नदृष्ट पदार्थ बनकर स्मरणके समान अपने अर्थभूत वस्तुसे शून्य होकर समाने आता है । इसलिये वह चेतनका संकल्पमात्र होकर दूसरे आकारमें वित्तारको प्राप्त हुआ है । जैसे मुझमें स्वप्न-जगतरूप निर्मल चिदाकाश रूपवान् होता हुआ भी रूपरहित है, उसी प्रकार यह चिमुवन भी साकार दीखता हुआ भी निराकार ही है ।

श्रीरामने कहा—महान् ! इस प्रकार विचार करनेसे

न तो कुछ उत्पन्न हुआ है और न कुछ नष्ट ही हुआ है । यह जगत् जैसेका तैसा चिन्मय ब्रह्म है और अपने अपमें ही स्थित है । जैसे द्रव ही जल है, उसी तरह चेतनमें स्मृत्तरण नामक जो स्वरूपका विस्तार है, वही यह जगत् कहा गया है । सम्प्रदर्शनसे जिसकी बुद्धि प्रशुद्ध ही गयी है, उसकी दृष्टिमें यह जो जगत्का मान है, वह अमानरूप ही है । वास्तवमें सब कुछ शून्य चिदाकाश ही है और वही परमार्थ है । अक्षांशीकी बुद्धिमें यह जगत् जैसा भी प्रतीत होता हो, होता रहे, उसपर हमें विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है ।

श्रीवसिष्ठजी बोले— खुनन्दन ! तुमने इस विषयको जैसा समझा है और आगमोंने भी जैसा इसका वर्णन किया है, वह सब ज्यो-का-न्तों ठीक है । अब बताओ, हम यहाँ और क्या वर्णन करें ?

श्रीरामने पूछा—ब्रह्म । बताइये, यह चिन्मय महाकाश ब्रह्माण्डके रूपमें कैसे परिणत हो गया ? इस ब्रह्माण्डकी विशालता कितनी है और यह क्वतक रहेगा ?

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—निष्पाप खुनन्दन ! जिसका बिना किसी कारणके भाव होता है, उसका वह भाव कुछ भी नहीं है । वास्तवमें परमार्थस्वरूप ब्रह्म ही उस रूपमें दीखता हुआ अपने परमार्थस्वरूपसे ही स्थित है । महापते ! इस विषयमें कभी किसीने अपने उत्तम बोधकी पुष्टिके लिये मुझसे एक महान् प्रश्न किया था । तुम उस उत्तर एवं महान् प्रश्नको सुनो । त्रिलोकीमें जिसकी बड़ी स्थिति है और जो दोनों ओरसे दो समुद्रोंद्वारा

विरा हुआ है, वह कुशद्वीप इसी भूतलपर स्थित सात महाद्वीपोंमें से एक है। वह भूमण्डलको कंठनके आकारमें देखकर बसा हुआ है। वहाँ पूर्वोत्तर दिशामें इलावती नामसे प्रसिद्ध एक सुवर्णमयी-सी नगरी है। उस नगरीके पूर्वमार्गमें एक राजा थे, जिनका नाम प्रझांसि था। जगत्के सारे प्राणी उनमें अनुरक्त थे। वे

इस सुष्टिमें दूसरे इन्द्रके समान प्रतिष्ठित थे। एक समय किसी कारणबश्य मैं प्रलयकालमें आकाशसे गिरे हुए सूर्यकी मौसिं उस राजाके समीप आ पहुँचा। उसने पुष्ट, अर्थ और आचमनीय आदिके द्वारा मेरी पूजा की और पास बैठकर मुझसे बहुत से प्रश्न किये।

( सर्ग २०४-२०६ )

### यह जगत् ब्रह्मका संकल्प होनेसे ब्रह्म ही है, इसका विवेचन

राजाके प्रश्नोंके उत्तरमें मैंने कहा—राजन्। मैं तुमसे स्वतु शब्दोंमें तत्त्वज्ञानकी बात बचा रखा हूँ, जिससे तुम्हारे सारे सदेह पूर्णतः निर्मल हो जायेंगे। पहले यह समझ लो कि जगत्के सारे पदार्थ सदा ही असत् हैं और सदा ही ये सत् भी हैं; क्योंकि इनकी स्थिति कल्पनाके अनुसार है। जहाँ अमुक वस्तु इस रूपमें ही है, ऐसी निष्ठित बुद्धि होती है, वहाँ वह पदार्थ वैभा ही होता है, फिर वह असत् हो या असद्। इस विषयमें आपह नहीं हैं। जैसे समझमें स्वप्नद्रष्टा चिदात्मा ही स्वप्नगत जगत्के आकारमें भासित होता है, उसी प्रकार सुष्टिके आरम्भमें समस्त कारणोंका अभाव होनेसे चिदाकाश ही इस जगत् जगत्के आकारमें भासित होता है। इसलिये इस जाग्रत्कालिक जगत्में स्वप्नजगत्से भिन्नता क्या है ! इस प्रकार विशुद्ध ज्ञानस्वरूप ब्रह्म ही इस जगत्के रूपमें भासित होता है, इसलिये इस जगत्में ब्रह्मसे भिन्नता क्या रही ? इस प्रकार निर्विकार परब्रह्म परमात्माकी ही जगत्के रूपमें स्थिति होनेके कारण जगत् विशुद्ध ब्रह्म ही है। लोक, वेद और महान् ज्ञानोदारा पुर्वापर विचार करके मैंने यही अनुभव किया है और इस अनुभूति—ज्ञानको ही यहाँ प्रकट किया है। समस्त भूलोंमें निष्प चिदात्मा ही मत्तारूपसे सर्वत्र परिपूर्ण है—इस ज्ञानको महात्मा पुरुषोंने मी बारबार कहा है, तथापि जगत्की नित्य चैतन्यरूपताका अपश्यप ( निराकरण ) करके जो मृढ़ मनुष्य अन्धकारपूर्ण कूपमें रहनेवाले मेढ़कोंके समान

व्यर्थ ही टर्ट-टर्ट करते हैं; आपात्तः वर्तमान नाम-रूपके अनुभवको ही प्रमाण मानकर यह कहते हैं कि सवित या चेतनता कोई नियन्त्रित नहीं है। वह शरीरसे ही प्रकट होती है; इसलिये शरीर ही उसका कारण है। दूसरे शब्दोंमें उनका कहना है कि जड़से ही चैतन्यकी अभिव्यक्ति हुई है। ऐसी भान्त धारणासे जो लोग मोहमें पड़े हुए हैं, वे उन्मत हैं—पागल हैं और मर्व हैं। ऐसे लोग इमलोगोंकी ज्ञानचर्चामें भाग लेने योग्य नहीं हैं। जिनका मस्तिष्क ठीक है, उनमें और पागलोंमें क्या बातचीत हो सकती है ! वे से ही मूर्खों और तत्त्वज्ञानियोंमें सलाप होना कैसे सम्भव है ! जिस विद्वकशासे सारे सदेहोंका निवारण न हो जाय, वह तीनों लोकोंमें कहीं भी क्यों न हुई हो, उसे मूर्ख-क्या ही समझना चाहिये ।

राजन् ! प्रजाजनोंको अपने घरमें रहते हुए भी सम्बन्धशून्य, आकाशरहित और दूर देशमें विट्स वृत्तान्तोंद्वारा जिस प्रकार शुभाशुभ फलकी प्राप्ति होती है, उसे बताता हूँ, सुनो—ब्रह्म ही अज्ञानब्रह्म दृश्य समझ लिया गया है, इसलिये दृश्यके रूपमें प्रतीत होता है और जब उसकी ब्रह्मस्वरूपताका बोध हो जाता है, तब यह सभ्यर्ण दृश्य ब्रह्म हो है, ऐसा अनुभव होने लगता है। इसलिये यह जगत् ब्रह्मसंकल्पनगरके रूपमें स्थित है। संकल्पनगरमें जब जिस-जिस वस्तुके विषयमें जैसा सकल्प किया जाना है, वह-क्या वस्तु उस समय वैसी ही आकृति धारणकरके अनुभव-में आने लगती है। जैसे तुम्हारे इस संकल्पगृहमें जो

यह प्रजा है, वह तुम्हारे संकल्पके अनुसार बनी है, उसी तरह ब्रह्मके संकल्पसे सम्भव हुए जगत्‌में यह प्रजा ब्रह्म-संकल्पके अनुसार ही होती है। अपने इस संकल्पनगरमें जैसा तुमने चाहा है, वैसा सब कुछ यहाँ स्थित है और आगे जैसा संकल्प करोगे, वैसा ही सब कुछ देखोगे।

राजन् ! विदाकाशके संकल्प-नगरके भीतर स्थित हुए इस दृश्यजगत्‌का ऐसा स्वभाव ही है कि यह कभी प्रकट होता है कभी छुप हो जाता है और फिर क्षण-भरमें ही प्रकट हो जाता है। वचोंके संकल्प-नगरके समान तथा आकाशमें स्थित केवोंके वर्तुलाकार गोले आदिकी भौति ये सद-असद-रूप असंख्य सर्व वितनाकाशमय परमात्मामें भासित होते हैं। तुम एक संकल्प-नगरका निर्माण करके दूसरे संकल्पके वशीभृत हो स्वयं ही उसी क्षण उसका विनाश कर डालते हो। यह जैसे तुम्हारा अपना स्वभाव है, वैसे ही विदाकाशके संकल्प-नगरमें जो उन्न्यज्ञ निमज्जन—उन्मेष-निमेष होते हैं, वह मध्यके स्वभावका निर्मल विकास ही है, ऐसा समझो। इसलिये चैतन्यघन, अनादि-अनन्त ब्रह्माकाश ही विलोक्यकाश बना हुआ है। इस कारण वह आज जो कुछ भी करता और सोचता है वह सब उस आवरण-रहित ब्रह्म परमात्माके सत्यसंकल्पसे सैकड़ों योजन दूर और अनेक युगोंके व्यववानके बाद भी समीप और वर्तमान कालमें किये गये कर्मकी भौति अपना फल प्रकट करने-वाला होता है। ये ज्ञानतर और कालान्तरमें ये जो आवरणशून्य एकमात्र आत्मा है, उसमें देश और काल दोनोंका सदा सांमित्र रहता है; इसलिये कौन-सा ऐसा कर्म और फल है, जिसे वह न जानता ही। जैसे चमकती हुई मणिमें अपनी कानिनमें ही दीहिविशेषके आविर्भाव-तिरोभावका अनुभव होता है, उसी प्रकार

विदाकाशरूपी मणिमें जगनोंके सूष्टि, प्रलय और विविध फलमोगरूप परिवर्तन अनुभूत होते हैं। शाखाके विवि और लियेवस्त्रवन्धी वचनोंका प्रयोजन है लोकमर्यादाकी रक्षा। वह सर्वव्यापी ब्रह्मके संकल्पमें स्थित है, इसलिये परलोकमें मी जीवको फलकी प्राप्ति करानेवाली होती है। ब्रह्म न कभी उद्दित होता है, न अस्त। जैसे प्रश्न, दृश्य आदिकी कल्पनासे युक्त जो तुम्हारा कल्पना-नगर है, वह स्वयं तुम हो, उसी प्रकार ब्रह्मके संकल्पसे प्रकट हुआ जगत् स्वयं ब्रह्म ही है। जब वह जगत्‌के रूपमें भासित होता है, उस समय 'जगत्‌की सृष्टि हुई,' ऐसा कहा जाता है; परन्तु वह केवल कहनेके लिये है, वास्तवमें ऐसी बात नहीं है।

विद्-वनपरमात्माका यह मुख्यपृष्ठ स्वभाव ही है कि वह जिस-जिसका संकल्प करता है, तकाल ही वे पदार्थ वहाँ अवश्यकोंसहित प्रकट हो जाने हैं। संकल्प-कर्त्त्वमें पदार्थ स्वभाववश नानारूपसे स्थित होनेपर भी परमहृष्में विभ्यमय-रूपसे भासित होते हैं तथा स्वभावतः अनेक आकारबाले होनेपर भी उनका सार-नत्त्व एक ही होता है अर्थात् वे सद्गुप्तसे एक ही होते हैं। इस प्रकार आदि, मध्य और अन्तसे रहित, अनन्त शाकेशाली ब्रह्म किञ्चित्-ञकिञ्चित् तथा सद-असद, दोनों रूपोंसे स्थित है। वह सर्वात्मक है, इसलिये प्राणियोंमें और तुण-गुणम तथा पैद-पौंचे आदिमें, जहाँपर जो वस्तु जैसे और जिस स्वभावसे स्थित है वहाँपर वैसे स्वभावसे युक्त होकर वह स्वयं ही विराजमान है।

राजन् ! संकल्प-नगररूप इस जगत्‌में जो असम्भव हो ऐसी कोई बात नहीं है। वह जगत् अपने संकल्प-कर्त्ता इस विदात्मा परब्रह्मसे मिन्न नहीं है। इसलिये हुम सम्पूर्ण जगत्‌को ब्रह्म ही समझो।

( सर्ग २०७-२०९ )

## राजा प्रहसिके प्रश्नोंपर श्रीवसिष्ठजीका विचार एवं निर्णय

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राजन् । यदि व्याप करने-थाला उपासक आमदानके सुखकी अनुभूतिसे विवित होनेके कारण यही चिन्तन करे कि 'मैं इस चन्द्रमामें ही प्रवेश करूँ' तो वह इसीमें प्रवेश करता है । 'मैं चन्द्रमण्डलके सुखसे सम्पन्न होकर चन्द्रमामें प्रवेश करूँ' ऐसा चिन्तन करनेवाला उपासक वैसे ही सुखका मानी होता है, यह निश्चय है । यह उपासक इद्ध निश्चयके साथ जैसे स्वभावका व्याप करता है, उसकी अक्षय चेतना वैसे ही स्वभावका अनुभव करती है । वैसे सभी श्यानकर्ताओंको अपने-अपने संकल्पके अनुसार पृथक्-पृथक् चन्द्रत्वका अनुभव होता है, वैसे ही श्रीचिन्तन करनेवाले पुरुषोंको अपनी-अपनी कल्पनाके अनुसार अलग अलग काल्पनिक श्रीलाभकी प्रतीति होती है । जो वरसे बाहर न निकलकर भी सातों द्वौपोंका राजा बना चैठा है, उसका वह कल्पनासिद्ध साक्रान्त उसके घरमें ही विदाकाशके भीतर भासित होता है ।

राजन् । दान, आदृ, तप और जप आदि अमृत कर्मोंका परलोकमें जो मूर्तिमान् फल प्रकट होता है वह कैसे सम्भव है, यह बताया जाता है, मुझो । उमकी शुद्धि उम दान आदि सुकर्मोंके संस्कारसे भावित होती है । अतः वे परलोकमें अमृत रहकर ही मूर्तिमान् फलको देखते और अनुभव करते हैं । वह फल विन्मय स्वरूपसे ही अनुभवमें आता है । मन और ज्ञानेनिधियोंसे वेदना और अवेदनाक्षर भ्रान्ति होती है । इस भ्रान्तिके हारा विषयप्राप्तिके लिये ब्रह्म विन्मय जीव मनसुहित कर्मनिधियोंसे ग्रेति हो सचेष्ट एवं निष्चेष्ट होता है । पर उस भ्रान्तिकी निष्पुत्ति होनेपर वह निर्गम, शान्त, विन्मय आत्मा ही शोप रहता है । इस लोकमें किये गये दानसे परलोकमें विन्मय संकल्परूप भिन्न-भिन्न फलकी ग्राहि होती है । उसे संकल्पकारूप जीव प्राप्त करता है ।

ऐसा विद्वानोंका कहना है । पर वह फल परलोकमें क्यों न मिले । इस कल्पनामय संसारमें अनुत्रिम संकल्प ही विन्मय फलरूप होकर वारों और उपलब्ध होता है । मले ही वह दान न करनेके कारण दारिद्र्यपञ्जनित हुएके रूपमें प्राप्त हुआ हो अथवा दान करनेसे ऐस्वर्य-भोगके रूपमें उपलब्ध हुआ हो । वह सब का-सब होता है विन्मय ही । राजन् । तुमने जैसा पूछा था, उसके अनुसार यह सब मैंने बता दिया । यह सारा जगत् आकाशसून्य तथा विन्मय ग्रहका संकल्पमात्र है ।

राजाने पूछा—भगवन् । सुष्ठिके आदिमें जब एक निराकार विदाकाश ही था, तब उसके हारा देहकी कल्पना वैसे सम्भव दुई ( क्योंकि शरीरमें ही चैतन्यकी अभिव्यक्ति देखी जाती है, अव्यक्त चैतन्यमें भ्रान्ति आदि नहीं देखी जाती ) । ऐसी दशामें पहले भ्रान्तिकी सिद्धि हो, तब देहकी सिद्धि हो सकती है और देहकी सिद्धि हो तभी भ्रान्तिकी सिद्धि हो सकती है, यह अन्योन्याश्रय दोष आता है । तथा शरीरके बिना चैतन्यकी अभिव्यक्ति कैसे सम्भव है ।

श्रीवसिष्ठजी बोले—महामते । तुमने देह शब्दका जो अर्थ समझा है, वह तत्त्वज्ञानीके प्रति उसी तरह असम्भव है, जैसे आकाशमें परस्तोंका माध्यना । तत्त्वज्ञानी-की दृष्टिमें जो ब्रह्म शब्दका अर्थ है, वही देह शब्दका भी अर्थ है । इन दोनोंके अर्थमें वैसे ही मेद नहीं है, जैसे अमृत और अमृत शब्दोंके अर्थमें ( अमृत और अमृत दोनों जड़के ही वाचक हैं, उसी तरह ब्रह्म और देह एक ही अर्थके वाचक हैं ) । स्वर्णदेहके समान यह शरीर भी ब्रह्म ही है, उससे मिलन नहीं है । यदि कहो कि स्वर्णदेह भी ब्रह्म ही है तो उसे मिलन-सा मानकर उसका दृष्टान्त क्यों दिया जाता है । तो इसके उत्तरमें निवेदन है कि यह तुम्हारे समझनेके लिये युक्तिमात्र दी गयी है । वास्तवमें स्वर्णदेहको उससे मिल बताना

अमीष नहीं है; क्योंकि स्वप्न भी ब्रह्म ही है। स्वप्नका तुम्हें अनुभव है, इसलिये उसके द्वारा तुम्हें समझाया जाता है। 'स्वप्नमें यह शरीर कौन है, ये स्वप्नगत पदार्थ किसके हैं अथवा किसमें स्वप्नबुद्धि है' इत्यादि रूपसे विचार करके ज्ञानीके द्वारा समझे गये भ्रमरूपी स्वप्नसे ज्ञानीको बोध कराया जाता है। ब्रह्ममें न जाग्रत् है, न स्वप्न है, न स्मृति है और न और ही कुछ है। किंतु मम-ज्ञानीसे अगोचर, तुरीय ओङ्कारस्वरूप परम पुरुषार्थमय, स्वयंप्रकाश चिदाकाश ही इस जगत्के रूपमें भासित होता है। आज जो यह विश्व इस तरह मासित-सा होता है, इसे अमासित ही समझो। पहले जिस तरह सर्विच्छानन्दघनरूपसे मासित या, उसी तरह यह अब भी अत्यन्त निर्मल है। जाग्रत्, स्वप्न आदि अवस्थाएँ इसमें कदापि नहीं हैं। यह द्वैत-अद्वैत सब कुछ ब्रह्ममय ही है। पूर्ण परमात्मा से पूर्ण-का ही प्रसार होता है। अतः पूर्ण परमात्मरूपसे ही यह जगत् सर्वश्रेष्ठ हो जाओ।

स्थित है। अ तो कभी इसका भान द्वारा है और न अमान। टॉटिक शिलाके घनीभूत मध्यभागकी भाँति यह सदा सञ्चिदानन्दघन ही है। लोक, शास्त्र, वेद आदिमें जो वस्तु युक्ति, प्रमाण और अनुभवसे सिद्ध है, वह सिद्ध ही है। वही वस्तु स्वानुभवसे जानी जाती है। अतः परमपुरुषार्थ-रूपसे फल देती है। अन्य सब वस्तुओंका निराकरण करके जिस एक वस्तुका चिरकालतक चिन्तन किया जाता है, उसीकी अवश्य प्राप्ति होती है। लोकमें सब जगह देखा जाता है कि दूसरी-दूसरी वस्तुएँ भी चिरकालतक चिन्तित या भवित होनेपर अवश्य प्राप्त हो जाती हैं। महाभग्न्। मतिमान् भरेश ! इस प्रकार मैंने तुम्हारे महान् प्रश्नोंपर विचार करके यह अपना निर्णय बताया है। तुम शीघ्रतापूर्वक इसी मार्गके पथिक बन जाओ तथा मनसे निखिन्त, शरीरसे नीरोग और इन्द्रियोंसे वासनाशून्य होकर ( सर्ग २१० )

+————+

**सिद्ध आदिके लोकोंकी संकल्परूपता बताते हुए इस जगत्को भी वैसा ही बताना और  
ब्रह्ममें अहम्बावका स्फुरण ही हिरण्यगर्भ है, उसका संकल्प होनेके कारण त्रिलोकी  
भी ब्रह्म ही है—इसका प्रतिपादन**

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! इलावती नारीमें बैठकर राजा प्रङ्गिपर अनुग्रह करनेका जो मेरा प्रयोजन था, उसे पूरा करके उस राजाद्वारा सम्मानित मैंने सर्ग-लोकमें जानेके लिये आकर्षणमार्गका आश्रय लिया।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन्। सिद्ध, साध्य, यम, ब्रह्म, विद्याधर और देवताओंके लोक तथा वहोंके निवासी कैसे दिखायी देते हैं ? यह मुझे बताइये ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! सिद्ध, साध्य, यम, ब्रह्म, विद्याधर, देवताओं तथा अन्य अपूर्व महात्मा प्राणियोंके लोकोंको यदि तुम विशेष धारणाओंद्वारा देखनेका प्रयत्न करो तो प्रतिरात, प्रतिदिन, आगे, पीछे, ऊपर और नीचे देख सकते हो और न देखना चाहो तो

नहीं देख सकते हो। जैसे सिद्धोंके ये कल्पनालोक हैं, उसी तरह हमारा यह लोक भी काल्पनिक ही है।

सिद्धोंने लोकोंकी रचना करके अपने संकल्पसे उन सबको स्थिर कर लिया है। सारा जगत् सदा निराकार निर्विकार शान्तस्वरूप चिदाकाश ही है। जिसने जैसा दृढ़ निश्चय किया, उसकी दृष्टिमें यह वैसा ही प्रतीत होता है। उससे भिन्न प्रकारका नहीं। जो वस्तु दृढ़ निश्चयसे प्रकाशित होती है, वह विन्मय स्वभावसे युक्त होनेके कारण प्रकाशरूपसे ही भासित दिखायी देती है। किंतु यह विश्व किसीको दृढ़ निश्चयपूर्वक विदित नहीं है; इसलिये इसमें स्वभावतः चित्सन्ता और स्फूर्तिकी व्याप्ति नहीं है। इसलिये यह सब शून्य और निराकार

है। ब्रह्म जैसा पहले था, ठीक जैसा ही अब भी है। उसमें किसी प्रकारका विकार नहीं आता। जैसे समझमें चिदाकाश अपने स्वरूपसे च्युत हुए थिना ही स्वप्नगत पदार्थोंके रूपमें भासित होता है, उसी प्रकार चिदाकाश अपने स्वरूपसे विहृत हुए थिना ही इस विश्वके रूपमें प्रतीत होता है। वह इस विश्व-विवर्तका अधिष्ठान ही है। न तो कारण है और न विकारी है। संकल्पमें चित्त जैसे आकारकी कल्पना करके पर्वत आदिकी लीलासे उद्दित होता है। वास्तवमें न वह पर्वत है और न वह आकाश है, उसी तरह ब्रह्ममें जगत्की स्थिति है। ब्रह्म ही जगत्के रूपमें प्रतीत होता है, ब्रह्मसे मिल जगत्की कोई सत्ता नहीं है। परम बुद्धिमान् जीवन्मुख महात्मा सब प्रकारकी वेष्टाओंसे वित होते हुए भी कठपुतलियोंके समान व्यवहार करते हुए-से प्रतीत होते हैं। जैसे संकल्प-नगर निराकार होता हुआ भी चित्तके समक्ष साकार-सा स्थित होता है, उसी प्रकार ब्रह्ममें स्थित यह जगत् निराकार होनेपर भी साकार-सा दीखता है; परंतु वास्तवमें निराकार ही है। ये तीनों लोक चिक्कालसे अनुभूत और अर्थक्षियकारी होनेपर भी सम-नगरके समान निराकार तथा शून्य ही है। चिक्कालसे पुरुषके नियम अनुभवमें आनेपर भी यह जगत्सूखी पदार्थ उसी तरह कुछ भी नहीं है, जैसे स्वप्नमें ही अपना भरण। स्वप्नमें मरे हुए पुरुषको अपना दाह-संस्कार भी होता दिखायी देता है। वह असद् होकर भी सद-सा भासित है, उसी तरह परब्रह्म परमात्मामें दीखनेवाला जगत् भी असद् ही है; किंतु भ्रमसे सद-सा प्रतीत होता है।

रघुनन्दन ! ब्रह्माकाश चिन्मय होनेके कारण स्वयं ही अपनेको 'मे अहंकारामक समष्टिरूप हिरण्यगर्भ हूँ' ऐसा अनुभव-सा करता है। उसका यह सवेदन ही परमेष्ठी हिरण्यगर्भका स्वरूप है और यह चिलोंकी उस हिरण्य-गर्भका ही संकल्प है। ऐसी स्थितिमें न तो ब्रह्मा कभी

उत्पन्न हुआ और न इस दृश्य जगत्की ही उत्पत्ति हुई। अजन्मा परब्रह्म परमात्मा ही पूर्ववत् जैसे-का-नैसा विराज-मान है। विद्याकल्पमें जो जगत्का रूप मासित होता है, वह उसकी ग्रातिमासिक सत्ता ही है, पारमार्थिक सत्ता नहीं है। वह मुग्धतुण्णाके समान मिथ्या ही है। दिखायी देनेपर भी असद् ही है। जगत्के रूपमें वह सूनी ही भान्ति प्रकट हुई है अथवा वह भी प्रकट नहीं हुई है। भान्ति क्या है और कहाँसे आयी है, सर्वत्र सदा सब कुछ निराकार ब्रह्म ही तो है। जगत् ब्रह्मरूपी जलका भूँधर है। इसमें हैत और एकत्र कैसा है भूँधर और जलमें कहाँ हैत है, और जब हैत ही नहीं है तब एकता भी कहाँ क्या हुई ? जैसे बायु अपने स्पन्दनको, आग अपनी उष्णताको और पूर्ण चन्द्रमा अपनी शीतलताको जानता है, उसी प्रकार ब्रह्म अपनी सत्ताको स्वयं ही अर्थस्वरूप होकर जानता है। इस प्रकार यह ब्रह्म सदा ही अपने इस स्वरूप-स्फुरणको तथा 'अहम्' आदि अहंकारात्मक समष्टिको जानता है। सृष्टि, उसका अभाव तथा आकाशरूप ब्रह्म सर्वत्र तथा सर्वदा है। अविद्यादृष्टिसे कभी इसका यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ और विद्यादृष्टिसे देखनेपर यह जगत् कभी कुछ रहा ही नहीं। श्रीराम ! बद्ध-मुरुखकी दृष्टिसे ब्रह्म सदा त्रिमुखन-सा भासित होता है। किंतु मुक्तकी दृष्टिसे यह सब शान्त एवं सम ब्रह्म ही है। यहाँ नाना परायोंकी कोई सत्ता नहीं है। आकाशसे कभी वृक्ष और पर्वत नहीं उत्पन्न होते हैं, उसी तरह ब्रह्मसे जगत्की उत्पत्ति नहीं होती है। ऐसा निष्पत्य करके परम शान्त हो जाना चाहिये।

श्रीरामजी घोले—ब्रह्मन्। उस परमपदमें अहंभावका भान होनेपर आगे क्या होता है, आप यह जान दुके हैं। अतः आपसे इस विषयको मैं सुनना चाहता हूँ। मुझे सुननेसे तृप्ति नहीं हो रही है।

श्रीकृष्णजीने कहा—रघुनन्दन ! परमपदमें अहंभावकी

स्फूर्ति होनेपर उसमें सबसे पहले आकाशसत्ताका अध्यास होता है; फिर दिक्-सत्ता, कालसत्ता और भैद सत्ताका उदय (अध्यास) होता है। जब आत्माको देह आदिमें अहंकार मान होता है, तब वेहसे मिल थलमें 'यहाँ मैं नहीं हूँ' इसका भी अवश्य मान होता है। यह देशकृत परिच्छेद कहलाता है। इस रीसेसे आत्मा ही नाना प्रकारका कालकृत और वस्तुकृत परिच्छेद स्त्रीकार करके बिना क्रमके ही द्वैतरूप होकर आकाशमें उठित होता है। फिर इन पूर्वोक्त आकाशात्मक पदार्थभैद-सत्ताओंके नामकरणकी शुद्धि उत्पन्न होती है, जिससे जाति, गुण और किंवा आदिकी दृष्टिसे इनमें परस्पर भैद किया जा सके। परंतु वास्तवमें

वह सब चिदाकाश ही है। इस प्रकार निराकार परमपदमें अहंमावसे देश, काल आदिकी कल्पनाओंके सिद्ध होनेपर अर्थात् उस परमपद परमात्माके देश-कालादिरूपसे खिल होनेपर जो यह दृश्य नामक आमासरूप वस्तुकी प्रतीति होती है, वह सब निर्वाध ब्रह्म ही है, जो ब्रह्मसे मिल-सा प्रतीत होता है।

रथुनन्दन ! तुम तो समस्त दृश्य पदार्थोंसे मुक्त, सब और प्रकाशमाम, सर्वत्वरूप, निर्मलत्वभाव, आत्मनिष्ठ, निरलिशय आनन्दमय, परमशान्तिवित्त, आकाशके समान मनोहर एव तुष्णारहित हो। अब तुम धर्मके अनुसार राज्यका पालन करो।

( सर्ग २११-२१३ )

### समासदोंका कृतार्थता-प्रकाशन तथा वसिष्ठजीकी आश्वासे महाराज दशरथका ब्राह्मणोंको दान-मानसे सम्पन्न उत्सव मनाना

श्रीब्राह्मीकिंजी कहते हैं—भरद्वाज ! महामुनि वसिष्ठजी जब हतना कह तुके, तब तकाल ही आकाशसे वर्षा करनेके लिये जलसे भरे हुए मेघके समान गम्भीर धोषके साथ देवताओंकी दुन्दुभियों बज उठीं। भूतलपर हिमकी वर्षाके समान दिव्य पुष्पोंकी शुद्धि होने लगी, जिसने समस्त दिव्यधुओंके मुख उज्ज्वल कान्तिसे मुशोभित कर दिये। उस समाने यथास्थान नीचे थे तुम समस्त समासदोंने वे दिव्य पुष्प लेकर वसिष्ठजीके चरणोंमें पुष्पाङ्गलि अर्पित की और सबने सब प्रकारसे दुःख-शोकको त्याग दिया।

तस्मात् राजा दशरथ बोले—मगवन् ! आपके उपदेशसे हमारी आत्मा परमपदमें सुखरूपक प्रवेश पानेके योग्य हो गयी है। हम संसाररूपी अस्थन्त विस्तृत एवं दुर्गम मार्गपर चिरकालसे चलते रहनेके कारण यक गये थे। परंतु आज आपकी उपदेश-ज्ञानीसे शुद्ध हो उस परमपदमें उसी तरह विश्रामका सुख उठा रहे हैं, जैसे

शरस्वतीके उज्ज्वल मेघ हिमालय आदि पर्वतपर विश्राम करते हैं। पुरुषार्थकी सिद्धिके लिये अवश्य करने योग्य कर्मोंकी अवधि आज पूरी हो गयी—हमलोग कृतक्रम्य हो गये। हमने आपत्तियोंकी अरम सीमा देख ली—अब हमसे पिण्ड छूट गया; न्यौकिं हमें ह्रेय-तत्त्वका सम्पूर्ण रूपसेवान हो गया और हम परमपदमें विश्राम पारहे हैं।

श्रीरामजी बोले—मुमीश्वर ! आपकी बाणी सुनकर हतना सुख गिठ रहा था, मानो अमृतका अमिनेक प्राप्त हो रहा हो। उसे बारंबार याद करके मैं परम पूजित और शान्त होनेपर मी रह-रहकर हर्षित-सा हो उठा हूँ। अब मुझे म तो कोई कर्मसे प्रयोजन है और न उसे न करने (छोड़ने) से ही। मैं जैसे हूँ, उसी तरह निश्चिन्त हूँ। आपके उस उपदेश-वचनसे विश्राम-सुखका जैसा उपाय प्राप्त हुआ है, जैसा दूसरा कौन होगा, दूसरी दृष्टि भी जैसी होगी ! अहो ! हमें विश्रामसुखकी असीम विस्तार-धारी भूमि प्राप्त हो गयी है। आपकी कृपाके बिना भनुष्य इस

ज्ञान-टटिको कैसे जान सकता है ? भला, पुछ या जहाजके बिना आलक समुद्रको कैसे पार कर सकता है ?

लक्षणजी बोले—आज मुनिवर वसिष्ठजीकी बाणीसे जो वेद प्राप्त हुआ है, वह अनन्त अन्म-जन्मान्तरोंसे वही हुई दुर्वासनाओंके कारण उत्पन्न होनेवाले संशयोंका नाशक है तथा अन्म-जन्मान्तरोंसे संचित किये गये सैकड़ों पुष्टोंके उत्तम फलको प्रकट करनेवाला है। इस वेदसे विचारके लिये उधृत हुए ऐसे मनमें आज पूर्ण चम्मामके समान याहूद प्रदान करनेवाला परमात्मप्रकाश उत्तित हो गया है। ऐसी निरस्तिशयानन्द प्रकाशरूप व्यापद्धिके प्रस्तुत दिखायी देनेपर भी लोग अपने हुमायुको कारण सैकड़ों दोषपूर्ण दशा औंहारा हु. एवं आगसे सूखे काठकी भौंनि जलाये जा रहे हैं। यह महान् आश्र्य है।

श्रीविश्वामिन्द्रजीने कहा—अहो ! हमारे लिये वह हर्षसी वान है कि वसिष्ठ मुनिके मुखसे हमें यह परम पवित्र महान् ज्ञान सुननेको मिला, जिससे हमलोग महसूसों वार गङ्गामें राम किये हुएके समान अत्यन्त पवित्र होकर बढ़े हैं।

नारदजीने कहा—मैंने महान्तेकमें, खर्गमें और मृतउग्र भी आजसे पहले जिसे नहीं सुना था, उस परम तत्त्वज्ञानको सुनकर मेरे दोनों कान पवित्र हो गये।

नशुश्नने कहा—मग्नन् ! आपके उपदेशसे मैं परमानन्दमें निमग्न हूँ। शान्त हूँ। परमपदको प्राप्त हो गया हूँ और सदाके छियेपरिष्ठूर्ण हूँ। केवल सुखस्तरूपसे स्थित हो गया हूँ।

राजा दशरथ बोले—हमारे अनेक जन्मोंके संचित पुण्यसे ही इन धीर मुनीश्वरने हमको उस परम उत्तम ज्ञानका उपदेश दिया, जिससे हम सभी परम पवित्र हो गये।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज ! जब राजाके

साथ समस्त समासद् वहों-इस तरहकी बातें कह रहे थे, उस समय महर्षि वसिष्ठ ज्ञानसे पवित्र हुई बाणीद्वारा यों बोले—‘राजन् ! रघुकुलचन्द्र ! अब मैं जो कहता हूँ, उसे करो। इतिहास-कथा सुननेके पश्चात् ब्राह्मणोंकी पूजा करनी चाहिये। इसलिये आज इन ब्राह्मणसमूहोंको सब प्रकारकी मनोवाञ्छित वस्तुएँ देकर इनकी अभिलाषा पूर्ण करो। इससे तुम्हें वेदार्थतुल्य इस महारामायणके श्रेणका पूरा-भूरा तथा सक्षय फल प्राप्त होगा। मोक्षकी उपायभूत कथा-तत्त्वकी समाप्ति होनेपर एक तुम्ह एवं इदिं मनुष्यको भी अपनी शक्तिके अनुसार ब्राह्मणका पूजन करना चाहिये। फिर आप-जैसे महाराजके लिये तो वहना ही क्या है ?

मुनिका यह वचन सुनकर राजा दशरथने सहजोंवेद-बादी ब्राह्मणोंको दूत मैनकर बुलाया। मथुरामें, सुराष्ट्र देशमें तथा गोद देशमें भी ब्राह्मण निवास करते थे, उनके कुलोंसे ब्राह्मणोंको बुलाकर उन सबका पूजन किया। अधिक-से-अधिक ज्ञान-विज्ञानकाले ब्राह्मणोंको प्रधानता देते हुए भूपालमें दस हजार ब्राह्मणोंको भोजन कराया और उन्हें उनकी लूचिके अनुसार भोजन करानेके पश्चात् दान-दक्षिणा भी दी। इस तरह ब्राह्मणोंका पूजन करके देवताओं, पितरों, राजाओं, पुरावासियों, मणियों, सेवकों, दीन-कुलियों तथा अन्योंको भी भोजन एवं दान-मानसे संतुष्ट किया। इस प्रकार संसारकी सीमाके अन्तमें पहुँचे हुए राजा दशरथने उस दिन वहा भारी उत्सव किया। महाराज दशरथ अविज्ञानी परमपदको प्राप्त हो चुके थे। बोधरूपी सूर्यके उदयसे संसारस्तरी रात्रिका अन्त हो गया था। इसकिये वे बड़े हर्षसे लगातार सात दिनोंतक महान् उत्सव मनाते रहे। जिम्में दान, नीजन तथा धन-वितरण-का कार्यक्रम निरन्तर चलता रहा।

श्रीवाल्मीकि-भरद्वाज-संचादका उपसंहार, इस ग्रन्थकी महिमा तथा श्रोताके लिये  
दान, यान आदिका उपदेश

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—मेरे शिष्यशिरोमणि परम-  
बुद्धिमान् भरद्वाज । इसी प्रकार बुम भी इसी कमनीय  
तथा निर्मल ब्रह्मात्मदृष्टिका उद्धतापूर्वक अवलम्बन  
करके बीतराम संदेशून्य शान्तचित्त जीवन्मुक्त  
होकर सुखसे रहो । निष्पाप भरद्वाज । इस ज्ञानका  
आश्रय ले तुम्हारी बुद्धि यदि आसक्तिशून्य रही तो धने  
मोहान्वकारमें पढ़ने और मूँह होनेपर भी नष्ट नहीं होगी ।  
वेटा भरद्वाज । तुम्हारी बुद्धि तो खामोशिक ही  
आसक्तिके बन्धनसे मुक्त है । परंतु आज इस  
मोक्षसंहिताको सुनकर तुम वास्तवमें मुक्ततर हो गये—  
सर्वशेष जीवन्मुक्त हो गये । इन पवित्र तथा ब्रह्मका  
प्रस्तवका अनुभव प्रदान करनेवाले मोक्षोपायोंका यदि कोई  
बालक भी श्रवण कर ले तो वह तत्त्वज्ञानी हो सकता है ।  
फिर तुम-जैसे महात्मा पुरुषके लिये तो कहना ही क्या है ?  
सत्पुरुषोंकी नीति (शिक्षा)से, उनकी उत्तम सेवासे, उनके  
सामने प्रश्न करनेसे तथा उनकी उदारतापूर्ण ज्ञानच्छवि  
भाग लेनेसे ग्रामादशून्य श्रेष्ठ-बुद्धिवाले अधिकारी पुरुष  
उसी प्रकार हेय आत्मनस्वको जान लेते हैं, जैसे श्रीविष्णु-  
जीके सद्गुरुसे श्रीराम आदिने जाना था । तुष्णिरूपी चर्ममयी  
रस्सीसे उद्धतापूर्वक बैधी हुई अङ्गानीके इदयमें जो देह  
और इन्द्रिय आदिके प्रति तादात्म्याभ्यासरूप तथा पुष्ट-  
कछत्रादिके प्रति भयतारूप ग्रन्थियां बद्धमूँह हो गयी हैं,  
वे सब इस मोक्षशास्त्रकी कथाओंपर विचार करते रहनेसे  
सर्वथा खुलकर एकरसताको प्राप्त हो जाती है ।  
वेटा ! दूसरी बहुत-सी बातें कहनेसे क्या लाभ ?  
इतना ही जान लो कि जो छोग इन महामहिमा-  
शाली मोक्षोपायोंका ज्ञान प्राप्त करेंगे, वे तत्त्व-  
वेत्ताओंमें श्रेष्ठतम होकर फिर कभी संसारबन्धनमें नहीं  
पड़ेंगे । जो सत्पुरुष इस ग्रन्थको बहुश्रुत विद्वान्के  
सामने स्थान भर्तीमांति विचारकर इसे पूर्णतः समझ

लेनेके पश्चात् स्थान भी सुननेकी इच्छावाले लोगोंको  
उपदेश देंगे, वे पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होंगे ।  
उन्हें दूसरे वचनोंका जाश्रय लेनेकी क्या  
आवश्यकता है ? जो अर्थात् संधानकी अपेक्षा न रखकर  
केवल इसका पारायण करेंगे अथवा जो इस पुस्तकको  
छिढ़ेंगे तथा जो उत्तम तीर्थक्षेत्रमें व्याख्यानकुशल श्रेष्ठ  
वक्ताको इसकी कथा कहनेके लिये नियुक्त करेंगे, वे यदि  
सकामभाववाले होंगे तो राजसूययज्ञके फलसे युक्त हो  
बारंबार खालीलोकमें जायेंगे और यदि निष्काम होकर  
उक्त कार्य करेंगे तो उत्तम कुलमें जन्म तथा सद्गुरुके  
मुखारविन्दसे सद-शाश्वतके श्रवणका सुखोग पाकर तीसरे  
जन्ममें उसी तरह मोक्ष प्राप्त कर लेंगे, जैसे पुण्यवान् पुरुष  
धर्म-सम्पत्तिको पा लेते हैं । पूर्वकालमें अधिग्रन्थरूपवाले  
ब्रह्माजीने मेरेद्वारा रचित इस ग्रन्थपर पूर्ण विचार  
करके यह बात कही थी कि ‘इसमें सत्पुरुषरूप  
ब्रह्मका निर्वचन होनेके कारण यह मोक्षमयी उत्तम  
संहिता है ।’ उन महर्षिकी यह बाणी असत्य  
नहीं हो सकती । मोक्षोपाय नामक कथामक्का प्रबन्धरूप  
इस महारामायणकी कथा समाप्त होनेपर उत्तम बुद्धिवाले  
श्रोताको बाहिये कि वह वक्ताको प्रयत्नपूर्वक सुन्दर मनन  
देकर अमीष अम-पानके दानसे ब्राह्मणोंका पूजन करे ।  
इतना ही नहीं, उन सबको यथाशक्ति भनोवान्निष्ठत धनकी  
दक्षिणा आदि भी देनी बाहिये । भरद्वाज । तुम्हें बोध  
प्रदान करनेके लिये मैंने सैकड़ों कथा-क्रमोंसे विशाल  
कल्पवर छुट् इस निर्मल दृष्टान्तों और बुद्धियोंसे सम्पन्न  
तथा ब्रह्मतत्त्वकी विस्तृत व्याख्यासे युक्त महारामाया-  
शालको श्रवण कराया है । इसे सुनकर जीते-जी ही समस्त  
ब्रह्मनोंसे मुक्त होकर ज्ञान, तपस्या और कर्मके फलसे  
युक्त अक्षय सम्पत्तिप्राप्त करके सदाके लिये पूर्ण परमानन्दमें  
निमग्न हो जाओ ।

( सर्ग २१५ )

## अरिष्टनेमि, सुरुचि, कारुण्य तथा सुतीकृत्यकी कृतकृत्यताका प्रकाशन, गिर्जोंका गुरुजनोंके प्रति आत्मनिवेदन तथा ग्रन्थको एवं ब्रह्मभूत वसिष्ठजीको नमस्कार

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—राजन् ! वसिष्ठजीका श्रीगम आदिके प्रति दिया हुआ यह सदृपदेश मैने तुमसे कहा—इस ग्रन्थमें बताये हुए तत्खार्गसे चलकर तुम निष्पत्त ही उस परम पदको प्राप्त कर लोगे ।

राजा अरिष्टनेमिने कहा—भगवन् ! आपकी यह दृष्टि संसार-बन्धनका विनाश करनेवाली है, जिसके पड़ते ही मैं संसार-सागरसे पार हो गया ।

देवदूत बोला—देशाङ्कने ! ऐसा कहकर आश्वर्यसे चक्रित नेत्राले राजा अरिष्टनेमि मुझसे स्नेहयुक्त मधुर वाणीमें बोले—

‘देवदूत ! आपको नमस्कार है । प्रभो ! आपका भला हो । सत्पुरुषोंकी मैत्री सात पा साथ चलनेसे ही हो जाती है, ऐसा कहा गया है । उसे आपने सूख कर दिखाया । अब आप देवराजके भवनको लौट जाइये । आपका कल्याण हो । मैं इस मोक्षजाग्रकी कल्पके श्रवणसे परम संतुष्ट एवं आनन्दमन हो गया हूँ । मैंने जो कुछ सुना है उसका चिन्तन करता हुआ अब यही रहूँगा । मेरी सारी चिन्ता दूर हो चुकी है ।’

भद्रे ! राजा अरिष्टनेमिके ऐसा कहनेपर मुझे बड़ा आश्वर्य हुआ । जिसे मैंने पहले कभी नहीं सुना था, वह ज्ञानका सारभूत तत्त्व मुझे सुननेको मिला है । उसीसे मेरा अन्तःकरण इस समय अत्यन्त आनन्दमन हो गया है । अमृत पीकर उके हुए पुरुषकी भौति मैं पूर्णतः तृप्तिका अनुभव कर रहा हूँ । तदनन्तर वालीकिंजीसे विदा ले मैं यहाँ तुम्हारे निकट मानो तुम्हें उपदेश देनेके लिये ही चला आया था । निष्पाप देशाङ्कने ! तुमने जो कुछ पूछा था, वह सब मैंने तुम्हें कह सुनाया । अब मैं यहाँसे इन्द्रभवनको जाऊँगा ।

अप्सरा बोली—महामार्ग देवदूत ! आपको नमस्कार है । आपने मुझे जो तत्खान सुनाया है, उससे मुझे बड़ा संतोष प्राप्त हुआ । मैं कृतार्थ हो गयी । मेरा सारा शोक जाता रहा । अब मैं सदा निष्क्रित रहूँगी । आपका कल्याण हो । आप अपनी इच्छाके अनुसार देवराज इन्द्रके समीप जाइये ।

अशिषेशने कहा—शत्रु कारुण्य ! तदनन्तर वह सुरुचि नामवाली श्रेष्ठ अप्सरा गन्धमादनके समीकर्ता हिमालयके हिंडरफर बैठकर देवदूतके मुखसे सुने हुए उसी तत्खानका चिन्तन करने लगी । बेटा ! क्या तुमने वसिष्ठजीका उपदेशस्तप यह महागमायण शाक सुना ? (मोक्षका साधन कर्म है या कर्मलयण, ऐसा जो हुम्हरा सदेह था, क्या वह दूर हो गया ?) उस समस्त उपदेशपर पूर्णतः विचार और निष्पत्त करके तुम जैसा आहो, ऐसा बरो ।

कारुण्य बोला—मगन्न ! इस समय तत्खान होनेसे मेरी सृति, वाणी और दृष्टिसत्ता सभी निर्विशय हो गये हैं । तात्पर्य यह कि अब मेरे लिये इस लोकमें न तो कुछ स्मरणीय रहा, न धर्णीय रहा और न दर्शनीय ही रह गया । कीक वैसे ही, जैसे खाम और वन्द्यामुखके विकर्ममें सृति, वाणी और दृष्टिके लिये कोई आधार नहीं रह जाता है । मेरे लिये सारी सासारिक मिथिति वैसी ही हो गयी है, जैसी निर्जल मध्यदेशमें परीचिकाकी । अर्थात् जैसे मृगात्माका जल मिथ्या है, उसी तरह यह दृश्यामृत भी मेरे लिये अस्त् हो गया है । अब मुझे न कर्म करनेसे कोई प्रयोजन है और न कर्म न करनेसे ही कोई प्रयोजन है; क्योंकि मैं कृतार्थ हो गया, तथापि लोक-संग्रहको लिये न्यायातः प्राप्त कर्म करता रहूँगा । हठत कर्म ओड देनेके लिये भी क्या आग्रह है ।

अगस्ति थोले—मुतीक्षण । ऐसा कहकर आग्निकेश्वरका विद्वान् पुत्र काश्य, जो कृतकृत्य हो चुका था, वर्ण और आश्रमके अनुसार प्राप्त हुए कर्मका समय-सम्पर्क पर्योचित रीतिसे अनुष्ठान करने लगा । वतः मुतीक्षण । मोक्षका साधन हान है या कर्म—ऐसा संशय नहीं करना चाहिये । संशय करनेसे जीव परम पुरुषार्थीरुपी स्थार्थसे भ्रष्ट हो जाता है । संशयाभ्याकार चिनाश हो जाता है ।

अगस्तिमुनिका यह वचन अनेक अपेक्षा एकताका बोध करनेवाला था । इसे छुनकर मुतीक्षणने गुरुदेवज्ञे ग्रन्थाम किया और उनके निकट विनाशक कहा ।

मुतीक्षण थोले—भावन् । आपकी कृपासे मेरा अक्षान और उसका कार्यरूप बगद, नष्ट हो गया । मुझे सर्वोत्तम ब्रह्मानकी प्राप्ति हो गयी । जैसे दीपक खड़नेपर उसके प्रकाशके सहारे नट, नर्तक आदि खम्भपर तृत्य-आग्निय आदि क्रियाएँ करते हैं, उसी तरह जिस सक्षी स्वर्य-ज्योति नित्यप्रकाश परमात्माके निष्क्रियरूपसे स्थित होनेपर ही सब सचेष्ट मूर्तियों अपनी-अपनी चेष्टाओंमें प्रवृत्त होती है तथा जैसे सुवर्ण ही कंगन, बाजूङंद, केशुर और नपुरोंके रूपमें सुरित होता है एवं जैसे जलमें तङ्क-मालाएँ प्रकट होती हैं, उसी तरह जिससे यह सम्पूर्ण दृश्य सुरित होता है, वह परमात्मा ही यह सम्पूर्ण जगत् है । उस पूर्ण ब्रह्ममें ही यह पूर्ण ब्रह्मरूप जगत् स्थित है । ऐसा विचारकर मेरे सम्मुख वर्ण और आश्रमके अनुसार जैसा व्यवहार प्राप्त होता है, उस व्यवहारका

अनुसरण करता हूँ । संत-महात्माओंके बचनका कौन उछालन कर सकता है । भगवन् । मैं आपके प्रसादसे श्रेय-तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करके कृतार्थ हो गया हूँ । गुरुदेव ! आपको नमस्कार है । मैं आपके चरणोंमें भूमिर दण्डबत पढ़ा हूँ । गुरुका कौन-सा प्रस्तुपकार करके शिष्य उनके शूणसे उच्छ्रण हो सकते हैं ? इसलिये दिव्योंको चाहिये कि वे अपने आपको मन, वाणी और शरीरद्वारा गुरुकी सेवामें समर्पित कर दें । यही उनका गुरुके भ्रणसे उद्धार है, दूसरे किसी कर्मसे वे उद्धार नहीं पा सकते । सामिन् ! मैं आपके कृपाप्रसादसे भवसंग्रहसे पार हो गया हूँ और अपने पूर्ण परमानन्दसे सम्पूर्ण जगजालको मैंने पूरित कर दिया है । अब मैं संशयरहित हो गया हूँ । ‘यह सार बगद ब्रह्म ही है, क्योंकि यह ब्रह्मसे ही उत्पन्न होता, ब्रह्ममें ही जीन होता और ब्रह्मसे ही जीवन-ज्ञान करता है’—इस प्रकार सामनेदमें श्रुतिके द्वारा जिसका द्वृत्स्थ वर्णन किया गया है, उस सचिदानन्दधन परमात्मा परमात्माको नमस्कार है । जो ब्रह्मानन्दस्वरूप अथवा ज्ञानोपदेशद्वारा ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति करनेवाले, परम सुखद, अद्वितीय ज्ञानमूर्ति, द्वन्द्वोंसे रहित, आकाशसदृश निर्मल, ‘तत्त्वपर्याप्ति’ आदि वेदान्त महात्माओंके उक्त्यार्थरूप, एक, निर्ल, निर्मल, निर्धल, सम्पूर्ण बुद्धि-मृत्तियोंके साक्षी, समस्त भावोंसे परे तथा तीनों गुणोंसे रहित हैं, उन पर-ब्रह्मस्वरूप श्रीवसिष्ठजीको हम नमस्कार करते हैं ।

( सर्ग २१६ )

मिथीण-प्रकारण उत्तरार्थ सम्पूर्ण

संक्षिप्त योगधारिणी सम्पूर्ण



## क्षमा-ग्रार्थना और नम्र निवेदन

पोगवासिणि महारामायण प्रन्थका अद्वैत ग्रह-प्रतिपादक शास्त्रमें वह महस्तका स्थान है। इसमें वही ही सुन्दर सुन्दर युक्तियों, आश्वानों तथा इतिहास-कथाओंके द्वारा जगदकी असत्ता परं एकमात्र सचिदानन्द-बन परमामसत्ताका प्रतिपादन किया गया है। एक ही तत्त्वका प्रतिपादक होनेसे प्रन्थमें पुनरुत्तिं बहुत अधिक है। इस महान् प्रन्थका सार 'कल्याण' के विशेषाङ्कके रूपमें प्रकाशित करनेके लिये 'कल्याण' के बहुसंख्यक ग्राहकोंका बहुत पुराना आश्रय था। भगवान् जी कृष्णसे वह आज पूरा हो रहा है। इसमें तत्त्व-निरूपण तो ही ही, साध्य-ही-साध शास्त्रोक सदाचार, सत्यम्-सूक्ष्म-सङ्कल्प, व्याप्ति-व्यवहार, आदर्श व्यवहार आदिपर भी बढ़ा जोर दिया गया है। 'कल्याण' के सम्मान्य पाठ्य-पाठिकाओंसे संविनिय निवेदन है कि वे अपने जीवनको पवित्र तथा परमाम-प्राप्तिके योग्य बनानेके लिये इन समस्त सदाचार-सद्गुणोंको विशेषरूपसे ग्रहण करें।

इस महान् प्रन्थमेंसे सार निकालकर प्रसंग तुननेका सार कार्य अद्वैय श्रीनगदयालजी गोपन्दकाने किया है। सुन्दर अनुवादका कार्य करनेवालोंमें प्रधान है—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम' महोदय और दूसरे हैं पं० श्रीरामाध्यारजी शुक्ल शास्त्री। इन्होंने वही ही व्याप्त तथा बुद्धिमानीसे कार्य किया है। यह विशेषाङ्क इन्हीं महानुभावोंके सदृग्रथासका फल है। इमलेगोका तो बेकल नामपात्र है।

इसमें जो भूलें रही हैं, उनकी सारी जिम्मेवारी दूषित है और उसके लिये हम क्षमाग्रार्थी हैं। साराही महानुभावोंको इसमें जो कुछ श्रेष्ठ, सुन्दर, भूलसे रहित दिखायी दे, कृपया उसीको ग्रहण करें।

कई प्रकारकी अड़चनें था जानेके कारण सद्ग्रन्थोंके चित्र नहीं बन पाये, इसलिये विशेषाङ्कमें चित्र प्रस्तानुकूल नहीं च्या सके हैं। चित्रोंपर प्रकरण तथा सर्ग छपे हैं, उसीसे देख लेनेकी कृपा करें। इन सब त्रुटियोंके लिये भी क्षमा-ग्रार्थना है।

'कल्याण' के सभी ग्राहक-ग्राहिका, पाठ्य-पाठिका, व्रेणी-प्रचारक, 'कल्याण'से प्रीति तथा सहानुभूति रखनेवाले एवं खास करके 'कल्याण' में प्रकाशित साधन, सद्ग्राव, सदाचार, नियम आदिको सानन्द स्थानं ग्रहण करने तथा जनतामे उसकी उपादेयता बताकर उनका प्रसार करनेवाले सभी श्रेणियोंके महानुभाव एवं महिलाएँ हमारे लिये परम आश्वरणीय हैं। हम उनका हृदयसे अभिवादन करते हैं, और उन्हें 'कल्याण' परिवारके ही माननीय तथा असिन्द-हृदय सदस्य मानकर उनसे प्रार्थनाकरते हैं कि 'कल्याण' के प्रति वे अपना अहैतुक प्रेम, अनुग्रह, सद्ग्राव सदा बढ़ाते रहें। हमारी स्वभाव-सुलभ तथा प्रमाद-जलित त्रुटियोंके बताते रहे और अपने निर्मल प्रेमसे ही उन्हें दूर भी करें। वे हमें अपनी सद्ग्रावनासे बढ़ देते रहे जिससे हमारे जीवनकी गति भगवान्की ओर आगी रहे और हमें उत्तरोत्तर आगे बढ़नेमें सहायता मिले।

हम अपने उन सभी पूज्यचरण पवित्रहृदय, कृपालु, संतो, महात्माओं, आचार्यों, विद्वानों और लेखक तथा कवि महानुभावों तथा पवित्रहृदया भाताओंके श्रीचरणोंमें भक्ति-श्रद्धासहित प्रणाम करते हुए, जानते तथा न जानते हुए जने तथा बननेवाले अपराधोंके लिये क्षमा-ग्रार्थना करते हुए उनसे शुभाशीर्वद चाहते हैं। 'कल्याण' के प्रचार-प्रसारमें हम उन्हींको प्रशान कारण भानते हैं; ज्योंकि उन्हींके सद्ग्रावों तथा विचार्युर्ण लेखोंसे 'कल्याण' को सदा शक्ति गिरती रहती है।

इस अङ्कके सम्पादन, चित्रनिर्माण, प्रफू-संशोधन आदि कार्योंमें जिन-जिनसे हमें सहायता मिली है, उन सभीके प्रति हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

इस विशेषाङ्कमें बहुत-से कृपालु लेखक महानुभावोंके लेख स्थानामावसे नहीं जा सके हैं, उनसे हम संविनिय क्षमा चाहते हैं।

प्राप्ती

इन्द्रुमानप्रसाद दोहार } सम्पादक  
विम्मनलाल गोखामी }

## जीवन्मुक्तका स्वरूप और आचार

रह न गया जिसमें किंचित् भी, कहीं, कभी ममताका लेश ।  
 प्राणि-पदार्थ-परिस्थिति देने लगे सभी समता-संदेश ॥  
 रहा न जिसमें किसी वस्तु-स्थितिका किंचित्-सा भी अभिमान ।  
 अहंकारके पूर्ण निल्यसे हुआ जिसे परत्त्व-ज्ञान ॥  
 रहता सदा जगत्में, करता काम सभी विधिके अनुसार ।  
 पर कुछ भी करता न कभी वह, रहता निर्मल निरहंकार ॥  
 अभिनय करता यथायोग्य वह सुन्दर नाम-रूप अनुद्वार ।  
 पर रहता निलेप नित्य वह राग-काम-विरहित अधिकार ॥  
 द्वेष, क्रोध, शोक, भय, चिन्ता, ईर्ष्या, मत्सर, हर्षमर्ष ।  
 हृ सकते न कभी उसको सब, हो अपकर्म, भले उत्कर्म ॥  
 सत्य अहिंसा अपरिग्रह अस्तेय अतुल सब विधि संतोष ।  
 कर्म-हृदय संतत सेवा-रूप, शुभ गुणमय जीवन निर्दोष ॥  
 पर-दुखमें दुखिया-सा होकर यथासाध्य सेवा करता ।  
 पर-दुखमें कर हर्ष प्रकट, अति अमित भोद भनमें भरता ॥  
 सुखकी नहीं स्फुहा करता, होता न कभी दुखमें उद्धिष्ठ ।  
 इन्द्ररहित वह रहता निज निर्मल स्व-रूप चिन्मयमें भग ॥  
 कभी न होता किसी जीवका उससे किंचित् भी अपकार ।  
 सदा सभीके हितमें रहती उसकी बुद्धि-विमूर्ति उदार ॥  
 पर होते आदर्श सभी उसके विशुद्ध सुन्दर व्यवहार ।  
 जीवन्मुक्त वही अति पावन परम ज्ञान-विग्रह साकार ॥  
 शम-दम, परहितरति ईश्वर-गुरु-सेवन उसके सहज सुभाव ।  
 पर-वैराग्य सहज शुचि रहता, नहीं भोगका किंचित् चाव ॥  
 नहीं त्यागमें भी होता वह आग्रहवश कदापि अनुरक्त ।  
 पूर्ण परात्पर सचिन्मय अनन्द रूप रहता अविभक्त ॥  
 करता सहज रूपसे सारे सदाचार संयुत शुभ कर्म ।  
 नहीं छोड़ता किसी प्रलोभन-भयसे वह अपना सद्धर्म ॥  
 पर रहता स्वरूपतः वह नित धर्मार्थम-रहित तत्त्वज्ञ ।  
 नहीं समझ पाते, उसकी अन्तःस्थितिको बाहरसे अज्ञ ॥

